

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY***KOTA (Raj)*

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER S No	DUE DTATE	SIGNATURE

॥ श्री ॥
RESERVED BOOK
हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

२०५

39320

महाकवि श्रीहर्षविरचितं

नैषधसहाकाव्यम्

महामहोपाध्यायमहिनाथकृतं जीवितु व्याख्यायुतं
'मणिप्रभा' नामक हिन्दीव्याख्यासहितम् ।

(द्वितीयो भागः)*

हिन्दीव्याख्याकार —

व्याकरण-माहिताचार्य-माहिररत्न रिसर्चस्काकर-मिश्रीपाद

पण्डित हरगोविन्द शास्त्री

प्राइमरी-लेखक —

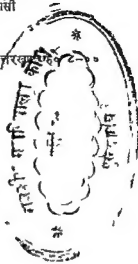
आचार्य त्रिभुवनप्रसाद उपाध्यायः, एम० ए०

(भू० पू० प्रिन्सिपल गवर्नमेण्ट स० कालेज, बनारस)

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी-१

१९६७

प्रकाशक चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण द्वितीय, संवत् २०२४
मूल्य पूर्वखण्ड रु० ८-००, उत्तरखण्ड रु० ८-००
सम्पूर्ण रु० १६-००



© The Chowkhamba Sanskrit Series Office,
P O Chowkhamba, Post Box 8,
Varanasi-1 (India)
1967
Phone 3145

द्वादशः सर्गः

प्रियाह्वियाऽऽलम्ब्य विलम्बमाविला विलासिन् कुण्डिनमण्डनायितम् ।
समाजमाजगुरथो रथोत्तमा तमासमुद्रादपरे परे नृपा ॥ १ ॥

अथास्मिन्नवसरे पुनरन्ये राजान भगवता इत्याह—प्रियेति । अथो अनन्तर
'मल्लानन्तरारम्भप्रश्नकारस्त्र्येष्वथो अथ' इत्यमरः । प्रियाम्य, स्वकाम्नाम्य, या
ही लज्जा, तामासमुद्रादपरे कपटदाक्षिण्यप्रदर्शनमिति यावत्, तथा विलम्बम्
आलम्ब्य आविला कलुषा, आलोडितहृदया इत्यर्थः, म्यग्रा इति यावत्, विला
सिनो विलसतशीला, 'वौ कपलसङ्गतसम्म-' इति घणुन् प्रत्यय रथैरुत्तमा रथो
त्तमा महारथा, पतेन विलम्बे जातेऽपि शीघ्रगमन सूचितम्, परे श्रेष्ठा, अपरे अन्ये,
नृपा भासमुद्रात् समुद्रपर्यन्तात् 'अपादानात्' कुण्डिनस्य कुण्डिननामनगरस्य,
मण्डनायितम् अलङ्कारभूत, मण्डनशब्दादाचारव्यङ्ग्यतात् कर्त्तरि क्त, त समाज
राजसभाम्, आजगु आगु । अत्र विलाविलेप्यादौ मात्रमात्रेऽप्येव नियमेन सह
व्यञ्जनयुग्मावृत्त्या ऐकानुपास, अन्यत्रानियमात् वृत्त्यनुपास इत्युभयो सद्यष्टि ।
'सङ्ख्यानियमे पूर्वं ऐकानुपास, अन्यथा वृत्त्यनुपास' इति लङ्गात् ॥ १ ॥

अनन्तर अपनी प्रियाओंके विषयमें राजास विन्म्व होनेपर व्याकुल, विलासशोक
नथा उत्तम रथवाले दूसरे-दूसरे राजा कुण्डिनपुरी (भीमकी राजधानी) का भ्रमणभूत
उत्त राजसभाज अर्थात् स्वयंवर मण्डपमें समुद्र तक (बहुत दूर-दूर) से आये । [अपनी
प्रियाओंमें अनुकूलता कारण करनेमें उत्त राजाओंको स्वयंवरमें पहुचनेमें विन्म्व हो रहा था
फिर भी उत्तम रथवाले होनेमें ठीक समयपर ही वे स्वयंवर में पहुच गये] ॥ १ ॥

तत स भैम्या वृत्ते वृत्ते नृपैर्विनि स्वसद्भि सदसि स्वयंवरः ।

चिरागतैस्तर्किततद्विरागिनै स्फुरद्भिरानन्दमहार्णवैर्नवै ॥ २ ॥

तत इति । ततो राजान्तरागमनानन्तर, तर्कितं तद्विरागिता भैमीवैराग्य
चैरैतैर्निश्चितभैम्यपरागं, अत एव विनि स्वसद्भि विषादात् दीर्घं नि स्वसद्भि, चिरा
गतै पूर्वागतै नृपै, तथा स्फुरद्भि स्फूर्तिमापद्यमाने, हर्षाधिक्यात् प्रमत्तमुखाका
रैरित्यर्थः, आनन्दमहार्णवे यत पूर्वागता नृपा न वृत्ता, तत समागनानस्मा
दमयन्ती नियत वरिष्यतीति निश्चित्य परमावन्दमरितै, नवै तत्कालागमै, नृपैः ।
पूर्णे, सदसि स प्रकृत, स्वयंवर वृत्ते प्रवृत्त ॥ २ ॥

इस (दूर-दूरसे उन राजाओंके खयबरमें आने) के बाद दमयन्तीके वैराग्यको (अपने-अपने विषयमें) निश्चितकर अधिक श्वास लेते हुए पहले आये हुए राजाओंसे (अथवा—दमयन्ती द्वारा एकदश सर्गमें वर्णित अपना-अपना त्याग देखकर) अधिक श्वास लेते हुए पहले आये हुए राजाओंसे और (उन पूर्वागत राजाओंके अधिक श्वासको देखकर उनमें) दमयन्तीके अनुराग न होनेका अनुमान किये हुए, (अत एव शृङ्गारादि चेष्टाओंमें) प्रवासमान, अगाध आनन्द समुद्रवाते (दमयन्तीने अभीतक किसी राजाका वरण नहीं किया है, अब तो यह हम लोगों को ही वरण करेगी इस विचारसे) अत्यन्त हर्षित नवीन राजाओंसे युक्त उस सभाके होनेपर दमयन्तीका खयबर आरम्भ हुआ ॥ २ ॥

चलत्पदस्तत्पद्यन्त्रणेद्धितस्फुटाशायामासयति स्म राजके ।

श्रम गता यानगतावपीयमित्युदीर्य धुर्य कपटाञ्जनों जन ॥ ३ ॥

चलदिति । चलत्पद, क्वचित् स्थितिवालेऽप्युत्तमारववदेकत्रानवस्थितचरण, इति भारवाहिकस्वभावोक्ति, धुर वहतीति धुर्यो जन शिविकावाहिन, 'धुरो यडदकी' इति यत् प्रत्यय तस्या भैरव्या, पद्यन्त्रणेद्धिनेन पदेन शिविकापटान्त-वत्तिचरणेन, यत् यन्त्रण धुर्यजनस्य पीडन, तदेव इद्धितम् अवस्थापनार्थं हृष्टभाव-त्तेन, स्फुट आशय राजदर्शनार्थम् उपवेशनाभिप्रायो यस्यास्ता, जनो बधू दम-यन्ती 'जनी सीमन्तिनीदध्वो' इति विश्व, इय बाला दमयन्ती, यानेन गतावपि गमने कृतेऽपि, श्रम गता श्रान्ता, इति उदीर्य कपटात् श्रमव्याप्तात्, राजके राजस-मूहमध्ये, आसयति स्म उपवेशयामास, निजन्तादास्-धाता स्मेन योगेऽस्तीते लट् ॥ ३ ॥

चलते हुए पैरवाले अर्थात् गमनशील (अथवा—इके रहनेपर मा पैर चलाने हुए) भारवाहक लोगोंने 'सवारीसे चलनेमें भी यह (दमयन्ती) थक गयी है' ऐसा कपट बँक-कईकर उस (दमयन्ती) के पैरकी प्रेरणाकी चेष्टाने (इस राजाको मैं देखना चाहता हूँ, अतः सवारीको यहाँ रोको) स्पष्ट आशयवाली उस दमयन्तीको राज-समूहमें स्थापित किया । [एक स्थानमें खंडे रहनेपर भी पैरका चलाने रहना उत्तम भारवाहकोंका स्वभाव होता है । भारवाहकोंने दमयन्तीकी सवारीको राज-समूहमें रोका] ॥ ३ ॥

नृपानुपक्रम्य विभूषितासनान् सनातनीनां सुपुत्रे सरस्वती ।

विगाहमारभ्य सरस्वती सुधासरस्वतीवाद्गतनूरनुत्थिता ॥ ४ ॥

नृपानिति । सनातनी चिरन्तनी, सना-सनात 'सायचिरम्' इत्यादिना ट्यु-प्रत्यये ङीप्, मा सरस्वती वामदेवता, विभूषितासनान् अलङ्कृतसिंहासनान्, सिंहासनोपविष्टान् इत्यर्थ, नृपान् उपक्रम्य । उदित्य, सुधासर सु भूमृतसरसीमु, विगाहम् आरभ्य अवगाह प्राप्य, अनु पश्चात्, अविलम्बेनेत्यर्थ, उत्थिता तस्मात्सिगता, अत एव अतीवाद्गतन् भूमृतादंस्वाद्वा, सर्वाद्भेषमृतवर्णिनीरित्यर्थ, सरस्वतीगिरि, सुपुत्रे उवाच । अत्र उल्लेखावाचकेवाङ्मिप्रयोगाभावात्, गृह्योपप्रा ॥

उस मनाङ्गी मरस्वतीने आसनको अङ्कुरन किये (बैठे) दुष्ट राजाको लक्षितकर, अनृतमरोवरों अवगाहन को प्रारम्भकर बादमें अत्यन्त आर्द्र शरीर वाली (मरम) इत्यत्र दुष्ट बाणियोंको उत्पन्न किया—अमृततुल्य मरस बाणी बनी ॥ ४ ॥

वृणीष्य वर्णेन सुवर्णकृतकीप्रसूनपर्णादृतुपणमाहृतम् ।

निजामयोध्यामपि पावनीमयं भवन्नयो ध्यायति नावनीपति ॥ ५ ॥

वृणीष्वेति । वर्णम अद्रकाम्या, सुवर्णकृतकीप्रसूनस्य पर्णात् दलात्, अपीति शेष, आहत ततोऽप्यधिकस्पृहणीयम् ऋतुपर्णम् ऋतुपर्णादय नृप, वृणीष्व । अय अवनीपति पृथिवीश, भवती एव भवन्नमयस्त्वदात्मक सन्, स्वार्थे भयद-
प्रत्यय । सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुवज्ञात्, पावनी पवित्रकारिणी, निजा स्वायत्ता, पुह-
परम्परागतामिति यावत्, अयोध्याम् अयोध्यानगरीमपि, मुक्तिदायिनीं पुरीमपीति भाव, न ध्यायति न चिन्तयति, परमानन्दस्वरूपत्वात् तव प्राप्तिर्मुक्त्यपेक्षयाऽधि-
काद्विषयेत्यत त्वयधिकमपुरकोऽयम्, एन वृणीष्वेति भाव ॥ ५ ॥

रामे सुवर्णकी केतकीके पुष्पके इल (पत्ते) की अपेक्षा (पा०—पुष्पके समान वर्ण होनेके कारण) आदर पाये हुए 'ऋतुपर्ण' की वरण करो, तुममें मज यह राजा अपनी पवित्र अयोध्याका भी स्मरण नहीं करता है ॥ ५ ॥

न पीर्यता नाम चकोरजिह्वा कथञ्चित्तेनमुपचन्द्रचन्द्रिका ।

इमा किमाचामयसे न चक्षुषी ? चिर चकोरस्य भवन्मुखस्पृशी ॥ ६ ॥

नेति । एतन्मुखचन्द्रचन्द्रिका एतस्य ऋतुपर्णस्य, मुखमेव चन्द्रस्तस्य चन्द्रिका प्रसन्नारूपा उद्योतना, चकोरस्य जिह्वा कथञ्चिदपि न पीर्यता नाम चकोरजिह्वा सग्यचन्द्रचन्द्रिकैव पीर्यते इत्यन्तु अलीकमुखचन्द्रचन्द्रिकेन आनुमतिवैयर्थ्येति भाव, तथाऽपि भवन्मुखस्पृशी भवन्मुखवर्तिनी, त्वच्चक्षुराभ्यां परिणतं इत्यर्थे, 'स्पृशोऽनुदके दिव्' चकोरस्य चक्षुषा, कमर्गा, इमाम् एतन्मुखचन्द्रचन्द्रिका, किं चिर न आचामयसे ? न पाययसे ? चक्षुषा एतन्मुखचन्द्रचन्द्रिका किमिति न पीर्यते ? किमित्येन न पर्यर्थाप्य । अत्राचमे प्रत्ययसार्थत्वात् 'गतिवृद्धि—
इत्यादिना चक्षुषोरणिकृत् कर्मत्वं 'निगारणवहनार्थम्यश्' इति स्वमेतिचि परस्मैपद नियमात्, किन्तु 'सज्ञापूर्वको विधिरनित्य' इति परिभाषया अत्र परस्मैपद न भव-
तीति, अत्र भवन्मुखस्पृशी चकोरचक्षुषोः विषयनिर्गणने भवेच्चकोरचक्षुषोः अमे-
दप्रतीते भेद अमेदलक्षणातिशयोक्तिरलङ्कार ॥ ६ ॥

चकोरकी जिह्वा इस (ऋतुपर्ण राजा) के मुख-पी चक्षुषी चोदनी (आह्लादक सोन्दर्य) की किमी प्रकार पात न करे, किन्तु तुम्हारे मुखका स्पर्श करनेवाले (तुम्हारे नेत्ररूपमें परिणत) चकोरके नेत्रद्वयकी इस ('ऋतुपर्ण' राजाके मुखचन्द्रकी चन्द्रिका)

का चिरकाल तक क्यों नहीं आस्वाद करती हो अर्थात् करावो (इसके मुखको देखो) ।
 [चकोरजिहा इस ऋतुपर्ण के मुखचन्द्रकी चन्द्रिकाका पान किसा प्रकार नहा करे
 क्योंकि चकोरजिहा स्वयं चन्द्रचन्द्रिकाका ही पान करती है अतएव चन्द्रचन्द्रिकाका नहीं
 और इस ऋतुपर्णके मुखचन्द्रकी चन्द्रिकाके असत्य होनेसे चकोरजिहा पान नहीं करती
 तो मुझे इस विषयमें कुछ नहीं कहना है, किन्तु इसके मुख चन्द्रचन्द्रिकाके असत्य
 होनेमें चकोरजिहाके पान नहीं करना पर भी अतिशय दुन्दर एवं हमारे द्वारा वर्णन करनेमें
 अशक्य होनेसे आह्लादक मौन्दर्यका नेत्रको प्रत्यक्ष रूपमें दिखाना तुम्हें उचित है,
 अतः तुम बैसा करो । अथवा—जिहाके द्वारा घोड़ी-भी वस्तुका ही स्वाद लेना सम्भव
 होनेसे इस ऋतुपर्ण राजाकी विशालतम मुखचन्द्रचन्द्रिका आस्वादन चकोरजिहा
 मले न लेवे, किन्तु छोटे नेत्रोंमें अतिशय विशाल वस्तुका ग्रहण करना (देखना) सरल
 है तो फिर तुम्हारे मुखगत विशालतम नेत्रों द्वारा इस विशालतम मुख चन्द्रचन्द्रिकाका
 आस्वाद करना तो अत्यन्त सरल होगा, अतः एवं इसके मुखचन्द्रकी चन्द्रिकाको तुम्हें
 दिखाना चाहिये । चकोरके ही नेत्र तुम्हारे मुख का स्पर्श करते हैं अतः एवं ये तुम्हारे
 मुखगत नञ् अत्यन्त रमणीय, चन्द्रिकाका । करनेके योग्य तथा देखनेमें समर्थ हैं] ॥ ६ ॥

अपा विहारे तव हारविभ्रम करोतु नीरे पृषटुत्तररतरन् ।

कठोरपीनोच्चकुचद्वयीतटे' व्रुत्तर सारवसारवोमिज ॥ ७ ॥

अपामिति । हे भैमि ! तव अपा विहारे अनेन सह जलक्रीडाया, जलक्रीडाकाले
 हृत्पथं, नीरे जले, तरन् प्लवमान, सारवेषु आरवसहितेषु, सारवेषु सरयूभवेषु,
 ऊर्मिषु जात 'देविकाया सरयवाञ्च भवे दाविकसारवौ' इत्यमर । 'दाविनापन'-
 हृत्पादिना निपातनात् साधु, पृषटुत्तरौ जलबिन्दुसमूह, कठोरे कठिने, पीने
 पीवरे, उच्च उन्नते, कुचद्वयीतटे व्रुत्तर विशीर्यमाण सन्, व्रुटदिति तौदादिक
 व्रुटघातो दातरि, हारविभ्रम मुक्ताहारआग्नि, करोतु जलक्रीडायाया विविधस्वरतव
 मुक्ताहार इव शोभमान सन् पर्यतो लोकस्य भैमोहाररिक्ता किमयमिति भ्रान्ति
 जनयतु इति भाव । भ्रान्तिसमदलङ्कार ॥ ७ ॥

तुम्हारे जल-विहारमें जलपर तैरता हुआ तथा छिन्न-भिन्न होना हुआ शब्द (कलकल
 ध्वनि) करने हुए सरयू नदीके तरङ्गोंमें वरतत जल-बिन्दु-समूह (तुम्हारे) कठोर विशाल
 तथा उन्नत स्तनद्वयके किनारे पर हार (मुक्तामाला) के भ्रमको करे । (पाठा०—
 कठोर किनारेपर छिन्न-भिन्न होना हुआ सरयू बिन्दु-समूह हारके भ्रमको
 करे ।) [जलक्रीडाके समय तुम्हारे कठोर, विशाल तथा उच्च स्तनोंसे टकराकर कलकल
 मधुर ध्वनि करती हुई सरयू नदीके तरङ्गमें वरतत बिन्दु-समूहको देखकर लोगोंको
 तुम्हारी मुक्ताहारकी विमिश्र भ्रान्ति (या विलास) को पैदा कर । 'विहार' (हारण्य)

में 'हार' का विनाश या विशिष्ट होना निश्चय है, अतः 'विहार' शब्दका 'कीटा' अर्थ करनेसे परिहार हो जाता है । इस 'ऋतुपर्ण' राजाको वरणकर 'सरयू' नदीमें जलक्रीडा करो] ॥७॥

अस्त्रानि सिन्धु समपूरि गङ्गाया कुले किलास्य प्रसभ स भत्स्यते ।

त्रिलङ्घयते चास्य यश शतैरहो । सता महत्सम्मुखधात्रि पौरुषम् ॥८॥

आत्मानोति । अस्य ऋतुपर्णस्य, कुले वशे, जातं सगरसुतैरिति शेष, सिन्धु उदधि, अस्त्रानि स्वात, खनते कर्मणि लुङ्, इन्द्रहतयज्ञीयाध्वान्वेषणार्थं पाताल पर्यन्त खनिस्त्वा उत्पादित इत्यर्थ, तथा स सिन्धु, गङ्गाया भागीरथ्या, समपूरि पूरित, अथ कुले जातेन भागीरथेनेति भाव, पातालस्थकपिलमुनिशापदग्धानां तेषां सगरसुतानामुद्धारार्थं तद्दशोद्भूतेन भागीरथेनानीतया गङ्गाया स सागर पूर्णं कृत इति निष्कर्ष । तथा स सिन्धु प्रसभ बलाकारेण भत्स्यते एतत्कृष्येनेव रामेण वद्ध करिष्यते इति भाव, कर्मणि लृट्, कृतयुगापेक्षया त्रेताया भाविस्त्वात् भविष्य प्रयोग किलेति पुराणप्रसिद्धमेतत् । इदानीं स सागर अथ ऋतुपर्णस्य, यश श त्रैविडङ्घयते च । नन्वेतत्कुले सम्भूता सर्वे समुद्रमेव पौरुषस्य प्रतिपद्यतां किमिति कृतवन्त इति शङ्कामुचितरथेन निराकरोति, सतामित्यादिना । तथा हि, सता सज्जनानां, पौरुष महता सम्मुख धावति प्रवरतीति महत्सम्मुखधावि, सतामेव स्वभाव यत् तेषां पौरुषविक्रमादि महान्तमेवाकामति न तु क्षुद्रमिति भाव । अत्रायान्तरन्यासालङ्कार ॥ ८ ॥

इस ('ऋतुपर्ण' राजा) के वशमें (वरान पूर्वजोंने) समुद्रको खोदा, गङ्गासे भरा (पूर्ण किया), और उसे बलाकार पूर्वक बाधेगे एवं इसके मैकड़ों यश पार करेंगे, अहो (आश्चर्य है), सत्जनोका विशाल पुरुषार्थ आगे-आगे दौड़ना है (अथवा—सज्जनोका पुरुषार्थ बड़े लोगोंके सामने दौटना (पैरता) है) । [सागरके साथे अथमेष यज्ञके धोटेको खोजने हुए सगर-पुत्रोंके द्वारा समुद्रका खोदा जाना, कपिल मुनिके शापसे उन सगरपुत्रोंके भस्म हो जानेपर उनके उद्धारार्थ कठोर तपश्चर्यानि ब्रह्मा तथा शिवजीको प्रसन्नकर रखके पोछे पीछे अगुगमन करनेवाली गंगाके द्वारा भागीरथको उस समुद्रको भरना, भावी त्रेता युगमें सीताहरण होनेपर लङ्का जाने समय रामसे उस समुद्रका बोधा जाना पुराणोंमें वर्णित है, उस समुद्रको हम राजाके यश लावने हैं । इसके वशमें पूर्वकालमें सगर-पुत्र तथा भागीरथ—जैसे लोग उद्वन हो चुके हैं, भविष्यमें श्रीरामचन्द्र जैसे महापुरुष वरदान होंगे तथा वर्णमानमें स्वयं यह राजा समुद्रपारगामी यश-समूद्रवाला है, अतः हम महाकुलीन राजाका वरण करो] ॥ ८ ॥

एतद्वयश श्रीरधिपूरगाहि पतत्यगाधे वचन कवीनाम् ।

एतद्गुणाना गणनाङ्कुपात प्रत्यर्थिकीर्त्ता सटिका क्षिणोति ॥९॥

एतद्दिनि । एतस्य राज्ञः, यश एव वीरधि चौराधि, तस्य पूर प्रवाहः, गाहते इति तद्गाहि तद्गानप्रवृत्तमित्यर्थः, कवीनां वचनम् अगाधे लम्बिमे, अतलस्पर्शे स्थाने इत्यर्थः, पतति निमज्जति, न त्वस्य यश नि शेष वर्गयितुं शक्नोतीत्यर्थः । किञ्च एतद्गुणानाम् अस्य नृपते शौर्यादिगुणानां, गणनाङ्कपातं मञ्जुषामरेखाविन्यासः, प्रत्यर्थिकीर्त्तौ शत्रुयशसि एव, खटिका लेखनार्थकठिनी छिगोति कर्शयति, पतद्गुणवृद्धे प्रत्यर्थिकीर्त्तितिरोघायकत्वादित्य निर्देशः । अत्र रूपकानुप्राणितानि शयो-च्छयलङ्कार ॥ ९ ॥

इस ('शत्रुपर्ण' राजा) के यशोरूपी कीर्तिमसूद्रके प्रवाहका अवगाहन (यशस्मसूद्रका वर्तन) करनेवाला कवियोंका वचन अगाधमें गिर पड़ता है । अर्थात् इसके अवगाहनकय यशस्मसूद्रका वर्तन कोई कवि नहीं कर सकता तथा इसके गुणों (शूरता, दयादि गुणों) की गणनाका अङ्क लिखना शत्रुओंकी कीर्ति रूपिणी खटिया (चाँक) से क्षाण करना है अर्थात् अगानोय इसके गुण जिससे-जिससे नष्ट हुई खटियाके समान शत्रु-सैनियोंका नष्ट करते हैं । [अन्य भी कोई व्यक्ति मसूद्रप्रवाहमें गिरकर अगाधमें गिर जाता है तथा अङ्क आदि लिखते लिखते खटिया चिमकर नष्ट हो जाती है ॥ यह 'शत्रुपर्ण' राजा महायशस्वी, महाशुभी तथा महाशूरवीर है, अतः इसका वर्णन करो] ॥ ९ ॥

भास्वद्वशकरीरतां दधदय वीर कथं कथ्यनाम् ?

अधुप्रापि हि कोटिरस्य समरे रोमाणि मन्त्राङ्कुरा ।

नोन मयति वन्दिमि श्रुतिपथ यन्नामवर्णावली-

मन्त्र स्तम्भयति प्रतिप्रतिभृता दो स्तम्भकुम्भीनमान ॥ १० ॥

भास्वदिनि । भास्वद्वशकरीरतां सूर्यकुलाङ्कुराश्च मन्त्राङ्कुराश्च, दधत् अतितेजस्वी 'द्वौ वशौ कुलमन्त्रकरी' 'वशाङ्कुरे करीरोऽम्बौ' इति चामरः, वीर शूरः, अयमनुपर्णः, कथं कथ्यनाम् ? कथयितुमशक्य इत्यर्थः, तथा हि समरे युद्धकाले युद्धक्षेत्रे वा, अस्य राज्ञः अधुप्रा साद्वन्निमज्जयाविशिष्टा कोटिः, साद्वन्त्रयकोटिरित्यर्थः, अधुप्रेति साद्वन्त्रयस्य मञ्जा, 'निम्न कोट्याऽर्द्धकोटी च यानि रोमाणि मानवे' इत्यादि स्मरणात् । 'विशत्याद्या मदेऽप्यमवां मङ्गयेयसङ्गधयो' इति सङ्गयेयस्यैकवचनम्, रोमाणि शरीरस्थानि तनुरुद्भाणि, सर्वे व्यवसायः, उत्ता द्विवीरस्य स्थायिभावः, तस्य अङ्कुरा इवाङ्कुरा वहिरुद्गता वीरमाङ्कुरा हाथप्रेक्षा 'द्वयानुस्यवमायेषु मन्त्रमखी तु जन्तुषु' इत्यमरः, वशकरीरस्य मन्त्रतात् लोमवद्-ङ्कुरमादुर्भावो युक्त इत्यर्थः, अत एव सयति युद्धे, वन्दिमिर्वन्तालिकः, श्रुतिपथ कर्ण-पथः, नीत आहित इत्यर्थः, यस्य शत्रुपर्णस्य, नामवर्णावली शत्रुपर्णाति नानाधरपङ्क्तिरेव, मन्त्र प्रतिप्रतिभृता शत्रुभूपानां दो स्तम्भा एव कुम्भीनमा क्रमयां, शौर्याद् दैर्घ्याच्च इति भावः, तान्, 'कुम्भीनमश्नूतस्य' इति मेदिनी, स्तम्भयति

प्रतिबध्नाति, सर्पा हि मान्त्रिककृतगारुडमन्त्रोच्चारणेन यथा स्तम्भिता भवन्ति
तद्वदेतक्षाममात्राकर्णनात् भीतानां शत्रूणां बाहवो युद्धाय न प्रसरन्तीति भावः ॥१०॥

मूर्दङ्गल (पक्षा०—'मुक्तातुक होनेमें दाह्यमान वाम) के अक्षुरभावकी धारण करने
दुए इस वीर ('अनुपप') को कैसे कहा जाय ० यद्यपि इसका वर्णन करना अशक्य है
(क्योंकि) युद्धमें आधिक्यविशिष्ट हमके रोमोंका कीटि अर्थात् साठे तीन करोड़ रोम
सत्त्वके अक्षुर होते हैं (यह राजा युद्धमें इर्षम रोमाश्रित हो जाता है), युद्धमें बन्दिपोंके
द्वारा सुनाया गया जिसके नमाक्षर-समूह-रूपी मन्त्र शत्रु राजाओंके बाहुस्पर्शरूपी
सर्पोंको स्तम्भित (युद्धव्यापारमें अशक्त, प १०—दशमव्यापारमें अदत्त) कर देता है ।
[वास्तवमें मुक्ता होनेका प्रमाण हाथोंमें मिलता है । इस राजाके नाममात्र सुननेसे शत्रु
युद्ध करनेमें अशक्त हो जाते हैं जैसे मन्त्राक्षर सुननेमें आप काटनेमें अशक्त हो जाते हैं] ॥०

तादृग्दीर्घविरिञ्चिवामरविधौ जानामि यत्कर्तृता
शङ्के यत्प्रतिविम्बमम्बुधिपयःपूरोदरे बाहव ।
व्योमव्यापिविपक्षराजकयशस्तारा पराभावुक

कासामस्य न न प्रतापनपन पार गिरा गाहते ? ॥ ११ ॥

तादृगिति । तादृग्दीर्घस्य 'चतुर्युगमहसन्तु प्रह्वगो दिनमुच्यते' इत्युक्तमहापरि
माणस्य, विरिञ्चे प्रह्वग, वामरस्य दिवसस्य, विधौ विधाने, यस्य प्रतापतपनस्य,
न तु प्रमिद्धतपनस्यति भावः, कर्तृता जानामि, दृश्यमानावस्थायां यस्य प्रताप
इति भावः, अम्बुधिपय पूरस्य समुद्रजलरासे, उदरे अग्न्यन्तर, बाहवो बहवान्,
यस्य प्रतापतपनस्य, प्रतिविम्बमेव शङ्के उत्प्रेक्षे, व्योमव्यापिन्यो वा विपक्षस्य
विरोधिनः, राजकस्य राजसमूहस्य, यशस्येव तद्वा नक्षत्राणि, तद्व्यशसांमहत्त्वात्
नक्षत्ररूपत्वमिति भावः, ता पराभावुक स्वतेजसा तिरोधायरु इत्यर्थः, 'लपन-'
इत्यादिना उक्तं प्रययं 'न लोका—' इत्यादिना पञ्चमप्रतिपेधात् तारा इति कर्मणि
द्वितीया, स सर्वव्याप्येति, अस्य राज्ञ प्रताप एव तपन कासा गिरा पार पर
भाग न गाहते ? सर्वानामपि गाहते इत्यर्थः, न कामामपि गिरा गोचर वर्णयितु
मशक्यत्वादिति भावः । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारद्वयम् ॥ ११ ॥

प्रज्ञात् वेन वडे (एक मद्रस दिव्य वर्ष प्रमाणके) दिनको बनानेमें जिस (इस
राजाके प्रतापरूपी विशालम्ब एव विरस्पद्या मूर्द) को कर्ता मन्ता हूँ तथा समुद्रके
जलान्तर-समूहमें दृष्टवान्नको जिसका प्रतिविम्ब मानना हूँ, आकाशमें व्याप्त शत्रु
राज-समूहको यशोक्तरी ताराओंको पराभूत करनेवाला इसका प्रतापरूपी सूर्य किन
वचनोंके पारको नहीं प्राप्त करता है ? अर्थात् इसके प्रतापका कोई भी बर्तन नहीं कर

१ करान्द्रजीमन्वराहदक्षमन्त्र्यादिशुक्लपुद्गवैणुजानि ।

मुक्ताफलानि प्रयितानि लोकं तेषां तु शुक्लपुद्गवमेव मूरि ॥

सकता है । [३० घण्टाका दिन बनानेवाला आकाशमें इष्टिगोचर होनेवाला यह मानान्यस्तन सूर्य एक सहस्र दिव्यवर्षपरिमित ब्रह्माके दिनके बनानेमें समर्थ नहीं हो सकता, वन चिरस्थायी सब अतिशय नेत्रम्बा होनेमें विलक्षण हमका प्रतापस्वी सूर्य ही ब्रह्माके बनने बड़े दिनका बनाता है । अश्विका अल बुद्धा देता है, अत एव समुद्रके जलमें बहवर्तिका रहना असंभव होनेमें उस समुद्र जलमें प्रतिबिम्बित हुआ हम राजाका उक्त अन्तिजम्बी प्रत्यक्ष ही बहवानल है । और आकाशमें ये नाराए नहीं हैं, किन्तु राजाके शत्रुओंका कानि देना हुआ है, और उन्हें हमका प्रतापस्वी सूर्य धिटा (नष्ट कर) देता है । (सूर्योदय होनेपर शत्रुओंका नष्ट होना सर्वविशित है, इसके ऐसे प्रतापका वर्णन कौश नहीं कर सकता है, अत एव इस महाप्रतापी राजाका तुम वरण करो] ॥ ११ ॥

द्वेष्ठाकीर्त्तिकलिनद्रौलसुतया नद्याऽस्य यदोर्द्ध्वी-

कीर्त्तिश्रेणिमयी समागममगात् गङ्गा रणप्राङ्गणे ।

नत्तन्मिम बिनिमज्ज्य बाहुजभटैरारम्भि रम्भापरी-

रम्भानन्दनिषेतनन्दनवनक्रीडादराट्स्वर ॥ १२ ॥

द्वेष्येति । यत् यस्मात् अन्य राज्ञः, दोर्द्ध्वीकीर्त्तिश्रेणिमयी भुजपुगजनितयशः परम्परारूपा, गङ्गा मागीरयी, यक्षमा श्वेतश्वेन गङ्गारूपत्वमिति भावः, रणप्राङ्गणे युद्धक्षेत्रभूतप्रयोगे इति यावत्, द्वेष्याऽऽ द्विषाम्, अकीर्त्तित्यश इति यावत् शुभ्र श्वेन वर्णिताया कीर्त्तिर्विरद्धावात् कृष्णवर्णेति भावः, सैव कलिनद्रौलमुता कालिन्दी, यमुनेत्यर्थः, तथा, अकीर्त्तं कृष्णत्वेन यमुनारूपत्वमिति भावः, तथा समागमम् अगाम्, तत् तस्मात्, नरिमन् रणप्राङ्गरूपगङ्गायमुनामद्वये इत्यर्थः, बिनिमज्ज्य विशेषेण निमज्जा भूत्वा, तत्र देहः परिचय्येति यावत्, बाहुजभटैः अश्विषधीरैः, एतत्प्रतिपक्षभूतैरिति भावः 'बाहुज शत्रियो बिराट्' इत्यमरः, रम्भायाः तदादयायाः प्रसिद्धायाः श्वर्ध्वयायाः परारम्भानन्द आन्विजनसुखम्, 'उपमर्गस्य घण्ट्यमनुष्ये बहुलम्' इति दीर्घः, तस्य निकटे स्थाने, नन्दनवने क्रीडादराट्स्वरो विहारेऽद्यापि जुम्भणम्, आरम्भि आरब्धः, एनद्विरोधिना मरणमवश्यम्भावि इति भावः । अत्र कीर्त्यकीर्त्योगङ्गायमुनारोपाद्रूपकालङ्कारः । 'सितामिते मरिती यत्र सङ्गते तन्नाप्लुतास्ते दिवमुपतन्ति । ये वै तन्व विष्टज्ज्नि घोरस्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते ॥' इति ध्रुनिरत्र प्रमाणम् ॥ १२ ॥

इस ('श्रुतपौराण') के वादुदयमें उत्पन्न कीर्ति-परम्परारूपा गङ्गा त्रिम कारागमे शत्रुकी अकीर्त्तिरूपा यमुना नदीने युद्धाङ्गमें संगत हुई, उस कारणमें उस (रणप्राङ्गणमें सङ्गत उक्त गङ्गायमुनाके सङ्गम स्थान) में दूबकर अर्थात् मरकर अश्विष्य शूरवीरोंने रम्भा ('रम्भा' नामकी स्वर्णय अमरा) के आलिङ्गनके स्थान नन्दनवनमें क्रीडा करनेमें अत्यधिक आसक्तिको आरम्भ कर दिया । [पुराणोंने उल्लेख है कि गङ्गा-यमुनाके सङ्गम

(नर्भराज प्रयाग) में स्नान करनेवाला व्यक्ति स्वर्गोपर रम्भाके साथ आलिङ्गनादि सुखको पाता है, उसी प्रकार इस राजाके बाहुद्वयमें उत्पन्न श्वेतवर्ण कीर्तिरूपिणी गङ्गा तथा शत्रु का दमनकर्ता अक्रोन्तिरूपिणी यमुनाके मध्य सुदभूमिमें दृश्यने (स्नान करनेवाला, पन्था— मरनेवाला) योद्धा रम्भाके आलिङ्गन सुखके स्थान जन्दनवनमें अत्यन्त आसक्तिके साथ कटा करने लगता है । युद्धमें मारे गये योद्धाको स्वर्गप्राप्त, अन्तराश्रयका लाभ एवं नन्दन वनमें जीवा करता शास्त्रीय वचनोंमें प्रमाणित है । बाहुद्वय कीर्तिके श्वेत गङ्गा तथा शत्रुकी अक्रोन्तिकी कृष्णवर्ण यमुना मानना उचित ही है । इस राजाने सुदभूमिमें बहुत से क्षत्रिय दूतोंको मारकर स्वर्ग प्तुवादा है अतः एवं वीर इस 'ऋतुर्ग' राजाका बर्ण करो] ॥ १२ ॥

इति धृतिस्वादिततद्गुणस्तुति सरस्वतीवाङ्मयविस्मयोत्थया ।

शिरस्तिर कम्पनयैव भोमजा न त मनोरन्धयमन्वमन्यत ॥ १३ ॥

इतीति । भोमजा भेमी दमयन्ती, इतीत्य, धृतिस्वादिता श्रोत्रगृहीता, तस्य ऋतुपर्णस्य, गुणानां स्तुति यथा सादृशी मती, सरस्वत्या देव्या, वाङ्मये वाक्प्रपञ्चविषये, यो विस्मयः सनुत्थया शिरसस्तिर कम्पनयैव अवज्ञासूचकमस्तकचाग्ने-नय, मनो अन्धय मनुष्यशोद्धय, मनुसन्तानमित्यर्थ, नम् ऋतुपर्ण, न अन्वमन्यत अनुमोदन न कृतवन्ती, न्यपेक्षीत्य इति यावत्, विस्मयाभिनयशिर कम्प एव प्रसन्ना-क्षिपेद्यार्थोऽपि सङ्गृह्य इति भावः ॥ १३ ॥

भोमकुमारी (दमयन्ती) ने इस प्रकार (१२.५-१२) कानमें सुनी गयी उस ('ऋतुपर्ण' राजा) की प्रशंसावाणी सरस्वतीके (वाक्मनूयै) (या वाक्मनूयै) होनेवाले आश्चर्यमें उत्पन्न शिर कम्पनमें ही मनुष्यशोद्धय उस ('ऋतुपर्ण' राजा) को स्वाङ्ग नहीं किया । [कानोंमें आश्रयार्थ ऋतुपर्ण की गुण-स्तुति सुनकर दमयन्ती आश्चर्यसे होकर शिर कपाकर वन मनुष्यशोद्धय राजाको स्वाङ्ग नहीं किया । आश्चर्यजन्य शिर कम्पनमें ही निषेध भी सूचित कर दिया । भोमवशोदन्त 'नम्' की चाहनेवाली दमयन्तीने अभिप्रेत आह्लादक गुण सूर्यवशोदन्त वम् 'ऋतुर्ग' राजामें नहीं होनेमें वमका त्याग कर दिया । चन्द्रगन आह्लादक गुण सूर्यमें नहीं होने में चन्द्रवशोदन्त नम् की चाहनेवाली दमयन्तीका सूर्यवशो-दन्त अयोध्याधीश 'ऋतुपर्ण' का अस्वीकार करना उचित ही है] ॥ १३ ॥

युवान्तर मा वचमामधीश्वरा स्वरामृन्मन्यक्वन्मत्तर्शोकता ।

शशान ममत्तकरैव तादृशा निशाकरज्ञातिमुत्सार्ममा प्रति ॥ १४ ॥

युवेति । स्वर पद्मामृत तेन न्यक्षुत्स्तिरस्कृत, मत्त वस-तकालहृष्ट, कोकिलो यथा सा तादृशा, वचसामधीश्वरा चाग्नेयता, सा सरस्वती, अन्य युवान युवान्तर, सुप्पुपेति समाम, तस्य यून्, दिशा दिग्भागेन, ससत्तकरा व्यावृत्तहस्ता, हस्तेन त निदिशन्ती एवेत्यर्थ, निशाकरज्ञातिमुत्सार्ममा चन्द्रसङ्गमुष्णीमित्यर्थ, ज्ञातिसोदरव-

न्धादिशब्दा सादृश्यवाचका इत्याहुः, इमा भैमी प्रतिशशम, दमयन्तीम् आमन्य
आचर्याविरयम् ॥ १३ ॥

स्वरानृतम् मत्त कोयलको विरस्तुन करनेवाली दूसर सुवक्ता हाथन दनानी हुई वह
मरम्बनी देवी चन्द्रमुखी (दमयन्ती) के प्रति बोली ॥ १४ ॥

न पाण्डुधूमण्डननेणलाचने । त्रिलोचनेनापि नृप पिपाममि ? ।

शशिप्रकाशाननमेनमीक्षितु नरङ्गयापाङ्गदिशा 'इशस्त्रि-वप ॥ १५ ॥

नेति । एणलोचने । हे मृगाक्षि । पाण्डुधूमण्डन पाण्डुप्रदेशस्य भूपग, तद्दे
शस्य चूडामणिरूपमिति यावत् नृप त्रिलोचनेनापि न पिपाममि ? पानु न
इच्छसि ? सामग्रहदृष्टिदानेनापि एन सुप्रायितु न इच्छमि किम् ? इति भावः, चादि
प्रकाशाननम् इन्दुसुन्दराख्यम्, एनम् अयाङ्गदिशा कटाक्षमार्गाणां, नेत्रप्रान्तेनापि
इत्यर्थः, ईक्षितु इति शिष्यः चक्षुषो ज्योतीर्वि, नरङ्गय प्रवर्त्तय, एन सामग्रह द्रष्टु
नेच्छमि चेत् न परय, पान्तु कटाक्षविधेयेणापि सकृद्व एन परयेति भावः । अत्र
एणलोचने इत्यस्य एणस्य लोचने इव लोचने यस्यास्तरसम्बुद्धौ, अत एवात्र निदर्श
नालङ्कारः । एवमुत्तरप्राप्येवविधस्थले घोष्य ॥ १५ ॥

हे मृगलोचन (दमयन्ति) । पाण्डव (वं) की भूमि के भूषण राजाको नेत्रम भी
पान करना (देखना) नहीं चाहती ? (अगरम पान करना नहीं चाहती तो भले मन
चाहों, किन्तु नेत्रने भी पान करना (देखना) नहीं चाहती यह तो अनुचित है, अत एव)
चन्द्रक समान प्रकाशमान मुखवाक् हमे देखनेके लिये नयनाम्बुको कटाक्षमे तरङ्गित करो
अर्थात् अतिरमणीय इस राजाकी देखो ॥ १५ ॥

भूमि भ्रमित्वाऽनजलम्बमम्बरे विहृत् मध्यासपरम्परापरा ।

अहो । महावशममु समाश्रिता नर्कीतुक नृत्यति कीर्त्तितर्त्तकी । । ६॥

मुवीति । कीर्त्तिरेव नर्त्तकी लामित्री, 'क्षिपिपनि पुन' इत्यत्र 'नृभित्तिरिज्जिम्प
एव' इति नृत्यते 'पुन-प्रत्ययः । 'विद्वीरादिभ्यश्च' इति ङीष्, भुवि जूतले, भ्रमिवा
भूचारिणा भूवेत्यर्थः, अथ अगरे आकाशे, अनजलम्ब निरालम्ब यथा स्यात् तथा,
विहृत् विचरितुम्, अग्यामाना परम्परा श्रणि, सब पर प्रधान यस्या सा तादृशी
मती, अग्यरदेते नर्त्तनाम्यामासक्त सतीत्यर्थः, महावश महाकुलीन महावेशुद्ध,
'वशो वेणी कुले वर्ग' इति विश्व, अमु पाण्डव, समाश्रिता मती नर्कीतुक यथा तथा
नृत्यति अहो ! आश्चर्यम्, यथा काचित् नर्त्तकी प्रथम भुवि भ्रमिवा त्रियनि निरालम्ब
अमणार्थं देशमाश्रित्य नृत्यति तद्वत् कीर्त्तरपि नृत्यति इति निश्चयः । अत्र रूप
काण्डहार ॥ १६ ॥

पृथ्वी पर भूमि पर अबम्बरहित आकाशमें बिह्वर करनेके लिये अन्याम-परम्परामें

तत्पर तथा महावृद्ध (अष्ट कुल, पञ्चा०—जैचे बाँस) को आश्रयकर (इस राजाको) कीर्ति स्तुतिगी नदी कौतुकके साथ नाच रही है आश्चर्य है ? (नदी जिस प्रकार पड़े पृथ्वीपर घूमकर बादमें बड़े बाँधपर चढ़कर निरवलम्ब आकाशमें प्रमग करनेका अभ्यास करनेमें लगी हुई सी कौतुक के साथ नाचती है, उसी प्रकार इस राजाकी कीर्ति पृथ्वीमें घूमकर अर्थात् व्याप्त होकर उत्तम वंशवाले इस राजाका आश्रयकर निरवलम्ब आकाशमें विशार करनेमें तत्पर है। रही है ॥ इस राजाको कीर्ति मूलोक्त्याप्त होकर आकाशमें फैल रही है, अथ वर कीर्तिमान् राजाका वरण करो] ॥ १६ ॥

इतो मिया भूपतिभिर्वन वनात् अटद्विरुच्चैरदधीत्वमीयुषी ।

निजाऽपि साऽवापि चिरात् पुन पुरी पुन स्वमच्यामि विलासमन्दिरम् ॥

इत इति । इतोऽस्मात् राज्ञः, मिया भयेन, वनात् वनम् अटद्भिः अमद्भिः, भूपतिभिः प्रतिभूये, उच्चैरदधीत्य चिर जनहीनतया अवस्थानात् महादधीत्वम्, ह्युषी प्राप्ता, सा पूर्वावासभूता, निजा स्वकीया, पुरी नगरी अपि, चिरात् बहो कालात् पर, पुनरवापि वनात्तरभ्रमेण पुन प्राप्ता, स्व स्वकीय, विलासमन्दिर श्रीढाट्टहञ्ज, पुनरभ्यासि वनान्तरभ्रमेणैवाभ्यासितम्, आसेरधिपूर्वात् कर्मणि लुङ् एतस्य राज्ञो भयात् पुरीं त्यक्त्वा पञ्चायिता प्रणिभूया बहो कालादरण्यभूते स्वन गारे श्वविज्याममन्दिरं च पुन समागता तवगन्तर शुद्ध्वास्व गोपायन्तीति भाव । विलेपु आसते इति विशासा विलेशया, सर्पास्तेषा मन्दिरमिति विशेषगद्येनापि योजयम् । अत्रैकस्य अरिर्वागस्य अनेकास्तु अटवीषु अटवीभूतपुरीषु च क्रमात् वर्तमा नात्वेन तथा पुरीष्वपि पुरीषाटवीत्ययो क्रमसम्बन्धो वा च 'एकम् अनेकस्मिन् अनेकमेकस्मिन् वा क्रमेण पर्याय' इत्युक्तलक्षण पर्यायभेदद्वय प्रष्टव्यम् ॥ १७ ॥

इसके मयमें एक वनमें दूसरे वनमें घूमने हुए (शत्रुभूत) राजाभोग बहुत समयके बाद महावन बनी हुई अपनी भी वन नगरीको प्राप्त किया, बादमें विलासमन्दिर (अपने विलासके भवनों, पञ्चा०—विश्वमें सानवालोंके घरों) को प्राप्त किया । [इसके मयमें एक वनमें दूसरे वनमें घूमने हुए राजाभोग बहुत समय के बाद बड़े वनस्थ में परिणत अपना नगरीमें आये (वन अगती नगरी समझकर नहीं, किन्तु 'बह भी कोइ एक वन ही है' ऐसा समझकर आये) तथा बादमें अपने विलासभवनको प्राप्त किये वे विलासभवन इतने लम्बे समयके बाद पूर्वरूपमें नहीं रह गये हैं, किन्तु महावनमें परिणत नगरीके समान वे भी विश्वमें रहनेवाले खरगाँव आदि जनवरों के घरके रूपमें परिणत हो गये थे, उन्हें वे राजा प्राप्त किये अर्थात् इस राजाके शत्रुओंका नगरी (राजधानी) को उखाड़कर वन तथा वनके मड़लोंको चिटनें रहनेवाले खरगाँव आदिका घर बना दिया है] ॥ १७ ॥

आसीदासीमभूमीवल्लयमलयजालेपनेपध्यकीर्ति.

सनाकूपारपारीसदनजनघनोद्गीतचापप्रताप ।

वीरादस्मात् पर क पदयुगयुगपत्पातिभूपातिभूय-

रचूडारत्नोद्भुपत्नीकरपरिचरणामन्दनन्दनवेन्दु ॥ १८ ॥

आसीदिति । वीरात् अस्मात् पाण्ड्यात्, परोऽन्य, को वीर, सीमाया आ
इयासीम समुद्ररूपसीमामभिव्याप्य, सीमासहितमिति यावत्, अभिविधायक्ययी
भाव, यत् भूमिवलय तस्य मलयजालेपनेपथ्य मलयजेन चन्दनेन, यत् आलेप
अङ्गराग, तद्रूप यत् नेपथ्य भूषण, तदिव कीर्तिर्यस्य स, आसमुद्रचित्ति व्याप्य
विरतुत्यस सौरभ इत्यर्थ, सप्तानाम् अट्टपारपाराणा समुद्रपरतीराणा समाहार
सप्ताष्टपारपारी 'तद्वितार्थं-' इत्यादिना समाहारद्विगौ ङीप्, सदन येषां सै तत्रत्यै
जने घन निरन्तरम्, उद्गीतश्चापप्रतापो अनुपो माहात्म्य, चापश्च प्रतापश्च वा यस्य
स, पश्युने चरणयुगले, युगपत्पातिना समकाल नमस्कारकारिणा, भूषणाम् अति
भूषासि अनियहुलानि, चूडारत्नान्येव उद्भुपत्न्या चूडरात् यत्तुल्यश्च नक्षत्रन्या
क्षिप, तासा करा अशवो हस्ताश्च, 'चलिहस्ताशव करा' इत्यमर, तेषा परिचरणेन
परामर्शेन, अमन्दम् अतिमात्र, मन्दन्त उल्लसन्त, नत्वा पश्यन्ता, पश्येन्दवो
यस्य स तादृश, आसीत्, यश्च सुरमिताऽऽसमुद्रचिनिमग्नश्च दिगन्तविश्रान्त
प्रभाव इवमस्तराजवन्ध्यायमेव नान्य कश्चिदित्यर्थ । अत्र रूपकालङ्कार ॥ १८ ॥

सीमा (समुद्र) तक पृथ्वीमण्डलके चन्दनलेव रूप भूषणके समान अथवा-भूषणरसा
कीर्तिवाला, सान समुद्रोंके परतीरसमूह रूप घर में रहने वाले लोगोंने निरन्तर उच्च स्वरसे
गाये पये धनु.सम्बन्धी प्रशयवाला, दोनों चरणोंपर एक साथ गिरने (प्रणाम करते) हुए
राजाओंके बहुत से मुकुटोंके रत्न रूयी ताराओंके विरगोंके घूमने (जागे भर फैलने
प १०—हाथोंके द्वारा की गया सेवा) से अत्यन्त आनन्दित (शोभित) होने हुए नक्षत्रपी
चन्द्रवाला इन वीरसे श्रेष्ठ (अथवा—वीरके अभिरिक्त) दूसरा कौन राजा है ? अर्थात् उक्त
गुणोंवाला एक मात्र यही वीर राजा है, अ य कोई नहीं । [दिगन्त गङ्ग जैसे हुए प्रतापवाले
तथा समस्त राजाओंसे नमस्कृत महाप्रतापी इस पाण्ड्य राजा का वर्णन कर] ॥ १८ ॥

भङ्गाकीर्त्तिमसीमलीमसतमप्रत्यर्थिसेनाभट-

श्रेणीतिन्दुककाननेपु पिलसत्यस्य प्रतापानला ।

अस्मादुत्पतिता स्फुरन्ति जगदुत्सङ्गे स्फुलिङ्गा स्फुट

भालोद्भूतमवाक्षिभानुद्भुतभुगजम्भारिदम्भोलय ॥ १९ ॥

मङ्गेति । अस्य पाण्ड्यस्य, प्रताप एवानल मङ्गेन पराजयेन, या अकीर्त्ति, इया
मत्वादिति भाव, सर्व मसी तथा मलीमसतमा अत्यन्तमलिता, प्रत्यर्थिसेनाभट-
धेण्य दातुसैनिकवीरसमूहा एव, तिन्दुककाननानि श्यामत्वात् कालस्कन्धवनानि,
'तिन्दुक स्फूर्जक कालस्कन्धश्च शितिसारके' इत्यमर, तेषु चिलसति प्रज्वलति ।
भालोद्भूतमवाक्षि भालास्रलाटात्, उद्भूत मवाक्षि हरतृतीयनेत्र, तच्च भानुश्च सूर्यश्च,

हुतभुगग्निश्च, जम्भारिद्धमोलि कुलिशश्च ते, अस्मात् तिन्दुकवनदाहकतदीयप्रता-
पानलात्, उपतिता उत्थिता, स्फुलिङ्गा अग्निष्णुणा, जगदुरसङ्गे जगता पृथिव्या
दीनाम् तासङ्गे कोढे अग्न्यन्तरे इति यावत्, स्फुरन्ति प्रकाशन्ते स्फुटम् असशय
मिर्युत्प्रेषा रूपकमङ्गीर्णा । तिन्दुककाष्ठेभ्यो दह्यमानेभ्यो महान्त स्फुलिङ्गा उत्तिष्ठ
न्तीति प्रसिद्धि ॥ १९ ॥

इस (पाण्डव राजा) की प्रतापन्वी अग्नि पराजयसे उत्पन्न अग्नीतिष्ठिणी स्थाहाने
अत्यन्त मलिन शत्रु-सैनिक-बौर-समूहको तिन्दुक (तेंदुआ नामक वृक्ष) के बनों में बिल
सित हो रहा है, जिससे निकले हुए शिवजीके ललाटे उत्पन्न उनका (तृतीय) नेत्र, सूर्य,
अग्नि और इन्द्र-वज्ररूपी स्फुलिङ्ग (चिनगारिया) समारके बीचमें स्फुरित हो रहे हैं ।
[तिन्दुककी लकड़ोंमें अग्नि लगनेपर चटचट शब्द करता हुआ चलने बहुत-सा चिनगारिया
निकलती है । शिवके मालस्थ नेत्र, सूर्य आदि को हम राजाके विशालरूप प्रकाशान्त की
चिनगारी बलानकर प्रकाशान्तका बहुत ही विशाल होना बतलाया गया है] ॥ १९ ॥

एतदन्तिबलैर्विलोक्य निखिलाभालिङ्गिताङ्गी भुव
सङ्ग्रामाङ्गणसीग्नि जङ्गमगिरिस्तोमभ्रमावायिभि ।

पृथ्वीन्द्र पृथुरेतदुग्रसमरप्रेक्षोपनम्रामर-

श्रेणीमध्यचर पुन क्षितिघरक्षेपाय धत्ते धियम् ॥ २० ॥

एतदिति । एतस्य पाण्डवस्य, उग्रस्य भयङ्करस्य, समरस्य प्रेक्षायं प्रेक्षणाय,
'गुरोश्च हल' इति द्विषाम् न प्रत्यये टाप्, उपनम्राणाम् उपगतानाम्, अमराणां या
श्रेण्य समूहा, तन्मध्ये चरन्तीति तथोक्त, स्वयमपि तद्द्रष्टुमात्रं हृत्पथं, पृथुर्वैष्णो
नाम्, पृथ्वीन्द्र सग्रामाङ्गणसीग्नि रणागिरिभूमौ, जङ्गमा सङ्घारिण, गिरीणां स्तोमा
समूहा, इति भ्रममाधत्त इति तथोक्तः, तथाविधभ्रान्तिजनकोरित्यर्थः, अत एव
भ्रान्तिमद्बलद्वार, एतस्य पाण्डवस्य, दन्तिबलैर्गजवराभि, निखिला भुवम् आलि
ङ्गिताङ्गीम् आक्रान्तस्वरूपा, विलोक्य पुन क्षितिधराणां क्षेपाय धनुषा प्रोत्सारणाय,
धिय धत्ते, नृममिति शेषः, अतो गम्योत्प्रेषा पूर्वोक्तभ्रान्तिमद्बलद्वारोरित्येतेति सङ्ख्य ।
तेनैतत्सेनागजा गिरिप्रमाणा असङ्ख्येयाश्च इति गम्यते । अत्र पराशरः, 'तत उक्ता-
रयामास शैलः शतमहस्रशः । धनुष्कोट्या तथा वैष्ण्वस्तेन शैलविवजिना ॥' इति ॥

इस (पृथुराजा) के भयङ्कर शुद्धको देखनेके लिये आये हुए देवोंके बीचमें चलनेवाले
'पृथु' अर्थात् 'वैष्ण्व' नामक राजा चलनेवाले पर्वत-समूहकी आग्नि उत्पन्न करनेवाले, इस
राजाके सेनाके हथियोंसे आक्रान्त (या व्याप्त) सम्पूर्ण पृथ्वीको देखकर फिर पर्वतोंको
(धनुषकी कीटिसे) फेंकनेके लिये विचार कर रहे हैं । [पूर्वकाण्डमें सभी पर्वतोंके धूमनेसे
अनेक ग्राम देश उनके नीचे दबकर नष्ट हो जाते थे, अब एव राजा 'वैष्ण्व' ने उन पर्वतोंको
अपने धनुष की कीटिसे फेंककर पृथ्वीका विभाग कर दिया । फिर इस समय मृत्युके बाद

स्वर्गमें देवत्व को प्राप्त वे वैज्य' इस राजाके मयङ्कर सम्राट् को देखनेके लिये अन्य देवोंके साथ आकर इस राजाके विशालकाय हाथियोंको चढता-फिरता पर्वत समझ कर 'ये पर्वत फिर घूमने-फिरने लगे, अतः इन्हें फिर धनुष्कोटिमें मुझे फँकना चाहिये' ऐसा विचार करने लगे । यह पाण्डव राजा बड़ा मयङ्कर युद्ध करना है तथा इसके हाथी पर्वतवत् विशालकाय एवं अग्नियुक्त हैं, अतएव ऐसे शूरवीर का वरण करो] ॥ २० ॥

शशम दासीद्वितवित् विदर्भजामिनो ननु स्वामिनि । पश्य कौतुकम् ।

यदेव सौधाग्रनटे पटाञ्जले चलेऽपि काकस्य पदार्पणग्रह ॥ २१ ॥

शशसेति । द्वितितवित् दमयन्त्यभिषायज्ञा, दासी किङ्करी, विदर्भजा दमयन्ती, शशम वभान, त्रिमिति ? ननु हे स्वामिनि । इतः अस्या त्रिमिति, कौतुकम् आश्चर्य, पश्य, किं तत् ? तदाह, सौधमेव सुधाघटिनगृहोद्वर्धदेशे वर्त्तमाने, नटे चञ्चलश्चात् मत्तङ्कतुष्ये, अत एव चले पायुधस्तात् चञ्चल्यपि, पटाञ्जले, ध्वजाञ्जले, काकस्य एव पदार्पणग्रह पादभ्यामात्मिनियेषा, इति यत् तत् कौतुकमिति पूषणान्वयः । एतेन भैरव्या तस्मिन् पाण्डवे महान् अनादर इति सरसा सूचितम् ॥ २१ ॥

(दमयन्ती) के अभिप्रायको जानन्याः दासीने दमयन्तीने कहा—हे स्वामिनि (दमयन्ति) । 'महलके ऊपर मटरूप चञ्चल (ध्वजा के) वस्त्रके आग कीभा पर रखनेका हठ करना है' यह कौतुक देखो । [दासीने स्वामिनी दमयन्तीके अभिप्रायको समझकर अन्योक्तिमें कहा कि—सुधाघटिनगृहोद्वर्धदेशे वर्त्तमाने महल के ऊपर ध्वजाके वस्त्रके बायुचञ्चल अभ्रिम भागमें कौबेके पर रखनेके समान यह नीच राजा हमारे अर्थात् नर को चाहनेवाली तुम्हें शत्रुता केष्टाभौमे प्राप्त करने का दुराग्रह रखता है, अतः एव कौतुक विषय है, इसे तुम देखो । इस प्रकार कह कर सरस्वती देवीके द्वारा किये जानेवाले राजाके वर्णनके बीचमें ही रोक दिया । उस राजा को 'काक' बतलाकर दासीने उसमें अत्यन्त अनादर प्रकट किया] ॥ २१ ॥

ततस्तदप्रस्तुतभापिनोत्थिते मदस्तदश्वेति वसै मदमदाम् ।

स्फुटाऽजनि म्लानिरतोऽस्य भूपते मिमे हि जायेत शिते सुलक्षता ॥

तत इति । ततोऽनन्तर, तदप्रस्तुतभापितेन उत्थितैः सदमदा सभासदा, हसैर्हसैः, 'यमहसोर्वा' इति विकल्पात् अग्रथय, तत् मद ससत्, समा इत्यर्थः, अश्वेति सितीकृत, शुभ्रीकृतम् इति यावत्, शितिघातोप्यन्तात् कर्मणि लुङ् अतः सद श्वेत्यात् हेतोः, अस्य पाण्डवस्य, भूपते म्लानि विवर्णता, स्फुटा व्यक्ता, अजनि जाता, कर्त्तरि लृङ् 'दीपजन—'इत्यादिना विकल्पात्तिष्ण-प्रत्ययः, तथा हि शिते घव लिङ्नि, शितेर्नीलिनम् 'अक्षिति शितिकृष्णे च काल नीलञ्च मेघनम्' इति हलायुधः, सुलक्षता सुप्रहस्य, जायेत हि स्फुट दृश्यते इत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ २२ ॥

इम (दासीके वैमा (२२। २२) उपराम पूर्वक बोल्ने) के बाद उस (दासी) के अप्रामाणिक बोलनेमें उत्पन्न, मदर्योंकी इसीमें वह समा भूत वर्णवाली हो गयी, इस (समा

वे श्वेत वर्ण होने) से इस (पाण्डव) राजा की मलिनता (दमयन्तीके नहीं मिन्नतेसे उदा-
सीनता) स्पष्ट हो गया, क्योंकि श्वेतों का लिप्ता स्पष्ट मालूम होता है । [उस दासीके
उपहास करने पर और समाम्नाओंके हमने पर वह पाण्डव राजा अधिक उदास हो गया] ॥ २१ ॥

ततोऽनु देव्या जगदे महेन्द्रभूपुरन्दरे' सा जगदेऽवन्धया ।

नदार्जुनार्जिततर्जनीयया जनी ययाचिन् परचित्स्वरूपया ॥ २२ ॥

ततोऽन्विति । ततोऽनु तदनन्तर, महेन्द्रभूपुरन्दरे महन्द्रपर्वताधीश्वरे विषये,
न लक्ष्मीकृत्येत्यथ, तदार्जुनेन तस्य महेन्द्राधिपस्य, आर्जुनेन सरलतया, आवजिता
नमिता, तर्जनी महेन्द्रिनी यया तथा तादृग्जर्जनीयया, तम् अह्वयान् निदिग्धेत्यर्थ,
'नद्यतश्च' इति कप, कयाचित् अनिर्वाच्यया, परचित्स्वरूपया परज्योतिरात्मिकया,
जादृक्कवन्धया देव्या मरम्बत्या, सा जनी यय, जगदे गदिता ॥ २२ ॥

इसमें बाद सत्तार में एक (तुल्य) धन्दाया, अनिर्वचनाया, उत्तम ज्ञान (या ज्योति)
स्वरूपा (सरम्बना) देवी महन्द्रभूमिके राजाके विषयमें (पाठा०—कों लक्षित कर)
उमका और तर्जना अद्भुतिमें सङ्केत कर हम (दमयन्ता) से बोली ॥ २२ ॥

स्वयवरोद्वाहमहे घृणीय हे । महेन्द्रशैलस्य महेन्द्रमागतम् ।

कलिङ्गजाना स्तुक्चद्रयधिया कलि गनाना शृणु तत्र कुम्भयो ॥ २३ ॥

स्वयवरोद्वाहमहे इति । हे । इति सम्बोधने, 'अथ सम्बोधनार्थका । इयु
पाट् व्याङ्ग्य हे है भो ' इत्यमर, हे भूमि । स्वयवरेण स्वयवरकर्मणा, य उद्वाहमहो
विवाहोत्सव तस्मिन्, आगत महेन्द्रशैलस्य महेन्द्रपर्वतस्य, महेन्द्रम् अधीश,
घृणीय, त्वं महेन्द्रशैले, कलिङ्गजाना कलिङ्गदेशोद्भवाना, गजाना, कुम्भयो, स्वस्य
आमन स्तुक्चद्रयधिया सह कलि कल्ह, तत्र द्रुचद्रयम् अधिकपीनोमत गजाना
कुम्भद्रय वा अधिग पाणोर्गतामिति सीमापार्थमेव इति भाव, शृणु, तद्देशस्य
गजप्रायवात् द्रुचकुम्भयो दरिकुम्भयोऽसाम्य व्यष्टीभविष्यतीति निष्कर्ष ॥ २३ ॥

हे दमयन्ति । स्वयवर द्वारा विधे जनेनाए विवाहरूप वधने आवे हुए, महन्द्रपर्वत
के राजाको वरण करो, और वहा दण्ड देशम उत्पन्न दायियोंके कुम्भद्रय का अपने स्तन-
द्रवनी होवाने (होनवाने) विवादको सुनो । [हम महन्द्र पर्वतके राजाके वहा कलि
देशोत्पन्न साथी हैं, जिनका कुम्भद्रय तुम्हारे स्तनद्रव का जोमा पाना चाहता है, परंतु
पाना नहीं, विवादके समान इस विषय को तुम इस महेन्द्राधीश्वर का वरण कर अच्छे तरह
देख सकोगी, धनएव हमें वरण करो] ॥ २४ ॥

अय किलायात इतीरिपौरागमयादयादस्य रिपुर्वृथा वनम् ।

श्रुतास्तदुत्स्वापगिरस्तदक्षरा पठद्वित्राभि शुर्कैर्वनेऽपि स ॥ २५ ॥

१ 'पुरन्दरम्' इति पा० ।

४५ नै० ८०

अयमिति । अयं महेंद्रनाथ, आयात किल इतीरिणाम् इतिवादिना, पौराण्यं वाम्भ्यो जनवादेभ्य, भयात् अस्य रिपुर्व्या वनम् अयात्, नृयात्वमेवाह—श्रुता आकर्णिता, शुक्रैरिति भाव, तान्येव अक्षराणि अयमायात किलेत्येवरूपाणि यासु ना तदक्षरा, तस्य एनदीयरिपो, उत्स्वापगिरो वामनायातान् उत्स्वप्नायितप्रलापान्, पठद्भि उच्चारयद्भि, शुक्रैर्वनेऽपि स रिपु, अत्रामि त्रासित, त्रसेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ् । अत्र सत्यपि त्रामनिवृत्तिकारणे शुक्राज्यनिमित्तेन तदुत्पत्ते, उत्सन्निमित्तरूपो विदोषोक्तिभेद अलङ्कार, 'कारणमामग्रथा कार्यानुत्पत्तिर्विदोषोक्ति' इति सामान्यलक्षणात् ॥ २५ ॥

'यह (कलिङ्गराजा) आ गया' ऐसे कहनेवाले नागरिकोंके वचनसे शत्रु वनको व्यर्थ ही गये (क्योंकि) बड़ा भी उन शत्रुओंके दुस्वप्न (बराना—सोनेके समयमें सोलना) के वचनसे उन अक्षरों 'यह कलिङ्गराज आ गया' को सोलते हुए शत्रुओंसे वनमें भा वे शत्रु डर गये । [नागरिकोंके कहनेसे यद्यपि शत्रु वनमें भाग गये, तथापि बड़ा जरूर मोते समय 'यह कलिङ्गराज आ गया' हम प्रकार स्वप्नमें बार बार कहे गये शत्रुओंके वचनोंको तोते भा कहने लगे, जिसे सुन कर वे शत्रु इस कलिङ्गराजको वास्तविकमें आना समझकर बड़ा भी डर गये, अत एव उनका वन भागना व्यर्थ ही हुआ] ॥ २५ ॥

इतत्त्वसद्विभुतभूभृदुष्मिता प्रियाऽथ दृष्टा यनमानजीजनै ।

शशस पृष्ठाऽद्भुतमात्मदेशज शशित्विप शीतलशीलता किल ॥ २६ ॥

इत इति । इत अस्मात् महेंद्रनाथात्, श्रमता विभ्यता, अत एव विदुतेन पलायितेन, भूभृता प्रतिपच्चभूभुजा, उन्मिता वने त्यक्ता, प्रिया तत्कान्ता यनमान जीजनै किरातीजनै, दृष्टा, अथ दर्शनानन्तरम्, आत्मदेशजम् अद्भुत एवदृष्टेयो किमद्भुतमस्तीति पृष्ठा सती, अग्रधाने दुहादीनामित्यग्रधाने कर्मणि क्त, शशित्विप चन्द्रिकाया, शीतलशीलता शिशिरस्वभावता, शशस किल कथयामास खलु, अभिनवप्राप्तविरहाया मुग्धाया चन्द्रकिरणानां विरहे दुःसहस्वमजानन्या स्वदश शीतलत्वमत्र वने च उष्णत्वमिति श्रान्तिरिति भाव ॥ २६ ॥

इस (कलिङ्गराज) से डरकर भगे हुए राजासे छोटी गयी (उसकी) प्रियाको किन्तु पत्नियोंने देखा और अपने देशका अद्भुत वस्तुको पूछा तो उस (पति-विरहिण रानी) ने चन्द्रकिरणकी शीतलता को वक्ष्यया । [माने हुए पति से छोड़े जाने के कारण चन्द्र-किरण सन्नाप दे रही थी, अतः किरानियोंके पूछनेपर उसने चन्द्र-किरणको अपने देशका अद्भुत पदार्थ वक्ष्यया] ॥ २६ ॥

इतोऽपि किं वीरयसे ? न कुत्रतो नृपान् धनुर्बाणगुणैर्यशस्वान् ।

गुणेन शुद्धेन विधाय निर्भरं तमेनमुर्वावल्लयोर्वशो वशम् ॥ २७ ॥

१ 'निर्भयम्' इति पा० ।

इतोऽपीति हे । भैमि ! उर्वीवलयोर्वशी भूलोकाधमरोविशेषा, त्व शुद्धेन अनवद्येन, गुणेन सौन्दर्यगुणेन मौर्व्या च, एकेनैवेति भावः, तमेन महेंद्रनाथ, निर्भर नितान्त, वश विजाय वशीकृत्य, धनुर्वाणगुणे त्रिभिः सावनभूते, नृपान् वशवदान् वश्यान्, 'प्रियवशे वदे खच' कुर्वत कुर्वाणात्, इतोऽस्मादपि, महेंद्रनाथादपीत्यर्थः, 'पञ्चमी' किं न वीर्यमे ? न पराक्रमसे ? 'वीरशूरविक्रान्ती' इति चौरादिकाहट्, स्यतिरेकालङ्कार ॥ २७ ॥

भूतस्त्री उवशी तुम शुद्ध गुण (सौन्दर्य, पक्षा०—धनुषका रीति) मे प्रसिद्ध इम (महेंद्रनाथ) को अत्यन्त बामें सरके धनुष, बाण और गुण (धनुषका टेंगा), इन तीन साधनोंने राजाओंको वश करने हुए इस (महेंद्रनाथ) मे भा वार नष्ट हो गया ? अर्थात् अवश्य हो (अथवा-क्यों नही काम बनता हो) जहां तुम्हें वीर बनना चाहिये [यह राजा तो धनुष, बाण तथा गुण (बाण)—इन तीन साधनोंने दण्ड राजाओंको वशमें करके वार हो रहा है, और ऐसे वीर राजारो तुम केवल गुण (सौन्दर्य गुण, पक्षा०—धनुष तथा बाणने रहित केवल मौर्वी) मे ही वशमें कर रही हो, अतएव इसमे अधिक तुम हा वार हो तीन साधनोंके द्वारा काम करनेवालेको अपेक्षा एक साधनके द्वारा वही काम करने वाले व्यक्तिको हा श्रेष्ठ मानना उचित है] ॥ २७ ॥

एतद्भीतारिनारी गिरिविलविगलद्वासरा नि सरन्ती

स्वक्रीडाहसमोहमहितशिशुभृशप्रायितोन्निद्रचन्द्रा ।

आक्रन्दत् भूरि यत्तन्नयनजलमिलचन्द्रहमानुबिम्ब-

प्रत्यासत्तिप्रहृष्यत्तनयविहसिनेराश्वसीन्यश्वसीच्च ॥ २८ ॥

एतदिति । एतस्मान् भीतस्य अरेनारी गिरिविलेपु पर्वतगुहासु, विगलन् वासरो यस्या सा, तत्रैव नीतदिवसेत्यर्थः, नि सरन्ती साय विलाट्प्रहि निष्क्रामन्ती, स्वक्रीडाहसमोहेन मदीय क्रीडाहसोऽयमिति आन्त्या, प्रह आग्रह तद्वान् प्रहिल, पिच्छा-दिवादिच्छ प्रयय, तेन सामग्रेण, शिशुना बालकेन, भृशम् अत्यर्थ, प्रायितो घृवा द्वायतामिति याचित, उन्निद्र परिपूर्ण इत्यर्थः, चन्द्रो यस्या सा मती, भूरि भूयिष्ठ यथा तथा, आक्रन्दत् क्रन्दितवती, यत् यन्मादाक्रन्दनात्, तस्या मातुः, नयनजले मिलन् मङ्गकामन्, चन्द्र एव हम् तस्य योज्जुविम्ब, प्रतिविम्ब, तस्य प्रत्यासत्ता ममीपप्राप्त्या, प्रहृष्यन् तनयस्य विहमितै मध्यमहासे किञ्चिदुच्चहा-स्यैरित्यर्थः, 'मध्यम स्याद् विहमितम्' इत्यमरः, आश्वसीत् तस्याग्रहशान्त्या आश्वस प्राप्तवती, किन्तु न्यश्वसीच्च शोकेन दीर्घनिश्वास परित्यज्ज्वती च इति दुर्दृशानु भवसूचकोक्तिः । 'ह्ययन्तच्छणश्चस—' इत्यादिना वृद्धिप्रतिषेधः, अत्र नाराजिशो चन्द्रविम्बे तत्प्रतिविम्बे च हसगतसादृश्यात् हसप्रान्तिनिबन्धनात् प्रान्तिमद लङ्कार ॥ २८ ॥

पर्वण्यो पुष्याशौचं दिनसो विगनेवासी, साध्वालके वाद बाहर निकलती हुई हम राजासे दूरे हुए शत्रुओं को अपने ज़ीटा हम (जिन्हेना हम) के क्रमसे हटी वाला ने आकाशोदित चन्द्रमाओं का का मागा, (यह देव दुःखम) वह बहुत रोया और उस ग्रीष्म औन्मये प्रस्निविवित चन्द्रकप हमके प्रस्निविवितो पानेमें प्रमत्त होये हुए बालकके हस्तेने (वह का प्रमत्त हुआ और (अपनाविविधमानन हुआ) हवा स्वाम लिया । [हम राजासे दूर हुए शत्रुओं को जिनमें पर्वण्यो पुष्यामें टिना रहती थी और रातमें बाहर निकली तो उसके बालकने आकाशमें उड़ित चन्द्रको हस्तक जिन्हेना समझकर 'मेरा खिलौना हम गो' हम प्रता इत बरने लगा और उस किसी प्रकार शान नहीं कर सक्तेने बालक वह का बहुत रोया, जिन उमरा औन्मयोकी वनोंमें प्रस्निविवित चन्द्रको समीपमें देखकर 'यह मेरा जिन्हेना हम हा ह' ऐसा सन्तपन प्रमत्त होता हुआ बालक बने लगा, ऐसे देव किसी प्रकार हम दुःखमाला बालकने उदका पानेमें वह हँसी और छोटा गुरु पूर्व सन्ध्याके समग आनेमें 'तुम्हारा जिन्हेना हम सदा व' व्यधने जाल हो गये हो' ऐसा विचार आनेपर उमने हवा स्वाम लिया । २८ ।

अस्मिन् दिग्विजयोद्यते पनिरथ मे स्तादिति ध्यायति

कम्प मार्ग्यरथममञ्जति स्फुरोणीन्द्रदारा गग ।

अम्येयाभिमुख निपत्य समरे पार्श्वदिग्दूत्रं निज

पन्था भावयति मृगते चित्तमत्र प्रवर्तिभि पाथिदै ॥ २९ ॥

अस्मिन्नि । अस्मिन् महेन्द्रनाथे, दिग्विजयोद्यते मति, विपुलोगीन्द्राग द्वारा कलत्रभूता, गग अथ महेन्द्रनाथ एव, मे सम पति स्तात जन्तु, अस्तेलेटि 'सुरो स्तातद्' इति दुग्धाने तातटादेश 'अमोरहोप' इति अकारण, इति ध्यायति सद्गुणयति, कम्प कम्पाय मार्ग्यरथभावम्, अञ्जति प्राप्तेति, जात्यतिक्रम भूकम्पे तात्त्विकोपेक्षा एव अत्र प्रयोगात् गम्या, सिद्धास्यैव समर अभिमुख निपत्य आगत्य, उदूर्ध्वम् उदार्णम्, मार्ग्यदि प्रवर्तिभि पाथिदै भावयति मृगमण्डले, निरमय छिद्ररूप, निज पन्था इत्यने अस्मन्मृगो आश्रयमण्डल मण्डितमिव दृश्यते दृग्भागम् । अत्र मार्ग्योदयगमनभागयो र्जा पृथक् गम्या । 'द्वाविमौ पुरपौ एते मृगमण्डलेदिनी । परिघाट योगयुक्श्च रणार्थाभिमुखौ हत ॥ इति ॥ २९ ॥

हम (महेन्द्रनाथ) के दिग्विजय निपत्य गग 'यह मेरा व मा हो' ऐसा ध्यान करती हुई वह शत्रुओं को (कहा हुआ) पृथक् बन्धन माल्य भाव (पशु—दुमर स्वामी होनेका मृग मृग्य) का प्राप्त करना = (दुमर नवान पत्निको चाहनेवाली कीने बन्धन सत्त्विक भाव (पशु—राजपरिवारदि जगत्पूजन भूषण) होना राजाओंमें वर्णित है) तुमने हमारे (अथवा—हमारे तुम) सामन गिर (मर) कर ऊपर (स्वर्णिक) की लड़े हुए शत्रु राजा लोग मृगने दितरूप अपना (अपने जानेका) मार्ग

देवने ह । [इमं प्रकारं समर्पणे मानने मरणे पर मूर्खोक्तं वेदनकर वीर स्वर्गतो मान करते हैं] देना सामान बचन होनेने वे मूर्खने विस्मय अपना मां देखो है । परा०—
आमत्र दृष्टुं ये वृत्तिर्गो मूर्खने विस्मयमानो पत्नी द, वह भी स्वर्गो बचन हान्तेने
सुद्धने मारे जानेवाले शत्रुसाजोंको मूर्खने विस्मयमानो देना उचित हा है] ॥ २० ॥

विद्राणे रणचक्रराटरिगणे व्रज्जे ममज्जे पुन

कोषाम् षोऽपि निरर्त्तनं यद्वि भट्त्तं वीर्या जगन्मुद्रित ।

आच्छन्नपि नन्मुस्रि विमुग्गतामेवापिच्छन्नसं

द्राणेन चरित्तरणेण ठण्णिनि च्छिन्नापमपच्छिरा ॥ २० ॥

विद्राणे इति । समज्जे रणिने व्रज्जे रणचक्रात् रणद्राणात्, विद्राणे विद्राते
सति, विद्राते कर्त्तरि क, 'मयोपादेशानो धातोऽन्त' इति निष्ठाभकारभ्ये
नश्यत्, काया वगति उज्जट प्रसिद्ध, कोऽपि नेषामरिगतमा मये कोऽपीयत्रं,
भट्त्तं कापात् पुनरित्यत यद्वि, नदा मन्मुस्रस्य नानिष्टस्य, आगच्छन् अपि वीर्या
भट्त्तं, द्राक मपदि, प्लवस्य द्रविकाया शब्दविस्तारः, रण रगिति अधिवृत्तकरण
शब्द, नद्यथा मया द्विजमस्य अपमस्य अपगच्छन्, शिरा यस्य स तादृश सन् विमु
द्रता पराच्छन्नसंवेद, अविगच्छति । अत्र मन्मुग्गतास्य विमुग्गत्वमिति विगत,
विगतमनुस्रवमिति नदधनया विरोधपरिहाराद्विराधामाम्-हृद्धार ॥ २० ॥

इति मं रागा—न ममस्य शत्रु-मनुहृद मान पर कर जाने वादिक शा
ममरतम प्रसिद्ध अत्र चन्द्राम्भ कात्यायना अत्रे वाद सुत्वार लट्ज इ मं आन हुमा
नो न्हे (मृदु सुत्वार राजा इसके अन्तरम लट् लृट् लृट् वरन एव कद म्भा नाच
गिते हुद मन्मवाया वं सुत्वार लट् विद्राणा (२०१०—सुद्धाणा) का ही प्राप्त
करता है । लृट् प्रसिद्ध सुत्वारका मा इदं गिर वर वर विद्रुत्त । सुद्धाण) करत्वेवा
इमं नगार नदृष्ट, का वरन करो ॥ २० ॥

नतस्तदुज्ज्वलान्तादनुतादिव स्वयन्त्रपक्षेऽद्विनालदायिनी ।

विधीयतामाननमुद्रणेति सा जगाद वैदग्ध्यमपेक्षितैर ताम् ॥ २१ ॥

नत इति । तत्सदृशाननम्बर, नस्य उवीन्द्रस्य मन्दमायस्य, गुणधु अद्भु
तात् आश्रयविदादिव, वस्तुनन्तु जनादरादिनि भाव, स्वयन्त्रपक्षे अद्भुतमेव साल
पद्मदण्ड इदानीति नदायिनी, पदस्य नायाविनाभावादिनि साय, सा दमयन्ती,
वेदग्ध्यमय चानुर्यप्रचुरम, इति च्छिन्न यस्या संव मना, ना मरम्भनीम्, धानन-
मुद्रगा नोन, विधेयनामिति जगात्, वाक्यमन्तरणव मय अद्भुतिदानरूपा निज
मुखमुत्रे तस्या मरम्भनी प्रति भावोपदेशाऽनुदित्यय, विद्वत्ता हि स्वेदितेनेव पर
बोधयन्तीति भाव । वचननिषेधार्थ आश्रयसांनिभयार्थञ्च लोकेषु स्वेदुलिदीयते ।

सरस्वत्यास्तद्वर्णननिषेधार्थं भैम्या स्वमुखेऽङ्गुलिदानं तद्गुणाद्भुतादिवेति उद्ये-
क्षितं लोकैरिति भावः । अत्रोद्येक्षालङ्कारः ॥ ३१ ॥

इस (मरम्बतीके देसा (११।२४-३०) वर्णन करने) के बाद मानो उस (महेन्द्रा-
धिपति) राजाके गुणसे उत्पन्न आश्चर्यसे अपने मुखरूपी कमलपर अङ्गुलिरूपी कमलनाल
स्थापित का हुन तथा चातुर्यपूर्ण चेष्टावाली उस दमयन्ती ने 'भुस बन्द कर लो' ऐसा उस
सरस्वती देवीसे कहा । [लोकमें जो जाद्विषयित या किसीसे चुप रहनेके लिए सङ्केत
करनेवाला व्यक्ति मुखपर अङ्गुलि रक्ता है, अत एव दमयन्तीका वैसा करना सरस्वतीके
लिए 'बहुत गुणबाल इस राजाके गुणोंका वर्णन नहीं किया जा सकता, अत चुप रहो'
ऐसा सङ्केत हुआ तथा दर्शकोंके लिए इस राजाके अधिक गुणोंमें दमयन्तीका आश्चर्यित होना
सूचित हुआ । कमलम नालका होना उचित ही है । उक्त सङ्केतसे सरस्वती देवीको चुप
होनेका सङ्केत कर दमयन्तीने उस महेन्द्रके राजामें अपनी अस्मि प्रकट की] ॥ ३१ ॥

अनन्तर नामवदन्नुपान्तरं तदध्वट्टकारनरङ्गरिङ्गणा ।

तृणीभवत्पुष्पशरं मरम्बती स्वतीप्रतेजं परिभूतभूतलम् ॥ ३२ ॥

अनन्तरमिति । अनन्तरं तद्वर्णननिषेधावगायनान्तरं सरस्वती तस्य नृपान्तरस्य
अध्यनि दिशि, दशो तारतरङ्गरिङ्गणा मयनव्यापारप्रौढोमिरचना यस्या सा सती,
नृपान्तरं दशा निदिशन्तीत्यर्थः, ता दमयन्तीं तृणीभवत् पुष्पशरो यस्य स तृणीकृत
मर्मयः, स्वस्थ तीव्रगेण तेजसा परिभूत भूतलं येन तः, नृपान्तरम् अन्यं नृपं लक्ष्मी-
कृत्य इति शेषः, अवदत् । प्रुविसमानार्थकत्वात् द्विक्रमकत्वम् ॥ ३२ ॥

इस (मन्दरस्वामीमें दमयन्ती के अनिच्छा प्रकट करने) के बाद उस (दूसरे राजा)
की ओर नेत्रसे सङ्केत करती हुई सरस्वती (शरीर-शोभासे) नृप (के समान अतिप्रभ
हीन) होने हुए कामदेववाले तथा अपने तीव्र नेत्रसे भूतलको निरस्तुन किये हुए दूसरे
राजाको लक्षितकर उस (दमयन्ती) से बोली ॥ ३२ ॥

तदेष किन्नु क्रियते न ? का क्षति ? यदपि तद्दूतमुखेन काङ्क्षति ।

प्रसीद काङ्क्षीमयमाच्छिन्नस्तु ते प्रसह्य काङ्क्षीपुरभूपुरन्दर ॥ ३३ ॥

तदिति हे भैमि ! एष काङ्क्षीपुरभूपुरन्दर काङ्क्षीनगरालङ्कृतदेशाधीश्वरः,
तस्य त्वा प्रति प्रेषितस्य, दूतस्य मुखेन यत् त्वद्वरणादिकं, काङ्क्षति, तत् काङ्क्षित-
मेव, किं नु कथं, न क्रियते ? त्वयेति शेषः, अपि तु वृत्तव्यमेव तदित्यर्थः, का
क्षति ? तत्करणे तव का हानि ? प्रयुतं धनं ण्येति भावः, अथ तत्काङ्क्षितमेव
विज्ञापयति, अथ काङ्क्षीपति, ते नवमद्रमे लज्जिताया ननु इति भावः, काङ्क्षी
वसनगन्धदायार्थं च द्वा मेरुला, प्रसह्य वत्सत्, आच्छिन्नस्तु आच्छिद्य गृह्णातु,

काञ्चीपते बलपूर्वक काञ्चीग्रहणस्य उचितत्वादिति भाव , अत एव प्रसीद प्रसन्ना भव, अनुमन्यस्वेत्यर्थ ॥ ३३ ॥

वही क्यों नहीं करती हो ? जो यह उस (पहले भेजे हुए) दूतके मुखसे चाहता है, क्या हानि है ? अर्थात् कोई हानि नहीं, अपिन्तु लाभ ही है । प्रसन्न होवो (इसे वरण करो, जिससे) यह काञ्चीपुरीका राजा तुम्हारी काञ्ची (करघनी) को (रतिकालमें) ढोला करे (ऊधवा—अधीरताके कारण गाठ खोलनेके विलम्बको नहीं सह सकनेसे लोडे) [काञ्चीपतिना 'काञ्ची' पर पूर्णधिकार होनेसे वैसा करना उचित ही है] ॥ ३३ ॥

मयि स्थितिर्नम्रतयैव लभ्यते दिनेव तु स्तब्धतया विलङ्घयते ।

इतीव चाप दयताशुग शिपन्नय नय नम्यशुपादिशब्द द्विप ॥३४॥

मयीति । नय काञ्चीपति , चाप दधत् आशुग बाण, शिपन् सन् द्विप शत्रून् , मयि मत्समीपे, नम्रतयैव अवन्त्या एव प्रगत्या च, स्थिति अवस्थान, स्वराज्ये प्रतिष्ठा इत्यर्थ , लभ्यते, स्तब्धतया अनम्रतया तु, दिनेव विलङ्घयते अतिमन्यते, स्वराज्य त्यक्त्वा दिगन्तर गम्यते इत्यर्थ , इति नय नीति, सम्यक् उपादिशदिव, शुन्यत्वात् द्विकर्मक , उभयत्रापि युग्माभिरिति शेष । धनुर्बाणदृष्टान्तेन द्विपा नम्राये स्वराज्ये स्थिति , अन्यथा स्वराज्य त्यक्त्वा दिगन्तरगमनमिति वचन विनैवोपादिशदिवेत्युपेक्षा ॥ ३४ ॥

सुझमे अर्थात् मेरे पासमें नम्रभावसे ही स्थिति (अपने राज्यमें निवास) हो सकती है, स्तब्धता (कठोरता—नहीं झुकने) मे दिशा ही राखनी पड़ेगी धनुषको धारण करते हुए और बाणको फेंकते हुए इस (काञ्चीपुरानरेश) ने शत्रुओंको मानो नीतिका उपदेश दिया । [जिस प्रकार म झुकनेवाले धनुषका अपने पास रखना तथा कठोर होनेवाले बाणको दिशाके अन्त अर्थात् बहुत दूर तक फेंक देता है, उसी प्रकार जो राजा मेरे सामने नम्र होगा (प्रणामकर मेरी आज्ञा मानेगा), वही अपने राज्यमें ठहर सकेगा और जो कठोर होगा (अकट दिखावेगा) उसे मैं दिशाके अन्तमें फेंक दूंगा अर्थात् वही कारण नहीं मिलनेसे उसे दिगन्तमें (बहुत दूर) भागना पड़ेगा, ऐसी अपनी नीतिको, यह काञ्चीपुरीका राजा नम्र धनुषको पासमें रखना तथा स्तब्ध रहनेवाले बाणको सुदूर फेंकता हुआ शत्रुओंको उपदेश—सा दिया है] ॥ ३४ ॥

अथ समित्मम्भुरावीरयौनतनुटद्भुजाकम्बुमृणालहारिणी ।

द्विपद्रुणस्रैणटगम्बुनिर्भरे यशोभरालात्रलिरस्य खेलति ॥ ३५ ॥

अथ इति । अस्य काञ्चीपते , यशसामेव मरालाना हसानाम् , आबलि श्रेणी, अमुष्य भूपते , समित्सु युद्धेषु, सम्भुराणा वीराणा यानि यौवतानि युवतीसमूहा , 'गार्भिण यौवत गणे' इत्यमर । 'भिच्चादिभ्योऽण्' इति युवतिशब्दस्य भिच्चादिपाठात् समूहार्थेऽण्—प्रत्यय , 'भस्याडे तद्धिते' इति पुवद्भावश्च, तेषा वैभयवशात् प्रुव्यन्ति

अश्रयन्ति, भुजान्य यानि कम्पन्ति शङ्खवलयानि, 'शङ्ख स्यात् कम्बुरस्त्रियाम्' इत्यमरः, नान्येषु मृणालानि तानि हरतीति तद्धारिणी सती द्विषद्गणस्य तदीयारि-
वर्गस्य, स्त्रौणे स्त्रोसम्बन्धिनि, द्यम्बुनिर्झरे नेत्रजलप्रवाहे, खेलति क्रीडति । 'स्त्रोणा
पुसाञ्चयन्किञ्चित् खग पौस्तमिति क्रमत्' इति दोषः । 'स्त्रीपुसाभ्यां नञ्भनौ
भवनात्' इति नङ् । रूपकालङ्कारः ॥ ३५ ॥

हम (काञ्चीनरेश) के युद्धके समुग आवे हुए भीरोकी स्त्रियोंके मनुइके (पतिवोंके
मारे जानेके विषय होनेके कारण) दूटते हुए भुजाओंके शङ्खवलयरूप मृणालको हरण
(नष्ट—हूर) करनेवाली इस राजकी कानिन्धी मरान्धकि शत्रुमनुइके स्त्रीसमुदायके
औसुओंके (या औसून्पी) हरनेमें कौटा करना है । [जिस प्रकार हमपण्डित मृणाको
छाकर नष्ट तथा हरनेमें कौटा करना है, वही प्रकार हम राजाकी कानि युद्धमें शत्रुओंको
मारकर उनकी विधवा स्त्रियोंको बाहुभूषण-नष्टकरना, नष्ट (२१) करती तथा उ-
त्तरकर औसुओंका निरन्तरप्रवाह करनेके समान व वाना है, यह राजा मरामद भी है,
अन्य पर इसका वर्ण करो] ॥ ३५ ॥

सिन्दूरद्युतिमुग्धमूर्द्धनि धृतस्कन्धाधिश्यामनं
व्योमान्त स्पृशि सिन्धुरेऽस्य समरारम्भोद्धरे वावति ।
जानीसऽनु यदि प्रदोषनिर्मिरम्यामिश्रसन्ध्याधिय-

वास्त यान्ति समस्तग्राहुजिभुजातेज सहस्राश्व ॥ ३६ ॥

सिन्दूरेति । सिन्दूर 'सिन्दूर नागसम्भवम्' इत्यमरः । तस्य द्युतिभिः मुग्ध-
मूर्द्धनि सुन्दरमस्तरे, एता स्कन्धोऽर्वाधि यस्या सा श्यामिका यम तस्मिन्,
स्कन्धपर्यन्तश्यामले तत उपरि सिन्दूरारणे इत्यर्थः, व्योमान्त स्पृशि उच्चतया
अभ्रद्वये, अस्य काञ्चीपते, सिन्दुरगजे, समरारम्भेषु उद्बुर निर्भरे, अनर्गले इत्यर्थः,
'जटूपुरम्'— इत्यादिना समामान्तः, धात्रिणि अभिमुग्रायते सति, अनु अनन्तरं,
समस्तग्राहुजानां समस्तत्रियाणां, भुजातजासि भुजप्रवापा एव, सत्लाश्व
सूर्या, प्रदोषतिमिग्रेण सह श्यामिश्रसन्ध्याया मिलितसन्ध्याया, धिया बुद्ध्या एव,
श्रान्त्या एव इत्यर्थः, अस्त यान्ति इति जानीस यदि, यदि शब्द सम्भावनाया,
श्यामारणमिन्दुरे निर्मिरमिश्रसन्ध्याभ्रान्त्यै ते अस्त यान्ति इति सम्भावयाम
किम् ? इति उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ३६ ॥

सिन्दूर की (पक्ष्मा—सिन्दूरके समान, अरुण वर्ण) कानिसे मनोहर मस्तकवाले,
रक्तपत्रक वाले वनवाले और आराधस्पर्शा अर्थात् अत्यन्तविशालकाय, इस ('काञ्ची'
नरेश) के समरवे प्रारम्भमें तत्पर (या निर्मय) हाथीके दौड़ने रहने पर यदि सम्पूर्ण
६ त्रियोंके बाहु (से उत्पन्न) तेजोरूप सूर्य अस्त अर्थात् नष्ट होते (पक्ष्मा—अस्तावलकी
जाने) हैं तो हम जानने हैं कि वे सावधानके बचकारते युक्त सन्ध्याके प्रसंगे अस्त (नष्ट)

होते (पद्या०—अस्लाचल्को जाने) ह । [सायङ्कालमें अरण्य वगने मिश्रित अरुणार फैलने पर सूर्य अस्त हो जाता है, प्रकृतमें इस रात्रिके हाथियोंके मस्तकमें सिन्धूर लगा है, बहुत बड़े-बड़े तथा बाले हाथी सुझारन्ममें दौड़ने लगते हैं तो संपूर्ण रात्राओंके वादुताय लैन मष्ट हो जाते हैं—वे राजा उत्तरूप हाथियोंकी दृक्कर बुद्धभूमिमें माम जाते या इस रात्राके जगमें भा जाते हैं] ॥ ३६ ॥

त्रिंशो दैत्यरिपोरु स्वभजन शून्यत्यदेपस्फुटा
नीदन्मर्कटकीटवृत्रिममितच्छत्रीभय जीस्तुभम् ।

उविक्लव्या निजमद्य पद्ममपि तद्व्यक्ताशनद्धीकृत
सूतातन्तुभिरन्नरय भुजये श्रीरम्भ विश्राम्यति ॥ ३७ ॥

त्रिंशेति । श्री लक्ष्मी, स्वभजन निजनिग्राम, दैत्यरिपो त्रिंशो, 'उर शून्य व होदे'—लक्ष्मीसदागजमयिरिक्तादेपेण, स्फुटमासादन्न प्र यार्थादन्न, ये मर्कटनीडा स्फुटुनायकीटा, 'लया र्हा तन्तुवायोर्णनाभमश्टका समा' इत्यमर, तेषा सम्बन्धि यत् वृत्रिमसिद्धय मितच्छात्राकार लुप्तान्मृगिनाममण्डल, तथाभवत् सङ्घर्षीभ वन्, जीस्तुभ तदाश्रो मणि र्जिमन् कर्मणि नद्यथा भवति तथा त्रिंशो, निजमद्य निचयिनामभवत्, नन् प्रसिद्ध, पद्ममपि लुप्तान्मृगि स्वकम् अवनदीकृत शब्द यथा तथा, उविक्लवा अद्य सम्प्रति, अस्य भुज्यारन्नविश्राम्यति । अद्यकस्या भिय ननेगानेकाधारदृष्टक्या पर्यायालङ्कारभेद, तेनैव मदभुज्ये, श्रीरञ्जने विष्णुर- पक्षापामप्यधिन वस्तु ध्ययने ॥ ३७ ॥

आन लक्ष्मीन्दन्य (लक्ष्मीन्दिन) हानेन स्पष्ट रूपमें स्थिर होत हुए मकटीके जालके बने 'केत'छत्रके समान वास्तुभ मणिवान विष्णुक हृदय तथा मर्कटियोंके जालोंमें मष्टरूपमें बँधे हुए कमल—उन दोनों अपने-परो (निवासस्थानों) को छोड़कर इन 'काञ्चीरति' के वादुदयमें विग्रामकर रही हैं । [लक्ष्मीके रहनेके दो स्थान प्रसिद्ध हैं—एक विष्णुका हृदय तथा दूसरा कमल, विष्णु अतिशय दूरस्थ तथा भिन्न-भिन्न स्थानों में निवास करनेमें अधिक प्रयत्न होनेके कारण लक्ष्मीने उन दोनों स्थानोंको छोड़कर आज इस काञ्चीनरेशके वादुदयमें विग्राम (स्वरूपक निवास) कर रही है । उन दोनों पूर्व निवास स्थानोंमें—स प्रथम विष्णुका वह स्थान लक्ष्मीरहित होनेसे मकटीके जालके बने मष्ट छत्रोंमें कोत्तुभ मणिवान है तथा द्वितीय कमल मकटीके जालोंमें स्पष्ट हो व्याप्त हो रहा है । जिस स्थानको बढ़ावा रहनेवाला उदय चला जाता है वह मकटीके जालोंमें भर जाता है यह अनुभव सिद्ध बात है । प्रकृतमें लक्ष्मीने विष्णुके हृदयस्थ अपने प्रथम निवासस्थानको छोड़ दिया, अब अब वहाँ कोत्तुमणिके विराम स्वेतच्छात्राकार हो रहे हैं उड़े मकटीका जाला माना गया है तथा द्वितीय निवासस्थान कमलको लक्ष्मीने छोड़ दिया है वहाँ कमल में प्राकृतिक रूपमें रहनेवाले मन्तुका मकटीका जाला माना गया है । विष्णुके हृदय

तथा कमलका लक्ष्मी द्वारा त्याग करनेसे हम राजाका महाप्रणापी होना व्यक्तकर सरस्वती देवीने दमयन्तीसे उसका वरण करनेका सङ्केत किया है] ॥ ३७ ॥

सिन्धोजेत्रमय पत्रित्रमनृजत्तत्कीर्त्तिपूर्त्ताद्नुत

यत्र स्नान्ति जगन्ति सन्ति कवय के वा न वाचयमा ? ।

यद्विन्दुश्रियमिन्दुरञ्जति जलञ्चाविश्य दृश्येतरौ

यस्यामौ जलदेवतास्फटिकभूर्जागति यागेश्वर ॥ ३८ ॥

सिन्धोरिति । अथ काञ्चीपति, सिन्धोरग्ये जैत्र जेतु, जयशालमित्यर्थ, ततोऽप्यधिकमिति भाव, जेतुशब्दात् तृणन्तात् प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽङ्-प्राप्य, पवित्र पावन, तत्तथा प्रसिद्ध, कीर्त्तिरेव पूर्त्तं स्नात, 'न पृथ्याह्वानुरिद्धमदाम्' इति निष्ठा-सस्य मत्प्रतिपेध तदेवाद्भुतममृजत्, यत्र पूर्त्तं, जगन्ति स्नान्ति, स्नान्ति, यत्र यस्मिन् विषये, के वा कवय कवयितार, वाच दक्षुन्नीति वाचयमा निरुद्धवाच, न सन्ति ? सर्वेऽपि मौनिनो भवन्ति वर्णयितुमशक्यत्वादित्यर्थ 'वाचि यमो व्रते' इति यच्च प्रत्यय । 'वाचयमपुरन्दरौ च' इति निपातमान्नुमागम, इन्दु यस्य पूर्त्तस्य, विन्दुश्रियमञ्जति प्राप्नोति, तदपेक्षया अल्पत्वात् इन्दु यद्योयो विन्दुरिवेति भाव, अमौ इन्दु, यस्य जलञ्चाविश्य दृश्येतर सावर्ण्याददृश्य, जलदेवता आप्यशरीर-देवताविशेषश्चासौ स्फटिकाद्भवतीति स्फटिकभू स्फटिकोद्भूय, यागेश्वर सन् जागति, स्फटिकालिप्ते यागेश्वर इति प्रसिद्धि ॥ ३८ ॥

यह (काञ्चीनरेश) समुद्रको जीतनेवाला तथा पवित्र कीर्तिरूपी जो नडाग-सद्रूप आश्चर्यका निर्माण किया, जिस (कीर्तिरूपी तटाग) में ससार स्नान करने (श्वेत होत) ह और कौन बनि (वर्णन करनेमें असमर्थ होनेसे) मौन रहा होने अर्थात् सभी मौन हो जाते हैं (अथवा—जिसके जलमें पक्षी तथा कौन से तपस्वी नहीं हैं अर्थात् उस कौन रूपी तटागमें सभी पक्षी तथा तपस्वी ह), चन्द्र जिम (कान्तिरूपी तटाग) को बूंदकी शोभाको पाता है, यह (चन्द्र) जलमें प्रवेशकर अदृश्य होकर (जलमें प्रवेश किये हुएका) अथवा कीर्ति तथा चन्द्रका मगान वर्ण होनेसे कीर्ति तटागमें चन्द्रका) अदृश्य हो जाना उचित ही है) जलदेवता ही स्फुरित होता है और स्फटिक-रचित यागेश्वर (शिवविशेष) ही स्फुरित होता है । (अथवा—जिम कीर्ति-नडागको विन्दुशोभाको चन्द्र प्राप्त करना है अर्थात् विन्दु ही चन्द्र है । अथवा—जलमें प्रवेशकर अदृश्य होकर स्फटिक भूमिवाला (बैराज) ही (स्फटिकवृत्त) यागेश्वररूप जलदेवता ही स्फुरित होता है (जलके भीतर बूदनेपर स्फटिक दिखलाई नहीं पटना, अतः स्फटिक भूमिवाले बैराजका भी दिखलायी नहीं पडना उचित ही है, यागेश्वर स्फटिकके हैं ऐसा शास्त्रवचन है) । अथवा—जलमें प्रवेशकर चन्द्र ही स्फटिक निर्मित जलदेवता यागेश्वर ही स्फुरित होता है । अथवा—यह (प्रसिद्ध नाम) जलदेवता स्फुरित होती है जो स्फटिक भूमिवाला अगेश्वर (पर्वतराज

अर्थात् बेटास है) । ['समुद्र पर्वणि स्पृशेत्' अर्थात् 'समुद्रका स्पर्श पर्वदिनमें कर' इस शास्त्रीय वचनके अनुसार समुद्र पर्वतिरिक्त दिनोंमें अपवित्र तथा इस राजाका कीर्तिदाग सदा पवित्र है, समुद्रमें पृथ्वीपर निवास करनेवाले कुछ ही अर्थात् समुद्रतटवासी या बड़ा जानेका प्रयास करनेवाले ही व्यक्ति स्नान कर सकते हैं, किन्तु इस राजाके कीर्तिदागके मन्त्र व्याप्त होनेमें लोकत्रयके निवासी अनायाम ही स्नान करते हैं, समुद्रका वर्णन मन्त्र है और हमने कीर्तिदागका वर्णन अक्षय्य है, समुद्रमें एक ही चन्द्र निकलता है और हमने कीर्तिदागमें प्रत्येक विन्दु चन्द्र है, समुद्रः स्वामर्वा श्रीविष्णुरूप अक्षदेवता स्मर रहते हैं, हमके कीर्तिदागमें 'वचन' योग्यरूप अक्षदेवता जाने रहते हैं, अतएव समुद्र की अपेक्षा हम काशीनाथका बनाया गया कीर्तिदाग उत्तम तथा आश्चर्यजनक है । ऐसा कीर्तिमान् कोई नहीं है, अत एव हमको वरण करो] ॥ ३८ ॥

अन्त मन्तोपधापै स्थगयति न श्शस्ताभिराकर्णयिष्यन्

नाङ्गेनानस्तिहोमाऽऽरचयति पुलकश्रेणिमानन्दमन्दात् ।

न क्षोणीभङ्गभीरु कलर्यान् च शिर कम्पन तन्न निद्रा

शृण्वन्नेतस्य कीर्त्ता कथमुरगपति प्रीतिमाविष्करोति ? ॥ ३९ ॥

अन्तरिति । एतस्य राज्ञः, कीर्त्ता शृण्वन् उरगपति शेष, लाभि इति, आकर्णयिष्यन् श्रोष्यन्, अत एवान्त मन्तोपधापै इति न स्थगयति नास्त्वादयति, अन्यथा चक्षु भ्रमोऽस्य रूपग्रहणवद्दृग्ग्रहणस्यापि ते प्रतिबन्धमन्त्रादिति भावः यतः स अङ्गेन वपुषा, 'येनाद्रविकार' इति तृतीया, अङ्गेनेति पाठे—यतः स अङ्गे वपुषि, अस्तिहोमा न भवतीति अस्तिहोमा अविद्यमानहोमा, अस्तीत्यप्यप्य विद्यमानपर्यायः, तस्य सम्बन्धि अस्तिहीरादिवचनात् बहुषीहि, अत एव आनन्द कन्दात् आनन्द एव कन्दो मूल यस्या ताम् आनन्दजनिता, पुलकश्रेणि न आरचयति, तथा क्षोणीभङ्गभीरु पृथिवीपतनभीतः, शिर कम्पनञ्च, मन्तोपसूचकमिति भावः, न कलयति, तत्परमात्, कथं केन प्रकारेण, प्रीतिमाविष्करोति ? उरगपतिरिति शेषः, इति न विग्रहः, वाक्यार्थः कर्म ॥ ३९ ॥

इस (काद्वानरंज) की कीर्तियोंको सुनने हुए शेषनाथ हार्दिक सम्तोषजन्य अश्रुनोंमें नेत्रोंको नदी बन्द करने, क्योंकि उन्हीं (नेत्रों) से कीर्तियोंको सुनना है, रोमरहित व शरारने आनन्दोत्तुरूप रामाञ्ज—मनुष्यों नहीं धारण करने और पृथ्वीके गिरनेमें मदमाग वे शिरको नहीं बधने अत एव वे किम प्रकार अपना प्रेम प्रकट करने हैं यह हम नहीं जानते । [हर्षाश्रु—रोमाञ्ज तथा शिर कम्पन—ये तीन चिह्न हर्ष—सूचक हैं, किन्तु सदैवको कान नहीं होता, वे नेत्रने ही सुनने भी हैं, रोरहित नेत्रने सुनेनेवाले शेषनाथ हमकी कीर्तियों सुननेके लोभने नेत्रोंसे आम् नहीं गिराने, मरदशरार रोमरहित होना है अतः वे

१ 'नङ्गे तानस्तिहोमा रचयति' इति० पा० ।

रोमाञ्च नहीं धारण करते और मस्तकपर पृथा रखे हुए वे भूमिके गिरनेके भयमे मस्तक भी नहीं बैधाने, इस प्रकार हर्षसूचक तीनों चिह्नोंके न कर सकनेके कारण वे क्षणनाग हम राजाकी कीर्ति सुनकर किम प्रकार हर्ष प्रकट करते हैं सो हम नहा समझ पाते] ॥३९॥

आचूडाग्रममज्जयज्जयपटुर्यन्ध्रल्यकाण्डानय

सरम्भे रिपुराजकुञ्जरघटाकुम्भस्थलेषु स्थिरान् ।

मा मेयाऽस्य पृथु प्रसीदमि नया नास्मै कुतस्त्यक्कुच-

स्पर्द्धागद्विषु तेषु नान् वृत्तवते दण्डान् प्रचण्डानपि ? ॥ ४० ॥

आचूडति । जये पटु समर्थ, अथ राजा, सरम्भे सट्प्रामे, रिपुराजकुञ्जरघटाना प्रतिपक्षभूपहस्तिस्मृहाना, कुम्भस्थलेषु स्थिरान् दण्डान्, शल्यकाण्डान् शरकाण्डान्, आचूडाग्रम् आपुत्रमुग्रम्, अमज्जयत् निम्बानवान्, इति यत् मा-नस्य राज्ञ कर्तुं, पृथुर्महती, मेवा, तवति शेष, तथा सेवया, स्वरुचाभ्या सह स्पर्द्धागद्विषु माहस्यात् सारसरगृन्तुषु, तेषु कुञ्जरकुम्भेषु अपराधिषु, प्रचण्डान् उग्रान्, तान् दण्डान् धृत वतेऽपि अस्मै शान्ते, कुतो न प्रमादमि ? एन वृणीष्व इति भावः ॥ ४० ॥

पृथम विनयचतुर इम । काजीनरश । ने जय राजाभाने हाथियोंके मस्तक । मस्तकम् । कुम्भस्थलेषु रिपुराजकृष्णकाण्डोंका जो पुत्राग्रवत् भयंकर । पुमा । तथा, वह इम । काजीनरश । का । तुम्हा-लिप की गया । काजीनरा, उम । नरा । न तु नरा मन्त्रों के साथ स्पर्द्धा करनेमें लाली अथवा अभिरुचि करने वाले उन । कुम्भस्थलों । मैं प्रचण्ड दण्डोंका धारण करने (उग्र दण्ड स्ते) हुए इम । काजीनरश । व-लिपे तुम क्यों नहीं प्रसन्न होनी हो ? अथवा तुम्हें प्रसन्न होना चाहिये । लालकम जा प्रतिकूल व्यक्तिको शिष्टित करनेवाले व्यक्तिपर प्रसन्नता होना । वह काजीनरश मदागूर द, स्ते इसका वर्ण करो] ॥ ४० ॥

स्मितत्रिषा सृष्टिणि लीयमानया त्रिनीर्णया तद्गुणशर्मणेन सा ।

उपाहमन् कीर्त्यमत्त्रमेव न गिरा हि पारे निषेन्द्रैर्भवत् ॥ ४१ ॥

स्मितेति । सा भमी तस्य काजीपते, गुणशर्मणा इव गुणध्वजगच्छयमुखेनेव, घस्तुतस्तु अनादरादिति भावः, त्रिनीर्णया विमृष्टया, सृष्टिणि अधराञ्जले, लीयमानया महुचन्त्या, स्मितत्रिषा मन्दहामप्रभया, कीर्त्यं वर्णयितु शक्य, महार यस्य तमेव वाच्यमानमहत्त्वमेव, त काजीपतिम्, उपाहमत् उपहसितवती, हि यत्, निषेन्द्रैर्भवत् नलमाहात्म्यम्, गिरा पार चागत्रिष्यो न भवतीत्यर्थः, नलमाहात्म्य वर्णना र्नातम् अभ्यस्तु वर्णनामाध्यम्, अना नलापस्य न्यूनात् तमुपहसितवतीति भावः । अत्र नलानुरागाभ्येन कारणेन एतदपरागरूपकायसमर्थनात् तद्व्याधान्तरस्यात् ॥

वह दमन भी मानो उम (काजीनरश) के गुणोंके (नुननेमे उत्पन्न) सुखने की गयी तथा आश्रयान्ने लान होनी हुई स्मित-शोभामे वर्णनाय महत्त्ववाले उम (काजीनरश)

को इसी अर्थात् उम्मा उपहास किया, क्योंकि निषधराज (नल) का ऐश्वर्य वचनानीन (नदा) गन कर सकने योग्य है । [वर्गेनम अक्षय्य ऐश्वर्यवान् निषधराज नन्ते वान् किये जा सकनेवाले इस काशीनरेशके हीन होनेके कारण सरस्वती-वर्णिता काशीनरेशका दमयन्तीने उपहास कर दिया] ॥ ४१ ॥

निजाक्षिलक्ष्मीःसितैर्णशाग्रामसाजभाणीदपर परन्तपम् ।

पुरेऽतद्विगलयश्रियो भुवा भ्रूया त्रिनिदिश्य सभामभाजितम् ॥४२॥

निजेति । अमो सरस्वती, सभासु सभाजित पूजित, परन्तप रिपुतापक, 'द्विप-
'परयोस्तापे' इति सप्त प्रत्यय, 'एषि ह्रस्व' इति ह्रस्व, 'अह्रस्वपदजन्तस्य-' इति
सुम्, अपरमन्य नृप, पुरेऽव पूर्ववत्, तस्य राज्ञ, दिशो वलनं या धी तस्या भुवा
स्थानेन, तद्विगलितयेत्यर्थ, भुवा इति उद्घाटयवेन, 'ऊर्ध्वे दम्भ्या भुवा स्थितो'
इत्यमर, त्रिनिदिश्य निजाक्षिलक्ष्म्या स्वनेत्रशोभया, हसिर्नगशावकाम् उपहसितमृ-
गशावका, विशालतया अध कृतमृगाक्षीमित्यर्थ, भेमीमिति शेष, अभाणीत् वभाण ॥

वह सरस्वती देवी पहलेके समान (पाठा०—पड़ले ही) उस (दिखावे जानेवाले
राजा) की ओर सजावित भूमे सभामें ओछ एव शत्रुओं सन्तप्त करनेवाले दूसरे राजाको
निन्दित करके अपने नेत्रोंकी शोभामें मृगके दन्ते (का आग) की हमनेवाली अर्थात्
मृगके दन्तेके नेत्रोंसे सुन्दर नेत्रवाली हम (दमयन्ती) से बोली ॥ ४२ ॥

रूपा नृपाणामुपरि क्वचिन्न ते ननेन हाहा शिरसा रसादृशाम् ।

भवन्तु तादृस्तत्र लोचनाञ्चला निपेयनेपालनृपालपालय ॥ ४३ ॥

हृपेति । हे भेमि ! ननेन अवनतेन, शिरसा रसा भुव परयन्तीति तेषा रसादृ-
शाम् अथ परयता, त्वत्कृतप्रयागायातात् लज्जया अधोमुखानामित्यर्थ, नृपाणामु-
परि ते तव, क्वचित् कुत्रापि, कृपा न, हाहति गंदे, तत्र लोचनाञ्चला कटाक्षा, निपेया
प्राद्या, नेपालनृपालस्य नेपालभूपते, पालि कोटि, तद्विभाग इत्यर्थ, येषा तादृशा,
तावत् साकल्येन, सर्वथा इत्यर्थ, भवन्तु, कटाक्षदृष्ट्या त परयेत्यर्थ त्रिषा पालय
श्रिकोटय' इत्यमर ॥ ४३ ॥

(तुम्हारे द्वारा वरग न दिये जाने पर लज्जित एव) नतमस्तक होकर पृथ्वीको देखने-
वाले किसी राजाके ऊपर तुम्हारी कृपा नहीं है हाय । हाय ॥ अर्थात् महान् कष्ट है
(किसीको) तुम नहीं देखती यद्य उचिन्त नदा है । अन्तु, फिर भी तुम्हारे नेत्रप्रान्त
(कटाक्ष) अवन्त पान करनेयोग्य नेपाल नरेशके पान करनेवाले भ्रमर हों अर्थात् तुम
कटाक्षने नेपाल नरेशको देखो ॥ ४३ ॥

ऋजुत्वर्मानश्रुतिपारगामिता यदीयके सन्ति पर त्रिहिसितुम् ।

अनीन विश्वासप्रियायि चेष्टित बहुर्महानस्य स दाम्भिक शर ॥४४॥

१ 'पुरैव' इति पाठ । २ 'यदीयमेतत्परमेव हिंसितुम्' इति पा० ।

ऋजुवेति । यदीयके शरे, ऋजुत्वन् अवस्था परच्छन्दानुकूलता च, मौन नि-
शब्दना वाचयन्त्वञ्च, धृतिपास्यामिता कर्णान्तगामित्वं वेदपारगत्वञ्च तां सन्ति,
तथा पर शत्रुम् अन्यञ्च, त्रिहिसितु हन्तुम् अनपराधुं च, अतीव अत्यन्त, विश्राम
विगतश्वास, विगतामूर्त् इत्यर्थः, अथ च विश्राम इत्यथ, त्रिधत्ते इति विश्वासवि-
धायि, चेष्टित चरित्रम्, अस्ति, अस्य राज्ञः, बहुशनेन, ज्ञातावेकपचनम्, महानधि-
अतिदीर्घश्च, दग्ध कपट प्रयोजनमस्यति दाम्भिकोलोकवञ्चकः, स तादृग्गुणविशिष्टः,
शरः, अस्तीति शेषः, 'कपटोऽस्त्री व्यानदम्भो-' इत्यमरः, दाम्भिकेन यद्यत् क्रियते
एतस्य शरेण तत्तत् क्रियते इत्यर्थः । अत्र शरे दाम्भिक-शोषेणा व्यञ्जकाप्रयोगाद्वन्त्या॥

जिम्का सीधा रहना ध्वनिहीन होना, वानके पार तक जाना, अतिशय श्वास-हीन
करना अर्थात् मार देना—(पक्षा० क्रमशः—दूसरे के अनुकूल रहना, चुप रहना, वेदपार
गामी होना, अतिशय विश्रामयोग्य होना) चेष्टा शत्रु (पक्षा०—दूसरे) को मारने
(पक्षा०—अपकार करने) के लिए ही है, वह इस 'वाजानरश' का बाण अनेक (बहुत
पक्षा०—महान्) दाम्भिक अर्थात् कपटपटु है । [जिस प्रकार लोकवञ्चक कपटी व्यक्ति
ऊपरसे तो हमारे के अनुकूल, मोन, वेदज्ञाता तथा विश्राम योग्य होकर हमारे अनुपकार
करनेके लिये होता है, वसी प्रकार इसका शत्रुवञ्चक कपटी बाण सीधा, ध्वनिरहित,
सचने पर वानके पार तक पहुँचानेवाला तथा महाहिंसक शत्रुको मारने के लिये ही है] ॥४४॥

रिपूनराप्यापि गतोऽनर्णीणितामय न यावज्जन-स्त्रनव्रती ।

भृश निरक्तानपि रक्त उत्तरान् निकृत्य यत्तानमृजाऽसृजद्युधि ॥४५॥

रिपूनिति । यावज्जनानां सकलजनानां, रजनमेवमन्तमस्यास्तीति तद्घटी, सर्व
धन्वीतिवदिहन्तो बहुमीहि, अथ नेपालभूपः, रिपून् धवाप्य प्राप्य अपि, अवकी-
र्णिता क्षतमत्तम्, न गतः, कुत ? यत् यस्मात्, भृश निरक्तान् प्रतिपन्नरूपे विद्वेष-
सम्पन्नान्, अथवा युद्धकाले स्वशरीरादिरक्षणविषयेऽननुरक्तानपि, अथ च एन इष्टा
भयान् विगतरधिरानपि, रिपून्, शत्रून्, युधि समरे, निकृत्य क्षिप्वा, कृन्तते कत्वो
क्षयम्, असृजा रक्तवत्तरान् अतिशयेन रक्तवर्णान् अनुरक्ताश्च, रज्जौ क्षवधन्तात्तरम्,
असृजत् अकरोत्, रिपूनपि रक्तेन रज्जयत कुतोऽपि न रज्जनघतभङ्ग इति भावः ॥

समस्त जनोंको रक्त (अनुरक्त पक्षा०—रगयुक्त) करनेका मनी यह (नेपाल-
नरेश) शत्रुओंको प्राप्तपर भी नष्ट प्रतवाला नहीं हुना, क्योंकि (इस्ने) अत्यन्त
विरक्त (अनुरागरहित, पक्षा०—रगरहित) भी उन (शत्रुओं) को युद्धमें बाटकर (बाणों
से मारकर) हथिरसे अत्यन्त रक्त (अनुरक्त, पक्षा०—रगयुक्त) कर दिया । [शत्रुको
भी रक्तरक्षित करनेसे स्मर्युर्ण लोगोंको रक्षित करनेके प्रतवाले इस नेपालनरेशना प्रत-
भङ्ग नहीं हुआ । यह नेपालनरेश प्रजासुरजक तथा शत्रुनाशक होनेसे तुम्हारे वरण करने
योग्य है] ॥ ४५ ॥

पतत्येतत्तेजोहुतभुजि कदाचिद् यदि तदा

पतद्ग स्यादद्गीकृततमपतद्वापदुदय ।

यशोऽमुप्येगोपार्जयितुमसमर्थेन विधिना

कथञ्चित् क्षीराम्भोनिधिरपि कृतस्तत्प्रतिनिधि ॥ ४६ ॥

पततीति । पतद्ग सूर्य , पतस्य राज , तेजोहुतभुजि प्रतापाग्नौ, कदाचित् पतति यदि तदा अद्गीकृततमो शृङ्ग स्वीकृत , पतद्गस्य शलभस्य, आपदुदय देहदाहाम्भ विपत्प्राप्ति येन तथाभूत स्यात् शलभताम् इत्यादित्यर्थ , 'पतद्ग शलभे साधौ माङ्गारेऽर्के खगेश्वरे' इति वञ्जयन्ती, किञ्च अमुप्य राज , यद्य उपार्जयितुम् असमर्थ नेव विधिना ब्रह्मणा, कथञ्चिदपि, न तु सम्यगिति भाव , तस्य यशस , प्रतिनिधि प्रतिकूपर , क्षीराम्भोनिधि क्षीरसमुद्र , कृत , क्षीरसमुद्रस्नदनुकल्पत्वेन सम्पादित इत्यर्थ , मुक्त्यापेक्षया प्रतिानधिवस्तुनो न्यूनत्वेन न तु तादृग्यज्ञो लब्धमिति भाव । सूर्याधिकप्रताप विधेरपि अधिक्यज्ञाश्चेति निष्कर्ष ॥ ४६ ॥

नूर्य यदि कभी इस (नेपालनरेश) के तेजोमय अग्निमें गिर जाय तो पतिहोंके देहदाहरूप आपत्तिको प्राप्त कर ले तथा इसके यशको किसी प्रकार प्राप्त करनेमें असमर्थ ब्रह्माने उन (यश) का प्रतिनिधि क्षीरसमुद्रको बनाया है (अथवा—इसके यशको प्राप्त करनेमें असमर्थ ब्रह्माने उसका प्रतिनिधि क्षीरसमुद्रको किसी प्रकार अर्थात् अतिशय कठिनतासे बनाया है) । [अग्निमें गिरे हुए पतिहोंके समान ॥ राजाके तेजमें गिरे हुए सूर्यका पता भी नहीं चले अर्थात् सूर्य इसके तेजसे अत्यन्त कुछ है और इसका यश कुछसे भी स्वच्छ है, अथ च एकद्वीपव्यापी क्षीरसमुद्रसे सर्वद्वीपव्यापी इसका यश बहुत बड़ा है । इस नेपालनरेशके सत्ताप तथा यश अत्यन्त महान् है, अत एव इसे वर्ण करो] ॥ ४६ ॥

यावत् पौलस्त्यगास्तूभयदुभयहरिल्लोमरेखोत्तरीये

सेतुप्रालेयशैलौ चरति नरपतेस्तापदेतस्य कीर्त्ति ।

यावत् प्राक्प्रत्यगाशापरिवृढनगरारम्भणस्तम्भमुद्रा-

वद्री मन्त्रापताकारुचिरचितशिख्याशोणशोभावुभौ च ॥ ४७ ॥

यावदिति । पौलस्त्ययोर्विभोपणवैश्रवणयो , चास्तूमवन्त्यौ वैश्रमभूमिभूते, गृहभूते इत्यर्थ , 'वैश्रमभूर्वास्तुरस्त्रियाम्' इत्यमर , उभे च ते हरितौ उभयहरितौ दक्षिणोत्तरदेशानियर्थ , 'उभाद्रुदात्तो नित्यम्' इत्यत्र 'पृथग् योगकरणादेवायजा-देशस्य नित्यत्वे सिद्धे पुनर्नित्यग्रहण वृत्तिविषये उभयशब्दस्थाने उभयशब्दप्रयोग-नियमज्ञापनार्थम्' इति कैयट , तयोर्यथासङ्ख्यश्यामत्वात् शुभ्रराज्य लोमरेखा लोम राजि , उत्तरीयञ्च ते सन्तौ सेतुप्रालेयशैलौ यावत् यावद्दूर , स्थिताविति शेष , किञ्च प्राक्प्रत्यगाशे प्राचीप्रतीच्यौ दिशौ , 'स्त्रिया पुवत्—' इत्यादिना पुवद्भाव

तयो परिवृटौ प्रभू, इन्द्रावरुणौ इति यावत्, 'प्रभौ परिवृट्' इति निपात, तयो-
र्नगरयोरारम्भणे यौ स्तभौ मूलस्तम्भौ, तयोस्वि मुद्रा सन्निवेशो ययोस्तौ स्तम्भ-
सदृशाकारौ इत्यर्थ, सन्ध्ययोरेव साय-प्रातः सन्ध्यारूपयो द्वयो, पताकयो रविभि-
रक्तभाभि, रचितयो, 'शिखयोरग्रयो, शोणशोभा रक्तशोभा ययो ताद्युभौ अग्नी
उदयास्तदौलौ, यावत् यावत्पर्यन्त, तिष्ठन् इति शेष, तावत्पर्यन्तम् एतस्य नरपते
कीर्तिश्रानि चतुर्दिगन्तविधान्तकीर्तिरयमित्यर्थ ॥ ४७ ॥

पुरात्य-सन्तान (रावा तथा कुबेर) के दूह दन्त दुर्गे दोनों (क्रमशः दक्षिण तथा
पश्चिम) दिशाओंके (क्रमशः इयाम तथा इदेन वर्ग होनेसे) रोमाञ्च और दुपट्टारूप
रामेश्वर पुर और हिमालय पर्वत जहा तक, तथा पूर्व और पश्चिम दिशाओंके स्वामी
(क्रमशः इन्द्र तथा वरुण) के नगरके आरम्भमें खम्भेके काकुतिवाने अर्थात् खम्भेके सन्तान
एव सन्ध्या (क्रमशः प्रातः काल तथा सायंकालकी सन्ध्या) रूपी पताकाकी कामिने रवि
पश्चिमभागमें रक्तवर्णवाले दोनों पर्वत (क्रमशः उदयाचल तथा अस्ताचल) जहा तक
ह, जहा तक इस (नेपालनरेश) का कीर्ति विचरण करती है । [हिमालयसे रामेश्वर
तक तथा उदयाचलसे अस्ताचल तक अर्थात् चारों दिशाओंमें इस राजाको कीर्ति व्याप्त
है रहा है] ॥ ४७ ॥

युद्धा चाभिमुख्य रणस्य चरणस्यैवावसीयस्य वा
धुद्ध्याऽन्त स्वपरान्तर निपततानुमुच्य बाणावली ।

द्विन्न वाऽवनतीभवान्नजनिम्य सिन्न भरेणाधवा

राज्ञाऽनेन हठाद्विलोठितमभूद् भूमावरीणा शिर ॥ ४८ ॥

युद्धेति । अदसीयरस्य अनुप्यायम् अदसीय तस्यामुष्य सम्बन्धित इत्यर्थ, अभिमुख्य मुख प्राग्भूम्य, अभि लक्ष्मीकृत्य इत्यर्थ, रणस्याभिमुख्य युद्धप्रारम्भे, बाणावली शरसमूहान् अनुमुच्य युद्धार्थं निक्षिप्य, युद्धा युद्धं ह्वा, निपतता निहताना वा अधवा, अन्त अन्त करणे, स्वस्य आत्मन, परस्य शत्रोश्च, अन्तर न्यूनाधिकत्वा पार्थक्य, युद्धा ज्ञात्वा, अदसीयरस्य चरणस्यैवाभिमुख्य बाणावलीरनुमुच्य रणार्थं निपतता निरायुधीभूय एतच्चरणसमीपे नग्रीभवतामित्यर्थ, धरीणा शत्रूणा, द्विन्न बाणैः कञ्चित् सत्, वा अवनतीभवत् भूमौ पतित सदित्यर्थ, अधवा निजनिम्य भरेण स्वीयमयातिशयेन, सिन्न सत् अवनतीभवत् नग्रीभवत्, शिरो भस्तकम्, अनेन राज्ञा हठात् बलात्कारेण, भूमौ विलोठित पुन पुन परावर्तितम्, अभूत्, एतस्य राज्ञः शत्रवो यदि युध्यन्ते तदा त्रियन्ते एव, अधवा ये शत्रव विवेचका भीरवश्च ते पुनमेव शरणगच्छन्तितेषा मान्या गतिरिति भावः ॥

(इस (नेपालनरेश) के युद्धके सम्मुख लडकर अपने तथा राज (इस राजा) के अन्तर-
(भेद—न्यूनाधिक बल) को जानकर बाण-समूहों को छोडकर अर्थात् बाणसमूहोंसे

पर छोड़ता है कि वे बाग उनके हृदय (पाठा०—नेत्रों) में छिद्रकर अट्टस्य हो जाते हैं और उ हैं पुत्र कोतुङ्ग को देखनेवाले कहीं भी (तरकसे निकालने आदि में) नष्ट देय पाने, किन्तु मरे हुए शत्रुओंके हृदय (पाठा०—नेत्रों) में उन बागों द्वारा बिखे गये छिद्रों से—‘इम नेपालनरेशने ही इसपर बाग को छोड़कर इसके हृदय (पाठा०—नेत्रों) में छिद्र कर दिया है’ ज्ये अनुमानकर बागों को लक्षित करते हैं । प्रत्यक्षमें नहीं देखी गयी वस्तु अनुमान द्वारा सिद्ध करना उचित ही है । यह नेपालनरेश बहुत तीव्र गतिसे शत्रुओं पर बाग चलाता है] ॥ ४९ ॥

दमस्वसुश्रित्तमवेत्य हासिका जगाद देवीं क्रियदस्य घटयसि ? ।

भण प्रभूते जगति स्थिते गुणैरिहाप्यते सङ्कटयासयातना ॥५०॥

दमस्वसुरिति । हामयतीति हामिका हामयित्री, काचित् चेटीति शेष, दमस्व सुश्रित्तमवेत्य बुद्ध्या देवीं सरस्वतीं, जगाद, किमिति ? हे देवि । अस्य राज सङ्ग्रन्धि, त्रियद्वयमि ? त्रियत् प्रपञ्चयसीत्यर्थ, निविष्टगुणाधारस्यास्य गुणानां प्रत्येक कथं वर्णयितुं शक्नोषि ? इति भाव, प्रभूते महति, जगति स्थितेऽपि विशाले जगति विद्यमानेऽपि, गुणैः सौन्दर्यादिभिः, इह अस्मिन्नेव राज्ञि, सङ्कटवासेन मङ्गी र्णस्थित्या, जाधाराक्षयतया अतिदुःखेणावस्थानात्, यातना तीव्रवेदना, आप्यते अनुभूयते, इति भण, सर्वे गुणाः सर्वे जगत् परित्यज्यास्मिन् एव अस्मिन्नेव राजनि परस्परसङ्घर्षेण निरवकाशा निवसन्तीत्येकयोक्त्या वद इति भाव । सर्वगुणान्तरम् अपि पुन दमयन्ती न गृणुते इति निष्कर्षः ॥ ५० ॥

ईसनेवाली (दमयन्तीकी सामान्यतया दासी) दमयन्तीके चित्त (यह इस नेपाल नरेशको बरण करना नहीं चाहती ऐसे भाव) को जानकर बोली—‘सरस्वती देवि !’ इसका किन्ना वर्णन करोगी ? विशाल ससरारके रहनेपर भी गुण (सौन्दर्य आदि (इस (नेपालनरेश) में सङ्कट (गुणोंके अधिक तथा बागस्थानके कम होनेके कारण हुए) से निशाम करते हैं’ ऐसा कहे । (पाठा०—समारमें स्थित बहुत गुण उत्तम) । [यह नेपालनरेश राजा शुभी है कि विशाल समारके रहने का समस्त गुण इसी नेपाल नरेश में स्थान (आधार) की कमी होनेसे बड़ी मनीषणासे निवास करते हैं, अतः इसके प्रत्येक गुणों पृथक् पृथक् वर्णन करना अप्रकथ होनेसे उक्त वचन कहना ही तुम्हें उचित है, इस प्रकार बहुत गुणवान् भी दम नेपालनरेश को स्वामिनी दमयन्ती नष्ट बरण करना चाहती अतः इसका वर्णन करना व्यर्थ है । अथवा—विशाल समारके रहनेपर भी दम नेपालनरेशमें ही सब गुण राजाकी जयोग्यताके कारण दुःस्पूर्वक निवाम करते हैं, अतः एव इससे गुणोंको किन्ना वर्णन करोगी ? वास्तविकताको समझनेवाली स्वामिनी दमयन्ती

तुम्हारे अधिक वर्णन करने पर भी इसे नहीं वर्णन करना चाहती, अब एक तुम अब हमका गुण-वर्णन करना समाप्त करो] ॥ ५० ॥

ब्रवीति दासीह किमप्यमङ्गत ततोऽपि नीचेयमतिप्रगल्भते ।

अहो ! मभा साधुरितीरिण कृपा न्यपेधदेति श्रुतिपानुगाञ्जन ॥ ५१ ॥

ब्रवीतीति । इह सभाया, दासी भैया विहारी, किमपि असङ्गत ब्रवीति प्राक् 'चलेऽपि वाकस्य' इत्यादि अभापत, वर्त्तमानसामीप्ये भूते लट्, ततो दासीतोऽपि मीचा तुच्छा, इय चेष्टी, अतिप्रगल्भते इदानीं पुनरपि उच्छ्वेदलतया ध्रुते, अहो ! आश्चर्यं, सभा मातु, आश्चर्येति सोऽलुण्ठोक्ति, इतीरयन्ताति इतीरिण इवस्वामि गुणवर्णनप्रतिबन्धान् आक्रोशत, एतस्य चित्तिपस्य अनुगाम् अनुचरान्, जन तट स्थजन, कृपा क्रोधेन, न्यपेधन् निवारयामास ॥ ५१ ॥

'यद्वापर (इस सभामें) शान्ति कुछ असंगत (१०।११ आदि) बोलती है (पाठा०—बोला है), नीचे यह दासी (१०।१२ श्लोक द्वारा बोलनेवाली उक्त दासी, अथवा—सभामें बोलनेकी अधिकारिणी बनानेकी गयी मरम्बनी देवी) ने भी उच्छ्वेद बोलता है, आश्चर्य है कि यह अच्छी सभा है अर्थात् उचित-अनुचितका विचार नहीं होनेसे यह बहुत बुरा सभा है', ऐसा क्रोधसे कहनेवाले नेपालराजके अनुचरोंको (दर्शक) लोगोंने रोका । अथवा—सभामें ऐसा कहनेवाले नेपालराजके अनुचरोंको (दर्शक) लोगोंने क्रोधसे रोका । [नेपालनरेशके वंशमें ही दासीके बालनेमें अपने स्वामीके अपमानको नहीं सहनेवाल अनुचर कुछ होकर यक्षपूर्वक सभाको बुरा कहने लगे तो उक्त दर्शकलोगों ने ही मना कर दिया] ॥ ५१ ॥

अथान्यमुद्दिश्य नृप कृपामयी मुनेन तदिदमुत्तममुखेन सा ।

दमस्वसार वदति स्म देवता गिरामिताभूवर्षास्मरश्रियम् ॥ ५२ ॥

अयेति । अथ कृपामयी सा गिरा देवता इलाभुवा ऐलेन पुरुरवमा तुल्यम् इलाभुवत्, 'तेन तुल्य क्रिया चेद्वति' न्याऽग्र स्मरतिरम, अतिस्मरश्रियम् अनिष्टान्तमदनलावण्यम्, अन्य नृपमुद्दिश्य तस्य नृपस्य, दिदमुत्तममुखेन तदिदं भागामिमुखेन, मुनेन करणेन, तेन उपलक्षिता मती या, दमस्वसार वमयन्ती, वदति स्म ॥ ५२ ॥

कृपाउ बाग्देवी पुत्रवाके समान कामदेवी शोभाकी अतिक्रमण करनेवाले अर्थात् कामन भी अधिक सुन्दर हमरे राजाकी लक्षितकर उसके ओर मुख करके दमरन्नीस बोली ॥ ५२ ॥

विलाचनेन्दीनरजास्वामिने नितेरपाङ्गाजगचन्द्रिकाञ्जलैः ।

त्रपामपाकृत्य निर्भाञ्जभालय श्रितिक्षित मालयमालय रुच ॥ ५३ ॥

विलोचनेति । विलोचने एव इन्दीवरे नीलोत्पले, तयोर्मध्ये वासेन स्थित्या, वासिते सुरभिते, नयननीलिम्बा नीलोत्पलेरित्यर्थः, सित स्वभावात् अवदाते, नीलश्चेतकान्तिविशिष्टरिति यावत्, अपाङ्गाभ्यगाया नेत्रप्रान्तरूपमार्गवर्त्तिन्या, चन्द्रिकाया नेत्रमध्यस्थनीलगोलकस्य, अञ्जलौ प्रान्तभागं, कटाक्षरिति यावत्, करणे रच क्रांते, आलयम् आकर, मालय मलयदेशीय, चित्तिचित् चित्तीश, तदा रचदेशस्य राजानमि वर्य, चित्ति चिगोतीनि चित्तिचित् चित्तीश सिधातोर्देश्या धात् कृप्, निभात् वस्वन्तरदर्शनव्याजात्, त्रया लज्जाम्, अपाङ्गय स्थित्वा, निभालय विलोचय, निभालय इत्यस्य चोरादिकात्मनेपदिभलधातो रूपत्वात् पर स्मैपद् चिन्तनीयम्, अथवा निभाल निभालन तद्वान् निभालवान् तादृश दृष्ट 'तत् कर्गाति-' इति णिच् भतुपो लोपेन साधनीयम् ॥ ५३ ॥

नेत्ररूपी नीलकम्पमे निवाम कम्पमे वासित (नील वर्ग क्रिये गये) तथा (स्वभावन) एवेन नेत्रप्रान्तमार्गगामी चन्द्रिकाप्रान्तो अर्थात् नालदेन कटाक्षोमे कान्तिके आकर 'मालय' नामक (अथवा—मा = लम्बाके आलय, अथवा—'मलय' देशके राजा, अथवा—म = शिवनी इ निवाम जिसका ऐसे अर्थात् चन्द्ररूप) राजाको लज्जा दृष्टकर व्याज (दूसरी वस्तुके देखनेके बहाने) से देखो । [यह राजा 'मालय' नामक है, (या—शिवका निवाम चन्द्ररूप का अर्थात् अलिप्तुद्धर है, या—लक्ष्मीका आलय है, या—'मलय' देशका है), इसे यदि कम्पनेमें लज्जा आती है तो दूसरी वस्तुको देखनेके बहानेसे इसे देखो क्योंकि उस प्रकार देखनेमें लज्जा नहीं होगी और कान्तिके आकर इसे तुम अच्छा तरह देखकर इसके बरतन विषयमें क्याबत निगय कर सकोगी, अतः तुम दूसरा वस्तुको देखनेके बहानेसे नीलदेन कटाक्षोंसे इस राजाको निस्मदोच होकर देखो] ॥ ५३ ॥

इम परित्यज्य पर रणादरि स्वमेव भग्न शरण मुधाऽप्रिशत् । {
न वेत्ति यत्प्रातुमित कृतस्मयो न दुर्गया शैलमुवाऽपि शन्यते ॥५४॥
इममिति । अरि एतच्छत्रु, रणात् समरात् भग्न सन्, परम् अरि श्रेष्ठ वृत्त इम नृप, परित्यज्य शरण न प्राप्य, मुधा वृथा, स्व स्वरीय, शरण गृहमेव, शरणे रक्षम्, अविशत् प्रविष्ट, शरणस्य द्विरागुस्या सम्बन्ध कथं वृथा ? इति तदाह, यत् यन्मात्, कृतस्मय कृताहङ्कार, सोऽरिरिति शेष, दुर्गया दुर्गमया, शैलमुवा शैलप्रदेशेन, गिरिदुर्गेणापीत्यर्थः, अथ च शैलमुवा पर्वतकन्यया, दुर्गया दुर्गाद व्याऽपि, पार्वत्याऽपि इत्यर्थः, इतोऽस्माद्वाज्ज, प्रातु न शक्यते, किं पुन स्वगृहण अन्येन वा पुरेणेत्यपिशब्दार्थः, इति न वेत्ति, यो गिरिदुर्गप्रविष्टमपि शत्रु हन्तु शक्नोति स स्वगृहप्रविष्टमरि कथं न हन्तु इति स्वप्राणरक्षार्थं स्वगृहप्रवेशो व्यर्थ इति भावः ॥ ५४ ॥

उद्धसे मगा हुआ शत्रु श्रेष्ठ (या—शत्रुरूप) इसे छाटकर अपने ही घरमें (या—अपने ही बड़े घर में, या—अपने ही रक्षकके यहाँ, या—अपने ही दूसरे रक्षकके यहाँ, या—अपने

ही बड़े रक्षकके यहां) व्यर्थ गया, क्योंकि अभिमानी बड़ (राजा राजा) यह नहीं जानता है कि—'इस (माल्य नरेश) मे दुर्गम पर्वतीय भूमि (पश्चा०—पर्वतकुमारी दुर्गा अर्थात् पार्वती) भी नहीं बचा सकता है' । ['जिसमें शरणागतको पर्वतपुत्री पार्वती (पश्चा०—दुर्गम पर्वतीय भूमि भी) नहा बचा सगनी, उसने अन्य कोई बड़ा घर (पश्चा०—रक्षक) कैसे बचा सकता है ?' इस बातको नहीं जाननेवाला अभिमानी बड़ राजा युद्धमें भग्नकर अपने बड़े घर (निम्ना, पश्चा०—रक्षक) के पास व्यर्थ ही गया । अन्तरहार्थ युद्ध से भग्न कर दुर्गम पहाड़में पुनः हुए या बड़ निजा रक्षकके शरणमें गये हुए भा राजाको यह माल्य राजा मार जाना है] ॥ ५४ ॥

अनेन राज्ञाऽधिपु दुर्भंगीकृतो भवन्' घनध्वानजरत्नमेदुर ।

नथा त्रिदूराद्रिरदूरता गमी यथा स गामी तत्र केलिशैलताम् ॥५५॥

अनेनेति । अनेन राजा अधिपु विषये दुर्भंगाकृत तुच्छीकृत, यथेष्टम् अधिभि उपादीयमानरत्नोऽपि य अनेन राजा उपेक्षित इत्यर्थ, तथा घनध्वानजै नवमेघ राज्ञोऽर्थ, रत्नं वैदूर्यं, मेदुर पूर्ण एव, भवन् अतिव्ययेऽपि अक्षीणरत्न एव तिष्ठन् इत्यर्थ, त्रिदूराद्रि वैदूर्याचल, तथा तेन प्रसारेण, अदूरताम् आमलता, गमी गमिष्यन्, तथा भोऽद्रि, तत्र केलिशैलता गामी गमिष्यन्, 'भविष्यति गम्यादय' इति गमिगाम्यो साधुवम् । 'न लोका—' इत्यादिना पृथीप्रतिपक्षात् कर्मणि द्वितीया, अयं राजा नगरां अतिसाक्षिध्यात् बहुरत्नयुत वैदूर्याचलं ते क्रीडाशैलीं भविष्यति इति मात्पर्यम् ॥ ५५ ॥

इम राजासे याचकोंके विषयमें दरिद्र किया गया अर्थात् उपेक्षित (अन एव) मेघ निम्ने उत्पन्न रत्नोंसे पूरा होना हुआ (पाठा०—होती हुई मेघवर्णियोंसे उत्पन्न रत्नोंमें) विदूर (अत्यन्त दूरस्थ, पश्चा०—'विदूर' अर्थात् 'रीढ़' नामक) पर्वत उस प्रकार पत्नीरत्न होगा, जिस प्रकार बड़ तुम्हारा क्रीडापर्वत बन जायेगा । ['विदूर' पर्वतमें मेघके गर्तमें उत्पन्न होनेवाले रत्नोंकी पहले लीय इच्छानुसार वहासे रत्न लाने थे, किन्तु अब यह 'माल्य' राजा याचकोंकी इच्छानुसार दान दे देता है, अन एव कोई भी 'विदूर' पर्वतमें रत्न लानेका बड़ नशा करता, इस कारण मेघके गजनेसे उस 'विदूर' पर्वतमें रत्नोंकी उत्पत्ति तो सदा होता रही किन्तु तममें—से रत्नोंका व्यय नहीं हुआ और अत्यन्त दूरस्थ भा बड़ पर्वत बटने बटने उनका समीप हो जायेगा कि तुम इस राजाका बरगजर वहा पर क्रीडाकरने लगोगी ॥ ये राजा बहुत दानी है, अन एव इसका बरग करो] ॥ ५५ ॥

नम्रप्रत्यधिपृथ्वीपतिमुखकमलम्लाननाभृङ्गजात-

नृत्तागन्न पातचन्द्रायितचरणनखश्रेणिरैण्यनेत्रे ।

ह्यारिप्राणवातामृतरमलह्रीभूरिपानेन पीन

भूलोकस्यैव भर्ता भुजभुजगयुग सायुगीन विभक्ति ॥ ५६ ॥

नन्नेति । एष्या इमे ऐनेये 'ऐनेयमेण्याश्चर्माद्यमेणस्यैणमुभे त्रिषु' इत्यमर, एष्या ढक्, ते च ते नेत्रे च, ते इव नेत्रे यस्या तस्या सम्बुद्धि, ऐनेयनेत्रे । हे मृग शावाचि !, उपमान-पूर्वपदबहुव्रीह्युत्तरपदलोप, नद्याणा पादप्राप्ते भवनताना, प्रत्यधिपृथ्वीपतीना पराजितशत्रुभूपाना, मुखान्येव कमलानि तेषु या ग्लानता अप मानजनितवैवर्ण्यं, सैव भृङ्गजातस्य भ्रमरसमूहस्य, छाया नीलभा, तस्या अन्त पातेन मध्यगतत्वेन, स्वच्छनत्वे प्रतिफलनादिति भाव, चन्द्राविता चन्द्रवदाचरिता मलिनमुखच्छाया रूपकलङ्कसम्पत्तेरिति भाव, चरणनक्षत्रेणिर्यस्य तादृश, भूलोकस्य भर्ता एव राजा, ह्यारिप्राणवाता गवितशत्रुप्राणवाद्यव एव, अमृतरसस्य लक्ष्यं ऊर्ध्व, तासा भूरिणा भूयसा, पानेन पीन मामलम्, अत एव सदुगे युद्धे, साधु सायुगीन युद्धे अपराजेय, भुजभुजगयुग हस्तरूपपद्मगदुगल, विभर्तीति, रूपदाट्ट द्वार । सायुपानेन यथा सर्पा स्नूला जायन्ते तथा अस्य राज्ञ हस्तौ दान्त्रूणा प्राण वायुपानेन स्थूलं सज्जातौ इत्यर्थ, चरणपतितान् शत्रुनृपान् रक्षति गविताश्च तान् मारयति इति भाव ॥ ५६ ॥

हे मृगनयनी (दमयन्ती) ' नम्र शत्रु राजाओंके मुखकमलकी मलिनतारूपी भ्रमरसे उपपन्न (अथवा—भ्रमर-समूहकी छाया अर्थात् शोभाके प्रतिबिम्बिन) होनेसे चन्द्रमाके समान आचरण करनेवाला है चरण-नखोंका श्रेणा जिसकी ऐसा, भूलोकका रक्षक यह राजा अभिमानी शत्रुआवा प्राणवायुरूप अमृतरस की नदियोंके अधिक पान करनेसे मोटा तथा युद्धमें श्रेष्ठ (तीव्र शस्त्रप्रहार करनेवाला) वायुत्प सर्पद्वयकी धारण करता है । [युद्धमें हारकर मलिन मुख किये हुए शरणागत शत्रु राजा लोग उसके चरणों पर चढ़ होकर प्रणाम करते हैं तो उनके मुखकी मलिनका नि कमलपर बैठे हुए भ्रमरों-जैसी मालूम पड़ता है और वह इसके चरणोंके नखोंमें चन्द्रकलङ्क-जैसी शोभाती है तथा उसके दोनों हाथ (शस्त्र-प्रहारसे) अभिमानी शत्रु राजाओंके प्राणोंका हरण करन (व हे मारत) है तो वे दो सर्प अमृतरस-नदियोंकी धार रहे हैं ऐसा मालूम पड़ता ॥ सर्प का वायुत्प अमृतरसका पानकर मोटा (पुष्ट) होना उचित है । यह राजा शरणागत शत्रुका रक्षक तथा अभिमानी शत्रुका प्राणनाशक है] ॥ ५६ ॥

अध्याहार म्मरहरशिरश्चन्द्रोपस्य शेष-

स्याद्भिर्भूय फणसमुचित काययष्टीनिफाय ।

दुग्धाम्मोघेर्मुनिचुलुकनत्रामनाशाभ्युपाय

वायव्युह क जगति न जागर्त्यद कीर्त्तिपूर ? ॥ ५७ ॥

अध्याहार इति । स्मरहरशिरसि चन्द्रशेपस्य कलमात्रावशिष्टचन्द्रस्य, अध्याहार शेपपूरक, पञ्चदशकलासम्पादक इति यावत्, एतेन कीर्त्तिपूरस्य स्वर्ग-न्यापित्वमायातम्, शेपस्य अहे अनन्तोरगस्य, शुभ्रकायस्येति भाव, भ्यसा सहस्रमद्भ्यकाना, फणाना समुचित योग्य, काययष्टीना महस्रसद्भ्यकाना शरीरागा निकाय समूहभूत इति यावत्, फणमद्भ्यकं कार्यं भवितुमीचित्यात् अवशिष्टशरीरसम्पादक इति भाव, एतेन पातालव्यापि-नमायातम्, दुग्धाम्भोधे, क्षीराम्भोधे, मुने अगस्त्यस्य, चुलुकनात् गण्डूपेण ग्रहणात्, त्रासस्य नाशे अम्बुपाथ उपायभूत, कायन्यूह कायसद्धान, क्षीराब्धे प्रतिनिधिरित्यर्थ, पूरं क्षीरा-प्रेरेकास्त्वेन चुलुकग्रहणात् भयमासीत्, इदानीमेन-कीर्त्तिपूरस्य पृथिवीव्या-पि यात् तच्छीरस्थेन सरस्रलाना शुक्लतया दुग्धवत् प्रनीयमानत्वात् इदं क्षीराब्ध चारि अन्यत् चारि वा इति निश्चेतुमशक्यत्वेन नास्ति अगस्त्यगण्डूपात् तादृशभय मिति भाव, अद् कीर्त्तिपूर अमुं य यशोराशि, य जगति न जागति ? श्लोक्ये पुन जागर्त्तीत्यर्थ । अत्र कीर्त्तिपूरस्य श्लोक्यव्यापि-त्वासम्भवेऽपि सत्सम्बन्धोक्ते सत्रपातिशयोक्ति, सा च अस्य चन्द्रशेपाध्याहारवादिरूपकोत्थापितेति सङ्कर ॥५॥

कामनाशक शिवजीके मस्तकस्थ चन्द्रके शेप का अध्याहार, शेपनाग बहुत सा फणाओं के योग्य (अतिविशाल या सहस्र सरयावाला) शरीर-यष्टि का समूह और मुनि (अगस्त्य ऋषि) के चुलूमें लेकर पान करने से उत्पन्न भयके सर्वनामुखा उपाय क्षीर समुद्र का शरीर-समूहरूप, इस राजा का कीर्ति-प्रवाह किम लोकमें नष्ट जागरूक (व्याप्त) है ? जहाँवा तीनो लोकों (क्रमश स्वर्ग, पाताल और मृत्यु लोक) में जागरूक है । [इस राजा का कीर्ति-प्रवाह तीनो लोकोंमें व्याप्त हो रहा है । क्रमश यथा—इसका कीर्ति-समूह शिवजीके मस्तकस्थ चन्द्रके शेप भाग (पन्द्रह तिथि जाने से उनके अतिरिक्त सोलहवा भाग) का अध्याहार है । जिस प्रकार किमी अपूर्ण वास्तव की पूर्ति दूसरे परका अध्याहारकर की जाती है, वैसे ही इसके कीर्ति-समूहका अध्याहार कर शिव-मस्तकस्थ चन्द्रके शेप भाग का पूर्ति (१६ कलाओं की पूजा) की जाती है, अतः स्वर्गमें हमना कीर्ति-समूह व्याप्त है । शेषनागकी सत्रा फणा और एक शरीर है, किन्तु सहस्र फणाओं के लिए सहस्र शरीर-यष्टिका होना उचित है, अतः हम राजाका कीर्ति-समूह उस शेषनागकी सहस्र शरीर यष्टिके योग्य हो रहा है, इस प्रकार वह पातालमें भी व्याप्त है । मुनि अगस्त्यने चुलूमें समुद्र को लेकर पी लिया था, अतः एव एक क्षीरसमुद्र को भी भय हो गया कि कहीं वे मुनि मुझे भी न पी जावें, किन्तु इस राजाके कीर्ति-समूह अनेकों क्षीरसमुद्र बनकर एक व्यक्तिद्वारा अनेक समुद्रों का पीना अशक्य होनेसे (अथवा—उक्त कीर्ति-समूह द्वारा नीरक्षीरको एक रूप बना देनेसे 'कौन नीर है ? तथा कौन क्षीर है ?' इसका यथावत् निर्णय नष्ट होनेसे) क्षीरसमुद्रके उक्त भयको सर्वनामुखा (सर्वदा सफल) उपाय बनकर दूर कर दिया, अतः उक्त कीर्ति-समूह भूलोकमें भी व्याप्त हो रहा है] ॥ ५७ ॥

राज्ञामस्य शतेन किं कलयतो हेति शतघ्नी ? कृत

लक्ष्मैर्लक्षमिदो दृशेत् जयत पद्मानि पद्मैरलम् ।

कर्तुं मर्यपरच्छिद किमपि नो शस्य परार्द्धेन वा

नन् सद्वापगम विनाऽस्मिन् न गति काचिद्वैतैतद्विषाम् ॥ ५८ ॥

राज्ञामिति । शतघ्नी नाम हेतिम् आयुध, 'शतघ्नी तु चतु शत्या लौहकण्टक-
सञ्चिना' इति यादव, शत हन्तीति शतघ्नीति च गम्यते 'अमनुष्यकर्तृके च' इति
टङ्प्रत्यये ङीप् । कलयतो धारयत, अस्य नृपते, राज्ञा शतेन किम् ? न काऽपि
क्षतिरित्यर्थ, शतमारणसमर्थमस्य गृह्यतोऽस्य शतसङ्ख्यकं शत्रुभिर्न किमपि कर्तुं
शक्यते इति भावः । लक्षभिदो लक्षभेदिन, लक्षलक्षसङ्ख्या, तद्विशिष्टशत्रुहन्तुश्च,
'लक्ष शरभ्ये-सङ्ख्यायाम्' इति च विश्व, पुत्रचिदप्यप्रतिहतमायकस्य अस्य इत्यर्थ,
राज्ञा लक्षे कृतम् अलम्, कृतम् इति शब्द अलमित्यर्थेऽध्ययम् । दशा दृष्टवैव,
पद्मानि अवजानि, तत्सङ्ख्ययश्चात्र, 'पद्म स्यात् पद्मो व्यूहे निधौ सङ्ख्यान्तरेऽशुजे'
इति विश्व, जयतोऽस्य राज्ञ पद्मै पद्मसङ्ख्यकै शत्रुभि, अलम्, किं बहुना ? सर्वं
परच्छिद समस्तशत्रुच्छिदोऽस्य राज्ञ, राज्ञा परार्द्धेन वा तत्सङ्ख्यकराजभिर्वा, परे
पाम् अरीणाम् अर्द्धेन वा, किमपि कर्तुं नो शक्यम्, नत् तस्मात्, यत खेदे, एतद्वि-
षाम् अस्य शत्रूणां सङ्ख्याया अपगमम् अपगतसङ्ख्यात्वम् अमङ्ग्यत्वमिति यावत्,
अथ च सङ्ख्यात् युद्धात्, अपगमम् अवसरण, विना काचित् गतिर्नास्ति, 'सङ्ख्य
समिति सङ्ख्या स्यादेकत्वादिविचारयो' इति मेदिनी, अथत्र द्विपट्टतिमवस्थ
सङ्ख्यापगमतदपगमयो उभयो प्राप्तस्य पूर्वत्र निषेधस्य उत्तरत्र नियमनात् परि-
सङ्ख्या, तथा च सूत्रम्-'एकस्य अनेकप्राप्तावेकत्र नियमन परिसङ्ख्या' इति ॥ ५८ ॥

'शतघ्नी' नामक (नोप १५५०-सौ व्यक्तियों को मारनेवाला) शस्त्र-विशेष धारण
करते हुए इस राजाके सौ राजाभोंसे क्या ? (सौ शस्त्र इसका क्या कर सकते हैं अर्थात्
कुछ नहीं) । लक्षभेदी (निश्चाना मारने वाले, १५५०-लाख व्यक्तियों को मारनेवाले)
इसके लाख शत्रु भी व्यर्थ हैं । दृष्टि (नेत्र, १५५०-देखने) स ही पक्षों (कमलों, १५५०-
पक्ष) परिमित सरयावालों) को जीतेते हुए इसके 'पञ्च' परिमित शत्रु भी व्यर्थ हैं । तथा
सम्पूर्ण (१५५०-अग्रण्ड) को छिन्न करनेवाले इसका परार्द्ध (शत्रुका आधा भाग, १५५०-
'परार्द्ध' (चरम) सरया) परिमित भी शत्रु कुछ नहीं कर सकते, इस कारण सङ्ख्या
अर्थात् गणना (गन, लक्ष, पञ्च, परार्द्ध आदि १५५०-सङ्ख्या अर्थात् गूढ़ के छोटनेके विना
इसके शत्रुओंकी कोई गति नहीं है । [उक्त वारणोंसे इस राजाके सौ, लाख, पञ्च और
परार्द्ध-संख्यक शत्रु भी कुछ नहीं कर सकते, अतः अब सद् गत्याग (१५५०-युद्धत्याग) के
अतिरिक्त कोई उपाय उनके उचन का नहीं है] ॥ ५८ ॥

वयम्ययाऽऽकूतविदा दमम्बमु स्मित प्रितत्यामिदधेऽय भारती ।

इत परेषामपि पश्य याचना भरन्मुखेन म्रनिवेदनत्वराम् ॥ ५६ ॥

वयस्ययेति । अथ दमस्वसु आकूतविदा अभिप्रायजया, वयस्यया सग्या, स्मित प्रितत्य हारस्य कृत्वा, भारती वाम्देवी, अभिदधे अभिहिता, किमिति ? भवन्मुखेन त्वन्मुखेन, याचता स्वयर्गन प्रार्थयमानानाम्, इतोऽस्मात् राज्ञ, परेषाम् अन्वेषामपि राज्ञा, स्मनिवेदने आत्मपरिचयकथने, त्वरा द्रुतकथनस्य कालविलम्बा-सहस्य वा, परस्य, एतद्वर्णनात् विरम्य परान् वर्णयेत्यर्थ ॥ ५६ ॥

इसके बाद दमजन्मीने अभिप्राय (यह देने वरना करना नहा चाहता देने भाव) को जाननेवाली सखी मुन्कुराकर मरम्बनीने बोली—दम (राजा) दे अनिरि=राजार्थोंकी भी तुम्हारे मुखने भजने जाननी शीघ्रताको भेजा । [हमक अनिरिक अन्यान्य राजा भी तुम्हारे मुखने भजना जान करानेके लिये शीघ्रता कर रहे ह, अब अब तुन इस राजाके काननो समातकर अब राजाओंका भी जान करो] ॥ ५७ ॥

कृताऽत्र देवी रचनाधिकारिणी न्यमुत्तर दामि । ददामि का सती ? ।

ईतीरिणम्वन्तृपारिपाशिकान् स्वभक्तृरेष भ्रुकुटिन्यवर्त्तयत् ॥ ६० ॥

कृतेति । हे दामि ! अत्र स्वयम्वरे, देवी वामदेवी, वचने नृपतिवर्गने, अधिका रिणी कर्त्री, कृता नियुक्ता, त्व का सती का भवन्ती, केन प्रयुक्ता सतीत्यर्थ, अमनो कुलदा, का त्वामति च गम्यते, उत्तर ददामि ? इति ईरिग एव प्रुवाणान्, तस्य नृपस्य, परिपार्थ वर्त्तन्ते इति पारिपाशिकान् सेवकान्, 'परिमुम्बद' इति टक् चकारात् पारिपाशिक, स्वभक्तुं स्वस्वामिन एव, भ्रुकुटि न्यवर्त्तयत् तेषा स्वामी एव तान् भ्रुभक्तेण निधारितवान् इत्यर्थ ॥ ६० ॥

हे दामि ! यत्पर (हम राजमभामें) देवी (मरस्वत्या देवी) बोलने (राजाओं का परिचय देने) में अधिकारिणी बनायी गयी ह, तुम कौन होकर (जयवा—असनी अथात् दुराधारिणी कौन होकर) उत्तर दे रही ह ? देसा कहनेवाले राजा (वर्णनान 'मात्र' राजा) के पात्रवर्तियोंको अपने स्वाधीनी भ्रुकुटिने ही मनाकर दिया अर्थात् उक्त वचन कहनेवाले अपने अनुचरोंको उक्त राजाने ही भ्रुकुटिने मङ्गलेने रोक दिया ॥ ६० ॥

धराधिराज निजगाद भारती नत्नम्मुखेनद्वलिताङ्गसूचिनम् ।

दमम्बसार प्रति सारवचन कुलेन शीलेन च राजमूचिनम् ॥ ६१ ॥

धरेति । भारती सरस्वती, कुलेन यशमर्यादया शीलेन सद्वृत्तेन च, राजसु मध्ये उचित योग्य, सवलोकपरिचिनमियर्थ, सारवचन श्रेष्ठम्, अतिश्लिष्ट वा, तस्य वर्णनीयनृपस्य, सम्मुख यथा तथा ईषद्वलिनेन वस्त्रितेन, अङ्गेन प्रपुषा, सूचित निर्दिष्ट, धराधिराज भूपति, प्रति लक्ष्मीकृत्य, दमस्वसार निजगाद तस्य पथ-यामासेत्यर्थ ॥ ६१ ॥

सरस्वताने कुल तथा शील (सदाचार) से राजाओं में योग्य (प्रसिद्ध या श्रेष्ठ) और अत्यन्त बलवान् (अथवा—कुल तथा शीलसे अत्यन्त बलवान् अर्थात् श्रेष्ठ और राजाओं में योग्य) एवं उस (राजा या दमयन्ती) के सम्मुख कुछ तिर्थक किये हुए अन्न (नेत्राणि या हन्तादि) से सूचित (दूसरे) राजाको दमयन्तीमें बतलाया ॥ ६१ ॥

कुन कृतैव नवलोकागत प्रति प्रतिज्ञाऽनवलोकनाय वा ? ।

अपीयमेन मिथिलापुरन्दर निपीय दृष्टि गिथिलाऽस्तु ते वरम् ॥ ६२ ॥

कुल इति । हे भोमि ! आगत स्वयंवरार्थमुपस्थित, नवलोकम् अपूर्वजन प्रति, एवं परिदृश्यमानप्रकारेण, अनवलोकनाय वा अनवलोकितुमेव, अप्रधारणायां वा-
दाद, कुत कस्मात् कारणात्, प्रतिज्ञा कृता ? न युक्तमेतदिति भाव, भवतु तावत् एन पुरोवर्त्तिन, मिथिलापुरन्दरमपि मिथिलापतिमपि, निपीय सम्यक् निरीक्ष्य, सहृदपीति भाव, ते तत्र, इयम् दृष्टि मिथिला मिथिलादरा, एतस्य रूपव-
त्तायामिति भाव, अस्तु, वरम् इत्यपि श्रेष्ठ, बीक्ष्य उपेक्षणम् अपि अवदृशनात्
किञ्चित् प्रियमित्यर्थ ॥ ६२ ॥

आये हुए नवीन (पाठा०—वर अर्थात् दुल्हा या श्रेष्ठ) लोगोंको नदी देखनेके लिए ही इस प्रकार (पाठा०—तुमने नहीं देखनेके लिए) क्यों प्रतिज्ञा की है ? (ऐसा करना उचित नही है) । इस मिथिलानरेशको पान (देख) कर तुम्हारी दृष्टि मिथिल (आदर वाला) होवे यह श्रेष्ठ है । (अथवा—श्रेष्ठ इस मिथिलानरेशको मिथिल हो) । [यद्यपि तुमने पूरा वाणिज्य राजाओंको देखा तब नहीं है, किन्तु ऐसा करना अनुचित होनेसे इस मिथिल-नरेशको एक बार देख लो फिर भले ही वरण मन करो, क्योंकि आये हुए निमीको नदी देखनेका अपेक्षा देखकर उपेक्षा कर देना श्रेष्ठ है] ॥ ६२ ॥

न पाहि पाहीति गदग्रजोरमु मद्रोष्ठ । तेनैवमभूदिति नृधा ।

रणक्षिताग्रस्य त्रिरोविमूर्द्धभिर्विदश्य दन्तैर्निजमोष्ठमास्यते ॥ ६३ ॥

नेति । मद्रोष्ठ ! हे मदीयाधर ! यत् यस्मात्, पाहि पाहि इति अमु राजान, न अत्रही, दूरभिमानादिति शेष, तेन पाहि पाहीति अवचनेनैव, एवमीदृशी मे वृक्षा, अनुदिति हेतो क्रुधा क्रोधेन, रणक्षितौ अस्य त्रिरोविमूर्द्धभिः शत्रुशिरोभिः कर्तु-
भि, दन्तैः करणैः निजमोष्ठमधरम्, ओष्ठशब्दस्य अधरार्थकत्वंमपि दृश्यते, विदश्य, आस्यते स्वीयते, अस्य राज्ञः शत्रूणामेतच्चरणमेव क्षरणम्, अन्यया मरणमेवेति भाव । अत्र शत्रुगिरसा प्रत्यर्थिनिपयक्रोधहेतुकस्य ओष्ठदशनस्योष्ठनिपयक्रोधहेतुक-
स्यो प्रेक्षणात् हेतूपेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्या ॥ ६३ ॥

‘हे मेरे बाप’ जो तुमने ‘पाहि, पाहि’ अर्थात् ‘रक्षा करो, रक्षा करो’ ऐसा इस (मिथिला नरेश) से नहीं कहा, इस कारण ऐसा (हम मस्तकोंका कटकर भूमिमें लोटना)

हुआ', इस प्रकार हम (मिथिलानरेश) के शत्रुओंके मस्तक युद्ध भूमिमें दोनोंसे अपने ओष्ठोंको काटकर रह जाते हैं । ['पर्व' का उच्चारण-स्थान ओष्ठ होनेसे 'पाठि' शब्दके उच्चारण नहीं करनेसे सुरवात्ताधी ओष्ठ ही है, अत एव अपराधीको दण्डित करना उचित है । जिस प्रकार शबदी मूठ नहीं चुल्गी, उसी प्रकार युद्धभूमिमें कोवसे मरनेके समय दोनों ने ओष्ठ काटते हुए बैरियोंके मस्तक ज्योंके त्यों (वेसा ही अवस्थाने) रह जाते हैं ॥ यत् मिथिलानरेश क्षरणगत शत्रून् रक्षन् तथा रक्षत शत्रून् मारनेवाला है] ॥ ६३ ॥

भुजेऽपस्तपत्याप दक्षिणे गुण सहेषुणाऽऽदाय पुर प्रसपिणे ।

धनु परीरम्भमिसास्य सम्मदान्महाह्वे दिस्सति वामवाह्वे ॥ ६४ ॥

भुजे इति । महाह्वे महारणे, अस्य राज्ञ, धनु कर्त्तुं, दक्षिणे अपसप्ये, अथ च सरले, अनुकूलेऽपीत्यर्थ, भुजे हस्ते, इषुणा सह गुण ज्याम्, आदाय अपस्तपति अपगच्छति, कर्णपश्चाद्देश गच्छति सखपीत्यर्थ, अथ च रणस्थलात् पलायन कर्त्तव्यपि, पुर प्रसपिणे पुरोगामिने, गुणसहायाभावेऽपि रिपुसम्मुखयाचिने इति भावः, वामवाह्वे वामहस्ताय, अथ च प्रतिपूलायापि भुजाय, सम्मदात् रिपुविनाशाय शत्रुपुत्रपुरोगामगमनजन्यसन्तोषात्, परीरम्भम् आलिङ्गनम्, 'उपसर्गस्य घन्य मनुष्ये बहुलम्' इति दीर्घं, दिस्सतीव दातुमिच्छतीव ह्यसुप्पेणा, वदाते सन्मन्त्राद् 'सति सीमा-' इत्यादिना इदावश अभ्यासलोपश्च, मध्यस्थ सुषशजो जन गुगिनि अनुकूलेऽपि स्वजनमादाय सङ्ग्रामात् पलायिते सति सङ्ग्राम कर्त्तुं पुरोगामिने प्रतिपूलायापि जनाय निपुणोऽयमिति मत्वा हर्षादालिङ्गन वदाति इति निष्कर्षः । वामहस्तस्थितधनुष दक्षिणहस्तेनाकणान्तगुणार्कपङ्गात् वामहस्ते कोटिद्वयमनमन्त्रालिङ्गनत्वेनोपसितम् । जिगांषुभिर्दक्षिणोऽपि भीरु न समाद्रियते वामाऽपि रणोत्साही शूर समाद्रियते इति भावः ॥ ६४ ॥

महायुद्धमें इस राजाका धनुष बाणके साथ गुण (मार्ग, पक्षा०—धेनु गुण) को लेकर दाइने (पक्षा०—अनुकूल) हाथके हाते हटन रहनेपर (पक्षा०—कान तरु पर्व्वने पर) बागे बटनेवाले वाम (बाएँ, पक्षा०—प्रतिपूल) हाथके लिए मानो हपने आलिङ्गन (अथवा—हर्षम मानो आलिङ्गन) देता है । [जिस प्रकार गुणको सहायक सहित लहर भगनेवाले अनुकूल व्यक्तिका भी आदर नहीं होता, किन्तु बागे बटनेवाले असहाय या प्रतिपूल व्यक्तिका भी आदर होता है, उसी प्रकार इस राजाका धनुष भा युद्धभूमिमें पीछे रहनेवाले दाइने बटुना आलिङ्गन कर आदर नहीं करता, अपितु बागे बटनेवाले बाएँ हाथका आलिङ्गन कर आदर करता है । युद्धभूमिमें यत् मिथिलानरेश धनुषको अच्छी तरह पकटनेवाला तथा बाणको बान तक मचनेवाला है] ॥ ६४ ॥

अस्योर्परिमणस्य पार्ष्णप्रिधुद्वैराज्यमज्ज यश

मर्याद्भोज्यलशर्वपर्यंतमितश्रीगर्वनिर्वासि यत् ।

तन् कञ्चुप्रतिबिम्बित किमु ? शरत्पर्जन्यराजिथ्रिय

पर्याय किमु ? दुग्धसिन्धुपथसा सर्वानुवाद किमु. ? ॥ ६५ ॥

अस्येति । अस्य उर्वारिमणस्य भूपते सम्बन्धि, पर्वणि सत्र पार्वण तादृशस्य विधौ राजाचन्द्रस्य, द्वैराज्य द्वयो राजोरिदं कर्म द्वैराज्य राजद्वयसम्बन्धि कर्मत्वार्थ, चन्द्रद्वयसम्बन्धि घासल्यमिति भाव, द्विराजशब्दात् बहुव्रीह्यन्तात् ब्राह्मणादि-
त्वात् व्यङ्ग्यप्रत्यय, तत्र सज्ज सज्जद, तत्कार्यमारकमित्यर्थ, पार्वणविशुद्धशमिति समुदितार्थ, सर्वान्ने उज्ज्वलस्य घवलस्य, शर्वपथनस्य कैलासस्य, मित मितिमा, घासल्यमित्यर्थ, 'गुणे शुक्लादय दुमि' इत्यमर, तस्य श्रिया सम्पदा, यो गर्गस्त निर्वाणयति लुप्यतीति तन्निर्वाण, कैलासस्य शुभ्रताया अपि अधि- शुभ्रमित्यर्थ, अत एव, तत् कञ्चुमा शङ्खाना, प्रतिबिम्बित प्रतिबिम्ब, प्रनिच्छाया इत्यर्थ, किमु ? किं वा शरत्पर्जन्यराजिथ्रिय शरत्मेघाजलिधावल्यसम्पद, पर्यायो रूपान्तर किमु ? अथवा दुग्धसिन्धो क्षीराद्ये, पथसा क्षीराणा, सर्वानुवाद सर्वस्यापि पुन-
रपि किमु ? कृत्स्न तत् क्षीरमेवेदं किमि यर्थ । उपेक्षात्रयस्य मच्छेति ॥ ६५ ॥

इमं पृथ्वीपति (मिथिलानरेश) का दुग्धमाचन्द्रकं दो राजाजोंके कर्ममें तत्पर अर्थात् पूर्णमाचन्द्रके समान और सम्पूर्ण जलों (भागों) में ज्वलत वर्ण कैलास पर्वतकी श्वेतकान्ति के तनरी नष्ट करनेवाला अर्थात् कैलास पर्वतमें भा अधिक श्वेत जो यज्ञ है, वह शङ्खोंका प्रतिबिम्ब है क्या ? शरत्त्वानीन देव-समूहकी शोभा (श्वेतिमा) का पर्याय (रूपान्तर) है क्या ? और क्षीरसागरके जलका सबानुवाद (पुनरपि) है क्या ? [इमं मिथिला नरेशका यज्ञ चन्द्रादिके समान तथा श्वेत शङ्खका प्रतिबिम्ब, किसी शब्दके पर्यायवाची शब्दान्तरद्वारा बधनके समान शरत्त्वानीन देव-समूहका श्वेतिमाका पर्याय तथा किसी वाक्यात्मिके प्रत्यक्ष अनुवादके समान क्षीरसमुद्रका सम्पूर्णरूपमें अनुवाद होनेमें उन शब्द आदिके समान श्वेत है । इससे भी दो राजकर्ममें स्थित व्यक्ति विपक्षीका निराकरण करता ही है । यह मिथिलानरेश मदावशस्वी है] ॥ ६५ ॥

निश्चिन्तितारिणारणघटाकुम्भाभिवृष्टावट-

स्थानस्थायुर्मौक्तिकोत्करकिर कैरस्य नाथ कर ।

उन्नीतश्चतुरङ्गमैन्यममरत्वङ्गत्तरङ्गक्षुर-

क्षुण्णामु श्रिणिषु श्रिपन्निय यज्ञ श्लोणीजघीजत्रजम् ? ॥ ६६ ॥

निश्चिन्तित । निर्गत त्रिशतोद्गुल्लिभ्य इति निश्चिन्तित त्रिशदगुल्लयधिर स्वप्न इत्यर्थ, उच्चप्रकरणे 'मद्भवायास्त पुरयस्य'-इति टच्-प्रत्यय, तेन उरितेपु मण्डितेपु अरिवारणघटाकुम्भेषु शत्रुगजसमूहकुम्भेषु, अस्थिमृदानाम् अस्थिमृदानानाम् अवट-
म्यानेपु गर्तप्रदेशेषु, स्वायुष्ठा स्थायिन, 'लयपत-' इत्यादिना उक्त्-प्रत्यय, तेषा मौक्तिकोत्कराणा मुक्त्यामृदाना, निरनीति किर नेपक, 'इगुपधत्ता'-इति क, अस्य

नृपस्य, अयं कर चत्वार्यङ्गानि हस्त्यादीनि येषां तादृशानां सैन्यानां समरेषु त्वद्गता
सञ्चरता, तुरङ्गाणां घुरै, करणे, क्षुण्णामु कृष्टासु, क्षिनिषु यशं क्षीणीजस्य कीर्तिनृ-
चस्य, क्षीणानां घनं समूहं क्षिपन्, वपस्त्रिय इत्यर्थः, स्थित इति शेषः, इति
के जने न उन्नीतः ? न उपोक्षितः ? यजकुम्भस्थमुक्तानां रतेतत्वात् सुदृढत्वाच्च यशो
वृत्तर्थाजस्वरूपः यत्र तेषाञ्च रणभूमौ निपातनान् उपनत्वेन चोत्प्रेक्षादोषोत्प्रेक्षाद्वयम् ॥

किन्तु लोगोंने इस (मिथिलानरेश) के इस (प्रत्यक्ष दृश्यमान) तलवारसे काटी गयी
शत्रुओंके राज-समूहके कुम्भस्थित वृद्धियोंके समूहरूप गढ़में स्थित मोतियोंके समूहको
कैदनेवाले हाथको चतुरद्विणी (गनदल, हयदल, रघुदल और पैदल) सेनावाले सुदृढ
दाँड़नेवाले घोड़ोंके (शूर ऊँख-विशेष) के समान तीक्ष्ण सुरोंमें क्षुण्ण अर्थात् जोती गयी
भूमिमें यणीरूपा वृद्धों राज-समूहको बीने हुएके समान नहीं तन किया है । [जिस
प्रकार की विसान पैतरे, बीनकर उसमें पैरोंके बीचोंको बीना है, उसी प्रकार यह मिथिला
नरेश सुद्धमें चतुरद्विणी सेनावाले सुद्धमें दौड़ने हुए घोड़ोंके ताँड़ण सुरोंमें बटनेमें जोती
हुई-सी भूमिमें तलवारसे कटकर शत्रुगण-समूहोंके कुम्भोंसे निकलने हुए मोतियोंको सुद्ध
वर्णक लोग पैसा मानने ह मानो इस राजाके हाथ यशोरूप पैरोंके बीचोंको बीन रहे ह ।
अनिष्टान् इति मोतीरूपा बीजोंसे अतिशय श्वेन यशोरूपा पैरोंका वस्त्र होना उचित ही है ।
शत्रुओंके गण-समूहके कुम्भस्थल पर तलवार का प्रहार करने पर वतने गनमुक्ताएँ निकलनी
॥ और इसने इस मिथिलानरेशका यश बढ़ा है ॥] ॥ ६६ ॥

अथिभ्रशङ्खभ्रतफलभरठयाजेन कुञ्जायित

सन्धस्मिभ्रातदानभाजि कथमप्यास्ता स कल्पद्रुम ।

आस्ते निर्व्ययरत्नसम्पदुदयोदग्र कथं याचरु-

श्रेणीवर्जनदुर्यशोर्निर्बिडितश्रीडम्बु रत्नाचलः ? ॥ ६७ ॥

अर्पति । अस्मिन् राज्ञि, अतिदानभाजि अतिदानक्षीण्डे सति, मनसा अकल्पित-
तमप्यर्थं वृद्धति सतीत्यर्थः, स प्रसिद्धः, कल्पद्रुमः, मनःकल्पितार्थमात्रप्रवृत्तप
वृत्तः, अर्पिता भ्रशङ्ख असद्भावेन, बहुमचन व्ययाभावादुपस्थायिमात्स्यः, फलभरस्य
व्यापनेन दृष्टेन, कुञ्जायित कुञ्जीभूत सन्, वस्तुतस्तु लज्जयेवेति भावः, लोहिना-
देराकृतिगणत्वात् कथयि कर्त्तरि च, कथमपि कृच्छ्रेण, आस्ता निवृत्तया अन्धैरदृष्ट
त्वात् कथमपि लज्जावरणसम्भवादिति भावः, किन्तु निज्ययाणां स्वपरहितानां, रत्न-
सम्पद्राम् उदयेन वृद्धया, उदग्र उच्छ्रित, उच्चसितर इति भावः, रत्नाचलो
रोहगात्रिस्तु, याचरुश्रेणीभिः कत्रीभिः, वर्जनेन परिहारेण, यत् दुर्यशः तेन
निर्विडितश्रीडो घनीकृतलज्जा सभूः, कथमास्ते ? कथं तिष्ठति ? उच्चनया स्थि या
सर्वैष्टत्वात् लज्जासवरणोपायासम्भवादिति भावः । अत्र द्रमशैल्यो लज्जाऽसम्भ-
न्धेऽपि सम्बन्धोवतेरतिशयोक्तिर्भव ॥ ६७ ॥

महादानी (कपनानीन दान करनेवाले) इस राजाके रहनेपर याचकोंके अभावमें अधिक होते हुए फलोंके भारके बहनेसे कुबटा (नम्र) बना हुआ कपवृक्ष किसी प्रकार रहे, किन्तु व्यवस्थित रत्नसम्पत्तिमें उन्नत तथा याचक-समूहके निषेधमें (उत्पन्न) अपयशस्वी श्रेणी हुई लज्जावाला रत्नाचल अर्थात् 'रोहण' नामक पर्वत कैसा रहना है ? [यह राजा याचकों को कल्पवृक्ष दान देता है, अन कल्पित दान देनेवाले तथा स्वर्गमें होनेसे दूरस्थ कल्पवृक्षके पास याचकोंने जाना छोड़ दिया, इस कारण उसके फल इतने अधिक हो गये कि वह उनके भारसे झुक गया, परन्तु वास्तविकमें यह राजा सुनमें भी अधिक दान देता है इस लज्जाके कारण ही वह कल्पवृक्ष झुका (नम्रमुख) हुआ है, यह किसी प्रकार अर्थात् स्वर्गस्थ एवं नम्रमुख होनेसे वैसा होकर रहना उचित भी है, किन्तु कभी श्रम न करनेके कारण 'रोहण' पर्वतके रत्न बढ़ने लगे और उसका शिखर ऊँचा हो गया और भूलोकमें रबकर भा याचकों को निषेध करने (दान न देने) में उसका बहुत अपयश हुआ जो महान् लज्जाकर था, अन भूलोकस्थ अर्थात् समीपस्थ होने पर भी याचकोंको दान नहीं देनेसे लज्जाकर अपयशवाला 'रोहण' पर्वत व्यापारके कारण बड़े हुए रत्नोंसे उन्नत शिखर होकर रहना है अर्थात् निम्न होकर मस्तक ऊँचा होने रहना है, यह उसके लिये अनुचित है । यह मिथिलानरेश कल्पवृक्ष एवं रत्नाचलसे भा अधिक हानी है] ॥ ६७ ॥

सृजामि किं विघ्नमिदन्तुपस्तुतात्रितीङ्गिनैः पृच्छति ता सखीजने ।

स्मिताय वक्त्र यदवक्रयद् बधूस्तदेव वैमुख्यमन्त्रि तन्तृपे ॥ ६८ ॥

सृजामीति । अथ सखाजने ता भेमीम्, इदन्तृपस्य एतन्तृपस्य, स्तुती विघ्न सृजामि किम् ? इतीङ्गिनैः चेष्टितं, पृच्छति सति वत् भेमी, स्मिताय स्मित कर्तुं, त्रियार्यैः यादिना चतुर्थी, वक्त्र अवक्रयत् वक्त्रीचकार, इति यत् तत् वक्त्रीकरणमेव, तन्तृपे तस्मिन् तृपे, वैमुख्य नैष्टुह्यम्, जटलि ललितम् ॥ ६८ ॥

'इस राजाका प्रसामें विघ्न कर्त्त क्या ।' यह सङ्केतके द्वारा दमयन्तीने सखीके पूछने पर दमयन्तीने सुस्कारानेके लिए जो मुख फेरा उसे ही उस राजा (मिथिलानरेश) में (वशके दशक, राज-समूह, सखी-समूह या उस राजाने) विमुखता (अनादरमें मुख फेरना) लक्षित किया । (पाठा०—उमें ही उस राजामें अनादरजन्य मुखमलिनता लक्षित किया) । [दमयन्तीके मुख फेरनेसे लोगोंने 'इस मिथिलानरेशको भी यह नशा चाइती' ऐसा समझ लिया] ॥ ६८ ॥

नृणां च निर्दिश्य नरेश्वरान्तर मधुस्वरा वनमवीश्वरा गिराम् ।

अनूपयामास त्रिदर्भजात् तौ निजाम्यचन्द्रस्य सुगामिभक्तिभिः ॥ ६९ ॥
इति । अथ मधुस्वरा मधुरकण्ठी, गिरामधीश्वरा मरस्वती, नरेश्वरान्तर राजा-

१ 'वैलक्ष्य' इति पा० । २ 'अपूपुराणीमभुव श्रुती पुन' इति पा० ।

न्तर, वक्तुं वर्गयितुं, दशा निदिश्यनिरूप्य, विदर्भजाया वैदर्भ्या, श्रुतौ श्रोत्रे, निजा-
स्यचन्द्रस्य सुधाभि उक्तिभि वचनामृतैरित्यर्थ, अनूपयामास सरसीचकार, वचना
मृतपर्वणेन भैरव्या श्रोत्रद्वयमत्यर्थमादर्शचकारेयर्थ, 'जलप्रायमनूप स्यात्' इत्यमर ।
अनुगता आपो यस्येति अनूपम् 'ऋरूपरूपू'— इत्यादिना समामान्त, 'ऊदनोर्दशे'
इत्युच्चार, तस्मात् 'सत्करोति—' इत्यादिना व्यन्ताञ्छिट् ॥ ६९ ॥

इस (उक्त प्रकारसे मिथिलानरेशमें अनादर प्रकट करने) के बाद मधुरभाषिणी
वचनाभिधात्री (सरस्वती) देवोंने दूसरे राजाको बहने (बर्षने) करनेके लिए नेत्र (के
सूत्र) से दिखलाकर दमयन्तीके दोनों कानोंको अमृतरूपी वचनोंसे सरस बिना अर्थात्
दमयन्तीने बोली ॥ ६९ ॥

स कामरूपाधिप एष हा । त्वया न कामरूपाधिक इन्दयतेऽपि य ।

त्वमस्य सा योग्यतमा हि बल्लभा सुदुर्लभा यत्प्रतिमल्लभा परा ॥७०॥

स इति । एष पुरोवर्त्ती, य कामात् कन्वपादपि रूपेणाधिक, स प्रसिद्ध, काम
रूपाधिप कामरूपवैशाधीश्वरोऽपि त्वया नेक्ष्यते हा । तज नैतद्युक्तिमिति भाव, तुम्हें ?
यस्या तव इति भाव, प्रतिमल्लभा प्रतिद्विद्विनी, भा काम्निदयस्या सा यत्प्रतिमल्लभा
यत्सहस्रसौन्दर्यशालिनीत्यर्थ, परा अन्या रमणी, सुदुर्लभा अनिदुर्लभा, एवम्भूता
सा त्वमस्य राज्ञ, योग्यतमा हि अत्यन्तानुरूपैव, बल्लभा दयिता, समानसौन्दर्य-
तया समागमयोग्योऽयं त्वया वीक्षितव्य एवेत्यर्थ ॥ ७० ॥

वह अर्थात् अनिप्रसिद्ध यह (सामने स्थित) कामरूप 'कामरूप' नामक देव, पक्षा—
कामदेवके रूप अर्थात् सौन्दर्य) का राजा कामदेवके रूपसे अधिक अर्थात् कामदेवसे अधिक
सुन्दर है (अर्थात्—कामदेवके रूपसे अधिक नहीं है ? अर्थात् है ही), जिससे तुम नेत्रनी
भी नहीं हो (इसे वरण करनेके विषयमें फिर क्या कहना है ?), हाय ! (बट्ट है) अर्थात्
इसे देखना चाहिये । (क्योंकि) जिन (तुम दोनों) के समान सौन्दर्यवाला दूसरा व्यक्ति
अत्यन्त दुर्लभ है, वह तुम इस (कामरूपनरेश) के अत्यन्त योग्य प्रियतमा हो । (अर्थात्
जिसके अर्थात् तुम्हारे समान अष्ट (या दसरी) कानि अत्यन्त दुर्लभ है । अर्थात्—जिसके
(तुम्हारे) समान कानिवाली दूसरी (स्त्री) अत्यन्त दुर्लभ है अर्थात् तुम्हारे समान
सुन्दरी कमरी कोई स्त्री नहीं है) ॥ ७० ॥

अकर्णधाराशुगसम्भृताङ्गना गतेररिघ्रेण पिनाऽस्य वैरिभि ।

प्रिधाय यात्ररणेभिदामहो । निमज्ज्य तीर्ण समरे भवार्णव ॥७१॥

अकर्णेति । कर्ण इव कर्ण प्रतिमुखशल्य तद्विहित अकर्ण, न कर्णिभिर्नापि दिग्धै
रिति निषेधादिति भाव, अकर्णा धारा यस्य स अकर्णधारा, स चासौ आशुग
विशिख, सै सम्भृतानि सम्भूरितानि, अङ्गानि येषां ते तदङ्गा तत्ता, गतं अस्य
वैरिभि शत्रुभि, अरिम्य त्रायते इत्यरिघ्रेण वर्मादि तेन, विना लङ्घिहाय, समरे निम

ज्य पनि वा, नरणे सूर्यस्य, भिदा भेद, विधाय कृत्वा, यावत्, सूर्यमण्डल भित्तैव, भय सत्सार एव, अर्णव समुद्र, तीर्ण, अहो ! आश्चर्यम् । 'द्वात्रिंशो पुरुषो लंके सूर्यमण्डलभेदिनो । परिग्राह्य योगयुक्श्चरणे चाभिमुखो हत ॥' इति दर्शनादिति । कणधार नाविक, तस्य अभावात् आशुगेन पत्रेन, सम्मृताद्वात्वा चाल्यमानदेहत्वं, गते प्राप्त, जने अरित्रेण केनिपातेन, नौकापश्चाद्गमवद्धकाष्टदण्डविशेषेणेत्यर्थ, विना तरणे नौकाया, भिदा भेद, विधाय कृत्वा, समुद्रे निमज्ज्य भवार्णव तीर्ण उत्तीर्ण इति च गम्यते ॥ ७१ ॥

विना कणधार लोहकण्टकवाणी धारावाले बाणों से परिपूर्ण (विधे दृष्ट) शरारवाले इस राजाके शत्रुलोभ शत्रु (इस राजा) से बचानेवाले (इसकी अपेक्षा अधिक शूरवीर अन्य राजा, अथवा—एवम्) के विना युद्धमें मरकर तथा सम्पूर्ण सूर्यमण्डलका भेदन कर सत्सारको पार कर लिया, यह आश्चर्य है । पश्चात्—कणधार (पत्रवार पत्रद्वारेवाला नाविक) तथा बाधुमे पूर्ण अद्भुत (नाव घेनेके रस्सी—पाल आदि साधन) ने रहित, इनके शत्रु डाँडे (नाव घेनेवाले बास) के विना सम्पूर्ण नावको तोटकर तथा टूटकर (अत्यन्त दुस्तर विशाल) समुद्रको पार कर गये, यह आश्चर्य है । [युद्धमें मरनेवाले वीर सूर्यमण्डलका भेदनकर मुक्त हो जाते] । तत्र पश्चात्—कणधार, अनुदूल बाधु, टाँटा आदिके विना नाव टूटनेपर भी अथाह समुद्रमें डूबकर उसे पार करना आस्ये हा है । यह राजा युद्धमें शत्रु-नौका मार टालता है] ॥ ७२ ॥

अमुष्य भूलोकभुजो भुजोष्मभिस्तपत्तुरेव क्रियतेऽरिवेशमनि ।

प्रपा न तत्रारिवधूस्तपस्विनी ददानि नेत्रोत्पलवासिभिर्जलै ? ॥ ७३ ॥

अमुष्येति । यस्मात् अमुष्य भूलोकभुज वृथिवीलोकस्थितस्य राज्ञ, न तु सूर्य-वत् आकाशमार्गचारिण इति तात्पर्यम्, भुजोष्मभिः भुजप्रतापै, अरिवेशमनि शत्रु गृहे, तपत्तुं प्रीप्सुतुरेव, क्रियते नित्यसन्ताप क्रियते इत्यर्थ, तस्मात् तत्र अरिवेशमनि, तपस्विनी शोण्या धर्मशीला च, अरिवधूनेत्रोत्पलयोर्वसन्तीति तद्वासिभिः जलैरश्रुभिः, उत्पलवामनावद्विज्ज जलै, प्रपीयते अस्यामिति प्रपा पानीयशालिना, 'पापातो अह' ता न ददाति ? इति कातु, ददातीत्यर्थ, धार्मिका हि प्रीप्सुनाले वामिनोदङ्गप्राया प्रपा प्रवर्त्तयन्तीति । एतेन राज्ञा शत्रुमारणात् मर्त्यं शत्रुस्त्रियो निरन्तर रदन्तीति भाव ॥ ७२ ॥

इस राजाके वाहप्रताप (पश्चात्—बाहुजन्य यमा) शत्रुके घरमें जा प्रीप्सु ऋतु करते हैं, इससे उहापर (शत्रुके घरमें) तपस्विनी (दुखिया, पश्चात्—तपस्या करनेवाली अर्थात् साध्वी) शत्रुकी नेत्र-कमलस्थित जल अर्थात् पौंसू (पश्चात्—नेत्ररूप कमलोंसे सुवासित जलों) से प्याऊ (पौंसूरा) नहीं देवे ? अर्थात् अवश्य देवे । [प्रीप्सु ऋतुमें साध्वी स्त्रीका कमल आदिसे सुगन्धित जलमें पौंसूरा चलाता उचित है । इसके द्वारा शत्रुके मारे जानेपर उसकी पत्निवत् स्त्री उसके घरमें रोती है] ॥ ७३ ॥

एतद्दत्तासिधानस्तत्रदसृगसुद्वशसार्द्रैन्धनैत-
होऽहामप्रतापज्वलदनलमिलद्भूमधूमभ्रमाय ।

एतद्दिगजैत्रयात्राऽसममभरभर पश्यत कम्य नासी-
देतन्नासीरवाचित्रजत्तुरजरजोराजिराजिस्थलीषु ? ॥ ७३ ॥

एतदिति । आजिस्थलीषु रणभूमिषु, एतस्य राज्ञ, नासीरे सेनामुखे, वाजि-
जाना सुरै जाना रजसा राजि पङ्क्ति, एतस्य राज्ञ, दिशो जैत्रामु, तृन्तत्वात्
पृष्ठीममासनिपेध, यात्रासु दिग्विजययात्रासु, असमम् असदृशम्, अतुलनीयमित्यर्थ,
समभर सनरण्यापार, पश्यत अवलोकयन्, कस्य जनस्य, एतेन राज्ञा, दत्तै
प्रयुक्ते असिधार्तै खड्गप्रहारै, खड्गदसृज सरदृक्ता, अनुद्व शत्रुवर्गा एव, वशा
वेणव, 'वशां वर्गं कुले वेणौ' इति विश्व, त एव सार्द्रैन्धनानि सरसानि दाहकाद्यानि,
यस्य एतादृशो य एतस्य राज्ञ, दोष्णो भुजयो, उहाम प्रचण्ड, प्रताप एव ज्वल-
दनल तस्मिन् मिलता सद्दृष्टमानाना, वर्तमानानामिति यावत् भूम्ना यद्गुणां,
धमाना भ्रमाय भ्रान्त्यै, न नासीत् ? सर्वस्यापि आसीद्वेत्यर्थः । अत्र रजोराजौ
कविसम्मतसादृश्याद् भूमभ्रामोक्त्या भ्रान्तिमान् अलङ्कारः ॥ ७३ ॥

इम राजाके सेनाग्रमें अध-समूहके सुरोंसे उत्पन्न धूलि-समूह इस राजाके दिग्विजयकी
यात्रामें अतुलनीय युद्धव्यापारकी देखनेवाले भिस् (व्यक्ति) हैं इस (राजा) के द्वारा किये
गये खड्गप्रहार (तलवारकी चोट) से बहते हुए खूनवाले शत्रुवश (शत्रु-समूह, पक्षा०—
शत्रुन्परी वास) रची गीले इन्धनवाली इस राजाकी गम्भीर (महान्) प्रतापरूपी जल्मी
दुई अग्निमें होनेवाले धूम-समूहके भ्रमके लिए नहीं होता ? अर्थात् सबके भ्रमके लिए होता
है । [इस राजाकी दिग्विजययात्रामें मेनाके आये दौटनेवाले अधसमूहके सुरसे उठी
धूलि-समूहकी देखकर इस राजाके अनुपम युद्धव्यापार देखनेवाले लोगोंकी यह भ्रम हो
जाना है कि हमने शत्रुभोंपर जो तलवारका प्रहार किया है, उससे रक्त बहाते हुए शत्रु-
समूह (पक्षा०—शत्रुन्प वाम) ही गीले इन्धन हैं और उन (उत्तरूप गीले इन्धन) के
इस राजाके विशाल प्रतापरूपी जलनी अग्निमें पटनेमे धूम-समूह निकल रहा है । गीले
इन्धनके अग्निमें पटनेपर धूम-समूहका निकलना उचित ही है ॥ सब शत्रु इसके प्रतापरूपी
अग्निमें जल गये हैं ॥ ७३ ॥

क्षीरोदन्वदपा प्रमथ्य मथितादेशोऽभरैर्निमिते

भ्याक्रम्य सृजतस्तदस्य यशम क्षीरोदसिंहासनम् ।

केषा नाजनि वा जनेन जगतामेतकवित्यामृत-

स्रोत प्रोर्तापिपासुरुर्णकलसीभाजाऽभिपेकोत्सव ? ॥ ७४ ॥

क्षीरोदन्वदिति । वमरै देवै, क्षीराणाम् उदन्वत क्षीराब्धे, आप दुग्धरूपज-
लानि, क्षीरोदन्वदपा 'अक्षू-' इत्यादिना समासान्त, ता प्रमथ्य विलोड्य,

मथित तक्र, मथनोद्भूतो निर्जलोदधिक्षीरविकार इत्यर्थ, 'तक्र द्युदधिमथिनपादा मन्त्रर्द्धांशु निर्जलम्' इत्यमर, तद्भूते आदेशे इवादेशे रूपान्तरे, निर्मिते सम्पादिते सति, रूपान्तरापादनेन क्षीराब्धौ अमान गमिते सतीत्यर्थ, ध्यवा द्रवोपरि अब स्थानासम्भवात् दुग्धरूपे तज्जले अनिघने कृते सतीत्यर्थ, तत् तथा, क्षीरत्वेन प्रमि द्रम् उदक यस्य स क्षीरोद क्षीराब्धि, 'उदकस्योद सज्ञायाम्' इत्युदादेश, तद्रूप मिहासन स्वेन आत्मना, सु सुखेन वा, आक्रम्यम् उपवेशनयोग्य, सृजत कुर्वत, घनीभूत क्षीरसमुद्रमुपविशत इत्यर्थ, यशसो विशेषणमेतत् बोध्यम्, अस्य राज्ञ, यशस एनस्य राज्ञ सम्बन्धि, कवित्वम् एतद्रचित काव्यम्, अथवा कविनिर्मितम् एतत्सम्बन्धि कीर्तिवर्णनरूप काव्यमित्यर्थ, तदेवामृत कर्णरसायनत्वादमृतरूप मित्यर्थ, तस्य स्रोतसा प्रवाहेण, प्रोते पूरिते, पिपासूना पानुमिच्छन्तान्, अत्यादरेण कवित्वासृतशुभ्रपूणा जनानामित्यर्थ, कर्णाविव कलस्यौ अभिषेचनकुम्भौ, भजनीति तज्जाजा, केपा वा जगता भुवनाना सम्बन्धिना, जनेन अभिषेकोत्सव अभिषेक जन्म आनन्दोत्सव, न भजनि ? न जनित ? जनेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्, भुवनान्त रस्था अपि कवय आ-क्षीराब्धिप्रसृतमेतद्यश सर्वत्र आनन्दकर वर्णयन्ति स्म इत्यर्थ, एतद्यश लोकपरम्परया क्षीरसमुद्रपर्यन्तगामीति भाव । देवै क्षीरोदसमुद्रे मथिते सति तत्र जलाभावात् अधुना क्षीरोदसमुद्ररूपसिंहासनम् अधिकृतवति एत- ब्राजयशसि एतद्यश क्षीरोदस्य वर्णयितार अलिङ्गा कवय एव अभिषेकार कवि त्वमेव जल श्रोतृजनकर्णा एव कलसा तत्सम्भवाया सरित प्रसर्पणात् स्तुति एवम् अभिषेक इति रूपकालङ्कार । अथवा लोके यथा कस्मिंश्चित् राजनि केनचित् मधिर- तदीय सिंहासनम् आक्रम्याधितिष्ठतोऽन्यस्य जनेर्जलपूर्णकलसेनाभिषेकं न्रियते तदु- दिति भाव ॥ ७४ ॥

देवोंके द्वारा क्षीरसमुद्रके जलको मथनकर 'मथित' आदेश करने (मथन किया) निर्जल दधि-विशेष (छिनुई दही) बनावे जाने पर क्षीरसमुद्रके जलको अपने ज- करने (बैठने) योग्य बनानेवाले इस राजाके यशका-इस (सुनिमात् राजका) कवि अमृतके प्रवाहसे पूर्ण किये गयेको पान करने (सुनने) के इच्छुकोंके कानरूपी दो कलश- धारण किये हुए किस समारके लोगोंका अभिषेकोत्सव नहीं हुआ ? अपि ॥ सभी मसार लोगोंका अभिषेकोत्सव हुआ । ['मित्रवदागम, शत्रुवदादेश' सिद्धान्तके अनुसार क्षीर- समुद्रके जलको देवोंने 'मथित' (निर्जल मथा गया दधि-विशेष) बना दिया (आदेश होनेके कारण क्षीरसमुद्रके जलका नाश होना उचित ही है) और उसे हमको यशने अपने बैठने योग्य सिंहासन बनाया जहाँवा क्षीरसमुद्रतक इसका यश फैल गया तथा इस राजाकी कविनारूपी अमृत प्रवाहसे पूर्ण किये गये उसरी पीने (पक्षा-—हमकी प्रशंसा सुनने) के इच्छुक लोगोंके दोनों कान दो कलश हुए उनके द्वारा उस (क्षीरसमुद्रको मथित बाकर तद्रूप सिंहासनारूढ) यशका अभिषेक किस जगदके निवासियोंने नहीं किया ?

जगत् सवने किया (मय लोकोंके निवासियों ने इसके यशका स्तुन कर उत्सव मनाया) । अभिषेकके लिये मित्रमनाहृद होना तथा श्री कण्ठोंका रहना उचित है । यद्वा परमार्थ क्षीरममुद्रका जल मिश्रित, उम पर आम्बु (फैला हुआ) इस राजाके यशको अभिषेक, क्षीरममुद्रके कवियोंको अभिषेक करनेवाला, कविनाचरको जल, श्रोताओंके कानोंको कण्ठ तथा इनमें पूर्ण होकर इसके यशके सर्वत्र फैलनेसे बनी गयी प्रशंसाको ही अभिषेक समझना चाहिये] ॥ ७४ ॥

समिति पतिनिपाता कर्णनद्रागदीर्णप्रतिनृपनिमृगाप्योलश्रवक्ष शिलासु ।
रचितलिपिरिद्योरस्नाडनठप्रस्तनप्रस्वरनगरटङ्गेभ्य कीर्त्तिप्रशस्ति ॥ ७५ ॥

समिति । अस्य राजा, कीर्त्ति प्रशस्ति प्रशंसा, समिति आजौ, पतिनिपातस्य भक्त्युत्तरणस्य, आकर्णने श्रवणेऽपि, द्राग् व्यग्र एव, अर्द्धार्गसु अभिषासु, अक्षरविन्यासयोग्यासु इति यावत्, प्रतिनृपनिमृगाचोलक्षणाम् अरिराजस्रोतल्लम्बकानां, वक्ष शिलासु पापाणकटिनवक्ष स्थलेषु, पतिमरगश्रवणेषु पृथाविहीर्णत्वात् वक्षस्य शिलाव घोष्यम्, उरस्ताडने वक्षस्ताडने व्यस्तानां न्यापृतामा, सवेग पानितानां मिति यावत्, हस्तानां ये प्रस्वरनगा तीक्ष्णनगा तैवेव टङ्गे पापाणद्वारकद्रव्यविशेषे 'टङ्क पापाणद्वारण' इत्यमरः, रचितलिपिरिव कृताक्षरविन्यासा इष्ट, भाति इति शेषः । दुःखानिरेकात् वनवृत्तन्यालेखनेषु कीर्त्तिप्रशस्ते अक्षरशोऽप्रेक्षणात् उपप्रेक्षालङ्कारः ॥ ७५ ॥

• इस (राजा) की कीर्ति प्रशस्ति युद्धमें पतियोग्य गिरना (मरना) सुननेमें तत्काल हुआ विशेष रूप लोगों शत्रुमग्नयनियों (स्त्रियों) के हृदयस्थ पत्थरोंपर छापी पीटनेमें है । (सम्मन) शत्रु के तीव्र नरका दाहिया (टैनिश) से लिखी गयी लिपिके समान युद्धमें इस राजा द्वारा मारे गये लोगों शत्रुओंकी स्त्रियोंके छापी पीट पीटकर रोने जाना उनके नर्वेसे जो चिह्न पड़ जाते हैं, वे पथरापर तीक्ष्ण दाहियोंसे खोदे गये इस समूहकी कीर्तिके शिलालेख हो रहे हैं । इनके लोगों शत्रुओंका युद्धमें नरकाकर गिरा दिया इस पर उनकी स्त्रिया छापी पीट पीटकर रागी हैं] ॥ ७५ ॥

एवं विधाय ताम्बूलपुटीं कराङ्कगा वभाण ताम्बूलकरङ्कवाहिनी ।

• दमन्त्यसुर्भायमवेत्य भारती नयानया वक्त्रपरिश्रम शमम् ॥ ७६ ॥

विधायेति । ताम्बूलकरङ्कवाहिनी ताम्बूलपात्रधारिणी, दमस्वसु दमयन्त्या, भावतदाचरणननिषेधरूपमभिप्रायस्, अपेक्ष्य जाया, ताम्बूलपुटीं ताम्बूलबीडिका, कराङ्कगा करतलमस्था, विधाय कृत्वा अनया बीडिकया, वक्त्रपरिश्रम बहुलं व्याप्य पुनद्राजगुणकथनजन्यम् आस्पृशोप, शम शान्ति, नय इति भारती वभाण, धम्ब । नायमस्यै रोचते कृत्वा वृथा पुनर्द्वर्णनश्रमेणेति तात्पर्यम् ॥ ७६ ॥

पानदानको ले चढ़ने वाली (दाम्नी) ने दमयन्तीके अभिप्राय (इस राजाको यह वरण

करना नहा चाहती ऐमे भाव) को जानकर पानका बीटा हाथमें लेकर (सरस्वती देखीने सामने करती हुं) सरस्वतीमे बोली कि—'इस (पानके बोटे) से , मुझके परित्रमको दूर करो' अर्थात् तुमने इस राजाका बहुत वर्जन किया जिसमे मुझ थक गया होगा, अब यह पानका बीटा खाकर उसे विश्राम दो । [तुम इस कामरूपाग्रिपका वर्जन करना इस पानके बीटा खानेके व्याजमे भी बन्द करो] ॥ ७६ ॥

समुन्मुखीकृत्य बभार भारती रतीशकल्पेऽन्यनृपे निज भुजम् ।

ततस्त्रमद्भालपृषद्विलोचना शशस ससञ्जनरञ्जनी जनीम् ॥ ७७ ॥

समुन्मुखीनि । अथ भारती सरस्वती, रतीशकल्पे कामतुल्ये, अन्यनृपे नृपान्तरे विषये, निज भुजसमुन्मुखीकृत्य, सम्यगभिमुखीकृत्य, बभार धारयामास, दमयन्त्यै त दशयितु तदभिमुख कृतवतीत्यर्थः । ततो हस्तोद्यमानन्तर, त्रसद्बालपृषद्विलोचना चकितमृगशावाही, ससञ्जनरञ्जनी समास्थजनमनोहारिणी, जनीं वधू, दमयन्तीमिति यावत्, शशस उवाचेत्यर्थः ॥ ७७ ॥

(इसके बाद) सरस्वतीने कामदेव तुल्य दूसरे राजाकी ओर अपना हाथ किया, तदनन्तर ढरने हुए बालमृगके (नेत्रके) समान (चञ्चल) नेत्रवाली तथा समासदोंके चित्तको अनुरक्त करनेवाली वधू (दमयन्ती) से कहा—॥ ७७ ॥

अय गुणौघैरनुरज्यदुत्कलो भवन्मुखालोकरसोत्कलोचन ।

स्पृशन्तु रूपामृतवापि । नन्वसु तत्रापि दृस्तारतरङ्गभङ्गय ॥ ७८ ॥

अयमिति । ननु हे । रूपामृतत्रापि सौन्दर्यसुधारसदीधिके । गुणौघ सौन्दर्यादिभि, अनुरज्यन्त अनुरक्ता, उत्कला तद्देशीयलोका यस्मिन् स तादृश, अय राजा, भवत्या तव, सुतस्य आस्यस्य, आलोकरसेन आलोकनकौतुकेन, उत्कलोचन उत्सुकाश्च, भवतीति शेष, तत्रापि दृशो तारा विशाला, तरङ्गभङ्गय पुन-पुनर्निक्षेपरूपधीधिविभ्यासा, अमुम् उत्कलाधिपति, स्पशन्तु, स्वानुरागिणि अनुराग उचित इति कटाक्षैरेन पश्येति भावः ॥ ७८ ॥

गुण-समूहसे अनुरक्त हो रहे ह उत्कल (उडिया लोग, पक्षा०—उत्कृष्ट ६४ कलाई) जिसमें ऐसा यह राजा तुम्हें देखनेमें उत्कण्ठित नेत्रवाला अर्थात् तुम्हें देखनेके लिए उत्सुक है, (इस कारण) हे रूप (सौंदर्य) रूपी अमृतकी वापी (दमयन्ती) । इसे तुम्हारे भी नेत्रोंके विशाल (बड़े बड़े या चञ्चल) तरङ्गोंके विलास स्पर्श करे अर्थात् तुम भा इस उत्कलनरेदसो चञ्चल नेत्र-चटाहों से देखो । [उत्कलासियों का अनुरक्त होने से इस राजामें सौन्दर्याधिक्य होना देवीने सूचित किया है । वापी में बड़े बड़े तरङ्गोंका होना उचित ही है] ॥ ७८ ॥

अनेन मर्यादितकृतार्थताकृता हृतार्थिनी कामगवीसुरदुमौ ।

मिथ पय सेचनपल्लवाशले प्रदाय दानव्यसन समाप्नुत ॥ ७९ ॥

अनेनेति । सर्वार्थिना सर्वयाचना, कृतार्थतादृशा पूर्णकामव्यकारिणा, अनेन राज्ञा, हतार्थिनी स्वयं सर्वार्थदानादर्थिहरणेनाधिरहितौ कृतौ इत्यर्थः, कामाना वात्री गौ कामगवी कामप्रेतु, 'गोरतद्धितलुकि' इति समामान्तष्टच्, सा च मुरदुम कल्पवृक्षस्तौ, मिथोऽन्योऽन्य प्रति, पय सेचनधीरमेक, पल्लवाशन पल्लवभोजनज्ञ, प्रदाय दत्त्वा, दानव्ययमन दानार्साक्त, समाप्नुन समापयत । याचकान्तराभावात् अन्योऽन्य प्रति सम्प्रदानोपपय पल्लवमात्रदानेन कथञ्चिद्वानरूपनूत्यपनोदन कुम्भेति तात्पर्यम् ॥ ७९ ॥

सब याचकोंको (अमीट दान देकर) कृतार्थ (कृतकृत्य) करनेवाले इस (राजा) से आदरण करलिये गये हैं याचक जिनके घेमे कामप्रेतु तथा कल्पवृक्ष (अन्य याचकोंके अपने पाम याचना करनेके लिए नहीं आनेके कारण क्रमशः) परस्पर में दुग्धका सिक्चन तथा पल्लवका भोजन देकर दानके व्यसनको पूरा करते हैं । [कामप्रेतु तथा कल्पवृक्षको मिलकर दान देनेका व्यसन है, किन्तु इस राजा द्वारा सब याचकोंकी याचना पूरा कर देनेसे उन (कामप्रेतु तथा कल्पवृक्ष) के पाम कोई भा याचक नहीं आता, अतएव कामप्रेतु अपने दूधसे कल्पवृक्षकी सींचकर तथा कल्पवृक्ष अपने पल्लवोंको कामप्रेतुके भोजनप्रे देकर परस्पर में ही दानके व्यसनको पूरा करते हैं] ॥ ७९ ॥

नृप कराभ्यामुदतोलयन्निजे नृपानय यान् पतत पद्भवे ।

तदीयचूडाकुलजिन्नररिमभि स्फुटयमेतत्करपादरञ्जना ॥ ८० ॥

नृप इति । अयं नृप निजं पद्भवे पतत प्रणमतो, यान् नृपान् कराभ्यां हस्ताभ्याम्, उदतोलयत् उत्तोलयामास, कृपयेति शेषः, तदीयासु तेषां राज्ञा सम्बन्धिनीषु, चूडामु किरीटेषु, ये कुलविन्दा पद्मरागा, 'कुलविन्दस्तु मुस्ताया कुलमाप मोहिभेदयो । हिङ्गुले पद्मरागे च' इति विश्वः, तेषां ररिमभिः पुनस्य राज्ञः, करपादयो करयो पादयोश्च, रञ्जना प्रणामेन चरणयोस्तेषामुत्तोलनेन च करयो रन्निमत्स्य बोध्यम्, इयं स्फुटा, लक्ष्यते इति शेषः । स्वाभाविककरपादरागे राजकिरीटमाणिक्यमपूखरञ्जनरङ्गोष्मशृणुनास्यानेकराजप्रियस्य व्यस्यते हृत्पलङ्कारेण वस्तुष्वपि ॥ ८० ॥

इस राजाने अपने दोनों चरणोंपर (प्रणाम करनेके समयमें) गिरते हुए राधाओं (के मस्तकों) को जो दोनों हाथोंसे उठाया, उन (विनम्र राजाओं) के मुद्राके मणिजनोंकी किरीटोंसे ही इस (राजा) के हाथ पैर में यह लालिमा स्पष्ट (दीप्त रही) है ॥ ८० ॥

य कस्यामपि भानुमान्न ककुभि स्थेमानमालम्बने

जात यदूधनक्राननैरुशरणप्राप्तेन दायाग्निना ।

एपैतद्भुजतेजसा मिजिनयोस्नावत्तयोरीचितौ

विक्त्वा षाड्रमम्भमि द्विपि मिश्रा येन प्रविष्ट पुन ॥ ८१ ॥

यदिति । भानुमान् भारद्वाजः सूर्यं, कस्याम् अपि वस्तुभिः कुत्रापि दिशि, स्थेमान् स्थिरत्वं, स्थिरशब्दस्य दृढादपाठात् 'वणदृढादिभ्यः प्यञ्च' इति चकारादिमनिच् । 'प्रियस्थिर-' इत्यादिना स्थादेशः, न आलम्ब्यते इति यत्, तथा दावाग्निना घनं निविद्धं, काननमेव एकशरणम् एकमात्ररक्षितारं, प्राप्तेन 'द्वितीया ध्रित-' इत्यादिना समासः, जातम् इति यन्, जातमिति भावे क्, एषा एतदुभयमपीत्यर्थः, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता, एनस्य राज्ञः, भुजनेजम्भा भुजप्रतापेन, विजितयोः तयोर्भानुदावाग्नयोः, औचित्यं तावत् आचित्यमेव, भीतस्य व्याकुलत्वादेकप्रायत्वं स्यात् घनाश्रयणञ्च युक्तमिति भावः, किन्तु त वाह्यं बह्वाग्निं, धिक्, येन बाह्येन, पुनः भिया भयेन, द्विषि स्वस्य सहजद्वेषिणि, अग्निमि जले, प्रविष्टम् भावे क् स्वशत्रुसंश्रयणात् अन्यत्र पलायनमपि वरमिति भावः । अत्र स्वाभाविकस्य सूर्यादिपर्यटनादेः एतर्जितैतुकरात्रोत्प्रेक्षाणात् उत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्या ॥ ८१ ॥

जो सूर्य किसी भी दिशामें स्थिर नहीं रहते और जो दावाग्निने सप्तन बन्नरूपी एक (सुर्यतम) रत्नकरी प्राप्त किया है, वह (बैसा करना) इस राजाके बाहु प्रतापमें जीने गये उन दोनों (सूर्य तथा दावाग्नि के लिये कवचित् उचिन है, किन्तु उस बह्वाग्निकी धिक्कार है जो इसके भयमें शत्रुभूत पानी (समुद्रके जल) में फिर धुस गया है । [इस राजाके बाहुप्रतापसे जीते गये सूर्य का किसी दिशामें स्थिर नहीं रहना तथा दावाग्निका सप्तन वनमें छिपकर रहना को उचिन है, किन्तु बह्वाग्निका इसके भयसे जो अपने शत्रु (जलके द्वारा अग्निके दुष्ट जानेसे जलकी अशिक्षा शत्रु मानना उचिन ही है) पानीमें आत्मरक्षार्थ फिर धुस गया अतएव (एक शत्रुने डरकर आत्मरक्षार्थ दूसरे शत्रुके शरणमें जानेमें) उस नीच बह्वाग्नि को धिक्कार है । अपने शत्रुकी शरणमें जानेकी अपेक्षा भाग जाना या किसी वनमें छिप जाना श्रेष्ठ है] ॥ ८१ ॥

अमुष्योर्वाभर्तुं प्रसृमरचमूनिन्धुरभरे-

रवमि प्रारब्धे वमथुभिरभ्यायममये ।

न कम्पन्तामन्त प्रतिभटनृपा ? म्लायतु न तद्-

वधूपक्त्राम्भोज ? भवतु न स तेपा कुन्निवस ? ॥ ८२ ॥

अमुष्येति । अमुष्य उर्वामर्तुं प्रसृमरा प्रसारिणः, 'सृष्टस्यद् वमरच्' सेभ्य चमूनिन्धुरेभ्य सेनागजेभ्यः, भवं वमथुभिः करशीकरैः, 'वमथु करशीकर' इत्यमरः, अवश्यायममये नीहारनाले प्रारब्धे मतिः, जत्रमि जानामि, मन्ये इत्यर्थः, चक्ष्यमाणवाच्यार्थं कर्म, प्रतिभटनृपा शत्रुभूषा अन्तः अन्तःकरणे, न कम्पन्ताम् ? न कम्पेरन् ? अपि तु कम्पन्तामेवेत्यर्थः, इति काकुः, एवमुत्तरम् । नद्वधूना शत्रुभूषणीणां, चक्षत्रमेवाम्भोज पद्मं, न म्लायतु ? म्लायतु एव इत्यर्थः । सेनागजवमथु-

कृतावरयायाच्छुद्धिदिवस, तेषा प्रतिमटनृपाणा तद्वधूनाञ्च, शुद्धिदिवसो दुर्दिनञ्च,
न भवतु ? भवेदेवेत्यर्थः । अत्र करशीकरादौ नीहारादिरूपगाद्रपकालद्वार ॥ ८० ॥

इम भूपतिवी फैलती हुई सेनाके हाथियोंमें उत्पन्न (पाठा०—हाथियोंके सन्तर्)
हेमन्तकालके आरम्भ करनेपर, शत्रु राजा लोग हृदयमें (पश्चा०—उस हेमन्तकालमें)
नहा कग्नि होवें अर्थात् (इम राजाके भयमें) अवश्य कम्पित होवें (पश्चा०—हेमन्त
कालमें जीवने कग्नि होना उचित ही है), उन (शत्रु राजाओं) की स्त्रियोंका मुखत्पी
कमल मलिन नहा होवे अर्थात् इम राजाके युद्धमें पतिमरणकी आशङ्काने उनका मुखकमल
अवश्य मलिन होवे (पश्चा०—हेमन्तकालमें कमलों का मलिन होना उचित ही है) और
यह (युद्धदिवस) उन (शत्रु राजाओं तथा उनकी स्त्रियों) का दुर्दिन (अनिष्ट दिन,
पश्चा०—दुर्दिन अर्थात् मेघाच्छन्न दिन) नही होवे अर्थात् इस राजाके भयमें उन शत्रु
राजाओं तथा उनकी स्त्रियोंके लिए उक्त युद्ध-दिवस अवश्य अनिष्ट दिन होवे (पश्चा०—
बादल गिरा ॥ अर्थात् दुर्दिन होना उचित ही है) । [इम राजाके सेना-सत्त्वोंके हेमन्तकालके
बुद्धिके समान सूतोंमें छोड़े जाते हुए जलबगोंको देस उनका अगणनीयमान अनुमान कर
शत्रुओंका हृदयमें कंपना, उनकी स्त्रियोंके मुखका पतिमरणकी आशङ्कासे मलिन होना
तथा उस युद्ध दिनका अशुभ दिन होना (पश्चा०—कमल हेमन्तकालमें मनुष्योंका हृदयसे
बैपना, कमलका मलिन होना तथा मेघमें गिरनेके कारण दुर्दिन होना) उचित ही है । इम
राजाकी सेनाने प्रगणित हाथी ह ॥ ८२ ॥

आत्मन्यस्य समुच्चितीकृतगुणस्याहोतरामौचित्यी

यद्गात्रान्तरवर्जनादजनयद्भूजानिरेष द्विषाम् ।

भूयोऽहङ्किरयते स्म येन च हृदा स्कन्धो न यश्चानमत्

तन्मर्माणि दल दल ममिदलकर्मणवाणव्रज ॥ ८३ ॥

आत्मनीति । आत्मनि स्वस्मिन्नेव, समुच्चितीकृतगुणस्य समाहृतसौन्दर्यादिनि-
विलगुणस्य, अस्मिन् राज्ञ, औचित्यी औचित्यम्, अहोतराम् अत्याचार्य, 'किमेतत्'-
इत्यादिना अत्ययाशम्-प्रत्यय औचित्यमेवाह, समिति युद्धे, कर्मणे क्रियायै अलम्
अलकर्मणि कर्मक्षम, 'कर्मक्षमोऽलकर्मणि' इत्यमर । 'पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या'
इति कृतसमामादलकर्मशब्दान् 'अपहृत्तासितग्वलकर्म—' इत्यादिना ख-प्रत्यय ।
समिदलकर्मणि युद्धकर्मपटु, वाणव्रजो यन्म स तथोक्त असोघवाण इत्यर्थ, एष
भूजाया यस्येति भूजानि भूपति, जायाया जानिरादेश द्विषा सत्रूणां, येन च हृदा
हृदयेन, भूयो भूयिष्ठम् अहङ्किरयते स्म अहङ्करोतेमांवे लट् 'लट् स्मे' इति भूते
लट् यश्च स्कन्धो भुजशिर, न अनमत् न प्रागमत्, 'स्कन्धो भुजशिरोंऽसोऽस्त्री'
इत्यमर, गात्रान्तरागाम् अत्रयवान्तरागा, हृत्स्कन्धेनराणामित्यर्थ, वर्जनात् वर्जन
कृत्वेत्यर्थ, तेषाम् अनपराधिवादिनि भाव, ह्यवलोपे पञ्चमी तानि हृदयस्कन्ध

रूपाणि, मर्माणि जीवस्थानानि, दल दल मृश दलयित्वा, 'आभीक्ष्ये णमुल् च' इति णमुल्प्रत्यय । 'आभीक्ष्ये द्वे भवन' इत्युपसङ्ख्यानान् द्विर्भाव यत् अजनयत् यदण्डनमश्रोदित्यर्थ, तदेतदण्डनमात्रदण्डन राज उचितमाश्रयंतरज्ज्ञेयर्थ, अहङ्कारात् जनमम अरिं समूलघात हन्त्ययमिति भाव ॥ ८३ ॥

अपनेमें गुण-समूहों का जितना विवेक हुए इस राजाका औचित्य (उचित भाव) अत्यन्त आवश्यक है, जो कुछ में कर्मसमर्थ (अमोघ) क्षा-समूहवाला यह राजा, शत्रुओंका जो हृदय बार-बार अहङ्कार करता है और जो (स्वन्ध) मन्त्र नहीं हुआ, (अन) दूसरे कर्तोंको छोड़कर उन (हृदय तथा स्वन्ध) के मनोको सण्ड-सण्ड पर रिया । [यह राजा शत्रुओंके अहङ्कारी हृदय तथा अनन्तर स्वन्ध देशको ही सण्डश करता है, जो कारणमें नहीं आनेवालेका समूल नष्ट करनेवाला महाशूरवीर है] ॥ ८३ ॥

दूर गौरगुणैरहङ्कृतिमना जैत्राङ्ककारे चर-
त्येतदोयशसि प्रयाति कुमुद बिभ्यन्त निद्रा निशि ।

धम्मिल्ले तव मल्लिकासुमनसा माला भिया लीयते
पीयूषस्रवकैतयाद्घृतदर शीतद्युति स्विद्युति ॥ ८४ ॥

दूरमिति । पुनस्त्य राज, दोणो भुज्जन्त्य, यशसि गौरैर्धावत्यैरेव गुणै, 'गुणे शुक्लावय पुमि' इत्यमर, दूरमाद्यन्तम, अहङ्कृतिमनान् असाधारणाभिमानवता कुमुदादिष्वलवस्तूना, जैत्राङ्ककारे जैत्रञ्च तत् अङ्ककारञ्चेति तस्मिन् कर्मधारय, तद् हङ्कारसण्डनाय जिह्वरयुद्धकारिणि, चरति भ्रमति सति 'अङ्क इत्यनुवृत्तौ च विभ्र युद्धे विभूपणे' इति विश्व, कुमुद बिभ्यत् भीत सत्, निशि निद्रा स्वाप मुकुलनञ्च, प्र प्रयाति न प्राप्नोति । मल्लिकासुमनसा माला भिया तव धम्मिल्ले मयतकेश-पाशे, 'धम्मिल्ला सयमा कचा' इत्यमर लीयते अस्तद्धत्ते । शीतद्युति चन्द्रोऽपि, घृतदर मासत्राम सभू, पीयूषस्रवकैतयात् अमृतस्रावस्याजात्, स्विद्यति स्वेद त्यजति, निद्रापरिहारादीनि भ्रान्तिषिद्धानीति भाव । अत्र दोर्घश प्रभृतीनाम् अहङ्काराद्यम्बन्धोऽपि तत्सम्बन्धोक्ते अतिशयोक्तिभेद ॥ ८४ ॥

इवेन गुणों (हम सर्वाधिक इवेन है हम गुण) से अधिक अहङ्कार करनेवाले, इस राजा के वाद्योंसे उत्पन्न यशके (सत्कारमें) फैलते (पञ्चा०—अपना प्रतिपक्ष टूटने) गहनेपर (इस राजाके) टरता हुआ कुमुद राजमें नहीं सोता (पञ्चा०—सङ्कुचित नहीं होता) व, (इसके) मयसे मल्लिकाके फूलोंकी माला गुन्दारे (बाल) के-समूहमें लान हो जाता (अदृश्य हो जाती, पञ्चा०—अन्धकारयुक्त स्थानमें छिप जाती) है तथा (इस राजाके) टरा हुआ चन्द्रमा अमृतस्रावके छलने स्वेदयुक्त हो रहा है । [कुमुद, मल्लिका पुष्प तथा चन्द्रमा अपनेमें अधिक इवेन गुण होनेका अभिमान करने थे, किन्तु हम राजाके वाद्योंके यशके सत्कारमें फैलनेपर इस राजाके वाद्योंके मयने उनमेंसे कुमुद राजमें सोता

नहीं (चन्द्र नहीं होता), महिला-पुष्प काले (पञ्चा०—अधमारुज्ज) तुम्हारे देशोंमें छिपकर अदृश्य हो आने हैं तथा चन्द्रमा अमृतक्षरणके छलमें पसीना पसीना हो जाता है । रज्जु ने धरेपर जुमुदका रानमें नहीं सोना, महिला पुष्पका काले होनेसे अन्धकारपूग स्थानमें छिप जाना तथा चन्द्रमाना अमृतक्षरणके छलमें पसीना पसीना होना उचित हा है । इस राजाका वाङ्मन्य यश अयात् प्रताप जुमुद, महिला पुष्प तथा चन्द्रमाने भा अधिक उज्ज्वल है] ॥ ८४ ॥

एतद्गन्धगजस्तृपाऽम्भसि भृश कण्ठान्तमज्जस्तनु

फेनै पाण्डुरित म्बदिकरिजयक्रीडायश म्पद्भिभि ।

दन्तद्वन्द्वजलानुविम्बनचतुर्दन्त कराम्भोऽभि-

व्याजादभ्रमुवल्लभेन विरह निर्वापयत्यम्बुधे ॥ ८५ ॥

एतदिति । तृपा पिपासया, अम्भसि जले, भृश कण्ठान्त कण्ठपर्यन्त, मज्जन्ती तनु शरीर यस्य स, 'स्वेन आ मना, दिक्किरिगा जयेन या क्रीडा तस्या तत्प्रेक्षितानि इत्यर्थ, यशसि स्पृक्षन्ते ये ते तादृशौ तत्स्पद्भिभि तत्सदृशौ, फेनै पाण्डुरित पाण्डुवर्गीकृत, दन्तद्वन्द्वस्य जले अनुविम्बनेन प्रतिविम्बपातेन, चतुर्दन्तो दन्तचतुष्टयवान्, एतस्य राज्ञ, गन्धगजो दुष्टगज, कराम्भसा वमिर्वमधु, करशीकर इत्यर्थ, 'प्रपद्भिभि वमिश्च स्त्री पुमान्नु वमधु समा' इत्यमर । 'वमधु, पुसि वमने गजस्य करशीकरे' इति मेदिनी, तस्या व्याजात् अभुधे समुद्रस्य, अभ्रमुव लभेन ऐरावतेन, रज्जुप्रेणेति भाव, विरह विरहताप, निर्वापयति शमयतीति मापह्वयोत्प्रेणा व्यञ्जकाप्रयोगादभ्या ॥ ८५ ॥

प्यामने जलने अनिशय (अथवा—अधिक प्यासमें जलमें) कण्ठ तक शरीरको डुबाना हुआ, दिक्किरिगा अनायास विजयमें उत्पन्न अपने यशमें स्पृक्षा करनेवाले अर्थात् उक्त यशके सनान फेनों (के पानीके ऊपर) भागवाले शरीरमें लगने)से स्वेनवर्ग और दोनों दाँतोंके पानीमें प्रतिबिम्बित होनेसे चार दाँतोंवाला इस राजाका गन्धगज (दुष्ट हाथी या अपने मन्द मन्मथन आदिके गन्धमें दूसरे गजोंको जीतनेवाला हाथी या दूसरे हाथीके गन्धको नहीं मइनेवाला हाथी) सूडके वमधु (बाहर फेंके हुए वमका) के व्यामने समुद्रके ऐरावत (मनुद्रोत्पन्न होनेसे पुत्ररूप पूर्व दिग्गज) के विरहको शान्त कर रहा है । [ऐरावत समुद्रमें रहनेवाला देवत बाँवाला और चार दाँतोंवाला था, अब प्यामने कण्ठ तक समुद्रमें डूबा हुआ, फेनोंसे स्वेत वर्णवाला तथा अश्वमें अपने ही दो दाँतोंके प्रतिबिम्बित होनेसे चार दाँतों वाला इस राजाका गन्धगज मूँटसे जलकण छोड़ता हुआ समुद्रके पुत्र (ऐरावत)-विरहको शान्त करता हुआ—सा जान होता है । इसीसे समुद्र पर्यन्त विजय करनेवाला यह राजा है] ॥

अथैनदुर्यापतियर्णनादनुत न्यमीलदास्यार्दायतु हृदीय सा ।

मधुस्र ना नैपथनामजापिनी स्फुटीभवद्वन्धानपुर रफुरज्जला ॥ ८६ ॥

अथेति । अथ सा दमयन्ती, मधुखजा वरणार्थंया मधुद्रुममालया, मधूरुप्य-
मालया इत्यर्थः, तथैवाक्षमालयेति भावः, 'मधु पुष्परसे क्षीद्रे मत्ते नात्तु मधुद्रुमे'
इति मेदिनी, नैपथस्य तलस्य, नाम जपतीति तज्जापिनी, अत एव स्फुटीभवता
साक्षात्कारपरिणामिना, प्रत्यक्षीकरणसामनेनेत्यर्थः, ध्यानेन पुरोऽग्ने, स्फुरन् प्र यक्षी
भवन्, नलो यस्या तादृशी सती, एतस्य उर्वोपते उत्कलेखरस्य, वर्णनमेव अनु-
तम् आश्चर्यरस, हृदि हृदये, आस्वादयितुम् अनुभवितुमिव, न्यमीलत् निमीलिताक्षी
जाना, परमार्थतस्तु नलसाक्षात्कारसुखास्वादनार्थैवेत्यर्थः ॥ ८९ ॥

रम (सरस्वतीके उक्त (१२।७८—८५) वर्णन करने) के बाद (वरण मन्वन्धिनी)
मधुपक्षी मालासे नलके नामको निरन्तर जपता हुई (अन एव) स्पष्ट होते हुए ध्यानने
प्रयत्नमें भासमान होते हुए नलवाली वह (दमयन्ती) इस राजा (उत्कलनरेश) के वर्णन-
रूप अक्षतरसको मानो हृदयमें आस्वादन करने के लिए नेत्रोंको बन्द कर लिया [किन्तु
बाह्यविक्रमे तो नलके साक्षात्कारका आस्वादन करनेके लिए ही उसने नेत्रोंको बन्द कर
लिया । नलानुरक्त रम दमयन्तीने उस राजाके वर्णन कालमें नेत्रोंको बन्द कर उसको
अन्वीक्षार कर दिया] ॥ ८९ ॥

प्रशंसितु ममदुपान्तरञ्जिन श्रिया जयन्त जगतीश्वर' जिनम् ।

गिर प्रतस्तार पुरावदेन ता दिनान्तसन्ध्यासमयस्य देवता ॥ ८७ ॥

प्रशंसितुमिति । दिनान्तसन्ध्यासमयस्य सायमन्ध्याकालस्य, देवता अधिदेवता
सरस्वती, सन्ध्याविध्यं सरस्वतीति श्रुते, ससदुपान्तरञ्जिन सभास्थानकप्रान्त-
रञ्जकमित्यर्थः श्रिया सौन्दर्येण, जिन जिनाय देव, सोऽतिमुन्दर इति प्रसिद्धे,
जयन्त ततोऽपि मुन्दरम् इत्यर्थः, जगतीश्वर पृथिवीपति प्रशंसितुस्तोतु, पुरावदेव
पूर्वदेव, ता प्रसिद्धा, गिर प्रतस्तार प्रपद्यमामास ॥ ८७ ॥

सायमालीन सन्ध्याकी देवी (सरस्वती) ने समाके दोनों भागोंको अनुरजित करनेवाले
तार (अतिप्रसिद्ध मुन्दर) जिन ('जिनेन्द्र देव, या 'बुद्धदेव') को शोभासे जातने रूप
राजाकी प्रशंसा करनेके लिए पहलेके ही समान (सरस एव मधुर) वचनको कहा—
(अथवा—शोभासे समाके दोनों पादोंको अनुरक्त करने हुए, 'जयन्त' नामक बौद्ध राजा
को । पाठा०—जगदीश्वर 'जिन' को) ॥ ८७ ॥

नयाऽधिकुर्या रुचिर । चिरेष्मिता यथोत्सुक सम्प्रति सम्प्रतीच्छति ।

अपाङ्गरङ्गस्थललास्यलम्पटा कटाक्षवारास्तत्र कीकटाधिप ॥ ८८ ॥

तथेति । रुचिरे ! हे सुन्दरि ! उत्सुक उत्कण्ठित कीकटाधिपो मगधेश्वर,
चिरेष्मिता विगतप्रभृति आसङ्गिता, अपाङ्गो नेत्रप्रान्तः, एव रङ्गस्थल,
तत्र लास्ये नर्तने लम्पटा लालमा, तव कटाक्षधारा, कटाक्षपरम्परा, यथा सम्प्रति

इदानीं, सम्प्रतीच्छति सम्यक् स्मृतुमर्हतीत्यर्थं, तथा अग्निहोत्रं प्रसारयेत्यर्थं, नडा-
च्छदशः अपि एव पर्येति भावः ॥ ८८ ॥

हे सुन्दरि (दमयन्ति) उत्कृष्टतम मणपेश्वर नेत्रप्रातःकाल रत्नमूनि (गार्ग्यगण) ने
म दक्षिणाम् पूज्यते त्वत्तु (या गृह्य) में त्वत्तु, तुम्हारी चिन्ताकामे अनित्यपित कदाचि
परम्पराओंको इस समय जेने प्रतीक्षा कर रहा है, वैसा तुम करो, (अथवा—निरन्तर
अभिलषित तुम *) । [यह मणपेश्वर तुम्हारी नडाछ-परम्पराओंको चिरकालने चाहता
है, अतएव इसे तुम कदाछने देखो] ॥ ८८ ॥

इदयशामि द्विपत सुधात्थ किमकुनेतद्विद्वपत किमाननन् ।

यरोभिर्मन्त्राखिललोकाग्निभिर्भिमीपिता धारति तामनी मसी ॥ ८९ ॥

इदमिति । अखिललोकान् धावन्ति गच्छन्तीति तादृशे अखिललोकधाविभि-
प्रिलोकधाविभि, अस्य कीदृशरस्य, यशोभि विभीषिता विप्रासिता, तमस इव
तामसी मसी तमोमालिन्यम्, इदयशामि एतकीर्त्ति, द्विपतो विरन्धानस्य,
'द्विपोऽमित्रं' इति शत्रुप्रणय 'द्विप शत्रुवं' इति रिक्त्वात् षष्ठीप्रतिषेधे कर्मणि
द्वितीया सुधात्थ सुधाशो, अहं कदह्य मन्त्रिष्ठित, किं धावति ? गच्छति किम् ?
तथा एतद्विद्वपत एतच्छत्रो, आननञ् धावति किम् ? एतच्छत्राधिक्रमाभयात् एव
चण्ड्रे कलङ्कमपेग एतच्छत्रुमुत्तम मास्त्रिरूपेण प्रविष्टमिरुत्तमेवते अथवा कथ-
मनयो अजन्तम् ईदृशमालिन्यमिति भावः ॥ ८९ ॥

मन्त्री लोकोंमें दौड़नेवाली जयात् नीनों लोकोंमें व्याप्त शत्रु कीर्त्तिसे उदन्त शरा
हुड हुडपड़का रात्रिकी कालिमा इसकी कीर्त्तिको रोड़ने हुए चन्द्रमाके पास (पक्ष-
मन्त्र) में दौड़ती है क्या ? अथवा इस (मणपेश्वर) के शत्रुके मुखके पास दौड़ती है क्या ? ।
[इस मणपेश्वरकी कांति नीनों लोकोंमें फैलने लगी तो इसके मरने मग हुड हुडपड़की
रात्रिकी कालिमा जेवत वगैरे होनेने इसकी कीर्त्तिके विरोधी चन्द्रके अङ्ग (मन्त्र) में चली
गयी, अथवा इस राजाके शत्रुके मुखमें चला गयी क्या ? लोकमें भी किमा वैराके मरने
मग हुड हुड वैरी उसके वैरीके पास जाकर शरा पाता है, का एव इसकी कीर्त्तिके मरने
मग हुड तामसी कालिमाका इसके शत्रु चन्द्र या किसी राजाके पास जाकर शरा लेना
वर्जित ही है । अथवा—रात्रि-सम्बन्धित कीर्त्तिमाका रात्रिपति चन्द्रके शरणमें जाना
वर्जित ही है, क्योंकि लोकमें भी किसीके मरने मग हुड खी अरने एतके अङ्गमें जाकर
शरा पाता है । यह राजा महायज्ञन्वी है । यज्ञपर मरस्वता देवाने 'अहिष्णोऽकधाविभि'
एत 'धावति' इन दो पदोंके द्वारा इस राजाकी कीर्त्ति अभी मर लोकोंमें व्याप्त हो रही है
अथवा पूर्ण व्याप्त नहीं हुई है, अत एव यह नवीन एव कम कालिमा होनेने मुझसे
बरा करने योग्य नहीं है, यह मन्त्र किया है] ॥ ८९ ॥

इदन्नृपप्राथिभिर्मन्त्रितोऽर्थिभिर्मणिप्ररोहेण विवृण्व रोहण ।

क्रियद्भिर्नैरम्बरमार्वाग्ने सुधा मुनिर्निन्द्यमरुद्ध भूधरम् । ९० ॥

उद्गमिति । इदन्तृपगाधिभि इम नृपमेव प्रार्थयमानै, अर्यिभि याचने, उज्जित
परित्यक्त, अनेन नृपेणैव सकलार्थपूरणात् इति भाव, रोहणो रोहणाद्रि सुमेर,
मगिप्ररोहेण नवरत्नाहुरोद्भेदेन, विवृष्य अव्ययीभावात् चर्द्धित्वा, स्थितिर्नै कनिपय-
दिनै एव, अन्वरम् आकाशम्, आरिष्यते आच्छादयिष्यति, मुनि आगत्य मुधा
वृधैश्च, विन्ध्य भूधरम् अरुद्ध स्तम्भयामास, रोहणस्य सत्कार्यकारित्वादिति भाव ।
अत्र रोहणाद्रे ईदृशिरूपामग्रन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरनिशयोक्ति ॥ ९० ॥

(अनिशय वशान्) इम (मगधेऽत्र) से याचना करनेवाले याचकोंसे (इम राजने
ही अभिहित दान मित्र जानेके कारण आवश्यकता नहीं होनेसे) छोटा गया 'रोहण'
पर्वत अर्थात् 'रत्नाचल' मणियोंके अङ्कुरोंमें अत्यन्त बढकर कुछ दिनोंमें आकाशको रोक
लगा, (अत्र एव) मुनि ^१ (आगत्य) ने बिना पर्वतको न्यथे रोका ॥ ९० ॥

भूशक्रस्य यशसि त्रिक्रमभरेणोपार्जितानि क्रमात्

एतस्य स्तुमहे महेभद्रशनस्पर्द्धानि कैरश्रै ?

लिम्पद्भि कृतक कृतोऽपि रजत राज्ञा यज पारदै-

रस्य स्पर्णगिरि प्रतापदहने स्पर्ण पुनर्निर्मित ॥ ९१ ॥

भूशक्रस्येति । भूशक्रस्य भूदेवेन्द्रस्य, एतस्य राज्ञ सम्बन्धीनि, त्रिक्रमभरेण
पराक्रमानिशयेन, क्रमान् उपार्जितानि महेभद्रशनस्पर्द्धानि राजेन्द्रदन्तमयगानि,
अनिशुभ्राणीनि भाव, यशसि त्रै अश्वरे अकारादिभिर्वर्णै, स्तुमहे ? घर्गपाम ?
एतस्य यशसामानस्यत्वात् वर्गानाम्नु पञ्चाशन्मात्रवात् स्तोतुं शक्यन्ते इत्यर्थ ।
तथा हि, लिम्पद्भि स्वर्गगिरिमेव रज्ज्भि, राज्ञाम् अस्तिनृपाणां, यशोभिरेव पारदै-
रमे, 'रम स्तुनश्च पारदै' इत्यमर, कृतक कृत्रिम, रजत कृतोऽपि स्वर्गगिरि
हेमाद्रि, अस्य प्रतापदहने प्रतापरूपैरग्निभि, पुन स्वर्णं निर्मित कृत, पारदलि-
समुच्चै रजतवत् श्रेतीभवति तन् पुनरग्निदाहात् प्रकृतिरिव भवतीति प्रसिद्धमेव ।
अत्राप्युक्तस्यामग्रन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरनिशयोक्ति ॥ ९१ ॥

कृतोऽपि इम (मगधेऽत्र) के जगिणय पराक्रमकी बढुल्लाने कमरा उपार्जित
यशसा प्रशसा (इम) क्रिम अङ्कुरों (श-शे) मे कर (अश्वर मत्पाके परिमित अर्थात्
केवल पञ्चम^१ तथा इमके यगुके अश्वरिमित होनेके कारण उनसे अश्वरामे इमके यशसी
प्रशसा करना अशक्य है, तथापि कुछ वर्ण करती है), राजाजों (दूसरे राजाओं) के ।
(सुमेरको ही) पुत्र करने हुए यगुकी पारदसे कृत्रिम (बनावटा) चाँदी बनाया
गया स्वाभाव (सुमेर) इम (मगधेऽत्र) की प्रशसा स्वा अग्निसे फिर मोना बना
दिना गया है । [पारदके लयसे सोना जालि यगु कृत्रिम चाँदा (चाँदी-म ध्वेनर्ग) हो

१ एतर्पीरागिकी कथा प्राक् (५१३०) 'मगिप्रभा' यामेव द्रष्टव्या ।

२ पाणिनिमने वर्गाना त्रिपष्टिचद्वनुपष्टिचवाचोध्यम् (३० पा० शि० श्लो० ३)

जाने ह, किन्तु अग्निमे टाहनेपर अग्निमयोगमे पारदके छट जानेमे वे पुन सोना ही हो जाने ह । इस राजाने प्रतापमे दूसरे रानाओंके बश नष्ट हो जाने हैं ॥ यह मगधधर महायशस्वी तथा महाप्रतापी हैं, उन इमे वरण करो] ॥ ९१ ॥

यद्वत्तु कुन्तेऽभिषेणनमय शक्रा भुव ना ध्रुव
दिग्दाहैरिव भस्मभिर्मघवता नृत्तैर्वृतोद्धलना ।
शम्भोर्मा वत सान्धिवेलनटन भाजि व्रत द्रागिति
श्रोणी नृत्यति मत्तिरष्टवपुषोऽमृन्मृष्टिमन्व्याधिया ॥ ९२ ॥

यदिति । भुव शम्भो भूदेवेन्द्र, अय राजा, यस्या श्रोण्या, भक्तुं अभिषेगन सेमया अभियान, कुरते 'यन् सेनयाऽभिगमनमरौ तदभिषेणनम्' इत्यमर अष्टवपुष अष्टमूर्त्तं शिवस्य, मूर्त्तिरष्टान्यतमा मूर्त्ति, सा श्रोणी मघवता इन्द्रेण, सृष्टैर्दिग्दाहै औत्पातिकदिग्दाहोद्धवै, भस्मभिरिव एतौद्धलना एतभस्मानुलेपना सती शिवस्य भस्मलिसखे न तन्मूर्त्तं श्रोण्या अपि भस्ममि अनुरागस्य औचित्यादिति भाव, अत्र सेनापदोद्यधूलिपटलाच्छन्नश्रोण्या भस्मलिसखोत्प्रेक्षा, असृगृही सत्याम् औत्पातिकरक्तवर्षणे सति, सन्ध्याधिया सायसन्ध्याभ्रान्त्या, शम्भोर्माहादेवस्य, सन्धिवेलाया भव सान्धिवेल 'सन्धिवेलाद्यनुचत्रेभ्योऽण्' तच्च तद्वटनञ्च सान्धिवेलनटन, व्रत सन्ध्यानर्त्तनरूपनियम, मा भाजि भग्न मा भूत्, भजे कर्मणि, लुङ् 'भक्षश्च चिणि' इति विकल्पाज्जलोपे उपधावृद्धि इति, सत्वेति शेष, इति-करणादेव गम्यमानार्थत्वाद्प्रयोग, द्राक् सपदि, नृत्यति कम्पते, ध्रुवमित्युत्प्रेक्षा, वतेति विस्मयसूचकमभ्ययम्, सन्ध्यासमये भस्मलिसो महादेवो नृत्यति, अतः सन्मूर्त्तं श्रोण्या अपि नर्त्तन बोद्धव्यम् । एतद्यातस्यराष्ट्रेषु दिग्दाहपाशुवर्षणरक्त-घृष्टिभूकम्पादयो जायन्ते इति भाव ॥ ९२ ॥

यह भूपति (मगधधर) जिम (देशकी पृथ्वी) के पतिके प्रति सेना लेकर चढ़ाई करना है, दिशाओंके दाहके समान इन्द्रके द्वारा किये (उठाये या बरसाये) गये (इस राजाकी सेनाके इच्छनादिके) भस्मोंने अङ्गलेप की हुई अर्धांग मटमैली (मलिन), 'अष्टमूर्ति (शङ्करजी) का (आठ मूर्तियोंमें से अन्यतम) मूर्ति वह पृथ्वी रक्तघृष्टिरूप ६५६

१ शिवस्याष्टमूर्त्यो यथा-चिनिमूर्ति शर्व १, जलमूर्तिर्भव २ अग्निमूर्ति रुद्र ३, वायुमूर्तिरम्र ४, आकाशमूर्तिर्भाम ५, यज्ञमानमूर्ति पशुपति ६, चन्द्र-मूर्तिर्गहादेव ७, सूर्यमूर्तिरीशानश्च ८, इति तन्त्रशास्त्रम् । एता शरभरूपिण-शिवस्याष्ट पादा इति कालिकापुराणम् । अन्यत्रोक्ता शिवस्याष्टमूर्त्यो यथा—

‘अथाग्नी रविरिन्दुश्च भूमिराप प्रभञ्जन ।

यज्ञमान खमष्टौ च महादेवस्य मूर्तय ॥’

इति शब्दमाला’ इति शब्दकरपद्म (पृ० १४९) ।

बुद्धिमे जगत्तु स्मृष्टिदो हो सन्ध्या काँ समञ्जवर शङ्करना सायङ्कालीन सन्ध्या में
नृच उरनेके नियमना मङ्गल हो इस काग्य नाचने (कथित होने) लगती है । [यह
माधेश्वर नहीं मेना लेकर जाता करता है, वहाँ दिवाह, नृभ्य, भग्म तथा रत्तरी घुष्टि
आदि अनुगम्यकर उत्तान होने लगते हैं, और यहाँ राजा विजयी होता है । अष्टमूर्ति
शङ्करजीदा अञ्जना मूर्ति पृथ्वावा शङ्करजीके नृचके समयमें नृच करना (कपना)
इच्छित हो है] ॥ १० ॥

प्रागेतद्वपुरानुगेन्दु मृजत क्षुद्र समप्रमिष्या

काश शोषमगाद्गात्रजगतीशिन्येऽप्यनन्धपात्रि ।

नि शेषद्युतिमण्डलक्यप्रशान्दोपल्लवेरेष पा

शेष केजस्य तिमन्वनममा स्मोमेन्नतो निमित्त ? ॥ ६३ ॥

प्राप्तिनि । प्राक् प्रथम, सर्वाधिकाले इत्यर्थ, एतस्य राज, यद्यु आमुखेन्दु
मुखेन्दुपर्यन्तमित्यर्थ, अभिसुरयाथेऽयदीभाव मृजत रक्षयत, क्षुद्र प्रत्यग
मन्धन्धा, अगाधवर्गादिश्लेषेऽपि अन्धिलगतिमिषेऽपि, अनन्धपात्रि अनन्धपीभूत,
धर्मीय इत्यर्थ, छान्दिनाशैराकृतिगणत्वात् वयदि कर्त्तरि क, समप्र विषा कौश
तेजोराशि, शोष शिक्तान्, अगान्, ततो नि शेषद्युतिमण्डलक्यप्रशान्त् समप्र
जोरादिनाशवशात्, उपल्लवे सुलभ, तेज सामान्याभासस्यैव न्यायमते तमोरूपनि,
मुद्रापरिवृति भाव, 'इयद्वदु —' इत्यादिना अकृच्छये सत् प्रत्यय, अन्धयाम् ?
न्यानि तन्मामि अन्धनमामि गाढान्धकारा, 'अवसम' अन्धस्तेमम 'इति समाध्र्य ।
तेषा स्तोमेरेष केशपाशाभ्रक, दापा वपुःशेष, निर्मितो वा ? निर्मित-पारह
शुपुष्पेकालद्वार, तेन चास्य लोकानिदधतेनो ध्ययते ॥ १३ ॥

पक्ष (मृष्टिके प्रारम्भमें) सुप्त नृक इस राजाके शरीरकी रचना बिदे हुए कृति
मृष्टा पृथ्वा अथात् समारब्धी रचना में भी कम नहीं पटा हुआ समस्त वाग्निवाकाव ।
(जनाना) समस्त हा गया, तब (अर्थात्) मृष्टा वाग्नि-समूहकं अथ (समस्त
जनिमे सुलभ (मरणात् मे मिल्ने वाग्ने) गाढ-अन्धकार-समूहोमे बौरा केश समूह
रचा है व्या । [शकमें भी उत्तम वस्तु के मरणात् हो जानेपर मरणात्मे प्राप्य म ना
वस्तुओंमें मा शेष काम पूरा किया जग है ॥ इस राजाके एगने सुपत्तर समस्त अन्ध
अन्ध गौरवा न्या देश अत्यन्त काले है] ॥ १३ ॥

नन्दित्रेययाश्रोद्धुस्तुरानुरागोद्धर्तरन्वचार

निर्माणारिप्रवापानलज्जमिष मृजन्त्यप राजा रजोभि ।

भृगोलन्दायमायामयगणितविदुन्नेयस्यो भियाऽमृ

नेनत्कीन्तिप्रवार्त्तानिधुमिरय युधे राहुराहूयमान ॥ १४ ॥

तत्तदिनि । एष रात्रा तासा तामा दिशा प्राच्यादीना, जेत्रामु यात्रासु उद्गुरा-
णाम् उच्छृङ्खलाना, तुरगाणाम् अश्वाना, मृगाग्रै उद्धने रजोभि धूलिभि करगे,
निर्वागात् शान्तात्, अरिप्रतापानलात् जान तजमिव शत्रुप्रतापानिनिर्वाग् जन्ममिव
स्थितमि-यर्थ, तदभावेतुकत्वाद्बन्धकारस्येति भाव, बन्धकार सृजति रात्रि
रूपयतीत्यर्थ । एतस्य कीर्त्तिप्रदाने कीर्त्तिपटलैरेव, विभुभि चन्द्रैः, दुधे युद्धाय,
आहूयमान इव राहु सेहिष्य, भिया भयेन, भृगोलस्य भूविग्रस्य, ह्याया तच्छाय
'विभाषा येनासुरा--' इत्यादिना नपुसकत्वम् तदेव माया कपट, तन्मय स चासौ
गणितविदुन्नेयो गणितशास्त्रेणैव, बायो यस्य सोऽभूत् । ज्याति शास्त्रप्रमाणक यत्
राहो भूराद्यायामकृत्व सदेतर्कीर्त्तितचन्द्रमित्युपेक्षा, तथा च राहुभीषकवन
कीर्त्तितचन्द्रागा प्रसिद्धचन्द्रात् नाधिक्येन व्यतिरेकालङ्कार व्यज्यते ॥ १४ ॥

यह (नगर नरेश) उन-उन (पूर्वादि) दिशाओंके जैत्र (विजयी) यात्राओंमें
उत्साहयुक्त घोड़ोंके सुराग्रोंमें लड़ी हुई धूलियोंमें कुली (पञ्चा०—नष्ट) हुई शत्रुओंके
प्रणामपी अग्निमें उत्पन्न हुएके समान अन्धकार कर देता है तथा इसी कीर्त्ति,
मनुजत्व चन्द्रोंके द्वारा उदक लिए छलकारा जाना हुआ राहु मयमे भूगोलकी छाया
देवदमन गरीबका हा गया, जिने गणित (ज्योतिष शास्त्रके विद्वान्) लोग अनुमान
साधि जानने हैं । [लोकमें धूलिमें अग्निका बुझ जाना और अग्निके कुशनेपर अन्धकार हा
लुह् अनुभव-सिद्ध है । इस राजाका दिविपय यात्रामें इसका सेनाके घोड़ोंके सुरने
करणादि शिर्षोंमें किये गये अग्निक अन्धकारकी देखसर दत्त-उन दिशाओंके रात्रि शम्भु
धतेति । जमल गगने भवभीन हो जाने हैं और उनका प्रभाव नष्ट हो जाता है । ॐ ॥
तन्मूर्त्त चन्द्रको राहु पराजितकर चन्द्रप्रह्ला-काशमें घन रत्ता था, किन्तु अब इस
धृष्टिभू प्रणामपी अनेक चन्द्रोंने युद्धके लिए राहुको ललकारा तो वह मयमान होकर
[यदि पहचान न सके इस विचारमें भूगोलकी छाया बन गया और उसे ज्योतिष
की विद्वान् अनुमान द्वारा पहचानने लगे । लोकमें भी अनुमाने शत्रुओंमें बरा हुआ
रात्रि अनेक शत्रु दूसरा कर-धारणकर अनेकों जिता लेता है । ज्योतिष शास्त्रके सिद्धान्तने
[राहु मूर्त्त आदि सात ग्रहोंके अतिरिक्त अन्य कोई ग्रह नहीं है, किन्तु भूगोलकी
छायाभाव है] ॥ १४ ॥

आस्ते दामोदरीयामियमुदरदरी याऽभिगम्य त्रिलोकी
सन्मातु शक्तिमन्ति प्रथिमभरवशात्तत्र नैतद्व्यशासि ।

तामेता पूरयित्वा निरगुरिव मधुचमिन पाण्डुपद्म-
च्छद्वापन्नानि तानि द्विपदशनमगामीनि नाभीपथेन ॥ १५ ॥

आस्ते इति । या इयत्रिलोकी दामोदरस्य इमा दामोदरीया वण्णवीम, उदर-
दरी कुक्षिकुहरम्, अधिशय्य अविष्टाय, आस्ते, तानि प्रसिद्धानि, द्विपदशनसना-

भीति गजदन्तसन्निभानि, एतद्व्यशासि प्रथिमभरवशात् महिमातिशयवशात्, मात्राग्राह्यतादिति भावः, तत्र विष्णोर्दरस्थिताया त्रिलोक्या, सम्मातु वर्त्तिन्, सुग्रेन स्थानुमित्यर्थः, न शक्तिमन्ति अशक्तानि सन्ति, ताम् एता दामोदरोदरदरीं, पूरयित्वा मनुजमिनोविष्णो, पाण्डुपद्मच्छापापन्नानि नाभिपुण्डरीकव्याजापन्नानि सन्ति, नाभीपथेन नाभिविवरेण, निरगुरिव वहि निर्गतानि इव रेजुरिति शेषः, विष्णोर्दरे मङ्कटवासयातनाभयात् नाभिरूपमार्गेण वहिर्निर्गतानोवेत्यर्थः । अत्र पद्मच्छापा निरगुरिवेति सापह्नोःप्रेक्षा सा च त्रिलोकीयशसो आधाराधेययो आनुरूप्यव्यलक्षण्यात् विलक्षणालङ्कारश्च इत्यनयो सङ्करः ॥ ९५ ॥

यह त्रिलोकी विष्णु भगवान्की जिम उदररूपा गुहामें निवास करती है, उम (विष्णु भगवान्के उदररूपी गुहा) में अधिक होनेके कारण नहीं समाने हुए सुप्रसिद्ध, इवेन कमलके कपटको प्राप्त अर्थात् इवेन कमल बने हुए एव हाथीके दातके समान (इवेन वर्ण) इस राजाके यश विष्णु भगवान्की उम (उदररूपी गुहा) को परिपूर्ण करके मानो (बाहर) निकल गये हैं । [विराट् रूप विष्णु भगवान्के उदरमें त्रिलोकी वास करती है, किन्तु इस राजाके विशाल यश उसमें नहीं समा सकनेके कारण मानो इवेन कमलके छलसे बाहर निकल गये हैं । लोकमें भी किसी छोटे पात्रमें जो कोई पदार्थ नहीं समाता, वह बाहर निकल जाता है । इवेन यश ही विष्णु भगवान्के नाभिकमलके रूपमें बाहर निकल हुआ है । इस राजाके यश बहुत विशाल तथा त्रिलोकीमें भी बाहर व्याप्त है] ॥ ९५ ॥

अस्यासिर्भुजग स्त्रकोशविवराकृष्ट स्फुरत्कृष्णिमा

कम्पोन्मीलदराललीलवलनस्तेपा भिये भूभुजाम् ।

सङ्ग्रामेषु निजाङ्गुलीमयमहासिद्धीपधीवीरुध

पर्याम्ये विनिवेश्य जाङ्गुलिभ्रता यैर्नाम नालम्बिता ॥ ९६ ॥

अस्येति । स्वकोशात् चर्ममयनिजपिधानादेव, विवरात् विलात्, आकृष्ट उद्धृत-
श्चुरत्कृष्णिमा व्यक्तकृष्णवर्णः, कम्पेन धूननेव, उन्मीलन्ता प्रकाशमाना, अराललीला
वक्रविलासा, यस्य तादृश चलन गमनविशेष यस्य स प्रकटमुदिलगति इत्यर्थः,
अस्य अमि एव भुजग तेषा भूभुजा राजा, भिये भीतये, भवति इति शेषः, यैर्नाम
यै नृपतिभि विज, सङ्ग्रामेषु युद्धेषु, निजाङ्गुलीमयी स्वाङ्गुलीरूपा, महती सिद्धा
अमोघा, ओषधीवीर्यं ओषधिलता तस्या, ओषधी इति जातिविषयत्वात् स्त्रीत्वे
वा टीप् पर्वप्रत्यय 'प्रन्विनां पर्वपर्यी' इत्यमरः । आस्ये मुखे, विनिवेश्य निधाय,
जाङ्गुलिकता विपवैद्यता, 'विपवैद्यो जाङ्गुलिः' इत्यमरः । न आलम्बिता न स्त्रोक्ता,
यथा मुखात्तर्गतोपध गारदिक सर्पों न हन्ति तदादेशे मौनमवलम्ब्य प्रणिपाता-
अलिम् अकुर्वन् शत्रुनृपान् असौ नृपति हन्ति इति भावः । रूपकालङ्कारो
व्यज्यते एव ॥ ९६ ॥

अपने म्यानरूपी विल्मे सेचा (तत्काल निकाला) गया, चमकती हुई कारिमावाना, हाथों लेकर कौपानेसे स्पष्ट कुटिल गतिवाला इस राजाका खद उन राजाओंके भयके लिए होना है, जिन्होंने युद्धमें अपनी अङ्गुरिरूपी सिद्ध (विघनाशनमें सर्वथा सफल) महौषधि रत्नाके गाठ (पञ्चा०—अङ्गुरिके=पोर) को अपने मुखमें डालकर विपदैश्वर्य का अवलम्बन नहीं किया है । [जिस प्रकार कोई व्यक्ति सिद्ध महौषधिकी गाठको मुखमें दान लेता है सो उसे विल्मे निकल हुआ कुटिल चलनेवाला काला सौंप नहाई जाता उसी प्रकार जो राजाको युद्धमें शत्रु-त्यागकर मुखमें अङ्गुरि डाल करके हम रानाके शरणमें नहीं आते उन्हींको यह म्यानमें निकाले हुए उच्चम रोहा होनेसे चमकते हुए श्याम बाँवाने हिलते हुए खद में मारता है । यह राजा सङ्ग्राममें शत्रुओंको खद से मारनेवाला तथा शत्रु त्यागकर मुखमें अङ्गुरि डाल करके शरणमें आने हुए शत्रुओंकी रक्षा करनेवाला है] ॥ ९६ ॥

य पृष्ठ युधि दर्शयत्यरिभटश्रेणीषु यो वक्रता-

मस्मिन्नेव विभक्ति यश्च किरिति क्रध्वनिं निन्दुर ।

दोष तस्य तथाविधस्य भजतश्चापस्य गृहन् गुण

प्रित्यात स्फुटमेक एष नृपति सीमा गुणग्राहिणाम् ॥९७॥

य इति । य चाप कश्चित् सैन्यश्च, युधि अरिभटश्रेणीषु शत्रुवीरसमूहेषु विपये, पृष्ठ पश्चाद्भाग, दर्शयति, धनुष आकर्षणेन सैन्यस्य चरणस्थलात् पलायनेन पृष्ठदर्शन सम्भवतीति भावः, य अस्मिन्नेव नृपे स्वस्वामिन्येव च विपये, वक्रता ज्याकर्षणेन कोटिद्वयस्य वक्रत्व, कृन्धत्वादिरूपानाञ्जवक्र, विभक्ति, यश्च अस्मिन्नेव निन्दुर कटिनो निर्दयश्च सन् क्रूरध्वनि शत्रूणां भयावहद्वारशब्दम् अनेन सहाप्रियवाक्यञ्च, किरिति विस्तारयतीत्यर्थः, दोष भुज, भजत आश्रयत, 'भुजबाहु प्रवेष्टो दो' इत्यमरः, दोषमकार्यमाश्रयतश्च, तथाविधस्य तस्य चापस्य तथाविधस्य तस्यसैन्यस्य च, गुण ज्या, पूर्वप्रदर्शितशौर्यजैत्रवादिकञ्च, गृहन् आकर्षन् वर्गयश्च, एष नृपति कीकटेन्द्रः, एक एव गुणग्राहिणा मौर्षीप्राहिणा, धनुर्दारिणामित्यर्थः, दोष परित्यज्य गुणमात्रग्राहिणा सज्जनानामित्यर्थश्च, सीमा अवधि, श्रेष्ठ इति यावत्, स्फुट स्पष्टतः, विख्यात प्रसिद्धः । अत्र गुणग्राहिसीमात्वस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वात् वाक्यार्थहेतुत्वं काव्यलिङ्गम् अलङ्कारः ॥ ९७ ॥

जो युद्धमें शत्रु शरवीरोंके स्पर्शमें पीठ दिसलाना (पञ्चा०—युद्धसे भगना) है, जो हमीने कुटिलता ग्रहण करना अर्थात् दूसरेमें नश्वर इकाया या स्कना (पञ्चा०—हमीके साथ कपड़ाचरण) करना है, और निन्दुर होकर क्रूर ध्वनि (पञ्चा०—कड़ु माया) करना है, दोष (बाहु, पञ्चा०—दुर्गुण) धारण करनेवाले वैने धनुष (पञ्चा०—उस प्रकारके दोषी) के गुण (मौर्षी, पञ्चा०—उच्चम गुण) को ग्रहण करता हुआ एकमात्र

यही (मगध नरेश ही) गुणग्राहियोंमें अवधि प्रसिद्ध है । यह मगधेश्वर दोषियोंके भी गुणको ग्रहण करनेवाला तथा सब धनुर्धरोंमें मुख्य है] ॥ ९७ ॥

अस्यारिप्रकर शरश्च नृपते सङ्ख्ये पतन्तावुभौ
सीत्कारश्च न सम्मुखौ रचयत कम्पश्च न प्राप्नुत ।

तद्युक्त न पुनर्निवृत्तिरुभयोर्जागर्तियन्मुक्तयो-

रेकस्तत्र भिनत्ति मित्रमपरश्चात्रमित्यदभुतम् ॥ ९८ ॥

अस्येति । अस्य नृपते अरिप्रकर शत्रुसङ्घ, शरश्च एतौ उभौ सङ्ख्ये युद्धे, सम्मुखौ युगपद् एतदभिमुख पराभिमुखञ्च, पतन्तौ सन्तौ, सीत्कारश्च दुःखव्यञ्जक वन्तमध्यनिर्गत पक्षबायुजग्यञ्च शब्दविशेष, यत् न रचयत, कम्पश्च यत् न प्राप्नुत, बाणपतनक्षणे एव मरणेन दुःसानुभवसमयाभावात् सीत्कारकम्पासम्भव इदमुद्यितया मुक्तबाणस्य दुर्निर्गतत्वाभावात् सीत्कारकम्पासम्भवश्चेति भावः, किञ्च मुक्तयो एकत्र-ससारात्, अन्यत्र-चापारब्धेति भावः, उभयो परशरयो, यत् न पुनर्निवृत्तिः पुनर्जन्म इत्यागमनञ्च, जागर्ति तत् सर्वं युक्तं तयोरेव समानधर्मत्वात् इति भावः, किन्तु तत्र तयो मध्ये, एकोऽरिसङ्घः, मित्र सूर्यम्, भिनत्ति, अपर शरश्च, अमित्र शत्रु, भिनत्ति इति अदभुतम्, अत्र अमित्र भिनत्तीत्युक्त्या मित्र न भिनत्तीति च प्रतीयते असूर्यम्पश्येतिवत् नञ् प्रसज्यप्रतिषेधार्थकत्वात्, इत्थञ्च मुख्यकर्मणोस्तयोर्मित्रभेद-मित्रभेदाभावरूपविरुद्धकर्मकारित्वाददभुतम् । 'द्वावेतौ पुर्यौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ । परिधाद्योगयुक्श्च रणे चाभिमुखौ हतः' इति स्मृतेः । मित्रपदेन सूर्यमण्डलभेदनस्य वीरपुरुषाद्यत्त्वेन सम्भवात् अमित्रपदेन च शत्रून् भिनत्तीत्यविरोधात् विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ९८ ॥

इस राजाके युद्धमें (अथवा—युद्धमें इस राजाके) सम्मुख गिरते हुए शत्रु-समूह तथा बाण (अथवा—इस राजाके सम्मुख गिरता हुआ शत्रु-समूह तथा शत्रु-समूहके सम्मुख गिरता हुआ इसका बाण) सीत्कार (दुःखजन्य 'सी-सी' ध्वनि, पक्षा०—पक्षसे उत्पन्न ध्वनि) नहीं करते तथा कम्पित नहीं होते (डरते नहीं, पक्षा०—दिलसे-झेलते नहीं, अपितु वेगसे सीधे चले जाते हैं), फिर नहीं लौटनेवाले (युद्धमें शत्रु द्वारा मारे जानेके कारण ससारमें पुनर्जन्म नहीं पानेवाले, पक्षा०—धनुषसे फेंके जानेपर फिर बापस नहीं आनेवाले) तथा मुक्त (ससार त्यागकर मुक्तिको प्राप्त, पक्षा०—धनुषसे फेंके गये) उन दोनोंको यह उचिit ही है, किन्तु उनमें अर्थात् शत्रु-समूह तथा बाणमें एक (शत्रु-समूह) मित्र अर्थात् सूर्यका भेदन करता है तथा दूसरा (बाण) अमित्र अर्थात् शत्रुका भेदन करता है (पक्षा०—सूर्यका भेदन नहीं करना) यह आश्चर्य है । [युद्धमें शत्रुके भयमें सीत्कार एवं कम्पन न कर वीरगति प्राप्त करनेवाले योद्धाका सूर्यमण्डल-भेदनकर कर्ण्य लोकमें जाना एवं पुनर्जन्म नहीं लेना शास्त्रवचनोंसे प्रमाणित है । इदमुद्यि होकर

छोटा गया बाग न कम्पित होता है और न ध्वनि ही करता है, अनप्ययद् रात्रा दृढ मुष्टि होकर बाग छोटा है, जिसने शत्रु समूह तत्काल भर जाता है और उसे 'सी-सी' शब्द करने या कम्पित होनेका अवसर तक नही मिलता । शूचीर यह मगधनरेश बुद्धने शत्रु-समूहको एक प्रहारमें ही मार टाँसा है] ॥ ९८ ॥

धूलीभिरिवमन्धयन् वधिरयन्नागा सुराणा रवै-
र्वात सन्निरसञ्जयन् जपजयै स्तोतृन् गुणैर्मूक्यन् ।

धर्माशोधनसन्नियुक्तजगता राजाऽमुनाऽधिष्ठित

मान्द्रोत्फालमिपात् विगायति पद्म स्पन्दुतुरङ्गोऽपि गाम ॥ ९९ ॥

धूलीभिरिति । सयति बुद्धे, सुराणा धूलीभि दिवम् अन्धयन् अन्तरिक्षचारिणा हृष्टी प्रतिबध्नन्निर्णयं, रवै शब्दे, सुराणामेवेति शेष, आशा विश, तत्रयान् प्रागिन इत्यर्थ, वधिरयन् वधिरिभुवन्, जपजयै वंगजयै करणे इत्यर्थ, अनिला मामिति भाव, वात वायु, सञ्जयन् पङ्क्त्युत्थं, वायोरप्यधिकवेग इत्यर्थ, गुणं दयाव्रातिष्णादिभि गुणममूहै, स्तोतृन् मूक्यन् मूकीभुवन्, गुणाधिकतया स्तोतु मशय इत्यर्थ, धर्माशोधनसन्नियुक्तजगता जगतो धर्मैकसाधनकारिणा, अमुना राजा अधिष्ठित आरूढ, तुरगोऽपि अश्वोऽपि, सान्द्रोत्फालमिपात् वेगातिशयत्वात् निरन्तरम् ऊर्ध्वधरणनिक्षेपव्याजात्, पद्म एकैनापि चरणेन, इति वेगातिशयोक्ति गा भुव धेनुञ्च, स्पन्दु विगायति निन्दति, न स्पृशति इति यावन्, 'गोत्राक्षगानलान् भूमिं नोच्छिद्य न पद्म स्पृशेत्' इति निषेधात् अथ राजा पापकारिण उदासीनानपि दण्डयति अत अहमस्य बाहको भूत्वा यदि पद्म गोस्पर्शरूप पाप कुर्या तदा अहमपि दण्डनीय स्यामिति बुद्धया एतर्द्विषाम् पद्म भुव न स्पृशतीवेति भाव । अथ राजा धार्मिको जवनाश्रयाली चेति तात्पर्यम् ॥ ९९ ॥

बुद्धने धूर्तियोंमें आकाशको अथा (आकाशमें चढ़नेवालोंको दर्शनासनर्थ) करण राजा, शूरीको ध्वनिमें दिनाओं (न रहनेवालों) को बहुरा करना हुआ, तीव्र वेग (गति) से बाहुको भा लगटा करता हुआ अर्थात् बाहुमें भी अधिक तीव्रगतिवाला तथा शूरी (शालिवाहन शास्त्रोक्त शुभ लक्षणों) से प्रशंसा करनेवालोंको (मित्र शुभ लक्षणोंके बर्तन करनेमें असमर्थ होनेमें) मूक करना हुआ धर्माचरणमें समारको सन्मक् प्रकारने लगानेवाले इस राजसे अनिष्ठित (सहारी किंवा गया पशु भी) छोटा अप्यधिक उठने के व्यापनमें (एक) पैरसे भी पृथ्वी (पृष्ठा०—भी) का स्पर्श करनेमें (अथवा) निन्दा मानना है । [धर्माचरण नहीं करनेवालोंको यह राजा दण्डित करना है, अनप्य यदि मैं एक पैरसे भी पृथ्वी (पृष्ठा०—पृथ्वी) का स्पर्श करता हूँ तो यह मुझे भी कठोर दण्ट देगा इस भयसे उक्त थोटा वेमा नहीं करता (पृष्ठा०—इतनी तीव्र गतिमें चलना है कि एक पैरसे भी पृथ्वी का स्पर्श करता हुआ नहीं प्रतीत होता) । धार्मिक इस राजने समस्त प्राणियोंको धर्माचरणमें लया दिया] ॥ ९९ ॥

एतेनोत्कृत्तकण्ठप्रतिमुभटनटारब्धनाट्यादुभुताना
कष्ट द्रष्टव्यं नाभूत् भुवि समरसमालोकिलोकास्पदेऽपि ।
अश्वैरस्वैरवेगै कृतसुरसुरलीमङ्क्षुमङ्क्षुभ्यमाण-
क्षमापृष्ठोत्तिष्ठन्धङ्करणरणधुराणधुराणधाराब्धकारात् ॥ १०० ॥

एतेनेति । समरसमालोकिलोकास्पदे युद्धप्रेक्षकजनालयेऽपि, भुवि युद्धभूमौ,
अश्वैरवेगै अमन्दवेगै, 'मन्दस्वरद्वन्द्वयो स्वैर' इत्यमर, अश्वै कृताभि सुरसुर
लीभि सुरसञ्चारै, मङ्क्षु सपदि, 'त्राह्ममङ्क्षु सपदि दत्ते' इत्यमर, सङ्क्षुभ्यमाणाव
सङ्क्षुर्णमानात्, क्षमापृष्ठात् भूतलात्, उत्तिष्ठनाम् उत्पनताम्, अन्धा क्रियन्ते
एभिरित्य-धङ्करणा दृष्टिभक्तिरोधित तेषाम्, 'अन्धसुभग—' इत्यादिना ययुन्—
प्रत्यय रणस्य युद्धक्षेत्रस्य, पूरय रणधुरा, 'ऋक्पू—' इत्यादिना समाप्तम् ।
तस्या रेणुना धूर्ताना धारा मन्तति सैवान्धकार तस्माद्धेतो, एतेन राज्ञा, उ-
त्कृ-
त्कण्ठे द्विन्तकण्ठे, प्रतिमुभटै परवीरै एव, नटैर्नर्तकै, कथन्धङ्करिति यावत्,
आरब्धानाम् आचरितानां, नाट्याङ्गतानां, विस्मयावहनाटकप्रबन्धानाम् इत्यर्थं
द्रष्टव्यं दर्शक एव न अभूत् दष्टु न समर्थ एव इत्यर्थ, कष्टम् एतद्दुःखकरम् ॥ १०० ॥

युद्ध—दर्शकोंके स्थानभूत पृथ्वापर (अथवा—पृथ्वीपर तारा युद्धदर्शक (देव)—ममूह
स्थान अर्थात् स्वर्ग में) गीमगति घोड़ोंके सुरोंके बार बार रखनेसे शीघ्र सञ्चालित होने
हुए भूतलमें लटने हुए अन्धा (दर्शन शक्ति नष्ट) करनेवाली धूलियोंके समूहसे उत्पन्न
अन्धकारसे इस (राजा) के द्वारा बाटे गये कण्ठवाले शत्रु योद्धारूप नटोंके द्वारा प्राग्भ
विमें गये विचित्र मृत्यु अर्थात् घटके नाचनेको देखने वाला ही नहीं हुआ । [इस राजाके
घोड़ोंके सुरसे इनका अधिक धूल उड़ी कि उससे भूतल तथा आकाशमें अन्धकार हो
गानेसे युद्धभूमिमें इसके शत्रुओंके नाचते हुए घटको कीर भी नहीं देख सका] ॥ १०० ॥

उन्मीलन्लीलानीलोत्पलवलदलनामोद्भेदस्त्रिपूर-
क्रोडक्रीटद्विजालीगरदुदितमरुत्स्फालराचालनीचि ।
एतेनारात्रानि शास्त्रानिग्रहनग्रहरित्पर्णपूणद्रुमाली-

व्यालीढोपान्तशान्तव्यथपथिवदृशा दत्तरागस्नग्नाग ॥ १०१ ॥

उन्मीलदिति । उन्मीलवलीलाना स्फुरद्विजासाना, नीलोत्पलदलाना दलनेन
मिरासेन, य आमोदस्तेन भेदस्त्विनि परिपुष्टे, तद्बहुले इत्यर्थ, पूरक्रोडे जलरासे
उत्पन्ने मीदन्तीना द्विजालीना पक्षिगणाना, गरदुदितस्य पक्षोत्थस्य, मरुत वायो
स्फालेन आस्फालनेन, वाचाल मुपर, चीचि तरङ्ग यस्य स, शास्त्रानिवहेन
नवैर्हरिभि हरितै नीलपीतमिश्रितपर्णित्यर्थ, पर्ण पत्रे, पूर्णाभि द्रुमालीभि
तरुश्रेणीभिः, व्यालीढे व्याप्त, उपान्ते समीपवर्तिनरप्रदेशे शान्तव्यथाना

शमितसन्तापाना, पथिकदशा, दचरागो जनिताह्लाद तडाग एतेन राज्ञा, अस्मानि निव्वामित इति अस्य धर्मकार्येषु अनुराग सूचित ॥ १०१ ॥

इस (मगधनरेश) ने स्फुरित बिलासवाने नीलकमलोंके दलोंके फूलने (विकसित होने) से उत्पन्न सुगन्धिसे परिपूर्ण प्रवाहने ऊपर मोटा करनेवाले पक्षि समूह के पक्षोंसे उत्पन्न वायुके स्फालन (तीव्र स्पर्श) से ध्वनितुक तरङ्गोंवाला तथा शाखा—समूहके नये प्रवहरे पक्षों से परिपूर्ण वृक्ष—समूहों से व्याप्त पादप भागमे शान्त श्रमवात पथिकोंकी दृष्टिको अनुरक्त करनेवाला तडाग खोदा है । [इसका बनबाया हुआ तडाग नीलकण्ठ एव कीटाशील पक्षियों तथा हरे भरे वृक्षोंमे व्याप्त होनेमे शान्त पथिकोंके श्रमको (सुगन्धि जल, पक्षियोंके कण्ठ, शान्तवायु तथा हरे भरे पेशोंकी छायासे) दूर करनेवाला है । इस मगधेश्वरने बैसा मटाग खुदवाकर पुनर्धर्मका प्रारम्भ किया ह] ॥ १०१ ॥

वृद्धो वाद्विरसा तरङ्गचलिभ बिभ्रद्वपु पाण्डुर

हन्मालीपलिनेन यष्टिकलितस्तात्रद्रयोवहिमा ।

विभ्रच्चन्द्रिकया च क त्रिकचया योग्यस्फुरत्सङ्गत

स्थाने स्नानविधायिधार्मिकशिरोनग्याऽप नित्यादृत ॥१०२॥

पुनस्तडागमेव वर्णयति वृद्ध इति । तरङ्गचलिभ, यलियुक्त, 'तुन्दिरलियटेर्म' इति मत्त्वर्थाद्यो भ-प्रत्यय, हसालयेव पलित शुक्लकेशाश्च तेन, 'पलित जरसा शौक्ल्य केशादौ' इत्यमर, पाण्डुर शुभ्र, वपुर्बिभ्रत्, यष्टि प्रगालीस्तम्भ, जलपरिमाणार्थं जलमध्ये निक्षिप्तस्तम्भरूपा या, अत्रलम्बनदण्डरश्च, तथा कलितोऽवष्टम्भ, तावान् यष्टिसङ्घातान्, यष्टरा अनुमितश्चेत्यर्थ, वयोवहिमा पञ्चबाहुल्य, वयोवाहुल्यञ्च यस्य स, 'प्रयस्थिर-' इत्यादिना बहुलशब्दस्य वहादेश । 'प्रगालात्पाद्विनोर्बय' इत्यमर । त्रिकचया स्फुटया, विलुप्तकेशया च, चन्द्रिकया ज्योत्स्नया, शिरारोगविशेषेण च, सह योग्य स्फुरच्च सङ्गत मन्त्रग्यो यस्य तत्, एकत्र—तामहशनिर्मलम्, अन्यत्र—नदयुक्तञ्चेत्यर्थ, क जल, शिरश्च, विभ्रत् स्नानविधायिना स्नानाश्रुष्टातृणा, धार्मिकाणा धर्मचारिणाञ्च, स्त्रीपुमाभिति शेष, धर्म चरतीति टर् शिरसा नत्या नमनेनापि, निमज्जनेन नमस्कारेण चेत्यर्थ, नित्यमादृतोऽसौ अथ चार् चारि धीयते अस्मिन्निति वाद्धि तटाग, वृद्ध स्थविरोऽतिपूर्णश्च, स्थाने युक्तम्, 'युक्ते द्वे साम्प्रत स्थाने' इत्यमर । रूपकालङ्कार ॥ १०२ ॥

तरङ्गों से बलियों (पक्षा०—नररूप बलियों अर्थात् वृद्धावस्थाके कारण सिङ्गुडे हुए चर्मों) वाले तथा श्रम-समूहरूप पलित (पके हुए बाल पक्षा०—श्रम-समूहके समान पके हुए बालों) वाले श्वेत कटोर (पक्षा०—प्रवाह) की धारण करना हुआ यष्टि (तडाग खुदवानेवाले इस राजाके वंशादि परिचायक बौद्धि स्तम्भ, पक्षा०—मशाराके लिए ली हुई छडी) से युक्त, बहुत-सी पक्षियों (पक्षा० बहुत अवस्था लब्धी उन्न, अथवा—

कुमार युवा आदि अनेक अवस्थाओं) बाला, विकसित (पक्षा०—केसरदित) चन्द्रिका (चादनी पक्षा०—खत्वाटपना अर्थात् चण्डुलपता) से योग्य विलसित सगत (मैत्री) बाले (समुद्रसे उत्पन्न चन्द्रकी चादनीमे समुद्रका योग्य सद्गत होना उचित ही है) बल (पक्षा०—मस्तक) को धारण करना हुआ और स्नान करनेवाले धर्मात्माओंसे (स्नान करनेके समय डुबको छाननेके लिए) मस्तक झुकानेसे (अथवा—नमस्कार करनेसे) सबदा आदर पाया हुआ बृद्ध (बड़ा हुआ अर्थात् विशाल, पक्षा०—बूढ़ा) यह (इस राजाका खुदवाया हुआ उक्त) तडाग (पक्षा० समुद्र) है । [विम प्रकार सिद्ध हो चुका है कि बमडेवाला पक्ष इवेत बालोंसे युक्त शरीरवाला, सत्तारेके लिए छटी लिया हुआ, अधिक उन्नतवाला केशरदित खत्वाटपनाने युक्त मस्तकवाला बूढ़ा मनुष्य धर्मात्मा पुरुषोंके द्वारा नमस्कार करनेसे सदा आदर पाता है, वसी प्रकार देवे सरङ्गोवाला, इस-समूहसे इवेत प्रवाहरूप शरीरवाला, खुदवानेवाले इस राजाके वशादि-परिचायक कीर्तिस्मभ (जाठ) बाला, बहुत पक्षियों बाला, इवेत चादनीके समान निर्मल जलवाला (अथवा—इवेत चादनीसे चञ्चल जलवाला) और स्नानार्थ धार्मिकोंमे झुककर प्रणाम कर (अथवा—डुबकी लगाने समय मस्तक झुकाकर) सर्वदा आदृत (इस राजाका) विशाल तडाग है । पूर्णिमा तिथिको ही समुद्रके स्पर्श एव उसमे स्नान करनेका शास्त्रीय विधान है, अत एव इस समुद्रकी अपेक्षा भी उक्त तडाग स्नानार्थ भव्य भावसे सर्वदा नमस्कृत होनेके कारण श्रेष्ठ है] ॥ १०२ ॥

तस्मिन्नेतेन यूना सह विहर पय केलिबेलासु बाले ।

नालेनास्तु त्वर्द्धप्रतिफलनमिदा तत्र नीलोत्पलानाम् ।

तत्पाथोदेवताना विशतु तत्र तनुच्छायमेवाधिकारे

तत्फुल्लाम्भोजराजे भवतु च भवदीयाननस्याभिपेक्ष ॥ १०३ ॥

तस्मिन्निनि । बाले । तस्मिन् तडागे, यूना पत्तेन राजा सह, बिहर क्रीडा क्रुह, पय केलिबेलासु जलक्रीडानालेषु, तत्र तडागे, नीलोत्पलाना त्वद्वर्द्धो प्रतिफलनाय प्रतिविम्बनाय, मिदा भेद, 'पिन्निदादिभ्योऽङ्' बालेनास्तु नालमेव त्वन्नेत्रप्रतिविम्बमहानीलोत्पलाना भेदकमस्तु इत्यर्थ, तत्र तनो छाया तनुच्छाय कायकाति, शरीरप्रतिविम्ब वा, 'विभाषा सेना—' इत्यादिना नपुसकत्वम्, तस्य तडागस्य, पाथोदेवताना जलदेवतानाम्, अधिकारे आधिपत्ये, विशतु आधिपत्य करोतु इत्यर्थ, भवदीयाननस्य तस्य तडागस्य, फुल्लाम्भोजाना विकचपद्माना, राज्य आधिपत्ये, अभिपेक्ष भवतु, त्वन्नेत्रादिक तदीयोत्पलादिकम् अतिशय्य वक्ष्यते इत्यर्थ ॥ १०३ ॥

ह बाले (दमयन्ति) । उस तडागमें इस युवक (मगधेश्वर) के साथ विहार करो तथा उसमें बलवानोंके समर्थों अर्थात् प्रत्येक श्रेष्ठ ऋतुमें नीलकमलोंके नाल (दण्ड) । तद्दारे नेत्रोंके प्रतिविम्बमे भेद हो (नीलकमलोंमें नाल होनेसे तथा तुम्हारे नेत्रोंमें उसके

नहीं होनेसे भेद बना रहे अर्थात् नील कमल एवं तुम्हारे नेत्रोंके समान होनेपर भी तुम्हारे नेत्रोंके जलमें प्रतिबिम्ब होनेपर नील कमलोंमें नाल रहनेसे दोनों पृथक्-पृथक् मालूम पड़ें), उस (तडाग) की जलदेवताओंके अधिकार (व्यापार या स्वामित्व) में तुम्हारे शरीरके प्रतिबिम्ब का हो अर्थात् उस तडागके जलमें प्रतिबिम्बित तुम्हारा शरीर उसके जलदेवताओंके समान प्राप्त हो और उस (तडाग) के विकसित कमलोंके समूह (पद्म-स्वामित्व) में तुम्हारे मुखका अभिषेक हो अर्थात् तुम्हारा मुख उसमें विकसित कमलोंमें अनिशय सुन्दर पद्म सुगन्धित होने के कारण उन कमलोंका राजा बने। [तुम्हारे नेत्र, शरीर तथा मुख क्रमशः नील कमल, जलदेवता तथा विकसित कमलोंसे भी अधिक श्रेष्ठ हैं] ॥ १०३ ॥

एतत्कीर्त्तिविवर्त्तधौतनिर्मिलत्रैलोक्यनिर्धामिन-

विश्रान्ति कलिना कथासु जग्ना श्यामै ममग्रैरपि ।

जज्ञे कीर्त्तिमयाहो । भयभरैरस्मादकीर्त्ते पुन

सा यन्नास्य कथापथेऽपि मलिनच्छाया बध्नन् स्थितिम् ॥ १०४ ॥

एतद्दिनि । एतस्य राज्ञः, कीर्त्तिविवर्त्तं यज्ञोविस्तारं, धौतात् कालितात्, निर्मिलत्रैलोक्यात् निर्वासितं निष्कासितं, ममग्रैः समस्तैरपि, श्यामैः श्यामवस्तुभिः, जग्ना बृद्धानां, पुरपाणामिति शेषः, 'प्रवया स्थविरो बृद्धो जीनो जीनो जग्मपि' इत्यमरः । 'जीर्यतेरतृन्' इत्यतृन्-प्रत्ययः कथासु विश्रान्ति अवस्थानः, कलिना स्वीकृता, एतद्विशेषात् तथा श्यामवस्तुजान् प्राचीनजनानां कथमात्रेषु शेषमासादित्यर्थः, अकीर्त्ते अपकीर्त्ते, पुनः कीर्त्तिमयाव कीर्त्यात्मकात्, अस्मान्मृपात्, भयभरं भयराशिभिः, जज्ञे जातः, भावे लिट् कर्त्तर्येकीर्योर्विरोधेन अकीर्त्तिं कीर्त्तिमयान् अस्मात् सुतराम् अभेदीकृत्यर्थः, कुतः ? यत् यस्मान्, मलिनच्छाया सा अकीर्त्तिः, अस्य कथापथेऽपि एतत्प्रसङ्गान्धिमार्गोऽपि, स्थिति न यदन्ध अवस्थिति न प्राप, अकीर्त्तिलेशोऽप्यस्य नास्तीत्यर्थः, यत एतत्कथोदयं अकीर्त्तिकथाऽपि न श्रूयते इति भावः ॥ १०४ ॥

इस (मगधेश्वर) की कीर्तिके विवर्त्त (विशेष स्थिति या परिणाम) से धोये गये तोनों लोकोंम निजाले गये, समारके सब इनाम (काले वाँचान् कल्ल आदि) पदार्थ बृद्धजनोंकी कथाओंमें विश्रान्ति या लिये अर्थात् बटे बूढ़ोंके कदनेमें लगेकोंको ज्ञान होता था कि पढ़ते समारमें काले पदार्थ भी थे, किन्तु वर्त्तमान समयमें कोई काला पदार्थ नहीं रह गया तथा कीर्तिबहुल अर्थात् महानीतिमान् इस राजाके अकीर्तिको अत्यधिक भर हो गया (बहुत कीर्तिवालेने एक कीर्तिका भय होना उचित ही है), क्योंकि भग्न कान्तिवाली वह (अकीर्ति) इस (मगधनरेश) के कथामार्ग (वर्णन-प्रसङ्ग) में भी आत्रय नहीं पाती यह आश्चर्य है अर्थात् हमके वाँचके समयमें अकीर्तिके सर्वथा अभाव होनेमें कीर्तिका ही वाँच

किया जाय है । [लोकमें भी जो जिसमें अधिक डरना है, वह उसके वर्णनके आरम्भमें ही मलिनमुख होकर अग्नय चला जाता है, अतः अबीनि भी इसके वर्णनके आरम्भमें ही नहीं मुनाची पटनी । अधिकमान भा शशशृङ्ग, आकाशपुष्प, बन्ध्यासुत आदिवा शब्दमें वर्णन किया जाता है, किन्तु इससे वर्णनमें भी अबीनिकी चर्चा तक नहीं होता यह आश्चर्य है । अथवा—तीनों लोकोंका घोया जाकर देवेन होना तथा अचेतन भी अबीनिकी भय उपज होना आश्चर्य है] १०४ ॥

अधावदङ्गाममुनेर्द्विनान् मरुती जनैरकीर्त्तिर्यदि वाऽस्य नेष्यते ।

मयाऽपि मा तत् खलु नेष्यते पर ममाथव पूरतमालग्नहिताम् ॥

अथेति । अथ सखी भीममुताया इतितात् अनभिमतसूचकचेष्टित परिज्ञाय, अवदत्, किम् ? इत्याह, अस्य अकीर्त्तिर्जनेनेष्यते नाङ्गाक्रियते, इषे कर्मणि लट्, यदि वा तत्तर्हि, मया मा एतदकीर्त्ति, सभाया अथ पूर कर्गावतस, या तमालवहिता ना, पर भृश नेष्यते अपि ? परन्तु प्रापयिष्यते खलु, नयते कर्मणि लृट् अहमस्य अपकीर्त्ति सभाया श्रावयिष्यामि इत्यर्थ ॥ १०५ ॥

इस (मरुतग्री देवाके पुत्रः (१२।८८—१०४) वर्णन करने) क बाद नामकुमारी (दमयन्ती) की चेष्टा (इशारा—सङ्केत) से सुनाने कदा—एतत् यदि इसकी अकीर्त्ति नहीं चाहते तो मैं भी उस अकीर्त्तिकी सभायज्ञोके गुणभरणकी तमालवर्तिके भाव प्राप्त करती हूँ अर्थात् इस राजाकी स्तुति सवासदीक्षा सुनाना हूँ । (अथवा—मैं मा उसे (इसकी अकीर्त्तिको) नहीं चाहता, किन्तु सभायज्ञोके) ॥ १०५ ॥

अस्य क्षोणिपते परार्द्धपरया लक्ष्मीकृता मङ्गलपया

प्रज्ञाचक्षुरेक्ष्यमाणनिर्मिरप्रक्षया स्मिताकीर्त्तय ।

गीयन्त ग्जरमष्टम क्लृप्तयता जातेन घन्ध्यादरान्

मूकाना प्रकरेण धूर्मरमणीदुग्धोदधे गोधामि ॥ १०६ ॥

इत्य धावयति, अस्मेति । परार्द्धं धरमा यङ्गया, ततोऽपि परया अधिक्रिया, मङ्गलपया लक्ष्मीकृता विषयाकृता, तत्सङ्ख्याता इत्यर्थ, प्रज्ञैव चक्षुर्येषा ते प्रज्ञाचक्षुषो आत्यन्धा, तेरेवक्ष्यमाण नद्रेकशब्द, यत्तिमिर नक्षत्रा तत्सङ्ख्याता, अनिकृष्णा इत्यर्थ, अस्य क्षोणिपते अकीर्त्तय अष्टम स्वर निपादादिमत्स्वरात् अतिरिक्त्वा स्वर, क्लृप्तयता प्रयुक्तानेन, घन्ध्याया अनपयाया, उदरात् जातेन मूकाना प्रकरेण मष्टेन, धूर्मरमणीना कर्मक्षणा, दुग्धानि क्षीराणि, तेषामुदधे अक्षे, रोधमि तीरे, गीयन्ते किल, तत् कथ जननार्थं गीयन्ते इत्यर्थ, एतेनाम्य अकीर्त्तय सन्ति जनैरपि श्रुता इत्यर्थ प्रथम प्रतीयते पर्यवसाने तु सङ्ख्यादीना परार्द्धपर्यादि कथया अलीक तथा एतस्याकीर्त्तयोऽपि सङ्ख्यादिबत् अलीका इति स्तुतिरेव गम्यते । अत्र निन्दया स्तुतिप्रतीतिर्याजस्तुतिमैदालद्वार ॥ १०६ ॥

परार्थ (अग्निम सद्गया । से भी अधिक सद्गयामे लक्षित अर्थात् गिनी गयी (अथवा लारमे गिनी गयी), जन्ममे अथे लोगोमे देखे जाने हुए अन्धकारके तुल्य अर्थात् अत्यन्त काली, इस मगधेश्वरकी अकीर्णिकी अष्टम स्वर (षट्त्र, मायम आदि सात ही स्वरोंसे होनेपर भी अष्टम स्वर) को ग्रहण किये हुए, बन्ध्याकी उदरसे उत्पन्न मूर्खों (गूनेलोगों) के समूह कच्छपीके दूधके समुद्रके तीरपर गाने हैं । [जिस प्रकार परार्थसे अधिक सद्गया, ज माधोकी दर्शनशक्ति, अष्टम स्वर, बन्ध्याके गर्भमे बच्चेकी उत्पत्ति, मूर्खोंका गाना, कच्छपीका दूध—ये सब सर्वथा असम्भव हैं, उमी प्रकार इस राजाकी अकीर्णिका होना भी सर्वथा असम्भव है, अतएव यह महाकीर्तिमान् है । अथवा—‘किण्वकीर्णय’ यद्वापर ‘किण्व + भाकांय’ सन्विच्छेद करके इस राजाकी आकीर्णि (समन्नात् व्याप्त कीर्ति) को उक्त प्रकारसे गाया करते हैं अर्थात् उन परार्थसे अधिक सद्गया आदिके सर्वथा नहीं होनेके समान इस राजाकी समन्नात् (सब तरफ) व्याप्त कीर्ति भी नहीं है, अतः यह राजा कीर्तिमान् नहीं होनेसे स्वामिनी दमयन्तीके वरण करने योग्य नहीं है] ॥ १०६ ॥

तदश्चरै नस्मिन्नस्मिन्नानना निर्णय तामीश्वरभङ्गिभि सभाम् ।

इहास्य हास्य किमभून्न वेति त विदमंजा भूपमपि न्यभालयन् ॥१०७॥

तन्निति । विदमंजा वैदर्भी तस्या सख्या, अक्षरैर्यन्त्रमे अक्षरैर्विधिरूपे पर्यवसाने तु निषेधरूपैर्बाक्यै, नस्मितानि हास्ययुक्तानि, त्रिम्मितानि च इति विरोध, आश्चर्यरसयुक्तानीति तत्परिहार, जाननानि यस्यान्तादृशीं, ता सनाम् ईक्षणभन्निर्मिष्टविशेषे, निर्णय मस्पृह इष्ट्वा, इह एतद्वाक्यं, अस्य कीर्तेश्वर स्यापि, हास्य स्मितम्, अभूत् किम् ? न वा अभूत् इति न भूपम् अपि न्यभालयत् आलोकयत् ॥ १०७ ॥

दमय गीते उम सखाके, बचनोंसे म्मिगसहित आश्चर्यिन मुखवाली उम समा अर्थात् मुखवाले उम समाके सदस्योंकी दृष्टि भङ्गियोंमे अच्छी तरह पानकर अर्थात् बार बार देखकर इस समामे ‘इम (मगधनरेश) को भी हमी आसी या नहीं’ इस विचारमे उस राजा (मगधनरेश) को भी देख लिया । [सखीके वैसी विचित्र बात कहनेपर ममामद गा आश्चर्यमे मुस्तुरा दिवे, उम्हें देखती हुई दमयन्तीने उम राजाको भी इस विचारमे देखा कि ऐसी विचित्र बात सुनकर भी अन्य समामदोंके समान इस राजाको भी हसी आसी या नहीं ? किन्तु अनुरागमे नहीं देखा । इस दृष्टिकर्मे स्निग्धमदिन मुखवाली विस्मित अर्थात् स्मितरहित मुखवाला होना विरह है, अतः ‘विस्मिन’ शब्दका ‘आश्चर्य’ अर्थ करके उक्त विरोधका परिहार करना चाहिये] ॥ १०७ ॥

नलान्यवीक्षा विदधे दमस्यसु कनीनिकाऽऽग सलु नीलमालय ।

चकार सेरा शुचिरक्तोचिता मिलन्नपाङ्ग सजिवे तु नेपथे ॥ १०८ ॥

कीर्तेश्वराद्यवलोकनात् दमयन्त्या पातिव्रत्यभङ्ग परिहरति, नलेति । खलु

यस्मात्, दमस्वसु दमयन्त्या, कनीनिका तारका, 'तारकाश्च कनीनिका' इत्यमर, नीलिम्बो नैल्यस्य मालिन्यस्य च, आलय आश्रय, अत एव नलादम्यस्य पुम, वीचा वीचुण, 'गुरोश्च हल' इति स्त्रियाम् अ-प्रत्यये टाप्, तदेवागोऽपराध पापञ्च, 'पापापराधयोराग' इत्यमर विदधे, मलिनात्मानो हि मलिनकृत्यमेवा चरन्तीति भाव, अपाङ्गस्तु कटाक्ष पुन सविधे समीपस्थे, नैषधे सत्यनले, मिलन् मसक्त, शुचिरक्त श्वेतरक्तो निर्मलाभुरक्तश्च तस्य भावस्तत्ता तदुचिता सेवा रक्षण, चकार, साधय साध्वेषाचरन्तीति भाव । एतेन कीकटपतावृजुदृष्टिपाताद् नुरागाभावो नैषधे कटाक्षपातादनुरागश्चेति गम्यते, अत एव श्रुजुदृष्ट्या कीकटवीक्षणम् अपि सतीवाक्यनिमित्तस्यानुसन्धानलौक्यात्, अपाङ्गेनान्यदर्शने एव बोध न तु श्रुजुदृष्ट्या हृदयोप ॥ १०८ ॥

मालिमा (नीलापन, पञ्चा०—मलिना) का आश्रय, दमयन्तीकी नेत्रकी पुनलीने नलमे भिन्न रानाका दर्शनरूप अपराध किया (मलिन व्यक्ति मलिन ही कार्य करता है), किन्तु समीपस्थ (द्वितीय पङ्क्तिमें नल्परूपपाती इन्द्रादि चारों देवोंके बादमें अथवा पासमें स्थित) नलमें मिलने हुए कटाक्षने श्वेतिमा तथा रक्तता (सफेदी और लालिमा, पञ्चा०—शुद्धदयता तथा अनुरागयुक्ता) के योग्य सेवा की । [पतिव्रता दमयन्तीने कनकासे अर्थात् अनुरागरहित सामान्य भावसे ही हमारे राजाओंको देखा तथा पामनें स्थित सत्य नलको कटाक्षम अनुरागपूर्णक देखा अतएव परपुरुषदर्शनजन्य दोष दमयन्तीको नहीं लगा । का० (मलिन) कनीनिकाका दुजनोचित मलिन तथा श्वेत एव रक्त (पञ्चा०—शुद्ध हृदय एव अनुरक्त) कटाक्षक नलको ही देखकर सज्जनोचित व्यवहार करना उचित हा ए । लोकमें भा शुद्ध हृदय एव अनुरक्त सेवक योग्य सेवा तथा मलिन हृदयवाला निन्दित कार्य करता है] ॥ १०८ ॥

दृशा नलस्य श्रुतिचुम्बितेपुणा करेऽपि चक्रञ्जलनम्रमार्मुक ।

स्मर पराङ्गैरनुकल्प्य धन्विता जनीमन्द्ग स्वयमार्दयत्तत ॥ १०९ ॥

तदा नलोऽपि ता सानुरागम् अवसत इत्याह, दृशेति । स्वयम् अन्तर्ज्ञोऽन्तरहित, अत एव स्मरो नलस्य दृशा दृष्ट्वैव, कटाक्षरूपयेति भाव, श्रुतिचुम्बिता कर्णाग्रा- कृष्टन, इपुणा करणेन, तथा करेऽपि नलस्यैव करेऽपि, चक्रच्छलेन राजलक्षणचक्र- रेगाद्याजन, नम्र अत्यन्ताकर्पणात् कोटिद्वयसलम्न, मार्मुक कोदण्डो यस्य स, पराङ्ग परस्य नलस्य, अङ्गे दृगादिभि, परकीयमाघनैरेवेत्यर्थ, धन्विता धानुष्क रश्मि, अनुकल्प्य, मुख्याभावे प्रतिनिधिरपि अङ्गत्वेन कल्प्यते इति शास्त्रात् कुश- काशवत् धानुष्कत्वेन सम्पाद्य, ततो जनीं वधूम, आर्दयत् अपीडयत्, दमयन्त्यपि नलकटाक्षेण कामपीडिता अभूदिति तात्पर्यम् ॥ १०९ ॥

स्वयं अनङ्ग अर्थात् अङ्गहीन कामदेव कान्तक स्पर्श करनेवाली अर्थात् विशाल (पक्षा०—धानक सैन्धे हुण) नकली दृष्टिरूपी बाणमे, (तथा नलके ही) हाथमें चक्र (चक्राकार रेखा) रूप भग्न (झुके हुए) धनुषवाला होता हुआ दूसरे (नलके) अङ्गों (नेत्र तथा हाथकी चक्राकार हस्तरेखा) से धनुषपर बनकर बधू (दमयन्ती) को पीड़ित कर दिया । [जिस प्रकार लोकमें किसी वस्तु आदिके अप्राप्य होनेपर उसके स्थानमें दूसरी वस्तुमें काम चलाया जाता है, यथा—कुशके भगवत्में काश से, उसी प्रकार अङ्ग, बाण तथा धनुषसे हीन कामदेवने कमल नलके अङ्ग, दृष्टि तथा करस्थ चक्राकार रेखाके द्वारा अङ्ग, बाण तथा धनुषका अनुकूल्यकर दमयन्तीको पीड़ित किया । नलके देखनेपर दमयन्ती काम-पीड़ित हो गयी] ॥ १०९ ॥

उत्कण्ठका त्रिलम्बदुज्ज्वलपत्रराजिरामोदभागनपरागतराऽतिगौरी ।

रुद्रक्रुधस्तदरिकामधिया नले सा वासार्थितामधृत काञ्चनकेतकी ॥ ११० ॥

उत्कण्ठकेति । उत्कण्ठका उद्धतपुलका, अन्यत्र—उदग्रसूचिका, विलम्बन्तो शोभमाना, उज्ज्वला नीलपीतादिवर्णदीप्ता, कान्तिमती च, पत्रराजि पत्ररचना, अन्यत्र—द्वलपङ्क्ति यस्या सा, आमोद हर्ष, परिमलञ्च भजतीति आमोदभाक् भजो विव । 'आमोदो गन्धहर्षयो' इति विश्व, अतिशयेन अपरागतरा न भवतीत्यनपरागतरा अतिशयानुरागवती अन्यत्र—नास्ति पराग पुं परजो यस्यामिति अपराग, अतिशयेन सा न भवतीति अनपरागतरा अतिशयपरागयुक्ता इत्यर्थ, उभयप्राप्यतिशयार्थे तरप्, गौरी पार्वतीम् अतिकान्ता गुणैरित्यतिगौरी अत्यन्त-गौरवर्णेति शोभयन्नापि योज्यम्, सा दमयन्ती, रुद्रक्रुध रुद्रे महादेवे, क्रुध शापा-धीमत्स्वपरित्यागजन्यक्रोधात्, तदरिकामधिया अथ रुद्रशत्रु काम इति भ्रान्त्या, आगता इति शेष, काञ्चनकेतकीयेत्युपेक्षा, नले वासाधिता स्वयवरेण निवासाना-ल्लाम्, अरुन धनवती, धरते कर्त्तरि लुङ्, स्वरितत्वात्तङ्, दमयन्ती नलाभिला-पुका आसीत् इति तापर्यम् ॥ ११० ॥

कण्ठको (सूची के समान कार्यो, पक्षा०—रोमाञ्चो) से युक्त, विलसित अर्थात् शोभमान श्वेन पद्ममन्दवाली (पक्षा०—शोभमान श्वेन वर्ण या अनेक वर्ण होने से सुन्दर) स्तन कपोलादिमें चन्द्रनादिमें बनाये गये मफरी आदिके आकारवाली (पत्ररचना बाढी), म्बभावण सुगन्धवाली (पक्षा०—चन्द्रनादिके लेपने शरीरमें तथा पान बीडा आदिमें सुगन्धमें सुगन्धवाली) अत्यन्त अनपराग अर्थात् बहुत पराग (पुं पराग) से युक्त (पक्षा०—अत्यधिक बेराम्यमें रहित अर्थात् अनिशय अनुरक्त) और अत्यन्त गौरवर्णवाली (अथवा—पार्वतीको अनिकान्त) उम दमयन्तीने काञ्चनमयी केतकीके समान शिवजीके क्रोधमें नलमें उम (शिवजीके) शत्रुरूप कामदेवकी बुद्धिसे निवास करनेकी इच्छा का अर्थात् वह नलके कदाक्षमें देखनेपर लनमें आसक्त हो गयी । [जिस प्रकार शत्रुके क्रोध करनेपर कोई व्यक्ति उसके शत्रुका आश्रय करता है, वन उत्कण्ठक आदि गुणों से युक्त केतकीने शङ्करजीके

स्था करनेपर उनके सह कामदेवका (पुष्प होनेसे वागरूप होकर) आश्रय किया, उसी प्रकार रोनाश्रादिसे युक्त काष्ठनरैतवीके तुल्य दमयन्तीने नलको ही कामदेव समझकर शिवजीके कोपसे उस नलका ही आश्रय चाहा अर्थात् दमयन्ती नलसक्त हो गयी । अथवा—जिम प्रकार चेतवी शिवजीके क्रोधका निवासरार्थिनी बनी अर्थात् शिवजीका कोप स्थान बनी, उसी प्रकार दमयन्ती भी नलको नलवैरी कामदेव ही नलके सम्बन्धमें मुझे पाहिन कर रहा है इस बुद्धिसे शिवजीके क्रोधका स्थान बन गयी अर्थात् कामदेवपर क्रोधित हो गया । शिवजीके कामदेव तथा केतवीके साथ विरोध होनेकी पौराणिकी कथा पहले लिखी जा चुकी है] ॥ ११० ॥

नन्तालीकनले चलेतरमना साम्यान्मनागत्यभू-

दध्यग्रे चतुर स्थितान्न चतुरा पातु दृशा नैपधान् ।

आनन्दाम्बुनिधौ निमज्ज्य नितरा दूर गता तत्तला-

तङ्गारिभर्वनाज्जनाय ददती पातालकन्याभ्रमम् ॥ १११ ॥

तदिति । सा दमयन्ती तत् तस्मिन्, नाटीकनले अलीकनलो न भवतीति नाटीकनलस्तस्मिन् सत्यनले इत्यर्थ, चलेतरमना अदृष्टवशात् निश्चलचित्ता सती, तत्रैव दृष्टानुरागिणी सतीत्यर्थ, आनन्दाम्बुनिधौ निमज्ज्य नितरा दूर गता आनन्दस्य चरममीमांसा गता, अन्यत्र—समुद्रस्य तल प्राप्ता, तस्य तलस्य अलङ्कारी भवनात् आभरणीभावात्, अन्यत्र—तत्रावस्थानादित्यर्थ, जनाय आलोकयितृजनाय, पातालकन्याभ्रम नागकन्याभ्रम, ददती सौन्दर्यातिशयात् आनन्दानिधायजनित-निमेषरहितत्वात् समुद्रतलगमनाच्च किमिय नागकन्येति बुद्धि जनयन्ती सती अग्रे स्थितानपि चतुरो नैपधान् इन्द्रादिमायानलान्, साम्यात् सत्यनलमादृश्यात्, मना गीपत् अपि, दृशा कटाक्षेण, पातु द्रष्टु, 'शरूषप—' इत्यादिना असत्यर्पयोगात्तुमुन् चतुरा निपुणा, नाभूत्, सा दमयन्ती व्यरहितमपि सत्यनल प्राप्ताददृष्टवशात् कटाक्ष परयति स्म इन्द्रादिमायानलान् सम्मुखस्थान् ऋजुदृष्टैव परयति स्मेति नापर्यम् ॥ १११ ॥

इस सत्य नलमें स्थिर चित्तवाला, आनन्दसमुद्रमें अच्छी तरह डूबकर (अत्यन्त इष्टित होकर) अत्यन्त दूर गया हुई इष्टकी परम सामानो प्राप्त (पश्चात्—आनन्दसमुद्रमें बहुत अगणन-गल्लनें गयी हुई) और उसके तल अर्थात् समुद्रके अगाध तल (पाताल) का अलङ्कार बननेनें लागी (वडाके निवास करनेवालों) के लिए पातालकन्या अर्थात् नागकन्याकी अग्नि उत्पन्न करती हुई चतुरा दमयन्ती सामने बैठे हुए या चार असत्य नल अर्थात् वरुणमें नलका रूप ग्रहण कर स्वदिवरमें सामने बैठे हुए इन्द्र, बरुण, यम और अग्निरूप चारों देवों की छोड़ी दृष्टिनें नी पान करनेके लिए नहीं समर्थ हुए । (अथवा पाठा०—उस

तत् अर्थात् भूतलके अलङ्कार बने हुए उस नन् या इन्द्रादि चारों देव या सनन् सभासदों के लिए पातालकन्याकी आग्नि उत्पन्न करती हुई, अथवा—उस पाताललके अलङ्कार बने हुए शेषनागके लिए पातालकन्याकी आग्नि उत्पन्न करती हुई । अथवा 'तत्रज्ञा०' पा०—उन अमय तलों (इन्द्रादि चारों देवों) के अपने मौन्दयसे अलङ्कार होते हुए सनन् के लिए पातालकन्याकी आग्नि उत्पन्न करती हुई । [दमयन्ती ने अदृष्ट प्रेतावस्था अमय नन् इन्द्रादिको सामान्य दृष्टिने ही देखा तथा सन्धनलको मासुराग देखकर अग्निदास हरिण हुए गदा उमे देखकर स्वस्वरम्य समसर्गोंको या इन्द्रादि देवोंको या नन्को भी 'दन् कन्या है क्या ?' देखा अन हो गया] ॥ १११ ॥

मर्वस्य चैनमस्मा नृपनिरपि नृगे प्रीतिदाय प्रदाय
प्रापत् नृष्टिमिष्टातिथिममरदुरापामपाङ्गेत्तरङ्गान् ।
आनन्दान्ध्रेन वन्ध्यानज्जुत नदपराङ्मृतातान् म रत्या
पन्था पीयूषधाराबलनप्रिचितेनाशुगेनाशु लीट ॥ ११२ ॥

मर्वस्वमिति । नृपनिरपि मायनलोऽपि, चैनमो हृदयस्य मर्वस्व सर्वशतभूता, हृदयान् अनपेनामित्यर्थं, ता दमयन्ती, नृगे स्वधनुषे, प्रीतिदाय पारितोषिकदान, 'दायो दाने यौतुकादिघने वित्ते च पेटुके' इति वैचयन्ती, प्रदाय पूर्वं निरन्तरध्यानेन मनसेव सा साक्षात्कृता, हृदानीं चक्षुषा ता साक्षात्कृत्येति भावः, अमरैरपि दुरारा दुःप्रापाम्, अपाङ्गे उत्तरङ्गा तरङ्गिता, तस्या दमयन्त्या, दृष्टि तच्छास्त्ररूपदृष्टिनेव, इष्टातिथिं प्रियवन्तु, प्रापत् प्रापवान्, स्वयम् तथा कदाचैव वीक्षित इत्यर्थः, अथ म नृप, रत्या कामेन, पीयूषधाराबलनप्रिचितेन अमृतधारानिष्यन्दलितेन, जातुगेन शरीरेण, मतिर्गन्तृदृष्टिरूपेणैवार्थः, आशु लीट विद सन्, आनन्देन आनन्द मोहः, पारवश्यमिति यावत्, तेन, नदपरान् तस्या भेमोदधे, अपरान् प्रथमदृष्टिपानानन्तरभाविनः, आकृतेन पातान् साभिलाषदृष्टिपातान्, वन्ध्यान् अफलां, अज्जुत कृतवान्, प्रथमदृष्टिपानज्जुतानन्दममस्तन्म्यास्तदन्तरदृष्टिपातान् नावलोक्षयामा-मेत्यर्थः ॥ ११२ ॥

राजा (नन्) ने भी हृदय-सर्वस्व उस (दमयन्ती) को दृष्टिके लिए पारितोषिक देकर अथात्र देवदर सामान्य रूपसे देखे जानेके कारण नन्दरूपमें वहाँ बैठे हुए इन्द्रादि देवों (या देवमात्र) ने दुःख अथवा चञ्चल कटाक्ष युक्त वम (दमयन्ती) की दृष्टिरूपी प्रिय अनिर्घिकी प्राप्त किया—यहां नन्के दन्नेके बाद दमयन्तीने फिर दुःखान् नन्के कटाक्षोंमें देगा । (तदनन्तर) रत्नरिणि (कामदेव) के द्वारा (अनिश्वर आनन्दप्रद होनेसे) अमृतधाराव वन् (मुग्धों को कुछ मोहकर देखने) से बनाने (पञ्चा०—अमृतधाराने मि-क्रिये) गये कामे विद (पाठा०—शीघ्र विद) वम (नन्) ने आनन्दवन् अशुसे परिपूर्ण

नेत्र होनेके कारण देखनेमें अशक्त होनेसे उस (दमयन्ती) के द्वारा किये गये अनेक भावोंसे पूर्ण कटाक्षोंको व्यथ कर दिया अर्थात् दमयन्तीके विद्धित मुख फेरकर कटाक्षपूर्वक देखनेसे ही अनृवधारासे आन्दुन नल हर्षाश्रुपूर्ण होकर कामपीडित हो दमयन्तीके सामिप्राय अन्य कटाक्षोंको नहीं देख सके । [अन्य भी कोई व्यक्ति प्रसन्न होकर किसीके लिये हृदयक सन्तुष्टिको पारितोषिकमें दे देता है तथा अमाष्ट अनिष्टको पाकर आनन्दजन्य अश्रुओंसे नेत्रोंको भर लेता है । नलके द्वारा सानुराग देखी गयी दमयन्तीने नलको पुन देखा, जिसने कामपीडित उनके नेत्र हर्षाश्रुसे पूर्ण हो गये अन एक लम्होंमें फिर दमयन्तीके द्वारा सामिप्राय (अनेक भावपूर्ण) किये गये कटाक्षोंको नहीं देखा] ॥ ११२ ॥

श्रीहर्षं षविराजराजिसुकुटालङ्कारहीर सुत
श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवी च यम् ।
तस्य द्वादश एष मातृचरणान्भोजालिमाँलेर्महा-
काव्येऽथ व्यगललस्य चरिते सर्गो निसर्गोऽञ्जल ॥११३॥

श्रीहर्षमिति । मातृचरणान्भोजयो अलिमाँले ऋहापमाणमाँलेरित्यर्थ ॥ ११३ ॥

इति महिनाथविरचिते 'जीवानु' समारचाने द्वादश सर्ग समाप्त ।

कवीश्वर—समूहके उत्पन्न किया, माना (वागीश्वरी देवी, अथवा—जननी मामल देवी ' के चरण—कमलोंमें अमर तुल्य बने हुए मस्तकवाले । (अथवा—मानाके चरणोंमें अग्ने चढाये गये) कमल—समूह उक्त मस्तकवाले अथात् मानाके चरण पर चढाये गये २, मना समूहको मस्तक पर लिये हुए) उसके रचित 'नलचरित' यह द्वादश सर्ग सप्तगोत्रमुत्पद्यवशात् शेष व्याख्या चतुर्थ सर्गके समान समक्षनी चाहिये । स्मेलि

यह 'नगिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का द्वादश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः ।

कल्पद्रुमान् परिमला इव मृङ्गमालामात्माश्रया निखिलनन्दनशास्त्रिभृन्मान् ।
ता राजकादपगमस्य विमानधुर्या निन्युर्नलाकृतिवरानथ पञ्च वीरान् ॥ १ ॥

कल्पद्रुमानिति । अथ नले कटाक्षपातानन्तर, विमानधुर्या शिविकाभृत आ-
त्माश्रयाम् आत्मा स्वम्, आश्रयोऽधिकरणं यस्या ता स्वाधारा, स्ववाहाविमाना
स्थितत्वेन परम्परया धुर्याश्रितामित्यर्थं, ता द्रमयन्ती, परिमला, सौरभविशेषा,
आत्माश्रया स्वोपजीविनी, परिमलाश्रितामित्यर्थं, मृङ्गमाला निखिलात् नन्दनशा-
स्त्रिभृन्मात् अपगमस्य कल्पद्रुमान् पञ्चामरनरुनिव, राजकान् राजसमूहात्, गोत्रो-
त्तोष्टोरभराज-’ इत्यादिना समूहार्थं बुज्, अपगमस्य अपनीय, नलाकृतिधरान् नल
रूपधारिण, यस्य या आकृतिस्नद्धारित्व तस्यापि सम्भवतीति नलस्यापि नलाकृति
धारित्व मङ्गच्छते, पञ्च वीरान् नलसहितान् इन्द्रादीन्, निन्यु प्रापयामासु ॥ १ ॥

जिम प्रकार मनोहर गन्ध स्वोपजीविनी भ्रमरपत्तिको नन्दनरन (इन्द्रोपान) के वृक्ष
मनूहोने इटाकर कल्पद्रुमों (कल्पद्रुम आदि पाच देववृक्षों) के पास ले जाती है, उन्ना
प्रकार विमानवाहक आत्माश्रयिणी (अपने कंधरर स्थित पाचकी पर सवार हुए) उन
(द्रमयन्ती) को राज-समूहमे इटाकर नलके आकार को ग्रहण किये हुए पाच वीरों (इन्द्र
अग्नि, यम, वरुण और नल) के पास ले गये । [मनोभिन्नापके पूरक होनेमे मन्दार,
पारिजात, हरिचन्दन और सन्धान वृक्षोंके लिए भा ‘कल्पद्रुम’ शब्द का ही प्रयोग किया
है । मन्दार, पारिजात, हरिचन्दन, सन्धान और कल्पवृक्ष, ये पाच देववृक्ष ॥ तथा
म नृप, इन्द्रादि चार देव एवं नल, ये पाच वीर हैं । नलके आनेका निश्चय विन्दन
गोन शरेण, सही होनेसे यहां सभीको नलरूपधारी कहा गया है] ॥ १ ॥
पारवर्ष्यमिनाखिलजगज्जनताचरित्रा तत्राधिनाथमधिकृत्य दिवस्तथा मा ।
रभावि यथा म च शचीपतिरभ्यधायि प्राप्ताशि तस्य न च नैषधकायमाया ॥

कृतव्रभाचादिति । अथ पञ्चवीरप्रापगानन्तर साक्षात्कृतम् अखिलजगत्सु जनताया
हेजनसमूहस्य, चरित्र यथा तादृशी, सा सरस्वती, तत्र पञ्चसु मत्से, दिवोऽधिनायम्
इन्द्रम्, अधिकृत्य निर्दिश्य, तथा तन प्रकारेण, उच्चैः उवाच, यथा येन प्रकारेण,
म च शचीपति इन्द्र, अभ्यधायि अभिहितो भवति, तस्य इन्द्रस्य, नैषधकायमाया
नलरूपकल्पना च, न प्राकाशि न प्रकाशिता भवति ॥ २ ॥

सर्गसंसारके जन-समूहके चरित्रका साक्षात्कार करनेवाली उम (सरस्वती देवी) ने
उन (नलाकृतिधारी पाच वीरों) में स्वर्गाधीश (इन्द्र) को लक्षितकर बैसा कहा अर्थात्
वर्णन किया, जिसमे इन्द्र कहे गये अर्थात् इन्द्रका ज्ञान हो गया और उमकी नलके द्वारा
(धारण करने) का कपट प्रकट नहीं हुआ ॥ २ ॥

द्रुम किमस्य वरवर्णिनि । वीरसेनोद्भूतिं विपद्रुतविजित्वरपौरुषस्य ? ।
सेनाचरीभयद्विभाननदानवारिवासेन यम्य जनितासुरभी रणध्री ॥ ३ ॥

अथ लोकपालान् नलञ्च प्रत्येक चतुभि श्लोकैः श्लेषभङ्गवा वर्णयति, द्रुम इत्यादि । वरवर्णिनि । हे उत्तमाङ्गने ! 'उत्तमा वरवर्णिनी' इत्यमर, द्विपत शत्रो, वलस्य बलासुरस्य, अन्यत्र—द्विपतो बलानां, 'बलोऽमुरे बल सैन्ये' इति वैजयन्ती, विजित्वरपौरुषस्य जित्वरपराक्रमस्य, अस्य वरस्य, इन्द्रनलयो सामान्यनिर्देशः, वीरसेनानां पराक्रान्तसैनिकानाम्, उद्भूतिम् उज्जुम्भण शौर्यप्रशान्तनमित्यर्थः, अन्यत्र—वीरसेनात् सदाख्यनृपात्, उद्भूतिम् उत्पत्तिं, किं द्रुम ? कथं वर्णयाम ? यस्य वीरस्य, रणध्री सेनाचरीभवतो सैनिकायमानयो, इमाननदानवार्यो विना पञ्चविष्णवो, वासेनाधिष्ठानेन, जनिता असुराणां भीर्या सा तादृशी, जातेति शेषः । अन्यत्र—सेनाचरीभवता सेनासञ्चारिणाम्, इमाना गजानाम्, आननेषु दानवारीणां मद्भ्रष्टाणां, वामेन वासनया, सुरभि जनिता सुगन्धि कृता । 'दृष्टोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' ॥ ३ ॥

इन्द्रपञ्चमे—हे वरवर्णिनि (उत्तमे दमयन्ति) । शत्रुभूत बल (नामक दैत्य) को जीनेवाला है पुरुषार्थ जिसका ऐसे इसके वीर सेनाओंके विशिष्ट पेश्वर्य (या सामर्थ्य या बाहुल्य) का हम कैसे वर्णन करें (बागमोचर होनेसे उसका वर्णन अशक्य है), जिसकी सेनामें चलने (रहने) वाला गजानन (गणेशजी) तथा दानवारि (विष्णु भगवान्) के रहनेमें अमुरोंसे जो दैवताओंको भय था, उसके क्षेपण (नष्ट होने) से शोभा हो गयी है (अथवा—जिसकी रणभूमिमें शोभा सेनामें चलनेवाले गणेशजी तथा विष्णु भगवान् रहनेमें अमुरोंको भय देनेवाली हो गयी है)

नलपञ्चमे—हे वरवर्णिनि । शत्रुओं की सेना (अथवा—शारीरिक बल), मना बाना है पुरुषार्थ जिसका ऐसे हमकी 'वीरसेन' (नामक राजा) से ग्राह्यमुद्र हम क्या (अथवा—कैसे) वर्णन करें ? (क्यों कि जो स्वयं प्रसिद्ध नहीं रहता है, पृथक्सात् बानं उसके पिता आदि का नाम बतला कर दिया जाता है, परन्तु इस 'नल' केमेति अग्रप्रसिद्ध होनेसे हमके पिता 'वीरसेन' का नाम बतलाकर वर्णन करना व्यर्थ एवं अतुल्य भी है) जिसकी युद्धभूमिमें सेनामें चलनेवाला (अथवा—अचल अर्थात् पर्वतवत् स्थिर रहनेवाला) हाथियोंके मुख के दानव्रलके गन्धमें सुगन्ध युक्त हो गयी है । [इस श्लोकमें लेकर 'अत्याजि—' (१३।२७) के पूर्ववत् इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण का ४-४ श्लोकोंमें बान पढ़ले तथा नलका बान बादमें किया गया है और बहा (१३।२८) से 'कि ते तथा' (१३।३१) तक चारों श्लोकोंमें नलका वर्णन पढ़ले तथा उन्हा ४ श्लोकोंमें से १-१ श्लोकों से

१ 'यौवनोष्मवती शीते शीतस्पर्शा च याऽऽतपे ।

भर्तृभक्ता च या नारी सोच्यते वरवर्णिनी ॥' इति वृद्धा ।

क्रमश इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण का वर्णन बाद में किया गया है । अन्तर्गत 'देव पति' (१३।३४) इस एक इलोकमें ही क्रमश इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण और नल इन पाँचोंका वर्णन किया गया है] ॥ ३ ॥

शुभ्राशुभ्रागणहारिपयोधराङ्गुचुम्ब्रीन्द्रचापस्त्रचित्तमणिप्रभाभि ।

अन्यास्यते समिति चामरवाहिनीभिर्यात्राम् चैष घटत्नाभरणार्चिताभि ॥

शुभ्रेति । एष खीर, इन्द्रनलयो सामान्यनिर्देशोऽपि अत्र इन्द्र इत्यर्थ, शुभ्राशु चन्द्र, स्वस्वदेमो हारा, शणा प्रमया, हरस्यापत्य पुमान् हारि स्वन्द, पयोधराङ्ग-
चुम्बिना मेघोरसमद्भिना, इन्द्रचापेन खचिता मिश्रिता, घुमणिप्रभा सूर्यतेजसि
एव तादृशीभि, बहुरनेक, लाभ शिष्टोक्तविजयादि यस्मिन् तादृशे रणे अर्चिताभि
पूजिताभि, अर्च पूजाया कर्मणि च अमरवाहिनीभि सुरसेनाभि, समिति रणे
च, युद्धक्षेत्रे च इत्यर्थ, यात्रासु रणयात्रासु च, अन्वास्थते अनुगम्यते उपास्थते
च । अन्यत्र तु—एष नल, शुभ्राशुभि उज्ज्वलमयूरी, हारगणै मुक्ताहारजालै,
हारिपयोधराङ्गुचुम्बिभि मनोहरकुक्षोरसमद्भिभि, इन्द्रचापे तत्तुल्यविविधवर्ण
विशिष्टभूषणदासिभिरित्यर्थ खचिता मिश्रिता, घुमणे सूर्यस्य, सूर्यकान्तमणेरी-
त्यर्थ प्रभा यामा तादृशीभि, बहुलै आभरणे अलङ्कारै, अर्चिताभि भूषिताभि,
चामरवाहिनाभि चामरधारिणीभि, समिति सभाया, यात्रासु देवतामहोत्सवेषु
च, अन्वास्थते ॥ ३ ॥

इन्द्रपञ्चमे—युद्धमें तथा यात्राओं (विनासयात्राओं, या दण्डयात्राओं) में चन्द्रमा,
शिवजीके गण (प्रमथ आदि ग्यारह या नन्दी आदि), दिव-पुत्र (स्वन्द या गोश जी)
तथा मेरुके (ग्वानी होने) मध्यवर्ती जो इन्द्र उनके धनुषमें खंचन (मिश्रित या मश्वद)
सूर्य कान्तिवाला तथा बहुत लाभवाल युद्धमें पूजित (अथवा—दैत्य-विजय करनेमें अधिक
कान्तिमें पूजित) देवमना इसके पीछे चली है । (अथवा—युद्धमें शिवजीके गण
का हरण करने (अपने माथ ल चलने) वाले अर्थात् शिवजीके गणन मुक्त १ मेघ ।
अथवा—युद्धमें शिवजीके गणने मनोहर मेघके मध्यगत इन्द्र धनुषमें खंचन ।
अथवा—उक्त प्रकारके इन्द्रधनुषमें अकाशमें वृद्धिद्वारा सूर्यकान्तिवाला । अथवा—युद्ध
में चन्द्र आदि तथा इन्द्रधनुषमें अकाशमें वृद्धिद्वारा) ।

अन्यपञ्चमे—समामें तथा उत्तम मन्वन्विनी यात्राओंमें शुभ कान्तिवाल मुक्ताहारले
सुन्दर वस्त्रधर इन्द्रधनुषचंचन सूर्य प्रभ के समान परमावाला तथा बहुत आभरणोंसे
अलङ्कृत चामरधारण अहनाद इसी सेवा करती है ॥ ४ ॥

भूमीभृत् समिति जिष्णुमप्यथवा जानीति न त्वमघप्रन्तममु कथाद्वान् ।
गुप्त घटप्रतिभटस्तनि । वाहुनत्र नातोक्सेऽतिशयमद्भुतमतदीय । ॥

भूमिति । घटप्रतिभटस्तनि । घटस्य प्रतिमटी प्रतिस्पर्द्धिनी, स्तनी यथास्तथा

भूते, हे घटप्रमिततुचे । समिति सयति, भूमिभूत पर्वतान्, जिष्णु जेतारम् 'न लोका—' इत्यादिना पर्याप्तप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया अव्ययमान पवे वज्रस्य, अपायो यस्य तम् अप-यपाय नित्यवज्रहस्तम्, अमु वीर, कथञ्चित् अपि अमघवन्त मघवत इन्द्रादन्य, न तु जानीहि नव विद्धि, इन्द्रमेवासु विद्धि इत्यर्थः । इन्द्रश्चेद चिमहस्यं क्व गतम् ? तत्राह, पुप्त नलरूपधारणार्थमेव निगूहितम्, अतिशयम् अधभुतम् एतदीयमाहुनेत्र बहुनेत्रत्वम् युगादिस्वादाण्-प्रत्यय नालोकसे न पश्यसि । अन्यत्र तु—समिति भूमिभूतो राज्ञः जिष्णु जेतारम्, अपव्यपायम् अपगत व्यपाय रणात् पलायन यस्य त रणादपलायमानम्, अमु वीर नल, एव कथञ्चिदपि अघवन्त पापवन्त, न जानीहि, पुण्यश्लोक्तत्वादस्येति भावः । गुप्त रक्षितम्, अक्षतम् इत्यर्थः, यद्गुना नेता तस्य भावस्त याहुनेत्र राजाधिराजत्व, पूर्ववद्गुण-प्रत्यय ह दमयन्ति । नालोकसे किम् ? इति पाहु । अन्यत् समानम् ॥ ५ ॥

इन्द्रपक्षमें—'नल' (नामक देव) से बन्वान् (या—श्रेष्ठ बलशाले) इतने अनुग्रह तथा कठोर शरीरवाले और अत्यन्त दूर्युक्त सिंहाँ तथा हाथियोंवाले पर्वतोंके पक्षोंको काटकर आपत्ति रूपी समुद्रमें डूबने हुए समार का उद्धार किया है ।

पौराणिक कथा—पूर्वकालमें पञ्चमहिर् होनेमें उठनेवाले पर्वत जदा बैठते थे, यदा का विशाल भूभाग उनके माथे दबकर नष्ट हो जाय था, अब देशोंको प्रार्थनासे इन्द्रन उन पर्वतों का पक्ष काटकर उह 'अवक' उना दिया और समार को बचा लिया ।

नलपक्षमें—अतिशय बलवान् (अथवा—अधिक सेनावाले) हमने अनुक्रीय अश्व, अनुपम श्वेन घोड़ों को मारनेवाला शरीर (या विरोध) है जिसका पेने तथा अनिशय दूर्युक्त करोड़ों घोड़ों एवं हाथियोंका धारण करनेवाला राजाओंका पक्ष (सहायकों) का नाश करके (शत्रुहर्ता) आपत्ति-समुद्रमें डूबे हुए समारका उद्धार किया है ।

इन्द्रपक्षमें—इ घड़ेके प्रतिद्वंद्वी अथवा समान (विशाल) स्तनोवाली (दमयन्ति) ! तुम सामानमें पर्वतोंके विजयी तथा वज्रके अभावमें रहित अर्थात् सदा वज्र धारण करनेवाले इतने किसी प्रकार इन्द्रविजय मन जानो अथवा इन्द्र ही जानो । ['इस इन्द्रने अपने सख्ख नेश्वरोंको छिरा दिया है, अब उनके इच्छितानुसार नहीं होनेने इन्द्रविजय (नय) मन समझा इस बातको सरस्वती उत्तरार्द्धमें स्पष्ट करती है] विष्णुन (अथवा—नन्दित्योमें नहीं होने वाले, अथवा—अत्यन्त) आदर्यकारी शुभ बहुनेत्रत्व (अथवा—बहुनेत्र-समूह) को नहीं देखती (या—कथञ्चित् नहीं देखती) हा । (अथवा—इसके बहुत नेत्रवाले अतिशयना नहीं देखती हो, यह आश्चर्य है । अथवा—इसके बहुत नेत्रवाला आश्चर्य कारक अनिशयको किसी प्रकार नहीं देखती हो) ।

गटपक्षमें—हे घटके प्रतिद्वंद्वी स्तनोवाली (दमयन्ति) ! तुम युद्धमें शत्रुओंके विजया, (युद्धमें) नहीं मगनेवाले इने किसी प्रकार सरोध मन जानो । इसके सुरक्षित अर्थात् अश्व आदर्य्य बारफ, यदि ह बहुनेत्रत्व (बहुनेत्रोंके नेता होनेके भाव अर्थात् राजाधिराज

भाव) को नहीं देखती हो ? अर्थात् अवश्य ही देखती हो । (अथवा—नहीं देखती हो यह आश्चर्य है अर्थात् अवश्य तुम्हें देखना चाहिये । अथवा—हाथके परिमाणमें अधिक, आश्चर्य कारण (ओढ़ने के कारण) बाहुपर स्थित सूक्ष्मतम वस्त्र को गुप्तरूप (दूसरी वस्तु में दैवदेवके व्याज) से नहीं देखती हो, उसे देखना चाहिये । अथवा—अतिशय (इतना परिमाणमें अधिक) बाहुओं तथा अतिशय ('परस्पर' से अधिक बड़े) नेत्रोंको नहीं । अथवा—अत्यन्त दानशील हाथों (तन्हातियों) वाले बाहुओं तथा हाथों (हस्तहातियों) को अतिक्रमण करने हुए अर्थात् हाथोंसे मा बड़े नेत्रों को' अथवा—अनेकोंके नेत्रोंमें समूह) ॥ ५ ॥

नेत्रा नितम्बिनि । बलाजिभमृद्धराज्यप्राज्योपभोगपिशुना वधने सरागम् ।
एतस्य पाणिचरण तदनेन पत्या साङ्गं शचीव हरिणा मुमुद्वहस्य ॥ ६ ॥

लेखा इति । नितम्बिनि । हे प्रदत्तनितम्बे । प्रदत्तागमिनि बलादीना बलाद्य मुरागा, यानि समृद्धानि राज्यानि तेषां प्राज्योपभोगस्य प्रभूतसुखानुभवस्य, पिशुना पृष्ठा, द्वेष्टार इत्यर्थ, तदसहमाना इति यावत्, लेखा देवा 'अमरा निर्जरा देवा तेषां अदितिनन्दना' इत्यमर । एतस्य वीरस्य, इन्द्रस्येत्यर्थ, पाणिचरण पाणि चरणौ, प्राण्यस्त्रवान्कवज्जाव सरागम्यनुराग, वधने शिरसा धारयन्ति, प्रगमन्तीत्यर्थ, धाज कर्त्तरि छट् छटि बहुवचनम् नत्तस्मात्, अनेक हरिणा देवेन्द्रेण, पत्या साङ्गं शचीव मुदम् उद्वहस्य, शच्या मया ॥ भव यथ, इत्येकोऽर्थः । अन्यस्तु—सरागम् आताम्रम्, एतस्य वीरस्य, नटस्थत्यर्थ पाणिचरण कर्तुं, बलादीनि राज्या ज्ञानि, 'स्वाम्यमायसुहृकोश-राष्ट्रदुर्गखलानि च । राज्याज्ञानि प्रकृतयः—' इत्यमर तै समृद्धस्य राज्यस्य य प्राज्यापभोग तस्य पिशुना लुचका, लेखा चक्र भवजादिरक्षा, वधते दध धारणे इति धातोर्भोशदिकाल्पत् तडधेरुवचनम् तदनेन वीरेण, नलेनेत्यर्थ, पत्या साङ्गं हरिणा शचीव मुदम् उद्वहस्य ॥ ६ ॥

हृत्प्रपञ्चमे—हे विशाल नितम्बोवाले (दमरुनि) । वज्र आदि (वज्र, नमुचि, रज्जु, वाक् आदि देव) के समूह (देववर्गाले) राज्य के विस्तृत उपभोगके दैवी देवलोम इम (इन्द्र) के हाथ पैरों (हस्तावगन्तव्य देकर हाथ तथा कमलार करनेके लिये चरण) का प्रेमपूर्वक धारण करते हैं, जगत् इम इन्द्रके साथ इन्द्राग्रेके समान इत्थं प्राप्त करा अर्थात् इनके माथ बिबाह करके इन्द्राग्रेकी मन्त्री (सात) बनो ।

नलपञ्चमे—रज्जुवर्णयुक्त दमके हाथ-पैर वज्र (स्वामी-मन्त्री आदि राज्याज्ञ, नगर-सेना) से देववर्गालां राज्यके अधिक अर्थात् भरपूर उपभोग करनेके लूचक रेखा (सापुत्रिक

१ 'बाहू अनिशयितौ चदान्यौ ज्ञयां ययस्तादृतिज्ञौ । नेत्रे च शयमतिरान्ते (अतिशये) । अतिशयो च अतिशये चेति' नपुंसकमनपुसकेनकच्चास्यान्यतरस्याम् (पा० सू० १।२।६९) इति नपुंसकच एरुवे चेद् व्याख्यानम् ।

शास्त्रमें वर्णित कमल-मत्स्य-चक्र आदि रेखारूप चिह्न-विशेष) को धारण करते हैं अर्थात् इसके हाथ-पैरोंमें कमल चक्र मत्स्य आदि की रेखाओंसे मालूम होता है कि यह राज बल आदि से स्मृतिमान राज्यका अधिक परिमाणमें भोग करेगा, इस कारण से इन्द्रके साथ इन्द्राणीके स्नान इसके साथ (विवाह करके) इष्टित होंगे ॥ ६ ॥

आकर्ण्य तुन्यमाखिला सुदती लगन्ती-

माखण्डलेऽपि च नलेऽपि च वाचमेताम् ।

रूप समानमुभयत्र विगाहमाना

श्रोत्रान्त निर्णयमवापदसौ न नेत्रात् ॥ ७ ॥

आकर्ण्येति । सुदती शोभना दन्ता यस्या सा, अत्र दन्तस्य दन्नादेशलक्षणा भावात् 'अप्रान्न-' इत्यादिसूत्रे चकारस्यानुक्तममुष्यार्थत्वात् दन्नादेश इत्येके । सुक्यादिशब्दानां स्वभिधायितया योगरूढत्वात् 'ख्या सज्ञायाम्' इति विकल्पात् दन्नादेश इति केचित् । एतदेवाभिप्रेत्य सुदत्याद्य प्रतिविधेया' इत्याह वामन । उगीतश्चेति ङीप् असौ भेमी, आसृष्टेऽपि च इन्द्रेऽपि च, नलेऽपि च, तुन्यम् अवशिष्टेन, लगन्ती सम्बन्धनीम्, एताम् अखिला वाचम् आकर्ण्य उभयत्र इन्द्र-नलयो, समान निर्विशेष, रूपम् आकार, विगाहमाना अग्रे दर्श दर्शम् आलोचयन्ती, श्रोत्रात् श्रवणेन्द्रियात्, निर्णय न अवापत् सरस्वतीकृतवर्णनाया व्यक्तिविशेषा-द्योघ्नत्वादयम् इन्द्रो नलो वेति निश्चय न लेभे । आप्नोते तुष्टिं लुप्तिवात् 'पुपादि-द्युत-' इत्यादिना श्लेशहादेश नेत्रात् चक्षुरिन्द्रियाच्च, न निर्णयमवापत् इन्द्रनलयो समानाकारतया पुन पुनदृष्ट्वाऽपि न निश्चेतुं क्षणाकेत्यर्थः ॥ ७ ॥

उस सुन्दर दानोंवाली (दमयंती) ने इन्द्र तथा नलमें समान रूप से लगनी (घटती) हुई इस वान (सरस्वतीकृत वर्णन) को सुनकर दोनों (नलरूप धारी इन्द्र तथा वास्तविक नल) में समान रूप की देखती हुई (क्रमशः) वान तथा नेत्र से (वानने सरस्वतीकृत वर्णन सुनकर तथा नेत्रसे रूप देखकर वान तथा रूप-दोनोंके समान होनेके कारण) निर्णय की नहीं प्राप्त किया अर्थात् 'यह इन्द्र है या नल ?' यह श्चय नहीं कर सकी ॥ ७ ॥ शक्र किसेप निषघाधर्यति स वेत ? वे लायमानमनसः परिभाष्य भैमीन । निदिश्य तत्र पवनस्य स्त्रायमस्या भूयोऽसृजद्भगर्त वचसा स्रज सा ॥ ८ ॥

दक्र इति । अथ सा भगवती सरस्वती, भैमीन एव वीर, शक्र किम् ? स स्वप्राशनाय, निषघाधर्यति नल, वेति दोलायमानमनसः स्यात् श्लेषवत्या ना कारसाध्यश्च सा दहानाचक्षा, परिभाष्य सम-ध्य, तत्र पञ्चवारमपि, पवनस्य सपायम् अर्चन, निदिश्य हस्तेन प्रदर्श्य, अस्या भोग्या विषये, भूयो वचसा स्रज वावयपरम्पराम, असृजत् अगादर्यर्थः ॥ ८ ॥

(यह इन्द्र है क्या ? अथवा नद (दूतरूपमें पू'वान्में दृष्ट) नैषधराज नल है ?' इस

प्रकार दोलायमान (सन्देह युक्त) चित्रालो दमयन्ती को विचारकर उस भगवती (सरस्वती देवी) ने वायुके मित्र अर्थात् अधिको सङ्केत कर इस (दमयन्ती) से वचनमालाकी सृष्टि की अर्थात् बोली ॥ ८ ॥

एष प्रतापनिधिरुद्गातिमान् सदाऽयं किं नाम नाजितमनेन धनञ्जयेन ? ।
हेम प्रभूतमधिगच्छ शुचेरमुमान्नोस्त्येव कस्यचन भास्वरूपसम्पत् ॥ ९ ॥

एष इति । एष वीर , प्रतापस्य तेजस , निधि , अयं सदा उद्गतिमान् उद्दुर्ध्व-
उत्थलनवान् , धनानि विचित्रवस्तूनि जयतीति धनञ्जयो धनञ्जयसङ्गक पार्थ , अनुंन
इति पाठान् , 'मनाया मृतृवृजि—' इत्यादिना खचि मुमागम तेन कर्त्रा , अनेन
अग्निना कारणेन , किं नाम किं किल , नाजितम् ? न लब्धम् ? ग्राण्डवदहनकाले
सन्तुष्टस्याने यज्ञाशात् रथाच्यतूगाण्डोवादिक प्राप्य पार्थेन विजित्य सर्वज्ञ उप-
लब्धमेवेत्यर्थ , केचित्त—धनञ्जयेन अग्निना , 'धनञ्जय सर्पभेदे ककुभे दैवमाकते ।
पार्थोऽग्नौ' इति मेदिनी , अनेन कर्त्रा , किं नाम अग्निर्विधानरो बहिरिष्यादिक किं नाम
धेयमिति व्याचक्षते , हेम सुवर्ग , शुचे शुचिनामकात् , अमुष्मात् जाने , 'शुचिर्गोष्मा
मिश्रद्वारेष्वापादे शुद्धमन्त्रिणि' इति मेदिनी , प्रभूतम् उद्भूतम् , अधिगच्छ विद्धि ,
'अनेरपथ्य सुवर्गम्' इति स्मरगादिति भाव । भास्वरूपस्य रूपान्तरप्रकाशक-
रूपस्य , सम्पत् समृद्धि , कस्यचन इतोऽन्यस्य कस्यचिदपि , नास्त्येव । अयत्र तु—
एष प्रतापस्य काण्डवदहनतेजविशेषस्य , निधि , 'स प्रताप प्रभावश्च यत्तेज कोप-
दण्डजम्' इत्यमर , अयं नल , सदा उद्गतिमान् उद्दुर्धवान् , निष्याभ्युदयशील
इत्यर्थ , अनेन कर्त्रा , जयेन कारणेन , किं नाम धन नाजितम् ? जयेनव सर्व
सम्पादितम् इत्यर्थ , 'उत्रियस्य विजितम्' इति स्मरगादिति भाव , शुचे पवित्रात् ,
अमुष्मात् मलात् प्रभूत प्राग्य , हेम सुवर्गम् , अधिगच्छ प्राप्नुहि , पतपरिमहात्
शास्त्रा भवत्यर्थ , भा काम्ति , स्वर कण्ठवनि , रूपसौन्दर्य , तेषां सम्पत् कस्यचन
इतोऽन्यस्य कस्यापि , नास्त्येव ॥ ९ ॥

अग्निपक्षमे—यह प्रताप (तब या उगता) के निधि , सदा ऊर्ध्व गमनशाल अर्थात्
कररङ्गी और जलनेशाला है । अनुंनने इसने किन धनको नहीं पाया अर्थात् खाण्डववनमें
अग्नि रक्षा करके अनुंनने म तुष्ट हम अधिमे रथ , अक्षय तरकम और गाण्डव आदि
बहुत धनको पाया है । (अथवा—हम धनञ्जय अर्थात् अधिने किम नाम (अग्नि , विधानर ,
बद्धि , सदा) का नहीं पाया है ? अर्थात् बहुमे नामोंको पाया है । अथवा—इसने
क्या नहीं पाया ? अर्थात् सब कुछ पाया है । अथवा—'धनञ्जय' इस सार्धक नामने इसने
किस मानको नहीं पाया ? अर्थात् सब नामों को पाया है) 'शुचि' (सद्गुण) इसने सुवर्ण
को उत्पत्ति जानी (अथवा—'शुचि' अर्थात् निर्दोष इसने (विवाह करके) अधिक परि-

माण में मोने को प्राप्त करो) चमकीले रूपका सम्पत्ति अर्थात् शोभा किसी (दूसरे) को (इसके समान) नहीं हो है (पाठा०—इसके समान चमकीली रूप सम्पत्ति किसी की नहा है) ।

नलपद्मे—प्रणय (कोष दण्ड आदिसे उत्पन्न तेजो-विशेष) का निधि तथा रुदा वज्रनिशील है, इमने जब (शत्रु विजय) से किस धनको (अथवा—सर्वदा शुभकारक विधिवाले किम धनको) नहीं पाया ? अर्थात् सब धनको पाया । पवित्र अर्थात् स्वधर्मन्तर इसने (विशद करके) पर्याप्त सोना प्राप्त करो अर्थात् इसमें विवाह कर बहुत धनवनी हो जावो । वान्ति, कण्ठस्वर और रूपकी शोभा (इसके समान) किसी की नहीं हो है अर्थात् इसके समान उपस्थित कोई राजा तेजस्वी, मधुर कण्ठस्वरवाला तथा रूपवान् नहा है । (अथवा—चमकीले रूप की शोभा) ॥ ९ ॥

अत्यर्थहेतिपदुताकबलीभवत्तत्पार्थिवधिकरणप्रभयस्य भूति ।

अप्यङ्गरागजननाय महेश्वरस्य सञ्जायते रुचिरकणि । तपस्विनोऽपि ॥ १० ॥

अत्यर्थेति । रुचिरकणि । हे कमनीयकर्णे । 'नासिकोदर—' इत्यादिना विकल्पात् हीप्, अत्यर्थया अतिमात्रया, हेतिपदुता ज्वालापाटवेन, कबलीभवत् प्राप्तीभवत्, इन्धनीभवदिति यावत्, तत्तत् पार्थिव सृष्टकाष्टादिपार्थिवद्रव्यमेव, अधिकरणम् आश्रय, तदेव प्रभवत्यस्मादिति प्रभव कारण यस्य पृथग्भूतस्य अग्ने सम्बन्धिनी, भूतिर्भस्मापि, तपस्विनो महेश्वरस्याप्यङ्गरागजननाय अनुलेपसम्पादनाय, सञ्जायते भवति । अन्यत्र तु—अत्यर्थं हेतिपदुता आयुधसामर्थ्यं, हेति स्यादायुधज्वाला सूर्यतेज तु योषिति' इति मेदिनी, तस्या कबलीभवद्भि ते तै पार्थिवै राजभि सह, अधिको रण स एव प्रभव कारण यस्य तादृशस्य, रणात् राज्यलाभेन रणस्य राज्यकारणत्वेऽपि राजकारणत्वमुपचर्यते इति बोध्यम्, नरस्येति शेष, भूति विज-पलब्धा सम्पत्, 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इत्यमर महेश्वरस्य महैश्वर्यशालिनोऽपि, तपस्विन अपि निवृत्तरागस्यापि जनस्य, रागजननाय अनुरागोत्पादनाय, आकर्षणा देत्यर्थं, सञ्जायते, अङ्गस्यामन्त्रणै ॥ १० ॥

अग्निपद्म—हे मनोहर काठोवाली (मयनि) । अत्यधिक ज्वाला सामर्थ्य (इन्धन रूप वनेकर) नष्ट होने हुए वे पार्थिव (पृथ्वी-सम्बन्धी काष्ठ, कपड़ा, घास आदि द्रव्य) ही आश्रय तथा उत्पत्ति-स्थान हैं जिसका ऐसे इस अशिका भस्म (पाठा० द्रव्य रूप जो आश्रय अर्थात् आधार उसमें उत्पन्न होनेवाला इस अग्नि का भस्म) तपस्वी महादेवजीके भा अङ्गरागोत्पत्ति (शरीरमें लेप करने) के लिए होता है । [जिसके नि सार भस्म को भा तपस्वी शङ्करजी भी शरीरमें लेप करते हैं, उसके लिये सम्पत्तिवे विषयमें क्या कहना है ? अर्थात् वह अवश्य ही अत्यधिक ऐश्वर्यवान् होगा । 'सुन्दर कानोवाली' विद्वान् देकर

सरस्वती देवीने दमयन्ती को सकेत किया है कि तुम श्लेषोक्ति ज्ञानमें चतुर हो, अतः सवधान होकर समझो कि हम अग्निर्भ देवल यस्म ही है, अन्य कुछ मारभूत पदार्थ नहीं हम कारण हमें वरण मत कर लेना] ।

नलपक्षमें—हे अद्भुत ! हे सुन्दर बान, वाली (दमयन्ति) ! अत्यधिक शस्त्रचातुर्यके कवच (ग्राम, अर्थात् शस्त्र-माध्य से नष्ट) होने हुए इन राजाओंके साथ होनेवाला अधिक मुद्द हो है कारण जिसका देम है इस (नल) की सम्पत्ति ज्योंही वित्तमें प्राप्त श्री अत्यन्त ऐश्वर्यवान् तथा सरस्वतीने भी अर्थात् भोग-विनाश करनेवाला ऐश्वर्यवान् धर्मिष्ठर्मा तथा निःस्पृह नपस्विर्वा—दोनों के लिये भी अनुरागोत्साहन करनेवाणी होती है अर्थात् भोग-विनाशयुक्त ऐश्वर्यवान् धनिक तथा निःस्पृह तपस्वी—ये दोनों ही इस (नल) की सम्पत्तिके लिये आहूट होते (उमै चाहते) हैं ॥ १० ॥

एतन्मुखा त्रिबुधससदमाशेषा माध्यस्थमस्य यमतोऽपि महेन्द्रतोऽपि ।
एन महस्विनमुपैहि सदारुणोऽचैर्येनामुना पितृमुखि । ध्रियते करश्री ॥११॥

एतदिति । पितृमुखिषि मुखि मुख यस्या तस्या सम्बुद्धि हे पितृमुख !, 'धन्या पितृमुखो कन्या धन्यो भक्तमुप सुत' इति सामुद्रिकचरणात्, अशेषा समग्रा, असौ विबुधमसद् देवसभा, एव अग्नि एव मुख्यमास्य यस्या सा एतन्मुखा, 'अग्निमुखा वेदेवा' इति श्रुते, वहिमुख क्तुभुज' इत्यभिधानाच्च अस्य अग्ने, यमतो महेन्द्रतोऽपि यमस्य महेन्द्रस्य च, पश्यथै सावविभक्तिस्तमित्, माध्यस्थ मध्यस्थानवर्तिनः, मध्यदिग्बलित्वमि यथ, अग्निकोणस्थितमिति यावत्, अग्निकोणाधिपस्याग्ने दक्षिणपूर्वदिग्धिपयो यमेन्द्रयो मध्यगतिवादिनि भाव, महस्विन तेजस्विनम्, एनम् उपैहि प्राप्नुहि, सदारुणा दारसहितेन, सेन्धनेनेत्यर्थ, येनामुना अग्निना, अचैर्महती, करश्री अशुभम्पत्, ध्रियते धायत । अन्यत्र तु—अशेषा असौ विबुध ससद् विबुधसभा, एतन्मुखा एतच्छाना, एतदेकशरणेत्यर्थ, तथा अस्य नलस्य, यमतो यमात्, महेन्द्रतो महेन्द्राच्च, पश्यथास्तमित्, माध्यस्थम् बोद्धासीम्य, शत्रु मित्रयो समानदृष्टदानादपक्षपातित्वेन समदर्शि उमि यथ, महस्विन तेजस्विनम् उत्सववन्त वा, 'महत्सुसवतोऽसौ' इत्यमर, एनमुपैहि, सदा सर्वदा, येनामुना नलेन, अरणा जाताया, अच्चे करश्रीर्हस्तशोभा, 'बलिहस्तादार करा' इत्यमर, ध्रियते ॥ ११ ॥

अग्निपक्षमें—हे अग्निके समान मुखवाली (दमयन्ति) ! इस सम्पूर्ण देवसभा (देव-समूह) का यही मुख है, यम तथा इन्द्र की अपक्षा में इसका माध्यस्थ है अर्थात् दक्षिण दिक्पाल यम तथा पूर्वदिक्पाल इन्द्रके भी मध्यमें अग्नि कोण का दिक्पाल यह (अग्नि) बीचमें रहता है (अथवा—हम स्वयंवर समामें यह (अग्नि) इन्द्र तथा यमके बीचमें बैठा है) । इस तपस्वी को प्राप्त करो, काष्ठ अर्थात् दान्य इन्धनके साथ जो सर्वदा लाल अधिक

विरणशोभा अर्थात् ज्वालाकान्तिको ग्रहण करता है (ईधन से जिनकी सर्वदा लाल ज्वाला निराली है) । [अग्रिमो हवन करनेसे ही यज्ञभाग देवोंको प्राप्त होता है, अत एव यहाँ अग्निको ही देवोंका मुख कहा गया है] ।

मलपक्षमें—हे पिताके तुल्य मुखवाली (दमयन्ति) । यह समस्त विद्वत्समा एतद्वधान है (समवर्ती सबको दृष्टित करनेवाले) यम तथा (समस्त देवरक्षक) इन्द्रसे भी इसका मायस्थ है अर्थात् शासक होनेसे शत्रुरूप यम तथा पालक होनेसे मित्ररूप इन्द्र (शत्रु एवं मित्र—दोनों) से भी यह तटस्थ है इन दोनों—शत्रु-मित्रोंसे निरपेक्ष रहकर समस्त प्रजाका शासन तथा पक्षपाल होन होकर न्यायपूर्वक पालन करता है । तुम इस तेजस्वी अर्थात् महाप्रतापी (अथवा—उत्सवचान्, तेजस्वी राजाओंमें श्रेष्ठ) इसे प्राप्त करो (अथवा—'सु + इनम्', अर्थात् सुन्दर शत्रु, अथवा अति श्रेष्ठ इसका पूजन करो), जो यह सर्वश रक्तवर्ण और अत्यधिक (अथवा—अत्यधिक रक्तवर्ण) इन्द्रशोभाको धारण करता है (अथवा—जो यह सर्वश रक्तवर्ण इन्द्रशोभाको अत्यधिक धारण करता है) [सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार कपाका पिताके समान तथा पुत्रका मानाके समान मुख होना शुभ लक्षण माना गया है, अत एव यहाँ पर सरस्वताने दमयन्तीको 'पितृमुखि' शब्दसे सम्बोधित किया है] ॥

नैपालपमेधसि पटो रुचिमन्त्रमस्य मध्येसमिन्निप्रसतो रिपवस्तृणानि ? ।

उत्थानवानिह पराभविषु तरङ्गो शक्य पुनर्भरति केन विरोधिनाऽयम् ? ॥

नेति । पटोर्दाहसमर्थस्य, अस्य वीरस्य अग्ने, पृथसि हृद्यने रुचिमन्त्र बाहा भिलापिव हीतिशालिस्थ वा, अल्प नैव अनल्पमेव इत्यर्थ, समिधा काष्ठाना मध्ये मध्येसमिध्, 'पारे मध्ये पच्छा वा' इत्यव्ययीभाव, निवसत, अस्वति दोष, तृणानि रिपव विद्विष, किम् ? इति कातु, काष्ठानि दहतोऽस्य तृणानि न गण्या नीत्यर्थ, उत्थानवानूर्ध्वगतिमात्र, तरङ्गो वेगवान्, प्रवल्लवेगेन प्रवर्तित इत्यर्थ, अयम् अग्नि, पुनरिह सृष्टी, विरोधिना केन अशुना, 'क शिरोऽशुना' इत्यपर, पराभविषु शयया भवति किम् ? इति कातु, नैव शक्य इत्यर्थ, विष्यस्य अस्य अनिर्वागत्वादिति भाव । अन्यत्र—पटो अतिप्रगल्भस्य, धामिन इत्यर्थ, अस्य मलस्य, अल्पमेधसि मन्दप्रज्ञे, 'नित्यमनिध् प्रज्ञामेयो' इत्यत्र नित्यप्रज्ञसामर्थ्यात् मन्दावपाभ्याञ्च मेधाया ' इति वृत्तिकारवचनाच्च नयादिभ्याऽ यत्राप्यमिध् प्रत्यय, रुचिमन्त्रमाक्षर, नैव, मध्येसमिध् युद्धमध्ये, 'समित्याजिसमिद्धुध इत्यमर, निवसत अस्य रिपव तृणानि तृणप्राया इत्यर्थ, उत्थानवान् पारपमभ्यञ्च उद्यमशीलो वा, 'उत्थानमुद्यमे तन्त्रे पौरये पुस्तके रणे' इति मेदिनी, तरङ्गो शूल, वगि-शूरी ता' शिवमौ' इत्यमर, अय पुन केन विरोधिना पराभविषु नवया भवति ? न केना पात्यर्थ । भवतीति दमयन्त्या सम्बोधन वा ॥ १२ ॥

अतिप्रपञ्चम्—(दाहमें) समथ इन्की बाह (इन्धा) में कम रविच (दीप्ति अपेक्ष

वदाला) नदी है अर्थात् काष्ठको प्राप्तकर यह अत्यधिक जलना है । (अथवा—काष्ठमें समर्थ अर्थात् इधन पाकर बढ़नेवाले इसकी रुचि (ज्वाला) कम नहीं है । समिधाओं (काष्ठों, या प्रादेश परिमाण हवनीय काष्ठों) के बीचों रहते हुए तृण शत्रु है क्या ? अर्थात् नहीं । (काष्ठमें जाज्वल्यमान इस (अग्नि) में तृण क्षणमात्रमें जल जानसे कुछ नहीं कर सकते अर्थात् यह जिस प्रकार युद्धमें शत्रुनाश शीघ्र करता है, उसी प्रकार तृण दाह भी क्षणमात्रमें ही कर डालना है) । इस लोकमें उत्थानशील (ऊपरकी ओर धनकने हुए) वेगवान् इसका परामर्श विरोधी (बुझानेवा इच्छुक) कोई व्यक्ति जल्से कर सकता है क्या ? अर्थात् नहीं (ऊपरका ओर धनकती हुई ज्वालाने साथ बढ़ती हुई अग्निका कोई बुझानेवाला विरोधी बादमा पानी से भी नहा बुझा सकता । अथवा—कोन विरोधा परामर्श कर सकता है अर्थात् कोई नहीं । अथवा—विरोधी पानामे परामर्श कर (बुझा) सकता है क्या ? अर्थात् नहीं—धनकती सब बढ़ा हुई अग्निको पानीसे भी नहीं बुझाया जा सकता । अथवा—‘काकु’ (पदन) पक्षका हानाकर ‘ऊपरकी ओर धनकती हुई अग्निका परामर्श विरोधी (बुझानेवाला) व्यक्ति पानीसे कर सकता है, अर्थात् पानीमे बुझा सकता है । रहित इस पक्षमें भी उक्त अन्य अर्थोंका कल्पना पूर्वजन करनी चाहिये) ।

नलपक्षमें—शब्द-अर्थको सतत्तात्प्रवृत्ति करनेमें चतुर (नीच बुद्धि) इस (नल) की रुचि अलबुद्धियोंमें नहीं है । युद्धमें स्थित हुए इसके शत्रु तृण (के तुल्य अर्थात् अकिञ्चित्कर) है (युद्धमें इसे कोई भी शत्रु नहा जीत सकता) । उदय (या-उत्पत्ति) शीघ्र वेगवान् (या-बलवान्) इसका परामर्श यहाँ पर (इस युद्धस्थलमें, या-इस सत्तार में) भला कौन विरोधी कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ १२ ॥

साधारणों गिरमुग्धुर्धनैषधाभ्यामेता निपीय न विशेषमवाप्तवत्या ।
ऊचे नलोऽयमिति त प्रति चिन्मेक ब्रूने स्म चान्यदनलोऽयमितावमीयम् ॥

साधारणीमिति । उपसि वृष्यते द्युपवृद्धोऽग्निः, ‘अग्निर्वंशानरो वह्निः शोचि श्रेण उपवृद्ध’ इत्यमरः । ‘इगुपध—’ इति क, ‘अहरादीना पत्यादिषु वा रेफ’ इति रेफादेशः, स च निपधो नलश्च ताभ्या, साधारणी समानाम् ‘आग्नीध्र-साधारणा दन्’ इति वक्तृ-यादृजि ‘टिड्ढाणञ्—’ इत्यादिना टीप्, एता गिर निपाय जाकर्ण्य, विशेष परस्परभेदकधर्म, नाज्ञासत्त्या अप्राप्तया, भैरवः इति शेषः, एकचित्त दमयन्तीसम्पत्ति धनी एता बुद्धि, त पुरोवत्तिपुरुष प्रति, जय नल इत्युचे, इदमीय दमयन्ती सम्पत्ति धि, अयदपर चित्तम्, अयमनलोऽग्निः, इति ब्रूते स्म, अनलनल कोटिद्वयावलम्बी सशयो न निवृत्त इत्यर्थः ॥ १३ ॥

अग्नि तथा नलके साथ समान (एकाधक) इस वचनको सुनकर विशेष (निर्णय) को नहीं पानी हुई अर्थात् ‘यह अग्नि है या नल’ यह निश्चय नहीं करनी हुई (दमयन्तीका) एक मन उस (सामने स्थित पुरुष) के प्रति ‘यह नल है’ देता कहा तथा दूसरा चित्त

‘यह अनल अर्थात् अग्नि (पश्चात्—नलभिव) है ऐसा कहा । [दमयन्तीने सरस्वती कृत वर्णन को सुनकर अग्नि तथा नल—दोनोंमें समानार्थक वर्णन होनेमें उस पुर स्थित पुरुषको पहले नल समझा और बाद में नलभिव (या—अग्नि) समझा अर्थात् कुछ निर्णय नहीं कर सकी कि यह नल है या अग्नि ?] ॥ १३ ॥

एतादृशीमथ त्रिलं कथं सरस्वती ता सन्देहचित्रभयचित्रितचित्तवृत्तिम् ।
देवस्य सूनुरागिन्द्रप्रियासिरश्मेरुहिरय दिक्पतिमुदीरयितुं प्रचक्रे ॥१४॥

एतादृशीमिति । अथ सरस्वती ता भौमीम् , एतादृशीम् ईदृशीं, सन्देह प्रायुक्त , चित्र देव्यास्तादृशरिष्टद्वयावयवधनात् उभयोः समानरूपदर्शनाच्च आश्चर्यं, भय मलनिश्चयाभावेन नलप्राप्तौ नैराश्यात् घ्रास , पूर्वभागेऽश्वित्रिता विस्मिता, विस्मय विमूढा इत्यर्थं , चित्तवृत्तिर्यस्यास्तादृशीं, विलोडय अरविन्दानि विहासयन्ति ये तादृशा रश्मयो यस्य तस्य पद्मिनीमुद्रामञ्जनस्य, देवस्य सूर्यस्य, सूनु पुत्र, दिक्पति यमम् , उहिरय उदीरयितुं व्याहृतं , प्रचक्रे प्रस्ताव चने, प्रचक्रमे इत्यर्थं ॥ १४ ॥

सन्देह (यह पुर स्थित पुरुष नल है या अग्नि ? इस प्रकारकी शङ्का), आश्चर्य (दोनों के समान रूप होनेमें आश्चर्य) तथा भय (नल—प्राणिकी आशा नहीं होनेमें भय) से चित्रित चित्तवृत्तिवाली उस (दमयन्तीका) देखकर सरस्वती देवीने कमलोंको विकसित करनेवाले किरणवाले देव अर्थात् सूर्यके पुत्र त्रिकाल (दक्षिण दिशाके पति) यमको लक्ष्य कर कहना आरम्भ किया ॥ १४ ॥

दण्डं विभर्त्ययमहो ! जगतस्तन स्यात् कम्पाकुलस्य सकलस्य न पङ्कपात ।
स्ववैद्ययोरपि मदव्ययदायिनीभिरेतस्य रुग्भिरमर खलु कश्चिदस्ति ? ॥

दण्डमिति । अथ यम , दण्ड दण्डमन स्वकीयास्त, आलम्बनपट्टिः, विभक्ति, ततो दण्डधारणात् , कम्पाकुलस्य सकलस्य जगत पके पापे, वर्द्धमे च, पातो न स्यात् अहो ! अन्यस्य दण्डधारणादन्यस्य अपतनमित्याश्चर्यम् । अन्यत्र—नलस्य यथापराधदण्डनाजगतो निष्पापत्वमित्यर्थं , ‘गुरुरात्मवता शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम् । इह प्रवृत्तपापानां शास्ता वैवस्वतो यम’ इति स्मरणात् , तथा, ‘रात्रिर्घृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवा । निर्मला स्वर्गमायान्ति सन्त सुवृत्तिनो यथा ॥’ इत्युभयोर्दण्डधारणस्मरणादिति भावः । किञ्च, स्ववैद्यो अश्विनो कुमारयोरपि, मदव्ययदायिनीभिः अहङ्कारहारिणीभिः, कर्मजरोयाणां चिकित्सा माध्यत्वाभावात् तयोरप्यमाध्याभिरित्यर्थं , अन्यत्र—मौन्दर्येण प्रसिद्धयोस्तयो मौन्दर्यगणहारिणीभिः, एतस्य यमस्य नलस्य च, रुग्भिः कर्मनिपाकानुमारेण एतस्मिन्पादितरोगे, ‘स्त्री रघुञ्जा चोपतापरोगयाधिगदामया’ इत्यमरः । रजेषां तो विद्वत् , अन्यत्र—दारीरक्षोभाभिः, देहिकसौन्दर्येणेत्यर्थं , ‘रत्नं स्त्री शोभायुताच्छासु’

इति मेदिनी, न क्रियते मृतप्रायो न भवतीत्यमर, पञ्चाक्षच्, कश्चिदस्ति खलु ? अपि तु न कोऽपि अमरोऽस्ति, सर्वे एव मृतप्राया भवन्तीत्यर्थ, अन्यत्र च—तादृशदारीर कान्तिभिरपलक्षित, अमर देव, कश्चिदस्ति खलु ? अपि तु न कोऽयस्ति, देवेषु सुन्दरतमयोस्तथोक्तिवादिनि भाव ॥ १५ ॥

यमपक्षमें—यह (पुर स्थित पुण्य 'यम') दण्ड (अपना दुःख-विधेय, पञ्चा०—छद्मे धारण करना है, उस (के मद) से कम्पनाजुलिन (व्याकुल होकर कनायनान) मत्सरका पङ्कमें पतन नहीं होगा क्योंकि इसके दण्डके मदसे कम्पनान सत्तार पानने प्रवृत्त नहीं होता (पञ्चा०—बीचडमें नहीं गिरना) आश्चर्य है [जो छोटी प्रज्ञा करता है वर व्यक्ति बीचडमें गिरने से बचना है, किन्तु इसके छोटी प्रज्ञा करनेने दूसरा बीचडमें नहीं गिरना आश्चर्यजनक है] । स्वर्गके वैद्यक्य अधातु अधिनीकुमारोंके भा (चिकित्सा सम्बन्धी, पञ्चा०—सौन्दर्यसम्बन्धी) मदको नष्ट करनेवाला हमके रागोंमें दण्ड (व्यक्ति) अमर (मरने बचा हुआ) है ? (पञ्चा०—इसकी कान्तिसे समान कोश देवता है ?) अधातु नहीं । [अन्यान्य रोगों की चिकित्सा जो वैद्यमात्र करके रोगियों रोगने बचा लेने है, किन्तु यमके रोग अधातु मृत्युमें स्वाँदैय अधिनीकुमार भा किसी व्यक्तिकी नहीं बच सकने फिर अन्य वैद्योंका बाध है क्या है ?] ।

मत्पक्षमें—यह (पुर स्थित 'यम') दण्ड धारण करना है अर्थात् अपराधोंको दण्डित करता है (कथवा—नैना धारण करता है), उसमें कम्पात्त मनुष्य ममार पापकर्ममें नष्ट गिरता क्योंकि 'यह नष्ट अपराध करनेपर हर्ष दण्डित करेगा' हम मनमें नाराज हुआ ममारमें कोश भी व्यक्ति या शत्रु अपराध नहीं करना । अधिनीकुमारोंके भा (सौन्दर्य मदको नष्ट करनेवाली हमकी (शरीर) शोभाके समान कोश देव भी है क्या ? अर्थात् कोश देव भी इस नलके समान सुन्दर नहीं है [यहा तक कि देवोंमें सर्वसुन्दर अधिनीकुमारोंके भी सौन्दर्यमद हमका शरीर-कान्तिको देखकर नष्ट हो जाती है, फिर मनुष्योंमें हमने समान किसीका सुन्दर होना कैसे सम्भव है ?] ॥ १५ ॥

मित्रप्रियोपजनन प्रति हेतुरस्य मज्ञा श्रुतासुहृदय न जनस्य कस्य ? ।
छायेदृगस्य च न कुत्रचित्दध्यगामि तप्त यमेन नियमेन तपोऽमुनेव ॥१६॥

मित्रेति । सज्ञा सज्ञादेवति, श्रुता प्रसिद्धा, मित्रप्रिया अर्द्धयिता, अस्य यमस्य, उपजननम् उत्पत्ति, प्रति हेतु कारण, जार्मत्यर्थ, अन्य यम, कस्य जनस्य असून् हरतीति असुहृत् प्राणहर, न ? सर्वस्यैवासुहृत् सर्वान्तकवादिनि भाव, छाया च छायास्या मित्रप्रिया च, अत्र यमस्य, ईदृक् ईदृशी, उत्पत्तिहेतुजननीत्यर्थ, इति कुत्रचित् अपि ज्ञाछे, नाध्यगामि न अधिगता, सूर्यस्य द्वे भार्ये सज्ञा छाया च, तत्र सज्ञेव अस्य जननीति श्रूयते न छायेत्यर्थ, यमेन यमारयेन, अमुना

नियमेनैव इन्द्रियनिग्रहेणैव, तपस्तप्तम् । अन्यत्र तु—अस्य वीरस्य, सज्ञा हस्तादि चेष्टा, नलेन नाम वा, 'सज्ञाऽर्कभायां चैतन्य हस्ताद्य सूचनाभिधा' इति वैजयन्ती मित्राणां सुहृदा, 'मित्र सुहृदि मित्रोऽर्क' इति विश्व, प्रियोपजननम् इष्टसम्पादन प्रति हेतु धृता, अथ कस्य जनस्य सुहृत् सखा, न ? अपि तु सर्वस्येव सुहृत्, अस्मै इच्छाया कान्ति, 'छाया सूर्यप्रिया कान्ति' इत्यमर, कुत्रचित् क्वापि पुरुषान्तरे, न अध्यगामि न अधिगता, अमुना नलेन, यमेन नियमेन च यमनियमाभ्यां, तपस्तप्तमेव, अन्यथा वधमथ मद्भिमेति भाव ॥ १५ ॥

यमपक्षमें—'मज्ञा' नामसे प्रसिद्ध सूर्यको प्रिया (स्त्री) इसकी उत्पत्तिके प्रति कारण है अर्थात् सूर्यप्रिया 'सज्ञा' देवी इसकी माता है । यह 'यम' किसके प्राणोंको हरण नहीं करना ? अर्थात् सबके प्राणोंको हरण करता है । 'छाया' नामसे प्रसिद्ध सूर्यप्रिया कहीं (किसी शास्त्रमें) भी ऐसी (इसका उत्पत्तिका कारण अर्थात् माता) नहीं सुनी गयी है अर्थात् सूर्यकी 'सज्ञा' तथा 'छाया' नामक दो पत्नियोंमें 'सज्ञा' ही इसकी माता कही गयी है 'छाया' नहीं । इन्द्रिय-निग्रहे इतीने तप किया है अत एव इसका 'यमराज' नाम सार्थक है । [यहां पर 'यम' को सरस्वती देवीने सबका प्राणहरण करनेवाला कहकर उसे वरण करनेके अयोग्य होनेका सङ्केत दमयन्तीसे किया है] ।

नरपक्षमें—सुना गया 'सका नाम मित्रोंके प्रियोत्पत्तिके प्रति कारण है (अथवा—इसका नाम मित्रोंके प्रियोत्पत्तिके प्रति कारण सुना गया है) अर्थात् इस 'नर' के नाम सुननेमें मित्रोंका प्रिय होता है । यह किम आदमीका मित्र नहीं है ? अर्थात् सर्वप्रियकारक होनेमें यह सभीरा मित्र है । इसकी ऐसी छाया (शरीरशाभा अथवा—शासन-प्रणाली या दयादक्षिणादि गुण) कहीं (किसी व्यक्तिमें) भी नहीं मिलती, इसीने यम (मल्लवनादि) तथा नियम (नक्तत्रोपवासादि) के द्वारा (तुम्हारा भ्रामिके लिए) तप किया है, अत एव तुम्हें इसका वरण करना चाहिये (अथवा के द्वारा तप किया है, अत इसकी इतनी बड़ी महिमा है) ॥ १६ ॥

किञ्च प्रभाननमिताखिलराजतेजा

देव पिताऽम्बरमणी रमणीयमूर्ति ।

उत्क्रान्तिदा न कमनु प्रतिभाति शक्ति ?

कृणत्वमस्य च परेषु गदान्नियात् ॥ १७ ॥

निज्ञेति । किञ्च प्रभाभि अवनमितम् अथ कृत, आयत्त राज चन्द्रस्य, तेजो पत स, रमणीयमूर्ति देव अम्बरमणि सूर्य, 'दूगेपेपूतस्थ दंघोऽग' अस्य पिता, अस्य शक्ति दाम्नामायुध, कमनु कजन प्रति, उत्क्रान्तिदा प्राणाक्रमणप्रदा, न प्रतिभाति ? अपि ॥ प्रतिभायेव, परेषु अन्येषु, 'गदान् रागान्, नियोक्तु कर्मविपान्' कानुसारेण प्रेरयितु, 'तृप्तत्वात्' 'न लोका—' इत्यादिना पक्षप्रतिपक्षात् कर्मभि

द्विताया अस्य कृष्णत्वं कृष्णवर्णत्वं, परपीडाजनकत्वेनास्य दुर्यंशसा कृष्णत्वमित्यर्थः । अन्यत्र—देव देवतुल्य, अम्बरमणी सूर्य, 'कृदिकारात्—' इति विकल्पात् दीप् तद्वत् रमणीयमूर्ति अस्य पिता वीरसेन, प्रभावेण प्रतापेन, नमितायपिलानां राज्ञा तेजासि येन स, 'राजा प्रभौ च नृपतौ छत्रिये रजनीपतौ' इति मेदिनी, अस्य शक्तिः प्रभावमन्त्रोत्साहलक्षण सामर्थ्य, 'कासूसामर्थ्ययो शक्ति' इत्यमर, परेषु शत्रुषु, गदाम आयुधविशेष, नियोजितु निक्षेपयितु, अस्य नलस्य, कृष्णत्वं विष्णुत्व, गदाधरत्वादिति भावः । शेषे पूर्ववत् ॥ १७ ॥

यमपक्षमे—प्रभाव (धूप) से पूर्णचन्द्रके तेजसो कम करनेवाले तथा रमणीय मूर्ति वाले सूर्यदेव इसके पिता हैं । हमकी शक्ति किमके प्रति अर्थात् किसके प्राणहारण में समर्थ नहीं है ? (अथवा—इसकी 'उत्कृष्टान्तिदा' नामकी शक्ति अर्थात् शत्रुविशेष किमके प्रति समर्थ नहीं है) अर्थात् सबके प्रति समर्थ है । दूसरोंमें रोगों (अथवा—गदा) को नियुक्त करनेवाले अर्थात् कर्मविपाकानुसार दूसरोंको दण्ड या शासन करनेवाले इसका वर्ण कृष्ण है (अथवा—परपीडाजनक होनेसे इसका अर्थ है) । [यहा पर मरस्वनी देवीने 'यम' को चन्द्रप्रतापनाशक सूर्य का पुत्र बतलाकर चन्द्रवशोत्पन्न नन्दा देवी होनेसे तथा सबके प्राणहर्ता एवं रोगनिवोजक होनेसे दमयन्तीके लिए 'यम'को अवरणीय होनेका संकेत किया है] ॥

नलपक्षमे—प्रभाव (अपने छात्रतेज) से सम्पूर्ण राजाओंके तेजको कम करनेवाले तथा बल और रत्नोंमें रमणीय आकृतिवाले देव (कान्तिमान् राजा वीरसेन) हमके पिता हैं । (अथवा—तथा सूर्य और कामदेवके समान रमणीय । अथवा—हे अम्ब (पुण्य चरिता होनेसे मालुवद जगद्वन्द्व दमयन्ति) । रमणियोंके लिये रमणीय आकृतिवाले,) । इसकी सामर्थ्य किम शत्रुके प्राणहारिणी सिद्ध नहीं हुई है अर्थात् सबके प्रति प्राणहारिणी सिद्ध हुई है (हमने समस्त शत्रुओंके प्राणहरण किये हैं । अथवा—हमकी सामर्थ्य यमके प्रति प्राणहारिणी अर्थात् यम-भयकारिणी नहीं होती । अर्थात् सर्वभयकारक यमको भी हमने भय उत्पन्न होता ॥) । शत्रुओंमें गदाको नियुक्त (गदाप्रहार) करनेवाले इसका कृष्णत्व अर्थात् कृष्णभाव (कृष्ण भगवान् की समानता) है, (अथवा—श्रेष्ठ बाणपीडाको नियुक्त करनेवाले) शत्रुओंको बाणप्रहार द्वारा अतिशय पीडित करनेवाले हमका कृष्णत्व (अर्जुनभाव अर्थात् अर्जुनकी समानता) है अर्थात् बाणप्रहारमें यह अर्जुनके समान है ॥ १८ ॥ एक प्रभायमत्रमेति परेतराजौ नज्जीवितेशाधियमत्र विधौ मुग्धे । ।

भूतेषु यस्य गलु भुरि यमस्य वशभावं समाश्रयति नृक्षमहोदरस्य ॥ ८ ॥

एक इति । अथमेक परेताना प्रेताना, 'परेतप्रेतसंस्थिता' इत्यमर, राजौ पक्षी, प्रभाव प्रभुत्वम्, एति, दक्षमहोदरस्य अधिनीध्रातु, यस्य यमस्य भूतेषु प्राणिषु, मध्ये 'भूत प्राणिपञ्चादादौ' इति वैजयन्ती, भुरि अनेक भूत, वश गतो धस्य तस्य भाव वश्यत्व, समाश्रयति खलु । हे मुग्धे ! तत् तस्मात्, अत्र अस्मिन्

पुमि, जीवितेशयिष यमबुद्धि, विवेहि । अन्यत्र तु—अयमेक परेषा शत्रूनाम्, इतरेषाञ्च आजौ युद्धे, प्रभाव सामर्थ्यम्, एति, दत्तसहोदरस्य अधिसदृशस्य, यस्य यस्य नलस्य, भूतेषु वमादिषु, पृथिव्यादिषु मध्ये इत्यर्थ, 'चमादौ जन्तौ च भूत ह्नीतम्' इति वचनन्ती, इय भूर्नश्यमाव समाश्रयति खलु, तत् तस्मात्, अत्रास्मिन् नरे जीवितेशयिष कान्तबुद्धि, प्राणेश्वरबुद्धिमित्यर्थ, 'जीवितेशो यमे कान्ते' इति निरव, विवेहि ॥ १८ ॥

यमपक्षमे—अनेका यह (यम) प्रेतांकी पक्षमें प्रभुत्वको प्राप्त करता है अर्थात् यह प्रेतांका पनि है (या—प्रेतामें अधिक सामर्थ्यवान् है), अधिनीकुमारोंके सहोदर (भाई) 'यम यम वा भूतों (नृपतों) में बहुत-से भूत वशाभूत रहते हैं, (अधवा—भूतों अर्थात् प्राणियोंमें बहुतसे भूत (प्राणा) हैं यमने वशा होत हुए अभाव अर्थात् नाशको प्राप्त करने ह), अत एव हे मुग्धे ('यम एव नलमें से यह जीन है ' ऐसा निश्चय नहीं करने-जानी दमयन्ति) । इसमें यमबुद्धि करो अर्थात् हमे 'यम' जानो । [बहुत दोड़े व्यक्तियोंके मुक्त होनेके कारण अधिक प्राणियोंका यनका वशवर्ती होना कहा गया है तथा 'सहा' नामकी सूर्यरानीके गमने यम तथा अधिनोकुमारों का जन्म होनेसे वशा पर यमकी अधिनी कुमारोंका सहोदर (सभा भाइ) कहा गया है] ।

नलपक्षमें—शत्रुओं तथा आत्मीयों (अधवा—बड़े बड़े तैजस्वियोंको भी छोटा करने-वालों, अधवा—श्रेष्ठ शत्रुओं) के युद्धमें यह (नल) अक्षेला ही प्रभावको प्राप्त करता है अर्थात् उनकी अपेक्षा अधिक प्रभावशील रहता है । पृथ्वी आदि पाच महाभूतोंमेंने यह पृथ्वी अधिनीकुमारोंके सहा (सन्दर्भवाले) विम इम (नल) की वशवर्तिनी रहती है अर्थात् यह पृथ्वीरति है, अत एव हे मुग्धे (सुन्दरी दमयन्ति) । इस (नल) में प्राणनाथ का बुद्धि करो अधवा हमे वरप कर अपना प्राणपति बनाओ ॥ १८ ॥

गुप्तको गिरा शमननैपथयो समान शङ्कामनेकनलदर्शनजातशङ्के ।

चित्ते विदभंसु गविपते सुताया यन्निर्ममे खलु तदेव पिपेय पिष्टम् ॥ १९ ॥

गुप्तक इति । शमननैपथयो दमनलपो, समान एव गिरा गुप्त सन्दर्भ, अने कपा नष्टाना दर्शनेन जातशङ्के विदभंसुधाऽपिपते सुताया वेदभ्यां, चित्ते शङ्का निर्ममे इति यत् तत् पिष्ट पिपेय खलु प्रागेव साशङ्के पुन शङ्कोत्पादन पिष्टपेयग-प्रायम् इत्यर्थ । अत्र साशङ्कशङ्कोत्पाद-पिष्टपेयगवाक्यार्थयो एकत्रासम्भवेन साद-र्यापेक्षान् सम्यग्बद्धसुसम्बन्धो वाक्यार्थवृत्तिनिर्दर्शनालङ्कार ॥ १९ ॥

यम नाम नलव विषयमें समान (सरस्वती देवीके) वचन-समूहने विदभरात्रकुमारों (दमयन्ती) के अनेक नलोंके देखनेने शङ्कायुक्त चित्तमें जो शङ्का उत्पन्न की, वह पिष्ट-पेय हुआ । [चित्त-चित्तके समान, अनेक अर्थात् पाच नलोंको देखकर पहलेने ही सन्देहयुक्त दमयन्तीके चित्तमें यम तथा नलके विषयमें समानरूपमें कहा गया सरस्वती

देवीरा वचन—समूह उन दोनोंके विषयमें बैसी हां उड़ा—उस मर चूर्ण—चूर्णके सनान से हुआ अर्थात् सरस्वती देवीने 'यम-जन्म' विषयक वचन—समूहने दमयन्तीके सन्देहयुक्त विष्टने एक ओर सन्देह उत्पन्न हो गया, उस वचन—समूहने बोध लाभ नहीं हुआ] ॥१९॥

तत्रापि तत्रभवती भृशमशयलोरालोक्य सा विप्रिनिपेक्षितृत्तिमस्या ।
पाथपतिं प्रति वृत्ताभिमुखाङ्गुलीकपाणि क्लेशचित्तमुत्पादनाभिधातुम् ॥

तत्रेति । सा भवती तत्रभवती पूर्या, 'इतराम्योऽपि दृश्यन्ते' इति ब्रह्म-प्रत्ययः, सा सरस्वती, तत्रापि तस्मिन् पुरुषेऽपि, यन्नेऽपीत्यर्थः, मृतमशयलौ साक्षयिक्या, 'क्षीडो वाक्य' इत्याहुप्, अस्या दमयन्त्या, विप्रिनिपेक्षणे प्रवृत्तिनिवृत्तयो, निवृत्तिमभावम्, औदासीन्यमिति यावत्, आजेक्य क्रम चित् क्रमवाप्त, पाथ-पतिम् अप्पतिं वत्त प्रति, एता प्रसारिता, अभिमुखा अङ्गुलीकपाणि यस्य स धृतानि मुखाङ्गुलीक, 'तद्युवश्च' इति इप्, तादृश पाथिर्गत्या सा तादृशसनी, अभिगानुम् उपाक्रमत उपाक्रमवती, क्रमेण 'प्रोक्षाम्या समर्पाम्याम्' इति तद् ॥ २० ॥

तम (यम) ने भी जानते सन्देहयुक्त हम (दमयन्ती) के विधि तम निरंतर अर्पण स्वीकृति या तमके अश्रुवका देखकर पूर्य सरस्वती देवाने अर्पण (वत्त) के सानने हाथका अङ्गुलि रखकर (वत्तारी हाथका अङ्गुलिने दिखाकर) क्रमके योग्य (क्रमानुसार) वृत्ता आरम्भ किया ॥ २० ॥

या सर्वतोमुखतया व्यवतिष्ठमाना यादोरणेर्जयति नेत्रविदारका या ।

एतस्य सूरितरारिनिधिश्चनू सा यस्या प्रतीतिप्रिय परतो न रोय ॥

यति । या चनू मेता, सर्वतोमुखतया सवनो मुर यस्येति सर्वतोमुख जल तस्य भाव तत्तया जल—उनेत्यर्थः, 'आय आ नूतिन वावारि सङ्कित' कमल जन्म । पुष्कर सर्वतोमुखम्' इत्यमरः, व्यवतिष्ठमाना व्यवतिष्ठतस्वरूपा, जलहरेत्यर्थः, नञ् अनेक, नजयम्य न-शब्दस्य सुप्सुपति समास, विदारका दूरकाम्या शु क्रम-दादृजलधारणयोग्या कृपप्रतिवृत्तया गतां यस्या तादृशी, 'दूरहास्तु विदारका' इत्यमरः, या चनू, त्रिनिधिरूपेण, यादमा जलजन्मता, रर तादृ, जयति प्रकाशते, यस्या वारिनिधिरूपाया चम्या इत्यर्थः परता राध परतर, सार्धविभक्तिरुत्तमिह, प्रतीतिप्रियया न अदृश्यम् इत्यर्थः, पुनस्य वत्तमस्य, या चनू सूरितरो महत्तर, वारिनिधि समुद्र । अन्यत्र तु—या चनू सर्वत्रानुबन्धना सार्धव्यवहृतया, व्यवतिष्ठमाना वर्तमाना, नेत्रान् अनेकान् विदारयन्तानि नेत्रविदारका अनेकविधु-नाशका, क्रमैर्गम्यन्, काया विग्रहा यस्या सा तादृशी, या चनूदास्या रगे दोरी बाहुयुद्ध, 'शुभगाह प्रवेष्टो दो' इत्यमरः, जयति, यस्या परत परम्य, रोध प्रति-रोध, प्रतीतिप्रियया ज्ञानविषयाम्भूत, न या केनापि प्रतिरोद्ध न शक्यते इत्यर्थः, एतस्य नलस्य, सा चनू नूरीगा नरवारीगाम् आयुर्विदोऽगा, निधि आकर ॥

धरुणपक्षमें—जो (सेना) जलभावसे स्थित अर्थात् जलमयी है, अनेक विदारकों (सूते हुए जलद्वयोंमें पानी इकट्ठा करने के लिए बनाये गये गड्ढों) वाली जो (सेना) जलवर जीवों (मेढक आदि) के शब्द (या युद्ध) से विजयिनी होती है अर्थात् जिस सेनामें विदारकोंमें स्थित अनेक जलजन्तु शब्द (या युद्ध) कर रहे ह (अथवा—अनेक विदारयुक्त शरीरवाली जो जलवर जीवों अथवा—अनेकोंको विदारण (नाश) करने वाले जलवाली जो जलवर जीवों अथवा—अनेकोंका विदारण करनेवाले जलका भाव (आगमन) वाली जो जलवर जीवों) : जिसका दूसरा किनारा नहीं देखा गया है, (अथवा—जिसका दूसरे (या—शत्रु) से रकना नहीं जाना गया है) : अथवा—जिसके परमदेशके सम्मुख गमन करनेवाला मनुष्य नाचे है अर्थात् पानीके बहावम बहता हुआ मनुष्य नाचेकी ओर ही बहना चला जाता है), वह विशाल (या—अनेक) समुद्र इस (वरण) का सेना है ।

नटपक्षमें—जो (सेना) सब ओर फैली हुई है (अथवा—जो सब भ्रमन्तया स्थित है, अथवा—जो सब तरफ मुख करके स्थित है अर्थात् सब तरफ जानेके लिये तैयार है, जो बाहुयु अर्थात् मल्लयुद्ध (अथवा—इस (जल) के युद्धों या सिंहानों से विजयिनी है अर्थात् सेनाके द्वारा यह शत्रुओं पर विजयी नहीं होना किन्तु स्वयं युद्ध करके विजयी होना है), जो अनेकोंका विदारण नाश करनेवाली है, अथवा—जो अनेकों नाशकारक योद्धाओंवाली है, अथवा—अनेकोंका नाशक शरीरवाली जो बाहुयुद्ध (या—बाहुयुद्धजन्य ध्वनि) से विजयिनी सर्वत्र होती है, जिसका शत्रुसे रकना नहीं जाना गया है अर्थात् जिसे शत्रु कभी नहा राक सके हैं) बहुत-सी तलवारोंकी निधि (स्थान) वह सेना इस जल की है ॥ २१ ॥

नासारीतीमनि घनध्वनिरस्य भूयान् कुम्भीरवान् समकर सन्धानशरि ।

उत्पद्मशान् नसरत् सुरभाननोति रत्नैरलङ्करणभाजमितनयेन ॥ २२ ॥

भासीरति । नासारतीमनि पुरोभागे, नटममीये इति यावत्, घनध्वनि महा-धोष, मध्य निस्तारङ्गवादि भाव, भूयान् महान्, कुम्भीरवान् नटवान्, नटभू शुभ्रतर' इत्यमर, समकरो मकरमहिन, दानवति । विष्णुना, पारादशायिनति भाव, सह वसति इति महदानवारि, 'व पमज'स्य हरि महशब्दस्य सभाजि-बन्ध, उत्पद्मशाननानाम् उत्पद्मशानाम् उदितपद्मानाम्, उत्पुल्लपद्मानाम् पर्य, उत्-शब्दादत्र उद्वाचक, काननाना विकशितपद्मवनाना, सभा । वक्रसि पद्मवनसहित इत्यथ, राजाह सत्त्विकपक्ष भद्रानाम् इति पर्वा नदा समुद्र, जलमाययं, करणभावम् उपकरणत्वम्, इति प्राप्त, रत्न अष्टवस्त्रभि, 'रत्न रत्नानिधौ ठावि मगावाप नेपुसकम्' इत्यमर, अस्य चरुगस्य सुरम् जायतेति । अन्यत्र तु-घनस्य मेघस्य, ध्वनि दृष्टित यस्य स भूयाननक समकर समानशुद्धि, इत्युदाधस्थूला

गुरहितशुण्ड इत्यर्थ, सहदानवारि मदजऽसहित, उत्पन्नकस्य उद्भूतविन्दुजाल-
कस्य, आननस्य ससा तदयुक्त, पद्मकालङ्कृतानन इत्यर्थ, 'पद्मक विन्दुजालकम्'
इत्यमर, अलङ्कारगभावम् इति अलङ्कारत्व प्राप्ते, रत्ने मणिभि, न दीनो न शून्य,
तदयुक्त इत्यर्थ, अस्य नलस्य, कुम्भी दन्तो, हस्तो इत्यर्थ, 'कुम्भी कलशदन्तिनो'
इति ज्ञेयन्ती, सुय यथा यथा नापीरसोमनि सेनामुखभागे, रजान् बृहणानि,
आननोति ॥ २२ ॥

वर्णपञ्चमे—इसके सेना (तट) समीपमें गम्भीर ध्वनिवाला, विशाल (अथवा—
क्षारसागर आदि सात समुद्रोंके होनेसे बहुत), नक्रयुक्त, मकरयुक्त, विष्णुयुक्त और
खिल हुए कमलोंके बनोसे युक्त अथवा—छेष्ट शोभावाले काननों (बनो) से युक्त,
अथवा—रत्नदृष्ट लक्ष्मी (स्वर्गया) तथा जलवाला समुद्र अरयन् उपकरणरत्न (साधन
सामग्रात्त्व) को प्राप्त रत्नोंके द्वारा (अथवा—देहमें स्थितिको प्राप्त अर्थात् स्वदेशोत्पन्न,
अथवा—भूषण होनेसे (वरुणके) देहमें स्थित, अथवा—भूषणत्वको प्राप्त अर्थात् भूषण बने
हुए रत्नोंसे) हम (वरुण) के सुप्तको बढाना है ।

तलपञ्चमे—इसके सेनाविभाग (या—नेनाके आगे) मेघतुल्य शब्द करनेवाले,
समान (यथोचिन् आरोहावरोहयुक्त) सूटवाले, मदजलसे युक्त, पद्मक (कुम्भस्थलके
पाम पत्राकार (विन्दु) युक्त मुखवाले, भूषणरत्नको प्राप्त अर्थात् भूषण बने हुए रत्नोंसे
अदीन रहित (सहित) बहुत—मे हाथी मुखपूर्वक ध्वनि करने (गरजने) हैं ॥ २२ ॥

मन्यन्दनै प्रवहणै प्रतिकूलपात का बाहिनी न तनुते पुनरस्य नाम ? ।
तस्या विलासवति । कर्कशताश्रिता या ब्रूम कथबहुतया सिकृता वय ता ? ॥

सम्यन्दनैरिति । विलासवति । ह भूमि ! अस्य वरुणस्य सम्यन्धिनी, का पुनर्वा
हिनी, मदी, सस्यन्दनै स्तुतिसहित, अविरह्येन प्रवर्त्तनशील इत्यर्थ, प्रवहणै
प्रवाहै, तरङ्गैरिति यावत्, प्रतिकूल कूले कूले, पात, न तनुते नाम ? सर्वाऽपि
कूलपातयतीत्यर्थ, किञ्च तस्या बाहिन्या सम्बन्धिन्य, कर्कशता कारुश्य, श्रिता या
सिकृता बालुका, तावहुतया अपरिमितत्वेन, वय कथ ब्रूम ? कथसङ्ख्यातु शक्नुम
इत्यर्थ, नैव शक्नुम इति भाव । अन्यत्र तु—सस्यन्दनै सरथे, प्रवहणे कर्णारथै
उपलक्षिता, 'कर्णारथ प्रवहणम्' इत्यमर, अस्य नलस्य, का बाहिनी सेना प्रतिकू
लाना प्रत्यर्पिता, पान नाश, न तनुते ? किञ्च कर्काशा श्वेताश्वाना, 'कर्क कर्केतने
वह्नां शुक्लाश्वे दर्पणे धटे' इति मेदिनी, दाते आश्रिताया तस्या बाहिन्या, ता
प्रमिद्धा, असिकृता असि प्रहरणमेवामस्तीति असिका तेषा भाव असिकृता
ता वृत्तिकृतानि, 'प्रहरणम्' इति टन्, बहुतया वय कथ ब्रूम ? ॥ २३ ॥

वर्णपञ्चमे—इ विलासवति (दमयन्ति) । मला कोन नदी बहावयुक्त (अथवा—
झरनोंसे युक्त) प्रवाहोंसे तीरके प्रति गमन नहीं करती अर्थात् समी करती हैं (अथवा—
प्रत्येक तीरको नहीं गिराती अर्थात् समी नदिया प्रत्येक तीरको गिराती हैं) । हम उसके

उन बालुओं (रेतों) की अधिकताको किस प्रकार कहे अर्थात् बालुओंके अत्यधिक होनेसे हम उसका परिमाण कैसे बतायें, जो (बालू) कठिनता अथवा—सैकड़ों बेकटाओं (जलजम्बु-विशेष) से युक्त है ।

नलपक्षमें—रस (नल) की कौन सेना रथमहित वाहनों (घोड़े हाथी) आदि से (अथवा—वेगयुक्त रथोंसे) शत्रुओंके प्रति गमन (अथवा—शत्रुओंका नाश) नहीं करती है ? तथा कौन मेना इसके नाम (प्रसिद्धि) को नहीं बढ़ाती ? (अथवा—कौन सेना शत्रुओं पर अभियान (चढ़ाई-समय) पूर्वक (या शत्रुओंका नाश करके) इसके नामको नडा नहीं बढ़ाती ?) । हे विजयवर्ति ! सैकड़ा इवैण घोड़ोंपर चढ़ी हुई उस सेनाकी अपेक्षा उन बालुओं (रेतों) को हम अधिक कैसे कहें अर्थात् बालुओंकी गणना कथञ्चित् सम्भव हो सकती है, परन्तु इसकी सेनाका नहीं, अतः उस सेनामें बालुओंको अधिक कहना उचित नहीं (अथवा—सैकड़ों इवैण घोड़ोंपर चढ़े हुए सङ्घ-प्रहार करनेवालोंकी अधिकताको हम कैसे कहें ?) अर्थात् इवैणधनतापिरुद्ध खर्यप्रहारकर्त्ताओंकी गणना अशक्य होनेसे उनका हम वर्णन नहीं कर सकती । (अथवा—सैकड़ों इवैण घोड़ों पर चढ़े हुए तथा वधुओं के प्रति गमन करनेवाले (या वधुओं को रक्षा करनेवाले) सङ्घ-प्रहारकर्त्ताओंके भावकी हम कैसे कहें ? अर्थात् उनका वर्णन करना अशक्य होनेसे हम उसे नहीं कह सकती) ॥ २३ ॥

शोण पदप्रणयिन गुणमस्यः पश्य जिह्वास्यः सेवनपरैव सरस्वती सा ।

एन भजस्वः सुभग भुवनाधिनाथ के वा भजन्ति तमिमः कमलाशया न ? ॥

शोणमिति । अस्य वरुणस्य, पदप्रणयिन पादोपमर्पिण, गुण गुणिन, रत्नवर्णजल विशिष्टमित्यर्थ, शोण शोणाख्य नदी, पश्य, किञ्च सा सरस्वती नदी, अपीति शोप, अस्य वरुणस्य, सेवनपरैव, सकलनदीनदनायकोऽयम् इत्यर्थः, तत कारणात् भुवनाधिनाथ जलाधिपति 'सलिल कमल जलम् । पय कीलालममृत जीवन भुवन वनम् ॥' इत्यमर, सुभगम् एन वरुण, भजस्वः समाश्रय, तमिमः सुभग वरुण, के वा कमलाशया जलाधारा, न भजन्ति ? अपि तु सर्वेऽपि भजन्तीत्यर्थः, अथवा—के वा प्राणिनः, कमलाशया जलावाङ्मुखा, न भजन्ति ? अन्यत्र तु—अस्य नलस्य, पद प्रणयिन पादतलगत, शोण रक्त, गुण पश्य, भाग्यलक्षणस्यादिति भावः, किञ्च सा सरस्वती वामदेवता, 'सरस्वती सरिज्ञेदे गोवाग्देवतयोर्मिनि' इति विश्व, अस्याैव नलस्यैव, सेवनपरा, लक्ष्मीसरस्वत्योर्यमेकाधिकरणमिति भावः, ततो भुवनाधिनाथ लोकनाथ, नराधिपमित्यर्थः, 'भुवन त्रिष्टपे लोके मलिले पथि यद्यपि' इति विश्व, सुभग सुन्दरम्, एन नल, भजस्व समाश्रय, के वा जनास्तमिम नल, कमलाशया लक्ष्म्याऽऽह्वया धनकाङ्क्षयैव्यर्थः, 'कमला श्रीर्जलपद्म कमल कमला मृग' इति विश्व, न भजन्ति ? ॥ २४ ॥

वरुणपक्षमें—हे सुभगे (दमयन्ति) । जलाधीश इसको वरुण करो, गुण (अप्रधान अर्थात् सेवक) इस (वरुण) के चरणमेवक 'शोण' नामक महानदीको देखो, अथवा वह

(सुप्रसिद्ध) सरस्वती नामकी नदी इसका सेवा में लगी ही है, अथवा कौन से जगत्पति (छोटे पल्लव से लेकर बड़े क्षीरमनुद् आदि तक, अथवा—वमलापर) उस सुप्रसिद्ध इस (वरुण) की नहीं सेवा करने अर्थात् क्षीरमागर पर्यन्त जगत्पतिमात्र इसकी सेवा करने है नव शोभभद्र या सरस्वती नदी इसकी सेवा करती है इसमें क्या आश्चर्य है ? (अथवा—जन्म के इच्छुक कौन लोग उस प्रसिद्ध इस वरुणका सेवा नहीं करने अर्थात् वर्षादि—वर्ण-भित्ति प्रार्थनापर इस प्रसिद्ध वर्णाधीश वरुणका सेवा (स्तुति) करते हैं) [शोभ, सरस्वती नाम अन्य जगत्पतियों ने उन-उनके अपेक्षाओं देवताओंका ग्रहण होनेने उनकी इस वर्णाधीश सेवा करना युक्तिमत्त होगा है] ।

नलपक्षमे—हे सुभग ! (तुम) इस जातनि (नल) का वरदा करो, लालिमा तुम इसका पदप्रणयी (चरानेवक) है अर्थात् इसने वर्णा लाल है वह तुम देखो । अथवा—वह सुप्रसिद्धा सरस्वती देवा इसका मेकमं नत्वर ही है अर्थात् इसके मनमें स्थित ही है । धन (पानेकी) आशाने अथवा—धनिक होन लोग इसकी सेवा (या स्तुति) नहीं करने ? अर्थात् सभी करते हैं । [यहाँ पर सरस्वती देवीने नल के वरदाको लाल वर्णाकार उनका मान्दर्य, सरस्वतीमेवम वरुणावर उनकी वर्णाधेश्वर-दक्षता तथा याचकहृत् स्तुति वर्णाकार उनकी उदारता का तथा सरस्वती एव लम्बी दोनोंका अधिष्ठान होना मन्नेन किया है] ॥२५॥
शङ्खालतातनिसनेकनलावलम्बा वाणी न वद्वयतु तावदभेदिकेयम् ।
भोमोद्धवा प्रति नले च जनेश्वरे च तुन्य तथाऽपि यदवद्वयतु चित्रम् ॥

शङ्केति । जलेश्वरे वरणे च, नले च तुल्य यथा तथा प्रयुक्तेति शेष, अत एव भीमोद्धवा भैमीं प्रति, अभेदिका भविषोपा, अन्यतरापरिच्छेदिका इति यावत्, इय वागी सरस्वतावाक्, अनेकं पञ्च, नला नेपथा, पोटगलारया दुरद्वेषास्तृण विरोधाश्च, अवलम्बो विषय आधारश्च यस्या तादृशी, 'नल पोटगले रानि' इति विदव, शङ्का पत्र लता तामातति परम्परा, न वद्वयतुतावत् न द्विनस्तु एव, समान-धर्मदर्शनात् सशयो भवदेव अत समानार्थिका वागी एषु क सन्धनल इति भैम्या सहाय कथं द्विनस्तु इत्यत्र न चित्रमिति भाव, 'बृधु च्छेद्वनपूरगयो'रिति चौरादिका ह्योत्, किन्तु तथाऽपि अवर्द्धयत् अच्छिन्नदिति यत् तदत्र चित्र, छेदनार्थत्वं या न छेदिका सेव अच्छिन्नत्वं इति विरोधात् चित्र, वर्द्धयामास इति वृद्धयर्थत्वं त्वविरोध इति विरोधाभासोऽल्लकार । 'वृधु वर्द्धने' इति भोवादिकात् गिच्, नलात्यनृगमिध-लताततिमिवानेकनलावलम्बिनीम् अय नलो वेति सन्देहततिम् इय वागी नैवाच्छिन्नत्वं प्रापुत वृद्धिं प्रापयदेवे यहो कष्टम् इत्यर्थ ॥ २५ ॥

भेदरहित अर्थात् नल तथा वर्णाने अर्थात्नी यह (सरस्वतीका) वाणी दमयन्तीके अनेक नलान्वित शङ्करूपी लगामनुद्धा नहीं वर्णाव ? अर्थात् अवश्य वर्णावे, (हमने आश्चर्य नहीं है) तन्नादि नल तथा वर्णाने समानरूपाने ही जो शङ्करूपी लता-समूहको बचाया

(वा पूरा किया) यह आश्चर्य है । [नल तथा वरुणमें इलेन्द्रा समान अर्धवाली वाणीमें दमयन्तीके शङ्का-लता-समूहका बटना आश्चर्यजनक नहीं है, किन्तु नल तथा वरुणके शङ्का लता समूह का बटना अवश्य आश्चर्यजनक है, क्योंकि दृग्मे गडे पुरुषको देखकर 'यद् दृग्गु हं या पुरुष ' ऐसी शङ्का तटस्थ किमा अ य व्यक्तिको तो होनी है, किन्तु जो पुरुष स्वतः है उसे ही अपने विषयमें यह शङ्का नहीं होना कि 'म स्थातु ह या पुरुष ? अत एव नल तथा वरुणको अपने-अपने विषयमें निश्चिन्त ज्ञान होनेमें अनेक नलाश्रित शङ्का होना विनष्ट होनेमें आश्चर्यजनक है । इसका परिहार यह है कि—] नलमें शम् अर्थात् मुख तथा जलाशिर (वरुण) में कालानाति अर्थात् कालिमा-समूह समान हुआ । ['यदि यह सरस्वती देवी वरुणका वर्णन इलेषोक्ति द्वारा नहीं करके केवल वरुणार्थक श्लोकोंसे ही करती तो दमयन्ती अवश्य ही वरुण का वरण कर लेगी और वह मुझे प्राप्त नहीं होनी' इस विचारमें नलको मृग हुआ तथा 'यदि यह सरस्वती देवी मेरा वर्णन इलेषोक्ति द्वारा नलका भी नहीं करके केवल मर्दार्थक (वरुणार्थक) इलेषोक्ति करती तो दमयन्ती मुझे ही वरण करती, मर्दको नहीं, किन्तु अब वैसा नश करनेसे दमयन्ती मुझे छोड़कर नलका भी वरण कर सकती है' इस विचारमें वरुण निराग होकर काने पड़ गये] । (अथवा—नलने सोचा कि सरस्वती देवीने इलेषोक्तिद्वारा मेरा तथा वरुण-दोनोंका वर्णन किया है केवल वरुण का हा वगन नहीं किया है, अत दमयन्ती कहीं मेरे (नलके) सन्देहमें वरुणका ही वरण न करे' तथा वरुणने सोचा कि सरस्वती देवीने इलेषोक्तिद्वारा मेरा तथा नल—दोनोंका वर्णन किया है, केवल नलका ही वगन नश किया है, अत एव दमयन्ती कहीं नल जानकर मेरा वरण कर लेगी क्या ? (अथवा—वरुण जानकर मेरा त्याग कर देगा क्या ?), इस प्रकार नल तथा वरुण—दोनोंके सन्देह-लता-समूहको सरस्वती देवीके विशेष प्रतिपादन नहीं करनेवाले अथवा समानार्थक वचनने बड़ा दिया । अथवा—विशेष प्रतिपादन नहीं करनेवाला (पक्षा—समानार्थक) सरस्वती देवीका वचन दमयन्तीके अनेक नलाश्रित शङ्का-लता-समूह को नहीं काटा (यह आश्चर्यजनक नहीं, क्योंकि जो छुरी आदि लतादिको नश काट सकती, उसका नहीं बाटना आश्चर्यजनक नहीं है) तथापि दमयन्तीके प्रति नल तथा नलाश्रित (वरुण) के शङ्का-लता-समूहको एक साथ ही काट दिया यह आश्चर्य है (क्योंकि जो छुरी आदि लतादिको नहीं काट सकती, उसका काटना आश्चर्यजनक है ।) प्रकृतमें—'मेरे सन्देहमें दमयन्ती वरुणका वरण कर ले' यह नलका सन्देह तथा 'नलके सन्देहमें दमयन्ती मेरा वरण कर ले' यह वरुणका सन्देह था, किन्तु 'सरस्वती देवीने मद्रूपधारी वरणके वर्णनमें केवल मेरा (नलका) ही नाम नहीं लिया है, परन्तु वरुणका वर्णन भी इलेषोक्ति द्वारा कर दिया है अत इलेषोक्तिज्ञानचतुरा दमयन्ती हमें वरण जानकर वरण नहीं करेगी अपितु मुझे ही वरण करेगी' ऐसे विचारमें नलके सन्देहका नाश हुआ तथा 'सरस्वती देवीने नलरूपधारी मेरे (वरुण) के वर्णनमें केवल मेरा (वरुणका) ही नाम नहीं लिया है, परन्तु वरुणका वर्णन भी इलेषोक्तिद्वारा कर दिया है, अत इलेषोक्तिज्ञान

चतुरा दमयन्ती उम वर्तन नै देग (वर्णाका) भा नाम रहनेने नैरा वरा नही करेगी' ऐमे विचारसे वर्णाके मन्दैहका नाश हुआ । अथवा—'सरस्वतीने नैरा नाम लेकर वर्तन कर दिया है अतः नलानुरक्ता दमयन्ती मुझे वरा करेगी या नहीं' इस प्रकार वर्णाके तथा 'सरस्वती देवीने वर्णाका भी नाम लेकर वर्तन कर दिया है । अतः मुझमें अनुरक्त दमयन्ती वर्णाका वरा नहा करके अन्तमें मेरे ही शेष रह जानेमें मेरा ही वरा करती' इस प्रकार वर्णाके मन्दैहका नाश (हूँ) होना समझना चाहिये ॥ २५ ॥

बाला विलोक्य विद्युपैरपि मायिभिर्मन्त्रैरञ्जितामिप्रमलीकनलीकृतस्य ।
आह स्म ता भगवती निपधाधिराज निर्दिश्य राजपरिपक्षरिषोपभाजम् ॥ २६ ॥

बालामिति । अथैव भगवती सरस्वती, ता बाला भूमा, मायिभिर्मायाविभि, 'म्रीहादि-शक्ति' अतः पञ्चालीकनलीकृतानि मायानलीकृतानि, स्वानि आत्मना पृथ्वाहो, तं विद्युपै देवैरपि, अञ्जितानाम् अप्रनारिता, नलबुद्ध्या तेषामवरणा दिति भाव, छद्मशब्दात् 'न करोति' इति व्यन्तात् कर्मणि क, विलोक्य राजय, रियपि राजमभाय, परिषोपभाजम् अवशिष्टना गत, निपधाधिराज नल, निर्दिश्य हन्तेन प्रदर्श्य, आह स्म उवाच । 'परिषोप' इत्यत्र 'परिवेप' इति पाठे तु—राजपरि पद परि सर्वतोभावेन, वेपमञ्जहार, भजनीति तादृश राजमभालङ्कारभूतमित्यर्थ । राजपरिपक्षपरिधिभाजमित्यर्थस्यापि बोधनात् नलस्य चन्द्रस्य च्यव्यते ॥ २६ ॥

मावती (सरस्वती देवी) अमन्य नल वने हुए अतः एव कण्ठी उन देवी (हन्त्रादि चार देवी, का पञ्चा—विशिष्ट विद्वान्) ने भी नहीं ठीकी यही बाला भी उस दमयन्तीको देखकर राज-मभाके आङ्कार बने हुए (अथवा—राज-मभाके अन्तमें स्थित, या राज-मभामें अवशिष्ट) निषेधवर (नल) को दित्यन्तर्गत बोलीन्—यहाँ पर राज (चन्द्र) तम्भाके परिवेप भाग करनेवाला करने में नञ्वा चन्द्र शब्दात् च्यव्य होना है ॥ २६ ॥

अयानिलब्धप्रितयप्रनप्रम्यया किं विजायते रुचिपद न महीमहेन्द्र ? ।
प्रन्यविद्वानप्रशानाऽऽन्तिचेष्टयाऽसी जीमूतयादनधिय न करोति चम्य ? ॥

अतः नलमेकैकश्लोकेन समात् इन्द्राद्यैकैकश्लोकेनाह, अस्यापीति । अस्याजिपु महापुद्गेषु, तच्छो विनयप्रभवो चरूपफल येन स, रुचिपद चन्द्रतुरागास्पद, मही-महेन्द्रो नन्देन्द्र, अथा किं न विजायते ? अर्थिषु विषये प्रयर्थि, विभक्त्यर्थेऽप्यपी भाव, दानस्य वशमया तनिष्ठमया, आहितया जनया, चेष्टया वितरण-यागारेण, असी नल, कस्य जीमूतयाहन तत्रामा महा-यागी कश्चित् विद्याधरराज, तद्विष तद्बुद्धि, जीमूतयाहनप्रान्तिमित्यर्थ, न करोति ? न जायति ? तस्मात् नलोऽय मिति भाव । अन्यत्र तु—तच्छो विनय पात्रे पद, 'विनयस्तु ज्ञपे पार्थ' इति विध, १. 'परिवेप' इति पाठान्तरम् । २. 'प्रम्यरचया' इति पाठान्तरम् ।

प्रसवोऽपत्य येन स , मचीना तेजसा, पद स्थान, मह उत्सव तद्वान् मही नित्योत्सव इत्यर्थ , महेन्द्र दधन्द्र , त्वया अत्याजि त्यक्त , किं न विज्ञायते ? अपि ॥ विज्ञेय एव, प्रार्थिना प्रतिपक्षाणा, दानवाना दातेषु आहितया कृतया, चेष्टया शत्रुनाशा नुनूलपौरुषेण, असी कस्य जीमूतवाहन मेघवाहन , इन्द्र इत्यर्थ , 'इन्द्रो मरत्वान् मघवा, तुरापाग्मेघवाहन' इत्यमर , तद्वियम् इन्द्रोऽयमिति बुद्धि, न करोति ? अपि तु करोत्येव ॥ २७ ॥

(यद्वाग्ने चार श्लोकोसे (१३।२७-३०) नलका तथा उर्हा चार श्लोकोमें से एक एक श्लोकोसे क्रमश इन्द्र, अग्नि, यम, वरुणका वर्णन इत्येष द्वारा सरस्वती देवीने किपा है) नलपक्षमें—बहुत (या बड़े बड़े) युद्धों विजयफल (पाठा०—विजयाधिक्य) की पाने-वाले तथा रुचि (शोभा या अनुराग) के स्थान भूपति (नर) को तुम क्यों नहीं जानती अर्थात् तुम्हें नलको जानना (पहचानना) चाहिये । प्रत्येक याचकोंमें दानके वशपराय-गताके द्वारा की गयी चेष्टासे यह (नर) किमे जीमूतवाहनकी बुद्धिको नहीं उत्पन्न करता है अर्थात् प्रत्येक याचकोंके लिये दानन करनाकी चेष्टासे हमे सभी लोग जीमूतवाहन मानने हैं । (अथवा—दानमे याचकके प्रति वशवा (जिनेन्द्रियभाव) के द्वारा की गयी चेष्टा से अथवा—प्रार्थियों (शत्रुओं) को खण्डन करनेवाले हे प्राग जिनके देस (अथवा दूर-बारों) की अधीनतामे की गयी चेष्टासे यह किमे जीमूतवाहन (इन्द्र) की बुद्धि नहीं उत्पन्न करता है ? अर्थात् वशीभूत शत्रुहन्ता दूरवीरोंके विषयमें इसके कार्यको देखकर सभी लोग हमे इन्द्र समझते (इन्द्र-सा मानते) हैं । इन्द्रके समान यह नल भी शत्रुओंको वशने करनेवाला है) ॥

पौराणिक कथा—पर्यायक्रममे ममयवद्ध होकर १-१ सर्परा आहार प्रतिदिन प्रह्ण करनेवाले गरुडके लिये 'शत्रुचूड' नामक नागका स्थानाग्न शक्ति जीमूतवाहनने अपना शरीर अर्पण कर दिया और उनकी—

'शिरामुल्लै स्वन्दन एव रक्तमवापि देहे मम मासमस्ति ।

सृति न पन्थामि तवापि तावत्किं भक्षणाख्य विरता गरुत्मन् ॥'

वीरगा एव दयापूय उक्तिमे प्रसन्नचित्त गरुडने अभूतवर्षाकर भक्षित मय सर्पोंको जादित कर दिया तथा सर्पोंके लिए पर्यायक्रममे नागोंका भक्षण करना छोड़ दिया । (नागान ५)

इन्द्रपक्षमें—बहुत (या बड़े-बड़े) युद्धों (में विजयपाने) वाला, विजय अर्थात् अर्जुन (या जयन्त) नामक पुत्र (पाठा०—विजय-विन्तार) को पाये हुए, मेघ स्थान (कानिमान् या अनुरागवान्) तथा वसववान् महेन्द्रको तुम नही जानती (पहचानती) हो ॥ अर्थात् जानती ही हो (अथवा—नहीं जानती हो अर्थात् जानना चाहिये) । यह (इन्द्र) शत्रुभूत सँकेटों दानवोंमें की गयी चेष्टा (यापार) से मेघवाहन (इन्द्र) की बुद्धि किमो नहीं करना अर्थात् सँकेटों दानवोंमे इसके कार्यको देखकर सभी लोग हमे इन्द्र जानने हैं । (अथवा—विजय-पुत्रको पाए हुए महेन्द्रको तुमने क्यों छोड़

दिया ? यह विश (विद्वान्) के मनान नहीं आकरा करता (विश नहीं) है ? अर्थात् विश ही है । रचिका स्थान (रचिकर) नहीं है ? अर्थात् रचिका स्थान है ही, उत्पन्न वा नहीं है ? अर्थात् उत्पन्नवान् सा है ही । अतः यह है कि इन पुण्योने तुम्हें इस इच्छे कारणों को उचित कारण नहीं मान्न होना है । अथवा—वि (पक्षी अथवा गण्ड) ने जयको प्राप्त अर्थात् अनुरक्त स्वयमे लेजानेवाले गण्डने पराजित, महेन्द्रको तुम्हने जानकर छोड़ दिया ? अर्थात् ठीक ही किया, यह तुम्हारी रचिका स्थान (रचिकर) नहीं है अथवा तुम्ह नहीं रचना और उत्पन्नवान् नहीं है । अर्थात् दैत्यमने एका उत्पन्न ही है [इस पक्षमें 'न' का दोनों ओर अन्वय करना चाहिये] अथवा—उक्त गुणवाले इन्द्रको तुम नहीं जानती ? अर्थात् तुम्हने जान ही लिया है (क्योंकि हमने) छोड़ दिया है । अथवा—नरेशुद्ध में (गण्ड) से पराजित महेन्द्रको [उत्तरार्द्धकी व्याख्या इन वैचित्रिक पक्षोंमें भी पूर्ववत् ही समझनी चाहिये] ॥ २७ ॥

पौराणिक कथा—पराजित होकर उसका दास बनो हुए मात्रा 'विनत' को दामोदरने मुक्त करनेके निम्ने गण्ड स्वयं आकर बहाने अनुरक्त ले जाने लगे तो इन्द्रने मना किया और मुक्त में उन्हें पराजितकर गण्ड अमृतको ले जाकर मात्रा को दास्यत्वसे मुक्त किया । (नागानन्द)

येनामुना बहुविगाढसुरेश्वराधराज्याभिपेक्षिकमन्मदसा बभूवे ।

आवर्जन तमनु ते ननु माधु नामग्राह मया नलमुदीरितमेवमत्र ॥ २८ ॥

येनेति । येनामुना नलेन, बहु यथा तथा, विगाढ क्षुब्ध . आचरित इत्यर्थ , सुरेश्वरस्य इन्द्रस्य, अध्वालोकपालनरूपमाणां यत्र तादृशे राज्ये अभिपेक्षाद्विक्रमन्ति बद्धिमानि, महाशूरपत्न्या तेनामि वा यस्य तादृशेन, बभूवे भूतम् । अत्र समाधा, मया नामग्राह नाम गृहीत्वा, 'नाम्याद्विशिप्रहो' इति णमुल्-प्रत्यय , एव पूर्वोक्त प्रकारेण, उदीरितम् उक्त, नल नलनामान, तमेतम् , अनु लक्ष्यीकृत्य, ते तत्र, आबर्जनमाकर्षण, मातु ननु युक्त खलु, अयमेव सयो नल एतद्वरं युक्तमेवेत्यर्थ । अग्यत्र, तु—येनामुना अग्निना, बहु बार बार, विगाढा आहूता इति यावत् , सुरेश्वरा इन्द्रादयो देवश्रेष्ठा येषु तादृशेषु अध्वरेषु यज्ञेषु, आश्रयाना घृतामान् , अभिपेक्षात् अन्त पेक्षान् करणात् , विक्रमन्मदसा वर्द्धमानतंजया, बभूवे । मया अनन्तम् अग्निम् , अन्यत समानम् ॥ २८ ॥

नलपक्षमें—जो यह (नल) देवेन्द्रके (लोकपालनत्प) मात्राके अधिक मेहन तथा राज्यभियोगों के हुए ऐश्वर्या हुए (अथवा—अनेक बार देवेन्द्रद्वारा मेहन किया गया है लोकपालनत्प मात्रा विष्का देमा) है दक्षतर (इस समाने, या इन पांच नगोंमें) नाम नदी कर मुक्तने करे मने लम (नल) को लक्षकर तुम्हारा आकर्षण (या पतिमावने बरान करना) उचित है, अर्थात् मने दक्ष पर नलका जान लेकर कह दिया, ऊत इसके प्रति आहूत होना मर्त्या उचित हा है ।

अग्निपक्ष मे—जो यह (अग्नि) अनेक बार बुलाये गये हैं इन्द्रादि देवप्रेष्ठ जिनमें ऐसे यज्ञोंमें घृताभिषेक (घृताहुति) से बड़े हुए तेज (ज्वाला) वाला हुआ (अथवा—अनेक बार किये गये सुरेश्वर (इन्द्र) यज्ञोंमें किये) । यहा पर (इन पाच नलोंमें, या इस स्वयंवर सभामें) मुझमें नाम लेकर बतलाये गये 'अनल' (जलमित्र, पक्षा०—अग्नि) के प्रति तुम्हारा आकर्षण उचित है (अथवा—उचित है क्या ? अर्थात् उचित नहीं है । अथवा—

के प्रति तुम्हारा वर्जन (निषेध) उचित है क्या ? अर्थात् नहीं अपितु हमें स्वाकार करना चाहिये । अथवा— के प्रति तुम्हारा वर्जन उचित है अर्थात् तुमने मेरे द्वारा नाम लेकर 'अनल' बतलाये आनेपर जो इसका त्याग किया वह ठीक ही किया 'आ' (हर्ष) है । अथवा— के प्रति तुम्हारा सर्वभावेन त्याग उचित नहीं है क्या ? अर्थात् उचित ही है ।) [इस पक्षमें—'ननु' को दो पद मानकर 'नु' शब्द दमयन्ती का सम्बोधनार्थक तथा 'न' शब्द निषेधार्थक मानना चाहिये] । अथवा— के प्रति तुम्हारा सर्वभावेन त्याग उचित ही है । [इस पक्षमें 'ननु' शब्द निश्चयार्थक मानना चाहिये] ॥ २८ ॥

यच्चण्डिमारणयिधिष्णसन्नञ्च तत्त्वबुद्ध्याऽऽशयाश्रितममुं च दक्षिणत्वम् ।
सैषा नले सहजरागभरादमुष्मिन् नात्मानमर्पयितुमर्हसि धर्मराजे ॥ २९ ॥

यदिति । अमुष्य नलस्य, चण्डस्य भाव चण्डिमा रणेन अतिकोपनत्व, 'चण्डस्वस्थान्तकोपन' इत्यमर, पृष्ठादिस्वादिमनिच्-प्रत्यय, रणविधौ युद्धकर्मणि, ध्यमनमासक्तिश्च, 'ध्यमनमवशुभे भक्तौ' इति; विश्व, आशयाश्रितचित्ताश्रित, दक्षिणत्व दाक्षिण्यञ्च, इति यत् तत् सर्वं चण्डिमादिक, 'नपुंसकमनपुंसकेन' इत्यादिना यत्तदिति नपुंसकैकमिर्देश, बुद्ध्या विचार्य, सैषा त्वम् अमुष्मिन् धर्मप्रधानो राजा तस्मिन् धर्मराजे, नले नलनामनि वीरे, सहजरागभरात् अकृत्रिमानुरागातिरेकात्, आत्मानम् अर्पयितु न अर्हसि ? किमिति शेष, अपि तु अर्हस्येव, एतद्वरणमेव तत्र योग्यमिति भावः । अन्यत्र तु—चण्डि ! हे कोपने !, गौरादिस्वात् ङीप्, अमुष्य धमस्य, यत् मारणयिधियसन्न मारणकर्मासक्तिम्, आशया दिशा निमित्तेन, श्रित प्राप्त, दक्षिणत्वं दक्षिणदिक्पतिप्रञ्च, तत् सर्वं तत्र यथार्थ, बुद्ध्या सैषा त्वम्, अनले नलात् अन्यस्मिन्, अमुष्मिन् धर्मराजे यमे, इत्यादि पूर्ववत् ॥ २९ ॥

नलपक्षमें—जिस (नल) का चण्डिमा (अत्यधिक क्रोध) युद्धकार्यमें व्यसन ही है अर्थात् उसमें क्रोधमें शत्रुओं को मारने का ही व्यसन है (सब शत्रुओंकी युद्धमें मारना है), अथवा—जिसकी चण्डिमा तथा युद्धकार्यमें व्यसन (निभय होकर शत्रुके साथ निरन्तर युद्ध करना) तत्त्व (सारभूत वाच्य) है सो तुम इसके आशय (मन) में स्थित तथा सरलता (अथवा—दमके शय (हाथ) में स्थित दक्षिण्य (दानशूरता या युद्धशूरता) को जानकर वर्तना (या धर्म से शोभमान) इस नलमें स्वाभाविक रणैशानिदयसे आत्म समर्पण करनेके योग्य नहीं हो ? अर्थात् अवश्य ही हो । (इस शीर्षादिपुण्युक्त नलको तुम आत्मसमर्पण करके पतिरूपमें स्वीकार कर लो) ।

यमपक्षमें—हे चण्डि (कोपनशीला दमयन्ति) । इस (यम) का ओ मारा कार्यमें व्यसन तथा दिशा (के निमित्त) से दक्षिणत्व आश्रित है अर्थात् दक्षिण दिशा का आश्रय (स्वामी होनेसे दक्षिण दिशामें निवास) करता है, वह सब तुम मालूम कर स्वामाधिक र्नेहादिशयमे इम धमराज अर्थात् यममें आत्मसमर्पण करनेके लिए योग्य हो अर्थात् वह सबको मारता है तथा स्वामी होनेसे दक्षिण दिशामें रहता है, यह सब जानकर तुम इमे स्वामाधिक प्रेमातिशयमे आत्मसमर्पणकर पति बनाओ । (अथवा—हे चण्डि ! 'नन्' भिन्न व्यक्ति का नाम मात्र होनेसे कोप करनेवाली दमयन्ति) ' इम (यम) के मारण कार्य का व्यसन (सर्वदा मारनेका ही कार्य) तथा दिशा के द्वारा आश्रित दक्षिणा (मरणा या अनुकृणा, किन्तु स्वयं दक्षिणताय)—यह सब (इन्दा) तत्त्व (वास्तविक रूप) जान कर वह (कर्तव्याकर्तव्यज्ञानमन्वेष होनेसे सुप्रसिद्ध) तुम अनल अर्थात् नलनिम्न यममें स्वामाधिक प्रेमातिशयमे आत्मसमर्पण करनेके लिए योग्य नहीं हो अर्थात् इमे तुम पति रूपमें स्वीकृतकर आत्मसमर्पण मत करो । अथवा—इमका मारण कार्यमें व्यसन (निम्न मन्त्र रहना) तो तत्त्व अर्थात् सत्य है, परन्तु दक्षिणा (मरणा या अनुकृणा) तो दिङ्मात्रमे आश्रित है अर्थात् दक्षिण दिशाका स्वामी होनेसे उसको दक्षिणात्वाश्रित कहने में स्वयं दक्षिण होनेके कारण नहीं, यह सब जानकर । अथवा—उक्त यमका जानकर अस्वामाधिक प्रेमातिशयके कारण इम यमको आत्मसमर्पण करनेके लिए तुम योग्य नहीं हो, (हेमे असङ्गुणयुक्त यक्षिमें अस्वामाधिक प्रेम होनेसे आत्मसमर्पण करना तुम्हें उचित नहीं है, क्योंकि महा हार्दिक प्रेम नहीं वहां आत्मसमर्पण—जैसा महत्त्वपूर्ण कार्य कान्ता कदापि उचित नहीं कहा जा सकता, अत एव तुम इमे कदापि बरा मत करो) ॥ २९ ॥

किं ते तथा मतिरमुष्य यथाऽऽशय म्यात्स्वपाणिपीडनप्रतिनिमित्तमनपाश ॥

कान्मानयानवति नो भुवन चरिण्युर्नासावमुत्र न रता भरतीनि युक्तम् ?

किमिति । हे वामे ! स्वपाणिपीडनप्रतिनिमित्तये तव पाणिग्रहणकरणात्, अनुप्य नलस्य, आशयोऽभिप्राय, यथा अपाश अपगताशो न भवतीत्यनपाश साभि लाय, ते तव, मतिरपि तथा अनपाशा, म्यात् किम् ? साभिलाषा चेत् तत् युक्त मित्यर्थ । असी नल, भुवन लोकम्, नध्यम्नवयोगे द्वितीया, चरिण्यु मन् दान् मानवान् मनुष्यान्, नो अवति ? न रक्षति ? अपि सवनिव रक्षति इत्यर्थ, भवता एवम्, अमुत्र अमुमिन् नले, रता अनुरक्ता, न इति न युक्तम्, इदमे पुरमे सर्वदा त्वया अभिरन्तव्यमिति भाव । अन्यत्र—अमुष्य वरगस्य मग्गन्धो दय पाणि, स्वपाणिपीडनप्रतिनिमित्तये नास्ति पाशो यत्रेति नपाश पाशास्त्रान्य, यथा स्यात् तथा ते मति रिम् ? पाशास्त्र त्यक्त्वा त्व पाणिग्रहण किं तेऽभिमनम् ? इत्यर्थ । मानवान् ममुन्नतचित्त, 'मानश्चित्तममुनति' इत्यमर, असी वरग, भुवन

१ चरिण्युर्नासावमुत्र' इति पाठान्तरम् ।

जल, 'सलिल कमल जल, जीवन भुवन वनम्' इत्यमर, चरिणु जलरूपेण सञ्चारन्, कान् नो अवति ? जलस्यैव सर्वेषां जीवनस्वरूपत्वादिति भाव, अमुत्र वरणे, नरता नरत्न, न भवति नास्ति, इति युक्त, तस्य देवत्वादिति भाव ॥ ३० ॥

नलपक्षमे—इस (नल) का आश्रय तुम्हारे साथ विवाह करनेके लिए जिस प्रकार आशादिन है क्या तुम्हारी बुद्धि भी (इसके साथ विवाह करने के लिए) उसी प्रकार आशान्वित है ? (अथवा— जिस प्रकार आशान्वित है, तुम्हारी बुद्धि भी उसी प्रकार की है क्या ?) । ससारमें गमनशील यह किन मनुष्योंका (अथवा—मानवान् अर्थात् कुल-शास्त्रिका मानो तथा ससार में गमनशील यह किनका । पाठा०—यह ससारमें गमनशील किन मनुष्यों का) रक्षण नहीं करता अर्थात् सभी का रक्षण करता है । इसमें आप अनुरक्त हुए हो यह युक्त (उचित) नहीं है ? अर्थात् उचित ही है (अथवा—यह मनुष्य है, हममें आप अनुरक्त नहीं हैं यह युक्त है ? अर्थात् नही । अथवा—यह मनुष्य (पुरुषश्रेष्ठ) है (अथवा) इसमें नरता (मनुष्यता—पुरुषश्रेष्ठता) होती है यह युक्त होना है अर्थात् इन इत्यादि देवोंमें नरता (मनुष्यता) युक्त नहीं होती । अथवा—हैं भवति !, दोष अर्थ पूववत् जानना चाहिये) ॥

वरणपक्षमे—इस (वरुण) का हाथ तुम्हारे पाणिपीठन (विवाहमें हस्तग्रहण) के लिए पादरहित जैमे होगा वैसी तुम्हारी बुद्धि है क्या ? यह विवाह—कान्में तुम्हारा हाथ पाग-रहित होकर ग्रहण करेगा । अथवा—इसका हाथ तुम्हारे पाणिपीठनके लिए (होगा) पाद (इसका अन्ध-विशेष) नहीं । (अथवा तुम्हें भय छोड़ देना चाहिये) । जन्में चल्नेवाला यह किन मनुष्यों का (दृष्टने आदि में) रक्षण नही करता ? अर्थात् जन्में प्रविष्ट मनुष्योंका दृष्टने आदिसे यह वरुण ही रक्षा करता है (पाठा०—जन्में सञ्चारणशील किन मनुष्यों का यह रक्षण नही करता ? अपि तु यह सब मनुष्यों का रक्षण करता है । अथवा—जन्में सञ्चारणशील यह जन्मे मनुष्यों की रक्षा करता है । हममें आप नहीं अनुरक्त हैं यह युक्त नही है अर्थात् हममें आपका अनुरक्त होना चाहिये, हममें नरता (मनुष्यभाव, पक्ष०—'रत्योरभे' के नियमसे 'नल्ता' = नल्मात्र) नही होता यह युक्त (ठीक) है अर्थात् यह मनुष्य नहीं कि तु देव (वरुण) ॥ । अथवा—वह ना (मनुष्य) नहीं है अथवा) हममें आप अनुरक्त हैं यह युक्त है ? अर्थात् आपका इस (वरुण) में अनुरक्त होना युक्त नहीं है । अथवा—इस (वरुण) में आप अनुरक्त नहीं हैं यह युक्त नहीं है ? अथवा आपका इसमें अनुरक्त नहीं होना युक्त ही है) ॥ ३० ॥

श्लोकादिह प्रथमतो हग्निना द्वितीयाद् धूमध्वजेन त्रितीयात् ।
तुर्यान्नतास्य वरुणेन समानभावेन जानती पुनरवाग्निं तथा त्रिमुखा ॥

श्लोकादीनि । इह श्लोकचतुष्टये, प्रथमतः प्रथमात्, श्लोकात् हरिणा इन्द्रेण सम, द्वितीयात् श्लोकात्, धूमध्वजेन अग्निना सम, तृतीयात् श्लोकात्, त्रिमुखात्

यमेन सम, नृत्यान् चतुर्थश्लोकात्, 'चतुरश्रयतावाद्यश्रलोपश्च' इति सात्तु, वस्त्रेण सम नलस्य समानभाव मारूप्य, जानती अवगच्छन्ती, धत्त एव विमुग्धा विमूढा, सा भैमी, तथा देव्या, पुन अवादि उदिता, वदे कर्मणि लुङ् ॥ ३१ ॥

एन चार श्लोकों (१३।२७-३०) में-ने पड़े ('अत्वात्रि-' १३।२७) श्लोकने इन्द्रके साथ दूमरे ('वेनामुना-' १३ २८) श्लोकमें अग्नि के साथ, तीमर ('यक्षिणमा-' १३ २९) श्लोकमें यमके साथ और चौथे ('किं ते-' १३।३०) श्लोकमें वरुणके साथ उक्त (नन्) की समानता को जानती हुई (अन एव) अत्यन्त प्रमत्त पड़ी हुई दमयन्तीने वह (मत्स्वना देवा) फिर बोली ॥ ३१ ॥

एव याऽधिनी स्तित ननेन शुभाय नस्या क म्यान्निजापेणममुत्र चतुष्टये ने ?
इन्द्रानलार्थमननजपय पतीना प्राप्यैकत्पमिन् मसति दीप्यमाने ॥ ३२ ॥

अथ पुनर्देवी देवेषु दानिष्यात् दमयन्ती श्लेषमद्वयन्तरेण शिलरनानि, श्लोक-द्वयेन त्वमिष्यादि । या एव नलेन निमित्तेन, अधिनी अर्धवती, किल, 'अर्धांश्याम मिहिते' इति इतिप्रत्यय, सस्यास्तत्प्राधिण्या, ते तव, ऐकरूप्य नटसारूप्य, प्राप्य इह अस्या, समदि स्वयवरमभाया, दीप्यमाने राजमाने, अमुत्रामुग्मिन्, इन्द्राम लार्थमननजपय पतीनाम् इन्द्रवह्नियमरुणाना, चतुष्टये चतुष्टयमप्ये, य इस्मिन्, मिजापेणम् आत्मसमर्पण, शुभाय मङ्गलाय, स्यात् ? एतेषु कस्मिन्नपि आत्मदाने शुभाय न स्यादेव, यत एते इन्द्रादय नलरूपधारिण न त्वेषु कोऽपि वास्त्विक नल इति तव प्रार्थना सफल न अवेदिति भाव । अन्यत्र-मलमारूप्य घृवा इन्द्रादीनां चतुष्टये इह ससदि दीप्यमाने जाज्वल्यमाने सति, अमुत्र नले, निजापेण य कुन, शुभाय स्यात् ? अपि तु न कुनोऽपि स्यात्, इन्द्रादीनपरितोष्य नलवरण ते न शुभकरमिति भाव । एवम् अर्थद्वयेन समात् नलप्राप्ती नैराशय तन्नेष्टुष्टारूपेण ताम् अतापयदिति तात्पर्यम् ॥ ३२ ॥

जो तुम नन्में अभिषादनी हो, उस तुम्हारा इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण का एक स्तना (राजाने, दिक्पाल, होने के कारण समानरूपता) को प्राप्तकर हम स्वयवरमें इन चारोंके प्रकाशमान रहने पर (नन्) में आत्म-समर्पण करने शुभ (मङ्गल) के लिए नडा होगा । अर्थात् अवश्य ही होगा । (अर्थात्—जो तुम नन्में निदान ही अर्ध-लापवती हो, उस तुम्हारा इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण के एकलपता (नन्की समानरूपता) को प्राप्तकर हम स्वयवर ममाने दीयमान (ज्वलन्ति = जे धिन) होते रहने पर हम (नन्) में आत्म-समर्पण करना कभी अर्थात् किस प्रकार शुभ (कल्याण या हर्ष) के लिए होगा ? अर्थात् इनको छोड़कर नन्का बरग करने पर तुम्हारा कल्याण नहीं होगा क्योंकि ये तुम्हें या नन्को भी क्रुद्ध होकर शाय दे दगे । अर्थात्—जो तुम नन्में अधिनी (अभिलाषवती) हो (हम प्रकार वर्णन किये गये भी नन्को बरा बरग कम्ती) उस तुम्हारा नन्के समान

रूप को प्राप्त कर इस स्वयंवर समांमें प्रकाशमान इन इन्द्र आदि चारों देवों में-मे किमने आत्मसमर्पण करना शुभके लिए होया अर्थात् मेरे अनेक बार कहने पर भी नलको वरण नहीं करना तो अनिश्चय सुन्दर इनमें मे किमका वरण करती हो ? कहो [इस वचनमें यहाँ पर इन्द्रादि देव ह या नहा ? दमयन्ताके इस सन्देश को सरस्वती देवीने दूर कर दिया, किन्तु उनने वे इन्द्रादि देव कौन हैं ? तथा नल कौन है—यह विशेष नहीं बताया, दश पर इन्द्रादिका स्वाग भा प्रवीन होता है] । अथवा—जो तुम नलमें अभिलाषवती हो, उम मुन्हाता नलके समान रूपको प्राप्तकर इस समांमें प्रकाशमान इन्द्रादि चार देशोंमें—आत्म समर्पण करना कदा शुभके लिए होगा ? अर्थात् दूसरेमें अनुरक्त स्त्री का दूसरे को आत्म समर्पण कर पति बनाना कमी कहवा (हर्ष) कारक नहा हो सकया, अत एव तुम इन इन्द्रादि का स्वागकर नलको ही वरण करो ॥ ३२ ॥

देव पतिरिष्टुपि । नेप धराजगत्या निर्णीयते न किमु न त्रियते भजत्या ? ।

नात्र नल खलु त्वातिमहा नलाभो यद्येनमुज्जामि वर कतर पुनस्ते ? ॥

देव इति । विदुषि । हे विद्वन्ने । मनुक्तित्रैचिन्त्याभिज्ञे । एष धराजगत्या भूलो कस्य, पति न, किन्तु देव, आतापेकवचनम्, एते न भूषा किन्तु देवा इत्यर्थ, भवत्या न निर्णीयते किमु ? न त्रियते किमु ? मर्त्यवरणान् वरम् अमर्त्यवरणमेवेति भाव । अथवा—धरान् पर्वतान्, अजति क्षिपतीति धराज इन्द्र, स एव गति शरण यस्या इति धराजगति प्राचीदिक् तस्या, पति एष देव इन्द्र, न निर्णीयते इति न, अपि तु निर्णीयते एव, अत एव उ इति सम्बोधनम्, उ भो । भवत्या किं कथ, त्रियते ? अयमेव ते वरणीय इति भाव ।

अग्निपदे तु—धरोवाहनम्, अज छाग यस्येति धराजो वह्नि, वह्नेरजवाहनव-
श्वशान्, स एष गति शरण यस्या तस्या आग्नेय्या दिश, पतिरेव देवाऽग्नि,
न निर्णीयते इति, अन्यत् पूर्ववत् ।

यमपदे तु—धरान् पर्वतान्, अजति शृङ्गाभ्या तुर्योर्वा क्षिपति इति धराज
सहिप, तेन या गतिर्मम तयोपलक्षित, पति धर्मरूप्यात् पालक, देव यम,
अन्यत् पूर्ववत् ।

वृष्णपदे तु—धराया पृथिव्या, जायन्ते इति धराजानि स्थावरजङ्गमानि
नूतानि, तेषा गतिर्नावनोपायो जल तस्या, पति, जलाधिपतिरित्यर्थ, वरणा,
न निर्णीयते इति न, अन्यत् पूर्ववत् । अथ तत्र मय्यन्धी त्वमार्थिन इत्यर्थ, नलो
न खलु, किन्तु अतिमहा मनुष्यापेक्षया धनितेजा, नलाभ नलरूप, नेते नला
किन्तु नलप्रतिरूपका इत्यर्थ, यद्येनम् उज्जामि एषाम अन्यतम न वृणोपि चेदि
त्यर्थ, पुन पश्चान्, ते तव, त्रियते इति वरो वरणीय, वृडोऽप्य, कतर ? न कश्चि
दग्नि, सयनलस्य दृष्टंभत्यादिति भाव ।

अन्यत्र (नलपत्रे)—भवत्या एष धरानगत्या भूलोकस्य, पति रक्षक, देवो राजा, 'देव सुरे घने राज्ञि' इति विज्व, नैपधराजगत्या नलमहाराजरूपेण, नैपधराजस्य नलस्य, रात्या ज्ञानेन वा, अथवा—नैपधराज एव गतिजीवनोपायो यस्या स्तया, भवत्या इत्यस्य विशेषणम्, पतिर्भर्ता, न निर्णयिते किमु ? न प्रियते किमु ? अथ न पुरष नल स्वलु अतोऽयमेव वरणीय इत्यर्थ, एन नलम्, उज्जसि यदि तव अतिमहान् अलामोऽनर्थ, वर द्यादि पूर्ववत् ॥ ३३ ॥

इन्द्रपञ्चमें—हे पण्डिते (मेरी इलेक्ट्रॉनिको समझनेमें अनुर दमयन्ति) । यह देव (स्वर्गमें क्रांति करनेवाला, या देवता) भूलोक का स्वामी नही है (किन्तु देवता एव स्वर्गलोक का स्वामी इन्द्र है यह) तुम नहीं निश्चय करता हो ? और इसे वरणा (पतिरूपमें स्वीकार) नही करती हो ? अर्थात् इसे इन्द्र जानकर वरणा करना चाहिये । (अथवा—तुम नही निश्चय करती हो ? (क्योंकि इसे) वरणा नही करती हो) (यदि तुम इसे इन्द्र होने का निश्चय कर लेती तो मनुष्यापेक्षामें देव उममें भी देवोंका स्वामी इन्द्र होनेमें इसे अवश्य वरणा कर लेती, इसीलिए तुमने इसके इन्द्र होने का निश्चय नहीं किया है ऐसा जान पटता है), अथवा—पर्वणोंके क्षेत्रामें गनिमान् (वज्र) में पुरुष अर्थात् समर्थ यह इस देव (इन्द्र) को पति नही निश्चित करती हो ? (और निश्चित करती हो तो क्यों) वरणा नही करती ? अर्थात् इसे पति निश्चित कर वरणा करना चाहिये, अथवा—पति नही निश्चित करती अर्थात् निश्चित करती ही हो फिर क्यों नहीं वरणा करती ? अर्थात् पति निश्चित करके अवश्य ही वरणा करना चाहिये । अथवा—हे (दमयन्ति) ! पर्वणों को क्षेत्रा करने (फेंकने) वाला इन्द्र ही है गति जिसका देसी पूर्व दिशा का पति (पूर्वदिशाका इन्द्र) का नही निर्णय करती । देसा नहीं है तथापि) क्यों नही वरणा करती ? निश्चय हा यह नल नही है (किन्तु) अग्निदेवस्त्री नलाम (नलके तुल्य आमावाला) तुम्हें कान होता है अर्थात् नलभिन्न (इन्द्र) होत हुए भी तुमकी अग्निदेवस्त्री होनेमें नलतुल्य कानिनात् जान पटता है (मनुष्यापेक्षा अधिक तेज होनेमें वरणा करने योग्य है) । अथवा—यह नल (दृग्वद वृच्छ मारवाला) नहीं है (किन्तु) अग्निनल (जल नामक वृत्तमें अधिक सार वाला है, इस कारण भी वरणा करने योग्य है) । अथवा—यह नल नहीं है (अत एव इसके वरणा करने पर) तुम्हें दटे-बडे उत्सव स्वर्गमें नन्दन वन विशार एव सुन्दर पर्वणपर क्रांति आदि) तथा जीने का लाभ प्राप्त होगा, अर्थात्—इसके वरणा करने से तुम्हें नन्दन क्रीडा आदि करने का अवसर अनायास ही प्राप्त होगा, अथवा—बहुत दिनों तक जीवित का लाभ होगा अर्थात् इसके वरणा करनेसे तुम अमृतपान सुलभ होनेमें बहुत दिनों तक जीओगी (अमर हो जाओगी) । यदि हम (अथवा—'अ=इन्द्र' अर्थात् विष्णुके वर माह होनेमें स्वामी = इन्द्र) को छोड़ोगी तो दूसरा तुम्हें कौन वर (पति या श्रेष्ठ) मिलेगा ? अर्थात् समार में विष्णुके भी स्वामी इन्द्र को छोड़ने पर तुम्हें इसमें श्रेष्ठ कोई नहीं मिलेगा

अनश्व इमे ही वरण करो । अथवा—यदि छोड़ोगी तो तुम्हारा बीन वर (पति या श्रेष्ठ, या अभीष्ट) होगा अर्थात् कोई नही (अपितु वह) पर (शत्रु) ही होगा । अथवा—यदि छोड़ोगी तो तुम्हारा वनर (‘क’ अर्थात् वायु से बढनेवाला या ‘क’ अर्थात् जन्मे जाल्म होने (बुझने—नष्ट होने) वाला (इन्द्रके बादमें स्थित अग्नि) पति होगा । [अथवा—इमने इन्द्रके तयार करने का भी सवेन सरस्वती देवी कर रही है, यथा—] यह भूमेकका पति (रक्षक) राजा नल नहीं है, यह तुम क्या निर्णय नहीं करती ? अर्थात् निर्णय करती ही हो (और अत एव) नहीं वरण करती (नलानुरक्त होकर नलभिन्न इन्द्रका वर नहीं करना तुम्हें उचित ही है) । (अथवा—इन्द्र ही है पति जिसका देसी दन्नाणीका यह पति देव (इन्द्र) है यह निश्चय नहीं करती हो ऐसा नहीं है अर्थात् इमे इन्द्राणापि देव इन्द्र तुम जानती ही हो (अत एव) नहीं वरण करती हो क्या ? (यह अच्छा ही करती हो) । सन्नेह निवृत्तिके लिये सरस्वती देवी उसी निषेधपक्षको और भी आगे पुष्ट करने शुरू करती हैं—) यह तुम्हारा (तुम्हारे चित्तमें स्थित) अतिमहान् (अतिशय तेजस्वी) नल नश है (अत एव तुमने इसका त्याग कर दिया तो ठीक ही किया) किन्तु नलाम (नलतुल्य आभासित होता) है अर्थात् कपट द्वारा इसने नलरूप धारण किया है । (अथवा—यह नलाम (‘नल’ नामक तुणके समान निस्सार है) (अत एव तुम इसे छोड़ती हो तो पर अर्थात् श्रेष्ठ वनर ‘क’ (सुग) में नरनेवाला) अर्थात् मुखसमुद्र नल वर (पति) होगा । नैषधराज (नल) ही गति (शरण) जिसका देसी आप इसे देव (इन्द्र) नश निश्चित करती हो क्या ? अर्थात् निश्चित कर ही लिया है (क्योंकि) इसे पति नश स्वीकार करती हैं तथा यह अतिमहा (देवों से उष्टिष्ठित तेजवाला निस्सार) है (अत एव तुम इसे वरण करोगी तो) तुम्ह लाभ नश होगा (अथवा—तुम्हारा बटा अलाम (शानि) होगा । (अथवा—यदि तुम इसका त्याग करती हो तो तुम्ह नश लाभ नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य होगा) ॥

अग्निपक्षमे—हे पण्डिते (दमयन्ति) । बाह्न बकरेसे (अथवा—पर्वततुल्य (विशालकाय) बकरेसे, अथवा—पृथ्वीपर बकरेसे) चलनेवाला, (पाकाटिके द्वारा मैलोकपका) रक्षक तथा देव (प्रकाशमान्, या देवता) इमको नश निश्चित करना (पदवाननी) हो ऐसा नश है अर्थात् निश्चित करती ही हो (किन्तु निश्चित करके भी) इमे क्यों नश वरण करती हो अर्थात् इमे वरण करना चाहिये । (अथवा—बाह्न (अजबाह्न)वाला (अग्नि) है गति (शरण, या रक्षक) जिसका ऐसी अग्निबीज रूप दिशाभूत यह देव (देवता, या अग्नि) है यह निर्णय नहीं करती ? (और यदि निर्णय कर लिया है तो) क्यों नश वरण करती ? अर्थात् वरण करना चाहिये । [यदि यह अग्नि है तो नलतुल्य क्यों है ? इसका समाधान सरस्वती कर रही है] निश्चित ही यह नल नश है, (किन्तु) अनित्यरखी नलतुल्य सोमता है (अथवा—निश्चित ही यह नल नश है किन्तु अनित्यरखा तथा तुम्हारे नलके

समान प्रतीत होना है । अथवा—अनल अर्थात् अग्नि है। यदि इसे छोटी हो तो तुम्हारा दूसरा गीत वर (पति, या श्रेष्ठ) होगा अर्थात् इसमें अधिक श्रेष्ठ एवं तेजस्वी को तुम्हें नहीं प्राप्त होगा अतः एव इसे ही वरण करना चाहिये । (अथवा—यदि इसको छोटी हो तो तुम्हारा कौन अभीष्ट होगा अर्थात् कोई अभाष्ट नष्ट होगा अपितु शत्रु होगा । [अथवा—यहां पर भी सरस्वती देवाने दमयन्तीसे इस अग्निके त्याग करनेका सङ्केत किया है, यथा—] यह तुम्हारा (चित्तहारी) नल नहीं है (किन्तु उसकी आकृति धारण करनेसे) नलकी आभावाण है अर्थात् यह कान्ति इसकी स्वभाविक नहीं किन्तु कृत्रिम है । अथवा—नल (तू विरोध) में आभावाण है अर्थात् जिसकी नेत्रस्थिता नृग अर्थात् तुच्छता है प्रकाश शब्दार्थ दैत्यादिमें नहीं । अथ च—नैषधराज (नल) ही है गति (शरण) जिसका ऐसी आप इस प्रकाशमान अग्निका क्यों नहीं निर्णय करती ? अर्थात् निगम करती है कि क्योंकि वरण नहीं करता अथवा—यह तुम्हारा पति नल नहीं है किन्तु दैत्यादिमें उल्लिखित नेत्रवाण नल नामक नृगमुख है, अतः एव तुम्हारे द्वारा यह वरणीय नहीं है) ॥

यमपक्षमे—रवियोंको (सगों या सूरोंसे) पँकजेवाले (मेमे = महिष) की गतिमें युक्त अर्थात् नभेकी मजारी करनेवाला (धर्मनियन्त्रक होनेसे ममारका) रक्षक क्रीडाशील (पक्षा०—देवता यमराज) का निश्चय तुम नष्ट करनी अर्थात् नहीं पहचानती ? अपितु पहचान ही लिया है, फिर क्यों नहीं वरण करती हो ? । अथवा—महिषको द्वारा यमन करनेवाला यम है गति (शरण या रक्षक) जिसका ऐसा दक्षिण दिशाका पति नहीं है ? अपितु दक्षिण दिशाका पति है ही, फिर क्यों नहीं वरण करती ? अर्थात् वरण करना चाहिये (इसके यमराज होनेका निश्चय करना तथा फिर वरण करना चाहिये) । अत्यन्त तेजस्वी यह निश्चिन्त हो गइल नहीं है (अपितु धर्मरूप होनेसे गहन = दुर्विनेय है) । यदि इसे तुम छोटी हो तो तुम्हें लाभ नहीं है (अपितु हानि है, क्योंकि) इसमें भिन्न कोन तुम्हारा श्रेष्ठ (या अभीष्ट या पति) मिलेगा अर्थात् कोई नहीं मिलेगा । (अथवा—यह नल नहीं है, (किन्तु) तुम्हारे अत्यन्त बड़े प्राणोंका लाभ है जिसमें ऐसा है (क्योंकि) उसके अधीन ही सब प्राणियोंके प्राण हैं, अतएव इसके वरण करनेसे विरहाल तक तुम जीओगी) । अथवा—(धर्मरूप होनेसे) अत्यधिक पूजावाण एवं बह्मिकी आभावाण है (अतः) यदि इसे छोटीगी तो तुम्हारा बड़ा शत्रु कोन होगा अर्थात् इसके छोटेपर प्राण-हरण करनेमें सबसे बड़ा शत्रु तुम्हारा यही होया दूसरा कोई नहीं । अथवा—यदि तुम इसे छोटीगी तो (इसके वादमें बैठा हुआ) 'क' (जल) में (या जलमें) तैरनेवाला अर्थात् वरण तुम्हारा दूसरा वर (पति) होया [अथवा यहां पर भी सरस्वती देवाने दमयन्तीसे इस यमके त्याग करनेका सङ्केत किया है, यथा—] इसे धराणगति अर्थात् दक्षिण दिशा का पति यम नहीं निश्चय करता ? अर्थात् यम निश्चय करती ही हो (और इसी कारण) नहीं वरण करती हो क्या ? (अथवा—यमराज जानकर देवका नहीं निश्चय करती ऐसा नहीं,

किन्तु निश्चय करना ही है इसलिए पति नहीं स्वीकार करती हो क्या ?) अर्थात् ऐसा करना उचित हो है यह दैत्योंसे अतिक्रान्त तेजबाला नल (पितृदेव अर्थात् यम) नश ह ? अनि तु यम ही ह, (किन्तु नलाह्निजो कपटपूर्वक ग्रहण करनेमें) तुम्हें यह नल का कान्तिवाला दोखना है । यदि इसे छोटागी तो 'क-तर' अर्थात् सुमत्समुद्र (नल) श्रेष्ठ वर प्राप्त होगा) ॥

वरणपक्षमे—यह भूलोकका पनि नहीं है (किन्तु पाताल लोकका पति है) और इसे देव (कान्तिमान्, या देवता वरण) नहा निश्चय करती ? अर्थात् निश्चय करती हो हो फिर तुम वरण नहा करती हो क्या ? अर्थात् इसे वरण करना चाहिये । यह नल नहीं है, किन्तु तुम्हें अतिक्रान्तिमान् एव नलकी कान्तिवाला प्रनीत होता है । यदि इसे छोटा हो तो तुम्हें कौन दूसरा वर श्रेष्ठ, या पति मिलेगा अर्थात् दूसरा कौन वर नहीं मिलेगा अन एव इसीका वरण करना चाहिये । अथवा—यह धराज पृथ्वी पर उत्पन्न होनेवाले स्थावर-जङ्गम प्राणी की गति (जीवन्तोपाय जल) का पति अर्थात् वरण है यह नहा निश्चय करती हा क्या ? अर्थात् निश्चय किया ही है, फिर क्यों नहीं वरण करती हो ? अर्थात् इसका वरण करना चाहिये । यह अतिमह (अतिशय पूज्य) अग्निकी कान्तिके अभावको करनेवाला है (क्योंकि अग्नि पानीसे बुझ जाती है) । यदि इसे छोटागी तो तुम्हारा बड़ा शत्रु कान होगा अर्थात् दूसरा कौन बड़ा शत्रु तुम्हारा नहीं होगा अपितु यही तुम्हारा सबसे बड़ा शत्रु होगा । अथवा—इसे धराज (जगत्तोषक विष्णु) की गति (ममुरदायी होनेमें प्रथम निवासस्थान जल) का पनि अर्थात् वरुण नहीं निश्चय करता ? अर्थात् करती हो हो । यदि तुम एन ('अ' = विष्णु ह 'इन' = स्वामी जिसका देसे अर्थात् विष्णुभक्त हम वरण) को छोटी हा तो तुम्हारा बड़ा लाभ नहा है अर्थात् हानि है अन एव तुम्हारा कतर ('क' = जलमें, या जलसे तेरनेवाला) अर्थात् वरुण ही श्रेष्ठ वर है । [यहां पर भी सरस्वती देवीने दमयन्तीसे इसके त्याग करनेका सनेत किया है, यथा—] यह धराजगति (धराज = स्थावर (जङ्गम सनारके प्राणियोंकी गति (रक्षा) है जिसमें ऐसा जल) का पनि देव (धुनिमान् या देवता) वरुणको नहीं निश्चय करती हो क्या ? अगत् निश्चय कर ही लिया है (क्योंकि) वरण नहा करती हो । यह नल नहीं है, किन्तु अग्निपूज्य अग्निकी कान्तिका नाशक वरुण है । यदि इसे छोटी हो तो तुम्हारे महामार्गोंका लाम होगा अर्थात् तुम्हारा जीवन साधक हो जायेगा (क्योंकि) सुखममुद्र श्रेष्ठ वर (नल) को प्राप्त करोगी । [नलके बिना तुम्हारा जीना व्यर्थ एव अशक्य है अन एव इसका त्याग करने पर ही श्रेष्ठ पनि नलको प्राप्त करोगी] ॥

नलपक्षमे—इसे निषधदेश सन्ध्या राजा (या—निषधदेशके लोगोंके राजा) के पानमें (निषध देशका राजा जानकर) स्वामी देव (क्रीटादियुक्त, या धुनिमान्) मनुष्य (नल) क्यों नहीं निश्चय करती हो ? तथा क्यों नहीं वरण करती हो ? अर्थात् इसे उक्त

गुणविशिष्ट मनुष्य (इन्द्रादि देवचतुष्टय नष्ट) नष्ट जानकर तथा बरण करना चाहिये । क्योंकि तुम्हारा (नष्टके विन्मुक्त होनेसे) बहुत बड़ा 'अ' (विन्मु) का लाभ होगा । यदि इसको छोड़नी हो तो कौन तुम्हारा बर (पति या अमोघ) श्रेष्ठ होगा ? अर्थात् इस नष्टके अतिरिक्त कोई भी दूसरा श्रेष्ठ पति नहीं मिलेगा अब इसे ही बरण करो, अन्यथा बिना पतिके (कुमारी) हो रह जावोगी । (अथवा—यह भूलोकका स्वामी, मनुष्य राजा नल मन्त्रा है ? अतिशय नल ही है ऐसा क्यों नहीं निश्चय करती ? तथा क्यों नहीं बरण करतीं । अर्थात् इने नल निश्चय करना एवं बरण भी करना चाहिये । (क्योंकि) तुम्हारे बहुत बड़े जीवनका लाभ होगा अर्थात् इसके बरणसे तुम्हारा जीवन सुखमय बन जायेगा । यदि अथ (शुभकारक विधि) को छोड़नी तो तुम्हारा कौन श्रेष्ठ बर होगा अर्थात् कोई नष्ट, अथ इसका बरण करना चाहिये । अथवा—नक्षत्रात्र अर्थात् नल ह गति (शरण) जिसका ऐसी आय इस मनुष्य (नल) को पति क्यों नहीं निश्चय करतीं ? और क्यों नहीं बरण करतीं ? अर्थात् इने मनुष्य नल जानकर तथा बरण भी करना चाहिये । यदि इने छोड़नी तो तुम्हारा बड़ा अलाम (हानि) होगा, क्योंकि इसमें भिन्न कौन श्रेष्ठ है ? अर्थात् कोई नहीं । अथवा—यह देव (इन्द्रादि चारोंमें—मे अन्धनम देवता) नहीं है, किन्तु भूलोकका स्वामी (राजा) मनुष्य (नल) है, ऐसा क्यों नहीं निश्चय करतीं ? और क्यों नहीं बरण करता ? अर्थात् तुम्हें दोनों काम करना चाहिये । यदि इने छोड़नी हो तो तुम्हारा लाभ नहीं है अर्थात् हानि ही है । अथवा—बराने (मनुष्यों) की गति (सन्निवेशत्वादि लक्ष्य) से इने राजा मनुष्य (नल) क्यों नहीं निश्चय करतीं ? (और निश्चय कर) पतिरूपमें क्यों नहीं बरण करता ? अर्थात् इने नल जानकर पतिरूपमें बरण करना चाहिये । यदि इने छोड़ोगी तो तुम्हारा दूसरा श्रेष्ठ कौन—मा लाभ होगा अर्थात् इसमें अधिक श्रेष्ठ कोई दूसरा लाभ तुम्हें नहीं होगा, अब इने ही बरण करना चाहिये । अथवा—यह पृथ्वीवर (अतिशय सुन्दर होनेसे) अब अथवा कामदेव है, इस बुद्धिसे प्राणपति मनुष्य (नल) है, देवता नहीं। यह क्यों नहीं निर्णय करती और निर्णय करके क्यों नहीं बरण करतीं ? (निन्दस्थ नलहृत्तिवाच इन चारोंमें बनायेको सौन्दर्य है और इस (मनुष्य नल) में प्राकृतिक है, ऐसा देखनेसे ही इसके नल होनेका निश्चय कर इसे बरण करना चाहिये (क्योंकि निश्चयनरूपसे नलके आत्ति धारण किये हुए) अतिना अर्थात् अत्यन्त सुन्दर (बने हुए) इन्द्रादिके त्यागमें लाभ है (अब एवं कञ्चन सौन्दर्यवाले इन्द्रादिका त्यागकर स्वामादिक सौन्दर्यवाले नलको बरण करना चाहिये) ॥ ३३ ॥

इन्द्राग्निदक्षिणदिगोश्वरपाशिभिस्ता वाच नले तरलिनाऽथ समा प्रसाय ।
सा सिन्धुवेणिखि वाडववीतिहोत्र लायण्यभू कमपि भीमसुताऽऽप तापम् ॥
इन्द्रेणि । अथ लावण्यभू सौन्दर्यभूमि, अन्यत्र—लवणरसाश्रय, सा भीमसुता दमयन्ती, नले विषय, तापवोका, वाचमइन्द्राग्निदक्षिणदिगोश्वरपाशिभि इन्द्राग्नि
५१ नै० ८०

यमवरुणैः, समा शिल्पतया त साधारणीं, प्रमाय अनुमूय, तरलिता नलनिश्चया
भावात् कम्पितहृदया सती, सिन्धुवेणि समुदान्तर, समुद्रगर्भं इत्यर्थ, समुद्र
प्रवाहो वा, 'वेणी केशस्य घन्धने । नद्यादेरन्तरे देवताढे' इति मेदिनी । 'वेणी सेतु
प्रवाहयो । देवताढे केशघन्धे' इति हैमश्च । वाहववीतिहोत्र वाहवाग्निमिव, 'अग्निर्वै
श्वानरो वह्निर्वीतिहोत्रो घनञ्जय' इत्यमर । कमपि अवाच्य तापम् आप ॥ ३४ ॥

सौन्दर्यनिधि (पश्चात्—एवम रसका स्थान) वह दमयन्ती उम वचनको इन्द्र, अग्नि,
यम तथा वरुणके विषयमें (श्लेषोक्तिपूर्ण होनेसे) समान जानकर सन्देहयुक्त (चञ्चल
अर्थात् पण्डाहट युक्त) होतो हुई किमी अनिर्वचनीय सन्नापको उस प्रकार प्राप्त किया,
जिस प्रकार समुद्रप्रवाह (अथवा—एवमरसाश्रय गङ्गासागरका सङ्गम) बटवाग्निको प्राप्तकर
अनिर्वचनीय सन्नापको प्राप्त करता है । [दमयन्तीको इन्द्रादि चारों देवताओं तथा नलमें
श्लेषद्वारा समानरूपसे कहे गये सरस्वती केोके वचनको सुनकर नन्का निश्चय नडा कर
मकनेके कारण बहुत सन्नाप हुआ] ॥ ३४ ॥

प्राप्तु प्रयच्छति न पञ्चचतुष्टये ता तल्लाभशसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे ।
श्रद्धा दधे निपधराङ्गिमतौ मतानामद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोक ॥ ३५ ॥

प्राप्तुमिति । पञ्चचतुष्टये इन्द्रादिमायानलन्यक्षिचतुष्टये, ता प्राप्तिकर्त्री
दमयन्ती, प्राप्तु मत्वनल प्राप्तु, मत्वनलत्वेन निश्चेतुमित्यर्थ, न प्रयच्छति न ददति
सति, सधनलमारुप्यात्प्राप्तिप्रतिबन्धके मतीत्यर्थ, प्रायेणैव भाषानुसारेणो
षीच्या प्रयुज्जते यथा—'रमत्तु' दिशन्ति न दिव सुरमुन्दरीभ्य' इति भारती, तल्लाभ
शसिनि दमयन्तीप्राप्त्याशसिनि, अन्यत्र—विद्यालाभाकाङ्क्षिणि, सत्यतरेऽपि अत्य
न्तपारमार्थिकेऽपि, पञ्चमकोटिमात्रे पञ्चमनलैक्यक्षी, द्वितैव द्वैत भेद, तद्रहितम्
अद्वैतम् अद्वितीय, सत्य ब्रह्मतत्त्वम्, अद्वयब्रह्मस्वरूपमित्यर्थ, तस्मिन्निव, मतानां
पञ्चनलीगोबरज्ञानानां, निपधराद् नल, इति विमतौ अयमेव नलोऽयमेव वेति
विप्रतिपक्षी सत्या, लोको जिज्ञासुजन, श्रद्धा पारमाधिकविषयकविश्वास न दधे,
सद्विलक्षणत्वेन असद्विलक्षणत्वेन सत्सत्त्वमुच्चयविलक्षणत्वेन चतुष्टयाध्यामि
कक्षारीरेन्द्रियाधमत्प्रपञ्चमयल्लाभित्यापरोक्षमयब्रह्मतत्त्वे इव असत्यनलचतुष्टये
सन्निधानात् सत्यनले पञ्चमे प्रतीयमानेऽपि मयोऽयमिति जनो न विश्वमितु
मशक्नोदित्यर्थ । उपमा ॥ ३५ ॥

निपधराज (नन्) व इन्द्रादि चारोंके (दमयन्तीको वञ्चित करनेके लिए नन्का रूप
धारण करनेसे) उम (दमयन्ती) को पाने नहीं देने पर अर्थात् दमयन्ती—प्राप्तिमें बाधक
होने पर उस दमयन्तीको पानेके इच्छुक पाचवें स्थानमें स्थित (अपने—नल) में उम
प्रकार श्रद्धा (दमयन्तीका पानेका विश्वास) नडा किया (इन इन्द्रादि चारोंके इस प्रकार

१ 'नाप्तुम्' इति पाठान्तरम् ।

बाधक रहने पर हमें दमयन्ती किम प्रकार (प्राप्त हो सकती है ? अर्थात् नहीं प्राप्त हो सकती ऐसा नम्ने विधास कर लिया), जिस प्रकार (शास्त्रीय) मन्त्रोंके अनेक मन रहने पर चार पक्षों (मन्त्र, असत्, सदस्य और सदस्यमे विज्ञा) के उस वास्तविक प्रतीति (सन्दर्भान) को रोकते रहने पर (अभेदप्रतिपादक उन चार पक्षोंने विभिन्न) पदम पञ्चमात्रने स्थित अतिशय मत्त अद्वैत तत्त्वने लोक (मन्मान्य हृदिवाण व्यक्ति) श्रद्धा नष्टा करना है । (अथवा—समास्थित दर्शकोंने 'यह दमयन्ती इने बरा करेगी तथा यह वास्तविक नष्ट है' ऐसा निष्कर्ष नष्टा किया । (पाठा—उम (दमयन्ती) ने विविध बुद्धि (पांच नष्ट होनेने वास्तविक—नष्ट—विषयक मन्देह) होने पर उने (दमयन्तीको) पानेके इच्छुक समीपने बैठ हुए चारों (इन्द्र, अग्नि, दम और वरुण) के उस श्रद्धा (वास्तविक—नष्ट—विषयक विश्वास) को ('यमन्त्र नष्ट—रूप घातावर) निषेध करने (रोकने) रहनेपर पञ्चम स्थान (इन्द्रमे पाचवे आमन) पर स्थित नत्थन मत्त मा नत्थन उस प्रकार विधास नष्टा किया, जिस प्रकार अनेकान्तवादी (आत्माको अनेक माननेवाले) साक्ष्य यदि चार दर्शनोंके उस अतिशय मत्त अद्वैत विषयक विश्वासको निषेध करत रहने पर युक्तान्त विचारने हान जविज्ञान् व्यक्ति अनेक मनों (साक्ष्य यदि शब्ददर्शनशास्त्रोंके विविध सिद्धान्तों) के रहने पर ('पक्षमेवास्तीत्यं श्रद्धा, नेह नानास्ति विज्ञान' इत्यादि बद्धवचनोंने) अत्यन्त सत्य अथात् वास्तविक भी नष्टहवाव्य श्रद्धा के लाभदा प्रतिपादक अद्वैत तत्त्व (एक श्रद्धा—विषयक ज्ञान) में श्रद्धा (विश्वास) नहीं करना । (अथवा—उम दमयन्तीने विविध मनों (मन्देहों) के रहने पर उस पारबन्धित चारों (इन्द्रादि) के नष्टविषयक विश्वासको रोकने रहनेपर मा दमयन्तीको पानेके इच्छुक तथा पञ्चम स्थानने (पाचवे आमन पर) स्थित वास्तविक नम्ने (बड़ी वास्तविक नष्ट ह यह) विश्वास नष्टा किया ? अर्थात् 'अविद्यानेऽपि बन्धो हि बन्धोऽस्मादो मनः' (किरातार्जुनवा १४३०) इस कविशिखरान्ति आरविकी उत्तिके अनुसार 'यही वास्तविक नष्ट ह तथा ये हमारे चार कष्टवेषगरी नष्ट हैं' यह ज्ञान हा लिया । जिस प्रकार बौद्धादि अनेक दर्शनसिद्धान्तोंके विद्यमान रहने वास्तविक अद्वैततत्त्वविषयक विश्वासने बाधक होने रहने पर मा वस्तुतत्त्व उन पञ्चम—कौटिल्य अर्थात् आत्माने विश्वास कर लेना है) । [साक्ष्यननुयायी—प्रत्येक शरीरमें भिन्न, शुद्धज्ञान स्वभाववाले बहुत आत्माओंको मानने हैं, नव्यादि—प्रत्येक शरीरमें भिन्न, सर्वव्यापक शानादि नवविशेष श्रोते पुक्त आत्माको मानने हैं, ब्राह्म—प्रत्येक शरीरमें भिन्न शरीरके बराबर प्रमाणावाले मन्त्रोंक तथा विस्तार करनेवाले बहुत आत्माओंको मानने हैं और बौद्ध—प्रत्येक शरीरमें भिन्न क्षणिक ज्ञान—सन्मानरूप अनेक आत्माओंको मानने हैं । इस प्रकार सत्, असत्, सदस्य और सदस्यविज्ञा—चार पक्ष रहने श्रद्धाके निदाश्रित बाधक हैं । विस्तृत विषयदान वेदान्तादि दर्शन शास्त्रोंमे करना चाहिये] ॥ ३१ ॥

कारिष्यते परिभयः कलिना नलस्य ता द्वापरस्तु सुननमदुनोन् पुरस्तान् ।
भैमीनलोपयमन पिशुनी सहेते न द्वापर किल कलिश्च युगे जगत्याम् ॥

अथ मैत्र्या सन्देहदुःखं महदभूदित्याह—कारिष्यते इति । कलिना कलहेन, प्रत्यात्पातैर्देवैः राजन्यैर्वा अवमाननाप्रतीकाराभिप्रायात् उत्पादितेन वैरोपेत्यर्थ, कलियुगेन च, 'कलि' स्त्री कलिकाया ना शूराजिकलहे युगे' इति मेदिनी, नलस्य परिभव कारिष्यते विवाहात् पर परिभव करिष्यते, करोते कर्मणि लृट्, 'स्यसिच् सीयुट्—' इत्यादिना इट् वैरुत्पिकचिष्वद्भावात् 'अचो ङिति' इति वृद्धिः, इति द्वापरस्तु प्रियस्य नलस्य एवविध परिभवसंशय पुनः, द्वापरयुगञ्च, 'द्वापरौ युग सशयौ' इत्यमरः । सुसन् सुकुमारार्द्रौ, ता नलप्रिया दमयन्ती, पुरस्तात् कले पूर्वम् अद्यैव, अदुनोत् पर्यनापयत्, तथाहि, जगत्या लोके, पिशुनौ दुर्जनौ, 'त्रिष्वयो जगती लोके' इति, 'पिशुनो दुर्जनं खल' इति चामरः, द्वापर कलिश्च युगे काल विशेषौ, भैरवीनलयो उपयममम् उद्गाह, न सहते कलि, किलेति तत्त्वर्थं, कलि यथा विवाहोत्तर तयोर्विवाह न मोडा, तद्वत् द्वापरोऽपि तयोर्भाविन विवाह न सहते इति भावः । अत्र पूर्वार्द्धे द्वापर इति चाप्यप्रतीयमानयोरभेदाभ्यवसायेन द्वापरस्य स्थानान्तरकलिप्यपारात् प्राक् स्वयं दमयन्तीसन्तापकत्वोपेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद् ब्रूम्या, उत्तरार्द्धे तु तदुपयमनासहिष्णुत्वलक्षणकारणेन तत्समर्थनात् कारणेन कार्य-समर्थनरूपोऽध्यागतरन्यासः, इत्यनयो अङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ३६ ॥

कलि अथाप्य चौथा युग (इन दोनोंके विवाहके बाद) नलका परिभव करेगा, किन्तु द्वापर (इन पाँचोंमें—सै कर्म वास्तविक नल है ? ऐसा सन्देह अथवा—इन्द्रादि चार देवों या अन्यान्य राजाओंके अवमानका प्रतीकार नहीं होनेसे उत्पन्न करूँ । पश्चात्—'द्वापर' नामक तृतीय युगने (विवाह होनेके) पहले ही सुन्दरी (दमयन्ती) को सन्तप्त कर दिया अर्थात् 'कलि' नामक चतुर्थ युग तो दमयन्ती—नलके विवाहके बाद नलको पीड़ित करेगा, किन्तु 'द्वापर' नामक तृतीय युगने विवाह होनेके पहले ही सुन्दरी दमयन्तीको पीड़ित किया । क्योंकि कुछ कलि तथा द्वापर युग भूलोकमें नल तथा दमयन्तीके विवाहको सहन नहीं करते हैं अर्थात् त्रिसु प्रवार विवाह होनेके बाद 'कलि' युग उस विवाहको असहनकर नलका परिभव करेगा, उसी प्रकार 'द्वापर' युग भी विवाहके पहले ही उनके विवाहको असहनकर उसमें बाधक बनने एवं दमयन्तीको पीड़ित करने लगा । [द्वापर तथा कलियुगमें नल और दमयन्तीके नहीं रहनेसे उन दोनों युगोंका नल तथा दमयन्तीके विवाहको नहा सहन करना युक्तिवत्क है] ॥ ३६ ॥

उत्कण्ठयन् पृथग्निर्मा युगपन्नलेपु प्रत्येकमेपु परिमोह्यमाणबाण ।

जानीमहे निजशिलीमुखशीलिमद्भ्यासाफल्यमाप स तदा यदि पञ्चबाण ॥

उत्कण्ठयन्निति । पञ्चबाण पञ्चबाणत्वेन प्रसिद्ध, स काम, नलेपु, पञ्चस्वपि इति, शेष, विषयेष्वयम् प्रत्येकम्, इमा दमयन्ती, युगपत् समकालम्, उत्कण्ठयन् उत्सुकयन्, अथ नलेप्य वा नल इति बुद्ध्या तेषु पञ्चस्वपि नलेप्ये पृथग्प्रेषण, का, सोत्कण्ठा कारयन्नित्यर्थ, दमयन्ती नलबुद्ध्या तेषु पञ्चस्वेव सानुरागाऽभूदिति

भाव', तथा एषु नलेषु पञ्चमु, ॥ येकम् एकैस्मिन्, परिमोहयमाणा प्रत्येकमेतान्
दमयन्तीतिपये सम्मोहयन्त इत्यर्थ, कर्मण्यजिक्करणविवक्षया सप्तमी 'तस्मिन्
प्रजह्' रितिषत् । 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' इत्यादिना परस्मैपदप्राप्तावपि
'न पादम्याद्यमा-' इत्यादिना परस्मैपदनिषेधादात्मनेपद, कृत्यव 'गेर्विभाषा'
इति णत्वम् । बाणा यस्य स तादृश सन्, निजशिलीमुखान् निजबाणान्, शील
यतीति तच्छीलिण्या तन्समवायिन्या, सङ्ख्याया, पञ्चसङ्ख्याया, साफल्यमाप
यदि तदा जानीमहे पञ्चमङ्ख्या साध्वीति मन्यामहे इत्यर्थ । अत्रोत्कण्ठासम्भो
हमपदार्थयोर्विशेषगगत्या साफल्यप्राप्तिहेतुक काव्यलिङ्ग, तच्च भाष्यय पदिसन्दात्
सम्भावनामात्रेणोक्तमि युप्रेक्षा काव्यलिङ्ग, येति सङ्कर ॥ ३७ ॥

मोहनक बाणोवाला तथा इमे (दमयन्तीको) प्रत्येक इन (इन्द्रादि पाच) नर्नोंमें
एक समय अलग-अलग उत्कण्ठित करते हुए पञ्चबाण (पाच बाणोंवाले कामदेव) ने अपने
बाणोंकी पाच सङ्ख्या होने की सफलता यदि प्राप्तकी तो उसी समय की अर्थात् दूसरे
समयमें नहीं, ऐसा हम जानने (उत्प्रेक्षा करते) हैं । (एक नर्नमें एक बाणमे ही अनुरा
गोत्पादन करने पर शेष चार बाण व्यर्थ हो जाते हैं । 'क्या यह नर्न है ?' इस प्रकार इन्द्रादि
पाचा नर्नोंको नष्ट समझने पर पाचोंमें प्रत्येकके प्रति पृथक्-पृथक् एक साथ अनुरागोत्पादन
करनेमें ही पाच बाणोंका होना सफल है अन्यथा नहीं । अथवा—एक साथ इस दमयन्तीको
पृथक्-पृथक् पाँचों नर्नोंमें उत्कण्ठित करता हुआ तथा इन पाचों नर्नोंमें दमयन्ती-विषयक-
अनुरागोत्पादक बाणोंका कामदेवने यदि अपने बाणोंकी पाच सङ्ख्या होनेकी सफलता
प्राप्त की तो उसी समय की, दूसरे समयमें नहीं (अर्थात्—उन पाच नर्नोंमें पृथक्-पृथक्
दमयन्तीको एक साथमें उत्कण्ठित करता हुआ तथा पाचों नर्नोंको भी पृथक्-पृथक् एक साथ
दमयन्तीके प्रति अनुरागो बनानेसे कामदेवने अपने पाच बाणोंकी सफलता प्राप्त कर ली) ।
[पाच पुरुषोंमें उत्कण्ठित होने पर भी नन्बुद्धि होने के कारण ही उनमें उत्कण्ठित होनेसे
दमयन्तीका पातिव्रत्य मङ्ग नहीं होता] ॥ ३७ ॥

देवानिय निपधराजरुचस्त्यजन्ती रूपादरज्यत नले न विदमसुभ्रू
जन्मान्तराधिगतकर्मविपाकजन्मैवोन्मीलति कचन कस्यचनानुरागान्दोद
देवानिति । निपधराजस्य नलरूपेव रुक् सौन्दर्यं येषां तादृशान् देवान् त्यजन्ती
इय विदमसुभ्रू वेदमी, रूपात् सौन्दर्यात्, नले न अरज्यत नलरूप, इन्द्रदेवादिनात्
कत्तरि लुडि तद्, किन्तु कस्यचन कस्यचिज्जनस्य, जन्मान्तरे अभिगतिस्व कर्मणे
विपाकात् परिणामात्, जन्म यस्य तादृश, 'अवज्यो विदुर्नोहिष्यं धिक्करणो जन्माद्य
त्तरपदे' इति वामन । अनुराग एव कचन कुवचिज्जने, उन्मीलति उद्भवति, रूप-
साम्येऽपि देवपरिहारेण नले एवानुराग अस्या, कर्मण्यन्तो न रूपायत्, अन्यथा
किमर्थं यथार्थनलान्वेषगमित्युप्रेक्षा । एतेनास्या दृढव्रतत्वम् उक्तम् इति ज्ञेयम् ॥ ३८ ॥
निषेधर (नर्न) की शोभावाले देवों (इन्द्र, अग्नि, यम तथा ब्रह्मा) को छोड़नी

दुरं यद् दमयती (वास्तविक) नलम् रूप (सौन्दर्य) से नहीं अनुरक्त हुई, (क्योंकि यदि वह रूपमात्रमे वास्तविक नलम् अनुरक्त हो तो नलके समान ही रूप धारण विवे दुर इन्द्रादि देवोंको नहीं छोड़ती । परन्तु) दूसरे जन्ममें प्राप्त कर्मविपाकसे उत्पन्न किसी अनुराग किसीमें उत्पन्न हो जाना है । (अत एव वह दमयन्ती भी पूर्वजन्मकृत कर्मसे विपाकमे ही वास्तविक नलम् अनुरक्त हुई) ॥ ३८ ॥

क प्राप्यते स पतग परिपृच्छयते य प्रत्येमि तस्य हि पुरेव नल गिरिति ।
सस्मार सस्मरमति, प्रति नैपथीय तन्नामरालयमरालमरालकेशी ॥ ३९ ॥

अथास्याश्रित्तासञ्चारिणीमाह-बवेति । सस्मरमति मदनपीडितचित्ता, नराल केशी कुटिलकेशी, 'स्वाङ्गाद्योपसर्जनादस्योगोपधात्' इति विश्वपात् टीप्, भैरमंति शेष, स पूर्व१८ नलवार्त्ताप्रद इत्यर्थ, पतगो हम्, क कुत्र, प्राप्यते ? किमथम् ? य पतग, परिपृच्छयते, नलम् इति शेष, एषु मध्ये को नल इति विश्वास्यतया जिज्ञास्यते इत्यर्थ, प्ररनफलमाह-पुरेव पूर्वमिव, यस्य गिरा हि निश्चयेन नल प्रायेमि विश्वमिति, इति इत्थ, तत्र सभाया, नैपथीय प्रथस्य दूतभूतमिति यावत्, अमरालयमराल स्वर्लोन्महस, प्रति उद्दिश्येत्यर्थ सस्मार, दुर्लभार्थप्रार्थका सङ्ग कार्यकारता इति भाव ॥ ३९ ॥

कामपाटिग चित्तवाली (या अधीर) तथा कुटिल केशोंवाली (वह दमयन्ती) 'वह पक्षी कहा मिलेगा ?' जिससे म (इनमें कौन सत्य नल है यह) पूछती और उसके बचनसे पहले (१।१२८) के समान नलको पहचानती' इस प्रकार उस स्वयंवरसमामे नल-सम्बन्धी (पाठा०—प्रिय नलके दून) स्वर्गाय इसका स्मरण किया ॥ ३९ ॥

एकैकमैशत मुहुर्मलताऽऽदरेण भेद विवेद न च पद्मसु कञ्चिदेपा ।

शङ्काशत वितरता हरता पुन स्म उन्मादिनेव मनसेयमिव तदाह ॥ ४० ॥

एकैकमिति । एषा भैरमी, महता आदरेणैकाग्रयेण, मुहु एकैकमशत, किन्तु पद्मसु मध्ये कञ्चित् भेद विवेद न विवेद, अत एव शङ्काशत वितरता जनयता, पुन तत् शङ्काशत, हरता निवर्त्तयता, इत्थञ्च उन्मादिनेव उन्मादवत्तेव, मनसा उपलक्षिता इय दमयन्ती, इद वक्ष्यमाणविकल्पजातम्, आह स्म 'लट् स्मे' इति भूते लट् ॥ ४० ॥

इस (दमयन्ती) ने व. प्रयत्न (पक्षा०—भय) से एक-एक (इन्द्रादि पाव नलोंमें से प्रत्येक) को देखा, (किन्तु) पाँचोंमें काह भेद नहीं जान सकी, फिर सबको शङ्काओंको उत्पन्न तथा दूर करते हुए माना उन्मादयुक्त चित्तमे यह (१३ ४१.५३) बड़मे लगी [पतिव्रता दमयन्ती पाच पुरषोंका विरोक्ष्य कर रही है, वह उचिता नहीं, ऐसा लोगोंके मनमें भावना हो सकती है इस विचारसे नलरूपधारी उन पाँचोंको भयसे तथा इनमें से

१ 'किञ्च नैपथीयम्' इति 'प्रियदूतभूतम्' इति च पाठान्तरम् ।

मेरा अभिनिधित्व वास्तविक नल कौन-सा है ? यह निश्चय कर वर्ण करनेके लिए बड़े प्रयत्नमें दमयन्तीके द्वारा उन पावोंका निरीक्षण करना उचित हो है । उन्मदी न्यक्ति भी भय या आदरमें किमी को देखना है तो व्यवस्थित चित्त होने के कारण कोई निर्णय नहीं कर सकनेके कारण उसके मनमें सैकड़ों दृष्टाण्ड उत्पन्न एवं नष्ट हुआ करती है और वह मनमें ही कुछ सोचना रहता है, दमयन्तीने भी उसी प्रकार मनमें ही वक्ष्यमाण वचन कहे ॥ अस्ति द्विचन्द्रमतिरस्ति जनस्य तत्र भ्रान्तौ दृगन्तचिपिटोक्त्यादिरादि' । स्वच्छोपमर्पणमपि प्रतिमाऽभिमाने भेदभ्रमे पुनरमीषु न मे निमित्तम् ॥

अथ आत्मार्तसमाप्तेऽश्विन्ताभुभावविकल्पावाह—अस्तीत्यादि । द्विचन्द्रमति द्वौ चन्द्राविति बुद्धिः, एकस्मिन् चन्द्रेऽनेकत्वावगाहिनी । भ्रमबुद्धिरिति यावत्, अस्ति प्रसिद्धा अस्ति, किन्तु तत्र द्विचन्द्रमाहिपया भ्रान्तौ, जनस्य भ्राम्यजनस्य, दृगन्तचिपिटोक्त्या दृगन्तयो चक्षुःप्रान्तयो, चिपिटोकरणम् अहुक्या निपीडन, तदादि ताप्रभृति, आदिर्भूतकारणम्, अस्ति, तथा प्रतिमाऽभिमाने प्रतिविम्बभ्रमे, स्वच्छोपमर्पण काचस्फटिकादिसंज्ञिवानमपि, आदिरस्ताति शेष, पुन किन्तु, मे मन, अमीषु पञ्चसु विषये, भेदभ्रमे निमित्त न, अस्तीति शेष, अत एकस्मिन् नले बहु-नलभ्रान्ति कथञ्चिदपि न सम्भवति, तस्मादेते नलभ्रान्ता केचन भविष्यन्तीति भावः ॥ ४१ ॥

मनुष्यो—‘दो चन्द्र हैं’ ऐसी बुद्धि होती है, उस भ्रममें आत्माके प्रान्तको अहुक्या आदिने चिराट कराना (दबाना) आदि (वाच-कामआदि दोष) कारण है और प्रतिविम्ब (परछाई) के भ्रममें मा स्वच्छ (दर्पण, स्फटिक आदि निर्मल पदार्थ) के पाम होना कारण है, किन्तु इनके भेदभ्रम (एक नलमें पांच नलके शान्तरूप जन) में कारण नहीं है । [‘आँसूके किनारेको अहुक्या आदिने दबाने या कामला आदि रोगके कारण मनुष्य एक चन्द्रमाको भी दो चन्द्रमा मानने लगता है तथा दर्पण-स्फटिक आदि अरक्षण निर्मल वस्तु के समीप रखनेपर उसमें दूसरी वस्तुके प्रतिविम्बका देखकर यह बाहर रखा हुआ ही वस्तु है या दो वस्तु हैं ऐसा भ्रम हो सकता है, इस प्रकार एक दोनों भ्रमोंमें क्रमशः आत्माके प्रान्तकी अहुक्या दबाना आदि तथा दर्पणदि स्वच्छ वस्तुओंके समीप रचना आदि कारण हैं, किन्तु यथा पर न एक नलको ही जो पाँच नल देख रही है इस भ्रममें कोई कारण नहीं है, अत एव ये पाँच नल नहीं हो सकने, इस प्रकार उत्पन्न हुए लुकाओंको दमयन्तीने दूर कर दिया] ॥ ४१ ॥

किं वा तनोति मयि नैपथ्य एव काव्यव्यूह मिथ्या परिहाममसौ विलासी ? विज्ञानमैभ्रममृत किमु तस्य विद्या मा मिथ्यते न तुरगाशयवेदितेषु ॥ ४२ ॥

किमिति । वा अथवा, विलासी विलसन्शील, ‘वी कपलसम्पत्सम्भ’ इति

घिनुग् प्रयय, असौ नैषधो नल एव, कायव्यूह, देहममूह विधाय सम्पाद्य, मयि परिहास नर्मव्यवहार, तनोति किम् ? विस्तारयति किम् ? एतदेव सम्भवतीति भावः । कुतोऽस्य कायव्यूहरचनासम्भवः ? इत्यत आह—विज्ञान शिल्पकलापरिज्ञान, 'विज्ञान शिल्पशास्त्रयो' इत्यमर, तदेव वैमव विभर्त्तीति तस्य शिल्पममूहिति मत, तस्य नलस्य, तुरगाशयवेदिता अश्वहृदयवेदित्वमिव, सा विद्या बहुरूपकल्पना विद्या, न विद्यते किम् ? न सम्भवति किम् ? अपि तु सम्भवत्येव ॥ ४२ ॥

अथवा विद्याशाला यह नल हा शरीर-समूह बनाकर जेरे साथ परिहास कर रहा है ? (पाठा०— परिहास नहीं कर रहा है क्या ? कर्त्ता परिहासही कर रहा है) । विद्या-नके वैभववाले (पाठा०—विज्ञान-वैभवके स्थानभूत) उस (नल) का दाटेके हृद्गत भावकी आनकाराके समान वह विद्या (शरीर-समूह धारण करनेका कला) नहा है क्या ? अर्थात् जिस प्रकार विज्ञानराशि नलकी घाटेके हृद्गत भावकी आननेकी विद्या प्राप्त है उसी प्रकार शरीर-समूह धारण करनेकी विद्या अवश्यमेव प्राप्त है ॥ ४२ ॥

एको नल किमयमन्यतम किमैल ?

कामोऽपर किमु ? किमु द्वयमाश्विनेर्या ? ।

किरूपधेयभरसीमतया समेप

तेप्त्रेव नेह नलमोहमह वह वा ? ॥ ४३ ॥

एक इति । वा अथवा, इह पञ्चके अयमेको नल किम् ? अन्यतमोऽपर, ऐल पुरुरवा किम् ? अपर काम किम् ? द्वयम् अपरों ह्यौ, आश्विनेर्या दत्तौ किमु ? अत एव रूपमेव रूपधेय मौन्दर्य, 'नामरूपभागेभ्यो धेयो वक्तव्य' इति स्वार्थे धेय-प्रयय 'तद्भरस्य तमम्पद, सीमनया अवधि-वेन, ममेधु लोकोत्तरसौन्दर्यसा म्येन अगृहीतविशेषेषु इत्यर्थ, तेप्त्रेव सम्प्रत्युक्तेषु नलादिषु पञ्चसु एव, अह नलमोह किं कथं, न वदे ? सदृशेषु सादृश्यात् आन्तर्युक्तेवेति भावः ॥ ४३ ॥

अथवा इन (पाँचों) में यह एक नल है क्या ? यह दूसरा पुरुरवा है क्या ? यह सीमरा कामदेव है क्या ? तथा ये दो अश्विनो कुमार हैं क्या ? । और । सौन्दर्यानुगतकी सीमा होनेसे समान उनलोगों (नल, पुरुरवा कामदेव तथा अश्विनो कुमारों) में मे नन्का भ्रम कर रही हूँ । [अतिशय सुन्दर नन्कादि पाँचोंके तुल्यरूप होनेसे दमयन्तीका भ्रम होना ठीक ही है] ॥ ४३ ॥

पूरं मया विरहनि सह्याऽपि दृष्ट सोऽय प्रियस्तत इतो निपधाधिराज ।

भूयः शिमागतवती मम सा दृशेयं पश्यामि यद्विलसिनेन नलानलीकान् ॥

पूर्वमिति । पूर्वमपि स्वयंवरकालात् प्रातपि, नि न, महते इति नि सहा पधाधच्, विरहस्य नि सहा अमहना तथा विरहकातरया, मया सोऽय प्रियो निप

धाधिराजो नलः, नत इत सर्वासु दिक्षु, दृष्ट, मम इय वर्तमाना, दशा विरहोन्मा-
दरूपावस्था, सा पूर्वानुभूता एव दशा, भूयः पुनः, आगतवती किम् ? यस्या
उन्मत्तदशाया, विलसितेव प्रभावेणेति यावत्, अलीकान् नलान् पश्यामि ॥४४॥

विरहमे कतर मेने पहले भी श्वर-उपर (सब दिशाओंमें) प्रागेपर नन्को देखा है,
किर क्या मेरी बड़ा, दशा आ गयी, जिसके प्रभाव से मे असत्य (अविद्यमान) नलोंको
देख रही हूँ ? ॥ ४४ ॥

मुग्धा दधामि कथमित्यमथापशङ्का ?

नलकन्दनादिकपट स्फुटमीच्छोऽयम् ।

देव्याऽनयैव रचिता हि तथा तयैषा

गाथा यथा दिगाघेपानपि ता स्पृशन्ति ॥ ४५ ॥

मुग्धेति । अथ पक्षान्तरे, मुग्धा मूढा, अहमिति शेष, कथमित्यम् अपशङ्का
मिथ्या रुपाय, दधामि ? अयुक्तोऽयमिदानीम् ईदृग्मोह इत्यर्थः, यत ईदृश एव-
विध, अथ व्यापारः, नलकन्दनादीनाम् इन्द्रादीना, कपटो माया, इति स्फुट
व्यक्तम्, तथा हि, अनया देव्यैव तथा तेव प्रकारेण, एषामिन्द्रादीना, गीयन्ते इति
गाथा वर्णनश्लोका, 'उपिकुपिगाऽस्तिभ्य स्थन्' इषाणादिक स्थन् प्रथयः, रचिता,
यथा देन प्रकारेण, ता गाथा, दिगाघेपानिन्द्रादीनपि, स्पृशन्ति श्लेषमहिम्ना बोध
यग्नित, न तु केवल नलम्, अनो अप्रतारणार्थं नलरूपधारणात्मिका देवमायैवेय
न तु मामको मोह इति भावः ॥ ४५ ॥

(अब दमयन्ती उक्त शङ्काओंको दूर करती हुई सोचती है कि—) अथवा मोहिन मैं
इस प्रकार बुरी शङ्काओं (२३१४१-४८) को क्यों प्रश्न करती हूँ अर्थात् मुझे ऐसा शङ्काए
नहीं करनी चाहिये, (क्योंकि) निश्चितरूपमे यह इन्द्र आदिका कपट है । इन्द्र आदि
चारों देव ही कपटमे नलरूपको धारण कर यहा आये हैं, अत उक्त शङ्काए मुझ नहीं
करनी चाहिये, क्योंकि) इस (सरस्वती) देवीने ही इन (इन्द्रादि चारो देवों) को ऐसी
गाथाओं (वर्णन-परक श्लोकों) को रचा कि वे गाथाए (श्लेषके द्वारा) दिक्पालों (इन्द्र,
अग्नि, यम तथा वरुण) का भी स्पर्श (वर्णन) करती है, (अत एव कपटसे नलरूप धारण
कर उपस्थित ये इन्द्रादि दिक्पाल ही हैं, इसमें मेरा भ्रम नहीं है) ॥ ४५ ॥

एतन्मन्त्रीयमतिप्रश्नरूपप्रश्नस्येनाथे कथं नुमनुजस्य चकास्तु चिह्नम् ? ।
लक्ष्माणि तानि किममी न वहन्ति हन्त । बहिर्मुखा धुतरजस्तनुतामुखानि ॥

एतदिति । एतेषा मन्त्रीयमतिप्रश्नरूपप्रश्नस्येनाथे कथं नलः, कथं नुमनुजस्य चिह्नम्
मानस व्यपञ्जकधर्म, चकास्तु ? स्फुरतु ? किन्तु अभी बहिर्मुखा अग्निमुखा देवा,
धुतरजस्तनुतामुग्रानि धुत परिस्थित, रजो धूलि, सृष्टिकास्पर्श इति यावत् दया मा

तादृशी तनुयैषा तेषा भाव घुनरजस्तनुता, सुखम् आदिर्येषा तादृशानि, तानि प्रमिद्धानि, लक्ष्माणि भूमिस्पर्शं स्वेद निमेषराहित्यादीनि देवत्वव्यञ्जकचिद्धानि, हस्त सेद्रे, किं कथं, न वहन्ति ? तथा हि मम दुर्भाग्यादेते देवा स्वीयासाधारण चिद्धानि सन्नोप्यात्र तिष्ठन्ति, तत एव नल लक्षयितु न शक्नोमीति भाव ॥ ४६ ॥

इन मेरी बुद्धिके बन्धक पाचोंमें स्थित प्राणेश्वर नलमें मनुष्यका (अथवा मेरी चिह्न मनुष्यका यह चिह्न) अर्थात् पसीना आना, भूमिस्पर्श करना, निमेष (पलक) गिरना और पुष्पमालारा मलिन होना आदि किस प्रकार प्रकाशित होने ? (इन्द्र आदिके कपटसे मनुष्यका पसीना आना आदि चिह्न ग्रहण करनेके कारण नलके उक्त मनुष्यगत चिह्नका पृथक् मातृम नष्टा पटना उचित है) । रोद है कि ये बहिर्मुख (देव, पञ्चा०—विमुख अर्थात् कृपा हीन) उन (अतिशय प्रमिद्) भूमिस्पर्श नहीं करना आदि (पसीना नहीं आना, पलक नहीं गिरना, पुष्पमालाका मलिन नहीं होना आदि) चिह्नोंको नष्टा ग्रहण करते हैं । [मन्वान मानव—चिह्नके स्पष्ट नष्टा रहने पर भी यदि इन इन्द्रादि देवोंसे भूमि-स्पर्शका नष्टा होना आदि देव चिह्न स्पष्ट दृष्टिसे तो नलको पहचानना सरल हो आता, किन्तु कपटी इन इन्द्रादि चारों देवोंने अपने देव-चिह्नोंका भी त्याग कर दिया है, अत एव हम अवस्थामें नलका पहचानना अशक्य हो गया है] ॥ ४६ ॥

याचे नल किममरानथथा तदर्थं नित्यार्चनादपि न दत्तफलैरत तै ।

कन्दर्पशोषणपृषत्कनिपातपीतकारुण्यनीरनिधिगह्वरघोरचित्तै ॥ ४७ ॥

याचे इति । अमरान् इन्द्रादीन्, नल याचे किम् ? दुःखादिखात् द्विकर्मात्मम् । अथवा तदर्थं नलप्राप्तिनिमित्तनित्य पदार्चन पूजन सस्मादपि, न दत्तफले मम प्राथितमप्रयच्छति, किञ्च कन्दर्पस्य शोषण तदाख्य, य पृषत्क बाण, तस्य निपातेन पीत शुष्कता प्रापित, कारुण्यनीरनिधि कृपाविधि यस्मात् तथाभूतम्, अत एव गह्वरेण दग्धेन, द्राढ्येनेत्यर्थ, मृदेय देवानस्मान् परित्यज्य मर्त्ये नले एवानुरागिणी अत एव एता प्रतारयाम इति बुद्ध्या कपटताश्रयणेनेति भाव, 'गह्वर विलदग्धयो' इति शाश्वत, घोर भीम कठिन वा, चित्त येषां ते कन्दर्पाधीन तथा निष्पृषत्तैरित्यर्थ, त अमरै, अल निष्प्रयोजनम्, ये देवा, काममुत्पत्त्यात् नित्यार्चनेनापि प्रार्थित न प्रायच्छन् तेऽनुमा प्रार्थनामात्रेणैव नैव प्रार्थित पूरयत्यन्तीति तत्प्रार्थना वृथयति भाव ॥ ४७ ॥

म दर्शसे नलका मातृ ? अथवा कामदेवक शायग बाणके गिरने से पीये गये (सूख हुए) ठर समुद्रवाले अत एव गम्भीर गह्वर (विल) रूप भयङ्कर चित्तवाले (तथा इसी कारण) नित्य पूजनमें मेरे लिए निष्फल (पाठा०—फल (नल) को नहीं देनेवाले (उन देवोंसे (नलके लिये प्रार्थना करना) व्यर्थ है । [कामवशील नल इन्द्रादि देव नलको

१ 'ममाफलैर्नलम्—' इति पाठान्तरम् ।

पानेके छिप सर्वदा पूजन करने पर भी हम समय कृपाशून्य होकर मुझे चाहते हुए कपटने नलरूप धारणकर यहाँ उपस्थित है अर्थात् जो नित्य पूजन करने पर भी नलको नहीं दिये, वे प्रार्थनानात्रते नलको दे देंगे यह दुराशामात्र है, अतः उनसे नलके लिए प्रार्थना करना व्यर्थ है] ॥ ४५ ॥

ईशा ! दिशा नलभुव प्रतिपद्य लेखा ! वर्णश्रिय गुणरतामपि व कथ वा ।
मूर्त्तान्धरूपतनादिषु पुस्तकानामस्त गत घन परोपकृतिव्रतित्वम् ॥४६॥

ईशा इति । हे दिशामोशा ! लेखा ! हे सुरा ! नलात् नेगधात् भवति इति नलभूम्ना नलभुव नलनिष्ठा, वर्गश्रिय गौरवरूपसम्पदम्, अन्यत्र—महाख्यतृण-निर्मितलेयनीभुवमक्षरसम्पद, प्रतिपद्य प्राप्यापि, 'वर्गो द्विजादो ह्यनलादौ स्मृतौ वर्गन्तु चाक्षरे' इत्यमर, गुणवता शुद्धस्वसोन्ध्यादिगुणाद्यानाम्, अन्यत्र—बन्धन-सूत्रवता, यो युष्माक, मूर्त्ता मूढा, ते ण्वान्धयन्तीत्यन्धा कृपा अन्धकृपा जल-शून्यपुराणकृपा, तेषु पतनात् पुस्तकानामिव परोपकृतिव्रतित्वं परोपकारनियमवत् कथं वा नुतो वा, अस्मि नाश, गतम् ? व्रतेति देवतोपालम्भ, नलस्य रूपधारणेन तदीयगुणा अपि युष्मासु सङ्क्रान्ता, तनश्च मदीयपरोपकारव्रतमपि युष्मासु भुव सङ्क्रान्त, किन्तु महिषय तद् व्रतं कथं विनष्टम् ? इति भावः । अन्यत्र—ठगृष्ट-लिप्पक्षरशालिना वर्गाशुद्धिरहितामामपि पुस्तकानां मूर्खहस्तपतनेन शिशिक्षणा-सुपकाराभावात् परोपकारित्वं न भवति, इति भावः ॥ ४८ ॥

हे दिक्पाल देव ! नलकी-स्थानाय रूपशोभाको पाकर (सौन्दर्यादि) गुणयुक्त भी आपलोगोंका—कलम बनानेका नल (नरसत्त्वनामक तृणविशेष) से उत्पन्न अक्षर शोभा (लिपि) को पाकर गुणयुक्त (शुद्धतादि गुणोंमें सम्पन्न, अथवा—धारणमें युक्त) भी पुस्तकोंका मूर्त्तरूपी अन्धकारयुक्त (अत्यन्त गहरे) कृपमें गिरने (मूर्खोंके हाथमें पड़ने) के समान—परोपकार व्रतका भाव (पण्य—पटने तथा मुननेवालोंके उपकाररूप नियमका भाव) क्यों नष्ट हो गया ? [निम्न प्रकार 'नरसत्त्व' नामक तृणविशेषकी कलमसे लिपी गयी गुणयुक्त पुस्तकोंकी उपकारिता अन्धकारमय रूप तुल्य मूर्खोंके हाथ में पड़नेसे नष्ट हो जाती है, उन्हीं प्रकार नल-स्थानीय रूपशोभाको पाकर गुणयुक्त आपलोगोंका परोपकार धारण का नियम क्यों नष्ट हो गया ? अर्थात् स्वयमेव उपकार नहीं करने पर भी अपना कभीष्ट मुझमें दूतकार्य करनेवाले नलका रूप धारणकर उस नलके सौन्दर्यादि गुण जो आपलोगोंमें आनेमें उस नलका परोपकार गुण भी आपलोगोंमें आगया, वह परोपकारगुण मेरे विषय में क्यों नष्ट हो गया ? । मूर्खताके कारण पायी गयी पुस्तकोंके द्वारा उपकार करने में असमर्थ होना तथा उन पुस्तकों को देकर दूसरों का उपकार नहीं करना मूर्खोंका स्वभाव होता है । मूर्खोंके हाथमें पुस्तकों का पड़ना कुण में गिरनेके समान ही है और इनमें किसीका उपकार नहीं होना उचित ही है] ॥ ४८ ॥

यस्येश्वरेण यदलेखि ललाटपट्टे

तत् स्यादयोग्यमपि योग्यमपास्य तस्य ।

का वासनाऽस्तु विभ्रूयाभिह या हृदाऽह ?

नार्कतपैर्जलजमेति हिमैस्तु दाहम् ॥ ४९ ॥

यस्येति । यस्य जनस्य, ललाटपट्टे भालफलके, ईश्वरेण विधिना, यत् शुभम् शुभ वा कर्मानुरूपम्, अलेखि लिखित, तस्य जनस्य, अयोग्यम् अनर्हमपि, तत् शुभाशुभ कर्त्तुं, योग्यमनुरूप फलम्, अपास्य अनादृत्य, स्यादेव स्वयं भवेदेवेत्यर्थः, एवं स्थिते सा वासना ईश्वरेच्छानुगृहीतकर्मवासना युक्तिर्वा, का अस्तु ? सम्भावनाया लोट्, का वा सम्भविता ? तत्र वेद्योक्त्यर्थः, इह नलनिश्चयविषये, या वासनाम्, अहं हृदा हृदयेन, विभ्रूया धारयेयम् ? अन्यतरनिश्चये सन्देहदुःखं न स्यादित्यर्थः । तत् स्यादयोग्यमपीत्यत्र दृष्टान्तमाह—जलज पद्मम्, अर्कतपं तपनसन्तापं, दाहं न एति, किन्तु, हिमें एति, तेन ईश्वरेच्छाऽनुगृहीतकर्मवासनानुसारिणी नलप्राप्तिः, सा तु दुर्ज्ञेया इति का गतिः ? अतो देवानां न बोध इति भावः ॥ ४९ ॥

भगवान्ने जिसके ललाटमें जो (अयोग्य भी बात) लिख दिया है, उसके योग्य (बात) को भी दूरकर वह अयोग्य बात हो जाती है, (अतएव) मैं (नल-विषयक सन्देह होनेपर सत्य नलका निश्चय करनेके लिए) जिस उपायको हृदयमें ग्रहण करने, वह कौन उपाय है ? कमल सूचनाप (उष्णप्रकृति धाम) से नहीं जलना, किन्तु हिम (शीतप्रकृतिक हिम) से जल जाता है । [सूर्यतापकी उष्ण प्रवृत्ति होनेके कारण उससे कमलका जलना उचित है, शीतप्रकृतिक हिमसे नहीं, किन्तु कमलमें इसकी विपरीत कार्य होना है, अतः वह निश्चित है कि भगवान्ने जिसके ललाटमें अयोग्य बात भी लिखी है, उसकी वह अयोग्य ही बात होती है योग्य नहीं, अतएव मेरे तथा नलका संयोग यदि भगवान्ने ललाटमें नहा दिया है तो वह किसी उपायसे भी नहीं हो सकता, इस कारण (नलका निश्चय न कर सकने) में मेरी ललाटलेखा (भाव्य) का हाँ दोष है इन देवताओं का नहीं] ॥ ४९ ॥

इत्थं यथेह मधभाग्यमनेन मन्ये कल्पद्रुमोऽपि स मया खलु याच्यमानः ।
सङ्कोचसञ्जरदलाद्बुलिपल्लवाप्रपाणीभवन् भवति मा प्रति बद्धमुष्टिः ॥५०॥

इत्थमिति । इह समये, इत्थमेतादृश, मम अभाग्य मन्दभाग्यम्, अभूदिति शेषः, यथा येन, अनेन मन्दभाग्येन, स अतिवदान्य, कल्पद्रुमोऽपि मया याच्यमानः सन्, सङ्कोचो मुकुलीभावः, स एव सञ्जर सन्तापः, 'सन्ताप सञ्जर समौ' इत्यमरः, येषां तादृशानि दलान्येवाद्बुल्यो यस्य तादृशं पल्लवाप्रमेतः पागिर्यस्य तादृग्भवन् सङ्कुचितपाणीभवन् अभूततद्भावे चिच्च दीर्घश्च, मा प्रति बद्धमुष्टिः अमुच्छिस्तः, कृपण इत्यर्थः, भवति खलु भवत्येव, इति मन्ये, अर्थिमनोरथपूरक

स कल्पवृक्षोऽपि मयि प्रनिषेधस्तत्र एव स्यात्तथाविधो मे माग्यविपर्यय इति भाव ॥ ५० ॥

इस समय (अथवा—नन्की दृक्का) में हम प्रकार अर्थात् नन्के अनेक होनेसे ऐमा मेग जमान है, इस प्रकार (या—हम नगर) मुझे याचना किया गया वह (अविश्व दानी) कल्पवृक्ष को सङ्कोचस्वी अविश्व नगर (ताप) बाने पत्ते ही हैं अनुलिना जिनके देने पलवरूप इत्यादिवाला होगा हुआ बह्मुष्टि (नहीं देनेके अभिप्रायसे देने हुए सुदीवाना पक्षाङ्कन) ही होगा । [सर्वदा दासस्त्री को कल्पवृक्ष मुझे नन्के लिए याचना करनेपर मेरे अमाग्यवश बह्मुष्टि (हरग) हो जायगा अर्थात् नन्को नही देगा, अत एव मेरा कल्पवृक्षने भी नन्को मागना व्यर्थ है । मुझा बाँधनेवाले व्यक्ति के हाथकी अहुलियोंका मङ्गलिन होना उचित ही है] ॥ ५० ॥

वेढ्या करे वरणमान्यमयार्पये वा ?

यो वैरसेनिरिह तत्र निवेशयेति ।

सैषा मया मल्लभुजा द्विपती कृता स्यान्

म्वन्मै लृणाय तु विहन्मि न चन्वुरत्नम् ॥ ५१ ॥

देया इति । अथवा इह पञ्चाना मध्ये, यो वैरसेनि नल, तत्र तस्मिन्, निवेशय मस्थापय, इति, उपतेति शेष, देया वागीदेव्या, करे वरणमास्य पविवा-
णनिमित्त मालाम्, अर्पये ? तच्च न मुच्यते इत्याह—सैषा देवी सरस्वती, मया मल्लभुजा देवाना, द्विपती द्वेपित्री, विद्वेषपात्रीत्यर्थ, 'द्विषोऽमित्रे' इति शास्त्रमन्य । 'उगितश्च' इति ङीप् । 'द्विष शत्रुवां' इति विकल्पान् पट्टी, कृता स्यात्, तथा च मज्जेरणया देया वयार्थनले वरमास्थापने कृते मति इन्द्रादीना मल्लरूपधारणरूप-
माया प्रकाशिता मवेत्, एवञ्च मति देयुपरि इन्द्रादीना विद्वेषो भविष्यतीति भाव । नृणाम नृगकहाय, स्वस्मै स्वार्थम् इत्यर्थ, नृगनुत्पत्त्य निजस्य कार्यमिदमे इति भाव, चन्तु रत्नमित्र इति चन्तुरत्न परमचन्तु, तु पुन, न विहन्मि न विह-
णमि, तथा च देयुपरि इन्द्रादीना विद्वेषे जाते तद्विद्वेषस्य मग्नूलकत्वेन सदुपरि देव्या पूर्ववत् चन्तुमाघो विहतो भविष्यतीति भाव ॥ ५१ ॥

अथवा 'इम (पाँचों ननों) में जो बोरने—पुत्र (नल) हो, उन्में इस अयमानको दानदो' (देना नदकर) सरस्वती देवीके हाथमें इस अयमाशको दे दूँ, (किन्तु ऐसा करके) मैं (सरस्वती देवीके द्वारा इन्द्रादिके कष्टको प्रकट कराकर) इस सरस्वतीकी देवीका शत्रु बना दूँगी, (अत एव नष्टप्राप्तिरूप मेरा अनौष्ट लाभ सजे न हो, किन्तु) दृष्टान्त अर्पने लिए (सरस्वतीरूप) चन्तुरत्नको नहीं नष्ट करूँगी । [मेरी प्रार्थनाके अनुसार सरस्वती देवीके द्वारा सत्यमन्के कण्ठमें अयमान दाट देनेपर इन्द्रादिदेव अपना कष्ट प्रकट हो जायके कारण सरस्वती देवीसे विरोध करने लगे, अतएव मैं ऐसा कार्य

दुई दमयन्तीने किन्ही (पाच नलमें-से किसी एक) में भी निश्चयको नहीं प्राप्त कर सकी (पाचोंमें-से किसीको भी सत्य नल होनेका उस दमयन्तीने निश्चय नहीं किया) । अनन्तर परित्यागसे ध्यान-रहित हमका मुख सूर्य से पराभूत (कान्तिहीन किये गये) चद्रवी निन्दा करने लगा अर्थात् दमयन्तीका परित्यागयुक्त मुख दिनके चद्रसे भी अधिक नित्य हो गया ॥ ५४ ॥

श्रीहर्ष कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर सुत

श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियधय मामल्लदेवी च यम् ।

स्वादूत्पादभृति त्रयोदशतयाऽऽदेश्यस्तटीये महा

काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोऽग्रल ॥ ५५ ॥

श्रीहर्षमित्यादि । स्वादूत्पादभृति मधुरार्थधारिणि । त्रयोदशतया आदेश्य त्रयोदशत्वेन सङ्ख्येय । नलमन्यत् ॥ ५५ ॥

इति मल्लिनाथविरचिते 'जीवातु' समाख्याने त्रयोदश सर्ग समाप्त ॥ ५६ ॥

कबीर-समूहने किया, उसके रचित सुन्दर नैषधचरित नामक महाकाव्यमें (सङ्ख्याकादक होनेसे) स्वादुरसोत्पत्तिसे युक्त अर्थात् अत्यन्त मधुर अर्थवाला यह त्रयोदश सर्ग समाप्त हुआ । शेष-वाराटा चतुर्थमार्गवद् जाननी चाहिये । ५५ ॥

यइ 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित'का त्रयोदश सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५६ ॥

चतुर्दशः सर्गः ।

अथाधिगन्तु निपथेश्वर मा प्रसादनामाद्रियतामराणाम् ।

यत सुराणां सुरभिर्नृणान्तु सा वेधसाऽमृष्यत कामधेनु ॥ १ ॥

अथेति । अथ चिन्तानन्तर, सा मैत्री, निपथेश्वर नलम्, अधिगन्तु लब्धुम्, अमराणाम् इन्द्रादीनां, प्रसादनाम् अभिमुखीकरण, पूजादिना सन्तोषसम्पादनमित्यर्थ, आद्रियत अमोघसाधकत्वेन अवालम्ब्यतेत्यर्थ । अमोघसाधकावमेव समर्थयते यत पुरा वेधसा सुराणां कामानां धेनु कामधेनु कामदुघा, सुरभि काचन गौ, असृज्यत, नृणान्तु सा सुरप्रसादनैव, कामधेनु असृज्यत, या यस्य कामान् दुग्धे गौरगौवा सैवास्य कामधेनुरिति भावः । अत्र अमरप्रसादनाया कामधेनुत्वेन रूप-णादृपकालद्वार ॥ १ ॥

इस (प्रकार विष्णु या शिव करने) के बाद उस (दमयन्ती) ने निषधराज (नल) को पानेके लिए देवोंके पूजनका आदर किया अर्थात् देवोंको षोडशोपचार पूजनसे

उहें प्रमत्त कर नलको पानेमें अथर्वकर समझा, क्योंकि ब्रह्माने देवोंके लिए सुरभि (गो विशेष) को कामधेनु (मनोरथको पूरा करनेवाला) बनाया है और मनुष्योंके लिए तो उस (देव-पूजा) को ही कामधेनु बनाया है । [देवों को इच्छाका पूर्ण करनेवाली 'सुरभि' नामक गो तथा मनुष्योंकी इच्छाको पूर्ण करनेवाला 'देव-पूजा' ही है, जगत्त्रय दमयन्तीका उक्त विचार करना परमोत्तम मार्ग था] ॥ १ ॥

प्रदक्षिणप्रक्रमणालवालविलेपधूपावरणाम्बुसेकै ।

इष्टञ्च मृष्टञ्च फल सुगन्धा देवा हि कल्पद्रुमकानन न ॥ २ ॥

प्रदक्षिणेति । प्रदक्षिणप्रक्रमण प्रदक्षिणरूपेण परिक्रमणम् एव, आलवाल वृक्ष मूले जन्धारणार्थं सेतुविशेष, तथा विलेपश्चन्दनादिवर्षा, स एव विलेप पिण्याकादिलेप, धूपो दशाङ्गादिधूप, स एव दोहदधूपश्च, आवरणमङ्गदेवतापरिवेष्टन, तदेव शात्वावरणम्, अम्बुसेकोऽभियेक, स एव मूलेषु जलसेक, तेषां ह्यङ्ग तै करणै, इष्टञ्च प्रियञ्च, मृष्टञ्च अवज्ञातञ्च, फलमीप्सित वस्तु, तदेव फल सस्य, 'मस्ये हेतुहृते फलम्' इत्यमर, सुगन्धा जनयन्त, सूते कर्त्तरि लट् शानजादेश, देवा हि देवा एव, नोऽस्माक नृगा, कल्पद्रुमाणां कानन वनम् । अत्र प्रदक्षिणप्रक्रमणाया लवालाद्यवयवरूपगाद्देवेषु कल्पद्रुमरूपणाच्च समस्तवस्तुविश्वसिन्नावयवरूपकम् ॥ २ ॥

प्रदक्षिणार्थे भ्रमणरूप धाला, चन्दनादि-वर्षारूप खली आदिका लेन, (दशाङ्ग) धूप-रूप दोहद धूप, अद-प्रत्यङ्ग देवताका परिवेष्टन (या वत्सादि पहनाना) रूप चीतरफा रक्षार्थं ये । टालना (बाँध बनाना) और जलमयिकरूप सीवना-अथवा-प्रदक्षिणार्थे भ्रमण रूप धालेने चन्दनचूर्ण दशाङ्गधूप तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग देवताका परिवेष्टन (पाठा—धूपोंका आवरण)—रूप जलमिञ्जनने अमीष्ट तथा स्वभावसुन्दर फल अर्थात् मनोरथ (पक्षा—अमिलविन तथा स्वादिष्ट फल नाम आदि) को उत्पन्न करते हुए देव हमन्नोंको (लिए) कल्पद्रुमोंके वन है । [जब एक भी कल्पद्रुम सबका मनोरथ पूरा करता है ना कल्पद्रुमाका वन होनेपर मनोरथके पूरा होनेमें क्या सम्भेद है ?, अब पूजाद्वारा देवरूप कल्पद्रुमवतने नलको पानेके लिए प्रयत्न करनेका दमयन्तीने बहुत सुन्दर उपाय सोचा] ॥ २ ॥

१ अस्मात्पूर्वं 'प्रकाश' व्याख्याया वक्ष्यमाणश्लोक चैपकरूपेण दृश्यते ।

स यम—

'अथाधिगन्तु निषधेक्षमेवा प्रसादन दानवशात्रवाणाम् ।

अचेष्टतासौ महतीष्ट सेद्धिराराधनादेव हि देवतानाम् ॥' इति ।

अत्र 'सुखावबोध व्याख्याकार — 'पूर्वोक्त एवायो भङ्गान्तरेण निबद्ध, अत एव पाठान्तरम् । केचिद्वादर्शपुस्तकेषु 'वयं श्लोको नास्त्येव' इत्याहु ।

२ 'चरणाम्बु' इति पाठान्तरम् ।

४२ नै० उ०

श्रद्धामयीभूय सुपर्णस्तान् ननाम नामग्रहणाग्रक सा ।

सुरेषु हि श्रद्धता नमस्या मरार्थनिर्ध्वजमिथ ममस्या ॥ ३ ॥

श्रद्धेति । सा दमयन्ती, श्रद्धा विश्वास, तन्मयी तद्व्युक्ता भूत्वा श्रद्धामयीभूय 'अभूततद्भावे स्वौ समासे क्तो ल्यवादेश' तान् सुपर्णो देवान्, नामग्रहणाग्रकम् असुकदेवाय नम इत्यादि नामोच्चारणपूर्वकं यथा तथा, ननाम प्रणामं कृतवती । हि यत, सुरेषु विषये श्रद्धता विश्वमता, ममस्या नमस्कार, श्रद्धापूर्वकनमस्कार इत्यर्थः, नमस्यते वयजन्तात् 'अ प्रत्ययात्' इति स्त्रियाम् अ-प्र यये टाप्, सर्वेषाम् धाना निधो पूरणविषये, यान्यङ्गानि साधनानि, तेषां मिथ रहसि, अभ्यानपेक्षमेवेत्यर्थः, किमपि आङ्गवरमहत्त्वेन यावत्, ममस्या समासार्था, संयोजनकारिका इत्यर्थः, सवार्थसाधिका इति यावत्, ममस्यते सङ्क्षिप्यते अनयंति ममस्या, सपूर्वा दस्यते वयजन्तात् 'अ प्रत्ययात्' इति स्त्रियाम् अ-प्रयये टाप्, 'मिथोऽन्योन्य रहस्यपि', 'ममस्या नु समासार्था' इति चामर, सति नमस्कारे सर्वसाधन फलद नान्यपेति सा नमश्चकारेति निष्कर्षः । सामान्यतः विशेषममर्थनरूपोऽर्थान्तर न्यासालङ्कारः ॥ ३ ॥

विधास्युक्त (या-बहुत आश्लिष्यवाणी) होकर उस (दमयन्ती) ने पहले नामोच्चारणकर ('इहाय नम' इत्यादि कहकर) उन (इन्द्रादि) देवोंको नमस्कार किया, क्योंकि देवोंमें मङ्गलुत्तोगोका नमस्कार सब प्रयोजनोंकी पूर्तिमें दूसरेकी अपेक्षाके बिना संयोजक (पाठा०—सब प्रयोजनोंकी निम्निके अङ्गोंके परस्पर पूरणका कारण) है । [जिस प्रकार ममन्या सब अर्थको पूर्ण पदरूप बनकर पूरा करती है, उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक किया गया देव-नमस्कार भी नमस्कारोंके सब प्रयोजनोंकी नमरे किसी आङ्गवरके बिना पूरा करती है] ॥ ३ ॥

यन्नाग्निजे सा हृदि भावनाया बलेन साक्षादकृतापिलस्थान् ।

अभूदभीष्टप्रतिभू स तस्या वर हि दृष्टा ददते पर ते ॥ ४ ॥

यदिति । सा भैमी, भावनाया बलेन ध्यानदाढ्येन, अग्निलस्थान् सर्वगतान्, तान् देवान्, निजे हृदि साक्षादकृत साक्षात्कृतवती, करोते कर्त्तरि लुट् तङ्, 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लोपः, इति यत्, स साक्षात्कार एव, तस्या भैम्या, अभीष्टे इष्टार्थसिद्धी, प्रतिभूत्प्रक, अभूत्, हि यत, ते देवा, दृष्टा प्रत्यक्षीभूता, चेत् तदा इति पदद्वयमत्राभ्याहरणीयम्, परमवश्य, वर ददते । 'न दातु देवा वरमर्हन्ति न प्रत्यक्षदृष्टा मनुष्येभ्य' इति श्रुतिः । अत्र कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासालङ्कारः ॥ ४ ॥

उस (दमयन्ती) ने सबत्र विद्यमान उन देवोंका ध्यानके समर्थ्य (या दृढता) ने जो माशान्कार किया, वह (माशान्कार, हो) उसके जगोष्ठ का प्रतिभू (जमानतदार या दानका निश्चायक) हुआ । क्योंकि (ध्यान आदिके दाग) देते गये वे (देव) उत्तम वरको देने हैं अर्थात् देवदत्तन नदापि निष्कल नहा होता ॥ ४ ॥

सभाजन तत्र समर्ज्ज नेपा सभाजने पश्यन्ति त्रिस्मिन्ते सा ।

आमुच्यते यत् सुमनोभिरेव फलस्य मिद्धी सुमनोभिरेव ॥ ५ ॥

सभाजनमिति । सा भैरवी, तत्र सभाया, विस्मिन्ते अस्मादप्यादरेण देवानां पूजारम्भदर्शनादाश्चर्यान्विते, सभाजने सभ्यजने, पश्यन्ति पर्यन्त तस्य अनाद्यत्वे स्वर्यं, 'पट्टी चानादरे' इति चकारादनादरे मसृष्टी, तेपा देवानां, सभाजनम् आनन्दन, पूजादिना सन्तोषमप्यादनमित्यर्थं, 'अथ द्वे आनन्दनसभाजने । आश्चर्यजनम्' इत्यमर, मालायादिषु सम्कारञ्च इत्यपि गम्यते, समञ्च चकारेण्यर्थं । किमर्थं सुरा र्जनमियाशाङ्क्य सन्मुष्टा एव ते फल ददनीत्यर्थान्तरं न्यस्यति, यत् यस्मात् सभाजनात्, सुमनोभि उदारचित्तैः पण्डितै वा, मालायादिभिश्च, सुमनोभिर्देवैः पुंष्वेव, 'मालाया पण्डितैः पुंष्वे देव च सुमनोभिर्वा' इति त्रिरव, फल हेतुमाध्य सम्पञ्च, 'तस्य हेतुकृते फलम्' इत्यमर, तस्य सिद्धौ मिद्धिप्रसङ्गे, फलदानविषये इत्यर्थं, एवम् इत्यम्, आमुच्यते एव सन्मुच्यते एव, सङ्गन्धविसिद्धाभूयते च, मुच्यतेभावे लट् 'आमोदो हर्षगन्धयो' इत्यमर, सुमनसा माला यादीनां फलपुं'पदानदर्शमान् सुरे सुमनस्त्वेन तथा चनिश्चयात्तदामोदार्थं त सभाजनमन्त्रतिष्ठित्यर्थं । अत्रोभयेषाम् अपि सुमनसाम् उभयोरप्यामोदयोश्च फलयोरभेदाध्यवसायेतायमर्थान्तरन्यासा लङ्कार ॥ ५ ॥

उस (दमयन्ती) ने उहा पर अर्थात् स्वयन्तर सभामें (वत्साल देव-पूजन आरम्भ करनेके कारण) आश्चर्यजन सदृश्योंके देखने गइनेपर (या-उन सदृश्योंका अनारर कर) उन (इन्द्रादि देवों) का पूजन (या-पसादन, अर्वा-माला आदिका सम्कार) आरम्भ कर दिया, क्योंकि फल (मनोरथ, पञ्चा०—आम आदिने फल) की मिद्धिमें प्रशस्त मन वालों (या पण्डिता, वा सत्तनों) से हा देव प्रसन्न (पञ्चा०—पुष्प विस्मित या सुगन्धि युक्त) होते हैं । (अथवा—क्योंकि से इमा प्रकार देव प्रसन्न) । [फल गमनेमें पुंष्वके विवक्षित होनेके समान मनारव-सिद्धिमें दोनोंका प्रसन्न होना आवश्यक होनेसे दमयन्तीने उन्हें प्रसन्न किया] ॥ ५ ॥

वैशद्यद्वयैर्मन्त्रिमाभिरामेरामोदिभिस्तानश्च जातिजातैः ।

आनर्चनीत्यन्वितपट्पट् सा स्तयप्रसूनस्तवर्कनवीनैः ॥ ६ ॥

वैशद्येति । अथ पूजानन्तर, सा दमयन्ती, तान् देवान्, वैशद्यमर्थव्यक्ति, अन्यत्र—विकासश्च, तेन हृद्यै हृदयप्रियै, 'हृदयस्य प्रिय' इति यत्-प्रत्यय, 'हृद

यस्य हल्लेपयदण्डलामेषु' इति हृदादेशः, अदिमा शब्दार्थमभ्युपगम्य, अन्यत्र—सौकु-
मार्यं, तेनाभिरामं, आमोदयन्तोऽयामोदिन 'मुदेर्ण्यन्तात्ताच्छीह्ये णिनि' अन्यत्र—
आमोद सौरभमेपायमस्ती'यामोदिन 'मत्वर्थाय इति' तैरामोदिभिः प्रीतिजननैः सुग-
न्धिभिश्च, जानय आयाङ्गानि छन्दसि मालत्यश्च, तज्जातैः तदुद्भवैः, आर्यादिजानि
चन्द्रोनिवद्भिः मालत्यादिप्रचितैश्च, गीत्याम्बिता गीतिचन्द्रोनिवद्भिः, पट्टपदा गाय-
विशेषा येषु नैः, अन्यत्र—सङ्घारयुक्तभ्रमरे, नर्पानैः अभिनवैः, स्तोत्रैः, प्रसूनस्तवके
कुसुमगुच्छैश्च, आनर्चं अर्चयामास, स्तवैः पुष्पाञ्जलिभिश्च पूजयामासेत्यर्थः । अर्चमां
वादिच्छाति, 'अत आदे' इत्यभ्यासदीर्घं तस्यानर्चः । अत्र स्तवान् प्रसूनस्तव
कान्नालोभनेपायम् अपि अर्चनमाघनत्वेन प्रकृतानामेकार्चनक्रियाभिस्त्वन्धात् केवल
प्रकृतविषया तुल्ययोगिता, लक्षणम् उक्तं प्राक् ॥ ६ ॥

इतः (देव-मन्त्राज्ज) के बाद उम (दमयन्ती) ने विराड्ना (प्रसादगुण, अथवा—
शब्दार्थान्भारक होने तथा अपशब्द-मावशस्यतादि दोष रहित होने) पश्चात्—शुभ्रता
मे हृदयमाश, वृद्धता (निष्ठुर वर्णादिते रहित होनेके कारण शब्द-माधुर्यं, पश्चात्—कोम-
लता) से मनोहर, हर्षजनक (पश्चात्—सुगन्धियुक्त), जानि (२६ अक्षरोंके चरणोंवाले
छन्दों या अनुष्टुप् आदि) से रचित (पश्चात्—मालतीसे बने हुए), 'गीति' नामक छन्दो-
विशेषने रचित छ चरणोंकी गायनोंवाले (पश्चात्—गूँघने हुए भ्रमरोंवाले) वदे (तत्का-
लनाये अर्थात् वदे (पश्चात्—गुंघे) गये स्तुतिरूप पुष्पोंके गुच्छोंमे उन (देवों) की पूजा की॥

(हृत्पद्मसद्वन्धविशम्य वृद्ध्या दध्यावर्थतानियमेकताना ।

सुपर्णणा हि स्फुटभाजना या मा पूर्वरूप फलभाजनाया ॥ ५ ॥

हृदिति । अथ पूजानन्तरमित्यमेकतानाऽन्यत्रुत्तिस्तपरा सती हृद्येव पद्मे तद्रूपे
गृह एतानिन्द्रादीन् वृद्धाऽर्षिवास्याविष्टाय दध्या । सर्वगतानामपि देवानां हृद्ये
वृद्ध्या समारोपित रूप ध्यानेन मांसादकृतेति यावत् । हि यस्मात्सुपर्णणा देवानां
या स्तुता भावना ध्यानवलेन प्रत्यक्षता मा फलभाजनाया कार्यसिद्ध पूर्वरूप प्रथम
स्वरूपम् । कारणस्य कायानेष्वथा नियतप्राग्भावि-वादेवानां प्रत्यक्षताया कार्यमात्र
प्रति कारणेना कार्यकारणसामग्रीरूपा देवनाप्रत्यक्षता ध्याननाकृतेत्यर्थः । पूजाया
पूर्वमनन्तरञ्च ध्यानस्येष्टत्वान् 'यत्तान्' (१४१४) इत्यस्यास्य (१४१५) च श्लो-
कस्य न पौनरवत्यम् । 'उपान्वध्याद् वम' इत्यप्यन्तस्य वमेर्ग्रहणान् 'स्वहस्तदत्ते

१ अथ श्लोको म म मन्त्रिनाथेन न व्याख्यात इत्यतो मयाऽसौ 'नारायणमह' वृत्त 'प्रकाश' व्याख्याया सार्धमिहोपन्यस्त ।

२ 'सुखात्रोद्य-याख्यायान्' यत्तान्—(१४१४) इति श्लोकोत्तरमेतमपि व्या-
ख्याय 'पूर्वोक्तार्य एवाय निरुद्ध । अत एव पाठान्तरम्' इत्युपमहत्तम् । अत एव
'जीवाती' न व्याख्यायि इति म म क्षिपदक्षमाण ।

मुनिमासने-^१ (माघ ११५) इतिवर्ण्यन्तस्य वसे प्रकृत्यन्तरत्वात् 'हृत्पञ्चमानी'
त्याधारस्य न कर्मत्वम् ॥ १ ॥

इस (देव-पूजन) के बाद हम (दमयन्ती) ने एकाग्र चित्त होकर हृत्पञ्चरूप गृहमें इन (इन्द्रादि देवों) की उमा (स्थापित) कर (पुन) ध्यान अर्थात् स्थानमें साक्षात्कार किया, क्योंकि देवोंकी जो स्पष्ट भावना (ध्यानादिके द्वारा साक्षात्कार) है, वह फलभावना (कार्यमिदं) का पूर्वम्प है । [कार्यके पहले कारणका होना अत्यावश्यक होनेसे यथापर देवोंके साक्षात्कारका समान कार्यके प्रति कारण होनेसे दमयन्तीने पहले कारण-सामग्रा रूप देव-प्रत्यक्षनाही ध्यानमें किया । पूजाके आरम्भ तथा अन्तमें ध्यान करना आवश्यक होनेसे पूर्वोक्त 'पदान्-' (१४४) तथा इस श्लोक की पुनरुक्तिका दोष नहीं होता] ॥ १ ॥

भक्त्या तथैव प्रममाद तस्यास्तुष्ट स्वयं देवचतुष्टयं तत् ।

स्वेनानलस्य स्फुटता यियासो फूत्कृत्यपेक्षा कियती यलु स्यात् ॥७॥

भक्त्येति । स्वयं स्वत एव, सेवादिक विनाऽपि पूर्वं तत्त्वारिथ्यदाह्यादिवेत्यर्थः, तुष्ट सन्तुष्ट, तत् प्रकृत, देवचतुष्टयम् इन्द्रादिदेवचतुष्टयं, तस्या भैरवा, तथा भक्त्या एव जगत्कालकृतसेवयैव, प्रममाद अनुजग्राह, पञ्चकारस्त्वविलम्बमूचनार्थः । तथा हि, स्वेन स्वत एव, स्फुटता व्यक्तता, प्रज्ज्वलितत्वमित्यर्थः, यियासो यातुमिच्छो, अनलस्य बह्ने, फूत्कृते फूत्कृतस्य, फूत्कारमारतस्य इत्यर्थः, अपेक्षा कियती यलु स्यात् ? मायन्तम् अपेक्षने इत्यर्थः, स्वत एव प्रममास्य देवगगस्य तत्कृता भक्ति स्वन एव प्रज्ज्वलित्यनोऽग्ने फूत्कृतिरिव झटिति कार्यप्रादुर्भावंदमात्रफला अन्यत्राऽपि प्रज्ज्वलनवत् प्रसादावश्यम्भावादिति भावः । अत्र वाक्यद्वये भक्तिफूत्कारयो धार्यान् पेक्षितत्वलक्षणममानधर्मस्यैव फूत्कार-विश्वरुद्राभ्या विश्वप्रतिगिम्बतया उत्तेर्हृष्टान्तालङ्कारः, 'विश्वानुविम्बन्यायेन निर्देशे धर्मधर्मिणाम् । दृष्टान्तालङ्कृतिर्ज्ञया भिन्न वाक्यार्थमध्या ॥' इति त्रिद्याचरवर्तिलक्षणम् ॥ ७ ॥

(स्वयंवरने पहले दमयन्तीनाम की गयी पूजादिके द्वारा पूर्णने) स्वयं प्रसन्न वे इन्द्रादि चारों देव उमा (दमयन्ती) की उमा तत्कात्पर्य गयी थोड़ी ही) भक्तिमें ही प्रमत्त हो गये । स्वयं स्पष्ट होनेवाली (जलनेवाली) अग्निमें ऋकने की कितनी अपेक्षा होती है अर्थात् बहुत कम होती है । (पदा गदिके द्वारा हुआ करनेके कारण शीघ्र जलनेवाली अग्नि बहुत थोड़ा फूत्कृतेने जलने लगी है, अतः स्वयं प्रमत्त उन इन्द्रादि चारों देवोंका दमयन्ती की थोड़ी भक्तिमें प्रमत्त होना उचित ही है] ॥ ७ ॥

प्रसादमासाद्य सुरै कृतं सा सस्मार सारस्वतसूक्तिमृष्टे ।

देवा हि नान्यद् पितरन्ति किन्तु प्रसद्य ते माधुधिय ददन्ते ॥ ८ ॥

१ 'तस्याश्चरित्रादयं ते पवित्रात्प्रागेव हृष्टा झटिति प्रसेदु' इत्यपि पाठ स्वार्थः
इति नारायणभट्टः ।

प्रसादमिति । सा भैमी, सुरैः कृम प्रसादमनुग्रहम्, आसाद्य सरस्वत्या इय
मारस्वनी तस्या सृक्तिसृष्टे 'अत्याजि' इत्यादे पूर्वसर्गोक्तशिल्पोक्तिगुम्फस्य, सस्मार
नदर्थतत्त्व जज्ञाविरयर्थ 'अर्धागर्थ—' इत्यादिना कर्मणि शेषे पठ्यी । तस्या नलप्राप्तौ
देवाना कोऽयमनुग्रहो यत् सारस्वतसूक्तिपरिज्ञानमात्रम् ? तत्राह,—दि यत, ते
देवा प्रमद्य अनुगृह्य, मदे क्वो ह्यप, अन्यन् बुद्धेरन्यत् किञ्चित् देयमित्यर्थ न
वितरन्ति, किन्तु साबुधिय फलप्राप्त्युपायपरिज्ञान, ददन्ते प्रयच्छन्ति, 'दद दाने'
इति धातोर्भावादिकाञ्छत् तद्, तदाहु,—'न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
य हि रक्षितुमिच्छन्ति बुद्धया सयोजयन्ति तम् ॥' इति ॥ ८ ॥

उस (दमयन्ती) ने देवाँ के द्वारा जो गयी प्रसन्नताको प्राप्तकर अर्थात् इन्द्रादि देवोंके
प्रमत्त होनेपर सरस्वती देवीके श्लेषमयी सुन्दर उक्तियोंके समूह (या-रचना) का स्मरण
किया अर्थात् सरस्वतीके कई हुए रूपयुक्त वचनोंसे उत्पन्न स देशको छोड़कर वास्तविक
अर्थका स्मरण होनेसे वास्तविक नलको पहचान लिया, यह निश्चित है कि देव दूसरा कुछ
नहीं दाने, किन्तु वे प्रसन्न होकर अच्छे (ग्राह्याग्राह्यज्ञानयुक्त) बुद्धि देते हैं । [उस देव
प्रदत्त मदबुद्धिके द्वारा ही दमयन्तीने सरस्वतीके शिल्प वचनोंके द्वारा कहे गये अनेक अर्थोंको
छोड़कर स्वामीवृत्तापक अर्थका ज्ञान होनेसे वास्तविक नलको पहचान लिया] ॥ ८ ॥

शेष नल प्रत्यभरेण गाथा या या समार्था रल्लु येन येन ।

ता ता तदन्येन महालग्नतो तदा त्रिशेष प्रति सन्दधे सा ॥ ९ ॥

शेषमिति । या दमयन्ती शेष पञ्चम परमार्थ, नल प्रति, त्रिरचितेति शेष, या
या गाथा 'अत्याजिलब्ध' इत्यादिको यो य श्लोक, येन येन अभरेण दधेन, समार्था
समानाभिधेया, रल्लु, अत एव तदन्येन ततस्तत, मुख्यार्थरूपात् इन्द्रादेरित्यर्थ,
अन्येन श्लेषमहिम्ना प्रतीयमानेन सत्येन गलेन, सह अलगांतीम् असन्नता, तत्पर
त्वेनानिश्चितामिति यावत्, २। सा गाथा, तदा देवतानुग्रहलब्धेरमृत्युदुद्बोधकाले,
विशेष प्रति सत्यनल प्रति, सन्दधे नलपरत्वेन योजयामासेत्यर्थ, इत्यादिपरत्वज्ञा
विहाय नलपरत्वं निश्चिकायंति तापर्यार्थ ॥ ९ ॥

उस (दमयन्ती) ने शेष / इन्द्रादि चारों देवोंसे बाकी बचे हुए) नलके प्रति (सर
स्वती देवीके द्वारा कही गयी) जो जो गाथा ('अत्याजि—' इत्यादि चार १३१७-१०
श्लोक) जिस जिस (देव अर्थात् क्रमशः इन्द्र, अग्नि, यम तथा वरुण) के साथ समान
अर्थवाली थी, अत एव उस उस (मुख्यार्थरूप इन्द्र आदि) में भिन्न (श्लेषद्वारा प्रतीयमान
वास्तविक नल, अथवा—अग्नि आदि) के साथ नहीं लगती हुई अर्थात् असन्नत उस उस
गाथाको तब (इन्द्रादिवे प्रसन्न हो जानेपर) विशेष अर्थात् वास्तविक नलके प्रति लगाया
अर्थात् श्लेष द्वारा प्रतीयमान इन्द्रादि चारों देवोंकी छोड़कर इस गाथाको वास्तविक नलके
लक्ष्यसे सरस्वती देवीद्वारा बड़ी गयी मानकर उस (वास्तविक नल) का निश्चय किया ।
(अर्थात्—शेष इन्द्रादिसे पाचवें स्थानपर बैठ हुए वास्तविक नलको लक्ष्यकर जो जो गाथा

त्रिस-त्रिस इन्द्रादिके साथ (ब्रूम किमस्य-) आदि चार गाथाए (१३.३-६) इन्द्रके साथ, 'एष प्रतापनिधि- ' आदि चार गाथाए (१३.९-१२) अग्निके साथ, 'दण्ट विमर्त्ति- ' आदि चार गाथाए (१३.११-१८) यमके साथ तथा 'या सर्वतो- ' आदि चार गाथाए (१३.१९-२४) वरुणके साथ (१४) तुल्य अर्थवाली थीं, उस (दमयन्ती) ने तब (इन्द्रादि देवोंके प्रसन्न होकर सद्बुद्धि देनेके बाद) उम-उस इन्द्रादिरूप मुरार्यामे श्लेषशक्तिके सामर्थ्यने प्रती-यमान नलरूप अर्थके साथ निश्चिन रूपसे नहीं लगनी अर्थात् असम्बद्ध अर्थवाली होती हुई उस-उस गाथा को विशेष (अपने-अपने अङ्कार धारण करनेसे भिन्न इन्द्रादि देवों) के प्रति समुक्त किया अर्थात् (ब्रूम किमस्य-) (१३.३) से लेकर 'गो पद्मप्रायिन- ' (१३.२४) तक श्लेषार्थसुक्त चार-चार गाथाओंको इन्द्रादिके तब सब गाथाओंको नलके साथ सम्बद्ध होनेमे इन्द्रके लक्ष्यमे कभी गयी 'ब्रूम किमस्य- ' आदि चार गाथाओं (१३.३-६) को वैष्णव इन्द्रविषयक, 'एष प्रतापनिधि- ' आदि चार गाथाओं (१३.९-१२) को अग्नि-विषयक, 'दण्ट विमर्त्ति- ' आदि चार गाथाओं (१३.१५-१८) को यम-विषयक और 'या सर्वतो- ' आदि चार गाथाओं (१३.१९-२४) को वरुण-विषयक हा समझा-इन गाथाओं को नल-विषयक नहीं समझा अर्थात् जो चार गाथाए इन्द्र तथा नल दोनोंका वर्णन श्लेष शक्तिके द्वारा करता थीं उन्हें-उन्हें वैष्णव इन्द्रविषयक ही समझा नल-विषयक नहीं, इसी प्रकार अग्नि, यम तथा वरुणके साथ नलका भा श्लेषशक्तिके द्वारा वर्णन करनेवाली ४-४ गाथाओंको अग्नि-यम-वरुण-विषयक ही समझा, नल-विषयक नहीं) ॥ ९ ॥

एकैकवृत्ते पतिलोऽरूपाल पतिप्रताप्य जगृहर्दिगा या ।

येव स्म गाथा मिलितास्तदाऽमानाशा उपेक्षस्य नलस्य वर्या ॥१०॥

एकैकेति । या गाथा 'अत्याजि' इत्यादयः श्लोका, एकैकस्मिन् लोऽरूपाले वृत्ते वर्त्तमानाद्देवां, प्रतिलोऽरूपाल प्रत्येकत्रिकपाल प्रति, दिशा पूर्वादीना पतिप्रताप्य जगृहुः तस्याम्पान् प्राच्यादिदिश इव इन्द्राद्येऽरूपालपरं बभूवुरित्यर्थ, तदा देवताप्रसादकाले, अर्मा भैमी, मिलिता समस्ता, गाथा आशा दिश इव, एकस्य नलस्य वर्या वशज्ञाना, नलमात्राभिप्रायिनोरित्यर्थ, 'वश गत' इति यद् प्रत्ययः, येव स्म 'लट् स्मे' इति भूते लट्, 'विदो लटो वा' इति णलान्देश आशाना प्रत्येकम् इन्द्राद्येऽेकलोकपालपरत्वेऽपि सर्वासा पूर्वादिदिशा यथा चक्रवर्त्तिनलैः करार्यत्वाद् नलपरत्वं तथा गाथा अपि आपातत एकैकं एकैकलोकेशपरतया प्रगीता अपि सामर्थ्येन नलपरा एवेति त्रिवेदेत्यर्थ, तस्य सर्वांशाविजयित्वादाशाना तत्परत्वं गाथानान्तु देव्या चतुरोन्निभद्विपर्यालोचनयेति भावः ॥ १० ॥

जो ('अत्याजि- ' इत्यादि चार (१३.२७-३०) गाथाएँ एक-एक (इन्द्रादि चारों देवोंमें-में प्रत्येक गाथा क्रमशः इन्द्र, अग्नि, यम तथा वरुण) में वनमान रहनेसे प्रत्येक लोकपाल (इन्द्रादि चारों देवों) के प्रति दिशाओं (पूर्व, अग्नि कोश, दक्षिण तथा पश्चिम)

के पाणिग्रह को ग्रहण करनी अर्थात् कहती थी, मिली हुई उन (चारों) गाथाओंको तत्र (इन्द्रादि चारों देवोंके प्रसन्न होनेपर) इस (दमयन्ती) ने मिलित दिशाओं (दश दिशाओं) के समान देवल नलके वशीभूत समता । [पहले उक्त चारों गाथाओंमें-से एक-एक गाथाओं द्वारा समानार्थक होनेसे नलके बोधके साथसाथ क्रमशः इन्द्रादि चारों देवोंके पूरे, अग्निर्कोण, अग्नि तथा पश्चिम दिशाओंके पति होनेका बोध होता था, किंतु इन्द्रादिके प्रसन्न हो जानेपर उन चारों गाथाओंको दमयन्तीने चक्रवर्ती नलको सब दिशाओंका स्वार्थ होनेसे नलार्थक ही समझा] ॥ १० ॥

(या पाशिनैवाग्निपाणिनैव गाथा यमेनैव समाग्निनैव ।

तामेव मेने मिलिता नलस्य सैषा त्रिशोपाय तदा नलस्य ॥ १ ॥

येति । 'किं ते—' (१३।३०) इत्यादिर्गाथा पाशिनैव वरुणेनैव समा तुष्टयायां न त्वन्येनेन्द्रादिना, या च 'अत्याजि—' (१३।२७) इत्यादिर्गाथा अग्निपाणिने त्रेणैव समा न त्वन्येन देवेन, या च 'यच्छविष्ठमा—' (१३।२९) इत्यादिर्गाथा यमेनैव समा न त्वन्येन, या च 'येनामुना—' (१३।२८) इत्यादिरग्निनैव तुष्टया न त्वन्येन, नलस्य सख्यन्धिर्ना मिलिता समुदिता चतुष्टयरूपा ता गाथामेव तदा देवप्रसादानन्तरं सैषा भेमी नलस्य त्रिशोपायेंद्रादिभ्यो भेदज्ञापय मेने । इन्द्रादीनामेव गाथाया वर्तमानत्वात्, नलस्य तु सर्वत्रानुगतत्वात् अत्याजि—' इत्यादिगाथाचतुष्टय (१३।२४-३०) प्रतिपाद्यो य, स एव नल इति तामेव गाथा मिलिता नलस्य भेदज्ञापिकामज्ञासीदिति भावः । या नलस्य गाथेति वा सख्यन्ध । या पाशिनैवेन्द्रादेः, यमेनैवाग्निनैव समा गाथा नलस्य सख्यन्धिर्ना मिलिता तामेव । नलस्य सख्यन्धिरिन्द्रादेर्भेदाय मेने । मिलितया तथा कृत्वा नले निश्चिते मनि नान्तरीयकत्वात्तद्विद्वत् देवा अपि तथैव निश्चिता इति भावः इति वा मिलिता तामेव गाथा नलस्य त्रिशोपाय तथा नलेतरस्येन्द्रादेर्भेदाय मेने इति वा व्याख्येयम् । या पाशिनैवेत्यादेरवकारान् परस्परसमुच्चयाधानव्यङ्गीकृत्य या नलसख्यन्धिर्ना गाथा पाशिनाऽपि, इन्द्रेणापि, यमेनापि, अग्निनापि तुष्टयार्थाऽभूत् ता 'देव पति—' (१३।३१) इत्यादि मिलिता पञ्चार्था गाथा देवप्रसादानन्तरं नलस्येव विद्वत्पाय मेने । तेषां प्रसन्नो स्वीयस्वीयारण्येषु एतेषु पञ्चार्थान्न प्रतिभातामपदानामेव नलस्येव प्रतिपादितामज्ञासीदिति भावः इति । 'देव पति—' (१३।३३) इत्यादिमेव गाथा विषय इति ज्ञेयम् । अवधारणार्थव्यवहारविषयमेव गाथा विषय इति व्याख्येयम् । अथ श्लोक 'शेष नल—' (१३।९) 'एकैकृत्ते—' (१३।१०) इति श्लोकाभ्यां समानार्थः । अनलस्येति प्रत्येकपर्यवसायित्वादेकवचनम् ॥ १ ॥

१ अथ श्लोको म० म० मञ्जिनायेन न व्याख्यात इत्यतो मया नारायणभट्ट कृतया 'प्रकाश' व्याख्यया सहोपन्यस्त इत्यवधेयम् ।

२ अथ म० म० शिवदत्तशर्मणः—' केषुचिदादशपु 'शेष नल—' (१३।१०)

जो ('किं ते—' (१३।३०) गाथा वरुणके साथ ही समान अर्थ रखती थी, (इन्द्र, अग्नि और दमके नहीं), जो ('अत्यादि—' १३।२७) गाथा इन्द्रके साथ ही समान अर्थ वाली थी (अग्नि, दम और वरुणके नहीं), जो ('यत्पेटया—' १३ २०) गाथा यमके साथ ही समान अर्थवाली थी (इन्द्र, अग्नि और वरुणके नहीं) तथा जो ('देनामुना—' १३ २८) गाथा अग्निके साथ ही समान अर्थ रखती थी (इन्द्र, दम और वरुणके नहीं) नन्व-सन्वन्धिनी मन्मन्त्रि उन चारों (१३।२७-३०) गाथाओंके इन्द्रादि देवोंके प्रसन्न हो जानेपर दमयन्तीने नन्दके विशेष अर्थपर इन्द्रादिमें भेदमानके लिए मनमता [इन्द्रादि-सन्वन्धी अर्थ क्रमशः एक-एक गाथामें तथा नन्व-मन्त्रि अर्थ चारों गाथाओं (१३-३-३०) में होनेमें उन चारों गाथाओंको इन्द्रादि चारों देवोंमें नन्दके भेद की बतलानेवाली माना । अथवा—उन चारों गाथाओंसे नन्दका निश्चय हो जानेपर 'वानरोदक न्ययने उमासे अन्य देवोंका भा निश्चय (ज्ञान) किया । अथवा—मन्मन्त्रि चार गाथाओंको नन्व-मन्त्रि इन्द्रादिके भेदके लिए माना । अथवा—जो ('देव दत्ते—' १३।३३) गाथा वरुणके साथ मा, इन्द्रके साथ मा, यमके साथ मा और अग्निके साथ भी समान अर्थवाली मिलित पद अर्थवाली उस गाथाका इन्द्रादि देवोंके प्रसन्न हो जाने पर दमयन्तीने नन्दके विशेषके लिए माना अथवा पहले पञ्चनलाके साथ समान अर्थवाली मा उस गाथाको तब (इन्द्रादि देवोंके प्रसन्न होकर दमयन्तीकी सद्बुद्धि देने, या अदना—अदना रूप धारण कर लेनेपर) दमयन्तीने केवल नन्दका अर्थ बतलानेवाली माना] ॥ १ ॥

निश्चित्य शेष तममां नरेण प्रमोदमेदस्वितराऽऽन्तराऽभूत् ।

देव्या गिरा भाषितमभङ्गिराम्यचित्तेन चिन्तार्णयादसेदम् ॥ ११ ॥

निश्चित्येति । अमां दमयन्ती, शेष पञ्चम, त प्रसिद्ध, नरेश नरेण, निश्चित्य प्रमोदमेदस्वितरम् आनन्दमेदस्वितरम्, आनन्दम्, अन्तरा यस्या मा तादृशी अमत् । अथ देव्या गिरा भाषिता परिज्ञाना, भङ्गि प्रयत्नचानुरीविष्णु यया मा तादृशी मती, चिन्तार्णयादमा नलप्राप्त्युपायचिन्तामागरजलप्राहभूतेन, चित्तेन हृद् वक्ष्यमाणम्, आनन्दम् अवेष्टत् । रघातेलुटि 'अस्यनिषिक्त्यानिभ्योऽट्' इति एतेरडादेशः । अत्र चित्ते यादृशवारोपणान् रूपकालङ्कार ॥ ११ ॥

वक्ष (दमयन्ती) देव (इन्द्रादि चारों देवोंने मिल करके) उस (दमयन्ती) पर उस मनुष्योका राज नन्द, अथवा—'र—' का अर्थ मानकर 'नरेण' अथवा राजा—नन्द का निश्चयकर अथवा इसमें उन्मत्त होकर हृदयवाली अर्थात् अनिश्चय प्रसन्न हुए । (फिर मन्त्रवादी) देवोंके वचनोंके इत्योक्ति क्रम (अथवा—वादेवीक मन्त्री (नरेणय रचना—प्रकार) को विचार करनेवाली हम (दमयन्ती) ने (पञ्च देवों तथा नन्दके विशय में सन्देह रहनेकी

'एकैकवृत्ते—' (१३।१०) इति गाथाद्वयेन मतार्थवादिय गाथा नारूपेव इति सुमात्रबोधो । अत एव जीवातां न व्याख्याता इति ।

अवस्थामें) चिन्ता-रूपी समुद्रका जलजन्तु (अथवा—(यव निश्चय हो जाने पर भी उससे प्राप्तयुपायरूप—) चिन्ता-समुद्रके जलजन्तुरूप चित्ते यह (१३।१२-१५) कहने लगी अर्थात् मनमें ही मोचने लगी ॥ ११ ॥

मा भङ्गिरस्या खलु वाचि काऽपि यद् भारती मूर्त्तिमती मतीयम् ।

श्लिष्ट निगद्याऽऽहत वाम्नादीन् विशिष्य मे नैपथमप्यगदीत् ॥१२॥

अथ चित्तेन यदाख्यत तदेवाह, मेति । अस्या देव्या, वाचि सा वच्यमाणा, काऽपि अपूर्वा, भङ्गि प्रयोगप्रकार खलु, यत् यस्मात् भङ्गिविशेषात्, इय पुरोवृत्तिनी, मूर्त्तिमती विग्रहवती, सती सत्यवादिनी भारती वाग्देवता, श्लिष्ट श्लिष्टार्थे यथा तथा, निगद्य उक्त्वा, वाम्नादीन्, इन्द्रादीन्, आहत आहतवती, तानेष उपाचरवेष्टेत्यर्थ, एतो लुटि 'इन्द्राद्वात्' इति सन्नेप, अथ च नैपथ नलमपि, मे मद्य, विशिष्य इन्द्रादिभ्यो विशेष कृत्वा, अवादीत्, किन्तु अहमेव न वेद्मिंति भाव ॥

इस (सरस्वती देवी) के वचनमें यह (विष्णु) कोट (अनिवचनीय) मही (रचनाशैली) है, क्योंकि द्यौरिणी एव सत्यवादिना इम सरस्वतीने श्लेषयुक्त ('अस्याजि—' इत्यादि १३।१७।३० श्लोकों) को कहकर इन्द्रादिका आदर किया और विनयकर, इन्द्रादिन अधिक, या इन्द्रादिने भिन्नकर) मुझमें नलको मा कह दिया । (अथवा—वह जगत्प्रसिद्ध) गौरिणी सरस्वती देवी यही है, क्योंकि इसने वचनमें कोट (अनिवचनाय अर्थात् अलोकिक रचनाशैली है,) ॥ १२ ॥

जग्रन्थ सेय मदनुग्रहेण वच स्रज स्पष्टयितु चतस्र ।

द्वे ते नल लक्षयितु क्षमेते ममैव मोहोऽयमहो ! महीयान् ॥ १३ ॥

जग्रन्थेति । सा इय देवी, मदनुग्रहेण मयि अनुग्रहबुद्ध्या, स्पष्टयितु नल धर्माकर्तुं, चतस्र वच स्रज वचनमालिका, जग्रन्थ प्रथितवती, तत्र ते इन्द्राग्नि प्रत्यागिने, द्वे आद्ये द्वे एव वच स्रज, नल लक्षयितुम् अभिध्यजयितु, क्षमेते सकनुत, ताभ्यामेव स्फुटतर प्रतीतेरन्ये द्वे धृयेति भाव, किन्तु ममैव अय महीयान् महत्तर, मोह, अहो ! आश्चर्यं यत् चतस्रभिरपि न वेद्मीनि भाव ॥ १३ ॥

उम (जगत्प्रसिद्ध) इम (सरस्वती देवी) ने मेरे ऊपर अनुग्रहमें (नलका) स्पष्ट करनेके लिए तिन चार वचनमालाओं ('अस्याजि—' १३।१७।३०) को गुणा अर्थात् तिन चार इन्द्रादींको रचा, (उनमें) वे दो ('महामहेन्द्र' (१३।२७), 'नलमुदीरितमेव' (१३।२८), अथवा—'नामग्राह मया नलमुदीरितमेवमय' (१३।२८), 'नले सद्भरागमरात्' (१३।२९) वचनमाला (श्लोक) नलका लक्षित (स्पष्ट) करनेके लिए समर्थ थी उसने लिए चारको आवश्यकता नहीं थी, यह है कि मेरा ही यह बड़ा भारी मोह था (कि मैं इतना स्पष्ट सरस्वती देवाके कहने पर भी नलका निश्चय नहीं कर सकी) । अथवा—पूर्वोक्त उन चार वचनमालाओंको स्पष्ट करनेके लिए जो दो ('त्वयाऽदिता' (१४।३२), 'देव पनि' (१४।३३), वचनमालाओंको सरस्वती देवीने रचा, वे दो नलको

स्पष्ट करनेके लिए समर्थ थीं । 'त्वयाऽर्पिणी' (१३।३२) इसमें प्रथम व्याख्यानमें नलका हा स्पष्ट प्रतिपादन करनेमें दूसरे व्याख्यान द्वारा देवोंको सन्तुष्टकर (या-छोटकर) 'नन्को ही तुम स्वीकार करो' इस प्रकार नलका ही प्रतिपादन करनेमें 'देव पति' (१३।३३) इसके द्वारा भी लोकपालोंका जश होनेके कारण नलके ही पाचोंका सम्भव होनेमें तथा 'दधे-मुञ्जसि वर कर परस्ते' (१३।३३) के द्वारा भी नन्को स्वीकार करनेमें यह ही बार बार मरत्तनी देवोंके प्रेरण करनेपर भी मने बहुत बड़ मोहमें पड़कर उस देवीके अभिप्रायको नहीं समझा यह आश्चर्य है ॥ १३ ॥

शिल्प्यन्ति याचो यदमूरमुप्या कवित्वशक्ते गलु ते तिलासा ।

भूपाललीला किन लोकरपाला ममाविशन्ति व्यतिभेदिनोऽपि ॥१४॥

अयाचीत्यादिश्लोकचतुष्टय नलमेवाचष्टे, किन्तु भगवा इन्द्रादिचतुष्टयमपि स्पृशतीत्याह, शिल्प्यन्तीति । अमुप्या देव्या, अमूर वाच अस्याजीत्यादयो गायथा, शिल्प्यन्ति नलामवेन्द्रादीनपि स्पृशन्ति, इति यत्, ते तच्छ्लेषगमित्यर्थ, विधेयी भूतविलासस्य प्राधान्यात्तद्विज्ञसङ्ख्यानिर्देश, कवित्वशक्ते काव्यरचनामैपुण्यस्य, विलासा विक्रमा, खलु कविवचमोऽप्य यद्व्यपरेणापि शब्देन श्लेषमग्न्या धर्मान्तरप्राप्त्यायनम्, अलङ्कारवान् तु तात्पर्यमिति भाव । तथा च श्लेषमहिम्ना तेषा मलसारूप्याच्च तत्परत्वभ्रान्तिरित्याह—भूपालस्य नलस्य, लीला इव लीला येषा ते तद्रूपधारिण, लोकरपाला व्यतिभेदिन नलात् भेदवन्तो-पि, समाविशन्ति श्रोतृबुद्धौ लगन्ति किल, ततो ममेवाय व्यामोह इति भाव ॥ १४ ॥

इम (मरत्तनी देवी) के ये वचन ("अत्तादि") इत्यादि चार श्लोक १३।२७-३०) अनेकाधिक होनेमें) ओ शिल्प । नलाधिक होने हुए भा इन्द्रादि-देवार्थक भी) होने हैं, वे (देवीकी) कवित्वशक्ति के विनाम (विस्तर) हैं (उच्चम कवित्व शक्तिके विना किमी एकत्रे न्ययमें करे गये श्लोक उसमें भिन्नकी लक्षित नहा कर सरने), क्योंकि राजा नन्को लीलावाले अर्थात् नन्का नर धारण करने हुए लाक्यान् (इन्द्रादि चारो देव, बुद्धिने) प्रविष्ट होने / समझने आने) है । अथवा—परस्पर (या-नन्में) भेद बाधे भी लाक्यान् राजा (नल) आकारको धारण करनेवाले श्लोकोंमें श्लेष शक्तिके द्वारा मूर्तिमान् होकर दिखलायी पड़ने हैं ।

[परस्परने आहुति कम, स्थानादिके कारण भिन्न भी ये इन्द्रादि चारो लोकपाल अश्व द्वारा राजा नल बनकर एक ही रह है, अत लोकपालोंका अश्व होनेमें नन्के लिए ही प्रयुक्त किये गये मरत्तनी देवी के वचन श्लेषको कहने है यह कवित्वशक्तिका प्रभाव है] ॥ १४ ॥

त्याग महेन्द्रादिचतुष्टयस्य किमभ्यनन्दन् क्रममूचितस्य ? ।

किं प्रेरयामास नले च तन्मा का सूक्तिरम्या मम क प्रमोह ? ॥१५॥

म्वयामोहमेव प्रकटयति-त्यागमिति । इय देवी क्रमसूचितस्य क्रमनिर्दिष्टस्य,

महेंद्रादिचतुष्टयस्य त्याग पुराष्टन परिहार, किं किमर्थम्, अभ्यनन्दत् ? अन्वमो दत् १ माञ्च किं किमर्थं, नले विषये प्रेरयामास ? यद्यस्या मदनुजिघृक्षा न स्यादिति भावः । तत् । नरमात्, अस्या देव्या, सूक्ति साधुक्ति, अत्याजीत्यादि मत्पोपदेश इत्यर्थः, का ? मम प्रमोहः कः ? अहो घण्टापथे स्थलितमिति भावः ॥ १५ ॥

(इमं सरस्वती देवीने) 'अत्याजि- इत्यादि चार (१३.२८-३०) इलोकोमे या 'ल चार्थिना-' इत्यादि दो (१३.३२-३३) इलोकोसे इत्यादि चारोंके त्यागका क्यों अनुमोदन किया । और नलमे (या-नलमे ही) मुक्तको क्यों प्रेरित किया ? (एक ही वाक्यसे वक्त दोनों कार्य किया यह आश्चर्य है), इम कारण इस (सरस्वती देवी) की यह कान ही सूक्ति है ? अर्थात् यह लोकोत्तर वर्णन करने की चतुरता है तथा मेरा कौन सा माह है अर्थात् यह मेरा मोह भी लोकोत्तर है ? [इस प्रकार सरस्वती देवीके स्पष्ट कहने पर भी मुझे मोहमें पड़ना नहा चाहता था । अथच—सरस्वतीने इन्द्रादिके त्याग का अनुमोदन, क्यों किया ? तथा नलके लिए मुझे प्रेरित क्यों किया ? अर्थात् दोनों ही कार्य मेरे ऊपर अनुग्रह होनेसे किये] ॥ १५ ॥

परस्य दारान् खलु मन्यमानैरस्पृश्यमानाममरैर्धरित्रीम् ।

भक्त्येव भक्त श्ररणौ वधाना नलस्य तत्कालमपश्यदेवा ॥ १६ ॥

अथ भूमिस्पर्शादिभिः पृथग्भिः चिह्नैः सा नलज्ञानप्रदामाह—परस्येत्यादि । परस्य दारान् मन्यमानैरिव परभार्या इति बुध्यमानैरिवेत्युत्प्रेक्षा, राजदारत्वात् भुव इति भावः, 'भार्या जायाऽथ पुं भूमिः दारा' इत्यमरः, अमरैः अस्पृश्यमाना, परा हनारपशनिपथादिति भावः, भक्त्येव पतिभक्त्या इवेत्युत्प्रेक्षा, भक्तुं पत्युः, नलस्य चरणौ वधाना धरित्रीम् एषा दमयन्ती, तत्कालं तस्मिन् फाले, नल्यन्तमयोगे द्वितीया अपश्यत्, दत्ता हि भूमि न स्पृशन्ति अथन्तु स्पृशन्तीत्येतदेकं तावद्विद्वन्मिति भावः ॥ १६ ॥

उम समय (इन्द्रादिके प्रसन्न होने पर उम (दमयन्ती) ने मानो दूसरों की मानने हुए देवीने अस्पृष्ट (नहीं स्पर्श की गयी) तथा भक्तिसे हाँ पति नलके चरणोंकी धारण करता हुआ पृथ्वीकी देखा [यहाँ पर नलकी पृथ्वीपति होनेके कारण नलदत्ता पृथ्वीकी देवीका परपत्नी-स्पर्श धर्मविरुद्ध होनेसे स्पर्श नहा करने तथा पृथ्वीद्वारा अपन पति नलके चरणोंकी धारण अर्थात् स्पर्श करनेको उत्प्रेक्षा की गयी है । दमयन्तीने देवीकी भूमिसे कुछ ऊपर तथा नलकी भूमि पर स्थित देखा] ॥ १६ ॥

सुरेषु नापश्यद्वैश्रताच्चोर्निमेपभुर्जभृति सम्मुखे सा ।

इह त्वमागत्य नले मिलेति सज्ञानदानादिव भाषमाणम् ॥ १७ ॥

सुरेष्विति इसा दमयन्ती, सुरेषु इन्द्रादिषु, अथगो निमेषप्रपश्यत्, सम्मुखे स्वाभिमुखस्थिते, उर्वीभृति नृपे नले तु, हे दमयन्ति । त्वम् इह आगत्य इत पत्युः,

नले मिल सङ्गच्छस्व, इति सज्जानदानात् सजाकरणात्, आह्वानसूचकचक्षुश्चेष्टाविशेष-
परम्परादित्यर्थ, भाषमाण ब्रुवाणमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा, निमेषम् अवैक्षत, इदमपर-
विह्वलमिति भावः ॥ १७ ॥

मामने स्थित उम (दमयन्ती) न देवोंमें निमेष (पलकवा गिरना) नहीं देता तथा
राजा नन्में 'तुम यहा आकर (मुझमें) मिलो' ऐसे सकेतमें भाषण करने हुएके समान
निमेषको देता ॥ १७ ॥

नाबुद्ध बाला विद्युधेपु तेषु क्षोद क्षिनेरैश्वर्य नैपथे तु ।

पत्ये सृजन्त्या परिरम्भमस्या सम्भूतसम्भेदमसशय सा ॥ १८ ॥

नेति । सा बाला भैमी, तेषु विद्युधेपु देवेषु क्षिते चोद रज, धूलिमित्यर्थ, न
अबुद्ध न पेशतःपर्थ, तैजसेषु देवेषु भूस्पर्शाभावेन तदसङ्गमादिति भाव, बुध्यते-
लु'डि तडि 'झलो झलि' इति सिच सलोप नैपथे नले तु, पत्ये स्वभर्त्रे, पृथिवी-
स्वामिने नलाय इत्यर्थ, परिरम्भ सृजन्त्या आलिङ्गनददया, अस्या क्षिते सका-
शात्, असशय यथा तथा, सम्भूतसम्भेद सजातसरलेपम्, असशयमिति पदम्
उत्प्रेक्षावाचकम्, आलिङ्गनसङ्क्रान्तमिव स्थितमित्यर्थ, क्षोदमिति पूर्वैश्वर्यव्य,
पेशत, रज सम्भेदोऽपर विह्वलमिति भावः ॥ १८ ॥

बाला (दमयन्ती) ने उन देवोंमें पृथ्वीकी धूलिको नहीं देखा तथा नलमें पति (नल)
के दाम्ने मानो आलिङ्गन करती हुई (पृथ्वीके) उतरत्र समर्पण देता ॥ १८ ॥

स्वेद स्रवेहस्य त्रियोगताप निर्वापयिष्यन्निन ससिसृक्षो ।

हीराङ्गुरश्चारुणि हेमनीव नले तथाऽऽलोकि न दैवतेषु ॥ १९ ॥

स्वेद इति । तथा दमयन्त्या, ससिसृक्षो सस्रष्टु नलेन मङ्गन्तुमिच्छो, स्वदेहस्य
त्रियोगताप नलविग्रहसन्ताप, निर्वापयिष्यन् शमयिष्यन् इव उद्गत इत्युत्प्रेक्षा,
स्वेद चारुणि शुद्धिमति, श्यामिकारहिते इति भाव, हेमनि सुवर्णे, हीराङ्गुर वज्रा-
ङ्गुर इव, 'वज्रो हीरश्च कथ्यते' इति हलायुध । नले आलोकि इष्ट, दैवतेषु सुरेषु न
आलोकि इति पूर्वैश्वर्यव्य । अत्र प्रथमादौ उत्प्रेक्षा, द्वितीयादौ च हेमनो मलमारीरतु-
स्थयात्, हीराङ्गुरस्य च स्वेदतुल्यत्वात् तयो मङ्गन्तुस्य च प्रमिद्धावाहुपमालङ्कार
इत्यनयो ससृष्टिः ॥ १९ ॥

उम (दमयन्ती) ने नलमें (नलका) आलिङ्गनेच्छुक अपने (दमयन्तीके) शरीरके
(अन्धा—दमयन्तीका आलिङ्गनेच्छुक अपने (नलके) शरीरके) (विरहजन्य) सन्तापको
नियमन शान्त करनेवाले पसीनेकी अजुचम सुवर्णमें हीरेके अङ्गुर (जटे गये हीरे) के
समान देखा तथा देवोंमें नहीं देता । [प्रथम पक्षमें नलके सुवर्णवत् गौर वर्ण शरीरमें
हीरेके समान स्वच्छ चमकने हुए पसीने की वूदोंको देसकर दमयन्तीको विश्वास हो गया
कि अब नलको पकर उनमें आलिङ्गनसे मेरा शरीरसन्ताप दूर हो जावेगा । दूसरे पक्षमें—

दमयन्तीके विरहसे उत्पन्न सन्नापको सुवर्णवत् गौर वर्ण शरीरमें हीरेके समान स्वच्छ चमकता हुआ स्वेद दूर कर देगा, क्योंकि इसी स्वेदके द्वारा दमयन्ती स्वेदका मानवपुत्र होनेसे नलको पहचानकर निर्णय करेगी । नलके शरीरमें दमयन्तीने पसीना देखा क्या देवोंके शरीरमें नहा ॥ १९ ॥

सुरेषु मालाममलामपश्यन्नतु तु वाला मलिनीभवन्तीम् ।

इमा किमामाद्य नलोऽद्य मृद्धी श्रद्धास्यते मामिति चिन्तयेव ॥२०॥

सुरेष्विति । वाला दमयन्ती, सुरेषु माला सज्जम, अमलाम् अमलानाम्, अपश्यत्, नले तु अद्य स्वयंवरात्, नल मृद्धी मदपेक्षयाऽपि सुकुमाराम्, इमा दमयन्तीम् आसाद्य किं किमर्थं, मा श्रद्धास्यते ? आदरिष्यते ? इत्यञ्जिदपि आदरिष्यते, इति चिन्तया एव, मलिनीभवन्ती म्लायन्ती, मालामिति पूर्वानुबन्ध, अपश्यत् । ज्ञानकुसुमत्वमन्यचिह्नमिति भाव । अत्र मालायास्नादशचिन्तासम्बन्धासम्भवा दुःप्रेषालङ्कार ॥ २० ॥

वाला (दमयन्ती) ने देवोंमें माणको निर्मल (मलिन नहीं होती दुः) देखा तथा नलमें 'सुकुमारी इस (दमयन्ती) को पाकर नल क्या मुझमें यक्षा कर्थात् मेरा आदर करेंगे ? कर्थात् नहा करेंगे' इस चिन्तासे ही (पाठा०-मानो इस चिन्ताने) मलिन होती दुः माणको देखा ॥ २० ॥

श्रिय भजन्ता कियदस्य देवाश्छाया नलस्यास्ति तथाऽपि नैषाम् ।

इतीरयन्तीष तथा निरेक्षि मा नैषधे न त्रिदशेषु तेषु ॥ २१ ॥

श्रियमिति । देवा इन्द्रादयः, अस्य नलस्य, श्रिय सौन्दर्यं, कियत् अवप यथा तथा, भजन्ता, तथाऽपि नलसौन्दर्यस्य किञ्चित् ग्रहणे कृतेऽपि, नलस्य छाया प्रतिविम्ब प्रतिच्छाया इत्यर्थः । 'छाया सूर्यप्रिया कान्ति प्रतिविम्बमनात्प' इत्यमर । एषाम् इन्द्रार्दाना, नास्ति, नलरूपधराणामपि देवाना तेजोमयत्वेन भूस्पर्शाभावात् तादृशप्रतिविम्बरूपच्छायाया असम्भवादिति भाव, इतीरयन्ती कथयन्तीव स्थिता सा छाया, प्रतिविम्बमित्यर्थ, तथा दमयन्त्या, नैषधे नले, निरेक्षि दृष्टा, ईक्षते कर्मणि लुङ् । तेषु त्रिदशेषु इन्द्रादिषु, न, निरेक्षि इति पूर्वणान्वय, तेषा तज्जम वाच न छत्रादिषु देहच्छाया चितितले लम्बा, नलस्य तु लम्बा इत्येक चिह्नमिति भाव । अत्र श्रियमिव त्रिय छायेव छायेति तादृश्याद्येपान्निर्दर्शने ताभ्यामद्वाभ्यामितीरयन्तीरेषुप्रेक्षाया सङ्गर ॥ २१ ॥

उस (दमयन्ती) ने "देव इस (नल) को शोभाका कितना धारण करें ? नलको ऐसी (अनिष्टय प्रसिद्ध) छाया (शोभाका छेद) जो इन (देवों) को नहीं ह" ऐसी वही दुः के समान नलमें छाया (परछाई) को देखा और देवोंमें (परछाईको) नहीं देखा ।

१ 'चिन्तयेव' इति पाठान्तरम् ।

[जो इन्द्रादि देव नलका छाया (शोमाका छेउ, अथवा—दर्पण) आदिमें नलका प्रतिबिम्ब) अर्थात् प्रतिबिम्बगत शोमाको नहीं धारण करते तो भगवांन नलका शोमाको कद तक धारण कर सकते हैं ? अर्थात् किसी प्रकार नलका धारण कर सकते । अथवा—देव नलकी कुछ मन्त्रोंको धारण कर लें, किन्तु हम नलको शोमाको ये नहीं पा सकते, अथवा—देव नलकी ओरों अन्तः पराद प्राप्त कर लें, किन्तु वेनी नलकी-नी पराई जो हम देवोंकी नहीं है] ॥ २१ ॥

चिह्नै रर्माभिर्नमंविदन्त्या मयादमाप प्रथमोपजाता ।

सा लक्षणव्यक्तभिरेव देवप्रमादमानादितमप्यथोधि ॥ २० ॥

चिह्नैरिति । अस्या इत्यनस्या, प्रथमोपजाता इतरनलानुलभासेषु शेष' इत्यादिपूर्वमार्गोन्विकषणोपपत्ता, नलमविन अत्र शेष एव नलइति बुद्धि, अर्माभि एभि, चिह्नै पूर्वोक्तं भूषणसादिभि, मयादम् ऐकमयम्, आप दाह्यं नातेनयं, सा इम यन्ती, एतामा पूर्वोक्तविह्वाना इत्यस्मि, प्रहारादेव, अभिर्नष्टिह्वानाकार्यदे-
रथयं, देवप्रमाद देवतानुप्रहस्यकारानपि, आमादिन प्राप्तम् परेपि, नमंवता देवता, प्रमन्ता, कथमन्यथा भूषणसादिमानुषसुप्रविह्वानि एतावन्त का न दृष्टानि अनुता वा इतरन्त, कारा विना कार्यानुत्पत्तेरिति ज्ञानवर्त्तति भाव ।
व्यापते कर्त्तरि लुट् 'दीपजन—' इत्यादिना विकृतान् चिह् ॥ २० ॥

इत (पूर्वोक्त १४ १६-२१ चिह्नोंमें हम इनमें) का पूर्वोक्त ('इत्यनस्या—' १३ १३, हममें या नलके दून वलकुर जाने पर —मरखण देवोंके सिद्ध बवनेमें) अन्तर्गत 'इह पञ्चम आम्न पर स्थित हा नल है ऐसा जान सकादको पा लिया अर्थात् परिकल्पनामें ही गया (यही नल है ऐसा जाने पहचानने में मनना था, वह ठीक ही था ऐसा जाने निश्चय कर लिया) इसके बाद उस आनन्ती (ने लक्ष्मी (देवों तथा मनुष्योंके पूर्वोक्त (१४-१६-२१) विभिन्न चिह्नों) में देवोंकी प्रमन्ताके भी वता [अर्थात् पहले इन इन्द्रादि देवोंमें देवता भूषण, निमेष रव मर्त्य स्वेद, मातृनालिन्य मया छाया' का प्रभाव नलका दीवता था, किन्तु अब इनमें इन भूषणोंके विह्वाना अर्थात् पराद दीवता है, अब पर दे देव पर देव ऊपर प्रमन्ता हो गये हैं, ऐसा समझा] ॥ २० ॥

नलेऽपि तातु वरषस्त्रन ता स्मर स्म रामा त्वरयन्त्यथैतान् ।

अथत्रपा तां निषिपेय तेन द्रव्यानुरोध तुलित दधौ मा ॥ २३ ॥

नले इति । अय शेषोऽय नल इति निश्चयानन्तर, स्मर ता करम्या, वरषस्त्र नले विद्यानुम् पुनः रामा दमयन्ती, त्वरयति स्म त्वरयामास, अथत्रपा सर्वममहं कथमेन माल्यदानेन वृणे इति लज्जातु, ता कामेन ध्वर्यमाणा ममी, निषिपेय निदा-
रयामास, 'स्यादिव्यग्यामेन चाम्यामस्य' इति धावम्याममकारयो पत्रम् । तेन कारणद्वयेन, सा भैमी, द्रव्यानुरोधं स्मरलज्जोभयानुरोधं, तुलितं ममीभूतं यथा तथा,

दधी रत्नयामामेत्यर्थः, वरणमालयप्रदानविषयप्रवृत्तिनिवृत्तिविषये कर्तव्यविमूढ
आर्मादिनि भावः । एतेनास्या मध्यमानायिकात्वमुक्तम्, 'नृत्यलज्जारमरा मध्या'
इति लक्षणात् ॥ २३ ॥

इस (देवेंद्री प्रमन्ननामे नलका निश्चय हो जाने) के बाद कामदेवने उस वरणमाला
को नलके पन्नानेके लिए प्रेरित किया और लज्जाने उसे मना किया अर्थात् कामवशीभूत
दमयन्तीने नलको वरणमाला पहनाना चाहा, किन्तु 'इतने लोगोंके सामने मैं नलका
माला कैसे पहनाऊँ ?' इस भावसे उत्पन्न लज्जाके कारण वह रुक गयी । इस कारणसे
उस दमयन्ती ने दोनों (कामदेव तथा लज्जा) के अनुरोधकी समानभावसे धारा
किया अर्थात् भाव-सन्धिके वशीभूत दमयन्ती नलको माला पहनाने तथा नहीं पहनाने
दोन्नायिन चित्तवाली हुई । [समान एवं परस्पर विरुद्ध दो कार्योंके आनेपर मनुष्य
दोन्नायिन चित्त होकर उनमें से एक कार्य भी नहीं करता, अपि तु सन्देह में पड़कर
तदवस्थ बन जाता है वैसा ही इस दमयन्तीने भी किया] ॥ २३ ॥

स्रजा समालिङ्गयितुं प्रिय सा रसादधत्तैत्र बहुप्रयत्नम् ।

स्तम्भप्रपाभ्यामभवत्तदीये स्पन्दस्तु मन्दोऽपि न पाणिपद्मे ॥ २४ ॥

स्रजेति । सा भैमी, रसात् रागान्, प्रिय नल, स्रज्यते इति स्रज् वरणमाला,
'ऋषिगदघ्नस्रज्-' इत्यादिना विधन् अमागमश्च । तथा समालिङ्गयितुं समाश्लेष
यितुं, बहुप्रयत्नं महोद्योगमेव, अधत्त, तु किन्तु, तदीये तस्या सम्बन्धिनि, पाणि
पद्मे स्तम्भ निष्क्रियत्वलक्षण सार्विकभावविशेषः, स च प्रपा च ताभ्या हेतुभ्या,
मन्दं अश्लेषोऽपि, स्पन्दं कम्पनव्यापारः, न अभवत् ॥ २४ ॥

उम (दमयन्ती) ने अनुरागसे वरणमालामें प्रियको आलिङ्गित कराने अर्थात् नलको
वरणमाला पहनानेके लिए बहुत उद्योग किया ही, उसके हस्त-कमलमें स्पन्द ('जड़ता'
नामक सार्विक भावः) तथा लज्जासे थोड़ा भी स्पन्दन नहीं हुआ अर्थात् जटना तथा
लज्जामें अभिभूत दमयन्तीके हाथ थोड़ा भी नहीं हिले (माला टाँकनेके लिये आगे नहीं
बढ़े) कि वह माला नलके गलेमें पहना सके ॥ २४ ॥

तस्या हृदि व्रीडमनोभवाभ्या दोलायित्वा समवाप्यमाने ।

श्रितं धृतैणाङ्कुलातपत्रे शृङ्गारमालिङ्गदधीश्वरश्री ॥ २५ ॥

तस्या इति । व्रीडमनोभवाभ्या लज्जारमराभ्या, दोलायित्वा म प्रेङ्खणलीला, सम
वाप्यमाने नीयमाने, वरणविषये प्रवृत्तिनिवृत्तिसंघर्षेण दोदुल्यमाने इत्यर्थः, एणाङ्कु-
कुल सोमवशः, सोमवशोत्पन्न नल इति यावत्, तदेव आतपत्र छत्र, नलप्राप्तिज
नितमन्तापप्रशमक-आदिनि भावः, एतम् एणाङ्कुलातपत्र येन तस्मिन् सन्ताप
निवारकनलरूपातपत्रवति, तस्या दमयन्त्या, हृदि हृदये, श्रितम् आश्रित्य स्थितः,

शृङ्गार शृङ्गाररमम्, अधीश्वरघ्नी अधीश्वरस्य हृदयेश्वरस्य नलस्य, श्री सौन्दर्यम्, आलिङ्गत् दोलनजनितपतनभयनिवारणार्थमाश्लिषन्, प्रचलनया दोहुल्यमामदोला धिरुदम् अत एव पतनशङ्कया भीत कमपि पुमास पार्श्वस्थ नरो वा नारी वा य कोऽपि यथा अवलम्बन दत्त्वा स्थिरीकरोति तद्वत् इति भाव । नलसौन्दर्यं वरणा-
यैव हृदयस्य स्थैर्यं सम्पाद्य प्रवृत्तिनिवृत्तिसङ्घर्षजनित दोलन निवारयामासेति समु-
दिनार्थ । अत्र भैमीहृदय दोलासन, शृङ्गाररसो राजा, नल एव सन्तापनिवारकत्वात्
छत्र, दोलासनान्दोलनार्थं स्थितौ लज्जाश्री, एतेन नलाधिष्ठिते हृदि भैमी शृङ्गार-
रमस्य परा कोटिम् आरुढा इति निष्कर्षः ॥ २५ ॥

एज्जा तथा कामदेवक द्वारा झूलेने विलासको प्राप्त करने हुए तथा चन्द्रकुल अर्थात्
चन्द्रकुलोत्पन्न नलरूप छत्रको धारण किये हुए उस (दमयन्ती) के हृदयमें आश्रयकर
स्थित शृङ्गार रसके स्वामी (नल) की लक्ष्मी अर्थात् सुन्दरता (अथवा—अधिक सुन्दरता,
अथवा—किसी अन्य राजाकी सुन्दरता) ने आलिङ्गित (ग्रहण) किया । [जिस प्रकार
अत्यन्त हिलने झूलेपर चढ़े हुए पुरुषको गिरनेके भयमे कोह खी या पुरुष पकड़कर उसे
स्थिर करता है उसी प्रकार यहा समझना चाहिये । यहा पर शृङ्गार रसको राजा,
दमयन्तीके हृदयको झूलेका आसन (बैठनेका वाङ्मिशेष पदा आदि), सन्तापनिवारक
होनेमे नलको छत्र, एज्जा तथा कामदेवको झूले पर आरुढ व्यक्ति समझना चाहिये ।
प्रथम अर्थमें—एज्जा एव कामदेवने अस्थिर विचरवाली दमयन्तीको देखकर लिप्त नलने
पहले विप्रलम्भ शृङ्गारको प्राप्त किया, तदनन्तर दमयन्तीने मा नलको बैठा देखकर
उनकी शोभाके स्वीकार करनेसे बैसी ही हो गयी । अन्यपक्षमें—उस दमयन्तीका भाव
मिथित शृङ्गार रस राजा नलके ममान बढ़ गया । जिस प्रकार झूले पर चढ़ी हुई खिया
गिरनेके भयसे पनिका आलिङ्गित करती है] ॥ २५ ॥

कर स्रज्जा सज्जतरस्तद्रीय प्रियोन्मुखीभूय पुनर्व्यरसीत् ।

तदाननस्यार्द्धपथ ययौ च प्रत्याययौ चातिचल कटाक्ष ॥ २६ ॥

कर इति । स्रज्जा वरणमात्म्येन करणेन, सज्जतर अतिशयेन सम्भृत, अत्यर्थं
शोभित इत्यर्थ, तदीयो दमयन्तीममन्धी, कर प्रियस्य नलस्य, उन्मुखीभूय अभि-
मुखीभूय, पुन व्यरसीत् विरराम, रमेर्तुङि 'व्याडपरिम्यो रम' इति परस्मैपद,
'यमरमनमाना सन् च' इति सगिडागमो, 'अस्ति मिचोऽष्टवते' इतीडागमे 'इष्ट ईष्टि'
इति सलोपे च सवर्गदीर्घ । तथा अतिचला अत्यन्तचञ्चल, कटाक्ष तदाननस्य
नलमुखस्य, अर्द्ध पन्था इति विशेषणसमासे समामान्न । 'अर्द्ध नपुसकम्' इति
नैकदेशी समास पथ समविभागे प्रमाणाभावात् । तम् अर्द्धपथ, ययौ च प्रत्याययौ
च प्रत्यावृत्तश्च, उभयत्र लज्जयेति भाव ॥ २६ ॥

वरणमालामे शोभित (नलके कण्ठमें वरण-माला ढालनेके लिए तैयार अर्थात्, कर

उठा हुआ) उस (दमयन्ती) का हाथ प्रिय (नल) के सम्मुख होकर (लज्जाने) हा
थ और अत्यन्त चञ्चल बटाक्ष उस (नल, पाठा०—प्रिय=नल) के मुखके कर
(नलको देखने की इच्छामें) मार्गमें गया और (लज्जामें) लौट आया । [दमयन्ती
नलके कण्ठमें अवनाल डालनेके लिए हाथ बटाया, परन्तु लज्जामें उसे आगे नहीं बढ़ा सकी
तथा नलको बटाक्ष (नेत्रप्रान्त) में देखना चाहा, किन्तु नलके आधे मुखको ही देख
लज्जामें दृष्टिको हटा ला] ॥ २६ ॥

तस्या प्रिय चित्तमुदेतुमेव प्रभूवभूवाक्षि न तु प्रयातुम् ।

मत्प्रीकृत स्पष्टमभूत्तदानीं तथाऽक्षिलज्जेति जनप्रवाद ॥ २७ ॥

तस्या इति । तस्या दमयन्त्या , चित्तमेव प्रिय नलम्, उदेतु प्राप्तु, द्रष्टुमिति
यावत्, प्रभूवभूव शशके दयं , अक्षि तु प्रयातु नल प्राप्तु, द्रष्टुमित्यर्थ , न, प्रभूवभूव
इत्यनुपपन्न , प्रभुशब्दाद्भूतज्ञावे 'चौ' दीर्घ । चित्तमध्ये अनुलक्षण मा नल दानं,
किन्तु पुर स्थितमपि त लजावशात् अक्षुरसोक्त्य द्रष्टु न शशकेत्यर्थ , अतएव अक्षि
अक्षुपि लज्जा, न तु चेत्तमि इति भाव , इति जनप्रवाद तथा मैत्र्या, तदानीं नल
घरणकाले, स्पष्टयथा तथा मर्यादहीनोऽभूत् । अयं भाव—लज्जाया चित्तधर्मत्र
बास्तव न तु नेत्रधर्मत्व, एषञ्च लज्जावशात् दमयन्त्याक्षिनस्य नलप्राप्ति मोचिता,
वर नेत्ररूपेण लज्जाधर्मकरवानावात् नलप्राप्तिरचिता, इत्यञ्च अक्षिलज्जेति प्रवादोऽपि
असत्य एव, किन्तु दमयन्त्याक्षितनेत्रयोस्मद्विपरीतकार्योत्पत्त्या अक्षिलज्जेति प्रवाद
तथा मर्यादहीन एवेति ॥ २७ ॥

उम (दमयन्ती) का चित्त प्रिय (नल) को प्राप्त करने अर्थात् देखनेमें समर्थ हुआ
हो (पाठा०—प्रियको प्राप्त कर ही लिया) किन्तु नेत्र प्रिय (नल) को पाने अर्थात्
देखनेमें सक्षम नहीं हुआ उम समय उस (दमयन्ती) ने 'नेत्रमें लज्जा होनी है' इस
लोकोक्तिको सत्य करके स्पष्ट कर दिया । [लज्जाका चित्त-सम्बन्धो धर्म होनेसे दमयन्तीके
चित्तको नलके पाम नहीं जाना चाहिये था और नेत्र-सम्बन्धा धर्म नष्ट होनेसे उसके
नेत्रको नलके पाम जाना अर्थात् नलको देखना चाहिये था, किन्तु ऐसा होने पर 'नेत्रमें
लज्जा रहनी है' यह लोकोक्ति असत्य प्रमाणित होगी, अत एव दमयन्ताने चित्तने नलका
साक्षात्कार करने तथा लज्जावशीभूत नेत्रने नलका साक्षात्कार (दर्शन) नहीं करनेमें उक्त
लोकोक्तिको विरुद्ध सत्य कर दिया । दमयन्तीने मनमें ही नलका साक्षात्कार किया, नेत्रमें
बद नहीं देख सका] ॥ २७ ॥

कथकथञ्चिन्निषधेश्वरस्य कृत्याऽऽस्यपद्म दरवीक्षितमि ।

वान्देवताया वदनेन्दुबिम्ब त्रपावती साऽकृत सामिदृष्टम् ॥ २८ ॥

कथकथञ्चिदिति । त्रपावती लजावती, सा नेमी निषधेश्वरस्य नटस्य, आस्य-

१ 'चित्तमुपेतमेव' इति पाठान्तरम् ।

पद्म सुचारुविन्द, कथकथञ्चिदतिवृष्टेण, दरवीक्षिता ईषद्दृष्टा, श्री यस्य तत् तार
शम् । शैषिक-क-प्रत्ययस्य वैभाषिकत्वादभावः, 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति
ह्रस्वः । 'ईषद्धे दराव्ययम्' इति वैजयन्ती । कृत्वा लज्जावशात् ऐशतो दृष्ट्वेत्यर्थः,
वाग्देवताया सरस्वत्या, वदनेन्दुविम्बसामिदृष्टम् अर्द्धदृष्टम्, 'सामि त्वर्द्धं जुगुप्सिते'
इत्यनर । अकृत अकार्यात्, तत्रापि लज्जेति भावः । नाह शक्नोमि त्वया कारयित
व्यमिति देवीमुखरीचणे तात्पर्यमवधार्यम् ॥ २८ ॥

सत्त्व उच (दमयन्ती) ने किमी-किमी तरह अर्थात् बरी कठिनाईने नलके मुखको
(लज्जावश) थोडा-सा देखकर मर-वशाके मुखरूप चन्द्रावेम्बको (लज्जावश) आधा
देखा । [लज्जावशो दमयन्तीने अतिगुप्त लज्जाके कारण नलके मुखको ठी बहुत ही
थोडा देखा और नदनन्तर 'मे लज्जावश वरणमाणाको नलके कण्ठमें नहीं बाल मकड़ी, अन
हुम हम कार्यको शीघ्र करो (या-कराधा)' हम अभिप्रायने सरस्वतीके मुखको भी वसी
लज्जा के कारण पूरा नहीं किंतु आधा ही देखा] ॥ २८ ॥

नं जानतीवेदमगोचरेनामाकृतमस्यास्तद्वेत्य वेदी ।

भावस्त्रपोर्मिप्रतिसीरया ते वितीर्यते लज्जयितु न मेऽपि ॥ २९ ॥

न जानतीति । देवी वाग्देवी, अस्या मैत्र्या, तत् पूर्वोक्तम् आकृतम् अभिप्रा
यम्, अवेत्य ज्ञात्वा न जानतीव अनुप्यमानेव एता मैत्रीम्, इद वच्यमाणम्,
अवोचत्, प्रधानोक्तुं 'प्रबो वधि' इति वचादेशे 'वच उम्' इति उमागाम । तदे-
वाह—अपया उर्मिरेव तरङ्ग एव, प्रतिसीरा जवनिक्का 'प्रतिसीरा जवनिक्का स्यात्ति
रस्करणी च सा' इत्यमर, तथा कर्ष्या, ते तव, भाव अभिप्राय, मे ममापि, लज्ज-
यितु ज्ञातु, तुमुत् प्रयोगस्मृद्व्यानाम् न वितीर्यते न दीयते, लज्जान्तर्हितो भावोऽय
कण्ठोन्मिन्नरेण दुर्लभ इत्यर्थः ॥ २९ ॥

देवी (सरस्वती देवी) हम (दमयन्ती) के उम (१४ २८) भावको समझ कर नही
समझती हूँ के समान बोली—'लज्जा-मनूरूप पर्दा तुम्हारे भावको मुझे लक्षित करने
(माझम होने) नहीं देता । [पर्देके भीतरकी वस्तुको जैसे कोई नहीं देख सकता,
वैसे ही लज्जा-मनूहमे तुम्हारे भावको मैं नहीं देख (समझ) सकूँगी अर्थात् जब तक
तुम लज्जा-समूहके पर्दे की दूर कर अपने भावका नहा कहेंगी, तब तक मैं तुम्हारा भाव
नहीं समझ सकती, अन एव तुम अपने भाव को स्पष्ट करो] ॥ २९ ॥

देव्यां श्रुती नेति नलार्द्धनाम्नि गृहीत एव त्रपया निपीता ।

अथाहुतीरहुलिभि स्पृशन्तो दूर शिर सा नमयाञ्चकार ॥ ३० ॥

देव्या इति । अथ सरस्वतीवाक्यानन्तर, देव्या सरस्वत्या, श्रुती कर्णे, 'न'

१ 'अजानती-' इति 'प्रकाश' कारसम्मत पाठान्तरम् ।

२ 'देव्या' इति तृतीयान्त पाठान्तरम् ।

इति एव, नलस्य अर्द्धनाम्नि नाम्नोऽर्द्धं, अर्द्धनामधेये इत्यर्थः, 'अर्द्धं नपुमकम्' इत्येकदेशिसमासः, दमयन्त्या उच्चारिते इति भावः, गृहीते एव प्रविष्टे सत्येव कर्णं गोचरीभूते एवेति यावत्, सा भैमी, त्रपया निपीता अस्ता सती, 'ल' इति शेषा द्वौघारणेऽसमर्था सतीत्यर्थः, अङ्गुलिभिः अङ्गुली स्पृशन्ती परामृशन्ती, मोदयन्ती त्वर्यो वा, लज्जासङ्कोचसूचकभावोऽयम्, दूरम् अत्यन्तः, शिरः नमयाञ्चकार ननाम्, लज्जातिरेकात् कथननैराश्याच्च इतिकर्तव्यतामृदा केवलं नता एव स्थितेत्यर्थः । यद्वा—देव्या सरस्वत्या सम्बन्धिनि, देव्या' इति तृतीयान्तपदो (द) वा तषाच्चे देव्या, उच्चारिते इति शेषः, 'न' इति नलार्द्धनाम्नि श्रुतौ कर्णे, दमयन्त्या इति भावः, अन्यत् समानम्, लोके यथा कश्चित् गुरुजनसमीपे किमपि वस्तुक्वामोऽपि एजा सङ्कोचवशात् वक्ष्युमसमर्थः सन् शिरोनमनपूर्वकम् अङ्गुलिभिरङ्गुली मोदयति तद्वदिति भावः ॥ ३० ॥

सरस्वती देवीके कानमें 'न' ऐमा (केवल एक अक्षर) नलके आधे नामको ग्रह करने (घुनने) पर (अपना— नामको ही ग्रहण करने पर) लज्जासे व्याप्त उम (दमयन्ती) ने (नलके नामका द्वितीय अक्षर 'ल' को उच्चारण करनेमें असमर्थ होकर) बादमें अपनी अङ्गुलियों से अपनी अङ्गुलियों (अथवा—अपनी अङ्गुलियोंसे सरस्वती देवीकी अङ्गुलियों) को ममोदती (या दबाती) हुई शिरको अत्यन्त झुका लिया । (पाठा०—देवी द्वारा कहे गये नलके नामके प्रथमाक्षर 'न' को अपने (दमयन्तीके) कानसे ग्रहण करने अर्थात् घुननेपर लज्जासे) । [अधिक लज्जाके कारण अपने भावको कहनेमें असमर्थ होनेसे अङ्गुलियोंसे अङ्गुलियोंको ममोदती (या दबाती) हुई दमयन्तीने अपने मस्तकको नीचे कर लिया । सभी व्यक्ति लज्जाके कारण अपनी अभिलाषाको प्रकट नहीं कर सकने पर अङ्गुलियोंको ममोदते और मस्तकको नीचे झुका लेते हैं] ॥ ३० ॥

करे विधृत्येश्वरया गिरा सा पान्था पथीन्द्रस्य कृता विहस्य ।

धामेति नामैव बभाज सार्थं पुरन्ध्रसाधारणसविभागम् ॥ ३१ ॥

करे इति । सा भैमी, गिराम् इक्षरया वामदेवतया, 'स्थेशभासपिम्बस्ते वरच्', विहस्य करे विधृत्य ता करे गृहीत्वा, इन्द्रस्य पथि, पन्थानं गच्छति निश्चमिति पान्था नित्यपथिकी, 'पन्थो ण नित्यम्' इति ण-प्रत्यये पथ पन्थादेशे च टाप्, कृता इन्द्रसमीपं नीता सतीत्यर्थः, पुरन्ध्रोणा सर्वयोपिता, साधारण सविभाग सर्वस्रो नामत्वेन सविभज्य ग्रहण यस्य तत् तादृश सर्वयोपिद्वाचकमित्यर्थः, वामा इति नामैव सार्थं प्रतीपत्वेनार्थवत् यथा तथा, वभाज वभाज, प्रतिगूला एव अभूदित्यर्थः, देव्या इन्द्रवरणमुद्दिश्य नीयमाना भैमी तत्प्रतिगूलाचारिणी अभूदिति निष्कर्षः ।

१ एव तृतीयान्तपाठाभ्युपगमे 'त्वत्तं श्रुतं नेति (१४३३) इति श्लोकस्थ-
त्वत्त इत्येतत्पदस्वारस्यविरोधोऽत इदं पाठान्तरमुपेक्ष्यम् ।

‘वाम धने पुसि हरे कामदेवे पयोधरे । वरगुप्रतीपसन्ध्येषु त्रिषु नायां स्त्रियाम्’
इति मेदिनी ॥ ३१ ॥

(मानो दमयन्तीके भावको नहीं समझनी हुई) उस बायींधरी (सरस्वती देवी) के द्वारा हाथमें पकटकर इन्द्रके मार्गमें अधिक (वरणार्थ इन्द्रके सम्मुख) की गयी उस दमयन्ती स्त्रीमात्रका वाचक ‘वामा’ (प्रतिकूल रहनेवाला) ने इस नामको मार्थक ही ग्रहण किया [अर्थात् सरस्वती देवी द्वारा इन्द्रके सम्मुखकी गयी दमयन्तीने उसके प्रतिकूल होकर सर्व स्त्रीवाचक ‘वामा’ नामको सार्थक किया] ॥ ३१ ॥

(विहस्य^१ हस्तेऽथ विहृष्य देवी नेतु प्रयाताभि महेन्द्रमेताम् ।

भ्रमाविद्य दत्तमिवाहिदेहे तत्तश्चमत्कृत्य फर चकर्प ॥ १ ॥)

विहस्येति । वाम्यामन्तर देवी विहस्य किञ्चिद्वसित्वा एता भर्मीं स्वहस्तेन विहृष्य महेन्द्रमभि लक्ष्मीकृत्य प्रस्थिता इन्द्र प्रापयितु निर्गता । तत इन्द्रादिगमनोद्योगान्तरमित्य भैमी चमत्कृत्य किमियमिन्द्रवरणे मा प्रवर्तयतीति बुद्ध्या भीत्वा कर स्वहस्त चकर्प आचकर्प । किंभूतमिव करम् ?—भ्रमाद्रञ्जुभ्रान्तेरहिदेहे सर्प-शरीरे दत्तमिष स्थापितमिषेत्युपेक्षा । सर्पदेहे भ्रमादत्त हस्त यथा कश्चिदकर्पति तथैत्युपमा वा । ततो देवीकरादिति वा ॥ १ ॥

इस (दमयन्तीके इन्द्रके प्रतिकूल होने) के बाद सरस्वतीदेवी कुछ ईसकर (दमयन्तीको) हाथमें पकटकर इन्द्रको प्राप्त करानेके लिए चली, तब सरस्वतीके इन्द्रवरणार्थ उद्योग ‘करनेके बाद (अथवा—सरस्वती देवीके हाथमें) इस (दमयन्ती) ने भ्रमसे अर्थात् रस्ती जानकर सर्पके शरीरपर रखे हुएके समान हाथको चमककर (क्या यह देवी इन्द्रको वरण करानेके लिए मुझे खाचकर ले जा रही है, इस विचारमें डरकर) हाथको खींच लिया ॥ १ ॥

भैमी निरीक्ष्याभिमुखी मघान स्वाराज्यलक्ष्मीरभृताभ्यसूयाम् ।

नृणां ततस्तत्परिहारिणीं तां ब्रीडां विडौज प्ररणाऽभ्यपादि ॥३२॥

भैमीमिति । भैमी मघोन इन्द्रस्य, अभिमुखी निरीक्ष्य स्व स्वर्गस्य राज्य, ‘स्वराज्यं स्वर्गनाक—’ इत्यमर । ‘दूलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण’ तस्य लक्ष्मी अभ्यसूयाम् इन्द्रे भोग्याश्चेर्ष्याम्, अभृत वभार, भृङ् घातो लुङ् तङ् ‘ह्रस्वादङ्गात्’ इति सिचो लोप । तत असूयामन्तर, ता भैमीं, तत्परिहारिणीम् इन्द्रपरित्यागिणीं, दृष्ट्वा विडौज प्रवणा पुनरिन्द्रालुरक्षा सती, ब्रीडाम् अभ्यपादि अभिपेदे, अभ्याय मया आशङ्कितम् इति विविच्य मा ललज्जे इत्यर्थ । पद्यते कर्त्तरि लुङि तङि ‘ह्रस्वादङ्गात्’ इति सिचो लोप, ‘चिण् ते पद’ इति चिण्, ‘चिणो लुक्’ इति प्रत्ययस्य लुक् ।

दमयन्तीको इन्द्रके सामने (वरणार्थ आयी हुई समझकर) स्वर्गश्रीने दर्शाने को (किन्तु

१ अथ श्लोक पूर्वोक्तार्थतया म० म० मल्लिनाथेन न व्याख्यात इति मया नारायणभट्टकृतया ‘प्रकाश’ व्याख्यया सहोद्घोषन्यस्त इत्यवधेयम् ।

बादनें) इन्द्रका त्याग करती हुई उसे (दमयन्तीको) देखकर इन्द्रमें अनुरागवती होने हुई लज्जित हो गयी । [पहले तो स्वर्गलक्ष्मीने दमयन्तीको सरस्वती देवीके द्वारा इन्द्रके सामने लानेपर समझा कि यह मेरे पति इन्द्रके वरणार्थ आ रही है अन एव उसके साथ इन्हीं का, किन्तु उसे इन्द्रका त्याग करती हुई देखकर 'मने इमे इन्द्रके वरणार्थ आती हुई समझकर इमके साथ व्यर्थ ही ईश्यां की' इस भावसे (अथवा—इन्द्रको सुन्दर नहीं होनेने मानवी भी दमयन्ती छोड़ रही है और मैं स्वर्गलक्ष्मी होकर भी इसमें अनुरक्त हो रही हूँ इस भावसे) लज्जित हुई] ॥ ३२ ॥

त्वत्त श्रुतो नेति नले मयाऽत पर वदस्वेत्युदिताऽथ देव्या ।

ह्रीमन्मयद्वैतरङ्गभूमिर्भैमी दशा भापितनैपथाऽभूत् ॥ ३३ ॥

श्रुत इति । अथ नले नलवरणविषये, मया नेति निषेधार्थक नलनामाद्वैतवचक वा 'न' इति पदमित्यर्थ, त्वत्त एव श्रुत, अन मलात्, परम् अन्य, वदस्व नृपान्तर प्रहीत्यर्थ, अथवा—अन नकारपदान्, परमनन्तर पद, वदस्व इति देव्या वाग्देव तया, उदिता सपरिहास कथिता, होमन्मयद्वैतरङ्गभूमि लज्जाकामरभिद्वयप्रवृत्त युदनाद्यशाला इव, भैमी दशा दृष्टा इव, भापित नैपथ नल यथा सा तादृशी, अभूत् हिया कण्ठेन ववनुमक्षत् कटाक्षदृष्ट्या नल सानुरागम् ऐशतेत्यर्थ ॥ ३३ ॥

इस (इन्द्रका त्याग करने) के बाद तुममे मैंने नलके विषयमें 'न' अर्थात् नहीं (निषेध अथवा—नलका आधा नाम) इना अब इसने (नलने) भिन्न अमीष्ट वर (अथवा—नलके नामके द्वितीय अक्षर 'ल') को करो' इस प्रकार सरस्वती देवीने बही गयी (अन एव) लज्जा तथा कामदेवके दो रथोंकी रङ्गभूमि (नृत्तस्थान अर्थात् युद्धभूमिरूप) दमयन्ती दृष्टिमें (देखकर ही) नलका नाम कहा अर्थात् दूसरे किमीका नाम अथवा अलके नामका दूसरा अक्षर 'ल' का उच्चारण नहीं किया, किन्तु नलही देखकर ही 'इम नलने वरणमान्य पहनावो' ऐसा सकन किया] ॥ ३३ ॥

हस्तसु भैमी विविपत्सु पाणी पाणि प्रणीयाप्सरसा रसात् मा ।

आलिङ्गय नीत्याऽकृत पान्यदुर्गा भूपालदिक्पालकुलाध्रमध्यम् ॥ ३४ ॥

हमस्त्विति । दिवि स्मिदन्तीति विविपद् देवा, 'अमग निजरा देवा, आदितेया विविपद्' इत्यमर । 'सत्सूद्विप-' इत्यादिना विप् । 'हृद्भुग्भ्याञ्च' इति उपसङ्गनात् सप्तम्यलुक्, 'सुषामादिषु च' इति पञ्चम, 'अविहितलक्षणमूर्द्धन्या सुषामा दिषु द्रष्टव्या' इति वचनान् । तेषु रसात् अनुरागात्, अप्सरसु इति भाव, अप्स रसा पाणी पाणि प्रणीय निधाय, अप्सरसा हस्त एवेत्यर्थ, इससु अहो नरामका इति परिहसत्सु मत्सु, सा सरस्वती, भैमीम् आलिङ्गय भूपालानां दिक्पालानाञ्च कुलयो वरायो, अध्वा तस्य मध्य नीत्या पान्यदुर्गा पथिकजनै मिन्दूरादिभि

१ 'रङ्गभूमि' इति पाठान्तरम् ।

पूजिता मार्गमध्यस्थदुर्गादेवीमिन्त्यर्थ, अकृत तद्वदलङ्कारम् एकलक्ष्या कृतवतीत्यर्थ, कृत कर्त्तरि लुटि 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिच मकारलोप ॥ ३४ ॥

(अम्भराओंमें) अनुराग होने के कारण अम्भराओंके हाथमें (अपना) हाथ रखकर अर्थात् उनका हाथ पकड़कर (अथवा—दोनों (सरस्वती देवी तथा दमयन्ती) के आश्रय जानने (या—प्रमत्तता) के कारण अम्भराओंके हाथमें (अपना) हाथ रखकर अर्थात् ताली बजाकर) देवोंके हँसने रहनेपर सरस्वती देवीने दमयन्ती का आलिङ्गनकर अर्थात् उसे अङ्गुली (जैकवार=गोद) में पकड़कर राजा (नर, या—नमस्त राज-समुदाय) तथा देव-मनुष्योंके भाँके बीचमें ले जाकर उसे जुड़नकी दुर्गा बना दिया । [जिस प्रकार वह दुर्गाका जुड़न निकालकर उसे मागके बीचमें ले जाकर घुमाते हैं, उसी प्रकार सरस्वती देवीने हम दमयन्तीको गोदमें पकड़कर राजाओं तथा देवोंके बीचमें ले जाकर घुमाया] ॥३५॥

अदेशितामप्यलोक्य मन्द मन्द नलस्यैव दिशा चलन्तीम् ।

भूय सुरानर्द्धपथादथासौ तानेव ता नेतुमना नुनोद ॥ ३५ ॥

अदेशितामिति । अथ असौ देवी, सा भौमीम्, अदेशिता नल प्रति गच्छेत्पथो दिनामपि, दिशेक्षीरादिकात् कर्मणि च । मन्द मन्द नलस्यैव दिशा चलन्ती गच्छन्तां, 'बहेरात्मनेपदमनित्यज्ञापनात्' इति घामन । अल्लोक्य भूय पुनरपि, तान् इन्द्रादीन्, सुरान् एव नेतु मनो यस्या सा सती । 'तुङ् काममनमोरपि' इति मकारलोप । अर्द्धपथात् नलमभीपगामिपयाज्ञात् पथाद्धमकाशात् परावर्त्य इत्यर्थ, नुनोद इन्द्रादीन् प्रति प्रेरयामास ॥ ३५ ॥

इसके बाद इस (सरस्वती) ने ('इन्द्रादि देवोंके सामने चले' इस प्रकार) आशापित न होनेपर मा (पाठा०—आशापित होनेपर भी) नलका ओर ही धीरे-धीरे चलना शुरू दमयन्तीकी आशे मगने नलको छोड़कर फिर वह देवोंकी ओर ही ले जानेकी इच्छुक होकर उसे प्रेरित किया ॥ ३५ ॥

मुखाञ्जमावर्त्तनलोलनाल कृत्वाऽऽलिहुरवलक्षलक्ष्यम् ।

भीमोद्भवा ता नुनोदेऽङ्कपालीं देव्या नरोदेव वृथा विराड् ॥३६॥

मुखेन । भीमोद्भवा भीमो, मुखान्ज स्वमुखारविन्दम्, आवर्त्तनेन दिग्बलेन, लोलनाल व्यावृत्तरुणनाल, तथा आलीना समीना, हुदुरवाणा हुदुमिनि निवारण-शब्दानाम्, अन्यत्र—अलीना भृङ्गाणा, हुदुरवाणा अङ्गारशब्दाना, लक्षे लक्षसङ्ख्या विशेषे, लक्ष्य दर्शनीयञ्च, कृत्वा नबोटा नयवृत्, विबोड्ड परिणेतु इव, देव्या मन्त्रन्धिनी वृथा ताम् अङ्कपालीं परिरम्भणवन्धनम्, अङ्कपाली स्मृता धान्या घेडिका-परिरम्भयो' इति विश्व । नुनोदे तयाज ॥ ३६ ॥

१ 'आदेशिता—' इति पाठान्तरम् । २ 'लक्ष्यलक्ष्यम्' इति, 'लक्ष्यलक्ष्यम्' इति च पाठान्तरम् । ३ 'मुनोचे' इति पाठान्तरम् ।

भीमनन्दिनी (दमयन्ती) ने धुमानेमे चञ्चल कण्ठरूप नामवाले तथा सखियोंके 'हूँ हूँ' इस प्रकारके (परिहासयथ नलके पास जानेमें निषेध करते हुए) लाखों अक्षर अत्यधिक वचनों (भ्रमरोंके अत्यधिक 'हूँ हूँ' रूप गुञ्जन) से लक्षित (या-सुन्दर) मुखरूपा कमलको करके देवी (सरस्वती देवी) के उम अङ्गुपालीको उस प्रकार धोवा, जिस प्रकार नववटू सखियोंके लाखों बार ममा करनेपर भी पतिके अङ्गुपाली (आलिङ्गन) का छोटीनी है । [कमलके सञ्चालनमे कमलनाल (दण्डक) का हिलना तथा भ्रमरोंके बहुत गुञ्जनमे लक्षित (या-सुन्दर) होनेके समान इन्द्रकी ओरसे मुखको मोड़नेत दमयन्ती कण्ठनाल दिला तथा परिहास करती हुई सखियोंने इन्द्रकी ओरसे मुखको नावत ममय निषेधसूचक जो 'हूँ हूँ' शब्द दिया उमने उसका मुख बहुत सुन्दर दीखने लगा, ऐसी दमयन्तीने इन्द्रकी ओरसे मुख मोड़कर सरस्वती देवीके आलिङ्गन (कसकर अङ्गुमें पकड़ने) को उस प्रकार छूटा लिया, जिस प्रकार नई बटू सखियोंके मना करते रहने पर भी पतिके आलिङ्गनको छुटा लेती है] ॥ ३६ ॥

देवी कथञ्चित् खलु तामदेवद्रीचीभवन्तीं स्मितसिक्तसूक्का ।

आह स्म ता मय्यपि ते भृशं का शङ्का ? शशाङ्कादधिकास्यबिम्बे । ॥

देवीति । देवी ता भैमीं कथञ्चित् खलु कथञ्चिदपि, देवान् भज्यतीति देवद्रीची देवानुवर्त्तिनी, 'देवानञ्जति देवद्रजड्' इत्यमरः । 'ऋत्विग्दष्टक'— इत्यादिना भज्यते जिन्-प्रत्यय, 'विधग्देवयोश्च देद्रजञ्जतावप्रत्यये' इति देद्रजधादेश, 'उगितश्च' इति सूत्रे उगिरात् उीप् 'अज्यतेश्चोपमङ्गयानाम्' इति वा डीप् । सा न भवन्तीम् इति अदेवद्रीचीभवन्तीं देवान् अनभिगच्छन्तीमित्यर्थ, दृष्ट्वेति शेष, स्मितेन सिक्ते सूक्ष्मणी ओष्ठप्रान्ती यस्या सा तादृशी सती, 'प्रान्तावोष्ठस्य सूक्ष्मणी' इत्यमरः । शशाङ्कात् अधिकम् उच्छृष्टम्, आस्यग्रिम्बं मुखस्वरूपं यस्यास्तस्या समुद्रि, सापेक्षत्वेऽपि गमनत्वात् समासः । मयि मम समीपेऽपि, ते तव, का शङ्का ? अविधास ? न काचिदित्यर्थ, इति ता भैमीं, भृशम्, आह स्म उवाच, 'लट् स्मे' इति भूते लट्, 'युष पञ्चानाम्' इत्यादिना फलाहादेशः ॥ ३७ ॥

सरस्वती देवाने, किसी प्रकार (बड़ी कठिनायमे) देव (इन्द्र) के सम्मुख नहीं होतीं इन्द्र उम (दमयन्ती) से बोली—'हे चन्द्रमे भी अधिक सुन्दर मुखविम्बवाली (दमयन्ति) ! मेरे विषयमें (पाठा०—मेरे प्रति) भी अधिक (पाठा०—फिर) कोर शङ्का है क्या ? अर्थात् परम हितैषिणी मुझमें तुम्हें किसी प्रकारका ('वह सरस्वती मुझे इन्द्रके पास वरण करनेके लिये पकड़कर ले जा रही है' ऐसा) संदेह नहीं करना चाहिये ॥ ३७ ॥

१ 'तामदेवद्रीचीं भवन्तीम्' इति पाठान्तरम् ।

२ 'मा प्रयपि ते पुन का' इति पाठान्तरम् ।

एषामकृत्वा चरणप्रणाममेषामनुज्ञामनंवाप्य सम्यक् ।

सुपर्ववरे तव वैरसेनि वरीतुमीहा कथमौचितीयम् ? ॥ ३८ ॥

एषामिति । हे वत्से ! एषाम् इन्द्रादीनां, चरणप्रणामम् अकृत्वा, एषामनुज्ञा नलवरणे सम्मति, मग्यक् क्षनवाप्य अप्राप्य च, सुपर्ववरे अवज्ञाकरणात् देवताद्वेषे सति, तव बीरसेनस्य अपत्यवैरसेनि नल त, वरातुम् 'वृतो वा' इति विकल्पादितो वीर्यं । इयम् ईडा स्पृहा, कथम् औचिती औचित्यम् ? न कथञ्चिदित्यर्थ ॥ ३८ ॥

('तव तुम मुसे देवोंके सम्मुख वरण करनेके लिए पकड़कर क्यों लिपे जा रही हो' इस शङ्का निवारण करनी हुई सरस्वती देवी आगे फिर कहती हैं कि—) इन (इन्द्रादि देवों) के चरणोंमें प्रणाम नहीं करके तथा इनकी आज्ञाको अच्छा तरह नहीं प्राप्त करके (अपना वरण त्याग कर नलको वरण करनेके कारण उत्पन्न होनेवाले) देवोंके विरोध रहने पर बीरसेनके पुत्र (नल) को वरण करनेकी तुम्हारी यह इच्छा उचित है क्या ? अथवा कदापि नहीं, (शक्य है मैं तुम्हें इनके सानने वरण करनेके लिए नहीं ले जाना चाहती, किन्तु 'तुम इनके चरणोंमें प्रणामकर प्रसन्न होकर अपना-अपना रूप धारण करनेसे नल-वरणार्थ इनकी आज्ञाके मिल चुकने पर भी उक्त प्रणाम द्वारा इन्हें अनिश्चय प्रसन्नकर शिर हन्य या वचनादिने स्पष्टरूपमें आज्ञा पाकर नल वरण करे इस अभिप्रायसे मैं तुम्हें इनके सम्मुख ले जाना चाहती हूँ, अन्यथा तुम्हें मेरे विषयमें कोई शङ्का नहीं करनी चाहिये) ।

इतीरिते विश्वसिता पुनस्तामादाय पाणौ दिविपत्सु देवो ।

कृत्वा प्रणम्रा घटति स्म मा तान् भक्त्यमर्हत्पुनाऽनुकम्पाम् ॥ ३९ ॥

इतीति । सा देवी इतीरिते सति विश्वसिता प्रतीता, सा भैमी, पुन भूय, पाणौ हस्तौ, आदाय तत्पाणिं गृहीत्वेत्यर्थ, विविपत्सु देवेषु, देवतानासमीपे इत्यर्थ, प्रणम्रा प्रणता, कृत्वा तान् इन्द्रादिदेवान्, घटति स्म उक्त्वती, 'लट् स्मे' इति भूते लट् । किमिति ? भक्ता युष्मद्भ्यां, इय दमयन्ती, अधुना इदानीम्, अनुकम्पा भव कृपाम्, अर्हति, निजवरणाज्ञा विहाय नलवरणार्थमनुग्रह कुरुनेति भाव ॥ ३९ ॥

सरस्वती देवी देमा (१४।३८) कहने पर विश्वासही हुई उस (दमयन्ती) को फिर हाथमें लेकर (ग्रहणकर) देवोंमें प्रणाम करके 'भक्ता' यह (दमयन्ती) इस समय आप-लोगोंकी (नल वरणकी स्वीकृतिरूपी) दयाके योग्य है अर्थात् अब आपलोग हम दमयन्ती पर दयाकर नलवरणार्थ देने स्वाहति दें ॥ ३९ ॥

युष्मान् वृणीते न बहून् सतीय शेषावमानाश्च भरत्सु नैकम् ।

तद्व समेत नृपमशमेन वरीतुमन्विच्छति लोकरूपाता । ॥ ४० ॥

युष्मानिति । हे लोकरूपाता ! सती माध्वी, एकभर्तृका इति यावत्, इय भैमी,

१ 'मनिशम्य' इति पाठान्तरम् ।

१ 'कनमौचिती' इत्यपि पाठ, इति 'प्रकाश'-कार ।

युष्मान् बहून् न घृणीते, पातिव्रत्यभङ्गभयादिति भावः, शेषाणाम् अवशिष्टानाम्, अवमानात् अवमानप्रसङ्गात्, भवत्सु मध्ये एकञ्च न, घृणीते इति पूर्वानुपपन्नं, तत् तस्मात्, च युष्माकं सम्बन्धिनः, समेत मिलितम्, अथ सर्वांशममष्टिरूपम्, 'अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृप' इति स्मरणात्, एननृप वरीतुम् अन्विच्छति, 'एकवरणापेक्षया सर्वांशनिर्मितस्य नलस्य वरणेनैव सर्वेषां सम्मान भवति' इति भावः ।

हे लोकपाल ! पतिव्रता यह (दमयन्ता) बहुत (गणनामें चार) आपलोगोंको वरनहीं करती तथा शेष तीन देवोंका अवमान होनेसे आपलोगोंमेंसे एकको भी वरनहीं करता, अतः अब आपलोगोंके सम्मिलित अश्वाने इस राजा (नल) को वरण करना चाहता है । [इस कारण अब आपलोगोंको यह आशङ्का नहीं करनी चाहिये कि स्वयं वरण कगनेकी ईच्छामें आवे हुए हमलोग दूसरेको वरण करनेकी स्वीकृति हमके लिए देने दें ?] ॥ ४० ॥

भैम्या स्रज सज्जनया पथि प्राक् स्वयंवर सवरयाम्बभूव ।

सम्भोगमालिङ्गनयाऽस्य वेधा शेषन्तु क हन्तुमियद्यत्तत्रम् ? ॥४१॥

किञ्च भैम्या नलवरणसम्भोगौ तत्र प्रागेव ब्रह्मणैव निर्वर्त्तितौ किमपरमघशिष्यते यद्विद्यामार्थमयं च प्रयाम ? इत्याह, भैम्या इति । किञ्च, वेधा स्रष्टैव, प्राक् युष्म होयानुमन्यातकाले, पथि अन्तःपुरमार्गे, स्रज मातृस्य, सज्जनया रुण्डे योजनया, 'पयासश्रन्धो युच्' इति प्यन्तधात् युच्-प्रत्ययः, भैम्या स्वयंवर नलवरण, सवर याम्बभूव निर्वर्त्तयामास, तथा अस्य नलस्य, आलिङ्गनया आश्लेषगया, पूर्ववत् युच्, सम्भोग, सवरयाम्बभूव इति पूर्वानुपपन्नं, एतच्चोभयं यष्टसर्गे 'प्रसूप्रसादाधिगता' 'अन्योग्यमन्यप्रवत्' इति श्लोकरूपेण अनुसन्धेयम्, शेषम् इतोऽवशिष्टान्तु 'अथ शेषं त्रिष्वन्यन्मिन् उपयुक्तेतरेऽपि च । स्वनिर्माह्वयप्रदाने स्त्री ना नागेनाप्रधानयो ॥' इति वैजयन्ती, च सम्भोग, हन्तु म्याघातयितुम्, इयत् पतावत् यथा तथा नलरूप धारणादिना इत्यर्थः, यत्तच्च यत्नं कुरुत ? सम्प्ररो लोट्, ब्रह्मसृष्टेरलङ्कारात् दृष्टा च प्रयाम, अतः अनुज्ञादानमेव कर्त्तव्यम् इति भावः ॥ ४१ ॥

ब्रह्मणे पहल (आपलोगोंका दूत बनाकर दमयन्ताके अन्तःपुरमें नलके जानेपर) मार्गमें (मार्गाकी सेवा करनेके उपरान्त अपने महलको लौटने समय) मालाके सङ्ग करने अर्थात् पहनानेमें ('प्रमूरसादाधिगता—' ६।४९) दमयन्तीका स्वयंवर कर दिया है तथा इस (नल) के आलिङ्गनमें ('अन्योन्यमन्यत्र—' ६।५१) सम्भोग (वाह्य रति) को पूरा कर दिया है, फिर बाकी बचे हुए किस सम्भोगको नष्ट करनेके लिए आपलोग इतना (स्वरूपका त्यागकर अन्तरूपको ग्रहण करना, दुर्गो भेजना तथा नलनकरी दूत बनाकर भेजना आदि) उपाय कर रहे हैं ? (अर्थात् उक्त प्रकारसे नलके कण्ठमें मालार्पणरूप स्वयंवर तथा नलका आलिङ्गनरूप वाह्यसम्भोग कराकर ब्रह्मणे ही दमयन्तीको नलकी पत्नी

बना दिया है, अब एव अब आपनोग अज्ञाते किये हुए कार्य का उत्तरान न करके नल्लायार्थ
दमयन्तीको आशा प्रदान करें] ॥ ४१ ॥

वर्णाश्रमाचारपथात् प्रजाभि स्वाभि सहैवास्त्रलते नलाय ।

प्रसेदुपो वेदशृत्तभद्रया दिस्सैव कीर्त्तैर्भुमानयद् व १ ॥ ४२ ॥

यद्वा, किमेवा देवाना दोषग्रहणेन येनेयमुपालभ्यन्ते ? किन्तु गुणग्रहणेनेव
तान् प्रसादयामीयादयेनाह, वर्णैति । वर्णाना बाह्यादीनाम्, आश्रमाणा ब्रह्म-
चर्यादीनाम्, आचारपथात् सद्रुत्तमार्गात्, स्वाभि स्वकीयानि, प्रजाभि सहैव
अस्त्रलते अचलते, नलाय प्रसेदुष प्रसन्नान्, 'भाषाया सद्रुत्तमार्ग' इति सदे
हस्तुतरेषा । व युष्मान्, ईदृशया अकपटदूत्यकृत्यप्रकाशितया, वृत्तभद्रया चरित्र
वैशिष्ट्येण, तद्वाचनेत्यर्थ 'स्त्रिया पुत्रत्—' इत्यादिना पुत्रत्वाय, कीर्त्तं दिस्सा
नलाय कीर्त्ति दातुम् इच्छेव कर्त्री, ददाते 'मनि मीमा—' इत्यादिना इसादेशोऽप्याम
लोप, 'अ प्रत्ययात्' इत्यकार-प्रत्यये टाप्, सुवम् आनयद्वा ? युष्मान् पृथिवीमानी
नवती क्रिम् ! 'नावहो—' इत्यादिना नयनेर्द्विकर्मकना । नलस्य कीर्त्तिम् अलङ्कृतुम्
अथ व प्रयासो न तु मैमी पीडयितुमिति भाव ॥ ४२ ॥

अथवा अपनी प्रजाओंके साथ वर्गों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों) और ० ननों
(शूद्रवर्ग, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास) के आचारमानि स्वल्प नरी होनेवाले अथवा
प्रजाओंके साथ ही बग़ावतमाचरित मार्ग पर चलनेवाले नलके लिए, प्रमन आपनोंके
पैमे व्यवहार (नलके अकपटदूतभावके प्रकाशित विविध कार्य) के द्वारा कीर्त्तं देनेकी
इच्छा ही * *) । ['इन्द्रादि दिक्पानोंके स्वयंवरमें अपने वरणके लिए उगमिन होनेपर
भी दमयन्तीने उनको छोड़कर नलको ही वरण किया' ऐसा नलकी कौर्त्ति उद्वेग करनेके
लिए ही आपनों इन भूलोकमें जाने ह, जन्मराओंके साथ सम्मोग करनेवाले आपनोंकी
मानवीके साथ सम्मोग करनेकी इच्छा भला कैसे हो सकती है ? अब एव अब नल्लायार्थ
दमयन्तीको आपलोग आशा दें ॥ ४२ ॥

इति श्रुतेऽस्या वचने च हास्यान् कृत्वा मलास्यापरमाम्यविम्वम् ।

अविभ्रमाकृतकृताभ्यनुज्ञेष्वेतेषु ता साऽथ नलाय निन्वे ॥ ४३ ॥

इतीति । किञ्चेति चार्थ, अस्या देव्या, इति इत्यम्भूते, वचने श्रुते मनि
हास्यात् प्रमनताजनितहासाद्धेतो, आस्यविम्व मलास्याधर चलदोष्टमिति दास्य,
कृत्वा, एतेषु देवेषु, अविभ्रम एव अचूचेष्टेव, आकृतम् अभिप्राय तेन अनिप्राय-
व्यञ्जकअचूचेष्टेत्यर्थ, कृता अभ्यनुज्ञा ये तेषु ससु, अथ अनुज्ञाप्राप्तयनन्तर, मा
देवी, ता मैमी, नलाय निन्वे नलसमीप निनायेत्यर्थ । क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी ॥ ४३ ॥

१ 'दिस्सैव' इति पाठान्तरम् । २ 'वचमेव इति 'प्रकाश' कारसम्मत पाठ ।

इस प्रकार (१४४०-४२) इस (सरस्वती देवी) के वचन सुनने पर प्रसन्नराज्य
हारयसे मुखदिम्बको विलासयुक्त कर अर्थात् प्रमत्ततापूर्वक सविलास इसकर हा (इन्द्रादि
चारों देवों) के भूचालनके अग्निप्रायसे आया अर्थात् भुक्तुटि द्वारा नन्वरणार्थ रीति
दनेपर वह (सरस्वती देवी) उस (दमयन्ती) को नन्वके पास ले गयी ॥ ४३ ॥

मन्दाक्षनिष्पन्दतनोर्मनोभृदुष्प्रेरमप्यानयति स्म तस्या ।

मधूकमालामधुर कर सा कण्ठोपकण्ठ वसुवासुधांशो ॥ ४४ ॥

मन्दाक्षेति । सा सरस्वती, मन्दाक्षनिष्पन्दतनो लज्जानिश्रलाङ्गधा , तस्या
भोग्या , मनोभुवा कामेनापि, दुष्प्रेर प्रेरयितुमशक्य, मधूकमालया मधुर रस्य कर
वसुधासुधांशो भूषणद्रव्य नलस्य, कण्ठोपकण्ठ कण्ठसमीपम्, आनयति स्म प्राप
यामास, तद्वा अस्या स्मरादपि लज्जा बलीयसी अभूदिति भाव ॥ ४४ ॥

उम (सरस्वती) ने लज्जामे निश्चल सरोरवाली उस (दमयन्ती) के कामदेवमे भी
कठिननामे प्रेरणीय तथा मधुरकी मालासे सुन्दर हाथको पृथ्वीचन्द्र (नल) के कण्ठके
पास पहुचाया ॥ ४४ ॥

अथाभिलिख्येव समर्प्यमाणा राज्ञि निजस्वीकरणाक्षराणाम् ।

दूर्वाङ्कुराद्या नलकण्ठनाले बधूर्मधूकस्रजमुत्ससर्ज ॥ ४५ ॥

अथेति । अथ बधू कन्या भैमी, अभिलिख्य लिखित्वा, समर्प्यमाणा दीयमाना
निजस्य आत्मीयस्य, यत् स्वीकरण विशाहेन परिग्रहण, तस्य अक्षराणा तद्वाचक
वर्णानां, मा पत्नीं कुरु इत्यक्षराणामित्यर्थ , अह स्वा वरयामि इत्यक्षराणामित्यर्थो वा
राज्ञि श्रेणीमिव, दूर्वाङ्कुराद्या दूर्वाप्ररोहभूयिष्ठा, मधूकस्रज मधुमधुसुममाला,
'मन्त्रे तु गुह्यपुष्पमधुमौ' इत्यमर । नलकण्ठनाले उत्ससर्ज अर्पयामास ॥ ४५ ॥

इसके (नल-कण्ठके पास हाथ पहुचानेके) बाद बधू (दमयन्ती) ने लिखकर समर्पित
की जानी हुई अपने स्वीकार ('मेने तुम्हें निश्चितरूपमें पति स्वीकृत किया' ऐसा, अथवा—
'तुम मुझे अपनी पत्नी स्वीकृत करो') ऐसा) के अश्रुओंकी पंक्ति (समूह) के समान दूर्वा
ङ्कुरोंमे भरी हुई उस मधुरकी माला अर्थात् वरणमाना (जवमाला) को मन्त्रे कण्ठनाले
टार दिया । [दूर्वाङ्कुर 'यामवर्ग होनेमे अक्षरतुल्य तथा मधुरके फूलोंकी अश्रुओंके
सन्निधितुल्य और कण्ठको नाभ (कमलका कण्ठल) कहनेसे नलके मुखको कमलतुल्य
सन्ताना चाहिये] ॥ ४५ ॥

ता दूर्या श्यामलयाऽतिवेलशृङ्गार-भा-सन्निभया सशोभाम् ।

माला प्रसूनायुधपाशभास कण्ठेन भूभृदिवभराम्बभूव ॥ ४६ ॥

तामिति । अतिवेल शृङ्गार, श्यामलया हरितवर्णया, अत एव शृङ्गार-भा-सन्नि
भया शृङ्गारसप्रभासदृश्या, 'श्यामो भवति शृङ्गार' इति भरतवचनात् इति भाव

दूर्वया मशोभा शोभमाना, प्रसूनायुधस्य कन्दर्पस्य, ॥ पाश पाशायुध, मालाया
मदनोद्दीपकत्वादिति भाव, तस्येव भा यस्यस्नाहो, माला भूमृत् नल, कण्ठेन
विभराम्भूव धारयामास 'मोहीमृदुवा श्लुवच्च' इति विकल्पादाम्-प्रत्यये श्लुवच्चा
वात् धातोर्द्धिभाव, 'वृन्वानुप्रयुज्यते लिटि' इति भुवोऽनुप्रयोग ॥ ४६ ॥

राजा नलने अत्यन्त श्यामवर्ण (अत एव) शृङ्गारशोभाके समान दूर्वांने सुन्दर
(अथवा—श्याम वर्ण (अत एव) शृङ्गारशोभाके समान दूर्वांने (अत्यन्त सुन्दर) तथा
पुष्पायुध (कामदेव) के पाशके समान उस मालाको कण्ठने धारण कर लिया ॥ ४६ ॥

दूर्वाप्रजाप्रपुलकाशलि ता नलाद्भस्मद्वाद् भृशमुल्लसन्तीम् ।

मानेन मन्ये नमितानना सा सासूयमालोकत पुष्पमालाम् ॥ ४७ ॥

दूर्वांप्रेति । सा भेमी, दूर्वांप्राण्येव जाग्रती उद्बुध्यन्ती, पुलकावलि यस्या ता
स्पर्शेन सज्जातपुलकामिव स्थितामित्यर्थ, नलाद्भस्मान् भृशम् अत्यर्थम्, उल्ल-
सन्तीम् शोभमानाम्, आनन्दयुक्ताश्च, ता पुष्पमाला मानेन मालाया साफल्यदर्श-
नात् प्रणयकोपेन, नमितानना सती सामूषम् आलोकतेति मन्ये । अत्र दूर्वांप्रेत्या-
दिप्रस्तुतमालाविशेषसाग्यादप्रस्तुतसपत्नीप्रतीति समानोक्ति, तदुपजीवनेन लज्जा-
हेतुक-नलानमालोकेन मानकृतसामूयाहेतुकत्वोत्प्रेक्षणादनयोरङ्गादिभावन सङ्कर ॥ ४७ ॥

वह (दमयन्ती) दूर्वाङ्गुररूप उत्पन्न रोमाञ्च-समूहवाली तथा नलके शरीरसमर्पने
अत्यन्त शोभमान (पञ्चा०—इर्षयुक्त) पुष्पमालाको मान (प्रणयकोप) से मुचको
नीचे करके इर्ष्यानि देखा, देखा न मानना हू । [जिस प्रकार अपने प्रियके शरीर-सम्पर्कमें
रोमाञ्चयुक्त शरीरवाली एव इर्ष्या दूसरी स्त्रीको देख कर कोर खी मानने मुखको नीचा
करके इर्ष्यापूर्वक देखती है, उसी प्रकार नलशरीर-सम्पर्कमें दूर्वाङ्गुररूप रोमाञ्चयुक्त तथा
शोभनी हुई मालारूप सपत्नीको मानो दमयन्तीने मानने अथोमुखी होकर देखा] ॥ ४७ ॥

मा निर्मले तस्य मधुकमाला हृदि स्थिता च प्रतिविम्बिता च ।

क्रियत्यमग्ना क्रियती च मग्ना पुष्पेषुष्पाणालिरिव व्यलोकि ॥ ४८ ॥

सेति । तस्य महस्य. निर्मले स्वच्छे, हृदि वक्षामि, स्थिता च बहिरवस्थिता च,
प्रतिविम्बिता च हृदयस्य स्वच्छत्वेन अन्त प्रतिफलिता च, सा मधूकमाला क्रियता
स्वल्पा, भग्नता बहिरवस्थिता, क्रियती स्वल्पा, मग्ना अन्त प्रविष्टा च, अर्द्धमग्ना
चैव्यर्थ, पुष्पेषो कामग्न्य, वाणालिरिव वाणपक्तिरिव, व्यलोकि दृष्टा, तत्र यजनंरिति
शेष । हृद्युत्प्रेक्षा ॥ ४८ ॥

उस (नल) के निर्मल हृदय (छाती) में (बाहर) स्थित तथा (दर्पणतुल्य स्वच्छ
होनेसे) अन्त करणमें प्रतिविम्बित वह मधुपर्वी माला कुछ भीतर प्रविष्ट तथा कुछ बाहर
स्थित कामवागसमूहके समाच देखी गयी ॥ ४८ ॥

१ इसी श्लोकौ (१४१८-४९) 'प्रकाश' कृता व्यत्यासेन पठित्वा व्याख्याता ।

काऽपि प्रमोदोन्मुक्तनिर्जिहानवर्णैव या मङ्गलगीतिरासाम् ।

नैवाननेभ्यः पुरसुन्दरीणामुच्चैरुल्लुध्वनिरुच्चचार ॥ ४९ ॥

काऽपीति । प्रमोदेन हृषानिरेकेण, अस्फुट यथा तथा निर्जिहाना निर्गच्छन्त, वगा यस्या तादृशा एव हर्षपारवश्यात् अस्फुटाक्षरेवत्यर्थः, आसा स्वयन्तरदर्शनार्थं मागतानां, पुरसुन्दरीणां आननेभ्यः काऽपि अपूर्वा, या मङ्गलगीति, उच्चवार उच्चगति, मेव अस्फुटाक्षरा मङ्गलगीतिरेव, उच्चं तारम, उल्लुध्वनि, अभूदिति नैप । अनुकारिशब्दोऽयम् उल्लुध्वनित्वेव रूपं कश्चित् हर्षगायको मुखोच्चार्यो ध्वनिविशेष उभवाद्वा स्त्रीभिश्चार्थत इत्युदीयानामाचार । पुरसुन्दरीणां यत् उत्पन्नं मङ्गलसूचकं गानं तदेव हर्षपारवश्यादस्फुटाक्षरत्वात् उल्लुध्वनिरूपमभूदित्यर्थः ॥

अन्यत्रिहृषमे बहु जने हुए अस्पष्ट मधुरोवाण जो (स्वयन्तर देखनेके लिए आवाज) नारकी स्त्रियोंके मुँसे मङ्गल-गान निकला अथाऽगाया गया, वही 'उल्लु' ध्वनि (विवाहादि मङ्गल कार्योंके अवसर पर स्त्रियों द्वारा किया जाने वाला 'उल्लु' रूप अस्पष्ट ध्वनि-विशेष) उल्लिखित हुआ । [अब जो वङ्गदेशकी स्त्रियोंको मङ्गल-कार्योंमें 'उल्लु' रूप अस्पष्ट शब्दोच्चारण करते देखा जाता है] ॥ ४७ ॥

रोमाणि सर्वाण्यपि बालमावाद् वरश्रिय योक्षिनुमुत्सुकानि ।

तस्यास्तदा कण्टकिताङ्गयष्टेरुद्ग्रीविकादानमिषान्धभूवन् ॥ ५० ॥

अस्यास्त्रिभिः पुलकोदयमाह, रोमाणात्यादि तदा तत्काले, कण्टकिताङ्गयष्टे पुलकिनदारीया, तस्या भैरव्या, सर्वाण्यपि रोमाणि बालमावाद् कृत्वात्, शिशुत्वाच्च, 'बाल कचे शिशौ मूर्खे' इति विश्व । वरस्य शेटु नलस्य, श्रिय मौन्दर्प, योक्षिनु व्रष्टुम्, उत्सुकानि सन्ति, उद्ग्रीविना उद्यमितग्रीवीकरणं प्रीवोक्षणनमिति यावत् । उद्ग्रीवियते 'त' करोति— इति ण्यन्ताद्धा चयनिर्देशेऽपि ण्वुहप्रत्ययः तस्या आदानं स्वीकारम्, अम्बभूवन्निवेत्युपेक्षा । बाला इद्ग्रीवा भृश पर्यम्तीति भावः ॥

तममप रोमाऽत्र शरीरव्यङ्गिणी उम (दमयन्ता) के, बालमाव (बैशाल, पङ्क — वचन) के कारण वर (दुन्दुह नल) की शोभाकी देखनेके लिए उत्कण्ठित सभी रान उदङ्का और गर्दन किये हुएके समान हो गये । [दमयन्ताके रोमाद्वयुक्त शरीरमें रहते हुए रोम (रोम) के कम मान्दम पड़ते थे कि मानी वे वचपन होनेसे वरकी शोभा देखनेके लिए उत्कण्ठित होकर ऊपर गर्दन किये हों । दङ्गोवा दुन्दुकी शोभा देखने के लिए उत्कण्ठित होना तथा छोटा होनेके कारण अच्छी तरह नहीं देखनेसे गर्दनको ऊपर उठाना स्वभाव होता है । प्रहृतमें 'व' और 'व' में भेद मानकर 'बालत्व' (वचपन) तथा 'भानत्व' (बैशाल्य) होनेसे उक्त मन्थना की गयी है] ॥ ५० ॥

रोमादुरैर्दन्तुरितामिलाङ्गी रम्याचरा मा सुतरां विरेजे ।

शारव्यदण्डे श्रितमण्डनश्री स्मारी शरोपासनवेदिवेव ॥ ५१ ॥

रोमाङ्गुरैरिति । रोमाङ्गुरैः पुलकैः, दन्तुरित विपमितम्, अखिलाङ्गं यस्या मा, रम्यं अधरो दन्तवमने, लोष्ठौ इत्यर्थं, अन्यत्राद्योभागश्च यस्या ना, 'अधरो दन्त वमने हीनेऽन्तर्ध्वेऽधरोऽन्यवत्' इति विध । मा भेमी, शरान्यदण्डे निम्वातलक्ष्य-भूतप्रतिभि, धिता प्राप्ते-यर्थं, मण्डनश्री प्रमाधनसोभा यस्या मा तादृशी, रोमा-ङ्गुराणां शरान्यदण्डमादृश्य बोध्यम्, स्मरस्येय स्मारी कन्दर्पसम्पन्धिनी, शरीरपाम नम्य शरान्यासस्य, वेदिकेव सुनराम् अयर्थं, विरेने शुशुभे, सज्जानपुलका ता दमयन्ती काम स्वसरे पुन पुन वि-याध इति भाव । शरान्यामिनो व्याधप्रमुन्दा निखानलक्ष्यपटिका वेदीं कुर्वन्तीति प्रसिद्धि ॥ ५१ ॥

रोमाङ्गुरोमे वच्चावच (विपन्नित) सन्तू गुरारवाली तथा सुन्दर भोंष्टोवाली वद् (दन्तवन्ता) एव (निशाने) के दण्डोमे अन्तूर-शोभाको पादां हुंर कामदेवको बाग-न्याम्की वंशके समान अत्यन्त शोभने लगा । [बागन्याम करनेवाले व्यक्ति दण्डा गठी हुंर वंश बनाकर अमे निशाना बनाकर बाग मारते हैं । रोमाङ्गुः दमयन्तीको कामदेवने अपने बागोंसे बार बार निशाना बनाकर पालित किया] ॥ -१॥

चेष्टा व्यनेशत्रिजितलास्तदाऽस्या स्मरेषुपातैरित्येता निघूना ।

अभ्यर्त्य नीना कलिना मुहूर्त्तं लाभाय तस्या बहु चेष्टितु वा ॥५२॥

चेष्टा इति । तदा तच्छास्त्रे, अस्या भेम्भा, ता प्रागनुभूता, निखिला चेष्टा कदाचिच्छणाङ्गविशेषादय, स्मरस्येषुपातं वागप्रहारं, विघूना निगस्ता इत्येषु प्रेक्षा व्यनेशान् विनष्टा, नशोलुटि पुषादि-वाद्ङ्, 'नशिमन्योरलिटि एत्व वक्तव्यम्' इत्ये-त्वम् । 'विनेष्टु रिति पाठे—लिट्प्रनादेशादिवात् 'अत एकद्वलम्प्येऽनादेशादेर्लिटि'

१ 'विनेष्टुनि—' इति पाठान्तरम् ।

२ एतदग्रे 'प्रकाश' कृता 'भाष्यकारस्य, वार्तिककारस्य, पदमञ्जरीकारस्यापि मते छन्दस्येवैव नशिमन्योर्न भाषायाम् । 'अनेशस्यमेव' इत्युदाहरणात् नशेर एतेव छन्दस्येव' इत्यवर्मायते । वृत्तिरुक्ता तु नशिमन्योर्भाषाविषयवमङ्गीकृत्य अमिपचोरश्छन्दोविषयवमङ्गीकृत्येव समर्थितम् ।' इत्युक्तम् । अत्र पञ्चद्वयस्याप माहाय -नशिमन्योर्भाषायामेवत्वानङ्गीकारपक्षे भाष्यप्रदीपोद्धोतकृतो भागोऽमट्टस्य अत एव 'चेष्टा व्यनेशत्रिजितलास्तदास्या' इति श्रौहर्षस्य प्रमाद' इत्युक्तिमानम् । तयोर्भाषायामप्येत्वाङ्गीकारपक्षे तु 'नशिमन्योरमिपचोरश्छन्दस्येत्वमलिट्यदि' इत्येव-मानुपूर्वां परि-रज्य 'नशिमन्योरलिट्येव छन्दस्यमिपचोरपि' इत्येवमानुपूर्वां वार्ति-ककृत पाठ तथा 'नशिमन्योरलिट्येव छन्दसि', 'अमिपचोरपि' इत्येवमभूत 'छन्दसी'ति नशिमन्या सम्बध्यते, अपिना उत्तरत्रामिपचिग्यामपि' इत्यभिप्रायक विभागाविधाय 'नशिमन्योरलिट्येत्वम्', 'छन्दस्यमिपचोरपि' इत्येवमभूत नशि-मन्यो मामान्येन्येस्त्वमुक्त्वाऽनन्तरमुत्तरस्थान्याममिपचिग्यामेव छन्दसी'ति सम्ब-ध्यत इत्यभिप्रायको भाष्यकृत्कृतो विभागो मानमित्यवधेयम् ।

लङ् । अपि सम्भाषनाया, नलस्य यथोरसि नृपान्तराणा तथा दृशोरपि न्यस्तमिति सम्भावयामीत्यर्थः, कथमन्यथा तेषामश्रुद्रुमः ? नृपस्य नलस्य तु, रामाद् दृग्भुप्रति विप्रि अनुरागोत्थाश्रुप्रतिविप्रित, तन्माह्वय कर्तुं, पीतवतो नृपणा तन्माह्वयमादा गिलतोऽरिव स्थितयो, अद्यो प्रालम्ब्यम् ऋजुभावेन लम्बमान सत् 'प्रालम्ब्यमु लम्बित स्यात् कण्ठात्' इत्यमरः । अन्त मध्ये, 'अन्तर्मध्ये तथा प्रान्ते स्वीरुरेपि च दृश्यते' इति विश्वः । युक्तम् आलम्ब्य अवलम्ब्यते स्म । अत्रापि राज्ञा द्वेपात् अस्या तत्प्रतिविम्बि माह्वय युक्तम् अक्षिगतमेव कृतमि युष्मेष्वा, नलस्य ॥ रामातिरंका अक्षिभ्या तत् नृपण्या पीतमित्युत्प्रेक्षितस्यैव घाह्यविम्बिमाह्वयाध्यवसायमेवेन मय प्रालम्बितया लम्बनमित्युत्प्रेक्षते ॥ ५१ ॥

(नलमित्र) राजाओंके मात्मर्थमे उत्पन्न अश्रुमें प्रतिविम्बित वरणमाला (उन नलमित्र) राजाओं का आँखमें स्थित-सी हो (दृश-सी) गया, तथा (स्वयंवरमें दमयन्तीके स्वीकार करनेके कारण) हृषमे उत्पन्न नलके अश्रुमें प्रतिविम्बित वह वरणमाला पान करती (प्रेम पूर्वक सादर देखता) हुए नलका आँखमें सरलतामे लटकता हुए साथी मालाके रूपमें स्थित हुई, यह उचिन् ही है । (अथवा—दमयन्तीने नल-विषयक अनुरागसे उसके कण्ठमें श्मि प्रकार वरणमालाको पहनाया, उसी प्रकार नल-मित्र राजाओंके प्रति द्वेष होनेसे मानो उनके नेत्रोंमें मालाको टांक दिया (हमी वास्ते उन राजाओंके नेत्र लाल हो गये ह, आँसू निकलने लगे हैं तथा उस आँसूमें (प्रतिविम्बित) वह वरणमाला दीप्त रही है) । [लोकमें भी कोई व्यक्ति किसीके प्रति द्वेष होने पर उसकी आँखोंमें अश्रुली आदि डाल देता है तो उसकी आँखें लाल हो जाती हैं उनसे आँसू आने लगते ह और वह व्यक्ति मुग धर लेता है । राजाओंने भी नलके कण्ठमें वरणमाला पटनेपर दमयन्तीकी प्राप्ति नहीं होनेके कारण नल-विषयक द्वेष होनेसे उस मालाका नलके कण्ठमें पटना नहीं सहन किया और मात्सवसे उनके नेत्र आँसूमे भर गये तथा लाल हो गये और उ होने मुग धर लिया । पाठा—नलके नेत्रके भीतरी भागने हृषमे विस्फार (वृद्धि) को स्वीकृत किया अर्थात् वरणमालाके कण्ठमें पटनेपर नल उमे आँसू फाटकर अच्छी तरह देखने लग, यह उचिन् ही है । किसी दुर्लभ वस्तुके प्राप्त होनेपर उसे आँसू फाटकर देखना लोक-प्रसिद्ध है । नलके नेत्र हर्षमे तथा हमरे राजाओंके नेत्र मात्मर्थसे अश्रुपूर्ण हो गये] ॥ ५१ ॥

स्तम्भस्तथाऽलम्बिनमा नृजेन भैमीकरस्पर्शमुद प्रभावः ।

उन्दर्पलक्षीकरणार्पितस्य स्तम्भस्य दम्भ स चिर चयाऽऽपन् ॥५२॥

स्तम्भ इति । नलेन भैमीकरस्पर्शेन माह्वयप्रदानकाले दमयन्तीपागिस्पर्शन, या सुत आनन्द तस्या, प्रभाव तदनुभावज्ञात इत्यर्थः, स्तम्भ निष्क्रियान्तरालवग सात्त्विकविशेष, तथा तेन प्रकारण, अलम्बितमाम् अनिशयेन अलम्बि, लमे

१ 'प्रसाद' इति पाठान्तरम् ।

कर्मणि लुङि चिणि 'विभाषा चिणमुलो' इति विकल्पानुमागम, 'तिट्प्र' इति तमप्-प्रत्यये 'किमेत्तिङ्प्रत्यय-' इत्यादिना आमु । यथा स नल, कन्दर्पस्य लङ्गीकरणाय अर्पितस्य शराभ्यासकाले शरच्यवेन स्थापितस्य, स्तम्भस्य स्थूणाया, 'स्तम्भो स्थूणाजडीनावौ' इत्यमर । दम्भ व्याजत्व, भावप्रधानो निर्देश । 'व्याज-दम्भोपधय' इत्यमर । चिरम् आपत् प्रापत् ॥ ५६ ॥

नन्वे (वरमाणाके पद्मानके समयमें) दमयन्तीके हाथके स्पर्शने उत्पन्न हर्षके अनुभावे पैदा हुए (पाठा०—हर्षके प्रसाररूप) रन्म (त्रियाशून्यनाजनक 'स्न्म' नामक भाव) को उस प्रकार प्राप्त किया, जिस प्रकार वे (नल) लक्ष्मणके अभ्यासके लिए कामदेवके द्वारा गाये गये खम्भेके व्याजको बहुत देर तक प्राप्त कर लिये । [वरमाणा पद्माने समय दमयन्तीके हाथके स्पर्शने नन्का शरीर स्मन्भव त्रियाशून्य होनेसे कामदेवके द्वारा लक्ष्मणके लिए गाये गये खम्भेके समान हो गया । व दमयन्तीके हाथके स्पर्शने अत्यन्त कामराति हो गये] ॥ ५६ ॥

उत्सृज्य माम्नाज्यमिवाथ भिक्षा तारुण्यमुल्लङ्घ्य जरामिसारात् ।

त चारुमाकारमुपेक्ष्य यान्तु निजा तनूमादधिरे दिगिन्द्रा ॥ ५७ ॥

उत्सृजेति । अथ नलवरणानन्तर, दिगिन्द्रा इन्द्रादिविवाहा, यातु गम्भ, स्वगमिनि शेष, सन्नाजमीति सन्नाट् महाराजविशेष, 'येनेष्ट राजमुपेन मण्डलस्ये-श्वरश्च य । शास्त्रि यश्चाज्ञया राज स सन्नाट्' इत्यमर । 'सत्सूद्विप-' इत्यादिना द्विप्, 'मो राजि सम कवी' इति समो मकारस्य मकारवाधानुस्वार । तस्य भाव कर्म वा सान्नाज्य चक्रवर्त्तिपदम्, उत्सृज्य त्यक्त्वा, क्षीणपुण्यरादिति भाव, भिक्षा धाञ्जामिन्, तारुण्य यौवनम्, उल्लङ्घ्य अतिक्रम्य, जरामिव आरात् नलसमीपे स्वपवरसभायामेवैवार्थ, त चारु सुन्दरम्, आकार मलरूपम्, उपेक्ष्य हिरा निजा तनू सहस्रनेत्रादिविशिष्टाकारम्, आदधिरे स्वीचतु ॥ ५७ ॥

इत (नल-वरण) के बाद दिक्पालों (इन्द्रादि चारों देवों) ने सान्नाज्यको छोड़कर भिक्षाके समान तथा यौवनावस्थाको छोड़कर वृद्धावस्थाके समान स्पर्श करनेके लिये (पाठा०—स्वर्गको जाने हुये) उस सुन्दर आकार (नलके रूप) को छोड़कर अपने शरीर (महल-नेत्रच आदि) को नलके समीपमें प्रार्थन कर लिया । [नलके सुन्दर आकारको सान्नाज्य तथा युवावस्थाके साथ और इन्द्रादिके शरीरको भिक्षा और वृद्धावस्थाके साथ उपमा देकर यही पर नन्काएकी अपेक्षा इन्द्रादिके शरीरको अत्यन्त तुच्छ मया सान्नाज्यकी त्यागकर भिक्षावृत्तिकी तथा यौवनावस्थाका त्यागकर वृद्धावस्थाको पानेवाञ्छे व्यक्तिके समान इन्द्रादि दिक्पालोंको नलके अप्पारका त्याग करनेमें अत्यन्त दुःख हुआ, यह बतलाया गया है । अथ च—लोकमें भी कोई विद्वान् मनुष्य दूसरेकी अत्युत्तम वस्तुकी छोड़कर अपना तुच्छ

१ 'यान्तो' इति पाठान्तरम् ।

वस्तुको ही ग्रहण करना प्रशस्त मानता है, अत इन्द्रादि का वेसा करना भी उचित ही है ।]

मायानलत्वं त्यजतो निलोनैः पूर्वैरहम्पूर्विकया मघोन ।

भीमोद्गरासात्त्विकभावशोभादिदृक्षयेवाऽऽविरभावि नेत्रैः ॥ ५८ ॥

मायेति । मायानलत्वंमलीम्नलत्वं त्यजतो मघोन इन्द्रस्य, निलोनैः देव शक्त्या सङ्गोपिते, पूर्वे स्वरूपावस्थायामवस्थानकालिकैः, नेत्रैः सहस्रसङ्ख्यकैरिति भावः, भीमोद्गराया भैरव्या, सात्त्विकभावाना नलाद्गसङ्गजनितरोमाञ्छादीनाम् शोभाया दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छयेय, इति फलोत्प्रेक्षा घोत्या आविर्भावस्य शोभादर्शन फलरूपात्, अह पूर्वोऽह पूर्वं इति योऽभिमान क्रियाया साऽहपूर्विका तथा अहमहमिक्या, मयूरस्यसरादित्वात् समाम् । स्वायं मरुत्थं वा टन् प्रत्यय । आवि रभावि आविर्भूतम् । भावे लुट् । 'स्तम्भप्रलयरोमाञ्छा स्वेदो वैवर्ण्यवेषधू । अश्रु वैस्वर्णमिस्यष्टौ सात्त्विका परिकीर्तिता ' ॥ ५८ ॥

असत्य नलाकारको छोड़ने हुए इन्द्रके (माया शक्तिसे) गुप्त नेत्र 'मैं पहले वरान्न होऊँ, मैं पहले वरान्न होऊँ' देती प्रतिस्पर्द्धासे मानो 'दमयन्तीके सात्त्विकभाव (रोमाव, स्वेदोदगम आदि) की शोभाको देखनेकी इच्छामें प्रकट हो गये । [दूसरे भी व्यक्ति किंसा अपूर्व कायको देखने की स्पर्द्धासे शीघ्र प्रकट होने (बाहर निकलने) हैं । इन्द्रने अपने सहस्र नेत्रोंको झट प्रकट कर लिया] ॥ ५८ ॥

गोत्रानुकूल्यप्रभवे विवाहे तत्प्रातिकूल्यादिव गोत्रशत्रु ।

पुरश्चकार प्रवर वर यमायन् सखाय दृष्टे तथा स ॥ ५९ ॥

गोत्रेति । गोत्रानुकूल्यप्रभवे वशवर्द्धनार्थं प्ररुप्ते, विवाहे तत्प्रातिकूल्यादिव तद्वि रोधित्वादिषु, गोत्रशत्रु/वादिर्वैर्यं, न हि यो यस्य शत्रु स तदनुकूलकार्यं सहते इति भावः, आयन् स्वयंवरसभायामागच्छन् । इणो लट् शतरि णादेश । गोत्रशत्रु गोत्र कूलञ्चाद्यलक्ष्ण, 'गोत्र नाम्नि कुलेऽषल्ले' इति निरय । तच्छत्रु गोत्रभित् इन्द्र । य प्रवर श्रेष्ठ, वर बोद्धार, सखाय पुरश्चकार दूत्येन सहायत्वेन स्वीचकारेत्यर्थः, न नल एव, तथा भैरव्या, दृष्टो, देवाना नलरूपपरिहारेण स्वरूपपरिग्रहणात् केवल सत्यनलस्येव तत्रावस्थानादिति भावः । केचित्तु प्रवरनामा कश्चिदिन्द्रेण सहायत्वे नानीत इति न्यायच्छते तत्तु अमूल चिन्त्य भारतादिषु अदर्शनादिति ॥ ५९ ॥

गोत्रकी अनुकूलता अर्थात् वशवृद्धिके लिए होनेवाले विवाहमें (गोत्र अर्थात् पर्वतोंका, पक्षा०—गोत्र अर्थात् वशका शत्रु होनेसे) मानो उस (विवाह) की प्रतिकूलनाने (स्वयंवरमें) आने हुए गोत्रशत्रु (गोत्र=पर्वतोंका शत्रु इन्द्र, पक्षा०—वशका शत्रु) ने श्रेष्ठ जिस वर अर्थात् विवाहकर्ता (दुल्हा नल) की मित्र अर्थात् दूतकर्म करनेमें सहायक बनाकर आगे किया (दमयन्तीके पास पहले भेजा) था, उम (नल) को उम (दमयन्ती) देखा । 'प्रकाश' श्वारया सम्मन द्वितीय अर्थ—गोत्र (वशके आदि पुरुष वसिष्ठ तप

कश्यप) की अनुकूलतासे (अथवा—गोत्र अर्थात् वन्मकालीन राशिनामोंकी अनुकूलता (तृतीय, एकादश, चतुर्थ और दशम आदि ज्योति शास्त्रोक्त श्रेष्ठमण्ड होने से) होनेवाले विवाहके लिए (स्वाप्ते स्वयंवरमार्गे) आते हुए जिस श्रेष्ठ 'प्रवर' नामक मित्रको मानते गोत्रकी प्रतिकूलतासे गोत्रहन्तु (इन्द्र) ने आगे किया (पञ्चा०—मरकार किया), उस ('प्रवर' नामक इन्द्र-मित्र) को उस दमयन्तीने देखा । ['जीवातु' व्याख्याकार 'महिनाथ' का अभिमत है कि महाभारतादि ग्रन्थोंमें इन्द्रके 'प्रवर' नामक मित्रकी चर्चा नहीं आनेसे द्वितीय अर्थ (इन्द्रके द्वारा 'प्रवर' नामक मित्रको अपना सहायक बनाकर आगे भेजना) निराधार होनेमें चिन्तित है । अत एव दूतकर्म करनेके लिए इन्द्रादि देवोंने जो नलको आगे भेजा था, देवोंके प्रसन्न होनेसे अपना अपना रूप धारण कर लेनेपर दमयन्तीने वास्तविक नलको देखा । द्वितीय अर्थमें—दमयन्ती तथा नलके अनुकूल गोत्र होनेसे नलके साथ गाना ठीक था तथा दमयन्तीका मनुष्य एव अपना देव गोत्र होनेसे परस्पर भिन्न गोत्र होनेके कारण गोत्रहन्तु इन्द्रने मनुष्य गोत्रवाले 'प्रवर' नामक अपने मित्रको अपने विवाहमें बाधा उत्पन्न करनेके लिए जो आगे किया था, उस 'प्रवर' नामक श्रेष्ठको अब प्रष्ट होनेपर दमयन्तीका देखना उचित हो है । अथवा—दमयन्ती तथा नलके गोत्रकी अनुकूलता के कारण होनेवाले विवाहमें गोत्रहन्तु (इन्द्र) ने 'प्रवर' को सहायक आगे किया, क्योंकि समान 'प्रवर' होनेपर भी बधू-वरका विवाह नहीं होता ॥ बधू-वरके जन्मराशिके नामके प्रथमाक्षरके आधारपर गणना करनेपर हा विवाह योग्य होता है, यह ज्योतिषशास्त्रका सिद्धांत है] ॥ ५९ ॥

स्वकामसम्मोहमहान्धकारनिर्वापमिच्छन्निव दीपिकाभि ।

उद्गातरीभिश्चरित वितेने निज वपुर्वायुमग्न शिराभि ॥ ६० ॥

स्वेति । अथ वायुमग्न अग्नि, दीपिकाभि दीपै, स्व स्वीय, कामेन सम्मोह अज्ञानमेव, महान्धकार तस्य निर्वाप प्रशान्तिम्, इच्छन्निव उद्गातरीभि उद्गमन शीलाभि, 'ग'त्रश्च' इति फलवन्तो निपात । शिराभि ज्वालाभि, चरित व्याप्तं निज वपु वितेने प्रकाशयामास ॥ ६० ॥

अपने कामजन्म सम्मोहनरूप महाधकारको दीपकोंमें शान्तिको चाहते हुएके समान अग्निने ऊपर बटनी हुई अपनी ज्वालाओंसे अपने शरीरको प्रकाशित (या व्याप्त) किया । [पहले दमयन्तीको पत्नीरूपमें पानेके लिए कामजन्म सम्मोह (अज्ञान) युक्त अग्निदेव स्वयंवरमें नलरूप धारणकर आये थे, किन्तु अब दमयन्तीकी स्तुतिमें प्रसन्न होकर अपना वास्तविक रूप प्रकट कर लिया] ॥ ६० ॥

पत्नौ वृते भीमजया न वह्नायहा स्वमहाय निजुह्वे य ।

जनादपत्राय स हा सहायस्तस्य प्रकाशोऽभ्युदप्रकाश ॥ ६१ ॥

१ 'महान्धकार निर्वापयिव्यन्निव' इति पाठान्तरम् ।

पत्याविति । भीमजया भैरव्या, पत्यौ स्वामिनि, वह्नौ अग्नौ, न धृते सति, य प्रकाश द्योत, दीप्तिरित्यर्थ 'प्रकाशो द्योत आतप' इत्यमर । जनात् अपत्रप्य लज्जित्वा, 'लज्जा साऽपत्रपाऽन्यत' इत्यमर । 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंहारा नम्' इति पञ्चमी । अह्नाय शीघ्रम्, अह्ना दिवसेन करणेन, स्व निजम् आत्मस्वरूपमित्यर्थ, निजह्वये अपहृतवान्, अहनि दीप्तेरप्रकाशादिति भाव, ह्वते कर्त्तरि लिट् । तस्य वहे, सहाय अनुचर, स प्रकाश अप्रकाश अनुज्ज्वल, वह्निना दीप्तिं स्वाभि स्वरूपप्रकाशे कृतेऽपि दिवालोके तस्य क्षीणप्रभत्वादिति भाव, अभवत्, हा । कष्टम्, प्रयामधैयर्थादग्निरपत्रपया निस्तेजा ह्वासीदिति तात्पर्यम् । यद्वा—तस्य प्रकाशस्य सहाय आत्मनिह्वये साहाय्यकारी, अ अप्रकाश दीप्यभाव, प्रकाश पुनरदीपित, यद्वा उद्गतवरीभि शिखाभि निजरूपेण प्रकाशमाने सति इति भाव, अभवत्, हा । कष्टम्, स्वामिनि आत्मप्रकाशे कृते अनुचरस्य तद्गोप नचेष्टावैयर्थ्यादिति भाव ॥ ६१ ॥

दमयन्तीके द्वारा अपने स्वामी अग्निजी पति नहीं स्वीकार करनेपर, लोगोंसे लज्जित-रुजा जो प्रकाश वह शीघ्र ही अपनेकी दिनमें छिया लिया (दिन होनेमें अग्निका प्रकाश पीडा ही बनारहा तीव्र नहीं हुआ), उस अग्निका सहायक वह प्रकाश अप्रकाश (प्रदीप्त रूपमें अपना प्रकाश अग्निके करनेपर भी दिनके कारण मन्द) ही रहा, हाव । मन्द है । अधवा-उम प्रकाशका (अपने छिपानेमें) सहायक वह अप्रकाश (दीप्यभाव, अग्निका ज्वालाओंके ऊपर निकलने लगनेपर) प्रकाश (प्रकट) हो गया हाव । रोद है । [प्रथम अर्थमें—दमयन्तीने अग्निको अपना पति नहीं बनाया तो अग्नि-सहायक प्रकाश भी लज्जित होकर अपनेको प्रकाशित (प्रकट) नहीं किया, अतएव स्वामीके मान-नाशमें सहायकका अप्रकट (मन्द) होना उचित ही है । दिनके कारण अग्निका प्रकाश मन्द ही रहा, तीव्र नहीं हुआ । द्वितीय अर्थ—जब अग्निदेव अपना वास्तविक रूप धारणकर स्वयं प्रकट हो गये, तब उनके सहायक प्रकाशका उनको छिपानेकी चेष्टा करना व्यर्थ ही है] ॥ ६१ ॥

सदण्डमालक्तकनेत्रचण्ड तम किर कायमघत्त काल ।

तत्कालमन्त करण नृपाणामध्यासितु कोप इरोपनञ्च ॥ ६२ ॥

सदण्डमिति । अथ कालं यम, त काल तस्मिन् स्वयंवरफाले, अत्यन्तसयोगे द्वितीया, नृपाणाम् अन्त करणम् अध्यासितुम्, अधिष्ठानुम्, उपनञ् उपगत, कोप दमयन्त्यनादरोत्यजोध डव, सदण्ड दण्डहस्तम्, आलक्तके रक्ते, 'तेन रक्त रागात्' इत्यण्-प्रत्यय, यथायौ गर्दभस्य कर्णावितिददलक्तके इत्युपमानाप्रयोग, ताभ्या नेत्राभ्या चण्ड मूर, किरिति उद्गिरतीनि किर, 'इगुपधज्ञाप्ताकिर —' इति क तमस किर ततम रयाम, काय देहम्, अघत्त, कालोऽपि स्वरूपप्रादर्शयदित्यर्थ ॥ ६२ ॥

उस समय राजाओंके अन्त करणमें स्थित होनेके लिए उपस्थित कोप (दमयन्तीके

अनादरजन्य को) के समान यमराजने लोहरण्डयुक्त, लाल नेत्रोंसे क्रूर तथा अन्धकारको फैलाने (या-अतिशय अधिक काल होनेसे अन्धकारको भी पकते अर्थात् तिरस्कार करते) हुए शरीरको धारण किया । [यम भी अपना रूप धारण कर प्रकट हो गये । बोधयुक्त मनुष्य भी दण्डयुक्त, लाल नेत्रोंसे क्रूर एवं काला-सा बन जाता है] ॥ ६२ ॥

हृगोचरोऽभूदथ चित्रगुप्त कायस्थ उच्चैर्गुण एतदीय ।

उद्ध्वंश्च पत्रस्य मयीद एनो मपेर्दधोपरि पत्रमन्य ॥ ६३ ॥

इति । अथ यमस्य स्वरूपप्रकाशानन्तरम् एतदीय कालसम्बन्धी, उच्चै महान्, गुण प्रधानशेषभूत, चित्रगुप्त चित्रगुप्ताख्य, कायस्थ लेखक, तदाग्य जामिबिरोप इत्यर्थ, 'लेखक स्यात्तिपिकर कायस्थोऽङ्गरजीविक' इति हलायुध । हृगोचर इत्य, अभूत्, अन्यत्र-चित्र यथा तथा गुप्त पूर्व निगूहित, कायस्थ कायनिष्ठ, एतदीय कालसम्बन्धी, उच्चै महान्, गुण नीलगुण, हृगोचर अभूत् । एक चरवर्ष, चित्रगुप्तनीलगुणयो एक चित्रगुप्तस्तु, पत्रस्य ऊर्ध्वम् उपरितले, मयी ददातीति मयीद मयीमयलिपिकर, लेखक इत्यर्थ, अन्यश्च पूर्ववच्चार्थ, अन्य नीलगुणस्तु, मपे मपिद्वयस्य, 'कृदिकारादक्षिण' इति डोपो विकल्पादुभयथा प्रयोग, उपरि, पत्र मपरिपि अह काल ण्वेति पत्रालम्बन, दधत् दधान, 'माम्यस्ताच्छनु' इति नुमोऽभाव, अभूत्, मयितोऽपि अधिको नीलिमेत्यर्थ । अत्र मपेत्परि पत्रमिति प्रतीतेराभासीकरणात् विरोधाभासोऽलङ्कार ॥ ६३ ॥

इसके बाद यम (यम) का कायस्थ जातीय श्रेष्ठ गुणवान् चित्रगुप्त नामका लेखक । पक्षा०—विचित्र रूपसे गुप्त एवं शरीरमें वर्णमान श्रेष्ठगुण अर्थात् कालिमा) प्रकट हुआ, इन (चित्रगुप्त तथा कालिमा गुण) में-मे एक (चित्रगुप्त नामका लेखक) तो कागज के ऊपर स्याही देने अर्थात् लिखनेवाला था और दूसरा (कालिमा गुण) स्याही के ऊपर पत्रालम्बन धारण करने (पाठा०—देने) वाला अर्थात् स्याहीमें भी अधिक काला था । [यमने अत्यन्त दृग्गवः शरीर धारणकर लिया] ॥ ६३ ॥

तस्या मनोवन्धनिमोचनस्य कृतस्य तत्कालमिदं प्रचेता ।

पाश दधान करबद्धपास विमुर्बभावाप्यमवाप्य देहम् ॥ ६४ ॥

तस्यामिति । विमु प्रमु, प्रचेता वरुण, तत्काल तस्मिन् काले, नलवरणकाले इत्यर्थ, अत्यन्तसयोगे द्वितीया, तस्या दमयन्त्या विषये, कृतस्य विहितस्य, मनो-वन्धनिमोचनस्य चिन्तयन्धनोन्मोचनस्य, पाशेन मन सयम्य भोग्या पुरा निहितवान्, ततश्च नले वृत्ते मति तन् वन्धन तत्क्षणमेव प्रचेता उन्मुमोचेति तद्वन्धन-

सम्पन्नि इव दिव्यमित्यर्थं उद्येक्षा, अत एव करे उद्धवाम कृतस्थितिं, क रगत-
मित्यर्थं, पाश बन्धनरज्जु स्वीयास्त्रज्ज, दधान सन् अपा विचारम् आप्यम् अन्नम्
'आप्यज्जे'ति चान्द्रध्याकरणसूत्रान् माधु, देहम् अवाप्य वभौ ॥ ६४ ॥

सर्पमर्थं प्रवेत्ता (प्रहृष्ट चित्तवाला अर्थात् वरुण) ने उस समय (नल-वरुण वनेश)
उस दमयन्तीमें (पहले पाश द्वारा बाध देने) मनको बन्धनको खोले गये (तथा वह)
हृथमें स्थित पाश (अपने अस्त्रविजय) को धारण करते हुए अन्त्यय शरीरको प्राप्त
होमने लगे । [वरुणने हाथ में पाश लिए जब अपना अन्त्यय शरीर धारण किया, न
वह पाश ऐसा मालूम पड़ा या कि पहले स्वयंवरमें दमयन्तीको पत्नीरूपमें पानेके दिन
जाने हुए वरुणने अपने मनको जिस पाशसे बाधकर दमयन्तीके विषयमें स्थिर किया था,
वह नलके दमयन्ती द्वारा वरुण किये जाने पर उसने दमयन्तीके विषयमें पहले पाशने बंध
हुए (स्थिर) मनको खोल लिया अर्थात् दमयन्तीसे मनका हटा लिया वही पाश नलके
हाथमें दृष्टिगोचर हो रहा है । लोकमें जो जब कोई व्यक्ति किसी बड़े आदिके बन्धनको
खोलता है तो उसके हाथमें वह रस्सी दृष्टिगोचर होती है । वरुणने भी हाथमें पाश लिये
अपना अन्त्ययरूप प्रकटकरे लिया] ॥ ६४ ॥

सप्तद्वितीयं त्रियम्भ्युपेयादेव स दुर्बुध्य नयोपदेशम् ।

अन्या सभार्य कथमृच्छनीति जलाधिपोऽभूदसहाय एव ॥ ६५ ॥

सहेति । जलाधिप उपा पनि, लङ्योरभेदान् जडाधिप मूढाप्रगीदध, स वरुण,
त्रिय फान्नामपि, द्वितीयं केनचिन् सहचरेण सह वर्त्तते इति सप्तद्वितीय
ससहाय, 'तेन सहेति मुह्ययोगे' इति यदुद्गीहि । 'योपसर्जनस्य' इति विकल्पाय
सहस्य सभाय, अभ्युपेयात् अभिगच्छेत, एव नयोपदेश नीतिवाक्य, सभार्य
सखीक स, अन्या अन्यन्तर कथम् अस्त्विति प्राप्नुयात्, इति एव, दुर्बुध्य सम
हाथार्थं प्रयुक्तस्य सहद्वितीय इति शब्दस्य द्वितीयया भार्यया सह वर्त्तने इति
सप्तद्वितीय 'द्वितीया सहधर्मिणी । भार्या जाया' इत्यमर, सभार्य इति विपरीत
बुद्ध्या, 'समासेऽनन्पूर्वं' इति क्त्वो ल्यप्प्रदेश, असहाय एव अभूत्, अर्लीक एव
अभूदित्यर्थ, दमयन्तीलोमात् सर्वत्र समहाय एवोपेयादिति नीतिमुल्लङ्घ्य स्वदारा
णामप्यनादरे सम्मति साऽपि दुर्लभेत्यहो ! वरुणस्य दुर्बुद्धिरिति भाव ॥ ६५ ॥

जलाधिप अर्थात् वरुण (पञ्चा०—'लङ्योरभेद' इस वचनसे जडाधिप अर्थात् महाभार्य)
'सहायक अर्थात् दूसरे किसी व्यक्तिके साथ (हो) खोके पास जावे, (फिर दूसरेवा स्त्रीके
विषयमें क्या कहना है ?)' इस नीतिवचनका 'स्त्रीमहित पुरुष दूसरी स्त्रीके किस प्रकार
प्राप्त कर सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं प्राप्त कर सकता' ऐसा प्रतिश्रुत अर्थ लगाकर
'असहाय है हो गये ।' शब्दत्रय-सपूर्व एवान्तेने स्त्रीके पास जानेने विवृत हो सकता है

अनपेक्ष्य दूसरे से माथ ही स्त्री के पाम भी न ना चाहिये' ऐसा नीति है, किन्तु जहाँपि वह जाने 'दिनीयेन सहेति सहद्वितीय' अर्थात् दूसरे के साथ, हम अर्थात् 'सहद्वितीय' शब्दका 'द्वितीयया (अर्थात् भार्या) सहेति सहद्वितीय' अर्थात् भार्या के साथ' ऐसा अर्थ लगाकर 'जो पुरुष भार्या के साथ दूसरी स्त्री के पाम जावेगा, वह उसे (दूसरी स्त्री को) कैसे पायेगा, क्योंकि अथ छाने अनुगत पुरुषको कोई स्त्री भला कैसे वरण कर सकती है ? अर्थात् कदापि नहीं वरण कर सकती' ऐसा विवरण आश्रय उभ नीति का समझकर अमहाय (भार्याहीन) हो रहे तब अर्थात् 'सर्वत्र दूसरे के साथ हा जाना चाहिये इस नीति का उक्त विपरीतार्थ समझकर पहले दमयन्ती को प्राप्त करने की आशाने अपनी भार्या को छोड़कर स्ववचनमें उपस्थित हुए, किन्तु दमयन्ती के नन्हा वरण कर देने पर बड़ा अमरुत होने से अन्तर्द्वारक छोड़ा गयी अपनी स्त्री का लाभ भी अशक्य मानकर वे वर अमहाय (भार्या रहित, पक्षा०—अवेला) हो रहे] ॥ ६५ ॥

वेद्याऽपि दिव्या स्वतनु प्रकाशोचक्रे मुदश्चक्रभूत मृजन्त्या ।

अनिहूतैस्तामवधार्य चिह्नैस्तद्वाचि बाला शिथिलाऽद्भुताऽभून् ॥ ६६ ॥

वेद्येति । अथ ह्यन्दादीना स्वरूपधारणानन्तर, चक्रभूत गगनगतस्य विष्णोः, मुखं हर्षान्, सृजन्त्या उत्पादयन्त्या, देव्या सरस्वत्याऽपि, दिव्या स्वतनु प्रकाशी चक्रे वागी अपि मानुषीऽपमुत्सृज्य निजरूपमाविश्रुतारत्यर्थं, तदा बाला दमयन्ती, अनिहूते प्रकाशितै, चिह्नैः श्रीगाशुक्पुस्तकादिभिः, ताम् अवधार्य सरस्वतीति सम्यक् निश्चिन्त्य, तस्या वाचि श्लेषवर्णोक्तिं यज्ञस्वागुपम्यासे, शिथिलाद्भुता देव्या मानुषीत्वबुद्ध्या तादृशोक्तिविषये प्राक् साश्रयां आसीत्, स्वरूपप्रकाशानन्तर सरस्व यास्तादृशोक्ती न किमपि आश्चर्यम् इति क्षिपिलितविस्मया, अभून् ॥ ६६ ॥

विष्णु भगवान्का ६६ वंशनी हुई (सरस्वती) देवाने भी अपने दिव्य (श्वेत वस्त्र, श्रीगा-पुष्पक-मञ्जुषाणा और अमयमुद्रायुक्त हाथ, एवं हमवादनवाले) शरीरको प्रकट किया, (वाठा०—अनन्तर देवीने भी विष्णु भगवान्का इति करन हुए अपने दिव्य शरीरको प्रकट किया) । (उभ समय) बाला दमयन्तीने प्रकट (उक्त श्रीगादि) चिह्नोंके उभको पहचानकर उसके (श्लेषादिपूर्ण) वचनमें होनेवाले अपने आश्रयको क्षिपिल कर दिया । [जब तब सरस्वतीने अपना दिव्यरूप धारण वहीं किया था, तबन्तक उसके श्लेषादि पूर्ण वचनोंको सुनकर दमयन्तीको बहुत आश्चर्य हो रहा था कि 'ऐसे वचनोंको कोई

१ तदुक्तम्—'मात्रा स्वच्छा दुहित्रा वा न विविक्षासनो भवेत् ।

वल्बानिन्द्रियग्रामो जिह्वासमपि कर्षन्ति ॥' इति मनु । (२।२।५)

अपरञ्च—'कामिनी कामयेदेव निर्जने पितर सुतम् ।

सद्वितीयोऽभ्युपेयात्तामन परिणतामपि ॥' इति ।

२ 'तु तनु' इति पाठान्तरम् । ३ 'मृजन्ती' इति पाठान्तरम् ।

सामांय मानवी नहीं कह सकती, किन्तु सरस्वतीके अपने दिव्यरूप प्रकट करनेपर वो-
पुत्रकादि चिह्नोंसे उसे पहचानकर दमयन्तीका आश्चर्य मंद हो गया, क्योंकि उन्ने
विचारा कि सरस्वती देवीके लिए ऐसे इलेपादिपूर्ण बचनोंका कहना कोई आश्चर्यजनक रा
नहीं है] ॥ ६६ ॥

त्रिलोकये नायकमेलनेऽस्मिन् रूपान्यथाकौतुहलं दर्शयिष्यते ।

वाया बनेन्द्रादिभिरिन्द्रजालविद्याविद्या वृत्तिवधाद् व्यप्राप्य ॥ ६७ ॥

त्रिलोकके इति । अस्मिन् पुरोवृत्तिनि, नायकमेलके वृत्तिसमूहे, त्रिलोक
त्रिलोकनकारिणि सति, रूपान्यथा रूपनानात्व, सैव कौतुक विनोद, तद्दर्शयि
तत्प्रदर्शयै, दृष्टेर्गन्तात्ताच्छीक्रे निनि नै इन्द्रादिभि इन्द्रजालविद्याविद्या
ऐन्द्रजालिज्ञानाम्, वृत्तिवधात् जीविकोच्छेदात् हेतो, बाधा पीडा, व्यथादि
विहिता, घतेति रोद्रे, पतन्महेन्द्रजालाद्भुतावलोकिना राज्ञाम् इन्द्रजालान्तो
अस्या इवयवरसभागताना तदुपजीविना तेषा वृत्तिविच्छेद प्राप्त इत्यहो । सेव
देवमायेति भाव ॥ ६७ ॥

इम राज-समूहके देखते रहनेपर स्वल्पाने परिवर्तनरूप कौतुहलको दिखानेवा
उन लोगों (इन्द्रादि चार दश तथा सरस्वती देवी) ने ऐन्द्रजालिक विद्याके जानकारी
कथाए जादूगरीकी जीविकाकी हानि करनेसे बाधा की, यह रोद (या-आश्चर्य) है ।
[इन्द्रादिक स्वल्पपरिवर्तनको देखनेमें बड़ा उपस्थित राजा लोग बड़ा जीविकार्थ माये ॥
ऐन्द्रजालिकोंका इन्द्रजाल देखनेके इच्छुक नहीं रह गये, अतएव उन ऐन्द्रजालिकोंके
जीविकामें इन्द्रादिने यद बाधा टाल दी । इन्द्रजाल देखने समान इन्द्रादिके स्वल्पपरि
वर्तनको देखकर बड़ा उपस्थित राजा लोग आश्चर्यवर्कित हो गये] ॥ ६७ ॥

त्रिलोक्य तावाप्तदुरापकामौ पररपरप्रेमरसाभिरामौ ।

अथ प्रभु प्रीतमना वभापे जाम्बूनदोर्वीधरसार्वभौम ॥ ६८ ॥

त्रिलोक्येति । अथ साक्षात्कारानन्तर, जाम्बूनदोर्वीधरस्य स्वर्णमयसुमेरुभूष
स्य, सार्वभौम सूर्यस्या भूमेराश्वर, सर्वाध्यक्ष इत्यर्थ, 'सर्वभूमिपृथिवीभ्याम
मर्जी ; इत्यण्-प्रत्यय, 'अनुकृतिकादीनाञ्च' इत्युभयपदवृद्धि, प्रभु महेन्द्र जासदु
रापकामो प्राप्तदुर्लभमनोरथौ, परस्परप्रेम अन्योऽन्यानुराम, स एव रस तेव
अभिरामौ, तौ दमयन्तीनलौ, त्रिलोक्य प्रीतमना सन्तुष्टचित्त सन्, वभापे ॥ ६८ ॥

इसके बाद सुनर्गपर्वन कर्त्ता सुनेत्रके चन्द्रवर्ती (अश्वर) सर्वममर्ध एव प्रसन्नचित्त
(इन्द्र), दुर्लभ मनोरथको प्राप्त किये हुए (अतएव) पारस्परिक प्रेमरस (रत्नम-स्वेदादि
सात्त्विक भाव) में सुन्दर उन दोनों (दमयन्ती तथा नल) को देखकर बोले—[यशस्वर
इन्द्रके 'जाम्बूनदोर्वीधरसार्वभौम' और 'प्रभु' विशेषण वरदान देनेमें पूर्णरूपमें इन्द्रका

‘सामर्थ्यान् होना तथा ‘श्रीनमना’ विशेषण उनका नल-दमयन्तीकी याचना किये बिना वर-दान देनेसे प्रारण नहीं करना सूचित करते हैं] ॥ ६८ ॥

वैदमि । दत्तस्तत्र तादृश वरो दुराव पृथिवीश एव ।

दूत्यन्तु यच्च कृतमानभाय नल । प्रसादस्तथि तन्मयाऽयम् ॥ ६९ ॥

सौ वभापे दूयुक्त तत्र वैदर्भी तादृश, वैदर्भीति ।—हे वैदमि ! तब तावत् पूष पृथिवीश नल एव, दुराव तस्मिन्नुग्रह बिना दुर्लभ, वर दत्त, आपातन-स्तावद्वेष वर, उभयसाधारण्येन तु वरान्तरञ्च भविष्यतीति भाव । नलञ्चाह, हे नल ! तब तु यत् यस्मात्, अमायम् अक्षपट, दूय दमयन्तीविषये दूतकर्म, ‘दूतस्य भागकर्मणो’ इति य-प्रत्यय कृतवान्, तन् तस्मात्, स्वयि विषये, मया अप वक्ष्यमाण, प्रसाद वर, दत्त इति पूर्वानुषङ्ग ॥ ६९ ॥

हे दमयन्ति ! (मने) पहले इस दुर्लभ राजा (नल) को ही वर (पति, पक्षा— वरदान समेत) तुम्हारे लिए दे दिया । (तथा) हे नल ! तुमने जो अक्षपट मेरा दूत कार्य किया, उस कारण तुम्हारे विषयमें मेरा यह (वक्ष्यमाण—१४७०—७१) प्रसाद अर्थात् वरदान है ॥ ६९ ॥

प्रत्यक्षलक्ष्यामवलम्ब्य मूर्तिं हुतानि यज्ञेषु तत्रोपभोक्ष्ये ।

सरोरतेऽस्माभिरधीक्ष्य भुक्तं मत्त हि मन्त्राधिक्रेयभावे ॥ ७० ॥

प्रत्यक्षेति । हे नल ! तब यज्ञेषु प्रत्यक्षेण लक्ष्या द्रव्या, मूर्तिं विग्रहम्, अवलम्ब्य हुतानि दूर्वादि, उपभोक्ष्ये अनुभोक्ष्ये, ‘भुजोऽनवने’ इत्यात्मनेपदम् ईदृशवरेण मम को लाभ ? इति चेत् तत्राह, मशरते इति ।—हि यत् मत्त यज्ञम्, अस्माभि भुक्तम् अधीक्ष्य प्रत्यक्षेण अदृष्ट्वा, मन्त्राधिक्रेयभावे शब्दातिरिक्तदेव सद्भावे, सरोरते ऋदिहते, जना इति शेष । ‘अशरीरा देवता’ इति मीमांसका । तत्तद्देहनिवृत्त्यर्थं ते त्रिग्रह दर्शयिष्यामि, तेन भवतस्तादृशसशयनिरामरूपलाभो भविष्यतीति भाव ॥ ७० ॥

(इन्द्र नलको वरदान देने हैं कि—हे नल !) तुम्हारे यशोंमें प्रत्यक्ष शरीरका धारण कर हम (अन्य देवताओंके साथ मैं, अग्निमें हवन किये गये) हविष्यों का ग्रहण करके, कर्षो कि हम लोगोंमें यज्ञको भोग किया हुआ नहीं देखकर (यजमान याचकमनुद्) मन्त्रातिरिक्त देवत्वमें सन्देह करते हैं । [मीमांसक लोग मन्त्रम अतिरिक्त कर्मममवायी देवत्वको नहीं मानते हैं, अतएव जब हमलोग तुम्हारे यशमें सशरीर प्रत्यक्ष होकर हविष्य भोजन करेंगे, तब लोगोंका उक्त मन्देह दूर हो जावेगा और यह सन्देह-निवारण ही तुम्हारे लिए महान् लाभ होगा] ॥ ७० ॥

भवानपि त्वह्यपिताऽपि शेषे सायुज्यमासादयत् शिवाभ्याम् ।

प्रेत्यास्मि कीदृग्भवितास्मि चिन्ता सन्तापमन्तस्तनुते हि जन्तो ॥ ७१ ॥

अथोभयमाधारणवरमाह, भवानिति । भवानपि स्वञ्च, त्वहयिताऽपि दमय
न्यपि च, शेषे आयुरवसाने, शिवा च शिवश्च ताम्या शिवाभ्या पार्वतीपरमेधराभ्या
सह, 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेष, सयुजो भाव सायुज्य तादात्म्यम्, आमाद्यत
प्राप्नुतम् । आमुष्मिन्कलोक्षी कारणमाह-हि यत, प्रेत्य लोकान्तर गत्वा, अग्नि
अह, कीदृन् भवितारिम कीदृशो भविष्यामि, इति चिन्ता जन्तो अन्त मनसि,
सन्ताप तनुते, तन्निवृत्त्यर्थमुक्तिरिति भाव ॥ ७१ ॥

आप नया आपनो प्रियतमा अर्थात् दमयन्तो भी (भूलोक-भोगनिमित्तक वन्ते)
अन्तमें शिव तथा पार्वतीके साथ तादात्म्यको प्राप्त करें, क्योंकि मरनेके बाद '(मैं) का
होऊगा अर्थात् मैं किम योनिमें जाऊगा ?' यह चिन्ता प्राणीके अन्त करणमें सनाप बढ़ते
हैं । [अत एव मुझमें यह बरदान पाकर तुम्हें भावी जन्मके लिए सन्देश-निवृत्ति शरीर
मनके तापकी शान्तिरूप श्रेष्ठ लाभ होगा] ॥ ७१ ॥

तद्योपवाराणसि नामचिह्नं यासाय पारेऽसि पुर पुराऽऽस्ते ।

निर्वातुमिच्छोरपि तन्न भैमीसम्भोगमद्वोचमियाऽविकाशि ॥ ७२ ॥

तवेति । किञ्च, तव वासाय निवासाय, उपवाराणसि वाराणस्या समापे,
'अव्यय निमित्त'— इत्यादिना सामीप्यार्थे अव्ययीभाव, पारेऽसि असिनाम नदी
तस्या पारे, 'पारे मध्य पट्टया वा' नामचिह्नं त्वच्चाभाङ्कित, पुर नलपुर, पुरा
आगामिनि, स वरमित्यर्थ, 'निकटागामिके पुरा' इत्यमर, आस्ते आसि दत्ते,
भविष्यतात्यर्थ, आसेर्भविष्यदर्थ 'यात्रपुरानिपातयोर्लट्' इति भविष्यदर्थे लट् तत्
पुर, निवानु मोक्तुम्, इच्छो मुमुक्षोरपि, तवेति शेष, भैमीसम्भोगस्य सद्वोचात्
प्रतिबन्धात्, मिया अधिकांशि काश्या, न, भविष्यति शेष । मुमुक्षुरपि एव याव
जीव भैम्या सह नलपुरे विहर, अन्ते काश्या शिवसायुज्यमाप्नुहीत्यर्थ ॥ ७२ ॥

तुम्हारे निवासके लिए काशीके समीप 'असा' (नामकी नदी) के पारमें तुम्हारे नामसे
चिह्नित पुर अर्थात् 'नलपुर' भविष्यमें होगा । मुक्तिके इच्छुक भी तुम्हारे उस पुर (नल
पुर) की दमयन्तीके साथ सम्भागके सद्वोचके अवयव (मैंने) काशा में नहीं किया है ।
[यद्यपि वर्तमानमें तुम्हारा निवासस्थान अयन है, किन्तु भविष्यमें काशीके पास असी
नदीके पारमें 'नलपुर' नामक तुम्हारी राजधानी होगी मुक्ति अभिलाषी तुमको दमयन्तीके
साथ सम्भाग करनेमें सद्वोच (वशी) करनेका मय होगा इस कारणने मैंने काशीमें तुम्हारी
राजधानी नदी बनाकर काशीके पास ही असी नदीके पारमें बनायी है, अत उम राजधानीमें
दमयन्तीके साथ पूर्ण सम्भोग-सुख करके अन्तमें तुम दोनों दम्पति क्रमशः शिव पार्वतीके
सायुज्यको प्राप्त करना] ॥ ७२ ॥

धूमावलिश्मश्रु तत सुपर्वा मुख मर्यास्यादग्निदा तमूचे ।

काश, मत्प्रेक्षापदमाप्येते, पत्न्यास्तमभ्युदयरत्वदीय ॥ ७३ ॥

भूमेति । तत इन्द्रवाक्यानन्तर, धूमावलिरेव श्मश्रूणि यस्य तत्, मत्वास्वाद-
विदा यत्तरसजाना, सुखं सुखमूत, सुपर्वा देव अग्नि, 'अग्निमुखा वे देवा' इति
ध्रुते, न नलम्, ऊचे, तदेवाह—हे नल ! तदीय अम्युदय वृद्धि । मदीक्षामयी
मदीक्षितेन कामधेनु तस्या काम पयायता चोरायता, मन्कटाक्षमात्रेण ते मयार्थं
मिद्धिर्भविष्यतीति भाव । 'कर्तुं क्यद् सलोपश्च' इति पयश्च दादावाराधे क्यद्-
प्रयया वैभाषिक सलोपश्च, 'ओजसोऽप्सरसो नि यमितरेषा विभाषया' इति
वचनम् ॥ ७३ ॥

इम (इन्द्रके वर देने) के बाद धूम-मनुष्यकी दादोवाले तथा यत् (इच्छित) के
स्वादज अर्थात् देवोंके सुखकर देव (अग्नि) उम (नम) से बोच-तु द्वारा मनुष्य मेरी
इष्टिनिर्गती कामधेनुके दुग्गके मनान आचरण करे अर्थात् निम प्रकार कामधेनु का
दुग्ग जनन एवं सत्कारनापक है उनी प्रकार तुम्हारी मनुष्य भा अनन्य एवं सत्कारना
पिका शब्द ॥ ७३ ॥

या दादपाकौपयिकी ननुर्मे भूयात्तद्विच्छादशक्तिर्ना मा ।

तया पराभूततनोरनडात्तस्या प्रनु मन्त्रजिह्वस्त्वमेति ॥ ७४ ॥

येति । दाह भस्मीकरण, पाक नष्टुलविरलेदनादि तयो औपयिकी उपायभूता,
'वितयाद्विज्यष्टक' इति स्वार्थे ठकि ङीप् उपायान् इत्यत्र च या मे तनु सा त्वदि
च्छापा वशवर्तिनी भूयात् । किञ्च, त्व तस्या तनो, प्रभु स्वामी, निषामक मन्
इति यावत्, तथा शिवनेत्रमन्त्रना नन्वा, पराभूततनो दग्गाहान्, हरभ्रष्टान्यनम-
मूर्तिचात् अध्येति भाव, अनङ्गान् अग्नि पृथि भव, न केवल रूपादेवाना
दग्नि, किन्तु तज्जेतुरनेरपि निषामक वेन अग्नि भव इति भाव । अम्मेलोडि
मिपि त्रेधि 'धूमोरेदौ' इत्यादिना णत्वम् ॥ ७४ ॥

(काष्ठादिको) जलाने तथा (चावन्-वाल आदिको) एकानेका साधनभूत जो मेरा
शरीर अर्थात् पाकाभि है, वह तुम्हारे वशीभूत होवे और उम (पाकाग्नि) के स्वामी तुम
(शिवनेत्रमन्त्र-शी) उम अग्निने नले हुए शरीरवाले कामदेवमे अग्नि (श्रेष्ठ या सुन्दर)
होवो । [जहा अग्नि नहा हो, वहा भा तुम्हारी इन्द्रमात्रमे अग्नि उत्पन्न हो जाय तथा
पशुने हा तुम कामाधिक सुन्दर थे, किन्तु अब कामदेवके विजयी उम अग्निको भी वशी-
भूत करनेमे अब उम कामदेवमे और भी अग्नि श्रेष्ठ होवो] ॥ ७४ ॥

अस्तु त्वया साधितमन्त्रमीनरसादि पीयूषरसातिशायि ।

तद्भूष । विद्यस्नव सूपकारक्रियासु कानूडलशालि गीर्लम् ॥ ७५ ॥

अस्तिचि । किञ्च, हे भूष । त्वया साधित पक्वम्, अन्न शाक्यादि, मीनरस
मस्यादीना रस, मीनेति मास्योपलब्धग, तौ आदि यस्य, आदिशब्दात् सूपशका

१ 'चित्तम्' इति पाठान्तरम् ।

प्रम्वचित प्रचेता अर्थात् वरुण (पक्ष्म) — उन्नत चित्तवाला) इस राधा (नन्दा) मन्दहासने शोभमान वचन बोले—‘इमं समयं दग्धवन्ताको देकर उसके दहेजके कौतूहल तुमको न दो वर देता हूँ ॥ ७० ॥

यत्राभिलापस्तथ तत्र देशे नन्यस्तु धन्वन्त्यपि तूर्णमर्ण ।

आपो यन्न्तीह हि लोकयात्रा यथा न भूतानि तथापराणि ॥ ७१ ॥

नाथय तरावाह, चनेत्यादि । ननु भो मल ! यत्र देवो तत्र धमिलाप कहेर तत्र धन्वि मररथेऽपि, ‘सन्तानौ मरधन्वानौ’ इत्यमर । तूर्णम् आशु, अर्णं अमर, अस्तु उद्भवतु । अस्य वरस्य श्लाघ्यतामाह—इह लोके, यथा आप लोकस्य जनस्य, यात्रा जीवन, ‘गमने जावने यात्रा’ इति वजयन्ती । वहन्ति प्रापयन्ति, तथा अपराणि धन्यानि भूतानि पृथिव्यादीनि, न हि, वहन्ति इति पूर्वानुपपन्न, यदाह चाग्रमठ— ‘पार्श्वे प्राणिना प्राणा विधमेतच्च तन्मयम्’ इति । अतः श्लाघ्याऽयं वर इति भावः । अत्र पर तुम्हारी इच्छा हो, उस मरुस्थलमें भी शीम हो पानी हो आवे, क्योंकि पानी लोगोंके जीवनका जैसा कारण है, वैसा अन्य कोई भूत (पृथ्वी, वायु, तेज तथा अग्नि) श-इनमेंसे कोई द्रव्य (कारण नहीं है, (इसी वल्ले मरुस्थल—जैसे देशमें भी शीम हो पानी प्राप्त कर सकनेका यह प्रधान वर मैं तुमको देता हूँ) ॥ ८० ॥

प्रसारिताप शुचिभानुनाऽस्तु मरु समुद्रत्वमपि प्रपद्य ।

भवन्मनस्कारललोद्गमेन क्रमेत्तकानां निलय पुरेव ॥ ८१ ॥

प्रसारितेति । किञ्च, मरु निर्जलस्थल, भवन मनस्कार चित्ताभोग, समर सुखतत्परता इत्यर्थ, सुखलाभेच्छा इति यावत्, ‘अतः कुरुमि—’ इत्यादिना सत्वम् तस्य एव लेश, तस्य उद्गमे सति, इति सप्तम्यन्तच्छेद, इति नन्वाणा जलजन्तुवि शेषाणां मेलन एव मेलनं सद्वा, तेषां निलय आवास, तथा शुचिभानुना शुभ्राणाम् अन्धेन, प्रसारिता सबद्धिः, आप यस्य स तादृश प्रसारितापश्च सन् ‘कुरुपूर—’ इत्यादिना समासान्तः । समुद्रत्व प्रपद्यापि प्राप्यापि, भवन्मनस्कारल लोद्गमेनेति तृतीयान्तच्छेद, पुनश्च त्वद्विदुःप्राप्तेर्भवेत्यर्थ, क्रमेत्तकानाम् उद्गमां, निलय मन्, ‘उद्गा मरप्रिया’ इति प्रसिद्धि, तथा शुचिभानुना ग्रीष्मसूर्येण ‘शुचि’ शुभ्रेऽनुपहतं ग्रीष्मे हुनवरेऽपि च’ इति विश्व । प्रसारिताप अपसारितोदरश्च सद्, प्रगरसन्ताप सन् इति वा पुरेवासु पूर्ववत् निर्जल एव भवतु ॥ ८१ ॥

तु हार सुपच्छावे लेशमात्र होने पर (जोदा भी सुख प्राप्तिकी इच्छा होने पर) मरु स्थल नार-सन्तुहीका निवास स्थान, चन्द्रमासे बढने हुए जलवाले समुद्रत्वको प्राप्तकर अथवा समुद्र बनकर भी तुम्हारी थोड़ी-सी इच्छासे ऊठेका निवासस्थान सूर्य किरणने सुताये गये अन्वाण (अथवा—वटवागिनकी ज्वालामे विस्तृत सन्तापवाला) पड़लेके समान वरुणको देा जोव । प्रधान अर्थ करने समय ‘भवन्मनस्कारललोद्गमेन, नर्कमेत्तकानाम्’ इस

प्रकार तथा द्वितीय अर्थ करते समय 'भवन्मनस्कारलबोदगमेन, क्रमेत्कानाम्' इस प्रकार पदच्छेद करना चाहिये । चन्द्रोदय होनेपर समुद्रके जलका बढना तथा उसमें मगराका निवास होना और मरुभूमिका मूर्धे किरणोंसे सन्तप्त होना तथा ऊँटोंका अतिशय प्रिय होना सर्वत्रिदिन है ॥ तुम्हारी सुखच्छामात्रमे ही मरुभूमि समुद्र बनकर अर्थात् बहुत जलसे परिपूर्ण होकर भा पुन इच्छामात्रमे मरुस्थल बन जावे] ॥ ८१ ॥

अम्लानिरामोदभरश्च दिव्य पुष्पेषु भूयाद्भवदद्भसद्भात ।

दृष्ट प्रसूनोपमया मयाऽन्यन्न धर्मशर्मोभयकर्मठ यत् ॥ ८२ ॥

द्वितीय वरमाह, अम्लानिरिति । हे मल ! भवत अद्भुतसद्भात् करस्पृशात् एव, पुष्पेषु अम्लानि अम्लानता, दिव्य स्वर्गाय, यामोदभरश्च सौरभातिशयश्च, भूयात् । अस्य वरस्य श्लाघनामाह—यत् यस्मात्, प्रसूनोपमया पुष्पसाग्रेण, धर्मशर्मणो सुहृन्सुखयो, उभयस्मिन् हृदयेऽपि, कर्मणि घटते इति कर्मठ कर्मशूर, कर्मक्षममित्यर्थ, 'कर्मशूरस्तु कर्मठ' इत्यमर । 'कर्मणि घटोऽटच्' इति अटच्-प्रत्यय, अन्यत् धनपुत्रादिवस्तु, मया न दृष्टम्, सुरार्चनस्योपमोगाभ्यामिहामुत्र च पुष्पस्योपयोगाच्छ्लाघ्योऽयं वर इति भाव ॥ ८२ ॥

(वरमा वर यह है कि—) तुम्हारे शरीरके समर्पने पुष्पों (पुष्पमालाओं) में अम्लानता तथा दिव्य अतिशय सुगन्धि होवे अर्थात् तुम्हारे शरीरकी मात्सा आदिके फूल कभी नहीं मुरझावें और उनमें कल्पवृक्षके फूलोंके समान दिव्य अधिक सुगन्धि होवे, क्योंकि पुष्पके मान धर्म (देवादि पूजनादिरूप पुण्यकार्य) तथा शर्म (स्वशरीरसत्कारादिरूप सुखमन्नादन कार्य)—इन दोनोंमें कर्मठ (कर्मशूर अर्थात् काम पूरा करनेमें सर्वदा समर्थ) अन्य कोई वस्तु मैंने नहीं देखा । [पुष्प ही देवपूजनादि धर्मसम्बन्धी तथा शरीरसत्कारादि सुखमन्मन्त्री कार्योंके साधनेमें समर्थ होते हैं, उनके समान धर्म-शर्म-साधक दूसरा कोई पदार्थ नहीं है, इसी कारण मने अपने अनुभवके द्वारा तुम्हारे शरीरके सत्पाने पुष्पोंके स्थान नहीं होनेका तथा उनसे दिव्य अतिशय सुगन्धि निकलनेका दूसरा वर दिया है] ॥ ८२ ॥

वाग्देवताऽपि स्मितपूर्वमुर्वीसुपर्वराज रभमाद्बभापे ।

त्वत्प्रेयसीमम्मदमाचरन्त्या भक्तो न किञ्चिद् ग्रहणोचितं ते ? ॥ ८३ ॥

व्रामिति । वाग्देवता पि उर्वीसुपर्वराज भूदेवेन्द्र नल, रभमात् हर्षात् 'रभसो वेगहर्षयो' इति त्रिष्व । स्मितपूर्वं यथा तथा बभापे । अथ रजस्या आसक्त्यपूर्वकं स्वदेयस्य वरस्य अपरिहार्यत्वं तावत् सार्द्धश्लोकराह, त्वदिति । त्वप्रेयस्या दमयन्त्या, सम्मद हर्ष, त्वद्वरणरूप प्रियमित्यर्थ, 'प्रसदसम्मदौ हर्षे' इति अप् निपात, आचरन्त्या दुर्वन्त्या, अत एव भक्तो मत्प्रकाशात्, 'पञ्चम्यास्तसिल्' इति रज्ज्वगर्थे तसिल् प्रत्यय, ने तव, किञ्चित् ग्रहणोचितमाप्तत्वेन स्वीकारार्हम्, अथच ग्रहणोचित ज्ञानयोग्य, न ? अपि नु ग्रहणमुचितमेव, अतो भक्त किञ्चित् ग्राहमित्यर्थ ॥

सरस्वती देवी भी मन्दहासपूर्वक रूपसे भूपति (नल) के प्रति बोली-तुम्हारा परम प्रिया (दमयन्ती) के अ अधिक हृषका सम्पादन करती हुई मुझसे तुम्हें कुछ (वरदान) उद्दिष्ट करना उचित नहीं है ? अर्थात् तुम्हारी परमप्रिया दमयन्तीकी अतिशय इर्ष्या करने वाली मुझसे भी तुम्हें कुछ वरदान उद्दिष्ट करना ही चाहिए (अथवा—अब मैंने तुम्हें ही तुम्हारी परमप्रिया दमयन्तीके लिए देकर उसका परमानन्द सम्पादन किया तो अब मुझे कुछ वस्तु तुमको नहीं लानी चाहिये) । [ऐसा परिहास दमयन्तीकी सखी बनी हुई मरत्स्यै ने किया, दुःखिनि दमयन्तीकी सखी सरस्वती देवीका दुःखे नम्रस उक्त परिहास करना उचित ही है । परन्तु अग्रिम श्लोकार्थकी सङ्गतिके लिये प्रथम अर्थ ही सुस्पष्ट है]

अर्थो विनैवार्थनयोपसौदन्नन्पोऽपि धीरैरवधीरणीय ।

मान्येन मन्ये विधिना प्रीतिर्ण स प्रीतिदायो बहु मन्तुमर्ह ॥८४॥

अर्थ इति । किञ्च, अर्थनया याच्नादेभ्येन, विनैरुपसौदन् उपनमन्, अथ अपि अर्थं हितार्थं, धीरैः प्रेक्षावद्भिः, अवधीरणीय उपेक्ष्य, न, परन्तु स्वीकरणीय एव, कथं नावधीरणीय ? इत्याह—अत्र यस्मात् इति पदमूहनीयम्, यस्मात् मान्येन पूज्येन, विधिना ब्रह्मणा एव, तृतीयं दत्तं, दीयते इति दाय कर्मणि घञ् प्रत्यय, 'आतो युक् विण्कृतो' इति युगागम, प्रीत्या दाय 'वक्तृकरणे कृता-' इति सप्तम्य, प्रीतिदानरूप, स अर्थः, बहु अधिक, इति मन्तुम् अवगन्तुम्, अर्ह इत्यहं मन्ये ॥ ८४ ॥

विद्वानोंकी बिना याचना किये ही मिलनेवाले छोटे-से भी फल (हितकर कार्य) को उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, (किन्तु उसे स्वीकार ही करना चाहिये, क्योंकि माननीय देव (या मन्त्रा) के दिये हुए प्रेमपूर्वक दानको 'बहुत है' ऐसा मानना चाहिये । [बिना याचने मिले ही प्रेमपूर्वक दी गयी जो छोटी भी वस्तु भाग्यसे प्राप्त होती हो, उसका छोटी होनेसे त्याग न कर उसे बहुत उत्तम मानकर स्वीकार करना चाहिये] ॥ ८४ ॥

अग्रामा वामाङ्गैः सकलभुभयाकारघटनाद्-

द्विधाभूत रूप भगवदभिधेय भवति यन् ।

तदन्तर्मन्त्र मे स्मर हरमय सेन्दुममल-

निराकार शशज्जप नरपते । सिध्यतु स ते ॥ ८५ ॥

अथ वरस्वरूपमेव पञ्चभिः प्रपञ्चेनाह, अवामेत्पादि । नरपते । हे नरेन्द्र ! अर्द्धं एकभागो, अग्रामा अङ्गी, पुमानित्यर्थं, पुन अर्द्धं अर्द्धभागान्तरे, वामा स्त्री, अत एव द्विधाभूत स्त्रीपुंसामकम्, उभयाकारघटनात् उभयो आकारयो मेलनात्, सकल सम्पूर्ण भगवदभिधेय भगवच्छब्दवाच्यं यत् रूप भवति विद्यते, सेन्दुम् इन्द्रकुला ममेतम्, अमल निर्मल, निराकारं परमार्थतः निरञ्ज, मन्त्र मन्त्रात्मक, तद्वत् शोभ्यं वा हरमयम् ईश्वरात्मकं, मे मम, तत् रूप, स्वरूपमित्यर्थं, अन्त अन्त करणे, स्मर

चिन्तय, शब्दन् निरन्तर, उप मन्त्रामकृत्वात् उपरूपेण च उपास्त्व, स मन्त्रमूर्ति-
मगवान् अर्द्धनारीश्वर, ते तत्, सिष्यन् प्रसीदन्, फलन् इत्यर्थः । मन्त्रस्य तु—अर्द्ध-
प्रथमभागे, अवा ओकारेण, मा मकारेण, प्रगवेन इत्यर्थः, तथा अवामाऽर्द्ध अर्द्ध-
उत्तरभागेऽपि, अवा ओकारेण, मा मकारेण चोपलङ्घित, प्राग्वद्द्वयसंयुतिमिष्य,
एवमुभयाकारघटनात् उभयाम्भ्याम् अकाराम्भ्या घटनात् संयोगान्, द्विषामून् ह र
इति द्विषा विभक्तम् अथवा उभयाम्भ्यामाकाराम्भ्या, प्रगवस्वरूपाया, घटनात् संयु-
टीकरणान्, द्विषामून् द्वयाकार, मगवद्भिधेय मगवान् शिव, अभिधेयो वास्यो
यस्य तन् शिववाचक, यत् रूप भवति ओं हर ओम् इति यत् स्वरूप मिष्यत्तने, नत्
हरमप हकाररेफामक, निराकारम् अथ अथ नौ ओ, तयोराकार स्वरूप, निर्गन्तौ
रहितौ, अकारद्वयौ यस्मात् तादृश, हकाररकारयोर्हकारण्यं यत् अकारद्वय तच्छृ-
न्यम्, अत एव 'ह' इति व्यञ्जनवर्गमात्रमकमिष्य, तथा हं च हन्तुश्च ताम्भ्याम्
हन्तुभ्या सह वृत्तते इति तारसा सेन्दु तुरीयस्वरविन्दुमहितम्, अमल निर्दोष, सकल
कल्या अर्द्धचन्द्रेण सहित, मे मदीय, मन्त्र प्रगवद्द्वयसंयुति मों हौं ओम् इत्या-
कारक सारस्वतचिन्तामणिमन्त्रमिष्य, तदुक्त पारमेश्वरे,—‘उद्धारस्तु परोक्षे परो-
क्षप्रियताश्रुते । शिवान्यवह्निमयुक्तो प्रकृद्विजयमन्त्ररा ॥ तुरीयस्वरशोताश्रु-रेवा-
नारात्ममन्त्रित । एष चिन्तामणिर्नाम मन्त्र सर्वायमाधक ॥ जगत्मातु मरस्वत्या
रहस्य परम मतम् ॥’ इति शिवशब्देन हकार, वह्निशब्देन रकार, प्रकृद्विजयम-
न्त्ररा प्रगवद्विजयमधे, तुरीयस्वरेण ईकार, सीताश्रुत्वया अर्द्धचन्द्र, ताराशब्देन
विन्दु इत्यर्थः । अन्तरिषादि पूर्ववत् । मन्त्रस्ये—मगवत् योनीव, अभिधेय इत्यर्थः,
यत् रूप त्रिकोणारयम्, उभयाकारघटनात् त्रिकोणद्वयमेलनात्, सकलं सन्तूर्ण, पट-
कोणमित्यर्थः, भवति, तदन्त तस्य पट्कोणस्यान्तर्मध्ये, मन्त्रम् ओं हौं ओम् इत्या-
कारकम् । अन्तरोक्त, नरपते इत्यादि पूर्ववत् । अत्र देवनामन्त्रपन्त्राणा श्रयागा-
मपि प्रकृतत्वाद् केवलप्रकृतस्वरूपोऽलङ्कार । शिखरिणी उत्तम् ॥ ८१ ॥

आधे अर्थात् दहने माने पुनश्च तथा आधे अर्थात् बाधे मात मे स्त्री, (अन्व स्त्री-
पुनश्चानक) दा मागवाला, (परन्तु बान्धवने) दोनों आकारोंके मिश्रनेने मन्त्र, मा
वदाव्य ('शिव' नामने कदा जानेवाला) वो रूप होता है, है रात्रन् (नड) ' चन्द्रपुन-
निर्नन् (शुभ्रवा), निराकार (दो मन्त्र प्रतीत होनेपर भी वास्तविकने अवयवहीन),
मन्त्रतुल्य गोपनीन (या-मन्त्ररूप), दधरा (शिवा-रूपक नेरे उस रूपको अन्तरकारने
चिन्तन (ध्यान) करो, उपो अर्थात् अदभ्यमे उपासना करो, मन्त्रमूर्ति वह (मगवान्
शिव) तुष्ट सिद्ध (फलदाता) हो । मन्त्ररचने—आधे (पूर्व) मन्त्रे ओकार तथा
मकारमे तथा उत्तर माने ओकार तथा मकार से उपलब्ध अर्थात् आदि और अन्तने
'ओं' रूप प्राग्ने युक्त, दो आकारोंके घटना (संयोग) से दिषामून् ('ह र' इस प्रकार
विभक्त । अथवा—दोनों आकार अर्थात् प्राग्नेके मन्त्रोक्ताने दो आकारवाला, शिव

वाचक, ('ओं हर ओम्' ऐसा) जो रूप होता है, वह 'हर' मय अर्थात् हकार-रेफामक ('ह, र' रूप), निराकार अर्थात् दोनों अकारोंसे रहित (ह् र् अर्थात् र् = केवल व्यन्जन हकाररेफस्वरूप), ३ और इन्दु (चन्द्र अर्थात् गोलाकृति (अनुस्वार) से युक्त) अर्थात् 'टा' देसे रूपवाला, कलायुक्त अर्थात् 'हो' (हम प्रकार 'ओं हो' ओ' स्वरूप) मेरे मन ('चिन्तामणि' नामक सारस्वत मन्त्र) का मनमें नित्य जप करो अर्थात् मानसिक' जप करो, वह 'चिन्तामणि' नामक सारस्वत मन्त्र तुम्हें सिद्ध होवे । यन्त्रपद्धतिमें—मग कर्ण दोनिके समान दृष्टिगोचर होनेवाला अर्थात् त्रिकोण, दो आकृतियोंकी घटनाने सम्पूर्ण अर्थात् षट्कोणस्वरूप और उस (षट्कोण) के बीचमें उक्त मन्त्र (ओं हो ओं) से युक्त ने सारस्वत यन्त्रकी नित्य उपामना करो, वह यन्त्र तुम्हें सिद्ध होवे (शेष अर्थ पूर्ववत् जाना चाहिये) ॥ ८१ ॥

सर्वाङ्गीणरमामृतस्तिमितया वाचा म वाचस्पति
स स्वर्गीयमृगीदृशामपि वशीकाराय मारायते ।
यन्मै य ऋषयत्यनेन म तदेवाप्रोति किं भूयसा
येनाय हृदये कृत सुकृतिना मन्मन्त्रचिन्तामणि ॥ ८६ ॥

सम्प्रति श्लोकद्वयेन मन्त्रमाहात्म्यमाह, सर्वाङ्गीणेत्यादि । येन सुकृतिना पुण्या धिकेन, अथ पृथगेन, मन्मन्त्र एव चिन्तामणि चिन्तामात्रेण चिन्तितवस्तुदायक मणिस्वरूप इत्यर्थ, हृदये कृत अनुस्मृत, म अनुस्मरणकारी, सर्वाङ्गीणेन सर्वाङ्गस्यापिना, 'तत् सर्वाङ्गे —' इत्यादिना ग-प्रत्यय, रस शृङ्गारादिरेव, अमृत तेन स्तिमितया भरितया, वाचा काव्यादिरूपवाग्वैदग्ध्येन, वाचस्पति बृहस्पति, तस दृशो भवतीत्यर्थ । 'तापुरपे कृति बहुलम्' इति पद्या अलङ्कारवादिवात् सारम् । 'पद्या पतिपुत्र—' इत्यादिना विसर्जनीयस्य सचमिति स्वामी, तच्च,

१ तदुक्त हारीतेन—

'त्रिविधो जपयज्ञ स्यात् तस्य तत्त्वं निबोधन ॥
वाचिकश्चाप्युपाशुश्च मानसश्च त्रिधाऽऽकृति ।
त्रयाणामपि यज्ञानां श्रेष्ठं स्यादुत्तरोत्तरं ॥
यदुत्तरीचोच्चरितं शब्दं स्पष्टपदाक्षरं ।
मन्त्रमुच्चारयेद्वाचा जपयज्ञस्तु वाचिक ॥
दानैरुच्चारयेन्मन्त्रं किञ्चिदोष्ठीं प्रचालयेत् ।
किञ्चित्पूजयाम्य भ्यात्म उपाशुर्जपं स्मृत ॥
धिपा पदाक्षरश्रेण्या अवर्गमपदाक्षरम् ।
शान्दार्थचिन्तनाम्यां तु तदुक्तं मानसं स्मृतम् ॥'

इति । (हारीतस्मृति ४।४०—४४)

अस्य हृन्दोविषयत्रादिति । एव स स्वर्गे भवा स्वर्गाया, 'वा नामधेयस्य—' इति वृद्धत्वाच्छ्रुत्ययः । तासां सृगोदशा स्त्रीगामपि, वशीकाराय वशीकरणाय, मारायते मार कन्दर्प इव नाचरति, न केवलं विदग्धत्वाक् स्त्रीवशीकरणसमर्थोऽपि चेत्यर्थः । यद्वा, भूयसा बहुतरोक्तेन, किम् ? य यस्मै स्पृहयति यत् कामयते, 'स्पृहेरीप्सित' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । स कामी, अनेन मन्त्रेण, तदेव, तत् सर्वमेव आप्नोति, यतोऽयं चिन्तामगिरिति भावः ॥ ८६ ॥

हम (पूर्वोक्त) 'चिन्तामणि' नामक मेरे मन्त्रको (अथवा—'चिन्तामणि' (चिन्तिन फल देनेवाले रत्नविशेष) रूप मेरे मन्त्रको, अथवा—मेरे मन्त्ररूप चिन्तामणिको) जिम पुण्यात्मा (या—पुरश्चरणादि सत्कर्मकर्ता) ने हृदयमें (चित्तमें, पक्षा०—छातीपर) किया, वह सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त (शुद्धारादि नव) रसस्वी अनुभूते भाद्र (सुमधुर, या सरस) वचन (काव्यादि) से बृहस्पति अर्थात् बृहस्पतितुल्य (या—बृहस्पति ही) होगा है, वह स्वर्गीय मृगलोचनाओंको वशीभूत करनेके लिए कामदेवतुल्य आवरण करता है अर्थात् उसे देखकर लवची-मेनकादि स्वर्गीय देवाङ्गनाएँ कामापीन हो जाती हैं । अधिक (अन्यान्य मन्त्रों, या बहुत कहने) से क्या प्रयोजन है ? जो जिसको चाहता है, वह उसे ही प्राप्त करता है । [अब एव है नख । तुम इसी 'चिन्तामणि' नामक मेरे पूर्ण— (१४।८५) मन्त्रको हृदयमें धारण करो] ॥ ८६ ॥

पुष्पैरभ्यर्च्य गन्धादिभिरपि सुभगैश्चारु हसेन मा चै

न्निर्यान्तीं मन्त्रमूर्तिं जपति मयि मतिं न्यस्य मय्येव भक्तः ।

सम्प्राप्ते वरमरान्ते शिरसि करमसौ यस्य कस्यापि धत्ते

सोऽपि श्लोकानकाण्डे रचयति रुचिरान् कीतुक दृश्यमस्य ॥ ८७ ॥

पुष्पैरिति । किञ्च, मयि भक्त भक्तियुक्त सन्, मय्येव मतिं न्यस्य मनो निधाय, हसेन, वाहनभूतेन, चारु सम्यक्, निर्यान्तीं सञ्चरन्तीं, मन्त्रमूर्तिं मन्त्ररूपा, मा सुभगै मनोज्ञै, पुष्पै तथा गन्धादिभिरपि चन्दनादिसुगन्धिद्रव्यै, आदिशब्दात् धूपाद्युपचारैश्च, अभ्यर्च्य जपति चेत् तर्हि वरमरान्ते सम्प्राप्ते सति असी जपिता, यस्य कस्य अनन्तरस्यापि, शिरसि कर धत्ते निधत्ते, स अनन्तर अपि, अकाण्डे अकस्मात् रुचिरान् श्लोकान् रचयति, अस्य मन्त्रस्थ, एतत् कीतुकम् अद्भुत, दृश्य द्रष्टव्यम् ॥

सुन्दर वसतामिनी एव मन्त्ररूपिणी अर्थात् षट्कोणावृत्तिं व्यवस्यवर्तिनी, या मन्त्र मध्यगन शरीरशाली मुझको सुन्दर पूर्णों तथा गन्धादि (चन्दन धूपादि सुगन्धियों) से पूजा करके मुझमें बुद्धि लगाकर अर्थात् चित्तको एकाग्रकर तथा मेरा ही भक्त होकर अर्थात् सब प्रकार मेरा ही सेवन करना हुआ (साधक मेरे मन्त्रको) जपता है, तब एक वर्षके बाद वह जपकर्ता जिस किमी (मूक, मूर्ख आदि) के भी मस्तक पर हाथ रखता है, वह (मूक, मूर्ख आदि जन) भी अकस्मात् (रसरोतिगुणान्धारादि) मनोहर श्लोकोंकी रचना

करने लगता है, कन एव (हम मन्त्रको नपकर तुम) इसके कौतूहलको देखो ॥ ८७ ॥

गुणानामास्थानीं नृपतिलक । नारीतिविदिता

रसस्फीतामन्तस्तव च तव वृत्ते च कवितु ।

भवित्री वैदर्भीमधिकमधिकण्ठ रचयितु

परीरम्भक्रोडाचरणशरणामन्त्रहमहम् ॥ ८८ ॥

अथ श्लोकद्वयेन नल प्रत्युपयोगविग्रहमाह, गुणानामित्यादि । नृपतिलक । ह नृपश्रेष्ठ । गुणानां रूपलक्षण्यार्थानां, रलेपप्रसादादीनाञ्च, आस्थानीम् आधारभूतां, नारी उत्तमस्त्री, इति विदिता विधुताम्, अन्यत्र-रीतिषु गौडीपाञ्चाल्यादिषु, विदिता प्रसिद्धा, सा न भवतीति नारीतिविदिता, नम्रसमास । साऽपि न भवतीति ता नारीतिविदिता रीतिषु विदितामित्यर्थं नम्रार्थस्य न-शब्दस्य सुसुपेति समास । अन्य मनसि, श्लोकमध्ये च, रसस्फीता रसेन नलविषयकानुरागेण, स्फीता परि पूर्णाम्, अन्यत्र—शृङ्गारादिरसाख्या, 'शृङ्गारादौ विपे वीर्ये गुणे रागे ब्रवे रस' इत्यमर । वैदर्भी इमयन्ती, वैदर्भरीतिञ्च, यथासङ्ग्य तव च नलस्य च, तव वृत्ते च चरित्रविषये च, कवितु वर्णयितु, श्रीहर्षादिकवेरित्यर्थं, 'कन वर्णने' इति धातोस्तृच् । अधिकण्ठ कण्ठे, विमर्शार्थेऽभ्ययीभाव । परीरम्भक्रोडाचरणम् आलिङ्गनविमोदाचरणमेव, शरण प्राग्वत्राण यस्या ता तदेकजीविताम्, अन्वहम्, अनुविनम् । यथाभ्येऽभ्ययीभाव, 'नपुसकादन्यतरस्याम्' इति समासान्तष्टच्, 'अङ्गष्टोरेव' इति टिलोप । अधिकम् अत्यर्थं, रचयितु कर्त्तुम्, अह भवित्री भविष्यामीत्यर्थं ॥ ८८ ॥

हे राजश्रेष्ठ (नल) । सौन्दर्यादि गुणोंके आधारभूत, 'नारी' ऐसी प्रसिद्ध भर्ता 'लोकमें यही एक श्रेष्ठ नारी है' ऐसा प्रसिद्ध, हृदयमें रस (स्वविषयक अनुराग) से परिपूर्ण दमयन्तीको (पञ्चा०—दलेषादि तथा प्राज्ञादि गुणोंके आधारभूत, भराठि (वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली रीतिमें भिन्न) नहीं अर्थात् उक्त रीतित्रयसे सुप्रसिद्ध, (श्लोक—एव) के मध्यमें शृङ्गारादि नव रसोंसे परिपूर्ण 'वैदर्भी' (स्वस्वसमासवाली, या असमाम वाली चीन रीतियोम—से प्रसिद्ध रीति—विशेष) को तुम्हारे तथा तुम्हारा चरित्रकी कविता करने वाले (श्रीहर्षादि कवियों) के कण्ठमें आलिङ्गन (सुगुणादि) क्रीडाश्रे करना ही जिसका जीवन है ऐसी (अथवा—आलिङ्गन (सुगुणादि) क्रीडाके लिये, तुम्हारा चरण हा है शरण जिसका ऐसी अर्थात् आलिङ्गनादि क्रीडार्थ तुम्हारे चरणों की सेवाको शरण मानने वाली, पञ्चा०—परीरम्भ (दलेषालङ्कार) तथा क्रीडा (वक्रोक्ति—विलास) का यथावत् दान ही जिसका शरण (आधार) है ऐसी कविता) करनेके लिए अर्थात् करानेवाली प्रतिदिन होगी । [उक्त सौन्दर्यादि गुणविशिष्ट दमयन्ती तुम्हारे कण्ठमें आलिङ्गनादि क्रीडा जिस प्रकार करे वैसा मैं प्रतिदिन करनेमें प्रयत्नशील रहूँगी, पञ्चा०—उक्त दलेषादि गुणयुक्त वैदर्भी रीतिवाली तुम्हारे चरित्रकी कविताको करनेवाले कविके कण्ठमें एव—

वक्तोक्ति आदिसे परिपूर्ण ज्ञानको करने के लिए मैं प्रतिदिन प्रयत्नशील रहूँगी ॥ इस पद्यमें कविकुलशिरोमणि ग्रन्थकार 'श्रीहर्ष' महाकविने यद्वा पर अपनी रचना को प्रसादादि गुणयुक्त, रोनियों से प्रभिन्न, श्रद्धादि रसाप्लावित, मुख्यतः 'वैदर्भी' रीतियुक्त इत्येव वक्तोक्ति आदि ज्ञान की आधारभूत रचना करनेमें साक्षात् सरस्वतीदेवाने सहायताकी है यह सूचित किया है ॥ ८८ ॥

भद्रदूधूत्तमोत्तुर्मदुपहितकण्ठम्य कवितु-
मुत्तात् पुण्यै श्लाकेस्त्रयि धनमुदेय जनमुदे ।

तत पुण्यश्लोक क्षितिभुवनलोकस्य भविता

भवानाख्यात सन् कलिकलुपहारी हरिरिव ॥ ८९ ॥

भवद्भि । किञ्च, हे नल ! मया उपहितकण्ठस्य, अधिष्ठितकण्ठनालस्य, भवत वृत्तस्य चरित्रस्य स्तोत्र स्तावकस्य, कविषु कवे, मुखात् स्वयि विपये, पुण्ये पवित्रे चारुभिर्वा, 'पुण्यन्तु चार्वपि' इत्यमर । श्लोक पद्य, जनमुदे लोकदर्पाय, धन निरन्तरम्, उदेयम्, उदेतम्यम्, उदीयतामित्यर्थ । एते 'अचो यत्' इति यत्-प्रत्यय । तत् को मे लाभ ? तच्चाह, तत् इति । तत् पुण्यश्लोकोदयात्, भवान् पुण्यश्लोक पुण्यकीर्ति, इति आख्यात कीर्तित सन्, हरि जनार्दन इव, क्षिति भुवनलोकस्य भूलोकस्य, कलिकलुपहारी कलिकालकर्मपनाशन, भविता भविष्यति, भवतेर्लुङि 'क्षेपे प्रथम' । अत्राहु, — 'पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिर । पुण्यश्लोका च वेदही पुण्यश्लोको जनार्दन ॥' 'कर्कोटकस्य नामस्य दमयन्त्या नलस्य च । ऋतुपर्णस्य राजर्षे कीर्तन कलिनाशनम् ॥' इति ॥ ८९ ॥

मुझमें अधिष्ठित कण्ठवाले (जिसके कण्ठमें मे (सरस्वती देवी) वास करती हूँ ऐसे) तथा तुम्हारे चरित्र की स्तुति (प्रशंसा) करनेके लिए कविता करनेवाले (कवि) के मुखमें स्वादिष्यक सुन्दर श्लोक लोगोंके हर्षके लिए अत्यन्त (या निरन्तर) उदित होंगे, (अथवा—लोगों के अत्यधिक हर्षके लिए उदित होंगे) अर्थात् तुम्हारी प्रशंसाके सुन्दर श्लोक अत्यधिक लोगोंको हर्षप्रद हों और उस कारण (अथवा—उमके बाद) तुम कलिकालके पापको हरण करनेवाले विष्णुके समान (अथवा—विष्णुके समान कलिकालके पापका हरण करनेवाले तुम) भूतलनिवासी लोगोंके 'पुण्यश्लोक' (पवित्र श्लोक या कीर्तिवाला) ऐसा प्रसिद्ध होवोगे । (अथवा—'पुण्यश्लोक' ऐसा प्रसिद्ध तुम कलिकाल के पापहर्ता विष्णुके समान भूतलनिवासी लोगोंके होवोगे । अथवा—'पुण्यश्लोक' ऐसा प्रसिद्ध तुम विष्णुके समान भूतलनिवासी लोगोंके कलिकाल के पापनाशक होवोगे) ॥ ८९ ॥

देवी च ते च जगदुर्जगदुत्तमाङ्गराज्य ते कथय कवितराम कामम् ? ।

किञ्चित्त्वया न हि पतिव्रतया दुराप भस्मास्तु यस्तव बत व्रतलोपमिच्छुः ॥

अथ ते सर्वे दमयन्तीं प्रति आहु, देवीति । देवी सरस्वती च, ते देवाश्च, जगदुत्तमाङ्गरत्नाय त्रैलोक्यशिरोमणिभूतायै, 'उत्तमाङ्ग शिर शीर्षम्' इत्यमरः । ते तुभ्य, क काम्यते इति कामम् ईप्सित, कर्मणि घञ् । वितराम् ? प्रयच्छाम् ? सम्प्रदे लोट् । कथय । पत्न्यौ व्रत नियम, अस्खालित्वरूपमित्यर्थ, यस्या, तादृशया त्वया किञ्चित् किमपि, दुराप दुष्प्राप, न हि नैव, अस्तीति शेष, पातिव्रत्यतेजसोऽग्निह तशक्तिकवादिति भाव, तथाऽपि य पापी, तव व्रत पत्न्यौ अस्खालित्वरूप, तस्य छोप नाशम्, इच्छु अभिलाषुक, । 'बिन्दुरिच्छु' इत्युप्रत्ययान्तो निपात, 'व लोका—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया । स भस्मास्तु भस्मीभक्तु, घतेति खेदे, तथा चारमद्वारप्रसादादेव तत्प्रतीकारात् तव ततो भय न भविष्यतीति भाव । एतच्चोत्तरत्र वनमध्ये अजगरप्रस्ता दमयन्तीमजगरादुन्मोच्य पुमस्ता काम यमानस्य पापिष्ठस्य व्याधस्य वधे कलिष्यतीति भारती कथा अत्र अनुसन्धेया ॥९०॥

सरस्वती देवी तथा वे (इन्द्रादि चारों देव) बोले कि—(हे दमयन्ति !) सरस्वती शिरोभूषण तुमको हमलोग किस मनोरथको दें अर्थात् पूरा करें क्योंकि पतिव्रता तुमको कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है, तथापि जो कोई तुम्हारे व्रत (पातिव्रत्य) को भङ्ग (नष्ट) करना चाहे वह भस्म हो जाय, अर्थात् [इस वरदानमे कविने भविष्यमें होनेवाली कथाका भी सङ्केत कर दिया है] ॥ ९० ॥

कूटकायमपहाय नो वपुर्भिभ्रतस्त्वमसि वीक्ष्य विस्मिता ।

आप्तुमाकृतिमतो मनीषिता विद्यया हृदि तनाप्युदीयताम् ॥ ९१ ॥

अथ वरान्तराज, कूटेति । कूटकाय कपटदेह, नलाकारमिति यावत्, अपहाय वपु मिजविग्रह, विभ्रत मिथ्याणान्, न अस्मान्, वीक्ष्य ख विस्मिता विस्मया विष्टा, अस्मि, तेन, स्वेच्छया रूपान्तरपरिग्रह—परिहारकामा त्वमिति प्रतिभासीति भाव, अत हेतो, मनीषिताम् अभिलषिताम्, आकृति शरीरम्, आस्तु तवापि हृदि हृदये, विद्यया कामरूपसम्पादकविद्यया, उदीयताम् उद्भूयताम्, उत्पूर्वादिणो भावे लोट् ॥ ९१ ॥

कपटशरीर (कृत्रिम नलशरीर) को छोड़कर (अपना) शरीर धारण किये हुए हम लोगोंको देखकर तुम आश्चर्यित हो गयी हो, (अतः) अभिलषित शरीर पानेके लिए तुम्हारे भी ('अपि' शब्दसे नलके भी) हृदयमें विद्या (शरीर परिवर्तिनी मन्त्रादिकृति) प्रादुर्भूत होवे ॥ ९१ ॥

इत्य वितोर्य वरम्भ्वरमाश्रयन्सु तेषु क्षणादुदलसद्विपुल प्रणाद ।

उत्तिष्ठता परिजनालपनैर्नृपाणा स्वर्यामिवृन्दहतदुन्दुभिनादमान्द्र ॥९२॥

इत्यमिति । तेषु देवेषु, इत्य वर वितोर्य दत्त्वा, जम्बरम् आकाशम्, आश्रयन्सु सासु, उत्तिष्ठताम् आसनेभ्य उच्चलता, नृपाणा प्रणाद हर्षोत्थध्वनि 'प्रणादस्तु

शब्द स्यादनुरागज' इत्यमर । परिजनानाम् आल्पने आभाषणे, विपुल सन्, तथा स्वर्गमिना दिव्यजनानां, धृन्देन हताना ताडिताना, दुन्दुभीना नादेन साम्प्र निरन्तर सन्, निरवच्छिन्नभावेनेत्यर्थ, अणात् उदलसत् उच्यते ॥ ९२ ॥

देसा (१४७०-९१) वरदान देकर उन (इन्द्रादि चारों देव तथा सरस्वती देवी) के आवाशमें जानेके लिए तत्पर होनेपर (अपने-अपने शिविर आदिमें जानेके लिए) उठने हुए राजाओंके परिवर्तनोंके भाषा (जय, जीव इत्यादि राजस्तुतिवचनों) में देवगणोंके द्वारा बजायी गयी दुन्दुभियोंके शब्दोंने गन्धार क्षामात्रमें महान् (बड़े जोरोंका) शब्द (कोलाहल) हुआ । [वरदान देकर इन्द्रादि देव तथा सरस्वती देवी स्वर्गमें जानेके लिए उद्यत हुए, अपने-अपने शिविरोंका जानेके लिए राजा लोग उठने लगे तो गन्दी उनके यद्योगान करने लगे तथा दमयन्ती और नलके परस्पर संयोगमें सन्तुष्ट देवगण स्वर्गमें दुन्दुभिया बजाने लगे, इन सबका बड़ा कोलाहल क्षामात्रमें होने लगा] ॥ ९२ ॥

न शेष विद्वेषादपि निरवकाश गुणमये

वरेण प्राप्तोऽस्ते न समरसमारम्भसदृशम् ।

जगुः पुण्यरत्नलोक प्रति नृपतय विन्तु विदधु

स्वनिश्वासैर्भमीहृदयमुदयन्निर्भरदयम् ॥ ९३ ॥

मेति । प्राप्ता स्वयवरागता, ते नृपतय गुणमये गुणैकमिलने, नले इति शेष, निरवकाशमवर्त्तमान, शेष विद्वेषात् अपि दमयन्तीलाभजनितद्वेषे सत्यपीत्यर्थ, न जगु नोक्षु, न उद्धाटयामासुरित्यर्थ, 'गे शब्दे' इति घातोर्लिट् । तादृशगुणसम्पत्ति अदोषता आस्पेति भाव । किम्, वरेण शचीदत्तेन हेतुना, पुण्यरत्नलोक नल प्रति, समरसमारम्भस्य युद्धोद्योगस्य, सदृशम् अनुकूलं च किञ्चित्, न, जगुरिति त्रिया-पुपद्व 'साक्षिध्ययोगात् किल तत्र शब्दा स्वयवरासोभङ्गतामभाव' (रघुवरी ७८) इति भाव, किन्तु स्वनिश्वासैर्दुःखोत्थे स्वेषा निश्वासै, भमीहृदय दमयन्तीघेन, उदयन्ती अनयन्ती, निर्भरा अतिमात्रा, दया यस्य तत् तथाभूत, तद्दुःखदुःखित, वेददुःख, परदुःखामहिष्णुदमयन्ती स्वप्रचारयानदुःखितान् राशो दध्वा तद्दुःखप्रशमनेच्छुरासीदित्यर्थ ॥ ९३ ॥

(स्वयवरमें) आये हुए वे राजालोग भीन्दर्यादि बहुगुणयुक्त (नलमें) नहीं रहनेवाले शीशोंके (दमयन्तीकी अप्रतिरूपा) वैरमें भी नहीं कहा और (उस स्वयवरमें प्रच्छन्नरूपमें उपस्थित इन्द्राणीके) वरदानसे युद्धारम्भके समान अर्थात् योग भी कोई बचन नहीं करा, किन्तु (दमयन्तीके नहीं पानेसे उत्पन्न अपने) निश्वासासे दमयन्तीके हृदय अथवा—दमयन्तीके हृदय (मूल नल) को अत्यन्त दयालु बना दिया । (पा०—दमयन्तीके

१ 'प्राप्ताश्चे' इति पाठान्तरम् । २. 'पुण्यरत्नलोके प्रतिनृपतय' इति पाठान्तरम् ।

नहा पानेन) प्रतिपक्षी राजलोक (सौन्दर्यादि) गुणोंसे पूर्ण नलमें अवर्तमान (नहीं रह
वाले) शेषको विद्वेष (दमयन्तीको प्राप्त करनेसे नलके प्रति उत्पन्न वैर) से भी नहीं रह
तथा (इन्द्रादि) । अथवा—यमराज—१४७७) के दिये वरदानसे अश्वोंको प्राप्त किये हुए
नलमें युद्धके योग्य काश्च वचन नहीं कहा, किन्तु दयालु बना दिया) [दमयन्ती
राजाओंकी स्थितिको देखकर अत्यन्त दयायुक्त हो गयी] ॥ ९३ ॥

भृशृङ्गिर्लम्बिताऽसौ करुणरसनदीमूर्त्तिमदेवतात्वं

तातेनाभ्यर्च्य चोग्या सपदि निजसखीर्दापयामास तेभ्य ।

वैदर्भ्यास्तेऽप्यलाभात् कृतगमनमन प्राणवाञ्छा निजधनु

सख्या सशिष्य विद्या नततधृतवयस्यानुकाराभिर्ताभि ॥ ९४ ॥

भृशृङ्गिरिति । भृशृङ्गिः भूपालं, करुणरसनद्या करुणाख्यरसप्रवाहस्य, मूर्त्तिर
शरीरं, देवतात्वम् अधिदेवतात्वं, लम्बिता प्रापिता, स्वस्वदुःखेन दुःखीकृता इत्यर्थः,
असौ दमयन्ती, सपदि तत्क्षणमेव, अभ्यर्च्य सम्प्रार्थ्य, पितरमिति शेषः, यद्वा—तातेन
राजा इति शेषः, तातेन पित्रा भीमेन, चोग्या कुलशीलमौन्दर्यादिना राजाभिः,
निजसखी तेभ्य भृशृङ्ग, सम्प्रदाने चतुर्थी । दापयामास, ते भृशृङ्गोऽपि, वैदर्भ्या
अलाभात् हेतोः, कृत गमन निष्क्रमणेच्छा इत्यर्थः, ये तादृशाना मन प्राणाना
वाञ्छा निष्क्रमणेच्छारूपकमाणि, अथवा—कृत गमने देहपरित्यागे, मनो वेंस्तार
शाना प्राणाना वाञ्छा निष्क्रमणेच्छामित्यर्थः, सरया भैम्या, 'आट्यातोपयो'
इति अपादानत्वात् पचमी विद्या कामरूपधारणविद्याम् इन्द्राद्युक्ता सशिष्य
अभ्यस्य, सतत नित्य, एत वयस्यानुसार भैमीसादरय याभि तादृशीभि, आभि
सखीभि साधनैः, निजधनु निरोधयामासु, राजानोऽपि दमयन्त्यलाभेन निष्क्रमणे
चतुर्न् मन प्राणान् भैमीसखीलाभेन निष्क्रमणात् निवर्त्तयामासु, अन्यया सख्ये
त्रियेरन्निति अहो दमयन्त्या दयालुत्वं विवेचकत्वञ्चेति भावः ॥ ९४ ॥

(दमयन्तीने अलामने दुःखित) राजाओंसे करुणरसको नदी (प्रवाह—करुणरस
प्रवाह) की अधिदेवता बनायी गयी (उन राजाओंके दुःखको देखकर अतिशय करुणावाली)
इस दमयन्तीने (अपने पितासे) प्रार्थना करके शीघ्र ही योग्य (रूप शील आदिसे वन
राजाओंकी पत्नी बननेके योग्य) अपनी सखियोंको उन राजाओंके लिए पिता (राजा
भोज) से दिलवा दिया (और) वे (राजा लोग) भी दमयन्तीके नहीं मिलनेसे निर्मन्न
(मरने) के लिए तैयार अपने प्राणों की इच्छाको, सखी (दमयन्ती) से विद्या (वरदानसे
प्राप्त इच्छानुपूर्व रूप धारण करने आदिका ज्ञान) अच्छी तरह सीखकर निरन्तर सखी
(दमयन्ती) के समानप्राप्त प्राण की हुई उन सखियोंसे अर्थात् उन सखियोंके पानेने
रोका । [राजाओंके अपार दुःखको समझकर कृपापूर्ण दमयन्तीने अपने पिता राजा
भोजसे प्रार्थना करके उन राजाओंके योग्य अपनी सखियोंको दिलवा दिया तथा दमयन्तीके

‘नहीं मिलनेसे मरनेको नैवार बे राजालोग, दमयन्तीसे बरदान प्राप्त स्वेच्छासुमार रूप ग्रहण करनेकी विद्याको अच्छी तरह सीख लेनेसे उस दमयन्तीके समान ही बनी हुई उन सखियोंको पाकर मरनेका विचार छोड़ दिये ॥ दमयन्ती यदि उन सखियोंको नहीं दिलवाती तो वे राजा लोग अवश्य प्राणत्याग कर देत] ॥ ९४ ॥

अहह सह मधोना श्रीप्रतिष्ठासमाने निलयमभि नलेऽथ स्वप्नप्रतिष्ठासमाने ।
अपनदमरभक्तं मूर्तिचन्द्रं कीर्त्तिर्गलद्रलिमधुवाप्या पुष्पवृष्टिर्नभस्त ॥ ९५ ॥

अहहेति । अथेन्द्रप्रस्थानानन्तर, मधोना इन्द्रेण सह, श्रीप्रतिष्ठाया ऐश्वर्यगौरवेण, समाने सदृशे, नले स्व निलयम् अभि शिविरं प्रणि, ‘अभिरभागे’ इति लङ्गार्थे कर्मप्रवचनीयत्वात् तद्योगे द्वितीया प्रतिष्ठासमाने प्रस्थातुम् इच्छति सति, प्रपूर्वात्तिष्ठते सङ्गतास्तत्र दानज्ञादेश ‘समवप्रविभ्य—’ इत्याभनेपदवात् ‘पूर्ववत् सन’ इत्याभनेपदम् गलन् खवन्, अलिपुवत् मधु मकरन्द पद्म, वाप्य अथ यस्या सा तादृशी साञ्जनवाप्ययुक्ता इत्यर्थ, मूर्तिवद्वा वदमूर्ति, मूर्तिमतीत्यर्थ, ‘वाऽहिताग्न्यादिषु’ इतिनिष्ठाया परनिपात । अमरभक्तुं इन्द्रस्य, कीर्त्तिं हव पुष्पवृष्टिं नभस्त नभस, पद्मग्यास्तसिल् । अपतत्पतिता, अहह इत्यनुते, कीर्त्तिं स्वामिदुर्घ्यसनदुःखात् अश्रयतीवेत्युत्प्रेक्षा । पुष्पाणां धरतया कीर्त्तिव दमयन्त्या चारुतत्वेन इन्द्रस्य कीर्त्तिं सुतरां अथा, नारीणां वाप्यत्र सकज्जल भवतीति भावः ॥

प्रतिष्ठामे इन्द्रके समान नलके अपने स्थान अर्थात् शिविरमें जानेकी इच्छा करनेपर देवेन्द्रकी मूर्तिमती गिरते हुए अमरयुक्त मकरन्दरूप अश्रुवाली कीर्त्तिके समान पुष्पवृष्टि आकाशसे गिरी (हुई) आश्चर्य है । [दमयन्तीको पानेमें इन्द्रतुल्य ऐश्वर्यवाले नल अपने शिविरमें जाने लग तब प्रसन्न देवगणने आकाशसे पुष्पवृष्टिकी वन पुष्पोंके साथ सुगन्धिमें आकृष्ट अमर तथा पुष्पोंके मधु गिर रहे थे, वे उस मूर्तिमता कीर्त्तिके अञ्जनाविल वापके समान प्रगीत होते थे ॥ इन्द्रकी छोटकर नलका वरण करनेसे रोती हुई देवेन्द्रकानिका स्वर्गमें गिरना और रोनेमें अञ्जनयुक्त होनेसे वापका इंगुर्वा होना इति ही है । यथा अमरकी अञ्जन, मकरन्दकी आम्र, श्वेत पुष्पोंकी मूर्तिमती देवेन्द्र की कीर्त्ति समसन आदिये] ॥ ९५ ॥

स्वस्यामरैर्नृपतिमशममु त्यजद्भि

रशच्छिद्राकृदनमेव तदाऽध्यगामि ।

उत्का स्म पश्यति निवृत्य निवृत्य यान्ती

वाग्देवताऽपि निजविभ्रमधाम भेमीम् ॥ ९६ ॥

स्वस्येति । स्वस्य आत्मन, इन्द्रादेशित्यर्थ, अशम् अशसम्भवम्, ‘अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृप’ इति स्मरणात्, अमु नृपतिं नल, त्यजद्भि अमर इन्द्रादिभि, अशच्छिद्रा अवयवच्छेद, ‘षिद्धिदादिभ्योऽङ्’ तथा यत् कदन दुःख

तदेव, तत्रा अध्यगमि अधिगतम्, स्वाशोद्भूतजनश्रियोग
मवतीति भावः । किञ्च, निजम् आत्मीय, शिञ्जमधाम विहारमन्त्र,
चाग्नेयता सरस्वती अपि उक्ता उन्मना, उत्सुका सतीत्यर्थ, 'उत्क उन्मना' इ
निपातः । निवृत्य निवृत्य पुनः पुनः परावृत्य, भैरवी परयति स्म, 'परवते
सुहृद्वियोग' इति भावः ॥ ९६ ॥

अपने जलभूत हम राजा (नल) को छोड़ने (छोड़कर स्वर्ग जाते) हुए ।
(इन्द्रादि चारों देवों) ने उस समय अपने अश्व (हाथ-पैर आदि अवयव) के समान
समान हो दुःखों प्राप्ति किया तथा अपने विह्वलमनको जानी हुई सरस्वती देवी ने
उत्कण्ठित हो धूम धूमकर अर्थात् पीछे की ओर मुट-मुटकर दमयन्तीको देखती थी ।
(अथवा—जानी हुई सरस्वती देवी भी उत्कण्ठित हो धूम-धूमकर अपने पिछले
रंगभूत दमयन्तीको देखती थी ।) [राजाका खोबपालाश होनेसे नल भी इन्द्रादि
लोकपालोंके अशोचन थे, अतः नलको छोड़कर स्वर्ग जाने समय इन्द्रादिको अपने अश्व
(हाथ-पैर आदि अङ्ग) को काटकर अलग करनेके समान बट्ट हुआ तथा दमयन्ती
छोड़कर जानी हुई सरस्वती देवीको भी अधिक कष्ट हुआ, इसी कारण जानी हुई वह स्त्री
छोड़कर उसे (दमयन्ती को) देखती थी । अन्य भी किसी व्यक्तिको अपने अश्व (अथवा)
को अलग होनेसे दुःख होता ही है । पुरुष इन्द्रादिका पुरुष नलमें तथा स्त्री सरस्वती
स्त्रीनलमें 'स्वानि परमा प्रीति' नातिके अनुसार अनुराग होना उचित ही है । अतः
अथ—दमयन्ती सरस्वती देवी का श्रोत्रस्थान (पश्चात्—अत्यन्त विदुषी) थी अतः
सरस्वतीका अपने श्रोत्रस्थान दमयन्तीको छोड़ते उत्कण्ठित होना तथा जाने समय स्त्री-
लौकिक देखना उचित ही है] ॥ ९६ ॥

सानन्द तनुजाविशहनमहं भीम म भूमीपति-

वैदर्भीनिपचाधिपी नृपजनानिष्टोत्तिसम्मृष्टये ।

म्यानि म्वानि धराधिपाश्च शिखिराण्युद्दिश्य यान्त क्रमा-

देवो द्वा बहवश्चकार मृजत म्मातेनिरे मङ्गलम् ॥ ९७ ॥

सानन्दमिति । तनुजाया दृष्टितु दमयन्त्या, विशाहन परिणयनम् त्रिवर्षात्
यहतेर्प्यन्ताङ्गाथं एतत् तदेव मह उत्पद्य तस्मिन्, भूमीपति भूपति, स भीम
तथा वैदर्भीनिपचाधिपी दमयन्तीनली, तथा स्वानि म्वानि शिखिराणि उद्दिश्य
यान्त धराधिपाश्च एक द्वौ बहवः एते त्रिनयेऽपि, नृपाया दमयन्त्यवृतभूपाना,
ये जना परिजना, तथा या अनिष्टोक्ति स्वस्वप्रभोरवमाननाजनितश्रुतिवृद्ध
वाक्यानि, तामां सम्मृष्टये तद्दोषपरिहाराय अथवा वा, सानन्द यथा तथा
मङ्गल नगरसंस्कारेऽप्येतानुस्मरणपूर्वपोषादिमङ्गलाचरणे, क्रमात् एक भीम चकार,

॥ दमयन्तीनलो स्रजत स्म अस्रजता, चरुनु इत्यर्थं, आतेनिरे बहवो धराधिपा-
मीमखीलाभात् मङ्गलनृत्यं ध्वनिं चरुनित्यर्थः । क्रमालङ्कार ॥ ९७ ॥

१ पुत्री (दमयन्ती) के विवाहोत्सवमें एक उस राजा भीमने हर्षपूर्वक मङ्गल (मङ्गल-
जनक वाद्यादिवादन) किया, राजा लोगों (या-राजाओंके अनुचरों) के अनिष्ट कथन
दमयन्तीके नहीं मिलनेसे कटुक्ति) को शान्ति अर्थात् उसे नहीं सुननेके लिए दो
दमयन्ती तथा नल) ने हर्षपूर्वक मङ्गल (गीत, नृत्य, वादन आदि मङ्गलजनक कार्य) किया
था अपने-अपने शिवरोंको लक्षितकर जाते हुए बहुत राजाओंने (दमयन्तीके लुप्त
मही सखियोंको स्त्रीरूपने प्राप्त करनेने) हर्षपूर्वक मङ्गल (पट्ट-भेयादिका वादनरूप
मङ्गल) किया । [इस प्रकार एक राजा भीमने, दो दमयन्ती तथा नलने और बहुत
राजाओंने हर्षपूर्वक मङ्गल कार्य किया, अर्थात् सभीने हर्षपूर्वक मङ्गल मनाया] ॥ ९७ ॥

श्रीहर्षं वधिराजराजिमुकुटालङ्कारहीर सुत

श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवी च यम् ।

यातस्तस्य चतुर्दश शरदिज्योत्स्नाच्छसूतेर्महा-

काठये चारुणि नैपग्रीयचरिते मर्गो निमर्गोऽञ्जल ॥ ९८ ॥

श्रीहर्षमिति । शरदि भवा शरदिजा 'सप्तम्या जनेई' । 'प्रावृट्शरकालविवा-
ने' इति सप्तम्या अलुन्वा ज्योत्स्ना तद्दृष्ट्वा मृष्टा, सूक्ष्म यस्य तादृशस्य ।
गतमन्यत् ॥ ९८ ॥

इति मल्लिनाथविरचिते 'जीवातु' समाख्याने चतुर्दश सर्ग समाप्त ॥ १४ ॥

कवीश्वर सनूठके किया, शरत्कालीन चाँदनीके समान निर्मल (पक्षा-
निर्दोष) सूक्ष्मवाले उसके रचिन नन्दके चरित यह चतुर्दश सर्ग समाप्त हुआ । (शेष
पद्यां चतुर्थ सर्गवत् जगनी चाहिये) ॥ ९८ ॥

यह 'मणिमभा' टीकानें 'नैपचरित'का चतुर्दश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १४ ॥



पञ्चदशः सर्गः

अथोपकार्या निषावनीपतिर्निजामयामीद्वरणस्रजाऽन्वित ।

वमूनि वर्षम् मुचूहनि वन्दिना विशिष्य भैमीगुणं कीर्तनाकृतम् ॥ १ ॥

अथेति । अथ स्वयंवरांशान्तर, निषावनीपति- नल, वरणस्रजा अन्वित सन्
वन्दिना स्तुतिपाठकानाम्, अपरेषामिति भावः, तत्रापि भैमीगुणकीर्तना कुर्वन्तीति

१ 'वर्णनाकृतम्' इति पाठान्तरम् ।

तत्पुत्रः । अस्मिन् गुणकार्त्तनकारिणा चन्द्रिनाम् करोते क्षिप्र । वित्तिप्य अन्यवन्द्येष्वपि
अतिशय्य, सुवह्नि भूतिष्ठानि, वमूनि धनानि, वर्षन् विनरन्, निजाम् आमीयाम्,
उपकारांम् उपकारिका, मदनमिषयम्, निविरमिति यावत्, 'म' घोऽस्त्री राजमदन
गुणशायीपकारिका' इत्यमर । अयासीन् अगमत् । यातेर्लुङि 'यमरमनमाता मङ्
च' इति मणिहागमौ, 'अस्तिमिचोऽधृक्ते' इतीहागम । वक्षस्थविल वृत्तम् ॥ १ ॥

१८ । देवोंको प्रसन्नकर दमयन्तीके वरण करने गया लल-दमयन्तीके लिए वर देकर
उन चारों देवोंके स्वर्गलोकको जानेके लिए तत्पर होने) के बाद निषधराज (नट) भी
बन्दिजनोंके लिए (स्ववरापण्य इषजे उपपश्यमे) बहुत धनको वृष्टि करते (दान देते)
हुए तथा दमयन्तीके गुणकार्त्तन करनेवाले बन्दिजनोंको अधिक दान देने हुए अपने सिद्धि
को गये ॥ १ ॥

तथा पथि त्यागमयं वितीर्णवान् यथाऽतिभाराधिगमेन मागधै ।

तृणीकृत रत्ननिष्ठाऽमुच्चैश्चिरैश्चिराय लोकश्चिरमुच्छ्रमुत्सुक ॥ २ ॥

तथेति । अथ नट, पथि स्वनिपेसमार्गे, तथा तेन प्रकारेण, त्यज्यते इति त्याग
घनम् कर्मणि घञ् । वितीर्णवान् दलवान्, यथा येन प्रकारेण, अतिभारस्य अनिगु
ह्यस्य, अधिगमेन प्राप्तया, मागधे वन्दिभिः, तृणीकृत बोधुमशक्यत्वेन तृणवत्
त्यक्तम्, उच्चैर्क उच्छ्रित, रत्नाना निष्ठाऽममूह, लोक साधारणो जन, उत्सुक
आग्रहाश्रित मन्, चिर बहु कालम्, उच्छ्रिचिराय भुवि त्यक्त रत्ननिष्ठापम्
उच्छ्र वेन मज्जितवान्, यद्यपि धान्याना कणश आदानमेव उच्छ्रस्तपाऽपि रत्नाना
मादाने औपचारिको बोध्य । 'विभाषा चे' इति चिन्त कृतम् । 'उच्छ्र' कणश
आदाने कणिशायार्जन शिलम् इति यादव ॥ २ ॥

१८ (नट) ने मार्ग १८ना दान दिया कि अत्यधिक भार (बोल) होनेसे बन्दिजनों
के द्वारा (मारान्धक्यके कारण या अरेझा नहीं रहनेके कारण) तृण किये अर्थात् तृणवत्
उच्छ्र समझकर भूमिपर छोटे गये श्रेष्ठ रत्न-ममूहकी उत्सुक लोगोंने बहुत देर तक उच्छ्र
दिया (एक २ रत्नको चुगते (टट्टा टट्टा लेने) रहे) । (अथवा—छोटे गये रत्न-समूहकी
बहुत उत्कण्ठित लोगोंने) । [नटने कारण-माट आदि बन्दिजनोंके लिए इन्ने
अधिक रत्नोंको दिया कि वे सब अधिक बोझ या इच्छापूर्ति हो जानेके कारण उच्छ्रित
होकर अन्नके दानोंके समान बहुत देर तक चुगते रहे] ॥ २ ॥

ग्रपाऽस्य न स्यात् सदसि प्रियाऽन्वयान् ? कुतोऽतिरूप सुखभाजनं जन ?
अमूहशी तत्प्रतिबन्दिवर्णनैरपारुता राजकराखिलोऽस्वाक् ॥ ३ ॥

१. 'वित्तिप्य' इति पाठान्तरम् ।

२. 'मुच्छ्र' इति पाठान्तरम् ।

३. 'रत्नकृता' इति पाठान्तरम् ।

त्रपेति । सदसि सभायां, प्रियाऽन्वयात् प्रियासमागमात्, अस्य नलस्य, त्रपा अनुचिताचरणजनितलज्जा, न स्यात् ? न भवेत् ? इति काट्ट, भवितुमुचितमेवेत्यर्थ, तथा अतिरूप अतिमाद्वमौन्दर्यशाली, जन कुत कुत्र, सुखभाजन राममीतादिवत् सुखास्पद, भवेत् ? न कुत्रापीत्यर्थ, नलस्य इदं लोकातिशायि रूपमेव तु तन्निदान भवेदिति भाव, असौ इव दृश्यते इति ऋगृहशी एतादृशी, उक्तरूपा इत्यर्थ, अद्-शब्दोपपदात् ददो 'त्यदादिषु दशोऽनालोचने कञ्च' इति कञ्, 'टिड्ढागञ्'—इत्यादिना ङीप्, 'आ सर्वनाम्न' इत्यात्वे 'अदमोऽमेदादु दो म' इत्युत्त्वमेवे । राजक दमयन्त्यवृत्तराजममृह रक्षयतीति तेषा राजकरजिना तदिच्छानुवृत्त्यादिना, लोकाना जनाना, चार् पूर्वोक्ता निन्दोक्ति, तस्य नलस्य, कधीना बन्दिनाञ्च वर्गने अहो ! निखिल राजकम् अवधूय त्वया स्त्रीरत्न लब्ध सर्वोत्तरोऽमीत्यादिस्तथै, अपा कृता न्यकृता तादृशकविर्वादिभिरस्तारस्वरेण नलगुणवर्णनात् पूर्वोक्तनिन्दावाञ्-तिरोहितवेम न ध्रुतिमोचरीभूतेति भाव ॥ ३ ॥

'समा (अनेक देशोंमें आये हुए राजाओंसे मरी हुई स्वयंवर समा) में ली (दमयन्ती) के सामने हम (नल) को रज्जा नहीं आती (अर्थात् समामें लीके सम्बन्धमें नलकी रज्जा आना उचित है, परन्तु वेसा नही होनेसे यह निष्ठन है और अत्यन्त सुन्दर आदमी कहा सुखी होता है अर्थात् कही भी सुखी नहीं होना ।' ऐसी दमयन्तीको नहीं पानेवाले राज-ममूहको प्रसन्न करनेवाले बन्दिनोंकी स्तुतिको उस (नल, अर्थात्—उन अर्थात् नल दमयन्ती) के कवियों तथा बन्दिनोंके वर्णनों (स्तुति-वचनों) ने दबा दिया (पाठा०—दबा दिया अर्थात्—प्रसन्न करनेवाले बन्दिनोंकी वाणीको वर्णनोंने अबाणीकर दिया) अर्थात् नलके बन्दिनोंके द्वारा किये गये उक्त स्वरजुक्त वर्णनमें उक्त नलकी निन्दा करनेवाले बन्दिनोंके वचन स्पष्ट नहीं सुनायी पड़े, किन्तु ये भी कुछ बोल रहे हैं ऐसी ध्वनिमात्र सुनाई पड़ी । ['अत्यन्त सुन्दर व्यक्ति कहासे सुख पाना है' अर्थात् अत्यन्त सुन्दर होनेके कारण सीता तथा रामचन्द्रने जिस प्रकार बहुत दुःख भोगे, उसी प्रकार हर्ष (नल तथा दमयन्तीकी) भी दुःख भोगने पड़ेंगे' ऐसे अविष्यकी ओर सूचन किया है । अर्थात्—'अत्यन्त सुन्दर व्यक्ति कहामें सुख पाना है' अर्थात् आपलोग अत्यन्त सुन्दर हैं, यह नल अधिक सुन्दर नहीं है, इसा (अत्यन्त सुन्दर होने) के कारण आरलोगोंकी अगुणता दमयन्तीने वरण नहीं किया और आपलोग दुःख पारहे हैं अर्थात् पति-पत्नी दोनोंका सुन्दर होना असम्भवप्राय है, इत्यादि अमत्य स्तुतियोंसे दमयन्तीके वरण नहीं करनेसे उदासीन नलेन राजाओंको प्रसन्न करनेके लिए बन्दी नलकी उक्त प्रकारसे निन्दा कर रहे थे, वह वचन नलप्रसन्नक कवियों एवं बन्दीलोगोंके द्वारा उच्चस्वरसे की गयी स्तुतियोंमें सुनायी नहीं पडा] ॥ ३ ॥

अदोषतामेव सना विवृण्यते द्विषा मृपादोषकणाधिरोपण ।

न जातु सत्ये सति दूषणे भवेदलीकमाधातुमत्रयमुद्यम ॥ ४ ॥

अदोषतामिति । द्विषा शत्रुभिः, अधिरोपणेति कृद्योगे कर्त्तरि पठ्यते । मृषादोषक
णाधिरोपणा अलीकदोषलवाशेषा मता सज्जनानाम्, अदोषता निर्दोषताम् एव,
त्रिपूषणे प्रकाशयन्ति, शूरे कलङ्कारोपणवत् इति भावः । तत्र हेतुमाह, नेति । सत्ये
दूषणे दोषे, सति वर्त्तमाने, अलीकम् असत्यम्, अवयव दूषणम् । 'अवयवपण्य-' इत्या
दिना निपातः । आधातुम् आरोपयितुं, जातु कदाचिदपि, उद्यमः द्विषाम् उद्योगः, न
भवेत्, दाशद्वे कलङ्कारोपणवदिति भावः, तथा च सत्यदोषस्य वर्त्तमानत्वे मिथ्याशो-
पारोप शत्रूणामुद्यमादर्शनात् सत्यदोषाभावे सत्येव मिथ्यादोषारोपे उद्यमोऽवगम्यते,
इत्यन्त नले मिथ्यादोषारोपदर्शनात् सत्यदोषाभावः प्रतीयते इति भावः ॥ ४ ॥

शत्रुर्भोजे द्वारा किंवा गया गृहे थोड़े-से दोषका भी आरोप सन्नर्भोंके दोषाभाव
(निर्दोष) को ही प्रकाशित करता है (जैसे—शूरवीरमें शत्रुके मारनेपर निर्दय होनेका
गूढा दोष लगाना) क्योंकि—वास्तविक दोषके विद्यमान रहनेपर अवान्वयिक दोषको
प्रकाशित करनेके लिए शत्रुलाग कभी प्रयत्न नही करते (जैसे—चन्द्रमामें वर्तमान कलङ्क
दोषको कहना) । [किंतु वास्तविक दोषके नही रहनेपर ही अवान्वयिक दोषको
प्रकाशित (गूढा आरोपित) करनेमें शत्रुलोभोका प्रयत्न देखा जाता है, अतः नलमें उक्त
(१५।३) दोष नहीं रहनेपर भी विपक्षियोंके बन्धियों द्वारा किया गया दोषप्रकाशन नल
का दायाभाव ही प्रकट करता है । अथवा—मत्स्य परब्रह्मस्वरूप भगवान् रामचन्द्रमें 'दूषण'
नामक राक्षस द्वारा किया गया अप्रिय उद्योग जिस प्रकार अकिञ्चित्कर हुआ, उसी प्रकार
विपक्ष बन्धियों द्वारा किया गया नल (या नल और दमयन्ती—दोनों) के विषयमें
असत्याहेररूप अप्रिय वचन अकिञ्चित्कर ही हुआ । अथवा—अपिपरीक्षादिके द्वारा
सुपरीक्षित सीताके सम्बन्धका जेवर भगवान् रामचन्द्रके विषयमें किये गये असत्य दोष
कथनने जिस प्रकार प्रजारजनादि गुणको प्रकाशित किया उसी प्रकार दमयन्तीके सम्बन्धको
देकर नल के विषयमें किया गया उक्त (१५।३) असत्य दोषारोप नलके गुण-प्रकाशनके
लिए ही हुआ } ॥ ४ ॥

विदर्भराजोऽपि सम तनूजया प्रविश्य हृष्यन्नरोधमारमन् ।

शशम देवीमनु जातमशया प्रनीच्छ जामातरमुत्सुके । नलम् ॥ ५ ॥

विदर्भति । नय विदर्भराजो भीमोऽपि, हृष्यन् सर्वोत्पृष्टजामातृलाभेनानन्दित
सन्, तनूजया दुहित्रा भोग्या, समम् आत्मन अवरोधम् अन्तःपुर, प्रविश्य जात
सशया, दमयन्ती सर्वगुणाकर नलं वरिष्यति निर्गुणमन्य वेति हृष्टवरलाभे सदि
ष्टाना, देवी निजमहिषीम्, अनु लक्ष्योक्त्यर्थ, उत्सुके । हृष्टवरोद्युक्ते । 'दृष्टार्थोद्युक्त
उत्सुक' इत्यमरः । नल जामातर दुहितु पतिं, प्रतीच्छ निजानीदीत्यर्थः, इति शशस
कथयामास । सिद्ध न समीहितमिति भावः ॥ ५ ॥

(अमीष्ट जामाताके लामसे) प्रसन्न होने हुए विदर्भनरेश (राजा भीम) भी पुत्र (दमयन्ती) के माय रनिवासर्म प्रवेशकर (‘नेरी पुत्री दमयन्ती गुणी नलको वरेगी दा अन्य किसी गुणहीन राजाको’ इस प्रकार) मन्त्रय करती हुई पटरानीमें ‘हि उत्तुके (जामाताके विषयमें जाननेके लिए उत्कण्ठित प्रिये)’ नलको जामाता जानो अर्थात् दमयन्तीने गुणी नलका ही वरण किया दूसरेका नश’ यह जानो ऐसा कहा ॥ ५ ॥

तनुत्विषा यस्य तृण स मन्मथ कुलश्रिया य पविनाऽस्मदन्वयम् ।

जगत्त्रयीनायकमेतके वर सुता पर वेद विवेक्तुमीदृशम् ॥ ६ ॥

तन्विति । किञ्च, यस्य नलस्य, तनुत्विषा कायकान्त्या, स प्रमिद्ध, मन्मथ तृण तुगुत्तय, अतिनिवृष्ट इत्यर्थ । य कुलश्रिया अभिजनमपमदा, कौलीन्येन ह्यर्थ, अस्मदन्वय अस्माक कुल, पविता पवित्रोक्त्या, पुनातेऽनृन्, ‘न ल’का—’ इत्यादिना पृथीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया । किञ्च, जगत्त्रया य नायका तेषा मेले एव मेलेके मद्दे, वरसमूहाना मस्य इत्यर्थ । मेलात् घमन्तात् स्वार्थ क । इदृशम् इहगुणोपेत, वर विवेक्तु निर्वाचयितु, पर केवल, मुना स्व-सुतैश्च, वेद वति, ‘विदो छो वा’ इति लट्-स्थाने णलदेश । अहो भाग्यात् सर्वानुत्कृष्टमिति भाव ॥ ६ ॥

जिमकी शरीर शोभामे वह (अतिप्रसिद्ध) कामदेव का अर्थात् तुगवत् तृच्छ ई नरा जिमयी वशकी विनुद्धि हमारे वशकी भी पवित्र करेगा, तीनों लोकोक राजाओंके समूहमें ऐसे श्रेष्ठ वरको छाटना (निय करना) पुत्री (दमयन्ती) जानती है (अथवा—कंवल पुत्री ही जानती है) । [तीनों लोकके राजा स्वयवरमें आये थे, उन्मेंसे इनने उद्भृगुओंमें तुल नल-जैसे वरको चुनना गुणदा पुत्री दमयन्तीने ही किया है यह कार्य हमरा किनी कन्याने नहीं हो सकता था] ॥ ६ ॥

सृजन्तु पाणिप्रहमङ्गलोचिता मृगीहज स्त्रीममयस्पृश क्रिया ।

श्रुतिस्मृतीनान्तु प्र विदध्महे त्रिपीनिति स्माह च निर्ययौ च न ॥ ७ ॥

सृजन्विति । स भीम, सृगोदश पुरन्ध्र, पाणिप्रहमङ्गलोचिता विवाहमङ्गल योग्या, आसमय स्याचार स्पृशन्तीति तत्स्पृश स्त्रीममाचारप्राप्ता इत्यर्थ । ‘मृगोऽनुदके किन्’ । क्रिया मङ्गलकर्मणि, सृजन्तु विदधतु । वयन्तु श्रुतिस्मृतीना सम्यग् धिन तद्विहितान्, विधीन् कर्मणि, विदध्महे कुर्महे, इत्याह स्म च उवाच च, ‘लट् स्मे’ इति भूते लट् । निययौ च अन्त पुरान् निजगाम च । चकारद्वय क्रिययो यौगपद्यसूचनार्थकम्, उक्तत्वेन निर्ययौ, न तु चगमपि विलम्बमकरोदिति भाव ॥ ७ ॥

‘विवाह-मङ्गलके योग्य (सधवा) मृगलोचनी स्त्रिया स्त्रियोंके आचारसम्बन्धिनी क्रियाको करे (अथवा—हे मृगलोचनी स्त्रिया ? आपलोग विवाह-मङ्गलके योग्य स्त्रियोंके आचार-सम्बन्धिनी क्रियाओंको करे । अथवा—मृगलोचनी स्त्रिया विवाह ’) । और हमलोग वेद तथा धर्मशास्त्रोंमें प्रतिपादित विधियोंको करते हैं’ ऐसा कहे और चले भी गये ।

[इसमें विवाह-सम्बन्धी बाहरी एवं भीतरी कार्योंको तीव्र पूरा करनेके लिए राजा मोन को त्वरा सूचित होती है] ॥ ७ ॥

निरीय भूपेन निरीक्षितानना शशस मौहूर्त्तिकसमदशकम् ।

गुणैररीणैरुदयास्तनिस्तुष तदा स दातु तनया प्रचक्रमे ॥ ८ ॥

निरीयेति । भूपेन निरीय अन्त पुरात् निर्गत्य, ईड् गताविति धातो समासात् व-वा ल्ययादेशः । निरीक्षितानि आननानि यस्या सा लग्नकथनाय मुखनिरीक्षणे नेव कृम्यङ्केता इति भावः । मुहूर्त्तं तत्पतिपादकं शास्त्रं विदन्तीति मौहूर्त्तिका ज्योतिषिका, 'तदधीते तद्देव' इति ठक्, तेषां सप्तज्योतिषिकपरिपत्, अरीणै अक्षीणै, समग्रैरित्यर्थं, री गताविति धातो कर्त्तरि क, 'वत्तादिभ्य' इति निष्ठान्तश्च, गुणै शुभप्रहवीक्षणविभि उपलभितम्, उदयास्तान्मया ग्रहविशेषागामुदयास्तमयनिषन्धनदोषाभ्यां, निस्तुष तद्रहितम्, अशमेव अशक वैवाहिकरुत्तान, शशस कथयामास, तदा तस्मिन् लग्ने, स भूप, तनया दातु प्रचक्रमे उद्युक्तानित्यर्थः ॥ ८ ॥

(अग्न पुराणे) निकृष्टकर राजा मोनके द्वारा मुद्रांशनेतृप्राप्तनावने सहैति उच्यते विषोंके समुदायने सम्पूज गुणों (आमित्र गुणों) से युक्त तथा शुक्ल-इष्टरति आदि ग्रहोंके उदयास्तादि दोषोंमें शीघ्र लग्नको वृत्तवा, तत्र उम (राजा मोन) ने पुत्री (दम्पती) को देने अर्थात् कथाशय करनेके विषय (पूर्वकालिक वेदेक तथा स्मान विषयोंके) आरम्भ कर दिया ॥ ८ ॥

अथारददूनमुख स नैषध कुलञ्च वाला च ममानुकम्पनाम् ।

सर्पञ्जरत्नञ्च मनोरथाङ्कुराश्चिरण नस्त्यचरणोदकैरिति ॥ ९ ॥

अर्थात् । अथ लग्नस्थितारोहणानन्तर, दूत एवं मुख्य यस्य स तादृश, स भीम, मम कुलञ्च वाला ममोच, अनुकम्पयताम् अनुगृह्यता, विरग बहुकालोन, न अन्माक, मनोरथाङ्कुर प्रागङ्कुरित त्वया सह भैमाविशङ्करमनोरथ, चचरणोदके तव पादोदके, अथ पल्लवेन सह वर्त्तते इति सपल्लव स इव आधरतु सपल्लवतु अथ स्रज पल्लववान् इत्यस्त्वित्यर्थः । 'सर्वप्रातिपदिकेभ्य क्त्वा वक्तव्य' इति सपल्लवशब्द-शब्दाचार्येऽङ्क्ति, नत क्रियन्तधातो प्रार्थनाया लोट् । इति नैषध नञम्, अथदत्, दूतमुपेन जलमिदं निवेदितवानित्यर्थः ॥ ९ ॥

॥॥ (वत्तादिक लग्नके निश्चित होने) के बाद (राजा मोन) दूतके द्वारा नञ्के प्रति कहलवाया कि—'मेरे कुल तथा पुत्रीका स्वीकार कीजिये, बहुत दिनोंके बाद हम लोगोंका मनोरथम्प अङ्कुर आज आपके चरणोदकमें पड़वित-ता हैवे ।' [मोनने दूतने नञ्के पास सन्देश भेजा कि 'आप मेरी पुत्रीको ग्रहणकर मेरे वत्तपर अनुग्रह करें, इससे

१ 'मुहूर्त्तं वेद इत्यर्थे 'मृत्तुकादि—' इत्युक्थादित्यादृक्' इति नारायणश्रित्य, उक्थादां तदपाठात् । २ 'स पल्लवरत्नञ्च' इति पाठान्तरम् ।

चिरकृत् मेरा मनोरथाङ्कुर आपके चरण-प्रक्षालनके जलने सिञ्चित होकर पङ्कितके समान अर्थात् सफ़्त हो जावे] ॥ ९ ॥

तथोत्थित भीमवच प्रतिध्वनि निपीय दूतस्य स वक्त्रगह्वरात् ।

ब्रजामि वन्दे चरणौ गुरोरिति ब्रुवन प्रदाय प्रजिघाय त बहु ॥ १० ॥

तथेति । स नल, दूतस्य वक्त्रम् आस्यम् एव, गह्वर गुहा तस्मात्, तथा पूर्वोक्तप्रकारेण, उत्थितम् उदित भीमवचस प्रतिध्वनिम् अनुरूपशब्द, निपीय दूत-मुखात् भीमवचन श्रुत्वेत्यर्थ, ब्रजामि अनुनैव गच्छामि, गुरो अशुरस्य चरणौ वन्दे । ब्रजामि वन्दे इत्यत्र 'वर्त्तमानसामीप्ये-' इति भविष्यदर्शे लट्, स्वयम् अहम् आरा-त्क्षामि गुरुपादवन्दनायेत्यर्थ, इति ब्रुवन् त दूत, बहु बहुधन, पारितोषिकमिति यावत्, प्रदाय दत्ता, प्रजिघाय प्राहिणोत् । 'हि गता' इति धातो ङिति 'हेरषङि' इति हस्य कुरवम् ॥ १० ॥

उस (नल) ने दूतके मुखरूपी गुफासे उस प्रकार निकली हुई राजा भीमके वचनकी प्रतिध्वनिकी अच्छी तरह पानकर अर्थात् दूतने राजा भीमका मन्दसुनकर 'बलना हू' गुरु अर्थात् अशुरके चरणद्वयको प्रणाम करता हूँ, ऐसा कहने हुए बहुत (पारितोषिक) देकर उस दूत को छोटाया ॥ १० ॥

निपीतदूतालपितस्ततो नल विदर्भभर्ताऽऽगमयाम्बभूव स ।

निशब्दाने श्रुताम्रचूडवाक यथा रथाङ्गस्तपन वृतादर ॥ ११ ॥

मिरातेति । तना दूतप्रयावर्त्तनान्तर, निपीतदूतालपित श्रुतदूतवाच्य, स विदर्भभर्ता भीम, निशब्दाने श्रुता म्रचूडवाक् प्रभातिक कुक्कुटारूपित येन स तादृश 'कुक्कुटाक्षराक्षूड कुक्कुटश्रवणयुध' इत्यमर । रथाङ्ग चक्रवार, कोरुश्च क्रधरुवाको रथाङ्गाह्वयनामक' इत्यमर । रथाङ्गपर्यायाणा चक्रवारनामवाभिधा नात् पुष्टिर्नता । तपन यथा सूर्यमिव, इति श्रौती उपमा 'इव-वत्-वा-यथाशब्दाना प्रयोगे श्रौती' इति लङ्गात्, वृतादर संज्ञाताग्रह सन्वित्यर्थ, नलम् आगमयाम्ब-नूव माग्रह सन् नलागमन प्रतीक्षितवानित्यर्थ, तादृगुपमामाम्ब्यादिति ॥ ११ ॥

इस (दूतके लटने) के बाद दूतकी बातको अच्छी तरह सुने हुए विदर्भराज भीम आदरपूर्वक (नन्की) उस प्रकार प्रतीक्षा करने लगे, जिस प्रकार प्रातःकालमें सूर्यकी बोली सुनकर चक्रवा (सूर्य) के उदय) का प्रतीक्षा करता है ॥ ११ ॥

कांचित्तदाऽऽलेपनदानपण्डिता कमप्यङ्कुरमगात् पुरस्कृता ।

अलम्बि तुङ्गासनमन्निवेशनादपूपनिर्माणविदग्धयाऽऽदरः ॥ १२ ॥

काचिदिनि । तदा तत्काले, आलेपनदानपण्डिता तच्छुश्रूषिणिना गृहकुट्टिमादौ

१ 'काचित्' इति पाठान्तरम् ।

चित्रीकरणत्रियादद्या, काचित्, पुरग्भीनि शेष, पुरगृता आलेपनकर्मणि प्राधान्येन, निदुक्ता सती, कमपि अवाच्यम्, अहङ्कार गर्वम्, अगात् । अपूपाना पिष्टकाख्यमन्त्र्य भेदाना निर्माणे विदग्धया दक्षया, कयाचित् पुरगृता इति शेषः । तुङ्गासने उद्यमाने सन्निवेशनात् उपवेशनात्, पिष्टकभर्जनार्थमिति भावः । आदर आत्मनि अभिमान, अत्यभि प्रापि 'लभेत्' इति नुमागम ॥ १२ ॥

एत समय चौक पुरने (हल्लीसे मिश्रित चावलके चून अर्थात् चौरठसे आगनमें बनाये जानेवाले बिच-विशेषके निर्माण करने) में चतुर (कृतक उस कार्यको करनेके लिए) निदुक्त वी गयी किसी स्त्रीने किसी अनिदघनीय अहङ्कारको प्राप्त किया तथा पुत्रा पकानेमें चतुर किसी स्त्रीने उन्हे आसन (छोटी चौकी या मचिया आदि) पर बैठनेसे (अपनेमें) गौरवको प्राप्त किया । (अथवा—उबटन लगानेमें चतुर कोई स्त्री दमयन्तीको उबटन लगानेमें पुरगृतकी । प्रपान बताया) गयी अनिदघनीय अहङ्कारको प्राप्त किया) । [कोई को चौक पुरनेमें लग गया और कोई मचियापर बैठकर पुत्र पकाने लगी] ॥ १२ ॥

मुत्तानि मुत्तामणितोरणात्तदा मरीचिभिः पान्थविलासमाश्रितैः ।

पुरस्य तस्याखिलवेशमनामपि प्रमोदहासच्छुरितानि रेजिरे ॥ १३ ॥

मुत्तामिति । तदा तत्काले, आरुह्यपरिणयमहोत्सवे इत्यर्थः । तस्य पुरस्य सम्बन्धितानाम् अखिलवेशमनाम् अपि सर्वपामेव गृहाणा, मुखानि द्वाराणि वक्त्राणि च, इति इत्येव । मुत्तामणीनां तोरणान् तन्मन्दारद्वारात् । अपादानात् । 'तोरणोऽस्त्री यन्निर्द्धारम्' इत्यमरः । पान्थविलासः नित्यपथिकविभ्रमम्, आश्रितैः अधिगतैः, निरन्तरानि सूर्नेरित्यर्थः । पान्थविलासस्य मराधिपु असम्भवात् तद्विलास इव विलास इति निदर्शनात् । मरीचिभिः किरणैः । 'द्वयोर्मरीचिः किरणो भानुरस्त्रं करपदम्' इति शब्दार्णवः । प्रमोदहासच्छुरितानि अट्टहासपरञ्जितानीव, रेजिरे शुशुभे । सुखत्वात् शुश्रवाच्च इत्यमुष्मेणाऽप्यञ्जकाप्रयोगादुक्त्या ॥ १३ ॥

उस समय (विवाह-समयके स्त्रीप आ जानेपर) उस नगरके तथा उस नगरके सबनोंके भी मुख अर्थात् मुखस्थानीय द्वार मोतियों तथा मणियोंके तोरणोंसे (निकलकर) पश्चिम-दक्षिणको प्राप्त विषे हुए (बहुत दूर तक फैलेवाले किरणोंसे (उक्त विवाहोत्सव-काल) अतिदृश्य एवं दुक्त दास्ते दुक्त) के समान शोभने लगे । [भगर तथा सबलोंके द्वारोंपर लगी गये मोतियों तथा मणियोंके तोरणोंकी दूर तक फैलेवाली कान्ति ऐसी महिम पटता थी कि मानों यह नगर तथा इस नगरके सबन भी अतिदृश्य एवं इतने ही हैं] ॥ सर्वत्र मोतियों और मणियोंके तोरणोंसे नगर तथा सबनोंको सुसज्जित किया गया ॥

पथामनीयन्त तथाऽधिवासनान्मधुव्रतानामपि दत्तविभ्रमाः ।

रितानतामातर्पनिर्भयास्तदा पटच्छिदाऽकालिकपुष्पजा स्रजः ॥ १४ ॥

१ 'तोरणोद्गातैः' इति पाठान्तरम् ।

पथमिति । तथा तेन प्रकारेण, यथा केनापि कृत्रिमत्वेन नात्रुत्पन्ने तादृश रूपेणेयर्थः, अधिश्रामत्वात् कृत्रिमपुष्पनिर्मितमालासु चम्पकादिसुगन्धिषुपै सस्कार-साधनात्, 'सम्कारो गन्धमाख्याद्यैर्यं स्यात्तदधिवासनम्' इत्यमर, मनुष्यनामा मनुलिहाम् अपि, किमुलान्येषामिति भावः, दत्तविभ्रमा कृताकृत्रिमपुष्पनिर्मितल-क्ष्मन्तयः, इति भ्रान्तिमदलङ्कारः, आतपनिर्मया आतपेऽपि अम्लाना इत्यर्थः, पटश्चिद्वा पटकृत्तनेन, चेत्तत्पदेनेत्यर्थः, कृतानि यानि अकालिकानि अकालोद्भवानि पुष्पाणि तेभ्यः जाता तज्जा, अत्र मालिका, तदा आसन्नविवाहमहोत्सवकाले, यथा नगरमार्गाणां, वितानताम् उल्लोचना, चन्द्रामपचमियर्थं 'अस्त्री विनानमुल्लोच' इत्यमर, अनीयन्त नीता, नयतेद्विकर्मकत्वात् प्रधाने कमलि लङ्, 'प्रज्ञानकर्मण्या-रयेये लादीनादुद्दिक्कर्मणाम्' इति वचनात् । रचनाराटनेन सर्वत्र पुष्पवितानभ्रान्तिता चदूषा इत्यर्थः ॥ १४ ॥

उत्त प्रकार (विशेष विचार करनेपर भी अकृत्रिम ही नाहूँ पड़ने योग्य) सुशोभित करनेने नित्य मनुष्यन करनेवाले मोरोंको मा भ्रान्त ('यै कपटके बने सुशोभित किने गये बनावटी फूल नहीं हैं, किन्तु वास्तविक फूल ही हैं, ऐसा समझे) करनेवाला, धूममें भी निर्भय अर्थात् नहीं मुहनिवाणी, कपटोंका काटकर बनायी गया, असामयिक फूलोंका माण्य मार्गमें चंदोबा बन गयी, [कपटोंको काटकर फूल बनाये गये और उनको उन्हीं-उन्हीं फूलों की सुगन्धिसे ऐसा सुशोभित किया गया कि सुगन्धिके सच्चे पारखों भारे भी उन्हें वास्तविक फूल समझकर ग-वशान करले थे, उन कृत्रिम फूलोंका मरन मानाओंने मार्गोंको ऐसा सजाया कि वे मालाए मार्गोंकी चंदराश-भी बन गयी ॥ १४ ॥

विभूषणैः कर्त्तृक्रिया बभूव प्रजा विचित्रचित्रे स्तपितरिपगृहा ।

यभूव तस्मिन्मणिकुट्टिमं पुरं यषु स्वमुर्व्या परिजित्तोपमम् ॥१५॥

विभूषणैरिति । तस्मिन् पुरे प्रजा जना, 'प्रजा स्यात् सन्ततो जने' इत्यमर, विभूषणैः अलङ्कारैः, कन्तुम्भिना सज्जातकन्तुका, सर्वाङ्गोपाभरणा मय्य इति भावः, तथा गृहा विचित्रचित्रे विविधाभेदयै स्तपितरिपगृहा निष्ठुदकान्तप, शोभनदर्शना सन्त इत्यर्थः, 'ग्लान्नावनुवमाञ्च' इति स्नातेरनुपसर्गस्य मित्त्वविकल्पात् इत्यवम्, यभूव विरेञ्च । उर्व्या तत्रयभूमे, यषु यषु निजस्वरूप, अगताः कुट्टिमे मणिरद्व प्रवेशे, कुट्टेन बन्धेन निर्जुत्त कुट्टिमं 'भाजप्रत्ययान्तादिमप् वक्तव्य' । कुट्टिमोऽस्त्री निवद्धा भू' इति स्वामी, परिवर्त्तितोपमम् अन्यादशोपमान, यभूव, पूर्व नगरस्य-यादशो उपमा आसीत् इदानीमलङ्कृतत्वात् तादृशी उपमा नासात् इति भावः ।

उत्त नगरमें प्रजा (नागरिक जन) विशिष्ट भूषणोंसे सुसज्जित सम्पूर्ण शरीरवाणी होकर शोभने लगी, (निर्वाच होनेपर भी सज्जोव माञ्च पड़नेवाले अनेक रणोंसे बनाये)

१ 'स्वरस्या' इति पाठान्तरम् ।

गये) आश्रयकारक चित्रोमे स्वच्छतम कान्तिवाले भवन शोभने लगे, (इस प्रकार ब्रह्म नागरिक लोगो तथा स्थावर भवनों और) मणियोंकी बनी हुई भूमिसे (अथवा—एक प्रकार मणिजडित भूमिसे उपलब्धित) उस नगरमें पृथ्वीका अपना (सृज = प्राकृतिक) गरीर परिवर्त्तिन—सा (बदले हुएके समान) हो गया । (अथवा—उल्टे हुएके समान (ब्रह्माने पृथ्वीके सृज गरीरको उल्टे दिया है), अतएव मणिमयी भूमि आदिसे शोभमान नीचेका पहाल लोक ऊपर आ गया है और ऊपरका साधारण शोभावाला माग नाच चला गया है ऐसा) मालूम पड़ता था । अथवा—परिवर्त्तिन (बदली गयी) है उम्मा जिसकी पेशा पृथ्वीका स्वरूप हो गया है अर्थात् पहले स्वर्ग उपमा और पृथ्वी उपमेय थी, किन्तु अब पृथ्वी उपमा तथा स्वर्ग उपमेय हो गया है यानी स्वर्गसे पृथ्वी ही व्येष्ट शोभा वाली हो गया है ऐसा मालूम पड़ता था । (पाठा०—स्वर्गसे परिवर्त्तिन (बदली गयी) उस मावालेके समान पृथ्वीका स्वरूप हो गया) ॥ १५ ॥

तदा निमग्नान्तमा घन घन ननाद् तस्मिन्नितरा तत् तत्तम् ।

अत्रापुरञ्चै सुपिराणि राणिताममानमानद्वमियत्तयाऽध्वनीत् ॥१६॥

तदेति । तदा आसन्नविवाहमहोत्सवकाले, तस्मिन् पुरे, घन कांक्ष्यतालादिवाद्य, घन निरन्तर यथा स्यात् तथा, निरन्तरान्तमाम् अतिशयेन दध्मान 'किमेत्तिट्य यथादामु—' इत्यादिना आमु—प्रत्यय । तत् बीणादिक वाद्य, नितराम् अतिशयिकम्, पूर्ववदामु—प्रत्यय, तत् विस्तृत यथा तथा, ननाद् । सुपिराणि वशादिवाद्यानि, उच्च उच्चैरन्तराणि ताराण्य, ध्वननमित्यर्थ 'रणतेर्व्यस्ताज्ञावेक्ष' अवापु । आनन्दं सुरजादिवाद्यम्, इत्यत्तया केनचित् मानेन, अमान मानरहित यथा तथा, अध्वनीत् दध्मान, ध्वनतेतुम् । 'अतो हलादेश्लघो' इति विकल्पात् वृद्धिप्रतिषेध । 'तत् बीणादिक वाद्यमानन्द सुरनादिकम् । वशादिकम् सुपिर कास्यतालादिक घनम् ॥' इत्यमर ॥ १६ ॥

उस समय उस नगरमें बाने-क बने (शान्, मँनीरा, घण्टा आदि) बाने अत्यधिक बजने लग, गारोंवाले (बीणा, सारंगा, बेला, सितार आदि) बाने बहुत शकार करने (बजने) लग, छिद्रवाले (बासुरी आदि) बाने उच्च स्वरसे ध्वनि करने लगे और चमड़ेसे मट्ट हुए (नगाड़े, परावज, ढोलक आदि) बाने प्रमाग्नरहित अर्थात् अत्यधिक बजने लग । [नन्वे आनेके समय उस कुण्डिनपुरमें 'घन, तन, सुपिर तथा आनन्द'—ये चारों प्रकारके बाने आत्यधिक बजने लग] ॥ १६ ॥

त्रिपञ्चिराच्छादि न वेणुभिर्न तं प्रणीतगीतैर्न च तेऽपि भर्म्भरे ।

न ते हुङ्कुकेन न सोऽपि टक्ष्या न मर्दलैः साऽपि न तेऽपि टक्ष्या ॥

विपञ्चिरिति । त्रिपञ्चि बीणा 'विपञ्चिर्बहुलकी बीणा' इति वज्रयन्ती । 'हृदिकरात्—' इति विकल्पादीकारमात्र । देणुमि देणुवाद्यं, न आच्छादि न छादिता, न

तिरोहितेत्यर्थं द्वादशते कर्मणि लुङ्, ते वेणव, प्रगीतगीत प्रयुक्तगानै, गायकैरि
त्यर्थः । गीतनि स्वमैरिति यावत्, न, आच्छादिपत इति विभक्तिविपरिणामे
नान्वयः, एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । तेऽपि च गायकध्वनयश्च, झङ्गरे वाद्यविशेषः,
तद्ध्वनिभिरित्यर्थः । न, आच्छादिपत, ते झङ्गरध्वनयः, हुहुक्केन वाद्यविशेषेण, न,
आच्छादिपत, सोऽपि हुहुक्कोऽपि, उवस्या वाद्यविशेषेण, न, आच्छादि, साऽपि
उवकाऽपि, मर्दत्ते मृदङ्गध्वनिभिः, न, आच्छादि, तेऽपि मर्दलानां ध्वनयोऽपि,
उवकया न, आच्छादिपत, वादकजनानां तथा वादननैपुण्यं, यथा विपञ्च्यादिध्वनय
प्रत्येकमसरिल्लिख्यता इति भावः ॥ १७ ॥

वीणा (की ध्वनि) वही (की ध्वनि) से नहीं दबो, (इन्ही प्रकार) वही (गाय
कोंके) गानोंसे, गायकोंके गाने झाझोंसे, झाझ हुहुक्के, हुहुक नगाटसे, नगाटा मृदङ्ग (या
मराक बाजे) से और वे (मृदङ्ग या मराक बाजे) नगाटेम नहा दबे । [उक्त सबोंकी ध्वनि
बजानेवालोंकी निपुणताके कारण एक दूसरेसे नहा दबती थी, अर्थात् तु पृथक्-पृथक् स्पष्ट
सुनायी पड़ती थी] ॥ १७ ॥

विचित्रवादिश्रनिनादमूर्च्छित सुदूरचारी जनतामुरारवः ।

ममौ न कर्णेषु दिगन्तदन्तिना पयोविपूरप्रतिनादमेदुर ॥ १८ ॥

विचित्रेति । विचित्राणि नानाविधानि, वादिश्राणि तत्ताविश्राणानि 'चतुर्विधमिदं
वाद्यवादिश्रातोद्यनामसम्' इत्यमरः, तेषां निनादं ध्वनिभिः, मूर्च्छित प्रवृद्ध
सुदूरचारी अतिदूरव्यापी, जनतानां जनसमूहानां, मुरेषु आरव शब्दः, लोकाणां-
पकोलाहल इत्यर्थः । पयोधीनां पुरेषु लहरीषु, प्रतिनादेन प्रतिध्वनिना, मेदुर
मेदस्वी, प्रवृद्ध सन् इत्यर्थः । 'भञ्जभासमिदो घुरच्' इति मिदधातोर्घुरच्प्रत्ययः ।
दिगन्तदन्तिना दिगज्जानां कर्णेषु न ममौ न मासि स्मेति अतिशयोक्तिः । वधूमङ्ग-
लस्नानार्थं महान्तं मङ्गलतूर्यघोषणमकार्पुनित्यर्थः । उच्चैर्वादितत्रिविधवाद्यनिनादेन
सह मिश्रितं तत्रत्यजनानां महान् कलकल कर्णवधिरकारी अभूदिति भावः ॥ १८ ॥

अनेक प्रकारके बाजाओंकी ध्वनिमें बड़ा तथा बहुत दूर तक गया हुआ जन-समूहके
मुखका शब्द अर्थात् कोलाहल समुद्रतरङ्गोंमें प्रतिध्वनित होकर बड़ा हुआ दिगजोंके
कानोंमें नहीं आ सका अर्थात् अत्यधिक होनेसे उन दिगजोंके कानोंसे बाहर निकल आया ।
[जन-समूहका कोलाहल दिगन्ततक फैल गया] ॥ १८ ॥

उदस्य कुम्भीरथ शातकुम्भजाश्रुतुष्करत्तिपि वेदिकोदरे ।

यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजा पुरन्त्रिर्गं स्नपयाम्बभूव ताम् ॥ १९ ॥

उदस्यति । अथ मङ्गलतूर्यघोषणानन्तरं, पुष्करिणं पुरवासिनीसङ्घं, शात-
कुम्भजा सौवर्णी, कुम्भी पूर्णकलशी, उदस्य उद्यमय्य, अथ तदनन्तरं मङ्गल

१ यथाविधानं नरनायनन्दिनीम्' इति पाञ्चान्तरम् ।

यथा तथा मङ्गलगोतपूर्वं यथा तथा वा इत्यर्थः । 'मङ्गलानन्तरारम्भ-प्रश्नकारण्ये
 स्वधो अथ' इत्यमरः । चतुष्टये चतुस्तम्भमण्डपेन, चारुत्विपि अनिशयशोभे,
 घटिकादरे वेदिमध्ये, यथाकुलाचारम् कुलाचरम् अनतिक्रम्य इत्यर्थः, ताम् अवनी
 नृजा भर्मा, स्नपयाम्बभूव स्नानं कारयामास । 'ग्लान्तावनु—' इत्यादिना स्नाते-
 र्मि वविकल्पत् इत्येवम् ॥ १९ ॥

इमं (अनेकविध बाजाओंके बजने लगने) के बाद स्त्री-ममूद्ने चौक (या-वार-
 त्मोंके मण्डप) से सुन्दर कानिवाले बेदीके बीचमें, सुवर्णके कलशियोंको उठाकर (उनमें)
 रानकुमारी उस दमयन्तीको कुलाचारके अनुसार स्नान कराया ॥ १९ ॥

त्रिजित्य दास्यादिन चारिहारितामचारितास्तत्कुचोयोर्द्वयेन ता ।

शिर्यामवाक्षु सहकारशाखिनरूपाभरम्लानिमिरानतैर्मुखैः ॥ २० ॥

त्रिजित्येति । तत्कुचयो द्वयेन भैमोस्तनद्वयेन, त्रिजित्य दास्यात् दासीकरणादिव,
 चारिहारिता जलवाहिनीत्वम्, अवापिता प्रापिता, आपेर्ण्यन्तादृगिक्तुं कर्मणि
 क्, 'ण्यन्ते कर्तुंश्च कर्मण' इति घञनात् । ता कुम्भा, आनत अधनतैर्मुखैर्द्वार,
 द्वाराधोदेते इत्यर्थः । आनतैश्च, सहकारशाखिन शिर्या चतुष्पल्लव, त्रयाभारेण या
 म्लानि म्लानना तामिव, चतुष्पल्लवरूपम्लानतामेव, दास्यन्नितलप्लवेति भावः ।
 अवाक्षु अधोर्ध्वं, वहेर्लुङि सिचि 'वदप्रज्ञ—' इत्यादिना वृद्धिः, 'होष' इति ढ,
 'पठो क सि' इति कट्ये 'इण्को' इति पठ्य, 'सिजभ्यस्त—' इत्यादिना हेर्लुङि
 अडागमः । प्रतिगृहद्वारप्राप्ते सहकारशाखाद्यादितमुत्पूज्य कुम्भस्य सस्थापिता
 अभूवन् इति भावः । लोके दासीकृता स्त्रियो नतानना म्लानमुत्पूज्यन्तय जलाह-
 रणादिकम् कुर्वन्तीति द्रष्टव्यम् । अत्र दास्यादिवेति हेतुप्रेक्षा, म्लानिमिवेति गुणस्य
 रूपोपप्रेक्षा, तयोरद्वात्रिभावेन सजातीयसङ्करः ॥ २० ॥

उस (दमयन्ती) के दोनों स्त्रियोंमें पराजित होकर मानो दासीत्वको प्राप्त होनेके
 कारण पानी भरनेवाली (दाम्नी) बनी हुई वे सुवर्ण-कलशिया नम्र (नीचे झुके हुए)
 मुखमें आभ्रवृक्षके पत्तोंकी लज्जाके भांसे म्लानिके समान धारण करता थीं । [त्रिम
 प्रकार कीन्हीं दारी हुई कोई स्त्री उसकी दाम्नी बनकर लज्जासे नम्रमुखी हो मलिनताको
 धारण करती हुई जल भरती है, उसी प्रकार दमयन्तीके विशाल एवं गौरवर्ण स्नानद्वय
 पराजित सुवर्ण-कलशिया मानों उसकी दाम्नी बनकर नीचे मुख किये पानी भरती तथा
 आभ्रपल्लवरूप मलिनताको मुखपर धारण करती हैं ॥ मङ्गलाचारके लिए सुवर्ण-कलशियोंमें
 पानी भरकर उनके मुखपर श्यामवर्ण का जामपल्लव रखे गये हैं ॥ २० ॥

असौ मुहुर्ज्ञानजलामिपेचना क्रमाद्दुदुकूलेन सिनाशुनोज्ज्वला ।

द्वयस्य वर्षाशरदा सर्दातनीं सनाभिता साधु बबन्ध सन्धया ॥ २१ ॥

१ 'तदातनीम्' इति पाठान्तरम् ।

असाविति । अमौ भैमी, सुदु जातं जलाभिषेचनयस्या सा तादृशी जलाभि-
पिता सती, तथा सिताशुना शुभ्रसूत्रघटितेन, दुकूलेन पट्टवस्त्रेण, सित शुभ्र अशु-
किरणो यस्य तेन चन्द्रेण च, उज्ज्वला शोभिता, सती, क्रमात् वर्षाशरदा द्वयस्य
सन्धया सन्धिस्थलेन, वर्षर्तुशेषशरदनुप्रारम्भरूपतुद्रयमध्यवर्तिनालेनेत्यर्थ ।
सदातनीं सनातनीं, सनाभिता तुल्यत्व, साधु यथा तथा बबन्ध दधार । वर्षर्तुरपि
जलाभिषिक्त शरच्च शीताशूज्ज्वलो भवतीत्युपमा ॥ २१ ॥

किर स्नान की हुई यह (दमयन्ती) स्वच्छ सूत्रवाले रेशमी वस्त्र (पक्षा०—स्वच्छ
किरणोंवाले चन्द्रमा) से उज्ज्वल अशु शुभ्र सूत्रवाले रेशमी वस्त्र (के अन्निमकाक) तथा शरद्
(के प्रारम्भ काल)—दोनोंके तात्कालिक मन्थ्याकी समानताकी प्राप्त किया । [पहले
स्नानकर बादमें स्वच्छ सूत्रवाले रेशमी कपड़की पहनकर दमयन्ती उस प्रकार उज्ज्वल
वेषवाली शोभित हुई, जिस प्रकार पहले वर्षर्तुसे स्नानकर शरद् ऋतुके प्रारम्भमें
स्वच्छ किरणोंवाले चन्द्रमासे उस समय (वर्षाके अन्त तथा शरद्के प्रारम्भ) की
मन्थ्या (दोनों ऋतुओंका सन्धिकाल) उज्ज्वल होता (शोभी) है] ॥ २१ ॥

असौ प्रभिन्नाम्युददुर्दिनीकृता निनिन्द चन्द्रद्यतिसुन्दरी दिवम् ।

शिरोरहौघेण घनेन मथुना तथा दुकूलेन सिताशुनोज्ज्वला ॥ २२ ॥

असाविति । घनेन सान्द्रेण, शिरोरहौघेण केशपाशेन, घनेन मेघेन च, सधुता
विशिष्टा, इति वर्षासाम्योक्ति, तथा सिताशुना शुभ्रसूत्रघटितेन दुकूलेन पट्टवस्त्रेण,
उज्ज्वला शोभिता, शीताशुना चन्द्रेण च, उज्ज्वला, इति शरत्साम्योक्ति, असौ
भैमी, प्रभिन्नै वर्षर्तुके, अगुप्तं मातृकृष्णवर्णमेघे दुर्दिनीकृतम् अभिवृष्टामिरत्यर्थ ।
तथा चन्द्रद्युत्या चन्द्रकान्त्या, सुन्दरी दिव नभ स्थली, निनिन्द तदुपमा अभूदि-
त्यर्थ । कथंयति निन्दतीति सादृश्यवाचकेषु दृष्टी इति उपमालङ्कार ॥ २२ ॥

सगन केश-समूह (पक्षा०—मेघ) से युक्त (पाठा०—केशी पर बरसने हुए केश-
समूहरूप मेघोंसे युक्त) तथा स्वच्छ सूत्रवाले रेशमी वस्त्र (पक्षा०—चन्द्रमा) से उज्ज्वल
इस दमयन्तीने (पाठा०—पहले) बरस हुए भयमे जलप्लाविन (नभ बादमें) चन्द्रका-
न्तिमे सुन्दर नभमन्थ्याकी निन्दित कर दिश अर्थात् उसके समान शोभित हुए । [यहां
पर मेघके स्थानपर कृष्ण वर्ण केश-समूह, चन्द्रकाके स्थान पर स्वच्छ रेशमी वस्त्र, जल
बरसनेके स्थान पर स्नान की समानता की गया है] ॥ २२ ॥

विरेजिरे तच्चिकुरोत्करा किरा क्षण गलन्निर्मलवारिप्रिप्रुपाम् ।

तम सुदृचामरनिर्वयाजिना सिता वमन्त खलु कीर्त्तिमोक्षिना ॥ २३ ॥

विरेजिरे इति । क्षण क्षणमात्र, गलन्त्य खलन्त्य, निर्मला स्वच्छाश्च, या वारि-
विप्रुप तोयशिन्दव तामा, वृद्योगात् कर्मणि पठ्यते । किरन्तीति किरा विषेपका,

स्वच्छजलविन्दुस्ताविण इत्यर्थः । 'इगुपधज्ञाप्रीकिर क' इति क । तस्या भैया, चिकुरोत्करा वेशनिकरा, तम सुहृद तमोनिभस्य, चामरस्य बालव्यजनस्य, कृष्ण वर्णचामरस्येत्यर्थः । निर्जयेन पराजयेन, अजिता, सम्पादिता, सिता शुभा, मुक्ता एव मौक्तिका, 'अभाषितपुस्काच्च—' इति काव पूर्वस्य विकल्पादिकारः । कीर्त्तय एव मोक्तिका मुक्ताफलानि, वमन्त उद्विरन्त इव, इत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्रग्या, अथवा खलुशब्द एव इवार्थे प्रयुक्तः तेन वाच्याप्येक्षेव, विरेजिरे ह्यनु । 'फणाञ्च ससानाम्' इत्येत्वाभ्यासलोपी ॥ २३ ॥

थोडे समय तक गिरते हुए पानीके नूदोंकी टपकानेवाले उस दमयन्तीके लेश-मनू एन मालूम पटते थे कि अत्यन्त काले चामरोंको पराजित करनेसे प्राप्त श्वेन कीतिरूपी मोक्तियोंको वमन कर (गिरा) रहें हों । [कृष्ण वर्णवाले चामरसे भी सुन्दर दमयन्तीका वेश-मनूह था] ॥ २३ ॥

अदीयसा स्नानजलस्य वाससा प्रमार्जनेनाधिकमुज्ज्वलीकृता ।

अदभ्रमभ्राजत साऽश्मशाणतान् प्रकाशरोचि प्रतिमेव हेमजा ॥ २४ ॥

अदीयसेति । अदीयसा मृदुतरेण, वाससा गात्रमार्जनवक्षणेन, स्नानजलस्य स्नान हेतो अद्भ्रसङ्घिन जलस्य, प्रमार्जनेन अपाकरणेन, अधिकम् उज्ज्वलीकृता विमलीकृता, सा भेमी, अश्मशाणनात् अश्मना उत्तेजनोपलेन, शागनात् उद्धर्पणात् प्रकाशम् उज्ज्वल, रोचि दीप्ति यस्या सा तादृशी, हेमजा हैमी, प्रतिमा इव अदभ्र बहुलम्, अभ्राजत भराजत ॥ २४ ॥

अतिशय मुलायम बपट (तोलिया) से स्नान के पानीको पोंछनेसे अधिक स्वच्छ हो गया दमयन्ती पत्थरपर शान देनेसे प्रकाशित (चमकती) कान्तिवाली सोनेकी प्रतिमा (मूर्ति) के समान अधिक शोभने लगी ॥ २४ ॥

तदा तदङ्गस्य विभक्ति विभ्रम विलेपनामोदमुच स्फुरद्रुच ।

दरस्फुटत्काञ्चनकतकीदलात् सुवर्णमभ्यस्यति सौरभ यदि ॥ २५ ॥

तदिति । सुवर्णं कर्तुं, दरस्फुटत ईषद्विकसत । 'इषदर्थे दशव्ययम्' इति शाश्वत । काञ्चनकतकीदलात् काञ्चनवर्णकतकीपत्रात् । 'आख्यातोपयोगे' इत्यपदानत्वात् पञ्चमी । सौरभम् आमोदम्, अभ्यस्यति यदि अधाते चेत्, गृह्णाति चेदित्यर्थः । तदा तर्हि, विलेपनेन अङ्गरामेण, य आमोद मनोज्ञगन्ध, त मुञ्चति कितीति तन्मुच, स्फुरद्रुच उज्ज्वलकान्ते, तदङ्गस्य चन्द्रवादिमुगन्धिद्रव्यचक्षितदमयन्तीकलेवरस्य, विभ्रममिव विभ्रम शोभाम् । 'विभ्रम सशये आन्तौ शोभायाम्' इति घञयन्ती । विभक्ति । तथा च तदङ्गस्य सौरभगुणेन तद्रहितात् सुवर्णादाधिव्यकथनाद्व्यतिरेकस्तावदेव, यदिशब्देन सुवर्णस्य सौरभासम्ग्रन्थेऽपि सम्भावनया तत्सम्बन्धोपवर्तितशयोक्तिभेद, विभ्रममिव विभ्रममिति सादृश्याच्चेपादसम्भवद्वस्तु

सम्यग्धरूपो निदर्शनामेद्, तदङ्गोपमानसुबोध्योपमेयत्वकल्पनात् प्रतीपछद्मार्, तेन चाङ्गिनाङ्गत्वेन तेषां सङ्ग इति विवेकः ॥ २५ ॥

यदि सुवर्ण इव दिक्स्थित सुवर्णकेटकी-दलकी सुगन्धिका अग्न्याम (गिष्ठा-ग्रहण) करे नव बद् (चन्दनादिके) लेपनी सुगन्धको पैठाते हुए अग्निनाम् दमयन्ता के शरीरके विलास (पक्षा-विदिष्ट अम) को या सकता है । [दमयन्तीके शरीरके शरीरके बाद चन्दनादिका लेप लगानेपर ऐसा सुगन्ध निकलने लगा जैसा कि सुवर्णको धोकर विक्रमिन् केटकीके दूधमें सुगन्ध निकलता हो, परन्तु सुवर्णकेटकीके दूधमें सुगन्ध नहीं होनेसे दमयन्तीका स्थानोत्तर अनुचित शरीर अनुपम था] ॥ २५ ॥

अवापिताया शुचि वेदिकान्तर कलासु तस्मात् सल्लानु पण्डिता ।

क्षणेन सत्यश्चिरशिक्षणस्पृष्ट प्रतिप्रतीक प्रतिकर्म निर्ममु ॥ २६ ॥

अवापिताया इति । सल्लानु कलासु क्षिप्रविद्यासु, 'कला क्षिप्रमेवेति' इत्यमर, पण्डिता कुशला, सत्य शुचि शुद्ध, वेदिकाङ्गतर स्नानवेदे अग्न्या वेदिम् अवापिताया नीताया, तस्या दमयन्त्या, प्रतिप्रतीक प्रत्यवयवम्, 'अत्र प्रतीको-वयव' इत्यमर, प्रतिकर्म प्रमाधन, 'प्रतिकर्म प्रमाधनम्' इत्यमर । चिरशिवेन चिराग्यामेन, क्षणेन चाकाशेनेव, श्रुत्य, सुस्पष्ट, निर्ममु चक्षुरि-पर्य ॥ २६ ॥

सम्पूर्ण शलाओंमें निष्पुण सचिवोंने दमयन्तीको दूसरी स्नान (या - गीता आदिसे स्नानसे तथा सर्वतोमद् विद्यादिष्ट शुद्ध अर्थात् मातृहिक) शरीरके लक्षण दमयन्तीके प्रत्येक अङ्गको चिरकाशे प्राप्त शिक्षाके कारण सुस्पष्ट अलङ्कार का दिया ॥ २६ ॥

विनाऽपि भूषणमवधि प्रियामिय व्यभूषि प्रियाभिरदर्शि चापिका ।

न भूषणपाऽतिचकान्ति किन्तु माऽनयेति कम्पान्मु विचारचतुरी ॥ २७ ॥

विनेति । मूषा विनाऽपि अलङ्कारमन्तरेणाऽपि, प्रिया शोभामान, अवधि सीमासूता, इय मेरी, विज्ञानि अलङ्कारमे निरुपानि 'प्रवरनिरुपामित-विज्ञानि प्यानशिचिता' इत्यमर, व्यभूषि विभूषिता, तथा अधिका पूर्वव्याप्तोऽनुकृष्टा, अवशिष्ट इष्टा च, तादृशी कमानी-पर्य । वस्तुतस्तु तथा मेरी, मूषा नानिचकान्ति नात्यर्थ शोभते, किन्तु मा भूषेव, अनया मेया, अनिचकान्तीनि विचारचतुरी विमर्शनकौशल, मूषेव मेया अनिचकान्तीनि निश्चयनेषु-पर्य, करणस्तु ? न कम्पापीत्यर्थ । अनयैव मूषा मूषिण न तु मूषाणेनेयम् इति निश्चेतु मान्यमाना वादेव मूषाणामधिकशोभाकारित्वमिति सर्वाभा आन्तिरिति भाव ॥ २७ ॥

विना मूषावेदो मी शोभाओंको परमसीमा अथवा सर्वाधिक शोभनेवना दमयन्तीको (अलङ्कार करनेमें सुनिष्ठ) सुखपूर्वके विदेशरूपसे अलङ्कार किया गया अर्थात् (अलङ्कार-वस्तुसे अधिक) शोभावाला देखा । परन्तु 'वह दमयन्ती मूषाके दाग ही अधिक नहीं

१ 'विचकास्ति' इति पाठान्तरम् ।

सुकुलं, ता कालिन्दी, जहास उपहसितवतीवेत्यर्थः । व्यञ्जकाप्रयोगात् सम्प्रत्येका । यमुना बलरामस्य हलाकर्पणजन्यमङ्गेन मङ्गुरा पुष्पशून्या च, किन्तु भौमैकचन्द्राय स्वभाववद्वा पुष्पाचिता चेति उपहासो युक्त इति भावः ॥ ३१ ॥

बलरामके हलमे आकृष्ट के समान (अत एव) सधन (अत्यधिक) तरङ्गोत्ते डंडो बो यमुना नदी शोभना है, उसकी उस दमयन्तीके टेढ़े बाल उस (केशरचनाके) समर करुणनामक वृक्ष-विशेषके पुष्पोंसे हस रहे थे अर्थात् वृक्षवर्गवाणी कुटिल तरङ्गयुक्त यमुनामे भी अधिक शोभते थे । [यमुना नदी बलरामके हलसे आकृष्ट होनेपर काठे-काठे कुटिल तरङ्गोंवाली होकर शायमी थी, फिर मो पुष्पोंसे रहित थी, अतः काले-काले तपस्वन कुटिल एवं करुण-पुष्पयुक्त बालोंका अत्यन्त कार्यमे शोभनेवाली यमुनाको हैतना उचित है] ॥ ३१ ॥

धृतैतया हाटकपट्टिकाऽलिके बभूव केशाम्बुदक्षिणदेव सा ।

मुखेन्दुसम्बन्धवशात् सुधाजुष स्थिरत्वमूहे नियत तंदायुषः ॥ ३२ ॥

धृतेति । एतया भोग्या, अलिके ललाटे 'ललाटमलिक गोषि' इत्यमरः । धृता सा अतीव रम्यदर्शना, हाटकपट्टिका सुवर्गपट्ट, केश एव अम्बुद मेव, तस्य विद्युदेव बभूव । विद्युश्चेत् कथं स्थिरत्वम् ? तत्राह—मुखेन्दुसम्बन्धवशात् मुखचन्द्रेण सह सस्पर्शात्, सुधाजुष अमृतपायिन, तस्या विद्युन सम्बन्धिन, आयुष जीवित कालस्य, नियत स्थिरत्वं विहाय स्थायित्वम्, ऊर्ध्वे उपरेवे अमृतपानात् विद्युदायुष स्थिरत्वव्ययेन विद्युनोऽपि स्थिरत्वमिति भावः । 'उपसर्गादस्यत्युद्योर्वेति वाच्यम्' इत्यात्मनेपदम् ॥ ३२ ॥

इम (दमयन्ती) के दाता ललाटमें धारणकी गयी सुवर्णपट्टिका (ललाटभूषण) केश-रूपी मेघनी दिवनी ही हो गयी । (विनोदीके स्थिरप्रभा होनेका यह कारण है कि—(दमयन्तीके) मुद्ररूपी चन्द्रमाके अमृतका सेवन (भोजन) करनेवाली उस (विनोदी) की आयु अवश्य ही स्थिर (चिरस्थायी) हो गयी—ऐसा मे तर्क करता हूँ । [चन्द्रानृत पान करके दिवनीका आयु (प्रभा) का स्थिर होना उचित ही है] ॥ ३२ ॥

ललाटिकासीमनि चूर्णकुन्तला बभुस्तमा भीमनरेन्द्रजन्मनः ।

मन शिलाचित्रकदीपमम्मना भ्रमोभृत कज्जलधूमवलयः ॥ ३३ ॥

ललाटिकेति । भीमनरेन्द्रात् जन्म यस्या तस्या भोग्या, 'अवर्गो बहुव्रीहिर्यं विहरगो जन्मासुत्तरपदे' इति वामनः । ललाटिका ललाटस्य अङ्कुरः, 'कर्णललाटवत् कनलङ्कारे' इति कनप्रत्ययः । तस्या सीमनि प्रान्ते, चूर्णकुन्तला अलङ्का, मन-शिलाया धातुविशेषस्य, चित्रक तिलक, म एव दीप प्रदीप, मन शिलाया विद्मर-वर्गत्वात् तथा नलस्य कामोद्दीपकत्वात् चित्रके दीपत्वारोपममिति भावः । ततः

१. 'पदायुष' इति पाठान्तरम् ।

सम्भवा जाता, अमी अम विप्रतीति अमीमृत अमन्य, कञ्जलस्य धूमः कञ्जलोत्पादकधूम, तस्य वज्रय लता इव, श्रेष्ठ इवेत्यर्थ इरपुष्पेष्वा, वसुस्तमाम् अतिशयेन वसु 'तिष्ठश्च' इति तमप्रत्यये 'किमेत्तिद्वयवधात्'-इत्यनेनामुप्रत्यय ।

ललाटभूषणके पामने भोमनरेन्द्रनन्दिनी (दमयन्ती) के कुण्डलाकृति टेढ़े-मेढ़े केश मेनसिल्लने रचिन तिलकरूपी दीपकसे उत्पन्न टेढ़े-टेढ़े कान्नी धूमलताके समान शोभते थे । [दीपकके लोका धूआ काला एव टेढ़ा होता है, अतएव यद्वा मेनसिल्लके तिलकको दीपक तथा ललाटभूषणके समीपस्थ कुटिल कृष्णवर्ण बालोंको उक्त दीपकके ली (ज्वाला) की धूत्रयेणि कक्षा गया है । मेनसिल्लको पीलावर्णवाला तथा मलका कामोदीपक होनेसे यद्वा दीपक माना गया है और उम दीपकमे टढ़ी एव कान्नी धूत्रयेणिका निकटना अधिन हो है] ॥

अपाङ्गमालिङ्गय तदीयमुच्चकैरदीपि रेखा जनिताऽञ्जनेन वा ।

अपाति सूत्र तदिव द्वितीयया वय श्रिया वर्द्धयितु विलोचने ॥ ३४ ॥

अपाङ्गमिति । अञ्जनेन जनिता वा रेखा तदीय दमयन्तीयम्, अपाङ्ग नेत्रप्राप्तम्, आलिङ्गय स्पृष्ट्वा, उच्चकैर्नितरात्, अदीपि भायतस्यात् नेत्राद्वहि अपाङ्गपर्यन्तं प्रसारिता सती रगज, तत् सा रेखेत्यर्थ । विधेयसूत्रापेक्षया नपुसकनिर्देश, अथवा तत् रेखारूपमञ्जनमित्यर्थ । द्वितीयया वय श्रिया यौवनसम्पदा कर्णा, विलोचने वर्द्धयितु आक्षेपकालापेक्षया दीर्घाकर्तुं, सूत्रम् अपातीव पातितमिव इरपुष्पेष्वा पततेर्गन्तान् कर्मणि लुङ्, एनावत् मे चेन्नमिति निश्चिय पातित सीमासूत्रमिव सा अञ्जनरेखा विराजेत्यर्थ ॥ ३४ ॥

अञ्जनमे बनायी गयी ओ रेखा उस (दमयन्ती) के अशङ्क (नेत्रप्राप्त) का रसशकर आद्य न शोभित हुइ, द्वितीय (यौवन) अवस्थाका शोभाने नेत्रोंकी बढानेके निर वद्वा सूरसात किया हो ऐसा जान पटना था । [जिस प्रकार कोई कारीगर किसी रवानका बढानेके लिए पहले नायवे सूत्रमे मापकर सीमा निश्चिन करता है, उसी प्रकार दमय गीने नेत्रप्राप्तनक फेरा हुइ कृष्णवर्ण अञ्जनरेखा 'यौवनावस्थाकरी कारागरने नेत्रोंकी बढानेके लिए नापनेका मूत्र गिराया हा' ऐसा जान पटना था । यद्यपि नेत्र बढानको अनेसा सुहावस्थाने बढत नही ह, तथापि कदाञ्च-विज्ञेयादि विगममपुक्त होनेसे उनके बढनेका यद्वा बढना की गयी ह] ॥ ३४ ॥

अनङ्गलीलाभिरपाङ्गधाविनः कनीनिकानीलमणे पुन पुन ।

तमिस्रवशमवेण रश्मिना द्यपद्धनि सा किमरञ्जि नाञ्जनै ? ॥ ३५ ॥

अनङ्गेति । अनङ्गलीलाभि कदाञ्चानरूपस्मरधिलासे हेतुभि, पुनः पुनः अपाङ्गधाविन नेत्रान्तगामिन, कनीनिका तारका, सा एव नीलमणि इन्द्रनीलो-पल तस्य सम्बन्धि, तमिस्रवशमवेण तम कुलपम्भवेन, असितेनेत्यर्थ, रश्मिना

प्रभया, सा कञ्जलरेखारूपा, स्वपद्धनि रश्मिमार्गं, अरञ्जि रञ्जिता किम् ? अञ्जनै-
कञ्जले, न ? अरञ्जीति सापह्वयेष्वेवा ॥ ३५ ॥

(कटाक्ष-विशेषादिरूप) काम-विलासोत्ते नेत्रप्रान्तक दौडने अर्थात् पशुचनेवाली
(नेत्रकी) पुतलीरूपी इन्द्रनीलमणिके अन्धकारकुलमें उत्पन्न किताबोंसे अपने (गमना
गमनका) मार्ग रंग (कृष्णवर्ण बना) लिया हे क्या ? अञ्जनोंसे नहीं रंगा है । ['दमयन्ती
की आँखोंकी नीली पुतली कामविलासते बार-बार कटाक्ष करती हुई नेत्रप्रान्तक जो
गमनागमन करती थी, उसीसे वह कृष्णवाली रेखा बन गया है, अञ्जनसे नहीं बनी है,
ऐसा मानना हूँ । निरव्य गमनागमन करनेसे कृष्णवर्ण रेखारूप मार्गका बन जाना
सर्वविदित है] ॥ ३५ ॥

असेविपाता सुपमा विदुर्भजादृशाववाप्याञ्जनरेखयाऽन्वयम् ।

भुजद्वयव्याकिणपद्धतिरुप्रशो स्मरण वाणीकृतयो पयोजयोः ॥ ३६ ॥

असेविपातामिति । विदुर्भजादृशौ वैदुर्भानेत्रे, अञ्जनरेखया सह अन्वय
सम्बन्धम्, अवाप्य प्राप्य, भुजद्वये ये व्याकिणपद्धती व्याघातरत्ने, तत्पृष्ठो
तद्व्युत्पद्यो, एतेन स्मरणस्य सम्यग्वाचित्वं गम्यते । स्मरण वाणीकृतयो पयोजयो,
नालोत्पल्यो, सुपमामिव सुपमा परमशोभाम्, असेविपाता प्राप्नुताम् । साञ्जन
रेखे तदृशौ व्याघातरेखास्पृष्टौ स्मरसन्ध्यानीलोत्पलवाणौ इव रेजतुरित्यर्थः ।
असम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपो निदर्शनाभेदः ॥ ३६ ॥

(दमयन्तीके दोनों नेत्र अञ्जन-रेखाके सम्बन्धको प्राप्तकर दोनों बाहुओंमें मृगुगुंके
(धनुषकी डोरी) के (निरन्तर आघातसे उत्पन्न) घट्टेके रेखाओंमें युक्त तथा कामदेवके
द्वारा (नलकी लक्ष्यकर) बाण बनाये गये दो कमलोंकी परमोत्कृष्ट शोभाको प्राप्त किये ।
[नलकी लक्ष्यकर कामदेव निरन्तर—दाहिने बायें—दोनों हाथोंमें कमल-पुष्पको बाण
बनाकर छोट रहा था, अब अब उसके दोनों बाहुओंमें धनुषकी डोरीको कालक लान-लान
कर बाणोंको छोटनेसे काले वणके घट्टे (रेखाकार बिड़बिड़ो) पड़ गये, इनसे युक्त
कमलकी जो परमोत्कृष्ट शोभा होती है, वही शोभा अञ्जनरेखाद्वित दमयन्तीके दोनों
नेत्रोंकी हुई । अतएव दमयन्तीके नेत्रद्वयकी कमलतुल्य होनेसे बाण तथा अञ्जनरेखाद्वयकी
कामबाहुमें लगे प्रसङ्गादिति उत्पन्न कृष्णवर्ण घट्टा समझना चाहिये] ॥ ३६ ॥

तद्विहितत्वालतुल्यगता नय निरन्तरा कृष्णस्य मृगस्य चक्षुषी ।

विधिर्यदुद्धर्त्तमियेप तत्तयोरदूरवनिश्चतता स्म शसति ॥ ३७ ॥

तदिति, तस्या दमयन्त्या, अक्षिम्या सह मृगनेत्रापेक्षया ध्रेष्टाम्या नेत्राभ्यां
हृदयिभावः । नत्काले स्वप्न प्रसाधनकाले, तुला मृगनेत्रयो सादरस्य, तदेव आग-
मपरस्य, तेन हतुना, विधि वैधा, कृष्णस्य मृगस्य कृष्णमाशङ्क्यहरिणस्य, चक्षुषी
नय निरन्तरा निरन्तर, उद्धर्त्त नयेन उत्पाटीयतुम्, इयेव ध्रेष्टादिति यत्, तत्

उद्धारिण्य कर्म तयो मृगचक्षुषो, अदूरवर्तिक्षतना निकटवर्तिक्षतव कर्जो, शसति स्म शशम । मृगस्य ह्यनुगमनीपस्य स्वामात्रिकक्षताकारचिह्ने पूर्वोक्तापराधमुक्त-
विधिनयो पाटनक्षतत्वमु प्रेक्षते ॥ ३७ ॥

इन्होंने दमयन्ती के नेत्रद्वय (मृगनेत्रोंसे अत्यन्त सुन्दर दोनों नेत्रों) की ठम (नेत्र-
प्रभापनके) समयमें मगानना करनेके अपराधसे दृष्टात्पार मृगके दोनों नेत्रोंको नख
गटाकर डा निरापना चाहा, वह इन्नाक्षी इन्ना ही (उस स्त्राके) उन दोनों नेत्रोंके
दामन क्षुब्धभाव (लाने बिह) को बतलाती थी । [दमयन्ती के नेत्रोंमें अञ्जन लगाते समय
उसके मन अनिच्छा अपने नेत्रोंको सम्मान करने हुए दृष्टात्पार मृगने बड़ा भारी अपराध
किया है अतः अब उसे दण्डित करने के लिए इन्होंने उसके नेत्रोंको अक्षुब्धके नख गटाकर
निकाशना चाहा, उस निकालनेके कार्यको ही उन नेत्रोंके मनीषमें उद्गमन क्षुब्धका कान्य
बिह कहता था अनुगत दमयन्तीनेत्रद्वय के मध्य तुच्छम दृष्टात्पारनेत्रद्वयकी मगानना
करना महान् अपराध था, अतः इन्नाकर उसके नेत्रोंको अक्षुब्धके निकालकर उसे दण्डित
करने की इच्छा करना उचित ही है ॥ कष्टमार मग के नेत्रों से दमयन्ती के नेत्र अत्यधिक
सुन्दर थे ॥ ३७]

विलोचनाभ्यामनिमात्रपीडितेऽवतननीलाभ्युद्विषी खलु ।

तयो प्रतिद्वन्द्विधियाऽधिरापयाम्वमृगमुत्तुर्भीममुनाश्रुती तत ॥ ३८ ॥

विलोचनाभ्यामिति । भीममुनाश्रुती भैमीश्रोत्रद्वय, विलोचनाभ्याम् अतिमात्रं
पीडिते आकर्णविस्तारितया अद्यन्तमाक्रान्ते मयी, तत स्वपोषनरूपकारणात्,
अवनमनीलाभ्युद्विषी कर्णभूषणीकृतनीलोत्पलपुगलं, तयो विलोचनयोः, प्रतिद्व-
न्द्विधया प्रतिपक्षद्वया, अधिरापयाम्वमृगमुत्तुर्भीममुनाश्रुती खलु इत्युपेक्षा,
खलिना पीडितस्तुहयश्ल तत्प्रतिपक्षमाश्रयते इति भाव ॥ ३८ ॥

दमयन्ती के काद्वय (काययन्त विभूत कर्वा विद्या) नेत्रद्वयसे अत्यन्त पीडित
होकर कर्णभूषण नीलकमलद्वयकी उस नेत्रद्वयके प्रतिद्वन्द्वी (मगान बचने के) इन्नाकी
भावताने स्थापित किया (कहा) । [लोकमें भी प्रबल व्यक्तिसे अधिक पीडित व्यक्ति
उस प्रबल व्यक्तिके प्रतिस्पर्धा समान बनाने के दूसरे व्यक्तिको करने से अधिक
करता (रहता) है । नीलकमलद्वयके कर्णभूषणीकृतनीलोत्पलपुगलं की मगानदिष्ट
कर दिया था (वान लक्ष विमान नेत्रोंमें ही वे वान शोभित होते हैं, अतः उन कर्णभूषण
बने हुए नीलकमलों ने अधिक कुछ नहीं किया ॥ नीलकमलकी कर्णभूषण बनकर दमयन्तीके
कानोंमें सखियोंने पहना दिया ॥ ३८ ॥

धृत वनसोत्पलयुग्ममेतया व्यथानदस्य पतिते दशाग्रि
मनोभुयाऽऽन्वयगमिनस्य पतित स्थिते लुगित्वा रमिनस्य कस्यचिन्ना
धनमिति । एतया भेद्या, एत वनसोत्पलयुग्मं कर्णभूषणीकृतनीलोत्पलपुगलं,

अस्या भैर्या, पतिते निक्षिप्ते, तथा लगित्वा तत्रैव आसज्य स्थिते च, पश्यत भैर्यो
तत्कणौ वा विलोकयत, अत एव मनोभुवा कामेन, आन्ध्य गमितस्य तदेकामक्ती-
कृतस्य इत्यर्थः । स्थानान्तरे नेत्रगमनादेवास्य अन्धत्वबोद्धव्यम् । कस्यचित् रमिकस्य
रसवत, रागिण इत्यर्थः । 'अत इनिठनौ' इति टन्-प्रत्ययः । दशौ इव व्यराजत्
विराज इत्युपेक्षा ॥ ३९ ॥

इम (दमयन्ती) के द्वारा (कानोंके ऊपर) धारण किये गये तथा कर्णभूषण देने हुए
दो नीलकमल दमयन्तीमें गिरकर अर्थात् आसक्त होकर स्थित हो (दमयन्तीको, या—उसके
कानोंको) देखते हुए (अत एव) कामदेवमें अन्धे किमी रसिक पुरुषके नेत्रद्वय के समान
शोभते थे । [अन्धा व्यक्ति अन्धत्र ज्ञानमें अन्धमर्थ होता है, यहा पर दमयन्तीको या
उसके दोनों सुन्दर कानोंको आसक्तिपूर्वक देखने हुए तथा सुन्दरतम उसीको तमय होकर
देखते रहनेसे अन्धत्व नहीं जाने अर्थात् दूसरा कुछ नहीं देखनेसे यहा उस रसिक
पुरुषको कामान्ध होनेकी कल्पना की गयी है] ॥ ३९ ॥

त्रिदंभसुभ्रषणायतसिकामणीमह किंशुकार्मुकोदरे ।

उदीतनेत्रोत्पलवाणमम्भृतिर्नल पर लक्ष्यमरैश्चन स्मर ॥ ४० ॥

विदभैति । स्मर त्रिदंभसुभ्रुव घडभ्यां, भ्रवणावतमिका कर्णावतसीभूता, या
मणी, कृदिकारात्—' इतीकार । तस्या मह प्रभा एव, किंशुकार्मुक पलाशकुसुम
चाप, तस्य उदरे मध्ये, उदीता उद्गता, प्रतिफलितेत्यर्थः । नेत्रस्य एव उत्पलवाणस्य
सम्भृति सम्भरण, नेत्ररूपनीलोत्पलवाणसम्भार इत्यर्थः । यस्य स तादृश सन्,
पलाशकुसुमधनुषि समारोपितनीलोत्पलशर मन्वित्यर्थः । नल पर नलमेव, लक्ष्यम्
अवैद्यत प्रतीक्षते स्म । नल आगत्य भैर्या विभूषितकर्णनेत्रमौन्दर्यदर्शनमात्रेणैव
कामवाणजिह्वो भविष्यतीति भावः ॥ ४० ॥

विदभराजकुमारी (दमयन्ती) के कर्णभूषण-रत्नोंकी कान्तिरूप जो पलाशपुष्प,
तद्रूप धनुषके मध्यमें प्रतिबिम्बित नेत्रकमलरूप वाण (प्रतिबिम्बित दो नेत्र तथा दो कर्णों
रूप—इस प्रकार चार वाणों, या नेत्ररूप ओ नीलकमल तद्रूप वाणों) की सामग्रीवाला
होकर केवल (या—छेद) रूप्य तन्त्रों ही देख (प्रतीक्षा कर) रहा था । [इन नीलो-
त्पलके कर्णभूषणोंमें प्रतिबिम्बित दमयन्तीके वल्लभसुन्दर नेत्रोंकी देखकर ही नल अवश्य
मेरे (कामदेवके) वशभूत हो जायेंगे ऐसा कामदेव समझ रहा था] ॥ ४० ॥

अनाचरत्तथ्यमृषाविचारणा तदानन कर्णलतायुगेन किम् ।

धवन्ध नित्या मणिकुण्डले विधू द्विचन्द्रवुद्धया वथिताप्रसूयका ? ॥

अनाचरदिति । तथ्यमृषाविचारणाम् अनाचरत् सौन्दर्यमदात् मत्स्याम यविम
, चांम् अकुर्वत, तदानन कर्षु, द्विचन्द्रवुद्धया द्वौ चन्द्रौ इमौ इति भ्रान्त्या, वथितौ
सूचितौ, अक्षुषकी स्वद्वेपिणौ, आननस्योत्कर्षमसहमानावित्यर्थः । मणिकुण्डले एव

वि० चन्द्रो, जिवा कर्णलतयो युगेन वदन्व किम् ? इति मिथ्याचन्द्रयोरेव बन्धन-
मुपेक्षते । जितस्य शत्रोरेवन्धनमुचितमिति भावः ॥ ४१ ॥

(अपने मवाबिक सुन्दर होनेके कारन उन्मत्त बन पड़) सत्वासपका विचार नहीं
करन हुए दमयन्तीके मुखने (दमयन्तीका, या—उल्लके मुखको) रसार्थ करनेवाले वदन्वये
गय रतनत्रयिन दो मणिकुण्डलोंको दो चन्द्रमा समझकर दो कर्णलताओंने बांध लिया है
क्या ? [दमयन्तीका मुख अपने भीन्दर्यमदने उन्मत्त होनेके कारण मयामयका विवेक
करनेमें असमर्थ हो गया है, अन पद 'ये दो चन्द्रमा तुम्हारे (मुखके) साथ हर्षा कर
रह है' ऐसी ही चन्द्रमाको आग्निने रतनत्रय हुए दो मणिकुण्डलोंको ही जोकर काष्ठाने
बांध लिया है । अन्य भी मदोन्मत्त व्यक्ति वास्तविक बन्धक विचार नहीं करके दूसरेके
अपराधमें नदितर व्यक्तिको दण्डित कर देता है ॥ दमयन्तीने गर्भोंने जेठे हुए कुण्डलोंको
बानने धारण किया] ॥ ४१ ॥

अत्रात्रि भैमी परिधाप्य कुण्डले वयस्ययाऽऽभ्यामभित नमन्वय ।

त्वदाननेन्दो प्रियकामजन्मनि श्रय यय दूरधुरीं धुर ध्रुम् ॥ ४२ ॥

अवादीति । वयस्यया सख्या, कुण्डले मणिकुण्डले, परिधाप्य नारोप्य, भैमी
अत्रादि गदिता । किमिति ? हे भैमि ! आभ्या मणिकुण्डलाभ्या सह, अभित
उभयम, त्वदाननेन्दो तव मुखचन्द्रस्य, अय समन्वय समायोग, प्रियस्य मलस्य,
कामजन्मनि त्वदि रागोदये, दूरधुरीं दूरधुरावययोगसम्बन्धिनीं धुर भार, श्रयति
फलदामभार वहति ध्रुवमिद्युत्प्रेक्षा । चन्द्रस्यार्कातिरिक्तोभयग्रहमध्यगते दूरधुर
योग, यदाह वराहमिहिर—'हिताऽर्कं सुनयानयाद् दूरधुरा स्वान्योभयस्यैव
शीताशो' इति ॥ ४२ ॥

दो कुण्डलोंको पहनाकर सखीने दमयन्तीके कहा कि—इन (कुण्डलों) के साथ दोनों
और तुम्हारे मुखचन्द्रका सम्बन्ध होना प्रिय (नल) के कामोत्पादनमें अवश्य हो
'दूरधुरा' नामक योगके भारको ग्रहण करना है । [ज्योतिषशास्त्रके अनुसार मूर्धभिन दो
जहोंकी राशिके मध्यमें चन्द्रमाके रहने पर 'दूरधुरा' नामक योग होता है, उस योगमें
उत्पन्न पुत्र जिस प्रकार बहुत दिनों तक जीवित रहता है, उसी प्रकार इन कुण्डलद्वयकी
दो ग्रहोंके बीचमें स्थित तुम्हारे मुखरूपी चन्द्रके सुन्दर संयोगमें उत्पन्न नन्ममें दिनोदिन
बढ़ता हुआ बहुत दिनों तक स्थित रहेगा । 'नारायण' मट्टने "गुरु और शुक्रके मध्यगत
चन्द्रके होने पर उक्त योग होता है" ऐसा कहा है] ॥ ४२ ॥

निवेशित यावत्तरागदीप्तये लगत्तद्वीयाधरसीम्नि निश्चयकम् ।

रराज तत्रैव निवस्तुमुत्सुक मधूनि निष्य सुगान्धमिणि ॥ ४३ ॥

१ तदुक्तम्—'गुरुभार्गवयोर्योगश्चन्द्रेणैव यदा भवेत् ।

तदा दुर्यशास्य स्यात्' इति ज्योतिषाशास्त्रादवगन्तव्यम् ।

निवेशितमिति । तद्दीयाधरस्य दमयन्तीयाधरस्य, सीमिनी सीमप्रदेशे, यावत्करा
गस्य अलक्तकरागस्य, दीप्तये स्फुरणाय, निवेशित न्यस्तम्, अत एव लगतद्वदभावेन
ससन्तत्, मिश्रध्वं मधुच्छिद्यत्, मधुकोपनमिति यावत् । मधुनि लौघाणि, निर्धूय
निरस्य, मुधया समान धर्मं स्वादुतारूपं यस्या सा मुधामधर्मा । 'नामगोत्ररूप
स्थानवर्णवयोवचनधर्मजातीयेषु समानस्य समाध' इति वर्द्धमानसूत्रम् । 'ममानस्य
छन्दस्यमूर्द्धप्रभृ युद्धेषु' इत्यत्र 'समानस्येति योगो विभज्यते, तेन सपक्ष साधर्म्यं
सजातीयमिति यादि मिद्धमिति काशिका' । 'धर्मादिनिष् केवलात्' इत्यनिष् । 'मन'
इति मन्त्रस्ताव लीप् । तस्या मुधामधर्मिणि अमृतसदस्या, तत्र एव तद्दीयाधरमीनि
एव, निवसतु स्यादिभावेन अवस्थानम्, उत्सुकम् आग्रहान्वितं सत्, रराज । मधु
च्छिद्यसम्बन्धिर्लौघापेक्षया तद्दीयाधरस्योत्कृष्टत्वादिति भावः । अन्यथा कथम् अत्रैव
लगेद्विद्युत्प्रेक्षा । अन्योऽपि उत्कृष्टस्थानलाभे चिरपरिचितमपि स्वस्थानमुत्सृजति
इति दृश्यते ॥ ४३ ॥

उम (दमयन्ती) के अधरके अन्तम महावर (या—अधरकी लालिमाके लिए लगाया
जानेवाला राग-विशेष) के चमकने (या स्थिरता) के लिए लगाया गया मोम ससक्त
होकर मधु (दाह) को छोटकर अमृतनुस्य रहा (उस अधरसीमामें ही) रहनेके लिए
उत्कण्ठित होकर (उत्कण्ठित सा) सोमना था । [ओष्ठमें रगकी स्थिरताके लिए शृङ्गार
करनेवाली सखीने पहले दमयन्तीके अधरान्तमें मोम लगा दिया, वह ऐसा मान्दम पड़ता
था कि उमने अपने चिरपरिचित स्थान मधुको छोड़कर निरन्तर निवास करनेके लिए
उत्कण्ठित होकर रहा दमयन्तीके अधरमें बसा हो । लोकमें भी कोई व्यक्ति चिरपरिचित
साधारण स्थानको छोड़कर उत्तम स्थानमें निवास करनेके लिए उत्कण्ठित होकर जा बसता
है ॥ दमयन्तीका अधर मधुकी अपेक्षा भी अधिक स्वादु (मधुर) था] ॥ ४३ ॥

स्वरेण वीणेत्यविशेषण पुराऽम्फुरत्तदीया खलु कण्ठकन्दली ।

अत्राप्य तन्त्रीरथ मत्त मौक्तिकामरानराजत् परिवादिनी स्फुटम् ॥ ४४ ॥

स्वरेणेति । तद्दीया दमयन्तीया, कण्ठकन्दली कण्ठनाल, उन्ठस्य कल्पवनि
रिति वा । 'कल्पवनौ कन्दलो तु मृगगुहमप्रभेदयो' इति मेदिनी । पुरा पूर्वं, स्वरेण
स्वनिना, वीणेत्यविशेषण साधारणतः वीणेति निर्विशेष, नामरूपविशेषशून्य यथा
तथा इत्यर्थः । अस्फुरत् वीणा इत्येव अवोधीत्यर्थः खलु इति निश्चये । अथ वीणं
वेति स्फुरणानन्तर, मत्त मौक्तिकामरान् सप्त मुक्तायरीरेव, तन्त्री वीणागुणान्,
अवाप्य परिवादिनी परिवादिन्याग्या वीणा मती । 'वीणा तु बल्लकी । त्रिपञ्ची सा तु
तन्त्रीभिः सप्तभिः परिवादिनी' इत्यमरः । अराजत्, स्फुटम् इत्यु प्रेक्षायाम् ॥ ४४ ॥

उम (दमयन्ती) का कण्ठनाल पहले (मुक्तामाला धारण करने के पूर्व मधुर) स्वरमें
विशेषण-रहित 'वीण' इस सामान्य नामसे ऋचव ही स्फुरित होता (सोमना) था ।
अब वह राज ललितोवाणी मुक्तामालारूप तारोंको पाकर (सात ललितोवाणी मोनियोंके

धारको पद्मकर) स्वष्टरूपमे परिवादिनी (सात तारोंमे बजनेवाली 'परिवादिनी' नामकी विभिन्न वीणा) होकर शोभने लगा । [दमयन्ती कण्ठ मोतियोंका हार पहननेके पहले मधुर स्वरमे सोमान्धत 'वीणा' तुल्य शोभता था । केतु अब सात लट्टियोंकी मुक्ताहार पहनकर सात तारोंमे बजनेवाली 'परिवादिनी' नामका विभिन्न वीणाके समान शोभने लगा] ॥

उपास्यमानाप्रि शिक्षितु ततो मृदुत्थमप्रौढमृणालनाभया ।

पिरेजतुर्माङ्गलिकेन सयुतौ नुतौ मुदत्या पलयेन कम्बुन ॥ ४५ ॥

उपास्यमानाप्रि । तत कण्ठभूषणानन्तर, माङ्गलिकेन मङ्गलार्थेन । 'प्रयोजनम्' इति टिप्पणी । कम्बुन शङ्खस्य, 'शङ्ख स्थात्कम्बुरस्त्रियाम्' इत्यमर । पलयेन सयुतौ, मुदत्या तस्या दमयन्त्या मुञ्जौ अप्रौढमृणालनाभया बालप्रिसङ्काण्डवृद्धेन, मृदुत्थ मार्दव, शिक्षितुम् अभ्यसितुम्, उपास्यमानौ मेस्यमानौ इव, विरेजतु इत्युत्प्रेक्षा ॥ ४५ ॥

मङ्गलार्थक शङ्खके बङ्गणोंसे सयुक्त (विभूषित), सुन्दर दाँतोंवाली (दमयन्ती) के दो नौ बाहु देते शोभने थे, कि मानो उन (बाहुओं) से कोमलता सीखनेके लिये बाल (नवाङ्गुरित) मृणालदण्ड उनकी सेवा कर रहे हों । [बालकको शिक्षा प्रवृत्त करना तथा लक्ष्य शुभकी सेवा करना लोकप्रसिद्ध है ॥ दमयन्तीके बाहु नवाङ्गुरित मृणालदण्डमे भी अधिक कोमल हैं] ॥ ४५ ॥

पद्मद्वयेऽस्या नवयाररञ्जना जनैस्तदानीमुदनीयतापिता ।

चिराय पद्मौ परिभ्य जाग्रती निशीथ विशिष्य नग रविद्युति ॥ ४६ ॥

पदेति । तदानीं प्रमाधनकाले, अस्या भोग्या, पद्मद्वये अर्पिता मध्यावस्थ नवाल्लस्य । 'पावोऽल्लो दुसामय' इत्यमर । रञ्जना राग, निशि रात्रौ, विशिष्य विद्युज्य, पद्मादिति भाव । चिराय दीर्घकालानन्तर, प्रभाते इत्यर्थ । पद्मौ पद्मे 'वा पुंसि पद्म नलिनम्' इत्यमर । परिभ्य आलिङ्ग्य, प्राप्य इत्यर्थ । जाग्रती प्रकाशमाना, नवा प्रत्यप्रा, रविद्युति इव बालार्जप्रभेध, स्थितेति जने उदनीयत उन्नीता, वामेक्षितेत्यर्थ ॥ ४६ ॥

उस समयमें हम (दमयन्ती) के दोनों चरणोंमें महावरको लोगोंने देखा तब किया (मनसा) कि रात्रिमें (कमलमे) पृथग् होकर बहुत देर (पूरी रात्रि बाने) के बाद (चरणत्प) दो कमलोंको आलिङ्गन कर अर्थात् प्राप्तकर प्रकाशमान वाली हुई वह सूर्यकी नवीन (प्रातःकालीन) कान्ति हो । [जिस प्रकार सायंकालमें कमलोंमे पृथग् होकर रात्रिके व्यतीत होनेके बाद कमलोंको पाकर सूर्यकी अरुणवर्ण कान्ति शोभित होती है, उसी प्रकार दमयन्तीके चरणोंको पाकर लाल रंगका महावर शोभता था । लोकमें भी चिरविरहित व्यक्ति पूर्वपरिचिन मित्रादिको प्राप्तकर आलिङ्गन करता और अनुरक्त होता है ॥ दमयन्तीके चरण कमलनुव्य थे] ॥ ४६ ॥

कृतापराध सुतनोरनन्तर विचिन्त्य कान्तेन सम समागमम् ।

स्फुट सिपेवे कुसुमेपुपायक स्रग्गच्छिहृश्चरणौ न यावक् ॥४७॥

कृतेति । सुतनो भैया, कृतापराध पूर्व विरहकाले सापराध, कुसुमेपुपायक कामाग्नि, अनन्तरम् इदानीं, कान्तेन सम नरने सह, समागम विचिन्त्य स्रग्गच्छिहृ पावकरय लौहित्यचिह्नयुक्त सन् अनुरागचिह्नयुक्त सन् इति वा, अन्यथा कुत एव गग इति भाव । चरणौ सिपेवे इति स्फुटस्वापराधमार्जनार्थसेवयामासेव । याव एव यावक् 'यावादिभ्य कन्' इति स्वार्थे कन्-प्रत्यय । अलक्षस्तु, न, इति सापह्वयोऽप्रेक्षा ॥ ४७ ॥

(पहले अर्थात् विरहवस्थाने) सुतनु (सुन्दर शरीरवाली—दमयन्ती) का अपराध करनेवाला कामरूप अग्नि बादमें प्रिय (नल) के साथ समागम को विचारकर लालचिह्न (पक्षा०—अनुराग-चिह्न) में युक्त हो दोनों चरणोंकी सेवा करता है (अथवा—विचारकर दोनों चरणोंकी सेवा करना है), (क्योंकि) वह (कामरूप अग्नि) राग (लाल, पक्षा०—अनुराग अर्थात् स्नेह चिह्नवाला है), यह महावर नहीं है । [प्रोषितपतिकाको पीबित करनेवाला अपराधी व्यक्ति हमके पतिका समागम समीप जानकर उसके चरणोंकी सेवा करके अपने अपराधोंका परिमार्जन करता है । दमयन्तीके महावर लगे हुए चरणोंको देखकर नलकी कामवृद्धि हो जायेगी] ॥ ४७ ॥

स्वय तदङ्गेषु गतेषु चारुता परस्परैर्नैव विभूषितेषु च ।

किमूचिरेऽलङ्कारणानि तानि तत् वृथैव तेषां करणं दमूय गन् ? ॥४८॥

स्वयमिति । स्वय स्वभावत एव, चारुता गतेषु, तथा परस्परैर्नैव अन्वोऽन्येनैव, विभूषितेषु समलङ्कृतैषु च, परस्परमेलनात् भूयग विनेश प्रत्यक्षयश्च कस्यचित् कमनीयताविशेषस्य स्फुरणादिति भाव । तदङ्गेषु भौमीयात्रेषु, तेषां पूर्वोक्तहेमपक्षादीनां, यत् करणम् अर्पणं, तत् वृथा एव निष्प्रयोजनमेव, दमूय इति तानि वास्तवानि, अलङ्कारणानि कर्तुमि, ऊचिरे किम् ? अलङ्काराणां भौमीचारुताकरणसामर्थ्यात् स्वकरणस्य निष्प्रयोजनकत्वेन करणम् अलमिति स्वनाम साम्बन्धमभूदिति भाव ॥४८॥

स्वय (स्वभावत तथा परस्पर, नपेक्ष) उस दमयन्तीके अङ्गोंके (प्रत्येकमें अपने-अपने सौन्दर्य एव तात्पर्यके कारण) सुन्दरता प्राप्त करनेपर तथा परस्पर (की शोभा) से ही विभूषित होनेपर (अथवा—स्वय सुन्दरताको प्राप्त तथा परस्पर (की शोभा) से विभूषित दमयन्तीके अङ्गोंमें) उन (नैनसिलके तिलक आदि (२४२८-४७ तक वर्णित) अलङ्कारों या भूषणों) ने क्या कहा ? अर्थात् स्वय शोभास्पर्श दमयन्तीके अङ्गोंको अधिक सुन्दर नहीं बनानेके कारण निष्प्रयोज्यभूत उन अलङ्कारोंने कुछ नही कहा, क्योंकि उनका करना (साधन) व्यर्थ हो गया/अत एव उन्होंने अपने 'अलङ्कार' ('अलम् = बन्ध' है 'करण =

१ 'किमूचिरे' इति पाठान्तरम् ।

साधन' जिनका ऐसे विग्रहने) नामको सार्थक किया । ['अन्दूरण' शब्दमें प्रथम 'अलम्' शब्द 'भूषणाधिक' था, किन्तु अब वह 'व्यर्थार्थक' हो गया । पाठा०—'वे अलङ्करण क्यों पहने गये ?' यह मैं नहीं समझ सका] ॥ ४८ ॥

क्रमाधिकामुत्तरमुत्तरश्रिय पुपोप या भूषणचुम्बनैरियम् ।

पुर पुरस्तस्थुपि रामणीयके नया बदाघेऽवधिवुद्धिधोरणि ॥ ४९ ॥

क्रमेति । इय दमयन्ती, भूषणचुम्बनै आभरणसम्बन्धै, उत्तरम् उत्तरम् उपर्युपरि, पर परमित्यर्थ । 'उपर्युर्ध्वोच्चोष्ठेष्वप्युत्तर स्यात्' इत्यमर । क्रमेण पारम्पर्येण, पूर्वपूर्वभूषणापेक्षया उत्तरोत्तरभूषणेन इत्यर्थ । अधिक प्राविष्टयाऽतिरिक्ता, या श्रिय शोभा, पुपोप, तथा श्रिया, पुर पुर उत्तरोत्तर, रामणीयके कमनीयारवे । मनोशादित्यात् पुत्र प्रत्यय । तस्थुपि स्थितिशाले सति, अवधिवुद्धिधोरणि रामणीयकस्य इयमेव सीमा इयमेव सीमा इत्याकारिका इयत्ताधीपरम्परा, बदाघे बाधिता । पूर्व पूर्वरामणीयकस्य स्थितिजम्पतद्विद्यत्तावुद्धिरम्पराया उत्तरोत्तरवद्वितशोभया निराकृतौ सत्याम् इयत्तारहिता सा शोभासम्पत्तिरासीदिति भाव । धोरणिशब्द, पङ्कती देशीये हति सम्प्रदाय ॥ ४९ ॥

इम (दमयन्ती) ने भूषणोंके ग्रहण करनेसे उत्तरोत्तर अधिक जिस शोभाको प्राप्त किया, उसने आगे-आगे रमणीयताके स्फुरन होनेपर शोभाकी इतनी ही अवधि होती है अगत् अधिकम अधिक इतनी ही शोभा हो सकती है इसी विचारपारा बाधित हो गयी । [दमयन्तीके भूषण-भूषित किता एक अङ्गको देखकर 'शोभाका यह अन्तिम अवधि है' ऐसा विचार होता था, किन्तु उस अङ्गकी अवस्था दूसरे विभूषित अङ्गको देखकर पहले देखे गये अङ्गने इस अङ्गने अधिक शोभाको देखकर पूर्वहन विचार बदलना पड़ना था, इसी प्रकार उत्तरोत्तर शोभाधिक्यसे विचार बदलने रहना पड़ना था । भूषणोंके पहननेसे दमयन्तीके अङ्गोंकी निरवधि शोभा हुई] ॥ ४९ ॥

मणीसनाभौ मुकुरस्य मण्डले चर्मा निजास्यप्रतिविम्बदर्शिनी ।

त्रिधोरदूर स्वमुख विधाय सा निरूपयन्तीव विशेषमेतयो ॥ ५० ॥

मणीति । मणीसनाभौ रत्नप्रदये, मुकुरस्य मण्डले दर्पणतले, निजास्यप्रतिविम्ब दर्शिनी सा भौमी, स्वमुख विधो चन्द्रस्य, दर्पणरूपचन्द्रस्येत्यर्थ, दर्पणे प्रतिविम्बितचन्द्रस्येत्यर्थो वा । अदूर समीपगत, विधाय सम्पाद्य, एतयो स्वमुख-चन्द्रयो, विशेष तारतम्य, निरूपयन्ती परीक्षमाणा इव, चर्मा परीक्षका हि उभयमेकत्र अवस्थाप्य परीक्षन्ते इति भाव । अत्रोत्प्रेक्षा ॥ ५० ॥

मणितुरस्य दण्डमे अपने मुख के प्रतिविम्बको देखती हुई वह (दमयन्ती) चन्द्रमा (दर्पणरूप, या—प्रतिविम्बरूप चन्द्रमा) के पासमें अपने मुखको रखकर इन दोनों (चन्द्रमा और अपने मुख) के तारतम्यको निरूपण करती हुईके समान शोभित हुई ।

[लोकमें भी नो पदार्थोंके तारतम्य ज्ञानके लिये उन्हें समीपमें रखकर परीक्षण किया जाता है ॥ दमयन्ती भूषण-भूषित होकर दर्पणमें अपना सौन्दर्य देखने लगी] ॥ ५० ॥

। जतस्तदास्येन कलानिर्विदधे द्विचन्द्रधीमाक्षिकमायकायनाम् ।

तथापि निग्रे युगपत् नरयुगप्रदशितादर्शबहूभविष्णुना ॥ ५१ ॥

नित इति । कलानिधि चन्द्र । 'क्षिप्ते कला विघोरते' इत्यभिधानात् । तदा स्येन भर्मामुखेन, जिन सन् ह्यौ चन्द्रौ इति घोरैव कार्यभूता साची प्रमाण यस्या सा तस्माक्षिप्ता माया कारणभूता यस्य स तादृश द्विचन्द्रधीमाक्षिकमाय काय यस्या तस्या भाव सत्ता ता, दधे दधार । एकाकिना तन्मुखस्य दुर्जयत्वाद्देकोऽपि चन्द्रो मायया द्वावभूत् इत्यर्थः । तन्मुखन्तु स्वयमपि कपटादेव त्रि वभापद्य पुनस्त जितायेत्याह—तथापि द्विभूतोऽपि, युगपत् समकाल, सगोयुगेन सहचरीद्वयेन, प्रदशिताभ्याम् आदर्शाभ्या दर्पणाभ्या, तद्रूपप्रतिविम्बद्वयवत्त्वेन इत्यर्थः । 'दर्पणे मुकुटादृशा' इत्यमरः । बहूभविष्णुना बहूभवित्रा, प्रतिविम्बद्वयेन आ मना च त्रि खभापन्नं तन्मुखेनेत्यर्थः 'भुवध' इति द्रुणच् प्रत्ययः । निग्रे जितः । त्रिभिर्द्वौ सुनयाविति भावः ॥ ५१ ॥

उस (दमयन्ती) के मुखमें जीने गये कल,ओंके निधि अनेक कल,ओंको धारण करनेमें बहुत) यर्थात् चन्द्रमाने (ओंको अङ्गुलिते बवाने आदिक कारण) दो च द्रमा बननेको मायायां धारण किया (कि न दो होकर दमयन्तीके एक मुखको सरलतया जान ल' किन्तु) तथापि उसका एक साथ दो सत्तियोंके द्वारा दिखलाये गये (दो) दर्पणोंमें बहुत (तीन, अथवा—एक दमयन्तीके हस्तस्थ तथा दो सत्तियोंके हस्तस्थ—इस प्रकार तीन दर्पणोंमें एक दूसरेमें मुखका प्रतिविम्ब पड़नेसे पाव-छ) होनेवाले (दमयन्तीके मुखने) जीन ही लिया । [पहले दमयन्तीको एक मुखने एक चन्द्रमाको आत लिया, अन एव चन्द्रमाने आत बवाने आदिसे दो च द्रमा बनकर उस मुखको जीतना चाहा, कि हु दो सत्तियों दो और दर्पण लेकर दमयन्ती को दिखलाने लगीं, इस प्रकार तीनों दर्पणोंमें प्रतिविम्बित दमयन्तीके मुखने बहुत रूप धारण कर दो चन्द्रमाको भा जीन ही लिया । लोकमें भा एकन हारना हुआ व्यक्ति मायामे दो बनकर उभे जानना चाहता है, किन्तु उसको मायाको समझकर प्रथम विजेता अनेकरूप धारणकर उसे पराजित हो कर देता है ॥ दमयन्तीका मुख चन्द्रमा मे भी अधिक सुन्दर है] ॥ ५१ ॥

किमालियुगमार्पितदर्पणद्वये तदास्यमेक बहु चान्यदम्बुजम् ।

हिमेषु निर्गम्य निशासमाधिभिस्तदाम्यमालोक्यमित व्यलोक्यत ? ॥

किमिति । आलियुग्मेन सगोद्वयेन, अर्पिते दर्पणद्वये एकम् एकस्वत्सङ्घाविशिष्ट मुखपद्म, तदास्य विग्रभूत मेमीमुखम्, अन्यत् तन्मुखप्रतिविम्बरूपम्, बहु अनेकम्, अगुन पद्मम्, एकार्प्रतिविम्बितानेकार्कवत् मल्लैकम् अनेकाविद्याप्रतिविम्बित-

ब्रह्मवच्चेति भाव । निष्ठासु ममाधिभि तन्मुखप्यानै , मुकुलभावच्छृणु उपलक्षित
सत्, हिनेषु शिशिरच्छृणु, निर्वाप्य निर्वाण विनाश प्राप्य, तदास्थस्य भेमीमुखस्य,
आलोकेन दर्शनेन सह वर्त्तते इति सालोक्यतस्य भाव सालोक्यम् आलोकनीयः
रम्यत्वम् इति यावत्, तदाननमालोक्य तदाननममानालोक्य सालोक्यरूपमुक्तिश्च,
इत् प्राप्त सत्, इण कर्त्तरि च । व्यलोक्यतकिम् ? दृष्ट किम् ? इत्युत्प्रेक्षा । निर्वाण-
काले या देवता ध्यायन्ति तत्सालोक्यलभन्ते इत्यागम । भर्मा मुखस्य दर्पणस्थम
निविश्वानात्र परस्परमात्रिध्यात् दर्पणस्थप्रतिविम्बानि किं शिशिरच्छृणुपुनष्टानि तन्मु-
खसदृशानि त ममीपस्थानि पद्मानि ? इति लोकोत्प्रेक्षितमिति भाव ॥ ५२ ॥

शो सत्त्वियौके द्वारा दिखलाये गये दो दर्पणोंमें दमयन्ताका मुख (व करूप मुख) एक
(पक्षा०—मुख) है तथा दूसरे (प्रतिविम्बरूप) बहुत कमल है, उन्हें लोग शिम
(शिशिर ऋतु, पक्षा०—केदारादि तीर्थदे वफँ) में नष्ट होकर (पक्षा०—मुक्ति पाकर)
रात्रियोंमें समाधिपों (मुकुलिन होने, पक्षा०—परमात्माका दर्शनदिके उपायों) से उन
(दमयन्ती, पक्षा०—परमात्मा) को सालोक्य (सौन्दर्य, पक्षा०—सालोक्य मुक्ति) को
प्राप्त हुएके समान देखते हैं । [जिस प्रकार मध्य एक एक मुख वाता है, उसे अनेक योगी
आदि लोग अपने शरीरको केदारादि शीतप्रधान तीर्थोंमें नष्टकर समाधिके द्वारा उन मुख
एक अन्तके साथ सालोक्य मुक्ति पा लते हैं, उसा प्रकार दमयन्तीका मुख एक तथा मुख है,
उसकी समानताको शिशिर ऋतुमें नष्ट होकर तथा रात्रियोंमें मुकुलिन होकर इन दर्पण
प्रतिविम्बन मुखरूप इन बहुतसे कमलोंने पा लिया है, ऐसा जो सत्यज्ञ है ॥ दमय तीका
मुख कमलोंमें भा अधिक सुन्दर है] ॥ ५२ ॥

पलाशदामेति मिलन्निष्ठलोमुखेष्टता विभूषामगिरश्मिमण्डलै ।

अलम्नि लक्ष्मैर्धनुषाममौ तदा रसीशमर्पस्यतयाऽभिरक्षिता ॥ ५३ ॥

पलाशेति । पलाशदाम इय किंशुकमाला, इति विचिन्त्येति शेष । मिलन्त
सङ्गच्छमाना दिक्षीमुत्वा अन्य, वाणाश्च येषु नै नादसौ, इति आन्तिमद्वलङ्कार ।
विभूषामगिरश्मिमण्डलै आभरणगनकान्तिपटलै, वृता वेष्टिता, अमौ भेमी, तदा
प्रसाधनानन्तरसमय इत्यर्थ । इतीशस्य कामस्य, मर्पस्त्वतया सर्पधनत्वेन, धनुषा
धनुर्धारिणाम् । कुन्ता प्रविशन्तीतिवदिनि भाव । लक्ष्मै शतसहस्रै, अभिरक्षिता
समन्तात् रक्षितेव, इति अलक्षि उपेक्षिता । लोकेरिति शेष । कामुकरूपतादृशर
श्मिमण्डलैर्वेष्टितायास्तस्या धनुर्लक्षै रक्षितत्वमु प्रेक्षितमिति व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्यो
पेक्षा । राजधन शस्त्राभि आभरणयते इति भाव ॥ ५३ ॥

इमे (दमयन्तीमें) पलाश-पुष्पोंका माला समझकर आने हुए प्रपरो (पक्षा०—
धनुषावृति पलाशपुष्पोंमें सङ्गत होते हुए वागों) वाल विशिष्ट भूषणरूप मणि-किरणरूप
धनुषोंमें परिवेष्टित इस (दमयन्ती) को उस समय (अलङ्कार धारण करनेपर) कामदवके
सर्पस्य (परमोत्कृष्ट सम्पत्ति) होनेके कारण लाखों धनुषारी रक्षा कर रहे हैं, ऐसा

(लोगोंने) लक्षित (नर्क) किया । [जिस प्रकार परमोत्कृष्ट राजसम्पत्तिकी रक्षा बहुत धनुषधारा धनुषमे करने हैं, वसी प्रकार कान्तिसाम्यसे नलमित्र कामदेव दमयन्तीकी रक्षा कर रहा है, अथवा—कामदेवके परमोत्कृष्ट सम्पत्तिरूप दमयन्तीकी उसके धनुषधारी रक्षा कर रहे हैं, ऐसा लोगोंने समझा] ॥ ५३ ॥

विशेषतीथरिव जह्ननन्दना गुणैरिवाजानिकरागभूमिका ।

जगाम भाग्यैरिव नीतिरुज्ज्वलैर्भिभूषणैस्तत्सुपमा मत्पार्श्वताम् ॥ ५४ ॥

विशेषेति । विशेषतार्थ्ये प्रयागादिषु यमुनासरस्वतीप्रमुख्य, जह्ननन्दना जाह्नवी इव, नन्दादिस्वास्त्यु-प्रत्यये टाप् । गुणै विद्याविनयादिभि, अजनात् जनभिक्कात् उत्पन्न आजानिक सहज, शैषिकृष्टज्-प्रत्यय । नादशस्य रागस्य प्रेम्ण, भूमि एव भूमिका इव आस्पदमिव, विनयादिभि गुण सहजस्नेहास्पदपुत्रादिरिव इति यावत् भाग्ये अनुदूलद्वेषे नीति इव, उज्ज्वले विभूषणै तस्या भोग्या सुपमा परमा शोभा, काम्तिरित्यर्थ । महाघटा महामूढ्यताम्, अत्यन्तोत्कृष्टतामित्यर्थ । जगाम तीर्थान्तरसम्मेलनेन जाह्नव्या पावनस्वोत्कर्ष इव विनयगुणै पुत्रादौ स्नेहोत्कर्ष इव नष्टा वैवानुकृष्येन नाते फलप्राप्ति इव तस्या सुपमायास्तु लोकोत्तरधमत्कारित्व मिति भाव ॥ ५३ ॥

विशिष्ट ('प्रयाग' आदि) तीर्थमे गङ्गाके समान, विनयादि गुणों (या—विनयादि गुणाम्पन्न पुत्रादिकों) से सहज स्नेहके उत्पत्तिस्थानके समान तथा भाग्यमे नीतिके समान निर्मल (चमकीले) विशिष्ट भूषणोंमे उस (दमयन्ती) का परमोत्कृष्ट शोभाने अत्यन्त श्रेष्ठताका वा लिया । [अथवा—'उज्ज्वल' पदको विशिष्ट तीर्थ' गुण तथा भाग्यका भी विशेषण मानकर 'उत्तम विशिष्ट तीर्थीम' इत्यादि अर्थयोजना करनी चाहिये] । [जिस प्रकार स्वयं पवित्र गङ्गाका माहात्म्य प्रयागादि श्रेष्ठ तीर्थोंके सम्बन्धमे निष्कपट पुत्रादि स्वजनोमें होनेवाला सहजस्नेह उन्नत निष्कपट विनयादि गुणोंमे तथा स्वतः फलदायिनी नीति अनुदूल भाग्योंमे अधिक प्रशस्त हो जाती है, वसी प्रकार दमयन्तीकी सहज उत्कृष्ट शोभा विशिष्ट भूषणोंके धारण करनेमे और भी अधिक बढ़ गयी] ॥ ५४ ॥

नलात् स्वपैश्वस्यमनातुमानता नृपस्त्रियो भीममहोत्सरागता ।

तदङ्घ्रिताश्रमदधन्त मङ्गल शिर सु सिन्दूरमिव प्रियायुगे ॥ ५५ ॥

नलादिनि । नलात् मलसमाशात्, स्वस्य वेशस्य वधायम् । 'विधस्ताविधवे ममे' इत्यमर । अनाप्तुम् अप्राप्तुम्, जानना प्रगना, अन्यथा नल स्वभर्तृन् चरा यमाणान् हनिष्यतीति भयात् भर्मी प्रगना इति भाव । मामस्य महात्सव भर्मी-धिवाह इति यावत् आगता नृपस्त्रिय अन्यराजपत्य, राजकान्ता इति यावत् । प्रियायुगे स्वभर्तृजीवनार्थ, न केवल प्रगामेन मङ्गलाचरणादपि स्वभर्तृजीवनाय

इति भाव, मङ्गल मङ्गलकरम्, अवैधव्यसूचकमिति भाव, सिन्दूरमिव तस्या
भैर्या, अङ्घ्रयो पादयो, लाक्षा प्रणामात् समत्तम् अलक्तक, शिरसु स्वस्थसीम
न्तेषु, अद्धन्त अधारयन् 'दध धारणे' इति धातो लङि तङ् । खीगा ललाटे
सिन्दूरधारणम् अवैधव्यसूचकम् इति भाव ॥ ५५ ॥

जलमे अपने वैधव्यको नहीं पानेके लिए (दमयन्तीके चरणोंमें) तत्र, राजा भीमके
छात्रोंमें आयी हुई राजपत्नियोंने (अपने) पतिके जिन्ननेके लिए सिंदूरके समान दमयन्तीके
चरणोंके महावरको मस्तकोंमें धारण किया । [राजपत्नियोंने सोचा कि यदि हमलोग
दमयन्तीके विवाहमें नहा सम्मिलित होंगे तो नल हथेलीगोंके पनियोंकी पुङ्गमें मारकर
हमें विधवा कर देंगे, हम मयसे उस विवाहोत्सवमें व राजपत्निय, आयी तथा दमयन्तीके
चरणोंमें प्रणाम करनेसे उनके मस्तकोंमें दमयन्तीके चरणोंका गोश महाशर लग गया वह
ऐसा मालूम पटना था कि राजपत्नियोंने अपने-अपने पतियोंके आधुप्यके लिए मङ्गलकारक
लालसिन्दूर लगा लिया हो । सवश खियोंका महत्कार्य मस्तकों सिन्दूर धारण करना
आचार है ॥ ५५ ॥

अमोघभावेन मनाभिता गता प्रमथ्रगीर्वाणवराक्षरस्त्रजाम् ।

तत प्रणम्याधिजगाम मा ह्निता गुन्गुन्त्रक्षपतिव्रताशिप ॥ ५६ ॥

अमोघेति । तत प्रमाधनानन्तर, द्विया लज्जया, गुरु भारवती, अतिलज्जिते-
त्यर्थ, सा भैमी, प्रणम्य गुर्वाङ्गान् अभिवाद्य, अमोघभावेन अवैफल्यगुणैः, प्रसन्नाना
गीर्वाणानाम् इन्द्रादिदेवताना, वराक्षरस्त्रजा वरदानरूपवाम्गुम्फाना, मनाभिता
सादृश्य, गता प्राप्ता, तद्वदमोघ इत्यर्थ, गुरुणा पित्रादीना, क्षत्रगा ब्राह्मणाना,
पतिव्रताना च आशिप आशीर्वादान्, अधिजगाम लेभे ॥ ५६ ॥

हम (प्रमाधन-कार्य) के बाद लज्जाने अतिशय भारवती (दबी हुई-सी) उस
(दमयन्ती) ने सज्जना अर्थात् सत्यताके कारण, प्रमथ्र देवों (इन्द्र, अधि, यम और वरुण)
के वरोंके अक्षरमात्राओंके समानताको प्राप्त (इन्द्रादि देवोंके वरदानके समान सफल
होनेवाले), माता-पितादि गुरुजनों, पित्रादि तथा पतिव्रताओंके आशीर्वादोंको प्राप्त किया ॥

तथैव तत्कालमथानुजीविमि प्रसाधनासञ्जनगिन्पपारगै ।

निजस्य पाणिग्रहणक्षणीचिता कृता नलस्यापि प्रियोर्यिभूपणा ॥ ५७ ॥

तथैवेति । अथ अस्मिन् अवसरे इत्यर्थ, स एव काल यस्मिन् कर्मणि तत्
तत्काल में। प्रसाधनममकालमित्यर्थ, तथैव यथा भोग्था तथैत्र, प्रसाधनासञ्जन
प्रमाधनकरण, तत् एव शिरस्य विद्याविशेष, तस्य पारगै पारदक्षिभि 'अन्तात्यन्ता-

१ 'हरिद्रा कुङ्कुमजैव सिन्दूर कञ्जल तथा । कूर्पासकञ्च ताम्बूल साम्ब्रयाभरण
शुभम् ॥ केशसंस्कारकवरीकरकर्णविभूषणम् । भर्तुराद्युप्यमिच्छन्ती दूरयेज्ज पति
मता ॥' इति स्कन्दवचनम्, इति नारायणमठ ।

इत्यादिना ह-प्रत्यय । अनुजीविमि सेवने, निजस्य आत्मीयस्य, विभो स्वामिन, नलस्यापि पाणिग्रहणञ्चोचिता विवाहकालोचिता, विभूषणा प्रमाधना, कृता ॥५७॥

इसके बाद उम समयमें उत्तीपकार (दमयन्तीके स्थान एवं मृषणादि प्रसाधनके समान ही) श्वार करनेकी कलाम भारद्वाज चौकरोने सर्वममर्थ अपने स्वामी नन्का विचारोचित प्रसाधन (श्वार) किया ॥ ५७ ॥

नृपस्य तत्राधिकृता पुन पुनविचाय तान् बन्धमवापयन् कचान् ।

कलापस्तीक्ष्णोपनिर्गिरस्यज स येरपालापि कलापिममद ॥ ५८ ॥

नृपस्यति । तत्र प्रमाधने, अधिकृता नियुक्ता, तान् बन्धमागान्, नृपस्य नलस्य, कचान् केशान्, विचार्य अपराधम् अनुबिन्ध्य, पुन पुन बन्ध सयमनवि शेषम् अवापयन् प्रापितवन्त, 'अवापयन्' इति पाठे तु—आपेगौ चङ् द्वितीयस्य काचो द्विर्भाव । य कच केशौ, गरुत पद्मान्, त्यजतीति गरुतस्य तस्या शरदि मयूगजा पक्षपतन भवतीति प्रसिद्धि कलापिससद् मयूरसङ्घस्य, स पक्ष त्यागकाल कृत इत्यर्थ, कलापस्य बर्हभारस्य, लीला विलास, स एव उपनिधि न्यास, बर्हमोचनकाष्ठकृतो निक्षेप इत्यर्थ, 'पुमानुपनिधिर्न्यास' इत्यमर, अपालारि अपलपित, पुन बहोद्वयेऽपि न प्रत्यर्पित इत्यर्थ, अतो बन्धनमुचितमिति भाव ॥

राजा (नल) के केशप्रसाधनमें दत्ताधिकार लोगोंने बार-बार विचारकर ('किस केशका जितना अपराध है' यह बार-बार विचारकर, अथवा—धूपके धूँएँ तथा केसोंका एक रंग होनेसे 'कौन केश है ? तथा कौन धूँआ है ?' यह बार-बार विचारकर, अथवा—'देगोंमें लगाया जानेवाला कौन फूल किस रंगपर अधिक शोभित होगा ?' यह बार-बार विचारकर) उन केशोंकी बाधा, शरद्वृत्तमें पक्षोंको छोड़ने (गिराने) वाले मयूर-समूहके जिन केशोंने कलास-विलासके न्यास (धरोहर) को नहीं वापस किया था । [शरद्वृत्तमें नारोंके पक्ष गिरते हैं । जिन मयूर-समुदायके केशोंने नलके केश-समूहसे भात न्यास (धरोहर, धात्री) को पुन पड़ होने पर भी वापस नहीं दिया, उनका अपराधानुसार बार-बार बाधना उचित हा है, क्योंकि राजाके द्वारा अधिकृत व्यक्ति न्यास वापस नहीं देनेवाले व्यक्तिको उमके अपराधका बार-बार विचारकर बाधने हैं ॥ नलके केश-समूह मयूरोंके कलापने अतिशय अधिक सुन्दर थे] ॥ ५८ ॥

पतत्रिणा द्राघिमशालिना धनुर्गुणेन सयोगजुषा मनोभुव ।

कचेन तस्यार्जितमार्जनश्रिया समेत्य सौभाग्यमलम्भिकुड्मले ॥५९॥

पतत्रिणामिति । कुड्मले अर्द्धविकसितकुसुमे कर्तृभि, द्राघिमशालिना दीर्घ शोभिना 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना दीर्घशब्दस्य द्राघिमादेश । अर्जितमार्जनश्रिया सम्पादितकृत्तिकादिसंस्कारसम्पदा, तस्य नलस्य, कचेन केशपाशेन, समेत्य

१ 'बन्धमवापयन्' इति पाठान्तरम् ।

मिलित्वा, द्वाधिमशालिना अजितमार्जनश्रिया सम्पादितसिन्धुकादिधर्मसम्पदा,
धनुर्गुणेन अलिमालारूपमौर्व्या, सयोगजुषा सन्धानमाजा, मनोभुव वसुमपो,
पतत्रिणा वाणाना, सौभाग्यम् इव सौभाग्य सौन्दर्यम्, अलम्बि लब्धम् इति
निदर्शनाभेद ॥ ५९ ॥

अतिशय लम्बाईसे शोभमान तथा ककरीमे झाटे गये नलके केशोंके साथ सजुक्त अर्थात्
केशोंमें लगाये गये (अर्द्धविकस्मिन् कुन्दादि पुष्पोंकी) कलियोंने अतिशय लम्बाईसे शोभमान
तथा मोम आदिमे वर्धित कर चिक्की की गयी (कामदेवके) धनुषकी (कुण्डलार्णवामररूपी)
झोरीमे सजुक्त बाणोंकी शोभाको प्राप्त किया । [यहापर नलके केशसमूहकी भ्रनरक्षेणिक
पिणी कामदेवके धनुषकी झोरीमे, पुष्पकलियोंकी कामबाणोंसे तथा नलकी कामदेवसे
समानता की गयी है] ५९ ॥

अनर्घ्यरत्नौघमयेन मण्डितो रराज राजा मुकुटेन मूर्द्धनि ।

वनीयकानाम् स हि कल्पभूरहस्ततो विमुञ्चन्निव मञ्जुमखरीम् ॥ ६० ॥

अनर्घ्यैति । हि यस्मात्, स राजा नल, वनीयकानाम् अर्धिता 'वनीयको
याचनको मार्गणो याचकाधिनी' इत्यमर, कल्पभूरह कल्पवृक्ष, तत अर्धिकल्प-
वृक्षत्वात्, अनर्घ्यरत्नौघमयेन अमूल्यमणिनिचयप्रचुरेण, मुकुटेन मूर्द्धनि मण्डित
अलङ्कृत सन्, मञ्जु फल्दा मनोहराञ्च, मञ्जरी सकलिका धालशात्वा, विमुञ्चन्
अर्धिता त्यजन् इव, राजा इत्युत्प्रेक्षा ॥ ६० ॥

वसुमूष्य (दिव्य) रत्नश्रित मुकुटकी मस्तक पर धारण विधे हुए राजा (नल)
याचकोंके कल्पवृक्ष होनेम उम (कल्पवृक्ष) से मनोहर (रत्नमयी) मञ्जरियोंको छोड़ते
हुएके समान शोभने लगे । [सामान्य वृक्षके पलव मञ्जरी आदि पार्थिव होते ह, किन्तु
कल्पवृक्षके वे रत्नमय होते हैं, अत एव याचकोंके लिए अभीष्ट दान देनेवाले नलमय वृक्ष
वृक्षका वसुमूष्य रत्न-समूह रचित मुकुटसे रत्नमयी मञ्जरियोंका छोड़ना उचित हा है ॥
मस्तकपर धारण किये गये वसुमूष्य दिव्य रत्नरचित मुकुटसे ऊपरकी ओर छिदकने हुए
कान्ति-समूहसे नल शोभित हो रहे थे] ॥ ६० ॥

नलस्य भाले मणिर्वारपट्टिकानिभेन लग्न परिधिर्विधोर्ध्वम् ।

तदा शशाङ्काधिकरूपता गते तदानने मातुमशक्तिमुद्रहन् ॥ ६१ ॥

नलस्येति । विधो इन्द्रो, परिधि परिपेय, नलस्य भाले ललाटे, मणिर्वारपट्टि-
कानिभेन मणिमयवीरधार्यपट्टिमयेण, लग्न सन्, तदा प्रपाथनकाले, शशाङ्का
अधिक रूप स्वरूप सौन्दर्य वा यस्य तस्य भाव तत्ता, गते प्राप्ते, चन्द्रापेक्षया
वृहत्परमिते अधिकसुन्दरे वा इत्यर्थ, तदानने नलमुत्ते, मातुम् अभिधातुम्

१ 'वनीयकानाम्' इति पाठान्तरम् ।

२ '—मञ्जरी' इति पाठान्तरम् ।

३ 'मातुमशक्तनुचक्षिव' इति पाठान्तरम् ।

अशक्तिम् उद्धृदन् अशक्य इव, वभौ । परिवेष चन्द्र परिवेष्टव्य शोभते, किन्तु अत्रैकदेशवर्त्तित्याधाराधेययोः आनुरूप्याभावात् अधिकालङ्कार 'आधाराधेययोरा नुरूप्याभावादधिको मत' इति लक्षणात् । वस्तुतोऽत्र मणिवीरपट्टिकापट्टवेन चन्द्रपरिधेर्नलमुखैकदेशवर्त्तित्वोत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षाङ्कार, तत्रोत्प्रेक्षा व्यञ्जका प्रयोराद्रम्या ॥ ६१ ॥

रत्नोंसे जडे हुए वीरपट्टिकाके कपटसे नलके ललाटपर लगा हुआ चन्द्रमाका परिधि (घेरा) उस समय (प्रसाधना-कालमें, या निकट भविष्यमें भावी प्रियासङ्गमकालमें) चन्द्रमामें अधिक सौन्दर्य (या—परिमाण) को प्राप्त उस (नल) के मुखमें मन्त्र व्याप्त होनेमें अममर्थ होते हुएके समान शोभता था । [चन्द्रमाके चारों ओर परिधि रहता है, किन्तु नलका मुख चन्द्रमासे अधिक सुन्दर (या—परिमाणमें विशाल) था, अतः वह परिधि उस नलके सम्पूर्ण मुखको घेरनेमें असमर्थ होकर उसके एक भाग (केवल ललाट) का ही घेरकर शोभित होता था । जो परिणाममें छोटा रहता है, उसीके सम्पूर्ण भागको अलङ्कृत किया जा सकता है, अधिक परिमाणवालेके सम्पूर्ण भागको अलङ्कृत करना अशक्य होनेसे उसके किसी एक भागको ही अलङ्कृत किया जाता है, इसी कारण लघुपरिमाणवाले चन्द्रके चारों ओर परिधि रहता है और महापरिमाण नल-मुखके एक भाग (ललाट मात्र) में ही मणिजडित वीरपट्टिकाके व्याजसे वह परिधि रहा ॥ नलका मुख चन्द्रमाकी अपेक्षा अधिक सुन्दर (एव परिमाण में अधिक) है] ॥ ६१ ॥

बभूव भैम्या खलु मानसौकस जिघासतो धैर्यभर मनोभुव ।

उपभू तद्वत्तु लचित्ररूपिणि धनु समीपे गुलिकेव सङ्गता ॥ ६० ॥

बभूवेति । भैम्या मानस स्वान्त सरोविशेषश्च 'मानस सरसि स्वान्ते' इति विश्व । तत् श्लोक स्थान यस्य त मनोनिष्ठ इत्यञ्च, 'हसास्तु रवेतगरतश्चक्राङ्गा मानसौकस' इत्यमर, धैर्यभर धैर्यातिशय, धैर्यधनमिति यावत् जिघांसत इन्द्रमिच्छत इत्येते सप्तन्ताद्वय शत्रादेश, 'सन्त्यङो' इति द्विर्भाव 'अभ्यामाच्च' इति हस्य हृत्वम्, 'अङ्गमगमा मनि' इति दीर्घ, मनोभुव कामस्य, धनु समीपे गुलिका या पक्षिवेधघुटिका सा, उपभू भूसमीपे, सामोप्यस्यान्ययीभावे नपुंसकस्वत्वम्, नलस्येति शेष, सङ्गता मिलिता, तस्य नलस्य, यत् वत्तुलं चित्र तिलक, तनुपिणी इव, 'चित्र स्यादद्भुतालेख्यतिलकेषु' इति विश्व, बभूव खलु इत्युत्प्रेक्षा, नल सद्य भैमीचिन्ताकर्षकं तिलकं दधार इति भाव । 'त्रिपुण्ड्र मुरविप्राणा वत्तुलं नृपवैरययो । अर्द्धचन्द्रन्तु शूद्राणामन्येषामूर्ध्वपुण्ड्रकम् ॥' इति स्मरणाद्वत्तुलं युक्तम् ॥ ६२ ॥

दमयन्तीके मानस (हृदय, पक्ष्म—मानसरोवर हृद) में रहनेवाले (हमरूप) वैरागिणिको मारनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवके धनुषके पासमें सजोकर दोनों भीड़ोंके

पासमें उस (नल) के गोलकार तिलकरूपिणी गोला (पक्षीको मारनेके लिए मिट्टीकी बनायी गयी छोटी सी गोली) के समान शोमनी थी । [नलके दोनों मौइोंके मध्यमें लगाया गया गोलकार तिलक ऐसा मालूम पड़ता था कि दमयन्तीके हृदयमें धैर्यतिशयरूप उसको मारनेके लिए इच्छुक कामदेवने धनुषपर गोली चढ़ायी हो ॥ यहापर दमयन्ती धैर्यतिशयको हथ, नलभ्रद्वयको कामधनुष तथा तिलकको गोलीकी उत्प्रेक्षा की गया है ॥ दमयन्ती नलके तिलकको देखकर अपने मानमवामी धैर्यधिस्य को छोड़ अर्थात् अधीर होकर तत्काल कामवशीभूत हो जायेगा] ॥ ६१ ॥

अचुम्बि या चन्दनविन्दुमण्डलो नलीयवक्त्रेण सरोनतजिना ।

श्रिय भिता कांचन तारका मरुो कृता गशाङ्कस्य तथाऽङ्करत्तिनी ॥

अचुम्बोति । सरोनतजिना पद्मपिङ्गारिणा, नलस्य इदं नटीयम् । 'वा नाम धेयस्य—' इति वृद्धसजाया वक्तव्यत्वात् 'वृद्धाच्छ' इति छ प्रत्यय, वक्त्रेण तेन नलमुखचन्द्रेण इत्यर्थः । सरोजतजिविशेषगसामर्थ्यात् वक्ष्यमाणतारायोगसामर्थ्याच्च या चन्दनविन्दो मण्डलोविम्ब, पूर्वोक्तवर्तुलतिलकमित्यर्थः । 'विम्बोऽस्त्री मण्डल त्रिषु' इत्यमरः । अचुम्बि चुम्बिता धृता, इत्यर्थः । तथा चन्दनविन्दुमण्डल्या, गशाङ्कस्य चन्द्रस्य, अङ्करत्तिनी, ममीपवर्तिनी, श्रिय भिता श्रीधारिणी सती, कांचन तारका दिनकृतसमागमा वाचिद्विध्यादीनाम् अन्यतमा तारका, सखी कृता सहचरी कृता । चन्दनविन्दुतिलकेन तु नलमुखदिवसे तारायुक्तचन्द्ररश्मिकासामास इति भावः । उत्प्रेक्षा, सा च इवाद्यप्रयोगात् गम्या ॥ ६२ ॥

कमल को नदिन (गोलकार या अधिक सुगन्धित होनेमें, अथवा—चन्द्ररूप होनेसे निरस्कृत) करनेवाले नलके मुखमें जिस गोलाकार चन्दन-तिलकको लगाया, उसने चन्द्रमाके मध्यमें (या—समीपमें) रहनेवाली शोभामय्यत्र किसी तारा (अद्विती आदि नाराओमेंमें किसी एक तारा) को सखी बना लिया अर्थात् उसके समान शोभित हुए । [चन्दन-विन्दुके तिलकने नलका मुख दिनमें तारायुक्त चन्द्रमाके समान शोभित हुआ, अथवा—यदि कमलको नदिन करनेवाले चन्द्रमाके वाचमें रोहिणा आदि कोइ तारा हो ता वह चन्द्रमाका नल-मुखके मध्यगत गोलकार चन्दन-तिलककी समानता प्राप्त कर सकनी है, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं होनेमें नलका निष्कयुक्त मुख कमल तथा चन्द्रमा—दोनोंमें सुन्दर अपेक्षा हुआ] ॥ ६३ ॥

न यावदग्निभ्रममेत्युद्धृता नलस्य भैमीति हरेर्दुराशया ।

स विन्दुरिन्दु प्रतित किमस्य सा न वेति भाने पठितु लिपीमिय ॥

नेति । स पूर्वोक्त, विन्दुर्वर्तुलचन्दनतिलक, अग्निभ्रम यावत् यावदग्निभ्रम, यैवाहिकग्निप्रदक्षिणीकरणपर्यन्तमित्यर्थः । 'पतित्व सप्तमे पदे' इति स्मृते, यैवाहिका-

गिनममीपे यावत् मसपदीगमन न भवेत् तावत् भैमी नलस्य भार्या न भवेदिति तादृशान्निप्रदक्षिणीकरणपर्यन्तमितिभाव । 'यावदवधारणे' इत्यव्ययीभाव । भैमी नलस्य उद्धृताम् उद्वाहमस्तृतत्वं, भार्यात्वमित्यर्थ । न पति न प्राप्नोति, इति हरे इन्द्रस्य, दुराशया वृथाभिलाषेण हेतुना, सा भैमी, अस्य नलस्य, किं, भवेत् ? इति शेष, न वा ? इति भाले नलस्य ललाटे, लिपी ब्रह्मरुर्त्तुकललाटलिखितम्, 'ऋदिका-शत्—' इतीकार । पठितु वाचयितु, प्रहित इन्द्रेण प्रेषित, इन्दु इव, आभातीति शेष । उपमेया ॥ ६४ ॥

नलके ललाटमें चंद्रकर बह गोलकार चन्दनतिलक ऐसा मालूम पड़ता था कि 'जब तक दमयन्ती अभिनी प्रदक्षिणा करके नलकी भार्या नहीं बन जाती, तब तक अर्थात् उसके पहले ही नलके ललाटमें ब्रह्मणे दमयन्तीको लिखा है वा नहीं' इस ब्रह्मलिखित नलके ललाटेरामें ब्रह्मलिपिको पढ़नेके लिए इन्द्रने दुरभिप्रायसे चन्द्रमाको भेजा हो । [यद्यपि दमयन्तीका स्वयम्बर समाप्त हो गया और उसने हमलोंकी छोटाकर नलका धरण कर लिया किन्तु 'नलके ललाट (भाग्य) में दमयन्तीको ब्रह्मणे लिखा है वा नहीं' इस बात को जब तक दमयन्ती अभिनी प्रदक्षिणा (सप्तर्षी कर्म) करके नलकी भार्या नहीं बन जाती, उसके पहले ही नलकी भाग्य-लिपिको पढ़नेके लिए चन्द्रमाको इन्द्रने भेजा हो । उम (इन्द्र) का दुरभिप्राय यह था कि सप्तर्षी कर्म हो जानेके बाद दमयन्ती नलकी भार्या हो जायेगी, अतः उसके पहले ही चन्द्रमासे नलके भाग्यकी ब्रह्म-लिपि पढ़वाकर यदि नलके भाग्यमें दमयन्तीको ब्रह्मणे नहीं लिखा होगा तो सम्भव है, अब (स्वयम्बर समाप्त हो जानेपर) भी प्रयत्न करनेपर हमें दमयन्ती भावारूपमें प्राप्त हो जाय ॥ नलके ललाटमें गोलकार चन्दन-तिलक पूगचन्द्रके समान शोभित हो रहा था ॥ ६४ ॥

कपोलपालीर्जनितानुबिम्बयो समागमात् कुण्डलमण्डलद्वयी ।

नलस्य तत्कालमप चित्तभूरथस्फुरश्चक्रचतुर्गुणचारुताम् ॥ ६५ ॥

कपोलेति । नलस्य कुण्डलमण्डलद्वयी कर्णवेष्यभूषणयुगली, कपोलपालया जनितयो स्वच्छकुण्डलमण्डलसङ्क्रान्तयो, अनुबिम्बयो स्वप्रतिबिम्बयो, समागमात् मेलनात्, तत्काल तस्मिन् काले, चित्तमुक्त्वा कामस्य, रथे स्फुरत चक्रचतुष्कस्य चारुताम् अवाप । रथस्य चतुश्चक्रवात् मण्डलाकारकुण्डलद्वयी स्वप्रतिबिम्बद्वयेन सह चतुष्टयत्वं प्राप्य रथचक्रचतुष्टयस्त्वती इव भातीत्यर्थ । अथ रथचक्रचारुताया कुण्डलेऽसम्भवात् तत्चारुतामिव चारुतामिति निदर्शनालङ्कार ॥ ६५ ॥

नलके दोनों कुण्डलोंने (स्वच्छ) कपोलमण्डलमें उत्पन्न अपने प्रतिबिम्बके सम्बन्धसे उस (प्रसाधन-) समयमें कामदेवके रथके सुन्दर चार पहियोंकी शोभाकी प्राप्त किया । [गोलकार की कुण्डल तथा स्वच्छ कपोलमण्डलमें पड़े हुए उनके दो प्रतिबिम्ब—इस प्रकार

१ 'जनिजानु—' इति पाठान्तरम् ।

वामदेवदे रथके सुन्दर चार पहियोंके समान वे नलके कुण्डल शोभने लगे] ॥ ६५ ॥

श्रिताऽस्य कण्ठं गुरुविप्रवन्दनाद् विनम्रमालेश्चिबुकाप्रचुम्बिनी ।

अत्राप मुक्तामलिरास्यचन्द्रम स्रवत्सुधातुन्दिलबिन्दुवृन्दताम् ॥ ६६ ॥

श्रितेति । गुरुणा मातापित्रादीना, विप्राणाञ्च वन्दनात् प्रणामात्, विनम्रमाले नम्रशिरस, अस्य नलस्य, चिबुक मुक्ताधोभाग, मुखस्य 'अधस्ताच्चिबुकम्' इत्यमर । तस्य अग्र जुग्वति स्पृशति इति तच्छुम्बिनी, कण्ठ धिता मुक्तावलि मौक्तिकमाला, आस्यचन्द्रमस सुग्रचन्द्रात्, स्रवन्त्या सुधाया तुन्दिलाना स्थूलाना, बिन्दूना वृन्दता समूहत्वम्, अत्राप तद्विषयमी इति भाव । अत्र गम्योऽपेक्षा ॥ ६६ ॥

गुरुजनौ एव आद्यगोत्री वन्दनाने नम्र मल्लकवाले इस (नल) की ठुट्ठोकी स्पर्श करता हुए कण्ठमें पहनी गयी मुक्तामाला मुखरूपी चन्द्रमाने बहने हुए अमृतके बड़ी-बड़ी बूँदोंके भावको प्राप्त किया अर्थात् बूँदोंके समान शोभिन हुई । [मालाके मोती बड़े-बड़े, चन्द्रमस तथा गोलाकार थे ॥ चन्द्रमाके दर्शनके समान प्रणाम-नम्र नलके देखनेने गुरुजनौ एव आद्यगोत्री आह्लाद हुआ] ॥ ६६ ॥

‘दुद्धता श्रीरत्नवान् बल द्विपन् बभूव यस्याजिपु वारणेन स ।

अपूपुरत् तान् कमलार्थिनो घनान् समुद्रभाज स वभार तद्भुज ॥ ६७ ॥

यदिति । श्री सम्पत्ति लक्ष्मीश्च 'शोभासम्पत्तिपद्मापु लक्ष्मी श्रीरिव कथ्यते' इति विश्व । यदुद्धता यस्मात् भुजात् समुद्राच्च उदभूता, यद्वा यदिति भिन्न पदम् अप्यप पङ्क्त्यर्थे योजयम् । बल सैन्य, द्विपन् विरन्धन्, स नल, आजिपु युद्धेष्टु, यस्य भुजस्य कर्तृकेन, वारणेन शत्रुनिवारणेन, बलवान् प्रबल, बभूव, अभ्यग्र— ॥ प्रमिद्ध, बल द्विपन् बलामुरस्य द्विद् इन्द्र । 'द्विपोऽमित्रे' इति शत्रुप्रत्यये तस्य लादेशवाभावात् 'द्वन्' इति प्रत्याहारात् 'न लोका—' इत्यादिना पष्ठीप्रतिपेधे 'द्विप घतुर्वा' इति वैकल्पिकपष्ठीविधानात् पक्षे कर्मणि द्वितीया । यस्य समुद्रस्य सम्बन्धिना, वारणेन ऐरावतगग्रेन माधनेन, आजिपु बलवान् बभूव, 'बल सैन्य बल स्थौल्य दल शक्तिर्योऽसुर' इति शाश्वत । य भुज घनान् सान्द्रान्, निरन्तरमाग तान्तिवर्थ । तान् दारिद्र्येण प्रमिद्धान्, कमलार्थिन लक्ष्मीकामान्, याचकानित्यर्थ । अन्यत्र—य समुद्र, तान् कमलायिन, जलार्थिन, 'कमला श्रीजल पद्म कमल कमलो मृग' इति शाश्वत । घनान् अम्बुदान्, मेघानित्यर्थ । 'घन सान्द्र घन वाद्य घनो मुक्ता घनोऽम्बुद' इति शाश्वत । अपूपुरत् पूरयामास, घनैर्जलैश्चेति शेष । पूरयतेलु 'डि 'गौ चडि' इति ह्रस्वे 'दीघो लघो' इत्यभ्यासस्य दीर्घ । स तद्भुज

१ 'यतोऽनित' इति पाठान्तरम् । २ 'पपार यस्तान्, इति पाठान्तरम् ।

५८ नै० उ०

नलबाहु, मुद्रया अङ्गुरीयकेण सह वर्तते इति समुद्र साङ्गुरीयक, सम् उन्नत्तीति समुद्र सागरश्च । सा विपद्भीत्यादिना जलधे कारणादिक ठ-प्रत्यय । तस्य भाव समुद्रत्व, वभार मुद्रितामरणम् आमुमोचेति प्रकृतार्थ । सागरार्थस्तु ध्वनिरेव विशेषणविशेष्ययोश्चभयोरपि श्लिष्टादिति ॥ ६७ ॥

उस (नल) के बाहुने अङ्गुठियोंकी पहना (जयवा—दण्डनीयोंको दण्ड देने तथा सज्जनोंकी रक्षामें राजधर्मके पालन करनेसे नियमके युक्तत्व (सहित्व) को प्राप्त किया, अथवा—समुद्रत्वको प्राप्त किया), जिस (नल—बाहु, पक्षा०—समुद्र) से सगति (या शोभा, पक्षा०—लक्ष्मी) उत्पन्न हुई है तथा युद्धोंमें जिस (नल—बाहु) के निवारण (शत्रुमर्दन) करनेसे शत्रु-सैन्यामें विरोध (युद्ध) करते हुए वे न बलवान् हुए, (अथवा—जिसके निवारण करनेसे बलवान् होते हुए वे न शत्रुका पराभव किये। अथवा—युद्धोंमें शत्रुसे विरोध करते (लटते) हुए व (नल) जिस (बाहु) के युद्धमें बलवान् हुए। अथवा—शत्रुसे विरोध करता (लटता) हुआ वह (अति प्रसिद्ध भी) शत्रु युद्धोंमें जिस (नल—बाहु) के रोकनेमें बलवान् (समर्थ) नहीं हुआ। अथवा—युद्धोंमें शत्रुसे विरोध करना हुआ वह शत्रु जिस (नल—बाहु) के युद्धमें बलवान् (समर्थ) नहीं हुआ। अथवा—गजराज वह (सुप्रसिद्ध) ऐरावत जिस (नल—बाहु) के बलका द्वेप अर्थात् जिसकी सामर्थ्यके साथ स्पष्ट करता हुआ युद्धोंमें बलवान् (समर्थ) हुआ अर्थात् हीन बलवाला होकर भी 'वर विरोधोऽपि सम् महात्मनि (किराण १:८) अर्थात् बड़ोंके साथ विरोध करना भी अच्छा है' इस भावमें महाकविकी उक्तिके अनुसार जिस (नल—बाहु) के साथ स्पष्ट करनेमें लोकमें बलवान् कहलाया। अथवा—युद्धोंमें दलको जीतनेवाले वे (सुप्रसिद्ध) इन्द्र भी जिस (नल—बाहु) के साथ युद्धमें बलवान् (समर्थ) नहीं हुए। अथवा—('व' तथा 'ब' का अन्वेद मानकर) युद्धोंमें बलको जीतनेवाले भी वह इन्द्र जिस (नल—बाहु) के साथ युद्धमें बलवान् हुए अर्थात् भाग गये' । इत्यादि अर्थोंकी कल्पना करनी चाहिये), और जिस (नल—बाहु) ने बनामिलायी बहुतने याचकोंको (अभिलषित धन देकर) पूर्ण किया, (अथवा—जिस (नल—बाहु) ने सुन्दर वपुओंके हस्तुक बहुतोंको पूर्ण किया अर्थात् बहुतोंका सुन्दर श्रियोंके साथ विवाह कराया। अथवा समुद्ररक्षकों—जिस (समुद्र) से उत्पन्न ऐरावतसे बलके शत्रु (इन्द्र) बलवान् (समर्थ) हुए, जिस (समुद्र) ने जगामिलाया भेषोंको पूर्ण किया) ॥ ६७ ॥

कृतार्थयन्त्रार्थिजनाननारत बभूव तस्यामरभूरह कर ।

तदीयमूले निहितं द्वितीयवद् ध्रुव दधे वङ्कणमालयालताम् ॥ ६८ ॥

कृतार्थयन्त्रिति । तस्य नलस्य, कर हस्त, अनारतम् अग्रान्तम्, अयिजनान्

१ अत्र 'वलन बलस्तद्वा' इति विग्रहो बोध्य ।

२ अत्र 'विभिवेशित तदा' इति पाठ साधु इति प्रकाश ।

कृतार्थयन् सार्थान् कुर्वन्, अमरभूतं कल्पवृक्षं, वभूव । तद्दीये करकल्पवृक्षसम्बन्धिनि, मूले मगिवन्धे, निहितम् अपिन्, द्वितीयवत् सद्द्वितीय, वैजहिरुसूत्रमयमाङ्गलिककङ्कणान्तरशालित्वात् द्वितीयकङ्कणमहितमित्यर्थः । कङ्कणं वनकवलयम्, आलवालता दधे दधार, भुवम् इयुष्येद्यायाम् । वृक्षमूलेऽपि आलवालद्वयं भवति, अतस्तदीयरूपमूलेऽपि कङ्कणद्वयं वसते इति भावः ॥ ६८ ॥

दाचक्रोऽसौ सर्वदा कृतार्थं वरता हुआ लम् (नन्) का हाथ कल्पवृक्ष वन गया और हमने मूल (जड़, पृष्ठा०—मगिवन्ध) में पहना गया (विवाह—मन्त्री माङ्गलिक सूत्ररत्न) दूसरे कङ्कणों से युक्त सुवाकङ्कण मानों आलवाल्भावको धारण किया अर्थात् हाथरूप कल्पवृक्षकी जड़में वे दोनों कङ्कण हम कल्पवृक्षके दो शाखोंके स्नान हुए । (पाठा०—उमके मूलमें पहना गया कङ्कण उम (प्रमापन—) का—में मानों आलवाल्भावको धारण किया) ॥ ६८ ॥

ग्राजं शोभण्डनमण्डलीजुषो स वज्रमाणिक्यसितान्णत्रियो ।

मिमेण वर्षम् दशदिग्मुखान्मुग्धा यश प्रतापाववनीजयाजितौ ॥ ६९ ॥

रराचैति । त नल, शोभण्डने बाहुभूषणे, मण्डलीजुषो श्रेणीभाजो, वज्राणा हीराणां, माणिक्यानां पद्मरागाणाञ्च, यथासङ्कटमिनास्त्रयै श्वेतलोहितयो, त्रियो कान्तयो, मिमेण छलेन, दशदिग्मुखान्मुग्धां दशदिगन्तव्यापिनौ, अवनीजया जितौ भूविजयसम्पादनौ, यथासङ्कटं यश प्रतापौ वर्षम् विस्तारयन्, रराज । अत्र त्रियोर्मिमेणेतिच्छलादिशब्दे असाधारणप्रतीतिरूपापङ्गुवालङ्कारभेदः, तस्य पूर्वसूचि-नयथासङ्कटद्वयभेदेन सङ्करः, वर्षस्त्रियेयुष्येश्च गम्यते सा च सापह्नवति सङ्करः ॥

बाहुभूषण (अङ्गद आदि) के मनुष्योंको प्राप्त तथा शरा, माणिक्य रत्नोंकी (क्रमशः) श्वेत और अरुण कान्तियोंके कण्ठमें दशदिशाओंमें फैलनेवाला पृथ्वाश्व विजयसे प्राप्त हुए (क्रमशः) यश तथा प्रतापको वरसाते हुएके स्नान वे (नन्) शोभने लगे । [हीरेने उत्तरार्ध श्वेत कान्तिको यश तथा माणिक्यने उत्तरार्ध अरुण का—भूषण प्रमाण सनसना चाहिये । हीरे और माणिक्यमें ऋते हुए अङ्गद आदि भूषणोंको बाहुओंमें धारणकर वे नल शोभित होने लगे] ॥ ६९ ॥

घने समन्तापघनावलम्बिना त्रिभूषणानां मणिमण्डले नल ।

स्वरूपपरेस्तामबलोक्य निष्कलीचकार सेवाचणदपणार्पणम् ॥ ७० ॥

घन इति । नल समन्तापघनावलम्बिना सर्वावयवगतायाम् । 'अङ्ग प्रतीकोऽवयवोऽपघनः' इत्यमरः । त्रिभूषणानां सम्बन्धिनि, घने सान्द्रे, मणिमण्डले रत्नमनूहे, स्वरूपपरेस्ताम् आत्मसौन्दर्यप्रतिबिम्बमित्यर्थः । अवलोक्य, मेवया विज्ञा सेवाचणार्पणमेवाकुशला, 'तेन वित्तश्रुत्तुपचणपौ, इति चणपूत्रत्यम् । तेन दर्पणार्पणं दर्पणलङ्घि-धापन, निष्कलीचकार । कारुतालीयन्यायन मणिमण्डलेनैव दर्पणकार्यस्य कृतत्वा-दिनि भावः । अत एव समाध्यलङ्कारोऽयम्, 'एकस्मिन् कारणे कार्यसाधनेऽन्यस-

भारति । काकतालीयनयत स समाधिरदीर्यते ॥' इति लक्षणात् ॥ ७० ॥

नलने सम्पूर्णं अङ्गोर्मे धारण किये गये विशिष्ट (उत्तमोत्तम) भूषणोंसे सत्रन रत्न-समूहमें अपनी उत्कृष्ट शोभाको देखकर सेवकोंके हाथे हुए दर्पणको (स्वरूप दर्शनरूप कार्यके भूषण-रत्नोंसे ही पूरा हो जानेसे) निष्फल कर दिया ॥ ७० ॥

व्यलोकि लोकेन न केवल चलन्मुदा तदीयाभरणार्पणद्युति ।

अदर्शि निष्फारितरत्नलोचनै परस्परैरेव त्रिभूषणैरपि ॥ ७१ ॥

॥पालोकाति । तदीयामा नलीयानाम्, आभरणानाम् अर्पणेन मलाद्रे विन्यासेन, या घति शोभा मा, चलन्मुदा चलन्ती प्रवहन्ती, निरन्तरेत्यर्थ । मुत्त हर्षो यस्य तादृशेन, लोकेन अनेन, केवल न व्यलोकि विलोकिता, किन्तु निष्फारितानि विस्तारितानि, रत्नानि एव लोचनानि ये तादृशै, विभूषणैरपि अचेतनैरपीति भाव । परस्परैरेव अदर्शि, किमुत चेतनलोकेनेति भाव । अर्थापत्तिरलङ्कार, सा च रत्न लोचनेति रूपकोत्प्रेति सङ्कर, तेन विभूषणानि रत्नलोचनैरन्योऽन्य परयन्ति इव हरयन्ते इत्युत्प्रेक्षा व्यज्यते ॥ ७१ ॥

उस (नल) के भूषणोंको धारण करनेसे उत्पन्न शोभाको निरन्तर इषिष्ठ लोगों (मनुष्यों) ने ही नहीं देखा, (किन्तु) विस्तारित (बढ़ाये गये या चमकते हुए, पक्षा—अच्छी तरह छोले हुए) रत्नरूपी नेत्रोंवाले (जड़) आभूषणोंने भी परस्परमें ही देखा । ७१॥

ततोऽनु वाष्णैयनियन्तृक रथ युधि क्षतारिक्षितिभृज्जयद्रथ ।

नृप पृथासुनुरिषाधिरुढवान् स जन्ययाप्रासुदित किरीटवान् ॥ ७२ ॥

ततोऽन्विति । ततोऽनु तदनन्तर, प्रसाधनानन्तरमित्यर्थ । युधि युद्धे, क्षता अरिचित्तिभृत् शत्रुभूषा येन स जयन् रथ यस्य स जयद्रथ जैराथ इत्यर्थ । अन्यत्र—क्षतौ विष्वस्तौ, अरिचित्तभृत् चापौ जयद्रथ सिन्धुराजश्चेति तौ येन स तथोक्त । जन्याना वरमिन्त्याना, स्वकीयस्नेहभाजनानामित्यर्थ । यात्रया विनाहयात्रया, सुदित दृष्ट, अन्यत्र—सप्रामयात्रया सुदित । 'जन्य हृष्टे परोवादे समामे च नपुसकम् । जन्या मातृवयस्याया जन्य स्याज्जनके पुमान् ॥ त्रिपूत्पाद्यजनिप्रोश्च नवोदाज्ञातिभृत्ययो । वरस्तिग्ये—' इति मेदिनी । किरीटवान् किरीटयुक्त, अन्यत्र—किरीटवान् किरीटी इति नाम्ना प्रसिद्ध, स नृप नल, पृथासूनु अजुन इव, वाष्णैय वाष्णैयमामा, अन्यत्र—वृष्णे अपत्य पुमान् वाष्णैय कृष्णश्च 'इतश्चानिज' इति ढक् । नियन्ता सारथि यत्र त वाष्णैयनियन्तृक, 'नचूतश्च' इति कप् । रथम् अधिरुढवान् अप्यरोहत् । शिल्पविशेषणाय पूर्वोपमा ॥ ७२ ॥

इम (भूषण पहनने) के बाद युद्धमें शत्रु राजाओंको पराजित करने (या-मारने)

१. 'परस्परैरेव' इति पाठान्तरम् । २ 'क्षितारि—' इति पाठान्तरम् ।

वाने, विजयशोक रथवाले (अथवा—पुद्गलें शत्रुभूत राजाओं के विजयी रथको नष्ट करनेवाले, अथवा—पुद्गलें शत्रुभूत रथत्व विजयी राजाओंको मारने वाले) पश्चात्—(अभिमन्युका वध करनेमें) शत्रुभूत राजा बरद्वयको मारनेवाले), वगनियोंकी यात्रा (विवाहमें सम्मिलित होनेके लिए साथ चरना, पश्चात्—युद्धयात्रा) से प्रसन्न, सुकुट पहने हुए (पश्चात्—सहज सुकुटधारी) अर्जुनके समान वे राजा (नर) हुआ नावान् (पश्चात्—वाग्वै नामक) आग्निवाले रथपर सवार हुए ॥ ७२ ॥

विदर्भनाम्नस्त्रिदिवस्य वीक्षितु रमोक्ष्यादप्सगस्तस्तमुग्धलम् ।

गृहान् गृहादेव धृनप्रसाधना व्यराजयन् राजपथानथाविक्रम् ॥ ७३ ॥

विदर्भति । अथ विदर्भनाम्न विदर्भदेशात्पथस्य, त्रिदिवस्य स्वर्गाय सम्प्रतिधन्य अप्परम तत्कला पौराद्भवा, उग्धल वरवेदेन दीप्यमान, त नल, वीक्षितु रसोद्-
ताल रागातिरेकात्, धृन प्रसाधन यामि सा अलङ्कृता सत्य, गृहात् गृहात्,
वीप्साया विर्भाव । एव आगत्य राजपथान् राजमार्गान्, अधिकम् अप्यर्थ, अपरा
जयन् अशोभयन् ॥ ७३ ॥

इत (नलके रथारूढ़ होने) के बाद विद्वन (कुण्डिनपुरी)—नामक न्वांक्षी अप्परामों
अर्थात् न्वांतुस्य कुण्डिनपुरवा अप्परामोंके तुल्य अङ्गनाओंने (वरवेष्ट वरणा करनेसे अति
हय) शोभायमान उम (नल) को अनुरागसे उत्पन्न होनेमें देखनेके लिए नृपगोंको पहनकर
घर घरसे अर्थात् प्रत्येक घरमें निष्कण्ठकर (देखने ही शोभित) राजमार्गोंको अधिक
सुनोमिग किया । [कुण्डिनपुर रवा और नगरवासिनी बहनाए देवाङ्गनाम्न थी । कियों
का वरको देखनेके लिए अधिक उत्कण्ठित हो घर-घरसे बाहर निकलकर देखना लोक
विदित है] ॥ ७३ ॥

अनानती काऽपि त्रिलोकनोन्मुका समीरधूताद्रमपि स्तनाशुक्लम् ।

कुचेन तस्मै चलतेऽकरोन् पुर पुराङ्गना मङ्गलकुम्भसम्भृतिम् ॥ ७४ ॥

अथ पौराङ्गनाः तात्कालिकी मृद्वारचेश नवभिर्वंगयति—अज्ञानमीत्यादि ।
त्रिलोकनोन्मुका नलदर्शनामका, अत एव समीरेण धूतम् अपसारितम्, अर्द्ध यस्य
नादशमपि अर्द्धांशवन्नपि, स्तनाशुक्ल स्तनावरणवधम्, अनानती अविद्वन्ती, इया
महात् एवेति भाव । काऽपि पुराङ्गना, कुचेन स्वस्ताशुकेन कुचकुम्भेन इति यावत् ।
चलते गृहात् निर्गच्छते, तस्मै नलाय, 'क्रियया यमभिप्रेति स सम्प्रदानम्' इति
सम्प्रदानम् । पुर अग्रे, मङ्गलकुम्भसम्भृति मङ्गलार्थं पूर्णकुम्भसम्भरण, पूर्णकुम्भ-
स्थापनमिति यावत्, अकरोत् । प्रायेण उभयेषु नववक्ष्येष्टित पूर्णकलशमग्रे स्थाप
यतीत्याचार । शुभसूचकशकुनरूपतया मङ्गलकुम्भसम्भृतेर्थाप्रायासुपयोगिवात्
तस्य च कुचतादात्म्येनारोपात् परिणामालङ्कार, तेन च पूर्णकुम्भदर्शनस्य भाविशु
भसूचकत्ववस्तुत्वेन ॥ ७४ ॥

(नन्को) देखनेके लिए उत्कण्ठित (अत एव) हवासे आधा इत्ये गये भी स्तना,

छटादक बखको नहीं जाननी हुई नगरवासिनी किसी स्त्रीने चले (शिविरसे बाहर निकलने) हुए नलके (गमनको सफल बनानेके लिए मानों) स्नान के द्वारा मङ्गलरूप घटको सामने रम दिया । [यात्रामें बराने के हुए घटको यात्रीके सामने रखना मङ्गलवारक होता है ऐसा लोकाचार है । नलको देखनेके लिए कोई स्त्री इन्नी अन्यमनस्का हो गयी कि स्नानमें उठ हुए बखवा भी ज्ञान उमे नहीं रहा । वायुने उम स्त्रीके स्नानमें बम्बोंको उठाकर हटा दिया, इसने नलके प्रस्थानको सफल बनानेके लिए स्नानरूप मङ्गलघट रखनेमें अचेतन वायुके भी भाग लेनेसे नलकी यात्राका अवश्यम्भाविनी सफलता सूचित होती है] ॥ ७४ ॥

सर्वरीं नल दर्शयमानत्राऽद्भुतो जवाद्बुदस्तरय करस्य कङ्कणे ।

विषय्य हारेऽनुत्तिरेतरस्ति कृत कथाऽपि क्षणलाजमोक्षणम् ॥ ७५ ॥

सखीमिति । अद्भुत कुतश्चित् श्वेतच्छात्राद्विचिह्नात्, 'उत्सन्नचिह्नयोरद्भु' इत्यमर । सखीं प्रति नल दर्शयमानया सखी नल परयति, ता सखीं नल दर्शयन्त्यर्थ । 'गिञ्चश्च' इत्यात्मनेपदम्, तत ज्ञानवि 'हृक्कोरन्वतरस्याम्' इत्यत्र 'अभिवादिदशो-
रात्मनेपदम् वा' इति वक्ष्य्यादङि कर्ष्या सरया वेकसिपक् कर्मवम् । कथाऽपि पुराज्ञ-
नया, जवात् वेगात्, उदन्तस्य नल दर्शयितुम् उत्सिप्तस्य, करस्य सम्बन्धिनि
कङ्कणे विषय्य लगित्वा, अनर्कितै अभिन्तित, सहमेवेत्यर्थ । नलदर्शनभ्यासङ्गादल-
चितैरित्यर्थो वा । श्रुटितै छिन्नै, हारे क्षण लाजमोक्षण क्षणस्य उत्सवसम्बन्धि, लाज-
मोक्षण वा, कृत, तदेव माङ्गल्य लाजावकिरण जातमिति भाव । आवश्यकश्चायमा-
चार । यथोक्त रघुश्लोऽपि—'अवाकिरन् वयोवृद्धास्त लाजै पौरयोपित' इति ॥ ७५ ॥

सखीके लिए ('देखो, ये नल आ रहे हैं' इस प्रकार सखीसे) नलकी दिखानाी हुई किता स्त्रीने अद्भुत (नलके छत्रादि चिह्न, या-अपने आगे) से जल्दी उठाये गये हाथके कङ्कणमें अँटकर टूटे हुए तथा (नलके देखनेकी उत्सुकताके कारण) अश्रुत हारों (के स्वच्छ मोतियों) से धुनमात्र स्त्रीलोकोंको दिखेरा । [जल्दीमें हाथ उठाकर सखीने नलको दिखानाते समय हाथके कङ्कणमें अँटकर टूटे हुए मोतियोंके हारोंको बह नहीं देत स्त्री । अत एव उनमें गिरते हुए मोता क्षणमात्र वेसे माङ्गल्य पटे मानों बह स्त्री नलका यात्राको शुभ बनानेके लिए धानके खीलोंको गिरा रही हो । यात्राके समय महिलाओंका धानके खीलोंका गिरना लोकाचारमें यात्राका शुभमूलक माना जाता है^२] ॥ ७५ ॥

तमश्रसादर्शमुत्साम्बुजस्मिन् प्रसूनराणीमधुपाणिपल्लवम् ।

यियामतस्तस्य नृपस्य जजिरे प्रशस्तयन्तूनि तदेव श्रुतम् ॥ ७६ ॥

१ 'सखी' इति पाठान्तरम् ।

२ तदुक्त महाकविना कालिदासेन—

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाश्च तमर्च्यमारादभिवर्तमानम् ।

अवाकिरन् बाललता प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्या ॥ (रघुवश २।१०)

लसदिति । नखा एव आदर्शा, मुखानि एव अम्बुजानि, स्मितानि एव प्रसूनानि, वाण्य एव मधूनि माञ्जिकाणि, पाण्य एव पञ्चवा, तेषा द्वन्द्व, ते लसन्त यस्मिन् तत्तादृश, तत् यौतत युवतिसमूह एव । 'गाभिण यौवत गणे' इत्यमर । 'भिच्चादिभ्योऽण्' इति अण् । युवतिशब्दस्य गणे ग्रहणसामर्थ्यादेव 'भस्याडे तद्धिते' इति पुवङ्गाव । पियामत अभिजिगमिषत । याते सन्नन्ताष्ट शत्रादेश । तस्य नृपस्य नलस्य, प्रशस्तवस्तूनि तत्कालोचितमङ्गलद्रव्याणि, जज्ञिरे जातानि जनेर्लिटि 'गमहन—' इत्यादिना उपधालोप । अत्र तादृशपाणिपञ्चवमुद्दिश्य प्रशस्तवस्तूना विधेयतयाऽऽरोपणात् विधेयप्राधान्यादेव जज्ञिरे इत्यत्र बहुवचनम् । अत्रारोप्यमाणप्रशस्तवस्तूना तादृशपाणिपञ्चवतादात्म्यस्य प्रकृते गमनारम्भे उपयोगात् परिणा मालङ्कार, स च रूपकानुप्राणित ॥ ७६ ॥

शोभमान नखरूप दर्पण, मुखरूप कमल, स्मितरूप पुष्प, वचनरूप मधु (शब्द) और हस्तरूप पद्मवत्ता वह युवनिर्घोका समूह ही (विवाहके लिए जानेके इच्छुक) उस राजा (नल) के (यात्राकी सफलतासूचक) माञ्जलिक पदार्थ हुआ । [नलके दर्शनाभिलाषिणी नियोके समूहके सुन्दर नख दर्पणतुल्य स्वच्छ, मुख कमलतुल्य सुगन्धावियुक्त, स्मित कुन्दादिके पुष्पातुल्य निमल, वचन मधुतुल्य मधुर तथा हस्त पद्मवत्तुल्य कोमल थे, अत एव वे ही यात्राभिलाषी नलके लिए माञ्जलिक पदार्थ हो गये । यात्राके समय वक्त दर्पणादि पदार्थोंका देखना शुभसूचक माना जाता है] ॥ ७६ ॥

करस्थताम्यूलजिघत्सुरेफिका विलोकनैकाप्रविलोचनोत्पत्ता ।

मुखे निचिक्षेप मुखद्विराजतारुपेय लीलाकमल विलासिनो ॥ ७७ ॥

करस्थेति । विलोकने नलदर्शने, एकाग्रे एकासक्ते, विलोचनोत्पले यस्या सा तादृशी, एका एव एफिका काचित्, विलासिनी स्त्री, करस्थताम्यूल जिघत्सु अतुमिन्दु सती । अथो घसादेशात् सप्रगतादुप्रत्यय । मुखस्य द्वितीय राजा द्विराज । वृत्तिविषये मत्पदाशब्दस्यापूरणार्थत्वं त्रिभागेत्यादिषत् । तस्य भाव द्विराजता, कमले मुखसादृश्यस्य कविभिर्वर्णनीयत्वाद्गति भाव । तत्र ह्या रोपेण इव, लीलाकमल मुखे निचिक्षेप विद्महे । ताम्यूलचर्वणेन्दु काचित् स्त्री अन्यमनस्कतया लीलापद्मं वदने अर्पितवती इति भाव । लीलाकमलस्य मुखप्रतिद्वन्द्वित्वेन एव ह्या मुखे चर्वणाथमर्पणम् इति उत्प्रेच्छालङ्कार । एतेन विभ्रमात्यश्रेष्ठानुभावा उक्त, 'विभ्रमस्वरयाऽस्थाने भूपास्यानत्रिपर्यय' इति लक्षणात् ॥ ७७ ॥

(नलको) देखनेमें एकाग्र (तमय) नेत्ररूप कमलवाली एक स्त्रीने हाथमें लिये हुए पान (के पीने) को रागना चाहती हुई (पानके स्थानमें) नीलकमलको ही मुखमें डाल दिया वह ऐसा मालूम हुआ कि 'मुखके राग रहनेपर यह कमल दूसरा राजा क्यों बन रहा है ?' इस क्रोधमें उसने नीलकमलको मुखमें डाल लिया हो । [श्रेष्ठ मेरे मुखके साथ यह कमल स्पर्धा करता है, इस क्रोधसे उसे नष्ट करनेके लिए मुखमें डाल लिया हो ऐसा

मादस पदा । नलको देखनेमें तन्मय होनेसे पानके स्थानमें कमलको स्थानमें उग्र यो ह्य
‘विभ्रम’ नामक भाव सूचित होता है] ॥ ७३ ॥

कयाऽपि वीक्षाविमनस्कलोचने समाज एवोपपत्ते ममीयुष ।

घन सविघ्न परिरम्भसाहसैस्तदा तदालोकनमन्वभूयत ॥ ७८ ॥

कयाऽप्येति । कयाऽपि कान्तया, वीक्षया अनिमेषदर्शनेन, विमनस्के नलदर्शन
छालमेन विषयान्तरविमुखे, लोचने यस्य तादृशे, समाने जनसमूहे, एव, समीयुष
समेतस्य, उपपत्ते जारस्य, घन गाढ यथा तथा, परिरम्भसाहसे आलिङ्गनरूपमाह
सहृद्यै, तदा तत्काले, तदालोकन नलविलोकन, सविघ्न यथा तथा अन्वभूयत अनु
भूत, जारकर्तृकालिङ्गनेन व्यवधानात् निरन्तरदर्शन न जातमित्यर्थः । कामान्धा
किं न कुर्वन्तीति भावः ॥ ७८ ॥

किमी (पुष्पली) कोने (नलको) देखनेमें अतिशय आसक्त नेत्रवाले जन-समूहमें
ही आये हुए जारके गाढालिङ्गनरूप साहस (जनवसर में विचारशून्य होकर किये गये
आलिङ्गन) से उस समय उस (नल) के दर्शनको सविघ्न अनुभव किया (अथवा—
जारके आलिङ्गनरूप साहसमें उसके दर्शनको अत्यन्त सविघ्न अनुभव किया । अथवा—
साहससे तब-तब कर्मा-कमी दर्शन किया अर्थात् निरन्तर दर्शन नहीं कर सकी) ।
[जारके द्वारा किये गये आलिङ्गनसे बीचमें व्यवधान होनेसे नलको निरन्तर नहीं देख
सकनेके कारण उसे विघ्नयुक्त माना] ॥ ७८ ॥

दिदक्षुरन्या विनिमेषवीक्षणा नृणामयोग्या दधती तनुश्रियम् ।

पदाग्रमात्रेण यदम्पृशन्मही न तावता केरलमप्सररोऽभवत् ॥ ७९ ॥

दिदक्षुरिति । दिदक्षु नल द्रष्टुमिच्छु, अत एव विनिमेषवीक्षणा अनिमेषदृष्टि,
मृगाम् अयोग्याम् अमानुषीं, तनुश्रियम् अहसीन्दर्यं, दधती अग्न्या कश्चित् सुन्दरी,
पदाग्रमात्रेण पदाङ्गव्यप्रेण भर कृतेत्यर्थः । महीं यत् अस्पृशत्, तावता केवल मही
सलस्पर्शनैव, न अप्सरोऽभवत्, अन्यथा अप्सरसोऽस्याश्च को भेदः ? इति भावः ।
अत्र ‘कृत्वस्ति योगे—’ इत्यादिना अभूततद्भावार्थे अप्सर शब्दात् त्वि-प्रत्ययः ।
प्रकृतिविकृतिस्थले क्रियया प्रकृतिमङ्गुषाग्रहणनियमात् अन्या इत्यस्यैकवचनान्त
त्वेन अभवदित्यत्राप्येकवचनम् । अत्र महोमष्टशदित्युपमेयस्योपमानाशीपद्वपत्
कथनेन भेदप्रधानसादृश्योनिव्यतिरेकालङ्कारभेदः, ‘भेदप्रधान साधर्म्यमुपमानोपमे
ययोः । आधिक्यात्पत्वकरणत्वं व्यतिरेकः स उच्यते ॥’ इति लक्षणात् ॥ ७९ ॥

(नलको) देखनेकी इच्छुक (जन एव) निनिमेष (दृष्टक) नेत्रवाली, (तथा
निनिमेष दृष्टि होनेसे) मनुष्योंके अयोग्य अर्थात् दिव्य शरीरशोभाको धारण करता हुई
दूसरी स्त्री (मीटमें नलको अच्छी तरह देखनेके लिए) जो केवल चरणाग्र (पैरके जीव
वा भेगूटे) से पृथ्वीका स्पर्श किया, केवल होनेसे ही वह अप्सरा नहीं हुई । [निमीको

मीटमें देखनेके लिए पड़ी उठाकर पैरके चौके बल्लर मटा होकर देखना दर्शकमात्रका स्वभाव होता है, मत एव वह मीटमें नलको अच्छी तरह देखनेके लिए पड़ी उठाकर पैरके चौ (या अघूठे) के सहार भूमिपर सड़ी हुई इतनेमें हा बड़ अफसरा नहीं हुए, अन्यथा निनेपरहिन नेत्र तथा दिव्य शरीरशोभा होनेमें वह सञ्ज्ञात् अफसरा ही थी] ॥ ७९ ॥

विभूषणस्रसनशमनार्पितै करप्रहारैरपि धूननैरपि ।

अमान्तमन्त प्रमभ पुरा पग मखीपु सम्भापयतीव मन्मदम् ॥८०॥

विभूषणेति । परा अस्याकाचित्, अन्त सखापु अन्त शरीरे, अमान्तप्रत्याधिषयात् उल्लमन्त, मन्मद हर्ष, विभूषणाना स्रसनस्य स्थानभ्रंसस्य, स्रसनाय यथास्थान निवेशाय इति कथनाय, अर्पितै प्रयुक्तै, प्रमभ बलात्, करप्रहारै पाणिघातैरपि, तथा धूननैरपि तर्हीयगात्रकम्पनैरपि, पुरा सम्भापयतीव सम्भापयामासेवेत्युपेक्षा । 'पुरि लङ् चास्मे' इति भूने लट् । यथा तण्डुलादिमम्भापनाय प्रस्थादिक मुष्टिभिर्बन्धन्ति धुवन्ति च तद्वदिति भाव ॥ ८० ॥

दूसरी (किमी खो) ने मखियोंमें भीतर नहीं समाने (जैटने) हुए (नलवर्शनमन्य) अत्यधिक हर्षको भूषणके गिरने पर किये गये करप्रहारोंमें कम्पनोंसे तथा बलात्कारने समझाया । [मखिया नलको देखनेमें इतना पकाप्रचित हो गयी थी कि भूषणके स्थानान्तरण होनेपर भी उन्हें अपने भूषणका गिरना माहस नहीं पडा, तो उसरी सखीने 'तुम्हारा भूषण गिर गया' ऐसा कहकर उसे सचेत किया, फिर भी उसने नहीं सुना तो हाथने उसके शरीरपर नारकर (हल्का थपका देकर) सचेत किया और इतना करनेपर भी उसने भूषणका नहीं समझा तो उसके शरीरको कम्पित (हिला) कर उसे सचेत किया और उसने अपने भूषणको यथास्थान धारणकर सम्झाया, वह कार्य ऐसा माहस पडना था कि मानों नलके देखनेसे उत्पन्न अत्यधिक हर्ष उसके शरीरमें नश समा रहा है और बाहर गिर रहा है, उसे दूसरी मखीने पहले कहकर बादमें हाथने ठोंककर और इतना करनेपर भी नश समाया तो उसे हिलाकर बलात्कारने उस प्रकार भीतर समवा दिया, जिस प्रकार छोटा वन होनेमें उनमें नहीं समाने एव बाहर गिरने हुए अन्न आदिको पहले कहकर बादमें हाथने ठोंककर और तब भी नहीं समाना है तो उस बर्तनको पकडकर हिलाकर उमी वनमें अन्तर्दिकों बलात्कारने समवा दिया जाता है ॥ नलको देखनेमें अत्यासक्त सखियोंके गिरते हुए भूषणोंको किमी खीने पहले कहकर, फिर सावधान होकर नहीं समझानेपर हाथने उसके शरीरपर ठोंककर और इतनेपर भी नहीं सम्झालनेपर उसके शरीरको हिलाकर बलात्कारने उसे सचेतकर उस भूषणको यथास्थान धारण करवाया] ॥ ८० ॥

वत्सनीलाम्बुरुहेण किं दृशा त्रिलोकमाने त्रिमनीचभूचतु ? ।

अपि श्रुती दर्शनमत्तचेतसा न तेन ते शुश्रुवतुर्मृगीन्द्रशाम् ॥ ८१ ॥

वत्समेति । दर्शनसत्तचेतसा नलविलोकनासक्तचित्ताना, मृगीन्द्रशा स्त्रीणा, श्रुती

कर्णौ अपि, वतसनीलाम्बुरहेण कर्णभूषणीकृतनीलोत्पलेन, दशा चक्षुषा, इति व्यस्त रूपक, विलोकमाने नल पश्यन्त्यौ, अग्रिमनसौ विमनसौवभूवतु मन सम्बन्धरहिते इव किम् ? इत्युत्प्रेक्षा । 'अस्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसा लोपश्च' इति चिदप्रत्यय सलोपश्च, 'अस्य च्चौ' इतीकार । तेन विमनीमावेन, ते श्रुती, न शुश्रूवतु विभूषणसूतन मिति सतीकृतकयथास्थाननिवेशनसूतनमिति वा शेष, मृगीदृश चक्षुर्म्यां नल विलोकनामत्तचित्ता सत्य यथा विमनीवभूवतु तथा तासा कर्णावपि कर्णावतसनी लोत्पलम्पदशा नल पश्यन्तौ सन्तौ विमनीवभूवतु किम् ? तस एव तासा श्रुती भूषणशब्दाद् सतीकृतकतच्छूतन वा न शुश्रूवतु ? इति तात्पर्यम् । अत्रोत्प्रेक्षा लकार ॥ ८१ ॥

नलको देखनेमें मलग्न चित्तवाना मृगवनिर्वाको दोनों कान कर्णभूषण बने हुए नील कमलरूपी नेत्रों (नलको) देखने हुए मानो विमनस्क (मानसिक सम्बन्धसे हीन अर्थात् नलदशनामत्त होनेसे सुननेमें जड़) हो गये थे, इस कारणसे उन्होंने (दोनों कानों) ने भी (पूर्व श्लोकोक्त विभूषणोंके गिरना तथा उस सखीका कहना) नहीं सुना । [नल-दशनेकाग्र सखियोंके नेत्र जिस प्रकार विमनस्क अन्य पदार्थोंको प्रत्यक्ष करने (देखने में असमर्थ) हो गये, उसी प्रकार कर्णावतसभूत कमलरूप नेत्रोंने नल-दशनेकाग्र दोनों कान भी दूसरे शब्दोंको प्रत्यक्ष करने (सुनने) में विमनस्क (जड़) हो गये] ॥ ८१ ॥

काश्चिन्निर्माय चक्षु प्रसृतिचलुम्बित तास्वशङ्कन्त कान्ता

मौग्ध्यावाचूडमोघैर्निचुलितामव त भूषणाना मणीनाम् ।

साहस्रीभिर्निमेपाकृतमतिभिरय दृग्भिरालिङ्गित किं

ज्योतिष्टोमादियज्ञश्रुतफलजगतामार्यभौमभ्रमेण ? ॥ ८२ ॥

काश्चिदिति । तासु पीरकान्तासु मध्ये, काश्चित् का अपि, कान्ता सुन्दरं, भूषणाना सम्बन्धिना, मणीनाम् जोषै समूहै, आचूडम् आशिखण्डज, शिवापर्यन्त-मित्यर्थ, अभिविधावचयीभाव । निचुलित द्वादितमिव स्थितम्, सर्वांशयद्येव मणिघटितभूषणसत्त्वात् मणिभिरालिङ्गितमिव स्थितमित्यर्थ ॥ नल, चक्षुर्म्यामिव प्रसृतिभ्या निजुजपागिम्याम् 'पाणिनिजुज प्रमृति' इत्यमर, चुलुम्बित चुलुकेन पीत, निर्माय विधाय, गण्डूपीकृत्येत्यर्थ, माग्रद दृष्टवेति भाव, मौग्ध्यात् मोहात्, अशङ्कन्त । शङ्काप्रकारमेवाह—अयं पुमान्, ज्योतिष्टोमादियज्ञे श्रुतम् अवगन्तम्, ज्योतिष्टोमादियज्ञानुष्ठानजन्यप्राप्तमित्यर्थ, फल फलभूता, जगती स्वर्गलोक, तस्या सार्वभौम सर्वभूमे ईश्वर इन्द्र 'सर्वभूमिपृथिव्याभ्यामगजौ' इति अग्रप्रत्यय । इति भ्रमेण अयं नल इन्द्र, इति भ्रान्त्या, निमेपाकृतमतिभि निमेपेऽकृतबुद्धिभि, अनिमेपाभिरित्यर्थ साहस्रीभि सहस्रसङ्ख्यकाभि, 'अण् च' इति मत्स्यीयोऽण्-प्रत्यय, दृग्भिरालिङ्गित सृष्ट, आश्रित इत्यर्थ, किम् ? इति आशङ्कन्त

इत्येकान्वयो वा, मणिभूषितम् एन दृष्ट्वा पौरकान्ता अस्मिन् इन्द्रभान्या नेत्रमह-
सम् एन नल प्राप्त किम् ? इति उत्प्रेक्षितवत्य , इत्यर्थ । आन्तिमसङ्कीर्णयमुच्चेत् ।
स्रग्जरा वृत्तम् ॥ ८२ ॥

(नलको) देखना हुई उन (स्त्रियों) में से कुछ स्त्रियोंने मणिमय भूषण-समूहोंसे
नल-शिर आच्छादितके समान उस नलको नेत्ररूपी पमर (आवी यन्त्रलि) से चुन्दमें
लेकर पानकर अर्थात् अत्यन्त आदरपूर्वक देखकर मुग्धतासे ऐसी शब्दा की कि—पलक नहीं
मिरेनेवाली सदसों आँखोंने ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंके वेदोंमें सुने गये षष्ठमे प्राप्त स्वर्गके
सम्राट् अर्थात् इन्द्रके भ्रममे इस नलका आलिङ्गन किया है क्या ? [अचेतन भी रसरूपी
नेत्रोंने ऐश्वर्याधिक्यके कारण इन्द्र समझकर हमे हमलोगोंके निर्मिमेव स्रस्त्रों नेत्रोंसे प्राप्त
किया है क्या ? ऐसी शब्दा मुग्धताके कारण कुछ स्त्रियोंने की ॥ मणिकान्तिमे नल-शिर व्याप्त
नलको मुग्धतावश इन्द्र समझकर निर्मिमेव हो देख रही थीं] ॥ ८२ ॥

भयन् सुधुम्न स्त्री नरपतिरभूद् यस्य जननी

तमुर्वश्या प्राणानपि विजयमानस्तनुरुचा ।

हरारब्धक्रोधेन्धनमदनसिंहासनमसी

अलङ्कर्मणश्रीरदभयदलङ्कर्त्तुमधुना ॥ ८३ ॥

भयङ्गिति । सुधुम्नो नाम नरपति राजा स्त्री भयन् ईश्वरशापात् इक्षारया स्त्री
सन् , यस्य पुरुरवस , जननी माता, अभूत् , उर्वश्या प्राणान् प्राणभूतम्, अप्सरो-
मतोहारिरूपमित्यर्थ , तमपि तस्याम् इक्षारया बुधात् उत्पन्नम् ऐक पुरुरवसमपी
त्यर्थ तनुरुचा अङ्गलावण्येन विजयमान अतिशयान , पराभाषुक् इत्यर्थ , असी
नल , हरेण आरब्धस्य आवेशितस्य, शोधस्य शोधाम्ने , इन्धनस्य दाहस्य, मदनस्य
अनङ्गस्य, सिंहासन हरकोपानलदग्धत्वात् शून्य मदनस्य सिंहासनमित्यर्थ , अलङ्क-
र्त्तुम् अधिष्ठातुम्, अल कर्मणे अलङ्कर्मणि , 'कर्मण्यमोऽलङ्कर्मणि' इत्यमर । 'अप-
दत्त-' इत्यादिना लप्रत्यय । अलङ्कर्मणा कर्मरूपा, श्री शोभा यस्य स , मदन-
सिंहासनयोग्य सन् इत्यर्थ , अधुना उदभवत् उत्पन्न , ततोऽपि सुन्दर इत्यर्थ , इति
आलेपुर्निति परेणान्वय । अत्र सूर्यस्य नत्ता ममो पुत्र सुधुम्नो नाम राजा मृगाया-
सक्तो हिमवत्पाशर्वे पार्वतीवन प्रविष्ट ईश्वरशापात् स्त्रीत्वं प्राप्य बुधात् पुरुरवस्य
मतिमुन्दरमिन्दुपदाप्रवर्त्तन जनयामासेति पौराणिकी कथा अत्राशुमन्धेया । शिर-
रिणी वृत्तम् ॥ ८३ ॥

(शङ्कर मगवान्के शापसे 'इक्षार' नामकी) स्त्री बने हुए 'सुधुम्न' नामक राजा जिस
(पुरुरवा) की माता हुए, 'उर्वशी'के प्राणभूत (अप्सराके प्राणवत् मनोहर रूप) उस
(पुरुरवा) की शरीर-शोभासे पराजित करते हुए वह नल शिवजीके द्वारा क्रिये गये
क्रोध (रूपी अग्नि) का दहनभूत अर्थात् क्रोधाग्निमें जले हुए (अन एव) कामदेवके

(सूनो) सिंहासनको सुशोभित करनेके लिए समर्थ इस समय उत्पन्न हुए हैं (ऐसा कहती थीं, इस पूरक क्रियापदका सम्बन्ध अग्रिम श्लोक (१५।१२) से कहना चाहिये) । [शबरजीकी क्रोधाग्निमें जले हुए कामदेवके सूनो (रिक्त) सिंहासनको अलङ्कृत करनेके लिए सर्वसुन्दर पुरूरवाका विजेता यह नल उत्पन्न हुआ है, ऐसा परस्परमें खिया कहती थीं] ।

पौराणिक कथा—‘सत्ययुगमें सूर्यके नानी मनुपुत्र ‘सुधुम्न’ (इल) नामक राजा शिखर से उल्ला हुआ शङ्करजीमें रोके गये पार्वतीवनमें अकेला प्रवेश करनेपर क्रुद्ध शंकरजीके शापसे ‘इला’ नामकी स्त्री बन गया । उसे अकेली देखकर कामातुर चन्द्रपुत्र बुधने अपने आश्रममें ले जाकर उसमें ‘पुरूरवा’ नामक अनिष्टय सुन्दर पुत्रको उत्पन्न किया’ ऐसी कथा भविष्योत्तर पुराणमें आयी है ॥ ८३ ॥

अर्थो सर्वसुपर्वणा पतिरसावेतस्य यून कृते

पर्यत्याजि विदर्भराजसुतया युक्त विशेषज्ञया ।

अस्मिन्नाम तथा धृते सुमनस सन्तोऽपि यन्निर्जरा

जाता दुर्मनसो न सोढुमुचितास्तेषान्तु साऽनौचिती ॥ ८४ ॥

अर्थीति । विशेषज्ञाया गुणाना तारतम्याभिज्ञया, विदर्भराजसुतया वैदम्भ्या, अर्थो भैमी परिणेतुम् अर्थित्व गत , असौ प्रसिद्ध , सर्वसुपर्वणा पति देवेन्द्र , एतस्य यून पूर्णताएव्यवत , कृते निमित्त , नललाभार्थमित्यर्थ पर्यत्याजि नलात् हीनगुणत्वात् परित्यक्त , इति युक्तम् , अन्यथा अज्ञत्व स्यादिति भाव , किन्तु अस्मिन् नले, तथा वैदम्भ्या, धृते सति निर्जरा देवा इन्द्रादयः , सुधु मन्थन्ते जानन्तीति सुमनस सर्वज्ञा , सुशोऽज्ञाणादिकोऽसुनप्रत्यय , शोभनचित्ताश्च , सन्तोऽपि, दुर्मनस दून-मनस , जाता नाम इति यत् , नामेति सम्भावनाया, तेषा देवाना, सा तु दुर्मनी भावरूपा, दुःखितमानसरूपेत्यर्थ , विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गनिर्देश । अनौचिती अनौचित्यम्, अनुचितकार्यकारित्वमित्यर्थ , सोढु न उचिता, अस्माभिरिति शेषः । विशेषज्ञानाम् उत्कृष्टवस्तुस्वीकरणम् उचितमेव, किन्तु सुमना इति नामधारिणामपि देवतानाम् दमयन्तीकर्तृकनलवरणे दुर्मनस्त्वमनुचितमिति भाव । शार्दूलविष्मोदित वृत्तम् ॥ ८४ ॥

विशेषज्ञा विदर्भराजकुमारी (दमयन्ती) ने परम युवक इस (नल) के लिए याचना करने हुए सम्पूर्ण देवाधीश इन्द्र को भी छोड़ दिया, यह उचिन ही किया, किन्तु उस (दमयन्ती) के द्वारा इस (नल) के वरण करने पर ‘सुमनस’ (सुन्दर = अच्छे मनवाले, पद्मा०—देव) शम्भुसे प्रसिद्ध भी वे (इन्द्रादि) देव जो ‘दुर्मनम्’ (बुरे मनवाले, पद्मा०—दुःखित) हो गये, यह उनका अनुचित कार्य सहन करने योग्य नहीं है (‘ऐसा किसीने परस्परमें कहा’ इस पूरक क्रियापदका सम्बन्ध अग्रिम श्लोक (१५।१२) से करना चाहिये) । [विशेषज्ञा दमयन्तीने देवराज इन्द्रका त्यागकर नलको वरण किया यह उचित किया,

किंतु वे 'सुमनस्' (देव) होते हुए भी 'दुमनस्' (दुःखिन) हो गये यह उन्होंने अनुचिन्तित
एव नहीं सहन करने योग्य काम किया] ॥ ८४ ॥

अस्योत्कण्ठितकण्ठलोठिरणस्रक्साक्षिभिर्दिग्धै
स्व वक्ष स्वयमस्फुटन्न किमर्तं शस्त्रादपि स्फोटितम् ।
व्यावृत्योपनतेन हा । शतमखेनाद्य प्रमाद्या कथ
भैम्या व्यर्थमनोरथेन च शची साचीकृताऽऽस्याम्बुजा ॥८५॥

अस्येति । अस्य नलस्य, उत्कण्ठिते बहुदिनात् भैमीरमालयलाभार्थमुत्सुके,
कण्ठे लुटतीति तादृश्या लोठिन्या, वरणस्रज वरमालाया, साक्षिभिः साक्षाद्द्रष्टु-
भिः, दिग्धव इन्द्रादिभिः दिक्पतिभिः, स्वय स्वत एव, अस्फुटत् अपि लज्जाविरहा-
द्विदीर्घमपि, अद्य स्व वक्ष शस्त्रादपि नलस्यास्रप्रहारादपि, स्वयं छुरिकाविघाता-
दपि वा, किं न स्फोटितम् ? भौमीलाभार्थं नलेन सह युद्धं कृत्वा तदोद्याख्येण वा स्वयं
व्यर्थमनोरथेन विफलाभिलाषेण, अत एव व्यावृत्योपनतेन प्रत्यावृत्य शचीमुपन-
तेन, स्वापराधमार्जनार्थं शचीसमीपे प्रणतेनेत्यय । शतमखेन इन्द्रेण, साचीकृत-
तिर्यक्कृतम्, आस्याम्बुजं यथा सा तादृशी पराङ्मुखी, शची कथं प्रसाद्या ? प्रसाद-
यितव्या ? न कथञ्चिदपीत्यर्थः, ■ ! विपादे । शची क्रोधवशात् वज्रास्यतया सन्मुख-
स्थानबलोकनात् इन्द्रकृतप्रणामाञ्जल्यादिकं मानलोकयिष्यतीति कथं प्रसाद्येति भावः ॥

इस (नल) ने (दमयन्तीको प्राप्त करनेके लिए चिरकालसे) उत्कण्ठित कण्ठमें
लटवती हुई वरणमालाको देखते हुए (इन्द्रादि दिक्पालों अथवा—पाठा०—दिगन्तक
प्रसिद्ध गुरुवरों) ने (निर्लज्जताके कारण) स्वयं विदोष नहीं होनी हुई अपनी छातीको
(अपने हाँ) शस्त्र (पाठा०—इस नलके शस्त्र) से क्यों नहीं विदोष कर लिया ? ।
(अथवा दिगन्तक प्रसिद्ध गुरुवार मनुष्यों या दिक्पाल अग्नि आदि तीनों देवोंकी बान
छोड़ो), सैकड़ों यज्ञोंसे रचाति प्राप्त एवं दमयन्तीके विषयमें असफल मनोरथवाला
इन्द्र भी (यद्वासे निराश) लौटकर (इन्द्राणीको प्रसन्न करनेके किये प्रणम,
पाठा०—समीपमें गया हुआ) क्रोधमें मुखकमलको फेरी हुई इन्द्राणीको कैसे प्रसन्न
कराया ? हाय ! (यह बड़े खेदका विषय है । ऐसा नलकी देरानेवाली स्त्रियोंने कहा, ऐमे
क्रियापूरक वाक्यका अग्रिम श्लोक (१५।९२) से अव्याहार करना चाहिये) । [जो सच्चा
गुरुवीर होता है, वह अपने प्रतिद्वन्द्वीसे पराजित होकर लज्जाके कारण अपनी छातीको
अपने हाँ शस्त्रसे विदोषकर मर जाता है, या उस प्रतिद्वन्द्वीके हाँ शस्त्रसे छातीको विदोष

१ 'दिग्भट्टे' इति 'प्रकाश' सम्मत पाठान्तरम् ।

२ 'किमर्तं शस्त्रादपि' इति पाठान्तरम् । ३ 'गतेन' इति पाठान्तरम् ।

(चीर) कर मर जाना है, किन्तु ये स्वयम्भरमें उपस्थित दिगन्तक प्रसिद्ध शूरावर राजा लोगों को या इन्द्रादिकों जानी निर्लज्जाके कारण स्वयं विदोर्ण नहीं हुईं नो इन्हें अपने या नलके शस्त्रमें अपनी जानीको विदोर्णकर मर जाना उचित था, किन्तु ऐसा नहीं होनेमें ये सभी निर्लज्ज मालूम पड़ते हैं । इसके अनिरीक एक बड़ा खेदका विषय यह है कि दमयन्तीको नहीं पानेमें निराश होकर यहाँमें स्वर्गको इन्द्र जायेगा तो इन्द्रांगी क्रोधते मुखको फेर लेगी और प्रसन्न करनेके लिए प्रणत इन्द्रको नहीं देख सकेगी तो यह इन्द्र वने किम प्रकार प्रसन्न कर लवेगा ? अर्थात् नहीं कर सकेगा, हाय ! देवाधिपति इन्द्रकी भी अब यह दशा है तो हमारेके विषयमें कहना ही क्या है ?] ॥ ८५ ॥

मा जानीत त्रिर्दभजामविदुषीं कीर्तिमुदं श्रेयसी

सेय भद्रमचीररद् मघवता न स्व द्वितीया शचीम् ।

क शच्या रचयाञ्चकार चरिते काव्य स न कथ्यता

मेतस्यास्तु करिष्यते रसधुनीपात्रे चरित्रे न कै ? ॥ ८६ ॥

मेति । हे प्रियमल्ल ! विदभंजा वैदर्भीम्, अविदुषीम् अविशेषज्ञा, मा जानीत मा मन्वन्त्य, यूयमिति शेष, देवानन्द विहाय मानुषानन्दे प्रवृत्ता कथं विदुषी ? इति शङ्का निरस्यति य मुद आनन्दात्, कीर्तिं श्रेयसी प्रशस्यतरा तत् किं तत्र ? इति आह—मा इय दमयन्ती, (प्रयोजिका) मघवता इन्द्रेण, (प्रयोज्येन) स्वम् आत्मान, द्वितीया शचीं न अचीररत् न कारितवती इन्द्र यदि वृणुयात् तदा सत्परमीत्येन शचीत्वप्राप्तया स्वयं द्वितीया शची स्यादिति न इन्द्र वने इत्यर्थ, करो-तेर्गो चङ्प्रपाया हस्व 'चङि' इति द्विभावे सम्बन्धे 'सन्त्यत' इत्यभ्यासस्य इत्थे 'दीर्घो लघो' इति दीर्घ । इति भद्रम्, इन्द्रस्यावरणम् एव साधु कीर्तिकरत्वादिनि भाव । कथं शचीत्वमेव न साधु ? इत्याह—क कवि, शच्या चरिते काव्य रचया चकार ? न कवि, न अरमभ्य, कथ्यता, न कोऽपीत्यर्थ, एतस्यास्तु दमयन्त्या पुन सम्बन्धिनी, रसधुनी रसवती तटिनी 'तटिनी हृदिनी धुनी' इत्यमर । तस्या पात्रे कूलद्वयमध्ये, प्रवाहस्थाने इत्यर्थ, 'पात्रन्तु भात्रने योग्ये विते कूलद्वयान्तरे' इति वैजयन्ती विविधसुरसाधारे इत्यर्थ । चरित्रे विषये, वै कविभिः, न करिष्यते ? काव्यमिति शेष । सर्वेऽपि स्वत एव करिष्यते इत्यर्थ, स्वयमेव दृष्टान्त इति क्वे तात्पर्य, तस्मात् कीर्तिकरत्वात् नलवरणमेव भद्रमिति भाव ॥ ८६ ॥

(हे सपत्निया ! तुमलाग) दमय नालो अपण्डिता मन जानो (पण्डिता जानो, देवोंको मार्या बननेके आनन्दका त्याग करनेपर भी उसके पण्डिता होनेमें यह कारण है कि) इपं (पाठा०—स्वर्ग) से कीर्ति श्रेष्ठ है । (अथवा पाठा०— दमयन्तीको 'इपं' (इन्द्रादिके वरणने प्राप्त स्वर्गप्राप्तिरूप प्रसन्नता, पाठा०—स्वर्ग) से कानि श्रेष्ठ है, (हम जानको)

१. 'कीर्तिं मुदं श्रेयसीम्' इति पाठान्तरम् । २. 'दिव' इति पाठान्तरम् ।

नदी जाननेवाली मन बानी, (क्योंकि) सुप्रसिद्ध हम (दमयन्ती) ने इन्द्रके द्वारा अपनेको दूसरी इन्द्राणी नदी बनवाया (अर्थात् इन्द्रको यदि यह बरग करती तो वह हमें दूसरी इन्द्राणी बना लेता) यह अच्छा लिया । (हर्ष (पाठा—नवर्ग) में कीर्ति श्रेष्ठ हम कारण है कि—) इन्द्राणीके चरितके विषयमें (चरितका आश्रयकर) किम (कवि) ने काव्य (एव मा काव्य) को रचा ? यह हमने बड़े अर्थात् किमी एक कविने भी इन्द्राणीका चरित बान करने के लिए एक भी काव्य नहीं बनाया और हमके विपरीत इस (दमयन्ती) रस-नदी-प्रवाहरूप चरितमें अर्थात् चरितका आश्रय लेकर कौन ने कवि काव्यकी रचना नहीं करेंगे अर्थात् केव 'न-हर्ष' कवि ही 'नैष' महाकाव्यकी रचना नदी करेंगे, किन्तु व्यास आदि प्राचीनतम महाकवि भी महाभारत आदि काव्योंमें हम दमयन्तीके चरितका बान करेंगे ('देमा नन्वो देपनेवाली स्त्रियोंने कहा' देने कियापूरक वाक्यका अग्रिम श्लोक (१५१२) में अध्याहार करना चाहिये) । [दमयन्ताने संचा कि यदि मैं इन्द्रका बरगकर दूसरी इन्द्राणी बन मौ जाती हूं तो मुझे स्वर्गद्वयप्रत्य प्रसन्नता तो अवश्य मिल जायेगी, किन्तु नन्वे बरग करनेने होनेवाली कीर्ति नहीं मिलेगा, अत एव स्वर्गद्वयप्रत्य प्रसन्नताकी अपेक्षा काविको ही श्रेष्ठ मानकर दमयन्त ने इन्द्रका रवागकर नलका बरण किया यह बहुत पाण्डित्यपूर्ण कार्य किया है । वमहा देमा माचना हम कारण उचित है कि इन्द्राणीके चरितका बान करनेके लिए आज तक किमा एक कवि ने भी कोई काव्य नदी बनाया और पुण्यदलक नलके बरण करनेने इसके चरितका बान व्यास आदि बहुतने कवि महाभारतादि महाकाव्योंमें करेंगे, इस कारण हम दमयन्तीके समान दूरदर्शिनी विदुषा कोई दूसरा का नहीं है ॥ ८३ ॥

वैदमः बहुजन्मनिर्मिततप शिल्पेन देहश्रिया
नेत्राभ्या स्पृष्टते युगाऽयमजन्तीनास प्रसूनायुध ।

गीर्वाणालयसार्वभौमसुकृतप्राग्भारदुष्प्रापया

योग भीमत्रयाऽनुभूय भजनामद्वैतमद्य त्रिधाम् ॥ ८४ ॥

वैदमीति । अवया वास यस्य स तादृश, प्रसूनायुध पुंसेषु, भूषणकमन्मथ इति यावत्, अथ युवा नल, वदभ्या दमयन्त्या, बहुषु जन्मसु निमित्तेन कृतेन, तपसा तपस्यालभ्येत्यर्थ, शिल्पेन कलाकौशलेन, दमयन्तीनाप फललक्षणा कौशलस्वरूपयेत्यर्थ, देहश्रिया कायकान्त्या, नेत्राभ्या स्पृष्टते रोचते, परयन्तीनाम स्माक नेत्रानन्द करोतात्यर्थ, 'रुच्यर्थाना प्रीयमाण' इति चतुर्थी । अत एव गीर्वाणालयसार्वभौमसुकृतप्राग्भारे नाकनायकपुण्यराशिभि अपि, दुष्प्रापया दुर्लभया, इन्द्रादिभिरपि दुरधिगम्यया इत्यर्थ, भीमत्रया मय्या सह, योग मिलनम्, अनुभूय अथ त्रिग कान्तीनाम्, अद्वैतम् अद्वितीयत्वम्, वसाधारण्यमित्यर्थ, भजना गच्छतु अथ युवेति पूर्वगान्वय ॥ ८४ ॥

भूलोकवासी कामदेव यह युवक (नल) दमयन्तीके बहुत जन्मोंमें को गयी तपस्याके शिव (कारीगरी) रूप देहशोभासे हमारे नेत्रोंको रचना है, वह नल देवाण्य (स्वर्ग) के चक्रवर्ती (इन्द्र) के पुण्याधिक्यसे भा अप्राप्य सोमजा (राजा सोमकी कन्या दमयन्ती, पञ्चा०—नीम = शिवजीके प्रसादसे प्राप्त विद्या-विशेष) से युक्त होकर तेज समूहके अद्वैत (अधिक वान्ति समूह, पञ्चा०—परमात्मा) को प्राप्त करे । (ऐसा 'नल'को देखनेवाली स्त्रियोंने कहा' इस क्रियापूरक बान्यका अध्याहार अग्रिम दशोक (१५।१२) से करना चाहिये) । [पहले कामदेव स्वर्गमें रहता था एवं शरीरहीन था, किन्तु वही दमयन्तीके अनेक व मरुत तपस्याआंसे सदेह होकर भूलोकमें वास करनेवाला यह युवा नल हो गया है, ऐसा यह नल देवलोकके चक्रवर्ती बननेके कारण अधिक पुण्यशाली इन्द्र भी जिस दमयन्तीको पूर्वजन्म अपने पुण्योसे नहीं पा सका उस दमयन्तीका योग पारर आज सर्वाधिक वानिमान् होवे । देवलोकवासी तथा अशरीरी कामदेवको भूलोकवासी तथा सशरीर बनाकर युवक नलके रूपमें हमलोगोंके सामने उपस्थित करनेसे दमयन्तीका पुण्याधिक्य, तथा जिस पुण्यसे स्वर्गका चक्रवर्ती बननेवाला इन्द्र भी दमयन्तीको नहीं पा सका और इस नलने उसे पा लिया अनन्तर इन्द्रकी अपेक्षा नलका पुण्याधिक्य सूचित होता है । लोकमें भा तपोबलने युक्त व्यक्ति स्वर्गवासी अदेहधारी देवका भूलोकवासी एवं देहधारी मनुष्य बना लेता है, ऐसा दमयन्तीने किया है । तथा अष्टाद्व योगको करके बहुत तपसे अप्राप्य भी विद्याको शिवजीके प्रसादसे प्राप्तकर कोई महापुण्यशाली व्यक्ति अद्वैत परमात्माको भजता है, ऐसा नल भी करे । दमयन्ती तथा नल—दोनोंके ही पूर्व जन्माश्रित पुण्य अत्यधिक हैं, अतएव इनका सम्बन्ध बहुत उत्तम हुआ] ॥ ८७ ॥

स्त्रीपुंसव्यतिपञ्चन जनयत पत्यु प्रजानामभू
दभ्यास परिपाकिम किमनयोर्दाम्पत्यसम्पत्तये ? ।

आमसारपुरन्धिप्रवरूपमिथ प्रेमार्णैक्रीडयाऽ-

त्येतज्जम्पतिगाढरागरचनात् प्राकर्षि चेतोभुवः ॥ ८८ ॥

स्त्रीपुमेति । स्त्री च पुमाश्च स्त्रीपुमांसौ 'अचतुर—' इत्यादिना निपातनात् साधु । तयो व्यतिपञ्चन जनयत सङ्घटनं कुर्वत, प्रजानां पत्यु स्रष्टु, परिपाकेन निर्धृत् परिपाकिम परिपक्व इत्यर्थ, "भावप्रत्ययान्तादिमप् वक्तव्य" इति इमपप्रत्यय । अभ्यास पुन पुन स्त्रीपुंससयोजनकरणरूपावृत्ति, अनयो नलदमयन्त्यो, दाम्पत्यस्य जायापतित्वस्य, सम्पत्तये सम्पादनाय, अमृतं किम् ? नो चेत् तस्य कथमीदृगनुरूपसङ्घटनत्वमिति भावः । तथा अभ्यास विना कथम् ईदृगन्धोऽन्यानुरागजननचातुरीभावः ? इति तात्पर्यम् । किञ्च, चेतोभुव कामस्य अपि, आमसारससारम् आरम्य अभिविधावद्ययीभावः । पुरन्धिप्रवरूपो-स्त्रीपुंसयोः, मिथ अन्योऽन्य, प्रेमोर्षणम् अनुरागोत्पादनम् एव, स्त्रीढा तथाऽपि, षतजम्पत्यो पत्योर्नैल

दम्पत्यन्तीरूपयो दम्पत्यो 'दम्पती जम्पती जायापती' इत्यमर । जायाशब्दस्य दम्भाद्यो जम्भावश्च निपातित । गाढ बद्धमूल, राग प्रेम, तस्य रचनात् सम्पादनात् प्राक्पि प्रकृत्या जातम् इत्यर्थः । परस्परानुरागोत्पादनक्रीडाया उत्कर्षं पृतयोर्नल भैरवोरेव विधान्त इति भावः कृपेर्भावे लुङ् ॥ ८८ ॥

स्त्री-पुरुषांको विरुद्धरूपते अत्यन्त (सर्वा) मिलाने हुए प्रवापि (बद्धा) का अभ्यास इन दोनोंको दम्पती बनानेकी श्रेष्ठता के लिए परिपक्व हो गया है क्या ? (अथवा- प्रशान्तिका परिपक्व अभ्यास अर्थात् निरन्तर कार्य करते रहनेमें अच्छी तरह अभ्यस्त शिक्षा) हा दोनोंको दम्पती बनानेके लिए उत्कृष्ट हुआ है क्या ? । तथा कामदेवकी समारम्भे प्रारम्भने स्त्री-पुरुषके लिए परस्पर प्रेमदान (अनुरागोत्पादन) रूप क्रीडा भी इन दोनों दम्पती (नल-इनयन्तीरूप स्त्री-पुरुष) के परस्पर प्रेमरचनाको बड़ा दिया है । [क्योंकि बिना मनन अभ्यास बिना ब्रम्हा इनकी सुन्दर स्त्री-पुरुषकी ओरी बनानेमें कदापि समर्थ नही होते, अतएव मान्यन पटना है कि बिना प्रकार सन्तत कार्य करता हुआ व्यक्ति अभ्यासके परिपक्व होनेपर सर्वोत्तम कार्य करनेमें समर्थ होता है, उसी प्रकार ब्रम्हा भी स्त्री-पुरुषोंकी जोड़ियोंके सर्वश्रेष्ठ मिश्रण रहनेमें उस कार्यमें निपुणता पाकर इन दोनोंकी प्रणत जोड़ी बनानेमें समर्थ हुए हैं । इसी प्रकार कामदेव भी जो सृष्टिके आरम्भ कालसे स्त्री-पुरुषोंमें परस्परमें अनुराग पैदा करनेकी क्रीडा करता है, वही निरन्तररूप अभ्यास इन दोनों (नल तथा इनयन्ती) के परस्पर अनुरागकी बढानेमें समर्थ हुआ है । इन दोनों को श्रेष्ठतम दाम्पत्य दष परस्परानुरागका उदाहरण सृष्टिके आरम्भमें एक भी नहीं है] ॥ ८८ ॥

तामिहृत्पल एष यान् पथि मङ्गायैप्रोमहे मन्महे

यदृष्टमि पुरुषोत्तम परिचित प्राग् मञ्चमञ्चन कृत ।

सा स्त्रीराट् पतयालुभि शितिमितै स्यादस्य दृक्चामरै

सस्ने माघमघाभिघातियमुनागङ्गोपयोगे यया ॥ ८९ ॥

तामिरिति । तामि स्त्रीभि, पथि राजपथे, यान् गच्छन्, यातेर्लट् शास्त्रादेश । एष नल, हरपते, यामा हरिभि नेत्रे, प्राक् पूर्वस्मिन् जन्मनि, ज्येष्ठया नक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी, ज्यैष्ठ्य 'नक्षत्रेण युक्त काल' इति षष् । महती पूजा, ज्यैष्ठ्य ज्येष्ठ-पौर्णमासी, तस्या यो मह उत्तमः तस्मिन्, मञ्च पर्यङ्कम्, अञ्चन् गच्छन् मञ्चस्य इत्यर्थः, 'मञ्चपर्यङ्कपठ्यङ्का खट्वया समा' इत्यमर, पुरुषोत्तम नारायण, परिचित. दृष्ट कृत, नेत्रे उपामित इत्यर्थः, तादृक् सुकृत विना कथमीदृग्महाभागदर्शने लभ्यते इति भावः यथाऽऽहु, दोलारुटञ्च गोविन्द मञ्चस्थ मधुसूदनम् । रथस्थं वामन दृष्ट्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥' इति । तथा पतयालुभि उपरिपातुकै 'सृष्टिगृहिपति—' इत्यादिना चौगदिकात् पतेरालुभि 'अयामन्नालु—' इत्यादिना पेरयादश । शितिभि श्यामवर्णः, तथा सितं शुभ्रम्, अस्य नलस्य,

इभि इष्टिभि एव, चामरै ध्वजनै, सा स्त्रीणा राट् स्त्रीणा राज्ञी, स्त्रीषु श्रेष्ठेत्यर्थः स्यात् भवेत्, 'मत्सूद्विष-' इत्यादिना कृिप । राजचिह्नत्वात् चामराणामिति भावः, यथा स्त्रिया अधानि अभिहन्तीति अधामिधानो पापविनाशी, ताच्छ्रीव्ये णिनि, 'हो हन्ते -' इति कृत्व 'हनस्तोऽचिण्णलो' इति नकारस्य तकार । तस्मिन् यमुनागङ्गयो ओषयोगे प्रवाहसयोगसमीपे, गङ्गायमुनासङ्गमे प्रयागादौ इत्यर्थः, सामीप्ये अध्ययीभावात्, 'तृतीयामसम्योर्बहुलम्' इति विकल्पादम्भावाभावः । मघा भिर्नक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी माघा 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' इत्यण् । सा माघी अस्मिन् इति माघः । 'साऽस्मिन् पौर्णमासीति' इति सङ्गायामण्-प्रत्ययः । त माघ माघमासः स्यात्, अत्यन्तसयोगे द्वितीया । सस्ने स्नातम् स्नातेर्भावे लिट् । यथा प्रयागे स्नातः सैव नलेन अवलोच्यते, अन्यथा कथमीदृमहालाम इति भावः । अत्राप्याहुः — 'सिंहासितेषु ये स्नातः माघमासे युधिष्ठिरः । न तेषां पुनरावृत्तिः कल्पकोटिशतैरपि ॥' इति मन्मते विवेक्यामि, वाक्यद्वयार्थः कर्मपदम् ॥ ८९ ॥

मार्गमें जाते हुए, पुरुषश्रेष्ठ तथा रथपर सवार इस नलको वे ही स्त्रिया देखा है, ज्येष्ठ मासकी पूर्णिमाके श्रेष्ठ उत्सव (अथवा-श्रेष्ठ ज्येष्ठमासकी पूर्णिमाके उत्सव) में जिनके नेत्रोंने पूर्व जन्ममें (या-पहले) मार्गमें जाते हुए रथारूढ़ विष्णु भगवान्को देखा (या-बार-बार देखा, या पहले (अर्थात् सर्वप्रथम देखा) है । अथवा-मार्गमें जाते हुए नलको वे ही (स्त्रिया) देखती हैं, जिनके नेत्रोंने) । तथा एतन्शील कृष्णमिश्रित इवेन वगवाल इनकी दृष्टिरूपा चामरोंसे बड़ी स्त्री रानी (या-बड़ी स्त्रियोंमें रानी) है, जिसने पापकी संबंधा नष्ट करनेवाले यमुना तथा गङ्गाके प्रवाहके सङ्गम (तीर्थराज प्रयागमें गङ्गा-यमुना-संरक्षणीके मम्मिलन स्थान) में माघ मास तक स्नान किया है, ऐसा हमलोग मानती है, (ऐसा 'नलको देखनेवाली स्त्रियोंने कहा' इस क्रियापूरक वाक्यका अध्याहार अग्रिम श्लोक (१५।९२) से करना चाहिये) । [महाज्येष्ठी महोत्सवमें रथपर विराजमान विष्णु भगवान्को पहले जन्ममें देखनेवाली स्त्रिया ही उस पुण्यातिशयसे मार्गमें जाने हुए नलको देख सकती है, अतः हमलोग मार्गमें जाते हुए इस नलको देख रही है, यह अपना बड़ा पुण्यातिशय मानना चाहिये, उसीमार्गमें लोग ज्येष्ठ मासकी पूर्णिमा निविशे इन्द्र-नीलगिरि-निवासी पुरुषोत्तम भगवान्का महोत्सव मनाते हैं, उसमें श्रीकृष्ण, बलराम आदि की प्रतिमा को विराजमानकर सात भूमिकावाले रथको अलग अलग निकालते हैं, उनके दर्शन करनेसे महापुण्य प्राप्त होता है, ऐसा पौराणिक कहते हैं । तथा ये दमयन्तीको कृष्ण-इवेन कटाक्षसे देखेंगे, अतएव वह स्त्रियोंमें रानी है तथा पूर्वजन्ममें पूरे माघमासमें तीर्थराज प्रयागके गङ्गा-यमुनाके प्रवाहके संगम (त्रिवेणी) में स्नान किया है, अतएव उसे यह उत्तम वर प्राप्त हुआ है] ॥ ८९ ॥

वैदर्भीत्रिपुलानुरागरत्ननासीभाग्यमत्राखिल-
श्रीणीचक्रशतक्रती निजगदे तद्वृत्तवृत्तकर्म ।

किञ्चास्माकनरेन्द्रमुसुभगतासम्भृतये लग्नक
देवेन्द्रावरणप्रसादितशचीविश्राणितोशोर्वच ॥ ९० ॥

वेदमीति । अखिलज्ञीचक्रसतक्रनौ अखिलभूलोकदेवेन्द्रे, अत्र अस्मिन् नरे,
वैदर्भीविपुलानुगगङ्गला दमयन्तीगाटानुरागलाभ, सा एव मौभाग्य बाह्यभ्यम्
(कर्म) तरया भैर्या, वृत्तवृत्तमै अतीतचरित्रप्रकाश इन्द्रप्रतिपेदादिभि (कर्तृभि)
'वृत्तपद्ये चरित्रे त्रिचतीते दृढनिस्तले' इत्यमर, निजगदे गदित, तादृगनुरागाभावे
कथमिन्द्रादिप्रतिपेध इति भाव । किञ्च, देवेन्द्रस्य अवरणेन वरणाकरणेन, प्रसादि-
तया सन्तोषितया, दास्या विश्राणित वृत्तम्, आशीर्वच एव अस्माकमियम्
आस्माकी 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्या यत्' इति चकाराण् 'तस्मिन्निति च युष्मा-
कास्माकौ' इति अस्माकादेश । तस्या नरेन्द्रभुव राजपुत्र्या भैर्या, सुभगताया
पतिबाह्यभ्यस्य, सम्भूमये लाभाय, लग्नक प्रतिभू 'भ्युर्लग्नरा प्रतिभुव' इत्यमर ।
अभूत् इति षष्प । स्त्रीणा सौभाग्यस्य शचीप्रसादभ्यत्वादिति भाव ॥ ९० ॥

वस (दमयन्ती) के भूतपूर्व चरित्तो (इन्द्रादि । स्वागकर नत्का वरण करना आदि)
के क्रमोंन पृथोमण्डलके इन्द्र हम (नर) में दमयन्तीके गाढ स्नेहस्वर मौभाग्यकी कह
दिया (अथवा—हमन्तागोंमे पड़े गये नरके चरित्त-मन्वन्धी पद्य-मनूरीने दमयन्तीमें
अनिक स्नेहस्वर सोमायको इस भूतोकेने इन्द्र नरमें कह दिया । अन्यथा यह दमयन्ती
स्वगाभीष्ट इवन्दादिका स्वागकर नत्का वरण कर्मे करती, हममे मूर्खित होना है कि नरमें
हा दमयन्तीका प्रगाढ स्नेह है) । और इन्द्रके वरण नहीं करनेमें प्रसन्न हो गया इन्द्राणीके
दिदे गये आशीर्वाद (पाठा०—आशीर्वादस्वर वेद अर्थात् वेदतुल्य अ य वचन) 'हमन्तागोंके
राजा (सोम) की कन्या (दमयन्ती) के सोमा वशी उत्पत्तिके लिए उत्तरदाया (जिने
वार) हो गया । [दमयन्ती स्वयवरमें आये हुए इन्द्रको वरण कर लेनी तो इन्द्राणी मयकी
(मौन) होनेसे दुःखित होती, अत वेम् (इन्द्रका वरण) नदा करनेसे इन्द्राणीने प्रसन्न हो
कर दमयन्तीके लिए जो आशीर्वाद दिया है, वही दमयन्तीके सौभाग्य-मन्त्रिके लिए
उत्तरदायी हो गया है, क्योंकि इन्द्राणीकी प्रसन्नता त्रियोंके सौभाग्यकी वृद्धिका कारण
मानी जाती है] ॥ ९० ॥

आसुत्राममपासनान्मसमुजा भैर्यैव राजव्रजे

तादर्थ्यागमनानुरोधपरया युक्ताऽऽर्जि लज्जानृजा ।

आत्मान त्रिदशप्रमादफलितं पत्ये विद्यायानया

हीरोपापयश कथानवस्तर मृष्ट सुराणामपि ॥ ९१ ॥

आसुत्राममिति । राजा भूसुजा व्रजे राजव्रजे स्वयवरगत राजममाने, तादर्थ्येन

१. '—ताशी ध्रुति' इति पाठान्तरम् । 'अयन्तु पाठ साधोयान्' इति प्रकाश ।

२. 'पत्ये नयन्त्यानया' इति पाठान्तरम् ।

स नल अर्थं प्रयोजन यस्य तस्य भाव तादर्थ्यं नलप्रयोजनकत्वं, तेन हेतुना यत् आगमन स्वयंवरप्रवेशन, तस्य अनुरोध अनुवर्तनमेव, पर प्रधान यस्या तथा नलैकपरया, भैर्या आसुत्रामम् इन्द्रपर्यन्तम्, अभिविधावध्ययीभाव । 'अनश्न' इति समासान्तष्टच् । 'सुत्रामा गोत्रभिद् वत्री' इतीन्द्रपर्याये अमर, मखसुजा देवा नाम्, अपासनात् प्रत्याख्यानात् हेतो, लज्जाया मृजा प्रमाज्जनं, युक्ता योग्या एव आजि अर्जिता, 'आहारं व्यवहारं च त्यक्तलज्जं सुखी भवेत्' इति न्यायादिति भाव । अनया भैर्या, त्रिदशप्रमादेन देवानुग्रहण, फलित सफलम्, आध्मान पत्ये वराय नलाय, विधाय दत्त्वा, सुराणा होरोपापयशसा प्रत्यादानजनितलज्जाश्लेष दुष्कीर्तिप्रमत्ताना, कथानाम् सनवसरोऽपि स्पृष्ट अनवकाश कृत, तदनुत्तर्यैव प्रकृते वरणम् इति अत्र कश्चिदपयसा कथानवकाश इति भाव ॥ ९१ ॥

राजसमूहम् उभ (नल) के लिए (स्वयंवरमें) आनेके अनुरोधकी प्रधानतावाली अर्थात् नल-वरणार्थ ही मुरायन स्वयंवरमें आयी हुई दमयन्तीने ही इन्द्रपर्यन्त देवोंका त्याग करनेमें जो लज्जाका मार्जन किया वह उचिन् ही किया (अथवा—उस दमयन्ती) के लिए (राजाओंके) आनेके अनुरोध (अनुकूलता) में तत्पर दमयन्तीने ही इन्द्र पर्यन्त देवोंका त्यागकर राज-समूहमें अर्थात् राजाओंके विषयमें लज्जाका जो मार्जन (राजाओंकी लज्जाको दूर) किया वह उचिन् ही किया । [प्रथम अर्थमें—दमयन्ती राज-समूहमें नलको वरण करनेका अपत्ता सुन्य लज्ज बनावकर स्वयंवर मसामें आयी थी, अतः लज्जाको छोड़कर उसने इन्द्रतक देवोंका त्याग कर अनौष्ट वरको प्राप्त किया, अन्यथा यदि वह लज्जा नही करती अर्थात् नलको छोड़कर इन्द्रादि देवों या राजाओंमें-से किसीका वरण कर लेती तो अपने अनौष्ट नलको नहीं पाती, अतः 'आहारं व्यवहारं च त्यक्तलज्जं सुखी भवेत्' अर्थात् 'आहार तथा व्यवहार में लज्जाको छोड़नेवाला व्यक्ति सुखी होता है' नीतिके अनुसार दमयन्तीने ही लज्जाका त्यागकर उचित कार्य किया, अन्य कोई नही ऐसा नहीं कर सकती । द्वितीय अर्थमें—दमयन्तीको पानेके उद्देश्यसे बहुतने राजा लोग स्वयंवरमें आये थे, अतः दमयन्तीने उन राजाओंका ही नहीं अपितु इन्द्रपर्यन्त देवोंका त्यागकर राजाओंकी लज्जाको जो बचा लिया वह उचित ही किया । राजालोग दमयन्तीके उद्देश्यसे स्वयंवरमें आये थे, अतः दमयन्तीने उनकी लज्जा बचाकर उचिन् कार्य किया, अन्यथा वे बहुत लज्जित होते कि हमने दमयन्तीने वरण नहीं किया । अब जब कि दमयन्तीने इन्द्रतक त्यागकर नलका वरण किया तो 'जब इन्द्रपर्यन्त देवोंको दमयन्तीने छोड़कर नलका वरण कर लिया तो इन्द्रादि देवोंके सामने मेरी क्या गणना है ?' इस विचारसे राजालोग अब लज्जित नहीं होंगे, अतः अब दमयन्तीने ही यह उचित कार्य किया दूसरी वधू ऐसा नहीं कर सकती थी । इस प्रकार राज समूहकी लज्जाका निवारण करने पर भी इन्द्रादि देवोंका त्यागकर मनुष्य नलका वरण करनेसे उन्हें (इन्द्रादि देवोंको) लज्जा हो सकती है, किन्तु दमयन्तीने उनकी भी लज्जाका मार्जन (निवारण) किया इस

वातको श्लोकके उत्तरार्द्धमें कहते हैं—[पति (नर) के लिए अपनेको (इन्द्रादि चार) देवोंकी प्रसन्नताका फल बनाकर अर्थात् देवताओंको प्रमत्तकर नरको पति बनाकर देवोंके लज्जा, क्रोध तथा अपकीर्ति (बदनामा—अपश) होनेकी बातका (दमयन्तीने) अवसर ही नहीं दिया । ('देमा नरको देखनेवाली स्त्रियोंने कहा' इस क्रियापूरक वाक्यका अध्याहार अग्रिम श्लोक (१५०२) से करना चाहिये) । [यदि दमयन्ती इन्द्रादि चारों देवोंके बिना प्रसन्न किये ही नरका वरण कर लेना तो उन्हें 'इम दमयन्तीने हम लोगों (देवों) को छोड़कर नरका वरण किया' इस विचारके अन्यान्य देवों तथा अपनी अपना पतिव्योंके प्रति लज्जा होती, हम लोगोंको स्वयमेव उपस्थित रहने पर भी मनुष्य नरका वरण कर हम लोगोंका त्याग किया' इस विचारमें उन्हें (इन्द्रादि चारों देवोंको) क्रोध आता और 'इमलोगोंका त्यागकर मनुष्य नरका वरणकर हमलोगोंको अपमानित किया' इस विचारसे वे अपना अपयश मानने किन्तु दमयन्तीने पहले उन्हें स्तुतिद्वारा प्रमत्तकर उनके आदेशमें ही नरको पति बनाया, अब एव अब जोग ऐसा समझे कि ये इन्द्रादि देव दमयन्तीके लिए नरको पतिरूपमें देनेके लिए ही स्वयंवरमें पधारे थे, दमयन्तीको पानेके लिए नहीं हममें उन्हें लज्जित, क्रोधित तथा अपयशसे युक्त (बदनाम) होनेका अवसर ही नहीं रहा । इस प्रकार सब कार्य इन दोनोंके लिए सङ्गठित हो रहे हैं] ॥ ९१ ॥

इत्यान्तेपुन्रनुप्रतीकनिलयालङ्कारमारश्रिया-

ऽलङ्कुर्वन्तनुरामणीयकममूरालोक्य पौरस्रिय ।

सानन्द कुरुविन्दसुन्दरकरम्यानन्दन स्यन्दन

तस्याध्याम्य यन शतक्रतुहरित्क्रीडात्रिमन्दोरिव ॥ ९२ ॥

इतीति । कुरुविन्द पद्मराग 'कुरुविन्दस्तु मुस्ताया कुसमापद्मीहिमेदयो ।
हिङ्गुले पद्मरागेऽपि मुकुलेऽपि समीरित ॥' इति विरच । तद्वत् सुन्दरौ करौ हरनौ
यस्य तस्य, अन्यत्र सुन्दरा करा अशव यस्य तस्य, आनन्दयतीति आनन्दनम्
आनन्दकरम्, नन्दादिवाक्येषु । स्यन्दन रथम्, अध्यास्य अधिप्राय, यत गच्छत,
इजो छट सन्नादेश । तस्य नलस्य, शतक्रतुहरित प्राप्या दिश, क्रीडात्रि त्रीडा-
पर्वतम्, उदयात्रिमिति यावत्, अध्यास्य यन गच्छत, इन्दो इव अनुप्रतीकनिल-
याना प्रत्ययवसप्रयागाम्, अलङ्कारसाराणाम् उत्कृष्टाभरणानां, श्रिया शोभया
साधनेन, अलङ्कुर्वन्त्या आत्मानं प्रसाधयन्त्या, तनो मूर्त्ति, रामणीयकरमणीयत्वम् ।
'योषधाद् गुरुपोत्तमाद् बुज्' इति बुज्प्रत्यय, आलोक्य अम् पौरस्रिय इति पूर्वोक्त
रीत्या, सानन्द यथा तथा आलेषु आलपन् । आलपेर्लिट्, अन एव पत्वाभ्यासलोपौ ॥

पद्मराग मणिके समान वरुणवर्ण (लाल) हाथ वाले तथा आनन्दवारक रथपर चढकर
जाने हुए (पश्चात्—पद्मराग मणिके समान करण वर्ण किरणोंवाले तथा नन्दनवन तक

१ 'पौरप्रिया, इति प्रकाशसम्मत पाठान्तरम् ।

(व्याप्त होकर) पूर्व दिशाके कीड़ापर्वत अर्थात् उदयाचल पर चढ़कर आते (उदय शो
हुए) चन्द्रमाके समान उम (नल) की प्रत्यक्षमें धारण किये अलङ्कारोंकी सारभूत
(अतिशय श्रेष्ठ) शोभासे अमिमान करते हुए) अथवा—अपनी—अपनी शोभाको अन्तर
मिकापूर्वक श्रेष्ठ बनात हुए शरावका शोभाको देखकर सानन्द नागरिक स्त्रियों (पाठा—
नागरिकोंकी प्रियाओं) ने इस प्रकार (१५।८३-९१) कहा । ['वरसौन्दर्यसे मेरा सौर्भ
श्रेष्ठतर है' ऐसा बाहुके, 'बाहुसौन्दर्यसे मेरा सौन्दर्य श्रेष्ठतर है' ऐसा बरके, इसी प्रकार नल
के प्रत्येक अङ्ग अपना शोभाको परस्परमें श्रेष्ठ बनाना रहे थे, अथवा—'मङ्गल सब अङ्गोंसे
मेरी शोभा श्रेष्ठतर है' ऐसा नलके प्रत्येक अङ्ग अपनी—अपनी शोभाको दूसरे समा अङ्गोंसे
श्रेष्ठतम बनाना रहे थे अर्थात् नलके प्रत्येक अङ्गकी शोभा दूसरे अङ्गोंसे बड़ी—बड़ी थी, इसे
देखकर आनन्दित स्त्रियोंने परस्परमें उक्त वार्ते (१५।८३-९१) कही] ॥ ९२ ॥

श्रीहर्ष फविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर सुत

श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।

यात पञ्चदश कृगेतररसरसादाग्रिहाय महा-

काव्ये तस्य हि धैरसेनिचरिते सर्गो निसर्गोऽजल ॥ ९३ ॥

श्रीहर्षमिति । वृशेतरंण अकृशेन, निर्भरेण इत्यर्थ, रसेन शृङ्गारेण, स्वादौ रविरे
इह स्वस्य कृतौ काव्ये, पञ्चदशाना पूरण पञ्चदश 'तस्य पूरणे षट्' इति षट्
अथ सर्गो यात गत, समाप्त इति यावत् ॥ ९३ ॥

इति 'महिलनाथ' विरचितं 'जीवानु' समाख्यानं पञ्चदश सर्गं समाप्त ॥ १५ ॥

कवीश्वर-मनूहके किया, उमके रचित अत्यधिक रसमे स्वादिष्ट (अमृतमय)
नलीयचरित अर्थात् 'नैषधचरित' नामक यह पञ्चदश सर्ग समाप्त हुआ । (शेष
व्याख्या चतुर्थ सर्गसे समाप्त जाननी चाहिये) ॥ ९३ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का पञ्चदश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १५ ॥



षोडशः सर्गः ।

वृत्त प्रतस्थे न रयैरथो रथो गृहान् पिठर्माधिपनेऽराधिप ।

पुरोधन गौतममात्मचित्तम द्विधा पुरस्कृत्य गृहीतमङ्गल ॥ १ ॥

वृत्त इति । अथो प्रसाधनानन्तर, गृहीतमङ्गल स्वीकृतमङ्गलाचारः, रथ अस्य
अस्तीति रथी रथिक, स धराधिप नरः, आत्मचित्तमम् आत्मतत्त्वज्ञानिना श्रेष्ठ,
गौतम गौतमाचार्यम् अर्थात्, पुरोधस पुरोहित, द्विधा प्रकारद्वयेन, पुरस्कृत्य पूजयित्वा
अग्रे कृत्वा च 'पुरस्कृत पूजितेऽरात्यभियुक्तेऽप्रत कृते' इत्यमरः । रथे रथिभिः पुरैः,
'कुन्ता प्रविशन्ति' इतिवत् रथशब्दस्य रथिषु लक्षणा । वृत्त वेष्टित सन्, विदर्भा

धिपते भीमस्य, गृहान् प्रति प्रतस्ये प्रस्थित । 'समवप्रविम्य स्थ' ह्यात्मनेपदम् ।
यशस्यत्रिल वृत्तम् ॥ १ ॥

इम (प्रसाधन कार्य, या—रथारोहणकार्य) के अनन्तर मङ्गलाचार (दही-अक्षत-
दूर्वादि मङ्गल द्रव्योंके यथासाक्ष दर्शन, स्पर्शन तथा भक्षणदि द्वारा) को ग्रहण किये हुए,
रथबाने (रथ पर सवार), वे राजा (नर) आत्मशान्तियों में अनिष्टय ध्येष्ट 'गौतम' नामक
पुरोहितको दो प्रकारसे पुरस्कृतकर (पूजा करने तथा सबसे आगे गमन करानेसे सत्कृतकर)
रथवानों अर्थात् रथपर चढ़े हुए पार्श्वचरोमें परिवेष्टित होकर विदभराज (भोज) के
महलोंको चले ॥ १ ॥

स्वभूषणाशुप्रतिविम्बितै स्फुट भृशान्द्रातै स्वनिवासिभिर्गुणै ।

मृगेक्षणाना समुपामि चामरैर्विधूयमानै स विधुप्रभै प्रभु ॥ २ ॥

श्वेति । स प्रभु नर, स्वभूषणानाम् अशुपु प्रभासु, प्रभाशालिमणिषु इति
यावन्, प्रतिविम्बितै प्रनिकलितै, विधूयमाने कम्प्यमाने, विधो चन्द्रस्य, प्रभा
हव प्रभा घेपा तै, अत्र निदर्शनाविशेष, मृगेक्षणाना हरिणलोचनाना, चामरप्राहि-
णीना शम्भ्विभिरिति भाव चामरै चामरव्यञ्जनेनेत्यर्थ, भृशान्द्रातै अतिशुभ्रै,
स्वनिवासिभि स्वनिष्ठै, अत एव स्वभूषणाशुप्रतिविम्बितै, गुणै मलस्य श्रुतशी
लादिगुणै एव, समुपासि उपासित, स्फुटम् । प्रतिविम्बितचामरेषु स्वामिसेवार्थम्
आविर्भूतस्वायशीलसौम्यवादिगुणत्वस्योत्प्रेषालङ्कार ॥ २ ॥

उत्प राजा (नर) की अपने (पाठा—विशिष्ट) भूषणोंकी किरणोंमें प्रतिविम्बित,
ढोलाने जाते हुए, चन्द्रप्रभासुव्य प्रभावाले और अतिशय श्वेनवणवाने (चामरधारिणी)
मृगनयनियोंके चामरोंने उपासना (सेवा) की, अर्थात् चामरधारिणी मृगनयनी कियोंने
जो चामर टोलाया, वह ऐसा मालूम पड़ता था कि नरमें वास करने (सर्वदा रहने) वाले
अतिशय निर्मल (दया, दाक्षिण्य, दारुता आदि) गुण वनको सेवा कर रहे हों । [उत्त्कृष्ट
चञ्चल चामर देमे जान पड़ते थे कि उस नरमें जो दया-दाक्षिण्यदि अतिशय निर्मल गुण
हैं, वे ही चामररूपमें साकार होकर नरकी उपासना कर रहे हैं । लोकमें भी जो जिस
स्वामीके यथा सर्वदा निवास करना है, वह उत्सवादिके अवसरोंपर बड़ी लगनके साथ उसकी
सेवा करनेमें लग जाता है, अतएव नरमें नित्य रहनेवाले गुणोंका भी अपने स्वामी नरकी
सेवामें लगना उचित ही है] ॥ २ ॥

पराद्वयवेशाभरणे पुर सरै मंहाऽऽजिहाने निषधावनीभृति ।

दधे सुनासीरपदाभिघेयता स खाढमात्रान् यदि वृत्रशात्रव ॥ ३ ॥

पराद्वयैति । निषधावनीभृति नले, पराद्वयानि श्रेष्ठानि । 'परावराधमोत्तम
पूर्वाध' इति यज्यत्यय । वेशा आकल्पा, वस्त्राभरणादिशोभा इति यावन् 'आकल्प-

१ '—वेपा—' इति पाठान्तरम् । २. 'सम जिहाने' इति पाठान्तरम् ।

त्रेशौ नैषधम्' इत्यमरः । ते च आभरणानि च कटकमुकुटादीनि च येषां तैः, पुर
सरैः सुनामीरं, अग्रगामिभिः वरपत्नीय लोकेरिति यावत्, सह आजिहाने गच्छति
सति, स प्रसिद्धः, वृत्रनाशत्रय इन्द्रः, रुद्धिमात्रात् अश्वकर्णादिवत् समुदायनात्वा
अर्धप्रतीतिमात्रात्, सुशोभना, 'सुपूजायाश्च सुरे' इति स्वामी । नासीरा अग्रेसरा
यस्य स सुनामीर इन्द्रः, इति पदस्य शब्दस्य, अभिषेयना वाच्यत्वं, यदि सम्भा
षणायाः दधे दधारः, न तु सुशोभना, नासीरा अग्रेसरा यस्येति योगलभ्यार्थप्रती
तितः, यौगिकतया सुनामीरशब्दप्रतिपाद्यत्वस्य नले पृथक् वर्त्तमानत्वात् न तु इन्द्रे ।
नलस्य नासीरदर्शनादयमेव सुनासीरः न तु इन्द्र इति प्रतीयते, नलपुरसरागाम्
इन्द्रपुरसरेभ्यो देवेभ्योऽपि श्रेष्ठत्वात् इति भावः ॥ ३ ॥

निषधराजः (नल) के, श्रेष्ठतम वेषभूषाधारी आगे चलनेवाले लोगोंके साथ आते
(पाठा—चलने) रहनेपर उस (लोक—प्रसिद्ध) इन्द्रने 'सुनासीर' पदवाच्यत्वको धारण
किया अर्थात् 'सुनासीर' नामको प्राप्त किया तो केवल रुद्धिमात्रने ही प्राप्त किया । [नलके
'नासीर' से निकटकर सुन्दर वेष—भूषावाले लोग आगे—आगे चल रहे थे, अतएव नल ही
'अवयवार्थयुक्त 'सुनासीर' (सुन्दर नासीर वाल) थे और इन्द्रका 'सुनासीर' नाम तो केवल
रुद्धिमात्रसे मण्डपादि शब्दोंके समान ही हुआ, क्योंकि वे इन्द्र सुन्दर नासीर (सिविर)
वाले नहीं हानेसे पाठक, अध्यापक आदि शब्दोंके समान अवयवार्थयुक्त नामवाले नहीं थे ॥
नल इन्द्रसे तथा उनके आगे चलनेवाले लोग देवोंसे भी श्रेष्ठ थे] ॥ ३ ॥

नलस्य नामोत्सृजा महीभुजा किरीटरत्नैः पुनरुक्तदीपया ।

अदीपि रात्रौ वरयात्रया तथा चमूरचोभिप्रतमिस्रमम्पदा ॥ ४ ॥

नलस्येति । चमूरचोभिः सैन्यपदोत्थधूलिभिः, मिश्रा घनीभूता, तमिस्रमम्पद
यस्या तथा, चमूपदोत्थितरजोहेतुना गाढान्धकारयेत्यर्थः, तथाऽपि नलस्य नासीर-
घृताम् अग्रेसरत्वसम्पादकानाम्, अग्रयायिनामित्यर्थः । महीभुजा राज्ञा, किरीट
रत्नैः सुकुटस्थितमणिभिः, पुनरुक्ता रत्नकिरणैरेवान्धकारापसारणात् मिश्रयोजनतया
अधिकार्धका, दीपा यस्या तादृशया, तथा प्रकृतया, वरस्य बोद्धुं यात्रया वैवाहिक-
गृहयात्रया, रात्रौ अदीपि दीप्तः, शोभितमित्यर्थः । (भावे लुङ्) रत्नदीपप्रकाशेन
यात्रा गाढान्धकारेऽपि दीपवती इत्यर्थः ॥ ४ ॥

सेना (के घोड़े रथ आदि) को धूलसे अधिक अन्धकार युक्त (होनेपर भी) सेनाके
अग्रेसर राजाओंके मुकुटोंके रत्नों (की कात्ति) से व्यर्थ किये गये दीप (मसाले, या बने
मान कालानुसार गैस आदि राशिनियों) वाली नलकी बारात रातमें प्रकाशमान हुई ।
[यद्यपि सेनाके रथ घोड़े पैदल आदिके चलने से उठी हुई धूलमें बहुत अन्धकार हो गया
तथापि सेनाग्रगामी राजाओंके मुकुटोंमें जटे गये रत्नोंकी किरणोंसे इतना अधिक प्रकाश
हुआ कि जलने हुए दीपक (गैस या मसाल) भी अनावश्यक आहुत पड़ने लगे, इस
कारण वह नलकी बरयात्रा (बारात) रात्रिमें अधिक शोभित हुई । रात्रिमें दीपक या रत्नों

का अधिक प्रकाशित होना उचित भी है । वर्तमान कालमें भी दरवाजे लगानेके लिए बाधा हुई बारातको समाल, हैम, छावनुमाये बन्नेवाके विनयके बल आदिके प्रकाशसे प्रकाशित करना वरपक्षका गौरव माना जाता है । नन्ही बारातमें राणाओंकी सेनाके आगे-आगे चन्नेने नलका चक्रवर्ती होना सूचित होता है । दीपकोंमें आलोकपूर्ण नन्ही बारात दरवाजे लगानेके लिए चली] ॥ ४ ॥

त्रिदभराज मितिपाननुक्षण शुभक्षणामन्तरत्वमत्वर ।

विदेश दूताम् पथि यान् यथोत्तर चमूमसुयोपचिन्ता तच्चय ॥ ५ ॥

त्रिदभेति । त्रिदभराज मीन, शुभक्षणस्य विवाहसुहृत्संज्ञ, आमन्त्रणत्वेन समीपवर्तित्वेन, सत्वर सन् अनुक्षणं प्रतिक्षणं, सुहृत्सुहृत्सिन्धु । यान् विनिपान् पथ दूतान्, उत्तरोत्तर यथा यथोत्तर पर पर यथा स्यात् । यायाप्यं वीक्ष्मादाम-व्यर्थाभावः । विदेश आज्ञापयामास, एव सचरमानयितुं प्रेषितवान् इत्यर्थः । तच्चय-तेषां प्रेषितानां राज्ञा, यथ समूह, पथिमार्गे, अमुष्य नटस्य, यम संन्यम्, उपचि-काय बद्धयामास । चिन्तातो लिटि 'विभाषा चे' इति कुत्वम् । दूतत्वेन राज्ञा बहूनां प्रेषणया उन्नातिक्रमभीरो राजस्वरातिशयोक्तिः ॥ ५ ॥

शुभ समय (विवाहके शुभ लग्न) के अत्यन्त समार मानेने शीन्त्रा करनेवाले त्रिदभ राज (मीन) ने पिन राजाओंको दूत बनाकर (नटको बन्दी लिवा लानेके लिए) प्रत्येक क्षात्रे (पक्षके बाह दूतरेको, उभके बाह तीसरेको-हम प्रकार बटुओंको देला) भेजा, जिससे मार्गमें जाते हुए उत । मीनके द्वारा नन्ही शीन्त्र लिवा लानेके लिए दूत रूपमें भेजे गये राजाओं के समूहने इस (नल) का मेनाको बड़ा दिया । [बारातके शीन्त्र दरवाजे लगा देनेके लिए कायापक्षका बार, बार दूत (नार आदि) या अत्यन्त शीन्त्रा या वरपक्षका सना दर करनेके लिए स्वजनोंको भेजकर वरको बन्दी मानेको प्रार्थना करने पर भा वरपक्षका अपनी शानसे धारे-धारे आगे बढ़ना वर्तमानमें था देखा जाता है । प्रह्वने राजा मीनके राजाओंको दूत बनाकर बार-बार भेजनेसे वरपक्षका अत्यन्त आनंद तथा शीन्त्रा करना सूचित होता है] ॥ ५ ॥

हरिद्विपट्टीपिभिरशुकैर्नभोनभम्बदाध्मापनपीनितैरभून् ।

तरम्यदश्च वज्रिनीध्वर्ज्वन मिचित्रचीनाशुक्वल्लिरेह्लितम् ॥ ६ ॥

हरीनि । नभ अन्तरिक्ष, नभस्वता वायुना, अध्मापनेन पूरणेन, पीनितं स्पृ-लितं, वायुवेगेन स्फूर्जिता गतैरित्यर्थः । नत एव मञ्जीवमिहादिवन् प्रनीयमानैरिति भावः । 'पीनपीनो न स्पृष्णो वर' इत्यमरः । अशुकै बभ्रुनिमित्तै, हरिद्विपट्टीपिभि-मिहापन्यात्रै, तदाकारै ध्वने इत्यर्थः । 'मिहो मृगेन्द्र पञ्चान्य हयच केशरी हरि' इति, 'मनोज्ञो राज्ञो नामो द्विरद्वोऽनेकयो द्विप' इति, 'आर्द्रलक्ष्मीपिनी व्याघ्रे'

१ 'राशुकै' इति प्रकाशामित पाठान्तरम् ।

इति चामर । तथा तरस्विना वेगवताम्, अध्वाना ध्वजिनीषु अध्वारोहिसेनासु, ऐ
ध्वजा पताका तै करणै, विचित्राणि नानारूपाणि, चीनाशुकानि ध्वजसम्बन्धीनि
चीनदेशभवमूचमवस्थाणि, तै एव वल्लिभि लताभि वेष्टित वेष्टित सत्, वन
वनतुल्यम्, अभूत्, वनकल्पम् अभूदित्यर्थ । वन यथा सिंह-हस्ति-व्याघ्र-वृक्ष-
दिभि वेष्टित भवति, तथा तद्देखावच्छिन्न नभोऽपि वल्लिनिर्मितसिंहहस्तिव्याघ्र-
द्वितध्वजेर्वेष्टितमभूदिति भाव ॥ ६ ॥

आकाश वायुमे परिपूर्ण (स्थूल बने हुए) कपड़ेके बनाये गये घोड़ों, हाथियों और बानों
(की आकृतिवाला पताकाओं) से तथा वेगवान् (तेज चलनेवाले) घोड़ोंवाली सेनाकी
पताकाओंसे अनेक वर्णवाले चानदेशके बने महान् (पञ्चा०—'चीन' जातिके विचित्र
वर्णवाले मृगविशेष) वनरूपिणी लताओंसे युक्त वन (के समान) हो गया । (अधश—
तेज घोड़ोंवाली (नलकी) सेना आकाशमें वायुसे परिपूर्ण अर्थात् फैलायी गयी पताकाओंसे,
घोड़ों हाथियों और अन्य दीपनिवासी (नलकी) सेनामें सम्मिलित हुए राजाओंसे
उपलक्षित (युक्त) होकर अनेक वर्णके चीनदेशोत्पन्न वनरूपिणी लताओंसे युक्त (पञ्चा०—
'चीन' जातीय मृगविशेष तथा ऊपरमें फैली हुई लताओंसे युक्त) वन अर्थात् वनके समान
हो गयी) । [वनमें भी बाघ, 'नान' जातीयमृग, लता, तथा वृक्ष होते हैं, अत एव उक्तरूपा
नलकी सेना भी वनके समान हो गयी] ॥ ६ ॥

भ्रुवाऽऽह्वयन्ती निजतोरणम्रजा गजालिकर्णानिलखेलया तत ।

ददर्श दूतीमिव भीमजन्मन स तत्प्रतीहारमही महीपति ॥ ७ ॥

भवेति । (तत् 'प्रस्थानानन्तरम्) स महीपति नल, गजालीना द्वारस्थित
गजघटाना, कर्णानिले कर्णमञ्जालनोन्मेषात् खेलतीति सादृश्या खेलया चञ्चलया,
निजया तोरणम्रजा तोरणलम्बिमालया एव, भ्रुवा आह्वयन्ती 'शीघ्रम् आगच्छ' इति
भूसङ्केतेन आकारयन्ती, भीमजन्मन भैया, दूतीम् इवे'युग्लेष्ट' । तस्य भीमस्य,
प्रतीहारमही द्वारभूमि, द्वारदेशमित्यर्थ । प्रनिपूर्वकात् हृषानोर्ध्वमि 'उपसर्गस्य घन्य
मनुष्यं बहुलम्' इति उपसर्गस्य वीर्य । 'स्त्री द्वार्द्वारप्रतीहार' इत्यमर । ददर्श ॥ ७ ॥

इत (प्रधान करने) के बाद उस राजा (नल) ने (द्वारपर खड़े) गज-समूहके
बानोंकी हवाके चञ्चल (हिलनी हुई) अपनी तोरणमालारूपी भाँहोंसे उलानी हुई दमयन्ती
दूतीके समान उस (भीम राजा) के द्वारभूमि अर्थात् द्वारको देखा । [द्वारपर दैधे या खड़ा
हुए हाथियोंके समूहके बानोंकी हवामें हिलनी हुई फूलों एवं पल्लवोंसे बना हुई तोरणमाला
ऐसी मालूम पड़ता थी कि मानो वह दमयन्तीकी द्वारभूमिरूपिणी दूती अपने भ्रूचालनके
सङ्केतसे नलको शीघ्र पहुँचनेके लिये कह रही हो ॥ नलने राजा भीमके द्वारको देखकर
शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़े] ॥ ७ ॥

१ () एतत्कीष्टान्तरांत पाठो मूलानुसंधानमया यद्विदित इत्यवधेयम् ।

इत्यैर्दले स्तम्भयुगल
प्रियामखीवास्य मन

गोश्चकास्ति चण्डानकमण्डिता स्म सा ।
स्फुरत्सुखागतप्रश्रिततूर्यनिस्वना ॥ ८ ॥

इत्यैरिति । स्तम्भयोः स्तम्भयुगलस्य द्वारशोभायं स्थापितकदलितस्तम्भयुगलस्य, इत्यै शिथिलैः, दले पणैः, तद्रूपेणेत्यर्थः । चण्डातकेन अर्द्धोत्केण, वराहनापरिधेय-वस्त्रविशेषेणेत्यर्थः । 'अर्द्धोत्क वस्त्रोणा स्याच्चण्डानकमशुकम्' इत्यमरः । मण्डिता भूयिता, सा तत्प्रतीहारमही, मनसि नलस्य चित्ते, स्थिति मवेदा विन्तया अब स्थान, तथा नलमनोगतत्वेनेत्यर्थः । स्फुरत् सर्वदा मनमि अवस्थानात् निर्गच्छन्, य सुखागतस्य प्रश्रित सुखेनागमनविषयकप्रश्रित, स कृत सुखागतप्रश्रित सुखा गमनप्रश्रितरूपतासम्भादित । 'तत् करोते —' इति गिज्जन्तात् कर्मणि च । तूर्यनि स्वन यया सा सनी, अस्य नलस्य, प्रियासखी भैमीसखी इव, चकास्ति स्म चका-सामास । कदलीदलरूपसुवसना तत्प्रतीहारभूमि तूर्यनिस्वनयोगात् स्वागत पृच्छती भैमीसखीव बभौ इत्युत्प्रेक्षा ॥ ८ ॥

केलेके श्री लक्ष्मीके शिथिल (नीचे लटकने हुए) पत्तोंसे लईया (या दुर्का) से सुशोभित बह (द्वारभूमि) अन्न करणमें (नलके सहा) रहनेसे उत्पत्ति होने हुए सुख-पूर्वक आगमनके प्रश्रितको करनेवाले जानेके शब्दवाली इस (नल) का प्रिया (दमयन्ती) सखाके समान शोभती थी । [मङ्गलार्थ द्वारके दोनों ओर ररे गये केलेके लक्ष्मीके नीचेनल लटकने हुए पत्तोंसे सुशोभित ओर बाजाओंकी ध्वनिसे युक्त बह द्वारभूमि देसी मानुस पदनी थी कि लईगा या दुर्का पड़नी हुए दमयन्ती-सखी नलके सुखपूर्वक आनेका कुशल-प्रश्न कर रहा हो । यहा लक्ष्मीको द्वारभूमिरूपिणी सखाकी जहाय, लटकने हुए पत्तोंको लईगा या दुर्का, बाजाओंकी ध्वनिको कुशल-प्रश्नकी उत्प्रेक्षा का गयी है ॥ बहुत दिनके बाद मिलनेवाले दूरदेशमें भाये हुए पत्निसे लज्जावश स्वयं सुखपूर्वक आनेके कुशल-प्रश्नको नहीं कर सकनेके कारण खी अपनी सखीको वस बापमें नियुक्त करा है और बह लईगा या दुर्का पड़नी हुई द्वारपर आकर कुशल-प्रश्न करनी है] ॥ ८ ॥

विनेतृभर्तृद्वयभीतिदान्तयो परस्परस्मादनवाप्रवेशस ।

अजायत द्वारि नरेन्द्रसेनयो ममागम स्फारमुखारवोद्गम ॥ ९ ॥

विनेत्रिति । विनेत्रो नियामकयो, भर्तृः नलमीमरूपयो स्वामिनो, द्वेष तस्मात् भीत्या भयं, दान्तयो शान्तयो, नरेन्द्रसेनयो भोमनलगहिन्त्यो, परस्परस्मात् अन्योन्यस्मात्, अनवाप्तम् अप्राप्त, वंशय हिंसन यस्मिन् स तादृश, स्फार तार, मुखारवोद्गम मुखकलश्लोदय यस्मिन् स तादृश, समागमो मेलन, द्वारि राजभवनद्वारे, अजायत जात ॥ ९ ॥

नियामक दोनों स्वामियों (नल तथा भीम) के भयमें शान्त (युद्धादि नहीं करती हुई दोनों) राज-सेनाजों (नल तथा भीमकी सेनाजों) का आपसमें (आपाप प्रत्यापान

आदि) क्रूर भावमे रहित तथा बड़े हुए कोलाहलवाला समागम (राजा भीमके) द्वारपर हुआ। [राजा नल तथा भीमका सेनाएँ राजा भीमके द्वारपर परस्परमें मिल गयीं और प्रेमभावके कारण कुछ आदि उर्दी हुआ, किन्तु सबोंके बोलनेमें बड़ा कोलाहल हुआ] ॥ ९ ॥

निवेश्य बन्धूनि त इत्युदीरितं दमेन गन्वाऽद्धपथे कृताहणम् ।

विनीतमो-द्वारत एव पद्गता गत तमैक्षिष्ट मुदा विदर्भराट् ॥ १० ॥

निवेश्येति । दमेन भीमात्मजेन, गत्वा प्रत्युद्गम्य, बन्धून् जामातृबन्धून्, निवेश्य उपवेश्य, इत इति उद्धारितम् अस्या दिशि आगम्यताम् इति प्राथितम्, अर्द्धपथे अर्द्धमार्ग, कृताहण कृतपूजन, विनीतम् अनुद्धतम्, आ-द्वारत द्वारम् आरभ्य, पादाभ्यां गच्छन्ति इति पठ्, तथा पठ्ता द्वारदेशे रथादवतीर्य पादचारित्र्यम् । 'पादस्य पदाब्जातिगोपहतेषु' इति पादस्य पदादेश । गत त नल, विदर्भराट् भीम । मुदा हर्षेण, ऐक्षिष्ट अद्राक्षीत् ॥ १० ॥

विदर्भराट् (भीम) ने (भीम-कुमार) दमके द्वारा आगमनी करके (नल्के) बन्धुओंको बैठाकर (पाठा-भीमके द्वारा ही सामने) जाकर अपने या नल्के बन्धुओंको निदर्शकर अर्थात् भेजकर 'दरमें आइये' ऐसा कहे गये तथा दम (भामकुमार) के द्वारा आये मार्गमें अर्ध पथ आदिसे पूजित, विनीत और द्वारकी सीमासे ही पैदल चलते हुए उस (नल) की हर्षमें देखा ॥ १० ॥

अथायमुत्थाय विसार्य द्योयुग मुदा प्रतीयेष तमात्मजन्मन ।

सुरस्रत्रन्त्या इव पात्रमागन् धृताभिनोयीच्चिगति सरित्पति ॥ ११ ॥

अथेति । अथ नलेक्षणान्तरम्, अथ विदर्भराट्, उत्थाय द्योयुग बाहुद्वय, विसार्य प्रसार्य, आगत समुत्खमुपस्थितम्, आत्मजन्मन आत्मजाया भ्रम्या, पात्र योग्य वर, त नल, धृता अवलम्बिता, अभित उभयपार्वत बीचगति तरङ्गप्रसार परस्य स साहस, सरित्पति समुद्र, सुरस्रत्रन्त्या सुराणां देवानां स्त्रवन्त्या नद्या, भागीरथ्या इत्यर्थः । 'अथ नदी सरिम् श्रवन्ती निष्प्रागपगा' इत्यमरः । आगत पात्र तीरद्वयमध्यवर्ति ग्रहाहम् इव । 'पात्रम् स्रवादी पर्णे च भाजने राजमन्त्रिणि । तीरद्वयान्तरे योग्ये' इति मेदिनी । मुदा हर्षेण, प्रतीयेष प्रत्येच्छत्, आलिलिङ्गेत्यर्थः ॥

इम (नल्का देखने) के बाद इम (राजा भीम) ने दोनों मुजाओंको पैलाकर आये हुए पुत्री (दमयन्ती) के योग्य उस (नल) को उस प्रकार आलिङ्गन किया, जिस प्रकार दानों और तरङ्गोंवाला समुद्र आये हुए राजाके प्रवाहक आलिङ्गन करता है ॥ ११ ॥

यथानदस्मै पुरपोत्तमाय ता स साधुलक्ष्मीं बहुयाद्विनीश्वरः ।

शियामथ स्वस्य शियाय नन्दिनीं ददे पतिं सयमिदे महीभृताम् ॥ १२ ॥

१ 'निवेश्य' इति पाठान्तरम् । २ 'आ द्वारत' पदद्वयम्, इति 'प्रकाश' ।

३ '-तति' इति पाठान्तरम् । ४. 'नन्दनाम्' इति पाठान्तरम् ।

यथावदिति । अथ बरालिङ्गनानन्तर, बहुवाहिनीश्वर बहुमेनाधीश्वर, महीभृता राजा, पति राजराज, स भीम, पुरुषोत्तमाय पुरुषश्रेष्ठाय, शिवाय भद्रमूर्त्तये, सर्वविदे सर्वज्ञाय, अस्मै नमः, साधुलक्ष्मीं समीचीनशोभा, शिवा भद्रमूर्त्तिं, स्वस्य नन्दिनीं दुहितर, ता दमयन्तीं, यथावत् यथाहं, विधिवत् इत्यर्थ । 'तदहम्' इति वनि प्रत्यय । ददे दत्तवान् । अन्यत्र—बहुवाहिनीश्वर बहुनदीपति, स समुद्र, पुरुषोत्तमाय विष्णवे, लक्ष्मीं यथावत् ददे ददौ, तत् साधु । तथा महीभृता पर्वताना पति हिमवान्, स्वस्य नन्दिनीं शिवा । गौरीं, सर्वविदे शिवाय शम्भवे । 'शिव भद्र शिव शम्भु शिवा गौरी शिवाऽभया' इति सर्वत्र द्वाषष्ट । ददौ, तच्च साधु । विशेषणविशेषयोरपि शिल्पश्चादभिधाया प्रकृतार्थबोधनेनोपहीनत्वात् वाच्यार्थानुपपत्त्यभावेन लक्षणाया असम्भवाच्च व्यञ्जनया अर्थान्तरप्रतीते च निरेवौपम्यपर्यवसायी' ॥ १० ॥

बहुन सैनाभोंके स्वामी तथा राजाओंके पति (राज-राज भीम) ने सुन्दर शोभावाली, नद्वलरूपिणी अपनी कन्या (दमयन्ती) को पुरुषश्रेष्ठ, (पुण्यलोक होनेसे) मद्गलस्वरूप, सब (कला, विद्या आदि) के हाता इस (नल) के लिए विधिपूर्वक दे दिया (पञ्चा०—बहुन नदियोंके पति (समुद्र) ने अपनी कन्या लक्ष्मीको पुरुषोत्तम (विष्णु) के लिए विधि पूर्वक दे दिया; यह ठीक हुआ तथा पर्वतोंके स्वामी (हिमालय) ने अपनी कन्या पार्वतीको सबल निबनीके लिये विधिपूर्वक दे दिया, यह भी ठीक हुआ । अथवा—मेनाक आदि पर्वतोंके रक्षक समुद्रने शिव (मद्गल) स्वरूप विष्णुके लिये अपनी पुत्री लक्ष्मीको विधिपूर्वक दे दिया, यह ठीक हुआ तथा बहुन नदियोंने युक्त हिमालयने पुरुषोत्तम रूप शिवजीके लिए अपनी कन्या पार्वतीको विधिपूर्वक दे दिया यह भी ठीक हुआ) । [प्रकृतमें नलको विष्णु तथा शिवके समान, दमयन्तीको लक्ष्मी तथा पार्वतीके समान और राज भीमको समुद्र तथा हिमालय पर्वतके समान माना गया है] ॥ १२ ॥

अमिस्वदक्षन्मधुपर्कमर्पित स तद्वयधात्तर्कमुदकदर्शिनान् ।

यत्रेयपान्यन्मधु भीमजाऽर मिपेण पुण्याहविजि तदाऽकरोत् ॥१३॥

अमिस्वदिति । स नल, अर्पित भीमेन दत्त, मधुपर्क कास्पर्पात्रस्थ दक्षिमणु घृताग्निक त्रिमणुरम्, अमिस्वदत्त स्वादिमवान्, स्वादेर्णो चङ्गुपधाइस्व । इति यत्, तत् मधुपर्कस्वादनम्, उदकदर्शिना विवाहोत्तरमाविफलाभिज्ञानाम् । 'उदक'

१ अत्र 'अर्थान्तर प्रति विशेषणविशेषयोरपि शिल्पश्चादभिधाया प्रकृतार्थोपहीनत्वात् वाच्यार्थानुपपत्त्यभावलक्षणाच्च च निरेवौपम्यपर्यवसायी' इति जीवानु, इति म० म० शिवदत्तशर्माण । २ '—दर्शिने' इति पाठान्तरम् ।

३ अत्र 'उदकदर्शिनामामामिफलज्ञान(ना)म्' इति जीवानु, इति म० म० शिवदत्तशर्माण ।

भीम राजाने दहेजमें नलके लिए दे दिया, मित्र कुबेरसे प्राप्त बिसको शिवजीने मित्र राव 'भीम' के लिए दिया, उसको राजा 'भीम' ने दामाद नलके लिए दिया] ॥ १६ ॥

बहोर्दुरापस्य वराय वस्तुनश्चितस्य दातु प्रतिबिम्बकैतवात् ।

बभौतरामन्तरवस्थित दधद्यदर्थमभ्यर्थितदेयमधिने ॥ १७ ॥

तत् मणिदामैव वर्णयति बहोरिति । यत् चिन्तामणिदाम, वराय दातु विनश्य राशीकृतस्य, दुरापस्य दुर्लभस्य, बहो अनेकस्य । भाषितपुस्तकात् पुबज्ञाव । वस्तुन पदार्थज्ञातस्य, प्रतिबिम्बस्य प्रतिच्छायाया, कैतवात् मिपात्, अन्त अग्न्यन्तरे, अवस्थितम् अधिने याचकाय, अभ्यर्थित याचित सन्, देय देयत्वेन निश्चितम् अभ्यर्थितदेयम्, अर्थं वस्तुज्ञात, दधद्य धारयन्निव, बभौतराम् अतिशयेन बभौ । 'किमेतिउच्ययचाश—' इत्यादिना आमुप्रयय । प्रार्थनामात्रेणैव याचकाय तत्तद् स्तूना दानार्थं प्रतिबिम्बयाज्ञात् तत्तद्वस्तुज्ञातमन्तर्धारयतीवेति भाव । अत्र सापह्नवोपपत्ता सा च व्यञ्जकाम्योपादागम्या ॥ १७ ॥

जो 'चिन्तामणि' माला वर (नल) को देनेके लिए एकत्रिण बहुत-सी दुर्लभ वस्तुओं (अन्यान्य रत्न, सुवर्ण, नख, सवारी, दाम, दामी आदि) के अपनेमें प्रतिबिम्बित होनेके कपट (व्याज) से याचना करने पर देने योग्य निश्चिन किये गये वस्तु-समूहको धारण करती थी, (उस 'चिन्तामणि' नामक मालाको नलके लिए राजा भीमने दिया) । [नलको दहेजमें देनेके लिए जो बहुत-सी दुर्लभ वस्तुएँ एकत्रिण की गयी थीं, उन सबके उस दिव्य चिन्तामणि मालामें प्रतिबिम्बित होनेसे वह माला ऐसी मालूम पड़ती थी कि याचिन इन वस्तुओंको मैं नलके लिए दे दूगी, अत एव इन वस्तुओंको प्रतिबिम्बित होनेके व्याजसे मैं अपनेमें धारण कर रही हूँ] ॥ १७ ॥

असिं भवान्या क्षतकासरासुर वराय भीम स्म ददाति भासुराम् ।

वदे हि तस्मै धवनामधारिणे स शम्भुमभोगनिमग्नयाऽनया ॥ १८ ॥

असिमिति । भीम क्षतकासरासुर हतमहिषासुर, 'लुलापो महिषो बाहद्विप-त्कासरसोरिभा' इत्यमर । भासुर भास्वर, भवान्या दुर्गाया, असि खड्ग, भवान्या भीमाय दत्तमिति भाव । वराय नलाय, ददाति स्म । किमर्थं दुर्गाया अस्मै दत्त ? तत्राह—हि यत्, शम्भुसम्भोगनिमग्नया महिषासुरादिमर्दनानन्तर निवृत्तरणरागया केवलमुरतसुखासक्त्या, अनया दुर्गाया, धवस्य स्वप्रियस्य शम्भो, नामधारिणे 'भीम' इति नामान्तरधराय, इति प्रोतिकरणोक्ति । 'धव प्रिय पतिर्मर्त्ता' इत्यमर । तस्मै भीमभूभुजे, स असि, वदे दत्त, शत्रुवधानन्तर निष्प्रयोजनकत्वबुद्ध्या इति भाव । ददाते कर्मणि लिट् ॥ १८ ॥

भीमने महिषासुरकी काटने (मारने) वाले दुर्गा (पार्वती) के चमकने हुए खड्गको वर (नल) के लिए दिया, उसे 'पति' ('भीम, अर्थात् 'शिव') के नाम धारण करनेवाले

उस (राजा 'भीम') के लिए शिवजीके साथ सम्भोगमें आसक्त उस (दुर्गा) ने दिया था ।
[जिस मरुगने दुर्गाने महिषासुरको मारा था, उसे सम्भोग में आसक्त दुर्गा (पार्वती) ने
असुरोंके अभावसे तथा सम्भोगकालमें सङ्ग ग्रहण करना अनावश्यक होनेसे पतिके
नामदान राजा 'भीम' के लिए दे दिया था, उनी चमकते हुए खड्गको उस (राजा भीम)
ने वर (दुल्हा नल) के लिए दिया । राजा भीमने नलके लिए चमकते हुए मरुगको दिया]।

अधारि य प्राङ्महिषासुरद्विषा कृपाणमस्मै तमदत्त कृकुद ।

अहायि तस्या हि धनार्द्धमजिना स दक्षिणार्द्धेन पराङ्गदारण ॥१९॥

अधारिती । य कृपाण , महिषासुरद्विषा दुर्गाया, प्राक् पूर्वम् , अधारि धनं , स
कृपाणम् अस्ति, कृकु कन्या, 'कृकुरिस्थुच्यते कन्या' इति स्मरणात् । ता ददातीति
कृकुद कन्याप्रद भीम , 'सकृत्पालङ्कृता कन्या यो ददाति स कृकुद' इत्यमर ।
अस्मै मलाय, अदत्त दत्तवान् । दुर्गाया कृपाणस्य भीमहस्तगतस्य कारणान्तरमाह—
हि यम , धवस्य प्रियस्य, भीमापराधशम्भोरिति यावत् , अर्द्धं वामार्द्धं, मज्जति
प्रविशतीति तन्मज्जिना अर्द्धनारीश्वरत्वात् त्रिपार्द्धाङ्गप्रविष्टेन, तस्या दुर्गाया सम्य
न्धिना, दक्षिणार्द्धेन दक्षिणाङ्गेन कर्त्रा, परेषा ससर्गिणामन्येषाम् , अङ्गद्वारणं गात्र
विदारकं , स कृपाण , अहायि अत्याजि, मरुगमहितदक्षिणार्द्धेन स्वामिशरीरप्रवेशे
स्वामिमोऽङ्गविदारणं स्यादिति धिया स परित्यक्त इति भावः । हाते कर्मणि छुङ् ,
क्षिणि युगागम ॥ १९ ॥

महिषासुरवैरिणी (दुर्गा अर्थात् पार्वती) ने पहले जिस खड्गको धारण किया था,
उसको बन्धा-भूयण आदिमें अलङ्कृतकर कन्याका दान करनेवाले (राजा भीम) ने इस
(जामाता नल) के लिए दिया, क्योंकि पति (शिवजी) के आगे शरीरमें प्रविष्ट उस
(पार्वती) के दक्षिणार्द्ध (आधा दहना अङ्ग) ने दूसरे (पक्षा०—शत्रुके शरीरको विदारण
करनेवाले) उस खड्गको छोट दिया (पाठा०—उस 'भीम' राजाके लिए दिया) था ।
[पार्वती महिषासुरको मारते समय शिवजीसे पूरक पूर्ण शरीरवाली थी, किन्तु जब वह
अपने पति शिवजीके वामार्द्ध भागमें प्रविष्ट करने लगीं तो सोचा कि हमारे दहने क्षयमें
स्थित तथा दूसरेके शरीरको विदीर्ण करनेवाला यह खड्ग पतिके वामार्द्ध भागमें मेरे प्रविष्ट
होनेपर उनके शरीरको विदीर्ण कर देगा, अत एव उस खड्गको छोट दिया (पाठा०—
राजा भीमके लिए दे दिया था, उसी दुर्गाके दिये हुए खड्गको आज कन्यादानकर्त्रा राजा
भीमने जामाता इस नलके लिए दिया)] ॥ १९ ॥

उनाह य सान्द्रतराङ्गकानन स्वशौर्यसूर्योदयपर्वतव्रतम् ।

१ 'अदायि' इति पाठेऽनर्थो न । तस्या दक्षिणार्द्धेन तस्मै यस्माददायीत्यर्थः ।
'अय पाठ' साधीयान्' इति 'प्रकाश' । २ 'पराद्धं—' इति काचित्क पाठांतरम् ।

सनिर्झरं शाणनघौतधारया रुमूढसन्ध्य क्षतशत्रुजासृजा ॥२०॥

उवाहेति । सान्द्रतरा शुष्कत्वादतिशयेन घना इत्यर्थः, अङ्का कृष्णवर्णरत्नविह्वानि एव, काननापि अरण्यस्वरूपाणि यस्य स, खड्गलग्नशुष्करक्तविह्वाना कृष्णत्वात् तत्रकाननत्वारोपणमिति बोध्यम्, शाणनेन उत्तेजनेन, शाणघर्षणेनेत्यर्थः, घौतया उज्ज्वलीकृतया, धारया निशितमुसेन, सनिर्झरं सप्रवाह, निर्झरमुत्तवन् परिदृश्यमान इत्यर्थः, 'क्षतेभ्यः' प्रहतेभ्यः, शत्रुभ्यः, जात निर्गत, तादृशेन अमृज रक्तेन, कृपाणलग्नेनेति भावः । समूढा घृता, प्रकटिता इत्यर्थः, सन्ध्या प्रातः सन्ध्या कालिकशोभा इत्यर्थः, येन स तादृशः, सन्ध्याकालीनाकाशस्य रक्तवर्णत्वादिति भावः, य कृपाण, स्वशौर्यमेव शत्रुहननरूप शूरत्वमेव सूर्यं तस्य उदयपर्वण उदयाचल, तस्य व्रत नियम, नित्यसूर्योदयकारित्वरूपमित्यर्थः, नित्यमेव शत्रुदमनेन स्वपराक्रमप्रकाशरूपव्रतमिति समुदितार्थः, उवाह वहति स्म । खड्गस्याङ्का विषु काननत्वारोपणाद्रूपकालङ्कारः ॥ २० ॥

सयन शरीर—(सूक्ष्मेते कालो पदो इहै रक्तेखा) रूप बनवाला (अथवा—सूक्ष्म मुद्रणपत्नीकृता रूप शरीरका जीवनभूत अर्थात् जीवित रखनेवाला, पक्षा०—शरीरमें सयन बनोवाला), शाणपर घिसनेके कारण स्वच्छ धारसे झरनेके समान (चमकता हुआ, पक्षा०—झरनोंसे युक्त), कटे हुए शत्रुसे उत्पन्न (बह कर निकले हुए) रक्तसे सन्ध्या (सायंकालकी लालिमा) को प्राप्त हुआ (अथवा—कटे हुए शत्रुसे उत्पन्न रक्तसे मूठक प्राप्त हुआ अर्थात् शत्रुके शरीरमें मूठक घुसा हुआ, पक्षा०—सन्ध्याकालको प्राप्त) जो खड्ग अपने पराक्रमरूपी सूर्यके उदयाचल व्रतको ग्रहण करता है, (उस खड्गको राजा भामने नलके लिए दिया) । [जिस प्रकार घने बनोवाला, स्वच्छ निर्झरोंसे युक्त, सन्ध्यावर्ण उदयाचल नित्य ही सूर्योदय के नियमको धारण करता है, उसी प्रकार सूखी हुई रक्तकी धारारूप बनवाला, शाण चटानेसे स्वच्छ होकर चमकता हुआ और भाइत शङ्ख शरीरोत्पन्न रक्तसे सन्ध्यावत् अरुणवर्ण वह खड्ग सर्वदा अपने पराक्रमरूपी सूर्योदयके नियमको धारण करता अर्थात् सदा अपने पराक्रमको दिखलाता है] ॥ २० ॥

यमेन जिह्वा प्रहितेव या निजा तमात्मजा याचितुमधिना भृशम् ।

स ता ददेऽस्मै परिवारशोभिनीं करग्रहार्हामसिपुत्रिकामपि ॥२१॥

यमेनेति । मृशमत्यर्थम्, अधिना याचकेन, यमेन अन्तर्केन, त भीमम्, आत्मजा मैत्री, याचितु प्रार्थयितु, निजा जिह्वा नियतप्राणनाशकत्वाद्यमरसता इव स्थिता, इत्युत्प्रेक्षा, या असिपुत्रिका, प्रहिता भीमप्रीयर्थं दूतीमेरणसमये प्रेषिता, परिवारेण कोशेन परिजनेन च 'परिवार परिजने खड्गकोशे परिच्छदे' इति विश्व ।

१ 'शाणनिघौतधारया' इति पाठ । 'शाणन—' इति पाठश्चिन्त्य इति 'सुखात्र बोधा' इति म० म० शिवदत्तशर्माणः ।

शोभिनीं, करग्रहस्य हस्तेन धारणस्य विवाहस्य च, अर्हा योग्या, तामसिपुत्रिका
दुरिकामपि, तथा असिरुपा कन्याञ्च 'स्याच्छस्त्री चासिपुत्री च दुरिका चासिधेनुका,
इत्यमर । स भीम भूपति, अस्मै नलाय, ददे । शस्त्रपुत्रिकयो प्रकृतत्वात्
केवलप्रकृतश्लेष ॥ २१ ॥

अतिशय साचना करनेवाले यमने उस (राजा भीम) में कुमारी दमयन्तीको
मागनेके लिए अपनी जिह्वाके समान जिम्मे भेजा था, उस (राजा भीम) ने परिवार—
(स्यान्, पक्षा०—मयौ आदि) से शोमनेवाली तथा हाथमें लेने (पक्षा०—विवाह) के
योग्य (अथवा—सुन्दर मूठमे योग्य) उस दुरिका अर्थात् कटारको भी इस (नर) के
लिए दिया । ['असि' शब्दसे केवल खड्गको ही राजा भीमने बन्के लिए नहीं दिया,
अपि तु कटारको भी दिया, अथवा—केवल पुत्री (दमयन्ती) का ही नहीं दिया अपितु
कटारको भी दिया । दमयन्ती स्त्रियोंमें तथा कटार कोप (स्यान्) से शोमनी या और
दमयन्ती विवाहके तथा कटार हाथमें लेनेके योग्य थी, तथा वह कटार यमराजकी जिह्वाके
समान पर प्राणोंका हरण करनेवाली थी] ॥ २१ ॥

यदङ्गभूमौ यमतु स्वयोपितामुरोजपत्रावलिनेत्रकञ्जले ।

रणस्थलस्थण्डिलशायितावने गृहीतदीक्षैरिव दक्षिणीकृते ॥ २२ ॥

यदिति । यस्या असिपुत्रिकाया, अङ्गभूमौ प्रान्तदेशौ, रणस्थलमेव स्थण्डिल-
मनिम्नोन्नता परिपृक्ता भू, तत्र शेरते इति तच्छायिन 'व्रते' इति निमि । तस्य
भाव तच्छायिता, सा एव व्रत नियमविशेष तत्र, गृहीतदीक्षै रणस्थले दुरिका
घातेन मृत्युशय्याया शयनरूपव्रतदीक्षितै शत्रुभिरित्यर्थ, दक्षिणीकृते तादृशव्रतोप
देशिन्यै अस्त्रिकृत्स्वरूपायै असिपुत्रिकायै दक्षिणारूपेण प्रदत्ते इत्यर्थ । स्वयोपिता
निजज्जीणाम्, उरोजयो स्तनयो, पत्रावलि मृगमदादिरचितपत्रभङ्गि नेत्रकञ्जलज्ज
ने इव, यमतु विरेजन्तु शत्रुस्त्रीभि वैधव्यवशात् पत्रावलिनेत्रकञ्जले परित्यजते इति
भाव । भाषातोर्मावे लिटि अनुसादेश । कृष्णवर्णयोरदुरिकाप्रान्तदेशयो स्तनपत्र
वस्त्रावनेत्रकञ्जलत्वाभ्यामुप्येक्षणादुप्येच्छालङ्कार ॥ २२ ॥

जिम कटारके दोनों माग ऐसे शोमने थे कि रणस्थलमें भूमिपर सोनेके व्रतकी दीक्षा
ग्रहण किये हुए राजाओंने अपनी स्त्रियोंके स्तनोंकी (कम्पूरी आदिसे रची गयी) पत्ररचना
तथा नेत्रोंके कञ्जलोंको उक्त व्रतकी दीक्षा (मन्त्रोपदेश) देनेवाली उस कटारके लिए
दक्षिणा दे दी हो । [लोकमें दीक्षा देनेवालों अस्त्रिकृ आदिके लिए दक्षिणा दी जाती है,
अत एव उस कटारने राजाओंको रणस्थलमें भूमिपर सोनेके व्रतकी दीक्षा (मन्त्रोपदेश)
दिया था, अतएव उन्होंने अपनी स्त्रियोंके स्तनोंकी पत्ररचना तथा नेत्रोंके कञ्जलोंको
उक्त व्रतकी दीक्षा देनेवाली उस कटारके लिये दक्षिणा दे दी थी, अत एव श्यामवर्ण वमके
दोनों माग शोभित होने थे । शत्रुओं के मरनेपर उनकी विधवा स्त्रियाँ स्तनोंपर पत्ररचना

तथा नेत्रोंमें कण्ठल करना छोड़ देती हैं, इस वास्ते उनको दक्षिणारूपमें देनेकी कल्पना की गयी है । उस कटारके श्यामवर्ण दोनों भाग शोभने थे ॥ २२ ॥

पुरैय तरिमन् समदेशि तत्सुताऽभिकेन य नौहृदनादिनाऽग्निना ।

नलाय विश्राणयति स्म त रथ नृप सुलङ्घ्याद्रिसमुद्रकापथम् ॥ २३ ॥

पुरेति । तत्सुताऽभिकेन भैमीकामुकेन 'कामुके कमिताऽनुक । कच्च कामपि ताऽभीक कमन कामनोऽभिक ॥' इत्यमर । अत एव सुहृदो भाव सौहृद सौहार्दम् पुत्रादिव्यादण् 'हृद्भगमिन्ध्वन्ते—' इत्यादिभोभयपदवृद्धि । अत एव 'सौहृददौहृद-
शब्दावणि हृद्भावात्' इति वामन । तत् नाटयति प्रकाशयतीत्यर्थ । य तेन सौहृद नादिना, अग्निना अवलेन, य रथ, पुरा एव स्वयंवरात् प्रागेव, दूतीप्रेरणसमये एव इत्यर्थ । तस्मिन् भीमे, समदग्नि सन्दिष्ट, दत्त इत्यर्थ । सुलङ्घ्या सुखेन अतिक्रम्या, अद्रय पर्वता, समुद्रा सागरा, कापथा उन्नतानतकुत्सितपथाश्च येन तादृश, 'का पथ्यक्षयो' इति को कादेश । तमग्निदत्त, रथ नृप भीम, नलाय विश्राणयति स्म विततार, ददौ इत्यर्थ । 'विश्राणन वितरणम्' इत्यमर ॥ २३ ॥

उस भीमकी पुत्री (दमयन्ती) के कामुक (अत एव उमके साथ) मित्रताको प्रकाशित करनेवाले अग्निने पहले (दूती भेजनेके समय में) ही जिस रथको वन (भीम) के लिए दिया था, पर्वत, समुद्र तथा ऊँचे नीचे मार्गको सरलतामे पार करनेवाले अर्थात् सर्वत्र जानेवाले उस रथको राजा भीमने नलके लिए दिया । [स्वयंवरमें आनेके पहले ही अग्निने राजा भीमसे अपनी मित्रताको प्रकाशित करनेके लिए उपहारमें रथ भेजा था कि 'मैं दमयन्तीका कामुक होनेके कारण नहीं, अपितु मित्र होनेके कारण इस रथको आपके लिए उपहार देता हूँ, सर्वत्र गमन करनेवाले उस रथको भीमने नलके लिए दिया] ॥ २३ ॥

प्रसूतवत्ताऽनलकूबरान्वयप्रकाशिताऽस्यापि महारथस्य यत् ।

कुवेरदृष्टान्तबलेन पुष्पकप्रकृष्टतैतस्य ततोऽनुमीयते ॥ २४ ॥

प्रसूतवत्तेति । यत् यस्मात्, अस्यापि महारथस्य महत् रथस्य, अन्यत्र—
'एको दशसहस्राणि योधयेद् यस्तु धन्विनाम् । अश्वश्च प्रवीणश्च विज्ञेय स महारथ ॥' इत्युत्तलङ्घनरथिकविशेषस्य, प्रसूतवत्ता प्रकृष्टसारथिमत्ता, 'सूत कृत्ता च सारथि' इत्यमर । अत्यन्तत्वात् तत्प्रत्यय । अन्यत्र—प्रसूतवत्ता प्रजनयितृता, प्रकृष्टपुत्रवत्ता इत्यर्थ, कुवेरवदिति भाव । प्रपूर्वात् सूते श्वत्स्वन्तत्वात् तत्प्रत्यय । अनलेन रथप्रदात्रा अग्निना, कूबरेण युगन्धरेण च, रथस्य युगकाष्ठान्धनस्थाने-
नेत्यर्थ । 'कूबरस्तु युगन्धर' इत्यमर । अन्यत्र—नलकूबरेण तदाख्येन कुवेरपुत्रेण अन्वयात् योगात्, प्रकाशिता प्रकटिता, तत् कारणात्, एतस्य महारथस्य, कुवेर एव दृष्टान्त निदर्शन, तद्वलेन तत्प्रभावेण, पुष्पकप्रकृष्टता पुष्पकात् प्रकृष्टता

१. '—वत्ता नल' इति पाठ 'प्रकाश' व्याख्यासम्मत ।

वेगाधिरयेनोत्कृष्टता, अन्यत्र—पुष्पकेग विमानप्रियेपेग, प्रकृष्टता देवतान्तरापेक्षयो-
त्कृष्टता, अनुमीयते अयं महारथ पुष्पकप्रकृष्टो भविनुमर्हति प्रमूतवत्तादिधर्मसहित-
महारथत्वात् कुबेरवदिति अनुमानात् शक्यत्वात् इति भावः । नलदूबरेति पाठे तु—
प्रमूतवत्ता प्रकृष्टसारथिमत्ता इत्यर्थः । नलेन नैपथेन सह, कूबरस्य रथयुगन्धरस्य,
अन्वयात् सम्बन्धात्, प्रकाशिता नलापेक्षया उत्कृष्टमारथेरभावात् नादशमारथिम-
त्वेनैवास्य रथस्य पुष्पकापेक्षया प्रकृष्टत्वमनुमितिमिति भावः । अतः 'एवानुमानाल-
ङ्कार, 'साध्यसाधननिर्देशस्त्वनुमानमुदीरितम्' इति लक्षणात् । रूपहेतुत्वेन
तर्कानुमानेन बलवन् रूपरूढ प्रमूतवत्तादिप्रकाशितैः सत्प्रकाशितेति शिष्टरूपक
द्रष्टव्यम् ॥ २४ ॥

निम्न कारण इति महारथ (बटे रथ, पक्षा०—दश सहस्र बीराको युद्ध करानेवाणा
तथा अस्त्र-शस्त्रैः प्रवीण दूरवीर) को श्रेष्ठ सारथिमत्ता (श्रेष्ठ सारथिबालेका भाव, पक्षा०—
श्रेष्ठ पुत्रवत्ता) भावि तथा पण्ड (जुवा बाधनेका काष्ठ) के सम्बन्ध (पक्षा०—नलकूबरके
योग) से प्रकाशित (पक्षा०—शोभिन्) है, उस कारण इस (महारथ) का कुबेरके
दृष्टान्तके प्रभावमे पुष्पक (नामक कुबेरके विमान-विशेष) से (अधिक वेग होनेसे)
श्रेष्ठता (पक्षा०—'पुष्पक' नामक विमानके कारण अन्यान्य देवोंसे श्रेष्ठता) का अनुमान
होता है । (पाठा०— श्रेष्ठ सारथिबालेका भाव निषेधपर नलके साथ का
(या कुबेर के साथ नलका) सम्बन्ध होनेसे प्रकाशित है, उस कारण नलकी अपेक्षा
श्रेष्ठ साराथ नहीं है। सकनेसे वेमे परमोत्तम सारथिमे युक्त होनेसे हा इस विशाल रथको
'पुष्पक' नामक कुबेररथकी अपेक्षा भी श्रेष्ठताका अनुमान होता है) । ['पुष्पक' नामक
रथका सारथि नल नहीं है, अतः एव हम रथके साथ उसकी समानता नहीं है और इस
रथका सारथि नल है, अतः एव यह रथ रमणीय है] ॥ २४ ॥

महेन्द्रमुच्चैः श्रवसा प्रतार्य्य यन्निजेन पत्याऽकृत सिन्धुरन्वितम् ।

न तद्देहेऽस्मै हयरत्नमपि पुरानुबद्धु वरुणेन बन्धुताम् ॥ २५ ॥

महेन्द्रमिति । सिन्धु समुद्र, उच्चैः श्रवसा तन्नामकारवेन, महेन्द्र देवराज,
प्रतार्य्य बद्धयित्वा, यत् हयरत्नम् उच्चैः ध्वंसोऽपि श्रेष्ठमित्यर्थः, निजेन परदा स्वामिना
वरुणेनेत्यर्थः, अन्वित दानेन सयुतम्, अकृत वरुणाय दक्षौ इत्यर्थः । पुरा स्वयंवरात्
पूर्वमेव, बन्धुता बान्धवत्वम्, अनुबद्धु प्रवर्त्तयितुं, वरुणेन अर्पित भामाय दत्त, तत्
हयरत्नं, स भीम, अस्मै नलाय, दत्त दत्तवान् ॥ २५ ॥

समुद्रने उच्चैः श्रवा (ऊपर बड़े हुए कानोंवाला होनेसे सुलक्षण, पक्षा०—बड़े बड़े
कानोंवाला होनेसे कुलक्षण) नामक घोड़े महेन्द्रको ठगकर विस्र घोड़ेको अपने स्वामी
(वरुण) के लिए दिया, पहले (स्वयंवरके आरम्भ होनेसे पूर्व) बन्धुत्व स्थिर करनेके

१ 'अत्रानुमाना—' इति म० म० शिवदत्तशर्माण ।

लिए वरुणसे (भीमके लिए) दिये गये उस घोड़ेको उस (राजा भीम) ने इस (नल) के लिए दिया । [समुद्रमंथनके समय समुद्रसे 'उच्चैः श्रवा' नामक अश्वरत्न निकला, जिसे इन्द्रने प्राप्त किया, किन्तु उक्त 'उच्चैः श्रवासे भी श्रेष्ठ घोड़ेको छिपाकर 'उच्चैः श्रवा' नामक साधारणनर घोड़ा इन्द्रको देकर छग दिया और उस छिपाये हुए घोड़ेको अपने स्वामी वरुणके लिए दिया तथा वरुणने भीम राजाके साथ बन्धुत्वको स्थिर रखनेके श्रमसे उसे घोड़ेको भीम राजाके लिए दिया, उस वरुणसे प्राप्त घोड़ेको राजा भीमने नलके लिए दिया । राजा भीमने नलके लिए ओ घोटा दिया वह उच्चैः श्रवामे भी श्रेष्ठ था] ॥ २५ ॥

जवाह्वारीकृतदूरदृक्पथस्तथाऽक्षियुग्माय ददे मुद न य ।

वदद्दिदृक्षादरदासता यथा तथैव तत्पाशुलकण्ठनालताम् ॥ २६ ॥

जवादिति । अक्षियुग्माय द्रष्टु दृष्टियुगलाय, दिदृक्षाया दर्शनेच्छाया, य आदर-
भास्या, तस्य दासतां वरयात्र, वदत् अत्यन्तदिदृक्षामेव सम्पादयन्, य इयं,
जवात् वेगात्, तथा तेन प्रकारेण, अवारीकृत अवारीकृत, द्राक् अदूरीकृतः इति
इति यावद्, निर्जलीकृतश्च गम्यते । 'पारावारे परार्वाची तीरे' इत्यमरः । दूरदृक्पथ
दूरप्रसारिदृष्टिमार्गः, अरवदिदृक्षणां बहुयोजनदूरे प्रेरितदृष्टिपथ इत्यर्थः । येन तभा-
भूत सन्, अथवा-वारो धारण, गिजन्तात् वृधातो घञ् । अवार वार कृत इति
वारीकृत, अभूततद्भावे च्चि । स न भवतीति अवारीकृत अप्रतिरोधीकृत, दूरदृक्-
पथो येन स, तथा च द्रष्टव्यवस्तुना दिदृक्षणा दूरदृक्पथस्य प्रतिरोधो भवति, किन्तु
प्रकृतेऽश्वस्य सवेगगमनादेव दूरदृक्पथस्य प्रतिरोधाभाव इत्यर्थः, यथा मुदं हर्षं, न
वदे न वदौ, अरवस्म सवेगगमनात् द्रष्टुणा दर्शनावकाशाभावेन नयनवृत्तिर्नाभूत्,
अतः केवल दृष्ट्यामेव वर्द्धयति इति भावः । तथा तेन प्रकारेणैव, तत् तेन अश्वेन,
पाशुल पाशुमान्, अरवसुरोत्थरजमा भूलियुक्त शुष्कश्च, कण्ठनाल यस्य द्रष्टुर्नेत्र
युग्मस्य वा, तस्य भावः तत्ता ता, वदत् लक्षण्या उत्कण्ठितस्य वदाम, मुद न वदे,
कण्ठशोषकारी कथं मुद दद्यादिति भावः । अक्षियुग्मस्य पाशुलकण्ठनालैव नाम
दूरोद्धतधूलीधूसरप्रागतस्य मुक्कण्ठाचरितत्वञ्च । अजस्रदर्शनीयवेगोऽपमर्श इति तात्प-
र्यम् । अत्र अवारीकृतेति पाशुलकण्ठनालेति शब्दशक्त्या विपासो दृष्टिपथे निर्जलीक-
रणात् शुष्ककण्ठनालस्वरूपाश्च हर्षाजननरूपं वस्तु व्यञ्जनया शोध्यते इति त्वनि ।
अवारीकरणाद्यसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तैरतिशयोक्तिः ॥ २६ ॥

दर्शकोंके दोनों नेत्रोंके लिए, देखनेको इच्छामें आदरके परवश करना हुआ अर्थात्
दर्शनेच्छाकी वजहता हुआ जो घोड़ा वेगके कारण उस प्रकार समापमें (अथवा—इस पारमें,
अथवा—नल रहित, अथवा—अवरोध रहित) कर दिया है दूरस्थ (बहुत योजनों तक

१ '—दासता यथा—' इति पाठान्तरम् ।

२ 'तथैव' इति, 'तथैव' इति च पाठान्तरम् ।

गये हुए) दृष्टिमार्गकी जिम्मेने ऐसा होता हुआ जिस प्रकार हर्ष नहीं दिया, उसी प्रकार उस (घोड़े) से धूलियुक्त (पश्चात्—सूखे हुए) कण्ठनालवाला अर्थात् लक्षणसे उत्कण्ठित करना हुआ जो घोड़ा हर्ष नहीं दिया (अथवा पाठा०—उम दर्शनेच्छाके विषयमें आदरके वशीभूत करनेसे ही रेणुयुक्त कण्ठनालवाको देता अर्थात् उत्कण्ठित करता हुआ उसी प्रकार हर्ष नही दिया । [दूरस्थ उम घोड़ेको देखनेके लिए बहुत उत्कण्ठित होकर दर्शक बहुत दूर तक नेत्रद्वयको फैलाये हुए था, किन्तु वह घोड़ा वेगके कारण दृष्टिके समीप आकर (या—समीप आनेसे दृष्टि प्रतिरोध रहिन कर भी) नेत्रोंसे ओझल हो जानेसे उन्हें (दोनों नेत्रोंको) हर्ष नहीं दिया अर्थात् उस घोड़ेको अच्छी तरह नहीं देख सकनेके कारण नेत्रद्वय हर्षित नहीं हुए, किन्तु दर्शकने सोचा कि यद्यपि इस बार घोड़ा वेगके कारण नेत्रोंमें ओझल हो गया और मेरे नेत्र उसे अच्छी तरह नहीं देख सके, तथापि लौटती बार यह घोड़ा अपनेको अच्छी तरह दिखाकर मेरे नेत्रोंको हर्षितकर देगा किन्तु इस बार भी उस घाटेकी सुरसे उठी हुई धूलिसे नेत्रोंके भर जानेके कारण वह घोड़ा दर्शकके नेत्रद्वयको फिर भी हर्षित नहीं किया अर्थात् दर्शकको घोड़ा देखनेकी उत्कण्ठा पूर्ववत् ही बनी रही । पश्चात्—जल रहित कर दिया है दूर तक दृष्टिमार्गको जिसने ऐसा वह पिपासु (प्यासे हुए) के लिए नहीं ही देगा, किन्तु उस पिपासुके कण्ठको धूलियुक्त अर्थात् सूखा ही कर देता है, क्योंकि उसे (प्यासे हुएको) तो जलसहित मार्ग हर्ष दे सकना है, जलरहित नहीं । जिस घोड़ेको दर्शक वेगके कारण दूरसे समाप आकर नेत्रमें ओझल होनेसे तथा लौटते समय उसमें लड़ी ॥ धूलिसे नेत्रको भर जानेसे अच्छी तरह नहीं देख सके और उमके देखनेके लिए उत्कण्ठित ही रह गये, ऐसे घोड़ेको राजा भीमने नलके लिए दिया ऐसा पूर्व श्लोक (१६।१५) से सम्बन्ध समझना चाहिये] ॥ २६ ॥

दिवस्पतेरादरदग्निनाऽदराददौकि यस्त प्रति विश्वकर्मणा ।

तमेकमाणिक्यमय महोन्नत पतद्ग्रह ग्राहितान् नलेन स' ॥ २७ ॥

दिवस्पतेरिति । दिवस्पते इन्द्रस्य, दमयन्तीरागिण इति भाव । 'तत्पुरुषे ऋति बहुलम्' इति पृष्ठपा अलुकि वस्कादित्वाद् विसर्जनीयस्य सत्वम् । आदरदर्शिना भीम प्रति समादर परयता, विश्वकर्मणा देवतित्पिना, त भीम प्रति, आदरात् स्वप्नभोरिन्द्रस्य भैरवामनुरागित्वात् भीमे आदरदर्शनात् स्वस्थापि तत्पितरि भीमे समादरदर्शनमुचितमिति भीमे आदरप्रदर्शनाद्धेतोरित्यर्थ । य पतद्ग्रह, अदौकि उपाहाररूपेण प्रेरित दौकतेर्गत्यर्थे व्यन्तात् कर्मणि लुङ् । त विश्वकर्मदत्तम्, एकमा णिवयमयम् एकमात्रपञ्चरागारयमणिनिमित्त, महती उन्नति यस्य तम् अत्युन्नतम् अत्युत्कृष्टमित्यर्थ, पतत् मुखादिभ्य स्रवत् ताम्बूलादिकगृह्णातीति त पतद्ग्रह प्रति-ग्राह, 'पिक्वदानी' इति रयात् निष्ठयूनताम्यूलाभाजनमित्यर्थ, 'प्रतिग्राह. पतद्ग्रह' इत्यमर । 'विभाषा ग्रह' इति ण-प्रत्ययाभावपक्षे 'नन्दिग्रहिपचादिभ्य —'

इत्यादिना अहं प्रत्ययः । मं भीम, नलेन प्राहितवान् अग्राहयत्, नलाय दरो
इत्यर्थः ॥ २७ ॥

स्वापाय (इन्द्रा दनयन्त्रायें अनुराग होनेके कारण दन दमयन्तीके पिता राजा
मानने) आदरको देनेकेवाले विद्वद्वर्गमें आदरमें उस (राजा भीम) के लिए जि
(पिचदानी—आन्दान) की सेवा था, हम राजा मानने एक भाणिक्यके देने हुए अन्त
हमें हम पिचदानीको नलने प्रदण कराया अर्थात् नलके लिए दिया । [अपने प्रभु
इन्द्रा दनयन्त्रायें अनुराग होनेने हमके पिता राजा भीममें आदर करना होनेने अधीनत्व
विश्वकर्माक्ष दमयन्ती—पिता राजा भीममें आदर करना उचित ही है] ॥ २७ ॥

ननेन ताम्बूलविलामिनोऽस्मिन्नेमुस्त्वन्य य पूगकणैर्भुतो न वा ।

इति उपवेशि स्वयमूखमण्डलादुदञ्चदुश्चान्णतारुचा चिरान् ॥ २८ ॥

नलेनेति । यं पतद्ग्रहं प्रतिग्राह 'पिचदानी' इति ख्यात इत्यर्थः, स्वयमूख-
मण्डलात् इक्षुकोपकिरणमनूहात्, उदञ्चन्ती उदञ्चन्ती, उच्चा मही, या अकण्ठा
अकण्ठ, रक्तवर्णा इति यावत् । तस्या रचा काम्या, ताम्बूलविलामिना
ताम्बूलमिश्रण, नलेन उक्तिने निष्टुनैः, मुखस्य मन्दन्धिमि पूगकणै गुवाक
मकटै, कृत पूर्ण, न वा इति, मन्दिष्ट इति शेषः, चिरात् बहुकालेन, उपवेशि
विशेषः, पूगकणै कृत इति निश्चित इत्यर्थः, 'निश्चयान्त् सन्देहालङ्कारः' ॥ २८ ॥

जिम (पिचदानी—आन्दान) की (लोगोंने) अपने किरण-मनूहने निकलनी हुई
अत्यधिक लालिनाकी आगिने ताम्बूल-दिणामी (पानके रक्तमात्रको लेकर शेष भाग—
माटीको धुँस देनेकेले) नलके द्वारा छोट करवा शुद्ध करके गुपारीके (रक्तवर्ण) कुन्डोने
'यह भर गयी है या नहीं' (देना सन्देह करके) बहुत देरके बाद (भर गयी है देना)
निश्चय किया । (पाठा—दैत्यो हुई अत्यधिक अतिमामे (कथवा—दैत्य होते हुए
मूर्ख, या अकण्ठके समान) सुन्दर अपने किरणमनूह होनेके कारणसे मण्डलविणसी) ।
[अपनी तथा पिचदानाने नलके शून्तेका प्रसन्न नहीं होनेपर भी भावा बाधकी दृष्टिने
एक सन्देह उपज होनेपर लोगोंने निश्चय किया, अथवा—आणिक्यमय उस पिचदानीके
ही अत्यधिक लाल होनेने यह किरण-मनूह है या गुपारीके कुन्डे में देना सन्देह होनेपर
लोगोंने देनेने निश्चय किया कि यह हम पिचदानीका किरण-मनूह ही है । राजा भीमने
ऐसे नलीन्यकी देने हुए पिचदानीको नलके लिए दिया] ॥ २८ ॥

मयेन भीम भगवन्तनर्चता नृपेऽपि पूजा प्रमुनान्नि वा कृता ।

उदत्त भीमोऽपि न नैषदाय तां हरिन्मणोर्भोजनभाजन सदनम् ॥ २९ ॥

नलेनेति । भगवन्तं भीमम् महादेवम्, अर्चता पूजयता । अर्चतेर्भोजनदिवाहृतः,
शरादेशः । मयेन उदास्यदैत्यदित्तिना, प्रभो शिवस्य, नाम भीम इति मजा अस्मि
यस्मिन् तस्मिन् प्रमुनान्नि स्वामिनामधारिणि, नृपे भीमोऽपि, या पूजा कृता, उप-

हारत्वेन यन्मरकतभाजनं दत्तमित्यर्थः । स नील हरिभगो गारुतमगो सन्निधि,
मरकतमगिनममित्यर्थः । भोजनद्रव्यमिश्रितविपनाशयोग्यमिति भावः । महत्
भोजनभाजनं भोजनपात्रं, भोजनपात्ररूपमित्यर्थः, तामपि मयङ्गनपूजामपीयथं,
मैषया नलाय अदत्त ॥ २९ ॥

माराज् भीम (शङ्करजी) की पूजा करते हुए 'नन्' नामक दानवने प्रभु (शङ्करजी)
के नामवाले राजा (भीम) की माँ जो पूजा की अर्थात् जिस पूजा मणि के बने हुए विरडोप-
वासक मोहनराज (बाल) को दिया, उस हरिभगि (पन्ना) के बने हुए बने भोजनपात्र
(बाल) को राजा भीमने भी नन् के लिए दे दिया ॥ २९ ॥

छन्दे सदैवच्छद्विमस्य विभ्रता न केकिना मर्पविप प्रमर्पति ।

न नीलकण्ठश्चमघान्यदत्र चेत् स कालदूटं भगवानमोदयत ॥३०॥

छन्दे इति । अस्य गारुतमभाजनस्य, छविं नीला कान्ति, सदा सर्वदा एव, छन्दे
पदे, विभ्रता दधता, केकिना मयूगाः । मयूग्ये, मर्पविप न प्रमर्पति न तच्छरीर
व्याप्नोति । स भगवान् ईश्वर अपि, अथ गारुतमभाजने, कालदूट इलाहलम,
अमोदयत चेत् सुखीन यदि, क्रियानिपत्तौ लुट् 'भुजोऽभवने' इति तद् । नदा नील-
कण्ठश्च न अधाम्यन्, तद्भावात् कालदूटविषय्य कण्ठपात्रिणेन नीलकण्ठश्च
जानमस्तेत्यर्थः यमावण्यात् केकिन विपमयग्न्या, तपात्रे भोजने किं वन्यन्
इति भावः ॥ ३० ॥

जिम (विष-शोषनाशक हरिभगिमिनि भोजनपात्र) की कान्ति अर्थात् हाननको
सदैव अपने पङ्कने मारण करनेवाले मयूरोंपर मर्पविप नहा आक्रान्त (मर । करता
(इति पदुवाता—मारता) है, इस भोजनपात्रमें यदि वह शङ्करजी का कूट (स्तुतमधन
के मनय निकल हुआ अतीव तीव्र विष) पड़े तो वे नीलकण्ठ नहीं होते । [जिम भोजन-
पात्रके कान्तिपात्रको पङ्कने मारण करनेसे मान्य विष मोरोको कुछ इति नहीं पदुवाता,
उस भोजनपात्रमें कालदूट विषको पान करनेसे शङ्करजीका कण्ठ भी उसके दोषसे नाला
नहीं रहता, किन्तु शङ्करजीने कालदूट विषको इस भोजनपात्रमें रखकर नहीं पना,
अन्य हव उस विषके दोषसे उनका कण्ठ नीला हो गया ॥ मानने विषशोषनाशक वह
हरिभगिमिनय भोजनपात्र नन् के लिए दिया] ॥ ३० ॥

विरोधं दुर्वासनमस्त्वलङ्घ्यः सज त्यजन्नम्य किमिन्द्रमिन्दुर ? ।

अदत्त तस्मै स मदच्छलान् मदा यमभ्रमातङ्गतेष्व बर्धुनम् ॥ ३१ ॥

विरोधेति । अग्रमानद्वयत्वा ऐरावतत्वेनेव, ऐरावतत्वेनेव कृमिव इत्यर्थः । 'ऐरा-
वतोऽग्रमातङ्गावगाभमुवहमा' इत्यमरः । अथवा—अथवा श्यामवर्गवान् जल
धसदृश मातङ्ग हस्ती, तस्य भावस्तथा तथैव तद्धेतुमिव, मदच्छलात् दानवजल

१ '—तथैव' इति पाठान्तरम् ।

सावमिपात्, सदा वर्षुक वर्षणशीलमिति सापह्वयोपेक्षा । 'लपत—' इत्यादिना उक्तप्रत्यय । य सिन्धुर, स भीम तस्म नलाय अदत्त दत्तवान्, यत्तदोर्नय सम्बन्धादत्र स इति पदमूहनीयम् । स नलसात्कृतसिन्धुर, दुर्वासस विरोध मालात्यागादेव क्रोधयित्वा, अस्य दुर्वासस सम्बन्धिनीं, दुर्वासमा इन्द्राय दत्तम् इन्द्रेणापि ऐरावतकुम्भे स्थापितमित्यर्थ । स्रज मातय, त्यजन् शुण्डया भुवि त्तिपरः इन्द्रसिन्धुर इन्द्रगज, ऐरावत इत्यर्थ । दिव स्वर्गात्, अस्त्रलत् तदभिशापव चात् भट्ट, किम् ? स्वदत्तस्रक्त्यागापराधनिमित्तात् दुर्वासस शापात् दिवश्च्युत ऐरावत पचाय किमित्युपेक्षा ॥ ३१ ॥

मानो ऐरावत (इन्द्र-गज) हो-ने-के कारण (पाठा०—ऐरावत होने-के कारण ही) मदक बहाने-से सर्वदा वर्षणशील अर्थात् निरन्तर मदवृष्टि करने-वाले जिस हाथी-को उस (राजा भीम) ने उस (नल) के लिए दिया, माला-का त्याग करता हुआ वह इन्द्र-गज (ऐरावत) दुर्वासामें मुनि-में विरोधकर स्वर्ग-से स्तलित हुआ अर्थात् भूलोक-में आ गया है क्या ? ॥ ३१ ॥

पौराणिकी कथा—किसी समय ऐरावत हाथी पर चढ़कर जाते हुए इन्द्र-के लिए प्रसन्न दुर्वासामें मन्दारपुष्पों-की माला दी, उस माला-को इन्द्र-ने ऐरावत-के मस्तक-में पहना दिया और उसने उसको सूझसे निकालकर नीचे फेंक दिया, इस कारणसे मूलमकोप क्रुद्ध दुर्वासामें उस ऐरावत-को शाप दिया कि 'मेरी दो हड्डी मन्दारमाला-को तुमने नीचे फेंक दिया है, अत एव तुम भी नीचे गिरो' ।

मदान्मदमे भजताऽथवा भिया पर दिगन्तादपि यात जीवत ।

इति स्म यो दिक्करिण । स्वकर्णयोर्विनाऽऽह्वर्णस्रजमागतैर्गतै ? ॥

मदादिति । दिक्करिण । दिग्गजा । मदात् खलगात्, मदमे ममाग्रे, भवत मोक्ष तिष्ठत इत्यर्थ । अथवा भिया बलाभावजनितभयेन, दिगन्तात् अपि दिग्प्रान्तादेश, दूरादेशेऽप्यर्थ । पर दूर यात गच्छत, जीवत पलायित्वा यथा कथञ्चित् प्राणान् धारयत, सर्वत्र यूयमिति शेष । य गज, इति इत्थ, वर्णस्रजम् अक्षरपङ्क्ति, विनेव घागुजालमन्तरेणेत्यर्थ । स्वकर्णयो आगतैर्गतै यातापात, केवल कर्णसञ्चालनैरेवेत्यर्थ । आह स्म व्रूते स्म किम् ? इत्यर्थ । गम्योपेक्षा । 'लट् स्मे' इति भूते लट्, 'द्रुव पञ्चानामादित्—' इत्यादिना णल्लादादेशो ॥ ३२ ॥

जो हाथी अक्षर—मूह-के बिना ही कानों-के गमनागमन अर्थात् हिलाने-से 'हे दिग्गजों ! (यदि तुम लोगों-को मदाभिमान है तो) मदसे मेरे सामने (युद्ध करने-के लिए) आवो, अथवा (यदि मदाभिमान नहीं है तो मेरे) भयसे दिगन्त-के भी पार अर्थात् बहुत दूर जावो (और इस प्रकार) जीवो अर्थात् अपने प्राणों-की रक्षा करो' ऐसा कह रहा था । (उस हाथी-को राजा भीमने नल-के लिए दिया, ऐसा पूर्व (१६।३१) श्लोकसे सम्बन्ध समझना चाहिये) ॥ ३२ ॥

अवत्त बीज निजकीर्त्तये रदौ द्विपामकीर्त्त्यै खलु दानविप्रुष ? ।

अवश्रमे कुम्भकुचा शिर श्रिय मुंदे मदस्वेदवतीमुपास्त य ? ॥३३॥

अधत्तेति । य गज , निजकीर्त्तये स्वयजसे कीर्त्तिप्ररोहायेत्यर्थ । रदौ दन्तौ
एव, बीजम् अङ्कुरोद्गमकारण, तथा द्विपा शत्रूणाम्, अकीर्त्त्य अयशसे, अकीर्त्तिप्ररो
हाय इति भाव । दानविप्रुष मद्विन्दून् एव, बीजम् अवत्त खलु ? धारयामास
किम् ? दन्ताभ्या परेषा विदारणात् निजकीर्त्त्युत्पत्तिरिति तथा मदगन्धेनैव परा
जामा भीत्या पलायनात् तेषामकीर्त्त्युत्पत्तिरिति च भाव । कीर्त्त्यकीर्त्त्यौ सितासित-
त्वात् सितासितयोरेव दन्त-दानकणयो कीर्त्त्यकीर्त्तिबीजत्वेनोत्प्रेक्षा । किञ्च, कुम्भा
वेव कुक्षौ दद्यास्ताम्, अन्यत्र—कुम्भौ इव कुक्षौ यस्या ता, मदस्वेदवती मदज-
लरूपधर्मोद्भवतीम्, अन्यत्र—मदजलरूप स्वेदवतीमिति सात्त्विकोक्ति, शिर
श्रिय शिर शोभा, अवसो कर्णयो, अमै न्यापारै, कर्णतालैरेव ध्वजनवातैरिति
भाव । मुदे स्वेदापहरणात्तस्या हर्षाय, उपास्त असेवत किम् ? इत्युत्प्रेक्षाप्रपश्य
सत्पट्टि ॥ ३३ ॥

जो हाथी अपनी कीर्तिके लिए (स्वेन) दो दौतरूप बीजको तथा शत्रुओंकी अवर्त्तिके
लिए (कृणु) मदजलके बूंदोंको धारण करता या क्या ? और कुम्भरूपी (पक्षा०—कुम्भके
समान विशाल) स्तनोंवाली तथा मदजलरूप (पक्षा०—मदजलके समान) पसीनेवाली
शिर शोभा (पक्षा०—शिरकी शोभास्वर्णिगी नायिका) को हर्ष अर्थात् प्रसन्न करनेके लिए
(पाठा०—हर्षक साध) कानोंके प्रयाससे अर्थात् कानोंको सज्जालितकर पछेने इवा करके
सेवा करता था ('उस हाथीको रामा भीमने नलके लिए दिया' देमा पूर्व (१६।३१)
श्लोकमें सम्बन्ध समझना चाहिये) । [शत्रुओंको दन्तप्रहारसे मारकर विजय प्राप्त करनेसे
कीर्ति उत्पन्न होनेके कारण स्वेन कीर्तिका स्वेन वर्ण बीजरूप दौतका होना उचित ही है ।
तथा मद-जलके अगिताज गन्धको सूँघने ही शत्रुओंके हाथियोंका युद्धभूमिमें भाग जानेके
कारण शत्रुओंको अक्षीर्त्ति होनेके कारण कृणु वर्ण अक्षीर्त्तिका कुम्भवर्ण बीजरूप मदजलका
होना भी उचित ही है । और जिस प्रकार कोई नायक कुम्भके समान विशाल स्तनोंवाली
रतिशालन होनेसे पत्नीसे युक्त नायिकाको पछोंमें इवा करके सेवा करता है, वसी प्रकार
यह हाथी मत्तकृत्य कुम्भरूप स्तनोंवाली तथा मदजलरूप स्वेदने युक्त मत्तक शोभा
स्वर्णिगी नायिकाको प्रसन्न करनेके लिए कानरूप पछेने इवा करता है, इस प्रकार यहा तीन
उत्प्रेक्षाएँ बी गयी हैं] ॥ ३३ ॥

न तेन वाहेषु विवाहदक्षिणीकृतेषु सङ्घचानुमवेऽभयत् क्षम ।

न शातकुम्भेषु न मत्तकुम्भेषु प्रयत्नवान कोऽपि न रत्नराशिषु ॥३४॥

नेति । तेन भीमेन, विवाहे दक्षिणीकृतेषु वराय दक्षिणास्वरूपेण दत्तेषु इत्यर्थ ,

१ 'वभार' इति पाठान्तरम् । २ 'मुदा' इति पाठान्तरम् ।

चाहेपु वाजिपु विषये 'वाजिवाहार्वागन्धर्व'— इत्यमर । सङ्ख्यानुभावे इयत्तापरि
च्छेदे, प्रयत्नवान् उद्योगवानपि, कोऽपि जन, क्षम शक्त, न अभवत्, तथा गत
कुम्भेषु स्वर्गेषु, 'स्वर्ण सुवर्णं कनक हिरण्य हेम द्वाटकम् । तपनीय शतकुम्भम्'
इत्यमर । न, मत्तकुम्भेषु मदस्त्राकिञ्चेषु, न, रत्नराशिषु रत्नममूहेषु च, न,
मर्धत्र सङ्ख्यानुभावे क्षम अभवत् इत्यनुपह्न । विवाहकालप्रदत्ताश्वादिषु^१ सङ्ख्या
सम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेद ॥ ३४ ॥

जन (राजा भीम) के द्वारा विवाहमें दक्षिणा (दहेज) दिये गये घोड़ों (वा-रणा-
मगारियों), (आभूषणदि बनाये गये तथा बिना आभूषण बनाये हो दिये गये) कुबौ,
मगवाले हाथियों और रत्नों का टेरोकी गणना करनेमें प्रयत्नशील भी कोई व्यक्ति समर्थ
नहीं हुआ ॥ ३४ ॥

करनहे वाम्यमघत्त यस्तयो प्रसाद्य भैम्याऽनु च दक्षिणीकृत ।

कृत पुरस्कृत्य ततो नलेन स प्रदक्षिणस्तरक्षणमाशुशुचिः ॥ ३५ ॥

करति । य आशु शोपितुम् इच्छतीति आशुशुचिः अग्नि 'अग्निर्वैश्वानरो
वह्नि मित्रावानाशुशुचिः' इत्यमर । 'आदि शुभे सनश्छन्दसि' इत्यादिक्त्वा
त्रेगाङ्पूर्वाङ्पेक्षांतो सङ्गन्तादनिप्रत्यय । अयञ्च शिष्टप्रयुक्तोऽपि भाषायामपीत्यते
सयोभैमीनलयो, करग्रहे पाणिग्रहे विषये, वाम्य वामभाष, वक्रतामिति वामभाग
वर्त्तिवमिति आर्य । 'वाम सन्धे प्रतीपे च' इति विश्व । अघत्त भैमीकामुकतया
पूर्वं प्रतिवृत्त आमीदित्यर्थ । अनु पश्चात्, वाम्यान्तरमित्यर्थ । भैम्या प्रसाद्य
स्तुत्यादिना प्रसन्नोक्त्य, दक्षिणीकृतश्च अदक्षिण दक्षिण कृत इति दक्षिणीकृत
अनुकूलोक्त इत्यर्थ । दक्षिणभागवर्त्तीकृत इत्यर्थश्च । 'दक्षिणो दक्षिणोद्भूतपर
च्छन्दानुवर्त्तिषु । अघामे—' इति विश्व । ततस्तदनन्तर, नलेन स आशुशुचिः,
सङ्ख्या स पृथ क्षण यस्मिन् कर्मणि तत् इति क्रियाविशेषणम्, स आसी सङ्गश्रेणि
कर्मधारये वाअयन्तसयोगे द्वितीया । विवाहसमये, पुरस्कृत्य वल्लेखनादिसम्झा-
पूर्वकम् अग्रतः कृत्वा च, प्रदक्षिण अत्यन्तानुकूल दक्षिणभागवर्त्ती च, दक्षिणभागे
चलयाकारण वेष्टित इति वा, कृत । पूर्व प्रतिवृत्तोऽप्यग्निं प्रार्थनया अनुकूलित
इत्येकोऽर्थः । अग्निप्रदक्षिणीकृत्यत्यादिशास्त्रार्थोऽनुतिष्ठत इत्यपरार्थः ॥ ३५ ॥

वो (अग्नि) जन दोनों (न- तथा दमयन्ती) के विवाहके विषयमें प्रतिकूल
(दमयन्तीका वामुक होनेसे न-रूप पारणकर स्वद्वरमें उपस्थित होनेसे विरुद्ध । पञ्चा०—
वामभागस्थ) या, दाहि दमयन्ताने (नलवरपकाल) में (स्तुति आदिके द्वारा) प्रसन्नकर
अनुकूल (पञ्चा०—दक्षिण भागस्थ) किया, उसी अग्निको बाद न-ने विवाहके मनयमें
(उत्प्रेरित आदि सस्वारके साथ) आगे करके प्रदक्षिण (अतिशय अनुकूल, पञ्चा०—दक्षिण

१ 'विवाहादिषु' इति म० म० शिवदत्तशर्माण ।

भागन्थ अर्थात् दहने भागनें स्थित, अथवा—फेरा देकर प्रदक्षिा) किया । [पड़ले विवाहमें जो अ न प्रतिदूत (पञ्चा०—वानमागस्थ) था, उसे दमयन्तीने तत्र वादनें नलने प्रदक्षिा (फेरा देने समय दहने भागनें, पञ्चा०—अत्यन्त अनुदूत) किया अर्थात् वनने अग्निदा प्रदक्षिा की । लोकमें भी विवाहमें पड़ले प्रतिदूत रहनेवाले व्यक्तिको विवाहचालमें स्तुति आग्निने प्रसन्नकर तथा आगे कर (या—पुरस्कृतकर) अत्यन्त अनुकूट बना लिया जाना है] ३५ ॥

स्थिरा त्वमश्मेव भवेति मन्त्रवागनेशदाशास्य किमाशु ता द्विगा ? ।

शिला चलेत् प्रेरणया नृणामपि स्थितेस्तु नाचालि विद्वौजसाऽपि मा ॥

स्थिरेति । त्वम् अश्मा पापाणस्त्रण्ड इव, स्थिरा मिश्रला भव तिष्ठेयम् इति मन्त्रवाक् ता दमयन्तीम्, आशास्य स्वाचरं प्रकारया 'शिलावत् भवला भव' इति पञ्चरूपाम् आशिष वितोर्यं, द्विगा हीनोपमाकरणहेतुकलजया इवेत्युपेक्षा गम्या, आशु सपदि, अनेकात् अक्षयता गता, किम् ? वर्णानाम् उच्चरितान्तरम ध्वसिवादिति भाव , नरोर्लुहि पुपादित्वादिति 'नशिमन्योरलिटपेत् वक्ष्यम्' इति एत्वम् । हीनोपमात् व्यनक्ति शिला अश्मा, नृणा मनुष्याणाम् अपि, प्रेरणया व्यापार-विशेषेण, चलेत्, तु पुन , सा दमयन्ती, विद्वौजसा देवेन्द्रेण अपि, स्थिते पतिव्रता मार्गात्, न अचालि न चालिता, न चालयितु शक्तेत्यर्थं, चलेत्यन्तात् कर्मणि लुङ् । अत्र पूर्ववाक्यार्थस्योत्तरवाक्यार्थहेतुकत्वात् कात्पलिङ्गमलङ्कार ॥ ३६ ॥

(हे दमयन्ति ' इममश्मानमारोह' अर्थात् 'इम पत्थरपर पैर रखो' ऐसा मन्त्रोच्चारणकर) 'तुम पत्थरके समान स्थिर होवो' ऐसा (नलके द्वारा कथित) मन्त्रवाक् उसे (दमयन्तीको, 'तुम पत्थरके समान स्थिर होवो' ऐसा) आशीर्वाद देकर लज्जाके कारण नीत्र ही नष्ट हो गयी क्या ? (उसके लज्जित होनेमें यह कारण है कि—) पत्थर तो (साधारणतम शक्तिवाले) मनुष्योंकी भी प्रेरणा (हाथ-पैर आदिके व्यापार) से चलायमान हो जाता है, किन्तु वह (दमयन्ती) परमशक्तिशाली इन्द्रके द्वारा भी मर्षांश (मनी-व्यापारमात्रसे पतिरूपमें स्वीकृत नलवरणरूप सतीत्व) से नहा चलायमान हुई । [यद्यपि नलोक मन्त्रवाक् वार्त्ता होनेसे स्वभावतः नष्ट हो गयी थी, किन्तु उसके शीत्र नष्ट होनेमें 'पत्थर व्यापारण शक्तिवाले मनुष्यादिके हाथ आदिके व्यापारसे चञ्चल हो जाता है और दमयन्ती महाशक्तिशाली इन्द्रके अनेक प्रयत्न करनेपर भी अपने पतिव्रतरूपी मर्षांश पर स्थिर बनी रही, अत एव इस दमयन्तीको उपमेय तदा पत्थरको उपमा बनाकर 'तुम पत्थरके समान स्थिर होवो' ऐसा आशीर्वचन कहना अनुचित होनेसे उस वचनको लज्जित होकर शीघ्र नष्ट होनेकी उपेक्षा कबिने की है । लोकमें भी हीन व्यक्तिको बड़े व्यक्तिके उच्च श्रेष्ठ कहा जाता है तो वह हीन व्यक्ति लज्जित होकर छिप जाता है ॥ दमयन्तीने विधिप्राप्त अश्मारोहार्थ कार्य किया] ॥ ३६ ॥

प्रियाशुकप्रान्थनिबद्धवानस तदा पुरोधा विदधद् विदर्भजाम् ।

जगाद विन्दिष्य पट प्रयास्यत नत्तादविश्वाममिवैष पिश्ववित् ॥ ३७ ॥

प्रियेति । तदा तत्काले, विदर्भजा वैदर्भी प्रियस्य नलस्य, अशुके उत्तरे, 'अशुक रक्षणवस्त्रे स्याद् वस्त्रमात्रोत्तरीययो' इति मेदिनी । ग्रन्थिना बन्धविशेषः, निबद्धवाससः प्रथिताशुका, विदधत् दुर्वन्, देशाचारप्राप्तत्वादिति भावः । विश्वविः सर्वज्ञ, त्रिकाण्ड इत्यर्थः । एष पूर्वोक्तः, पुरोधा पुरोहितः, गौतम इति यावत् । पट वस्त्र, विरिद्ध द्वेधा विपाठ्य, प्रयास्यत बने भैर्भी परित्यज्य गमिष्यत, नलः अधिवासम् अप्रत्यय, जगादेव उवाचेव, ज्ञापयामासेत्यर्थः । आगाध्यर्थज्ञापनार्थं मिवानयोरविच्छेदेनावस्थानार्थं वस्त्राञ्चलद्वयं जग्रन्थेति उत्प्रेक्षा । भारते आर्य्य पर्वणि नलोपाख्याने श्लोकः,—'ततोर्द्धं वाससरिद्धत्वा विवस्य च परन्तप ! । सुता सुतस्य वैदर्भी माद्रवद्रुतचेतनः ॥' इति ॥ ३७ ॥

उस (विवाहके) समयमें प्रिय (नल) के कपड़ेको गाठमें बाँधे गये कपड़ेवाली दमयन्तीको करते हुए सर्वत्र इस पुरोहित (गौतम) ने भविष्यमें कपड़ा काटकर जानेवाले नलसे गानों अधिवासको कह दिया । [विवाहकालमें गौतमके द्वारा किये गये ग्रन्थिबन्धन कर्मको कविने यहाँपर उत्प्रेक्षा की है कि—भविष्यमें नल कपड़ा काटकर तुम्हें छोड़कर चले जायेंगे, अतः इनका विश्वास मत करो और इनके कपड़ेसे अपना कपड़ा बांध लो, जिससे ये तुमको छोड़कर चले न जायें । लोकमें भी किसीके कहीं चले जानेकी आशङ्का होगी ॥ तो उसके कपड़ेके साथ अपने कपड़ेमें गाठ बांध लेते हैं । पुरोहित गौतमने विधिप्राप्त दोनोंका ग्रन्थिबन्धनकर्म किया] ॥ ३७ ॥

पौराणिक कथा—महाभारतमें यह कथा आयी है कि नल कलिसे पराजित हो अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति हारकर वनमें दमयन्तीके साथ चले गये, वहाँ पत्नीका रूप बारणकर भाये हुए कलिपर उसे पकड़नेके लिये नलने अपना वस्त्र फेंका और पक्षिरूपधारी वह कलि वस्त्र लेकर उड़ गया, बादमें वज्रहीन नलने दमयन्तीके आगे वस्त्रको स्वयं पहना और सोई हुई दमयन्तीके आगे वस्त्रको फाड़कर उसे सोई हुई छोड़कर चल दिये ।

ध्रुवाऽलोकाय तदुन्मुखमब्रुवा

निर्दिश्य पत्याऽभिदधे विदर्भजा ।

किमस्य न स्यादणिमाऽक्षिसाश्रिक-

स्तथाऽपि तल्यो मर्हिमाऽऽगमोदित ॥ ३८ ॥

ध्रुवेति । ध्रुवाऽलोकाय दमयन्तीं ध्रुवनक्षत्रप्रदर्शनाय, 'विवाहे ध्रुवमरन्धतीञ्च दर्शयेत्' इति शाखात् । तदुन्मुखमब्रुवा तदुन्मुखो ध्रुवामिमुखो भू यस्य तादृगेन, पत्या नलेन, निर्दिश्य ध्रुव परयेति आदिश्य, विदर्भजा वैदर्भी, अभिदधे अभिहिता,

कर्मणि लिट् । किं तत् ? इत्याह—अस्य भ्रुवस्य, अगिमा अणुत्व, छुद्रपरिमाण वमित्यर्थ । अलिसादिक चक्षु प्रमाणक, न स्यात् किम् ? चक्षुषा न लक्षयते किमित्यर्थ, तथाऽपि अस्य छुद्रपरिमाणवत्त्वे चक्षुष एव प्रमाणत्वे सत्यपीत्यर्थ । आगमोदित उयोनि शास्त्रोक्त, महिमा महत्ता एव, बृहत्परिमाणत्वमेवेत्यर्थ । तस्य प्रामाणिक, दूरस्पर्दोपेग अणुत्वग्राहिप्रत्यक्षस्य आगमापेक्षया दुर्बलत्वात् इतस्तार्द्धमित्यन्तर्द्रप यच्च वदिति भाव । महदपि दूरात् अणु प्रतीयते इति प्रसिद्धि ॥ ३८ ॥

भ्रुवको दिष्टानेके लिए उनके उन्मुख भ्रूवाले निर्देशकर पति (नल) ने दमयन्तीने कहा कि—‘इस (भ्रुव) को सूक्ष्मता नेत्रगोचर नहीं है क्या ? अर्थात् यद्यपि नेत्रगोचर है हा, तथापि वेदोक्त महिमा सत्य है अर्थात् यद्यपि इस सूक्ष्म भ्रुवको स्वयं तुम देख सन्ती हो तथापि ‘भ्रुवमुदीक्षस्व’ (भ्रुवको देखो) ऐसा पतिके कहनेपर ‘भ्रुव पश्यामि, प्रजा विन्देय’ (भ्रुवको देखती हूँ, प्रजा अर्थात् मन्त्रानको प्राप्त करें) ऐसा बधू कहे’ ऐसा श्रुति वचन ही सत्य है (पञ्चा०—यद्यपि भ्रुवतारा अत्यन्त सूक्ष्म है, तथापि ज्योतिष शास्त्रमें इसका प्रमाण ओ बहुत बड़ा कहा गया है, वह ज्योतिष शास्त्रोक्त वचन सत्य है) । दमयन्तीको नलने विधिप्राप्त भ्रुवदर्शन कराया ॥ ३८ ॥

धवेन साऽदर्शि घधूरुन्धतीं सतीमिमा पश्य गतामिवाणुनाम् ।

कृतस्य पूर्वं हृदि भूपते कृते तृणीकृतस्वर्गपतेर्जनादिति ॥ ३९ ॥

धवेनेति । पूर्वं विवाहात् प्रागेव, हृदि कृतस्य पतित्वेन मनसि निश्चितस्य, भूपते नलस्य, कृते निमित्त, नलवरणार्थमित्यर्थ । तादृश्वेऽभ्ययम् । तृणीकृतस्वर्गपते अगणितमहेन्द्रात्, जनात् त्वत्त इति यावत् । ‘पञ्चमी विभक्ते’ इति पञ्चमी । अणुता सूक्ष्मता, पातिप्रत्यगुणेन न्यूनताञ्च, गतामिव स्थिता, सतीं साध्वीम्, इमाम् अरुन्धतीम् अरुन्धतीनचक्र पश्य इति, उक्त्वेनेति शेष । सा बधू नवीवा भैमी, धवेन भर्ता नलेन, अदर्शि दर्शिता । हेमोर्ण्यन्तादात्मनेपदिन कर्मणि लिट् । ‘अभिवादिइशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्’ इति अणिकर्तुं कर्मस्वम्, अत्र च तस्याभिहितत्वात् न द्वितीया ॥ ३९ ॥

‘विवाहते’ पहले ही हृदयमें (पतिरूपमें निश्चिन) किये गये राजा (नल) के लिए तृणवत् भिये (तृणके समान तुच्छ मानकर छोड़े गये) इन्द्र हैं जिसने ऐसे आदमी अर्थात् तुमसे लज्जित होनेके कारणसे दुर्बलता (पञ्चा०—अतिशय सूक्ष्मता) को प्राप्त हुए पतिव्रता इम अरुन्धतीको देखो’ (ऐसा कहकर) पनि (नल) ने बधू (दमयन्तीको) से अरुन्धतीको दिखलाया । [मैंने तो विवाहके बाद पतिव्रत धर्मका पालन करती हुई परपुरुष होनेसे इन्द्र तबको तुच्छ समझकर त्याग किया, किन्तु इस दमयन्तीने विवाहके पहले हा केवल मनमें पतिरूपसे वरण किये गये राजा नलके लिए स्वयंवरमें स्वयं आये

१ ‘—दित’ इति सुच्चावधोष्यस्यपाठ’ इति म० म० शिवदत्तशर्माण ।

हुए इन्द्र तत्को तुंगवत् पुच्छ समझकर त्याग करती हुई सतीधर्मका पालन किया, जो एव यह दमयन्ती मुझमें भी अधिक श्रेष्ठ पतिव्रता है, हम कारणमें उत्पन्न सन्त्रासे वारस मानों दुबल हुई अरन्धनीको दत्तकर नलने दमयन्तीको दिखलाया । नलने दमयन्तीसे आचार-प्राप्त अरन्धनी-दर्शन कराया] ॥ ३९ ॥

प्रसूनता तत्करपल्लवस्थितैरुद्धुच्छ्रित्योन्मि विहारिभि पथि ।

मुखेऽमराणामनले रदावलेरभाजि लाजैरनयोभिर्भूतैर्युति ॥ ४० ॥

प्रसूनतेति । तत्करपल्लवस्थिते होमाय भैम्या पागिकिसलययुते इत्यर्थ । लाजे भृष्टशालिभि परिषापकापरपर्याये, 'लाजा पुष्पमूनि परिषापके' इति वेत्र यन्ती । प्रसूनता पुष्पत्वम् अभाजि प्रापि, तत्सादृश्य प्राप्तम् इत्यर्थ । लाजा दमयन्तीकरकमले पुष्पवत् परिहरयमाना अभूवन् इति निष्कर्ष । भजते कर्मणि लुङ् । अथ अनया वप्या, उज्जिते अग्नि लक्ष्मीकृत्य त्यक्तैः, अत एव पथि मय्य माग, ज्योमि विहारिभि ज्योमचारिभि, खेचरे सन्निरित्यर्थ, उद्धुच्छ्रवि नक्षत्र कामि, तत्सदृशशोभा इत्यर्थ । अभाजि, तत्तत्र अमराणा देवाना मुखे आस्यभूते, अनले अग्नी, 'अग्निमुखा वै देवा' इति ध्रुते । रदावले दन्तपङ्क्तौ, युति शोभा, तत्सदृशकान्तिरित्यर्थ अभाजि । अत्र एकस्य लाजद्वयस्य क्रमेण करपल्लवाद्यनेका धारयुतिसदृशकथनात् पर्यायमेव तथा लाजाना प्रसूननक्षत्रदन्तशोभासादृश्यान्निर्देशनामेव इत्यनयोदकाङ्गिभावेन सङ्कर ॥ ४० ॥

दमयन्तीके हाथरूप पल्लवमें स्थित खीलों ने पुष्पत्व अर्थात् पुष्पशोभाको प्राप्त किया, हम (दमयन्ती) से छोड़ी गयी तथा आकाश (दमयन्तीके करपल्लव तथा भूमिष्ठ अग्निके मध्यभाग) में विहार करने (गिरने) वाली खीलोंने नक्षत्रोंकी शोभाको प्राप्त किया और ('अग्निमुखा वै देवा' अर्थात् 'देव अग्निमुख है' इस श्रुतिवचनके अनुसार) देवोंके मुख अग्निमें (दमयन्तीके द्वारा हुन = दहनकी गया) उन खीलोंने दन्तपङ्क्तिकी शोभाको प्राप्त किया । [इत्यपल्लवमें पुष्पका, आकाशमार्गमें नक्षत्रोंका और मुखमें दन्तपङ्क्तिका होना उचिit ही है । दमयन्तीने विध्यनुक्रमे प्राप्त लाजायुति की] ॥ ४० ॥

तया गृहीताऽऽहुतिधूमपद्वतिर्गता कपोले मृगनाभिशोभिताम् ।

ययौ दशोरञ्जनता श्रुतौ श्रिता तमाललीलामलिकेऽलकायिता ॥ ४१ ॥

तयेति । तथा कप्या, गृहीता स्वीकृता, आहुते लाजाहोमस्य, धूमपद्वति धूमरेखा, कपोले गण्डदेशे, मृगनाभि कस्तूरी हव शोभते इति मृगनाभिशोभिनी, तस्या भाव तत्ता ता मृगनाभिशोभिता, 'कर्त्तुंयुपमाने' इति णिनि । 'खतलो' इति पुत्र जाव । गता प्राप्ता, तथा दशो नयनयो, अञ्जनता कञ्जलता, ययौ प्राप, तत्सा हरय गता इत्यर्थ । तथा श्रुतौ श्रोत्रे, तमालस्य तमालावतसस्य, छीली विलास,

प्रिता प्राप्ता, अटिके ललाटे च, 'ललाटमल्लिक गोचि' इत्यमर । अलङ्कारिता अल-
कवत् आचरिता, पूर्णकुन्तलत्व गतेत्यर्थ । उपमानादाचारव्यङ्ग्यात् कर्मणि क्त ।
अत्रापि एकस्यैव धूमस्य वस्मात् अनेकाधारसम्बन्धात् पर्याय , तदुपजीविनामुत्तरेपां
यथायोगमुपमानिदर्शनाभ्या पूर्ववत् सङ्ग्रह ॥ ४१ ॥

उम (दमयन्ती) के द्वारा (अश्विमे) गृहीत (दान) अश्विमे धूम-समूहने कपोल
म दमयन्ती शोभाको प्राप्त किया, (उमने ऊपर जाकर) नेत्रद्वयमें कज्जलाको प्राप्त
किया, (उमने भी ऊपर जाकर) दोनों कानोंमें तमाल (वन) की शोभाको प्राप्त किया
अत्र । उमने भी ऊपर जाकर) देशों में देशकी शोभाको प्राप्त किया । [कपोलमें कस्तूरी,
नेत्रोंमें जज्जन, कानोंमें तमालवन और देशोंमें देशकी शोभाका होना उचित है । क्रमप्राप्त
विशेषे अनुसार दमयन्तीने अश्विमे ललाटमल्लिक धूमको ग्रहण किया] ॥ ४१ ॥

अपहृत स्वेदभर करे तयोस्त्रपाजुगोर्नानलैर्मिलन्मुहु ।

द्विगारापे प्रोद्धतमश्रु सात्त्विक घनै समावीयत धूमलङ्घनै ॥ ४२ ॥

अधानशोभिनि सात्त्विकोदयमाह—अपहृत इत्यादिभि । त्रपाजुपो लज्जा-
भाजो तयो वयूवरयो, त्रै पागौ, स्वेदभर सत्त्विकभावोदयमूचकधर्मप्रकृति-
शय, सुहु पुन पुन, दानजले तत्कालोचितदानार्थमुदकें, मिलन् मिश्रीभवन्,
अपहृत आच्छादित, आत्मान गोपायितवान् इत्यर्थ । दशो अचणो अपि, प्रोद्धतम्
आविर्भूत, सात्त्विक सत्त्वसमुद्भूतम्, अश्रु नेत्रोदक, घनै सान्द्रै, पुञ्जीभूतैरित्यर्थ ।
धूमलङ्घने धूमपीडने, समाधीयत समाहित, परिहृत इति यावत् । अत्र स्वेदा-
श्रुणो महज्जयोरागान्कुक्षानोदकधूमाभिभवाम्या तिरोधानाग्नीलिनमेव, 'मीलन
वन्मुना यत्र वस्तुत्तरनिगूढनम्' इति लक्षणात् ॥ ४२ ॥

उन दोनों (नल तथा दमयन्ती) ने लज्जाजुक हाथों (परस्पर स्पर्शवय सात्त्विक
भावने) बार बार उत्तम अधिक स्वेद (पसीने) को (आक्षणोंके द्वारा दिये गये) दानार्थ
जन्ने छिपा दिया (अथवा— हाथों उत्तम अधिक स्वेदको बार-बार (आक्षणोंके
द्वारा दिये गये) दानार्थ जन्ने छिपा दिया) और उन दोनोंके सहज नेत्रोंमें उत्तम
सात्त्विक आँसूकी भी अधिक धूमाक्रमान्ने छिपा दिया । [वयूवरके परस्पर हाथका स्पर्श
होनेपर लज्जाके कारण उनके हाथोंमें सात्त्विक भावने उत्पन्न पसीना दानके लिए आक्षणोंसे
दिये गये कलस लोगोंको लक्षित नहीं हुआ अर्थात् स्वेदजुक हाथों बार-बार दान जल
लेनेने लोगोंने यह समझा यह दान-जल ही है । तथा नेत्रोंमें भी सात्त्विक भावसे आँसू
आया, किन्तु उसे भी धूम-समूहने ही यह नेत्रोंमें आँसू आरहा है ऐसा लोगोंने समझा,
इस प्रकार सात्त्विकभावने उन दोनोंके हाथों तथा नेत्रोंमें उत्तम स्वेद तथा आँसू क्रमशः
दानार्थ जल तथा धूम-समूहने छिप गये] ॥ ४२ ॥

बहूनि भीमस्य वमूनि दक्षिणा प्रयच्छत सत्त्वमवेद्य तत्क्षणम् ।

६१ नै० ६०

जनेषु रोमाञ्चमितेषु मिश्रता ययुस्नयो कण्टककुड्मलत्रिय ॥ ४३ ॥

वहूनीति । तयो बधूवरयो, कण्टककुड्मलत्रिय पुष्पकाण्डरसम्पद कन्यं, दहनि प्रचुराणि, वसूनि धनानि, दक्षिणा दक्षिणारूपेण, प्रयच्छन् ददन्, भीमस्य सत्त्वगुण स्वभाव वा, दानशौण्डीरत्वमित्यर्थः । अवेच्य दृष्ट्वा, तत्क्षणं तत्काले, अत्यन्तमयोगे द्वितीया । रोमाञ्च पुष्पाञ्जितत्वम्, इतेषु गतेषु, जनेषु दर्शकलोकममृतं, मिश्रता मेलनं ययुः । दक्षिणादर्शनजन्यविस्मयात् सर्वेषां रोमाञ्चे सति बधूवरयो सात्त्विकभावोद्भूतानि रोमाञ्चान्यपि तादृशविस्मयोद्भूतत्वेनैव तिरोहितानि इत्यर्थः । पूर्ववदलङ्कारः ॥ ४३ ॥

बहुन धनोको दक्षिणं देते हुय भीमसौ दानशूरताको देसकर उभ स्तनय रोमाञ्चि दुर (दण्ड) लोगोंने उन दोनों (नर तथा दमयन्ती) का रोमाञ्च न मिल गया अर्थात् दण्डाको प्राप्त हो गया । [परस्पर स्पर्शने नर तथा दमयन्तीको जो सात्त्विक भावनाय रोमाञ्च हुआ, वह भी बहुत दान देत हुए मामका दानशूरताको देखनेसे रोमाञ्चिन अन्य दर्शकोंके बीचमें ही एगमिलिन हो गया अर्थात् जिस प्रकार हम लोगोंकी भीमके अधिक धन दान करनेसे आश्चर्यके कारण रोमाञ्च हो रहा है, उसी प्रकार इन बधू-वरोंकी भी उसी कारण से रोमाञ्च हो रहा है, लोगोंके दमा समझनेसे सात्त्विक भावोत्पन्न नर दमयन्तीके रोमाञ्च अन्य दर्शकोंके रोमाञ्चकी समान कोटिमें हो मान गये । परस्पर स्पर्शने बधू-वरोंके 'रोमाञ्च' नामक सात्त्विक भाव उत्पन्न हुआ और राजा भीमके अत्यधिक दानको देखकर दर्शक लोगोंका आश्चर्यसे रोमाञ्च हो गया] ॥ ४३ ॥

यंभूव न स्तम्भमिजिन्वरी तयो श्रुतिक्रियारम्भपरम्परात्वर ।

न कम्पसम्पत्तिमलुम्पदप्रत स्थितोऽपि वह्नि समिधा समेधित ॥ ४४ ॥

यंभूवेति । तयो बधूवरयो, श्रुतिक्रियाणां वेदोक्तकर्मणाम्, आरम्भपरम्परायां स्वरा उत्तरोत्तरप्रयोगरूपशीघ्रता, स्तम्भस्य सात्त्विकभावोदयजन्यमिष्किपाद्गल्लक्षणस्य, विजित्वरी विजेत्रो, 'इण् नशत्रिसर्तिम्य क्त्वरप्' इति क्त्वरप् प्रत्यये 'दिङ्दाणञ्' इत्यादिना ङीप् । न यंभूव न अपह्नोतु शशाक इत्यर्थः । श्रुत्युक्तकर्मज्ञातानां शीघ्रसम्पादनेच्छायां मर्यामपि सात्त्विकस्तम्भवन्तात् तौ बधूवरौ किमपि कर्म शीघ्रसम्पादयितुं न समर्थौ इति भावः । तथा समिधा इन्धनेन, समेधितं प्रदीपितं, वह्नि अग्निः, अप्रत स्थितोऽपि कम्पसम्पत्तिं वेपथूदेक, न अलुम्पत् निरोद्धुं न अशक्दित्यर्थः । समिद्धोऽग्निः शीतजकम्पमेव शमयितुं समर्थः न तु सात्त्विककम्पग्राहानुरागविकाराणां दुर्वारवेगात्वादिति तयो स्तम्भकम्पौ सर्वे ज्ञातवन्त इति भावः । अत्र कर्मत्वर-समिद्धवह्निरूपकारणसद्भावेऽपि स्तम्भकम्पनिवृत्तिरूपकार्यानुपपत्तेर्विशेषोक्तिरलङ्कारः, 'सत्या तत्सामग्र्या तदनुपत्तिर्विज्ञेयोक्तिः' इति लक्षणात् ॥ ४४ ॥

१ 'अवतंतास्तम्भ—' इति पाठान्तरम् ।

वेदोक्त कर्मके अग्रम्भ-समूहकी शीघ्रता सब दोनों (नर तथा दमयन्ती) के स्तम्भको नष्टा चीन मकी अर्थात् मत्त्विक भावजन्य स्तम्भके कारण वे दोनों वेदोक्त वैवाहिक कार्य-समूहको जल्दा २ म्हा कर मके और स्मिषा (हवनकाष्ठ) से बनी अर्थात् जल्दा हुए जल म्भित भी अग्नि (मत्त्विक भावजन्य उन दोनोंके) कम्पवेगको नहीं रोक सकी अर्थात् अग्ने अपनी हुई अग्निसे सत्त्विक भावजन्य उनके दम्भतया देा नष्टा ददा । [स्तम्भके कारण शीघ्रता रहनेपर भी वे दोनों वेदोक्त वैवाहिक कार्य-समूहको शान्ताने नहीं कर सका तथा अग्नि गुणजन्य कम्पन (कंपनशील) को ही दूर कर सकती है, मत्त्विक भावजन्य कम्पनकी नहीं । अब एव यद्यपि उन दोनोंके सत्त्विक भावजन्य स्वेद, अ तथा रोमाञ्चको द्वादश भोग पूर्वक (१६४०-४३) कारणसे म्भित नहीं कर सके, किन्तु स्तम्भ तथा कम्पनो सब दृष्टकोने म्भित कर ही लिया] ॥ ४४ ॥

दमस्वसु पाणिममुत्र गृह्णत पुरोधसा सविदधेनरा विधे ।

महर्षिणाहिरमेन माहता पुलोमजानुवृहत् शतजतो ॥ ४५ ॥

दमस्वसुरिति । दमस्वसु दमयन्त्या, पाणि कर, गृह्णत आददानस्य, तान् उद्वहन् इत्यर्थ । अमुत्र नलस्य, पुलोमजा क्षपास्, उद्वहन् परिणयन, शतजतो हन्त्रस्य, महर्षिणा आहिरमेन वृहस्पतिना इव, पुरोधसा यातमेन, विधे क्षुपुक्तव-वाहिकानुष्ठानस्य, माहता माहता, समाप्तिगिति यावत्, सविदधेनराम् अतिशयैव सम्पादिता, 'किमेतिद्वयदघादा—' इत्यादिना अनुष्ठानस्य ॥ ४५ ॥

इन्द्रागिके साथ विवाह करते हुए इन्द्रके समान दमयन्तीने साथ विवाह करते हुए हम (नर) के (वेदोक्त) विधिके सङ्घाको इन्द्रागिके समान पुरोहित गौत्रने म्भित तरह पूरा किया ॥ ४५ ॥

म कौतुकागारमगान् पुरन्निभि सत्स्त्ररन्ग्रीकृतमीभितु वत् ।

अवात् सहस्राक्षतनुत्रमित्रतामधिष्ठित यन् खलु जिष्णुनाऽमुना ॥ ४६ ॥

म इति । तत्र विवाहविधिसम्पादमानन्तर, स नल, ईषितु द्रष्टु, वृहवरविभ्र-म्भालापमिति शेष, सहस्राक्षग्रीकृतम् अनेकविधदर्शकृतम् । बहुव्रीह्यावसूतनज्ञाव-चित्ति । कौतुकागार उन्मूलकद्वकं महलगृह, पुरन्निभि पुरनारीभि सह । 'वृहदो यूनो' इति ज्ञापकात् महाप्रयेगे महार्थे तृतीया । अगात् प्राविशत् । यत् अगार, जिष्णुना जयशीलेन, अमुना नलेन, जिष्णुना इन्द्रेण इत्यपि गम्यते, अधिष्ठितत् अधिरूढ सत्, सहस्राक्षतनुत्रमित्रताम् इन्द्रकवचतुल्यताम्, इन्द्रस्य सहस्राक्षदर्श-नार्थं सहस्रच्छिद्रीकृतकवचसादृश्यमिति यावत् । अघात् खलु निश्चित धारयामा सेत्यर्थ ॥ ४६ ॥

इस (विवाहविधि) के बाद वे (नल, वृहवरजी चेष्टा एव विशम्भपूर्वक भाषण आदि कार्यको) देखनेके लिए (द्वा-काठादिसे) द्वारों छिद्र किये हुए नगर-मारियोंके साथ

(अध्या—नगरनारियोंके द्वारा वधू-वरको चेष्टाओं एवं विश्रम्भपूर्वक भाषणादि कार्यको देखने इजारा छिद्र किये) कौतुकागार (कोहबर) में प्रवेश किये, निजवशील हम (नर पक्षा०—इन्द्र) से युक्त होते हुए जिसने नानो इन्द्रके वचनकी शोभाको धारण कर लिया था अर्थात् हारों छिद्र होनेसे इन्द्रके वचनके समान शोभा या ॥ ४६ ॥

अथाशनाया निरशेपि नो ह्रिया न सम्भगालोकि परस्परक्रिया ।

त्रिमुक्तसम्भोगमगायि सन्पूह वरेण यथा च यथाविवि व्यहम् ॥४७॥

अथेति । अथ कौतुकागारप्रवेशानन्तर, वरण नछेन, यथा दम्पत्यौ च, यथा विधि यथाशास्त्र, व्यह् त्रिदिनम् । अत्यन्तसयोगे द्वितीया । 'तद्वितार्थ—' इत्यादिना समाहारे द्विगु, 'गजाह सत्रिम्यष्टच्' इत्यनेन षच्, 'न सद्गजादे समाहारे' इति अह्नादेशाभाव, 'द्विगुरकवचनश्च' इत्येकवचनान्तता, 'रात्राह्नाहा पुसि' इति पुलि प्रता । अशनमिच्छन्तीति अतनाया वुमुच्चा, 'अतनायोदन्यधनायावुमुच्चापिपासा गद्वेषु' इति पयजन्यतया निपातनात् सात् । नो निरशेपि न नि शेषीकृता, न पर्या सन् अभोजि इत्यर्थ । ह्रिया लज्जया, परस्परक्रिया अन्योऽन्यचेष्टा, सम्पक यथेष्ट, न आलकि नो वीक्षिता, तथा त्रिमुक्तसम्भोग सम्भोगपराङ्मुखा यथा तथा, ससृह साभिलाषम् एव, अक्षायि दायितुम् । भावे लुब्ध् । यथाह आपस्तम्ब — 'त्रिरात्रमुभ पोरथ शय्या प्रक्षयर्षमहारलज्जाशिरःप्रक्ष तयो शय्यामन्तरेण दण्डोपलिसवातसा सूत्रेण परिधीतयोरवस्थानवन्' ॥ ४७ ॥

हम (कौतुकागारमें प्रवेश करने) के बाद वधू-वर (नर तथा दम्पत्यौ) ने तीन दिन तक लज्जा के अन्धी तरह भोजन नहीं किया, पारस्परिक चेष्टादिको नहीं देखा और सम्भोग रहित (किन्तु) स्पृहायुक्त विधिपूर्वक शयन किया । [उन दोनोंने कौतुकागार प्रवेशकर तीन दिन तक यथा भोजन किया, परस्परमें एक दूसरेके कामको देखा और सोया, किन्तु लज्जा के न तो अन्धी तरह भोजन ही किया, न एक दूसरेके कार्य (चेष्टाओं) को ही देखा और न तो सम्भोगपूर्वक शयन ही किया, अपितु विधिके पालन करनेके लिए साधारण भोजन किया, नेत्रप्रान्तने (कनकी) से ही एक दूसरेके कार्यको देखा और चुम्बनालिङ्गनादि रतिवर्जन परन्तु उस रतिकी चाहना रखते हुए सोया । शास्त्रोक्तविधिके अनुसार वधू-वरने उसी कौतुकागारमें श्रवणपूर्वक तीन रात एकत्र निवास किया] ॥ ४७ ॥

कटाक्षणाज्जन्यजनैर्निजप्रजा क्वचित् परीहासमचीकरत्तराम् ।

धराऽऽप्सरोभिर्वरयात्रयाऽऽगतानभोजयत् भोजकुलाङ्गुर क्वचित् ॥४८॥

कटाक्षणादिति । भोजकुलाङ्गुर भोजवशकुमार दम्, क्वचित् कश्मिश्चित् प्रदेशे निजा प्रजा स्वजनान् । 'हृषोरन्यतरस्याम्' इति अण्यन्तकर्त्त कर्मत्वम् । 'प्रजा स्यात् सन्ततौ जने' इत्यमर । कटाक्षणात् कटाक्षकरणात्, कटाक्षसङ्केतेन इत्यर्थ । कटाक्षयते 'तत् करोति—' इति ण्यन्ताच्चावे ल्युट् । जन्यजनै वरपत्नीयस्निग्धजनै

सह । 'जन्या रिनम्ना वरस्य ये' इत्यमर । परीहाम द्रवम्, उपहासमिति यावत् । 'द्रवदेलिपरिहासा' इत्यमर । 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' इति दीर्घ । अची करत्तराम अतिशयेन कारयामास । करोतेर्णोऽनुटि घट्, सन्वद्वावादभ्यासस्य दीर्घ, 'किमेत्तिट् व्ययधादा—' इत्यादिना आमुप्रत्यय । तथा क्वचित् कस्मिंश्चित् प्रदेशा-न्तरे, वरस्य यात्रया गमनेन उत्सवेन वा, 'यात्रा तु यापनेऽपि स्याद्गमनोत्सवयो स्त्रियाम्' इति मेदिनी । सह आगतान् उपस्थितान्, जनानिति शेष । धराऽऽसरोभि क्षिप्सुन्दरीभि करणै, अमोजयत् सोजयामास, तत्काले परिहासकरणसौकर्यादिति भाव । 'निराणल्लभार्थेभ्यश्च' इति परस्मैपद, 'गतिबुद्धि—' इत्यादिना अणिकर्तु र्गर्भेभ्यम् ॥ ४८ ॥

मोजङ्गुलके अङ्गुर (बान्क अर्वाङ्गु नलके जाले 'दम') ने कहीं पर (राजा भीमके परोक्षमें) प्रजाओंको नेत्र-मद्धेतने प्रेरितकर बरानियोंके साथ अधिक हँसा-मजाक करवाया और कहींपर बरानमें जाये हुए लोगोंको पृथ्वीकी अप्सराओं अर्वाङ्गु दासी, सैरन्त्री, बरान्ना आदि सुन्दरियोंसे परोसवाकर मोजन करवाना । [बरानियोंके साथ कन्यापञ्च बान्कोला छोटे जालेवा हँसा-मजाक करन-कराना लोकाचार-सा माना जाता है, 'क्वचित्' पदमें राजा भीम या बड़े-बूढ़ोंके परोक्षमें वक्त परिहास करानेसे 'दम' का शिट्ठा सूचित होती है] ॥ ४८ ॥

स कञ्चिदूचे रचयन्तु तेमनोपहारमत्राङ्ग । रुचेर्ययोचितम् ।

पिपामत काश्चन सर्वतोमुख तवार्पयन्तामपि काममोदनम् ॥ ४९ ॥

तत्कालिन्मेष परीहास बहुधा वर्णयति-स इत्यादि । स दम, कञ्चित् वरप-त्नीये किमपि जनम्, ऊचे ववाच, किमिति ? अङ्ग । ओ !, अत्र अस्मिन् प्रदेशे काश्चन का अपि, क्षिप इति शेष । पिपामत तृप्यन । पियते सनस्तास्यट शत्रादेश । तत्र सर्वतोमुखम् उक्त्व, 'कदन्यमुदक पाथ पुष्कर सर्वतोमुखम्' इत्यमर । तथा ह्ये अभिलाषस्य, ययोचितम् अनुरूप, तेमनस्य निष्ठानापराधस्य व्यञ्जनस्य, 'स्यात् तेमनन्तु निष्ठानम्' इत्यमर । 'तेन व्यञ्जने कलेदे' इति हेमचन्द्र । उपहार सम र्पण, रचयन्तु कुर्वन्तु, तथा काम यथेष्टम्, मोदनम् अक्षमपि, अर्पयन्ता प्रदच्छन्तु इति । रहस्यपदे—अत्र आसु परिवेशिकासु मध्ये, काश्चन का अपि क्षिप, अङ्गह्ये आत्माङ्गसौन्दर्यदर्शनचन्धामिलापवत, ते तत्र, ययोचित यथायोग्य, मन अपहर-तीति मनोऽपहार स्वाङ्गप्रदर्शनेन मनोहरण, रचयन्तु कुर्वन्तु, तथा पिपासत मुख-चुम्बनेच्छो, तत्र कामस्य स्मरस्य, मोदनं हर्षकारकम्, उद्योगप्रकृतिमिति यावत् । मुखम् आरय, सर्वत सर्वथा इत्यर्थ । सम्पूर्णभावेनेति यावत्, अर्पयन्ताम् हायूचे इत्यन्वय । अत्रोभयोरप्यर्थयोर्विवक्षितत्वेन प्रकृतत्वात् केवलप्रकृत्यरलेप ॥ ४९ ॥

उस ('दम' नामक नलके जाले) ने किसी (बरानों आदमी) से कहा कि—हे अङ्ग !

इस भोजनपात्रमें (जयवा—परोसनेवाली इन स्त्रियोंमें—से) कोई स्त्री रुचि (तुम्हारी चाहना) के अनुसार यथायोग्य तेमन अर्थात् बढी (या दहीबडे) को लावे, या तुम्हारी रुचिके अनुसार कढी या दही—बटे को लावे क्या ? प्यासे हुए तुम्हारे लिए जल ? (या जल दे क्या ?) और भान मी दे (या भान मी दे क्या ?) ।' परिहासपत्रमें—'परोसने वाली इन स्त्रियोंमेंसे कोई स्त्री स्तन—अधनादि शरीरशोभाको देखनेकी अभिलाषाके अनुसार तुम्हारे मनका अपहरण करे अर्थात् शरीरशोभामें तुम्हारे मनको आकृष्ट करे, अधर-सुम्बनके लिए पिपासु (प्यासे हुए) तुम्हारे लिए सब तरहसे नेत्रादिके सुम्बनस्थानोंके मुखमें रश्मिमें देखनेमात्रसे कामदृष्टप्रद मुखको अर्पित करे जयवा—मुखके पिपासुक (अधर-सुम्बन, भिलाषी) तुम्हारे लिए कामवर्षकारक वराह (गुह्यप्रदेश) अर्पित करे ॥ ४९ ॥

मुखेन तेऽन्नोपविशत्सविप्रियाच्य मृष्टानुमतिरखलाऽहस्तम् ।

वराहभागं स्पर्शमुत्तमनोऽनुनामहि स्फुटयेन किलोपविश्यते ॥ ५० ॥

मुखेनेति । हे जन्य ! अन्न अस्या पङ्क्तौ, असौ अयं जन, ते तच्च, मुखेन मामुत्तयेन वचनग्रेण च अधिकरणे साधन-वनिर्देश । सम्मुखे इत्यर्थः । उपविशतु आस्ता प्रार्थनाया छोड् । भोजनाद्यमिति दोषः । इति प्रयाच्य प्रार्थ्य, सृष्टानुमतिं श्लेषार्थं मनुष्या 'मुखेनोपविशतु' इति सृष्टा प्रवृत्ता, अनुमतिं सम्मतिर्येन तं तादृशकृताङ्गीकार, कञ्चित् जन्यमिति दोषः । खला काचित् धूर्ता स्त्री, अहस्तं परिजहास । किमिति ? येन वराहेण, उपविश्यते आस्यते किल, स वराहभागं गुह्यप्रदेशं, 'वराहो मूर्खगुह्यो' इत्यमरः । अनुना जनेन, स्फुट स्पष्ट यथा सथा, स्वमुत्तमं न हि स्वयं वचनमदत्तत्वेन अनुमत इत्यर्थः । मुखोपवेशनाङ्गीकारो नाग्तरीयक सिद्ध इति भावः । अत्रापि पूर्ववत् श्लेषः ॥ ५० ॥

('हे बरानी महाशय ! ') यहाँपर (इस पङ्क्तिमें) वह सत्तो (या पुरुष) आपके सामने मुख करके, (या मुझके सहारे, भोजन करनेके लिए) बैठ जाय ? ('ऐसा किसी धूर्त सगो या पुरुष या 'दम'क पूछनेपर उसके श्लेषयुक्त दूसरे अर्थको नहीं समझनेवाले बरानी-के 'हा बैठ जाय' ऐसा) स्वीकार करनेपर उस (बरानी) को उस धूर्त (श्लेषार्थज्ञानमें 'चतुर' होने ईंस दिया (ईंसनेका कारण यह था कि—) जिस वराह अर्थात् मदन-मन्दिर (गुह्यान्न) से उपवेशन किया (प्रवेश कराया) जाता है, उस वराहको हम बरानीने श्लेषार्थ नहीं समझनेमें अपना मुख मानकर 'हाँ' कह दिया है । (अब उस अवसरपर उसका परिहास करना उचित रहा) ॥ ५० ॥

युनामिमे मे स्निग्धमे इतीरिणो गतो तथोक्ता निजगुच्छमेकिका ।

न भास्यदस्तुच्छगलो वदन्निति न्यवत्तजन्यस्य तत् पराऽऽकृपत् ॥ ५१ ॥

युनामिति । हमें युवा भवत्यौ, मे मम, स्निग्धमे अतिशयेन स्निग्धौ, अन्यापेक्षया प्रियतमे इत्यर्थः । 'नद्या शेषस्यान्यतरस्याम्' इति विकल्पात् द्वयम् । इति ईरिणः

एव वादिन' । ईरतेजिनि । अन्यस्य कस्यचिन् वरसखस्य, गले कण्ठे, तथा उक्त प्रकारेण, उक्ता कथिता, एकैव एकिका तयो अन्यतरा स्त्री, 'प्रययस्यात् कात् पूर्वस्य' इति इकार । हे जम्भ ! अद इदं, युचाम् इमे मे स्निग्धे इति वच इति यावत् । वदन् कथयन्, स्वमिति शेषः । तुच्छगलं रिक्तकण्ठं, हारशून्यकण्ठं सन् इत्यर्थः । न भामि न शोभसे, इति, उवत्वेति शेषः । गम्यमानार्थवाद्प्रमोगः । निजम् आत्मीय, गुच्छं द्वात्रिंशदष्टिकहारम् । 'हारभेदा यष्टिभेदात् गुच्छगुच्छार्द्धगोस्तना' इत्यमरः । मयधत्त निदधे । तत्त गुच्छनिघानानन्तर, परा अपरा स्त्री तु, अद मे मे इति अयुक्त शब्दमित्यर्थः । वदन् दृगलं द्वाग, न भामि ? न प्रतीयसे ? अपि तु आत्मानं दृगलमेव स्वीकरोति, इति आहृत्वा आङ्गर्पः । हृपेस्तौदादिकादलङ् । 'स्तमच्छागवस्त च्छागलका भजे' इत्यमरः । अत्रापि पूर्ववत् श्लेषः ॥ ५१ ॥

'ये तुम दोनों मेरी श्रेष्ठ शिवा हो अर्थात् तुम दोनों मेरी प्रियतमा हो (अथवा—मेरे मनमें श्रेष्ठ जीवन्त हो)' इस प्रकार कहने (स्तुति या परिहास) करने हुए किसी वरानीके गलेमें उक्त प्रकारसे कही गयी (अथवा—जैसा तुम कहने हो वैसा ठीक है ऐसा कहती हुए) उन दोनोंमें—मैं एक कोने देखा करने हुए शून्य गलेवाले बकरीरूप तुम नहीं शोभते हो ।' अर्थात् 'मैं' कहने हुए तुम बकरी—जैसा ही शोभते हो (अथवा—स्नान शून्य गलेवाले, तुम नहीं शोभते हो, क्योंकि बकरीके गलेमें स्नान रहना है और तुम्हारे गलेमें वह स्नान नहीं है, अथवा—बाधनेकी रस्मीमें शून्य गलेवाले तुम नहीं शोभते हो, क्योंकि बकरीके गलेमें रस्मी रहती है और तुम्हारे गलेमें वह रस्मी नष्ट है, अथवा—इस प्रकार मेरी प्रशंसा करने हुए हारशून्य गलेवाले तुम नहीं शोभते हो । इस प्रकार कहकर) अपने हार (वस्त्रोत्तम लट्ठीवाले मोनियोंकी माला) की (बकरीके स्नानरूपमें, अथवा—बाधनेकी रस्मीरूपमें, अथवा—उपहाररूपमें) हाथ दिया और उसमें भिन्न दूसरी स्त्री 'यह ('मैं') कहने हुए बकरारूप तुम नहीं शोभते हो अर्थात् बकरी—जैसा ही शोभते हो' ऐसा कहकर उसे बकरा मानकर (या—स्तुतिश्रुतिमें रमणार्थ) खाँचने लगी । (अथवा—शून्य कण्ठवाले अर्थात् बकरीका मुख शोधपल्लवमें शून्य नहीं शोभता है, अत एव अपने हाथमें लोहार्थ लिए हुए पल्लव—गुच्छको उसके कण्ठ (मुख) में हाल दिया और दूसरी स्त्री उसे बकरा मानकर खाँचने लगी, अथवा—प्रेमी स्तुति करने हुए तुम बरण करनेके योग्य हो इस प्रकार कहकर उसने गलेमें अपना हार स्वयंवरमालाकी जगह हाथ दिया और दूसरी स्त्री उस पुरुषको रमणार्थ खाँचने लगी) ॥ ५१ ॥

नलाय बालव्यजनं त्रिधुन्वतीं दमस्य दास्या निमृत् पदेऽर्पितात् ।

अत्रामि लोकैः भरदात् पटोज्ज्वलीं मयेन जह्वायनिलद्विरहम् ॥ ५२ ॥

नलायेति । नलाय बाल—व्यजन चामर, त्रिधुन्वती कम्पयन्ती, चामरेण नल वीचयन्ती इत्यर्थः, काचिद् छाति शेषः, दमस्य दमयन्तीभ्रातृ, दास्या परिचारिकया, निमृत् निगूढ यथा तथा, पदे अर्पितात् विस्मृतात्, अत एव जह्वायनिलद्विरहस

कामदेवकी शिखर अर्थात् अविश्य सुन्दरीके उपचार (कटाक्षादिद्वारा अपने अनुरागको सरेगिन करनेवाले प्रेमपूर्वक देखने) में उत्कण्ठित सुन्दर नेत्रोंवाली बराहना आदिने दर्शकोंको बार बार रमाया) । [यहाँ तक (१६।४९-५४) कामरहित परिहासका वर्णन किया गया है, अब महासे 'व षट्विध (१६।१०८)' श्लोक तक काममदित परिहासका वर्णन किया जा रहा है] ॥ ५५ ॥

तिरोबलद्वक्त्रमरोजनालया स्मिते स्मित यत् खलु यूनि बालया ।

तया तस्योये हृदये निर्याय तत् व्यधीयतासम्मुखलदयवेधिता ॥५६॥

तिर इति । तिरोबलन् तिर्यक्प्रेरयन्, वक्त्रसरोजनाल मुखकमलमृगाल, कण्ठ इति यावत्, यथा तादृशया, तिर्यक् परिवर्तितरन्ध्रया, बालया कयाचित् शुभया, यूनि कस्मिंश्चित् तरणे, स्मिते स्मितवति सति कर्त्तरि च । यत् स्मित खलु हसित किल, लज्जया पराडमुत्पीभूय यत् हास्यमकारि इत्यर्थ, भावे च । तया बालया, तद्दीये हास्यकारियुवसम्बन्धिनि, हृदये चेतसि, तत् स्मित, निर्याय गाढ प्रवेश्य, असम्मुखम् अमभिमुख, पार्श्वदेशावस्थितमिति यावत्, यत् लक्ष्य वेद्य, तद्वेधिता तद्वेधित्व, स्वस्था इति शेष । व्यधीयत विहितता, तत् स्मित तस्य पार्श्वस्थितलक्ष्यवधी शरीर जात इत्यर्थ ॥ ५६ ॥

(वरपक्षाय) युवकके मुस्कुरानेपर अपने मुखकमलनाल (गर्दन) को घुमाकर बालने जो मुस्कुराया, उस बालने उस युवकके हृदयमें वह मुस्कुराना ही मानो असम्मुख (पराटमुख या-पार्श्वभागस्थ) निशानेको मारनेवाला बना दिया । (जो पराटमुख ही निशानेको मारता है, वह चतुर निशाना मारनेवाला समझा जाता है । प्रकृतमें पराटमुखी होगी हुद भी उस बालने मुस्कुरानेवाले युवकको देख लज्जासे गर्दनको फेरकर जो मुस्कुरा दिया, वसने वह युवक 'वह मुझपर अनुराग करती है, इसी कारण अपने प्रेमदर्शनों मेरे मुस्कुरानेपर लज्जावश मुख फेरकर इमने मुस्कुराया है क्योंकि मुस्कुराना तथा लज्जित होना ये ही दो कार्य अनुरागके सूचक होते हैं' ऐसा समझ उसपर आसक्त होकर कामशीलिन हो गया । वह बाला नायिका होनेके कारण ही मुखनाल (कण्ठ) को फेरकर मुस्कुरा दी- यदि प्रौढा नायिका होना तो सामने मुख करके ही मुस्कुरानी, क्योंकि बाला नायिकामें लज्जाका भाव रहता है और प्रौढा नायिकामें वह नहीं रहता] ॥ ५६ ॥

कृत यद्वन्यत् करणोचितत्यज्ञा दिदृक्षु चक्षुर्यदवारि बालया ।

हृदस्तदीयस्य तदेव कामुके जगाद वार्त्तामसिला रसले खलु ॥ ५७ ॥

कृतमिति । करणोचित जियाहं, त्यजतीति तादृशया करणोचितत्यज्ञा कर्त्तव्यम- कुर्वन्त्या इत्यर्थ, त्यनेक्षिप । बालया पूर्वोक्तया तरण्या, अन्यत् अकर्त्तव्य, यत् कृतम् अनुष्ठित, तथा दिदृक्षु दर्शनोत्सुक, चक्षु स्वदृष्टि, यत् अवारि वारित, द्रष्टव्यात्

१ 'खलम्' इति पाठान्तरम् ।

परावसितमित्यर्थं, तदेव अकार्यकरणचक्षुर्निवारणरूपद्वयमेव, तद्दीयस्य बालामम्ब-
न्धिन, हृद हृदयस्य, अखिला समग्रा, वार्त्ता वृत्तान्त, सले धूर्त्त, इहितदर्शनाद्भि-
प्रायज्ञानचतुरे इति यावत्, कामुके विषये, जगाद् गलु तस्मै नि सशयम् उवाच
इत्यर्थ, अकस्मैव्यकरणरूपेद्वितेन बायाया अन्यासक्तचित्ता, दर्शनप्रवृत्तचक्षु पराव-
सनेद्वितेन तस्या लज्जाया प्रकाशनात् धूर्त्तौ 'भयि आसक्ता लज्जिता चेयमिति
विवेद इति भाव ॥ ५७ ॥

सर्व्व (परोसने आदिका कार्य) को छोड़नेवाली बाला ने जो व्यापारान्तर किया तथा
दत्तने चक्षु नयको तो फेर लिया अर्थात् देखनेकी इच्छा होनेपर भी जो नहीं देता, वही
(उम बालाको व्यापारान्तर करना तथा नेत्रको फेर लेना ही) धून (अपने आशयको
समझनेमें चतुर) कामुकने उस (बाला) के हृदयको बानको बनना दिया अर्थात् उस बालाके
बल दोनों कार्योने धूर्त्त कामुकने उसके हृदय अपनेमें अनुरागको मनन लिया । [पाठा०—
वही कामुकमें बनना दिया, क्योंकि वह खल अर्थात् दुष्ट या, लोकमें भी जो खल होता
है, वह उसरेके हृदयकी बानको उसरेमे कह देता है । प्रकृतमें उम बालाके वे दोनों कार्य
खल (दुष्ट = बुरे) थे, अत एव उन्होंने उम बालाके हृदयकी बानको उम कामुकने बनना
दिया, ऐसा न मानना हू] ॥ ५७ ॥

जल वदत्या कलितानतेर्मुख व्यवस्यता साहसिकेन चुम्बितुम् ।

पदे पतदारिणि मन्दपाणिना प्रतीक्षितोऽन्येक्षणरञ्जनक्षणे ॥ ५८ ॥

अलमिति । जल वदत्या आवर्जयन्त्या, अत एव कलिता कृता इत्यर्थ, आनति
उद्धर्षवेहस्य अवनमन यया तादृशया जलदानार्थं ग्युञ्जीकृतशरीराया इत्यर्थ,
कस्याश्चित् छिद्या इति शेष, मुख चुम्बितु व्यवस्यता उद्युज्जानेन, व्यवस्यतेलंड
शत्रादेश । अत एव मन्दपाणिना जलग्रहणे श्लथहस्तेन, सहसा बलाकारेण वर्त्तते
य म तेन, अथवा—सहसा अविवेचनेन कृत् यत् तत् साहस, तत्र प्रवृत्त साह-
सिक तेन साहसिकेन अविमृश्यकारिणा इत्यर्थ । 'ओज सहोऽभ्यमा वर्त्तते' इति
ठक् । केनचित् कामुकनेति शेष, पदे स्वीयचरण, पतत् श्लथहस्तात् विगलत्, धारि-
यस्मिन् तस्मिन् सति, चुम्बनीमुख्यात् स्वीयचरणोपरिशिषिलहस्तात् जले विगलति
सतीत्यर्थ, अन्येणवज्जनक्षणे परदृष्टिवञ्जनसमय, सत्रयजनान्तराणा विषयान्तरे
दृष्टिप्रेरणादसर इत्यर्थ, प्रतीक्षित अपेक्षित इत्यर्थ, कामान्धा किं न कुर्यन्तीति
भाव ॥ ५८ ॥

पीने (या—पर पीने) के लिए पानी देता दुष्ट (अत एव) चुम्बी हुई (किसी स्त्री)
के मुखको चूमनेके लिए तत्पर (इसा कारण बल देनेमें) हृदयकी शिथिल (पानी पीनेके
पक्षमें अनुश्रियोंको विरल = छिद्रयुक्त) दिये हुए किमी साहसिक (बलान्कारपूर्वक या—
अविवेकपूर्वक चुम्बन करनेवाले कामान्ध पुरुष) ने पैरपर पाना विरते रहनेपर दूसरोंसे
नहीं देखनेके अवसरको प्रतीक्षा करेये लगा । (पैर पीनेके पक्षमें—पानी गिरने हुए पैरपर

नीचे कर लेनी है और गद्गद होकर धीरेसे बोलनी है 'अत एव यह मुझमें अनुरक्त होनेसे मुझे अवश्य मिल जायेगी' ऐसा उस युवकने निश्चय कर लिया ॥ ६१ ॥

विलोक्य यूना व्यनन विधुन्वतीमवाप्तसत्त्वेन भृश प्रसिप्तिदे ।

उदस्तकण्ठेन मृपोष्मनाटिना विजित्य लज्जा ददृशे तदाननम् ॥ ६२ ॥

विलोकयति । व्यञ्जनालवृन्तक, विधुन्वती चालयन्ती, काञ्चित् क्षियमिति शेष । विलोक्य दृष्ट्वा, अवाप्तसत्त्वेन उद्विक्तसात्त्विकभावेन, यूना केनचित् तरणेन, भृशम् अत्यर्थं, प्रसिप्तिदे स्वप्न, सञ्जातसात्त्विकभावेनाभावि इत्यर्थः श्लेषानेभावि लिट् । मृपोष्मनाटिना मृषा मिथ्या उष्माण स्वद्वकारण ग्रीष्मादिक, नाटयति अभिनयतीति तादृशेन सात्त्विकभावोत्प्रेक्षेद्वगोपनार्थं मिथ्या सन्तापादिक प्रकाशयत्यर्थः, अत एव उदस्तकण्ठेन उद्ग्रीवेण मत्ता, तेन यूनेति शेष, लज्जा विजित्य विस्मयेत्यर्थः । तदाननं तस्या यद्वत्, दृष्टं दृष्टम्, व्यञ्जनपवनापेक्षयेति भावः । दृशे कर्मणि लिट् । अत्र आगन्तुकेन धर्मभेदेन सदृशसात्त्विकस्वेदगूहनाम्मीलनालङ्कारः, 'मीलनं घस्नुना यत्र घस्वन्तरनिगूहनम्' इति लक्षणात् ॥ ६२ ॥

पद्मा करती हुई (किमा न) देखकर सात्त्विक भावयुक्त युवकको बहुत पसोना दी गया (तव) नुठे गर्मीका अभिनय करनेवाला (अत एव पद्म की अधिक दृष्टा होनेके बहानेसे) गर्मियोंको ऊपर उठाया हुआ (वह युवक) लज्जाको छोड़कर उस (पद्मा करनेवाली) का मुँह देखने लगा ॥ ६२ ॥

स तत्कुचरघृष्टरुचेष्टदोर्लताचलद्वलामव्यञ्जनानिलाकुल ।

अवाप नानानलनालशृङ्खलानिवद्धनीडोद्भवविभ्रम युवा ॥ ६३ ॥

स इति । स पूजित, युवा, तस्या व्यञ्जन विधुन्वत्या स्त्रिय, कुचयो स्तनयो, रघृष्टमेव रघृष्टं घर्षण, तदेव चेष्टा कुचस्पर्शनरूपध्यापारविशेष यस्या तादृश्या, दोर्लताया घातुवत्तया, चलद्वल कम्पमानपत्रम् इव आभातीति चलद्वलाम व्यञ्जपत्रसदृशम् इत्युपेक्षा, लताया पत्रेण भवितव्यत्वादिति भावः, तादृशस्य व्यञ्जनस्य तादृशतस्य, अनिलेन तज्जालनप्रवायुना, आकुल विवशः, तत्तुचालि त्रिभुजसन्दर्शनजन्यभावविशेषेण चञ्चल सन्नित्यर्थः, नानानलनालेन नानाविधमृगकाण्डेन, या शृङ्खला निगड घन्धनहेतुत्वात् तन्निर्मितशृङ्खलमित्यर्थः, तथा निरद्वस्य समयतस्य, नीडोद्भवस्य पक्षिण 'शकुन्तिपक्षिणकुनि जीडोद्भवा गच्छन्त' इत्यमरविभ्रम तत्सदृशविलासम्, अवाप प्राप तत्तुचालित्रिभुजसन्दर्शनेन कामातुरया

१ 'प्रसिप्तिदे' इति पाठश्चित्य, इति 'प्रकाश' ।

२ '—चेष्टि—' इति 'प्रकाश' सम्मत पाठान्तरम् ।

३ '—नलजाल—' इति 'गलजाल—' इति च पाठान्तरम् ।

तदालिङ्गितुकामोऽपि सर्वजनसमक्ष यथेष्ट चेष्टितुमशक्त सन् शृङ्खलावदपक्षिविभ्रम-
मिवानुबभूवेति निष्कर्षः ॥ ६३ ॥

वह युवक (पत्नी करनेवाली) उस स्त्रोके स्तनोंके स्पर्श करनेकी चेष्टा (पाठा०—
'मृष्टक' नामक आलिङ्गन करनेकी चेष्टा करने) वाली बाहुनाके चञ्चल अर्थात् हिलने हुए
पनेके समान पत्नीकी हवासे व्याकुल होकर अर्थात् स्तनको स्पर्श करनेवाले बाहुमें चञ्चल
होने देखनेमात्रमें उत्पन्न अनुरागसे व्याकुल होकर अनेक मरपत्नीकी (अथवा—नेकविन
पत्नीका) शृङ्खलामें फँसे हुए पत्नीके विह्वल (पाठा०—नर्तक पित्रोमें ही विशिष्ट क्रम—
बहुत घूमना) को प्राप्त किया । [पत्नी करने समय उस स्त्रोके बाहुमें स्तनमें स्पर्श करनेकी
वेग वामानुर होकर उस स्त्रोके आलिङ्गन करनेवा शृङ्खल हाथा हुआ भी युवक सब लोगोंके
सामने वैसा करनेमें असमर्थ होनेके कारण रिजडमें फँसे हुए पत्नीके समान व्याकुल हो
गया । बाहुविहीन स्तनमें पक्षवत् होना तथा पत्नी करनेके व्याजमें चञ्चल बाहुका 'मृष्टक'
नामक आलिङ्गन करना उचित हो है] ॥ ६३ ॥

अवच्छ्रटा काऽपि कटाक्षणमत्र ता तथैव भङ्गी वचनमत्र काचन ।

यथा युष्मभ्यामनुनाथने मिव कुरोऽपि दूनम्य न शेषित श्रम ॥ ६४ ॥

अवच्छ्रटेति । सा तात्कालिकीत्यर्थः, काऽपि अनिर्वचनाया, कटाक्षणम्य, कटाक्ष-
करणस्य, अपाङ्गदर्शनस्य इति यावत्, 'तत् करोति-' इति प्रयत्नात् ह्युद् । अवच्छ्रटा
भङ्गी परम्परा वा, तथा वचनस्य परस्परभाषणस्य, काचन एव काऽप्येव, भङ्गी
वक्तोक्त्यादिरूपा इत्यर्थः, जाता इति शेषः, यथा कटाक्षगच्छदया वचनमन्त्रा च
कर्म्या, युष्मभ्या युवस्या यूना च, 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेषः । मिथ अनुनाथने
परस्परप्रार्थने, नाथतेर्यावनार्थत्वात् ह्युद् । दूतस्य वार्त्तावहस्य, कृश भक्तोऽपि,
श्रम प्रयासः, न शेषित शेषतया न रक्षित इत्यर्थः, स्वयमेव तत्कार्यकारित्वात्
परस्परमिलनार्थं दूतो नापेक्षित इति भावः ॥ ६४ ॥

उम समपक्षी कीद अनिर्वचनाय कटाक्ष करनेकी भङ्गी (या—परम्परा) तथा अनि
वचनाय कीद वक्तोक्ति आदि भाषणकी भङ्गी उसी प्रकारकी हुई, जिम (कटाक्ष तथा
वचनकी भङ्गी) में युवक तथा युवतीने परस्पर प्रार्थना करनेमें दूतके श्रमको शेष भी बाकी
नहीं छोड़ा । [युवक तथा युवतीने परस्पर कटाक्ष तथा वक्तोक्तिपूर्ण वचनोंमें 'तुम मिलना
में आउगा' इत्यादि रूपमें स्वयं ही सन्देश कर लिया और इस प्रकार दूतको उन दोनोंकी
परस्पर वार्त्तावत्ता कहकर उन्हें मिलानेकी कोश आवश्यकता ही नहीं रह गयी] ॥ ६४ ॥

पपी न कश्चित् क्षणमास्यमोलित जलस्थ गण्डूपमुदीतसम्मदः ।

चुचुम्ब तत्र प्रतिविम्बित मुखं पुर स्फुरन्त्या स्मरकार्मुकभ्रूः ॥ ६५ ॥

पपाविति । उदीतसम्मदः सजातहर्षः, कश्चित् युवा, पुर स्फुरन्त्या पुरोवर्त्तिन्या
स्मरस्य कार्मुके धनुषी इव भ्रुवौ यस्या तादस्या, कस्याश्चित् जलदान्या इति शेषः,

आख्येन मुखेन, मीलित मिश्रित, मुखस्य प्रतिबिम्बयुक्तमिति भाव, जलस्य गण्डूष पानार्थं करधृत गण्डूपितजलमित्यर्थ, चण चणामात्र, गण्डूपे जलदानकाले इति यावत्, न पयौ न पीतवान्, अन्यथाप्रतिबिम्बादिकार्यायोगादिति भाव, किन्तु यत्र जले, प्रतिबिम्बित प्रतिफलित, तस्या मुख चुचुम्ब चुम्बितवान् ॥ ६५ ॥

उत्तन्नानुराग किसी युवकने आग स्फुरित होनी (शोभना) हुई कामधनुषके समान सुन्दर भाइँवाली पानी पिलायी हुई किसी स्त्रीके मुखके प्रतिबिम्बयुक्त (अथवा पाठा— अपने मुखके पाम चुल्लू या अञ्जलिमें लिये हुए) पानीके गण्डूषको क्षामर नहीं पिया, कि तु उस (पानोके गण्डूष) में प्रतिबिम्बित (उम स्त्रीके) मुखको चूम लिया (और बादमें—जलमें प्रतिबिम्बित उसके मुखको चूमनेके पश्चात् जलका पिया) । [उस कामुक युवकने सोचा कि 'यदि मे चुल्लू या अञ्जलिमें लिए हुए जलको पी लूँगा तो इस स्त्रीके प्रतिबिम्बित मुखको चुम्बन नहीं कर सऊँगा, क्योंकि पानीके अभावमें मुखप्रतिबिम्ब भी नहीं रहगा, अतः अब पहले उसके जलप्रतिबिम्बित मुखको चूमा और बादमें जलको पिया । अथवा—भोजनपश्चात्किने बैठे हुए लोगोंने जब तक उसके इस जलमें प्रतिबिम्बित स्त्रीमुखवा चुम्बन करना नहीं देखा तब तक थोड़ी देरतक जलका नहीं पिया और जब लोगोंने उसके इस कार्यको देख लिया तब उसने जलको पी लिया] ॥ ६५ ॥

हरिन्मणेर्भोजनभाजनेऽर्पिते गता प्रकोप किल वारयात्रिका ।

भृत न शाकैः प्रवितीर्णमस्ति पस्तिदपेभ्यो हरितेति बोधिता ॥ ६६ ॥

हरिदिति । हरिन्मणे मरकतोपलस्य, भोजनभाजने भोजनपात्रे, मरकतमणि निमित्तभोजनपात्रे इत्यर्थ, अर्पिते पुरतः स्थापिते सति, प्रकोपम् अतिरोप, गता प्राप्ता, अतिशयेन दृष्टा इत्यर्थ, पत्रभाजनभ्रान्त्येति भाव, वरयात्रा प्रयोजनम् एषा मस्तीति वारयात्रिका घरेण सह समागता, 'प्रयोजनम्' इति ठक् । च युष्माकं सम्बन्धे, प्रवितीर्णं दत्तम्, इदं भोजनभाजन, शाकैः 'शेगुव' इत्याख्यतरुविशेषपत्रैः 'शाको द्वीपान्तरेऽपि च । शक्तौ तरुविशेषे च पुमान् हरितकेऽस्त्रियाम् ॥' इति मेदिनी । शृतं कृत, निर्मितमित्यर्थ, न अस्ति न भवति, किन्तु हरिता हरितया, हरिद्वर्णयोर्यर्थ । 'पालाशो हरितो हरिश्च' इत्यमर । खिपा स्वस्नान्या, एवम् इत्य, शान्तपत्रनिमित्तभाजनमिति यो भ्रान्तिरिति भाव, इति बोधिता विज्ञापिता । अत्र कविवरतसादरयान्मरकतभाजने पत्रभाजनभ्रान्तिनिबन्धनात् भ्रान्तिमदलङ्कार ॥ ६६ ॥

पत्रा मणिके बने हुए भोजनपात्र (थाल) देनेपर (हरा रंग होनेके कारण पत्तणके भ्रमसे) अत्यन्त क्रुद्ध हुए बरातियोंको 'आपलोगोंके लिए दिया गया यह भोजनपात्र (थाल) पलाश आदि (या—सागौन) के पत्तोंसे नहीं बना (अथवा—बभ्रुआ, पालक आदिके शाकमें नहीं मरा हुआ) है, किन्तु हरी कान्तिमें यह भोजनपात्र ऐसा (पत्तोंसे बनाया, शाकमें मरा हुआ प्रतीत होनेवाला) हरे रंगका है' इस प्रकार (कन्यापक्षवालोंने) समझाया ॥ ६६ ॥

ध्रुव विनीत स्मितपूर्ववाग्युवा किमप्यपृच्छन्नविलोकयन्मुसम् ।

स्थिता पुर स्फटिककुट्टिमे वधू तदहन्मियुग्मापनिमध्यवद्धहक् ॥ ६७ ॥

ध्रुवमिति । युवा कोऽपि तरुण, पुर अग्रे, स्फटिके स्फटिकमये, कुट्टिमे निवद्ध-
भूमौ, स्थिता तिष्ठन्ती, वधू कामपि सामन्तिनी, तस्या बच्चा एवंत्यर्थ, अहन्मियु-
ग्मस्य पादद्वयस्य, अवनि आधारभूतभूभाग, तस्या मध्ये अन्तरालभूभागे, तस्या
पादद्वयाधारभूतभूभयोरन्तराले इत्यर्थ, वद्धहक् दत्तदृष्टिः सन्, तत्सद्वृत्तान्ततद्द्वाराङ्ग-
प्रतिविम्बाकृष्टदृष्टि सन्नित्यर्थ, मुख न विलोकयन् अर्धेदर्शनार्थं मुप न पश्यन्,
न जर्जरस्य न दान्दस्य सुपसुपेति समास । विनीत ध्रुव साधुरिव, स्मितपूर्वा वाक्
पश्य म तादृश सन् ईषदास्यपूर्वकमित्यर्थ । किमपि यत् किञ्चित्, अपृच्छत्
जिज्ञासितवान् । अग्न यूना स्त्रीसम्भाषणे पादावलोकनेन सुखानवलोकनधर्मयोगात्
विनीतत्वोपेक्षा ॥ ६७ ॥

दिनयो जैमी (वात्सविक्रमे अविनयो अर्थात् ऐसी करनेमें चतुर), मुस्तुराकर बोलने
वाला कोइ युवक स्त्रीके मुखको नहीं देखना हुआ स्फटिक मणिको बनी हुई भूमिपर सामने
बैठी हुई जौने उसके दोनों चरणोंके बीचका भूमि (पर प्रतिबिम्बित उस स्त्रीके मदन-
मन्दिर-भाग) को देखना हुआ कुछ पूछ ॥ ६७ ॥

अमी सप्तद्वाप्यमखण्डितारिल वियुक्तमन्योऽन्यममुक्तमार्दवम् ।

रसोत्तर गौरमपीवर रसादभुञ्जतामोदनमोदन जना ॥ ६८ ॥

अमी इति । अमी जना जन्यजना, लभन् प्रकाशमान, वद्वच्छब्दित्यर्थ, द्वाप्य
धूमायमानोष्मा यस्य तादृशम् ईषदुष्णमित्यर्थ, अखण्डितम् अभग्नम्, अखिल
स्वरूपम्, आकृतिरिति यावत्, यस्य तादृशम्, अन्योऽन्य परस्पर, वियुक्तम्
असरिल्ल, तदाऽपि अमुक्तमार्दवम् अकटिन, सुकोमलमित्यर्थ, रसोत्तर स्वादुभूयिष्ठ
गौर शुभ्रम्, अपीवरम् अस्थूल, सूक्ष्ममित्यर्थ, आमोदनम् आह्लादजनक, सुगन्धम्
हृद्यर्थ, मोदनम् अद्य, रसात् रागात्, अभुञ्जत अपादन् । सार्धकविशेषत्वात्
परिकर ॥ ६८ ॥

इन वराना लोगोंने बाप निकलने हुए अर्थात् थोडा-थोडा गर्म, बिना दूटे हुए दानों
वाले, परस्परमें नहीं सट मुप, बोगल, स्वादिष्ट, स्वनन्दा, (कृष्णभोग, इशानजीरा आदि
उत्तम बानीय चावल होनेमें) महीन (अन्न सब) ईषप्रद (अयश—सुगन्धयुक्त) मानको
मोदन किया ॥ ६८ ॥

वयोऽशस्तोकनिकस्वरस्वनी तिरस्तिरश्चुम्बति सुन्दरे दृशा ।

स्वयं किल सस्तमुर स्थमन्यर गुरुस्तनी ह्योणतराऽपराऽऽदधे ॥ ६९ ॥

वय इति । सुन्दरे रूपसम्पन्ने, वरपक्षाये कस्मिंश्चित् पुमि इति शेष । वयोऽ-

१ 'पराददे' इति पाठान्तरम् ।

६२ नै० २०

शेन घालययौवनयो सन्धिरूपवयोऽर्धानतया, स्तोत्रविश्वस्वरस्तनीम् ईषतुञ्ज
कुचमण्डला, काञ्चित् चालामिति शेष । तिरस्तिर इशा तिरश्चीनदृष्टया, वरकट
चेनेत्यर्थ । कुम्भति साग्रह पश्यति सतीत्यर्थ । गुरस्तनी पृथुस्तनी, अपरा अन्य,
काचित् स्त्रीति शेष । द्वीपतरा अतिशयेन द्वीगा लज्जिता, अतिशयलज्जिता सती-
त्यर्थ । छुद्रस्तन्या वालिकायामनुरागदर्शनात् पृथुस्तन्या स्वस्या तस्यारचित्वबुद्ध्या
अतिमलज्जत्वं युक्तमिति भाव । द्वीघातो 'कालात्' इति तरप्, 'नुदविद'-
इत्यादिना पक्षे निष्ठानत्य, 'तमिलादिप्वाकृत्वसुच' इति पुषद्भाव । स्वयमात्मने,
जस्त गलित, किल इति अलीङ्गे, स्वस्थानात् अष्टमिव जातमित्यर्थ । इति वरस
वक्ष्य स्थितम्, अम्बर वससम्, उत्तरीयमित्यर्थ । आवधे स्वेच्छया स्वस्थानादपसा-
रित कृत्वा पुनराच्छादनार्थं यथास्थान निदधे । छुद्रस्तनीं प्रति हृदयावरणसंकेत
स्वकीयहृदयावरणनिधानेन ज्ञापयामास, अथवा अह पीडरस्तनी तद्योपभोगसमिति
बुद्ध्या स्तनयुग दर्शयामासेति भाव ॥ ६९ ॥

अवरथा (घाल्य तथा गुहाख्याके सन्धिकालकी उग्र) के वक्ष भोडा उठने हुए
स्तनवाली (मुग्धा स्त्री) को निच्छीं-तिच्छीं दृष्टिसे युवकके देखते रहने पर अर्थात् अनु-
रागवशा कटाक्षपूर्वक देखनेमात्रमे कुम्भनमुखका अनुभव करते रहने पर विशाल स्तनोंवादी
दूसरी (प्रौढा) को अधिक लज्जित हाकर स्तनोंमे स्वयं कपड़ेको हटाकर फिर उसने
स्तनोंको ढक लिया । ['यह युवक लज्जुलनां मुग्धान अनुराग करता है, पृथुलनो मन्मोग
ममर्थां मुलम नहीं' अत एव अपने विशाल स्तनोंको दिखानेके अभिप्रायसे यथास्थान स्थित
वक्षको भी हटाकर पुन स्तनोंको ढक लिया । अथवा—उस मुग्धाको सङ्केत किया कि—
'तुम अपने स्तनोंको अच्छी तरह ढक लो' । ऐसे अवसरपर कुछ स्पष्ट कहना अनुचित
होनेसे सङ्केतमात्रसे उस मुग्धाकी स्तनोंको ढकनेके लिए उस प्रौढाने सचेत कर दिया] ॥६९॥

यदादिहेतु सुरभि समुद्भवे भवेत्तदाज्य सुरभि भ्रूव तत ।

वधूमिरेभ्य प्रविनीर्य पायस तदोघकुन्यातटसैकृत कृतम् ॥ ७० ॥

यदिति । यत् यस्मात् कारणात्, समुद्भवे उत्पत्तौ, सुरभि गौ, सुगन्धि
पदार्थश्च । 'सुरभिर्वाच्यवत् सौम्ये सुगन्धौ गोप् योपिति' इति यादव । आदिहेतु
मूलकारण, तत् कारणात्, तत् आज्य घृत, सुरभि सुगन्धि, भवेत्, 'कारणगुणा
कार्यगुणमारभन्ते' इति सुरभिसूतस्य सुरभित्व युक्तमिति भाव । भ्रूवमित्युपेक्षा
याम् । वधूमि परिवेष्ट्रीमि, एभ्य जन्यजनेभ्य, पायस परमान्न, पयसि ससृज
मत्रमित्यर्थ । 'परमाज्जन्तु पायसम्' इत्यमर । 'मस्कृत मद्या' इत्यण्प्रत्यय । प्रवि-
तीर्य दत्त्वा, परिवेष्ट्येत्यर्थ । तस्य सुरम्याज्यस्य, ओघ प्रवाह एव, कुश्या कृत्रिम
सरित्, तस्या तटे तीरदेशे, सैकत मिक्तामय पुलिन, कृत रचितमिति रूपकम् ।

१ 'यदाज्यमिरेभ्य साठ इति प्रकाश' ।

‘देशे लुविलची च’ इति सिकताशब्दादणूग्रयः । प्रदत्तपाथसोपरिनिहितघृतधारा प्रवाहेण द्विधा विभक्त पाथम शुक्लत्वात् घृतमग्निं घृतकुल्यातटमैकतमिः विरेजे इति भावः ॥ ७० ॥

जिम कारणमे कामधेनु या गौ (अथवा—सुगन्धयुक्त पदार्थ) उत्पत्तिमें (दूध-दही आदिकी परम्परामे) मूल कारण है, उस कारणमे (अथवा—मानों उस कारणसे) वह बी सुगन्धित होता है (परोमनेवाली) धियोने इन (बर्गानों) के लिए उस बीको परोमरर एारको उस घृतके प्रवाहत्प छोटी नदरके दोनों किनारे रेतों-मा बना दिया । [पहले सीर परोमक उसने ऊपर घोका धार गिरायी जममे पीके चारों तरफ वह खीर नदरके दोनों किनारे रेतों-मा बन गयी । वह बी सुगन्धित था, क्योंकि कारणगत गुणका कार्यमें होता जंचन हो है] ॥ ७० ॥

यदप्यतीता वसुधा लयै सुधा तदप्यद स्वादु ततोऽनुमीयते ।

अपि ऋतूपर्बुधदग्धगन्धिने स्पृहा यदस्मै द्रवने सुधाऽन्धम ॥ ७१ ॥

यदपीति । यदपि यद्यपि, वसुधा लये मूलित्यै, मनुष्यादिभिरित्यर्थ । सुधा अमृतम्, अपीता म पीता तदपि तथाऽपि, अपात-वेऽप्येत्यर्थ । अद् आजय, तन सुधातोऽपि, स्वादु मऽदुरम्, अनुमीयते नश्यते, यत् यत्, सुधा एव अन्ध अन्न येषा ते सुधाऽन्धम देवा, ऋतूपर्बुधदग्धगन्धिने यज्ञानिप्लुष्टगन्धवते, अस्मै आज्ञाय, स्पृहाम् इच्छा, दधने कुर्वते इत्यर्थ । ‘स्पृहेरिप्सित’ इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । अस्माकमुभयानुभवभावेऽपि अमृतमोजिनामपि विशिष्टप्रज्ञसिलिङ्गेन सदुभयरमनारतस्यानुमान सुकरमित्यर्थ । अग्निदग्धत्वेन विहृतगन्धमपि घृतम् अमृतादपि स्वादुरम किमुत मौरमयुक्तमिति भावः । अनुमानन्तु घृतममृतादपि स्वादु अमृताज्ञाना देवाना विशिष्टेच्छाविषयत्वादिति अत्रानुमानाच्छार ॥ ७१ ॥

यद्यपि भूलोकवासी (मनुष्यों) ने अमृत नही पिया है, तथापि (अमृत-रसका ज्ञान नहीं होनेपर भी) ‘यद् (घृत) उम (अमृत) ने अधिक स्वादिष्ट है’ ऐसा अनुमान होना है क्योंकि अमृतमोगी (देव) भी यज्ञोंमें अग्निके द्वारा जले (दूधित किये) गये गन्धवाले इम (घृत) के लिये चाहना करते हैं । [यदि अमृतमे भी अधिक स्वादिष्ट घृत नहीं होता तो जज्ञानेमें विहृत गन्धवाले भी घृतकी अमृतका भोजन करनेवाले देवयोग क्यों इच्छा करते, इसमें अनुमान होना है कि जले हुए गन्धवाला भी घृतका स्वाद अमृतमे उत्तम है, ता फिर जो बिना जले हुए गन्धवाला घृत है उसने स्वादके विषयमें क्या कहना है, वह तो अमृतमे बहुत ही अधिक स्वादिष्ट होगा ही । अथवा—कुल्लोग (भूलोकवासी) घृतम कम स्वादिष्ट अमृतका आस्वादन नहीं करते तथा सर्वदा अमृत भोजन करनेवाले (देवयोग) भी घृतकी चाहना करते हैं, इन दोनों कारणोंमे अमृतकी अपेक्षा घृतके अधिक स्वादिष्ट होनेका अनुमान होना है] ॥ ७१ ॥

अबोधि नो हीनिमृत मदिङ्गित ? प्रतीन्य वा नादृतवत्यवसाविति ? ।

लुनाति यून् स्म धिय कियद्गमा निवृत्य बालाऽऽदरदर्शनेषुणा ॥ ७२ ॥

अबोधीति । असौ बाला खो, हीनिमृत लज्जानिगूढ, मदिङ्गित सभ्रमद्गदरां
दिना मम हृद्गतभाव, नो अबोधि ? न अज्ञासीत् ? सुध्यते कर्त्तरि लुङि तद्, 'दीप
जन—' इत्यादिना लक्षणादेश । वा अथवा, प्रतीत्य बुद्ध्याऽपि, न आदृतवता
अनभिप्रेतत्वात् नत् न गणितवती, इत्येवरूपा, यून् तरुणस्य कस्यचित्, धिय
सशयबुद्धि, कियत् कतिचित् पदानि, गता खलिता अपि, निवृत्य प्रत्यावृत्य, आदर
दर्शन सरासदृष्टि, यद्वा—दरदर्शनम् ईषद्दृष्टि, लज्जया सकोचपूर्णदृष्टिरिति यावत् ।
'ईषदर्थे दराभ्ययम्' इति मेदिनी । तद्वयेण इषुणा बाणेन, लुनाति स्म खिद्येद् ।
यत्नावतैव यून् अनुरागाभावशङ्काशङ्कैर्दृष्टुम् इति भाव ॥ ७२ ॥

'इस बालने लज्जासे गूढ मेरा चेष्टा (कदाचिदर्शन आदि) को नहीं समझा क्या ?
अथवा समझकर आदर (सुखपर अनुराग) नहीं किया ?' इस प्रकारको सुवकको बुद्धि
अपाद सन्देह को कुछ दूर गयी हुई बालने लोटकर आदरपूर्वक दर्शन (सानुराग कदाचि
दर्शन) रूपा बाणने काट दिया अर्थात् कुछ दूर जाकर बालने उस सुवकको अनुरागपूर्वक
देखकर उसके उक्त सशय बुद्धिको दूर कर दिया ॥ ७२ ॥

न राजिका-राद्धमभोजि तत्र कैर्मुखेन सीत्कारकृता दधदधि ।

धुतात्तमाङ्गै कटुभाषपादवादकाण्डकण्डूयितमूर्द्धतालुभि ? ॥ ७३ ॥

नेति । तत्र भोजनसमय, के जन, दधदधि दधिपत्र, दध्ना सरसृमम् इत्यर्थ ।
राजिकाराद्ध राजसर्पपनिष्पन्न, सर्पपचूर्णसयुक्त व्यञ्जनमित्यर्थ । 'अथो राजसर्प ।
एव बुधाऽभजननो राजिका कृष्णिकाऽऽसुरी' इति यावत् । कटुभाषपादवाद
कटुरसामध्यात्, कटुरसातिरेकादित्यर्थ । धुतात्तमाङ्ग कम्पितमस्तकै, तथा
अकाण्डे असमय, भोजनसमय मस्तककण्डूयनस्य स्मार्त्तवचननिषिद्धत्वात् भोजन
समय कण्डूयनस्य असमय इति भाव । कण्डूयित मूर्द्धतालु मूर्द्धान तालुनि च ये
तादृशे सज्जि, सीत्कारकृता मसीत्कारेण, मुखेन दधध्रेण, न अभोजि ? न अत्यादि ?
सर्वे एवकुर्वन्तिरपि अभोजि इत्यर्थ । स्वभावोक्तिरलङ्कार ॥ ७३ ॥

उस क्षण । (या—बद्धा पर अर्थात् राजा मोमके यहा) किन्हीं (बरातियों) ने राई का
पोली मरसोमे तैयार किये गये और दहीसे मिश्रीये गये व्यञ्जन-विशेषको अधिक कड़ु
होनेमें मस्तक हिलाने हुए तथा (भोजनकालमें मस्तक सुजलानेका धर्मशास्त्रोंने निषेध
होनेसे) अस्मयमें मस्तक तथा तालुको सुजलाने हुए सीत्काररूप मुखमें अर्थात् 'सी-सी'
ऐसा शब्द करते हुए भोजन नहीं किया ? अर्थात् सभी बरातियोंने उक्त प्रकारके व्यञ्जनको
मस्तक हिलाने, मस्तक तथा तालु सुजलाने और 'सी सी' करने हुए खाया ॥ ७३ ॥

नियोगिदाहाय कटुभवस्त्विष तुपारमानोरिव खण्डमाहृतम् ।

सित मृदु प्रागथ दाहदायि तन् रत्न सुहृत्पूर्वमिवाहितस्तत ॥ ७४ ॥

वियोगीति । वियोगिना प्रियवियुक्ताना, दाहाय सन्तापाय, कटुभवन्त्य
तीक्ष्णोभवन्त्य, त्विष प्रमा यस्य तादृशस्य, तुषारमानो चन्द्रस्य, मण्ड शकलम्,
आहतम् आनीतम् इव स्थितम् इत्युत्प्रेक्षा । मित शुभ्र, प्रभूतदक्षिमयोगादिति भाव ।
तत् राजसर्पपमिश्र व्यञ्जन, पूर्वम् आदौ, सुहृत् आप्त, तत पश्चात्, कार्यकाले
इत्यर्थ, अहित अनाप्त, खल दुर्जन इव, इध्युपमा, प्राक् आदौ, स्पर्शकाले इत्यर्थ,
मृदु कोमलम्, अथ पश्चात्, मुखे प्रक्षेपानन्तरमित्यर्थ, दाहदायि कटुरसातिरेकात्
जिह्वावेदाहकारि, बभूव इति जेष ॥ ७४ ॥

विरहियोंके मन्त्रापके लिए तोड़ग कान्निवाले चन्द्रमाके डुकडेके समान लाये गये
(अथवा—लाये गये चन्द्रखण्डके समान म्नि) इवेन वर्ण पहले (स्पर्श—सङ्गमे) कोमल
तथा बादमें (मुखमें डालनेपर अधिकदु होनेमे) दाहकारक पहले मित्र तथा बादमें शत्रु
बने हुए खलके समान हुआ (अथवा—जस रायोंके बने व्यञ्जनको किन्हीं वराणियोंने नशी
मोजन किया ऐसा पूर्व (१६।७३) श्लोकमे मन्त्रन्ध समझना चाहिये) ॥ ७४ ॥

नवौ युवानौ निजभावनोपिनाबभूमि प्राक् प्रहितभ्रमिक्रमम् ।

दृशो विधत्त स्म यदृच्छया किल त्रिभागमन्योऽन्यमुखे पुन पुन ॥ ७५ ॥

नवाविति । नवौ दाहययौवनयो सन्धौ वर्तमानौ, अत एव निजभावगोपिनौ
लजावशात् स्वाभिप्राय स्पष्टमप्रकाशयन्ती, युवानो युवतिश्च युवा च तौ, 'पुमान्
स्त्रिया' इत्येकशेष । प्राक् प्रथमम्, अभूमिषु अन्यविधरेषु, दर्शनायोगेषु इत्यर्थ,
नभर्धेन नभस्मास । प्रहितभ्रमिक्रम इतसञ्चारप्रकार, विषयान्तरेषु इतस्तत प्रवर्त्ति-
तम् इत्यर्थ, दृशो नयनयो, त्रिभाग तृतीयभागम्, अपाङ्गदर्शनम् इत्यर्थ, 'वृत्तिवि
धे मङ्गुलादादयः पूरणार्थत्वम्' इति कैयट । पुन पुन बार बारम्, अन्योऽन्यस्य
परस्परस्य, मुखे वदन, यदृच्छया निल अनिच्छयैव, किल इत्यल्लोके, इच्छापूर्वकमेव
इत्यस्य तात्पर्यम् । विधत्त स्म निश्चिपितुमिच्छय, आदौ द्विधा विषयान्तरदर्शन
व्याजादेव अन्योऽन्यमुखम् अपाङ्गदृष्ट्या पुन पुनर्दृशतुरिति चक्षु मीत्याख्या
प्रथमावस्थाया ॥ ७५ ॥

नये (नैशव तथा शौवनावस्थाके समयमें वर्तमान, अत एव लज्जाके कारण) अपर्ण
भाव (पारस्परिक अनुराग) का छिपानेवाले युवती तथा युवकने पहले अयोग्य (अपने
उद्देश्यसे हीन, या—अपने देखनेके अयोग्य या—लोक व्यवहारके अयोग्य किन्हीं अन्य)
वस्तुओंको कटाक्षपूर्वक देखा तथा बादमें परस्परके मुखको देखा । [नयी उग्र होनेमे
लज्जावशा वे युवती तथा युवक सहसा एक दूसरेके मुखको नहीं देख सके, अत पहले
उद्देश्यहीन पदार्थोंको देखनेके बाद परस्परके मुखको देखा । उनका अभिप्राय यह रहा
कि—दूसरे को देख सके, समझें कि—ये दोनों अन्य पदार्थोंके समान ही परस्परमें एक दूसरेके
मुखको भी स्वभावत ही देखने से, अनुरागसे नहीं देखने] ॥ ७५ ॥

व्यधुस्तमा ते मृगमाससाधित रसादग्निवा मृदु तेमन मन ।

निशाधवोत्पदकुरङ्गचैरद पलै सपीयूषरसै किमप्रपि ? ॥ ७६ ॥

व्यधुस्तमामिति । ते अन्या, मृगमासेन हरिणमासेन, साधित निष्पादित, मृदु कोमल, तेमन व्यञ्जनम् 'तेमन व्यञ्जने बलेदे' इति हेमचन्द्र । रमात् रागात्, साग्रहमित्यर्थ, अक्षिप्वा आस्वाद्य, अद इद तेमन, निशाधवस्य निशापते इन्द्रे, हृत्पद्मे क्रोदे, य कुरङ्ग मृग, तज्जै तत्पद्मन्विमि, अत एव सपीयूषरसै अनृत्य वनित्रिणै पलै मामै, अथपि किम् अपाचि किम् ? पात्रार्थात् धाधातो प्यन्ताद् कर्मणि लुङ्, घटाक्षिप्वात् मिष्वात् इत्थ । इति मनो नति, व्यधुस्तमाम् अतिरूपेण विवधु इत्युपप्रेक्षितवस्तु इत्यर्थ । दधातेर्लुङि 'तिङश्च' इति तमपप्रत्यय, तन 'किनेत्तिङ्प्रत्ययधादा—' इति आमुप्रत्यय ॥ ७६ ॥

उन बरातियोने मृग-मासमे बनावे गये व्यञ्जनविशेषको खाकर 'यद् (व्यञ्जन) चन्द्रमाके क्रोडने रहने वाले हरिणके अमृतयुक्त मासमे पकाया गया है क्या ?' ऐसा मनने अच्छी तरह सोचा [यद्वापर 'अच्छी तरह सोचा ' ऐसा कहनेमे बरातियोंको अच्छी तरह सोचकर भी यद् निश्चय नहीं हो सका कि वास्तविकमें यह व्यञ्जन चन्द्रस्थ मृगमासमे बना है या अन्य मृगमासमे ?] अत एव उसका अधिकारम स्वादु होना सूचित होता है] ॥ ७६ ॥

परस्परारूढदूतकृत्ययोरनङ्गमारादधुमपि क्षण प्रति ।

निमेषेनेव कियच्चिरायुषा जनेषु यूनोरुदपादि निर्णय ॥ ७७ ॥

परस्परैति । परस्परस्य आकृतान् अभिप्रायावेदकनयनादिदेहाविशेषात्, ज्ञात निर्गुण, दूतकृत्य सम्भोगसम्मतिविययरुप्रश्नोत्तरपरिज्ञानरूप दौत्यकार्य ययो तादृशयो, सज्ञाभिरेव कृतसनागमनिश्चययोरित्यर्थ, यूनो कयोश्चित् तद्वदो स्त्रीपुंसयो, अनङ्ग कामम्, आराधु सेवितु, रन्तुमित्यर्थ, क्षण काल प्रति, निर्णयोर्ज्ञे निश्चयोऽपि, समागमकालनिर्दारणमपीत्यर्थ, जनेषु जनमध्ये एव, कियच्चिरायुषा किञ्चिद्दीर्घकालावस्थायिना, निमेषेनेव नयननिमीलनेन एव, साधारणनिमेषका लापेक्षया किञ्चिदधिककालव्यापिना नेत्रमुद्वग्नकरणेर्भेदेत्यर्थ, उदपादि उत्पन्न उप घटं कर्त्तरि लुट् 'चिण् ते पद' इति धिण् । एतेषु निद्रितेष्वेव जावयो समागम भवेत् इति कालनिश्चयोऽपि नेत्रनिमीलनरूपसत्येव कृत इति भाव ॥ ७७ ॥

परस्पर चेष्टाओंसे हा दूतकार्य (सम्भोग-वियक नम्ननि) को पूर्ण किये हुए किम् सुबक तथा सुवतीके कामागमन (सुरत) करनेके लिए सम्यक् प्रति निर्णय भी लोगोंके बीचमें कुछ विलम्ब नक किये गये निमेष (नेत्र बन्द करने) से ही हो गया । [उन दोनों सुबक तथा सुवतीने पहले परस्पर चेष्टाओंसे सम्भोग करनेका निर्णय बिना दूतके ही कर लिया और बादमें कुछ देरतक नेत्र बन्द करके सुरत-समयका भी निर्णय कर लिया क्योंकि लोगोंके बीचमें हा उक्त प्रकारसे कुछ देरतक नेत्र बन्द करनेसे यह सन्देह नर सिद्ध कि इन लोगोंके सो जानेपर हम दोनों सुरत करेंगे] ॥ ७७ ॥

अर्निशा वेति रताय पृच्छति क्रमोष्णशीतान्नकरार्पणात् विटे ।

ह्रिया विदग्धा किल तन्निषेधिनी न्यघत्त सन्ध्यामधुरेऽधरेऽद्भुलिम् ॥ ७८ ॥

अहरिति । विटे कस्मिंश्चित् कामुकं, क्रमेण पर्यायानुसारेण, उष्णशीतयो
अन्त्या भोज्यद्रव्ययो उपरि, करार्पणात् हस्तस्थापनात्, तत्रैवमद्वेनविशेषादिन्यर्थः,
रताय यमभोगाय, अहं सूर्यमभ्यर्कं उष्णोपलब्धिन दिनवा काल ? निशा वा चन्द्र-
मन्थकग शायोपलब्धिता निशा वा काल ? इति पुनः, पृच्छति जिज्ञासमाने सति,
विदग्धा चतुरा, तदभिप्रायामिदं न्यघत्तं, ह्रिया लज्जया, किल नत् कालद्रव्य, निषेधार्थं
तन्निषेधिनी तन्निषेधिका मनी, सन्ध्यामधुरे सन्ध्यावत् मनोहरे, सन्ध्याकगवर्गे
इत्यर्थः, अहरे ओष्ठे, अद्भुलि न्यघत्तं व्यापयामास, सन्ध्यामध्यांघरास्तरुणं आवयो
सन्ध्यासमये समागत इति सूचयामास इत्यर्थः । ह्रिया स्त्रीभिरुत्तया अधरमाच्छा-
यते इति प्रसिद्धम् ॥ ७८ ॥

‘रतिके लिए गिन वा रात्रिका समय—दोनोनें—से कौन ठीक होगा’ इस शब्दों के मध्य
गर्भ तथा उच्छेद अन्तर हाथ रखकर अनुकूल पूजने पर चतुर (उसके अभिप्रायको समझने
वाला) स्त्री लज्जाने उस दोनों समयोंका निषेध करनी शुरू सन्ध्याके समान मनोहर अर्थात्
अकालीन अन्तर पर अद्भुलिको रख दिया । [कामुकने उष्ण अन्तर हाथ रखकर दिनमें तथा
शीत अन्तर पर हाथ रखकर रात्रिमें—दोनोनें—में कौन—मा समय हमदोनोनें सम्भोगके
लिए अनुकूल होगा ? ऐसा पूछा तो उसके अभिप्रायको समझनेवाली उस चतुर स्त्रीने
दिन तथा रात्रि—दोनो समयमें क्रमशः सूर्य तथा चन्द्रमाका प्रकाश रहनेमें उन दोनों
समयोंका निषेध कर अकालीन अन्तर पर अद्भुलि रखकर सत्यकार उक्त सन्ध्याका एक
सम्मानके लिये मद्देनिय किया । लज्जित स्त्रीका अन्तर पर अद्भुलि रखना स्वभाव ही है ॥ ७८ ॥

(क्रमेण कूर स्पृशनाम्रमण पट तिताश्च शीताब्जचतुरेण वीक्षिता ।

द्वयो विदग्धाऽऽरुणितऽधरेऽद्भुलीमन्तां चर्त्ताचिन्तनार्तिस्मिता किल ॥ ७९ ॥)

क्रमेणेति । अयं श्लोक चैपक । कूर अकम् । मितः शर्कराम् । किमिदमनेना
मुच्यते क्रियते इत्यनौचित्यविन्मनेन विस्मिता किल विस्मितम् । अरगिते यावकंने-
त्यर्थः । भावः स एव ॥ ७९ ॥

क्रमशः गर्भं मातृत्वा उच्छेदं शरीरका स्पर्श करते हुए चतुर (कानी पुरुष) से देखी
गयी विदग्धा (परमावधानचतुरा स्त्री) ने अनुचितके विन्मने आनन्दित—स्त्री शीतं हृद
(अलम्कनं) लाल अन्तर पर अद्भुलिको रख दिया । [क्रमशः सूर्य तथा चन्द्रमाके प्रकाश-
मान दिन तथा रात्रिमें सम्भोग करनेके लिए विहित समयको मद्देनये पूछने पर विदग्धाने
‘यह क्या अनुचित अनवका मद्देन करके पूछ रहा है’ इस चिन्तामें लम्बी स्त्रीने अपने ओष्ठ

१ चैपकस्यास्य ‘जीवातु’ व्याख्यानभावात्समया ‘प्रकाश’ व्याख्यानत्र निहि तं
त्यवधेयम् । २. इयं किल ‘प्रकाश’ व्याख्या म० म० नारायणमहर्षेःत्यवधेयम् ।

पर अङ्गुलिको रत्नं दिय' । शेष भाव पूर्ववत् (१६।७८) जानना चाहिये] ॥ १ ॥

कियस्यजन्नोदनमानयन् कियत् करस्य पप्रच्छ गतागतेन याम् ।

अहं किमेप्यामि ? किमेप्यसीति ? सा व्यवत्त नम्र किल लज्जयाऽऽनम् ॥

कियदिति । कियत् किञ्चित्, ओदनम् अन्न, त्यजन् भोजनपात्रैकदेशे अपमारम् कियत् किञ्चित् ओदनम्, आनयन् तत्रैव स्वयं प्रति आकर्षन्, पूर्वोक्तं विट् इति शेष, करस्य पाणे, गतागतेन ओदनस्यापसारणार्थमाकर्षणार्थञ्च यातायाताभ्याम् 'विप्रतिपिद्धज्ञानधिकरणवाचि' इति चैमापिको द्वन्द्वे एकवद्भावः । किम् अपि एप्यामि ? त्वां प्रति इति शेष, किं एप्यसि वा ? स्व मां प्रति इति शेष, इति स तरणी, पप्रच्छ जिज्ञासयामास, सा स्त्री, लज्जया किल किलेत्यलीकं, वस्तुतः तत्राज्ञासितोत्तरदानार्थमेव इति भावः । आनयन् मुखं, नम्रम् अवनतं, व्यवत्त कृतवती शिरोऽवनतिसङ्ख्या त्वमेव मां प्रति आगच्छ इति सूचितवती इति भावः ॥ ७९ ॥

(सम्मोगकालका निर्णय (१६।७८) करनेके बाद) कुछ मातको छोड़ता (गार्हो और दूर फैलता) हुआ तथा कुछ मातको खींचता (अपने समीप लाता) हुआ हाथों गमनागम (कनका सकेत) से 'मैं आऊंगा ?' या 'तुम आबोगी ?' ऐसा जिस (दुबले) से पूछा, उसने मानो लज्जासे मुखको नीचा कर दिया । [मातको हटाने से 'मैं तुम्हारे पास आऊँ क्या ?' ऐसा तथा मातको समीप करवाने 'तुम मेरे पास आबोगी क्या ?' ऐसा सुबकन सकेतकर जिस सुबकोसे पूछा, उसने दूसरोंकी दृष्टिमें रुज्जिज होकर मुख नीचा कर दिया, किन्तु वास्तविकमें मुखको नीचेकर अपने चरणोंकी ओर देखती हुई उसने मने किया कि 'तुम्हारे आकर मेरे चरणोंपर गिरो, मैं तुम्हारे पास नहीं आऊँगा अपना—नहीं ही आऊँगी' ऐसा सकेत किया । लोकमें भी किमीसे 'यह काम कौन करेगा ?' ऐसा पूछने पर अपने मुखको नीचा करके 'मैं करूँगा' ऐसा सकेत करते देखा जाना है] ॥ ७९ ॥

यथाऽऽमिपे जग्मुरनामिपभ्रमं निरामिपे चामिपमोहमूहिरे ।

तथा द्विदग्धे परिकर्मनिर्मित विचित्रमेव परिहस्य भोजिता ॥८०॥

यथेति । एते जन्वा, यथा येन प्रकारेण, आमिपे मासे अनामिपम् अमासन् इति भ्रम भ्रान्ति, जग्मु प्राप्नुवन्ति यथा च निरामिपे अनामिपे, आमिपमोह मासभ्रमश्च, ऊहिरे प्राप्नुवन्ति स्म, तथा तेन प्रकारेण, विदग्धः परिहासनिपुणः, पाचकैरिति शेष, परिकर्मणा तत्तद्भोज्यसस्कारकद्रव्यविशेषेण, निर्मित निष्पादितम्, अत एव विचित्रम् आश्चर्यं, भोज्यवस्तु इति शेष, परिहस्य आमिपदानकाले च निरामिपपरिवेषणरूप, निरामिपदानकाले च आमिपपरिवेषणरूप परिहास कृत्वा, भोजिता भोजन कारिता ॥ ८० ॥

१ 'परिहास्य' इति पाठान्तरम् । २ अत्र म० म० शिवदत्तशर्माण — 'इदं तु 'ऊहवितर्क' इत्यस्य 'ऊहाश्चकिरे' इति 'प्रयोगादुपेक्ष्यम्' इति सुखावबोधः । तथा च 'यहन्ति स्म' इति जीवात् । 'प्राप्नु' इति सुखावबोधाया व्याख्यातम् ।

वरातिथीने जिस प्रकार माससे बने पदार्थमें बिना नासके बने पदार्थका भ्रम किया और जना मासके बने पदार्थमें मासने बने पदार्थका भ्रम किया, उस प्रकार चतुर रसोद्भयो (राजको) ने इन्हें (इन वरातिथीको) साधन द्रव्योंमें तेयार किये गये विचित्र मन्त्रको परिशाम-र अर्थात् निरामिष वस्तु परोसनेके समय सामिष भोजन परोसकर तथा सामिष मानन परोसनेके समय निरामिष भोजन परोसकर (पाठा०—हँसा-हँसाकर) भोजन कराया ॥८०॥

नखेन कृत्वाऽधरसंज्ञिभा निमाद्युया मृदुव्यञ्जनमासफालिकम् ।

ददश दन्तैः प्रशशम तद्वत्स विहस्य पश्यन् परिवेषिकाऽधरम् ॥८१॥

नखेनेति । पुष्पा कश्चिद् तरुणं मृदो कमलम्, व्यञ्जनमामस्य तेमनीभूत-मासस्य, फालिका खण्डिका निभात् मङ्गलग्नायात्, नखेन नखरद्वारा, सन्निद्ध-ति भाव, अधरसंज्ञिभा परिवेषिकाधराकारा, कृत्वा विधाय, परिवेषिकाया भोज्य-दाया, अधर निम्नोष्ठ, पश्यन् अवलोक्य, विहस्य हसितया, दन्तैः ददश दृष्टवान्, एष रस स्वाद, प्रशशम अहो अमृतकर्षमिति तुष्टाच्च चेत्यर्थः, तदधराद्युद्धा इति शब्दः ॥ ८१ ॥

किसी पुष्पके कोमल व्यञ्जन बने हुए मास-खण्डको खानेके छलमे नखमें (काटकर, रोमनेवाली लोको) अधरके समान (कह्ये वहाँ होनेसे पहलेमे ही अधराकार रहनेपर भी खाने रोजाशुक्त अधराकार) करके, परोमनेवाली (स्त्री) के अधरकी देखना हुआ नैसर्गिक अधराकार उम मासखण्डकी) दोनोंते काटा और उसके रस (मधुरता) की प्रशंसा की । तुम्हारे अमृतरस भरे अधरकी काटना हूँ ऐसा सवेन करते हुए उम मास-खण्डमें उनके अधरका आरोपकर उसे काटा और उस स्त्रीमे उमकी मधुरताका प्रशंसाकर अपने आश्चर्यको बत किया] ॥ ८१ ॥

अनेकमयोजनया तदा कृत निकृत्य निगिप्य च साहगर्जनान् ।

अमी कृताकालिकवस्तुविस्मय नना बहु व्यञ्जनमभ्यसाहरन् ॥ ८२॥

अनेकेति । तदा भोजनकाले, अमी जना भोक्ता, अनेकेषां बहूनां मस्कारक श्रवणाः सयोजनया मेलनेन, तथा निकृत्य छित्त्वा, निगिप्य पिष्ट्वा च भजनात् तत्पश्चात्तरमादरयसम्पादनात् हेतोः, सादक् सादक, विचित्रमित्यर्थः, कृत निष्पादित, तथा (तथा) कृत सम्पादित, आकालिकेषु अकालभेषु, तत्कालदुर्लभेषु इत्यर्थः, इत्युप पदार्थेषु, विस्मय अद्भुतता येन तत् सादक, बहु अनेक व्यञ्जन साकमासा देखम्, अभ्यवाहरन् अभुञ्जत ॥ ८२ ॥

उस (भोजनके) समयमें इन लोगों (वरातिथी) ने अनेक (मिर्च लाग आदि दार्थी) के सयोगमे तथा काटकर (छोट-छटे टुकड़ेकर) और पिसकर धूमे वस्तुओं की समानता प्राप्त करनेवाले बहुतमे व्यञ्जनोंको भोजन किया ॥ ८२ ॥

१ 'संज्ञिभा पुष्पा द्विधा मृदु' इति पाठान्तरम् । २ 'तथाकृते' इति पाठान्तरम् ।

पिपासुरस्मीति विबोधिता मुख निरीक्ष्य बाला सुहितेन वारिणा ।

पुन करे कर्तुं मना गलन्तिका हसात् सखीना सहसा न्यवर्त्तत ॥ ८३ ॥

पिपासुरिति । वारिणा जलेन, सुहितेन तृप्तेन इत्यर्थः । सौहित्य तर्पण वृत्ति इत्यमरः । शेषार्थे पद्ये 'पूरणगुण—' इत्यादिना समासनिषेधः । केनचित्, यूना इति शेषः । मुख बालिकाया वदन, निरीक्ष्य अवलोक्य, पिपासु पातुम् इच्छुः, अस्मि भवामि,—इति विबोधिता विज्ञापिता, बाला तरुणी, निगूढाभिप्रायपरिज्ञानमूढा काचिदप्रोदा इति भावः । पुन गलन्तिका कर्करी, जलदानपात्रमित्यर्थः 'कर्कर्यालु गलन्तिका' इत्यमरः । करे हस्ते, कर्तुं मना चतुर्कामा सती 'पृषोदरादीनि' इत्यादौ 'तुक्काममनसोरपि' इति कारिकातोमशरलोपः । सखीना सहचरीणा, हसात् हास्यात्, 'स्वनहसोश्च' इति विकल्पादप्यप्रत्ययः । सहसा सपदि, न्यवर्त्तत निवृत्ता जलेन तृप्तस्याप्यस्य कर्मविशेषमनुपादाय केवल 'पिपासुरस्मि' इति कथनेन बालिकाया अस्या अधरमेव पिपासुरयमिति तद्वाक्यतात्पर्यमवधार्य सखीना हास्यात् बाला तद्वाक्य परिज्ञाय जलपरिवषगच्छापाशग्निवृत्तेति भावः ॥ ८३ ॥

पानासे तृप्त हुए (निशी युवक) के 'मे प्यासा हू' ऐसा मुख देखकर कहनेपर हाथमें हारी (जलपात्र) को उठाकेही इच्छा करती हुई बाला सखियोंके हसनेमें दमस्क रहन गई । [पानी पीकर तृप्त युवकके उस मुग्धाके मुखको देखकर 'मे तुम्हारे अधरका प्यासा हू' [] आशयसे 'मे प्यासा हू' ऐसा कहनेपर उसका गूढाभिप्रायकी नहीं ममसनी हुई जब पिलानेवाली मुग्धा (अपरिपक्व बुद्धिवाली स्त्री) ने पानी पिलानेके लिए पुन हाथमें हारी (पानाके बर्तन) को लेना चाहा, हसनेमें उस युवकके परिहामपूर्ण गूढाभिप्रायको समझनेवाली प्रोढ़ा सखियोंने हस दिया और वह मुग्धा भी उनकी हसना देखकर सोकर जाग हुए के ममान उस युवकके परिहामपूर्ण गूढाभिप्रायको समझकर हट कर गयी] ॥ ८३ ॥

युना समादित्सुरमग्न घृत विलोक्य तत्रेणदृशोऽनुविम्बनम् ।

चकार तन्नीप्रतिनिर्गितं कर बभूव तच्च स्फुटकण्टकोत्करम् ॥ ८४ ॥

युवेति । युवा कश्चित्तरण, अमत्रग पात्रगतम् 'सर्वमाशयन भाण्ड पात्रामत्रा भाननम्' इत्यमरः । घृत समादित्सु ग्रहीतुमिच्छुः सन् ददाते सन्नन्तादुप्रत्ययः, 'सनि मामा—' इत्यादिना हसादेशे अभ्यासलोपः । तत्र घृते, एणश्च मृगाध्या, परिवविन्नाया इति शेषः । अनुविम्बन प्रतिविम्ब, विलोक्य दृष्ट्वा, कर स्वकीयहस्त, तस्य स्त्रीप्रतिविम्बस्य, नोभ्या कटिवस्त्रग्रन्थने, निवेक्षित स्थापित, चकार कृतवान्, तत् प्रतिविम्बश्च, स्फुट व्यक्त, कण्टकोत्कर पुलकप्रस्तर यस्य तादृश, बभूव मञ्जातम् स्वीयतीव्रप्रन्थिमोचनाभिप्रायप्रकटनार्थं स्वप्रतिविम्बनीविसन्धि तदीयकरार्पण

दृष्ट्वा तस्य स्वसम्भोगाभिप्राय परिज्ञाय तस्मिन्ननुरागात् सा पुलकिता अभूत् तत एव तत्प्रतिबिम्बमपि पुलकिन बभूवेति भाव ॥ ८४ ॥

पावम्भ घृतको ग्रहण करनेको इच्छुक किसी युवकने उममें (परोमनेवाली) मृगनयनी के प्रतिबिम्बको देखकर उम (प्रतिबिम्ब) के नीची (नाभिके नाचेकी बलप्रस्थि) के नीचे हाथको रख दिया और वह प्रतिबिम्ब स्पष्ट रोमाञ्चयुक्त हो गया । [उम युवकके प्रतिबिम्बिन नीचीमें हाथको रखनेपर वह मृगनयनी उम युवकके अनुरागको समझकर स्वयं भी अनुरागयुक्त होनेसे रोमाञ्चि हो गयी और उमका रोमाञ्चिन देख घृतमें प्रतिबिम्ब होनेसे वह प्रतिबिम्ब भी रोमाञ्चयुक्त हो गया] ॥ ८४ ॥

प्रलेहजस्नेहकृतानुबिम्बना चुचुम्ब काऽपि भितभोजनस्थल ।

मुहुः परिसृश्य कराङ्गुलीमुखेस्ततोऽनुरक्तै र्वमवापितैर्मुखम् ॥ ८५ ॥

प्रलेहजेति । काऽपि युवा, भितभोजनस्थल प्राप्तभोजनप्रदेश सन् , प्रलेहन स्नेहे लेहद्रव्यजातस्नेहमे, कृतानुबिम्बना प्राप्तप्रतिबिम्बा, प्रतिबिम्बितामित्यर्थं परिवेपिकाम् इति शेष । मुहुः बार बार, परिसृश्य स्पृष्ट्वा, अङ्गुल्यग्नैरिति भाव । तत स्पर्शात् अनन्तर, इति निज, मुखम् आश्रयम्, अवापितं प्रापितं, चुम्बितं इत्यर्थ । अत एव अनुरक्तै उष्णस्पर्शात् स्वभावाद्वाभारक्तै स्निग्धैरिति च गम्यते कराङ्गुलीमुखे हस्ताङ्गुल्यग्नै, चुचुम्ब चुम्बितवान् प्रतिबिम्बिता तामिति शेष । मुहुः लेहलेहनायाजेन मममुखस्थपरिवेपिकाप्रतिबिम्बासुस्पृष्टाङ्गुलिमुपचुम्बनात् एव तत्प्रतिबिम्बचुम्बनान् मुखम् अन्वभूत्, ता प्रति अनुरागमदर्शयच्च इति भाव ॥ ८५ ॥

किमी (युवक) ने भोजन-स्थलपर जाकर प्रलेह (चटनी आदि) के स्नेह (तेल या घृत) में प्रतिबिम्बिन (परोमनेवाली स्त्रीको, उस प्रलेह पदार्थको छूपायामे या स्वभावमे ही) ग्रहणकर्ता (पक्ष-—अनुरागयुक्त) तथा अपने मुखमें टाळे गये हाथकी अङ्गुलियोंके अगले भागमें बार-बार स्पर्शकर अनुरागमे ही चुम्बन किया क्या ? (अथवा—किसी युवकने प्रलेहके स्नेहमें प्रतिबिम्बिन (परोमनेवाली स्त्री) का मोननका बहाना करता हुआ अपने मुखमें टाळे गये, रक्तवर्ण (या—मानुराग) हस्ताङ्गुल्यग्नमे बार-बार स्पर्शकर अनुरागमे चूम लिया क्या ? । 'रिक्तै' पाठमें—उम (प्रलेह पराग्ने रहिन तथा मुखमें टाळे गये हस्ताङ्गुल्यमे चूम लिया । [त वह युवक चटनी आदि लेह पदार्थमें छाने गये अधिक घृत या तैलमे परोमनेवाली स्त्रीके प्रतिबिम्बको अङ्गुल्यग्नसे छूटा है, और उस लेह द्रव्यके चलायामे प्रतिबिम्बके नष्ट होनेके भयमे चटनेके बहानेमे बार-बार अङ्गुल्यग्न को चूमता है । हमका साराश यह है कि उम स्त्रीके प्रतिबिम्बको छूकर अङ्गुलिको

१ '—घृता—' इति पाठान्तरम् ।

२ '—च्छद' इति पाठान्तरम् ।

३ 'ततोऽनु रिक्तै' इति पाठान्तरम् ।

मुखमें बाण्वर चूमनेसे उस स्त्रीको चूमनेका आनन्द पाने हुए युवकने अपने अनुरागको उस स्त्रीमे प्रकट किया] ॥ ८५ ॥

अराधि यन्मोनमृगाजपत्रिजैः पलैर्मृदु स्वादु सुगन्धि तेमनम् ।

अशाकि लोकैः कुन एव जेमि तु ? न तत्तु सद्गुणायुमपि स्म शक्यते ॥ ८६ ॥

अराधीति । मीना मत्स्या , मृगा शशादयः , अजा छागा , पत्रिण पक्षिण चट्टादयः , सेभ्य जातै तत्सम्बन्धिभिः , पलै मासै । 'पलमुन्मानमासयो' इति मेदिनी । मृदु कोमल , स्वादु रसवत् , सुगन्धि सुरभिः , यत् तेमनः , व्यञ्जनम् , अराधि अपाचिः , निष्पादितमित्यर्थः तत् तेमनः , लोकै भोक्त्वज्ञे , सद्गुणायु बहुमात्रं गणयितुम् अपि , न शक्यते स्म न समर्थ्यते स्म , पुनः , जेमि तुम् अशिशुः , कुत एव कथं वा , अशाकि ? शक्यतैरभानि ? बहुलत्वादिति भावः । 'पाके राध्यते रध्यति जेमत्यति चमनी'ति भट्टमवल ॥ ८६ ॥

मछली , मृग (हिरण या—सरगोश आदि पशु) , छाग और पक्षी (तित्तिर , हावा बटेर , बत्तख आदि) के मासोंसे कोमल , स्वादिष्ट और सुगन्धयुक्त जिन व्यञ्जनोंको (पाचकोंसे) पकाया , उनको (खाने या देखनेवाले) लोग गणना करने (गिनने) में भी समर्थ नहीं हुए तो खानेमें कैसे समर्थ होने ? ॥ ८६ ॥

कृतार्थनश्चाद्भिरिङ्गितैः पुरा परासि यः किञ्चन कुञ्चितभ्रुवा ।

क्षिपन् मुखे भोजनलीलयाऽद्भुली पुनः प्रसन्नाननयाऽन्वकम्पितः ॥

कृतेति । चाद्भि अनुनयसूचकैरित्यर्थः । इङ्गितैः नयनादिचेष्टितैः , कृतार्थन कृतसम्भोगप्रार्थन , य युवा , किञ्चन किञ्चित् कुञ्चित् कुञ्चितभ्रुवा कुटिलभ्रुवा , कृतभ्रुवुदया इत्यर्थः । क्षिप्या इति शेषः , पुरा पूर्वं , पर्यहारिः , प्रत्याख्यान इत्यर्थः , स युवा , भोजनलीलया भोजन-यापारेण , तद्व्याजेन इत्यर्थः । मुखे अद्भुली तत्प्रतिविम्बस्पृष्टाद्भुलीरित्यर्थः , क्षिपन् स्थापयन् , प्रतिविम्बस्पृष्टाद्भुलाक्षुब्धनव्याजेन तामेव युवयसिति भावः , प्रमद्वाननया तदनुरागदर्शनेन सानुरागदर्शनाविष्यन्तितप्रमदमुग्रा तथा , पुनः अन्वकम्पि अनुकम्पितः , तद्व्याकुलतादर्शनेन सम्भोगप्रार्थनं तथा स्वीकृतमिति भावः ॥ ८७ ॥

विनय सूचक नेत्रादि व्यापारों (या—प्रिय वचनों तथा अञ्जलिबन्धन आदि चेष्टाओं) से प्रायना (सम्भोगार्थ याचना) करनेवाले जिस युवकको पहले (कोप या अनादरसे) थोड़ा झुठटिको टेढ़ा करनेवाली स्त्रीने निरस्त कर दिया , भोजनके कष्टसे मुखमें (उस स्त्रीके प्रतिविम्बका स्पर्श कर) अगुलि डालने हुए उस (युवक) को प्रमदप्रमुखी उस स्त्रीने अनुकम्पित कर दिया । [उसके अनुरागजन्य व्याकुलताको देखकर प्रसन्न हुए उस स्त्रीने सम्भोग करना स्वीकार कर लिया] ॥ ८७ ॥

अकारि नीहारनिभ प्रमञ्जनादधूपि यचागुरुसारदारुभि ।

निपीय भृङ्गारकसङ्गि तच्च तैरवणि वारि प्रतिवारमीदृशम् ॥ ८८ ॥

अकारीति । यत् वारि जल, प्रमञ्जनात् वायो, वायुसञ्चालनात् इत्यर्थः । 'श्वपन स्पर्शानो वायुर्मातस्त्रिधा सदागति । नभस्वद्वातपवनपवमानप्रमञ्जना ॥' इत्यमरः । नीहारनिभ हिमकल्प, तद्वत् शीतलम् इत्यर्थः । अकारि कृत, तथा अगुरो ह्वागागुरुचस्य, सारदारुभि अभ्यन्तरस्थितोत्कृष्टसुगन्धिकाष्टे, धूपकाष्टैरिति यावत्, अधूपि धूपितञ्च, वासितञ्च इत्यर्थः । भृङ्गारकमङ्गि छुद्रकनकालुकान्नर्गतं, स्वर्णमय-जलपात्रविशेषस्थितमित्यर्थः । 'भृङ्गार कनकालुका' इत्यमरः । तत् पूर्वोक्त वारि, निपीय पीत्वा, प्रतिवार प्रतिपानकाल, तै पातुभि, ईदृश वच्यमानरूपम्, अवर्णि वर्णितम् ॥ ८८ ॥

जिम पानीको वायुमे बर्फके समान ठण्डा किया गया था और अगवके सारभूत (मध्य-मागन्ध) लकड़ीमे धूपित (धूप देकर सुगन्धित) किया गया था, (नारातियोंने सुवर्ण दिक्के) नारी (जन्पात्र—हयहर या गद्दासागरने) रखे मये उन पानीको बहार (भाजन शालाने, या रात्रा भीमके महलमें) बार-बार अच्छी तरह पीकर (अथवा—पीकर बार-बार) इन प्रकार (१६।८९) वर्णित किया ॥ ८८ ॥

त्वया त्रिधातर्यदकारि अमृत कृतञ्च यज्जीवनमभ्यु साधु तत् ।

वृधेदमारम्भि तु सर्वतोमुख तथोचित कर्तुमिद-पिबस्त्व ॥ ८९ ॥

त्वयेति । विधातु 'हे सृष्टे', त्वया भवता, अमृतं जलं यत् अमृतम् अमृत-नामकं तथा जीवन जीवनमशकञ्च, यत् अकारि कृतं तत् उभय कर्म साधु सम्यक्, सार्थकमित्यर्थः, कृतं विहितम्, अमृतोऽमृततुल्यरसत्वात् जीवनाधायकत्वाच्च तादृशमज्ञाद्वय सार्थकमेवेति भावः । तु किन्तु, इदम् अमृतं, सर्वत सर्वदिक्षु मुखानि प्रवाहरूपवन्नागि यस्य तत् सर्वतोमुख सर्वतोमुखमिति सज्ञाविशिष्टम् इत्यर्थः । 'नाप छी भूमिं वावारि सलिल कमल जलम् । कवन्धमुद्रक पाथ पुष्कर सर्वतो मुखम् इत्यमरः । वृधैव निरर्थकमेव, आरम्भि अकारि, पेयस्य मुखवैयर्थ्यादिति भावः । अतः अस्य अमृतं, पिबतीति इदपि जलपायी अस्मदादि । 'पात्राध्मा-धेदृददा श' इति शप्रत्ययः । तथा सर्वत सर्वस्थाने मुखानि यस्य स सर्वतोमुख इत्तु' विधातुम् इत्यर्थः, तद्य ठचित योग्य, जलपायिना बहुमुखसत्त्वे आहृति जलपान सम्भवति न त्वेकमुखेनेति तेषामेव सर्वतोमुखमाविनाया औचित्यादिति भावः ॥ ८९ ॥

हे ब्रह्मन् । तुमने पानीको जो 'अमृत' तथा 'जीवन' दनाया अर्थात् 'अमृत' तथा 'जीवन' नाम रखी, (अमृतवत् मधुर एवं जीवनरक्षक होनेसे) वह ठीक किया, किन्तु 'सर्वतोमुख' (सब ओर मुखवाला) यह नाम व्यर्थमें रक्खा, क्योंकि इन (पानी) को पीनेवाले हम लोगोंको वैसा करना ('सर्वतोमुख' एक मुखके स्थानमें सब ओर मुख

(वनाना) उचिन था अर्थात् यदि पानीको 'सर्वनोमुख' (सब ओर मुखवाला) नाम न रखकर इस पानीको पीनेवाले हमन्गोयोको सर्वनोमुख (सब ओर मुखवाला) करते तो अत्यन्त मधुर एवं शीतल जलको अनेक मुखोंसे हमलोग पाकर अनिश्चय हुए होने, किन्तु आपने हमन्गोयोका सर्वनोमुख न बनाकर पानीको जो सर्वतोमुख बताया वह अर्थ ही रहा] ॥ ८९ ॥

सरोजकोशाभिनयेन पाणिना स्थितेऽपि कूरे मुहुरेव याचते ।

सखि ! त्वमस्मै वितर त्वमित्युमे मिथो नैवावाहदतु किलोदनम् ॥९०॥

सरोजेति । कूरे ओढ़ने स्थितेऽपि भोजनपात्रे अन्ने विद्यमानेऽपीत्यर्थ, अथ कूर भक्षमन्नमोदनमिस्सा' इति हलायुध । सरोजकोशस्य कमलमुकुटस्य, अभिनय अनुकरण पक्ष्य तादृशेन कमलमुकुलानुकारिणा तदीयलुचप्रहणाभिलाषव्यञ्जनेन इत्यर्थ, पाणिना करेण, मुहु पुन पुन एवं, याचते कूर याचमानाय, यूने इति शेष, याचेरन्नपदित्वात् शतृप्रत्यय । हे सखि ! त्वम् अस्मै याचमानाय, वितर कूर द्वेष्टि, द्वितीया आह—त्व वितर, इति एव रूपेण, उमे द्वे, खियौ इति शेष । मिथ परस्पर, वादात् विवादात्, ओढ़न भक्ष न ददतु न परिविविषतु, किल यत्तु तस्य जनहासकरव्यापार विलोच्य कौतुकवशात् न काऽपि तत्प्रार्थितमज्ञाचकारेति भावः ॥

(थालमें) भान रहनेपर भी कमलकोपाकार हाथमें फिर भी आलको मांगने हुए (युवक) के लिए 'हे सखि ! तुम इसके लिए भान दो' (अथवा—'हे सखि ! (थालमें) भान रहनेपर भी कमलकोपाकार हाथ बनाकर बार-बार भान मांगने हुए इस (युवक) के लिए भान दो') ऐसा प्रथमा सखीके कहनेपर 'तुम दो' इस प्रकार वेते (परस्परके) विवाद (पाठा०—एक दूसरेके वागको दुहराने) से दोनों (—दोनों किमी सखी) ने भान नष्ट दिया । [कमलकोपाकार हाथ करके युवकके द्वारा भानके बहानेसे स्नानमदनरूप सम्मोगको याचना करनेपर जनहासकारक लज्जावश इच्छा होनेपर भी किमीने भी उसकी प्रार्थनाको स्वीकार नहीं किया] ॥ ९० ॥

इय किदच्चारुकुचेति पश्यते पय प्रदाया हृदय समावृतम् ।

ध्रुव मनोज्ञा व्यतरद्यदुत्तर मिपेण भृङ्गारघृते करद्वयी ॥ ९१ ॥

इयमिति । इयम् एषा स्त्री, कियन्ती कियरिमाणको, चारु मनोहरी, पीनी इति यावत्, कुचौ स्तनौ यस्या सा तादृशी, इति एव, विचार्य इति शेष, पय प्रददातीति पय प्रदा तस्या जलदायिन्या, समावृत वस्त्राच्छादित, हृदय वक्षः, [कर्म] पश्यते अवलोक्यते, कुचपरिमाण जिज्ञासमानाय विटाय इत्यर्थ करद्वयी तस्या पाणियुगली, भृङ्गारघृते स्वर्णमयजलपात्रधारणस्य, मिपेण व्याजेन, भृङ्गारप्रहणच्छेनेत्यर्थ, यत् उचरम् एतद्भृङ्गारपरिमाण कुचद्वयम् इत्वेवरूपम् उत्तर व्यतरत्

अददात्, तेन भ्रुव निश्चित, मनोज्ञा चित्तज्ञा, पराभिप्रायज्ञा इत्यर्थ, करद्वयीति शेष । पराशयज्ञत्वस्य प्रश्नोत्तरदानस्य च चेतनघर्मतया अचेतने करद्वये तदुप्रेक्षणादुप्रेक्षालङ्कार ॥ ९१ ॥

‘कितने सुन्दर स्नानोवाली यह स्त्री है’, ऐसा (विचारकर) पाना परोसनेवाली स्त्रीके लकी हुई छानीको देखते हुए युवकके लिए (उस स्त्रीके) दोनों हाथोंने (सोनेकी) घारी (जलपात्र) के एकड़नेके बहानेने जो उत्तर (इस क्षारीके समान गोरवर्ण तथा इनने हा बटे स्नान हैं’ ऐसा उत्तर) दिया, व दोनों हाथ मानो मनोगु (सुन्दर, पक्षा०—ठमरेके मनोगत भावको जाननेवाले) हैं । [बहाने लके हुए स्नानोकी सुन्दरता देखनेके एकदुक युवकको उसका आशय समझकर सुवर्णमय जलपात्रको दोनों हाथोंमें लेकर युवतीने उन स्नानोकी सुन्दरता तथा विशालता बगल दा । लोकव्यवहारमें भी किसीके सकैतिन पूराशय को समझनेवाला व्यक्ति बिना स्पष्ट बड़े गूढ़ सकेतने ही उसका प्रत्युत्तर दे देता है] ॥ ९१ ॥

अमीभिराकण्ठमभोजि तद्गृहे तुषारधारासृजिते शर्करा ।

वाहद्विपद्वक्त्रयणीपयं सुत सुधाहृदात् पङ्कमिवोद्धत वधि ॥ ९० ॥

अमीभिरिति । अमीभि जन्म, तद्गृहे भीमभवने, तुषारधारया दिनधारया, मृदिता मर्दिता, शर्करा खण्डविकार इव रुद्धत स्वादु शुभ्रेष्वेवार्थ । ‘शर्करा खण्डविकृतौ’ इति हेम । सुधाहृदात् अमृतहृदात्, उद्धतम् उत्तालित, पङ्क कर्दमम्, अमृतकर्दमम् इव स्थितम् इत्युपेक्षा । वाह हय, द्विपङ्गी विरूपङ्गी, महिपो इत्यर्थ, ‘लुलापो महिपो वाहद्विपङ्कासरसैरिभा’ इत्यमर । ‘स्त्रिया पुवत्’ इत्यादिमा पुवद्भाष । सा च सा वक्त्रयणी चिरप्रसृता, ‘चिरप्रसृता वक्त्रयणी’ इत्यमर । तस्या पयस क्षीरान्मृतम् उत्पादित, क्षुणोते कर्मणि क् । वधि दुर्गविचार आकण्ठम् अभोजि भुक्तम् ॥ ९२ ॥

इन (बरातिर्यो) ने उस (राजा भीम) के घरमें तुषार (बर्फ) की धारामें मर्दित शर्करके समान तथा अमृत-सरोवरसे निकाले गये पङ्कके समान, बकेन (बहुत दिनोंका व्यापी हुई) मैसके दूधमें बने दहीको कण्ठ तक (अच्छी तरह पेट भरकर) भोजन किया । (अथवा— तुषार-धारामें मर्दित शर्करको तथा अमृत— बने दहीको) । ‘पयःशूनम्’ पाठा०—उक्तं शुण निशिष्ट शर्करा तथा बकेन मैसके पङ्के हुए तम दूध और अमृत-सरोवरसे निकाले गये पङ्कके समान (स्वादिष्टतम एव गाढ) (दहीको) । [तुषार-धारामर्दित होनेमें अत्यधिक शीतल तथा शुक्लवर्ण और अमृत सरोवरोद्धृत पङ्कसदृश होनेसे अधिक स्वादिष्ट और गाढ दहीका होना सूचित होता है । बकेन मैसके दूध-दहीका मधुरतम तथा अधिक गाढ होना तथा उसे शर्कर (घूरे) के साथ भोजन करना लोकप्रसिद्ध है] ॥ ९२ ॥

१ ‘हय-’ इति पाठान्तरम् । २ ‘-वय सुतम्’ इति, ‘-पयः शूनम्’ इति च पाठान्तरे

नन्तरन्त सुपिरस्य बिन्दुभिः करम्बित कल्पयता जगन्कृता ।

इतस्ततः स्पष्टमचोरि भायिना निरीक्ष्य तृष्णाचलजिह्वामृता ॥६३॥

नदिति । निरीक्ष्य दृष्ट्वा, स्पष्टगदौ स्वस्पष्टदधि इति भावः । तृष्णाया स्तब्धता, दधिभोजनवामनया इत्यर्थः । चला चञ्चला, अधरप्रान्तलेहिनां जललाविगी चेति भावः । जिह्वा यस्य तस्य भावस्तत्ता, विनसि धारयतीति तद्भृता तद्वारिणः, द्रष्टुं श्रेयस्त्वर्थः । अत एव भायिना स्वचापस्यवज्जनाचतुरेण, अथवा, दर्शकलोकाणां दृष्टिवज्जनाचतुरेण, जगत्कृता स्रष्टा, तत् दधि, अन्तरन्त मध्ये मध्ये, सुपिरस्य । जातावत्त्वचनम् । सुपिराणां, द्विद्रागमित्यर्थः । बिन्दुभिः मण्डलैः, करम्बित मिथित, कल्पयता रचयता, तद्दधि वस्तुलक्षिद्रपुङ्क्त कुर्वता सता इत्यर्थः । इतस्ततः सर्वप्रदेशेभ्यः, स्पष्टव्यक्तम्, अचोरि चोरितमिव, तद्दधि इति शेषः । मयेनदुग्धे दधिरूपेण परिणते तत्र द्विद्रागि दृश्यन्ते, तच्चोपेक्षयते यत् ब्रह्मणा लोकचक्षुरगोचरतया इतस्ततो दधिस्यसाराशो भोक्तुमिच्छयाऽप्यहत्, अन्यथा कथमितस्ततस्तत्र द्विद्रागि दृश्यन्ते इति ब्रह्मणोऽपि आकर्षकमाहिपदधि किमुताम्येषामिति भावः । स्पष्टमित्युपेक्षायाम् ॥ ९३ ॥

(रचनाके समयमें) उस (दही) को देखकर तृष्णा (दहीको खानेकी स्पृहा) से चञ्चल जिह्वावाले नायावी (दूमरोंका दृष्टि बचाकर दहीके बीच-बीचसे सार भागको लेनेमें अनिश्चय चतर) मझाने बीच-बीचमें छिद्रोंकी बिन्दुओंमें युक्त उस (दही) को बनाते हुए शर-उभरते अथात् स्रज्जते चुरा-सा लिया है । [ब्रह्मा जब दहीकी रचना कर रहे थे, तब उसे देखकर उन्हें भी खाने की बलवता इच्छा हो गयी और वे अपना इच्छाको नष्ट राख सकनेके कारण उसके बीच-बीचमेंसे छेद करके दहीके उदने भागको निकाल लिया, ऐसा मानूस पटना है, इसी कारण हम दहीके बीच-बीचमें छिद्र दृष्टिगोचर हो रहे हैं । दहाका मझाने स्वयं बनाया, उने वे बट बूट होते हुए भी तृष्णायुक्त हो नायाचारिद्रावें चुरा लिये, इसीमें उसके अत्यधिक उचित ही है । स्वादिष्ट होनेका अनुमान होना है । अतः उस दहीकी दातानिर्मोने कण्टक खाया । केनयुक्त तर्मे दूधका जमानेपर उसके बीच-बीचमें बहुतमें छिद्र हो जाते हैं, ऐसा निदम है] ॥ ९३ ॥

ददासि मे तन्न रुच्येदास्पदं न यत्र रागं सितयाऽपि किं तथा ।

इतीरिणे बिम्बफलरुचिच्छलाददायि बिम्बाधरयाऽरुचच्च तत् ॥९४॥

ददासीति । यत्, द्रव्यमिति शेषः । रुचे लमिलापस्य, आस्पदं पात्र, विषया भूतमित्यर्थः । तत् मे महा, न ददासि न यच्छसि, यत्र यस्मिन् द्रव्ये, रागं अनु रागं, रुचिरित्यर्थः, न नास्ति, तथा सितया शर्करयाऽपि, 'शर्करा सिता' इत्यमरः । किम् ? अल, न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः । रक्तवस्तुरागिणं किं सितवस्तुना ? इति च गम्यते । इतीरिणे इतिवादिने, अधरभिम्बचुम्बनेच्छया एव भाषिणे रागिणे

इत्यथ । रश्मिच्छलात् अभिलाषव्याजात्, 'छलप्रयोगे छलप्रयोग एव कर्त्तव्य' इति न्यायात् इति भावः । विम्वामव अधर यस्या तथा विम्वधरया विम्वोष्ठया स्त्रिया, विम्वफलम् ओष्ठोपमाफलम्, अदायि दत्त, मिषान्नरगाधरविम्व याचित मिषान्त-
रात् विम्वफल दत्तन् इत्यर्थः, तत् विम्वफलञ्च, अस्त्वत् तस्मै अरोचिष्ट, रश्मिकरम
भृदि-यत्, तस्य प्रियाधरविम्वप्रतिनिधिवादिनि भावः । एव दीप्ती प्रीत्यर्थात्तद्
'द्युत्ता लुडि' इति परस्मैपद, 'पुपादियुतादि—' इत्यादिना च्चेरडादेशः ॥९६॥

'अ' पदार्थ, अधर) रश्मि (अभिलाषा, पञ्चा०—रश्मिकर इति) का स्थान है अर्थात्
तुन कवना है, उने ने रश्मि नहा देना है, निनये राग (लालिमा, पञ्चा०—अनुराग)
नगा ट, वस मिना (इवन पदार्थ, पञ्चा०—रश्मिकर) ने भी क्या ? अर्थात् तुने कुछ
प्रयत्न नहीं है । (अर्थात् रश्मि वस्तु वा 'नेराळे' इवन वस्तुन, तथा पञ्चा०—तुम्हारे
अनुराग मधुरताका आभाजन चारनवालेसे इत्यन्त कोर प्रयोगन नही हाना) 'ऐसा
कहतेवाले (रागी-रश्मिकर) रश्मि (अभिलाष) के करटने बि-रश्मिने समान अर-
वाली, परामनेवाली) कान (रश्मि वावाले) विम्वकल्का दिया और वह उस रागीको
रश्मिकर हुआ । उस - रा तुम्हें करटने उस रश्मि अधरको मारा तो 'गठे शाठ्य
ममाचरत्' नीतिने अनुसर उस कौन भी उसके लिए रश्मि अधरको न देकर
रश्मिकर दे दिया - वह मरन एव स्थादित होनेन या प्रियारतुल्य होनेने उसको
रश्मिकर हुआ] ॥ ९६ ॥

नम प्रयोरिद्वितवान् वप्रस्योस्तपोनिहायोपहनप्रतीक्षिताम् ।

अकारि नाकूनमयारि ना यया विदग्धयाऽरञ्जितयेव भावयिन् ॥९७॥

मममिति । ययो वयम्ययो महचयो विषये, मम युगपत्, इद्वितवान् इगा
दिसज्ञायान्, नयनश्रमगादिवेष्टाविशेष कुर्वन्नि-यर्थः । भावयित् गूढामिप्रापामिज्ञ,
चानुपवेत्ता इत्यर्थः । कञ्चिन् विद इति शेषः । तयो मन्त्रे उपहनप्रतीक्षिता दत्ततद्
भिप्रेतादाकारसूचकप्रतिसत्ता, प्रथमव्ययस्यामिति भावः । विहाय परिहृत्य, जनस
मात्रे मग्दीसमच अचुरिद्वितादिकरणादियमचतुरेति निश्चित्य ता प्रत्यननुरागेन ता
हिंसा इति भावः । यया विदग्धया चतुरया, ग्राह्य तद्भिप्रेतादाकारसूचन प्रती-
क्षित, य अकारि न कृत, उदुजनसमच तत्करणे प्रकाशमिया लज्जातिशयादिति
भावः । किन्तु सा प्रथमा इति यावत्, अवारि चारिता, अयमस्या विरक्त मयि
चानुरन तत् कथमिय मप्रिय प्रति इद्विन करोतीति सापत्येर्प्यया जनसमचमि
द्वितादिकरणमनुचितमिति व्याजेन द्वितीयया सा इद्वितादिवेष्टातो निवारितेत्यर्थः,
तया द्वितीययैव विदग्धया, अरञ्जित रञ्जित, आकृष्ट इत्यर्थः । द्वितीयायास्तयाविध-
गूढभावदर्शनेन सन्तुष्टनया तस्यामेवानुरक्त इति भावः । एतेन प्रथमापेक्षया द्वितीया
गम्भीरा सोऽपि भावश्च तत् युक्तम् एतदिति गम्यते ॥ ९७ ॥

जिन दो सखियोंके विषयमें एक सत्य सकेत (कटाक्ष आदिके द्वारा अनुरागसूचक

भावका प्रदर्शन) करनेवाले भावस्थानी (कामी युवक) ने उन दोनोंमेंसे प्रतिमत्वेन करने वाली (प्रथमा सखीको) छोड़कर उस विदग्धा मखीके साथ अनुरक्त हुआ, जिस (दूसरी मखी) ने अपने भावप्रदर्शन नहीं किया, अपितु (भावप्रदर्शन करनेवाली) उस मखीको मना किया । [किन्हीं दो मखियोंमें अनुरक्त किसी युवकने एक साथ ही अपनी चेष्टा ओंसे अपना अनुरक्त होना सूचित किया । यह देख उन दोनोंमेंसे एक मखीन मग्न लोगोंके सामने ही प्रत्युत्तर में स्वोक्तिरूपक अपना भाव प्रदर्शित किया और उन मग्न प्रदर्शित करती हुई देखकर 'यह युवक तो मुझमें अनुरक्त है तो तुम अपना भाव प्रदर्शित कर इसे अपनी ओर क्यों आकृष्ट कर रही है ?' इस प्रकार सखीत्वकी मनमें रखती हुई दूसरी मखीने उन भाव प्रदर्शित करनेवाली प्रथमा सखीका 'तुम ऐसी निर्लज्ज हो कि सब लोगोंके सामने अपना कामानुराग इस पुरवन प्रकार करती हो' ऐसा कहकर मना किया, उसे इस प्रकार मना करते देखकर दूसरेके भावको जाननेवाले उस चतुर युवकने 'ये दोनों मुझमें अनुरक्त करती हैं' किन्तु इनमेंसे सब लोगोंके सामने ही अपना भाव प्रदर्शित करनेसे प्रथमा सखी अविदग्धा (चतुर नहीं) है, और अपने स्वार्थका सिद्धिके लिये व्याजान्तरसे मना करती हुई दूसरी मखी विदग्धा है, अब अब उस दूसरी सखीमें ही अनुरक्त हुआ । चतुर पुरुषका अवचुरा प्रथमा मखीका छोड़कर चतुरा द्वितीया स्त्रीमें अनुरक्त होना उचित ही है] । १५ ॥

मखी प्रति स्माद् युवेद्भितेक्षिणी क्रमेण तेऽयं क्षमते न दित्सुनाम् ।

विलोम तद्व्यञ्जनमर्प्यते त्वया धर किमस्मै न नितान्तमर्थिने ? ॥ १६ ॥

मखीमिति । युवेद्भितेक्षिणी युवाभिप्रायसूचकनयनादिचेष्टादक्षिणी, काचित् तरुणीति शेष । सखीं परिवेषिका वयस्या, प्रति आह स्म उवाच । 'लट् स्मे' इति भूते लट् । किमिति ? अयं युवा, ते तव सम्प्रविधनी, क्रमेण पारम्पर्येण, दित्सुता परिविविधुता, न क्षमते न सहते, एस्मेकं ह वा उत्तरोत्तरक्रमेण परिवेषणविविधं सोढुं न शक्नोति इत्यर्थ । अत एवया नितान्तमर्थिने अत्यन्तव्यग्रतया याचकाय, अस्मै यूने, वरम् उत्कृष्टं, तद् व्यञ्जने निष्ठान, विलोम विपरीत यथा तथा, व्युत्क्रमेण इत्यर्थ । किं न अर्प्यते ? कथं न दायते ? अपि ॥ अयं प्रायः शीघ्रदेशमिति व्याजोक्तिरिति भाव । अयं युवा, क्रमेण आलिङ्गनस्तनमर्दनचुम्बनादिव्यापारक्रमेण, दित्सुता मेधुनार्थं वराद्दानेच्छुतां, तद्दानविलम्बमित्यर्थ, न क्षमते न सहते, अतस्त्वया विलोम अरोमकम्, अत एव वरम् उत्कृष्टं, व्यञ्जनम् अवयव, वराद्दानमित्यर्थ । 'व्यञ्जनं रमध्वनिष्ठानचिह्नेष्ववयवेऽक्षरे' इति यादव । नितान्तमर्थिने अस्मै किं न अर्प्यते ? अपि तु शीघ्रमेवापेक्ष्य हययान्तरस्यापि विचरितश्चात् केवलं प्रकृतश्लेष ॥ १६ ॥

(कामी) युवकका चेष्टाओंको देखनेवाली स्त्रीने सन्ताने कहा—'यह (युवक) तुम्हारी क्रमशः परोक्षनेकी इच्छाको नहीं सहन करना है, अनर्थ अत्यधिक याचने (मांगने) वाजे

इस (युवक) के लिये क्रमको छोड़कर श्रेष्ठ व्यञ्जनको तम क्यों नहीं देती हो ?" पश्चात्
 "कहा—आलिङ्गन-सुम्बनादि बाह्य सम्मोग्यक्रमसे तुम्हारा मदनमन्दिर (मग) को देनेकी
 इच्छाको यह युवक नहीं मंजूर करता, अब जब तुम अधिक याचना करनेवाले अर्थात्
 शीघ्र मधुनच्छुक्क इम (युवक) के लिए श्रेष्ठ (अथवा—अवर अर्थात् अधोभागस्थ) तथा
 नामग्राह्य उस वराह (मदनमन्दिर) को क्यों नहीं दना ?" [यह युवक इतना
 कामुक हो गया है कि तुम्हारे आलिङ्गनादिके क्रममें मैथुनमें विवशकी नहीं सहन कर
 सकना अब तुम्हें आलिङ्गन-सुम्बनादि बाह्यक्रम-भागके क्रमको छाटकर इसके साथ शीघ्र
 मधुन करना चाहिये] ॥ ९६ ॥

समाप्ति लिप्येय भुजिक्रियाविधेर्दलोदर उत्तु लयाऽऽलयीकृतम् ।

अत्तद्धृत क्षीरवटैस्तदाऽरनता रराज पाफापिनगैरिकप्रिया ॥ ९७ ॥

समाप्तीति । तदा तत्राह, अरनता भुजानामा, जग्यामिति शेष । दलोदर
 कक्षपत्रादिभोजनपात्राभ्यन्तर, पात्रेन विविधसंस्काररूप यद्द्वारा पात्रविशेषण,
 अर्पिता मगपादिता, गैरिकस्य शैलजराक्षवर्णधातुविशेषस्य, क्षीरिव क्षी येषा तरिति
 विभक्तिः दध्ययनान्वय । पात्रेन रक्षवर्णेत्यर्थ । तथा वस्तुलया वस्तुलैरिति विभ
 क्तिः प्रत्यय । वृत्ताकार, वटाना वस्तुलयादिति भाव । क्षीरवटै दुग्धपत्रमापनि
 प्पादितवटकाण्यपिष्टविशेष, अलङ्कृत शोभित सत्, तदर्पणादिति भाव ।
 पात्रार्थ रक्षवर्णसम्पादनार्थम्, अपितेन निक्षिप्तेन, गैरिकेण रक्षवर्णधातुविशेषेण,
 क्षी रक्षकान्तिर्यस्या तादृशया, तथा वस्तुलया वस्तुलकारया, वृत्ताकार रक्षवर्णक्षि-
 ष्टविशेषे लिपिशेषे क्रियते इति व्यवहारादिति भाव । भुजिक्रियाविधे भुजधारव-
 धानुष्ठानस्य, भोजनव्यापारस्येत्यर्थ, समाप्ति लिप्या समाप्ति सूचकवर्णविशेषविन्या
 सेन लिप्यन्तरे प्रवृत्त्यभावात्, अन्यत्र—व्यञ्जनान्तरे रक्ष्यभावादिति भाव ।
 आलयीकृतम् आस्पदीकृत, चिह्नीकृतमित्यर्थ । दलोदर तालपत्रादिछेदपत्राभ्यन्त
 रमित, रराज शुशुभे, रक्षवर्णतादृशवटके शोभते स्म । तादृशवटप्रदानान्तरमेव
 जग्याना तेषा व्यञ्जनान्तरभोजनप्रवृत्तिर्विनष्टेति भाव । अत्रोपमालङ्कार ॥ ९७ ॥

उम समय भोजन करने हुए वराधियोंके केलेके पत्तोंका मग भाग अधिक पकानेमें
 गेरबद्ध लाल, भोजनके समाप्ति सूचक लिखावटके समान क्षीरवटों (दूध डालकर पकाये
 गये बटों) से अलङ्कृत होकर ऐसा शोभित हुआ, जैसा लाल होनेके लिए डाले गये गेरमें
 शोभनेवाली समाप्ति सूचक लिपिमें अन्धोंके जाटपत्रादिका पत्र (पत्रा) शोभना है । [इसका
 विशद अभिप्राय यह है कि जिन प्रकार अन्धके अन्धने 'छ ॥ छ ॥ छ ॥' इत्यादि अक्षर
 या—'॥ ० ॥ ० ॥ ० ॥' इत्यादि गोलकार चिह्नविशेष लिखनेसे उस अथवा पत्रा शोभना
 है और उसमें उस अथवा समाप्त होना जाना जाता है, उसी प्रकार राजा भीमके यहाँ

१ 'तदरकमाम्' इति पाठान्तरम् ।

भोजन करने हुए बरानियोंको अधिक पकाने (मकने) से गेहके समान टाटवाँ तथा आकारमें गोल-गोल शीरवट परोसे गये तो उनमें वह भोजनपात्रभूत केले आदिका पत्ता शोभित होने लगा और उन बटोंमें भोजनकर्ताओंको दूसरा कोई व्यजन छानेका रचि नहीं रह गया, अत एव वे 'बडे' ही मानो भोजनके समाप्ति-सूचक लिपिसे हो गये । उन क्षारवटोंके परोसनेपर भोजनकर्ता बरानी अन्य व्यजनोंको छोड़कर केवल उसे ही छाने लगे] ॥ ९७ ॥

चुचुम्ब नोर्जापलयोर्जशीं पर पुरोऽधिपारि प्रतिविम्बता विट ।

पुन पुन पानरुपानकेतयाच्चकार तच्चुम्बनचुङ्कृतान्यपि ॥ ९८ ॥

चुचुम्बेति । विट कश्चिन् कामुक, पुर अत्रे, पार्याम् अधि अधिपारि कर्जशां, पानीयशय्याम् इत्यर्थे । 'कर्जशीपूरयो पारी पादरग्गवाञ्ज हस्तिन' इति विश्व । 'वारिवहनभाण्डम्' इति स्वामी । प्रतिविम्बिता प्रतिफलिताम्, उर्वीवल्लयोर्वशीं भूमण्डलोर्वशीं, सत्रात्कृष्टरूपवतीमित्यर्थ । सीमिति शेष । पर केवल, न चुचुम्ब न चुम्बिनधान्, किन्तु पुन पुन बार बार, पानरुपानर्जसत्वात् पानीयपानशु-छात्, तस्या प्रतिविम्बिताया भूमण्डलोर्वश्या इत्यर्थ । चुम्बने शरमुधापाने, चुङ्कृतानि अपि सूर्यगुह्यशब्दानपि, चकार कृतवान् ॥ ९८ ॥

किमी विट (धूर्त) ने भागे कसोरे (परा रणे हुए वर्तन) में प्रतिविम्बित हुई पृथ्वी मण्डली उर्वशी अर्थात् अत्यन्त सुन्दरी स्त्रीका देवल चुम्बन ही नहीं किया, किन्तु पना पीनेके करटने बार-बार उसके चुम्बनसम्बन्धा चुङ्कृत ('चूँ-चूँ' पना ध्वनि-विशेष) को भी किया । [कसोरेमें रक्ते हुए पना पीनेके करटने उस सुन्दरीके प्रतिविम्बको घूमने हुए उन विटने चुम्बनकालिक 'चूँ-चूँ' ध्वनि-विशेषको भी करके उसमें अपना अनुराग प्रकट किया] ॥ ९८ ॥

घनैरमीषा परिवेपकैर्जनैरिवर्षि चर्पोपलगोलकाउली ।

चलजुजाभूपणरत्नराचिषा धृतेन्द्रचापै श्रितचान्द्रसोरभा ॥ ९९ ॥

घनैरिति । चलग्रथ परिवेपगार्थम् इतस्ततः भ्रमन्त्य, या जुजा बाहव, तासु पानि भूपगरत्नानि रत्नप्रवितालङ्कारा, तेषा रोचिषा प्रभया एव, एत गृहीत, इन्द्रचाप इन्द्रचाप इव इत्यर्थ । ये तादृश, परिवेपन्तीति परिवेपका ते अक्ष व्यजनादिदातृभि, जनै लोकेरेव, घने स्त्रीजनरूपभेदै, अमीषा भोक्तृणा कृते, श्रितचान्द्रसोरभा प्राप्तकर्पूरसम्बन्धिमन्धा, अन्यत्र—चन्द्र एव चान्द्र, सूर एव सौर तयोर्भा प्रभा, श्रिता व्याप्ता यया सा, करकाणा रात्रिदिनयो सम्भाष्यमान-स्वेन चन्द्रसूर्ययो क्रमेण कान्तिव्याप्तत्वं सम्भवति, अथवा शैत्योऽग्रलक्ष्याभ्या तस्या न्तिसदृशानि भाव । चर्पोपला करका इव, गोलका घुटिकाकारा पिष्टकविशेषा, तेषाम् भावली राशि, अर्पि घृष्टा, प्रदत्तेत्यर्थ ॥ ९९ ॥

(परमने समय) चञ्चल बाहुओंके भूषणोंमें जैसे हुए रत्नोंकी कान्तिमें इन्द्रधनुष (की गोमा) को प्राप्त किये हुए बहुतसे परमनेवाले लोगों (पद्या०—परामनेवालरूप नेत्रों) ने इन (मोचन करत हुए बरानियों) के लिए सुगन्ध (पद्या०—चन्द्रमा तथा नूपका कान्ति) में सुख (शीतल तथा दासियुक्त हानस चन्द्रमा तथा सूर्यके मृदु, अथवा—चन्द्रमाने समान ननोंडवाने सुख, अथवा—चन्द्रकान्त तथा मूर्धकान्त नित्यी शोमाने पुष्प) ओलोंके मनान (गोले-गोले, शीतल एवं मन्दप्रहारक) छट्छुओं (पद्या०—छट्छु कृपा ओलों) के समूहोंको बरन्दा अर्थात् परमा । (नेत्र जब ओलोंका बरसाते हैं तो वे (नेत्र) इन्द्रधनुषका धारण कर लेते हैं और वे ओंके दिनन सूर्य और रात्रिमें चन्द्रकी शोमाने पुष्प हो जाते हैं, उभो प्रकार परामने समय बाहुके भूषणोंमें जैसे हुए रत्नोंका शोमाने इन्द्रधनुषयुक्त नादस पट्टे हुए बहुत-से परमनेवाले लोगोंने इन मोचनकर्ता बरानियोंके लिए कसूरकी सुगन्धयुक्त ओलोंके नन्गन गाले-गोले एवं शीतल छट्छुओंको परमा] ॥ ९९ ॥

किप्रदुहु ष्यञ्जनमेतदप्यते ? ममेति कृपेयदता पुन पुन ।

अमूनि सङ्घातुममावटोकि तैश्छलेन नेपा कठिनीय भूयमी ॥१००॥

कियदिनि । मम एतत् कियत् कनिपणिमाग, बहु प्रभूत, व्यञ्जन शाकनामादि रूपतेमनादित, कनि व्यञ्जनार्थग्ययं । अप्यते ? क्षीयते ? कृषा वयम् अतो नापर दातव्यम् इति भाव । कृषे भोजनजन्यमन्नोपात् हेनो, इति एवं, पुन पुन बढना धार धार कथयना, तेषा भोजतृणा, छलेन व्यपेत्, तेषा नाइतवाक्येन कनि व्यञ्ज नानि अस्माभिर्दत्तानि ? इति सङ्घातनिज्ञानेनाभिप्राय इति व्यापेन इत्यर्थ । अमूनि व्यञ्जनानि, सङ्घातु गगयितु, भूयमी बहुतरा, कठिनी इव करिका इव, भूयस्य सङ्घातनघुटिका इत्यर्थ । 'करिका कठिनी' इति द्विविध । तै परिवेषके, अस्मा गोलकावलि, प्रागुसपिष्टकविशेषरागिनि यथ । नडीकि टोकिना, उपहता इत्यर्थ । भवन्ति व्यञ्जनबाहुस्य कथ्यते, अत आभि कठिनाभि तानि गगयनि दृष्टेनेत्र भूयमी कठिनी अर्पितेवेति भाव । अश्रोत्येवालङ्कार ॥ १०० ॥

हजारों लिए यह किन्ना व्यञ्जन दे रह हो ? (इन तुल हो गये, अब तुने कुछ नहीं चाहिये) देना तुम्हें बाग्याने बार-बार कहने हुए भोजनकरा बरानेशोंने ठिय ('किन्ना व्यञ्जन दे रह हो ?' ऐसा तुम लोग पूछते हो ना ना इनके द्वारा गिन लो कि हमने किन्ने व्यञ्जन दिये हैं, इन प्रकारके) उल्लस जन व्यञ्जनोंको बहुत-सी खट्टेरी (लिखनेके चाक्यों) को डेजे (अधिक परिमाणमें दे) दिया । (किन्ना प्रकार बहुत अधिक पदार्थोंको गाना करनेमें अमनर्थ व्यक्तिको उद्योगमें लिख-लिखकर गाना करना पटना है, उभो प्रकार 'इन लोगोंने किन्ने व्यञ्जन परामे' यह तुम गाना नहीं कर सकते हो लो लो इन व्यञ्जनरूपी खट्टियोंने मिल लो कि हम लोगोंने किन्ने व्यञ्जन परामे दिये । भोजनकर्ता

मरानियोंके त्त हो जानेके कारण बार-बार मना करने पर भी परोसनेवाले लोग आग्रह-पूर्वक अधिक व्यञ्जनोंको परोस रहे थे] ॥ १०० ॥

विदग्धबालोद्भितगुप्तिचातुरीप्रवह्नि-कोद्घाटनपाटवे हृद ।

निजस्य टीका प्रवबन्ध कामुक गृशद्विराकृतशतैस्तदौचितीम् ॥१०१॥

विदग्धेति । विदग्धबालाया चतुराङ्गनाया , इद्भितगुप्तिचातुरी भ्रूमङ्गधाधार-गोपनचातुर्यं, निगूढार्थचेष्टाप्रयोगचातुरीत्यर्थ । सा एव प्रवह्नि दुर्वोध्यत्वात् प्रहेलिकापरायणो निगूढार्थोक्तिविशेष । 'प्रवह्निहका प्रहेलिका' इत्यमर । तस्या उदाहने बोधने, अर्थाज्ज्ञेदने इत्यर्थ । यत् पाटव सामर्थ्यं, तस्मिन् विषये, तत् तत्र, तदाशार्थोद्भेदने इत्यर्थ । औचिनीम् आनुकूल्य, स्पृशद्भि प्राप्तं, तदनुकूलैरित्यर्थ । तदेद्भितगुप्तिचातुर्यं मया ज्ञानमित्यर्थप्रकाशकैस्तदोपेक्षितानुरूपे इति भावः । आकृाना शतं अभिप्रायव्यञ्जके बहुविधेऽस्ति, कामुक कश्चित् कामी, निजस्य आत्मीयस्य, हृद हृदयस्य, टीका व्याख्याम्, अभिप्रायप्रकाशनमित्यर्थ । प्रवबन्ध प्रकरणे कृतज्ञान्, स्वहृदय तस्य निवेदयामास इत्यर्थ । उचितोत्तरदानादेव प्रश-र्थप्रकाशनात् तदेष नद्वयार्थानमिति भावः ॥ १०१ ॥

किसा (चतुर कामुव) ने चतुर बालाका चेष्टाके अभिप्राय-चातुर्यरूपी पहेली (पुसौबल) के स्पष्ट करनेकी चतुरताके विषयमें उसके योग्यता (तदनुकूलता) से युक्त सैकड़ों अभिप्रायोंमें अपने हृदयकी गणना को कर दिया । (अथवा—चतुर (युवक) तथा बाला—इन दोनोंके अभिप्राय-चातुर्यरूपा । अथवा—क्रमशः चतुर (युवक) की चेष्टा तथा बाला की गुप्ति (चुपकेमें चेष्टा विशेष)—इन दोनोंके चातुर्य) । [किमी चतुर बालाने स्वभाविक लज्जावश अपना गुप्त चेष्टाद्वारा अपना अभिप्राय सूचित किया, उसे दूसरे कामुकने समझकर तदनुकूल बहुत-सी अभिप्रायसूचक चेष्टाओंसे अपने हृदय भावको उस प्रकार प्रकट किया, जिस प्रकार किमी गुप्ताभिप्रायवाली पहेलीको उसके अभिप्रायको जाननेवाला व्यक्ति अनेक प्रकारकी व्याख्याकर स्पष्ट करता है । प्रष्टमें चतुर बाला के द्वारा गुप्त चेष्टा द्वारा अपना अनुराग प्रकट करनेपर कामुकने भी उसके अनुकूल बहुत-सी स्पष्ट चेष्टाओं द्वारा अपने अनुरागको प्रकट किया अथवा—विश्व युवक तथा बालाकी गुप्त चेष्टाओं द्वारा इन दोनोंके अभिप्रायको समझकर किमी अन्य कामुकने 'म तुम दोनोंही गुप्त चेष्टाओंसे परस्पर अनुरागको समझ गया, अब मैं उस युवकमें अधिक चतुर हूँ, इस कारण तुम उस युवककी छोटकर मेरे साथ अनुराग करो' इस अभिप्रायमें स्पष्ट रूपमें बहुत-सी चेष्टाओंको किया] ॥ १०१ ॥

घृतप्लुने भोजनभाजने पुरस्पुत्पुनन्ध्रीप्रतिविम्बिताकृते ।

युग निघायोरसि लङ्घुद्वय नखैलिलेसाय ममर्द निर्दयम् ॥१०२॥

पृतेति । युवा कश्चित्तरण, पुर अग्ने, पृतेन प्लुते मिकते, भोजनभाजने भाजन-

पात्रे, स्फुरन्ती प्रकाशमाना, या पुरन्धया अङ्गनाया, प्रतिबिम्बिता प्रतिकलिता, आकृति शरीर, तस्या उरसि वचमि, लङ्घुकद्वयवर्तुलाकृतिमिष्टान्नविशेषपिण्ड युग्म, निधाय स्थापयित्वा, नखै लिखेत् विददार, अथ अनन्तर, निर्दयम् अक्षिधिलं यथा तथेत्यर्थ । ममर्द्ध पीडयामास, तदीयकुचकुम्भयुगलमावनयेति भाव ॥१०२॥

(भोजन करनेवाले किमी वराती) युवकने घृतसे व्याप्त भोजनपात्रमें ममाने स्फुरित होगी हुद (परोसनेवाली) स्त्रीके प्रतिबिम्बित आकृति (शरीर) की छापीपर दो लङ्घुओंको रखकर नाखूनोंमें लेखन किया (खरोचा) और बादमें निर्दयतापूर्वक अर्थात् अच्छी तरह मदन किया । ['जब हम दोनोंका समागम होगा तब हमी प्रकारसे तुम्हारे स्तनोंको मर्दन करूंगा' ऐसा, अथवा—'तुम्हारे स्तनोंको इस प्रकार मर्दित करना चाहता हूँ' ऐसा अपना अभिप्राय उस युवकने बतलाया] ॥ १०२ ॥

विलोकिते रागितरेण सस्मित द्वियाऽथ वैमुख्यमिते मत्प्रीजने ।

तदालिरानीय कुतोऽपि शार्करो करे ददौ तस्य विहस्य पुत्रिकाम् ॥१०३॥

विलोकिते इति । सखी एव जम तस्मिन् निजसम्पत्त्या, रागितरेण अत्यन्तानुरक्तेन, केनचित् कामुकेनेति शेष । सस्मितम् ईप्सदास्यसहित, विलोकिते दृष्टे, अथ विलोकनानन्तर, द्विया लज्जया, वैमुख्य पराङ्मुखताम्, इते गते सति, एतेन तस्या अपि तस्मिन् तथा अनुराग सूचित । तदालि तस्य सखीजनस्य, आलि सखी, कुत अपि कस्मादपि स्थानात्, शार्करो शर्करामयीम् । विकारार्थात् पद्मस्य । पुत्रिका पाञ्चालिका, कृत्रिमपुत्रीम् इत्यर्थ । तत्परिवेषणसङ्कुलेनेति भाव । 'पाञ्चालिका पुत्रिका स्माद्वस्त्रदन्तादिभि कृता' इत्यमर । पुत्रीव प्रतिकृतिरस्या सा पुत्रिका 'इवे प्रतिकृती' इति कन् 'केऽग' इति ईकारह्रस्व । आनीय सङ्गृह्य, तस्य रागितरस्य, करे पाणौ, विहस्य किञ्चित् हसित्वा, ददौ अर्पयामास । वैमुखा-दननुरागसन्देहो न कर्तव्य, परन्तु एवम् एषा सखी तव करगता यथा भवेत् तथा करिष्यामि इति सूचयामासेति भाव ॥ १०३ ॥

अतिशय रागी (किमी युवकके द्वारा (मुक्कुराकर देखी गयी सखीके लज्जामें मुख फेर देनेपर उसकी मखीने शर्कराकी पुनली (जनाकार अन्धपदार्थ) को लाकर हैमकर (परोसनेके व्याजम्) उस (रागी युवक) के हाथमें दे दिया । ['इस शर्कराकी पुनलीके समान अधरचुम्बनादिमें मधुर इस अपनी सखीको मैं तुम्हारे अंगीन कर दूगी, अन एव तुम इने इस्नवन ही समझा' ऐसा, अथवा—'इस पुनलीके समान मुझे तुम करने हाथमें आयो हुद अर्थात् वशर्वाङ्गनी ममज्ञो' ऐसा सन्ने किया] ॥ १०३ ॥

निरीक्ष्य रम्या परिवेषिका ध्रुव न मुक्तमेवैभिरवाप्तवृत्तिभिः ।

अशक्नुवद्भिर्बहुभुक्तवत्तया यथोक्तिता व्यञ्जनपुञ्जराज्य ॥१०४॥

निरीक्ष्येति । बहुभुक्तवत्तया यथेष्ट कृतभोजनतया, अशक्नुवद्भि नि शेषं

भोक्तुम् अपारयद्भि, जवान्तरैरिति शेष । यथा व्यञ्जनपुञ्जराज्य शाकमामाद्यप्य
करणराशीना श्रेयस्य, उज्ज्वलन्ते इति शेष, बहुलपरिवेपगादिति भाव । तथा पुंभि
भोक्तृभि जन्यज्वरपि, रम्या तमग्रीया, परिवेषिका परिवेषगकारिण्य सत्स्य,
निरीक्ष्य विलोक्य एव, अवाप्तवृत्तिभि सावतेव तृप्तै मद्भि, व्यञ्जनपुञ्जराज्य
उज्ज्वलता त्यक्ता, न भुक्त न खादित, ध्रुवम् इत्युपेक्षायां, अन्यथा कथमेते
भोग्यराशय पात्रेषु तथैव दृश्यन्ते इति भाव ॥ १०४ ॥

बहुन भोजन करनेसे (थालमें परोसे गये सब व्यञ्जनोंको भोजन करनेमें) असमर्थ
इन (भोजन करनेवाले बरातियों) ने व्यञ्जन-सन्तुष्टके टेढ़ोंको जैसा छोट दिया है, उससे
ऐसा ज्ञान होता है कि परोसनेवाले सुन्दरियोंको देखकर तृप्त हुए इन लोगोंने मानों भोजन
किया ही नहीं है । [भोजनकरणां बरातियोंने बहुत-से भोज्य पदार्थोंको नहीं खा सकनेके
कारण बहुत मात्रामें जूड़ा छोड़ दिया] ॥ १०४ ॥

पृथक्प्रकारेण तद्विशिष्टाशयो युवा ययोदासि तथाऽपि तापित ।

ततो निराश परिभावयन् परामये । तथाऽतोपि सरोपयैव स ॥१०५॥

पृथगिति । यथा स्त्रिया, पृथक्प्रकारेण तद्विशिष्टाशय नानाविधचेष्टाप्रकाशिता
भिप्राय, युवा कश्चित्कृग, उदासि प्रतीक्षिताद्यकरणेन औदासीन्य प्रापित इत्यर्थ,
तथाऽपि रोपात् अनादरपरया अपि तथैव स्त्रिया, तापित सन्तापित दुःख प्रापित
इत्यर्थ, प्रतीक्षितादर्शनेन स्वाभीष्टलाभनैराशयात् तु वित्तोऽभूदिति भाव, यो यत्रो
दामीन तस्य तदलाभजन्य दुःख न भवति, प्रकृते तु तस्यामुदासीनस्यापि तथैव
जनितमिति त्रिरोधार्थकोऽपिशब्द, तत औदासीन्यात्, निराश संप्राप्तौ हताशा
सन्, पराम् अन्या, परिभावयन् इक्षितादिना विभावयन्, मानुरागमयलोक्यन्
इति यावत्, स युवा, सरोपया अन्यावलोकनरूपया, तथैव पूर्वया एव, अतोपि
तोपित, न तु द्वितीयया इति भाव, तोपयते कर्मणि लुङ् । अये इति आश्चर्यं,
औदामीन्य जनयि-याऽपि दुःख जनित सरोपयैव मन्तोपो जनित इति विरुद्धार्थ-
द्वयसमावेदा आश्चर्यकर इत्यर्थ । पूर्वया तदनुरक्तयाऽपि जनसमसमिक्षितादिकरण
समुक्तमिति बुद्ध्या पूर्व प्रतीक्षितादिना न सम्भाषित, अत एव युवा तु वित्त,
किन्तु तस्या गूढानिप्रायमन्तात्वा इय मध्यनुरागिणीति निश्चित्यान्या प्रति तस्मिन्
सानुराग विलासयति मति तदर्शनेन पूर्वा सा सरोपा जाता, मानुरागैव सरोपा
भवतीति व्याप्ते तस्या रोपदर्शनेनानुरागमनुमाय सा सन्तुष्ट इति भाव ॥१०५॥

अनेक प्रकारकी चेष्टाओंमें अपने अभिप्राय (अनुराग) को बतलानेवाले युवकको
(उसके प्रति सकेतमें अपना अभिप्राय नहीं बतलानेवाली) जिस स्त्रीने उदासीन कर दिया
और उसमें मन्तव्य (यह स्त्री मुझे नहीं चाहती इस भावनामें दुःखिन) दुःखा, इसके बाद
निराश होकर दूसरी स्त्रीको सानुराग देखते हुए उस युवकको कोपयुक्त उमी (पहली)

स्त्रीने सन्तुष्ट कर दिया, वह आश्चर्य है । [अनुरागी उस युवकके अनेक प्रकारको चेष्टाओंके करनेपर बहुत लोगोंके सामने लज्जवश उस स्त्रीने सवेन द्वारा अपना अनुराग प्रकट नहीं किया तो 'यह मुझसे अनुराग नहीं करती' ऐसा समझकर उस स्त्रीके विषयमें निराश उस युवकने दूसरा ही दूसरी स्त्रीके प्रति अपना अनुराग प्रकट करने लगा, यह देख वह प्रथमा स्त्री को ही हो गयी कि 'यद्यपि इसमें अनुराग करती हूँ और लज्जवश सबके सामने अपना भाव प्रदर्शित नहीं किया, अब जब यह युवक दूसरी स्त्रीमें अनुराग करने लगा ।' यह देख उस युवकने 'पहली स्त्री ही मुझमें अनुराग करती है, मैंने पहले इसके मनोगत भावको नहीं समझकर स्वयंमें उदासीन एवं दुःखित होकर दूसरी स्त्रीमें अनुराग करने लगा' इसी अपनी भूल समझकर पक्षी स्त्रीमें ही अनुराग करता हुआ सन्तुष्ट हो गया । उदात्तान नित्य स्त्रीने दुःखित हुआ, जेद उसी स्त्रीने सन्तुष्ट किया गया' यह विरह विषय होनेसे आश्चर्य है और उसका निराकरण पूर्वोक्त प्रकारसे है] ॥ १०५ ॥

पय स्मिता मण्डपमण्डलाम्बरा वटाननेन्दु प्रथुलङ्कुस्तनी ।

पद रुचेर्भोज्यभुजा भुजिक्रिया प्रिया बभूवोऽञ्जलकूरहारिणी ॥१०६॥

पय इति । पय पाथ क्षीर वा, स्मित हास्य यस्या सा, मण्डपमण्डल जम्बज-
नामामाश्रयसमूह चन्द्रातपसमूह एव इत्यर्थ । 'मण्डपोऽम्बी जनाश्रय' इत्यमर,
अम्बर वस्त्र यस्या सा तादृशी, मण्डपानामावरकत्वात् शुभ्रत्वाच्चेति भाष, वट
वटक एक, शुभ्रवर्तुलपिष्टरुविशेष एव इत्यर्थ, आननेन्दु आह्लादकरत्वात् मुख-
चन्द्र यस्या सा तादृशी, पृथू महाशतौ लङ्कुः मिष्टान्नविशेषौ एव, स्तनौ यस्या
सा तादृशी, रुचे पदम् अभिलाषापद आवग्यास्पदञ्च, उगमले शुभ्र, दूरै
भक्तै, 'अथ कूर भक्तम्' इति हल्ययुध । हारिणी मनोहरा हारवती च, भुजि
क्रिया भोजनव्यापार, भुज इति धानुनिर्देशेनार्थलक्षणा । भोज्यभुजा भोजनार्थ
भोगिनाञ्च प्रीणातीति त्रिधा नृत्तिहारिणी बह्वभा च, यन्त्र । रूपकालङ्कार ॥१०६॥

दुग्ध (या—स्वच्छ जल) रूप स्मिता (मन्द मुस्कान) बाली, मण्डप-सन्तुष्ट्य
(पाठा०—अधिक आश्रयनेने लाल-लाल वि दुर्गोत्त युक्त पूजाकर जलद्वारमूल) पल
बाली, (शुक्लवर्ग तथा आलोक होनेसे) बटे (दही-बटे) रूप मुख चन्द्राणां, बटे-बटे
लङ्कुरूपी स्तनोक्तान्, नचि (कानि वा—भोजनेच्छा, पश्चा०—अनुराग) का स्थान अर्थात्
रक्षिकारिणी, शुक्लवर्ग मानस मनोहर (पश्चा०—शुक्लवर्ण मानरूपी द्वार अर्थात् मुक्ता-
मालाबाली) भोजनक्रिया भोज्य पदार्थोंका भोजन करनेवालोंका प्रिया (नृत्ति करनेवाली,
पश्चा०—वस्त्रभा) वृद्ध । [पश्चान्तरमें सबत्र 'दुग्ध (या स्वच्छजल) के समान है स्मित
जिम्बका' इस प्रकार अर्थात्तर कल्पना करनी चाहिये । भोजनकर्ताओंको बराबर भोजन प्रिया
स्त्रीके समान अत्यन्त रुचिकर हुआ] ॥ १०६ ॥

१ 'मण्डकमण्डलाम्बरा' इति 'प्रकाशे' व्याख्यातम् ।

चिर युवाऽऽश्रुतशते कृतार्थनश्चिर सरोपेक्षितया च निदुर्धुत ।

मृजन् करशालनलीलयाऽञ्जलिं न्यपेचि किञ्चिद्विधुताम्बुधारया ॥ १०४ ॥

चिरमिति । चिर दीर्घकाल व्याप्य, आकृतशते इद्वितसमूहै, कृतार्थन कृत प्रार्थन ततश्च सरोपेक्षितया रोपव्यञ्जकचेष्टावत्या, कयाचित्स्मृत्या इति शेष । निदुर्धुतश्च निराकृतश्च, युवा कश्चित्तरण, करशालनलीलया हस्तमञ्जालनध्याडेन इत्यर्थ, चिर दीर्घकाल यावत्, अञ्जलिं करद्वयसयोग, मृजन् विदधन् सन्, अञ्जलिधन्वेन चिर प्रार्थयमान सन् इत्यर्थ । किञ्चिद्विधुतया ईपत् कम्पितया, अम्बुधारया जलधारया, धाराविभूतनग्याजेन इत्यर्थ । न्यपेचि निषिक्त । कोपानलशान्ति जापनाय इति भाव, तरुण्या इति शेष ॥ १०७ ॥

बहुन देरतक सैकड़ों चेष्टाओंसे प्रार्थना करनेवाले (उसके प्राथनाको अस्वाकृत कर) क्रोधयुक्त चेष्टाओंवाले (किसी तरहकी द्वारा) निरस्तुन हुए (किन्तु फिर भी) हाथ धोने के बहानेसे अञ्जलि करने (हाथ जोड़ने) हुए युवकको थोड़ा-सा कम्पित पानीकी धारासे भिगों दिया । [युवकके सैकड़ों चेष्टाओंद्वारा प्रार्थना करनेपर युवतीने उसकी इच्छाको क्रोधयुक्त चेष्टाओंसे अस्वीकार कर दिया तो पुन युवकने हाथ धोनेके बहानेसे बार-बार हाथ जोड़कर सम्भोगार्थ प्रार्थना की, यह देख युवतीने 'तुम्हारी प्रार्थना मुझे स्वाकार है' ऐसा अभिप्राय हाथ धोनेके लिए उसे पानी देते समय अपने हाथकी थोड़ा कम्पितकर प्रकट किया । युवकने जब हाथ धोनेके बहानेसे बार-बार हाथ जोड़कर प्रार्थना की तब युवतीने भी हाथ कम्पितकर सकेन कर दिया कि बार-बार हाथ मल जोड़ो, मुझे तुम्हारी प्रार्थना स्वाकार है, अथवा—उम खीने अपनी कोपाग्निकी शान्त होनेका सकेन छोटे जलधाराको कँपाकर किया । हाथ धोनेसे यह सूचित होता है कि अब भोजन करना समाप्त हो गया है] ॥ १०७ ॥

न पट्विध पिङ्गजनस्य भोजने तथा यथा यौरतविभ्रमोद्भव ।

अपारशृङ्गारमय समुन्मिषन् भृश रमस्तोपमधत्त सप्तम ॥ १०८ ॥

न पट्विध इति । पिङ्गजनस्य विटजनस्य 'विट पट्विधो विट' इत्यमर, भोजन भोजनकाले, पट्विध पट्टप्रकार, रम मयुरादिरूप, तथा तादृश, तोप प्रीति, माधत्त न अपुयत्, पोषणार्थं लुडि लड् । यथा यादृश, युवतीना समूह यौवनम् 'मिहादिग्याऽण्' इति अण् । तत्र युवतीति सामर्थ्यात् 'मर्यादे तद्धिते' इति पुष ज्ञाव । तस्य विग्रहे विग्रसे, उद्भूत सञ्जात, पचाद्यच् । भृशम् अत्यर्थ, समुन्मिषन् समुन्जृम्भमाण, वर्धमान इत्यर्थ, अपार अपरिमित, शृङ्गारमय शृङ्गार नाम, सप्तम रस । अत्र सप्तमञ् मयुरादिपट्टमापेक्षया, न तु आट्टकारिकोत्तरसापेक्षया पट्टसातिरिक्तस्य रसस्याभावात् शृङ्गाररसस्यापि तदन्तर्गतत्वात् इति तात्पर्यम् । तोपम् अधत्त इत्यनेनाग्वय, एकोऽपि लोकोत्तरो बहूनिदिशेते इति भाव ॥ १०८ ॥

रसिक कामुक-समुदायके भोजनमें छ प्रकार (मोठा, खट्टा, नमकीन, कटवा, कमेंना और चरपरा) के रसोंमें वैसी तृप्ति नहीं उत्पन्न की जाती तृप्ति युवती-समूहके विलासने उत्पन्न अत्यंत बढने हुए अपरिमित शृङ्गाररूप सानवें रसने का । [कामुक जनोकी मधुरादि पत्ररम माजनकी अपेक्षा परोसनेवाली युवतियोंकी शृङ्गार चेष्टाओंसे अधिक आनन्द हुआ । प्रकृतमें मधुरादि ■ रसोंकी अपेक्षासे 'शृङ्गार' को मानवा रम समयना चाहिये, न कि नाट्यशास्त्रमें वर्णित रसोंकी अपेक्षामें अलौकिक एक पदार्थ भी अनेक पदार्थोंमें श्रेष्ठ हो जाता है, अत एव प्रकृतमें छ भोज्य पदार्थके रसोंमें एक शृङ्गार रम ही भोजनकर्ता रसिकोंके लिए आनन्दप्रद होनेमें श्रेष्ठ हो गया] ॥ १०८ ॥

मुखे निधाय क्रमुक नलानुगैरधौगिष्णि पर्णालिरवेद्य वृश्चिकम् ।

दम्भापित्तान्तर्मुखवासनिमित्त भयाविलै स्वभ्रमहामितायिलै ॥ १०९ ॥

मुखे इति । अथ करवालानान्तर, नलानुगै नलानुयायिभि, अन्यजनेरिति शेष क्रमुक पूगफल, मुखे बढने, निधाय दशा, दमेन दमयन्तीआद्या, अर्पित दत्तम्, अन्त मुखस्य अन्तर्मुख मुष्पाभ्यन्तरम्, विभक्त्यर्थऽप्ययीभाव । तद्वामयति सुगन्धी करोतीति अन्तर्मुखमास लवङ्गकफोलरूपरादिवामनाद्रव्यम्, कमण्यण । तेन निर्मित कल्पित, वृश्चिक वृश्चिकाकृतिताम्बूलोपकरणमुगन्धिद्रव्यविशेषम्, अत्रेक्ष्य इष्टा, भयेन दशानभीया, आविलै आउलै, अत एव स्वप्नमेण स्वस्य भ्रमेण, अधृश्चिक वृश्चिकज्ञानरूपनिजभ्रान्त्या इत्यर्थ, हासिता जनितहामा, अम्बिला समस्तदर्शक-चुन्दा ये तादृशै सज्जि, पर्णालि नागवल्लीदलपङ्क्ति, अधौगिष्णि उज्जिता, परिव्यक्ता इत्यर्थ, उज्जस विसर्गे कर्मणि लुङ् ॥ १०९ ॥

इस (बाध थाने) के बाद सुपारीको मुखमें लेकर दमयन्तीके छोटे मार 'दन' के हाग दी गया (कपूर, लवण, कलूरी, कत्था आदि) मुखको सुगन्धित करनेवाले पदार्थोंमें बनाये गये विच्छृङ्खो देखकर भय (विच्छृङ्खे 'दक मारनेके भयमें घराहट) से व्याकुल (अत एव) अपने भयमें सर्वाको हँसानेवाले नलानुगामियों (भोजनकर्ता रसिकों) ने पानके बोरेको पक दिया ॥ १०९ ॥

अमीषु तथ्यानृतरत्नजातयोविदभर्माद् चारुनितान्तचारुणो ।

स्त्रय गृहाणैकमिहेत्युद्दीर्य तद्द्वय ददौ शेषजिघृक्षवे हसम् ॥ ११० ॥

अमीष्विति । विदभर्माद् विदभर्मज्ञार्थोश्चर भीम, चारुनितान्तचारुणो यथा सङ्ख्य रग्यानिरमणीययो, इह अनयो, तथ्यानृतरत्नजातयो सयामत्यरत्नौघयो-मध्ये 'जात जायोघजनसु' इति विश्व । णस् स्वयम् आत्मना, गृहाण स्वीकुरु, अमीषु चारयात्रिंशेषु मध्ये, इति एवम्, उद्दीर्य उक्त्वा, शेषम् अस्त्यमेव, जिघृक्षवे गृहीतुमिच्छरे, कृत्रिमत्वेन तस्यैवातिचारवादिति भाव । ग्रहे सनन्तात् 'सनात्

१ वरादरा' इतिट 'प्रकाश' सम्मत पाठान्तरम् ।

समिच्छ उ' इति उप्रत्यय , मधुपिपासादिवात् द्वितीयाममास । हसन् तस्य रत्नज्ञा नाभावात् हास्य कुर्वन् , तयो कृत्रिमाकृत्रिमयो , द्वयम् उभयमेव , ददौ अर्पयाम् । तत्र कृत्रिम विनोदाय ददौ अन्यदौचित्यादिनि भाव ॥ ११० ॥

विदर्भनरेश (भीम या 'दम') ने सुन्दर तथा अनिश्चय सुन्दर झूठे तथा सच्चे अर्थात् नलकी तथा असली दो रत्नममूहोंमें—'एक स्वयं (जो तुम्हें पसन्द आवे, उसे) ले लो' ऐसा इन (बरातियों) में कहकर झूठे अर्थात् नकली (रत्न) की ग्रहण करनेके इच्छुक (बराती आदिमा) के लिए हसने हुए, उन दोनों रत्नोंको दे दिया । [पहले 'इन दोनों रत्नोंमें जो पसन्द हो, उसे तुम स्वयं ले लो' ऐसा विदर्भनरेशके कहनेपर उनके तारतम्यकी नहीं पहचाननेवाले बरातीने अधिक चमकने हुए नकली रत्नको लेना चाहा, यह देख उसकी रत्नज्ञा नहीं होनेसे उसपर हसने हुए विदर्भनरेशने उन दोनों रत्नोंको दे दिया । उनमें झूठे (नकली) रत्नको परिहासमे तथा सच्चे (असली) रत्नको उचित होनेमे दिया] ॥

इति द्विकृत्र्य शुचिमिष्टभोजिना दिनानि तेषा कतिचिन्मुदा ययु ।

द्विरष्टसन्मरधारसुन्दरीपरीष्टिभिस्तुष्टिमुपेयुषा निशि ॥ १११ ॥

इतीति । इति पूर्वोक्तप्रसारण, द्विकृत्व द्विवार, दिवा रात्रौ च इत्यर्थ , 'सङ्ख्या या त्रिषांस्यावृत्तिगणने कृत्वमुच्' इति कृत्वसुच् । शुचि विशुद्ध, मिष्ट मधुर, भुञ्जते अरुन्ति इति तेषा विशुद्धलङ्घुडादिभोजिना, तथा निशि रात्रौ, द्वि द्विगृह्णा , अष्टमशमरा यामा नामा षोडशवर्षाणां, धारसुन्दरीया गणिकानां, परीष्टिभि परिषयाभि, सत्कृत्कशुभ्रपाभिरित्यर्थ , 'परीष्टि परिषयायां प्राक्काम्येऽन्वेपणे छियाम्' इति मेदिनी । तुष्टि प्रीतिम् , उपेयुषा प्राप्नुवता, तेषा नलानुगानां, कतिचिन् दिनानि कतिपयानि अहानि, मुदा हर्षण, ययु अतिशयहितानि वमूढु ॥

इम प्रकार (१६।४०—१००) दो बार अर्थात् दिन तथा रातमें विशुद्ध तथा मधुर भोजन करने हुए और रातमें षोडशवर्षीया वाराङ्गनाओंकी परिचया (सेवा-संस्कार, अथवा—जालिङ्गन—सुव्रतादि सेवाकार्य) से सन्तुष्ट उन (बरातियों) के कर (५-६) दिन अलङ्घने शीत गये ॥ १११ ॥

उग्रान वेदर्भगृहेषु पञ्चषा निशा कृगाङ्गी परिणीय ता नल ।

अथ प्रतस्ये निपद्यान् सहानया रथेन वार्ष्णेयगृहोत्तरग्निना ॥ ११२ ॥

उवासेति । नल कृगाङ्गी तन्वन्ती, ता दमयन्ती, परिणीय उद्गृह्य, वेदर्भगृहेषु भीमभवनेषु, पञ्चषा पञ्च पट् वा, 'सङ्ख्यायाऽन्यया—' इत्यादिना बहुव्रीहिसमाये कृते 'बहुव्रीही सङ्ख्येये ङच्' इति ङच्मन्नामान्त । निशा रात्रौ । अन्त्यस्तसयोगे द्वितीया उवास तस्यौ । अयं सप्तमाहे, अनया भग्या सह, वृष्णे अपत्य पुमान् वार्ष्णेय तन्नामकनलमारपि 'इतश्चानिज्' इति ङक् । तेन गृहीता घृता , रश्मय

प्रग्रहा यस्य नादृशेन 'किरणप्रग्रहो रश्मी' इत्यमर । रथेन निषधान् तदाग्ननिज-
जनपदान् , प्रतस्थे जगाम ॥ ११२ ॥

मन्त्रे वृक्षादी (दमयन्ती) के साथ विवाहकर विदर्भनरेश (राजा भीम) के मरलोंमें
पाच-छ रात वास किया, इसके बाद उस (दमयन्ती) के साथ वागँय नामक सारथिके
द्वारा पकड़ गये राम (लोगोंके लगामकी ओरी) वाले रथने निषध देश (अपने राज्य) को
चला ॥ ११२ ॥

परस्य न स्प्रष्टुमिमामधिक्रिया प्रिया शिशु प्राशुरमाप्तिं ब्रुवन् ।

रथे स भर्मी न्वयमव्यरुहृन्न तन् कितारिलक्ष्मिमा जनेभित ॥११३॥

परस्येति । परस्य मदितरस्य लोकरस्य, इमा पतिव्रता भैमी, स्प्रष्टु परामर्ष्टुम्,
अक्रिया अधिकार, न, अस्तीति शेष । प्रिया भर्मी, शिशु, बाला, हस्वप्रमाणा
इति भाव । अमो रथ, प्राशु उन्नत, सत एव स्वयं रथारोहणे असमर्थनि भाव ।
इति पूर्व, ब्रुवन् किल वदन्निव, स नल, स्वयम् आभर्तव्य, भैमी दमयन्ती, रथे
अव्यरुहृन् अप्रारोह्य, माम, स्पर्शलाभादिनि भाव । गिजन्तहृद्घातो लुटि 'णी
खडि' इत्युपधाहृत्त्व, 'दीवो लघा' इत्ययामस्य दर्शयम् । किन्तु तत् तदा, रथा
रोपगच्छात् इत्यर्थ, जनेभित जन इष्ट सन्, बहुभिर्जने दृष्टत्वादिति भाव । इमा
भैमी, नादिलक्ष्मि न आल्लिष्ट, शालीनताविरोधियवहारत्वादिति भाव । रिलप
आलिङ्गने इति रिलपो लुडि च्छे वसादेश ॥ ११३ ॥

(मेरे अन्विष्ट) दूसरे किसीको देने (पतिव्रता दमयन्तीको) दूनेका अधिकार नहीं है
(और) प्रिया (दमयन्ती) शिशु (छोटी) हैं तथा यह (रथ) उचा है' ऐसा कहते हुए
उस (नल) ने दमयन्तीको स्वयं रथपर चढ़ाया और लोगोंको देखते हुए उनका माँलों
अन्विष्ट नहीं किया अर्थात् वास्तविक विचार करनेपर तो उस प्रकार कहकर देने रथपर
चढ़ान समय आलिंगन कर ही लिया ॥ ११३ ॥

इति स्मर शीघ्रमतिश्चकार त वधूञ्च रोमाञ्चभरेण कर्कशौ ।

स्तलिप्यति स्निग्धतनु प्रियादिय अनीयसी पीडनभीरुदार्पुगान् ॥११४॥

इतीति । स्निग्धतनु मसृगाद्री अनीयसी अतिमुकोमला च, इय भैमी,
पीडनात् दृढतया धारगजम्यव्यथाप्राप्ते, भीरु भयशील, दार्पुग बाहुद्वय यस्य
तस्मात् अनीयस पीडनासहत्वात् सुदृढधारणेन व्यथाप्राप्तिद्वया शिथिलधारिण
इति भाव । प्रियात् नलात्, स्तलिप्यति अशिप्यति, इति मृदुतयाशिथिलधारणेन
स्निग्धतनुरिय प्रियमुत्तान्तरात् स सिप्यते इति हेतोर्वित्यर्थ । शीघ्रमति प्रत्युत्पन्न
मति, स्मर कान, तनल, वधू भैमीञ्च, रोमाञ्चभरेण पुलकानिदायेन, कर्कशौ

१ 'इतोव च शीघ्रमति स्मरोऽकरोद्वधूम्' इति, पूर्वाद्धोत्तरार्द्धयोर्व्यत्यासेन
पाठान्तरम् ।

स्पर्शो, अस्निग्धगात्रौ इत्यर्थः, चकार विदधे । अनयो परस्पराङ्गसङ्गहेतुके रोमाचे स्खलनप्रतिबन्धार्थत्वमुपेक्षते ॥ ११४ ॥

‘अतिशय कोमल नमः चिकने (पक्षा०—मस्नेह) शरीरवाली यह (दमयन्ती) अधिक दवाने (कसकर पकड़ने) में मययुक्त बाहुद्वयवाले नल (के हाथों) से स्खलन (फिसल कर गिर) जायेगी’ ऐसा (विचारकर) प्रत्युत्पन्नबुद्धि कामदेवने उस (नल) तथा बधू (दमयन्ती) को अधिक रोमाङ्गसे कर्कश कर दिया । [‘दमयन्ती अतिशय कोमल तथा स्निग्ध शरीरवाली है, अतः नल ‘यदि इमे मं कमकर पकड़गा तो इमे बधू होगा’ इस भयमे दमयन्तीका रथपर चढ़ाने समय कसकर नरों पकड़ेंगे और दीला पकड़नेसे यह नलके हाथमें फिसल (सरक) कर गिर पड़ेगी’ इस विचारके मनमें आने ही प्रत्युत्पन्नमति कामदेव ने दोनोंको रोमाङ्गितकर कर्कश (रुख शरीर युक्त) कर दिया, जिसमें नलके हाथसे गिरने पड़े । कोमल तथा चिकनी वस्तुको अधिक दबाकर नहीं पकड़नेसे फिसलकर गिर जाना सम्भव है, और उसीके कठोर या रुख हा जानेपर गिरनेका भय नहीं रहता, अतः कामदेव का ऐसा करना उचित ही था । दमयन्तीका रथपर चढ़ाने समय नल तथा दमयन्ती दोनोंको तत्काल ही सारिषक भावजय रोमाङ्गित हो गया] ॥ ११४ ॥

तथा किमाजन्म निनाङ्गुनद्धिता प्रहित्य पुत्रो पितरौ विपेदतु ? ।

विमृज्य तौ तदुहितुं पतिं यथा विनीततालक्षगुणीभवद्गुणम् ॥११५॥

तथेति । पितरौ भग्या मातापितरौ ‘पिता मात्रा’ इति विश्वपादेन्यदेशः । आजन्म जन्यप्रभृति, अभिविधावध्ययीभावः । निजाके स्त्रोत्सगे, वर्द्धिता पोपिता, पुत्री दुहितरम् । गोरादिवादीकारः । प्रहित्य प्रस्थाप्य, हिनोते बन्धो ह्यप् । तथा तादृक्, विपेदतु विपण्णी यभूवतु, किम् ? नेत्यर्थः, सदेर्लिङि ‘अत एव हलन्मधे-’ इत्यादिना एवाभ्यासलोपी । यथा यादृक्, तौ भेमीपितरौ, विनीततया विनय सम्पन्नतया, लक्षगुणीभवन्तः लक्षगुण्येन सम्पद्यमाना, गुणा क्षीर्यादय यस्य तथोक्त, दुहितुं पतिं जामातरम् ‘विभाषा स्वस्वपरयो’ इति विकल्पात् पठ्या अलुक् । ॥ नल, विमृज्य सम्प्रेष्य, विपेदतुरिति पूर्वक्रियया अन्वयः । कस्यावियोगा पक्ष्या गुणशालिनामातृवियोगस्याधोनितरा विपादकारणमभूदिति भावः ॥ ११५ ॥

माता-पिता जन्मसे अने गोदमें बड़ाये हुए पुत्रो (दमयन्ती) का भेजकर बैधा दु पितृ गुण क्या ? जैसा नन्नगासे लाएगुना होते हुए (शोर्वादि) गुणवाले क बाके पनि अर्थात् जमाना (नल) को भेजकर दु पितृ हुए । [जन्ममे गोदमें पाल-पोसकर बड़ाये गयी पुत्री दमयन्तीके वियोगमे माता-पिताको उनका दु स नहीं हुआ, जिनका गुणवान् जामाता नलके वियोगसे हुआ] ॥ ११५ ॥

निजादनुजय स मण्डलावचेर्नल निवृत्तौ चटुलापता गतः ।

नद्यागरुल्लोल इवानिल तटाद्वृताऽऽनतिर्यागवृते विदंभराट् ॥११६॥

निजादिति । नलम् अनुव्रज्य अनुसृत्य, निवृत्तौ प्रत्यावर्त्तनसमये, चटु चाटु, प्रियवाक्यमित्यर्थ, लपति कथयतीति चटुलाप तस्य भाव तत्ता चाटुभाषिता, गत प्राप्त, मनोहरवाक्यवादी इत्यर्थ, 'कर्मण्यण्' इति अणप्रत्यय । स विदंभराट् भीम, एता स्वीकृता, जानति नलनमस्कार येन तादृश सन्, अनिल धातुम्, अनुव्रज्य अनुयाय, चटुला चञ्चला, आप जलानि यस्य तस्य भाव तत्ता चञ्चल लव, गत प्राप्त, चातेनान्दोलिताप इत्यर्थ, 'ऋक्पूर्—' इत्यादिना समासात् । तद्वागस्य सरोवरस्य, कल्लोल महोर्मि 'अयोर्मिषु । महत्सुक्ष्मोलकल्लौ' इत्यमर, एता प्राप्ता, जानतिस्नटाघातजन्यनमन येन तादृश सन्, तटाद् नीरप्रदेशादिव, निजात् स्वर्कापात्, मण्डलावधे राट्सीमागन्तात्, व्यावृत्ते प्रनिनिवृत्त ॥ ११६ ॥

नञ्का अनुपमनकर लोटने समय प्रिय भाषण तथा नमस्कार करनेवाले वे विदंभराज (पाठा०—विराटराज भीम) राज्यको सीमाने उभ प्रकार लोट भावे जिस प्रकार सरोवरका तट वातुका अनुपमनकर लोटने समय चञ्चल अनुक्त हो कर तार (किनारे) में लोट आता है । [राना माम नञ्को अपने राज्यको सीमानक पहुँचाकर वापस लोट भावे] ॥ ११६ ॥

पिताऽऽत्मन पुण्यमनापद क्षमा वन मनस्तुष्टिरथापिल नल ।
अत पर पुत्रि । न कोऽपि तेऽमृत्युन्मथुरेण व्यमृजन्निजौरमीम् ॥११७॥

पितेति । पुत्रि । हे बसे । आत्मन तव, पुण्य सुकृतमेव, पिता जनक, हितकारिष्वादिननिवारकवाच्चेति भाव । क्षमा सहिष्णुता, अनापद न विद्यन्ते आपदो धाम्यस्ता आपक्षिवारिका इत्यर्थ, मनस्तुष्टि मन्तोप, अलोभित्वमेव इत्यर्थ, घन विरम, अथ अनन्तरम्, एतत्पर किं बहु वचिम् इत्यर्थ, अखिलम् उक्तम् अनुक्तञ्च सर्वमेव, नल नल एव तव सर्वस्वम् तर्भाष्टदापित्वादिति भाव । अत अस्मात् नलात्, परम् अन्यत्, न, अस्तीति शेष, अहन्तु ते तव, कोऽपि य कश्चिदेवेत्यर्थ । यद्वा—अत परम् अत ऊर्ध्वम्, अद्यारभ्येत्यर्थ, अह ते कोऽपि न मया सह तव कोऽपि सम्बन्धो नास्तीत्यर्थ, इति इत्यम्, उक्तेति शेष । एष भीम, उद्धृ उद्वाप् साधुनेत्र सन् इत्यर्थ । निजाम् आमीयाम् उरसा निर्मिता पुत्रीम् 'उरसोऽण्' इत्यणप्रत्यय, 'मज्ञाधिकारादभिधेयनिषम' इति काशिका व्यसृजद् विममर्ज, प्रेषयामासेत्यर्थ ॥ ११७ ॥

'हे पुत्रि (दम्पति) ' अपना अर्थात् तुम्हारा पुण्य (ही दिन करने तथा अद्विक्ता निवारण करनेमें) पिता है, क्षमा (सहनशीलता ही) आपत्तियोंका निवारण करनेवाली है, समोष (अलोभ ही) घन है, और सब (पूर्वकथित तथा अकथित—सब कुछ) नल (ही) है । हम (नल) से मित्र (तुम्हारा कोई) नहीं है, मैं तुम्हारा कोई हूँ अर्थात्

१ 'वराट्' इति 'प्रकाश' सम्मत पाठ ।

सामान्यतः अपरिचित—जैसा ही हूँ (अथवा—जब (आज) से मैं तुम्हारा कोई नही हूँ अर्थात् मेरा तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं रहा, नल ही आजमे तुम्हारे सब कुछ है) इस प्रकार (कहकर) रोते हुए इस (राजा भीम) ने अपना पुत्रो (दमयन्ती) को छोड़ अर्थात् बिदा किया ॥ ११७ ॥

प्रिय प्रियैकाचरणाचिरेण ता पितु स्मरन्तीमचिकिन्मदाधिपु ।

शशाम सोऽग्राविरहौर्वपात्रको न तु प्रियप्रेममहाम्बुधावपि ॥११८॥

प्रिय इति । प्रिय नल, प्रियैकाचरणात् केवलप्रीतिजनकव्यवहारात्, शोकाप-
नोदनाथं मन प्रमादकव्यवहार दृष्टव्यम्, पितु स्मरन्तीं पितर स्मरन्तीम् इत्यर्थः,
पित्र्यं शोचन्तीमिति यावत् । 'अधोगर्ह्यद्वेषा कर्मणि' इति कर्मणि पठ्यते । ता दम-
यन्ती, चिरेण बहुकालेन, आधिपु पितृविरहजमनोव्यथासु विषये, अचिकिन्मत्
चिन्तिमा कृतवान्, नल प्रेमसामान्यावचनेन दमयन्त्या पितृविरहजदुःखं कथ-
ञ्चिन् निवारयामास इत्यर्थः, कित निवासे इति धातोर्व्याधिप्रतीकार अर्थे 'पुप्तिञ्
क्रियते' इति मन् । तु किन्तु स अनिदुःखं इत्यर्थः, अग्राविरह मातृविरहो
एव, आर्वपात्रक वडवाभि, असह्यत्वादिति भावः । प्रियप्रेममहाम्बुधो नलानुराग-
समुद्रोऽपि न शशाम न निवर्तते, नले अतिप्रियमाचरत्यपि तस्या मातृविरहजदुःख-
नोपशान्तमित्यर्थः, कन्यानां पितृणां मातरि अनुरागाधिक्यात् तद्विरहो दुःखं इति
भावः । जलानलपारेऽप्रावस्थानविरोधोऽपि समुद्रे वडवानेरवस्थानं न विरहः तस्य
तत्रैव स्थानत्वादिनि समुद्रे वडवाग्निर्न शान्त इति तात्पर्यम् ॥ ११८ ॥

(प्रिय (नल) ने एकमात्र प्रिय करनेसे पिताका स्मरण करती हुई उस (दमयन्ती) के
(पिताके विरहमें उरभ्र) दुःखको बहुत समय (दिनों) में अर्थात् बहुत समयके बाद
शान्त किया (अथवा—प्रियने पिताका स्मरण करती हुई उसके दुःखको एकमात्र प्रिय
करनेसे बहुत समयमें शान्त किया, अथवा—प्रियने बहुत दिनोंतक पिताका शान्त
किया) । किन्तु (सर्वविदित) वह माताका वियोगरूपी वडवानल प्रिय (नल) के प्रेमरूपी
महामुद्रमें भी नहीं शान्त हुआ (पाठा०—जैसा ही रहा) । [पुत्रियोंके लिए पितृ-
विरहका अपेक्षा मातृविरहके अधिक दुःखदायी होनेसे प्रियावरणमें नलने यद्यपि
दमयन्तीके पितृ-विरहज दुःखको बहुत दिनोंमें दूर कर दिये, किन्तु मातृ-विरहज दुःखको वे बहुत प्रेम करनेपर भी नहीं दूर कर सके । बिम प्रकार जलमें अग्निका रहना
असम्भव होनेपर भी समुद्रमें वडवानल रहना ही है, उसी प्रकार नलके अधिकतम प्रेम
करनेपर भी दमयन्तीका मातृ-विरहजन्य दुःख बना ही रहा] ॥ ११८ ॥

असौ महीमृद्वदुधातुमण्डितस्तत्रा निजोपयक्येव रामपि ।

१ 'तथास्त तन्मातृवियोगवाडव स तु' इति, 'शशाम तन्मातृवियोगवाडवो न तु' इति च पाठान्तरम् ।

भुवा कुरङ्गेक्षणदन्तिचारयोर्वभार शोभा कृतपादसेवया ॥ ११६ ॥

असाविति । बहुधातुभि सुवर्गादिभि, मण्डित अलङ्कृत, एकत्र—सुवर्गादि-
निर्मिताभरणेनाङ्कितत्वात्, अन्यत्र—तत्तद्वानुनामाकरत्वेन तद्युक्तत्वादिति भाव ।
अमौ अय, महीभृत् राजा नल, पर्वतश्च, कुरङ्गस्येव मृगस्येव, ईक्ष्ण चक्षु, अन्यत्र—
कुरङ्गाणाम् ईक्ष्ण, दन्तिन गजस्य इव, चार गमनम्, अन्यत्र—दन्तिना चार
गति, तयो भुवा स्थानेन, मृगवत् नयनयो गजवत् गमनस्य च आश्रयभूतया
इत्यर्थ, मृगाद्या गजगामिन्या च इति भाव । अन्यत्र—मृगाणा दन्तिनाञ्च तत्र
विद्यमानत्वेन तयोर्दंशनगमनाश्रयभूतया इत्यर्थ, कृता विहिता, पादसेवा भक्तुं धरण
सेवा, अन्यत्र—पादाना प्रत्यन्तपर्वताना, सेवा साक्षिध्यमित्यर्थ, 'पादा प्रत्यन्त-
पर्वता' इत्यमर । यथा तादृश्या, निजया आग्नीयया, उपत्यक्या आसन्नभूम्या इव,
तथा भैरवा, काम् अपि अनिर्वाच्या, शोभा कान्ति, वभार धारयामास ॥ ११९ ॥

अनेक प्रकारके बाहु (सुवर्णनिर्मित रत्नजटिन अलङ्कार) से सुशोभित ये राजा (नल)
मृगदर्शन तथा गजगमनकी उत्पत्तिस्थान अर्थात् श्रेष्ठ मृगनयनी तथा गजगामिनी और
चरण-सेवा करनेवाली सवन पार्वतीनी उस (दमयन्ती) से उस प्रकार किसी (अनिर्वाच-
नीय) शोभाको प्राप्त किये, जिस प्रकार (स्नानोंके होनेसे) अनेक प्रकारके बाहुओं
(सुवर्ण, चादी, लौहा तथा गेरू आदि) से शोभित पर्वत हरिणोंके दर्शन तथा हाथियोंके
गमनकी भूमि तथा प्रत्यन्तपर्वतोंमें सेबिन अपनी उत्पत्तिका (पर्वतकी समीपस्थ भूमि) से
किसी अनिर्वाचनीय शोभाको प्राप्त करता है ॥ ११९ ॥

तदेकतानस्य नृपस्य रक्षितु चिरोदया भावमिवात्मनि श्रिया ।

त्रिहाय सापत्न्यमरञ्जि भीमजा समप्रतद्वाङ्मिहृतपूर्तिवृत्तिभि ॥ १२० ॥

तदिति । त्रिहाय बहुकालात्, कृष्टया धनया परिणेतया च, श्रिया राज्यलक्ष्या
तदेकतानस्य दमयन्त्येकवृत्ते, 'एकतानोऽनन्यवृत्ति' इत्यमर । नृपस्य नलस्य, भाव
चित्तवृत्तिम्, अनुरागमिति यावत्, आत्मनि स्वविषये, रक्षितु स्थिरीकर्तुम् इव,
इन्द्रप्रेक्षा । मायन्य सपत्नीभाव, सपत्नीद्वेषमित्यर्थ, विहाय परित्यज्य, भीमजा
भैमी, समप्राणा सर्वविधाया, तद्वाङ्मिहृताना दमयन्तीस्मिताभामित्यर्थ, पूर्तिवृत्तिभि
पूरणव्यापारै, अरञ्जि रञ्जिता, पतिचिन्तानुरञ्जनाय सपत्नी अपि उपासते साध्य
इति भाव ॥ १२० ॥

चिरस्वीकृत (पश्चात्—चिरविवाहित) राजलक्ष्मीने दमयन्तीने अनुरक्त राजा (नल)
के अनुरागको मानो अपनेमें सुरक्षित रखनेके लिए सपत्नीत्व (सौतेपना) को छोड़कर
उम (दमयन्ती) को समस्त इच्छाओंको पूरी करनेमें दमयन्तीको प्रसन्न किया । [लोक-
व्यवहारमें भी पति जिस स्त्रीमें अनुरक्त रहता है, उसकी चिरकाल पूर्व विवाहित भी दूसरी
को 'दमके अनुकूल रहनेसे पति मेरे ऊपर प्रमत्त रहेंगे' इस अभिप्रायसे सपत्नीभावका

त्यागकर उस नवोदय पतिप्रिया स्त्रीको इच्छाएँ पूरी करती हुई उसे प्रसन्न रखती है । नल दमयन्तीमें अतिशय अनुरक्त हुए तथा वह दमयन्ती भी अपनी सब इच्छाओंको पूर्ति होनेसे प्रसन्न हुई] ॥ १२० ॥

मसारमालावलितोरणा पुरीं निजाद्वियोगादिव लम्बितालकाम् ।

ददर्श पर्यामिव नैषध पथामयाश्रितोद्ग्रीविकमुन्नतैर्गृहै ॥ १२१ ॥

मसारेति । अथ अनन्तर, दमयन्त्याश्रितप्रसादनानन्तरमित्यर्थ, नैषध नल, मसारमालावलय इन्द्रनीलमालाश्रेण्य, तोरणेषु बहिर्द्वरिषु यस्यास्तादृशीम्, इन्द्रनीलमणिभूषितबहिर्द्वाराम्, 'नीलमणिमसार स्यात्' इति हारावली । अत एव निजात् स्वात् वियोगात् विच्छेदात्, नलविरहादित्यर्थ, लम्बितालका सरकारा भावात् विलस्तकुन्तलाम् इव स्थिताम्, इत्युत्प्रेक्षा । उन्नतं तुङ्ग, गृहं प्रासादं आश्रिता अवलम्बिता, उद्ग्रीविका उद्ग्रीवीकरणेन दर्शनं यस्मिन् कर्मणि तत् तथा तथा, उद्ग्रीवयते 'तत्करोति—' इति ण्यन्तात् 'धारवर्धनिर्देशे ण्वुल्' इति वक्तव्यात् ण्वुल्, तत 'प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्य—' इतीकारः । पथा नलागमनमार्गाणाम्, कृणो गात् कर्मणि पठ्यो । परयतीति पर्यामवलोकिकाम् इव स्थिताम्, इत्युत्प्रेक्षा । 'पात्रा—' इत्यादिना द्रव्ये पर्यावेशः । पुरीं नगरं ददर्श अवलोकयामास । प्रोषितभर्तृका लम्बालका पतिमार्गान् प्रतीक्षन्ते इति भावः ॥

नलने इन्द्रनीलमणियों (नीलमों) की मालाओंकी (पञ्चा०—इन्द्रनीलमणियोंकी मालारूपी) तोरणवाली (अन एव) अपने अर्थात् पति नलके वियोगसे लटकने हुए केष्टों वाली और उन्नत भवनोंसे गर्दनको ऊंची करके मानो मार्गों (नलके आनेके रास्तों) की देखनी ॥ (पाठा०— ऊँची करके देखनी हुई प्रियाके समान) नगरीकी देखा । [सपत्नीक नलके आनेके समाचारसे सबायी गयी तथा ऊँचे-ऊँचे भवनोंवाली नगरी ऐसी मालूम पड़ता थी, जैसी पतिके परदेश जानेपर प्रोषितपतिका स्त्री केशोंको लटकावे हुए तथा गर्दनको ऊँचीकर पतिके मार्गको देखनी है । अथवा—पतिके आनेके सुममाचारकी हुनकर वामकमजा (भूषणारिसे सुभूषित) स्त्री गर्दन ऊचाकर जिस प्रकार पतिके मार्गकी देखनी है] ॥ १२१ ॥

पुरीं निरीक्ष्यान्यमना मनागिति प्रियाय भैम्या निभृत प्रिसर्जित ।

ययौ कटाक्ष सहसा निवर्त्तिना तदोश्रणेनार्द्धपथे समागमम् ॥ १२२ ॥

पुरीमिति । पुरीं नगरीं, निरीक्ष्य द्रष्टुं, मना क ईप्सत्, अन्यमनाः विषयान्तरा सत्तचित्तं, मन्स्वामीति शेषः, इति एव, विविच्येति शेषः, भैम्या दमयन्त्या, प्रियाय नलाय, निभृत गूढ, प्रिसर्जित प्रहित, तद्वदृष्टिपरिहाराय इति भावः । कटाक्ष अपाङ्गदर्शन, सहसा अकरमात्, निवर्त्तिना भर्मा द्रष्टुं विषयान्तरात् समाकर्षिणा

इत्यर्थः, तदीक्षणेन नलदृष्ट्या सह, अर्द्धपथे अर्द्धमार्गे, समागम सयोग, ययौ प्राप, दमयन्ती लज्जाभरात् नलसमक्ष तन्मुख द्रष्टु न शशाक, त पुरीदर्शनेन अन्यमनस्क विविच्य यदैव कटाक्षमकरोत् तदैव नलेनापि दृष्टिप्रत्यावर्तनात् तद्दृष्ट्या दृष्टिमेतनात् लज्जिता अभवत् इति निष्कर्षः । उभावपि अन्योऽन्याभिप्रायं जज्ञुः इति भावः ॥ १२२ ॥

पुरी (अपनी राजधानी) को देखकर (पाठा०—देखनेसे) मोटा विषयान्तरासक्त है (अग एव इन समय मैं इन्हें अच्छी तरह देख लू), ऐसा विचारकर प्रिय (नल को देखने) के लिए चुपचाप किया (दमयन्तीका) कटाक्ष उस (पुरी) के देखनेसे एकाएक लौट (दमयन्तीको देखनेके लिए नगरीका देखना छोड़कर बीचमें ही फिर) हुए नलके नेत्रने आधे मार्गमें समोहको पा लिया । [नलको पुरी देखनेमें कुछ आसक्त जानकर दमयन्तीने सोचा कि 'इस समय प्राणप्रियकी दृष्टि पुरीके देखनेमें आसक्त है अग एव इन्हें मैं इन अवसर पर अच्छी तरह देख लू, क्योंकि ये जब मुझे देखने रहते हैं तब मैं लज्जावश इन्हें अच्छी तरह नहीं देख पाती' ऐसा विचारकर क्योंकि दमयन्तीने नलको देखनेके लिए नेत्र ठाया, क्योंकि दमयन्तीको देखनेके लिए पुरीका देखना बीचमें ही छोड़कर नलने अपनी दृष्टि दमयन्तीकी ओर लौटा लिया और इस प्रकार दोनोंकी दृष्टियोंका आधे मार्गमें ही सम्मिलन हो गया और हमने दमयन्ती लज्जित हो गयी तथा दोनोंने परस्परके भावको समझ लिया । दमयन्ती तथा नलमें परस्पर इतना अधिक स्नेह था कि वे दोनों एक क्षण भी परस्परके देखनेके बिज्जनकी नहीं सहन कर सक्ते थे] ॥ १२२ ॥

अथ नगरधृतैरभात्यरत्नैः पथि ममियाय स जाययाऽभिरामः ।

मधुरिव क्लृप्तमश्रिया सनाथ क्रममिलितैरलिभिः कुनूहलोलकैः ॥ १२३ ॥

अथेति । अथ पुरीनिरीक्षणानन्तर, जायया भार्यया, अभिराम रमणीयः, स नलः, क्लृप्तमश्रिया पुष्पसम्पदा, मनाथ मुक्तः, मधु वसन्तः, क्रमेण अनुक्रमेण, पारम्पर्येण इत्यर्थः, मिलिते एकत्र समागतैरित्यर्थः, कुनूहलोलकैः कुनूहलाय कौतुकाय, मधुपानजमितानन्दलाभायैत्यर्थः, उक्ते वस्तुके, अन्यत्र—दमयन्तीसहितनलदर्शनार्थं साग्रहविस्मयेन, उक्ते वस्तुके, अलिभिः मधुरैरिव, मगरे एतत् सरस्वनाय स्थिते, श्रियते कर्त्तरि क्त । अमात्यरत्नैः मन्त्रिवर्यं महः, पथि नगरपथे, राजमार्गे इत्यर्थः, समियाय सङ्गत ॥ १२३ ॥

इस (पुरीको देखने) के बाद खी (दमयन्ती) ने मनोहर वे (नल) कुनूहलके उत्कण्ठन (अथवा—जायासहित नल दर्शनके लिए उत्कण्ठन अथवा—जाया कपर गर्दन ठाये हुए) नगरमें (रक्षार्थ) स्थापित कमरा आवे हुए श्रेष्ठ मन्त्रियोंसे उस प्रकार मिले, जिस प्रकार (उराव-चपा आदि) पुष्पोंकी शोभासे युक्त तथा मनोहर वसन्त ऋतु कमरा (पहिबद्ध तू होकर) आवे हुए कौहलसे (या पुष्परसमानके आनन्द-रमा

लिए उत्कण्ठित) अमरोंमें मिलता है । [स्वयंवरमें जाने समय नगररक्षार्थं नियुक्त और उनके छौटनेपर श्रीमहित नलको देखनेके कौतूहलमें उत्कण्ठित श्रेष्ठ मन्त्रिगण नलको अगवानो करनेके लिए आये तो उनसे नलका मिलाप हुआ] ॥ १२३ ॥

कियदपि कथयन् स्ववृत्तजात श्रवणकुतूहलचक्रलेपु तेषु ।

कियदपि निजदेशवृत्तमेभ्य श्रवणपथ स नयन् पुरीं विवेश ॥ १२४ ॥

कियदिति । स नल, श्रवणकुतूहलमें स्वयंवरवृत्तान्तश्रवणकौतूहलमें, चञ्चरेषु व्यप्रेक्षु, तेषु अमात्येषु विषये, स्ववृत्तजात स्वचरितसमूहम्, इन्द्रादीनां दौत्यादि रूप मुख्य कर्मसमूहमित्यर्थ, कियत् अपि स्तोक, सहस्रेषेण इत्यर्थ, कथयन् वर्णयन्, तथा निजदेशवृत्त स्वराष्ट्रवृत्तान्तम्, एभ्य अमारयेभ्य सकाशात्, कियत् अपि किञ्चित्, श्रवणपथ श्रुतिमार्गं, नयन् प्रापयन्, शृण्वन् इत्यर्थ, पुरीं नगर विवेश प्रविष्टवान् ॥ १२४ ॥

(स्वयंवर-वृत्तान्तको) सुननेके कुतूहलमें चञ्चल उन (मन्त्रियों) से अपने समाचार-समूह (पाठा—स्वयंवरमें हुए समाचार) को कुछ अर्थात् संक्षेपमें (इन्द्रादिका दूत बनना तथा उनकी कष्टरूप धारण करवा आदि मुरय-मुरय समाचार) कहते हुए और इन (मन्त्रियों) से अपने देशके समाचारको कुछ अर्थात् मुरय-मुरय सुनते हुए वे नल पुरीमें प्रवेश किये । [स्वयंवरके समाचारको सुननेके लिए कौतूहलवश वे मन्त्रिगण बहुत चञ्चल हो रहे थे, अतः एव उनकी अपना मुरय-मुरय कुछ समाचार कहते तथा अपने देशका कुछ समाचार उससे सुनते हुए नलने राजधानीमें प्रवेश किया । बाहरसे आनेवालोंसे वहाँके समाचार सुननेका कौतुक वहाँ नहीं गये हुए लोगोंमें होना और बाहरसे लौटे हुए व्यक्तिका अपने देशके समाचार सुननेकी इच्छा होना और परस्परमें एक दूसरेसे सक्षिप्त कहने-सुनने नगरमें प्रवेश करना लोक व्यवहारमें भी देखा जाता है] ॥ १२४ ॥

अथ पथि पथि लाजैरात्मनो बाहुवल्लीमुकुलकुलसकुन्यै पूजयन्त्यो जयेति ।
क्षितिपतिमुपनेमुस्त दधाना जनानाममृतजलमृणालीसौकुमार्यं कुमार्यः ॥

अथेति । अथ पुरप्रवेशानन्तर पथि पथि प्रतिमार्गम्, अमृतजलस्य सुधोदकस्य, वा मृणाली मृणालम्, अमृतजलोत्पन्ना वा त्रिमितन्तुरित्यर्थ, तद्वत् सौकुमार्यं कोमलता, दधाना धारयन्त्य, कोमलाद्भव इत्यर्थ, कुमार्यं अविवाहिता नार्य, आरमन् स्वस्य, बाहुवल्लीना मुञ्जलताना, मुकुलकुलसकुन्यै कुड्मलोत्पन्नतुल्यै, लाजै मृष्टधान्योद्भव, जय विजयीभव, इति जयशब्दपूर्वमित्यर्थ, पूजयन्त्य सत्य, जनाना समागतलोकाना मध्ये, त क्षितिपतिं नष्टम्, अपनेसु उपतस्थिरे इत्यर्थ ॥

इस (पुरीमें प्रवेश करने) के बाद प्रत्येक मार्गमें अमृतजलोत्पन्न विसतन्तु (मृणाल-फलनाह) को सुकुमारताको धारण करती हुई अर्थात् उक्त मृणालके समान कोमल

कुमारियों (अविवाहित कन्याओं) ने अपनी दादुल्लारूपी चोरक समूहके समान छीलोंते 'विजयी होओ' ऐसा कहकर पूजा करती हुई लोगोंके बीचमें नटका सत्कार किया । (अथवा धारण करती हुई लोगोंकी कन्याओंने पूजन करती हुई नर्तको नमस्कार किया) । [मार्गमें कुमारियों द्वारा सौल बिलेरना मङ्गल-सूचक माना गया है] ॥ १२५ ॥ अभिनवदमयन्तीकान्तिजालावलोकप्रणपुरपुरन्त्रीरक्त्रचन्द्रान्वयेन ।

निखिलनगरसौधाट्टातलोचन्द्रशाला क्षणमिव निजसज्ञा सान्त्वयामन्वभूवन् ॥

अभिनवेति । अभिनवाया नवीनाया, सद्यः समागताया इत्यर्थः । दमयन्त्या नैम्या, कान्तिजालस्य लावण्यराशे अवलोकप्रवगाना दर्शननत्पराणा, पुरपुरन्त्रीणां पौराद्गनाना, वक्त्रचङ्ग्रे, मुखेन्दुभि, अन्वयेन योगेन, निखिलासु समग्रासु, नगरे पुरे, सौधाट्टावडीषु सुधाधवलितान्तालकपङ्क्तिषु, प्रामादोपहितनगरगृहश्रेणीषु इत्यर्थः । या चन्द्रशाला शिरोगृहाणि ता, 'चन्द्रशाला शिरोगृहम्' इति इलायुषः । चङ्ग चङ्गकाल, तन्मुखचन्द्रयोगकालमाश्रमिति भावः । निज्ञा स्वा, सज्ञा नाम, चन्द्रशालाभिधानमित्यर्थः । सान्त्वयाम् अनुगतार्था, चन्द्राणां सम्बन्धिन्य चन्द्र युक्त्य वा शाला इत्येव सार्थमित्यर्थः । अन्वभूवन् अनुभूतवत्प इव ॥ १२६ ॥

नयी दमयन्तीके कान्ति-समूहके देखनेमें तत्पर नारियोंके मुखचन्द्रोंके सम्बन्ध (स्योग) से सन्तुष्ट नारके महलों (प्रासादों) की कञ्चालिकाओंकी चन्द्रशालाओं (छतों) ने क्षान्तर (अवत्रक वे लिया वड़ा रही तब तक अर्थात् थोड़े समयतक) सारक ('चन्द्रोंकी शालाएँ' अथवा—चन्द्रयुक्त शालाएँ) देने अन्वय) अपने नामोंको पा लिया । [नयीदा दमयन्तीकी सुन्दरता देखनेके लिए लियोंसे नदारियोंके छत ठमा-ठम गर गये] ॥ १२६ ॥

नपथनृपमुखेन्दुश्रीसुधा सौधवातायनविवरगररिमश्रेणिनालोपनीताम् ।
पपुरतुलपिपासापाशुनत्वोपरागान्यखिलपुरपुरन्त्रीनेत्रनीलोत्पलानि ॥ १२७ ॥

निपथेति ॥ अतुलया निरपमया, अनिप्रवर्तयेत्यर्थः । पिपामया पानेच्छया, दर्शनलालमयेत्यर्थः । यत् पाशुल्यवकलुपितत्वं, परपुररुपदर्शनाग्रहेण पापवासना वक्त्रमित्यर्थः । तत् एव उपरागं दुर्नयो व्यसनवा येषा तादृशानि, 'उपरागस्तु पुंसि स्याद् राहुप्रासेऽर्कचन्द्रयो । दुर्नये ग्रहककलोले व्यसनेऽपि निगद्यते ।' इति मेदिनी । अखिलपुरपुरन्त्रीणां समस्तपौराद्गनाना, नेत्राणि चक्षुःपि एव नीलोत्पलानि इन्दीवराणि, सौधवातायनविवरैः अट्टालिकागवाचरङ्ग्रे, गच्छन्ति बहिर्नि-सरन्तीति तेषां सौधवातायनविवरगाणां, रश्मीनां, नयनप्रभागां, श्रेणिमि पङ्क्तिभि, एव, नाल सच्छिद्रेन्दीवरदण्डरूपवादीविशेषे, उपनीताम् आकृष्टा, नेत्रममीप प्रापितामित्यर्थः । निपथनृपस्य नलस्य, मुखेन्दुश्रीसुधा मुखचन्द्रश्रीसामृन्, पशु-पीतवन्तः । साम्रहम् वद्राष्ट्र इत्यर्थः ॥ १२७ ॥

अत्यधिक प्याम (नर्तको देखनेकी वक्तदेच्छा) से उत्पन्न पाशुल्यरूपी दुर्नय (पर-

पुरुष-दर्शनाग्रहेते पापवासनामावरूपी दुर्व्यसने । पक्षा०—शुष्ककण्ठमें ऊपर निकले हुए पराग—धूलि या-मकरन्द) वाले समस्त नगरनारियोंके नेत्ररूपी नील-कमलोंने महलेंधा खिडकियोंके बिलमें पहुँचती हुई किरणोंकी पकिरूप कमलनालसे समीपमें प्राप्त (हाने लयी) निषध-राज (नल) के मुखचद्रकान्तिरूपिणी अमृतका पान किया अर्थात् अच्छी तरह देखा । [अतिशय प्यासे हुए व्यक्तिका कण्ठ सूख जाता है और उसके मुखके बाहर धूल-सी निकलने लगती है तो वह पानीके पकाएक पीनेपर कलेजा लगनेका भय होनेके कारण कूप आदिके पानीको छिद्रसहित नलीसे धीरे-धीरे पीता है, दैसे ही स्त्रियोंने गवाक्षके बिलोंमें प्रविष्ट करते हुए किरण-समूहरूपी नालियोंसे नलके मुग्धशान्तिरूपी अमृतको पीया । कुमारियोंका समीप जाकर तथा पुरन्धियोंका गवाक्षों (खिडकियों) के बिलोंसे कनडी मात्रसे देखना अत्यन्त उचित ही है] ॥ १२७ ॥

अवनिपतिरथोद्धर्षस्त्रैणपाणिप्रबालस्त्रलितसुरभिलाजव्याजभाज प्रतीच्छन्
उपरि कुसुमवृष्टीरेप वैमानिकानामभिनवकृतभैमीसौधभूमि विवेश ॥१०८॥

अवनीति । अथ पुरप्रवेशानन्तरम्, एष अयम्, अवनीपति भूपाल उद्धर्षण उपरिगृहेषु, ये खेंगा खीसम्हा । 'खीपुसाभ्या नञ्सुजो' इत्यादिना नञ्प्रत्यय । तेषा पाणिप्रबालेभ्य करक्सलयेभ्य, स्वलिता पतिता, ये सुरभय सुगन्धय, लाजा अचता, तद्व्याज तच्छूल, भजन्ते आश्रयन्तीति तन्नाज, वैमानिकानां विमानै चरता देवानाम् । 'चरति' इति ठक् । उपरिष्टात् कुसुमवृष्टी, पुष्पवर्षणमिष लाजवृष्टीरिति भाव । प्रतीच्छन् स्वीकुर्वन्, अभिनवकृता प्रत्यप्रनिर्मिता, भैम्या दमयन्त्या, सौधभूमिं प्रासाददेश, विवेश प्रविष्टवान् ॥ १२८ ॥

इस (पुरीमें प्रवेश करने) के बाद ये राजा नल ऊपरमें (पाठा०—ये राजा (नल) राजनारां अर्थात् मुख्य सड़ककी अट्टालिकाओंपर बैठे हुए खो-समूहके इन्तपश्लबसे गिरती तथा सुगन्धित खिलोंके व्याज (छल) को धारण करती हुई विमानगामी (देवों) की पुष्प वृष्टियोंकी (शिरके) ऊपरमें (सादर) स्वीकार करते हुए दमयन्तीके लिये नये बनाये गये महलके ऊपरी भूमि (ऊपरके भाग) में प्रवेश किया । [शुभ शकुनके लिए कन्याओंका हाथरूप पत्न्योंसे गिरावी जानी हुई खिलोंके शुक्लवर्ण होने तथा ऊँचेसे गिरने तथा पशुबों से पुत्रोंका गिरना उचित होनेसे पुष्पवृष्टि होना माना गया है] ॥ १२८ ॥

इति परिणयमित्थ यानमेकत्र याने दरचकितकटाक्षप्रेक्षितञ्चानयोस्तत् ।
दिवि दिविपदधीशा कौतुकेनावलोक्य प्रणिदधुरेथ गन्तु नाकमानन्दसान्द्र ।

इतीति । दिविपदाम् अधीशा देवा, दिवि आकाशे, स्थिरवेति दोष । अनयो दमयन्तीनलयो, इति पृथग्निध, परिणय विवाहम्, इत्थम् उक्तप्रकारेण, एकत्र

एकस्मिन्, याने रथे, यान यात्रा, तथा तत् पूर्वोक्त, दरचकितम् ईषत् सभय, पर-
स्परदृष्टिमेहनभयादिति भावः । कदाचप्रेक्षितम् अपाङ्गवीक्षणञ्च, कौतुकेन कुतूहलेन,
अचलोक्त्य दृष्ट्वा, अथ भैमोनलयो सौधप्रवेशानन्तरम्, आनन्दमान्दा आनन्द-
पूर्णा सन्त, नाक् स्वर्गलोक, गन्तु प्रयातु, प्रणिदधु चिन्तयामासु ॥ १२९ ॥

देवोंके स्वामी (इन्द्रादि चारों देव) आकाशमें (ठहरकर) इन दोनों (नल तथा
दमयन्ती) के इस प्रकार विवाहको, इस प्रकार (१६।११३-१२७) एक रथमें गमनको
और इन प्रकार (१६।१२३) अचकित कटाक्षमें देखनेको कौतुकपूर्वक देखकर परमानन्दित
हो इन (उनके पूर्वोक्त कार्योंको देखने) के बाद पाठा०—माणों) स्वर्गको जानेके लिए
विचार किये । ['प्रणिदधुरिब' इस पाठान्तरमें—देवोंने नवदयनीका उक्त कार्यकलाप
देखकर आनन्दमें अतिशय हर्षित हो स्वर्गको जानेके लिए विचार-सा किया, वास्तविकमें
उन्हें छोड़कर जानेकी इच्छा देवोंको नहीं होती थी, यह सूचित होता है । यद्यपि पहले
(स्वस्थामरै १४ ९९) देवोंके स्वर्ग जाने का वर्णन किया गया है, तथापि उक्त देव
स्वयंवर स्थानको छोड़कर दमयन्ती तथा नलके विवाहमें लेकर अबतक (१६।१२८) के
कार्यकलापको आकाशमें विमानपर बैठकर देखते रहे, यह 'दिवि (आकाशमें)' पदसे सूचित
होता है, अतः पूर्वानर कोह जो विरोध नहीं है । अपवा—नलने नववधू दमयन्तीके साथ
नगरमें प्रवेश किया और इन्द्रादिदेव स्वर्गको गये तथा मागने कलिमें उन देवोंका उच्चर-
प्रत्युत्तर हुआ, इन अधिन (सत्रहवें) सर्गके प्रसङ्गको सूचित करनेके लिए देवोंके स्वर्ग
जानेका पुनः वर्णन किया गया है, जिसमें अधिम (सत्रहवें) सर्गमें वक्ष्यमाण नल तथा
कलिका परस्पर द्वेषारम्भ अप्रत्युत्तर न मालूम पड़े, अन्यथा कविसमयविरह होनेमें यह महा-
काव्य सशेष कहा जावेगा] ॥ १२९ ॥

श्रीहर्ष कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर सुतं
श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामल्लदेशी च यम् ।
काश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयौ विद्या विद्वद्भिर्महा-

काव्ये तद्भुवि नैपथीयचरिते सर्गोऽगमत् पोढशः ॥ १३० ॥

श्रीहर्षमिति । चतुर्दशतयौ चतुर्दशावयवश्च, चतुर्दशविधाम् इत्यर्थः । 'सङ्ख्याया
अवयवे तयप्' इति तयप् । 'टिड्ढागज्झयमज्झन्जमात्रचत्तयपठकृञ्कारप'
इत्यादिना ङीप् । विद्या विद्वद्भिर् ज्ञानिभिः, काश्मीरैः काश्मीरदेशीयैः, विद्वद्भिरिति
शेषः । महिते पूजिते । तद्भुवि श्रीहर्षोत्पन्ने, तद्विरचिते इत्यर्थः । पोढशाना पूरण-
पोढशः । 'पूरणे ढट्' इति ढट् । गनमन्यत् ॥ १३० ॥

इति महिलनाथविरचिते 'जीवानु' समाख्याने पोढशः सर्गः समाप्तः ॥ १६० ॥



कवीद्वर-समूहके किया, उसके रचित्र चौदह^१ विद्याओंको जाननेवाले अर्थात् सरस्वतीदेवीके जगत्क अधिष्ठानभूत कश्मीर देशमें उत्पन्न विद्वानोंने पूजित^२ अर्थात् लेख मात्र भी दोषसे रहित और समस्त गुणसमूहोंसे पूर्ण नैषधोच अर्थात् नल (पाठा०—राजा नल) के चरित्र महाकाव्यमें बोलश सर्ग पूरा हुआ । (दोष व्याख्या चतुर्थसर्गवत् समझनी चाहिये ।)

यद् 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का बोलश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १६ ॥



सप्तदशः सर्गः ।

अथारभ्य वृथाप्राय धरित्रीधावनश्रमम् ।

सुरा सरस्वदुल्लोल लीला जग्मुर्यथाऽऽगतम् ॥ १ ॥

अथेति । अथ स्वर्गलोकजिगमिषानन्तर, नलदमयन्त्यो सौधप्रवेशानन्तर वा, सुरा इन्द्रादय, धरित्रीधावनश्रमं पुथिव्यामागमनायास, वृथाप्रायं व्यर्थमिव, हम पन्थलाभेऽपि नलदमयन्तीवरदानजन्याभगौरवरक्षणात् प्रायशब्दप्रयोग, न तु सर्वथा वृथैवेति बोध्यम् । आरभ्य कृत्वा, मत्वेति यावत्, सरस्वदुल्लोलाना समुद्र महोर्मणा, लीला इव लीला येषा तथाभूता सन्त, यथाऽऽगत यस्मादागत तत्रैव इत्यर्थः । जग्मु प्रतस्थिरे । सागरतरङ्गा यथा वृथैव तट धावित्वा व्यावर्त्तनेन यथाऽऽगत गच्छन्ति तद्वद् देवा अपि गता इत्यर्थः । दमयन्तीमलङ्घ्यैव प्रत्यावृत्ता इति तात्पर्यम् ॥ १ ॥

इस (स्वर्गलोकको जानेका विचार करने, या—नल-दमयन्तीको नवीन महलमें प्रवेश करने) के बाद पृथ्वीपर दौड़ने अर्थात् जानेका व्यर्थ-सा परिश्रम करके समुद्रके तरङ्गनुस्य देव (इन्द्रादि चारों देव) जैसे आये थे, वेसे चले गये : [जिस प्रकार समुद्रका तरङ्ग तटको आकर व्यर्थ ही ज्योंका त्यों वापस चला जाता है, उसी प्रकार देवलोक भी व्यर्थप्राय ही पृथ्वीपर आकर दमयन्तीको बिना प्राप्त किए स्वर्गको वापस चले गये । दमयन्ती की स्तुतिसे प्रसन्न होकर नलको पतिरूपमें धरण करनेकी आज्ञा देनेसे देवोंका मानरक्षा हो गयी, अन्यथा दमयन्तीको प्राप्त नहीं करनेसे देवोंकी मर्यादा ही नष्ट हो जानी, अब हमके सुरक्षित रह जानेसे पृथ्वीका गमन करना सर्वथा व्यर्थ नहीं हुआ, इसी कारण 'प्राय' शब्दका प्रयोग है] ॥ १ ॥

१ मनुनोष्ठाश्चतुर्दश विद्या —

'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो भीमासा ज्ञायविस्तर ।

धर्मशास्त्र पुराणश्च विद्यास्वेताश्चतुर्दश ॥' इति ।

२. एतदर्थं प्रपन्नस्यास्यैव भूमिका द्रष्टव्या ।

भैमी पत्ये मुखस्तस्मै चिर चित्ते घृतामपि ।

विद्यामिव विनीताय न विपेदु प्रदाय ते ॥ २ ॥

भैमीमिति । ते देवा, चिर दीर्घकाल, चित्ते मनमि, घृता स्थापितामपि, आका-
ङ्क्षतामपीम्यर्थ, अम्यस्तामित्यर्थश्च । भैमी दमयन्ती, मुख पत्ये भूपतये, तस्मै
नलाय, विनीताय विनययुक्ताय शिष्याय, विद्याम् इव ज्ञानमिव, प्रदाय दत्त्वा, न
विपेदु नानुताप अगु । न हि महान्तो दत्त्वाऽनुतापिन, न च तेषामदेयमस्ति
इति भाव ॥ २ ॥

वे (इन्द्रादि चारों देव) चिरकालसे चित्तमें धारण की गयी अर्थात् चिरामिलयित की
दमयन्तीको उस भूति (मनके लिए) देकर उस प्रकार विवाह नहीं किये, जिस प्रकार
विनीत (शिष्य) के लिए भगनें चिराम्यस्त विद्याको देकर गुरु विवाद नहीं करता । [वडे
रोग देकर पदचापप नहीं करने और उनके अदेय कुछ नशा है, अर्थात् वे सभी कुछ दे
सकते हैं । अथवा—जिन प्रकार गुरु चिराम्यस्त विद्याको विनाश शिष्यके लिए देकर
अनुताप नहीं करता, तथा वह विद्या भी उनके मनसे नहीं जाती, वसी प्रकार उस दमयन्ती
को उन देवोंने विनीत नन्के लिए देकर अनुताप नहीं किया, किन्तु वह सद्गुरुपुत्र होनेसे
उनके चित्तमें नहीं निकली (भूली)] ॥ २ ॥

कान्तिमन्ति विमानानि भेजिरे भासुरा सुरा ।

स्फटिकाद्रेस्तटानोव प्रतिविम्बा त्रिवस्वत ॥ ३ ॥

कान्तिमन्तीति । त्रिवस्वत अर्कस्य, प्रतिविम्बा प्रतिच्छाया, सूर्यस्यैकत्वेऽपि
तद्भेदेन प्रतिविम्बाना बहुत्व बोध्यम्, स्फटिकाद्रे स्फटिकाद्रे कैलासरस्य, तटानि मृगप्रदेशा
इव, भासुरा तैजसमूर्त्तय, सुरा इन्द्रादय, कान्तिमन्ति समुन्वलानि, विमानानि
व्योमयानानि, भेजिरे आह्वयित्वमित्यर्थ । एतेन विमानाना तदधिष्ठातृगात्र अनितेज
स्त्विवमुक्तम् ॥ ३ ॥

तेजस्वी देवयोग (रत्नादिके) कान्तिवान् विमानोंको वन प्रकार प्राप्त किये (वडे),
जिन प्रकार सूर्यके देदीप्यमान प्रतिविम्ब कैलास पर्वतके तटोंको प्राप्त करते हैं । [हमने
विमानों तथा विमानारूढ देवोंका अविनाश तेजस्वी होना सूचित होता है और प्रतिपदर
प्रतिविम्बित होनेसे विमानकी अधिकता प्रतीत होती है] ॥ ३ ॥

जवाजातेन वातेन बलाकृष्टबलाहकै ।

ध्वसनात् स्वस्य शीघ्रत्व रघैरेषामिवाकथि ॥ ४ ॥

जवादिति । जवात् निजवेगात्, जातेन समुत्थितेन, वातेन वायुना, बलात्
आकृष्टा आचिष्टा, बलाहका- मेघा ये तादृशे, एषाम् इन्द्रादीना रघै विमानै,
स्वस्य आरमन, ध्वसनाद्, वायोरपि, शीघ्रत्वं ध्वरितगामित्वम्, अकथि अवादि

इव, इत्युत्प्रेक्षा । स्ववेगजन्यवायो स्वपश्चाद्वर्तितया स्थानान्तु पुरोवर्तितया वायु
पेक्षया सुतरा शीघ्रगामित्वमिति भावः । कथेश्वरादिकात् कर्मणि लुङ्, मित्वात्
हन्वत्वम् ॥ ४ ॥

(अपने) वेगम उत्पन्न हवामे बलपूर्वक भेषोकी आकृष्ट करनेवाले इन (इन्द्रादि देवों)
के रथोंने मानों वायुसे अपनी गतिको शीघ्र बतलाया । [अपनेसे उत्पन्न वायुका बारमें तथा
रथके आगे चलनेसे उक्त वायुकी अपेक्षा रथका गति तीव्र सूचिन होती है] ॥ ४ ॥

क्रमाद्वीयसा तेषां तदानीं समदृश्यत ।

स्पष्टमष्टगुणैश्वर्यपर्यवस्यन्निवाणिमा ॥ ५ ॥

क्रमादिति । क्रमात् अनुक्रमात्, आनुपूर्व्या इत्यर्थः । उत्तरोत्तरं गमनादिनि
यावत्, 'क्रमश्चानुक्रमेण शक्नोति कल्पे चाक्रमणेऽपि च' इति मेदिनी । द्वीयसा द्वि
ष्टाना, दूरवर्तितराणामित्यर्थः । दूरशब्दादीयसुनि 'स्थूलदूर—'इत्यादिना घणादि
परलोप पूर्वगुणश्च । तेषाम् इन्द्रादीना, तदानीं दूरवर्तितवभवनकाले, अणिमा
अणुत्वम्, अष्टविधेषु ऐश्वर्येषु प्रथमोक्तैश्वर्यविशेष इत्यर्थः । अष्टगुणम् अणिमाष्टगु
णात्मक, यत् ऐश्वर्यं वैभव, निग्रहानुग्रहसामर्थ्यमिति यावत् । तस्मात् तन्मप्यात्
इत्यर्थः । पर्यवस्यन् इव परिशिष्यमाण इव, लघिमादिसप्तत्रिंशत् पृथग्भूतः
इत्यर्थः । स्पष्ट इत्यत, समदृश्यत सन्वष्ट । दूरे अणुत्वेन अवभाषादियमुत्प्रेक्षा ॥ ५ ॥

उक्त समय क्रमशः दूरग्य उन (देवों) की अणिमा (सूक्ष्मता, पक्षा—आठ ऐश्वर्योंने
से प्रथम ऐश्वर्य) आठ गुणैश्वर्यसे पृथग्भूत—सी दृष्टिगोचर हुई । [दूर होता हुई बलु
क्रमशः सूक्ष्म दृष्टिगोचर होती है । उन देवोंका आठ गुणैश्वर्योंमेंने अणिमा नामक प्रथम
ऐश्वर्य ही उस समय दृष्टिगोचर होता था । अथवा—उन रथोंकी अणिमा (सूक्ष्मता) ।
इस अर्थमें देवोंके सम्बन्धसे उन रथोंमें भी 'अणिमा' नामक ऐश्वर्य आ गया था] ॥ ५ ॥

ततान विद्युता तेषां रथे पीतपताकताम् ।

तल्लथकेतुशिखोल्लेखा लेखा जलमुच क्वचित् ॥ ६ ॥

ततानेति । इच्छिद् गगनस्य कुत्रापि प्रदेशे, जलमुच मेघस्य, लेखा श्रेणी,
अथवा प्राष्ठ, केतुशिखाभिः पञ्चजामै, उल्लेखो विदारण यस्या सा तादृशी सती,
तेषाम् इन्द्रादीना, रथे स्वन्दने, विद्युता तद्धिता करणेन, पीता पीतवर्णा, पताका
पञ्चा येपा तेषां भावः तथा सा, ततान विस्तारयामास । पञ्चदण्डाग्रोल्लेखने
नोत्था तद्धितो रथेषु पीतपताका इव रेङ्गिरित्यर्थः ॥ ६ ॥

कहींपर (आकाशके किसी भागमें) पञ्चजामसे विदीर्ण मेघश्रेणिने उन (इन्द्रादि देवों)
के रथपर विजलीसे पीली पताकाको पैटा दिया । [आकाशमें जलते हुए देवोंके रथके ऊपर
लगी हुई पञ्चाके अग्रभागकी रगड़ने विदीर्ण हुई मेघपङ्क्तिसे उत्पन्न विजलीने उन रथोंकी
पञ्चाओंपर पीले कपड़ेकी पताकाके समान प्रतीत हुई] ॥ ६ ॥

पुन पुनर्मिलन्तीषु पथि पाथोदपङ्क्तिषु ।

नाकनाथरयालम्बि बभूवाभरण धनु ॥ ७ ॥

पुन पुनरिति । नाकनाथरयालम्बि इन्द्रस्यन्दनस्य, धनु चाप, पथि गगन मार्गे, पुन पुन वार वार, मिलन्ताषु ससज्जमानासु, पाथोदाना मेघाना, पङ्क्तिषु श्रेणीषु, आभरण मूपग, बभूव सज्जते यद्यत् मेघवृन्द रथेन सज्ज्यते धनु तस्य तस्य आभरण बभूव इत्यर्थ । पूर्वं कृत्रिमेन्द्रधनुर्योगं अद्य मुख्यमेन्द्रधनुर्योगो लब्ध इति भाव । अत्र सादृश्यामग्न्यन्वे सम्बन्धोक्तेरनिशयोक्तिरलङ्कार ॥ ७ ॥

त्वगाधीश (इन्द्र) के रथपर स्थित धनुष (इन्द्रधनुष) मार्ग (आकाश) में वार-वार सम्बद्ध होना हुई मेघपङ्क्तियोंमें उन (मेघपङ्क्तियों, अथवा—उम इन्द्ररथ) का क्षण-मात्र भूषण बन गया । [पहले मेघपङ्क्तियोंका कृत्रिम इन्द्रधनुषमें सम्बन्ध होना था, किन्तु इस समय वास्तविक इन्द्रधनुषमें सम्बन्ध हुआ, अनपेक्षित शोभने लगी] ॥ ७ ॥

जले जलदजालाना वज्रिज्जानुविम्बनै ।

जाने तत्कालजैस्तेषा जाताऽशानिसनायता ॥ ८ ॥

जले इति । जलदजालानां मेघवृन्दानां, जले वारिणि, तत्कालजै इन्द्रादिगम-तत्कालजातै, वज्रिज्जस्त्रस्य इन्द्रकुलिसस्य, अनुविम्बनै, प्रतिविम्बै, तेषां जलदजालानाम्, अशानिसनायता वज्रसाहित्य, वज्रयुक्तत्वमित्यर्थ । जाता सम्भूता, जाने इति मन्ये, इत्युत्प्रेक्षायाम् ॥ ८ ॥

मेघ-समूहके जलमें उम (इन्द्र-गमन) समयमें उपज्ज इन्द्रके वज्रके प्रतिवि-म्बोंने उन (मेघ-समूहों) की वज्रसनायता हुई अर्थात् तमोसे मेघ वज्रयुक्त हुए देना म मानना हू ॥ ८ ॥

स्फुट सावर्णिश्वरयाना कुलच्छत्र महीभुजाम् ।

चक्रे दण्डभृतश्चुम्बन् दण्डश्चण्डरुचि क्वचित् ॥ ९ ॥

स्फुटमिति । क्वचित् कुत्रचित् प्रदेशे, दण्डभृत यमस्य, दण्ड अस्त्रविशेष, चण्डरुचि सूर्य, चुम्बन् सूर्यमण्डल स्पृशन् इत्यर्थ । सावर्णि सूर्यपुत्र अष्टमो मनु, तद्वरयाना मनुवराजाना, महीभुजा राजा, कुलस्य वंशस्य, छत्रम् आतपत्र, चक्रे विद्मे । स्फुटमि युत्प्रेक्षायाम् । अथ प्रदेशे दण्डसयोगात् अर्कमण्डलतद्वरयाराजकुलस्य उद्भूत छत्रमिव बभौ इत्यर्थ । इन्द्रादयः क्रमात् मेघपथमतीत्य सूर्यमण्डल ग्राहा इति तात्पर्यम् ॥ ९ ॥

कदीपर (आकाशके किसी प्रदेशमें) सूर्यको स्पर्श करता हुआ दण्डधारी (यमराज) का दण्ड उस (सूर्य) को सूर्यवशां राधाओंके कुलच्छत्र (कुलक्रमागत श्वेतच्छत्ररूप चिह्न, पक्षा—कुलश्रेष्ठ)—सा कर दिया । [सूर्यमण्डलके नीचे स्थित यमराजका दण्ड जब देदीप्यमान श्वेतवर्ण गोलकार सूर्यको स्पर्श करता था तो वह दण्डसूट-स्वेतच्छत्र-सा

शोभता या, उसीको कविने उत्प्रेक्षा की है कि सूर्यवशी राजाओंका स्वतन्त्र-ता हुआ।
सब इन्द्रादि देव सूर्यमण्डलमें पहुँच गये] ॥ ९ ॥

नलभीमभुवो प्रेम्णि विस्मिताया दधौ दिव ।

पाशिपाश शिरःकम्पस्तस्तभूपश्रव श्रियम् ॥ १० ॥

नरेति । पाशिन वरुणस्य, पाश बलयाकारपाशाश्च, नलभीमभुवो नलभैम्यो
प्रेम्णि अन्योऽन्यानुरागो विषये, विस्मिताया विस्मयाविष्टाया, दिव नभसः, शिरः
कम्पेन मरुतकपालनेन, स्तस्तभूपस्य गलितावतसस्य, श्रवस श्रोत्रस्य, श्रिय शोभा,
दधौ धारयामास । अत्र श्रियमिष श्रियमिति सादृश्यादेपाद्धिदर्शनाभेदः ॥ १० ॥

वरुणका पाश (अस्त्र विशेष) नल तथा दमयन्तीके प्रेम (के विषय) में आश्चर्य
आकाशके शिरषपानेसे गिरे हुए भूषणबाल कानकी शोभाको प्राप्त किया अर्थात् हमके
सादृश्यरहित कानके समान वरुणपाश शोभता था ॥ १० ॥

पवनस्कन्धमारुह्य नृत्यत्तरकरं शिखी ।

अनेन प्रापि भैमीति भ्रमञ्चके नभ सदान् ॥ ११ ॥

पवनेति । पवनस्कन्ध वायुपथालयस्य नभोदेशाशविशेषस्य उपरिभागम्,
आरुह्य अधिष्ठाय, नृत्यनरा अतिशयेन नृत्यन्त, वायुवेगेन अत्यर्थं चञ्चला इत्यर्थः ।
करा अश्व हस्ताश्च यस्य स तारश 'बलिहस्ताश्व करा' इत्यमरः । शिखी
अग्निः, नभ सदा खैचराणाम्, अनेन अग्निना, भैमी दमयन्ती, प्रापि प्राप्ता, अन्यथा
अधमेतज्जुर्भणमिति भावः । इति एव, भ्रम चक्रे भ्रान्ति जनयामास इत्यर्थः ॥ ११ ॥

वायुके (ताराचक्राधारभूत) कन्धेपर चढ़कर अत्यन्त ऊपर चढ़ती हुई ज्वाला
(पक्षा—नाचने हुए हाथ) वाली अग्नि 'इन (अग्नि) ने दमयन्तीको पा लिया' ऐसा
भ्रम देवताओंको पैदा कर दिया । [अग्निकी ऊपर चढ़ती हुई ज्वालाओंको देखकर आकाश
गामी देवोंको भ्रम हो रहा था कि 'इसने दमयन्तीको पा लिया है' । अन्य भी कोई व्यक्ति
नववधूको पानेसे मित्रके कन्धेपर चढ़कर हाथोंको नचाया करता है । प्रकृतमें—अग्नि
ताराचक्राधारभूत वायुके ऊपर चल रहा था और उसकी ज्वालाएँ चारों ओर फैलती हुई
फैल रही थी तो ऐसा जान होता था कि अग्नि अपने मित्र वायुके कन्धेपर चढ़कर इत्य-
स्थानीय मुज्राओंको फैलाता हुआ नृत्य कर रहा है ।] ॥ ११ ॥

तत्कर्णौ भारती दूनौ प्रिरहाद् भोमजागिराम् ।

अध्वनि ध्वनिभिर्वज्रैरनुकल्पैर्व्यनोदयत् ॥ १२ ॥

तदिति । भारती सरस्वती, भोमजागिरा दमयन्तीवचनानां, विरहात् अभावात्
अश्रवणादिति यावत् । दूनौ परितप्तौ, तेषां देवानां, कर्णौ श्रवणौ, अध्वनि आकाश-
मार्गे, अनुकल्पं भैमीगिरा सदृशं, तदपेक्षया हीनगुणैरित्यर्थः । कुशाभावे काशवत्
प्रतिनिधिभिरिति भावः । 'मुख्यं स्यात् प्रथमं कव्योऽनुकल्पस्तु ततोऽधमः' इत्य-

मर । वैजें वीणासम्बन्धिभि 'तस्येदम्' इत्यङ् । ध्वनिभि शब्दै, व्यनोदयत्
विनोदितवती ॥ १२ ॥

सरस्वती देवीने दमयन्तीके वचनोंके विरहमे सन्तप्त उन (इन्द्रादि देवों) के कानोंको (दमयन्तीके वचनोंसे) कुछ कम वीणास्वरोंसे मार्गमें विनोदित किया । (बड़लाया) ।
[दमयन्तीके वचनोंके न सुननेसे वत इन्द्रादि देवोंके दोनों कान सन्तप्त हो रहे थे, अतः सरस्वतीने दमयन्तीके वचनोंसे कम मधुर वीणाध्वनियोंसे उनके कानोंको विनोदित किया ।
लोकमें भी मुख्य वस्तुके अभावमें तत्पुत्र्य वस्तुमे काम चढ़ाया जाना है, दमयन्तीके वचन सरस्वतीकी वीणाकी ध्वनिमे भी अधिक मधुर थे । सरस्वती देवी वीणा बजानी हुई इन्द्रादि देवाक साथ आकाशमागसे जा रही थी] ॥ १२ ॥

अथाऽऽयान्तमपैक्षन्त ते जनौघमसिस्त्रिपम् ।

तेषा प्रत्युद्गमप्रीत्या मिलदुःखोमेव मूर्तिमत् ॥ १३ ॥

अथेति । अथ तादृशबाणीवीणाध्वनिश्रवणानन्तर, ते देवा, आयान्तम् आगच्छन्तम्, अस्मै खड्गस्य खिद् द्व खिद् प्रमा यस्य तादृशम् असिनिभकान्तिम्, असिबत् श्यामोऽञ्जलिप्रभमित्यर्थ । जनौघ जनसमाज, तेषा देवानां, प्रत्युद्गमप्रीत्या प्रत्युद्गमनार्थं हर्षेण, मिलत् आगच्छत्, मूर्तिमत् विग्रहवत्, व्योम आकाशमिव, इत्युत्प्रेक्षा, अवैद्यन्त अपरयन् ॥ १३ ॥

इस (सरस्वती देवीके वीणा बजाने) के बाद उन लोगों (इन्द्रादि चारों देव तथा सरस्वती देवी) ने तलवार (पाठा०—स्याही) के समान कान्तिवाले (श्यामवर्ण या काले) उन (चारों देव तथा सरस्वती देवी) के प्रेमसे व्यवहारा करनेके लिए शरीरपारी आकाश के समान आगे हुए जन-समूहको देखा ॥ १३ ॥

अद्राक्षुराजिहान ते स्मरमप्रेसर सुरा ।

अस्त्रायिनयशिक्षार्थं कलिनेव पुरस्कृतम् ॥ १४ ॥

अद्राक्षुरिति । ते सुरा इन्द्रादयः, अजिहानम् आगच्छन्तम्, ओहाङ् गता धिति धातोर्लट शानजादेश । अप्रेसर जनौघपुरोवर्त्तिनम्, अत एव अस्त्राणाम् इन्द्रियाणाम्, अविनयस्य औद्धत्यस्य, दुर्न्यवहारस्य इत्यर्थ । अन्यत्र—अस्त्राणां पाशकानाम्, आ मग्न्यक्, विनय विनीतता, स्ववशीकरणमित्यर्थ । तस्य 'अक्षो रथस्यावयवे पाशकेऽप्यक्षमिन्द्रिये' इति त्रिष । शिक्षार्थम् अन्यासाथं, कलिना कलिपुत्रेण पुरस्कृत पूजितम्, अग्रत कृतम् इव स्थितम् इत्यर्थ । स्मर कामम्, अद्राक्षु अवलोकितम् । दशोर्लुङि 'इरितो वा' इति विकल्पादङ्भावपक्षे सिचि वृद्धि ॥ १४ ॥

उन लोगों (इन्द्रादि चारों देवों) ने आगे-आगे आते हुए बूतों (पक्षा०—इन्द्रियों)

१ 'जनौघ मर्षास्त्रिपम्' इति पाठान्तरम् ।

के सम्यक् दिनय (अथवा—अविनय) की शिक्षाके लिए अर्थात् घनको अपने वस्त्रमें करने (अथवा—घन-सम्बन्धी अविनय सिखाने) के लिए कलियुगके द्वारा मानो आगे पूजित-सत्कृत (पद्या०—आगे) किये गये कामदेवको देखा । [कामदेवको इन्द्रियोंको विकृत करने में निपुण होनेमें प्रकृतमें इन्द्रियवाचक 'अक्षु' शब्दके कपटसे घन (जुए) के विषयमें नन्को अविनय सिखानेके लिए पाशोंके द्वारा नत्का नियंत्रण करनेके लिए मानो बलिने उस कामदेवको आगे कर लिया (या—पूजित किया) है, ऐसे उस जन-समूहके आगे आते हुए कामदेवकी उन इन्द्रादि देवोंने देखा] ॥ १४ ॥

अगम्यार्थं तृणप्राणा पृष्ठस्थीकृतभीह्रिय ।

शम्भलीभुक्तसर्वस्वा जना यत्पारिपार्श्वका ॥ १५ ॥

अगम्येति । अगम्यार्थम् अगम्यागममार्थम् इत्यर्थः । तृणप्राणा तृणप्रायप्राणा, प्राणान् तृणवत् अधिगणय्य अगम्यागमन्तार इत्यर्थः, पृष्ठस्थीकृते पश्चाद् देशस्थीकृते, अधिगणिते इति यावत्, भीह्रियौ भयलज्जे यै तादृशा, लज्जाभयवजिता इत्यर्थः, शम्भलीभि कुट्टनीभि 'कुट्टनी शम्भली समे' इत्यमरः । भुक्त इवलीकृतमित्यर्थः, सर्वस्व सर्वधन येषां तादृशा, जना लोका, यस्य स्मरस्य, पारिपार्श्वका परिपार्श्ववर्तिनः, परिजना इत्यर्थः, यस्य इति यावत् । 'परिमुखञ्च' इति चकारात् टक् ॥

अगम्या (सम्मोग करनेके अवगम्य—रानी, या माता-बहन आदि) के लिए प्राणोंको तृणतुल्य समझनेवाले अर्थात् प्राणोंको तृणतुल्य तुच्छजल समझकर अगम्यागमन करनेवाले, भय तथा लज्जाको पीठ-पीछे किये हुए अर्थात् निर्भय तथा निरलज्ज और कुट्टनियोंने जिनके सम्पूर्ण धनका भोग कर लिया है ऐसे लोग जिस (कामदेव) के पार्श्ववर्ती (मित्र या-अनुचर) थे । (इस कामदेवकी उन देवोंने उस जनसमूहके आगे-आगे-आते हुए देखा)

विभक्ति लोकजिह्वाय बुद्धस्य स्पृह्येयः य ।

यस्येशतुल्येवात्र कर्तृत्वमशरीरिण ॥ १६ ॥

विभर्त्सति । य स्मर, बुद्धदेवेन जित इति भावः, बुद्धस्य सुगतस्य मारजित इत्यर्थः । सम्बन्धसामान्ये पट्टी । स्पृह्या इव सहर्षणेनैव, जिगीषयेवेत्यर्थः, साम्येन इति वा, बुद्धेन सह शौर्यादिभिः समत्वाकाङ्क्षयेत्यर्थः, 'स्पृह्या सहर्षणेऽपि स्यात् साम्ये क्रमसमुद्यती' इति मेदिनी । लोकजिह्वाय सर्वलोकजैतृत्व, विभक्ति धारयति । 'सर्वज्ञ सुगतो बुद्धो मारजिल्लोकजिज्ञिनः' इत्यमरोक्ते । बुद्धस्य सर्वलोकनेतृत्वादि भावः । यस्य स्मरस्य, ईशतुल्य इव ईश्वरसाम्यापेक्षया इत्यर्थः । देहदाहकारीश्वर स्पृह्येवेति यावत्, शरीरं न भवतीति अशरीरि तस्य अशरीरिण दम्पदेहत्वाद् अनङ्गस्य सतः, अत्र लोके, कर्तृत्वम् एकत्र—जैतृत्वम्, अन्यत्र—क्षयत्वम् उपादानादिगोचरापरोक्षज्ञानादिमत्तादेवेश्वरस्य कर्तृत्व शरीरमत्तमिति तार्किका । पराभिभूता तन्मत्सरा तस्माग्याय तद्वत् आचरन्तीति भावः ॥ १६ ॥

(बुद्धदेवसे बीता गया) जो कामदेव मानों बुद्धदेव (मारजित्-कामविजयी) के साथ स्पर्द्धा में लोकजिद्भाव समारको बीतनेका याव धारण करता है तथा (शिवजीके नेत्राग्निमें भस्म हो जानेमें) शरीर रहित अर्थात् अनङ्ग जिम (कामदेव) का इस लोकमें (शरीर रहित) शिवजी का कर्तृत्व है । [बुद्धदेव 'मारजित्' (कामदेवविजयी) तथा 'लोकजित्' (समारविजयी) है, अतः उन बुद्धदेवसे पराजित कामदेव 'मै मी उम बुद्धदेवके समान ही हो 'जङ्ग' ऐसी उनसे स्पर्द्धा करके समस्त लोगों पर विजय पाया हुआ 'लोकजित्' बन रहा है और वह कामदेव शिवजीके नेत्रकी अग्निमें भस्म होकर अशरीरी (अनङ्ग) हो गया है और जिम प्रकार नैयायिकोंके मतसे अशरीरी शिवजी हा लोकके स्रष्टा (सृष्टिकर्ता) हैं, वही प्रकार यह कामदेव भी माने उन (शिवजी) के साथ स्पर्द्धा करना हुआ अशरीरी (अनङ्ग) होकर इस समारमें कामियोंके मनोविकार (या-मैथुन द्वारा सब लोगोंके प्रति) कर्तृत्व धारण कर रहा है । लोकव्यवहारमें भी देखा जाना है कि प्रबल शत्रुमें पराजित व्यक्ति उसकी समानता करनेके लिए उससे स्पर्द्धा करता हुआ वैसा ही कार्य करता है, वही प्रकार 'मारजित्' (बुद्धदेव) 'लोकजित्' है और शिवजी न्यायमिद्वान्तानुसार अशरीरी होकर सृष्टिकर्ता हैं, वही प्रकार कामदेव भी कथञ्च 'लोकजित्' तथा 'अनङ्ग' होकर सब लोगोंमें मनोविकार करनेमें सृष्टिकर्ता हो रहा है । बुद्धदेव तथा शिवजीमें जाता गया कामदेव भी 'लोकजित्' होनेमें तथा अशरीरी अर्थात् 'अनङ्ग' होकर सृष्टिकर्ता होनेसे उन दोनोंके समान (अनिश्चय) बहवान् है । दूसरेसे पराजित व्यक्ति वह वैसा आचरणमें उसकी विजय की समानता करना उचित हो है] ॥ १६ ॥

ईश्वरस्य जगत् कृत्स्न सृष्टिमाकुलयन्निमाम् ।

अस्ति योऽस्त्रीकृतस्त्रीकस्तस्य यरमनुस्मरन् ॥१७॥ (कुलकम्)

ईश्वरस्तेति । य स्मर, तस्य ईश्वरस्य, वैर शत्रुताम्, अनङ्गीकरणरूपमित्यर्थः, अनुस्मरन् मन स्वीकुर्वन्, स्त्रिय न अवन्तीति अस्त्रिय, अ-स्त्रीकृता स्त्रियो येन तादृश सन्, अयं स्त्रिया स्त्रीत्वाभावकरणरूप विरोध, तत्परिहारस्तु-अस्त्राणि आयुधानि क्रान्ति इति अस्त्रीकृता, अभूततद्भावे चि, अस्त्रीकृता, स्त्रिय येन स तादृश अस्त्रीकृतस्त्रीकः सन्, 'नष्टतश्च' इति कप् । ईश्वरस्य इमा स्त्रीपुसात्मिकाम् इत्यर्थः, सृष्टि निर्माण, कृत्स्न जगत् आकुलयन् अस्त्रियीकुर्वन्, अस्ति वर्तते । ईश्वरेण या स्त्रीकृता सा अनेनास्त्रीकृता इति ईश्वरप्रतिकूलाचरणेन, तथा ईश्वरेण त्रिपुरा-सुरवधकाले विन्गोर्मोहिनी मूर्तिरूपा स्त्री शस्त्रीकृता, अनेनापि स्त्रियः शस्त्रीकृता इत्येककार्यकारितया च ईश्वरेण सह स्पर्द्धामसौ अकरोत् इति निष्कर्षः ॥ १७ ॥

स्त्रियोंको अस्त्री करनेवाला जो (कामदेव) उम (शिवजी) के वैर (शरीरदाइकर अनङ्ग बनाना) का स्मरण करता हुआ (पाठा०—मानों स्मरण करता हुआ) शिवजी की

१ 'वैर स्मरस्त्रिव' इति पाठान्तरम् ।

जो (क्रोध) कानवाणसे भी दुर्लभ अर्थात् दुर्लभ (अनप्य) दुर्ग (किला, पहा०—
 दुःखने गम्य) दुर्वासा मुनिके हृदय का अवलम्बनकर इन्द्रके साथ रसिकोंको भी अल्पानकी
 इच्छा करता है । [सदा क्रोधपूर्ण दुर्वासा मुनि शायमे इन्द्र सहित सब सत्तार को जलाने की
 जिस प्रकार इच्छा करते थे, उन्ही प्रकार यह क्रोध भी इच्छा करता है । पर्वतादि से दुर्गम
 भूमि (या-किन्) वागोंसे भी अज्ञेय होती है] ॥ २१ ॥

वैराग्य य करोत्युच्चै रक्षुन जनयन्नपि ।

सूते सर्वेन्द्रियाच्छादि प्रज्वलन्नपि यस्तम ॥ २२ ॥

वैराग्यमिति । य क्रोध, उच्चै अत्यर्थ, रक्षुन राग, रक्षवर्णतामिति यावत् ।
 जनयन् अपि उत्पाद्यन्नपि, वैराग्य तद्वाहित्य, करोति जनयतीति विरोध, नैस्पृह्य
 करोमीति तद्वाभासीकरणात् विरोधाभासोऽलङ्कार, क्रुद्धस्य न कुत्रापि अनुरागा
 इति भाव, तथा य क्रोध, प्रज्वलन् सम्पुञ्जमाणोऽपि, प्रकाशमान अपि इत्यर्थ,
 अन्न सन्तापयन्मपि इत्यर्थश्च, सर्वेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि आच्छाद्य-
 तीति तद्वाच्छादि सर्वेन्द्रियवरक, ज्ञानेन्द्रियाणामावरकमित्यर्थ, तम मोहम्
 अन्धकारश्च, सूते जनयति क्रोधान्धो न निश्चित् परयतीति भाव । अत्र प्रज्वलन्तम
 शब्दयो अर्थभेदेन विरोधपरिहारान् पूर्ववदलङ्कार ॥ २२ ॥

जो (क्रोध) अत्यधिक लालिमाको पैदा करता हुआ भी वैराग्य अर्थात् रग (लालिमा)
 का अभाव पैदा करता है तथा जो (क्रोध) प्रज्वलित (प्रकाशित) होता हुआ भी सम्पूर्ण
 इन्द्रियों (नेत्रादि) को आच्छादित करनेवाले अन्धकारको पैदा करता है । यदा 'लालिमा
 को पैदा करनेवाला उसके अभावको कैसे पैदा करेगा ? तथा प्रज्वलित होता हुआ नेत्रादिकी
 शक्तिको रोषनेवाले अन्धकारको कैसे पैदा करेगा ?' यह विरोध हुआ, उसका परिहार यह है
 कि—जो (क्रोध) मुख नेत्र आदिमें लालिमाको पैदा करता हुआ अर्थात् मुखनेत्रादिकी लाल
 करता हुआ भी उद्वेग (या निस्पृह्यता) पैदा करता है तथा प्रज्वलित होता अर्थात् अतिशय
 बड़गा हुआ भी सब (बाहरी नेत्रादि तथा भीनरी ज्ञान) इन्द्रियोंको आच्छादित करनेवाले
 अज्ञानको पैदा करता है । (अथवा—जो क्रोध हित्तादि कार्यमें प्रीति पैदा करता हुआ भी
 (अनिष्टोत्पादनके पदवात्तायसे प्रायश्चित्त का कारणभूत) वैराग्यको करता है तथा) ।
 [क्रोधमें मुख-नेत्रवा लाल होना तथा उसके बड़नेसे केवल नेत्रादिका ही नहीं, अपि तु
 ज्ञानतक का आच्छादित (शक्तिहीन) हो जाना सर्वविदित है । आशय यह है कि—
 नृद्धको धर्म भी अनुराग नहीं होता तथा क्रोधमें अन्या कुछ भी देखना (या समझना) नहीं
 है] ॥ २२ ॥

पद्मेपुविजयासंकी भवस्य क्रुध्यतो जयात् ।

चेनान्यपिगृहीतारिजयफलनय श्रित ॥ २३ ॥

पञ्चेष्टिविति । येन क्रोधेन, पञ्चेष्टु विजयामक्तौ पञ्चेष्टु विजये कन्दर्पपराभवे, या
आसक्ति तत्परता तस्या, कन्दर्पमस्मीकरणामिनिवेशे, क्षुध्यत स्मराय कुप्यत,
भवस्य हरस्य कर्मणि षष्ठी । जयात् स्वार्धानाङ्गरगात् हेनो, अन्येन पुरयान्तरेण,
त्रिगृहीतस्य आक्रान्तस्य, अरे शत्रो, जयकाले आयसीकरणममये, यो नय नीति
न, श्रिन अवलम्बित, तत्कालोचिता नीतिश्रिता इत्यर्थ । अन्यदा महादेवं
जेतुमशक्योऽपि स्मरविग्रहकाले स्मरहर क्रोधो जिगाय नत्काले तस्य क्रोधपसीभूत-
त्वादिति भाव । अत्र कामन्दक—'बलिना त्रिगृहीतस्य दिपता कृच्छ्रवर्त्तिन । कुर्व
ताऽपचय शत्रोराम्भच्छित्तिविग्रहक्या ॥' इति ॥ २३ ॥

जिम (क्रोध) ने कामदेवके विजयमें सन्मन होने पर कुछ शिवजीको अपने बधनें
करनेमें दूसरेके साथ युद्ध करके हुए शत्रुको विजय करनेके अवसरका नोटिको भेजा दिया ।
['जिस शत्रुको दूसरे समय में नहीं जाना जा सकता, तो जब वह किसी दूसरे शत्रुमें युद्ध
करता हो उस समय हमें जीत जा सकता है' इस नीतिसे अनुसार शिवजीको कमी मा नहीं
कीन सकनेवाले क्रोधने जब वे (शिवजी) कामदेवको विजय करते (जलते) में आमत
हुए नव उरगुल अवसर देवहर उनका जीत दिया अर्थात् उन्हें अपने करीन कर दिया ।
जिसने शिवजीको भा अवसर पाकर हराकर अपने बधनें कर दिया, उस क्रोधके परानत
का फिर क्या छद्मा है ? ॥ २३ ॥

हस्तौ विस्तारयन्निभ्ये विभ्यद्वन्द्वस्थधारु ।

मूचयन् काकुमात्रनेर्लोभस्तत्र व्यतोकि सं ॥ २४ ॥

हस्ताविनि । तत्र अनौघे, ते इन्द्रादिभि, इभ्ये धनिके 'इभ्य आदयो धनी
स्वामी' इत्यमर हस्तौ करी, विस्तारयन् प्रसारयन्, यास्मानुद्रया इति भाव ।
विभ्यत् अय कट्टि करिष्यति न धनि त्रयन् अत एव अद्वयस्थधारु अर्द्धांक
वाक्य, आशुते अभिप्रायविशेष, आरमतो दैन्यज्ञानकषेष्टाविशेषेतिभ्यर्थ । काकु
शोकभीत्यादिजनिता स्वरविहृति, सूचयन् कुर्वन्निर्त्यर्थ, अयेन गदगदभाषीत्यर्थ,
लोभ विग्रहवान् तदादपरिपुविशेष, व्यलोकि इष्ट ॥ २४ ॥

वम (जन-मनू) में वनश्रीों (इन्द्रादि चारों देवों) ने धनिकके (सानने) में
श्रीनों हाथ पमारे हुए, (यह देगा या नहीं, कथना—कहू बचन तो नहीं कहू देगा ? इस
भावनासे) करते हुए (वत एव) कापी दातको कहू हुए तथा (हाथ जोड़ने, पैर आदि
प्रिललाकर अपनेकी भूला वन्ननेकी) चेष्टाओंमें श्रीन वचनोंको सूचित करने (वस्तु
गत्यादि वचन बोलने) हुए (शरीरपतौ) नोम की देखा ॥ २४ ॥

दैन्यस्तैन्यमया नित्यमन्वाहारामयाविन ।

मुञ्जानजनसाकूनपण्या यस्मानुजोविन ॥ २५ ॥

दैन्येति । दैन्य दारिद्र्य, सैन्य स्नेयम् 'स्तेनात् यत् बलोपच' इत्यत्र स्तेनादिति

योगविभारात् प्यण्प्रत्ययः । तद्भुजयमयाः तत्पचुरा, नित्य सर्वदा, अयाहते
बहुभोजनेन, आमयाविन अजीर्णादिरोगिण 'आमयस्योपसङ्गुधान दीर्घश्च' इति
विन् दीर्घश्च । [तया मुञ्जानानाम् अरुता, जनानां लोकानां, साधून् सामिप्रा
परयन्ति अवलोकयन्तीति परया द्रष्टारः । 'पाप्मा—' इत्यादिना शप्रत्ययः, पर
द्वेष्टश्च । जना इति शेषः । यस्य लोभस्य, अनुजीविन अनुचरा ॥ २५ ॥

अतिशय दोनडा तथा चोगीमे युक्त, सर्वदा अधिक भोजन करनेसे (मन्दाग्नि आदि)
रोगोंमें युक्त और भोजन करते हुए लोगोंको (ये समा भोजन पदार्थ खा जायेंगे मुझे नहीं
दा क्या ? इनके लिये किन्ने अच्छे अच्छे खाद्य पदार्थ परोसे गये हैं, मेरे लिए नहीं
हय्यादि) अग्निप्राप्तम देकरते हुए लोग निम्न (लोभ) के अनुजीवी ये, (ऐसे लोभको वश
जन मनुहमें उन इन्द्रादि देवोंमें देखा देना सम्बन्ध पूर्व (१६।२४) श्लोकमें करना चाहिये) ।

धनिदानाम्बुवृष्टेयं पात्रपाणापरयम् ।

स्वाम् दासानिव हा । नि स्वान् विष्नीणीतेऽर्थवरसु ॥ २६ ॥

धनिदानेति । यः लोभः, पात्रपाणी पात्रस्य सम्प्रदानार्हजनस्य, पाणी हस्तं,
नि स्वजनकरे दृश्यं धनिनाम् अर्थशालिना, दानाम्बुवृष्टे, स्वागोदकवर्षस्य, अथ
ग्रहः प्रतिबन्धस्वरूपः । 'वृष्टिर्वर्ष' तद्विधातेऽवगाहाद्यप्रतीक्षमौ' इत्यमरः । प्रभूत
घनत्वयेऽपि लोभवशीभूतः सन् पात्रपाणी दानार्थोद्वृज् नार्थयतीति भावः । तथा
नि स्वान् घनहीनान्, स्वान् स्वजनान्, पुत्रदारादीनिति यावत् । दासान् ॥
विष्कुरानिव, अनायासद्वेषान् इव इति यावत् । अर्थवरसु आलयेषु, विष्नीणीते अर्थं
विनिमयेन वृद्धाति, लोभात् इति भावः । हा । इति विषादे अहो लोभस्य वैचित्र्य
मयी शक्तिरिति भावः ॥ २६ ॥

जो (लोभ) पात्र (दान देनेवाले) के हाथ पर धनिकोंके दान-सम्बन्धी वृष्टिका प्रवि
वर्धक है अर्थात् जिस लोभके कारण धनी व्यक्ति पात्रोंके हाथमें सङ्कलन करके दानचक्र नहीं
अपेक्ष करता, जा (लोभ) निषेध (पाटा—निषेधनाके कारणसे) आत्मा (अपने या—
अपनी पुत्र की शान्धवादि) की धनवानोंने दानके समान वेश देना है, हाथ । ('उत्त लोभको
देवोंने जन-मनुहमें देगा' ऐसा सम्बन्ध पूर्व (१७।२४) श्लोकमें करना चाहिये) ॥

एषद्विस्तरणे हेतु महापातकपञ्चके ।

न तृणे मन्यन्ते कोपकामौ यः पञ्च कारयन् ॥ २७ ॥

एकेति । यः लोभः, पञ्च महाहत्यादीनि पञ्चापि महापातकानि, कारयन् नरा-
दिना स्वयम् अनुष्ठापयन्, महापातकानां 'महाहत्या' सुरापान स्तेय गुर्वह्मनात्म ।

महान्ति पातकान्याहुस्तत्सर्गा च पञ्चम ।^१ इत्युक्ताना ब्रह्महत्यादीना, पञ्चके पञ्च-
कमध्ये, एकञ्च द्वे च एकद्वीनि । सहस्रेयद्वन्द्वे बहुत्वोपजननात् बहुवचनम् । तेषाम्
एकद्वीना, यथासहस्रयम् एकस्य ब्रह्महननस्य द्वयोः पानागम्यागमनयोश्च, करणे अनु-
ष्ठाने, हेतु कारणभूतौ, कोपकामौ क्रोधकामौ, तृणे तृणतुल्यौ तुच्छौ इत्यर्थः । अपीति
शेषः । न मन्यते न गणयति इत्यर्थः । न हि बहुकारी स्वल्पकारिण गणयतीति
भावः । कामक्रोधाभ्यामपि पापिष्ठो लोभ इति रहस्यम् ॥ २७ ॥

जो (लोभ) पाच महापातकों को कराना हुआ एक (भद्रइत्या) तथा दो (अगम्या-
सम्भोग) तथा ब्रह्मइत्या, अथवा—महादिपात और अगम्यासम्भोग) को करनेमें कारण
कोप तथा कामको तृण (के समान तुच्छ) मानना है । ('येने लोभको इन्द्रादि देवोंने
जन समझने देखा' ऐसा सम्बन्ध पूर्व (१७।२४) द्यौकमे करना चाहिये) । [क्रोधके
कारण ब्रह्मइत्यारूप एक तथा कामके कारण अगम्या (गुरुपत्नी आदि) के साथ सम्भोग
तथा लोभकामको कारण उसके पनि ब्राह्मण वा वध (अथवा—कामके कारण महादि पात
तथा अगम्या (गुरुपत्नी आदि) के साथ सम्भोग) रूप दो महापातकोंमें क्रमशः कोप तथा
काम कारण हैं और धनादिलोभमे ब्रह्मइत्या, सुवर्ण की चोरा, रत्नलोभके कारण मन्त्रिपात,
स्त्रीलोभ अथवा स्त्रीनाति प्रदर्शिन घनलांभके कारण गुरुपत्नी आदिके साथ सम्भोग
और इष्ट-सम्पदके लोभके कारण इन चार पातकर्त्ताओंके साथ समर्ग होता है, इस प्रकार
लोभके कारण पाचों महापाप होने हैं और कोप तथा काम पूर्वोक्त प्रकारसे क्रमशः एक
और दो महापातकोंके कारण हैं । अतः पाच महापातकों को करानेवाला लोभ क्रमशः एक
तथा दो महापातकोंके कारणभूत कोप तथा कामको तृणतुल्य तुच्छ मानना है । अधिक
करनेवाला धोड़े करनेवाला को नहीं मानने, काम तथा क्रोधमे भा लोभ महापापी है] ॥२७॥

य सर्वेन्द्रियसद्भापि जिह्वा बह्वलम्बते ।

तस्यामाचार्यक याज्ञापाटवे घटवेऽजितुम् ॥ २८ ॥

य इति । य लोभ, सर्वेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि पञ्चैव, सप्त आयय यस्य स
साक्षात् सन् भवि, सर्वेन्द्रियाधिष्ठामोऽपि, जिह्वा रसनेन्द्रियमेव, यद्गु प्रचुरतया,
अवलम्बते आश्रयति, प्रायेण तत्रैवास्ते इत्यर्थः । किमर्थम् ? तस्माद्—तस्या जिह्वा
याम्, अध्ययनशालाभूतायामिति भावः, याज्ञापाटवे भिन्नानिपुणाय, घटवे
आह्वणाय, शिष्यभूताय इति भावः । आचार्यकगुरुत्वम्, अर्जितुं लब्धुमिष्टेत्युत्प्रेक्षा ।
लुब्धब्राह्मणवदुम्य याज्ञवाणीशिक्षादानार्थं चाग्निन्द्रियमधिष्ठाय आचार्यो भूत्वा
वर्त्तते इत्यर्थः । गुरुवस्तु अध्ययनशालाया स्वशिष्येभ्यो विद्याशिक्षां ददतीति प्रसि-
द्धम् । अत्रोपमोत्प्रेक्षाभ्यां सजातीयकाभ्यां वाक्यार्थयोः शब्दहेतुत्वात् शब्दार्थहेतु-
ककाव्यलिङ्गमलङ्कारः सङ्कीर्यते इत्यलङ्कारत्रयस्य परस्परसम्बन्धेनाङ्गाङ्गिभावः ॥२८॥

१ 'याज्ञाचाटवे बटवे' इति, 'याज्ञावटवे पटवे' इति च पाठान्तरम् ।

सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें रहता हुआ भी जो (लोभ) याचनामें चतुर बट्ट (शिष्यभूत ब्राह्मण बालक) में आचार्यत्व पानेके लिए अर्थात् उक्तरूप बट्टके आचार्य बननेके लिए जिज्ञामें अधिक रहता है । [गन्धका लोभी नाक, सौन्दर्यादि रूपका लोभी नेत्र, कोमलादि स्पर्शका लोभी त्वक् इत्यादि प्रकारसे पाचों ('प्रकाश' के मतमें छहों) इन्द्रियोंमें रहनेवाला भी लोभ जोममें अधिक निवास करता है, अर्थात् लोभके कारण ही सभी लोभ याचना करते समय प्रिय एवं स्तुतिपरक (चापलूसीके) वचन बोलते हैं । इसमें उत्प्रेक्षा की गयी है कि—जिस प्रकार गुरुकुल आदि विद्यामन्दिरमें याचना (भिक्षा मागने) में चतुर बट्ट चारों बालकका आचार्य सर्वदा निशाम करता है, उसी प्रकार मानों लोभ याचनामें चतुर (प्रिय एवं चापलूसीके वचनोंको कहकर याचना करनेमें निपुण) बालकके आचार्य बननेके लिए विद्यामन्दिर-स्थानांय उस जिज्ञामें अधिक निवास करता है । अन्यत्र रहने हुए भी विद्यामन्दिरमें विशेषरूपसे निवास करते हुए आचार्य शिष्योंको जिस प्रकार शिक्षा देते हैं, उसी प्रकार सन्निधियोंमें रहता हुआ भी जिह्नेन्द्रियमें अधिक रहता हुआ लोभ लोगोंको याचना चातुर्यकी शिक्षा देता है] ॥ २८ ॥

पथ्या तथ्यामगृह्णन्त मन्द बन्धुप्रबोधनाम् ।

शून्यमाश्लिष्य नोऽभ्यन्त मोहमैक्षन्त हन्त ते ॥ २९ ॥

पथ्यामिति । ते देवा, मन्द मूढस्वभावम्, अत एव पथ्या हिता, तथ्या सत्या युक्तियुक्तमिति यावत् । बन्धुप्रबोधना सुहृदुपदेशम्, अगृह्णन्तम् अस्वीकुर्वाणम्, अभ्यन्तमित्यर्थः । शून्यं यत्किञ्चित् तुच्छं वस्तु इत्यर्थः । आश्लिष्य अवलम्ब्य इत्यर्थः । न वञ्चन्त मौढ्यात् न त्यजन्त, हन्तेति गेदे, मोह मूर्त्तिमन्त तदारय चतुर्थरिपुम्, ऐक्षन्त अपश्यन् ॥ २९ ॥

उनलोगों (ईश्वरों चारों देवों) ने मन्द (मूढ स्वभाववाले, अतएव) हिनकर एवं सत्य बाधवोपदेश (यह कार्य श्रेयस्कर होनेसे आह्वय तथा यह कार्य अनिष्टकर होनेसे त्याग्य है, इत्यादि हिनकर एवं सत्य बन्धुमित्रादिके उपदेश) को नहीं ग्रहण करते हुए तथा शून्य (तुच्छतम कोई वस्तु या अप्रामाणिक अनात्मभूत जट देह-इन्द्रियादिकी भ्रान्तवश आत्मस्वरूप), मातृवर (मूर्त्तिवश हजारों भार समशानेपर भी) नहीं छोड़ते हुए मोहको (मन-मर्मभूतमें) देख, हाथ [गेद (या-आग्रह) है] ॥ २९ ॥

य/य प्राणप्रयाणोऽपि न स्मरन्ति स्मरद्विषम् ।

मग्ना कुटुम्बजम्बाले चालिशा यदुपासिन ॥ ३० ॥

य य इति । यदुपासिन यस्य मोहस्य सेवका, अत एव कुटुम्बजम्बाले पुत्रकुलवृद्धिरूपपक्षे । 'निषद्वर्त्तु जम्बाल पञ्चोऽम्बी सादकदर्दमौ' इत्यमरः । मग्ना

हन्तमन्थम् इति 'प्रकाश' व्याख्यात पाठान्तरम् ।

मदवत् इति पाठान्तरम् । ३ 'स्मरद्विष' इति पाठान्तरम् ।

अन्तः प्रविष्टा इत्यर्थः । बालिशा मूर्खा, अथ अथ आगामिदिवसे आगामिदिवसे, परस्य इत्यर्थो वा । प्रागाना जीवनस्य, प्रयागे निष्क्रमणेऽपि जीवनत्यागेऽपि, स्मर-द्विष कामारिम् ईश्वर शङ्कर, न स्मरन्ति न विन्तयन्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥

जिस (मोह) के अनुचर कुटुम्बकी पङ्क्ति में मग्न ('यह बालक क्या करेगा ? यह स्त्री क्या करेगा ? इस सेव, उद्यान आदिका क्या होगा ?' इत्यादि कुटुम्बका विचारों में ही फँसा हुआ) मूर्ख (अथवा—स्वयं ज्ञानरूप होने पर दूसरे के सुपदेशको नहीं स्वीकार करने के कारण मूर्ख) कल कल अर्थात् कल और परसों (पाठा—निरन्त) जीव के निकलते (मरने) रहने पर भी शङ्करजीका स्मरण नहीं करते अर्थात् 'उदरभक्षा विनाश अवश्यम्भावी है' इस सीनिके अनुसार रोगी नहीं रहने पर या सचिवानादि असाध्य रोग के कारण मृत्यु के सन्निहित रहने पर भी उक्त प्रकार से कुटुम्ब के लिये ही विचिन्तित रहने हुए लोकमनुष्ठानारक शिवजीका स्मरण नहीं करते, (ऐसे 'मोह को उन दृष्टादि चारों देवोंने उस जन-समूह में देखा' ऐसा सम्बन्ध पूर्व (१७।२९) श्लोक में करना चाहिये) ॥ ३० ॥

पुमामलङ्घननिर्वाणज्ञानदीपमयात्मनाम् ।

अन्नम्लोपयतिः व्यक्तं य कज्जलवदुज्ज्वलम् ॥ ३१ ॥

पुमानिति । य मोह, अलङ्घ्य अप्राप्त, निर्वाणज्ञानदीपमय निर्वाणज्ञानं मोक्षविषयिणी बुद्धिः, तदेव दीप प्रकाशरूपात् प्रदीप, तन्मय तद्भात्मक, आत्मा स्वभाव ये नेयाम् अनात्मज्ञाना, विषयासक्तानामित्यर्थः । पुमाम् उज्ज्वल स्वभावतः पुन निर्मलम्, अन्तः अन्न करण, कज्जलवत् अञ्जनवत्, उज्ज्वल स्फुट, ग्लोपयति मलिनो करोति मोक्षसाधनात्मसाक्षात्कारविधातकोऽयं कृतिर्मयम् ॥ ३१ ॥

जो (मोह) मोक्ष-साधक ज्ञानरूपी दीपको नदी-प्रति कृति हुए अर्थात् अज्ञानशील (अथवा—अविनष्ट ज्ञानदीपकुल आत्मावाले) पुरुषों के स्वभाव से निर्मल अन्न-करण (पक्षा—मध्यमा) को वज्र के समान स्फुट मोहिन (वाहिनीकुल) कर देता है ('ऐसे मोह को उन देवोंने उस जनसमूह में देखा' ऐसा सम्बन्ध पूर्व (१७।२९) श्लोक में साथ समझना चाहिये । [जिस प्रकार जल की हुआ दीपक अपने कज्जल के द्वारा अत्यन्त निर्मल पात्र के भी मध्यभाग को कालिमापुच्छ कर देता है, उसी प्रकार ये 'मोह ज्ञानदीपक' शुक्त आत्मावाले मुनियों के भी अतिशय शुद्ध मन को दूषित कर देता है, ज्योंकि विश्वामित्रादि मेनकादिकों देखकर मोहिन होने को काम-पुरुषों में स्पष्ट होना है । अतः एव साधनाधन आत्मसाक्षात्कारका विनाशक यह मोह है] ॥ ३१ ॥

ब्रह्मचारिव्रतस्थापितयो गृहिण्य यथा ।

त्रयो यमुपजीवन्ति क्रोधलोभमनोभया ॥ ३२ ॥

ब्रह्मचारोति । ब्रह्मचारिव्रतस्यावियसय ब्रह्मचारिवानप्रस्यमित्युक्ता, प्र
आधमत्रयम् इत्यर्थः । गृहिण गृहस्थाश्रमिण, यथा इव, क्रोधलोभमनोभवा क्रो-
लोभकामा अय, य मोहम्, उपजीवन्ति आश्रित्य वर्तन्ते । मोहमूलास्ते तच्चिन्तो
तेऽपि निवर्तन्ते इति भावः ॥ ३२ ॥

अस प्रकार भ्रष्टचारी, वानप्रस्थ तथा सत्यासी तानों ही (भोजन-वस्त्रादिके लिये)
गृहस्थका आश्रय करने हैं, उसी प्रकार क्रोध, लोभ तथा काम तीनों ही जिन (मोह) का
आश्रय करने हैं ('उस मोहको देवोंने उस जन-समूहमें देखा' ऐसा सम्बन्ध पूर्व (१७।१९)
श्लोकमें समझना चाहिये) । [मोहमें ही क्रोध, लोभ तथा काम होने हैं] ॥ ३२ ॥

जाग्रतामपि निद्रा य पश्यतामपि योऽन्वता ।

ध्रुते मत्स्यपि जाड्य य प्रकाशेऽपि च यस्तम ॥ ३३ ॥

जाग्रतामिति । य मोह, जाग्रता प्रबुद्धतामपि, निद्रा निद्रास्वरूप, निद्राया
इव मत्सज्जानविलोपकृत्वादिति भावः । य मोह, पश्यता चक्षुष्मताम् अपि,
अन्वता तद्वाहित्यम्, अन्धो यथा सुपय कुपय वा मिश्रेतु न दृक्नोति तद्वदिति
भावः । य मोह, ध्रुते शास्त्रे, शास्त्रज्ञाने इत्यर्थः । सत्यपि विद्यमानेऽपि, जाड्य,
मोहय, जडवत् शास्त्रविद्वत्कार्यकरणादिति भावः । यश्च मोह, प्रकाशे आतपे, रौद्रे
मत्स्यपि इत्यर्थः । तमश्च अन्धकार, अन्धकारे यथा वस्तुज्ञान न भवति तद्वदिति
भावः । निद्रादिचक्षुष्टयकार्यकारित्वात् तद्वत् जागरणपुराविभिरनिवार्यं वाच्य प्रसिद्ध
निद्रादिचक्षुष्टयविलक्षण कोऽपि तत्समष्टिरिति निष्कर्षः ॥ ३३ ॥

जो (मोह) जागते (सावधान रहने) हुए लोगोंको भी निद्रा (निद्राके समान मत्स-
जुरेके दानका नाशक) है, जो (मोह) देखते हुए लोगोंका भी आधमना (अंधेके समान
भले-दुरे मार्गको दानमें धुन्व करनेवाला) है, जो (मोह) शास्त्र (अध्ययन) होनेपर भी
मूर्खता (मूर्खके समान शास्त्रविद्वत् कार्यमें प्रवृत्त करनेवाला) है और जो (मोह) प्रकाशमें
भी अन्धकार (अन्धकारके समान प्राज्ञ-प्राज्ञ पदार्थोंके ज्ञानमें रहित करनेवाला) है,
('उस मोहको इन्द्रादि चारों देवोंने उस जन-समूहमें देखा' ऐसा सम्बन्ध पूर्व (१७।१९)
श्लोकमें करना चाहिये) । [निद्रादि चारोंके कार्यको करनेसे तथा उस प्रकार जागरणादिके
द्वारा निवार्य होनेसे लोकप्रसिद्ध निद्रादिसे विनिश्चय तत्समुदायरूप अनिवार्यनीय यह
मोह है] ॥ ३३ ॥

(कुरुमैत्र्य हरेणेन प्रागलज्जत न्नाजुन ।

हत् येन जयन् कामस्तमोगुणजुपा जगन् ॥ १ ॥)

^३ कुर्विति । तमोगुणजुपाज्ञानरूपतमोगुणसेविना येन मोहेन हत् जगत् जयन्

१ अय श्लोको 'जीवाती' न व्याख्यात, इति मयाऽय 'प्रकाश' व्याख्यानमेवो
पन्पस्तमित्यवधेयम् । २ इदं 'प्रकाश' व्याख्यानमिति बोध्यम् ।

कामो नालजतं । क इव—तमोगुणजुषा आश्रिततमोगुणेन हरेण संहारकारकेण स्त्रेण प्राप्तकालतया प्राक् इत ग्रस्त कुर्यन्मैव पश्चाद्विनाशयच्चर्तुन इव । मया इतमित्यभिमानेन लज्जा नाप । अन्येन इतस्य पश्चात् स्वेन इनने हि लज्जा युक्ता । सा तु कामस्य न जातैत्यर्थः । मूढ एव कामपरवशो भवतीत्यर्थः । ईश्वरं प्राक्कुर्यन्मैव शूलेन हन्ति, पश्चाच्छरेणार्जुन इति द्रोणपर्वकथा । कुलकम् ॥ १ ॥

नमोगुणप्रधान सशरक शिवजीने पहले इन (ग्रस्त) कुम्भेनाको चीनने हुए अर्जुनक समान नमोगुणी जिम (मोह) में पहले नष्ट (ग्रस्त) सशरको आगता हुआ कामदेव लज्जन नहीं हुआ । ['मूढा सत्त्वगुणा चट्टिकर्ता, विष्णु रजोगुणो पालनकर्ता और शिव नमोगुणी संहारकर्ता है' ऐसा शास्त्रप्रमाण है । अत एव नमोगुण प्रधान शिवजी कीरवनेना को पहले मारने से तो उसके बाद अर्जुन उसपर बाण चलाकर 'इने मन मारा' ऐसा समझने हुए जिम प्रकार लज्जित नहीं होता था, उसी प्रकार पहले तमोगुणी मोहने ही समस्त सशरको अपने वश में कर लिया है, तदनन्तर उस जगत्को चीनता हुआ काम नेने अपने बाणने इने जाना है ऐसा मानकर लज्जित नही होता है । वस्तुतः दूसरेके द्वारा मारे गयेको मारनेमें लज्जित होना उचित है, परन्तु कामदेव लज्जित नहीं हुआ । मोहके वशभूत (मूर्ख) ही कामाधीन होता है, अतः कामदेवने भी मोह ही प्रवृत्त है] ॥

चिह्निता कतिचिद्देवैः प्राच परिचयान्वमी ।

अन्ये न चेचनाचूडमेत कञ्चुकमेचका ॥ ३४ ॥

चिह्निता इति । अमी पूर्वोक्तस्मरादयः, कतिचिद् कियत्सङ्ख्यका, देवै इन्द्रादिभिः, प्राच परिचयात् इन्द्रादीनां कामादिवशीभूतत्वेन पूर्वज्ञातपरिचयात्, पूर्वाभुवज्जगत्सत्कारादिति यावत् । चिह्निता चिह्नविशेषे परिज्ञाता, प्रत्यभिज्ञाता इत्यर्थः । आचूडम् आशिषम्, एत कञ्चुकेन पापरूपकृष्णवर्णावरकवस्त्रेण, मेचका श्यामवर्णा, अन्ये नपरे च, कामादिव्यतिरिक्ता इत्यर्थः । केचन केचित्, न, देवै चिह्निता इति पूर्वोक्तान्वयः, नीलवस्त्रावृतशरीरत्वेन 'अमी ते' इति न प्रत्यभिज्ञाता इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

इन (कामादि) कुत्तको इन (इन्द्रादि देवों) ने पूर्वपरिचयके कारण चिह्नविशेषोंमें पहचान लिया तथा चौटीनक पापरूप कञ्चुकेने कृष्णवर्णावाले कुत्त दूसरों (कामादिते मित्रों या तदुपजीवी बौद्धादिकों) को नहीं पहचाना । [इन्द्रादि देवोंको भी कामादिक वशीभूत होनेमें पूर्वपरिचय होना तथा उस कारण उन्हें पहचानना और चौटी (शिर) तक कृष्णवर्णके वस्त्रसे ढके रहनेके कारण कुछको नहीं पहचानना भी उचित है, क्योंकि काले वस्त्रमें चौटी तक ढके हुए व्यक्ति को पहचानना असम्भवप्राय है] ॥ ३४ ॥

तत्रोटीर्ण इवार्णोघी मैन्येऽभ्यर्णमुपेयुषि ।

कस्याप्याकर्णयामासुस्ते वर्णान् कर्णवर्कशान् ॥ ३५ ॥

असमर्थ) लोगोंको जीविका है, ऐसा बृहस्पति^१ कहते हैं । [अतएव परलोकके नहीं शनैः
श्छातुमार कार्य करना चाहिये] ॥ ३८ ॥

शुद्ध वशद्वयोशुद्धौ पित्रो पित्रोर्यदेकश ।

^२तदनन्तकुलादोपाददौपा जातिरस्ति वा ॥ ३९ ॥

शुद्धमिति । यत् यत् कारणात्, पित्रो पित्रो मातापितृपरम्परयो मध्ये ।
निद्वारणे सप्तमी । वीप्साया द्विरिति । 'पिता मात्रा' इत्येकशेष । एकश एकशप,
वशद्वयोशुद्धौ वभयकुलशुद्धौ, पितृवशमातामहवशयो, विशुद्धिताया सत्यामित्यर्थः ।
शुद्ध निर्दोष, ^३पुत्रजायते इति शेष । पुत्रस्यापि शुद्धता भवति इत्यर्थः । तत् तस्मात्
अनन्तानाम् अशेषाणाम्, आमूलानामिति भावः । कुलानां वशानाम्, अवोपात्
दोपराहित्यात्, अवोपा निदोषा, जाति जन्म, का अस्ति ? न काऽपि इत्यर्थः ।
यथाहु — 'अनादाविह तसारे दुषरे मकरध्वजे । कुले च कामिनीमूले वा जातिपरि
कल्पना ? ॥' इति ॥ ३९ ॥

जिस कारण माता-पितामें से एक-एकके दोनों वंश (पिताका कुल तथा नानाका कुल)
को शुद्धि हान पर शुद्ध सन्तान होनी है, उस कारण अनन्त वंशके दोष रहित होनेसे
निदोष जाति (जन्म) बन है । अर्थात् कोटि नहीं । (अथवा—जिस कारण पिताके माता-
पिता (पितामह तथा पितामह अर्थात् दादा-दादा) और माताके माता-पिता (माशमरी
और मातामह अर्थात् नानो-नाना) और उन दोनोंमें से एक-एकके माता-पिता इस प्रकार
सम्मानक प्रत्येक की शुद्धि को परीक्षा करना चाहिये, उस कारण अनन्त वंशवालीमें (अतः
एव) दाप होने से अर्थात् स्त्री-पुरुष परम्पराके समग्रजन्य दोषके अभावका सन्निध्य होने
(तथा इन्द्रचन्द्रादिके भा व्यभिचारका प्रमाण पुराणादिमें मिलने) से कौन जाति निर्दोष
है ? अर्थात् कोटि भी जाति निर्दोष नहीं प्रतीत होती । अथवा— उस कारण सम्मानक
दोनों वंशके दोषरहित होनेसे जाति निर्दोष होती है, वह कौन-सी जाति है ? (जिते
शुद्ध माना जाय) अर्थात् काट भी नहीं । [एक कारणोंसे शुद्ध जातिका मिलना अष्ट
म्भ होनेसे समा जाति संशय है, अतएव जातिदोषका भय छोड़कर स्वेच्छापूर्वक व्यव
हार करना चाहिये] ॥ ३९ ॥

१ तदुक्त बृहस्पतिना—

'अग्निहोत्रग्रयो वेदास्त्रिदण्ड मस्मपुण्ड्रकम् ।

शुद्धिपौरुषहीनाना जीविकेति बृहस्पति ॥' इति ।

२ 'शुद्धिर्बश-' इति 'प्रकाश' व्याख्यात पाठ साधु प्रतिभाति ।

३ तदानन्त-इति पाठ सम्यक् इति 'प्रकाश' ।

४ अयं नियपुस्त्वेन अत्र 'सन्तानम्, अपत्य' वा भवेदिति बोध्यम् ।

कामिनीवर्गससर्गेन क सङ्क्रान्तपातक ? ।

नाशनाति स्नाति हा । मोहात् कामक्षामत्रेन जगत् ॥ ४० ॥

कामिनीति । किञ्च, कामिनीवर्गस्य पुरुषापेक्षया अष्टगुणकामस्य स्त्रीज्ञातस्य, ससर्ग सम्बन्धे, स्त्रीभि सह एकत्र वामैरित्यर्थ । क पुमान्, सङ्क्रान्तपातक प्राप्तपाप, पापाक्रान्त इत्यर्थ । न ? अपि तु मर्त्य एव पातकी, 'मवत्सराक्षु पतति पनितेन सदाचान्' इति शास्त्रात् पनितस्त्रोससर्गेण सर्वोऽपि पातकी एवेति भाव । अथ एव कामेन कन्दर्पेण अभिलाषेण वा, चामतत्र स्त्रीजगत, निष्फलत्रत वा । 'चायो न' इति निष्ठातकारस्य मकार । जगत् इदं विश्व, विश्ववासीत्यर्थ । मोहात् स्ववृत्तानाकलनात्, न भरनाति उपवमति, तथा स्नानि च तार्थादी स्नान करोति च, स्नानेन आत्मन शुद्धबुद्धयेव पुन मनानि चरति इति भाव । हा इति खेदे । अतसहस्रे कृतेऽपि एकेनेव स्त्रीससर्गपातकेन सर्वनाश इति भाव ॥ ४० ॥

(पुनर्षोकी अपेक्षा अष्टगुणे कामयुक्त) स्त्री-समूहके समर्गोमे कौन (पुरुष) पापयुक्त नहीं है ? (अनिष्टय नामवाचनयुक्त स्त्रियोंके ससर्गे सभी सामागिक पापमे युक्त है, क्योंकि एक वर्ष पापकीके समर्गमे पातकरहित भी पातकी हो जाता है) । काम (इच्छा, फल या कामवासना) से क्षीण बनवाला (पाठा०— क्षीण यद्) समार मोह (विचार शून्यता) के कारण (एकादशी आदि को) नहीं गया है । और (अनावस्था आदिको नारीमें) स्नान करना है, हाय ! (खद है) । [स्वयं शुद्ध होनेपर भी स्त्रियोंके समर्गमे, स्त्रियोंके भा कपक्षित शुद्ध होनेपर दुष्टादिके समर्गमे पापपरहित कोर भी नहीं है, अन्यथा एकादशी आदि विधियोंमें अनेकवास तथा अनावस्था आदि विधियोंमें प्रयागादि तीर्थोंमें स्नान करना अविवारपूर्ण होनेमे व्यर्थ हो है, इस कारण स्वेच्छामे यथेष्ट व्यवहार करना चाहिये ॥ ४० ॥

ईर्यया रक्षनो नारीं धिक् कुलस्थितिदाग्भिकान् ।

स्मरान्धत्वाभिषेपेऽपि तथा नरमरक्षत ॥ ४१ ॥

ईर्ययेति । स्मरान्धवस्य कामविमूढत्वस्य, अभिषेपेऽपि समानत्वेऽपि, स्त्रीपुंसयोरिति शेष । ईर्यया पुरुषान्तरससर्गासहिष्णुनया, नारीं स्त्रिय, रक्षत निरन्धत, अवरोधमध्ये शासनवाक्येन वा इति शेष । किन्तु नर पुरुष, तथा तद्वत्, नररक्षत परस्त्रीसंसर्गात् अनिवारयत, अथ च कुलस्य वसत्य स्थिति मर्यादा, विशुद्धिता इत्यर्थ । अमाङ्ग्येणावस्थानमिति यावत्, तथा तद्रूपेण, दम्भेन कैतवेन चरन्तीति तथोक्तान् स्त्रीमात्ररक्षणादेश जातेरसाङ्ग्यं मन्थमानान् वज्रकान् । 'चरति' इति ठक् । 'दम्भस्तु कैतवे कबके' इति विश्व । जनानिति शेष । धिक् निन्दामीत्यर्थ । 'धिगु

१ 'चाममिद् जगत्' इति पाठो जीवानुसम्मत इति स म शिवदत्तशर्माण ।

२ 'नारीर्धि-' इति पाठान्तरम् ।

मृत प्राणीके पापसे दुःख तथा पुण्यसे सुख होते हैं, ऐसी मुक्ति (वेद) कहना है (पञ्चा०—यह श्रुति है अर्थात् केवल सुना ही जाना है, उसमें प्रामाणिकता कोई नहीं है), किन्तु इसमें विपरीतभाव (पापसे सुख तथा पुण्यसे दुःख) देखा जाता है, इस कारण (अथवा—इन दोनोंके) बलाबलको तुमलोग कहो । [प्रयागादि तीर्थमें स्नानरूप धर्म करने से पुण्य तथा शास्त्र-विरुद्ध कार्य करनेसे दुःख होता है, ऐसा वेदका कथन कथा है, कि तु यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि प्रातःकाल प्रयागादि तीर्थमें स्नान या तप आदि करनेसे दुःख तथा मद्य-पान, परस्त्री-सम्भोग आदि करनेसे आनन्द मिलता है, पुण्यसे परलोक होनेपर स्वर्गादि प्राप्तिरूप सुख मिलता है यह परीक्षणी बात है, अतः एक प्रत्यक्ष तथा परीक्ष प्रमाणमें प्रत्यक्ष प्रमाण बन्वान् होनेसे यह मानना पड़ेगा कि पापकर्मसे ही सुख तथा पुण्यकर्मसे दुःख मिलता है, अतः पापकर्ममें ही सबको प्रवृत्त होना चाहिये] ॥४४॥

सन्देहेऽन्यन्यदेहाप्तेऽप्ययज्यं वर्जितं यति ।

त्यजत श्रोत्रिया । सत्रं हिंसादूषणसशयात् ॥ ४५ ॥

सन्देहे इति । अन्यदेहाप्ते मृतस्य देहान्तरप्राप्ते, सन्देहेऽपि सशयेऽपि, पापकारी चेत् तदा मृत्वा देहान्तरमाप्स्यति नरकभोगी स्यादिति वादिनः, यः पापकारी स वर्ज्य एव, अतस्तस्य देहान्तरप्राप्त्यसम्भवेन नरकभोगस्याप्यसम्भवः, इति देहात्म्यादिनः तत्प्रतिवादिनश्च तादृशविरुद्धवाक्यद्वयजम्बसन्देहे सत्यपि इत्यर्थः, यदि धृष्टिनः पारदार्यादिपाप, 'पापं किलिपकश्चमपः कलुषं धृष्टिनैर्नोऽधमं' इत्यमरः । विवर्ज्यं त्याज्यं, पाक्षिकदोषस्यापि परिहार्यत्वादिति भावः । तर्हि, श्रोत्रिया । हे छान्दसा । हे वेदाध्यायिनः । इत्यर्थः । 'धोत्रियच्छान्दसौ समौ' इत्यमरः । छन्दो वेदमधीते इति छन्दसो वा श्रोत्रभावो निपात्यते 'तदधीते' इत्येतस्मिन्नर्थे घञ इति निपातनात् आधु, हिंसादूषणसशयात् जीवहत्याजनितपापशङ्कात्, वैधहिंसायामपि साद्ध्यादिभिः प्रत्यवायाङ्गीकारादिति भावः । सत्रं यज्ञः, त्यजत जहीत, 'पाक्षिकोऽपि दोषः परिहर्तव्यः' इति न्यायादिति भावः । पारदार्यादि पुनरहिंसात्मकत्वात् प्रत्युत सुखकरत्वाच्च न कश्चित् प्रत्यवायः, इति तात्पर्यम् ॥ ४५ ॥

(जन्मान्तरमें दुःखकी सम्भावनामें पाप नहीं करना चाहिये ऐसा कुछ लोग कहते हैं, तथा जो (शरीर) पाप करता है, वह तो मरनेके बाद जला दिया जाता है, पुनः दूसरा शरीर मिलेगा, इसमें क्या विदवाह है ? इस प्रकारके दो मन होनेसे) दूसरे देहकी प्राप्ति होनेमें सन्देह होनेसे (पाक्षिक दोषका भी त्याग करना ठीक है इस न्यायसे) यदि पापका त्याग करना चाहिये (ऐसा तुमलोग कहते हो) तो हे वेदपाठियो (वशिष्ठ आदि ऋषियो) । (यदि हम यज्ञमें पशुओंको मारेंगे तो उसमें भी सम्भवतः) हिंसा होगी-रन म-देहके होनेसे यज्ञको भी छोड़ दो । [जिस प्रकार शरीरकी पुनः प्राप्ति होनेके सन्देह

होनेपर पाक्षिक कर्मका भी त्याग करना न्यायसङ्गत होनेसे देहान्तरमें पापजन्य दुः । होनेके भयसे पापको यदि त्याग्य मानने हो तो यज्ञमें पशुहिंसा करनेसे भी 'अहिंसा परमो धर्म', 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' इत्यादि श्रुति-स्मृतिवचनोंसे हिंसाका त्याग प्रतिपादित होनेसे उक्त यक्षीय हिंसामें भी पाप होनेकी सम्भावना होनेसे वह यज्ञ भी तुम लोगोंको नहीं करना चाहिये और यदि ऐसा नहीं करते हो तो तुल्यन्यायमें पापका भी आचरण करो] ॥

यत्त्रिवेदीविदा वन्त्य स व्यासोऽपि जज्ञल्पः ।

रामाया जातकामाया प्रशन्ता हस्तधारणा ॥ ४६ ॥

य इति । किञ्च, प्रयाणा वेदाना समाहार त्रिवेदी, त्रिलोकीवत् प्रक्रिया । तद्विदा त्रयीषुद्धामा, वेदत्रयाभिज्ञानमित्यर्थः, य वन्द्य पूज्य, श्रेष्ठ इत्यर्थः, स व्यासोऽपि कृष्णद्वैपायनोऽपि, जातकामाया रन्तु जाताभिलाषाया, रामाया कामिन्या, हस्तधारणा करग्रहण, प्रशन्ता कर्त्तव्या, इति च युष्माक, जज्ञल्प उक्तवान्, भारतादौ इति शेषः । स्मरतां विह्वला दीना यो न कामयते स्त्रियम् । ब्रह्महा स तु विज्ञेयो व्यासो वचनमब्रवीत् ॥ इति महाभारतादित्रयस्याव स्वयञ्च विचित्रवीर्य-भार्याभिगमनेन पुत्रोत्पादनादिति भावः ॥ ४६ ॥

जो तीनों वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद) जाननेवालोंके वन्दनीय हैं, उन व्यासने भी आप लोगोंसे 'कामुकी लोका ग्रहण करना (पश्चात्—विराड् करना) श्रेष्ठ है' ऐसा कहा है । (अथवा—जो तीनों वेद जाननेवाले आप लोगोंके वन्दनीय हैं, वस व्यासने भी) । [जब वेदत्रयके गानाओंके वन्दनीय व्यासजी भी ('अपि' शब्दने शास्त्रीकी भाँति भी) कामुकी लोका ग्रहण करना श्रेष्ठ बल्लाने हैं, तब हसे पाप समझना महान् भ्रम है] ॥ ४६ ॥

सुहृते य कथं श्रद्धा ? सुरते च कथं न सा ? ।

तत् कर्म पुरुष कुर्याद् येनान्ते सुरमेधते ॥ ४७ ॥

सुहृते इति । सुहृते तपोयज्ञादौ पुण्यकर्मणि, य युष्माक, कथं केन हेतुभा, श्रद्धा विश्वास ? सुरते स्त्रीसङ्गमादौ च, सा श्रद्धा, कथं न ? अस्तीति शेषः । तत्रैव श्रद्धया भवितव्यम् इति भावः । कुत ? पुरुष नर, तत् सादृश, कर्म क्रिया, कुर्यात् आचरेत्, येन कर्मणा, अन्ते परिणामे, कर्मान्ते इत्यर्थः, सुखम् आनन्दम्, एधते वर्द्धते, सुखार्थमेव कर्म कुर्यात् इत्यर्थः । तच्च सुरतम् एव अनुभवसिद्धत्वात्, न सुहृत वैपरीत्यादिति भावः ॥ ४७ ॥

पुण्य (चान्द्रायणादि व्रत) में तुम लोगोंको कैसा यद्धा (आत्म विश्वास) है तथा सुरत (मैथुन-पाठा—परदारसम्भोगरूप पाप) में वह श्रद्धा क्यों नहीं है, क्योंकि मनुष्यको वह काम करना चाहिये, जिसने अन्तमें सुख दहे । [पुण्यमें प्रत्यक्षन सुख नहीं

१ 'दुरिते' इति पाठान्तरम् ।

६६ नै० उ०

देखे जाने तथा पापको सम्मोग आदि रतिमें (या पाप) में तात्कालिक प्रत्यक्ष सुख देते जानेने परोक्ष पुण्यजन्य सुखकी अपेक्षा प्रत्यक्ष पापजन्य सुखमें ही तुम लोगोंको श्रद्धा करना उचित है, अतएव पुण्यकर्मकी अपेक्षा पापकर्ममें ही विश्वास करना चाहिये] ॥ ४७ ॥

बलान् कुरुत पापानि सन्तु तान्वकृतानि च ।

सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत् ॥ ४८ ॥

बलादिति । किञ्च, बलात् बलपूर्वक, शास्त्रवाच्यमुपेक्ष्य शास्त्रशासनमुपेक्ष्य इत्यर्थ, पापानि कलुषाणि, पापानाम्ना अभिहितानीत्यर्थ । कुरुत आचरत, तानि बलात् कृतपापानि, च पुष्पाकम्, अकृतानि अनाचरितानि, सन्तु भवन्तु, अकृतान्येव भविष्यन्तीत्यर्थ । कुतः ? सर्वान् निरालात्, बलकृतान् बलपूर्वकमनुष्ठितान् अर्थान् व्यापारान्, अकृतान् अननुष्ठितान्, मनु आदिरमार्त्त, अग्रवीत् उवाच, तस्मात् बलात् कृते दोषो भास्तीत्यर्थ । अत्र मनु, — 'बलाद्दत्त बलाद्भुक्त बलात् पक्ष्यापि क्षेपितम् । सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान् मनुरब्रवीत् ॥' यद्यपि बलात्कृत व्यवहारपरावृत्तिपरमेतत् तथाऽपि पापमाकलयतां चार्वाकविषयतया प्रलयनमिति द्रष्टव्यम् ॥ ४८ ॥

(तुम लोग) बलपूर्वक भी पाप करो, वे (बलपूर्वक किये गये पाप) तुम लोगोंका नहीं किया हुआ होवे अर्थात् बलपूर्वक पाप करनेपर भी तुम लोगोंको तात्जन्य दोष नहीं लगे क्योंकि बलात्कारमें किये गये सब दोषोंकी मनुने नहीं किया हुआ बतलाया है । (जरा मुख्य स्मृतिकार मनु ही बलात्कारसे किये गये कर्मको नहीं किया गया कहते हैं तब वच रूपमें किये गये पापका भी दोष पापकर्ताकी नहीं लगेगा, अतः बलात्कारसे भी परकी सम्मोग आदि पाप करना चाहिये । यहा यद्यपि मनुभगवान्का 'बलात्कृत' (८।११८) वचन बलात्कारसे किये गये व्यवहारपरावृत्तिके लिये है, तथापि पापको नहीं माननेवाला चार्वाक उसके द्वारा छलते अपने पक्षको पुष्ट करता है] ॥ ४८ ॥

स्वागमार्थेऽपि मा स्थास्मिस्तीर्थिका । विचिकित्सव ।

त तमाचरतानन्दं स्वच्छन्दं य यमिच्छथ ॥ ४९ ॥

स्वेति । तीर्थिकाः । हे शास्त्रिण ! मत्पर्यायपक्षप्रत्यय । 'तीर्थं शास्त्रवरचेजोपायनारीरज सु च । अवतारपिञ्जुष्टाम्बुपात्रोपाध्यायमन्त्रिषु ॥' इत्यमर । तस्मिन् अनुश्रोक्ते द्वातामार्थे बलात्काररूपधने स्वशास्त्रार्थेऽपि, विचिकित्सव सोऽपिञ्च । 'विचिकित्सा ॥ सञ्चय' इत्यमर । कित सञ्चयतादुप्रत्यय । मा स्थ न भव, यूयमिति शेष । अतः य यम् आनन्द परदारगमनादिक सुखम्, इच्छथ चान्द्रण्य त तम् आनन्द, स्वच्छन्दं ययेच्छम्, आचरत अनुभवत इत्यर्थ ॥ ४९ ॥

हे श्वरसम्प्रदायागतविद्या पदे हुए (वसिष्ठादि मुनि) ! अपने आयम (पूर्वं श्लोके)

१. अथ श्लोको मेदिन्यामुपलभ्यते न त्वमरकोशे ।

मनुप्रतिपादित सिद्धान्त) में भी सदाशु मत् होवे, (इस कारण) जिस-जिम आनन्द (परस्त्री-सम्भोग वन्य सुख) को चाहते हो, उस-उसका स्वच्छन्द (निर्बाधरूपसे) आचरण करो । [मेरा (चावकका) मत तुम लोगोंके सम्प्रदायके विपरीत होनेसे यथा कथञ्चित् मले ही वसरर विद्वान् नहीं करना उचित हो सकता है, परन्तु पुरसम्प्रदायानु गत विद्या पढनेवाले तुम लोगोंको 'बलादत्त बलादभुक्त' (८।१६८) 'इमं मनुप्रतिपादित वचनमें तुम लोगोंको सन्देह करना कदापि उचित नहीं है और इस अवस्थामें उक्त वचना-नुसार स्वेच्छापूर्वक परस्त्रीसम्भोगादिरूप सुखका आनन्द तुम लोगोंको लेना चाहिये] ॥५९॥

श्रुतिस्मृत्यर्थबोधेषु कैकमस्य महाधियाम् ? ।

वयाख्या बुद्धिबलापेक्षा मा नोपेत्या सुखोन्मुखी ॥ ५० ॥

मनु मनुवचनस्य व्यवहारविषयत्वाच्चायमर्थः, सम्प्रदायविरुद्धात् इत्यादिपुनर्त्त प्रत्याह—श्रुतीति । महाधिया तीव्रगुह्यदीना पुनः, श्रुतिस्मृत्यर्थानां वेदधर्मशास्त्रोक्त विषयाणां, बोधेषु ज्ञानेषु, ऐकमस्य मतैक्य, मतविरोधाभाव इत्यर्थः । इ ? कुत्र ? न कापि, अपि तु सर्वत्रैव विसर्वाद इति भावः । किन्तु व्याख्या पदवाच्यार्थप्रतिपादन, बुद्धिबलापेक्षा ज्ञानोक्त्यानुसारिणी, ज्ञानस्य उत्कर्षार्थक्यानुसारेण शास्त्रस्य विविधभ्याख्या कर्तुं शक्यते यथा परमतनिरसनेन स्वमत स्थापयितुं युज्यते इति भावः । एव स्थिते या व्याख्या सुखोन्मुखी सुखप्रवणा, आनन्दसाधिका इत्यर्थः । सा न उपेत्या न त्याज्या, भा एव ग्राह्या इत्यर्थः । अतः यथेष्टमाचरतेति भावः ॥

वेदों तथा धर्मशास्त्रोंके अर्थज्ञानमें महामतिमानोंको भी एक मत कहा है अर्थात् कहीं नहीं (अपि तु विसर्वाद ही है) ऐसी स्थितिमें पद-वाच्यार्थ-निरूपण बुद्धिके आधिक्यके अनुसार है और सुप्रदायिनी उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । [मनुस्मृतिके उक्त वचनका वैसा अमिप्राय नहीं है, जैसा कि आपने पूर्व दो श्लोकोंमें प्रतिपादन किया है, इस प्रकार आक्षेप करनेवालेका खण्डन करनेके उद्देश्यसे यह वचन है । इसका तात्पर्य यह है कि बड़े-बड़े विद्वानोंको भी वेद तथा स्मृतियोंके अर्थके विषयमें एकमत नहीं है किन्तु ज्ञानोत्कर्षके अनुसार की गयी व्याख्याको ही सिद्धान्त माना जाना है, इसी कारण जिस वेदमन्त्रका अर्थ अद्वैतवादी अनेदपरक मानते हैं, उसीका अर्थ द्वैतवादी भेदपरक मानते हैं, इसी प्रकार स्मृतियोंमें भी एक मत नहीं है, अतः एव जिम व्याख्याका अन्तिम परिणाम आनन्दप्रद हो, उसीका आश्रय करना बुद्धिमत्ता है, ऐसी स्थितिमें उक्त मनुवचनका मदुक्त आशय मानकर आनन्दप्रद परस्त्रीसम्भोग आदि करना मनुवचन विरुद्ध नहीं होनेसे दोषोत्पादक नहीं है, अतः वैसा स्वच्छन्द आचरण करना चाहिये] ॥ ५० ॥

यस्मिन्नस्मीति धीर्देहे तदाहे च किमेनसा ? ।

कापि किं तत् फलं न स्यादात्मेति परसाक्षिके ? ॥ ५१ ॥

नन्वेव सुखलौक्यात् पापाचरणे परत्रानिष्ट स्यादित्यग्राह—यस्मिन्निति । यस्मिन्

देहे शरीरे, अस्मीति घी अहमिति बुद्धि । 'अस्मीत्यन्यमस्मदर्थानुवादे अहमर्थेऽपि' इति गणव्याख्याने । 'पादप्रहारमिति सुन्दरि । नास्मि दृये' इत्यादिप्रयोगश्च । तस्य देहस्य, दाहे भस्मीभावे सति, व युष्माकम्, एनसा पापेन, किम् ? कर्तुं शक्यते इति शेषः । गौरोऽहं कृशोऽहमित्यादिवुद्धिप्रामाण्याद्देहादतिरिक्त फलभोक्ता नास्तीत्यभिमानः, येन देहेन पापं कृत् तस्य दाहे सति देहात्मवादिना युष्माकं पापेन नरकभोगादिकं न किञ्चिदपि कर्तुं शक्यते इति भावः । अथ पापपुण्यफलभोक्ता देहव्यतिरिक्त आत्माऽस्ति तत्रैव कर्मफलमिति चेत् तत्राह—कापीति । परसाक्षिके परो वेदादि, साक्षी प्रमाण यस्य तस्मिन् देहातिरिक्तया वेदप्रतिपादिते, प्रापि यत्र कुत्रचिद्वारमान्तरेऽपि, आत्मेति हेतो आत्मेति कृत्तनामतया, आत्मत्वाविशेषादित्यर्थः । तत् निरयादिरूप, फल पापस्य परिणामः, किं कथं, न स्यात् ? न भवेत् ? अपि तु एकेनात्मना पापे कृते आत्मत्वेन तदविशेषात् आत्मान्तरस्यापि तत्फलभोक्तृत्वं कथं न स्यात् ? इत्यर्थः । देहातिरिक्तस्यात्मन फलभोक्तृत्वाभावात् पतद्देहनाशे पापफलभोगस्यासम्भवाच्च यथेच्छमाचरतेति भावः ॥ ५१ ॥

जिस देहमें (मैं दुर्बल हूँ, मोटा हूँ, इत्यादि रूप ज्ञान होनेसे) 'आत्मा', ऐसा विश्वास है अर्थात् जिस देहको 'आत्मा' मानने से, उस (देह) के (मरनेके बाद) जल जानेपर (देहान्तवादी) पुनर्लोकोंको (उस देहके द्वारा किये गये) पापमें क्या प्रयोजन ? अर्थात् वह पाप आपलोगोंका क्या कर सकता है ? और देहातिरिक्त वेदादि प्रतिपादित किसी दूसरे आत्मामें मैं वह पाप-पुण्यजन्य फल क्या नहीं होता ? अर्थात् एक व्यक्तिके किये गये पापका फल दूसरे व्यक्तिको भा मिलना चाहिये, ऐसा नहीं होता, अतः देहातिरिक्त 'आत्मा' नामक कोई वस्तु नहीं है । [इसका आशय यह है कि—'देह ही आत्मा है, या देहान्तर अन्य कोई ?' यदि प्रथम पक्ष मानते हैं तो पापादि कर्म करने वाला शरीर मरनेपर जल्दकर भस्म हो जाता है, अतः एव उस पापादि कर्मका फलभोक्ता कोई शेष नहीं रह जाता, अतः स्वच्छन्द होकर प्रत्यक्ष आनन्दोदि फलप्रद परस्त्रीसम्भोग आदि करना चाहिये तथा यदि द्वितीय पक्ष (देहातिरिक्त आत्माका होना) मानते हैं तो वह देहातिरिक्त आत्मा स्वसाक्षिक है या परसाक्षिक ? इसमें भी प्रथम पक्ष मानकर 'अहं ज्ञान देहविषयक ही होगा, क्योंकि देहमिन्न किसी दूसरेका आश्रय सिद्ध नहीं होता, इस कारण पापजन्य फल शरीरके मरने से जानेपर कुछ नहीं कर सक्ता, यही बात पुनः सिद्ध होगी है । दूसरा पक्ष मानकर वेदादिसाक्षिक देहान्तर, कालान्तर या देशान्तरके फलभोक्ता होनेसे उस पापका नरक आदि फल वेदादिप्रतिपादित आत्मालो होना है, ऐसा स्वीकार करने से तो वह आत्मा होनेके कारण ही फलभोक्ता होता है और सर्वगत आत्माके अविशेष होनेसे किसी

१ श्लोकोऽयमेव विद्यते—

'दासे कृतागासि मधस्थुचित प्रभूणा पादप्रहार इति सुन्दरि नास्मि दृये ।

उपरकटोरपुलकाङ्कुरकण्टकाग्रैर्यद्विद्यते मृदु पदं ननु सा व्यथा मे ॥' इति ।

एकका वह प्रापादिजन्य नरक आदि फल किसी दूसरे व्यक्तिको भी होना चाहिये, इस अवस्थामें भी स्वयं फलमोक्ष नहीं होनेके कारण स्वच्छन्द होकर प्रत्यक्ष आनन्ददायक परलोकगमनादि पाप कर्म करनेमें कोई हानि नहीं होती] ॥ ५१ ॥

मृत स्मरति कर्माणि मृते कर्मफलोर्मय ।

अन्यभुक्तेर्मृते तृप्तिरित्यल धूर्तवार्त्तया ॥ ५२ ॥

नभ्वन्नागमो बलवदस्ति प्रमाणमत आह—मृत इति । मृत परेतः, कर्माणि स्वकृतानि, स्मरति आध्यायति, मृते परेते जन्तौ, कर्मणां पापपुण्याद्यनुष्ठानानां, फलोर्मय सुखदुःखसम्ताना, भवन्तीति शेष । अन्यभुक्ते आद्यादिषु ब्राह्मणभोजनै मृते मृते, तृप्ति स्मृतोप, भवति इति शेष । इति एव, धूर्तवार्त्तया धूर्तानां परप्रचारणया स्वस्य उपजीविका निर्वाहता, वार्त्तया वृत्तामृतेन, वाक्येन इति यावत्, अल निष्प्रयोजनम्, आगमोऽपि कस्यचित् प्रलाप एव, अतो न विश्वसि तथ्यम् इति भाव । देहात्मवादिमते देहनाशे स्मृति भोग तृप्तीना सामानाधिकरण्यासम्भवात् तादृशवाक्यमप्रामाणिकमिति भाव ॥ ५२ ॥

मृत प्राणी पूर्व जन्मोंका स्मरण करता है, मरनेपर (पुण्य-पापादिजन्य) फलोंकी परम्परा हाती है और (ब्राह्मण आदि) दूसरे लोगोंके भोजनमें मृत प्राणीका तृप्ति होती है, (व्यापक) धूर्तोंकी यह बात स्पष्ट है । [देहिभित्त 'आत्मा' नामक पदार्थ कोई भी नहीं होनेसे मरनेपर पूर्वजन्मस्मृति, पूर्वकृत पुण्य-पापादिकर्मोंके फलोंको भोगना और आद्यादिमें ब्राह्मण आदिके खानेमें भृगात्माकी तृप्ति होना इत्यादि प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रों वचन धूर्तोंके बनाये हुए होनेमें अशङ्क्य हैं, अतः उनपर आस्था कर तदनुसार आचरण करना मूर्खता है] ॥ ५२ ॥

एक सन्दिग्धयोस्तावद् भावि तत्रेष्टजन्मनि ।

हेतूनाहु स्वमन्त्रादीनसाङ्गानन्यथा विटा ॥ ५३ ॥

धौर्त्यप्रकारमवाह—एकमित्यादि । सन्दिग्धयो सम्भवासम्भवान्या सशयितयो, पुत्रादिलाभालाभरूपेणनिष्ठफलयोर्मध्ये इति भाव । एकम् इष्टमनिष्ट वा अन्यतरत् फलमिति शेष । तावत् अवश्यमेव, भावि भविष्यति, तत्र तयोर्मध्ये, इष्टजन्मनि इष्टमिदौ सति, विटा धूर्ता, स्वमन्त्रादीन् निजमन्त्रादिप्रयोगान्, हेतून् कारणभूतान्, आहु वदन्ति, मयंतन्मन्त्रजपादिक कृत तत् एव तव पुत्रादीष्टलाभोऽभूदिति आभरलाघा कुर्वन्तीति भाव । अन्यथा तदमिदौ, असाङ्गान्

१ 'जन्मानि' इति पाठान्तरम् । २ 'अन्यभुक्तानि' इति पाठान्तरम् । तथा 'अन्यभुक्तानि तत्तृप्ति' इत्येव मूलपाठ 'प्रतिभाति' इति म० म० शिवदत्तशर्मा । ३ 'हेतुमाहु' इति पाठान्तरम् ।

अद्विकलान्, हेतून् आहु इति पूर्ववाक्येनान्वयः । कार्योपयोगिनां तत्तद्वस्तुनाम्
भावादेव फल नाभूदिति गृहस्थस्य दोष प्रकटयन्तीति भावः ॥ ५३ ॥

सन्देहयुक्तं (पुत्रलाभादिरूप इष्टकी सिद्धि होना या नहीं होना—रूप) दो कार्यों
एक (सिद्धि या असिद्धि) अवश्य ही होनी है, उन दोनोंमें—से इष्टसिद्धि (पुत्रादिराम)
होनेपर धूर्त (मन्त्रजपादि करनेवाले ब्राह्मण आदि) अपने मन्त्रकी कारण (मेरे मन्त्र
जपादिके प्रभावसे तुम्हें पुत्रलाभादिरूप मनोरथ सिद्धि हुई है ऐसा) कहते हैं, अन्यथा
(पुत्रलाभादि इष्टसिद्धि नहीं होनेपर (मन्त्रोंकी) असाध्य (अग्राहीन—अमुक वस्तुके अभावमें
तुम्हारी मनोरथसिद्धि नहीं हुई इत्यादि रूपसे मन्त्रोंकी अपरिपूर्णा) बतलाते हैं (यह बड़ी
भारी धूर्तता है) ॥ ५३ ॥

जनेन जानताऽस्मीति काय नाय त्वमित्यमौ ।

त्याज्यते ग्राह्यते चान्यदहो । श्रुत्याऽतिधूर्तर्या ॥ ५४ ॥

इत्थं कर्मकाण्ड विदग्ध्याज्ञानकाण्ड विदग्धयति, जनेनेति । अतिधूर्तया अति
प्रतारिकया, ध्राया वेदेन, प्रयोजककर्मा । काय देहम्, अस्मि अहम्, इति ज्ञानता
अवगच्छता, शरीरोऽहं कृशोऽहमित्याद्यहं प्रत्ययविषय देह एव, न तु तदतिरिक्त
कश्चिदिति वेदमेवास्मान् मन्यमानेनेत्यर्थः । जनेन पुमा, प्रयोज्येन । अयं काय, त्वम्
आत्मा, न, भवतीति शेषः, इति अस्माद्धेतो, असौ कायः, त्याज्यते हाप्यते, 'अहं'
प्रत्ययविषयत्वेन कायः परित्याज्यते इत्यर्थः । अन्यत् अपर, देहात् अन्यत् आत्म
छत्तु वस्तु इत्यर्थः । ग्राह्यते स्वीकार्यते च, 'अहं' प्रत्ययविषयतयेति शेषः । तत्र
मसीत्यादिवाक्ये अहंकार्यते च इत्यर्थः । इत्यहो आश्चर्यम् । सत्यस्य असत्यकरणात्
असत्यस्य सत्यकरणाच्च आश्चर्यमेतत् ॥ ५४ ॥

('तत्त्वमसि', 'स वा एव महान्त आत्मा' इत्यादि रूप) अनिश्चय वस्तुतः शरीरको
मैं हूँ इस प्रकार जानते ('मैं मोटा हूँ, मैं दुर्बल हूँ' इत्यादि प्रत्ययसे शरीरको ही आत्मा
मानते) हुए व्यक्तिके द्वारा 'तुम यह (शरीर) नहीं हो' इस प्रकार ('देहमें आत्मविषय
ज्ञानका) त्याग कराती है तथा दूसरे (शरीरामिन्न स्थानुमवविरुद्ध अप्रत्यक्ष तथा प्रमाण
बहिर्भूत 'आत्मा' नामकी किसी अनिर्वचनीय वस्तु) का ही ग्रहण कराने है, अहो
आश्चर्य (या—ऐसी धूर्ततापर से) है । [इसका यह आशय है कि—यद्यपि लोग मैं
दुर्बल हूँ, मैं मोटा हूँ' इत्यादि ज्ञान शरीरविषयक होनेसे शरीरको ही आत्मा जानते हैं
तथापि उक्त वेदवाक्य शरीरकी आत्मा होनेका स्पष्टन कर तदतिरिक्त अप्रत्यक्ष एव वचना
गोचर किसी वस्तुको 'आत्मा' कहते हैं, अतः एव अनुमतिविरुद्ध होनेसे ये वेदवाक्य
अत्यन्त धूर्त एव अग्राह्यगिक हैं] ॥ ५४ ॥

१ इमी (१७१५३-५४) श्लोकी 'प्रसादा' कृता विषयांसेन व्याख्याती ।

एकस्य विश्वपापेन तापेऽनन्ते निमज्जतः ।

क श्रौतस्यात्मनो भीरा ! भर स्याद्दुरितेन ते ? ॥ ५५ ॥

एकस्येति । विश्वेषा यावतां ससारिणा, पापेन परदारगमनादिरूपविविधपात-
केन, अनन्तेऽक्षये, तापे नरकादिदुःखे, निमज्जत अथगाहमानस्य, यावन्नोक्तकृतपा-
पजन्यानन्तदुःखमनुभवत इत्यर्थः । श्रौतस्य 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म', 'नेह नानाऽस्ति
किञ्चन' इत्यादि श्रुतिसिद्धस्य, एकस्य परमार्थतोऽद्वितीयस्य, हेतुगर्भविशेषणमेतत् ।
तथा हि-यत्न सर्वदेहेषु आत्मा एक एव, अतः यावद्देहावच्छेदे कृतानां यावत्पा-
पानां फलभोक्ता स एवेति भावः । ते तव, त्वदुक्तस्य इत्यर्थः । आत्मनः परमात्मस-
ज्ञकस्य, भीरो ! हे पापभयशील ! दुरितेन पापेन, परदारगमनरूपेणमात्रपातकेन
इति भावः । को भर भार स्यात् ? भवेत् ? देहातिरिक्तकारमवादिभ्रमे नानादेहो-
पाधिकृतनानापापसम्बन्धवत् आत्मनः एकेन पापेन न कोऽपि भार स्यात् अतः
यथेन्द्र पापं कुरु इति मिथ्या ॥ ५५ ॥

सर्गलोकोंके (परलोकसम्मोहादिरूप) पापमें (नरक आदि) अनन्त सन्तापमें डूबते
हुए तुम्हारे (एकारमवादिषोंके) अभिमत वेदप्रमाणित आत्मको हे भीरो (पाप कर्मसे
नरक प्राप्तिरूप सन्तापसे डरनेवाले) ! कौन-सा भार (बोझ) होगा ? ['एकमेवाद्वितीय
ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि वेदवाक्य आत्माके एकत्वका प्रतिपादन करते हैं, इस
अवस्थामें सब लोग जो कुछ पाप करते हैं, उस पापमें वह एक आत्मा ही समस्त पापको
भोगनेवाला सिद्ध होता है और जब ऐसा स्थिति है, तब यदि तुम परलोकसम्मोहादिरूप
पाप करोगे तो अनन्त लोगोंके पापको भोगनेवाले उस आत्माके लिए कौन-सा अधिक
बड़ जायेगा क्योंकि बोझसे लड़ी हुई गाड़ीपर मूत्र रखनेसे उसका बोझ बढ़ना कोई भी
व्यक्ति नहीं स्वीकार करता । अथवा—जब आत्मा एक ही है, तब दूसरे लोगोंके किये
पुण्यके कारण सुखानुभव करनेवाले उसके लिए किसी एकके पाप कर्मसे कौन-सा बोझ
हो जायेगा ? अर्थात् कुछ नहीं । अथवा—जब आत्मा एक ही है, तब कोई भी वस्तु सत्सारमें
दूसरी या दूसरेकी नहीं है, इस अवस्थामें कोई भी परलोक नहीं, अतः स्वेच्छाचारसे समस्त
लियोंके साथ सम्भोग करनेपर भी कोई पाप नहीं होगा, अतः तुम्हें उम पापभय मन्त्रासे
डरना नहीं चाहिये] ॥ ५५ ॥

किन्ते वृन्तहृत्तात् पुष्पात् तन्मात्रे हि फलत्यदः ।

न्यस्य तन्मूढर्च्यनन्यस्य न्यास्यमेवाश्मनो यदि ॥ ५६ ॥

किमिति । हे याज्ञक ! वृन्तहृत्तात् वन्धनावचितात्, पुष्पात् चम्पकादिकुसु-
मान्, पुष्प वृन्तच्युत कृत्वा इत्यर्थः । क्यवलोपे पञ्चमी । ते त्वया, हि कुत्सित कर्म
कृतमित्यर्थः । 'किं कुत्साया वितर्कं च निषेधप्रश्नयोरपि' इति मेदिनी । हि यत् ,

१. 'तापेनाते' इति पाठान्तरम् । २. 'न्यस्य ते मूर्च्छ्यनन्यस्य' इति पाठान्तरम् ।

अदः इव पुष्प, मन्मात्रे तस्मिन् वृन्ते एव, फलति फलरूपेण परिणमति, न त्वन्यत्र । पुष्पं वृन्तस्युत कृत्वा फलव्याघातसम्पादनादोप एव कृतस्त्वयेति भावः । अथ अस्मन् देवताधिष्ठितस्य शालग्रामादिप्रस्तरस्य, मूर्ध्नि शिरसि, न्यास्यम् अर्पणीयम् एव, यदि 'ऋद्धलोर्ण्यन्' देवतापूजादिप्रयोजनमेव तत्कारणं चेदित्यर्थः । तत् तर्हि, अनन्यस्य तादृशप्रस्तरादिभिन्नस्य स्वस्य एव, मूर्ध्नि न्यस्य निधेहि अत्यन्तलोहि निधिं हेतुंक् । 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' इत्यादिवादिभवनमते भेदस्य कालपनिकृतया सर्वत्रैव ईश्वरस्य वर्त्तमानतया च विष्णुशिलात स्वच्छिरसि अभिषेकात् अन्योपाम नापेक्षया घट स्वयमुपभोग इति भावः ॥ ५६ ॥

वृत्ता (मैटी) से लोड़े गये फूलसे तुम्हें क्या प्रयोजन (या-तुमने क्या साधा) ? क्योंकि वह फूल वृत्तमें रहनेपर ही फलता है (अन्वया नहीं, अत एव वृत्तमें तोड़कर वने फलनेमें शक्तिन करनेके कारण तुमने लाम उठातेके बदले हानि एवं पाप ही किया) । यदि इस (वृत्त) को दूसरे (शिवमूर्ति या शालग्रामादि) शिन्ना मस्तकपर रखना ही है तो उमें अपने ही मस्तकपर रखो । [फूलको तोड़कर देवतापर चढ़ानेसे कुछ लाभ नहीं, क्योंकि वह फूल वर ऋद्धलसे तोड़ लिया जाता है तो फलता नहीं, इस प्रकार एक फलकी उत्पत्तिको रोड़वर तुमने लामके स्थानमें हानि ही प्राप्त की है । 'देवताके ऊपर फूल चढ़ानेमें अभीष्टलाभ होता है' इत्यादि मावनामे यदि तुम्हें उस फूलको तोड़कर किसी शिवलिंग या शालग्रामकी शिलापर रखना ही है तो 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' इत्यादि सिद्धान्तके अनुसार उस देव तथा तुम्हारे शिरमें भेद नहीं होनेसे दूसरे पत्थरके ऊपर वम फूलको नहीं रखकर अपने ही शिरपर रखो, क्योंकि दूसरेका सेवाकी अपेक्षा स्वयमेव उपभोग करना श्रेष्ठ है । अत एव देवपूजन आदि करना सब व्यर्थ होनेसे अपने मस्तकपर ही फूलको क्यों नहीं चढ़ाने ? इस प्रकार देव-पूजकोका उपहान किया गया है] ॥ ५६ ॥

वृत्तानीय घृणावादान् विधूनय बधूरनु ।

तवापि तादृशस्यैव का चिर जनवञ्चना ? ॥ ५७ ॥

वृत्तानीति । बधु कामिनी, अनु लक्ष्मीकृत्य, स्त्रीविषये इत्यर्थः । घृणावादान् 'हामोऽस्मिमन्दर्शनमस्त्रियुग्मम'युञ्ज्वल तत् कलुष वमाया - न स्तनौ च पीनौ पिशितौ च विण्डी स्थानान्तरे किं नरकोऽपि योपित् ॥' इत्यादिजुगुप्सावाक्यानि, 'घृणा जुगुप्साकृपयो' इति यादव । वृत्तानि इव असारतया यवपानीव विधूनय विसर्जय । 'धूम्रोऽभौर्गुणवत्तय' । तव अपि भवतोऽपि, तादृशस्य नारीवत् अमार सया जुगुप्सितस्य एव सत, चिरम् अत्यन्त, जनवञ्चना स्त्रीविषये-चिरवितसूचक-प्रहासै, लोकप्रतारणा, का ? किमर्था ? स्त्रीणां यादृशा निन्दावादा तादृशास्नवापि, अत स्त्रीनिन्दया लोकवञ्चना न युक्तेति भावः ॥ ५७ ॥

स्त्रियोंको लक्ष्यकर (स्त्रियोंका मुख चूकका घट, स्नान मांसग्रन्थि, हास अस्थि-दहन है

इत्यादि रूपमें कथित) निन्दावचनोंको तुम्हारे समान (नि मार जानकर) छोड़ो, क्योंकि वसी प्रकारके (निन्दनीय) तुम्हारे लिये (स्त्रिया इत प्रकार निन्दनीय है इत्यादि) चिरकाल तक मनुष्याको बञ्चित करना वैसा है । [स्त्रियोंके विषयमें बहुत प्रकारमें घृणिता रूपमें उनका वर्णन कर उनका त्याग करना बगलगाया गया है, किन्तु पुरुष भी वैसा ही—मुख थूकका घर, हात अत्यिदृशंनमात्र ही है, अत एव स्त्रियोंके विषयमें नि मार घृणिता वचनोंको बहना अनुचित होनेमें उसका त्याग करना और उनका उपभोग कर आनन्द-लान करना चाहिये] ॥ ५७ ॥

कुरुष्व कामदेवाज्ञा ब्रह्माद्यैरप्यलङ्घिताम् ।

वेदोऽपि देवकोयाज्ञा तत्राज्ञा । काऽधिकाऽहंणा ? ॥ ५८ ॥

कुरुष्वमिति । अज्ञा । हे मूढा । ब्रह्माद्यै विधात्प्रभृतिभिरपि, अलङ्घिताम् अनतिक्रान्ता, कामदेवस्य काम कन्वर्प एव, देव देवता, तस्य आज्ञा मारीबशी-भूतस्वरूपमावेश, कुरुष्व पालयत । न चायमवेदिकाचार इत्याह—वेद अपि श्रुति-रपि, देवस्य ह्य देवकीया देवतासम्बन्धिनी, 'गहादिग्यश्च' इति धृप्रत्यये 'देवस्य च' इति 'कुग्वक्तव्य आज्ञा शासन, 'श्रुति स्मृतिर्ममैवाज्ञा' इति भगवद्ब्रह्मनादिति भाव । तत्र देवाज्ञारूपे वेदे, अधिका कामदेवाज्ञातो बलवतीत्यर्थ । अहंणा पूजा, समाहर इत्यर्थ । का ? किञ्चिमिता ? इत्यम् आज्ञाह्यस्याविशेषे कामदेवाज्ञा एव कार्यो ब्रह्माद्यैरप्यङ्गं कृतत्वेन शिष्टपरिगृहीतत्वरूपप्रामाण्यात् प्रत्यचमुल्लेखहेतुत्वा-च्चेति भाव ॥ ५८ ॥

हे मूर्खों । अज्ञा आदिते भी अनुलङ्घित कामरूप देवकी (स्त्रीपरबशतरूप) आज्ञाको करो, क्योंकि वेद भी देवकी ही आज्ञा है (इस प्रकार दोनोंके देवाज्ञा होनेके कारण) उस (वेदाज्ञा) में अधिक मान्यता क्यों है अर्थात् दोनों आज्ञाओंके देवप्रतिपादित होनेसे किमी एकमें मान्यता तथा दूसरेमें अमान्यता रखनेका पक्षपात नहीं करना चाहिये । [अथवा—उन (वेदाज्ञा तथा देवाज्ञा) में—से अधिक मान्यता किसमें है ? 'यद् वदो' अर्थात् किमीमें नहीं, देवाज्ञा होनेके कारण दोनों ही समान रूपमें मान्य हैं । अथवा—वेद भी तदप्रतिपादित है तथा अज्ञादि मा कामदेवकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं करने, इस कारण ब्रह्मप्रतिपादित वेदाज्ञा तथा कामप्रतिपादित आज्ञाओं—से कामप्रतिपादित आज्ञा ही ब्रह्मादि शिष्टस्मन तथा प्रत्यशुशुभप्रद होनेसे अधिक मान्य है अत उसका पालन करना चाहिये । पाठा०—उम (कामाज्ञा) में कौनसी निन्दा है ? अर्थात् कुछ नहीं । चूँकि तुमलोग वेदाज्ञाओं ही अधिक श्रद्धा रखते हो, तदपेक्षया श्रेष्ठ कामाज्ञाओं नहीं, अत एव तुमलोग 'मूर्ख' हो, इस प्रकार उपहास किया गया है ।] ॥ ५८ ॥

१ 'वेदो हि' इति पाठान्तरम् । २ 'का विगहंणा' इति पाठान्तरम् ।

३ 'कुगागम' इत्युचितम् ।

प्रलापमपि वेदस्य भाग मन्वध्वमेव चेत् ।

केनाभाग्येन दुःखात्र विधीनपि तथेच्छय १ ॥ ५९ ॥

प्रलापमिति । हे मूढा ! वेदस्य भागम् अश्विनोपम्, अर्धवादात्मकमिति भावः । प्रलापम् अनर्थकं वचः, अपि प्ररने, मन्वध्व जानीय एव, चेत् यदि, तदा केन कीदृशेन, अभाग्येन भाग्यविपर्ययेण, दुःखयन्तीति दुःखाः । पवाद्यत् । तान् दुःखान् दुःखकरार्थान्, विधीन् अपि विधिभागम् अपि, तथा तद्वत् प्रलापान् इत्यर्थः । न इच्छय १ न मन्वध्वम् १ एकदेशोपहृताक्षराशिवत् कुरुस्तस्यापि अनुपादे यत्वादिति भावः ॥ ५९ ॥

वेदके (अर्धवादात्मक) भागको यदि प्रलाप (कार्यप्रतिपादक नहीं होनेसे निरर्थक) मानते हो तो किन अभाग्यमे दुःखकारक दूसरे विधि (अग्निष्टोमादि यज्ञविधान-प्रतिपादक भाग) को वैना (प्रलाप अर्थात् अर्धवादात्मक होनेसे निरर्थक) नहीं मानते हो । ['अग्ना यस्य क्रियार्थत्वादानर्थव्ययेनदर्यानाम्' अर्थात् 'वेदके क्रियार्थक (क्रियाप्रतिपादक) होनेसे तद्विज्ञ वचन अनर्थक है' इस पूर्वपक्षीय वचनानुसार 'सोऽरोदीत्', 'यदरोदीत्' इत्यादि वचन अनर्थक हैं ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्' अर्थात् विधिके साथ एक वाक्यता होनेसे व वचन स्तुत्यर्थक होनेसे अर्धवाद मानते हैं, फिर भी उनको जिस प्रकार कार्यप्रतिपादक नहीं होनेसे निरर्थक मानने हो, उसा प्रकार 'अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यज्ञेऽ' अर्थात् 'स्वर्ग चाहनेवाला अग्निष्टोम यज्ञ करे' इत्यादि विधिवाक्योंको भी निरर्थक मानना चाहिये, क्योंकि वेदके किसी भागको मार्थक तथा गदितर भागको निरर्थक मानना अनुचित एव अभाग्यका सूचक है, अत एव सभी वेदवचनको तुल्योक्त निरर्थक मानकर स्वेच्छापूर्वक कार्य करो] ॥ ५९ ॥

श्रुति श्रद्धाश्च विक्षिप्ता प्रक्षिप्ता ब्रूय च स्वयम् ।

मीमामासासलप्रज्ञास्ता यूपद्विपदापिनीम् ॥ ६० ॥

श्रुतिमिति । हे मीमांसया जैमिनिप्रोक्ततत्त्वनिर्णायकग्रन्थभेदाध्ययनेन, मांसल प्रज्ञा । परिपुष्टबुद्धयः । स्थूलबुद्धयः । इति परिहासोक्तिः । विक्षिप्ता वादिनिराहृता भ्रान्ता सन्तः, श्रुतिं वेद, श्रद्धाश्च विश्वसिध, अथ च यूपद्विपदापिनीं यूपमम्बन्धि हस्तिदानप्रतिपादिका, 'यूपे यूपे हस्तिनो वदुष्व' श्रुतिमयो दद्याद्' इत्यादिवादिनी-मित्यर्थः । ता श्रुतिं, स्वयम् आत्मनैव, वेदग्रामाण्य स्त्रीकुर्वाण स्वयमेव इत्यर्थः । प्रक्षिप्ता विप्लुतायां, केनचित् लुब्धेन वेदान्तनिवेदिता न । ईधरप्रगीतामित्यर्थः । मूय च वदय च, तत् कुतो वेदस्य ग्रामाण्यमिति भावः ॥ ६० ॥

हे मीमांसाने परिपुष्ट (पञ्चा—स्थूल) बुद्धिबान्धे ! विक्षिप्त (प्रतिपक्षियोंसे पराजित होकर भ्रान्तचित्त, तुम लोग) वेदमें श्रद्धा करते अर्थात् वेदवचनोंको प्रमाण मानते हो तथा

१ 'मन्वध्व एव' इति पाठान्तरम् । २ 'अहय' इति पाठान्तरम् ।

प्रत्येक यज्ञस्तम्भमें हाथी बाँधकर ऋत्विजोंके लिये दिखानेवाली श्रुति (वेदवचन) को स्वयमेव प्रक्षिप्त कहने हो । [ऐसा श्रुतिके विषयमें भेदमान क्यों करते हो ? यह ठीक नहीं । वेदमें विधिवाक्य कहनेके बाद 'यूपे यूपे इति'नो बद्ध्वा ऋत्विग्यो दद्यात्' अर्थात् 'प्रत्येक यूपमें हाथी बांधकर ऋत्विजोंके लिये दे' इस वचनको 'यह वेदमूलक नहीं है, लोम-पूर्वक उन्हीं लोगोंके द्वारा यह कहा गया है' ऐसा कहकर अर्थवाद मानना युक्तिमग्न नहीं है] ॥ ६० ॥

को हि वेत्ताऽस्त्यमुष्मिन् वा लोक इत्याह या श्रुति ।

तत्प्रामाण्यादमु ल्लोक लोक प्रत्येति वा कथम् ? ॥ ६१ ॥

को हीति । किञ्च, को हि वा को जन अमुष्मिन् लोके परलोकविषये, वेत्ता ज्ञाता, अस्ति ? विद्यते ? न कोऽपि परलोकतत्त्वाभिज्ञ इत्यर्थ । इति एव, या श्रुति वेद, आह कथयति, तस्या एव सन्दिहानाया श्रुते, प्रामाण्यात् प्रमाणावच्छिन्नात्, अमु लोक परलोक, लोक जन, कथ वा केन वा प्रकारेण, प्रत्येति ? विश्वमिति ? न प्रत्येवाह परलोक इत्यर्थ । अत प्रतिष्ठावादिनी श्रुतिर्न श्रद्धेया इति भाव ॥ ६१ ॥

'इस परलोकके विषयमें कौन जानता है ?' अर्थात् 'परलोकका तत्त्वज्ञाना जोर नहीं है' ऐसी जो श्रुति कहती है, वन (श्रुति) के प्रमाणसे इस परलोकके विषयमें कौन विश्वास करेगा ? अर्थात् कोर नहीं । ['को हि तदेव यद्यमुष्मिहोवेऽस्ति ता न वा', 'दिश्वनीकाशान् करोमि' इत्यादि श्रुतियोंसे ही परलोकके विषयमें मन्येह होना है तो कौन दिश पुरुष उस सन्देहजनक श्रुतिके प्रमाणसे उस परलोकके अस्तित्वको स्वीकार करेगा ? अर्थात् कोर भी विश्व पुरुष उस परलोकके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करेगा, किन्तु सुन्हीं लोगों जैसा स्थूल-बुद्धि व्यक्ति वने स्वीकार करेगा । इस प्रकार इन तीन (१७/५९-६१) श्लोकोंसे मीमंसाको के मनका खण्डन किया है] ॥ ६१ ॥

धर्माधर्मौ मनुर्जल्पप्रशस्त्यार्जनवर्जनी ।

ठयाजान्मण्डलदण्डार्थी श्रद्धयायि मुधा बुधै ॥ ६२ ॥

एव श्रुतेरप्रामाण्यमुक्त्वा स्मृतेरप्याह—धर्मं यादि । स्याज्जात् कैतधात्, धर्मा धर्मोपदेशमपदिश्येत्यर्थ । मण्डलस्य राष्ट्रस्य, राष्ट्रवासिलोकस्येत्यर्थ । दण्डार्थी दमार्थी, शासननिमित्तमित्यर्थ । लोफस्य विधिनिषेधातिक्रमजन्यमपराध निमित्तो कृत्य प्रायश्चित्तादिद्वारा घनाभिलाषुक सन् इति भाव । अशक्ये कर्तुं असाध्ये, अर्जनवर्जने ययासह्य करणाररणे ययो तादृगौ, धर्माधर्मौ पुण्यपापे, धर्मो यागादिक बहुधनव्ययायाससाध्यत्वात् वर्जितुमशक्य, अधर्म परदारादिगमनाद्यात्मक इन्द्रियमिग्रह कर्तुमशक्यत्वात् सुखकारणत्वाच्च वर्जितुमशक्य इति भाव । जल्पन्

१ 'वेदा—' इति पाठान्तरम् । २ 'श्रद्धे वा' इति पाठान्तरम् ।

कथयन् यथासह्यम् अर्ज्यत्वेन चर्ज्यत्वेन च उपदिशन् इत्यर्थः । मनु आदिस्मृ-
तिकर्त्ता, बुधै विद्वद्भिः, मुधा वृथैव, अर्द्धाणि अर्द्धित, आढत इत्यर्थः । परदारमि-
गमनादिरूपमधर्मं प्रत्यक्षसुखजनकतया सर्वं पञ्चाचरन्ति इति ज्ञात्वा तज्जन्यरूपि-
तदुरितपरिहारमपदिश्य धनलाभार्थं प्रायश्चित्तात्मको दण्डो मनुना विहितः, न ॥
तदधर्मम्, अतो मनुवचनमूला स्मृतिर्न प्रमाणमिति भावः ॥ ६२ ॥

(पूर्व मीन इनाको (१७।५९-६१) से वेदकी प्रामाणिकताका खण्डन कर भव स्मृति की प्रामाणिकताका खण्डन करना है—) व्याज अर्थात् धर्म-अधर्मके प्रतिपादनके कपटमे राष्ट्र (वासियों) के शासनके लिए (धर्म-अधर्मको कारण बनकर प्रायश्चित्त आदिके द्वारा धनका लोभी) तथा असाध्य धर्म और अधर्मको कहनेवाले मनुका पण्डितों (पक्षा०—मूर्खों) ने व्यर्थ आदर किया है । [बहुत धनवश होनेसे तथा शीन-भानु-भूख-प्यास आदिके असहा होनेसे अग्निष्टोमादि यज्ञरूप धर्मको और इन्द्रियाग्रह असाध्य होनेसे पव प्रत्यक्ष सुखदायी होनेसे परमौगमनादि रूप अधर्मको ग्रहण तथा त्याग करना अनाशय है, अतः उनका प्रतिपादन जो राष्ट्रवासियोंके शासनको निमित्तकर धर्म-अधर्मके व्याजमे मनुने धनलोभके कारण किया है, उस मनुपर विद्वान् लोग व्यर्थ श्रद्धा करते हैं अर्थात् श्रद्धा नहीं करते, अथवा श्रद्धा नहीं करने चाहिये, अथवा—‘अबुधै’ दृष्टछेद करके उसपर मूर्खोंग व्यर्थ श्रद्धा करते हैं अर्थात् कोई भी विद्वान् श्रद्धा नहीं करता । इस कारण आदि स्मृतिकार ब्रह्मपुत्र मनुका धर्माधर्म प्रतिपादनपरक प्रायश्चित्तादिकथन अश्रद्धेय है] ॥ ६२ ॥

व्यासस्त्यैव गिरा तस्मिन् श्रद्धेत्यद्वा स्थ तान्त्रिका ।

मत्स्यस्याप्युपदेश्यान् य को मत्स्यानपि भाषताम् ॥ ६३ ॥

व्यासस्वेति । व्यासस्य धीवरकन्याम्यभिचारोत्पन्नस्य भ्रातृपत्न्या सुतोत्पादयितु-
स्वयमेव व्यभिचाररतस्य पराशरपुत्रस्यैव, गिरा वाचा, पुराणवाक्येन, मनुक्त ब्राह्मन्
इत्युक्त्या वा इत्यर्थः । तस्मिन् परलोके धर्म वा, अर्द्धा आदरबुद्धिः, इति पव,
तान्त्रिका शास्त्रेदिनो मुक्तिज्ञा । ‘तदधीते तद्देव’ इति ऋक् । स्थ भवय, इति
अन्वा सत्यम् । पुराणसामान्यमुपहस्य विशेषपुराणमुपहसति—मत्स्यस्य मीनस्यापि,
मत्स्यरूपधारिणो विष्णोर्वाक्यरूपस्य मत्स्यपुराणस्यापीत्यर्थः । उपदेश्यान् अनुज्ञा
सनीयान्, अत एव मत्स्यान् मत्स्यपायान्, व बुध्मान्, क सुधी, अपि प्रश्ने,
भाषताम् ? आलपन्तु ? न शोऽपि इत्यर्थः । मत्स्या कस्यापि न सम्भाष्या इति
भावः । मत्स्य उपदेश इति स्वकपोलकल्पित वदन् व्यासो न श्रद्धेयवचन इति
तत्पर्यम् ॥ ६३ ॥

(निषाद-क वाके माय व्यभिचार करनेसे उत्पन्न तथा भ्रातृ-पत्नीमें पुत्रोत्पादन करनेमें
स्वयं भी व्यभिचारपरायण) व्यासके ही वचन (पुराण अथवा—‘मनुका वचन ब्राह्म है’
इस वचन) से हम (धर्म या व्यामवचन = पुराण, अथवा व्यास) में सचमुच तान्त्रिक
(तन्त्रशास्त्रके विद्वान्, पक्षा०—सूत्र उननेका काम करनेवाले जुलाहे अर्थात् जुलाहेके

समान मूर्ख) तुम अज्ञा करते हो, तब मत्स्य (रूपधारी विष्णु, पञ्चा०—मछली) के उपदेश्य अर्थात् शिष्य (अत्र एव नत्स्यरूप = मछलीरूप) तुम लोगोंके साथ कौन माया करे ? अर्थात् कोइ नहीं । [निषाद—कन्याके साथ व्यवहार करनेपर उत्तर होनेसे तथा भ्रातृमनोने पुत्रोत्पादन करनेके कारण स्वयं भा व्यवहार होनेसे व्यासके वचनरूप महाभारतादि ग्रन्थ मा अशुद्ध है और मत्स्यरूपधारी विष्णुदाग प्रतिपादित मत्स्यपुराणके उपदेशात् हमने मत्स्यरूप अर्थात् अतिशय लच्छ तुम लोगोंके साथ कौन बातचीत करे ? एक तो मत्स्य (मछली) ही व्यवहारोंने होन एव नियमनेने उत्तर होनेसे बातचीत करनेके अभाव है, किन्तु तुम लोग तो उम (मत्स्य—मत्स्यरूपधारी विष्णु) के शिष्य हो, अत्र एव अतिशय तुम लोगोंके साथ बातचीत या कौन करे ? अर्थात् तुम लोग सम्भाषण भी योग्य नहीं हो । अथवा—इच्छाके पूर्वार्द्धमें व्यासके महाभारतादि पुराणोंकी निन्दा करनेके बाद उत्तराद्धने मनु आदि स्मृतिकारोंकी ही निन्दा करते हुए कह रहा है कि—मत्स्य (मत्स्यरूपधारी विष्णु) के भी उपदेश्य अर्थात् अनुशासनीय तुम लोगों (मनु आदि स्मृतिकारों) के साथ बातचीत भी कौन करे ? । 'मनु'के उपदेश्य होनेसे बिना प्रकार सभी 'मानव' कहलाने हैं, उनी प्रकार 'मत्स्य' (मत्स्यरूपधारी विष्णु) के शिष्य उपदेश्य होनेसे वहापर सबका 'मत्स्य' कहकर उनका उपशस किया गया है] ॥ ६३ ॥

पण्डित पाण्डवानां स व्यासश्चादुपटु कवि ।

निनिन्दतेपु निन्दन्तु स्तुवन्तु स्तुतवान् किम् ॥ ६४ ॥

पुनश्चाममेव विदग्धयनि-पण्डित इत्यादि । पाण्डवानां युधिष्ठिरादीनां, चादुपटु मिथ्यास्तुतिवादकुशाळ, कवि व्यथेक्षितार्थवर्णयिता, पण्डित पाण्डितमानी, न भवतानामनम इत्यर्थ । व्यास महाभारतकार, अपि इति शेष । तेषु पाण्डवेषु, निन्दन्तु दुर्योधनादीन् जानिपन्तु, न निनिन्द किम् ? न परिषदादि किम् ? दुर्योधमादीनिनि शेष । तेषु पाण्डवेषु, स्तुवन्तु कृष्णादीन् स्तुति कुर्वन्तु सन्तु, न स्तुतवान् किम् ? स्तुति न कृतवान् किम् ? कृष्णादीनिनि शेष । तेषां निन्दान् निन्दन् स्तुत्याश्च स्तुवन् व्यासोऽपि पाण्डवपक्षपार्ता कश्चित् कविर्न आसत्तम यथार्थवादीति भाव ॥ ६४ ॥

पाण्डवोंकी चानक्षुमैने चतुर, कवि एव पण्डित व्यासने उन (पाण्डवों) के (दुर्योधनादि की) निन्दा करने रहनेपर (उन दुर्योधनादिकी) निन्दा नहीं की है क्या ? (कृष्णादिकी) प्रशंसा करते रहनेपर (उन कृष्णादिकी) प्रशंसा नहीं की है - या ? । [महाभारत आदिके रचयित्वा व्यास बुद्धिमान् एव त्वामा पाण्डवोंकी चानक्षुमी करनेने चतुर कवि थे, न पाण्डवोंने दुर्योधनादिकी निन्दा तथा कृष्णादिकी स्तुति की, तदनुसार हा त्वानी पाण्डवोंकी प्रशंसा करनेकी नीति अपनेअपनेउल्लेखवाङ्मयी व्यासने भी महाभारतादिने दुर्योधनादिकी निन्दा तथा कृष्णादिकी स्तुति (प्रशंसा) की है, अतः व्यास स्वयं

आप्त नहीं हैं तो उसके कथित महाभारतादि ग्रन्थ-पुराणादि किस प्रकार प्रामाणिक हो सकते हैं ? अर्थात् वे सभी अप्रामाणिक तथा अश्रद्धेय हैं] ॥ ६४ ॥

न भ्रातु किल देव्या स व्यास कामात् समासजत् ।

दाभीरतस्तदासीद्यन्मात्रा तत्राप्यदेशि किम् ॥ ६५ ॥

कामचारी च स ह्याह—नेति । स प्रसिद्धपारदारिक, व्यास सत्यवतीनन्दन भ्रातु विचित्रवीर्यस्य, देव्या महिष्या, कामात् स्मरावेगात्, न समासजत् किल ? न भासक्त किम् ? । गुर्वनुज्ञानाच्च दोषश्चेत् तत्राह—तदा तत्काले, विचित्रवीर्यस्य पत्न्या सुतोत्पत्तिकाले इत्यर्थः । दासीरत दास्या विदुरमातरि, रत भासक्त, आसीत् अभूत्, विदुरोत्पादायेति भावः । इति यत् तत्रापि दासीगमनेऽपि, मात्रा सत्यवत्या, अदेशि किम् ? आदिष्ट किम् ? अपि तु नादिष्ट इत्यर्थः । उभययैव काम परवशात् प्रवृत्तस्य एवम्भूतदुश्चरित्रजनस्यासितमत्त्वाम्भवात् तद्वचनमप्रमाणमिति भावः ॥ ६५ ॥

(पुनश्चोक्तौ का आसतम्) व्यास भार्ये (विचित्रवीर्ये) की स्त्रीमें कामापीन होकर नहीं आसक्त हुआ था क्या ? अर्थात् कामापीन होकर ही विचित्रवीर्यकी पत्नीके साथ सम्भोग करनेमें व्यास आसक्त हुआ था, (क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता और मानकी आज्ञासे नियोग^१ द्वारा विचित्रवीर्यकी स्त्रीमें सन्तानोत्पादनके लिए वह व्यास प्रवृत्त हुआ होता तो) उस (पुत्रके उत्पन्नकरके) समयमें (वह व्यास) जो दासी (विदुरकी माता) में अनुरक्त हुआ, उसमें (विदुरमाताके साथ सम्भोग कर पुत्रोत्पादन करनेमें) भी माताने आदेश दिया था क्या ? अर्थात् नहीं, (अब एव जिस प्रकार दासी विदुरमाता) में अनुरक्त होनेमें व्यासका कामातुर होना ही कारण है, उसी प्रकार भार्ये विचित्रवीर्यकी स्त्रीके साथ सम्भोग करनेमें भी व्यासका कामातुर होना ही कारण है, माताकी आज्ञासे नियोग द्वारा पुत्रोत्पादन करना आदि नहीं] ॥ ६५ ॥

पौराणिक कथा—भीष्म पितामहने पिताके सुखके निमित्त निषादराजकी कन्याके साथ विवाह करनेके लिए आज्ञा मन्त्रवारी रहनेकी प्रतिज्ञा कर ली थी और राजा विचित्रवीर्य स्वयं सन्तानोत्पादनमें असमर्थ थे, इस प्रकार भीष्ममें सन्तान होनेकी कोई आशा नहीं होनेसे सन्तानोच्छेदके मयमें विह्वल मत्स्यवती (व्यासकी माता) ने व्यासको बुलाकर सन्तानोत्पादन करनेके लिए आज्ञा दिया और उनकी आज्ञा मानकर व्यासने भार्ये विचित्रवीर्यकी स्त्रीसे 'धृतराष्ट्र' तथा 'पाण्डु' नामके दो पुत्रोंका तथा उस विचित्रवीर्यकी

१ तदुक्तं मनुना—'देवराट्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया मम्यद् नियुक्तया ।

एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ॥' इति (मनु० ४।१९)

एतद्विषये विशेषज्ञासुभिर्मन्वर्यमुक्तावली मत्कृतो 'मणिप्रभा' एवो मनुस्मृत्यनुवादो वा द्रष्टव्यः ।

दासीमें 'विदुर' नामक एक पुत्रको उत्पन्न किया । विशेष कथाप्रसङ्ग महामारतमें जान करना चाहिये ।

देवैर्द्विजैः कृता ग्रन्थाः पन्था येषा तदादृतौ ।

गा नतै किं न तैर्व्यक्त ततोऽप्यात्माऽधरोकृत ॥ ६६ ॥

देवैरिति । हे मूढा ! येषां ब, देवैः ब्रह्मादिभिः, द्विजैः व्यासादिभिश्च, कृता रचिता, ग्रन्थाः पुस्तकानि, 'या प्रगमेत्' इत्यादि सृष्टय इति यावत् । पन्था प्रमाण, धर्माधर्मोपदेश इत्यर्थः । तदादृतौ तदादरनिमित्त, तस्मिन् ग्रन्थे श्रद्धाहेतोः रित्यर्थः । निमित्तार्थे सप्तमी । गा धेनु नतैः प्रणतैः, तैः भवद्भिः, ततः गौ अपि, आत्मा स्व, स्पष्ट स्फुटम्, अधरोकृत हीनीकृत, न किम् ? अपि तु कृत एव इत्यर्थः । पशुप्रणामात् पशोरपि निरुद्धता स्यात्, न चास्य किञ्चित् फलमस्तीति भावः ॥ ६६ ॥

(ब्रह्मा आदि) देवों तथा (वायवर्चस्य व्यास आदि) ब्राह्मणोंके बनाये गये जो ग्रन्थ (धृति-स्मृति-पुराण) जिन तुमलोगोंके लिए प्रमाणभूत है, उन ग्रन्थोंके आदरमें गायोंको प्रणाम करते (गायोंमें नम्र अर्थात् हीन होते) हुए तुमलोगोंने स्वरूपमें उन (पशु-गायों) से भी अपनेको नीचा (हीन) नहीं कर दिया क्या ? अर्थात् तुमलोगोंने गायोंको प्रणाम कर अपनेको उनमें भी अवश्यमेव हीन कर दिया । [अपवा—देवों तथा ब्राह्मणोंके बनाये गये जो ग्रन्थ जिन तुमलोगोंके लिए प्रमाण है, उन देवों तथा ब्राह्मणोंके अर्थात् ब्रह्मादि द्वारा देवोंके तथा दान-पूजनादिद्वारा ब्राह्मणोंके आदर करनेमें सार्य है अर्थात् उन देवों तथा ब्राह्मणोंने यह-दानादिद्वारा अपना आदर करानेके लिए उन ग्रन्थोंको बनाया है, जिते तुमलोग प्रमाण मानते हो । उन ग्रन्थोंके कथनानुसार गौको प्रणाम करते हुए तुमलोगोंने उनमें अपनेको स्पष्ट ही हीन नहीं किया क्या ? अर्थात् अवश्यमेव पशुको प्रणामकर अपनेको उनमें हीन बना लिया । जो जिससे नष्ट होना है, वह उससे अवश्य ही हीन (तुच्छ) माना जाता है, अतः एव गौसे नम्र होकर तुमलोगोंने उस पशु गौसे भी अपनेको हीन बना लिया अर्थात् तुमलोग पशुमें भी गये-गुनरे हो गये] ॥ ६६ ॥

साधु कामुकता मुक्ता शान्तस्वान्तैर्मरुतोन्मुखैः ।

मारुतलोचनासारा दिव्य प्रेत्यापि लिप्सुभिः ? ॥ ६७ ॥

साधिवति । शान्तस्वान्तैः सम्यग्चित्तैः, विषयभोगनिवृत्तचित्तैरित्यर्थः । मरुतोन्मुखैः क्रतुपवणैः, याज्ञिकैरित्यर्थः । प्रेयः मृत्वाऽपि, अन्ये तु इह अन्तर्मध्ये परस्त्रीका मुक्ता, याज्ञिकास्तु परजन्मन्यपि कामुका इति अपेक्ष्यम् । मारुतलोचना सृगाचयं वियं एव, सारा श्रेष्ठाशा यस्या तादृशी, दिव्य स्वर्गं, लिप्सुभिः लब्धुमिच्छुभिः सद्भिः कामुकता अभिधिरिति, कामपरतन्त्रता इत्यर्थः । साधु सम्यक् यथा तथा, मुक्ता ? त्यक्ता ? इति काङ्क्ष, नैव त्यक्ता इत्यर्थः । इति सिद्ध विहाय साध्यप्रवृत्तेरप्यहासः । तस्मात् यागकाले ब्रह्मचर्यादिकम् आत्मवञ्जनमात्रफलं न चान्यत् किमपि इति भावः ॥ ६७ ॥

शान्त चित्तवाक्यै (विषयभोगशून्य) तथा मरकर भी मृगलोचनी है मार भित्तमें ऐसे स्वर्गको चाहनेवाले यशकर्ताओंने कामुकता (कामीपने) का अच्छी तरह त्याग किया ! अर्थात् नहीं किया, (अथवा—मृगदायिनी होनेमें यश कामुकताको नहीं छोड़ा, ^१ अथवा—कामुकता को नहीं छोड़ा, यह ठीक है ^२) । [इन्द्रियोंका दमनकर सत्यचित्त एवं ब्रह्मचर्यधारण कर यशकर्ता लोग स्वर्ग पानेके लिए यश करते हैं, किन्तु उस स्वर्गमें सारभूत पदार्थ मृगनयनी अप्मरार्थ हो है और जहाँको प्राप्तकर आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करनेके लिए हो यश किया जाना है, हमने यह प्रमाणित होता है कि यशकर्ताजोग यद्यपि इस जन्ममें इन्द्रियोंको वशमें रखने हुए ब्रह्मचर्य धारणकर यश करते हैं तथापि मरकर भी वे मृगनयनी स्त्रियों (अप्मरार्थों) के साथ सम्भोग करनेके लिए हो यश करते हैं, अतः एव जो मरकर भी थोड़ी कामुकताका त्याग नहीं कर सकते, वे जन्म जीवित रहते हुए इन्द्रियनिग्रहकर कामुकताका त्याग क्या कर सकते हैं ? अर्थात् कदापि नहीं, अतएव वे यशकर्ता अतिशय कामुक हैं और उनकी यश करते समय ब्रह्मचर्यादि पाप्मन करना योग्य तथा आत्मवञ्चनामात्र है] ॥ ६७ ॥

उभयी प्रकृति कामे सज्जेदिति मुनेर्मतम् ।

अपयर्गे तृतीयेति भणत पाणिनेरपि ॥ ६८ ॥

उभयीति । 'अपयर्गो तृतीया, इति भणत' कथयत, सूत्र कुर्वन् इत्यर्थः । पाणिने तद्वाक्यस्य प्रसिद्धवैषाङ्करणस्य, मुने ऋषेःपि, उभयी प्रकृति स्त्रीपुंसात्मिका द्वयी योनिः, कामे कामात्मके तृतीयपुरुषार्थः इत्यर्थः । मिथुनधर्मे मैथुने वा, सज्जेत् आत्मका भवेत्, स्त्रीपुंसाश्च द्वय कामात्मको भवेदित्यर्थः । इति मतम् अभिप्रायः स्फुटमेव इत्यर्थः । तथा तृतीया प्रकृति शब्दः, बलीय इत्यर्थः । 'तृतीया प्रकृति शब्दः बलीय पक्षे नपुंसकम्' इत्यमरः । अपयर्गे मोक्षे, नपुंसकत्वेन मैथुनाशक्त्याद् ब्रह्मचर्यादिद्वारा मोक्षलाभायत्यर्थः । सज्जेत् इति पाणिनिसूत्रार्थेन उभयी प्रथम द्वितीया, प्रकृति स्त्रीपुंसात्मिका योनिरित्यर्थः । कामे सज्जेत् इति पारितोष्याद् बोध्यते इति भावः । सूत्रस्थशब्दचक्रेण तादृशविकृतार्थः परिकल्प्या स्वमतसमर्थनं कृतम्, वस्तुतस्तु 'अपयर्गे फलप्राप्ती तृतीया विभक्ति' इति ताम्ब्रस्यार्थः । तथा च युष्मा काम त्रिहाय अपयर्गे प्रयत्नमाना यूय नपुंसका इत्या स्थेति भावः ॥ ६८ ॥

'अपयर्गे तृतीया (पा० सू० २।३।६)' ऐसा कहने हुए पाणिनि मुनिका भी 'स्त्री-पुरुष कान (नैपुनस्य तृतीय पुरुषार्थ) में आसक्त होवें', ऐसा मत (सिद्धान्त) है । [यद्यपि उक्त पाणिनि-सूत्रका 'फलप्राप्ति योत्य रहनेपर काल तथा मार्गके आशयन सम्भोगमें तृतीया विभक्ति होती है' (जैने—अद्यानुवाक्योऽधीत, मोरेनानुवाक्योऽधीत) तथापि शब्द-

१. अपयर्गे 'सापुकाकामुकतामुक्ता' इत्येव पाठोऽद्रीकार्यः ।

२. अपयर्गे 'सापुकाकामुकतामुक्ता' इत्येव पाठः स्वीकार्यः ।

च्छलने चार्वाक कलिमुखमे अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन करता हुआ वक्त सूत्रका वह अर्थ करता है कि—‘तृतीया प्रकृति’ वण्ड (अमर० २।६।२९) इस कोषप्रामाण्यसे तृतीया प्रकृति अर्थात् नपुंसक व्यक्ति (काममें अममर्थ होनेके कारण) मोक्षमें आसक्त होवे और ‘द्वेय उभयो प्रकृति’ अर्थात् स्त्री-पुरुष व्यक्ति कामनेशन (मैथुन करने) में समर्थ होनेके कारण काम-मेवन हा करें’ ऐसा मेरे (चार्वाकके) ही आचार्योंका नङ्गा अपितु तुम लोगोंके समान्य पाणिनि मुनिका भी मत है । यह ‘अग्नि’ शब्दसे ध्वनित होता है । अब च—‘धर्माथाननोद्या स्यु’ इस वचनमें ‘मोक्ष’ अर्थात् अथवाके अन्त्यवहित पूर्व ‘काम’ का दमन होनेमें ‘तृतीय प्रकृति’ अर्थात् नपुंसक व्यक्ति मोक्षका और द्वेय दो प्रकृति अर्थात् स्त्री-पुरुष व्यक्ति कामका सेवन करें यह पाणिनिका भी मत है] ॥ ६८ ॥

विभ्रत्युपरि यानाय जना-जनितमज्जना ।

विप्रहायामत पश्चाद्भ्रत्वरोरभ्रविभ्रमम् ॥ ६९ ॥

विभ्रतीति । उपरि यानाय ऊर्ध्वलोकगमनाय, जनितमज्जना निमग्ना, सीधो दकेषु क्लृप्तनामा इत्यर्थ । अब गच्छन्त इति भाव । जना स्वर्गाभिर्नो लोका, अमन पुरत, सम्मुखे इत्यर्थ, विप्रहाय युद्धाय, सम्मुखयुद्धाय इत्यर्थ, पश्चाद्भ्रत्व रागा पश्चाद्भ्रामिनाम् । ‘गत्वरश्च’ इति ववरज्जतो निपात, उरभ्राणा मेपाणा, विभ्र ममिव विभ्रम चेश, विभ्रति दधनीति निदर्शनालङ्कार, स चोर्ध्वगमनाय अथो गच्छन् इति स्थूलतुर्दीना स्थूलबुद्धिप्रणामरूपविबिजालङ्कारोत्पापित इति सङ्कर, तेन तेषामविमृश्यकारित्व व्यज्यते इत्यलङ्कारेण वस्तुस्थिति ॥ ६९ ॥

(अब वह गङ्गादिमें स्नान करनेकी निन्दा करता है—) ऊपर (पञ्चा०—स्वर्ग) जानेके लिये मज्जन किये (डुबकी लगाये, पञ्चा०—नौचेकी ओर गये) हुए लोग आगे अर्थात् समनेमें मुड़के लिए पाछे इटनेवाले मेंढेका चेष्टा (समानता) को पारंग करते (मेंढेके समान आदृतिवाले, अथवा—मेंढेके समान मूर्ख मान्य पड़ते) ह । [किसीको ऊपर जानेके लिये ऊपरकी ओर बैठना उचित है, न कि नाचेकी ओर बैठना, किन्तु ऊपर अर्थात् स्वर्ग की जानेके लिये जो लोग गङ्गा आदि नार्थमें डुबकी लगाते (नौचेकी ओर मुड़ते) हैं, वे लोग आदृति तथा बुद्धिमें उस मेंढेके समान हैं जो आगेकी ओर मुड़ करनेके लिये पाछेकी इटता है । अब कोई पानामें डुबका लगानेके लिये शीतशायमे शिरके पीछे तथा कटिपर हाथ रखता है, अथवा—जन्में अग्रमर्षण करते समय नाऊपर ददिना हाथ और पीठपर बाया हाथ रखता है तब वह आकारमें युद्धार्थ पीछे सरकते हुए मेंढेके समान मान्य पड़ता है । अथवा—गङ्गादिसे स्नान करनेसे स्वर्गादि प्राप्ति नहीं होनेके कारण वे स्नानकर्ता मेंढेके समान महामूर्ख हैं] ॥ ६९ ॥

क राम ? किन्ना प्राज्ञा । प्रियांप्राप्ती परिश्रम ।

१. ‘विप्रहत्या—’ इति पाठान्तरम् । २. ‘प्रियांप्राप्ती’ इति पाठान्तरम् ।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ? ॥ ७० ॥

क इति । प्राज्ञा । हे प्रज्ञावन्त ! इति सोपहासमामन्त्रण, प्रकृष्टज्ञानहीना इत्यर्थः, 'प्रज्ञाधद्धा' इत्यादिना मत्वर्यायो णपत्यय शम शान्ति, वैराग्यमित्यर्थः, क ? न कोऽपीत्यर्थः । शमावलम्बनस्य न किमपि फलमस्तीति भावः । प्रियाप्राप्ती इष्टसौख्यता, परिश्रम प्रयास, क्रियता विधीयताम् । न च तत्पापेन नरकयातना प्राप्तिगङ्गा कार्ययाह—भस्मीभूतस्य दग्धस्य, देहस्य कायस्य, आत्मभूतस्य इति यावत् । पुन भूय, आगमन परलोके प्रत्यावर्त्तन, कुत ? कथं सम्भवेदित्यर्थः । देहात्मवादिमते परलोकसद्भावेऽपि यस्मिन् देह पाप कृत तस्यैव भस्मीभूतत्वेन कथं पापफलभोगसम्भवः ? देहातिरिक्तारमवादिमते तु परलोकस्यवाभावात् पापफलभोगार्थं कृमिकीटादिदेहप्राप्ति कथं सम्भवेत् ? इति पुनरुक्त्यन भ्रम एव इति निष्कर्षः ॥

हे प्राज्ञो (अधिक ज्ञानवानो—उपहासने मूर्खों, अथवा—'प्र+अज्ञ' पदच्छेदकर हे मदामूर्खों) ज्ञानि अर्थात् वैराग्य क्या है ? अर्थात् यश्चादि करनेसे मरनेके बाद स्वर्ग पाकर देवाह्लासत्रयकी इच्छा बने रहनेके कारण ज्ञानि-वैराग्य कुछ भी नहीं है, अत एव प्रिया (स्त्री) का पाने (पाठान्—स्त्रीके साथ प्रेम करने) में अधिक बल (प्रयत्न) करो, (परस्त्री-सम्भोग करनेपर नरकादि पानेका भय भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि—) नष्ट हुए शरीरका फिर आना (परलोकमें शरीरान्तर ग्रहण करना) कैने होना है ? अर्थात् नहीं होता । [यश्चक्री यश्च करके मरनेके बाद स्वर्गमें भी देवाह्लासके साथ सम्भोग करनेकी इच्छा करते हैं, अत वैराग्य कहीं भी नहीं है । इमंलिप रजोके साथ सम्भोग करनेके लिए भरपूर उपाय करना चाहिये । मरनेपर दूसरा शरीर धारणकर परस्त्रीसम्भोगजन्य पापके कारण दुःख भोगनेकी शङ्का भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि देहकी ही आत्मा माननेवालोंके मतमें परलोक रहनेपर भी पापकर्ता देहके भस्म हो जानेके कारण तथा देहसे भिन्न आत्मा माननेवालोंके मतमें परलोक ही अभाव होनेके कारण दूसरा देहकी पत्कर दुःख भोगना सम्भव ही नहीं है, अत एव जीवनपर्यन्त यथेष्ट स्त्रीसम्भोगादि करना चाहिये] ॥ ७० ॥

एनसाऽनेन तिर्य्यक् स्यादित्यादि का रिभीषिका ? ।

राजिलोऽपि ऽ राजेव स्यै सुखी सुखहेतुभिः ॥ ७१ ॥

अमुं वा नरकभोगार्थं यातनाशरीरं तत्रापि सुखमेवग्याह—एनसेति । अनेन एवविधेन, एनसा पापेन, निर्य्यक् कृमिकीटादियातनाशरीर स्याद् भवेद्, इत्यादि पृतप्रभृति, का विभीषिका ? किं श्रामनम् ? अनिष्टाजनकत्वात् तदस्तिशिर मित्यर्थः, विपूर्वात् भीषयतेर्धात्वर्थनिर्देशे णुल् कात् पूर्वस्येकारः । हि तथा हि,

१ 'भूतस्य' इति पाठान्तरम् । २ अथ श्लोक 'प्रज्ञाश' कृता 'उभयो प्रकृति (१०६८)' तत् प्रामाण्यमायात् । ३ 'पश्यत्यस्यात्काल्पनिक' इत्यनेन श्रुतेरिति घोष्यम् ।

राजिष्ठ डुण्डुभाहव निर्विषः सपौंसि । 'समौ राजिष्ठडुण्डुभौ' इत्यमरः । स्वै-
आभीय स्वजात्यनुरूपैरित्यर्थः । सुखहेतुभिः लज्जविहारभेकमप्यजपजातीयरमणी-
सम्भोगादिभिः सुखसाधने, राजा इव नृपतिवत्, सुखी सुखवान्, सुखमनुभव-
तीत्यर्थः । तिरश्चामपि शरीरेन्द्रियाभिमानीना सुगानुभूतिरस्ति । अत्र निर्दग्ग्यो-
नित्ये पाप्नेऽपि तद्धेतोः पापात् न भेत्यम् इति भावः ॥ ७१ ॥

इमं (परलो-सम्भोग, व्रजहत्यादि) पाप्मे निरायानि हाँगी, इसमें कोयना मय
है, क्योंकि (स्वरातिथानोंमें हीनवन) राजिष्ठ अर्थात् बोट सौंप भी अपने (अनुज्ञा
मण्डकादि भक्षण एवं स्वास्-भोग आदि) सुखके कारणोंसे राजाके समान सुखी रहता है ।
[अत्र परस्त्री-गमन, व्रजहत्यादि पाप्मे निर्दग्ग्य यान प्राप्त करनेपर अपार दुःख भोगने
पड़ने हैं, हत्यादि मय करना व्यर्थका क्रम है] ॥ ७१ ॥

हताश्चेद्विषी दीन्यन्ति दैत्या दैत्यारिणा रणे ।

तत्रापि तेन युध्यन्ता हता अपि तथैव तु ॥ ७२ ॥

अन्यथा शास्त्र विद्वद्भवति—हता इति । रणे युद्धे, हता विनष्टा, शूरा इति
शेषः । द्विवि स्वर्गो, दीन्यन्ति कश्मिन्, चेन् यदि, दिव्यदेह प्राप्येति भावः । तर्हि
दैत्यारिणा विष्णुना, हता रणे विनष्टा, दैत्या असुरा, पापकारिण इति भावः ।
तत्रापि स्वर्गोऽपि, तेन विष्णुना सह, युध्यन्ता युध्येरन्, रणे हतत्वात् दिव्यदेह
प्राप्य इति भावः । यस्मात् हता रणे विनष्टा अपि, ते दैत्या, तथैव सम्मुखरग-
हतत्वात् स्वर्ग जीवनविशिष्टा एव, मरणसमयेऽपि दैत्यारिणा सह शत्रुभावस्य हन्ये
वर्त्तमानतया स्वर्गगमनेऽपि असुरभावस्य वर्त्तमानत्वात्, तत्रापि तेन सह सहप्राप्त
यितव्यमेव, न चैतदस्ति, तस्मादपि शास्त्रं सृष्टा इति निष्कर्षः ॥ ७२ ॥

यदि युद्धमें मारे गये (शूरशर) स्वर्गमें कोटा करने हैं तो (विष्णुके द्वारा मारे गये
भी दिव्यशक्तिपु आदि) देव उस स्वर्गमें भी (स्वरूप देशान्तरको प्राप्ति होनेपर भी
मरणकालमें भी आसुर भाव रहनेसे) उस विष्णुके सामने उनी प्रकार युद्ध करें । [युद्धमें
शर त्यागकर शूरवीर स्वर्गमें जाते हैं इस सिद्धान्तके अनुसार विष्णु भगवान्ने जिन
दिव्यशक्तिपु आदि दैत्योंका युद्धमें मारा है, वे भी स्वर्ग जाकर देव हुए होंगे, किन्तु
मरनेके समझमें आसुर भाव बने रहनेके कारण देवशरार पा लेनेपर भी उस आसुर भावका
त्याग नहीं होनेसे वहा स्वर्गमें जो उन दैत्योंके देवों तथा विष्णु भगवान्के सामने युद्ध करना
उचित था, किन्तु ऐसा होनेका प्रमाण किनो पुराणदिनें नहीं मिलनेसे ज्ञात होता है कि
युद्धमें मरनेपर देव होकर स्वर्गमें कोटा करनेकी क्षमता देवल असमान है] ॥ ७२ ॥

स्यञ्च ब्रह्म च ससारे मुक्तौ तु ब्रह्म केवलम् ।

१ 'हतावपि' इति पाठान्तरम् । २ ययवापि रमन् भावः त्यजत्यन्ते क्लेश-
वरम्' इत्यादि भगवद्गीतोक्तेरिति बोध्यम् ।

इति स्वोच्छित्तिमुक्त्युक्तिरैदग्धी वेदवादिनाम् ॥ ७३ ॥

अथ मायावादिवेदान्तसिद्धान्तविशेष विदग्ध्यति—स्वमित्यादि । ससारं ससाराव
स्याया, स्वज्ञ जीवात्मप्रपञ्चश्च, ब्रह्म च अनाद्यविद्याविलासवासनाविद्यमानभेद ब्रह्म
च इति द्वयमेव, तथा मुक्तौ मोक्षावस्थायान्तु, केवल जीवात्मप्रपञ्चरहितम् एक, ब्रह्म,
उभयत्रापि वर्तते इति शेष । यथा आकाशस्य घटाद्युपाधिनिवृत्तौ घटाकाशादिनि-
वृत्त्या आकाशमात्रेणावस्थान तथा ब्रह्मात्मन समारोपाधिनिवृत्तौ आवात्मनिवृत्त्या
'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादिना ब्रह्मात्मस्वरूपेणैव अवस्थान भवतीत्यर्थ । इति
वेदवादिना वेदान्तशास्त्रिणा, स्वस्य जीवस्य, उच्छित्ति विनाश एव, मुक्ति, मोक्ष,
तस्या उक्तौ प्रतिपादने, वेदस्थो वेदस्थ, वाक्छातुर्यमित्यर्थ । 'गुणवचन—' इत्या
दिना प्यञ्, सारविवक्षाया 'विद्वोरादिग्यश्च' इति कोप् । इत्येते इति शेष । यस्य
जीवात्मन कृते सर्वमेव, तस्यैव उच्छेद प्रतिपादित इत्यहो वाक्छातुर्यमित्युपहास ।

ससारदशमं जीवात्मस्वरूपं प्रपञ्च तथा ब्रह्म—दोनों ही हे मुक्ति होनेपर (जीवात्म
स्वरूपप्रपञ्चरहित) केवल ब्रह्म ही है, यह वेदान्तियोंका स्व (आत्मा=जीवात्मा) का अभाव
रूप मुक्तिके कथनमें बड़ा भारी तान्य है । [जिस प्रकार घटाकाशकी घटोपाधिके निवृत्त
हो जानेपर केवल आकाश ही रह जाता है, उसी प्रकार वेदान्तियोंके मतमें ससारोपाधिके
निवृत्त हो जानेपर स्व = जीवात्माकी भी निवृत्त हो जानेके बाद केवल शुद्ध ब्रह्म ही रह
जाता है यही 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' युक्तिका अभिप्राय है । हमको खण्डन करना हुआ
चाहों कलिके मुखमें कहना है कि मुक्ति-दशमं स्व=जीवात्माका अर्थात् अपना ही
उच्छेद कहलानेवाले वेदान्तियोंका मुक्ति-कथनमें बड़ा चतुर है, अर्थात् ओ अपना ही उच्छेद
स्वयं स्वीकार करता है, वह चतुर नहीं, किन्तु महामूर्ख है, हम प्रसार वेदान्तियोंका यहाँ
उपहास किया है, क्योंकि ठाकुरे भा ओ कीर व्यक्ति अपना ही उच्छेद (विनाश) स्वीकार
कर दूसरेकी स्थिति स्वीकार करता है उसे मूर्ख ही माना जाता है] ॥ ७३ ॥

मुक्तये ■ शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।

गौतम तमचेतैत्र यथा त्रित्य तथैत्र स ॥ ७४ ॥

न्याय-वैशेषिकसम्मतौ मुक्तिरूपयति—मुक्तये इति । य शास्त्रकर्त्ता, सचेतसा
प्रणिता, शिलात्वाय मुषदु आदिमवेदनाभावात् पापागावस्यास्वरूपाय, मुक्तये
मोक्षाय, शास्त्र न्यायशास्त्रम्, ऊचे प्रणिनाय, तत्त्वज्ञानेन मिथ्याज्ञानदोषादोना क्रमशो
विनाशात् 'तदात्मन्तविमोक्षोऽपवर्ग' इति सूत्रेण आद्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपा मुक्ति-
गौतमेन व्यवस्थापिता, तेन च नवविधात्मविशेषगुणोच्छेदरूपा मुक्ति प्रतिपाद्यते,
इत्यथ मुक्तस्य पापागसद्वशात्मायातमिति भाव । तत्तद्व्याख्याकार मुनि, गौतम
मेव न केवल नामैव गौतम किन्तु अर्थतोऽपि गौतममेव उच्छेदगाममेव इत्यर्थ ।

अवेत जानीत । अवपूर्वादिणो मध्यमपुरुषवहुवचनम् । एवञ्च सनि यथा वित्य ॥
गोपशुश्रेष्ठयेन यथा जानीथ । वेत्ते पूर्ववद्रूपम् । स तथा एव मन्मतेऽपि त्व अर्थ-
तोऽपि गीतम् गोपशुश्रेष्ठ एव, शिखावस्थास्वरूपमोक्षोपदेशाद् गीतम् पशुतम्,
मूढतम् एवेत्यर्थः । यौगिकोऽयं सत्त्वो न तु योगरूढ, वैशेषिका अपि न्यायमतानु-
सारितया तद्रूपा इति भावः ॥ ७३ ॥

जित् (न्याय वैशेषिककार गौतम मुनि) ने जेननायुक्त प्राणियोंके (सुख-दुःखादिका
अनुभव नहीं होनेसे) पापाणस्वरूपा मुक्तिके लिए (न्यायवैशेषिक) ग्रन्थ बनाया, उमे
गौतम ('गौतम' नामक मुनि, पक्षा०—विशिष्ट गौ पशु) ही जाने और जैसा (गौतम =
उम नामवाले मुनि, पक्षा०—विशिष्ट गौ पशु) जानने हो, वह जैसा (महापशु) ही है ।
[न्यायवैशेषिककार गौतम मुनिका सिद्धान्त है कि 'मुक्ति होनेपर तत्त्वज्ञान हो जानेसे
प्राणीको मिथ्या सुख-दुःखादिका अनुभव नहीं होगा' यही 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग' वाक्यका
आशय है, उसीका कष्टिके मुखसे उपहास करता हुआ चार्वाक कहता है कि प्राणीको यदि
सुख-दुःखाका अनुभव ही नहीं होता तो वह पाशातुरूप है और उसे ही मुक्ति भरनेवाका
गौतम मुनि केवल नामसे ही 'गौतम' (विशिष्ट गोरूप पशु) नहीं है, किन्तु अर्थसे भी
'गौतम' (विशिष्ट गोरूप पशु) है] ॥ ७४ ॥

द्वारा हरिहरादीना तन्मग्नमनसो भृशम् ।

किं न मुक्ता ? पुन सन्ति कारागारे मनोभुव ॥ ७५ ॥

हरिहरहरिण्यगर्भोपासनया मुक्तिरिति मत निरस्यति—द्वारा इति । हरिहरादीना
द्वारा लक्ष्म्यादयः स्त्रियः, भृशम् अत्यर्थ, तेषु हरिहरादिषु एव, मग्नमनसः लग्न
विज्ञा, तद्भावभाविता सन्त अपि इत्यर्थः । किं कथं, न मुक्ता ? मोक्ष न प्राप्ता ?
प्रत्युत मुक्ति दूरे आस्ता, मनोभुव कामस्य, कारागारे बन्धनालये । 'कारा स्याद्
बन्धनालये' इत्यमरः । पुन सन्ति सदैव कामपरवशा वर्तन्ते, अतो हरिहराद्या-
नया मुक्तिप्राप्तिपात्रक तत्तच्छास्त्र मिथ्यैवेति भावः ॥ ७५ ॥

विष्णु तथा शिव आदिका (लक्ष्मी, गौरी आदि) स्त्रिया उन (विष्णु तथा शिव
आदि) में अत्यन्त सलग्नचित्त हैं तो वे क्यों नहीं मुक्त हो गयीं ? (प्रत्युत) वे तो
कामदेवके कारागार (जेल = बन्धन) में हैं अर्थात् कामके परवश हैं । [विष्णु तथा शिव
आदिके ध्यान-पूजन आदिसे ही मुक्ति होगी तो उनमें सन सलग्नचित्तवाली उनकी स्त्री
लक्ष्मी, गौरी आदिकी भी मुक्त हो जाना चाहिये था, किन्तु देखा जाता है कि वे मुक्त
नहीं, अपितु कामके पराधीन हैं, अत एव 'सहृदुश्चित्त येन 'शिव' इत्यक्षरद्वयम्' तथा
'मय्यर्तिमनोबुद्धिर्धर्मसमाप्तेति पाण्डव' इत्यादि शिव तथा विष्णु आदिकी उपासनासे
मुक्तिप्राप्ति बलानेवाले शास्त्र भी मिथ्या ही हैं] ॥ ७५ ॥

देवश्चेदस्ति सर्वज्ञ करुणाभागबन्ध्याक् ।

तत् किं बाध्ययमप्राज्ञ कृतार्थयति चार्थिनः ? ॥ ७६ ॥

क्रिडा, न्यायमन्त्रिद्वय ईश्वरोऽपि नास्ति यत्प्रमादात् मुख्यमहीत्याह-देव इति । सर्वज्ञ भूतमविप्यद्वर्तमानायावद्वस्तुविपर्ययज्ञानवान्, कर्माभाक् कारुणिक, वैषम्यनेर्धृण्यरहिततुष्टि इत्यर्थः । अवगम्यवाक् अमाधवचन, वेदरूपसत्यवचन इत्यर्थः । यथोक्तार्थसम्पादकवचन इत्यर्थो वा, देव ईश्वर, अस्ति विद्यते, चेत् यदि, तत् तर्हि, अयिन मोक्षयित्वा, न अस्मान्, चाग्न्ययमात्राद् भवन्तो मुक्ता भवत्विति वाक्योच्चारणमात्रेण, हि दय, न कृतार्थयति ? न मोचयतीत्यर्थः । स सर्वज्ञादिविशेषणप्रय विशिष्टोऽपि यदि न मोचयितुं समर्थो भवति, तदा स नास्त्येवेति भावः ॥ ७६ ॥

सर्वज्ञ (भूत मविप्यद्वर्तमानके समस्त कार्योको जाननेवाला), दयालु और (वेदरूप) सत्यवचनवाला (अथवा—सत्ता—मन्त्रा सफल वचनवाला) देव (ईश्वर) है तो वह मुक्ति-मुक्ति= इच्छुक हम लोगोंका ईश्वर वचनमात्रसे ('तुम लोग मुक्त हो गये' इत्यादि कहनेमात्रसे) क्यों नहीं कृतार्थ करता है ? [यदि वह नैयायिक-सम्मत उक्त गुणोंवाला 'ईश्वर' होता तो केवल वचनमात्रसे हमलोगोंका मुक्त कर देता, किन्तु ऐसा नहीं करता इसलिए मानना पड़ता है कि 'ईश्वर' नामक कोई देव नहीं है] ॥ ७६ ॥

अविना भावयन् दुःख स्वकर्मजमपीश्वर ।

स्यादकारणवैरी न कारणादपरे परे ॥ ७७ ॥

कर्मसीमासकमत दूषयति—अविनामिति । अविना सत्सारिणी, स्वकर्मज निगम कर्मजातम् अपि, दुःख क्लेश, भावयन् दुःखोत्पत्तौ औदासीन्यविहाय निमित्त भवन्, दुःखोत्पत्तौ प्रवर्तयन् वा, ईश्वर न अस्माकम्, अकारणात् अहेतो, वैरी शत्रु, स्यात् अवेद्, अपरे अन्ये, कारणात् अन्गोऽन्यापकारलक्षणात् निमित्तात्, परे वैरिण, भवन्ति इति शेषः । एतत् सोऽपि न विश्वसनीय इति भावः ॥ ७७ ॥

सत्सारियोंके अपने कर्मजन्य दुःखोंकी प्राप्त करने, हुआ अर्थात् स्वकर्मानुसार दुःख भोगनेमें निमित्त होता हुआ ईश्वर हमलोगोंका अकारण शत्रु बनता है, दूसरे लोग तो (स्त्री-धनादिके अपहरण आदिन्य परस्पर अपकार करनेके) कारणसे वैरी होते हैं । [सत्सारियोंकी यदि अपने-अपने कर्मानुसार दुःखादि भोगना ही है तो ईश्वरका उस दुःखको सत्सारियोंके द्वारा भोगनेमें निमित्त होना केवल हम सत्सारियोंके साथमें अकारण द्वेष करना ही है, जब दूसरे लोग तो परस्परमें अपकार करनेके कारण विभोका वैरी बनते हैं, किन्तु वह ईश्वर तो अकारण ही दुःख भोग करानेमें निमित्त होकर हम सत्सारियों के साथ द्वेष करना है अब यह 'वह ईश्वर कारुणिक आदि गुणोंसे युक्त है' यह कथन सर्वथा मिथ्या है, इस कारण दुःख भोग करनेमें कर्मकी प्रधानता होनेसे ईश्वर है ही नहीं] ॥ ७७ ॥

१ 'कारणवैरी न' इति पाठे काका व्याख्येयम्, इति सुन्तावरोधा इति म० म० शिष्यदत्तनमोः । तत्र तथा पाठाद्वीकारे छन्दोभङ्गात् 'स्यात् कारणवैरी न' इति पाठः साधु प्रतिपत्तिः ।

तर्काप्रतिष्ठया साम्यादन्योऽन्यस्य व्यतिघ्नताम् ।

नाप्रामाण्य मताना स्यात् केषा सत्प्रतिपक्षयन् ? ॥ ७८ ॥

किञ्च, सर्वोपपत्तिरुक्तमतानि परस्परविरोधादप्रामाण्यान्वेवेत्याह—तर्कति । तर्कस्य प्रामाण्योपपादकयुक्ते, अप्रतिष्ठया अनन्ततया, एकत्र परिनिष्ठितत्वाभावेन कारणेन इत्यर्थः । यत् साम्यं तुल्यत्वं, व्याप्तिपक्षतादिरूपसमबलत्वमित्यर्थः । तस्मात् हेतोः, अन्योऽन्यस्य परस्परस्य, व्यतिघ्नता दूषयता, विरोधिप्रमाणसद्भावेन परस्पर फलनिश्चय प्रतिरन्धतामित्यर्थः । 'सर्वनाम्नी वृत्तिमात्रे द्वे भवतः' इति अथ शब्दस्य द्विरुक्तिः, पूर्वपक्षात् धर्ममेकवचन, शेषे कर्मणि पठ्यते, कर्मव्यतीहारे घोटना र्थोऽप्युपसर्गप्रयोगः, 'इनरेतरान्योऽन्योपपदाच्च' इति प्रतिषेधात् कर्मव्यतीहारेऽप्यात्मनेपदाभावात् । केषा मनानां दर्शनानां, सत्प्रतिपक्षवत् मन् वर्तमान, प्रतिपक्ष-विरोधिमाध्यसाधको हेतुर्यस्य स सत्प्रतिपक्षस्तद्वत् मिथ प्रतिपक्षसाध्यसाधकहेतु-नाम् इव, अप्रामाण्यम् अनेकान्तिकत्वं न स्यात् ? अपि तु सर्वेषामेव तत् स्यादेव इत्यर्थः तथा हि वैशेषिकादयो यथा कार्यवहेतुना घटादिदृष्टान्तेन शब्दस्यानित्यत्वं प्रमाणयन्ति, तथा मीमांसका अपि निरवयवरश्च द्विहेतुना आत्माकाशादिदृष्टान्तेन शब्दस्य नित्यत्वं व्यवस्थापयन्ति, इत्यञ्च तादृशमतद्वयस्य समबलतया एकत्र प्रामा-ण्यनिश्चयाभावेन च तदुत्तर मध्यम्यस्य शब्दो नित्यो न वेति मशयोरुपाशत् निश्चय-रूपफलोत्पादविरहात् तादृशमतद्वये एव अप्रामाण्यज्ञान जायते इति भावः ॥ ७८ ॥

तर्क (प्रमाणोपपादक युक्ति) के अनन्त होनेसे समानताके कारण (मुन्दोपमुन्द-न्यायने) परस्परको दूषित करने (विरोधी प्रमाण होनेसे परस्परमें फल-निश्चय नहीं करते) हुए किन मतों (सिद्धान्तों) अर्थात् प्रामाण्यभावसे समान अनुमानादिका, अथवा—स व असत्त्व, एकात्म्य-नानात्म्य, ईश्वरत्व-अनादित्व आदि) का सत्प्रतिपक्षके समान अप्रामाण्य (प्रमाणभावत्वं) नहीं होगा ? अर्थात् सबका अप्रामाण्य हो जायेगा । [इसका आशय यह है कि—जिस प्रकार वैशेषिक वद आदिका दृष्टान्त देने हुए कार्य होनेसे शब्दको अनित्य मानते हैं और मीमांसक आत्मा आदिका दृष्टान्त देते हुए निरवयव होनेसे शब्दको नित्य मानते हैं, इस अवस्थामें पूर्वोक्त दोनों मतोंके समबल होनेसे किमी एकमें प्रामाण्यनिश्चय नहीं होनेके कारण तटस्थ (वैशेषिक तथा मीमांसकमें भिन्न तृतीय) व्यक्तिको 'शब्द नित्य है या अनित्य ?' ऐसा सन्देह होनेपर उक्त दोनों मतोंमें अप्रामाण्य बुद्धि हो जाती है, उसी प्रकार प्रामाण्यनिश्चयायक तर्कोंकी अनेकता होनेसे और सब समानता होनेसे वन सभी मतोंका अप्रामाण्य हो जायेगा] ॥ ७८ ॥

अक्रोध शिक्षयन्त्यन्यान् क्रोधना ये तपोधना ।

निर्धनास्ते धनायेव घातुवादोपदेशिनः ॥ ७९ ॥

अक्रोधमिति । क्रोधना स्वयं कोपनशीला । 'क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च' इति युच् । ये

तपोधना दुर्बाम प्रमृतय, अन्यान् इतरान्, अक्रोध सर्वानर्थहेतुत्वात् क्रोध परि
हर्त्तव्य इत्यादिना क्रोधपरिहार, शिष्ययन्ति उपदिशन्ति । 'अविशासि—' इति द्विक
मर्कत्वम् । ते मुनय, निर्धना स्वयं निष्ठा जना, धनार्थं धनार्थं, धातुवादोपदे
शिन ईश्वरप्रक्रियातो लौह स्वर्णो भवेदित्यादिना परेषा धातुविद्योपदेशार इव, उप
हास्या भवन्ति इति शेष । धातुविद्योपदेशस्तादृशप्रक्रिया यदि फलवती स्यात् तदा
इदस्य कथं निर्धनत्वमिति स यथा उपहास्य तद्वत् उपहास्या द्युरिति भावः ॥७९॥

सर्वदा क्रोध करनेवाले (दुर्बाम आदि) जो तपस्वी लग्न दूसरोंको क्रोध नश करनेकी
शिक्षा देते ॥ (पाठा०—दूसरोंसे क्रोध नहीं करनेकी शिक्षा दिलवाते हैं), वे निर्धन तपस्वी
धन (पाने) के लिए ही धातुवाद (क्रिया-विशेषके द्वारा लोहे आदि हीनजानीय धातुको
चाँदी-सोना आदि उत्तम जानीय धातु बना देने) का उपदेश देते हैं । [जिस प्रकार स्वयं
निर्धन कोट व्यक्ति 'इस विधिसे लोहा-ताँबा आदि हीनधातु चाँदी-सोना आदि उत्तम धातु
बन जाता है' ऐसा उपदेश किसीको देने हैं किन्तु स्वयं इस विधि द्वारा सोना बनाकर
धनवान् नहीं हो जाते तो यही मानना पड़ेगा कि यह धन लेनेके लिए मुझे ठग रहा है
अन्यथा स्वयमेव सोना बनाकर धनो क्यों नहीं हो जाता ? उसी प्रकार दुर्बाम आदि मुनि
जो सर्वदा क्रोध करते देखे गये हैं, वे जो दूसरोंको उपदेश देते हैं या दिखलाते हैं कि
क्रोधका सर्वथा त्याग करना चाहिये, यह उनका उपदेश दूसरोंको बखिन्न करना मात्र है
वास्तविक नहीं, अतः उनका उपदेश भी मानने योग्य नहीं है] ॥ ७९ ॥

किं चित्तं दत्तं ? तुष्टेयमदातरि हरिप्रिया ।

दत्त्वा सर्वं धनं मुग्धो बन्धनं लब्धवान् बलि ॥ ८० ॥

किमिति । हे वदान्या । चित्तं धनं, किं किमर्थं, दत्तं ? वितरन ? न दातव्यमि-
त्यर्थं । मग्नरत्ने लोट् । न ॥ अदाने लक्ष्मीशोभ आशङ्कनीय इत्याह—यत् इयं
वित्तरूपा, हरिप्रिया लक्ष्मी, अदानरि कृपणे एव, तुष्टा प्रसन्ना, अदानेनैव तुष्टयती
त्यर्थः । तथा हि, मुग्ध मूढ, दानव्यसनीति भावः । बलि वैरोचनि, सर्वधन
सर्वस्वं, दत्त्वा प्रदाय, वामनरूपाय शिष्ये इति भावः । बन्धनं सयमन, लब्धवान्
प्राप्तवान्, त्रिविक्रमेण तेनैव बद्ध इत्यर्थः । दानविधायक शास्त्रमपि तथा प्रमा-
णम्, एवञ्च कृपणे सम्प्रदूपाया लक्ष्म्या अवस्थानदर्शनाद् दानं न कर्त्तव्यमेवेति
भावः ॥ ८० ॥

(तुमभोग) धनको क्यों देने (यज्ञादिमें सहाजोंके लिए दक्षिणादिरूपमें दान करते)
हो ? अर्थात् ऐसा मत करो, (क्योंकि) यह विगुप्रिया (लक्ष्मी) दान (उपभोग आदि)
नहीं करनेवाले (कुण्ठ) पर ही प्रसन्न रहती (उनके पास सदा निवास करती) है ।
दानव्यसनो अर्थात् महाशनी (अथ च—दान महत्त्व प्रतिपादक स्मृति-पुराणादिमें अद्यापि)
बलि सम्पूर्ण धन दान करके (वामनके द्वारा) बन्धनको प्राप्त हुआ । [यह देखा गया है
कि जो धनका दान तथा उपभोग नहीं करते, उन्हें कुर्रोंके यही लक्ष्मी रहती है और

दान करनेवाले निर्धन होकर दुखी रहते हैं, उदाहरणार्थ (पृथ्वीरूप) सम्पूर्ण धनको यामनके लिए दान करनेवाला मूर्ख बलि वाग्बद्ध हुआ (या वामनसे बांधा गया) और उसे पातालमें बाना पड़ा । इसमें यह प्रमाणित होता है कि जिस स्मृतिपुराण शास्त्रमें दानकी श्रेष्ठता बतलायी गयी है, उसी स्मृति-पुराण शास्त्रमें दान करनेसे बलिके बाधे जाकर दुख पाके उदाहरण मिलते हैं, अतः एव यज्ञादिमें दान करना निष्फल एवं पुण्यमात्र फलदाता है । इस श्लोकमें लक्ष्मीके लिए 'हरिप्रया' शब्दका प्रयोग होनेसे बलिके मागनेपर धन देनेवाले बलिके ऊपर लक्ष्मीको प्रसन्न होकर सुख पहुचाना चाहिये था, किन्तु उल्टे विष्णुकी प्रिया लक्ष्मीको बलिने उसे (लक्ष्मीको) उस (लक्ष्मी) के पनि (यामनरूपी श्रीविष्णु) के पास पहुचाकर भी बन्धन प्राप्त किया, अतः जो लक्ष्मीको किमीके लिए नहीं देता, उसीपर वह प्रमत्त रहती हैं यह सूचित होता है । अतः एव दानादि करना स्वर्थ है] ॥ ८० ॥

• पौराणिक कथा—दैत्यराज बलि बन्ध कर रहा था, उसके प्रभावसे मयात ईश्वरकी प्रार्थना करनेपर विष्णु भगवान् यामनका रूप धारणकर उस बलिकी वधशालामें गये और उसमें साढ़े तीन घेर भूमिको दानमें मागा । अपने कुलशुरू शुक्राचार्यके बारबार निषेध करनेपर भी यज्ञमें पधारे हुए याचक माघाणको निराश्र लौटाना अनुचित मानकर बलिने छतनी भूमि दानमें दे दी तब यामनने विराट् रूप धारणकर तीन घेरसे तीनों लोकोंको माप लिया तथा दोष भाये घेरके स्थानमें बलिकी पीठ मापकर उन्हें पाताललोकमें भेज दिया ।

दोग्धा द्रोग्धा च सर्वोऽय धनिनश्चेतसा जनः ।

विमृज्य लोभसङ्क्षोभमेकदा यद्युदासते ॥ ८१ ॥

दोग्धेति । अयं परिदृश्यमान , सर्व निखिल जन , लोक , धनिन धनिकान् , दोग्धा द्रोहणशील , परोपकारस्य कर्तव्यप्रतापपदेशादिना धनिभ्यो निरय धनसंग्रहं करोतीत्यर्थ , तथा चेतसा मनसा , द्रोग्धा च द्रोहकरणशीलश्च , अनिष्टचिन्तनपर इत्यर्थ । कथमेन वञ्छयित्वा एतस्य धनादिकं मग्नलीयामित्येव मनसि तस्यानिष्ट चिन्तयतीति भावः । ताच्छ्रीक्ष्ये कृन् , अत एव 'न लोके-' इत्यादिना पट्टीप्रतिषेधः । कदाचिदेतस्य धनिचारोऽपि दृश्यते इत्याह—लोभसङ्क्षोभ धनाभिलाषजन्य मान-सञ्चाञ्छस्य, विसृज्य विहाय, सञ्जय इत्यर्थः । एको द्वौ वा येषां ते परुद्धा , न तु हनीय इति भावः । 'मद्गुण्याव्यय-' इत्यादिना बहुवीही, 'बहुवीही सङ्क्षेपे' इति ङघ्समामान्तः । यदि सम्भावनायाम् 'उदासते निःस्पृहा तिष्ठन्ति, सादृशलोभ-सङ्क्षोभरहितो जन अत्यल्प एव इति सम्भावयामिइति भावः । तथा च प्रतारका णामुदरपूरको दानधर्मं सत्पात्राभावात् त्याज्य एवेति निष्कर्षः ॥ ८१ ॥

ये सभी लोग धनिकोंसे (धन-दानादिका उद्देश देकर धनको) दुहनेवाले (येन केनापि प्रकारेण धनको छेनेवाले) और मनसे द्रोह करनेवाले अर्थात् किस प्रकार हमका

सम्भूतं धनं मुले प्राप्तं हो जायेगा, यह इतना धनवान् होकर सुखी कैसे हो गया ? हरपादि सोचते हुए देर करनेवाले हैं । लोभ (धनिकोंसे येन केनापि प्रकारेण धन लेनेकी प्रवृत्ति, लभना कृपणताके परवश होकर धनका सुरक्षित रखने) के सप्रोभको छोड़कर (पाठा०— बलात्कारसे राककर) धनिकोंमें धन लेनेमें यदि कोई उदासीन होने है तो वैसे केवल एक या दो ही हैं, अधिक नहीं [अत एव दानादि करनेका उद्देश बज्जना एव अपनी उदरपूर्तिका मायनमात्र है, परलोकमें सुखोत्पादक नहीं, इस कारण दान करना नहीं चाहिये] ॥ ८१ ॥

दैन्यस्यायुः समस्तैर्न्यमभक्ष्यं कुक्षिपञ्चना ।

स्वाच्छन्द्यमृच्छतानन्द-कन्दलीकन्दमेककम् ॥ ८२ ॥

दैन्यस्येति । अस्तैन्यम् अस्तेय, चौर्याभाव इत्यर्थः । क्वचित् प्रसज्य प्रतिपेक्षेऽपि नृजन्मास हृष्यते अहिंसेतिवत् । दैन्यस्य दारिद्र्यस्य, आयुषे हितम् आयुष्य पृथिक् कारकमित्यर्थः । चौर्यं विना दैन्यं नापयातीति भावः । हितायै यत्-प्रत्ययः । अभक्ष्यं लघुनामायश्चकरादिभोजनविरति, 'कुक्षे' जठरस्य, वज्जना प्रतारणा एव, सुखादुप-
शुभोजनपरित्यागात् जठरमेव चञ्चितं भवति, न तु तत् कश्चित् धर्म इति भावः । अत आनन्दकन्दलीकन्दम् आनन्दानुरमूलसकलसुखबीजभूतमित्यर्थः, एककम् एक-
मात्रम्, असहायं कन्-प्रत्ययः । स्वाच्छन्द्यं स्वेच्छाचारिण्यम्, अक्षुब्ध अवलम्बधम्,
धृतिस्मृतिपुराणादिप्रतिपादितान् निषेधान् उल्लङ्घ्य सकलसुखनिदानं स्वेच्छाचारि-
ण्यमेव कुरतेति भावः ॥ ८२ ॥

अचौर्यं (चोरी नहीं करना) दीनताकी आयुषः हितकारी है (चोरी नहीं करनेसे दीनता बहुत दिनोक्त बनी रहती है, अतः चोरी करके दीनता (दरिद्रता) को दूर करना चाहिये), अभक्ष्यं (लघुन, प्याज, मांसमूक आदि अभक्ष्य हैं यह कथन) पेटको बज्जित करना (ठगना) ही है (सुखादु एव पुष्टिकारक लघुन, प्याज, मांसमूकका मांस आदि नहीं खाना पेटको ठगना है, अतः इनको अभक्ष्य बतानेवाले धर्मशास्त्र बचनोंकी अवहेलना करके इनका भक्षण करना चाहिये । अधिक क्या कहा जाय—) आनन्दकन्दका मूल स्वच्छन्द्य (धृति-स्मृति-पुराणोक्त धर्मका त्यागकर स्वेच्छाचरिता जो कुछ भी खाना, जिस किमोके साथ सम्भोग करना आदि) का आश्रय करो ॥ ८२ ॥

इत्थमाकर्ण्य दुर्यर्णान् शक्नोति सकोपता दधे ।

अत्रोचदुश्च कस्कोऽयं धर्ममर्माणि कृन्तति ? ॥ ८३ ॥

इत्थमिति । शक्नोति इन्द्र, इत्थम् एवविधान्, दुर्यर्णान् वेदादिदूषणानि चार्वाक-
दुर्विचारानि, आकर्ण्य धृत्वा, सत्रोपतां दधे लुकोपः । क ? अयं वेदादिदूषक जनः,
क ? क इत्यस्य कोपे द्विरिति । 'कस्कादिषु च' इति सकारः । धर्ममर्माणि अति

मारभूतानि घर्नरहस्यानि, कृन्तति ? क्षिणति ? इति उच्ये, तारम्, अबोचत् अकथ-
यत्, शक इति शेषः ॥ ८३ ॥

इम प्रकार (१७ ३३-८३, क्षुत्-सृग्नि-पुराण-प्रतिपादि) घर्नको निन्दा करनेवाले)
दुग्नि अश्वरोको मुनकर इन्द्र कहइ हो गये और 'घर्नको बरको यह कौन काट रहा है ?'
देम, उँचे स्वरसे बोले ॥ ८३ ॥

लोकत्रयीं त्रयीनेत्रा वञ्चवीर्यस्फुरत्करे ।

क इत्थ भापने पाक-शामने भयि शामति ? ॥ ८४ ॥

लोकेनि । त्रयीनेत्रा बाह्यप्रत्यक्षादियपदायंज्ञापकवेदत्रयवदुप, लोकत्रयीं त्रि-
लोकैः, वञ्चवीर्येण कुञ्जिप्रभावेण, स्फुरत्करे दीप्यमानहस्ते, पाकशासने पाकामुर-
घानिति, एतेन घर्मदूषकाः । हननसामर्थ्यं स्वस्य सुविमम् । भयि देवेन्द्रे शासति
दण्डयति, घर्मसंस्थापनपूर्वकं पालयति मर्त्यायर्थं । क इत्थम् पूर्व, घर्मदूषणादिरूप-
मित्यर्थं । भापने ? प्रलपति ? ॥ ८४ ॥

यथा (अक् दजुष् और सानवेद) हैं नेत्र त्रिमके देने लोनों लोकोंका बज्रके बजने
स्फुरित होने हुए बाहुवाले मुत्र इन्द्रके शासन करते रहनेपर कौन देम (१७ ३३-८३)
कहना है ? [त्रयीको लोकका नेत्र कहनेने वेदकी लोकका स्वा भाग-प्रदण्ड होना न्या
बज्रके बजने स्फुरित होने हुए बाहुवाला करनेने देने घर्मनूलेच्छेदक वचन कहनेवालेका
दण्डित करनेकी शक्ति होना एवं मुत्रको कहनेने क्रोधपूर्वक बज्रका स्पर्शक उक्त वाक्य
कहना सूचित होता है] ॥ ८४ ॥

वर्णासङ्कीर्णनाया वा जात्यलोपेऽन्यथाऽपि वा ।

ब्रह्महादे परीक्षासु भङ्गमङ्ग । प्रमाणय ॥ ८५ ॥

'शुद्ध वशाद्वयीशुद्धी' इत्यादिरलोकद्वयेन (१७ ३९-४०) यत् सर्वस्यैव जाति-
दूषणमुक्तं तत् परिहरति—वर्णन्यादि । वर्णानां ब्राह्मणादिवर्णानाम्, असङ्कीर्णनायाम्
असाङ्कर्यं वा, योनिमाद्वयभावे वा इत्यर्थः । अन्यथाऽपि प्रकारात्मनरेणापि वा, जाति-
उपादिनिषिद्धवृत्त्याऽयमेव इत्यर्थः, जात्यलोपे जातिभ्रंशभावे, जातिशुद्धिविषये
इत्यर्थः । ब्रह्महादे अक्रुहत्यादिकारिण पापिन, परीक्षासु तुलादिदिव्यवाधनेषु, भङ्ग
पराजयम्, अन् 'भो', प्रमाणय प्रमाणवेनावगच्छ इत्यर्थः । यदि ब्राह्मणादि
जातिशुद्धिर्न स्यात्, तदा नाह ब्राह्मणहन्तेति दिव्यकारिण ब्राह्मणादिहन्तु शुद्धत्वा
दितावच्छेदु स्मृतिशास्त्राद्यवतेषु जलानलतुलादिदिव्यवाधनेषु कथं पराजयः स्यात् ?
अतस्तत्र पराजय एव जातिशुद्धी प्रमाणमिति भावः ॥ ८५ ॥

(अक् पूर्वोक्त (१८ ३९-४०) पञ्चोक्त अत्रिम दो (१७ ८१-८५) इत्येकोने खट्वा
करते हैं—) हे ब्रह्म ! वर्णोंका सङ्कुर्वं (घर्ममङ्गी-का) नहीं होनेपर अथवा प्रकारान्तरसे
अर्थात् ध्यानार कादि स्वजनित विषय निषिद्ध वृत्तिका अन्वय करनेसे स्मृतिशास्त्र नहीं

होनेपर (अथवा—वर्णोंका साङ्गर्ष नहीं होनेपर) जातिनाश नहीं होनेपर या पकारान्तर (वर्णोंका साङ्गर्ष होने) से जातिनाश होनेपर ब्रह्मघाती आदिकी परीक्षाओंमें पराजयको प्रमाण मानो । [ब्रह्महत्या आदि पापोंके करनेपर अग्नि, जल आदि द्वारा परीक्षा की जाती है, उसे 'दिव्य' कहा जाता है । उस 'दिव्य' परीक्षाके समय यदि ब्रह्मघातीका हाथ नहीं जलता या वह जलमें नहीं डूबता तो उसे ब्रह्मघाती नहीं माना जाता, इस कारण यन्त्रमङ्गलरता होनेसे ब्राह्मणादिकी शुद्ध जातिका हो लोप हो जाय तो वह 'दिव्य' परीक्षा किम प्रकार होगी ? अत एव उस वर्णमाङ्गल्यको रोककर जातिशुद्धि रखनी ही पड़ेगी, अथवा—उस दिव्य परीक्षाके समय ब्रह्मघातोंका हाथ जल जाता है और जो ब्रह्मघाती नहीं होता उसका हाथ नहीं जलता है, इस कारण उसे ही जातिशुद्धिमें प्रमाण मानना चाहिये । 'अहम्' यह सम्मोहन वचन प्रतिकूलतासूचक है ॥ ८५ ॥

ब्राह्मण्यादिप्रसिद्धाया गन्ता यन्नेक्षते जयम् ।

तद्विशुद्धिमशोपस्य वर्णवशस्य शसति ॥ ८६ ॥

ब्राह्मण्यादीति । किञ्च, ब्राह्मणी आदि यस्या सा ब्राह्मण्यादि, चित्रियादिस्त्री, सा चासौ प्रसिद्धा चेति तस्या प्रख्यातब्राह्मण्यादिस्त्रिया, गन्ता सम्मोक्षा, जय इति शेषः । जय दिव्यपरीक्षणे जितविजय, न ईक्षते न परयति, ब्राह्मण्यादिगन्ता परीक्षासु कुत्रापि विजय न लभते इत्यर्थः । इति यत्, नत् पराजयनम् एव जया-वर्णनमेव वा, अशोपस्य सच उरस्य, वर्णवशस्य ब्राह्मणादिकुलस्य, विशुद्धि मातापित्रा विषाम्परया निर्दोषत्वं, शसति कथयति, अन्यथा कथं तद्रन्तु पातकिव्रतमी परा जय ? इति भाष ॥ ८६ ॥

ब्राह्मणी आदि (अथवा—ब्राह्मणत्व आदि जाति) से प्रसिद्ध स्त्रीका सम्मोग करनेवाला जो (दिव्य शपथ लेने समय) विजयी नहीं होता, वही (उसका पराजय होना ही) सम्पूर्ण वर्ण (ब्रह्मणादि) वंशकी विशुद्धिको कहता है । [ब्राह्मणी आदिके साथ सम्मोग करनेवाला पुरुष जब दिव्य परीक्षा देने अर्थात् तप्तलौह हाथमें लेकर या जलमें डूबकी लगाकर शपथ करनेमें द्वार जाता है अर्थात् तप्तलौहसे जलना और पानीमें डूब जाता है (और इसके विपरीत ब्राह्मणी आदिके साथ सम्मोग नहीं करनेवाला पुरुष उत्तदिव्य परीक्षामें विजयी हो जाता अर्थात् न तो तप्तलौहसे जलना या न पानीमें डूबना ही है), यही ब्राह्मण आदि वर्णों की शुद्धि (वर्णसङ्करताका अभाव) होना बतला रहा है ॥ ८६ ॥

जलानलपरीक्षादौ सवादो वेदवेदिते ।

गलहस्तिवतनास्तिक्या धिग् धिय कुरुते न ते ? ॥ ८७ ॥

१ पतदर्थं मनुस्मृति (८।१।१४-११५), याज्ञवल्क्यस्मृति (व्यवहाराध्याये ९५-११३) च द्रष्टव्ये । २ '—प्रसिद्धाया' इति पाठान्तरम् । ३ 'यन्नेक्षयते जयम्' इति म.उ.प.स्मृतिः ।

नन्वेति । किञ्च, वेदवेदिते अतिप्रतिपादिते, ज्ञानजगत्प्रादौ ज्ञानाद्यादिदिग्य-
शोधनादौ, आदिशब्दात् प्रत्यक्षफलक-कारोपादिमग्रहः । संवादः शुद्धाशुद्धवृथादि-
दत्तनरूप व्यापार इत्यर्थः । ते तत्र, विषयमति, गलहस्तेन तुल्य गलहस्तेन गले
हस्त दत्ता यदाद् दूरीकृतम्, नास्तिक्य परलोको नास्तीत्यादिप्रकारक ज्ञान यस्या-
त्ताम् आस्तिक्यबुद्धिमित्यर्थः । न कुम्ते ? विदुः पतो निन्दामीत्यर्थः । त्वामिति शेषः ।
‘जिह्वनिर्भसन्ननिन्दयो’ इत्यमरः । वेदबोधिनवृद्धिर्बुद्धे तु पापामिदंस्तु धृत्वा अहं
निमज्जना पुरुषमन्तरेण आकर्षणपूर्वबुद्धिमुक्तमनस्ययनमपेक्षमाणः सन् यदि अश-
ल्यानीतसरो ज्ञानादुन्मज्जति तदा य अशुद्ध, प्रत्यानीतसरो यदि उन्मज्जति तदा
शुद्ध एव, इत्यनेन च नत्र प्रत्यक्ष इत्येव संवादः । अग्निदिग्मेऽपि तत्तदोद्गादौ
दाहादाहान्याम् अशुद्धिशुद्धौ प्रत्यक्षहरये । एवम् अनाशुद्गादौ कारीर्यादिपापे कृते
शुद्धिहरये इत्यादिकप्रत्यक्षफलकवेदबोधिनकार्यदत्तनात् सव नास्तिक्यबुद्धिनिर्ना-
तीति विदुः इति भावः ॥ ८७ ॥

वदमतिरादिन नच तथा अन्तेते (अ गता दिग्य) परोज्ञा आदि (‘मग्नि’ शब्दे
‘कारोपादि’ यदका मग्रहः है) न नवाद (शुद्ध-अशुद्धौ निर्णयरूप सति) तुम्हारी
बुद्धिको अद्वयत्वं (गर्दिनी) देवा निकाशी गयी नास्तिक्याशी अर्थात् ब्रह्माकारपूर्वक
नास्तिक्याते शून्य नहीं करना है, (अथवा ऐसा नवाद होनेपर भी मशामूर्त्तों करनेवाके
तुम्हारे) विचार है । [अथवा—तुम्हारी निन्दन बुद्धिको ब्रह्माकारपूर्वक नास्तिक्याते
शून्य नहीं करता ? अर्थात् करना ही है अथवा—हे बु-बने (बुद्धिनि शब्दवाते अर्थात्
निन्दित वाक्य कहनेवाके) । तथा हे अ-नन्ते (नत्रना-हीन) । वेदप्रतिपादित अ-प्रति-
पराज्ञादिमें संवाद है, अथ एव नास्तिक्यको ब्रह्माते शिखारी (ब्रह्मपूर्वक दर्शनको) इति
(नास्तिक्यबुद्धि) बुद्धिको विचार है ॥ ८७ ॥

सत्येव पतिप्रयोगादौ गर्मादेर्बुधोदयान् ।

आश्लिष्य नास्तिका ! कर्म न किं मर्म भिनत्ति च ? ॥ ८८ ॥

मतीति । नास्तिका ! हे नास्तिकपरलोका ! ‘अस्ति नास्ति दिष्ट मति’ इति
टक् । पतिप्रयोगादौ भर्तृमहत्त्वमादिकारणमाकल्ये, सति एव विद्यमानेऽपि, एव
शब्दोऽत्र अप्यर्थे बोध्यः । आदिशब्दात् ज्ञेयोदयादिप्रत्यक्षोन्मूलकारणकलापे सायनि
इति भावः । गर्मादेर्बुधोदयान् अनिश्चितोत्पत्तिकृत्वात्, कदाचित्कोनक्षत्रमार्गे
कामादिभ्यः । आदिशब्दात् वृष्ट्यादिकार्यमग्रहः । आश्लिष्य अर्थापत्तिमिदम्,
अर्थापत्तिप्रमाणमिदं च पुरुषमहत्त्वमादिरूपवृत्तकारणकलापमज्ञावेऽपि गर्मादिपादि
रूपकार्यस्य कदाचित्कृत्वा धर्माधर्मरूपावृत्तकारण विनाऽनुपपन्नम् इत्यनुपपत्तिज्ञान
रूपादपत्तिप्रमाणत्वात् प्रमितिर्नित्यः । कर्म धर्माधर्मरूपवन्मान्तरिष्यादष्ट, व
युष्माकं नास्तिकानां, मर्म इदं, इदंयत्तसत्यमिति सादृत् । न भिनत्ति किम् ! न
द्विनत्ति किम् ? एतेनैव अष्टमस्तीति बोद्धव्यम् इति भावः ॥ ८८ ॥

(अथ 'मृते कर्मफलमर्थ' (१७।५२) ' इत्यादि पक्षका दण्डन करते हैं—) हे नास्तिको !
 पनि—महत्तम आदिके होनेपर भा गर्म आदिका कारण होना अनिश्चित होनेसे अहिम्
 (अर्थान्तरिका प्रमाणने मिष्ट) कल्प (कर्मान्तरूप सम्माननीय अदृष्ट) तुलनेगोके नर्न
 (हृदय) को क्यों नहीं भेदन करना ? (अर्थात् ऐसे प्रमाणने सर्वेत्तम पुरुषके हृदयका
 भेदन होना चाह्ये) पर तुलनेगोके हृदयका भेदन नहीं होगा, जब पर तुलनेगो नरमूले
 का बहुरूप हो । अर्थात्—तुलनेगोके हृदयका भेदन क्यों नहीं करना ? अर्थात्—
 तुलनेगोके नर्न । नान्विशदितक इत्युक्तम् । अर्थात् मिश्रणका भेदन (कल्पन)
 नहीं करना । अर्थात् अदृष्ट ही कल्प है । [अत्रुक्तान्ते पण्डितान्ते मर्यादा होनेपर नौ
 जन्मान्तराय अदृष्ट का सम्माननानैका योग नहीं रहनेपर वह मानान नहीं होना, अतः पर
 मानना पड़ेगा कि जन्मान्तरेय अदृष्ट भा सम्माननारपि अदिके कारण है] ॥ ८८ ॥

याचत स्व गदाप्राद भूतस्याग्निं कञ्चन ।

नानादेशजनोपद्रा प्रत्येपि न क्या कथम् ? ॥ ८९ ॥

यदुक्तम् 'अम्बुमुत्तमृते वृत्तिरिदं दूर्तं वाच्यं' (१७।५२) इत्यादि, उर्ध्वं चर
 माह—याचत इति । कञ्चन कल्पि जनम्, आदिरय अहिम्नाय, एवं स्वकीय, गदा-
 प्राद गदातीर्थे पिण्डदान, याचत आर्पयनानाम्य, अह पादवशात् प्रेतयेनि
 प्राप्तोऽस्मि, अतो मम मद्गुणार्थं यथादा प्राद स्वया कार्यनिष्पादि आर्पयनावस्य
 इत्यर्थः । भूतस्य भूतयानि प्राप्तवत् प्रेतस्य सम्बन्धिनी, नानादेशजनोपद्रा नाम्ना-
 दे जना विविधदेशदामित्योका एव, उद्रा आद्य ज्ञान, प्रमाणमिति यावत् । दाना
 माहसी, तन्प्रमाणका इत्यर्थः । 'उद्रा ज्ञानमाय स्यात्' इत्यनन्तर । क्या उपा-
 रदानानि, गदाप्रादाश्च अनुक्तस्य मुक्तिरामात् इत्येवम्पान् कादावान् इत्यर्थः । कथ
 म प्रयेपि ? विद्वन्मिषि ? प्रयेतव्य पृथक्नर्थः प्रमाणिकमवादादिति निष्कर्षः ॥ ८९ ॥

(अथ 'मृते स्मरति कल्पानि', 'अम्बुमुत्तमृते वृत्ति' (१७।५२) ' सम्पदेहेन्दुवन्देहे' (१७।५५) ' इत्यादिका दण्डन करते हैं—) किन्ती किन्ती (स्वप्न का उत्पन्न हुआ
 अदिकि) मैं आदिष्ट होकर (कल्पान्तर होनेसे हमके शरीरने प्रवेशकर) अपने गदाप्रादकी
 याचना करते हुए प्रेत (पादवश प्रेतयोगिकी प्राप्त जीव) का अनेक देहके रोमोंकी सुनी
 का कनी कुछ कदाओं (मनावारों, सम्बन्धों) को तुलनेगो क्यों नहीं विवरण करते हो ।
 [अनेक ज्ञानों एवं योगोंने यह देखा जाता है कि अपने पादवशके वाग्य मर्यादिको
 नहीं जानेने प्रेत हुआ जीव किन्ती स्वप्न आदिके शरीरपर आदिष्ट होकर रहना है कि
 'हमारा गदाप्राद कर दो तो नैरी मर्यादा हो आदमी और मैं इसे छोड़ दूँ, अर्थात्
 मैंने पहले जन्मने बहुत स्थानपर रहना हम गद रहना है इत्यादि' और हमके बहन्नी
 मर्यादा को देखा कान्तर हो जाता है । हमने मिष्ट होगा है कि जीव मर्यादे बाद भी
 अपने पूर्व जन्मों का कर्मोंको स्मरण करता है, हमने (अदृष्टादि जन्मों) के योग्य करानेने
 न वही वृत्ति होती है और करनेने बाद भीवकी दुग्गा शरीर प्राप्त होता है] ॥ ८९ ॥

नीताना यमदूतेन नामभ्रान्तेरुपागती ।

श्रद्धासे सवदन्ती न परलोककथा कथम् ? ॥ ६० ॥

‘को हि वेत्ताऽस्यमुष्मिन् (१७६१) इत्यादेरुत्तरमाह—नीतानामिति । यम-
दूतेन यमस्त्रिहरेण, नाम्ना धर्मराज यक्षानङ्कुल्याणा, स्थूलक्षरीरात् लिङ्गक्षरीरना-
कपटु दूत प्रेषयामास अन्येषामपि केषाञ्चिन् तान्येव नामानि इति नाममात्रेण,
भ्रान्ते भ्रमात् हेतोः, नीताना यमसन्निधिं प्रापितानान्, आनेतव्यपुण्येभ्य अन्येषां
जनानामिति भावः । उपागती पुनर्मर्त्यलोकप्रत्यागमनविषये, एतेषां नाममदृशान्
यान् आनेतुं स्व प्रेषित एते ते न भवन्ति, अत एतान् मर्त्यलोकं नीत्वा स्व-स्व-
स्थूलक्षरीरे प्रवेशयेति यमाज्ञया सद्य एव पुन स्वदेहसङ्क्रान्तिविषये इत्यर्थः ।
सवदन्ती श्रुतिस्मृतिपुराणादिषु श्रुतस्वर्गनरकादिकथया सह समामार्थीभवन्ती,
परलोककथा यमलोकात् प्रत्यावृत्तपुरुषोक्ता स्वर्गनरकादेरस्मिन् वशात्तां, कथं न
श्रद्धासे ? न प्रत्येपि ? अतस्तद्वाक्यस्य सत्यत्वादेव परलोकमस्त्येवेति भावः ॥

(अथ ‘को हि वेत्ताऽस्यमुष्मिन् (१७६१)’ इत्यादिका उत्तर देने हैं—) यमदूतके
द्वारा नामके भ्रमसे यमके पाम पहुँचाये गये लोगोंका (वेद-पुराणादि कथनके साथ)
स्वाद करती (मिल्दी-जुलनी) हुई परलोककी कथा (चर्चा) का क्यों नहीं विश्वास
करते हो ? [कभी कभी यह देखा जाया है कि कोई व्यक्ति मर जाना है नाही आदिष्टी
परीक्षा कुशलतम वैद्यो-टाक्टरों द्वारा करनेसे उसके मरनेका निश्चय किये जानेपर भी
वह व्यक्ति कुछ समय बाद जीवित हो जाना है और पुनःपर वा स्वयं ही वह कहने लगता
है कि मुझे यमदूत यमपुरीमें ले गये थे, किन्तु धर्मराजने कहा कि ‘मैंने इस नामसे दूसरे
व्यक्तिको लानेके लिए कहा था, इन्ने नहीं, अत एव इसेको पुन पूर्व क्षरीरमें प्रविष्ट कराकर
उम दूसरे जमीष्ठ व्यक्तिको लाओ ’ । साथ ही वह स्वर्ग-नरकका जैसा बर्तन शास्त्रोंमें
मिलना है वैसा ही उसे बनजाता है, अत एव परलोकके होनेमें तुम लोगोंको विश्वास
करना चाहिये] ॥ ९० ॥

ज्वाला ज्वलन क्रोधादाचक्षुष्यौ चाक्षिपन्नमुम् ।

किमात्थ रे । किमान्धेदमस्मदग्रे निरर्गलम् ? ॥ ६१ ॥

ज्वालेति । अथ ज्वलन अग्निः, क्रोधात् कोपात्, ज्वाला दिदीपे, तथा अमु
चाक्षुष्यम्, आक्षिपन् परस्वाक्यैरधिक्षिपन्, आचरेत् च अगाद च, रे इति तुच्छ-
सम्बोधने, रे चाक्षुषः । किमात्थ ? अस्मदग्रे मम पुरतः, निरर्गलम् अप्रतिबन्धम्,
अबाध यथा तथेत्यर्थः । इदम् उक्तरूपं वेदादिविस्तृतमित्यर्थः । किम् आत्थ ? किं
प्रष्टवसि ? इत्यर्थः । कोपे द्विरुक्तिः ॥ ९१ ॥

१ पृथ्विधा घटना प्रायः पञ्चविंशतिवर्षेभ्यः पूर्वमस्मत्पितृव्यपत्न्या सह
घटिताऽऽसीदिति मे परलोकास्तित्वे नितरां प्राप्य । (अनुवादक)

(इमं प्रकाशः १७८३-४०) इत्येके बहनेके वारः) अग्निदेवः क्रोधमे बलमे लभे और इमं (चार्नक) का निरन्तर करते हुए बोले—रे ! तुने मेरे मानने निरागल क्या कहा है ! क्या कहा है ! [५० मन्त्र-धनमे, तथा 'मन्त्र' कहा है ?] इस वचनके दो बार बहनेने क्रोधका अर्थकता और उभने स्वयं बलनकोल अग्निका अधिक बलित होना सिद्ध होना है] ॥९॥

महापराक्रियः श्रौत धर्मैकवलयजीविनः ।

अनामजगन्मृच्छालः स्मरन् विन्मथसेऽपि न ? ॥ ६२ ॥

अथ पदस्य प्रत्ययान्त 'अग्निहोत्रं धर्मा' (१७८६) इत्यादि तत् निरापष्टे—
महापराक्रिय इति । ६ अगन् अन्धस्वप्नमयम्, अनदृष्टे अमोजने, मृच्छालः ।
मृच्छालावहः क्रियमाणः । इत्यर्थः । 'विष्मादिभ्यश्च' इति सूत्रम्, विष्माद्यन्तर्गते
'हुज्जन्तुतासाह' इति पाठात् उपदाननाशकात् मृच्छालोद्भावात् लक्ष्यमर्थः । श्रौत
धर्मैकवलयः, धर्म कावारः पृथक्, अनुष्ठानमेवैवम् । 'धर्मा' पुण्यधनस्याप्यस्वभावः
'धारमाणसा' इत्यन्तरः । एक केवल, बल सामर्थ्यं, तेन जीवन्तीति तादृशान् श्रौत
धर्मैकवलयजीविनः वैदिकधर्माद्यन्तर्गताहाम्यादेव प्राणधारिणः, महान्तः महामान
इत्यर्थः । य पराक्रियः नामापवाप्तविष्माद्यन्तर्गताहाम्यादेव तावत्, स्मरन् विन्मथन्
अथ न विन्मथसे ? न विन्मथसे । धर्मोपजादितो वैदिकधर्मस्मरन् अमोक्षिनोऽपि
धर्मोपदानमन्त्रितनमोदयतेव जीवन्ति-अतो धर्मस्य अमिन्त्रे न कोऽपि मत्तय इति
भावः ॥ ९२ ॥

(वर 'अग्निहोत्रं धर्मा' तन्त्रम् (१७८६), 'नाम्नाति' मन्त्रि (१७४०)' इत्यादि
अग्निहोत्रं वर देते है—) ६ अन्तरः क्रोधन नहीं करनेपर मूर्छित होनेवाले (नामिक
चार्नक) । एकनाश वैदिकधर्मदिन धर्मके बलपर होनेवाले महापराक्रिय अथ करनेवालोंका
स्मरणका अर्थविशेष भी नहीं होते हो ? (अथवा पाठः—तुने मन्त्रो नहीं आरक्षित होते
हो ?) अर्थात् वन महान्तः अथ करनेवालोंके स्मरणभावसे तुम्हें आरक्षित होना चाहिये,
(पर तुम आरक्षित नहीं हो, अथ स्व दुर्लभ हो) । [जो तुम अनामक का मानन नहीं
करनेपर मृच्छालोद्भावात् हो जाते हो, ऐसे तुमको वैदिक धर्मके बलपर आरक्षित होना उक्त
वचनसे धर्मके मन्त्र-धर्मप्राप्त अर्थ अथ करनेवालोंको देखकर आरक्षित होना तथा
वैदिक धर्मके अर्थ न करने चाहिये] ॥ ९२ ॥

पुत्रेष्टिमेनवासीरिमुखा दृष्टवला मर्या ।

न क कि धर्मनन्देह-मन्देह-यमानवः ? ॥ ६३ ॥

पुत्रेष्टिः । हे दासिका ! पुत्रेष्टि पुत्रकादयम्, म्येनः बहुभारणाय तदास्प-

१. 'न किन' इति पठ्यन्तरम् ।

२. 'म्येन' इति पठ्यन्तरम्, तदैव गणराट् उपलब्धे ।

अनुविशेष, कारीरी वृष्टिकामेष्टि, ता मुक्तम् वादि देया ते पुत्रेष्टिर्येन कारीरीमुखा
पुत्रेष्टिर्येन कारीरीप्रभृतय, इष्टफला इष्टप्रयच्छीमूत, फलसुतो पचिशत्रुमारणवृष्टि-
रूप फल देयां तादृशा, मखा ऋतव, व युष्माक नाम्निकाना, धर्मस्य सद्गुहान
जनितफलदातुरित्यर्थ । सद्गुहानजनितसुफलस्येत्यर्थो वा, य. मन्वेह धर्मोऽस्ति
न वेति सदाय, स एव सन्वेहा सन्ध्याद्वयं सूर्यग्रामार्थमुपवर्णना तेन सह युध्य-
मानाश्च राक्षसविशेषा, तेषा जये निराशे, विनाशसम्पादने इत्यर्थ । भातव सूर्या,
सूर्यदत् विनाशका इत्यर्थ । न किम् ? भवतीति शेष । 'तिष्ठ कोटयोऽर्द्धकोटी च
मन्वेहा नाम राक्षसा । उदयन्त सहस्रशुभमिषुष्यति ते सदा ॥ गायत्र्या चामि-
मन्व्योऽर्धं लल घ्न सन्धयो क्षिदेत् । तेन शाम्यन्ति ते देवा वज्रीभूतेन वारिणा ॥'
इत्यादिकाणां गायत्र्यमिन्नल्लक्षणैषां तेषा नाश, तदुत्तरमेव सूर्योदयेन
सूर्यं पृथु तान् नाशयति इत्येते, एवञ्च सूर्यो यथा लक्ष्मणक तद्वत् पाणोऽपि मय
हीनधर्मसन्वेहनाशको भवतु इत्यर्थ । इष्टफलदायाना फलनिधयवर्णनात् ॥ इष्टफल-
यागादौ लज्जया इष्टेऽपि वा मन्वेहो न कर्त्तव्य इति भाव ॥ १३ ॥

पुत्रेष्टि, दयेन, कारीरी भादि प्रत्यक्ष देखे गये पन्थाते बह दुष लोगोंके धर्मविपदक
सन्वेहरूपी सन्वेह नामक राक्षसोंके बीतनेमें मूर्खरूप नही होने हैं क्या ? [इसका आदय
यह है कि—पुत्रेष्टि यद्यपि पुत्रप्राप्ति, दयेन यद्यपि दानुनाश और कारीरी यद्यपि वृष्टिरूपी पत्र
प्रत्यक्षमें देखा गया है, अत एव इन दशोंके प्रत्यक्ष पन्थोंको देखकर लोगोंने पुत्रदेवोंका धर्म
(क्षत्रियमृति प्रतिपादित दशादिका अशुभानरूप आचार) के मन्वेह दुष्ट प्रसार नष्टनेही हो
काने, त्रिप्त प्रकार वश्य होनेसे पूर्व सूर्य (की किरणें) सामने काने हुए सन्वेह नामक सन्वेह
हीन शरीर राक्षसोंको नष्ट करते हैं । इन दशोंके पन्थोंको देखकर लोगोंने सूर्यदेवोंका धर्मविपदक
सन्वेह दूर हो जाना चाहिये] ॥ १३ ॥

तण्डिताण्डवने वृन्तं स्फुलिहातिङ्गितं नमः ।

निर्ममेऽथ गिरामूर्माभिन्नममेव धर्मराट् ॥ १४ ॥

वृण्वेति । अथ अग्निवाक्यानन्तर, धर्मराट् यम, भिन्नमर्माचारोंके लक्षणों वि-
जयीवरधान इव सन्, तण्डस्य स्वहीमास्त्रस्य, तण्डवने आसन्नै, मम आकाश
प्रदेश, स्फुलिहातिङ्गितम् अग्निङ्गाहीनं, वृन्तं सभाबद्धम्, गिराम् कर्मा वारं प
रम्परा, निर्ममे रक्षयामास, उवाच इत्यर्थ ॥ १४ ॥

इम (प्रकार (१७ १२-१३) अतिके करने) के बाद दण्ड (अन्ते मज्ज-विह्व) को,
धुमानसे आकाशको चिन्गारियोंमें व्याप्त करते हुए (तथा चावकके बेरविरह बचने से)
मित्र मर्मे होते हुए धर्मराज वचन-सूत्रको बोले ॥ १४ ॥

विश्र मोस्तिष्ठ कण्ठोऽपुं कुण्ठगमि दठावहेम् ।

१. 'दयम्' इति पाठान्तरम् ।

द८ नै० ७०

अपठु पठन पाठ्यमधिगोष्ठि शठम्य ते ॥ ६५ ॥

तिष्ठेति । भो पातकापसद ! तिष्ठ तिष्ठ अपेक्षस्व अपेक्षस्व । कोपे द्विरुक्ति । अधिगोष्ठि सभायाम्, इन्द्रादिदेवसमाजे इत्यर्थः । विमर्शार्थे अव्ययीभावः । अग्नि-
ष्टनीनि अपठु प्रतिपठ, विरुद्धार्थकमिति यावत् । 'अरदु सुषु स्थ' इति तिष्ठने
आगादिक उपसर्ग्ये 'आतो छोप इष्टि च' इत्याकारलोपः, 'उपमर्गात् सुनोति—'
ह-यादिना पठम् । 'प्रम-य प्रतिकूल स्वादपसव्यमपठु च' ह्रस्वमर । पाठ्य पठनी
यप्रबन्ध, पठन वाचयत, शठस्य धूर्तस्य, ते तव, कठञ्च ओष्ठो च कठोष्ठम् ।
प्र ष्यद्वात् एकवद्भावः । अह हठात् प्रमथ, खडादित्यर्थः । 'पार्श्विकप्रसमी हठो'
इति वृजयन्ती । कुण्ठयामि रन्ध्रमयामि । चर्त्तनानसामीत्ये भविष्यति लट् ॥९५॥

हे (नास्ति चार्वाकः) । ठहरो, ठहरो, (ह-शदि देशोको) समामे धनिहून् (देशदि
विरुद्ध) पठनीय विषयको बोलने हुए शठ (कोरक वाच्छब्दे अ-परा अर्थ वृत्तान्तेशके)
तु दारे कण्ठ ओर ओष्ठोंको मैं (पाठा—पठ-मैं) वक्ताकारसे कुण्ठित करना हूँ अर्थात्
दण्डालक्षणा चूर्णित (अश-शास्त्रशक्तिके द्वारा बैसा करनेमें अवयव) करता हूँ ॥९५॥

वद्वेस्तद्वेपिभिस्तद्वत् स्थिर मतशतै र्भूतम् ।

पर कस्ते पर वाचा लोक लोकायन ! त्यजेत् ? ॥ ६६ ॥

वेदेरिति । लोकायन ! लोकेषु भुवनेषु आपन विस्तृतम्, अनायामपापव्या-
दिनिभावः । नन यस्य स न पशुदा । लाकेषु अवन ! अवपन । दवेष्टाचारिन् ।
इ यर्थो वा । हे चार्वाक ! इत्यर्थः । वद्वै श्रुतिभि, वेदोक्तैरित्यर्थः । तद्वेपिभि वेद
विरोधिभि, शोद्धादिदुर्गानोक्तैरित्यर्थः । तथा तद्वत् वेदतुल्यैरन्यैश्चेत्यर्थः । मतशतै
त्रिविधमतै, स्थिर कृत प्यवस्थापित, पर लोक स्वर्गादिस्वस्वमिष्यर्थः । पर केवञ्च,
न तव, वाचा प्रज्ञापवाक्येन, क त्यजेत् ? क ज्ञयात् ? न कोऽपीत्यर्थः । बहुजनम
माहनमतस्यैव प्रामाणिकत्वादिति भावः ॥ ९६ ॥

(अथ अग्रिम तीन (१७-९६-९८) श्लोकोंसे 'को हि वेत्ताऽस्वमुष्मिन् (१७-९१)' तथा
'नर्काग्निष्ठया (१७-७८)' इत्यादि बबनोंका उत्तर देने हैं—) हे लोकायन (मोक्ष होनेने
समारमें के छे हुए मनशके, अर्था—समारमें अर्थात्=समहीन चार्वाकः) ! वेदों तथा बनों
प्रकार उन (वेदों) के वैष (वेदानुसूक्त) स्मृति पुराणादे सेहजों मर्गेने स्थिर किये गये
अथ परलोकको केवल तुम्हारे कहनेमात्रसे कौन छोडेगा ? [जिने वेदों तथा तदनुगामी स्मृति-
पुराणादि शास्त्रोंने निर्दिष्ट कर दिया है, वम अथ परलोकको कोई बिद्वान् नहीं छोड सकता,
हा तुम्हारे-बेमा मुख ही छोड सकता है] ॥ ९६ ॥

अमज्ज्ञानाल्प ! भूयिष्ठपान्यत्रेमत्यमेत्य यम् ।

लोके प्रयामि पन्थान परलोके न त कुत ? ॥ ६७ ॥

१ 'समज्ञानाल्पभूयिष्ठ-' इति पाठान्तरम् ।

अमदिति । असंज्ञानेन मन्दबुद्ध्या, अल्प बुद्धि, नीच इत्यर्थं, तत्सम्बुद्धौ असंज्ञानादप्येव । हे नीचप्रवृत्तिनास्तिक ! लोके दृढलोके, भूमिष्ठा बहव, अधिक-सङ्ख्यका एव जना इत्यर्थः । पान्या परलोकपथिका, आस्तिका इत्यर्थः । तेषां चेत्य मार्गभेदविषयकमतविरोधम्, एतत्प्राप्य, सर्वमममत मार्गम् उत्सृज्य इत्यर्थः । य पन्थानं दुर्भागं, प्रयासि अनुयासि, परलोके अमुत्रापि, त पन्थानं कुत कस्मात्, न प्रयासि ? इति पूर्वक्रियया अन्वयः, प्रयास्यन्नेव तत्फलमनुभवविषयसीत्यर्थः । 'दृढ प्रबुद्धपापानां शास्ता वैवस्वतो मतः' इति शास्त्रात् अहमेव नियन्ता इति भावः ॥

हे अमद ज्ञानमे नीच (मन्द बुद्धिमे क्षुद्र चार्वाक) ! हम लोकमें बहुत पथिकों (आस्तिक लोगों) के विरुद्ध बहुतमे आस्तिकोंमें सम्मान निदान्तके प्रतिकूल मतको प्रहणकर जिस मार्ग (कुमार्ग) पर चल रहे हो, परलोकमें भी उसी मार्गसे क्या नष्टा चलने ? [यदि परलोकके विषयमें भी उसी सर्वास्तिक प्रतिकूलमार्गका अवसर चले तो तत्काल उसका फल भोगोगे, क्योंकि मैं गुप्त पात्र करनेचार्योंका भी शायक हूँ । अथवा पाठा०—एक मार्गके विषयमें समान ज्ञानवाले थोड़ेसे तथा बहुतसे पथिकोंके विरोधको प्राप्तकर अर्थात् जानकर इस लोकमें जिस मार्गपर चलने हो, उसी मार्ग पर परलोकके विषयमें भी क्यों नहीं चलने ? जिस प्रकार 'अमुक स्थानको कौन मार्ग आवेगा ?' ऐसा किसी मार्ग नहीं जाननेवालेके पूछनेपर थोड़े से लोगोंके एक मार्ग तथा बहुतमे लोगोंके दूसरा मार्ग बतलाने पर वह गन्धर्व स्थानके मार्गको नष्टा जाननेवाला पथिक बहुतसे लोगोंके बतलावे हुए दूसरे मार्गपर ही गमन करता है थोड़े-से लोगोंके बतलावे मार्गने गमन नहीं करता, उसी तरह हे नास्तिक चार्वाक ! तुम परलोकके विषयमें भी थोड़े-मे लोगोंके बतलावे हुए मार्गको छोटकर बहुत-से लोगोंके बतलावे हुए (वैद-स्मृति-पुराण-प्रतिपादित) मार्गने ही क्यों नहीं चलने ? अर्थात् बहुतमन परलोकको तुम्हें स्वीकार करना चाहिये] ॥ १७ ॥

स्वरूपान्यमन्यसात्कर्तुं जिज्ञानुमतिदृष्टन ।

लोके परत्र लोकस्य कस्य न स्याद् दृढ मनः ? ॥ १८ ॥

स्वेति । स्वरूपान्यं निजदुहितरम्, अन्यसात्कर्तुं अन्यस्मै दातुम् इत्यर्थः । 'श्रेये प्राप्ते' इति साति-प्रत्ययः । विश्वानुमतिं सर्वलोकसम्मतिं दृष्टवानिति विश्वा-नुमतिदृष्ट्वा तस्य जिज्ञानुमतिदृष्टन, 'प्राप्ते चित्वाटे आहूय दीयते शक्त्यलङ्कृता । तज्ज पुनारयुभयतः पुराणैकविशतिम् ॥ त्रीण्यादुरतिदानानि कन्या वृष्टी सरस्वती' इत्यादि सर्वशास्त्रसम्मतिदृष्टु इत्यर्थः । 'इहो कवि' कस्य लोकस्य जनस्य, मन चित्त, परत्र लोके परलोके, दृढ स्थिर, स्थिरविश्वासीत्यर्थः । न स्यात् ? न भवेत् ? अपि तु सर्वेषामेव स्यादेव, परलोकभयेनैव सर्वो जनः स्वदुहितरमन्यस्मै ददाति यदि परलोको नामविषयः तदा स्वदुहितरमन्यस्मै कथमदास्यत् ? स्वेनैव

स्वदुहितु पाणिग्रहणमापद्येत, अतः सर्वसम्पत्तिदर्शनात् परलोकोऽङ्गीकर्तव्य एव भवतीति भावः ॥ ९८ ॥

(उक्त द्रुमम्भनिजे ही प्रदर्शित करते हैं—) अपनी कन्याको दूसरे कदाचि दारको देदेके लिए तबों (देव-मूर्ति-पुराणों तथा लोगों) के सम्मतिसे देखे (तथा देना ही करते) हुए जिस व्यक्तिका मन परलोकके विषयमें निश्चल नहीं होता है ? क्योंकि समाका—दुःखाराभी—होना है । [यदि व-साको दारके लिए देनेका सबसम्मत विधान अभीष्ट नहीं होता तो समागमें कोई भी व्यक्ति उसे दूसरेके लिए न देकर सम्यक् साथ साथ बिगारकर देता, परन्तु देना कोई एक भे—दर। तब कि परलोक को नहीं माननेवाले इस (नास्तिक) मान-नहीं करने ही, इन सब मानना पड़ता है कि सर्वसम्पत् परलोक है, इस कारण तुम्हें दुःखानहें दवर उस परलोकको ख कर करना ही चाहिये] ॥ ९८ ॥

कस्मिन्नपि मते सत्ये हता सर्वमतत्यजः ।

तद्दृष्ट्या व्यर्थतामात्रमनर्थस्तु न धर्मजः ॥ ९९ ॥

ननु नास्तिकानामिह तावत् सुख सिद्धम्, [आस्तिकानाम् तु तद्यास्ति, आमुष्मिकानु सन्निधय तथा च वृथाऽनुष्ठानवत्तेन इति कुनो दार्ढ्यमित्यब्राह्म-कस्मिन्नपि । कस्मिन्नपि आस्तिकमतमात्रे कस्मिन्नपि, नतं कस्मादानविधिमात्रमननिदेशादिरूपे परलोकसाधकमते, सत्ये प्रकाशवेनाङ्गीकृते सति, सर्वमतत्यजः, परस्परवितोधात् सर्वमतप्रमाणमिमादिरीत्या सर्वास्तिकमतत्याजिनः, आस्तिका इति शेषः । हता विनष्टा, परलोकभ्रष्टा इति यावत् । स्यु भवेयुः । यदि परलोक स्यात् तदा सर्वास्तिकमतत्यागेन यूप पारलौकिकसुखास्वादादिभ्यो श्रद्धिता भवेतीति भावः । तद्दृष्ट्या सनास्तिकमताप्रामाण्यदर्शनेन तु, व्यर्थतामात्रम् अनुष्ठानव्यर्थप्यनेव, यदि परलोकसाधक सर्वास्तिकमतप्रमाण स्यात् तदाऽस्माकं यागाद्यनुष्ठानस्य निष्फलमत्र न तु तत् किञ्चिदपि नवेदिति भावः । कुतो नानिष्टमिदं तद्वाह—अनर्थ इति । धर्मजः धर्मोपचारजन्यः, धमानुष्ठानजन्य इति यावत् । अनर्थ विपत्तिस्तु, परलोकभ्रष्टारूप अनिष्टव्यापारस्तु इत्यर्थः । न आस्तिक, परलोकसाधक परेऽस्माकं धमानुष्ठानजन्यः न कश्चिदनर्थः, परलोकमत्त्वपदे तु युष्माकं धर्मनिष्ठानेन परलोकभ्रष्टारूप अनर्थ इत्यपि बोद्धव्यम्, एतच्च पादिकत्वमापुनोपेक्षम्, परमार्थतस्तु आस्तिकमनमेव प्राप्तम् इति भावः ॥ ९९ ॥

(अब दो (१७ ९९-१००) श्लोकोंने 'क्षत्रियवृत्त्यर्थ—(१७५०)' तथा 'उर्ध्वान्निष्ठता (१७५८)' इत्यादि अभिप्रेक्षा उत्तर देते हैं आस्तिक मतोंने—ते) किछा भी मत

('कन्याको दूसरेके लिए दान देना चाहिये' इस विधिपरक तथा 'नाशके साथ माने' नहीं करना चाहिये' इस निषेधपरक वेशासक्त परलोकसाधक आस्तिक-सिद्धान्त) को तब मान लेनेपर परस्पर विरोध होनेसे सब मन्त्रों त्याग करनेवाले नास्तिक लोग मारे गये क्योंकि परलोकमें भ्रष्ट हो गये । उस दृष्टिसे कदाचि स्व आस्तिक मतोंको प्रमाण नहीं

मानने (यथादिक् अनुष्ठान करनेकी हो) व्यर्थता होगी अर्थात् यदि परलोक वास्तविकमें नही होगा तो आत्मिकोंका यथादिक केवल अनुष्ठान करना ही व्यर्थ होगा (इस वैयर्थ्यके अनिश्चित आस्थितिकोंके अन्य कोइ हानि नहीं होती) और यथानुष्ठानने कात्र अनर्थ (परलोकनाशब्द अनिष्ट व्यापार) तो नहीं होगा । [परस्पर विरोध होनेके कारण नास्तिक मंत्र आग्निव मंत्रोंको अप्रमाण मानते हैं, किन्तु 'कन्यादान करना, तथा माताके साथ सम्मोग नहीं करना' इस आत्मिकके विधि-नियमपरक मंत्रोंको वे नास्तिक भा लोकार कल्प है । इस कारण उक्त 'कन्यादान तथा मातृवर्माग्नियेषको मन्त्र अर्थात् परलोक—मायक माननेवाले नास्तिक यदि परस्पर विरोध होनेमें अन्य आत्मिकसिद्धान्तोंका त्याग करते हैं तो वे परलोकद्वय होनेमें लुप्त हो गये । और यदि नास्तिकोंके मन्त्रके अनुष्ठान वास्तविकमें परलोक नही है, यद्यपि नास्तिकोंके द्वारा किये गये यथा अनुष्ठान ही व्यर्थ होगा, इसके अनिश्चित दूसरी कोइ हानि नहीं होगी, व्यर्थ-अनर्थ तो होगा ही नहीं । हमके विमोक्ष यदि सौम्यस्वभाव परलोक है तो यथानुष्ठानमें नास्तिकोंकी स्वर्ग-मृत्यु-प्राप्ति अवश्य होती, तथा नास्तिक को उस परलोकमें विश्वास नहीं होनेमें यथानुष्ठान करने ही नहीं, अतः वे परलोकके सुखमें कब-कबेक वञ्चित होंगे । इस कारण यथानुष्ठान करना ही चाहिये । यह स्थल भी 'सुप्रसन्न' व्यासमें ही है, वास्तविकमें तो परलोकके अस्तित्वमें नास्तिकोंको लेशनाश भा सन्देह नहीं है] ॥ ९९ ॥

कापि सर्वेष्वेवमस्यान् पानित्याश्चन्यथा कर्त्तव्यम् ।

स्थानव्य श्रौत एव न्याद्वर्गे शेषेऽपि नैतद्धने ॥ १०० ॥

उपसहरति—क.पीति । कापि दृष्टान्ति, अर्द्धमाश्रयादानादिरूपे वेदिकानुष्ठान-विषये इति यावत् । नवैमाद्यान् सर्वेषामेकमाद्यान्, तथा कश्चित् कुत्रापि विषये, अन्यथा चैतरेऽपि, पानित्यान् वार्त्तामरिचारे विहितान्तरानिपिदाचारान्य-प्रत्यवायभयान्, तथा शेषेऽपि नियतैर्मित्तिकानिरिक्ते ज्योतिष्टोमाश्चापि, अन्यथा शेषे वेदविहितानिरिक्ते स्मार्त्तानि धर्म, तद्धने वेदकृते, वेदविहितवाविषये इति यावत् । हेतुगर्भवेदोपगमेनत् । श्रौते एव धर्म वेदिकमते, सर्व नास्तेकरि, न्यातय रचितस्य, स्यात् भवेत्, न एव प्राज्ञ इत्यर्थः । 'तपोरेव कृष्यतल्लभ्यां' इति भावे कृष्यन्तर्गम्य । विहितानामर्द्धमादाना केषाञ्चित् श्रौतस्मार्त्तधर्मानां भवन्निरपि वर्जनात् तद्वद्वान्तेन धुनिस्तृतिविधिषु अन्येषु विधिनियेमातेष्वपि श्रौतस्मार्त्तविशेषादेव स्थानव्य स्यात्, नञ्ना शेषा धर्मा अपि अवश्यमङ्गीकार्या इति भावः ॥ १०० ॥

किं (अर्द्धमा, कन्यादान आदि) धर्मके विषयमें मरदा एकमत होनेमें तदा किन्तो

१ 'सकृते' इति पाठान्तरम् ।

धर्मके विषयमें (विहितका त्याग तथा निषिद्धका आचरण करनेसे पाप होनेके भयसे दाकी (नित्य-नैमित्तिकभिन ज्योतिष्टोम आदि, अथवा—वेद-विहितमे भिन्न स्मृति-पुराण-प्रतिपादित) वैदिक धर्म ही स्थिर रहना (उमका आचरण करना) चाहिये । [श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित कन्यादान अर्द्धिआ आदि धर्मका पालन तथा मान्यगमन आदि धर्मका त्याग आपन्नोग भी करने ही है, अतः शेष ज्योतिष्टोमादिका भी आचरण श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित होनेके कारण करना ही चाहिये । अथवा पाठा०—एकमत होनेके कारण सत्र (नास्तिकों) को भी किमी (अर्द्धिआ, कन्यादान आदि) वेदप्रतिपादित धर्ममें ही स्थिर रहना चाहिये, तथा विहित धर्मके त्याग और निषिद्ध धर्मका आचरण करनेपर पाप लगनेके भयसे परस्पर-विरोध मन होनेपर भी वेदप्रतिपादित धर्ममें ही स्थिर रहना चाहिये और वेद-प्रतिपादित होने के कारण शेष काम्यधर्म (ज्योतिष्टोमादि यज्ञ) में ही स्थित रहना चाहिये । इस प्रकार हम 'लोके 'न न जननाऽऽमीनि' 'एकस्य विधवायेन' (१७५४-५५) तथा 'स्वतः मनः' (१७७३) इत्यादि आक्षेपोंका उत्तर दे दिया गया है] ॥ १०० ॥

यभाण वरुण क्रोधावरुण करुणोऽभिमतम् ।

किं न प्रचण्डान् पापण्ड-पाश ! पाशाद्भिभेपि न ? ॥ १०१ ॥

उभाणेति । अथ वरुण जलेष्ट, क्रोधात् रोवात्, अरुण रक्ताङ्ग सन्, वरुणो विज्ञानम् उविज्ञानकरण, निष्कृष्य यथा तथा इत्यर्थः । यभाण उवाच । तदेवाह—याप्य कुम्भित, पापण्ड वेदशास्त्रापमद्, पापण्डपाश । 'याप्ये पाशप' सत्सन्नुद्धौ पापण्डपाश । रे नास्तिराधम ! प्रचण्डात् भयङ्करात्, न अस्माकं, पाशात् पाशाद्युधात्, न भिभेपि किम् ? न लभ्यसि किम् ? 'निजपाशेन उभानि वरुण पापकारिण' इति किं न श्रुतम् ? इति भावः ॥ १०१ ॥

इमं (यमकं इस प्रकार (१७५५-१००) बहो) के बाद क्रोधसे लाल होकर वरुणने निद्रपरापूर्वक वद—हे मित्रित पापण्डवाले (नास्तिकाधम चार्वाक) ! मेरे भयङ्कर पाश (गुलबिन्द) में नहीं डरने ही क्या ? ॥ १०१ ॥

मानयाशम्यनिर्माणा कूर्मागृह्णिला शिला ।

न श्रद्धापथते मुग्धरितार्थिकाभ्रनि व ययम् ? ॥ १०२ ॥

मानयेति । मुग्धा । रे मूढा !, मानवाना नराणाम्, अशक्यनिर्माणा निर्मातुम् अशक्या, कूर्मादि कच्छपवराहादि, अष्ट चिह्न यस्य तादृश, शिल विपर, घटमिति यावत् । यस्या तादृशी, शिला पापाण्डण्ड, गण्डकाख्यनदीविशेषसम्भूता शाल प्रामशिला इत्यर्थः । यमुष्मान्, तिथिवाच्यनि श्रोत्रियमार्गे कथम्, न श्रद्धापथते ? न विधासयति ? शास्त्रोक्तज्ञानसत्त्वादिवादिदिति भावः ॥ १०२ ॥

(अथ 'देवदेवसि सर्वं' (१७५८) का उत्तर देते हैं—) अरे मूर्खों ! मनुष्योंमें नही।

१ 'पापण्डपाश' इति कवर्गमप्य 'प्रकाश' सम्मत पाठ ।

बनायी जा सकनेवाली कच्छप आदि (वाराह, नरसिंह आदि) के चिह्नयुक्त बिलोंवाली (गण्डकी नदीमें निकलनेवाली) झिला (शालग्रामकी मूर्ति) तुम लोगोंको इश्वरमार्गमें (अथवा—वैदिकमार्गमें) क्यों नहीं विद्वत्स कगनी है । [गण्डकी नदीमें मिलनेवाली मनुष्योंमें नहीं बनाये जा सकनेवाले कच्छप, वाराह, नरसिंह आदि चिह्नोंमें युक्त बिलोंवाली शालग्रामकी मूर्तिको देखकर भी तुम लोगोंको इश्वर (या—वैदिकधर्म) में विद्वान नहीं होना, अतः अब तुम लोग महामूर्ख माने जा सकते हो] ॥ १०२ ॥

शतक्रतूनाद्याख्या-धिरयातिर्नास्ति का ? कथम् ।

श्रुतिवृत्तान्तसंवादैनं ब्रह्ममदधीकरत् ॥ १०३ ॥

ज्ञातेति । नास्ति का । रे नास्तिपरलोका । शतक्रतु शताश्वमेधयज्ञकारी इन्द्र, उरज विष्णोरुद्देशस्तम्भूत वैश्य, स आदिव्येण से ब्राह्मणक्षत्रियादयः तेषामाद्या शतक्रतु उरज बाहुज मुखज पादज इत्यादीनि नामानि, तामा दित्यानि प्रमिद्धि, श्रुतिवृत्तान्तमवादे श्रुतिषु वेदेषु, यादृशा वृत्तान्ता 'शताश्वमेधक्रतुकारी इन्द्रो भवति' इतीन्द्रस्येव शतक्रतुत्व 'ब्राह्मणोऽस्य मुग्धमासीत्' इत्यादिना ब्राह्मणस्येव मुखजत्व वैश्यस्यैवोरजत्वम इत्यादयो वेदोक्ता इतिहासा, तेषा मवादे धुर्युक्तवृत्तातेन सह लोकव्यवहारस्य मेलनदर्शनरित्यर्थः । लोकेन इन्द्रस्यैव शतक्रतुनाम व्यवहियते न तु अन्यदेवानां, ब्राह्मणस्येव मुखजत्व व्यवहियते न त्व'यवर्णानाम इत्यादिव्यवहारैः करणैरिति यावत् । व पुष्मान्, कथं न ब्रह्ममदधी करत् ? न इयमिरमदत् ? श्रुतिवृत्ता'तस्य लोकव्यवहारण देव्यदर्शनात् कथं श्रुति प्रमाणत्वेन पुष्मानि न स्वीक्रियते ? इति भावः ॥ १०३ ॥

हे नास्तिकों ! शतक्रतु (सौ अश्वमेध यज्ञ करनेवाला = इन्द्र) तथा उरज (विष्णुके कहने उत्पन्न=वैश्य) आदि (मुखज=ब्राह्मण, पादज=क्षत्रिय और पञ्च=शूद्र) न मन्त्री प्रसिद्ध वैदिक वचनमें स्मृत होनेके कारण तुम लोगोंको क्यों नहीं आकर्षित (होनेमें बड़में विश्वास युक्त) करती हैं । (अथवा—शतक्रतु अर्थात् इन्द्र आदि (अग्नि, धर्मराज, म=हरण आदि देव) तथा उरजा अर्थात् उर्वशी आदि (मेनका, तिन्त्रोत्पला, रामा आदि अप्सराएँ) नामों की प्रसिद्धि) । ['शताश्वमेधयज्ञकारी भवति' (भी अश्वमेध यज्ञ करनेवाला इन्द्र होता है) ऐसे वैदिक वचनके अनुसार लोकमें भा 'इन्द्रक्रतु' शब्द 'इन्द्र' के लिए ही प्रसिद्ध है तथा 'ब्राह्मणोऽस्य मुग्धमासीत्' (विष्णुके मुखसे ब्राह्मण, बाहुसे क्षत्रिय, उरसे वैश्य और चरणसे शूद्र उत्पन्न हुए) इस वैदिक वचनके अनुसार लोकमें भी 'उरज' शब्द 'वैश्य' के लिए (इसी प्रकार 'मुखज' शब्द ब्राह्मण के लिए, 'पादज' शब्द क्षत्रियके लिए और 'पञ्च' शब्द शूद्रके लिए) हा प्रसिद्ध है इन प्रसिद्धियों को देखकर भी तुम नास्तिक लोगों को अपने मन्त्री त्वागनेके लिए आकर्षित होकर और वैदिक मतपर विश्वास करवा चाहिये । द्वितीय अर्थ—वेदोंमें इन्द्रदेव तथा उर्वशी

अदि अप्पराओंको स्वर्गमें रहनेका वर्णन मिलता है, उन इन्द्र, अग्नि, वरुणा आदि देवों तथा उवशी, रुम्भा आदि अप्पराओंको यहा प्रत्यक्षमें देखकर भी तुम ल गोंको आश्चर्य तथा वैदिक वचनों पर विश्वास होना चाहिये, वह नहीं होता, अतः तुम लोग जड़मन हो । ॥ १०३ ॥

तत्तज्जनकृतावेशान् गयाश्राद्धादियाचिन ।

भूताननुभयन्तोऽपि कथं श्रद्धं य न श्रुतो ? ॥ १०४ ॥

श्रुते प्रामाण्यमेव कुत ? इत्याशङ्क्य तदेव द्वाभ्यामुपपादयति—तदित्यादि । तेषु तेषु जनेषु लोकेषु, कृतावेशान् तन्मुखेन यत्किञ्चित् याचितुं कृताधिष्ठानान्, गयाश्राद्धादियाचिन प्रेतवादिबिमोचककर्मयाचकान्, भूतान् प्रेनयोनिभेदान्, अनुभवन्त प्रत्यक्षेण परयन्त अपि, श्रुती तद्विवायकभेदान्, कथं न श्रद्धं य न विश्वसिथ ? ॥ १०४ ॥

उन-उन (स्वर्गमें या तटस्थ पृथीय जगों) में आविष्ट तथा (अरुनी सद्गति होनेके लिए) गया श्राद्धादि की याचना करते हुए (प्रेतादि योनिशोको प्राप्त) जीवोंको देखते हुए भी तुम ल ग वेदों पर क्यों नहीं श्रद्धा (विश्वास) करते हो ? [इस वचनको बलगीत होनेने 'याचन् एव गयाश्राद्ध' (१७८९) इस १ श्लोक वचनके साथ पुनर्वक्ति नहीं समझनी चाहिये । इसी प्रकार अग्रिम वचनके विषयमें भी जानना चाहिये] ॥ १०४ ॥

नामभ्रमाद् यम नीतानथ स्वतनुमागतान् ।

समादृश्यादिनो जीमान् वीक्ष्य सा स्पजत श्रुती ॥ १०५ ॥

नामेति । किञ्च, नामभ्रमात् नाममात्रकृतभ्रान्ते, यम 'परेतराजम्', नीतान् यमदूते प्रापितान्, अथ अतन्तरम्, भ्रान्तिशोधनार्थं यमेन पुन मर्यलोकरंगा नन्तरमिष्यर्थ । स्वतनुम् आगतान् अश्रुतकालावात् पुनर्यमाश्रया स्वशरीरं प्रविष्टान्, समादृश्यादिन वेदोक्त्या सह ऐक्यवादियमलोककृतान्तरुधकान्, जीवान् मर्त्यान्, वीक्ष्य भवलोकाय, श्रुती वेशान्, मापयत न जहीत, पुरुष प्रामाण्यदर्शनादश्राप्यश्रद्धा न दार्या इति भावः ॥ १०५ ॥

नामके भ्रम (सङ्शय) होनेने यमराजके पास पहुँचाये गये इसके बाद (असमयमें मृत्यु होनेने) पुन आने पूर्व शरीरमें लोट कर (वेद-स्मृति-पुराणादि शास्त्रोंमें प्रतिपादित स्वर्ग-नरकादिके समान ही) मङ्गल कहते (स्वगादि-वर्णन करने) हुए जीवोंको देखकर वेदों (तथा तन्मूलक स्मृति आदि शास्त्रों) का स्थापन मत्र करो (उन्हें अमानासिक मत्र कहा, कि तु उन पर विश्वास कर) ॥ १०५ ॥

मरम्भैर्जम्भजैत्रादे स्तभ्यमानाद् बलाद् चलन् ।

१ 'राजाह सविभ्यष्ट' इति टचि 'परेतराजम्' इत्यस्यैवीचिरयान्मया प्राक्तन 'परेतराजानम्' इति पाठस्त्वय्यक ।

मूर्द्धनि बद्धाञ्जलिर्देवानथैव कश्चिदूचितमान् ॥ १०६ ॥

मरम्भैरिति । अथ वरुणवाक्यान्तरम् , जन्मजेन्नादे जम्भासुरविजयीन्द्रादि-
देववर्गस्य, सरम्भे कोपे 'सरम्भ सम्भ्रमे कोपे, इति विश्व । स्तम्भमानात् , पुरश्च-
लितु प्रतिबन्धतमानात् , बलात् कलिसैन्यात् , वचन् निर्गच्छन् , कश्चित् धूर्तः वन्द्यो,
मूर्द्धनि शिरसि, बद्धाञ्जलिः कृताञ्जलिः सन् , नमस्कृत्य इत्यर्थः । देवान् इन्द्रादीन् ,
एव वक्ष्यमाणम् , ऊचिवान् उक्तवान् । सुत्र प्रसु ॥ १०६ ॥

इम (इन्द्रादि देवोंके इम प्रकार (१७८४—१०५) कहने) के बाद आगे बढ़नेसे
रोकी गयी सेनासे पूछकर (कुछ आगे बढ़कर) कोई (पापरूप होनेसे अज्ञात नामा
बन्दी या—चावानी) भिरपर हाथ जोड़कर अर्थात् नमस्कार कर देवोंसे इस प्रकार
(१७।१०७) बोला ॥ १०६ ॥

नापराधी-पराधीनो जनोऽय नाकनायका । ।

कालम्याहुःकलेर्यन्दी तच्चाटुचटुलानन ॥ १०७ ॥

यदूचिवान् तदाह—नेति । नाकनायका 'हे देश !' अथ जन अहमित्यर्थः ।
पराधीन परवश, अतो न अपराधी न दोषी, अहम् अथ जन , कले कालस्य कलि-
युगाधिदेवस्य, तच्चाटुमि तस्य कले , चाटुमि प्रियवादे , चटुलानन अपलमुखः,
स्वामिभित्तानुदूलवाङ्गीत्यर्थः । वन्द्यो स्तुतिपाठक , अतोऽह अन्तर्द्वय इति भावः ।
स्वामिभित्तानुराजनार्थं वेदादिदूषणं कृतं न तु स्वतः, अतो नाह भवन्निर्दण्डनीय
इति निष्कर्षः ॥ १०७ ॥

'हे स्वर्गाधीश देवो !' वालिका (कलियुग) का वन्द्यो (स्तुतिपाठक, अनपव) उसके
प्रियभाषण (चापल्य) में अत्यन्त मुखवाला अर्थात् कलिका बड़-बड़कर चापल्यी करने-
वाला पराधीन यह मनुष्य (मैं) अपराधी नहीं हूँ । [उस वन्द्योत इन्द्रादिको नमस्कार
कर कहा कि—मैं तो कलियुगका वन्द्यो होनेके कारण पराधीन हूँ, और उसी की मर्मा
चापल्यी किया करता हूँ, इसी कारण मैं वेदादि की निन्दा को हूँ, अनपव मेरो पराधीनता
को जानकर आप लोग मुझे दण्डित न करें] ॥ १०७ ॥

इति तस्मिन् उदत्तेव देवा स्यन्दनमन्दिरम् ।

कलिमाक्षलयाञ्चन्द्रापरश्चापर पुर ॥ १०८ ॥

इतीति । तस्मिन् उन्दिनि, इति इत्थं, उदति उत्पत्ति एव सति, देवा इन्द्रादयः ,
स्यन्दनमन्दिर रथमण्यस्य, कलि कलियुगाधिष्ठातार, तथा अपर तत अन्य, द्वापरं
द्वापरयुगाधिदेवञ्च, पुर अग्रे, आकलयाम्बकु ददृशु ॥ १०८ ॥

उम (वन्द्यो) को इस प्रकार (१७।१०७) कहने रहनेपर ही अर्थात् कहनेके बाद

१ 'मूर्द्धवद्धा—' इति पाठान्तरम् ।

उत्काल ही देवोंने रथमें बैठे हुए कलि तथा दूसरे द्वापर (नलियुगाभिधातु देव तथा दूसरे द्वापरके अभिधातु देव) को देखा ॥ १०८ ॥

सन्दर्शोन्नेमद्भीव श्रीबहुत्वकृताद्भुतान् ।

तत्तत्पापपरीतस्तान् नाकीयान् नारकीव स ॥ १०९ ॥

सन्दर्शेति । नरक अस्य अस्तीति नारकी नरकस्थ जन इव, तै तै पापैः प्रहृष्टाद्यादिभिः पातकैः, परीतः परिवेष्टितः, स कलिः, श्रीबहुत्वेन सौन्दर्यवाहुत्वेन, कृताद्भुतान् जनितविस्मयान्, रूपानिश्चयेन दर्शकानां विस्मयोत्पादकानित्यर्थः । नाकीयान् स्वर्गस्थान्, सान् इन्द्रादीन्, उन्नमद्भीव उन्नमधर सन्, सन्दर्शं अवलोकयामास ॥ १०९ ॥

नरकस्थ प्राणीके समान जन-जन (मल्लाहस्यादि) पापोंमें व्याप्त उन कलिके अत्यधिक शरीर सौन्दर्य (वा-भरपत्ति-वाहुत्व) से विस्मित करनेवाले (इन्द्रादि) देवोंको ऊपर शिर उठाकर देखा । [मल्लाहस्यादि पापोंमें कण्ठपर्यन्त नरकमें डूबा हुआ प्राणी जिस प्रकार ऊपरकी ओर गर्दन उठाकर शरीर-सौन्दर्यमें विस्मित करनेवाले पुण्यात्माओंको देखा तथा अनुनाप करने हुए सोचता है कि पुण्यके कारण इनका शरीर सौन्दर्य ऐसा उत्तम है और पापके कारण हमारा ऐसा हीन है, उसी प्रकार कलिके भी देवोंको देखा तथा मनमें सोचा] ॥ १०९ ॥

गुन्म्रीडानलीढ प्रागभून्नमितमस्तक ।

स त्रिशङ्करिषाकान्तस्तेजसैव विद्धौजस ॥ ११० ॥

गुर्विति । स कलिः, प्राग् प्रथमः, दर्शनमात्रमेवैवार्थः । गुर्व्या प्रवक्ष्या, म्रीडया लज्जया, देवानां वमुप्यजनितया इति भावः । 'मन्दान् हीच्छा, म्रीडा लज्जा' इत्यमरः । अवलीढ प्रस्त, पश्चात् विद्धौजस 'इन्द्रस्य, तेजसा एव प्रभावेणैव, आक्रान्त अभिभूत सन्, त्रिदाहु इन्द्रतेजसा रश्मिन् अक्षित नमितमस्तकं सूर्यं महीयो राजविद्यो इव, नमितमस्तकं नवनतशिरा, अभूत् अर्पायत ॥ ११० ॥

वह (कलि) पहले (इन्द्रादिको देखते ही) अधिक लज्जित हुआ तथा (बादमें) इन्द्रके तेजसे ही आक्रान्त होकर त्रिशङ्कके समान नमस्तक हो गया (पाठा०—इन्द्रादि शुच्य देवता मेरे सामने क्या हैं ? इस भावनान) पहले (इन्द्रादिके विषयमें पश्चात्—शुच्य = वमिष्ठ मुनिके विषयमें) अधिक अवशायुक (किन्तु उनको देखते ही) इन्द्रके तेजसे आक्रान्त त्रिशङ्कके समान नमस्तक हो गया । [जिस प्रकार विद्वान्मित्रहो अतिवृत्तनाकर इच्छावशील राजा त्रिशङ्क सशरीर स्वर्गमें जाता हुआ इन्द्रके तेजसे ध्वस्त होकर नमस्तक हो गया (नीचे मस्तक करके गिरने लगा), उसी प्रकार कलि भी इन्द्रके तेजसे ही इच्छा नहीं रहते हुए भी लज्जित हो इन्द्र तेजसे ध्वस्त होकर नमस्तक

१ गया (इन्द्रको नमस्कार किया) । अर्थात्तरमें—जिस प्रकार गुरु वसिष्ठ मुनिके शापसे चण्डाल बना हुआ राजा विशङ्कु सनके विषयमें अवज्ञा युक्त हो विश्वामित्रने यश करकर सशरीर स्वर्गको ज्ञाता हुआ इन्द्रके तेजसे घबरा होकर नतमस्तक हो गया (जीचेकी ओर मस्तककर स्वर्गमें पृथ्वीमें गिरने लगा) उसी प्रकार कलि भी इन्द्रके विषयमें पहले अधिक अवज्ञा युक्त होकर भी बादमें इन्द्रके तेजसे आक्रान्त हुएके समान नतमस्तक हो गया अर्थात् इन्द्रको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया ॥ ११० ॥

पौराणिक कथा—पहले इक्ष्वाकुवंशीय राजा विशङ्कु पर क्रुद्ध उसके गुरु वसिष्ठ मुनिने शाप देकर उसे चण्डाल बना दिया, तदनन्तर सशरीर स्वर्ग जानेका इच्छुक उसने विश्वामित्रको यशमें आचार्य बनाकर यश किया और विश्वामित्रके मात्र बन्ने सशरीर स्वर्ग जाने लगा तो इन्द्रने स्वर्गमें रहनेका अधिकारी नहीं होनेके कारण उसे भूमिपर गिरनेका आदेश दिया और वह लटका मुसकर (नतमस्तक होकर) भूमिपर गिरने लगा । यह कथा महाभारतमें आयी है ।

विमुत्तान् द्रष्टुमप्येन जैनङ्गममिव द्विजान् ।

एष मत्त नहेलं तानुपेत्य समभापत ॥ १११ ॥

विमुत्तानिति । जनात् गच्छति इति जनद्रम चण्डाल मत्त । 'गमध्व' इति सज्ञाया खच्प्रत्यय इति चौरस्वामी । 'चण्डालप्लवमातङ्गद्विधात्रीतिजनद्रमा' इत्यमर । द्रष्टुम् ईदितुम् अपि, विमुत्तान् परावर्तिताननान्, द्विजान् विप्रादीन् इव, एन कलि, द्रष्टुमपि किमुत सम्भापितु स्मष्ट वेति भाव । विमुत्तान् तान् इन्द्रादीन्, मत्त मदान्ध, पृष काळ, सहेल सावक्षम् । 'ह्यल्लग्नशाविलास्यो' इति विध । उपेत्य समागत्य, समभापत सम्भापितवान् ॥ १११ ॥

चण्डालको देखनेके लिए भी (सम्भाषण तथा स्पर्श करनेकी बात तो बड़ी दूर है) विमुत्त द्विजोंके समान इस (कलि) को देखनेके लिए भी विमुत्त व । (इन्द्रादि देवों) के पास जाकर मनवाला वह कलि अवज्ञापूर्वक बोलने लगा । (अथवा पाठा०—देखनेके लिए भी विमुत्त द्विजोंके पास (मदभानमें) मतवाले चण्डालके समान देखनेके लिए भी विमुत्त उन इन्द्रादि देवोंके पास आकर उ मत्त कलि अवज्ञापूर्वक बोलने लगा) ॥ १११ ॥

स्वस्ति वास्तोष्पते । तुभ्यं ? शिखिन्नस्ति न खिन्नता ? ।

सखे काल । सुखेनासि ? पाशहस्त । मुदस्तप ? ॥ ११२ ॥

स्वस्तीति । वास्तोष्पते । वास्तो गृहचेत्रस्य, पनि अधिष्ठाता तत्समुद्भा, हे भुवस्पते । इन्द्र !, 'वास्तोष्पतिगृहमेघाच्छ च' इत्यस्मादेव निपातनादनुक्ति यच्चम् । 'इन्द्रो मरुत्वान्मघवा विद्वीजा पाकशासन । वास्तोष्पति मुरपनिर्वहाराति शची पनि ॥' इत्यमर । तुभ्यं स्वस्ति चेमम्, अस्ति कश्चित् ? इति शेष । 'नम

१ 'जनद्रम इव' इति पाठान्तरम् ॥

मन्त्राकी मर्यादा तोटना कौन बड़ी बात है ? (किन्तु ऐसा करनेपर) मन्त्रा तुझे अवगोणी (स्त्री-सम्भाग करे) स नष्ट ब्रजचर्य ब्रजवाला) सुनकर द्रोह करनेवाला जाने (और ऐस मानकर जैसा इचित हो वैसा करे अर्थात् तुम्हें दण्डित करें) । अथवा—ब्रज्जा तुमको अव काणा सुनकर तुम्हें द्रोही (वैर करनेवाला) जाने और जब तुम्हारे (नीच) भृत्य (काम कांक्षादि) भा मन्त्राकी मर्यादाको तोड़ते हैं तो तुम नहीं तोड़ोगे क्या ? अर्थात् तुम्हें मन्त्राकी मर्यादाको तोटना कोद अश्वर्यकी बात नहीं है । अथवा—तुम्हारे (नीच कामकोषादि) न योंको भी मन्त्राकी मर्यादाको नहीं तोड़ना चाहिये, फिर तुम्हें नहीं तोड़ना चाहिये (पर क्या कहना है अर्थात् जब तुम्हारे नीच भृत्योंको ही मन्त्राकी मर्यादा नहीं तोड़नी चाहिये तो तुम्हें तो कदापि नहीं तोड़नी चाहिये, (अन्यथा) वे ब्रज्जा तुम्हें अवगोणीं सुनकर द्रोह समझने पर दण्डित करण, इस कारण भी तुमको दमयन्तीके विवादकी बात फिर कभी भी नशा करना चाहिये) ॥ ११६ ॥

अतिवृत्त स वृत्तान्तस्त्रैलोक्ययुवगर्वनुत् ।

आगच्छतामपादान न स्वयंवर एव नः ॥ ११७ ॥

अतीति । भवतु तावत्, नैजोक्त्वे त्रिलोकमध्ये, ये युवान यावन्तस्तरुणाः, तेषां गर्वमुत् सौन्दर्यादङ्गारहन्ता, भैमीकर्तृकप्रत्याख्यानादिति भाव । स वृत्तान्त स्वयंवरप्रसङ्ग, अतिवृत्त अतीति । कथं स्वयां ज्ञातम् ? इत्याह—आगच्छताम् आपातामा, न, अस्माकं, स प्रसिद्ध, स्वयंवर एव स्वयंवरस्थानमेव, अपादानम् आगमनप्रियाया अवधिभूत, तत् एव आगच्छाम इत्यर्थ ॥ ११७ ॥

त्रिलोकीके (एक नलको छोड़कर शेष समस्त) युवकोंके अङ्गारको मर्दित करनेवाला वह (दमयन्तीका स्वयंवरमेव) समाप्त हो गया, (क्योंकि) वह स्वयंवर ही (बापन) जाने हुए दमयन्तीका अपादान (पाक ही में निश्चल अवधि) है । [हमलोग उसी स्वयंवरसे आ रहे हैं, अतएव वदाका वृत्ता १ हमें ठीक-ठीक ज्ञात है कि वह स्वयंवर समाप्त हो गया, इस कारण भी तुम्हें वहा जानेकी बात करना व्यर्थ है] ॥ ११७ ॥

नागेषु सानुरागेषु पश्यत्सु दिविपत्सु च ।

भूमिपाल नल भैमी वर साड्यवरत् वरम् ॥ ११८ ॥

नागेदिवति । सानुरागेषु, अनुरागयुक्तेषु, नागेषु, नागकुमारेषु, दिविपत्सु देवेषु च, पश्यत्सु अवलोकयत्सु, पश्यत तान् सर्वाननादृत्येत्यर्थ । 'पद्मो चानादरे' इति चकारात् अनादरे सप्तमी । सा भैमी दमयन्ती, वर नागाद्यपेक्षया श्रेष्ठम्, भूमिपाल चक्रवर्तिनम्, नल निपेक्षम्, वर घोडारम्, अववरत् वृणोतिस्म । वरयतेधोरादि कात् ईप्सायाम् अदन्ताल्लट्, अल्लोपत्वेनासन्वद्वावाहित्वदीर्घयोरभाव ॥ ११८ ॥

१ 'भ्रुवमपायेऽपादानम्' (पा सू ११३२४) इति पाणिन्युक्तेरिति भाव ।

२ 'नर' इति पाठान्तरम् ।

अनुरागपुत्र (वासुकी आदि) नागों तथा हमारे अर्धरूप इन्द्रादि चारों देवोंके देवने रहनेपर (अथवा—नागों तथा इन देवोंके अनुरागने साथ देवने रहने पर सदाका अनादर करके) उम दमयन्तीने श्रेष्ठ वर राग नन् (पाठा०—नर=पनुष, 'र=न्' के अन्तर होनेने 'नन्') को वर लिया है । [उम स्वयंवरोत्सवने वन्कु आदि नाग तथा हम लोग—इन्द्रादि देव—भी सम्मिलित होकर उने वरनेके लिए अनुरागने दत्तने ही रह गये, किन्तु मरका त्यागकर उसने श्रेष्ठ राजा नन्दको अन्तरी तरह वर कर लिया, जब वासुकि आदि देवों तथा इन्द्रादि—हम लोगोंको—ही उसने वर नहीं किया तो मर्यगेन्द्रवासी अप राजाओं के विषयमें कहना हो क्या है ? इसीमे हमने पहले (१७ ११७) कहा कि विष्णुकीके पुत्रों के अङ्गारको मर्दन करनेवाला स्वयंवर हो चुका] ॥ ११८ ॥

भुजगेशानमद्वेगान् वानरानितरान् नरान् ।

अमरान् पामरान् भैमी नल वेदगुणोज्ज्वलन् ॥ ११९ ॥

भुजगेति । भैमी दमयन्ती, भुजगेशान् वासुकिप्रमुखमहानागान्, अमद्वेशान् अपहृष्टपरिवृष्टान्, वैरूप्यादमनोज्ञाकृतीन् इत्यर्थ । इनरान् नलान् अन्यान्, नरान् मानवान्, नरेन्द्रान् इति यावन् । वानरान् मर्कटान्, चापञ्चनिर्गुणाध्याय्यं मर्कटपुत्रपान् इत्यर्थ । तथा अमरान् इन्द्रादीन् देवान्, पामरान् नीचान् । 'विवर्गं पामरो नीच' इत्यमर । वेद वेत्ति । 'विदो लोको वा' इति णञादेश । नल केवलं नलनृपतिम् एव, गुणोज्ज्वल गुणाढ्यम्, वेद इति पूर्वक्रियया अन्वय ॥ ११९ ॥

दमयन्ती (वासुकि आदि) नागोंको असुन्दर देव (कज्जुह) बाजा, (नन्देपर) ननुषीको (चञ्चलपुत्र, एव सद्गुणादीन होनेने) बानर (के नुष्ट), देवोंको नीच और नन्को पुर्णने उज्ज्वल नमस्तुती है (अथवा समझाया) ॥ ११९ ॥

इति श्रुत्वा स गोपान्ध परमश्रम युगम् ।

जगन्नाशिनिशाकट मुद्रस्तातुक्तवान् ॥ १२० ॥

इतीति । इति इदं, श्रुत्वा आकर्ष्य, परम श्रम इत्यर्थ । रोपेण क्रोधेन, अन्य इष्टिगतिहीन, हिनाहितविषेचनापरिशून्य इत्यर्थ । अज्ञानपरवश इति यावन् । श्रमम् श्रमम्, युग चतुर्युगमिदं पर्यं । स कलि, जगन्नाशिनिशा त्रिपुवनचक्र-कारिणी रात्रि, कालरात्रिरित्यर्थ । तत्र रद्र प्रथमकाले संहारमूर्ति शिष, तस्य मुद्रा इव मुद्रा चिह्नम्, आकार इति यावन् यस्य स तादृश सन्, नान् इन्द्रादीन्, अद् वदयमाग वाक्यम्, उक्तवान् कथितवान् ॥ १२० ॥

यह (१७ ११९-११९) सुनकर कोशान्ध (अथ एव सप्तमदिवारहने), उक्त श्रमार्थ भयङ्कर वह अग्निम युग अथात् कलि सप्तरनाशिनी रात्रि (कालरात्रि) में रुद्रके सम्मान (भयङ्कर) प्रकृतिवाञ्छा होता हुआ उन (इन्द्रादि देवों) से ऐसा (१७ १२१-१२१) बोला ॥ १२० ॥
कयाऽपि क्रीडतु ब्रह्मा दिव्या स्त्रीर्दीन्यत स्वयम् ।

कलिस्तु चरतु ब्रह्म प्रेतु चातिप्रियाय व ॥ १२१ ॥

यदुक्त 'पुनर्वक्ष्यसि' इत्यादिना श्लोकद्वयेन (१७।११५-११६) तत्रोत्तर मोक्षलुब्ध माह—कयाऽपीत्यादिना श्लोकद्वयेन । हे देवा ! ब्रह्मा स्रष्टा, कयाऽपि अगम्य याऽपीति भाव । 'प्रजापतिर्वै स्वा दुहितरमभ्यगात्' इति ध्रुते, क्रीडतु रमताम्, स्वयं यूयञ्च इत्यर्थ । दिव्या स्वर्गाया, स्त्री नारी, दिव्याभि वेश्याभिरिति भाव । 'कर्म च' इति वरणस्य कर्मत्वम् । दीव्यत क्रीडत, कलिस्तु अह पुनरित्यर्थ, व युष्माकम्, अतिप्रियाय अत्यन्तप्रीतिजननाय, ब्रह्म चरतु ब्रह्मचर्यमवलम्ब्य सिष्टतु, प्रेतु श्रियताञ्च ॥ १२१ ॥

(पहले कलि इन्द्रोक्त 'पुनर्वक्ष्यसि' इत्यादि (१७।११५-११६) श्लोकोंका उत्तर दे रहा है—) ब्रह्मा किसी स्त्री (अतिसुन्दरी 'गायत्री' आदि, अथवा—सम्भोगके अयोग्या होनेसे अग्राह्य नामवाली, अथवा—पुत्री सरस्वती) के साथ कोड़ा करे, (तुमलोग भी) दिव्य स्त्रियों (अतिशय सुन्दरियों, अथवा—स्वर्गाय रम्भा आदि अप्सराओं, अथवा—अतिसुन्दरी 'अहल्या' आदि परस्त्रियों) के साथ स्वयं (स्वच्छन्दतापूर्वक) कोड़ा करो, किन्तु कलि तुमलोगोंके अनिष्टाय प्रिय करनेके लिए ब्रह्मचर्य धारण करे और (अन्तमें) मर जाय । [पाठा०—कलि तो ब्रह्मचर्य धारण करे, या तुमलोगके अतिप्रियता (प्रसन्नता) के लिए मर जाय । अथवा—ब्रह्मा तथा तुम लोग तो बधेष्ट स्वच्छन्दतापूर्वक सुन्दरियोंके साथ भोग-बिलासकर आनन्द मनाओ और मैं कलि तुम लोगोंकी प्रसन्नता (मर्यादा रक्षा) के लिए दावज्जीवन ब्रह्मचारी रहूँ और अन्तमें मर जाऊँ । अथवा—ब्रह्मा तथा तुम लोग स्वच्छन्दतापूर्वक सुन्दरियोंके साथ आनन्द मनाओ, मैं कलि तुम लोगोंकी अतिशय प्रिय (दमयन्ती) के लिए मर जाऊँगा किन्तु स्वेच्छाचरण नहीं करूँगा इत्यादि प्रकारसे कलिके इन्द्रादिका उपहास किया] ॥ १२१ ॥

चर्येव कतमेव व परस्मै धर्मदेशिनाम् ? ।

स्वयं तत् कुर्वता सर्वं श्रोतु यद् विभित श्रुती ॥ १२२ ॥

ततः किम् ? तत्राह चर्येवेति । परस्मै अन्यस्मै, धर्मदेशिना स्वमुतादिगमना कार्यमिग्यादिरूपमाचारमुपदिशताम्, स्वयं तु आरम्भना पुन, यत् कर्म, ब्रह्महत्या गुरद्वारगमनादिरूपमित्यर्थ । श्रुती कर्णौ अपि, श्रोतुम् आकर्णयितुम्, विभित प्रत्यय । 'मियोऽन्यतरस्याम्' इति विग्रह्यादिकार । तत् सर्वं ब्रह्महत्यापारदायां दिकम्, कुर्वताम् आचरताम्, 'अहत्यायै चार' इति ध्रुते । व. युष्माकम्, इयम् एषा, चर्या आचार, रीतिरिति यावत्, कतमेव ? क्रीडशीव ? अवाच्या इत्यर्थ । स्वयमनाचारिणा युष्माकं परोपदेशवचन न ब्राह्मम् इति भाव ॥ १२२ ॥

दूमरेके लिए धर्मोपदेश करनेवाले तथा जिम कर्म (पुण्यादिस्मृति) का सुननेके लिए कान भी ढरते ह, उन सब कर्मोंको स्वयं करते हुए तुमलोगोंका आवरण ही क्या है ? [तुमलोग देवन् धर्मोपदेश करनेके लिए दूसरोंको उपदेश देन हा, किन्तु स्वयं ऐसे निम्न तम कर्म करते हो, जिन्हें सुननेसे कान भी टर जाने ह, अतः तुमलोगोंका उपदेश प्रदण करने योग्य नहा है] ॥ १२२ ॥

तत्र स्वयमरेऽलम्भि भुव श्रानपवेन सा ।

जगता ह्रीश्च युष्माभिर्लाभस्तुल्याभ एव व ॥ १२३ ॥

यदुक्तम् 'अतिवृत्त स वृत्तान्त' इत्यादिना श्लोकत्रयेण (१७११७-११९) सन्नोत्तर प्रपञ्चेनाह—तत्रेत्यादिभि 'षोडशभि । हे देवा । तत्र स्वयमरे दमयन्ती कर्तृकैप्सितपतिवरणे, भुव धी मूलोकलक्ष्मी, सा भमी, नैपत्रेन मलेन, अलम्भि लब्धा । लभेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङि 'विभाषा चिण्णमुले' इति विकल्पानुमागम । युष्माभिश्च भवन्तिस्तु, जगत त्रिलोकस्य, ही लज्जा, त्रैलोक्ये यावती लज्जा वर्तते सा इत्यर्थ । अलम्भि इति पूर्वोक्तवच्य । स्वर्लोकलज्जाकरमिदमवमानमिति भाव । एवञ्च व युष्माक, नलस्य देवानाञ्च इत्यर्थ । न च यूयन्वेति तेषा युष्माकमिति तदाग्रेकशेष । लाभ फलप्राप्ति, लक्षणाभ समानरूप एव, एकविध एव इत्यर्थ । श्री-हीति शकार-इकारयो विभिन्नतामात्रमभ्यस्तुत्यमिति भाव ॥ १२३ ॥

(अत्र कलि इन्द्रोक्त 'अतिवृत्त स वृत्तान्त' इत्यादि तीन (१७११७-११९) श्लोकों का उत्तर 'तत्र स्वयमरे' आदि नव (१७१२३-१३१) श्लोकोंसे देना है—) उम स्वयमरमें नलने समारकी लक्ष्मी (दमयन्ती) की ओर तुमलोगोंने समारकी (भववा-ससारसे) लज्जाको प्राप्त किया, (इस प्रकार) तुमलोगों (तुम इन्द्रादि देवों तथा नल) का लाभ समान ही है । [नलने समारकी लक्ष्मीरूपा दमयन्तीको पाया और तुमलोग उमे नहीं पाने के कारण समारकी लोगोंने लक्ष्मा प्राप्त किये अर्थात् समारमें लज्जिन हुए, इन प्रकार 'श्री' तथा 'ही' दोनोंमें वैवल 'इकार-इकार' का भेद है, शेष लाभ दोनों पक्षोंका समान ही है, अर्थात् स्वयमरमें आवर मा तुमलोगोंके सामने ही नलने दमयन्तीको प्राप्त कर लिया तथा तुमलोग उमे नहीं पानेसे अत्यन्त लज्जिन हुए, अतएव तुमलोगोंका दर्प व्यर्थ है] ॥ १२३ ॥

दूरान्न प्रेक्ष्य यौष्मांकी युक्तेय वक्रव्रजणा ।

लज्जयैवासमर्थाना मुरमास्माकमोक्षतुम् ॥ १२४ ॥

१ 'नधभि' इत्येवोचिनम्, षोडशश्लोकाना मध्ये श्लोकत्रयेण (१७१३२-१३४) सरस्वतीभाषणवर्णनात् । २ 'युष्माकम्' इति पाठ साधु' इति 'प्रकाश'कार' ।

३. 'लज्जयेवा—' इति पाठान्तरम् ।

दूगदिनि । हे देवा ! दूरात् विप्रङ्गदेशात्, न अस्मान्, प्रेक्ष्य दृष्ट्वा, युष्माकम्
 द्वयं योष्माकी भवदीया । 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्याम्' इत्यण्प्रत्यये 'तस्मिन्नणि च'
 ण्यादिना युष्माकादेशे 'टिड्ढाणञ्' इत्यादिना ङीप् । इयम् एषा, वक्त्राणां मुखा
 णा वक्त्राणां रङ्गोरगम्, निर्येडमुपस्थमिग्यर्थ । 'तत्करोति—' इति ष्यन्तात् युच् ।
 लज्जया एव ब्रह्मावमेनेव, दमयन्त्या अवृतत्वादिति भावः । अस्माकम् इदम्
 अस्माकम्, योष्माकीवत् प्रकिया । मुग्धम् आननम्, ईदितुं दृष्टम्, भ्रममर्था
 त्वम्, जशक्यानां युष्माकमिति शेषः । अथवा समासान्तर्गततया गुणोभूतस्य
 चाष्माकात्पत्र युष्मदङ्गदस्य चित्तेऽगम्, युक्ता उचिता ॥ १२४ ॥

(आने हुए) हमलोगोंको दूरसे ही देखकर लज्जाने हो (पाठा०—मानो लज्जाने)
 हमलोगोंके मुखको देखनेके लिए भ्रममर्त तुमलोगों को यह विमुखा (हमलोगोंके सामनेसे
 मुख फेर लेना) उचिन हो है । [दमयन्तीने स्वयंवरमें गये हुए तुमलोगोंका वरण नहीं
 किया है, अवरत्न तुमलोग अनिशय लज्जिन हो और इसी कारण आने हुए हमलोगोंको दूरसे
 ही देखकर भरना मुख फेर लिये हा यह तुमलोगोंके लिए उचिन हो है । लोकमें भी कोई
 अनिशय लज्जिन व्यक्ति परिचिन जनका आने हुए दूरसे ही देखकर मुख मोड़ लेना है ।
 यद्यपि देवीने होन कलिको नहीं रखनेके लिये मुख फेर लिया था (१७ १११), तबहि
 उनका कलि अन्यथा समर्पन करने हुए इन प्रकार कर रहा है] ॥ १२४ ॥

स्थित भवद्भि पर्यद्भि कथं भोस्तदसाम्प्रतम् ।

निर्दग्धा दुर्विदग्धा किं सा दृशा न अवलत्कुधा ? ॥ १२५ ॥

स्थितमिति । ओ देवा ! पर्यद्भि अवलोकयद्भि, नलवर्गमिति शेषः ।
 भवद्भि युष्माभि, कथं केन प्रकारेण, स्थितम् ? उदासितम् ? भावे क्त । तद्
 ओदासोग्यम्, असाम्प्रतम् अपुक्तम् । किं तर्हि तदा कार्यम् ? तदाह—दुर्विदग्धा
 दुर्विनीता सा भर्मी, उवत्तकुधा दीप्यमानकोपया, कोपप्रवर्धितया इत्यर्थः । दृशा
 दृष्ट्वा, किं कथं, न निर्दग्धा ? न भवद्भ्यो कृता ? इदमेव उचिता इत्यर्थः ॥ १२५ ॥

हे देवी ! उसे (नलवर्गको) देखने हुए तुमलोग क्यों उदासीन रहे । (अवका—कैसे
 ठहरे रहे) ? यह अनुचिण हुआ, दुर्विनीत उस (दमयन्ती) को कोपसे जलती हुई दृष्टिसे
 भस्म क्यों नहीं कर दिया । [जिस दमयन्तीने तुमलोगोंका त्यागकर सामान्यतम मनुष्य
 नलका वरण किया और उसे तुमलोग चुनचाप उदासीन होकर देखने रहे, सशक्त होकर
 भी क्रोधमे भरम नहीं कर दिया, यह उचित नहीं किया] ॥ १२५ ॥

महायशाननाहत्य महान्तमभिलापुका ।

स्वीचकार कथङ्कारमहो ! सा तरल नलम् ॥ १२६ ॥

दाह्यवे हेतुमाह—महेति । महान्तम् उत्कृष्टपुरुषम्, चरमिति शेषः । अभिला-
 पुका कामयमाना । 'ल्यपत—' इत्यादिना उक्छप्रत्यय, 'न लोका—' इत्यादिना

पट्टीप्रतिषेध । सा भैमी, महावशान् उत्कृष्टकुलान्, सर्वलोकवरेण्यप्रजापतिकश्यप
सुतान् इति भाव । युष्मान् इति शेष । नहन वेणून् च । 'वशो वेगौ कुन्ने वर्गे'
इति विश्व । अनाद्यय अवधीर्य, तरल चपलम्, नल नलस्य राजानम्, पाटगलास्य
पुत्रतृणविशेषश्च । 'नल पोटागले राशि' इति विश्व । कथङ्गार कथम् इत्यर्थ ।
'अन्यधेवकथम्—' इत्यादिना जमुलप्रत्यय । स्वावकार ! वने ? अहो ? इत्याश्चर्यम् ।
प्रखरनदीस्रोतसा नीयमानस्य वेण्ववलम्बन परित्यज्य तृणावलम्बनवदुपहास्यमिदं
चेष्टितमिति भाव ॥ १२६ ॥

(कुल शील आदिसे) बड़ेको चाहनेवालों (दमयन्ती) महावश (कश्यप मुनिके कुलमें
उत्पन्न होनेसे श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न, पञ्चा०—बड़े वाम) आनल'गोंका छोटकर चञ्चल (मनुष्य
होनेसे चपल स्वभाववाले, पञ्चा०—थोड़े हवामे भा दिलनेवाले) नल (निषधेश्वर,
पञ्चा०—'नल' नामक तुग-विटो) का किम प्रकार स्वीकार किया ? यह आश्चर्य है ।
[बड़ेको चाहनेवालों व्योक्तका बड़ वासको छोड़कर चञ्चल 'नल' नामक तुगको स्वीकार
करनेके समान श्रेष्ठ कुलको चाहनेवालों दमयन्तीका कश्यप मुनि-जैने श्रेष्ठकुलमें उत्पन्न तुम
देवोंको छोड़कर हीन पुंगुवाले मानव 'नल' को दमयन्तीका स्वीकार करना आश्चर्यजनक है
अतएव उपहासास्पद है] ॥ १२६ ॥

भवाद्दशैर्दिशामीशैर्मृग्यमाणा मृगेश्वणाम् ।

स्वीकुर्वाण कथ सोढ ऊनरीढस्तृण नल ? ॥ १२७ ॥

भवाद्दशैरिति । भवाद्दशै अवद्विध, दिशाम् ईशै दिग्गलै, मृग्यमाणा काम्य-
मानाम्, मृगेश्वगा हरिगलोचनानाम्, भेमीमिति शेष । स्वीकुर्वाण गृह्णन्, अत एव
ऊनरीढ भवना कृतावज्ञ । 'राडाऽवमाननाऽपज्ञा' इत्यमर । 'कृपनाड' इति
पाठे—चनितलज्ज, दमयन्तीकर्तृ कप्र यादयानात् युष्माननाट य नलर्त्तृकदमयन्ती-
ग्रहणाच्च लज्जा इति बोध्यम् । तृण तृणकल्प, नल नैषध, कथ केन प्रकारेण
सोढ ? क्षान्त ? अवद्विरिति शेष । महद्भि हि परिभवो न सोढव्य इत्यर्थ ॥ १२७ ॥

आप लोगों—जैने दिक्पालोंने कामिना मृगलचनो (दमयन्ती) को स्वीकार करते
हुए (अत एव आप लोगोंको) अवज्ञान (पाठा०—नजिन) किये हुए तुग (के समान
निरसार) ल'को किम प्रकार सहन किया ? । [समर्थ दिक्पाल होते हुए भी कामिनीको
स्वीकार कर आप लोगोंकी अवज्ञा करनेवाले निवन्त ल'को आप लोगोंने क्षमा कर दिया यह
वचन नहीं किया] ॥ १२७ ॥

दारुण कूटमाश्रित्य शिखी माश्रोमयन्नपि ।

नावहन् किं तदुद्धाहे कूटमाश्रिक्रियामयम् ? ॥ १२८ ॥

दारुण इति । अय पुरोवर्ती, शिखी शिखावान् अग्नि, दारुण काष्ठस्य, कूट
राशिम्, आश्रित्य अवलम्ब्य, अन्यत्र—दारुण पापकार्यकारित्वात् मूककर्मा, पुरुष

इति शेष । कूट कपटम् , आश्रित्य अजलभ्य, साक्षीभवनपि प्रत्यक्षदृष्टा सन् अपि, अग्निसाक्षिने विवाहे व्यवहारे च माक्षीभवन्नपि इति भाव । तदुद्वाहे तयो दमयन्ती नोटा किन्तु अन्देनोटा इत्याद्यनृतवचनव्यापारमित्यर्थ । किं कथम् , नावहत् ? नावलग्नम् ? क्षिप्रिनस्नाह्यकूटसाक्षिदाने च भवता दमयन्तीलाभ म्यादेव यत्, कूटसाक्षी परकीय वस्तु अन्यगम दापयतीति भाव ॥ १२८ ॥

दारुण (प्रवृत्तिन द्वानेस मयङ्कर, पञ्चा०—कूरकर्म करनेवाला) यह अग्नि कूट (पाष्ठराशि, पक्षा०—कपट) का भाग्यकर साक्षी होता हुआ भी उस विवाहमें (अपवा-
उन दानोके, या—उम नन्द, या—उम दमयन्तीके विवाहमें, पञ्चा०—उस साक्षिणके निर्वाह करनेमें) कपट साक्षीका कायक क्यों नहीं ग्रहण किया ? [जिस प्रकार कूरकर्म पुरुष कपटपू०क विज्ञा व्यवहार (मुकम्मे) में साक्षी होकर भी उसके निर्वाह (यथार्थत्वका पूरा) करनेमें कपटी साक्षी बनकर दूसरेको वस्तु दूसरेको दिलवा देता है, वही प्रकार दारुण यह अग्नि काष्ठ-राक्षसी पाकर उनके विवाहमें साक्षी होता हुआ भी कपटी साक्षी का काम क्यों नहीं किया ? अर्थात् यह क्यों नहीं कह दिया कि 'दमयन्तीका नलके साथ विवाह नहीं हुआ है, किन्तु इस (आप लोगोंमेंसे किसी एक) देवके साथ हुआ है, यदि वह ऐसा कहता तो अवश्य ही वह दमयन्ती आप लोगोंमेंसे किसी एकको प्राप्त हो जानी, परन्तु इसने ऐसा नहीं किया, अतएव अत्यन्त अनुचित किया] ॥ १२८ ॥

अहो ! मह सहायाना सम्भूता भवतामपि ।

अमैत्रास्मै कलङ्काय देवस्त्वेवामृतयुते ॥ १२९ ॥

अहो इति । ओ देवा ! मह सहायाना तेजस्विनामपि, भवता युष्माकम्, अमृतयुते सुधाकरस्य, देवस्य इन्द्रो इव, क्षमा क्षाम्ति एव, अन्यत्र—क्षिति एव 'क्षितिर्वात्यो क्षमा' इत्यमर । अरमे इन्द्रादिदेवेषु सत्स्वपि दमयत्या नलो वृत इति स्त्रीकृतपरिभवरूपाय, कलङ्काय अपवादाय, अयज्ञसे इत्यर्थ । अन्यत्र—कलङ्काय भङ्गाय, कृष्णवर्गचिह्नविशेषायेत्यर्थ । अन्धे श्यामिका भूच्छायेवेति केचित् । 'कलङ्कोऽङ्गापवादयो' इत्यमर । सम्भूता सज्जाता, इत्यहो ! खेदे । क्षमाया गुण-भूतत्वेऽपि समयविशेषे क्षमाकरणात् स्त्रिय अपि न गणयन्तीति भाव ॥ १२९ ॥

तेजस्वी भी आप लोगोंकी (अथवा—तेजस्वी आप लोगोंकी भी) क्षमा ही उस प्रकार इस कलङ्क (दमयन्तीने इन्द्रादि देवोंका त्यागकर नलको वरणकर लिया देने अपयश, या—नलकृत आपलोगोंके अनादर, अथवा—लज्जाके कारण हमलोगोंके समक्ष विमुखता ग्रहणरूप कलङ्क) के लिये हुई, जिस प्रकार तेजस्वी देव चन्द्रमाको कलङ्क (कालिमा) के लिए पृथ्वी होती है, अहो, खेद है । [यदि आप लोग क्षमा नहीं करते तो अपने तेजसे नलको पराभूतकर इस प्रकार कलङ्कित नहीं होते, अतएव गुणरूप भी क्षमा अस्था-

नर्मे प्रयुक्त होनेने दोषाशयक ही हुई । चन्द्रमार्गे श्रवणको छ या ही कच्छुकीने इष्टिगोवर होनी है, ऐसा ज्योति शास्त्रका सिद्धान्त है] । १२९ ।

मा तत्रे य त्मुत्पृष्य मह्यमोर्थात्पुनर्यदि ॥ १३० ॥

ब्रह्माग नवान्नस्मस्माच्छ्रद्धायाऽऽच्छिन्नमस्ति ताम् ॥ १३० ॥

मेति । हे देवा ! सा सेमा, य नष्टम्, वने पतित्यन इतवती, तम् अपराधिने त नष्टम्, उत्तुष्ट्य विहाय, किं किमयम् मह्यं मा प्रणि । 'ऋतुदुह—' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । इष्ट्यानुप अक्षान्निभाज, कोषपरवशा इत्यर्थ । इयं ? भवय ? द्रुम कथयन्, यूयमिति शेष । अन्तु मावत्, आग सद्यन् अपराधमन्दिहान्, भव दत्ताद्वररूपदोषाकरादित्यर्थ । तस्मात् नष्टात्, अथ अस्मिन्नेव अहनि, ता भैमीम्, दृष्टना कपटेन, आच्छिन्नमस्ति आहरामि, जानयामीत्यर्थ, अहमवति शेष । सामीप्ये वर्तमाननिर्देश ॥ १३० ॥

जम (दमयन्ती) ने जिसको वरना किया उस (अपराधी नर) को छाड़कर तुम लोग मेरे साथ क्यों दण्डांतु हा ? करो, अपराधके धर (आप लोगका भनाकर दमयन्तीके साथ विवाह करनेसे महापराधी) हम (नर) मे उस (दमयन्तीको) कपटम भाज (भैमी) छाता हूँ (अथवा—हमलें गों (तुमलोगोंका तथा मेरा भी) की अपराधिता (हमलोगोंका त्यागकर नष्टके साथ विवाह करनेके कारण हमलोगोंके साथ महान् अपराध करनेवाला) उस (दमयन्ती) का कण्टके द्वारा नष्टन (पृथक् कर) आइ छाता हूँ । हम पक्षमें 'आग सज' शब्द 'ताम्' का विशेषण तथा 'न' शब्दका प्रत्यक् पद मानना चाहिये) ॥ १३० ॥

यतश्च महकत्तु मा पाञ्चाली पाण्डवेरिव ।

साऽपि पञ्चभिस्माभि सविभज्यैर नुष्यताम् ॥ १३१ ॥

तत् किमस्माकम् ? अत आह—यतश्चमिति । अत्र 'ततश्च' इति पदमध्याहृत्य पूर्वश्लोकेन सह सद्गति रचनीया, ततश्च कपटेन दमयन्त्यानयनानन्तरमित्यर्थ । पाञ्चाली द्रौपदी, पाण्डवे युधिष्ठिरादिभि पञ्चभिरिव, मा भैमी अपि, अस्माभि पञ्चभिरिव मया तथा युष्माभि चतुर्भिश्च । त्यदाद्येकशेष सविभज्य विभाज कृत्वा, पृथक् पृथक् समय निर्दिश्य इत्यर्थ । नुष्यता रम्यतामिति यावत् । अतो मा सहकत्तु भैम्यामयने महायामवितुम्, यतश्च चेष्टश्चम्, दमयन्त्यानयने माम् अनुमन्यश्चम् इति भाव ॥ १३१ ॥

(इस कारण) पाँच पाण्डवोंन जिस प्रकार समय-विभागकर द्रौपदीका सम्भाग किया, उसी प्रकार हम पाँचों भा समय-विभाजकर हम (दमयन्ती) का सम्भोग करें, हमके लिये तुमलोग यत्न करो अर्थात् मुझे नष्टन कपटपूर्वक छानकर दमयन्तीका लानेके लिए सहायता करा (वा—अनुमति दो) । [हम प्रकार दमयन्तीको प्राप्त करनेपर तुम लें गोंको भा निराश नहीं होना पड़ेगा, नच युधिष्ठिरादि पाँच पतिवोंके साथ समय-विभा-

अकरगस्तृताथं किं करिष्यतीत्याशङ्क्याह—तृप्ते इति । मुरा । हे देवा ! वृत्त गते, कर्मणि भमीवरणक्रियायाम्, किं कुम् ? किं सम्पादयाम् ? इदानीं न किञ्चित् कर्तुं शक्नुम इत्यर्थः । यत् यस्मात्, तदा नल्काले, तत्र स्वयवरो, न अभूम नास्म इत्यर्थः । वयमिति शेषः । भवतु, इदानीम् अधुना, न अस्माकम्, अलोचित भग्या नले तृतेऽपि एतन्मयोपयोगि, आलोचित विचार पुनः । भावे क् । शृणुन आरुणयत ॥ १३६ ॥

(दमयन्ती-पारणयरूप) कर्मके समाप्त हो जानेपर हम क्या करें ? (परन्तो दमयन्ती के साथ मुझे कुछ नहीं करना चाहिये, इसीमे तद्द्वयक इच्छाओं में से छोड़ दिया है), जो हम उस समय (स्वयवरकालमें) नहीं थे (यदि हम स्वयवरकालमें उपदिश्य होते तो दनराजीस विवाह नल्के साथ कदापि नहीं होने देने, इस कारण 'यत् न होयामि' नीतिके अनुसर अनौत्तक विषयमें पलायन करना म्थर्थ है), कि तु हे देवो ! इस समय समयानुसार मेरे विचारको तुमलोग सुनो ॥ १३६ ॥

प्रतिज्ञेय नले जिज्ञा । क्लेशिज्ञायना मम ।

तेन भैमीञ्च भूमिञ्च त्याजयामि त्यजामि तम् ॥ १३७ ॥

प्रतिज्ञेति । जिज्ञा । हे विबुधा ! नले नलविषये, कले कलियुगाधिदेवस्य, मम मे, ह्यम एषा, प्रतिज्ञा शपथ, विज्ञायनाम् अवधार्यताम् । तामेवाह—तेन नलेन, प्रयोज्येन । भैमीञ्च दमयन्तीञ्च, भूमिञ्च राज्यञ्च, त्याजयामि विसर्जयामि, एषञ्च त नल्म्, त्यजामि आरमाधीनोकरोमि, उभयत्र भविष्यत्सामीप्ये वर्तमान प्रथय ।

हे विद्वान् (देवो) । नल्के विषयमें मुझ कलिकी इस प्रतिज्ञाको तुमलोग मालूम करो कि—'मे नल्से दमयन्ती तथा पृथ्वी (राज्य) को शीघ्र ही छोड़वाऊंगा, (तथा हम प्रकार) उस (नल्) को जीत लूंगा' ॥ १३७ ॥

नैषधेन विरोध मे चण्डतामण्डितौजसः ।

जगन्ति हन्त गायन्तु रवे कैरववैरवत् ॥ १३८ ॥

नैषधेनेति । चण्डतामण्डितौजसः क्रौर्योपस्कृततेजसः, मे मम कले, नैषधेन नलेन सह, विरोध वैरम्, रवे सूर्यस्य, वैरव कुमुदे, वैरवत् पात्रुनातुल्यम्, जगन्ति लोका, गायन्तु उत्तेज्यन्तु इत्यर्थः । हन्तेति हर्षे ॥ १३८ ॥

चण्डता (दमयन्ती तथा राज्यको छुड़ाकर पीडित करनेसे क्रूरता) से सयुक्त तेजवाले मेरे नल्के साथ विरोधको तीनों लोक उस प्रकार गावें (उच्च स्वरसे कहें), जिस प्रकार ताड़नामे सयुक्त तेजवाले सूर्यके कुमुदोंके साथ विरोधको तीनों लोक गाते हैं, हन्त-खेद है ! (अथवा—इस प्रकार नल्का विजय करनेसे हर्ष है) । [यद्यपि हीनतेजा होनेसे अव्योग्य नल्के साथ मुझे विरोध करना तीनों लोकोंमें अपयश ही होगा तथापि खेद है कि—नल्के

साथ मुझे वसी प्रकार विरोध करना ही पड़ेगा, जिस प्रकार दीनबन्ध कुमुरके साथ प्रचण्ड तेजस्वी मूर्ध विरोध करते हैं ॥ १३८ ॥

द्वापर मातुसारेण तद्विकारमदीनिषन् ।

प्रणीय श्रवणे पाणिमयोचन्नमुचे रिपु ॥ १३९ ॥

द्वापर इति । द्वापर कले सहचारितृतीययुगाधिदेव, मातुसारेण 'मातु' इति द्वादशचारणेन, तस्य कले, विकार प्रकृपम्, अदादिपत् अवावृधत् । दीप्यतेऽपि चटि 'अ जभामभापदीपजोऽ—' इत्यादिना विकल्पपादुपधाहस्व, 'नार्थो लघो' इत्यस्या मदीय । अथ ममुचे रिपु इन्द्र, श्रवणे कर्णे, पाणिं करम्, प्रणाय निधाय, पाणिभ्यां कर्णौ निधाय इत्यर्थः । अबोधत् अबोधयत् ॥ १३९ ॥

द्वापर (तृतीय युगके अग्निष्ठावृ देव) ने साधुकारसे (तुम्हारा विचार बहुत ठीक है, ऐसा कहनेमें) उस कठिने (जल्के साथ विरोधरूप) विकारको प्रदात कर दिया । फिर इन्द्र (उस वचनको श्रवण करनेमें भी दोष मानने हुएके समान) कानपर हाथ रखकर अर्थात् जानाको हाथोंसे बन्दकर बोल ॥ १३९ ॥

विस्मेयमतिरम्मासु माधु वैलक्ष्यमीक्षसे ।

यदनेऽल्पमनन्त्याय तदस्ते ह्रियमात्मने ॥ १४० ॥

विस्मेयेति । हे कले ! विस्मेयमिति विस्मयनीयबुद्धि, भवमिति शेष । अस्मासु वैलक्ष्य सङ्गतत्वम्, ईदमे पश्यसि, साधु 'अगतो होस्तु युष्माभि' इति यदुक्तं तत् साधु उक्तम् इत्यर्थः । कुन ? अनन्त्याय महाह्राय, अवप स्ताकम् यत् दत्ते अर्पयति, तत् अवपदत्तम्, आत्मन अवपदाग्रे जनाय, द्विय लज्जाम्, दत्ते जनयतीत्यर्थः । अधिकदाग्राह्राय अवपदानस्य दातुरेव होकर वात् महने नलाय कीर्त्याधिकमवपमेव प्रदत्तमित्यस्माक लज्जा युक्तेवति भावः ॥ १४० ॥

विस्मयनीय बुद्धि तुम को हमलोगों में लज्जाको देखने हो वह ठीक ही है (हमारेके हृद्गतगामिप्रायका जाननेके कारण तुम्हारी बुद्धि हमलोगोंका विस्मय करती है) । बड़ेके लिये वो प डा (या तुच्छ पदार्थको) दिया जाता है, वह (तुच्छ पदार्थका देता ही) अपने (दाताके) लिए लज्जाको देता है अर्थात् बड़ेके लिए तुच्छ पदार्थ देनेसे दाताको लज्जित होना पटना है । [नल बहुत महान् है, आ एव उनके लिए हमलोगोंको कोर महान् पदार्थ देना चाहिये था, किन्तु हमलोग क्या नहीं करके उनके लिए दमयन्तीको, कुछ काँतिको तथा बरोंको हा दे सके हैं, अत एव हमलोग इस तुच्छदानके करनेसे वास्तविकमें लज्जित हो रहे हैं और हमलोगोंका लज्जित होना तुमने पहचान लिया, इसलिये तुम्हारी पराश्रयवेदिनी बुद्धिपर हमलोगोंको विस्मय हो रहा है । इस प्रकार कहकर इन्द्रने नलके महत्त्वको अत्यधिक बढ़ा दिया । अथवा—अनल्प (जिसकी अपेक्षा छोटा नहीं है ऐसा अर्थात् अनिशय तुच्छ) तुम्हारे लिए जो हमने 'कस्कोऽयं पर्याभर्माणि कृण्वति (१७.८३)' इत्यादि थोड़ा-सा

वपालम्भ दिया, अतः एव हमें लज्जा हो रही है, क्योंकि अधिक वपालम्भ देनेयोग्य तुम्हारे लिए थोड़ा वप लम्भ देनेसे हम लज्जित हैं तथा इसे तुमने पहचान लिया, अतः पराशय-वेदिनी तुम्हारी बुद्धि विस्मय उत्पन्न करती है । अपरा—अनिहोनेके लिए जो कुछ थोड़ा दिया जाता है, वह देना दायाके लिए लज्जाको देता है, प्रकृतमें सम्भाषणके भावयोग्य तुमको हमन जो वपालम्भ दिया, वास्तविकमें वैसा करना भी अनुचित होनेसे हम लज्जित हो रहे हैं और तुमने इसको जान लिया, जन तुम्हारी उक्त बुद्धिपर हमें विस्मय हो रहा है ॥ १४० ॥

फलसीमा चतुर्वर्गं यच्छताशऽपि यच्छति ।

नलस्यास्मदुपघ्ना सा भक्तिभूताऽवकाशनी ॥ १४१ ॥

तत् किमत आह—फलेति । यच्छताश यस्या भक्ते, क्षततमाश अपि । सङ्ख्याशब्दस्य वृत्तिविषये पूरणार्थत्वं त्रिभागवत् । फलसीमा फलावधिम्, चरम फलरूपमिति यावत् । चतुर्वर्गं धर्मार्थकाममोक्षरूपपुरुषार्थचतुष्टयम्, यच्छति ददाति नलाय दातुमर्हतीत्यर्थः । 'पात्रा—' इत्यादिना यच्छादत् । वयम् उपघ्न नाश्रय यस्या सा अस्मदुपघ्ना अस्मद्विषया, 'उपघ्न आश्रय' इति निपातः । नलस्य नैषधस्य, सा प्रहर्षता गता, भक्ति सेवादिशेष इत्यर्थः । अवशः शून्यम् ईष्ट इत्यवकाशे निष्फला । 'सुख्यज्ञानी गिनिस्नाच्छीक्रे' इति गिनि श्रुत्वेभ्यो ङीप् इति ङीप् । 'धन्व्योऽफलोऽवकाशे च' इत्यमरः । भूता सजाता, नलस्यास्मद्विषयः भक्ते क्षततमाशेनापि सत्प्रेरेस्माभि चतुर्वर्गोऽपि नलाय दातुं शक्यते, किन्तु चतुर्वर्गादधिकस्य फलस्याभावात् प्रकृष्टायास्नद्धक्तेरहितफलस्य दातुमसामर्थ्यात् तद्वक्ति निष्फलैव सजातेत्यर्थः । तद्वक्ते चतुर्वर्गदानरूपम् अपि फलं न पर्याप्तं किं पुनर्भौमीदानमिति श्रुतिनाम् अस्माकं युक्ता एष ही इति भावः ॥ १४१ ॥

जिस भक्तिका शतांश भा फलको चरम नामा चतुर्वर्ग (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) को (नलके लिए) देनेके लिए समर्थ हैं, हमलोगोंमें का गया वह नलको भक्ति निष्फल हो गयी । [अपनेमें की गयी नलभक्तिके शतांशमें भी भक्ति सन्तुष्ट होकर हमलोग उनके लिए सर्वोत्तम फल चतुर्वर्ग दे सकने थे, किन्तु इतना अधिक की गयी नलहून भक्तिमें भी हमलोगोंने उसके लिए केवल दमयन्तीको कुछ कोनि (पूर्वाङ्गोक्तत्वं) तथा वरों को (१४७०-०१) हा दिया, अतः एव नलकी भक्ति निष्फल हो गयी । अवकाश—जिस भक्तिके शतांशमें भी वशीभूत हमलोगोंसे प्राप्त—सामर्थ्य नल दूसरोंके लिए चरम फल चतुर्वर्गको भा देना (दे सकना) है, वह भक्ति (तदधिक फल नहीं दे सकनेमें) निष्फल हो गयी । अथवा पाठा—वह नल भी चतुर्वर्गको देने हुए हमलोगोंके लिए किये जाने हुए कर्मोंके चरम फलको नलके रूपमें देता है, उसीके फिर प्रत्यर्पण करने (लौटाने) से नल तथा हमलोगों

१ 'यच्छतो सोऽपि' इति पाठान्तरम् ।

में समानता हो रह गयी, किन्तु नलकी हमलोगोंमें निगमिष्ठव मक्ति कर्मनाशना स्थापन करनेमें फलान्तिमन्त्ररहित होनेके कारण निष्फल हो हो गयी, इस कारणने हमलोगोंका लज्जन होना उचित हो है] ॥ १४१ ॥

भव्यो न व्यवसायस्ते नले साधुमतौ कले ।

लोकपालविशालोऽसौ निषघाना सुधाकर ॥ १४२ ॥

मध्य इति । हे कले । साधुमतौ रागद्वेषादिशून्यत्वात् पवित्रचेतसि, नले नेपथे, ते तत्र, व्यवसाय चेषितम्, विरोधकरणोद्योग इत्यर्थः । न मध्य न श्रेय, न परिणामशुभावह इत्यर्थः । कुतः ? निषघामा निषघाटयजनपक्षानाम, सुधाकर चन्द्र, आह्लादकत्वात् चन्द्रसरसा इत्यर्थः । अयौ नल लोकपालविशाल लोकपाला इन्द्रादप्यो दिक्पाला इत्यर्थः । तद्वत् विशेषेण जालने शोभते इति तादृश, तद्वत्त्वात् इति भावः । अतः तदपकारो न परिणामश्रेयश्चर इति निष्कर्षः ॥ १४२ ॥

हे कले । एतदुद्धिमान् नलमें तुम्हारा उद्योग (विरोध करना) श्रेष्ठकष्ट-द नहीं है । (अथवा प्रथम पाठा०—हे अमाधुबुद्धे कले । मन्त्रे । द्वितीय पाठ—हे नल । नलमें तुम्हारा उद्योग सधु (सज्जन-सम्मत) तथा श्रेष्ठकष्ट-द नहीं है ।) निषघाटय निषघाटयाना सुधाकर (आह्लादक होनेसे चन्द्ररूप) यह (नल) लोकपालोंके समान विशेषतः न शोभनशील है । (इस कारण ऐसे महापुरुषके अपकारकी वस्तु मानना श्रेष्ठकष्ट देनेवाला नहीं है) ॥ १४२ ॥

न पर्याप्त कलेस्तस्मिन्नवकाश क्षमाभृति ।

निचितात्त्रिलघर्मे च द्वापरस्योदय वरम् ॥ १४३ ॥

नेति । त्रिंश, क्षमाभृति धृतिवीपाले चान्तिशीले च, तस्मिन् नले, कले कलि-युगाधिपते कलहस्य च । 'कलि की कलिकाया न शूराञ्जिकलह युगे' इति मेदिनी । अवकाश छिद्रम्, आक्रमणावसरमित्यर्थः । वयं न पर्याप्त न इक्ष्वाकर्षण भूमि पालयत चान्तस्य कुतः कलिदोष कलहो वेति भावः । किञ्च, निचिता उपाञ्जिता-निश्चिताश्च, अस्तिष्ठा कृत्स्ना, धर्मापुण्यकर्माणि उपनिषदश्च, वेदस्य गृह्यार्था इत्यर्थः । येन तादृश, नले द्वापरस्य भवन्मित्रस्य वर्तायुगस्य, मन्देहस्य च, उदयम् आत्ममणावकाश प्रकाशश्च, वयं न, पर्याप्त । 'द्वापरौ युगसदधौ' इत्यमरयादयो । चान्तिशीले नले कलहस्यावकाशो न, निश्चितसकलधर्मरहस्य च नले धर्मसमृद्धस्यापि उदयो न सम्भवतीत्यर्थः ॥ १४३ ॥

क्षमावान् (पृथीर्षित, दा-क्षमा करनेवाले) वस (नल) में कलि (तुम्हारा, दशा०—कलिका) अवकाश (प्रवेश या अवसर) हमलोग नहीं देखने हैं । और स्मृति धर्मोंके समृद्धिकर्ता वस (नल) में द्वापर (उत्तरे सहायक तृतीय युग, दशा०—मन्देह) का भी

अवकाश हमलोग नही देखत ह । [नख क्षमाशाळ है, अत तुम्हें या कहका उम्में स्थान मिलेगा, ऐसा हमलाग नही मानते, और इस प्रकार वह नख मरी सर्वविध घोटमारों धमका पालन करनेवाला है, अत दापर (तुम्हारा सहायता करनेवाले तुमसे युग, वा मन्त्र) का स्थान भी मिलेगा, ऐसा हमलाग नही मानते । क्षमा करनेवालोंमें कहत तथा शास्त्र-मन्त्र सब धर्म पालनेवालोंमें सन्देहको अवसर मिलना असम्भव होनेसे तुम दोनोंका मेलक साथ विरोध करनेका प्रयत्न व्यर्थ ही होगा, ऐसा हमलोगोंका विचार है, अतः तुमलोगोंका ऐम असहप्रयत्नका विचार छोड़ देना चाहिये । यद्यपि द द भविष्यमें हानेशाले नल्ल राजभक्त तथा दमयन्ती-विरोधका जानने से तरापी कलिके उत्साहका भङ्ग करनेके लिये उ ईने धमा कही, अथवा—‘न श्याम’ (हमलोग) नहीं देखने हैं) ऐना वर्तमानकालिक क्रियाने निकट भविष्यमें तुम्हें या दापरको उक्त गुमवाले नखमें अवकाश नही हागा ऐसा मन्द मूर्तिन कर रहे ह] ॥ १४३ ॥

ना विनीततमा भेमी व्यर्थानर्थप्रहरेहो ।।

कथ भवद्विधैर्वाध्या प्रमितिर्विभ्रमैरिव ? ॥ १४४ ॥

मेति । किञ्च, विनीततमा भतिशयेन विनम्रा, उपमावपसे च—विनीत निराकृत, तम अज्ञान यथा सा भ्रमज्ञाननिरासिनीत्यर्थ । सा भमी दमयन्ती, स्वर्ध निष्फल अनर्थग्रह वैराचरणरूपाकार्याभिनिवेश येषा तादृशे, पश्चात्तरे च—स्वर्धो निष्फल, अनर्थस्य शुक्ती रजनादे निष्प्रयोजनदृष्ट, ग्रहो ज्ञान येषा तादृशे, अवद्विध युष्मादृश, प्रमिति प्रमाज्ञानम्, सम्भवानुभूतिरिति यावत् । विभ्रमैर्मिथ्याज्ञाने इव, कथ केन प्रकारेण, वाध्या बाधितु पीडयितु शक्या ? नैव शक्ये स्थ । अहो ! इत्याश्चर्ये, पानिम्रग्यतेजसा दुर्दुर्पवाशिति भाव ॥ १४४ ॥

जिस प्रकार (शुक्तिमें रजजानको दूर करनेवाले) प्रमाज्ञानको (रजमें शुक्तिका ज्ञानरूप) विशिष्ट भ्रम ज्ञान नहीं बाधित कर सकते, उसी प्रकार अतिशय विनम्र उस (दमयन्ती) को स्वय ही वैराचरणरूप दुराग्रहाके तुम्हारे-नैमे लोग किस प्रकार बाधित (पीटित) कर सकते हैं ? अहो ! आश्चर्य (वा-खेद) है । [प्रमान्यक ज्ञानको अमान्यक ज्ञानके समान विनोयनम पवित्रता दमयन्तीको स्वय विरोधाचरणके दुराग्रहो तुमलोग नहीं बाधित कर सकते, अहो ! आश्चर्य (वा-खेद) है कि तुमलोग ऐसा दुष्प्रयत्न करना चाहते हो । ‘भवद्विधै’ इस बहुवचनान पदमें तुम्हारे जैसे अनेक लोग भी उस दमयन्तीका पीड़ित नहीं कर सकते तो अकेले तुम कैसे कर सकते हो ? अत एव साक्षी दमयन्तीका पीड़ित (नल्ले पृथक्कर दु स्तित) करनेका दुर्विचार तुम्हें छोड़ देना चाहिये] ॥ १४४ ॥

त नासंयुगता वा त्रेता स्पर्द्धितुमर्हति ।

एकप्रकाशवर्माण न कलिद्वापरी । युवाम् ॥ १४५ ॥

तमिति । कलिद्वापरी । हे युगविशेष !, एक केवल, प्रकाश उज्ज्वल प्रतिद्वो

वा, धर्मो न्याय, न्यायविचार इत्यर्थः । पुण्य वा स्वभावो वा यस्य तम् एकप्रकाश-
धर्माणम्, एतत् दमयन्त्यामपि योज्यम् । 'धर्मादनित्यं क्वलितं' इत्यनिष्टम् । 'धर्माः
पुण्यदम्ब्यादरदभावोपाचारसोमपा' इत्यमरः । त नलम्, ता दमयन्ती वा, नाम्नय-
युगं न असत्य नासत्य किन्तु सत्यमेव, दुग सत्ययुगमित्यर्थः । तथा ज्ञेया
त्रेतादुगमपि, स्पष्टितुमर्हति तुल्यितुं योग्यं भवति, न तु ज्ञेयमिति भावः । युवां
कलित्वापरौ द्रुते, न, त ता वा स्पष्टितुं नाहय इति विभक्तिविपरिणामेनाभ्यव्य ।
अथवा—अमत्यस्य युगं कृतदुगापेक्षया अधर्मयुगम्, त्रेता युगविशेषः अग्निप्रयत्नः ।
'त्रेताऽग्निप्रयत्ने द्रुते' इत्यमरः । स्पष्टितुं नाहति, नासत्ययोर्युगमभिनार्हयत्वात्, तं
नलम्, स्पष्टितुम् अर्हति सोऽप्येवेति च गम्यते । सुतरां युवा कलित्वापरौ न स्पष्टि-
तुमर्हय इत्यर्थः ॥ १४५ ॥

हे कलि तथा द्वापर युग ! एक प्रसिद्ध (वा-उज्ज्वल) धर्म (पुण्य, वा-स्वभाव) वाले
वस (नल) को तथा एक प्रसिद्ध धर्मवालो वस (दमयन्ती) को सत्ययुग समानता कर सकता
ह, (चतुर्थीस धर्महीन) त्रेतायुग स्पष्टां तो कर सकता है किन्तु जीन नहीं कर सकता और
तुम दोनों (द्वापर तथा कलियुग) तो (कलियुग हीन होनेसे) स्पष्टां भी नहीं कर सकते
हो । (अथवा—उक्त गुणवाले वस नल तथा दमयन्तीके साथ सत्ययुग तथा त्रेतायुग तो
स्पष्टाकर सकते हैं, किन्तु तुम दोनों स्पष्टां भी नहीं कर सकते । (अथवा—(सत्ययुगकी
अपेक्षा अधर्मयुक्त होनेसे) असत्य युग त्रेता वन दोनोंके साथ स्पष्टां कर सकता है ।
[अथवा—नासत्य = अद्वितीयकुमार का युग = ओटी अधीन अद्वितीयकुमारद्वारा तथा त्रेता
(गार्हपत्य आहवनीय और दक्षिण नाममे प्रसिद्ध अग्निप्रयत्न) मुख्य प्रसिद्ध (वा-उज्ज्वल)
धर्म (शरीर सौन्दर्य, वा तेज) वाले वस नल तथा वैसी ही दमयन्तीके साथ स्पष्टां कर
सकते हैं अर्थात् सम्मिलित दोनों अद्वितीयकुमार और सम्मिलित तीनों अग्नि जनक
शरीर-सौन्दर्य तथा तेजमे युक्त गुणवाले नल-दमयन्तीके साथ स्पष्टां कर सकते हैं (फिर
भी जीन नहीं सकते) और उनमेंसे कोर अबेला तो स्पष्टां भी नहीं कर सकता, जो-ना
तो दूर रहे और तुम दोनों पापाधिकव्युक्त होनेसे स्पष्टां भी नहीं कर सकते हैं । अथवा—
पूर्ण प्रकृष्ट दीप्तमान धर्मवाले नल तथा वैसी दमयन्तीके साथ सत्ययुग (अग्निम समस्त
सत्ययुगमे भी अस्तित्वका कुछ अंश जाननेसे और (चतुर्थीस अस्तित्वयुक्त होनेसे) त्रेता युग
भी स्पष्टां नही कर सकते तो फिर तुम दोनों (कलि तथा द्वापर युग) तो कल्पविध अम-
त्यादयुक्त होनेसे उक्त गुणवाले वन नल-दमयन्तीके साथ कदापि स्पष्टां करनेके योग्य
भी नहीं हो । अथवा—पुरुष कलि तथा द्वापरका नलके साथ और स्त्री त्रेताका दमयन्तीके
साथ स्पष्टां करनेका सम्बन्ध करना चाहिये । अथवा—विकृत तथा अनिष्टित धर्मके होने
पर वही कलह तथा रुन्देह हो सकते हैं, किन्तु नल तथा दमयन्ती जो शास्त्रानुसार एवं
निश्चिन प्रकृष्ट धर्मवाले हैं, अत एव वही तुम दोनोंको अवसर नहीं होने । उनके साथ तुम
दोनों स्पष्टां नहीं कर सकते] ॥ १४५ ॥

करिष्येऽऽज्यमित्युक्त्वा करिष्यन्नपि दुष्यसि ।

दृष्टान्द्रा हि नायत्ता कार्यर्यीया हेतवस्तव ॥ १४६ ॥

करिष्य इति । हे कले ! अवश्य निश्चिनम्, करिष्ये विधास्यामि, इत्युक्त्वा एव कथयित्वा, सर्वथा पाप करिष्यामि इति प्रतिज्ञाय इत्यर्थः । करिष्यन् अपि चिकीपुरपि, दुष्यमि दुष्टोऽसि, किमुत कृत्वा इति भावः । हि तथा हि, कार्यस्य हमे कार्यर्यीया कार्योत्पादनयोग्या । 'वृद्धाच्छ' दृष्टादृष्टा लब्धितालब्धिता, हेतवः कारणानि, दण्डार्थावरादयो दृष्टहेतवः, कालकर्मरवरेच्छादयोऽदृष्टा हेतवः इत्यर्थः । तव ते, आयत्ता अधीना, न, किन्तु तत्तत्कार्योत्पादिका सामग्री कालवशाददृष्टवशाच्च स्वयमेव सम्पाद्यते, न तु स्वया सम्पादयितुं शक्या, तथा च करिष्येऽवश्यमित्युक्त्वा पापकार्येऽदृष्टेऽपि मनसि तद्विचिन्तया मुखे तदुच्चारणेन च भवद्विधाना पातक जातमिति भावः ॥ १४६ ॥

(मैं नलका अवकार) कलगा? येना कहकर उसे करनेकी इच्छा करते हुए भी तुम दोषी होवोगे । (अथवा— " उसे नहीं करनेकी इच्छा करने) क्योंकि— प्रथम पक्षमें—नलापकार करनेको कहकर यदि उसे करने की इच्छा करोगे तो पुण्यात्मा नलके अवकारकी भावना मनमें तथा कार्यरूपमें करनेसे भी तुम्हें दोष होगा, और दूसरे पक्षमें—नलापकार करनेको कहकर नहीं करनेकी इच्छा करोगे तो भी प्रतिज्ञामङ्ग करनेके कारण तथा महात्मा नलका अवकार करनेका कहनके कारण वाचिक दोष होगा, और नलापकार यदि करोगे तो दोष होगा इस विषयमें सन्देह ही क्या रह जाता है ?) । क्योंकि (बड़ादि) वाय-सम्बन्धी दृष्ट (मिट्टी, चक्र, दण्ड, चाँवर, चक्र, जल आदि) और अदृष्ट (देश, काल, इदमरेच्छा आदि) कारण तुम्हारे अधीन नहीं हैं । [कार्य-साधक दृष्ट सामग्री को हाँ तुम जुटा सकते हो, अदृष्ट सामग्रीको नहीं, अतएव यदि नल-दमयन्तीके माग्यमें दुःख नहीं लिखा होगा तो उन्हें पीड़ित करनेकी इच्छा करके भी तुम उस प्रकार दोषभागी बनोगे ही, जिस प्रकार ब्रजहत्यादि पाप करनेकी इच्छा करके उसे नहीं करनेवाला भी मनुष्य पापभागी होता है । इसके विपरीत यदि नल-दमयन्तीके माग्यमें दुःख होना लिखा ही होगा तो वह तुम्हारे उद्योग नहीं करनेपर भी होगा ही, किन्तु उसमें निमित्त बननेसे तुम्हें दोषभागी होना पड़ेगा । इस कारण नल-दमयन्तीके अवकार करनेकी भावना तुम्हें नहीं करनी चाहिये] ॥ १४६ ॥

द्रोह मोहेन यस्तस्मिन्नाचरेदचिरेण स ।

नत्पापमम्भव नापमाप्नुयादनयात् तत ॥ १४७ ॥

द्रोहमिति । किञ्च, यः यो जनः, मोहेन अज्ञतावसेन, मौर्ख्यतया इत्यर्थः । तस्मिन् नले विषये, दाहम् अवकारम्, आचरेत् विदधीत, स जनः अचिरेण शीघ्र

मेव तन तस्मात्, अनयात् दुर्नयात् हेतो, तरापममव बलद्रोहजन्यगतकपमभू-
तम्, नाप तीव्रमातनाम्, आप्नुयात् लभेन ॥ १४७ ॥

नो उम (पुण्ड्रलोक नर) के विषयमें अज्ञान (नी) द्रोह करता है, वर उस
(द्रोहके करने) से उम पासे उत्पन्न सन्नापको तीव्र हो प्राप्त करना है । [अथवा—हे
माहेन = माह + इन = मोक्षयिते अर्थात् मक्षमूत्र कर्त्त । यद् यद्वन्न भो नलक साथ
द्रोह करनेवाला तीव्र सन्नापको पाया है तो तुम धानपूर्वक उनके साथ द्रोह करके सन्नाप
नश गवोगे यह हो वह मरना, अन एव तुम्हें नर द्रोह-भावनाको सखा छोड़ देनी
चाहिये] ॥ १४७ ॥

युगशेष । तव द्वेषस्तस्मिन्नेव न साम्प्रतम् ।

भरिता न हितायैतद्वैर ते वैरसेनिना ॥ १४८ ॥

युगेति । युगशेष । युगमा मयादीना शेष चरम । हे कले ? तस्मिन् नळे तव
ते, एव भयम्, द्वेष द्रोहबुद्धि, न साम्प्रत न युक्तम्, वैरसेनिना नलेन सह,
एतत् वैर विरोध, ते तव, हिनाय मग्नछाय, न भविता न भविष्यति ॥ १४८ ॥

हे अग्निम युग (कर्त्त) । उस (नर) के विषयमें तुम्हारा यह द्वेष अनुचित (अथवा—
अमानयिक) है, वागतेन-पुत्र (नर) के साथ यह विरोध तुम्हारे हितके लिए नहीं
होगा ॥ १४८ ॥

तत्र यामीत्यसज्ज्ञानराजस परिहाय्यताम् ।

इति तत्र गतो मा गाः राजसमवि हास्यताम् ॥ १४९ ॥

तन्नेति । हे कले । तत्र स्वयंवरे, यामि यास्यामि, यामीत्ये वसमानप्रयोग ।
इति एवमभून्नम्, राजस रज प्रयुक्तम्, असत् ज्ञान दुर्बुद्धि, परिहाय्यता निरस्य
ताम्, इति असज्ज्ञानान्, तत्र राजससर्वि राजसभाषाम्, गत उपस्थित सन्,
हास्यताम् उपहास्यताम्, मा गा न गच्छे ॥ १४९ ॥

‘(मै) वहा (स्वयम् समाने) जाना हूँ’ ऐसा अशुभ एवं राजस विचारको छोड़ दो
(पाठा०— राजस वर्तमान विचारको यहाँ पर छोड़ दो । अथवा— ऐसा
विचार राजस होनेसे अशुभ है, (इस कारण उस विचारको छोड़कर) यही रहो अर्थात्
स्वयंवरेमें मत जाना, यहाँ शुभ है) । उस राजसभाषे जाकर हास्यभाषको मत प्राप्त
करो ॥ १४९ ॥

(गत्वान्तरा नल भैमी नाकस्मात्त्र प्रवेक्ष्यसि ।

पण्णा चरुममयुक्त पश्यामान उकारवन् ॥ १ ॥)

१ ‘साम्प्रत’ इति पाठान्तरम् । २ ‘सदिहास्यताम्’ इति पाठान्तरम् ।

३ ‘उकारवत्’ इति पाठान्तरम् । ४ अथ श्लोक चेषक इति ‘प्रकाश’कृता स्वर
मेव स्वीकृतम्, अन एव मङ्गिनायेनाथ श्लोको न व्याख्यात इत्यनेन मया ‘प्रकाश’
व्याख्याया सहैवायमिदोपस्थापित इत्यवश्यम् ।

गत्वेति । हे कले ! निपघदेशान् गत्वा प्राप्य नलं मैत्रीमन्तरा नलभैर्योर्मध्येऽ-
कस्माच्छीघ्रं दुरितलक्षणकारणमन्तरेण वा त्वं न प्रवेक्ष्यसि । नलस्य पुण्यलोक-
त्वात्, भैर्याश्च पानिघ्न्यादिधर्मयुक्तवान्, नौ परामवितु न शक्नोषीत्यथ ।
इव—अस्युक्तं पूर्वं विमग्धितया पृथक्कृतप्रकृतिप्रत्ययविभागं पञ्चात्पद्यमानमहि-
तया प्रयोगार्हम् । उच्चायमानामिति यावत् । एवम्भूतं पण्णा चरु पण्णामिति शब्द-
स्वरूपस्थवर्णान् दमन्तरा मध्ये ढकारवत् । ढकारो वर्णो यथाऽकस्माद्विधिमन्तरेण
न प्रविशतीति साधर्म्योपमा । ‘पप्’ शब्दात् ‘पट्चतुर्थ्यश्च’ इति मुटि हासहित
आमि ‘स्वादिप्स्वसंज्ञानामस्थाने’ इति पूर्वपदस्य पदवान् ‘स्रला जशोऽन्ते’ इति
जश्वेन षकारस्य ढकारे ‘न पदन्तात्’ इति निषेधस्य ‘अनाम्नवति—’ इति निषेधात्
‘धुनाः षु’ इति ‘षु’ धेन नाग्नकारस्य णकागदशे ‘यरोऽनुनासिके—’ इति ढकार-
स्याप्यनुनासिकस्य स्थितस्थितविकल्पत्वाद्नुनासिकस्यात्र निःसारवेन णकारे जाते
सर्वथापि न ह्येन रूपेण ‘पण्णाम्’ इति पदमध्ये ढकारो यथा प्रवेश लभते, तथा
तयोर्मध्ये त्वमपीत्याशयः । अन्यथा विकल्पत्वात्पक्षे ‘पङ्णाम्’ इति स्यात्तस्मा भूदि-
त्यत्र व्यवस्थितविभाषाऽङ्गीकरणीया । पण्णा चेति षकारो भैमी चेति योऽप्य । तथा
च—क्रमेण परिपाटया अस्युक्तं पण्णामिति कर्मभूतं शब्दस्वरूपमन्तरा ढकारो यथा न
प्रविशति । अस्युक्तावस्थाया यद्यपि ह्येन रूपेणावस्थानं वर्तते तथापि सद्युक्ताव-
स्थाया नास्तीत्यर्थः इति वा । पण्णामित्यत्र प्रकृतिप्रत्ययदशायामकस्मादागन्तुकादे-
शरूपतया ढकारो यथा प्रविशति, तथा त्वं न प्रविशसि इति वैधर्म्योपमया वा-
क्यायेयम् । ‘ढकारवत्’ इति पाठे ‘वाऽवसाने’ इत्यवसान इव सर्वविकल्पात्,
स्वरश्चाभावात् पट्, पट्सिवादिबन्तं पण्णामित्यत्र स्वरवसानघोरभावाद्ढकारो यथा
न प्रविशतीति साधर्म्योपमव । षेपकोऽयम् । नल भैमीम् ‘अन्तराऽन्तरेण—’ इति
द्वितीया ॥ १ ॥

तुम (निपघ देशको) जाकर भी नल तथा दमयन्तीके मध्यमें एकाएक) अनिशीघ्र,
या उनके अनुमोदवके बिना पक्षा०—बिना विकृतरूप धारण किये) उस प्रकार नहीं प्रवेश
पावोगे, जिस प्रकार (पहले) अस्युक्त (तथा बादमें सहिष्णु कार्य अर्थात् सिद्धि करके) पडे
जाने हुए ‘पण्णाम्’ पदके अक्षर—समुदायके मध्यमें (आदेश रूप विकार होनेके बिना)
ढकार नहीं प्रवेश पाता है । [जिस प्रकार पहले (पप् न् आम्, या पट् न् आम् इस
अस्युक्तावस्थामें) रहनेवाला ढकार बिना ‘ण’ काररूप विकार प्राप्त किये सिद्ध हुए ‘पण्णाम्’
प्रयोगमें प्रवेश नहीं पाता अर्थात् ‘पङ्णाम्’ ऐसा रूप नहीं बनता, उसी प्रकार नल तथा
दमयन्तीके बीचमें तुम भी बिना विकृत हुए (रूपान्तर धारण किये) प्रवेश नहीं पा सकोगे ।
अथवा—‘पण्णाम्’ प्रयोगके मध्यमें जिस प्रकार ‘ढकार’ ‘ण’ आदेशरूप विकारको पाकर
प्रवेश कर जाता है, उस प्रकार तुम नल तथा दमयन्तीके मध्यमें प्रवेश नहीं कर सकोगे,
इस प्रकार वैधर्म्योपमासे अर्थ करना चाहिये] ॥ १ ॥

अपरेऽपि दिशामीशावाचमेना शचोपने ।

अन्वमन्यन्त किन्त्वेना नादत्त युगयोर्युगम् ॥ १५० ॥

अपरे इति । दिशा ककुभाम्, अपरे अन्ये, ईशा अधिपा, अग्न्यादयोऽपीत्यर्थः । शचोपने इन्द्रस्य, एना पूर्वोक्तम्, वाचम् उपदशदचनम्, अन्वमन्यन्त अन्वमो दन्त, इन्द्रवाचय युक्ततया अभ्यनन्दन् इत्यर्थः । तेऽपि तथैव उच्यते इति भावः । किन्तु एना वाचम्, युगयो कलिद्व्यापरयो युगयुग्मम् । कर्तृ, न आदत्त न अगृह्णात्, न स्वीचकार इत्यर्थः ॥ १५० ॥

दूसरे (अग्नि, यम, वरुण) दिक्पालोंने भी इन्द्रके वचनका अभिनन्दन ('इन्द्रका वचन टीका है' ऐसा स्मरण) किया, कि तु वे दोनों युग (कलि तथा द्वापर) इन्द्रको स्वीकार नहीं किये । [देवराज इन्द्रके वहे हुए तथा दिक्पालोंने स्मर्यन वचनको भी ग्रहण नहीं कर-से 'कि तु' शब्दद्वारा कलि तथा द्वापर युगोंकी महामूर्त्ता सूचित होती है] ॥ १५० ॥

कलिं प्रति कलिं देवा देवान् प्रत्येकश कलि ।

सोपहास समैर्वर्णैरित्य वयरचयन्मिथ ॥ १५१ ॥

कलिमिति । देवा इन्द्रादयः, कलि कलियुग प्रति, कलिश्च देवान् प्रति एकश प्रत्येकम् वीरसाया दासः । समं वर्णं समयसाधारणशब्दैः, स्थिराचरैरित्यर्थः । इत्थं वच्यमाणभङ्गवा, मिथ परस्परम्, सोपहासम् उपहाससहितम्, कलि कलहम्, वयरचयन् अकुर्वन् ॥ १५१ ॥

देव (इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण) कलियुगके साथ तथा कलियुग प्रत्येक देवों (इन्द्रादि चारों देवों) के साथ परस्परमें उपहासपूर्ण स्मान (इच्छा) व्यक्तोंसे इस प्रकार (१७।१५२-१५५) कलह (विवाद) करने लगे [इन्द्रादि प्रत्येक देवने जिस वचनसे कलियुगका उपहास किया, कलियुग भी वही वचनसे इन्द्रादि प्रत्येक देवका उपहास किया] ॥

तत्रागमनमेवाहं वैरसेनौ नया वृते ।

उद्वेगेन विमानेन किमनेनापि धावता ? ॥ १५२ ॥

कलहप्रकारमेवाह—तत्रैति । हे कले ! तथा भेम्बा, वैरसेनौ नले, वृते भक्त्येन स्वीकृते सति, तत्र स्वयंवरे, अगमनम् अग्रयाणम् एव, अहं युक्तम्, अत एव उद्वेगेन सकटजवेन, धावता शीघ्र गच्छता, अनेन विमानेन व्योमयानेन, किम् ? निभयोजनम् ? इदानीं तत्र गमन निष्फलमित्यर्थः ।

अभ्यत्र—ह इन्द्र ! तत्र स्वयंवरे, तथा वैरसेनौ वृते सति आगमन तत् प्र याव सन्मेव, गमेर्प्यन्तात् वयुट् । अहं युक्तम्, अथवा, अगमनमेव स्वर्गं प्रति ससना भाव एव, अहं मैमैलाभार्यं पृथिव्यागतं अवज्जिग्यर्थमनोरथत्वेन इन्द्राण्यादिसन्निधौ मुख दर्शयितुमशक्यत्वात् सर्वथा स्वर्गो न गन्तव्य एवेति भावः । तथा अपिधा

अपिधानम्, आच्छादनमित्यर्थं, 'आतश्चोपसर्ग' इत्यङ्प्रत्ययः । तद्वता आच्छादन-
वता, निगूहितेन इत्यर्थः । विमानेन मानरहितेन, अनेन मुखदर्शानुमितेन, उदे-
तेन वित्तचाञ्चलेन, अपमानजनितमनोभोगेतिवर्थः । किम् ? अलम्, तदुप-
पत्त्यनेनेत्यर्थः । अथान्तर्यामिनेन भोग्यलाभजन्यदुःखसंभूतमपि मया भावदर्शनादिना
मम्यगनुमितमेव, सुतरां दुःखगोपनव्यर्थमेवेति भावः । अत्र द्वयोः अर्थयोः प्रकृत-
त्वान् वेद्यन्प्रकृतश्लेषः ॥ १५२ ॥

(इन्द्रने कलिये कहा—) उम (दमयन्ती) के द्वारा नन्को वरण कर लेने पर
वहा (स्वयंवरमें) तुम्हारा नहीं जाना हो उचित है, (अथ एव) तोवगामो ओर दौड़ते
हुए इस विमान (आकाशगामो रथ) से मो कश लाभ है ? अर्थात् वह दमयन्तीने नन्को
वरण कर लिया नह तोवगामो विमानने जाने पर भी कोई लाभ नहीं है, अथ एव तुम
बहानर मन जाओ । [अथवा—उम दमयन्तीद्वारा नन्को नहीं वरण करनेपर तुम्हारा वश
पूवना उचित था । उम समय पहुचनेपर यथाकथञ्चित् सम्भव था कि वह तुम्हें हो वरने,
किन्तु नन्को वर लेनेपर अब शोप्रगामो रथमे मो जाना व्यर्थ हो है, अर्थात् तुम अशक्त
कराये । जो समय बीतनेपर व्यर्थ हो जानेको शोप्रश कर रहे हो । इस प्रकार इन्द्रने कलि-
का उपहास किया] ॥

(कलिये इन्द्रमे कहा—) वहा (स्वयंवरमें) उस (दमयन्ती) के द्वारा नन्का वरण
किये जानेपर तुम्हारा लौटना हो उचित है [अथवा—(स्वर्गको) नहीं जाना हो उचित है
(क्योंकि इन्द्राणी का स्वामिकर दमयन्तीके साथ विवाह करनेके लिए पृथ्वी लेकर आकर
उसके वरण नहीं करनेपर कौन-सा मुल इन्द्राणीको दिखानावोगे ?) तथा छिपाये आते हुए
(अथवा—नहीं छिपाये जाने हुए अर्थात् सहायका परिरक्षित होने हुए) मानहोन हम तोत्र
स्वाकुलगासे ब्रया (लाभ) है ? (पैदावरुन्नादिके द्वारा दमयन्तीको नहीं पानेका दुःख
मुझसे छिपाना व्यर्थ है, क्योंकि तुम्हारे छिपानेपर भी दुःखसे मैंने मालूम कर लिया है) ।
अथवा—इ विमानेन (विमान X इन् = अपमानितोंके स्वामी अर्थात् अतिशय अमानित
इन्द्र) ।] ॥ १५२ ॥

पुरा यासि वरीतु यामम एव तथा वृते ।

अन्यस्मिन् भवतो हाऽऽस्य वृत्तमेतत्प्रपाकरम् ॥ १५३ ॥

पुति । हे कले । या मैमोम्, वरातु पत्नीत्वेन स्वीकर्तुम् । पुरा आतामिनि,
शोत्रमेवेत्यर्थः । यासि यास्यसि, 'यावत्पुरा-' इति मविष्यति लट् । 'निकृष्टागामिके
पुरा' इत्यमरः । तथा भग्या, अग्रे एव सवागमनात् प्राक् एव, अन्यस्मिन् पुरुषान्तरे,
वृते स्वीकृते सति, त्रपाया लज्जाया, आकरम् आकराधितमित्यर्थः । वृत्तजातम् एतत्

पुरोवति, भवत तव, आस्य सुखम्, हा ! शोचाम इत्यर्थः । 'अमित परित —' इत्यादिना हा-शब्दयोगे द्वितीया । 'हा विषादशुगर्त्तिषु' इत्यमरः ।

न्यत्र—हे वहे ! पुरा पूर्वम्, या चरोतुम्, यासी, आयासी, 'पुरि लुट् चारमे' इति भूते लट् । त्वमिति शेषः । तथा अग्रे एव तव समचमेव, अन्यस्मिन् नले, वृते सति भवनस्तेनैव, एतत् प्रयच्छदस्यम्, वृत् वस्तुल्लङ्कारम्, आस्य सुखम्, त्रयामाकरोतीति त्रयाक्षर लज्जाकारम्, जातमिति शेषः, अत एव हा ! शोचामीत्यर्थः ॥ १५३ ॥

(अग्निने कलिसे कहा—) तुम जिन (दमयन्ती) को बरण करनेके लिए आवोगे, उमने दूमेरे (नर) के पहले ही बरण कर लिये जानपर जन्माका आकर यह तुम्हारा मुख हो गया, हा ! [इसके लिए हम दुःख प्रकट करने हैं । अथवा पाठा०— जाने पर तुम्हारा यह (स्वयवरम जाना) लज्जा करनेवाला (या-लज्जाकी खान) हास्य हो गया । अथवा— तुम्हारा यह वृत् (आवरण—स्वयवरमें जाना) लज्जाकारक और हास्य का कारण होगा । दमयन्तीके द्वारा मल्लाका बरण कर लिये जानेपर अब स्वयवरमें तुम्हारे जानेसे तुम्हें लज्जित होना पड़ेगा और लोग तुम्हारा उद्दाम करेंगे अत एव तुम बड़ा मत्त जावो] ॥

(कलिने अग्निसे कहा—) परले जिन (दमयन्ती) को बरण करनेके लिए तुम गये थे, उसके द्वारा (तुम्हारे) मानने ही दूमेरे (नर) का बरण कर लिये जानेपर यह गोलाकार मुख लज्जाकारक (अथवा—लज्जा का आकर = खान) हो गया, हाय ! [इसका मैं शोक कर रहा हूँ । अथवा— कलिने यह तुम्हारा वृत् (स्वयवर) पुनः प्रयावतन रूप आवरण) त्रयाक्षर (अलज्जाकारक) है ? अर्थात् कदापि नहीं, अत एव ऐसी घटना होनेपर तुम्हें लज्जा होनी ही चाहिये । अब च अपनी ओ (रक्षा) को स्वर्गमें जाकर केने अपना मुख दिखलावोगे । हाय मेरे है । अथवा—इसके (स्वयवरमें जाने पहुँचनेके पूर्व) रत्नादिका उपहार भेजकर जिस दमयन्ती के पाम गये थे, । अथवा—तुम्हारा मुख तथा आवरण-शान्ति ही लज्जाकारक है] ॥ १५३ ॥

पत्न्या तथा वृतेऽन्यस्मिन् यदर्थं गतवानसि ।

भवत कोपरोधस्तादृशमस्य वृथारूपः ॥ १५४ ॥

पत्न्याविति । हे ! यदर्थं यद्वैमीनिमित्तम् गनवान् गमनवान्, गमनपर इत्यर्थः, भावविहितगतशब्दात् मनुष्य-यय । अमि भवसि, या चरोतु गच्छसीत्यर्थः । तथा मैम्या, अन्यस्मिन् पत्न्या पूर्वमेव वृते सति, अचमस्य प्रतीकाराशक्तस्य, अत एव वृथारूप निष्कण्ठकोपस्य, भवत नव, कोपरोध कोपस्य उपशमः, स्नात् अस्तु, इदानीं कोपो न कार्य इत्यर्थः । अस्तेर्लोपि तातडादेशः ।

अन्यत्र तु—हे यम ! यदर्थं गनवानसि पूर्वं गतोऽसि, भूते क्वतु । अचमस्य भवन तव, अधस्तात् अधरः, हीन इत्यर्थः, 'दिक्छन्देभ्य सप्तमो—' इत्यादिना अधरशब्दात् प्रथमार्थे अस्नानिप्रत्ययः, 'अस्नाति च' इत्यधरस्याधादेशः, 'पठयन्-

सर्धप्रत्ययेन' इति तद्योगे पृष्टी । अपर' क ? अन्य क ? त्वत्त अधम कश्चिन्नासि
इत्यर्थ । समानमन्यत् ॥ १५४ ॥

(यमने कलिसे कहा—) जिस (दमयन्ती) के लिए गतवान् गमन करनेमें प्रयत्न
वान् हो अर्थात् जिसके लिए जा रहे हो, उस (दमयन्ती) के द्वारा दूसरे पति (नल) को
वरण किये जानेपर असमर्थ (अथवा—क्षमाहीन) और व्यर्थ क्रोध करनेवाले तुम्हारे क्रोध
का अवरोध हो अर्थात् तुम्हारा क्रोध रुके (तुम क्रोध मत करो) । [यद्यपि नलने तुम्हारा
काह अपकार नहीं किया है, तथापि क्षमाहीन हाकर (या असमर्थ होकर भी) व्यर्थ क्रोध
करनेवाले तुम्हारा क्रोध नहीं करना चाहिये] ॥

(कलिने यमसे कहा—) जिन (दमयन्ती) के लिए तुम गये थे, वसुके द्वारा दूसरे
पति (नल) का वरण किये जानेपर असमर्थ एवं व्यर्थ क्रोधवाले तुमसे हीन (नीच या
तुच्छ) दूसरा कौन है ? अर्थात् कोई नहीं । [अथवा—तुमसे हीन कौन होवे ? (इस पक्षमें
'भाता' क्रिया पद पृथक् समझना चाहिये) । अथवा—जानेपर तुमसे हीन कौन होवे ?
(क्योंकि) अक्षम (भूमि-स्पर्श नहीं करनेवाले अर्थात् देव) तुम्हारा क्रोध (१७।१५)
व्यर्थ है (हमारे-जैसे लोगोंका ही क्रोध करना सफल है, न कि तुमलोगोंका) । अथवा—
तुमसे हीन कौन है ? (अत एव) हे अक्षम (असहनशील यम) ! व्यर्थमें (हमलोगोंके
प्रति) क्रोधका नष्ट करो अथवा हमलोगोंके प्रति क्रोध मत करो । इस अर्थमें 'षोऽन्तवर्मणि'
धा' के लोट् लकारके मध्यम पुरुषके एक वचनका 'एव' क्रियापद पृथक् समझना
चाहिये] ॥ १५४ ॥

यासि स्मर जयन् कान्त्या योजनौघ महावृता ।

समूहस्त्य वृतेऽन्यस्मिन् किं न ह्रीस्तेऽत्र पामर । ॥ १५५ ॥

यासीति । पामर । हे नीच । कले । 'विवर्णं पामरो नीच' इत्यमर । त्व का'त्या
सौन्दर्येण, स्मर कर्षणम्, जयन् अधरीगुर्वन्, प्रसाधनविशेषेण स्मरादपि अधिक-
रूपवान् सन् इत्यर्थ । तथा महावृता महाश्वेन, विमानेन इति शेष । समूह
सम्यक् वाहितश्च सन्, योजनानां बहुक्रोश्याधमानानाम्, ओघ समूहम्, बहुयोजन
मित्यर्थ । योजन परमात्मनि । बहुक्रोश्याश्च योगे च' इति मेदिनी । यासि
गच्छसि, त्वि-तु अत्र स्वयं वरे, अन्यस्मिन् वृते सति ते ही लज्जा, न किम् ? भविष्य
सीति शेष ।

अन्यत्र तु—अत्रप । हे निर्लज्ज !, अमर । वरण !, त्वा त्व कान्त्या निजदेहसौन्द-
र्येण, जगौघ जनसङ्घम्, रक्षयन् प्रीणयन्, महावृता वृहदश्वेन, यासि स्म
स्वयं वरमाप्सी, स त्व मुट मुहूर्त्त, असि इति शेष । अत्र अन्यस्मिन् वृते तव ही
न किम् ? पूर्ववदलङ्कार ॥ १५५ ॥

(वरणने कलिसे कहा—) हे नीच ! (शरीरकी) कावत्से कामदेवको जीतते हुए
(विपरीत लक्षणासे अत्यन्त वृष्ण वर्ण होनेके कारण कामदेवको नहीं जीतते हुए) तथा

बड़े घोड़ोंवाले रहते दोए (लाये) यद्ये तुम (दमयन्तीके द्वारा) दूसरे (नर) के वरण कर लिये जानेपर अनेक योजन अर्थात् बहुत दूर आ रहे हो इस विषयमें (अथवा—यहां पर) तुम्हें लज्जा नहीं होनी ? अर्थात् लज्जा होनी चाहिये (वह नहीं हो रही है, अतः अब तुम अनिश्चय निर्लज्ज हो । अथवा—क्या नहीं होगी ? अर्थात् अवश्यमेव लज्जा होगी, अन्यत्र तुम्हें नहीं जाना चाहिये । अथवा—कान्तिमे जन-समूह (अपने सचर सैनिकों) को नया कामदेवको भी जीतने हुए हमारेको वरण कर लिये जानपर जो तुम बड़े घोड़ोंवाले रहने जा रहे हो वह तुम मूर्ख हो) ॥

(कलिते वरुणसे कहा—) 'ह निर्लज्ज (वरुण)' कान्ति (शरीरभोगा) मे जन-समूहको अथवा—योजनसमूहको अर्थात् सुदूरतक रञ्जित करने हुए जो तुम बड़े घोड़ोंवाले रहने (अथवा—दयावकर्णादि छोड़ने स्वयंवर) को जाने थे, वह तुम मूर्ख हो, (क्योंकि) हम स्वयंवरसे हमारे वरण करलिये जानेपर तुम्हें लज्जा नहीं होनी ? अर्थात् मैं तो उस समय स्वयंवरमें नहीं था, कि तु तु-शारे सामने हां हमारेको वरण हुआ, अन्यत्र तुम्हें लज्जा आनी ही चाहिये ! [अथवा—हे अत्रपामर (लज्जाके अभाव अर्थात् निर्लज्जमाने नहीं मरन वाले वरुण) ! यदि दूसरे किमीके लिए ऐसी लज्जाका प्रसन्न आता तो वह मर नाता, किन्तु निर्लज्ज होनेके कारण ही नहीं मरे हो, हमने वरुणका कलिते अत्यन्त उपद्राम किया । अथवा—हे अत्रपामर (लज्जामे हम जैसे लोगोंको) रोग देनेवाला अर्थात् दुःखित करनेवाला वरुण ! तुम्हारे इस कमसे हमका भी दुःखित हो जाते हैं, किन्तु हम दुःखित नहीं होते, अतः आश्चर्य है, या तुम बहुत नीच हो] ॥ १५५ ॥

नल प्रत्यनपेतात्ति तार्त्तीयोक्तुरीययो ।

युगयोयुगल युद्ध्वा दिवि देवा धिय ववु ॥ १५६ ॥

मलमिति । अथ देवा इन्द्रादयः, तार्त्तीयोक्तुरीययो तृतीयचतुर्थयो, 'तीयादी कक् द्वार्ये वा चाव्य' इत्यनेन तार्त्तीयीकृतसिद्धिः । 'चतुरश्रयता वाऽऽयसरलोपञ्च' इत्यनेन तुरीयसिद्धिः । युगयो द्वापरकल्पो, युगल द्वयम्, कर्म । नल प्रति अनपेता अनपगता, अस्मद्वाक्येनापि न दूरीभूतेत्यर्थः । आत्ति पोद्धनेच्छा यस्य तत् तादृशम्, युद्ध्वा विविचय, दिवि स्वर्गे, धिय मतिम्, दधु कृतवन्त, दिव गन्तुम् ऐश्वर्यित्यर्थः ॥ १५६ ॥

(इन्द्रादि चारो) देवाने तृतीय तथा चतुर्थ युगों अर्थात् द्वापरयुग तथा कलियुगको नलको पीड़ित करनेके विचारको नहा छोड़नेवाला समस्त हर स्वयं जानेका विचार किया । [हमारे बहुत समझानेपर भी ये द्वापर तथा कलि नलको पीड़ित करनेके विचारको नहीं छोड़ रहे हैं, और इससे अधिक हम कर ही क्या सकते हैं ? नलका जैसा होनाहार होगा, वह होकर ही रहेगा, ऐसा सोचकर (इन्द्रादि चारो) देव स्वर्ग जानेको इच्छा किये] ॥ १५६ ॥

द्वापरैकपरीवार कलिर्मत्सरमूर्च्छित ।

नलनिग्राहिणीं यात्रा जग्राह ग्रहिल किल ॥ १५७ ॥

द्वापरेति । ॥ सरमूर्च्छित मूर्च्छितमत्सर, प्रवृद्धनलशुभद्वेष इत्यर्थः । नलनिर्यातनाय दृढसङ्कल्प इति यावत् । आहिताग्न्यादिषु द्रष्टव्यः । अत एव ग्रहिल आग्रहवान्, पिच्छादिवात् मत्वर्याय इलक्षप्रत्ययः । कलि चतुर्थयुगम्, द्वापरस्तृतीययुगम् एव, एकः खलः, परीवार परिवार यस्य तादृशः, द्वापरमात्रसहाय सति इत्यर्थः । नलनिग्राहिणीं नलनिग्रहायाम् इत्यर्थः । यात्रा गमनम्, जग्राह स्वीकारः, किल खलु ॥ १५७ ॥

मत्सर (नल-विषयक द्वेष) स मूर्च्छित (मृतशून्यः, अथवा—(नलके प्रति) बहुरमत्सरवाला), आग्रही (इन्द्रादिके बहुत समझाने तथा मना करनेपर भी अपने दुराग्रहको नहीं छोड़नेवाला अर्थात् महादृढी) तथा (काम क्रोधादि अपने सैनिकोंको लौटानेसे) द्वारमात्रके साथ कलि नलको निवृत्त करनेवाली यात्राका स्वीकार किया अर्थात् नलको जीतनेके लिए केवल द्वारको अपने साथमें लेकर चल पडा ॥ १५७ ॥

ननेष्टापूर्त्तसम्पूर्त्तदूरदुर्गानमु प्रति ।

निपेधन् निपधान् गन्तु विघ्न सञ्जघटे घन ॥ १५८ ॥

नलेति । नलस्य वैरसेने, इष्टापूर्त्तस्या ऋतुवातादिधर्मकर्मण्याम् । 'अथ ऋतुर्धर्मैष्टपूर्त्तस्नानादिकर्मणि' इत्यमरः । सम्पूर्त्तं सम्यक् पूर्णत्वात्, बहुधर्मानुष्ठानविद्वेष्यासत्वादित्यर्थः । अमु पापरूप कलिं प्रति, दूरमस्यर्थः, दुःखेन गच्छन्ति पृथिविदुर्गा । 'सुबुरोरधिकरणे' इति द्रष्टव्यः । तान् दूरदुर्गान् अतिदुर्गमान्, निपधान् देशान्, गन्तुं प्रयातुम्, निपेधन् निवारयन्, गमनं प्रतिबन्धित्वेति इत्यर्थः । घनं निरन्तरं, विघ्नं प्रव्यूहः, सञ्जघटे वक्ष्यमाणरीत्या घटितवानित्यर्थः । धर्मशुभतया निपधेशा कठिना दुष्प्रवेशा वभ्रुवुरिति निष्कर्षः ॥ १५८ ॥

नलके इष्टपूर्त्त (यज्ञ तथा तडागादि धर्मकार्य) की सम्पूर्णताके कारण इस (पापी कलि) के प्रति अत्यन्त दुर्गम निषध देशको जानेके लिए निषेध करना हुआ महान् (ब६५भाग (१७।१६०-२०४) बहुत-सा) विघ्न हुआ । (अथ न—अन्पूर्ण होनेसे दूर देश जानेके लिए मेघ वितरूप होकर मना करने लगा) । [पुण्यश्लोक नलके धर्मकार्योंके कारण कलिका बड़ा पशुचनेमें बहुत कठिनाई हुई] ॥ १५८ ॥

(मण्डल निपेधेन्द्रस्य चन्द्रस्येवामल कलि ।

प्राप म्लापयितुं पाप स्वर्भानुरिव सम्रहात् ॥ १५९ ॥)

मण्डलमिति । पाप कलि पापग्रहमध्ये गणितत्वात्पाप स्वर्भानुरिवामल निष्पाप

१ 'स ग्रहात्' इति पाठान्तरम् । २ अथ श्लोक 'प्रकाश'कृता नारायणभट्टेन व्याख्यात इति मयाऽत्र स्थापितः ।

निषधेन्द्रस्य मण्डलं राष्ट्रम्, अमलं परिपूर्णप्रकाशं चन्द्रस्य मण्डलं विद्यमिव सप्र
हास्यताद् ग्रहणयोगवशाच्च ग्लापयितुं विनाशयितुं प्रमितुं च प्राप ॥ १ ॥

पापी कलि निषधेन्दुर (नल) के निष्पाप (दोषरहित) राज्यको दूठ (दुराग्र) से
नष्ट करनेके लिए उस प्रकार धात किया, जिस प्रकार (ज्योति शाल्वके अनुष्मार पापग्रह
होनेमे) पाप राहु चन्द्रमाके स्वच्छ बिम्बको ग्रहणयोग होनेमे ग्रस्त कर के लिए प्राप्त
करता है । [राहु तथा चन्द्रमाकी उपमासे सूचित होना है कि—जिन प्रकार ग्रहणका योग
आन पर राहु परिपूर्ण एवं निर्मल चन्द्रबिम्बको अवश्यमेव नष्ट कर देता है, वैसे कोई नहीं
रोक सकता, किन्तु कुछ समय बाद ही वह चन्द्र राहुमुक्त होकर पुन बिम्बल कान्तिका
पूर्ववत् प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार पापी कलि नन्द के निर्मल राज्यको बहुत प्रयत्न करनेपर
भी अवश्यमेव दूषित करेगा अर्थात् नल-दमयन्तीको अवश्यमेव पीड़ित करेगा, किन्तु चन्द्रके
समान ही नल योडे दिनोंके अनन्तर ही कलि-पाहमे मुक्त होकर पुन अपना राज्य पूर्ववत्
प्राप्तकर दमयन्तीके साथ सुखभोग करेंगे] ॥ १ ॥

कियताऽथ च कालेन कालं कलिरूपेयिवान् ।

भैमीभर्तुं रहमानी राजधानी महीभुज ॥ १५६ ॥

कियतेति । अथ देवानां सन्निधानात् प्रस्थानानन्तरम्, कियता च कालेन किञ्चि
कालेऽर्थात् इत्यर्थः । अहमानी अहङ्कारी, कलि काल युगात्मकमयरूप पापा-
त्मकत्वात् श्यामरूपो वा, भैमीभर्तुं दमयन्तीपते, महीभुज राज्ञो नलस्य, राजान
धीमते अस्यामिति राजधानी नगरी ताम्, 'करगणिकरणयोश्च' इत्यधिकरणार्थे
स्युद् । उपेयिवान् उपगत, निपाननात् साधु ॥ १५६ ॥

इत (समीपमे देवोंके प्रस्थान करने, अथवा—जिन-समूहको पार करने) के बाद
कुछ समयमें (नलकी पीड़ित करनेके विषयमें) अहङ्कारी तथा समयरूप (अथवा—
पापात्मक होनेसे कृष्णवर्ण, अथवा—दाकनकर्मा होनेसे यमरुक्ष, कलि दमयन्तीमती भूपति
(नल) की राजधानीको प्राप्त किया (राजधानीमें पहुँचा) । ['भैमीभर्तुं' तथा 'महीभुज'
इत दो विशेषणोंसे नलसे दमयन्ती तथा पृथ्वीका सम्बन्ध छुटानेमें कलिका विशेष आग्रह
सूचित होता है] ॥ १५६ ॥

वेदानुद्धरतां तत्र मुखादाकर्णयन् पदम् ।

न प्रमारयितुं कालं कालं पदमपारयत् ॥ १५७ ॥

अथ पुरप्रवेशे विघ्नप्रकारमाह—वेदाजिति । नत्र राजधान्याम्, वेदान् श्रुती,
उद्धरताम् उच्चारयताम्, अधीयानानां श्रोत्रियाणाम् इत्यर्थः । मुखात् वदनात्, पद
मन्त्रचतुर्थांशपराख्य पदवातम्, आकर्णयन् शृण्वन्, काल समयामक पापारमको

वा, कलि जगन्पयुगम्, पद चरगम्, प्रपारयितु विस्तारयितुम्, न अपारयत् न
अदाकनोत् ॥ १६० ॥

(अथ कलिके विनीका वर्णन करते हैं—) बह्म (नलको भ्रात्रगनीमें) वेदोक्त
उत्तराण (पाठा०—उद्धरण उत्तराण=मावृत्ति) करनेवाले (वेदपाठियों) के मुखसे पद
(उच्चारण संहिताविभागरूप 'पद' नलक मन्त्राशु-विशेष) को सुनता हुआ कलि (पा
६०—मे कृपावर्ण या समयरूप या दान्य कर्म करनेमें यमनुच्य) कलि (एक) पैर फैलाने
(अथ बढाने=चलने) के लिए भी समर्थ नहीं हुआ । [रानधानीमें श्रोत्रियोक्तार्थमात्र
'पद' मलक मन्त्रमन्त्राशु सुनकर कलि एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सका । इससे नलको
रानधानीकी धम-रतिपूर्वता तथा कलिके लिए विघ्न शत्रुत्व सूचित होता है] ॥ १६० ॥

श्रुतिपाठकप्रवेष्टव्यस्तत्राकणयत क्रमम् ।

क्रम सङ्कुचितस्तस्य पुरे दूरमवर्त्तन ॥ १६१ ॥

श्रुतीति । तत्र पुरे, श्रुतिपाठकप्रवेष्टव्य वेदाध्येतृमुख्येभ्य, क्रमम् उभयापराध
पदज्ञातम्, आकणयत शृङ्खल, तस्य कले, क्रम पादन्यास, सङ्कुचित प्रनिबद्ध
सन्, दूरम् अवर्त्तन प्रवेष्टाशक्त्या दूरे स्थित इत्यर्थ । वेदप्रविप्रभावेनेति भाव ॥

उभ पुर (नलकी राजधानी) में वेदाध्यापकोंके मुखसे 'क्रम' सङ्कुच मन्त्रभागकी सुनते
हुए उभ (कलि) का पैर (अथवा—गमन) अत्यन्त सङ्कुचित हो गया । [वेदाध्यापकोंके
'क्रम' का सुननेके कारण जगन् मयमें कलि एक पग भी आगे नहीं बढ़ सका, उस स्थानसे
दूर ही निवृत्त हो गया] ॥ १६१ ॥

तावद्रतिर्घृताटोपा पादयोस्तेन सहिता ।

न वेदपाठिकण्ठेभ्यो यावदध्यावि सहिता ॥ १६२ ॥

तावदिति । तावत् तत्पर्यन्तम्, तेन कलिना, पादयो=चरणयो, घृताटोपा साध
श्वरा, सङ्घर्षा इति यावत्, गति विहरणम्, सहिता मन्थना, अवलम्बितु शक्त
इत्यर्थ । यावत् तत्पर्यन्तम्, वेदपाठिनाम् वेदाध्येतृणाम्, कण्ठेभ्य मुख्येभ्य, सहिता
पूर्वाङ्गप्रक्रमरूपावस्थाद्वयविलक्षणा श्रृङ्गादिरूपा, न अध्यावि न श्रुता, तत्तद्गोते
स्तूनय एव पादयोरिति भाव । तदेतदारण्यके—'श्रुतम् अज्ञातकामो निर्भुजं प्रयाव
स्वर्गकाम प्रनृपवन् उभयमन्तरेण' इति ॥ १६२ ॥

कलिन तवत्क (उभ समवत्क या उभ स्थानतक) चरणद्वयो गतिको आङ्गश्वरसहित
जगन् क्रिया अर्थात् समाजक (या बह्वीनक) शीघ्रगतिसे चला, अवत्क (त्रिम समव तक या
त्रिम स्थानतक) वेदपाठियोंके कण्ठसे 'पद-क्रम' की अवस्थासे विष्णुग 'नलक' आदि
संहिताका नहीं सुना । [त्रिभु समय (या=स्थान) तक कलि आश्रितकण्ठोच्चरित 'संहिता'
को नहीं सुना, उभ समय (या=स्थान) तक ही वह तीव्रगतिसे चला, 'संहिता' सुननेके
बाद उसका गतिमल्ल हो गया] ॥ १६२ ॥

तस्य होमाज्यगन्धेन नासा नाशमिवागमन् ।

तत्रातत दृशौ नासौ क्रतुधूमऋद्धिने ॥ १६३ ॥

तस्येति । तत्र पुरे, होमान्ज्यगन्धेन होमसम्बन्धितपरिमलेन, तस्य कले, नामा घ्राणेन्द्रियम्, नाश विध्वंसम्, अगमत् इव प्रापदिव, तथा नासौ कलि, क्रतुधूमेन, यज्ञधूमेन, कर्द्धिते दूषिते, अन्धीभूते इत्यर्थ, दृशौ नेत्रे, नातत न अननिष्ठ, नोन्मीलयितु शक्त इत्यर्थ, हव्यगन्धयज्ञधूमाद्यमदिप्युतया इति भावः । तनोतेर्लुटि तद्, 'तनादिभ्यस्तथासौ' इति सिचो लुक् । पदे—'अनुदाचोपदेश—' ह्यादिना अनुनासिकलोपः ॥ १६३ ॥

यह नगरमें एक (कलि) की नाक हवनके धुनके सुगन्धने नष्ट-नी (मृतकस्य, अथवा—मृत ही) हो गयी, और वह कलि यहधूमने पाटिन शानों नेत्रोंकी भी नहीं खोला कर्थात् कुछ नहीं देख सका । [हवनके धुनके साथ तथा यज्ञके धूने पानी कलि अतिशय दूषित हुआ] ॥ १६३ ॥

अतिधीना पशम्भोभिरिम प्रत्यनिपिच्छते ।

अङ्गणे गृहिणामप्र खलेनानेन चस्यले ॥ १६४ ॥

अतिधीनामि ते । अत्र पुरे, अतिधीना गृहाग्नपाण्यानाम्, पशाम्भोभिः वरग प्रचालनोदकै, इम कलि प्रति, न तु धार्मिकान् प्रनोति भार, अतिरिपिच्छते सर्वदा अज्ञातत्वात् विनिते, अनिमज्जे इत्यर्थ, पिच्छादिवादिष्यप्रपय । गृहिणा गृहस्थानाम्, अङ्गणे चारुवे, खलेन कुजनेन, अनेन दन्तिना, चस्यले खलितम्, पतितमिन्धर्ष, भावे लिट् ॥ १६४ ॥

वारा (एक नगरमें) अतिधीनों (के चरग होने) के कारणे इन (पानी कलि) के प्रति अतिशय पिच्छित (खट-विच्छेदनादयेन युक्त) गृहस्थोंके आँगनमें कुछ कलि खलित हो गया । [गृहस्थोंके पवित्रतम आँगनमें नहीं प्रवेश कर सका] ॥ १६४ ॥

पुटपाकमिव प्राप क्रतुशुममहोष्मभिः ।

तत्प्रत्यङ्गमिवाकृतिं पूर्णामिद्वयजनानिलै ॥ १६५ ॥

पुट्रेति । क्रतुषु यज्ञेषु, शुष्मगाम् अग्नीनाम्, 'अतिवेधानरो वक्षिर्नोतिहोत्रो घनजय । यर्हि शुष्मा कृशवर्मा' इत्यमर । महोष्मभिः प्रवक्ष्यमन्तापे, पुटपाक निरुद्धमुत्पपात्रे अन्तर्धूमपाकमिवर्थ । प्राप लेभे इवेयुपेक्षा, कलिरिति शेष, तथा पूर्णाना वार्पानहागार्दनास, ऊर्मय तरङ्गा एव, व्यजनानि बालवृन्तानि, तेषाम् अनिलै वायुभि, तत्प्रत्यङ्ग तस्य कले अङ्गनातम् । वीप्सायामव्ययीमाय । अकृति इव द्विजमिवेत्युपेक्षा । कृती ह्येदने इति घानो कर्मणि लुट् ॥ १६५ ॥

यज्ञानिके तीव्र मन्त्रागोमे मानो (पाठा०—इम (कलि) ने) "पुटपाकको प्राप्त किया

१ 'पुटपाकमसौ' इति पाठान्तरम् ।

(दोनों पाददंभाओं तथा आगे पीछेके भवनोंमें बिचे जाते हुए यज्ञोंकी अग्निके तीव्रतम स्तरावृत्ति वद उस प्रकार स तप्त हुआ जिस प्रकार बंद हुए दो पात्रोंके बीच रखी हुई दवा अपने चारों ओर जलायी गयी अग्निके स तापसे सन्तप्त होती है) । और पूर्ण (तडाग, वापी आदि) के तरङ्गरूप पक्षोंकी वायुओंसे उस कल्पा प्रत्येक अन्न मानो बाटा गया हो (प्रत्येक शरीरको बाटनेके समान नगरके रूपागादिके तरङ्गोंकी वायुमें वद कलि पीडित हुआ) ॥ १६५ ॥

पितृणा तर्पणे वर्णे कीर्णाद् वेश्मनि वेश्मनि ।

कालादिव तिलात् कालाद् दूरमन्नमदन्न स ॥ १६६ ॥

पितृणामिति । स कलि, अन्न पुरे, वेश्मनि वेश्मनि गृहे गृहे, वीप्ताया द्विभोव । वर्णे ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टये, पितृणा पितृपितामहादीनाम् अग्निष्वात्तादीनां पितृलोभानाञ्च, तर्पणे तर्पणकर्मणि, पितृनुद्दिश्य तत्तृप्यर्थं सतिलोदकदान रूपैरपक्रियाविशेषे ह्यर्थः । कीर्णात् चित्तिज्ञात्, कालात् तिलात् कृष्णतिलात्, कालात् मृग्योरिव 'कालो मृग्यो महाकाहे समये यमकृष्णयो' इति विश्व । दूरमन्नमर्थम्, अन्नसत् अस्त ॥ १६६ ॥

यद्वापर (नलकी रात्रिधानीम्) प्रत्येक गृहमें (ब्राह्मणादि) वर्णोंके द्वारा (अग्निष्वात्तादि तथा पिता-पितामहादि) पितरोंके तर्पणमें दिये गये काले (कृष्ण वर्णवाले) तिलोंसे काल (यमराज) के समान अत्यन्त डर गया । [वर्णोंके द्वारा प्रत्येक गृहमें पितृतर्पणकालमें काले तिल में कलि उस प्रकार अत्यन्त डरा, जिस प्रकार काले वर्णवाले यमराजसे कोई डरता है] ॥ १६६ ॥

स्नानाणां तिलकैर्मेने स्वमन्तर्दीर्णमेव स ।

कृपाणीभूय हृदय प्रविष्टैरिव तस्य तै ॥ १६७ ॥

स्नानाणामिति । कृपाणीभूय खड्गीभूय, तस्य कले, हृदय वच स्थल, प्रविष्टै हृत् प्रवेशै इव स्थितै, तै प्रसिद्धे, स्नानाणां स्नानयिता, कृतस्नानानामित्यर्थः । तिलकैर्छर्द्ध्वपुण्ड्रादिभि, स कलि, स्वम् आत्मानम्, अन्त वचसि, दीर्णमेव पाटितमेव, मेने लुपुधे ॥ १६७ ॥

यद्वापर उस कलिनै स्नानकर्ताओंके तलवार होकर मानो हृदयमें प्रविष्ट हुए (खड्गाकार ईशदक्ष गोपीचन्दन-मस्तादि द्वारा किये गये) तिलकोंमें अपनेको हृदयमें विदीर्ण हुआ ही समझा । [स्नानकर्ताओंके खड्गाकार कुछ टेटे तिलकोंको देखकर कलि अत्यन्त पीडित हुआ] ॥ १६७ ॥

पुमास मुमुदे तत्र विन्दन् मिथ्यावदावदम् ।

स्त्रिय प्रति तथा वीक्ष्य तमथ स्नानयानयम् ॥ १६८ ॥

पुमासमिति । अथ कलि, तत्र पुरे, मिथ्या अनृतम्, तस्या, वदावद वक्तारम्, 'चरिचलिपतिवदीना वा द्वित्वमध्याक् चाग्यासस्येति वनव्यम्' इति साधु । 'वदो वदावदो वक्ता' इत्यमरः । पुमास नरस्य, विन्दन्-प्राप्नुवन्, मिथ्यावादिन लोक पश्यन् इत्यर्थः । सुमुदे तुतोप, तद्द्वारा प्रवेष्टुमैच्छदिति पाठः । अथ हर्षलाभा नन्तरमेव, त पुरप, छिद्य नारी प्रति, तथा मिथ्या वदन्तम्, वीक्ष्य हृष्टा, तस्य तर्हि मिथ्या नमोक्तं ज्ञात्वेत्यर्थः । ग्लानवान् ग्लान, विषण्ण इत्यर्थः । 'सयोगादेरातो घातो' इति निष्ठामत्वम् । अमृत इति शेषः । छिया सह नमोक्तौ मिथ्याभाषणे दोषाभावादिति भावः ॥ १६८ ॥

वहापर मिथ्या बोलते हुए पुरुषको प्राप्ति करता (पा०—जातना हुआ) वर (कलि) प्रसन्न हुआ, इसके बाद (सुरतमें) स्त्रीके प्रति वैरा (मिथ्याभाषा) देखकर खिन्न हो गया । [स्त्रीके प्रति रतिकालमें मिथ्या जर्मबंधन बोलना दोषकारक नही होनेसे वैरा मिथ्याबचन बोलनेवाले पुरुषको पाकर कलि सुरतकालका नमोक्ति नहीं समझकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ, कि तु बादमें वह रतिकालमें स्त्रीसे परिहासमें मिथ्या बचन बोल रहा है' यह देखकर अत्यंत खिन्न हो गया । क्योंकि बहुत देरके बाद नगरमें प्रवेश करनेका जो एक सहारा मिला था, वह भी दूर हो गया] ॥ १६८ ॥

यज्ञयूपघना जज्ञौ स पुर शङ्कुसङ्कुलाम् ।

जनैर्धर्मधनैः कीर्णान्यालोक्योदीकृताञ्जिताम् ॥ १६९ ॥

यज्ञेति । स कलि, यज्ञयूपं यज्ञीयपशुबन्धनस्तर्भं, घना निरन्तराम्, व्याप्तमित्यर्थः । पुर नगरीम्, शङ्कुसङ्कुलाम् अस्त्रविशेषाङ्गीर्णमिव, तथा धर्मधनैर्धार्मिकै, जनै लोके, कीर्णान्यालाम्, ता पुरीम्, व्याले सर्पे व्यापदै वा, 'व्यालो भुजङ्गमे क्रूरे व्यापदे दृष्टदन्तिनि' इति विश्वः । ओद्दीकृताम् अङ्गीकृतामिव, जज्ञौ शातवान्, तद्वत् पुरासदाम् अमन्यतेत्यर्थः ॥ १६९ ॥

वस (कलि) ने यज्ञके पशु बांधनेवाले (कत्वा, गूल आदिके) राखोंसे व्याप्त उस पुरीको कीलोंसे व्याप्तके समान तथा धार्मिक लोगोंसे व्याप्त उस पुरीको व्यालो (सर्पों या—मत्तवाले हाथियों, या—व्याघ्रादि हिंस्रक जन्तुओं) से मरी हुई समझा । [जिस प्रकार शङ्कुव्याप्त तथा सर्पों (या—मत्तवाले हाथियों, या—क्रूर व्याघ्रादि पशुओं) से व्याप्त वनभूमिमें चलना (या—प्रवेश करना) अतिशय कष्टकर होता है, उसी प्रकार यज्ञके पशु बांधनेवाले स्त्रियोंसे तथा धार्मिक जनोंसे व्याप्त उस पुरीमें चलना (या—प्रवेश करना) कलिके लिए अतिशय कष्टकर हुआ] ॥ १६९ ॥

स पार्श्वमशकद् गन्तु न वराक पराकिणाम् ।

मासोपवासिना ह्याया लहने घनमस्त्वलत् ॥ १७० ॥

१ 'व्याह—' इति पाठान्तरम् ।

म इति । वराक तुच्छ, स कलि, पराक्रिया कृत्स्नतविशेषवारिणाम्, 'द्वाद
शाहोपनामस्तु पगाक परिकीर्तित' इति स्मरणात् । पार्श्वं समोपम्, ग'तु यानुम्,
न भद्रकत् न समथोऽमूत् । शक्नोतेर्लिङ्गिवात् च्छेरछादेश । तथा मापोपवासिता
मास वशाप्य अनशनप्रतिनान्तु, छायालङ्घने प्रतिविम्बाक्रमणेऽपि, घन मृशम्,
अशरलत् अभ्रशत्, दुरासदत्वात् तपस्विनाम् इति भावः ॥ १७० ॥

(कदी भी स्नान नदी मिल्नेमे) अतिशय दोन बह (कलि) 'पराक' प्रतियो (बारह
दिन तक उपवास रहनेका व्रत करनेवालों) के पास नहीं जा सका, और माम भर उपवास
करनेवालोंकी ओ छया (परछाई) को भी लॉवनेमें आयन्त स्खलित हो गया अर्थात् उनकी
परछाई को भी नहीं लॉव सका ॥ १७० ॥

आवाहिता द्विजैस्तत्र गायत्रीमकंमण्डलात् ।

म मन्निदधती पर्यन् दृष्टनष्टोऽभवद्विद्या ॥ १७१ ॥

आवाहितानिति । स कलि, तत्र पुरे, 'द्विजै विप्रे, -आवाहिताम् आहूताम्,
अन एव अर्कमण्डलात् सूर्यविम्बात्, सखिदधती समीपमागच्छन्तीम्, गायत्री
गायत्रीदेवीम्, पर्यन् अवलोकयन्, भिया भयेन, तत्प्रभावादिति भावः । दृष्टनष्ट
पूर्व दृष्ट ईकित, अनन्तर नष्ट नष्ट, मद्य एव अदर्शन गत इत्यर्थः । स्नाता-
नुल्लिखन् पूर्वकालममास । अमवत् अजायत ॥ १७१ ॥

वहावर द्विजो (ब्राह्मणादि तीन वर्गों) के द्वारा 'आवाहित तथा (उनकी अनिश्विष्ट
भक्तिके कारण) सूर्यमण्डलमे (निकलकर उनके) पास आहो हुए (प्राण सम्प्राप्ती अपि
देवता) 'गायत्री' की देवता हुआ वह कलि (उस गायत्रीके) भयमे पहले देखा गया और
बादमें नष्ट हो गया अर्थात् भागकर कहीं छिप गया । [प्राण सम्प्राप्त्यवन्दन करते हुए द्विजों
को देखकर वह कलि गायत्रीके भयमे वहाँमे भागकर छिप गया] ॥ १७१ ॥

म गृहे गृहिणां पूर्णं घने वैश्वानसैर्घृते ।

यन्वाधारेऽमरागारे कापि न स्थानमानशे ॥ १७२ ॥

म इति । म कलि, गृहिणा पूर्णं गृहस्थे व्याप्ते, सम्बन्धमामाश्वे पट्टा । गृहे
भवने, तथा वापानमै वानप्रस्थे, 'वैश्वानसो वनेवासो वानप्रस्थश्च नापस' इति
यादव । घृते वेष्टिते, घने निरन्तरे, 'घने' इत्यत्र 'घने' इति पाठ साधु । तथा

१ 'आगच्छ चरदे । देवि । श्यचरे । ब्रह्मवादिनि ।

गायत्रि । रुद्रन्दसा मातमंहविषे । नमोऽस्तु ते ॥'

इत्यनेन 'तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि घामनामासि प्रियदेवानामनाष्ट देवयज
नमसि' इत्यनेन मन्त्रेण वेति बोध्यम् । २ 'गृहिभि' इति पाठान्तरम् । ३ 'घने
वैश्वानसैर्घने' इति 'प्रकाश' व्याख्यासम्मत पाठः ।

यतिना मन्थासिनाम्, खाधारे आश्रये, यत्पचिष्टे इत्यर्थ । अनरागारे देवालये,
छापि कुत्रापि, स्थान स्थितिम्, न आनन्दो न लेभे, 'अत आत्रे' इत्यभ्यासार्थं,
'अरनोतेश्च' इति मुद्रागम ॥ १७२ ॥

वस (कठि) ने गृहस्थोके (पाठा०—गृहस्थोते) परिदूरी घरमें, वानप्रस्थोने वनात
घन (वनों) में और यतियों (सन्ध्यास्थियों) से आश्रित देवालयोंमें वही भी स्थान (ठहरने
का आश्रय) नहीं पाया ॥ १७२ ॥

हिंसागरी मंथे वीक्ष्य रिसुधोपनि स्म म ।

सा तु सौम्यवृषासक्तः खर दूर निरास तम् ॥ १७३ ॥

हिंसेति । म कठि, मन्थे गोमेषाख्ययज्ञे, हिंसाया गौ सा हिंसागरीम् बाल-
ग्न्यायां गाम् इत्यर्थ । 'गोरसहितलुकि' इति समामान्प्रष्टव्य । वीक्ष्य दृष्ट्वा, रिसु-
धिविनीवनेष्टु सन् इत्यर्थ । निजाधिपत्यसूचक गोवधोद्यम इष्ट्वेति भावः ।
अन्यत्र—रन्तुम् इष्टु, विहन्तुम् इच्छुरित्यर्थ । रमे मनन्नानुपयय । धावति स्म
द्रुतम् अगात्, सा गौस्तु, सौम्य सोमदवतो याग, स एव वृष धर्म, तत्र आसक्त
सङ्गता, धर्माभिष्टायिणी सतीत्यर्थ । सुन्दरवृषमाश्रयन्ता चेति गम्यते । 'वृषो धर्म
बलीवद्' इति मैत्रिणी । बलीवर्षो वृषम् । यत् एव खर रथयोरभेदात् खलम्,
भ्रूमित्यर्थ, खर गर्दभश्च, त कठिम्, दूर विप्रवृष्टेश्चाम्, निरास निश्चिद्येव वृषा-
क्रान्ताया गोविजातीयत्वात् खरनिराकरण मुच्यमिति भावः ॥ १७३ ॥

वइ (कठि) 'गोमेष' नामक यज्ञमें हिंसार्थे कायी गयी गौको देखकर रमा करने (ने-
वधकर स्व-धर्म-शुद्धि कर्म समझकर प्रसन्न होने) की इच्छा किया, किन्तु सोमदेवनाथ
(यागरूप) धर्ममें आसक्त अर्थात् धर्माभिष्टायिणी वस गौने खर (अतिशय क्रूर, पक्षा०—
'खल' में भेद नहीं होनेसे खल अर्थात् दुष्ट) वस्तुको अत्यन्त (पाठा०—दूरमें ही) निम्नकर
कर दिया । (पक्षा०—वइ कठि यज्ञमें हिंसार्थे कायी गयी गौको देखकर रमा (मैथुन)
कर-की इच्छा करता हुआ दौड़ा, किन्तु वृषम् (सोम) में आसक्त वन (गौ) ने मन्थे (के
मुख्य, या गवाक्ष) उस (कठि) को अत्यन्त (पाठा०—दूरमें ही) तिरस्कार कर दिना
(सुन्दर वृषमामक्त गौका बिकटोप दशेको तिरस्कार करना उचित हा है) । अथवा
पाठा०—(याज्ञिक ऋषियोंके मुखमें अर्थात् मुखमें उच्चारित हिंसार्थक ('अनोपमान पशु
मन्थने' इत्यादि) वाणीको सुनकर रमा करने (ये पशुहिंसारूप मेरा प्रिय काम करनेका
समर्थन करते हैं, ऐसा समझकर प्रसन्न होने) की इच्छा करता हुआ दौड़ा, किन्तु सोम
देवनाथ यज्ञरूप धर्ममें आसक्त अर्थात् उक्त धर्म-सम्बन्धिना उस वाणीने (वाङ्मने 'वइ
पशुहिंसारूप मेरा प्रिय कार्य करनेवाला वाणी नहीं है, किन्तु वस्तुस्थितिवाणी वाणी है' पद्म
वाक्यनेपर) ऊपर अर्थात् नित्यैव वन कठिम् अत्यन्त (पाठा०—दूरमें ही) तिरस्कार कर
दिया) ॥ १७३ ॥

१ 'सुखे' इति पादान्तरम् । २ 'दूराद्विरास' इति पादान्तरम् ।

इष्टिं यागम्, कुर्वन्त सम्पादयन्तम्, दद्या अचलोक्य, ज्ञात्वा इत्यर्थः । भद्रयत् पर्यंतप्यत, 'सोऽग्रामण्या सुरा पिबेत्' इति श्रुते । तस्मिन् यज्ञे सुराग्रहणस्य शास्त्र विहितत्वेन पापाभावात् निराशोऽभूत् इति भावः ॥ १७९ ॥

यद् (कलि) ब्राह्मणको मदिरा सेना हुआ जान (देख) कर प्रसन्न हुआ, (किन्तु बादमें उस मदिरासे) इन्द्रयाग करते हुए उस (ब्राह्मण) को देखकर (उस यागमें मदिराका निषेध नहीं होनेसे शास्त्रोक्त धर्मकार्य होता हुआ समझकर) सन्तप्त हो गया ॥ १७९ ॥

अपरयद् यावतो ब्रह्म-विदा ब्रह्माञ्जलीनसौ ।

उद्धीयन्त तावन्तस्तस्याञ्जलयो हृद ॥ १८० ॥

अपरयदिति । असौ कलि, ब्रह्मविदा वेदाध्यायिनाम्, यावत् यावत्सङ्ख्यकान्, ब्रह्माञ्जलीन् वेदाध्ययनकालीनपाणिद्वयमम्पुटान् । 'सदृशं हस्ताब्धये स हि ब्रह्माञ्जलि स्मृत' इति स्मरणात् । 'अञ्जलि पाठे ब्रह्माञ्जलि' इत्यमरः । अपरयत् ऐक्येन, तस्य कले, हृद हृदयात्, तावन्त तावत्सङ्ख्यका, अञ्जलयः रक्षाञ्जलयः, उद्धीयन्त उद्धीमा, निर्गता इत्यर्थः ॥ १८० ॥

इस (कलि) ने वेद पढ़नेवाले छात्रोंके गिनती ब्रह्माञ्जलिपोंको देखा, उसके हृदयमें छतनी ही रक्तकी अञ्जलिया निकल पड़ीं अर्थात् उसका हृदय वेदपाठों छात्रोंको देखकर विदीर्ण हो गया । तब उनके शरीरका रक्त सूख गया [वेदाध्ययनके आरम्भ तथा अन्तमें गुरुके चरणद्वयकी वन्दनाकर पढ़ने समय शाय मौनमेंको 'ब्रह्माञ्जलि' कहते हैं] ॥ १८० ॥

स्नातक घातुक जज्ञे जज्ञी दान्त कृतान्तवत् ।

वाचयमस्य दृष्टयैर यमस्यैव विभाय स ॥ १८१ ॥

स्नातकमिति । स कलि, स्नातक समाप्तवेद जनम्, 'स्नाताद्वेदसमाप्तौ' इति कप्रत्ययः । घातुक स्वस्य हन्तारम्, 'लपत-इत्यादिना उक्प्रत्ययः । जज्ञे मेने, दान्त तप इलेशसह, तपस्त्रिनमित्यर्थः । 'तप क्लेशसहो दान्त' इत्यमरः । कृतान्त वत् यमतुल्यम्, जज्ञी जुजुधे, तथा वाच यच्छतीति वाचयम मौनव्रती तस्य, 'वाचि यमो धृते' इति छप्रत्ययः । 'वाचयमपुरन्दरी च' इति निपातनात् साधु । दृष्टयैव दर्शनेनेव, यमस्यैव शमनस्यैव, विभाय भीतवान्, मिथो लिङ् । सर्वत्रैवा तप-प्रभावस्य दुर्लभत्वात् भीतिरिति दृष्टव्यम् ॥ १८१ ॥

१ 'तदस्त्र-' इति पाठ उपेक्ष्य, इति 'प्रकाश'कारः ।

२ 'स्नातवेदसमाप्तौ' इत्युचितम् । यावादिगणे एतस्मैव दशमात् । अत एवामरकोपस्थाप्याने मानुजिदीक्षित — 'स्नाताद्वेदसमाप्तौ' इति कन् इति मुकुटः, तच्च, उक्तवचनादर्शनात्, इत्याह 'स्नातक'शब्दस्य व्याख्यायाम् (अमर २।ज०३३) । तत्रैव श्रीरस्वामिना च — 'स्नातवेदसमाप्तौ' इति यावादिवाक्यम्, इत्युक्तम् ।

वद् (कलि) स्नानक (त्रियास्नानक, व्रतस्नानक और उभयस्नानक) को धानक (अपने अर्थात् कलिको मारनेवाला) समझा, दान्त (तस्नानके कलेछको सहनेवाले तपस्वी) को यमराजके समान (प्राग्नाशक) समझा और वाचयम (अर्जुन मौन धारण किये हुए) की दृष्टि (देखने) में ही यमराजकी दृष्टिके समान ढर गया । (वाचयम त्रिदिकों द्वारा अपने देखे न गये या स्वयं वाचयम त्रिदिकों को देखे जानेपर कलि उम प्रकार ढर गया, जिस प्रकार उनके द्वारा अपने देखे जाने पर या स्वयं यमको देखकर ढर गया हो । उन सबके तरके प्रभावने पापतना कलिको बहुत भय हो गया] ॥ १८१ ॥

स पापण्डनान्वेषो प्राप्नुवन् वेदपण्डितम् ।

जलार्थीशानल प्राप्य पापस्तापादपामरत् ॥ १८२ ॥

म इति । पाप ऋषि, स कलि, पापण्डनान्वेषो शास्त्रदूषकजनानुमन्धायी सन्, वेदपण्डित वैदिक, प्राप्नुवन् लभमान, परदक्षित्यर्थ । जलार्थी पानीया-
भिलाषी, जन इति शेष । अनलम् अग्निम्, प्राप्येश लब्ध्वेश, तापात् तत्तेजोजगम्य
मस्तापाद्धेतो, अपासरत् अवसृत् । ब्रह्मतेजस पापण्डदाहकत्वादिनि भाव ॥ १८२ ॥

५ गण्टी लोगोंको खोजना हुआ पायी वह कलि वेदके विद्वानों को पाकर (उनके तप प्रभावानन्द) तापने उम प्रकार दूर हट गया, जिस प्रकार पानीको चाटना हुआ व्यक्ति अग्निका पाकर (उसके) तापने दूर हटना है ॥ १८२ ॥

तत्र ब्रह्मण पश्यन्नतिमन्तोपमानशे ।

निर्वर्ण्य सर्वमेधस्य यज्जान वयलति स्म स ॥ १८३ ॥

तत्रेति । स कलि, तत्र पुरे, ब्रह्मण ब्राह्मण घातयन्तम्, जनमिति शेष ।
'ब्रह्मण्गृहेषु—' इति क्विप् । पश्यन् विच्छेदयन्, अति अतितराम्, सन्तोष
हर्षम्, आनन्दो प्राप इत्यर्थ । अथ त ब्रह्मण सर्वमेधस्य सर्वमेधाख्ययागस्य,
यज्जान विधिनेष्टवन्तम्, यथाविधि होतारमित्यर्थ । निर्वर्ण्य निश्चित्य, वयलति स्म
सन्ततोऽभूत्, 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेन' इति ध्रुवा सर्वमेधे ब्राह्मणादिसर्वाङ्ग-
विधानात् तस्य धर्मात्वादिति भाव ॥ १८३ ॥

वहा पर वह (कलि) ब्रह्मणोंको देखना हुआ अत्यन्त स गौरवो प्राप्त किया, किन्तु
उने विधिपूर्वक किये जाने हुए सर्वमेधयज्ञ निश्चिन्कर अर्थात् जानकर उत्तम (सन्तत) हो
गया ॥ १८३ ॥

यतिहस्तस्थितैस्तस्य राम्भैरारम्भि तर्जना ।

दुर्जनस्याजनि किञ्चिद्विर्गृहिणा वेदयष्टिभिः ॥ १८४ ॥

यतीति । दुर्जनस्य खलस्य, तस्य कले, यतीना मरुकरिणाम्, परिम्राजकाना-
मित्यर्थ । हस्तेषु, करेषु, स्थितै वर्तमाने, राम्भै वेणुदण्डै, 'त्रिदण्डेन कमण्डलु'
इति स्मृतेरिति भाव । 'राम्भस्तु वेणव' इत्यमर । तर्जना त्रासनम्, आरम्भि

कृतेत्यर्थः । तथा गृहिणा गृहस्थाश्रमिणाम्, वेदयष्टिभिः सन्दर्भैरेणुदण्डेभ्यः, 'वेणुमान् स कमण्डलुः' इति स्मृते, इति भावः । विलष्टि क्लेश, अजनि जनिता जनेष्वन्तात् कर्मणि लुट् । 'यति पाराशरी भोमस्तत्कर्म मस्करी यति । बद्धदर्भा वेदयष्टिर्दम्भो राग्मस्तु वेणवः ॥' इति सर्वत्र यादवः ॥ १८४ ॥

सन्ध्यासियोंके हाथमें स्थित वासके दण्डों उस (कलि) को मस्तिन करने लगे और गृहियों (गृहाश्रमियों-गृहस्थों) की वेदयष्टियों (वेदरूप छडियों, अथवा—वेदोंके 'कम, णदा' रूप यष्टियों) से दुष्ट (उस कलि) को क्लेश हुआ ॥ १८४ ॥

मण्डलत्यागमेवैच्छद् वीक्ष्य स्थण्डिलशायिनः ।

पवित्रात्लोकनादेप पावत्रामममिन्दत ॥ १८५ ॥

मण्डलेति । एष कलि, स्थण्डिलशायिनः अनासृतभूमिस्तपनप्रतिनः । 'प्रते' इति इति । 'यः स्थण्डिले ब्रजवशाच्छेते स्थण्डिलशाटवसौ' इत्यमरः । वाष्य हृष्टा, मण्डल याग वैशत्यागम् एव, एवञ्च अवाञ्छन्, तथा पवित्राणां कुशानाम्, 'अस्त्री कुशं कुथोर्दम्भं पवित्रम्' इत्यमरः । आलोकनात् दर्शनात्, एते कुलिशात्, प्राप्त भयम्, अविन्दत अलभत । 'यथा शककरे वज्रं तथा विप्रकरे कुशाः' इति स्मृते रिति भावः ॥ १८५ ॥

यह (कलि) विस्तर (कुशामन आदि) रहित भूमिरर सोनेशके प्रतिपोंको देखकर (नरुके) राजपको ही छोड़नेको इच्छा, किया गया पवित्रके देखनेमे वज्रने उतरान भयके समान भयको प्राप्त किया । [गमरहित अप्रमाण युक्त कुशवज्रको 'पवित्र' कहा है । 'इन्द्रके हाथमे वज्रके समान ब्राह्मणोंके हाथमें कुशा हैं' ऐसे स्थितिके कहनेमे यह कलि वज्रने—के समान उन कुशाओंसे डर गया] ॥ १८५ ॥

अपश्यजिनमन्विष्यज्जिन ब्रह्मचारिणाम् ।

क्षपणार्थं सदीक्षस्य न चाक्षपणमैक्षत ॥ १८६ ॥

अपश्यदिति । स कलि, जिन जिनास्य बौद्धदेवनम्, स्वमित्रमिति भावः । अन्विष्यन् भ्रमन्, ब्रह्मचारिणा ब्रह्मचर्यपरावगणानाम्, अजिनम् आसनायै मृग चर्म, जिनराहित्यञ्च, अपश्यत् ऐक्षत, किञ्च क्षपणार्थं स्वमित्रबौद्धसन्ध्यामिनोऽन्वेषी, सदीक्षस्य दीक्षितस्य राज्ञः, अक्षपणं पाशकदेवनम्, क्षपणकरादित्यञ्च, ऐक्षत अपश्यत्, 'राजसूये अमिपेचनीये अष्टावक्षैर्दीक्ष्यन्तीति श्रवणात्, तदुभयमप्यस्य तु सहमिति भावः ॥ १८६ ॥

यह (कलि) जिन (बौद्ध-विशेष) को खोजता हुआ, ब्रह्मचारियोंके ओढ़नेका मृगचर्म (पक्षा०—जिनाभाव) को ही देखा तथा क्षपणको चाहता (खोजता) हुआ, (राजसूय यज्ञमें) दीक्षित (राजा) के अक्षपण (जुएके दावपर रखे हुए धनराशि, पक्षा०—क्षपण

१ 'राजसूये यजमानोऽक्षैर्दीक्ष्यतीति श्रुतेरिति 'प्रकाश' व्याख्या ।

भाव) को देखा । [राजमूय यद्यपि जुआ खेलना दोषग्रह नहीं माना गया है, अतः उन्हें देखकर कलिको स्वयंश्रीव किमोके नहीं मिलनेसे उसके लिए बड़ा सभी दुःखदायी ही हुए] ॥

जपतामक्षमालासु बीजाकर्पणदर्शनात् ।

स जीवाकृष्टिकष्टानि विपरीतदृगन्वभूत् ॥ १८७ ॥

जरतामिति । विपरीतदृक् वेदविरुद्धदर्शी, स कलि, जपताम् इष्टमन्त्रस्य असकृदुच्चारण कुर्वताम्, जमानामिति शेष । अक्षमालासु अपमालिकासु, स्थितानां बीजानां पद्मादिवीजानाम्, जपसङ्ख्यानार्थानामिति भाव । आकर्पणस्य आकृष्टे, पुनः पुनर्भ्रमणस्येति यावत् । दर्शनात् अवलोकनम्, जीवाकृष्टिकष्टानि निजप्राणा-कर्पणदुःखानि, अन्वभूत् अनुभूतवान् ॥ १८७ ॥

वेदके विपरीत देखनेवाला वह (कलि) अक्षमालाओं (रुद्राक्ष, पद्माक्ष इत्यादि मालाओं) में (गायत्री आदि मन्त्र) जपनेवालोंके (मन्त्र-गणनाके लिए) बीजों (मनियों) का खाचना (फेरना) देखनेमें अपने जीवके खींचने (बाहर निकाले जाने) के कष्टोंका अनुभव किया । [गायत्र्यादि मन्त्र जपना देखकर वेदविरुद्ध दृष्टा कलिको अपने प्राणोंके निकलनेके समान कष्ट हुआ] ॥ १८७ ॥

त्रिसन्ध्य तत्र विप्राणां स पश्यन्नघमर्पणम् ।

परमैच्छद् दृशोरेव निजयोरपकर्पणम् ॥ १८८ ॥

त्रिसन्ध्यमिति । स कलि, तत्रःपुरे, त्रिमंथ सन्ध्यात्रये, 'समाहारैकत्वे वा तस्य' इति नपुंसकत्वम्, आद्यन्तमयोगे द्वितीया । विप्राणां ब्राह्मणानाम्, अघमर्पणं तत्तन्मन्त्रमाध्य पापहरं चुलुकोदकेन नासास्पर्शाभिमिश्रितं त्रिपाविशेषम्, पश्यन् अवलोकयन्, परं केवलम्, निजयो दृशोरेव स्थानेप्रयोरेव, अपकर्पणम् उत्पादनम्, ऐच्छत् अवाञ्छत् । अघमर्पणक्रिया इष्टा नेत्रोत्पादनवद्दुःखमाप इति भाव ॥ १८८ ॥

वह (कलि) बड़ापर तानों मन्ध्याओं (प्रातःसन्ध्या, मध्याह्नसन्ध्या और सायसन्ध्या) में ब्रह्मगोत्रा अघमर्पण ('ऋग्वेद सत्यब्राभिष्टाव' मन्त्रसे चुल्लुमें अन्न लेकर शानिका स्पर्श करने हुए क्रिया-विशेष करना) देखकर केवल अपने नेत्रोंको ही निकालना चाहा [पाठा—नेत्रोंको निकालना ही अच्छा माना] अर्थात् अपने नेत्रोंको निकालनेसे भी अधिक दुःखको प्राप्त किया ॥ १८८ ॥

अद्राक्षोत् तत्र किञ्चिन्न कलि परिचितं क्वचित् ।

भैमीनलव्यलीकाणु-प्ररनकाम परिभ्रमन् ॥ १८९ ॥

अद्राक्षीदिति । कलि युगाधम, भैमीनलयो दमयन्तीनैपथयो, व्यलीकाणो अकार्यलेशस्य, किञ्चिन्मात्रदोषस्यापीत्यर्थ । 'व्यलीकमप्रियाकार्यवैलक्ष्येऽपि पीडने'

१ 'वरमैच्छत्' इति पाठान्तरम् । २ 'किञ्चिन्न' इति पाठान्तरम् ।

इति विश्व । प्रश्न पृच्छाम्, कामयते वाञ्छति इति तत्काम सन्, 'शीलिकामि-
भक्ष्याचरिभ्यो ॥' । तत्र पुरे, परिभ्रमन् विचरन्, कचित् कुत्रापि, कच्चिदपि कमपि,
परिचितं सस्नुतम्, जनमिति दोष । न अद्वाचीत् न पेक्षित ॥ १८९ ॥

कलि दमयन्ती तथा नलके लेशमात्र भी दोषकी पूछनेकी इच्छा कर उस नगरीमें
धूमना हुआ कहींपर किमी परिचित (उनके लेशमात्र भी दोष जानकार, अथवा—अपने
सुपरिचित) नहीं देखा । (अथवा— धूमना हुआ कहींपर (किसी व्यक्तिमें—दमयन्ती,
नल तथा वशाके निवासिदोमें) कुछ भी (थोड़ा भी दोष) नहीं देखा अर्थात् वशाके सभी
लोगोंको सब्बा दोषहीन ही देखा) ॥ १८९ ॥

तप स्वाध्याययज्ञानामकाण्डद्विष्टतापस ।

स्वत्रिद्विषा श्रिय तस्मिन् पर्यन्तुपतताप स ॥ १९० ॥

तप इति । अराण्ये जनवसरे, अकारणमित्यर्थ । द्विष्टा विरुद्धा, तापसा
तपस्विन येन तादृश, स कलि, तस्मिन् पुरे, स्वत्रिद्विषा निजविरोधिनाम्, तप-
स्वान्द्रायणादिर्घ्या, स्वाध्याय वेदपाठ, यज्ञा सोमादयः सेयाम्, श्रियः समृद्धिम्,
पर्यन्तु अवलोकनम् उपतताप सन्तप्तो बभूव, शत्रुवृद्धेरसहनीयत्वादिति भावः १९०

अकारण तपस्वियों के साथ द्वेष करनेवाला कलि उस पुरीमें अपने बैरी तप, स्वाध्याय
और यज्ञकी सम्पत्ति (अथवा—उन्नति) को देखकर (शत्रु-समृद्धिको सहन नहीं कर
सकनेके कारण) सन्तप्त हुआ । [पञ्चाग्नि आदिसे साध्य 'तप', वैशदिका पठना 'स्वाध्याय'
और देवोंके उद्देश्यसे द्रव्यत्याग करना 'यज्ञ' कहलाता है] ॥ १९० ॥

कन्न तत्रोपनम्राया विश्वस्या वीक्ष्य तुष्टयान् ।

स मन्तौ त त्रिभाष्याथ वामदेवाभ्युपासकम् ॥ १९१ ॥

कन्नमिति । ॥ कलि, तत्र पुरे, उपनम्राया उपासकस्य समीप स्वपमागताया,
विश्वस्या सर्वस्या, सजातीयाया विजातीयाया गम्याया अगम्यायाश्चेत्यर्थ,
क्षिया इति दोष । कन्न कमितारम्, रन्तारमि यर्थ । कन्नन पुरुषमिति दोष ।
'नमिऋषि-' इत्यादिना रश्मयः । वीक्ष्य दृष्ट्वा, तुष्टयान् तुनोप, तस्य महापात
क्रियेन स्वाश्रयलाभाशयेति भावः । अथ अनन्तरम्, विशेषनिरीक्षणानन्तरमित्यर्थ ।
त कन्न पुरुषम्, वामदेव तन्नामदेवताविशेष, तस्य अभ्युपासक पूजकम्, विभाव्य
विमृश्य, मग्शी विपसाद् । तदुपासकाना 'न कान्चन स्वयमागता परिहरेत्' इति
श्रुतेस्तदुपभोगस्य धर्म्यत्वादिति भावः ॥ १९१ ॥

वह (कलि) वहापर उपासकके समीप आयी हुई सर्व जातिवालोंके साथ सम्मेलन
करनेवाली स्त्रीके कामुक (किमी पुरुष) को देखकर (यह महापातकी होनेसे मेरे पक्षका है

येमा समस्तकर पङ्क्ते) प्रसन्न हुआ, (किंतु) बादमें उसको 'वामदेव' नामक देवता-विशेष (अथवा पाठा०—'वामदेव'से दृष्ट 'साम'-विशेष) का उग्रसक जानकर ('वामदेवोपासने सर्वा स्त्रिय उग्रमोरनि' इम श्रुतिके अनुसार धर्म-विरुद्ध काम करनेवाला नहीं होनेसे अपना विपरीत-वर्मात्मा मानकर) स्त्रिय हो गया ॥ १९१ ॥

वैरिणी शुचिता नस्मै न प्रवेशे दन्ते भुवि ।

न वेदध्वनिरालम्ब्यमन्त्रे प्रिततार च ॥ १९२ ॥

वैरिणीति । वैरिणी विरोधिनी, क्लेशरिति भाव । शुचिता लोकात्मा याज्ञाभ्यन्तरशुद्धता गोमयाद्यनुषेपनादिजनितमूमिशुद्धता च, तस्मै कण्ठ्ये, भुवि निपद्य भूमौ, प्रवेशम् अन्तर्गमनम् न ददौ न दत्तवनी, तथा अम्बरे च नगरमभ्यधिगतमसि च, वेदध्वनि ग्रहघोष, आलम्ब्य आलम्बनम्, अवस्थानावकाशमित्यर्थ । न विततार न ददौ ॥ १९२ ॥

(कलिकी) विरोधिनी पवित्रता (लोगोंकी गंवार आदिके द्वारा लीपने-पोतनेसे बाहरी शुद्धि तथा रागादेषादि-शुद्ध होनेसे आभ्यन्तर शुद्धि) ने उस (कलि) के लिए पृथ्वीपर प्रवेश नहीं दिया अर्थात् शुद्धिके करण कलि पृथ्वीपर नहीं ठहर सका और (भाकाशत्रक जूननी दुर्ग) वेदध्वनिने आकाशमें (जो उस कलिके लिए) आश्रय नहीं दिया ॥ १९२ ॥

दर्शस्य दर्शनात् कष्टमग्निष्टोमस्य चानशे ।

जुघूर्णे पौर्णमासेऽस्मी सोम सोऽमन्यतान्तकम् ॥ १९३ ॥

अतन्तरश्लोकद्वय 'प्रक्षिप्तमिति पूर्वैस्त्वेकितम्, तथाऽपि क्षिप्त् स्मितत्वात् व्याख्यायते-दर्शस्त्वेत्येवादि । स कलि, दर्शस्य दर्शयागस्य, तथा अग्निष्टोमस्य तदा ययागविशेषस्य च, दर्शनात् अवलोकनात्, कष्टमहत् दुःखम्, आनशे प्राप तथा पौर्णमास पूर्णमासेष्टिम्, ईक्षते पश्यति इति पौर्णमासेऽगौ पौर्णमासयागदर्शी सन्, जुघूर्णे बभ्राम, मूर्च्छितप्रायोऽमृदित्यर्थ । तथा सोम सोमयागज्ज्ञ, अन्तरक मृत्पुम् । अमन्यत अत्रुभ्यत, मरगयातनामिष यातनामन्वभूदित्यर्थ ॥ १९३ ॥

'दर्श' (अमावस्या तिथिका यज्ञ) तथा 'अग्निष्टोम' यज्ञको देखनेसे कलिको कष्ट हुआ, 'पौर्णमास' (पूर्णमासको होनेवाले यज्ञ) को देखनेवाला वह (कलि) चक्रा गया अर्थात् 'पौर्णमास' यज्ञको देखनेसे कलिको चक्रर आ गया और 'सोम' यज्ञको अपने मरण हो माना अर्थात् सोमयज्ञने मरणके समान यातनाको प्राप्त किया । [उन यज्ञोंकी देखनेसे कलिको वर्णानाशन कष्ट हुआ । लोकमें भी किसी व्यक्तिको पहले उग्रदिग्बन्ध कष्ट, तदनन्तर चक्रर (मूर्च्छा) और अन्तमें मरण होता है, सो कलिको भा कमश वैसा पीटिन होना ठीक ही है] ॥ १९३ ॥

१. पर 'प्रकाश'कृता तु व्याख्यातमेवेति चोध्यम् ।

तेनान्दश्यन्त वीरघ्ना न तु वीरहणो जिना ।

नापश्यत् सोऽभिनिर्मुक्तान् जीवन्मुक्तानवैक्षत् ॥ १६४ ॥

तेनेति । तेन कलिना, वीरघ्ना चात्रघर्मानुसारेण रणे वीरघातिन, जना इति शेष, 'अमनुष्यकृत्' च इति चकारादच्, अत एव 'वचिन्मनुष्यकृत्' के च' इति कौमार सूत्रम् । अदृश्यन्त ऐक्ष्यन्त, तु किन्तु, वीरहण चात्रघातिन, जिना भट्टभास्करा अग्नित्यागिन वा वीरहा वा, 'एष देवाना योऽग्निमुद्भासयत्' इति ध्रुतेरिन्धनेन उपलक्षिता इति यावत्, न, अदृश्यन्त इति पूर्वश्रवणा अन्वयः । स कलि, अभिनिर्मुक्तान् यान् सुप्तान् अभि सूर्योऽस्तमेति ते अभिनिर्मुक्ता तान्, मुञ्चते कर्मणि क् । सूर्यास्तकाले निद्रितान् आचारहीनान्, न अपश्यत् न व्यलो-
कयत्, किन्तु जीवन्मुक्तान् आत्मारामान् पुण्यान्, जनान्, अवैक्षत् अपश्यत् १९४

उस (कलि) ने (युद्धमें) शरवीरोंको मारनेवाले लोगोंको देखा, (किन्तु) क्षत्रियोंको मारनेवाले भट्टभास्करोंको नहीं देखा । (अथवा—सदाचार अथवा—अग्निहोत्रका त्याग करने वालोंको नहीं देखा । अथवा—वीरोंको मार सकनेवाले लोगोंको देखा, किन्तु वीरोंको मारे हुए लोगोंको नहीं देखा—इसमें यह सूचना होगा है कि यद्यपि उस राष्ट्रमें देने वीर थे जो वीरोंको युद्धमें मार सकने थे, कि तु इनका सुशासन एवं शासन तथा धर्मशासक राज्य था कि सभी लोग भारीचारेके नातेमें रहने थे, किन्तु वीरको कोई दूसरा वीर मारता नहीं था) । तथा अभिनिर्मुक्त (सूर्यास्त होनेके सोनेवाले, अथवा अर्धार्थिक) लोगोंको नहीं देखा और जीवन्मुक्तों (जीवितानुष्ठानमें विपदपरित्यागी होनेसे आत्माराम ब्रह्मज्ञानियों) को देखा ॥ १९४ ॥

स तुतोपाञ्जतो विप्रान् दृष्ट्वा स्पृष्टपरस्परान् ।

होमशेषीभवत्सोम मुजस्तान् वीक्ष्य दूनवान् ॥ १६५ ॥

स इति । स कलि, स्पृष्ट कृतस्पर्शम् परस्परम् अन्योऽन्य चै तान् स्पृष्टपरस्परान् परस्परस्पर्शपूर्वकमित्यर्थः । अथवा अक्षयत्, विप्रान् ब्राह्मणान्, दृष्ट्वा विलोक्य, तुरोप मुमुदे, भोजनकाले परस्परस्पर्शस्य निषेधात् तद्विपरीतव्यवहारिणस्तान् दृष्ट्वा स्वाश्रयलाभाशया सन्तुष्ट इत्यर्थः । अथ तान् पूर्वोक्तप्रकारेणाभूतो विप्रान्, होमशेषीभवन्त होमावशिष्टम्, सोम सोमलताचूर्णम्, मुञ्चते अभन्ति इति भुज, वीक्ष्य दृष्ट्वा, ज्ञात्वा इति यावत् । दूनवान् परतप्तवान्, ह्युत्तमनुभूतवानित्यर्थः । 'न सोमेनोच्छिष्टो भवति' इति श्रुते, इच्छुदण्डे तिले सोमे नोच्छिष्टो 'मनुराग्रीवो' इति स्मृतेश्च सोमभक्षणे परस्परस्पर्शदीपामावादिति भावः ॥ १९५ ॥

वद (कलि) परस्परमें स्पर्शकर जाने हुए ब्राह्मणोंको देखकर (अथर्धाचारानुक्त होनेसे आश्रयप्राप्तिकी सम्भावनाकर) सन्तुष्ट हुआ, (किन्तु) होम करनेपर बचे हुए सोमरत्ना

चूर्णको खाने हुए उनको देखकर (वैसा करना बगविरुद्ध नहीं होनेसे अपने आश्रय पानेकी आज्ञा नष्ट हो जानेसे) व्यथित हुआ ॥ १९५ ॥

हृद्वा जनं रजोजुष्टं तुष्टिं प्राप्नोऽभ्युत्थित्यसौ ।

त पश्यन् पावनमन्मानात्मस्थं दुःस्थस्तनोऽभवन् ॥ १९६ ॥

हृद्गेति । अमौ कलि, रजोमि धूलिमि, जुष्टं मेवितम्, व्याप्तमिति यावत् । जन लोकात्, हृद्वा बीज्य, झटिति ज्ञान्, तुष्टिं सन्तोषम्, प्राप्नोत् अन्भत, धूलि-मन्ति जन हृद्वा जनोऽयं निषिद्धस्वाग्रहारादिवुरोध्यधूलिं यास इति निश्चित्य स्वाश्रय लभसमाश्रयया तुष्टोपेत्यर्थः । तत् विशेषनिरीक्षणान्तरमिदं । तत् रजोजुष्टं जनम्, पावनं पवनसम्बन्धि, यत् स्नानं गोरजं स्नानमित्यर्थः । तादृशी अवस्था दृष्टा यस्य तादृशम्, वायव्यस्नाननिरतमिदं । पश्यन् विष्टोक्तवन्, जानन् ह्यर्जुन । दुःस्थं दूनं, दुःस्तिन इत्यर्थः । अमवत् अज्ञायन । 'वाहगन्तु जलस्नानं सापो द्विष्टेति मान्त्रिकम् । वायव्यं गोरजं स्नानमाग्नेयं भस्मनोदितम् ॥ यत्तु सात-पथयोगे दिष्टं तदिदं पञ्चधा ॥' इति 'मनुस्मृत्यविधिसंस्नानान्तर्गतस्य वायव्यस्नानस्य वैधवात् तद्वदर्थः तद्दृष्ट्वा तु क्षितोऽभवदित्यर्थः ॥ १९६ ॥

वह (कलि) धूलिसे व्याप्त मनुष्यको देख (पाठा०—जुन) कर (रजस्वला कोके रत्नमे, अर्थात् गंधे आदिके अविविध धूलिसे व्याप्त समस्तकर अपने आश्रय मिलनेकी आज्ञासे) झट मन्तोषकी प्राप्त किया अर्थात् प्रसन्न हो गया, (किन्तु) बादमें (विचार करनेपर) वायु स्नान किये हुए उसे देखता अर्थात् जानता हुआ वह (कलि) दुःखित हो गया । [गौओंके मुरमे बज्जी हुए धूलिके द्वारा स्नान करनेकी 'वायव्य' स्नान स्मृतिकारोंने कहा है] ॥ १९६ ॥

अथावन् कापि गा वीन्य हन्यमानामय मुदा ।

अतिथिभ्यस्तु तां बुद्ध्या मन्दं मन्दोऽन्यत्तन ॥ १९७ ॥

अथावदिनि । मन्दं मूढ, अथ कलि, तापि कुत्रचित् प्रदेशे, गा मौरभेदीम्, हन्यमानाम् नाटयमानाम्, बीज्य हृद्वा, मुदा हर्षेण, अथावत् द्रुतमगच्छत् । तु किन्तु, तां गाम्, अतिथिभ्यः अतिथ्यर्थं हन्यमानाम्, बुद्ध्या ज्ञात्वा, मन्दं शनैः शनैः, न्यवर्त्तनं स्वरमन्, मन्दैव प्रयागच्छदित्यर्थः । 'महोष वा महाज वा भोग्नि धायोपकृष्टरदेत्' इति विज्ञानादिति भावः ॥ १९७ ॥

वह (कलि) किसी स्थानपर मारी जाती हुई गायको देखकर (उसे अपने कार्य होनेसे अपने आश्रयलागनी आज्ञाकर) हर्षने दीया, (किन्तु) उत्तको (पाठा०—वैसा करना) अन्विष्टोंके लिए जानकर मूढ (वह कलि) लौट आया (अथवा—शीघ्र लौट आया) ।

१ 'धुखा' इति पाठान्तरम् । २ 'प्राप्नो' इति पाठान्तरम् ।

३ मनु स्मृताविद् वचन नोपलभ्यते ।

[अतिथियोंके लिए बैक, बत्सरी या बकरेका मांस देना साख-विहित होनेसे उने धर्मार्थ समझकर कलि वापस आ गया । 'उत्तररामचरित' नटकमें भी वमिष्ठ मुनिके जिये बत्सरीको मारनेका वर्णन मिलता है । किन्तु कलियुगमें देवरसे पुत्रोत्पत्ति, मांसे श्राद्ध करने तथा अतिथियों मांस भोजन करानेका स्मृतिकारोंने निषेध किया है, अतः यह प्रसङ्ग सत्ययुगका होनेसे धर्मोपेत है] ॥ १९७ ॥

हृष्टयान् स द्विजं दृष्ट्वा नित्यनैमित्तिकृत्यजम् ।

यजमान निरूप्येण दूर दीनमुग्रोऽद्वयत् ॥ १९८ ॥

हृष्टयानिति । स कलि, नित्यनैमित्तिकृत्यज दानहोमादिकर्मयोगिनम्, क्षिप् । द्विज विप्रम्, दृष्ट्वा वीक्ष्य, हृष्टयान् मुमुदे । अथ एन पूर्वोक्तद्विजम्, यजमान यने दीक्षितम्, निरूप्य निश्चित्य, दीनमुग्र विपण्णवदन सन्, दूर विप्रदृष्टदेशम्, अद्वयत् अधावत्, पलायन इत्यर्थः । दीक्षितो न ददाति न जुहोति न वदतीति दीक्षितस्य तद्विषये तेन दोषाभावादिति भावः ॥ १९८ ॥

बह (कलि) नित्य नैमित्तिक (दान, अग्निहोत्र आदि) कर्मका त्याग करनेवाले द्विजको देखकर द्रवित हुआ, (किन्तु बादमें) उने यजमान (यज्ञ करते हुए—यज्ञमें दीक्षित) निश्चितकर दीनमुख होना हुआ दूर दृष्ट गया । [यज्ञमें दीक्षित द्विजको नित्य, नैमित्तिक कर्मका त्याग करना धर्म-विरुद्ध नहीं होनेसे उदाम होकर यज्ञाने कलि भाग गया] ॥ १९८ ॥

आननन्द निरीक्ष्याय पुरे तत्रात्मघातिनम् ।

सर्वस्वारस्य यजमानमेनं दृष्ट्वाऽथ विव्यथे ॥ १९९ ॥

आननन्देति । अथ कलि, तत्र तस्मिन्, पुरे राजराज्याम्, आ मघातिनम् आत्मघातिनम्, निरीक्ष्य विव्यथे, आननन्द स्वाश्रयलाभाशया तुतोप । अथ एनम् आत्मघातिनम्, सर्वस्वारस्य सर्वस्वारनामाद्वाहुतिकपागविशेषस्य, तथा रघुवशेऽप्युक्त—'यो मन्त्रवृतां तनुमप्यहोषोत्' इति । यजमान यागका रिगम्, दृष्ट्वा वीक्ष्य, तत्रातिनं विदित्वेत्यर्थः । विव्यथे सम्मताप । 'स अन्त्येष्टौ सर्वस्वाराण्ये यज्ञे आत्मानमेव पशुमन्त्रे सस्कृतघातयित्वा यज्ञभागमर्पयति' इति ध्रुते । तत्रात्मघातस्य वैधवेन दोषाभावाद् व्यथितोऽभवदित्यर्थः ॥ १९९ ॥

यह (कलि) उस नगरमें आत्मघाती (आत्महत्या करनेवाले) को देखकर प्रसन्न हुआ, (किन्तु) बादमें 'सर्वस्वार' नामक यज्ञ करने हुए उने देख (ममता) कर दुःखित हो गया । ['सर्वस्वार' यज्ञमें पशुमन्त्रसे सस्कारप्राप्त व्यक्तिका अपनेको मारकर यज्ञभागार्पण करनेपर उस आत्महत्याको धर्मविरुद्ध नहीं होनेसे वह कलि दुःखित हुआ । किन्तु उक्त यज्ञ करनेका अधिकार औषधादि सेवकसे भी स्वस्थ नहीं होनेवाले किसी अछाध्य रोगसे युक्त मरणासन्न पुरुषको ही है, स्वस्थ पुरुषको नहीं] ॥ १९९ ॥

कनौ महाव्रते पश्यन् ब्रह्मचारीत्वरीरतम् ।

नन्नो यत्तक्रियामज्ञ स भण्डाकाण्डनाण्डवम् ॥ २०० ॥

ऊनाविति । अज्ञ मूर्ख स कलि, महाव्रते महाव्रताभ्ये, कनौ यागे, ब्रह्मचारी वर्गिन, इत्यर्थां लुब्धयाश्च, रत्न मैथुनम्, 'महाव्रते ब्रह्मचारिपुत्रस्यो सम्प्रवाद' इति श्रुतिविहित आश्रयभाषणादिना वा, 'हृण्नाज्ञिमर्तिभ्य ष्वरप्' । 'असती कुलदेवरी' इत्यमरः । पश्यन् विलोकयन्, यत्तक्रिया यागव्यापारम्, भण्डानाम् अश्लीलभाषिणाम्, अकाण्डताण्डवम् असमयहृनोद्धतनृत्यमिव, अज्ञौ मेने, भण्डचेष्टितममन्यतेत्यर्थः ॥ २०० ॥

मूर्खे वह (कलि) 'महाव्रत' नामक यज्ञमें ब्रह्मचारी तथा पुत्रदात्री स्त्रीके रत्न (मैथुन, अथवा—अश्लील सम्भावना) को देखना हुआ यज्ञकार्यको भौंडोंका अनामदिक नृत्य ही माना । [जिस प्रकार भौंडलोग सबके समझ अश्लील गाली-गप्पों करते हैं, कलिन 'महाव्रत' यज्ञमें ब्रह्मचारी तथा अश्रमिचारिणोंके रत्नको देखकर उक्त यज्ञको भी ऐसा ही समझता, क्योंकि वह मूर्ख था, किन्तु 'महाव्रते ब्रह्मचारिपुत्रस्यो सम्प्रवाद' इस उपनिषद्वाक्यानुसार वैसा करना धर्म-प्रतिकूल नहीं ॥] ॥ २०० ॥

यज्जभार्याश्वमेधाश्च लिङ्गालिङ्गिराङ्गतान् ।

नृत्ताऽऽचाट स कर्त्तार श्रुतेर्भण्डमपण्डित ॥ २०१ ॥

यज्जेति । अपण्डित मूर्ख, स कलि, यज्जभार्याया यजमानस्य पत्न्या, अश्वमेधे तद्वाग्ययज्ञे, अश्वस्य यज्ञियाश्वस्य, लिङ्गेन मेहनेन, आलिङ्गित्वाङ्गता सयोजितयोनिताम्, 'निशाययाश्वस्य शिरसि महिष्युपस्थे निषत्से' इति श्रुतिविहितमिति भावः । नृत्ता वीच्य, श्रुते कर्त्तार वेदप्रणेताम्, भण्डम् असज्जनम्, अश्लीलविषयोपवेष्टारमिति यावत् । आचाट अकथयत् । केनचित् भण्डेन प्रणीता वेदा इति श्रमापे इत्यर्थः ॥ २०१ ॥

यज्ञकर्त्ता स्त्रीके वराहने अश्वनेयके घोड़ेके शिरसको मसृष्ट देखकर अपण्डित (धुनि-विधानका अर्थ) नृत्त कलि (अपने मण्डप दरारते, या स्वयं अपने प्रति) वेद बनानेवाले (शक्कर) को भौंड कहता । [अश्वमेध यज्ञमें बैसा करनेका विधान है, अथ राजाशाके समान वेदाङ्गके विना विकल्प किये स्वीकार करनेका मनुष्यचन होनेसे वैसा करना धर्मविरुद्ध नहीं था, किन्तु श्रुतिको नहीं जाननेवाला कलि अज्ञानके कारण वेदकर्त्ताको ही, भण्ड कहने लगा] ॥ २०१ ॥

अथ भीमजया लुप्त व्यलोक्य कलिर्नलम् ।

दुष्टदृग्भिर्दुरालोक प्रभवेव प्रभाविसुम् ॥ २०२ ॥

अथेति । अथ पूर्वोक्तरूपदर्शनानन्तरम्, कलि चतुर्थदृग्गाधिपति, भीमदया भंग्या, जुष्ट सेवितम्, जुष्टदग्नि पापदृष्टिभि, अन्यत्र—रोगोपहतदृष्टिभि, दुरालोक दुर्दर्शनम्, नल वरसेनिम्, प्रभया दीप्या सूर्यभार्यया सजादेव्या च जुष्ट प्रभाविम् प्रभाकर, सूर्यम् हुनेत्यर्थः । व्यलोकित अपश्यत् ॥ २०२ ॥

इस (नगरमें परिभ्रमण करनेपर स्वपक्षीय किम्बो अभर्मकृत्यको नहीं देखने) के बाद कलिते प्रकृष्ट कान्तिवाञ्छी मामकुमारी (दमयन्ती) से युक्त तथा (गग-द्वेपादिने कान्ति समान) दूषित दृष्टिवालोंमें कठिनतासे देखे जाने योग्य नरको उस प्रकार देखा, त्रिप प्रकार प्रकृष्टतज (या—'सजा' नमकी अपनी स्त्री) से युक्त (काच, कामला आदि रोगोंसे) दूषित दृष्टि (नेत्र) वालोंमें प्रभावि (सूर्य) को कोश देखता है । [प्रभामे सेवित सूर्यक साथ दमयन्तीसे सविन नलकी उपमा देनेसे यह स्थिति होता है कि समय (रात्रि) के बिना आये जिस प्रकार सूर्यका प्रभामे कोश पृथक् नहीं कर सकता और पृथक् होनेपर भी जुष्ट समयके बाद पुन प्रभामे वह सूर्य पूर्ववत् संयुक्त हो जाता है उसी प्रकार नलको भी दमयन्तीसे कलि बिना समय आये पृथक् नहीं कर सकेगा, और फिर नियत समय होनेपर नल पुन पूर्ववत् दमयन्तीको प्राप्त करेगा] ॥ २०२ ॥

तयो सौहार्दसान्द्रत्व पर्यन् शन्यमिजानशे ।

मर्मच्छेदमिषानच्छ स तन्नर्मोक्तिभिर्मिथ ॥ २०३ ॥

तथोरिति । स कलि, तयो, भैमीनलयो, मुहयो भाव सौहार्द प्रेम, 'युवादि श्योऽण्', 'हृज्जग—' इत्यादिना उभयपददृष्टि । तस्य सान्द्रत्व घनत्वम्, पूर्णावमित्यर्थः । सौहार्दोत्कर्षमिति यावत् । पर्यन् अवलोकयन्, शन्यम् अस्त्वितोपाधानम्, आनशे इव प्राप इव । तथा मिथ परस्परम्, तयो भैमीनलयो, नर्मोक्तिभि परिहासविशेषै, मर्मच्छेद इत्यच्छेदनम्, आनच्छ इव प्राप इव । अनुष भूव इत्येवम् ॥ २०३ ॥

उन दोनों (नल तथा दमयन्ती) के सौहार्दकी सन्नता (परिपूर्णता) की देखता हुआ वह (कलि) कौटा चुमे हुएके समान पीड़ित हुआ और उनके नर्मोक्तियों (रसिकात्मिक परिहास वचनों—शटा०—नर्म-मूहों) से (हृदयादि) मर्मस्थलोंके काटे जानेके समान अनुभव किया ॥ २०३ ॥

अमर्पावात्मनो दोषान् तयोन्नेजम्वितागुणान् ।

स्मृष्टु दृशाऽप्यनीशस्ती तस्मादप्यचलन् कलि ॥ २०४ ॥

अमर्पादिति । कलि कलियुगम्, अमर्पान् श्रेष्ठान् आत्मन स्वस्य, दोषान् पापिष्ठापराधान्, तयो भैमीनलयो, तेष्वस्त्वितागुणान् प्रभावमप्यमर्पाच्च, तौ भैमीनलौ, दृशाऽपि दृष्ट्याऽपि, स्मृत करणेति भावः । स्मृष्टु परास्मृष्टुम्, स्मृष्टुमपि

हृत्पथं । अनीश अक्षम सन्, तस्मादपि नरस्थानादपि, अचलत् पलायन ॥२०४॥

कोष (नर दमयन्तीके नर्म-परिहामादि नहीं मइ स्कनेव कारण उरान रोष), अपने मडापानकादि रूप) दोष तथा सन दोनोंकी तेजस्वितासे गुण (शरीरसौन्दर्यादि तथा नल ते क्षत्रियरत्नादेन्य और दमयन्तीके पानित्यादिजन्य तेज आदि होने) से उर्द्ध नेत्रमे भी पान करने कथात् देखनेमें भी असमर्थ कन्ति बडा (नलके पाम या नलके मइल) मे चल पा (भाग च-) [लोकमें भी कोषी, दोषी एव किमीके नेत्रमे मन्नि या चक्राचमयुक्त ही ३५५५ उमके पाम नहीं ठहरा] ॥ २०४ ॥

अगच्छन्नाश्रयान्वेषी नलद्वेषी स नि शसन् ।

अभिरामगृहाराम तस्य रामममश्रिय ॥ २०५ ॥

अगच्छदिति । नलद्वेषी निप्रेक्षविरोधी, अत एव आश्रयान्वेषी नलनिपातनाथं तत्र निधामार्थी, स कलि, नि शसन् कुत्रापि तद्वलाभात् उच्छ्वसन् सन्, राम समश्रिय रामचन्द्रसमानकाम्ते, तस्य नलस्य, अभिराम रमणीयम्, गृहाराम प्रासादममीपवर्त्तिक्रीडाशनम्, अगच्छन् प्रायात् । कवेरेतरकाव्यप्रगयनकाले रामस्य सम्भूतावेन सृष्टिब्राह्मण अनादित्वेन वा मध्ययुगीनस्य नलस्य रामसादर्य बोध्यम् ॥ २०५ ॥

नलका विरोधी (नलको पीडन करनेके लिए) बडा अपने आश्रय (स्थिति) को खोजनेवाला (किन्तु कहीं आश्रय नहीं मिलनेसे) नि श्वास (लम्बा लम्बा श्वास) लेता हुआ वह कलि रामके समान ओ (शरीररोगी या—राजमन्त्रि) वाले उस (नल) के मइलके पानवर्त्ता कीडोपवनको गया । [पास रहनेसे दोषान्वेषण सरल समस्त नलके मइलके पानवाले उपानमें ठहरा । मध्ययुगमें स्थित नलमे त्रेतायुगमें स्थित परवर्त्ता रामका उपमान यद्यपि महत् नहीं होता, तथापि कबिकी अपेक्षा या कल्पभेदे रामको पूर्ववर्त्ता मानकर नलके साथ रामको उपमा दिया जाना असम्भन नहीं होता] ॥ २०५ ॥

रक्षितभृतस्त्वेन बाधनै तपोधनै ।

मेने मानी मनाक् तत्र स्यानुकूल कलि कलि ॥ २०६ ॥

रक्षति । रक्षिता गृहपालानाम्, लवेग सनमहत्वेग, बहुमह्वयकमामादरविपु-स्पेनेपर्य । यत् पृथक् परिप्रेक्षितत्वेन हेतुना, तत्र गृहारामे, तपोधनै तपस्विभि कर्त्तृभि, बाधन पीडनम् न, अस्ति स्वस्येति शेष । प्रामादममीपवर्त्तितया बहुजन सङ्कुत्वेन नित्य धर्मकार्यनिरताना निर्जनप्रियाणा तपस्विनामभावात् धर्मद्वेषिकले-बाधमाव इति भाव । अत एव मानी कमिमानवान्, अहङ्कारीत्यर्थ । कलि अन्ययुगम्, मनाक् ईप्त्स्व, स्वस्य अनुकूल प्रियम्, अभीष्टबाधनयोग्यस्थानमि-त्यर्थ । मेने बुबुधे कलि, तमाराममिति दोष । सर्वदा वैचकार्यकारिणा सुनीना तत्र सद्भावे धर्मकार्यासहिष्णु कलि तत्रारामे वस्तु न शक्नुयात्, रक्षितबाधने सत्यपि

तत्रादरयतया प्रवेष्टुं सर्वदा धर्मालोचनाविरहेण तत्र निर्बाध वस्तुञ्च शशनुयात्
एवम् आरामादभ्यत्र सर्वत्रैव धर्माचरणदर्शनान् तदपेक्षया आरामे वासस्य ईप्सु
स्वानुकूल्यमिति भावः ॥ २०६ ॥

मानी कलिने उस (उपवन) को लाखों रक्षकों (पहरदारों) से घिरा हुआ होनेसे
(एकान्तप्रिय धर्मसाधक) तपस्वियोंकी वाषा में रहित अत एव कुछ अनुकूल माना ।
(अथवा—मानी कलिने उस उपवनमें लाखों रक्षकोंसे घिरा हुआ होनेसे वाषा (के साथ
अपनी स्थिति) मानो, किन्तु तपस्वियामे वाषा नहीं मानी, अत एव उसको थोड़ा अरुने
अनुकूल माना) । [मानी कलिने यह समझा कि यहाँ लाखों पहरदार पहरा दे रहे हैं, अत
एव बहुत लोगोंके आवागमन होनेसे एकान्तमें धर्माचरण करना पसन्द करनेवाक तदस्वी
यहाँ नहीं आवेंगे और अन्यत्र सर्वत्र धर्माचरण होने रहनेसे मुझे कहीं ठहरनेका स्थान नहीं
मिलता, इस कारण यह उपवन हा मेरे ठहरनेके लिये कुछ उपयुक्त है, वहाँ भी कमीन्मी
नल-दमयन्तीके आने तथा रक्षकोंके भा धर्मोत्सा ही होनेसे वैसे पूर्ण उपयुक्त नहीं समझा,
किन्तु थोड़ा ही उपयुक्त समझा । अथवा—यहाँ लाखों पहरदारोंसे ही हमें रहनेमें बाधा है ।
एका तम्रिय तपस्वियोंके यहाँ नहीं आ 'के कारण तज्जन्य बाधा नहीं है, अत एव अन्तर्धान
होकर प्रवेश करने तथा रहनेकी शक्ति हमें न पहरदारकी बाधा ता मैं दूर कर सक्या हूँ,
किन्तु उस शक्तिका तपस्वियोंके समीप वश नहीं चल सक से तज्जन्य बाधाको मैं दूर नहीं
कर सकता, अत एव यह स्थान मेरे ठहरनेके लिए पूर्णतया उपयुक्त नहीं होने हुए भी कुछ
ही उपयुक्त है ही, ऐसा कलिने समझा] ॥ २०६ ॥

दत्तपुष्पफलैर्द्वैषद्वित्रपूजाभिसन्धिना ।

स नल्लेनार्जितान् प्राप तत्र नाक्रमितुं द्रुमान् ॥ २०७ ॥

दत्तेति । स कलि, तत्र गृहागमे, दळे पत्रे, कुसुमे, फलै शस्यैश्च, देवानां
हरिहरादीनाम्, द्विजानां ब्राह्मणानाञ्च, पूजाया अर्चनाया अभिसन्धिना अभिप्रायेण
हेतुना, नल्लेन नैषधेन, अर्जितान् रोपितान्, द्रुमान् वृक्षान्, विभीतकेतरानिति
भावः । आक्रमितुम् अधिष्ठानम्, न प्राप न शक्नुवन् इत्यर्थः । तेषां धर्मकार्येषां
गिर्वेन स्वस्य च पापरूपत्वेन तानारोह्य नापारयदित्यर्थः ॥ २०७ ॥

यह कलि नलके द्वारा पत्र (बिखराव आदि), पुष्प (चम्पा, गुलाब, केतकी जुरी आदि)
तथा फल (आम, अनार, सेब, जम्बीर आदि) में देवा तथा ब्राह्मणादि अनिधियोंकी पूजाके
लक्ष्यमें रोवे गये पेड़ोंको ठहरनेके लिए नहीं प्राप्त किया अर्थात् उन पेड़ोंपर नहीं ठहर सक्त ॥

अथ सर्वोद्धिदासत्ति—पूरणाय स रोपितम् ।

विभीतक ददर्शकं क्षुद्र धर्मोत्पत्त्यकर्मठम् ॥ २०८ ॥

अथेति । अथ वृक्षानप्रवेशानन्तरम्, स कलि, 'कर्मणि घटते इतिकर्मठ कर्मचम,
सन्न भवतीति अकर्मठम्, 'कर्मणि घटोऽठच्' इति सप्तम्यन्तकर्मसंज्ञात् अठच्प्रत्ययः ।

धर्मे धर्मकाय, अकर्मठमपि अनुपयुक्तमपि, सर्वेषां समस्तजातीयानाम्, उद्भिदा तस्-
गुह्यमलगादीनाम्, भासते विद्यमानताया, पूरणाय पूर्तये, रोपितम् अजितम्,
अत्रोद्याने सर्वविषयतत्त्वमादय सन्तीति कीर्तिस्थापनायारोपितं न तु देवद्विजपूजा-
द्यर्थम्, तत्पत्रादीनां देवपूजाचनहन्त्यादिति भावः । विभीतक कर्पफल नाम, एक
कज्जित, कुट्टुचम् ।- 'वृक्षो महीच्छु शाखी, अबोद्ध कुट्टु डाल' इत्यमरः ।
दृष्टं अवलोकयामास ॥ २०८ ॥

उस (कलि) ने उस (उरवन) में धर्मकाय में उपयुक्त नहीं होनेपर भी समस्त उद्भिद
(वृक्ष, जना, गुह्य, भुप आदि) की पूर्तिके लिए ('इस उरवनमें सब प्रकारके उद्भिद हैं'
इस उद्देश्यसे) रोप गये एक बहेडेके पेड़को देखा ॥ २०८ ॥

स त नैषधर्माधस्य निकट निष्कुटध्वजम् ।

बहु मेने निज तस्मिन् कलिरालम्बन बने ॥ २०९ ॥

म इति । स कलि, तस्मिन् बने गृहारामे, नैषधर्माधस्य नलप्रासादस्य, निकट
मेदिष्ठम्, निष्कुटस्य गृहारामस्य, 'गृहारामस्तु निष्कुट' इत्यमरः । ध्वज चिह्नस्वरू-
पमित्यर्थः । स विभीतकम्, निजम् आसीयम्, आलम्बनम् आश्रयम्, बहु अधिक
यथा तथा, मेने विवेचयामास । धर्मकार्यानुपयोगिनि तत्र सुखवाससम्भवात् आयुष्ये
तस्मिन् व्यवस्थानेन नलदोषविचारसम्भवाच्च त स्वावलम्बन बहु मेने इति भावः ॥

उस (कलि) ने उस (उरवन) में नलके मङ्गलके समीपवर्ती तत्र (ऊँचा होनेसे)
उरवनके ध्वजस्वरूप उस (बहेडेके पेड़) की आना अच्छा आश्रय (रहनेका स्थान)
माना । [उस बहेडेके पेड़को धर्मानुपयुक्त होनेसे तथा नलके प्रासादके समीपवर्ती एवं ऊँचा
होनेके कारण वहा रहकर नलके दोषका निरीक्षण सरल होनेसे अपने लिए उपयुक्त अवस्थ
माना] ॥ २०९ ॥

निष्पदस्य कलेस्तत्र स्थानदानात् विभीतक ।

कलिद्रुम पर नासीदासीत् कल्पद्रुमोऽपि स ॥ २१० ॥

निष्पदस्येति । स कलिवासत्वात् प्रमिद, विभीतक कर्पफलवृक्ष निष्पदस्य
निराश्रयस्य, कश्चिदपि स्थानमप्राप्तवन इत्यर्थः । कले युगाधमस्य, तत्र आत्माने,
स्थानदानात् आवासप्रदानात्, पर केवलम्, कलिद्रुम तत्र वासात् कलिसम्बन्धि
वृक्ष एव, 'त्रिलिङ्गस्तु विभीतक । नाञ्जस्तु कर्पफलो भूतावाप्त' कलिद्रुम ॥'
इत्यमरः । न आसीत् न अभवत्, किन्तु कल्पद्रुम कल्पवृक्षोऽपि, आसीत् अभवत् ।
वासरूपमङ्गलितार्थदानादिति भावः ॥ २१० ॥

वर बहेडेका पेड़ (सर्वत्र धर्माचरण होनेसे) पैर रखनेके लिए भी असमर्थ अर्थात्
निराश्रय, पाठा—(ठहरनेका स्थान नहीं पानेके कारण) स्पन्दरहित अर्थात् (हिलने-

डोलनेमें भी असमर्थ) कलिके लिर केवल कलिद्रुम (कलि-समूह में वृक्ष) हो नहीं हुआ, कि तु उससे आश्रय देनेने (कलद्रुम) मो हुआ । [अ य मो कोई किमी निराश्रितके लिर आश्रय देकर वह उसके लिए कलद्रुम कहा जाता है] ॥ २१० ॥

तदौ पदेन धमस्य 'स्थातुमेकेन यत् कलि ।

एक सोऽपि तदा तस्य पद मन्येऽमिलत् तत ॥ २११ ॥

वदधिति । यत् यस्मात् कलि युगायम, धर्मस्य पुण्यस्य, एकेन पदेन चतुर्था शोन, स्थातु वर्तितुम्, वदो वृत्तवान्, सृष्टिप्रवाहस्य अनादितया प्राक्तनकलियुगे कलि धर्मस्य एकेन पदेन स्थानमर्पितवानित्यर्थ । तत तस्मात्, तदा नलराग्य काले परवर्तितः ययुगे, एक केवल, साऽपि विभीतकृतशेव, तस्य कले, पद स्थानम्, अमिलत् जातम्, एकरइस्थानज्ञानात् एकवृत्तस्थान प्राप्तमित्यर्थ । इति मन्थे विवेक्षयामि, अहमिति शेष । दानानुरूप फलमश्नुते इति भाव ॥ २११ ॥

जिस कलिके (समय-प्रवाहके अनादि होनेमें पूर्व कर्ममें) धर्मके लिए एक पादसे ठहरनेका स्थान दिया था, उसमें वह (बड़ेका) मो कलिके ठहरनेके लिर एक पाद ही मिला, ऐसा मैं मानता हूँ । ['जो व्यक्ति पूर्व जन्ममें जिनका दान करता है, जन्मान्तरमें उसे इनामी हो वह द्रव्य मिला है' इस विश्वासके अनुसार कलिको भा एक पादसे ठहरनेके लिर ही वह बड़ेका पैर प्राप्त हुआ, क्योंकि कलिके पूर्व जन्ममें धर्मके लिए एक पादसे ही ठहरनेका स्थान दिया था । 'सत्ययुगमें चारों पादोंमें, त्रैताये तीन पादोंमें, क्षत्रियमें दो पादोंमें और कलिके एक पादसे धर्मका अवस्थान रहना है' ऐसे शास्त्र सिद्धांतके आधारपर उक्त उपेक्षा की गयी है] ॥ २११ ॥

उद्भिद्विरचितायाम कपोतादिव तत्र स ।

राज्ञ माग्नेर्द्विजात् तस्मात् सन्त्रास प्राप दीक्षितात् ॥ २१२ ॥

उद्भिदिनि । उद्भिदि विभीतकृतके, विरचितायाम कक्षितस्थिति, अन्यत्र—उद्भिदा तृगगुहमादिना, विरचितायास निर्मितगृह, स कलि, कक्षित पुरपथ, माग्ने आहिताग्ने, सजाठराग्नेष, द्विजात् द्विजाते चत्रियात्, अग्निजास, दीक्षितात् अग्निहोत्रे कृतदीक्षात्, अन्यत्र—ईक्षितात् गृहोपरि दद्यात्, तस्मात् राज्ञ नलात्, कपोतात् अङ्गारमक्षिपारावचविशेषादिव, सन्त्रासम् अभिशापभयम्, गृहे अग्निस योगभयज, प्राप लेभे, लिट् । अन्यत्र—प्रापत् अलम्बिष्ट, इति, लुट् । अत्र साग्नेर्दीक्षितादिति विशेषगद्वयेन नलस्य कलि प्रति तप प्रभावज-याभिशापप्रदानसामर्थ्यं राज्ञो द्विजादिति विशेषगद्वयेन च तस्य चत्रियराजोचितदण्डदानसामर्थ्यं सूचितम् ॥

बड़ेके पैरपर निवासस्थानका बनाया हुआ कलि अग्निहोत्र करनेवाले, यशमें दीक्षित,

शुत्रिय राजा (नल) से उस प्रकार अधिक मयको प्राप्त किया, जिस प्रकार तृण-गुल्मादिसे घरको बनाया हुआ पुरुष, अग्निसहित ('कचूरके पेटमें अग्नि रहती है' ऐसा लोकन्यायि है—इसी कारण वह बड़बड़ आदिको भी पचा डालता है, अथवा—अग्नि लिये हुए) देखे गये पक्षी कचूर में डरता है । (अथवा—बहेडेसर स्थित वह कलि राजाके अग्निहोत्री राजाके यशमें दोषित द्विज 'शौनम' नामक पुरोहितसे बहुत डर गया । अथवा—अग्नि-सहित तृणदिके ऊपर देखे गये कचूर पक्षीसे तृण-गुल्म आदिके घरको बनाया हुआ पुरुष (इसका बैठना घरमें आग लगनेका अनुम शकुन सूचित करना है इस मयसे) बहुत डर जाता है, बैसा वह कलि भी बहुत डर गया) । ['राघ ' तथा 'द्विजात् ' जन्मका विशेषण द्वारा (नलको राजा तथा शुत्रिय कहने) से उसका स्वामयिक दण्ड दानका सामर्थ्य होना और 'साग्नि' तथा 'दीक्षित' विशेषण होने (अग्निहोत्री और यशमें दीक्षित कहने)] तपोन्य प्रभावसे शापद्वारा दण्डित करनेका सामर्थ्य होना सूचित होता है] ॥ २१२ ॥

विभीतकमधिष्ठाय तथाभूतेन तिष्ठता ।

तेन भीमभुवोऽभीक स राजर्षिरधर्षि न ॥ २१३ ॥

विभीतकमिति । तथाभूतेन नलरन्धान्वेषिणा, अत एव विभीतकम् अष्टवृक्षम्, अधिष्ठाय अधिरष्ट, तिष्ठता विद्यमानेन, तेन कलिना, भीमभुव भैम्या, अभिकामयते इति अभीक कमिता, कामुक इत्यर्थः । 'अनुकाभिकाभीक कमिता' इति कन्-प्रत्ययान्तो निपातनात् स्यात् । 'कामुके कमिताऽनुक । कन्न कामयिताऽभीक ' इत्यमरः । स राजर्षि मुनिपुत्रयो राजा नल, न अधर्षि न अभ्यभावि, न पीडयितु शक्त इत्यर्थः । भूतावासापराधय विभीतकवृक्षमाधिरष्ट तिष्ठता तथा तादृतेन, अतिमहता इत्यर्थः । भूतेन देवयोनिविशेषेण भीमभुवो मयदूरस्थानात्, अभीको निर्भीक, राजपि राजश्रेष्ठ, धार्मिक इत्यर्थः । भूतापमारकमन्त्रवादी इत्यर्थो वा, न पराभूयते इति ध्वनि, तेन च राजमन्त्रवादिनोरीपम्य गम्यते ॥ २१३ ॥

उस प्रकार (नलदेवेन्दुक, या—नलका छिद्रावेणी) तथा बहेडेके पेटका आश्रयकर रहते हुए उस कलिने भीम कुमारी (दमयती) के कामुक उस राजर्षि (राजा होते हुए भी सदा धर्माचरणमें सन्न रहनेसे ऋषिरूप वा ऋषितुल्य नल) को पराजित नहीं कर सका । (पञ्च०—भूतावास (भूतोंका आवास स्थान अर्थात् बहेडे) पर रहनेवाले मयदूर (या—अनिमहान्) उस प्रेतयोनि प्राप्त भूतने मयदूर भूमि (अथवा—मयके उत्पत्तिस्थान, अथवा—रणभूमि, अथवा—शङ्करजीकी भूमि) से निर्भीक उस (धर्माचरणादि या—भूत-प्रेतादि निवारक-मन्त्रज्ञानमें सुप्रसिद्ध) राजर्षि (नल) को पराभूत नहीं किया) ॥ २१३ ॥

तमालम्बनमामाद्य वैदर्भीनिपघेशयो]

कलुप कलिरन्वियन्नयात्सीद् वत्सरान् बहून् ॥ २१४ ॥

तमिति । कलि तुरीययुगम्, त वृत्तम्, आलम्बनम् आश्रयम्, आसाद्य प्राप्य, वैदर्भीनिपदेशयो भैमीनलयो, कलुषदुष्कृतम्, पापानुष्ठानमित्यर्थः । अन्विष्यन् अनुसन्दधन्, वदन् अनेकान्, वसत्रान् वर्षान्, अत्यन्तसयोजे द्वितीया । अवासीत् उयास, वसेलुङि सिचि, 'स स्याद्धंघातुके' इति सस्य तत्त्वम्, 'वदवज—' इत्यादिना वृद्धिः ॥ २१४ ॥

उस (बहेके पेठ) का आश्रय पाकर दमयन्ती तथा निषधराज (नल) के छिद्र (शोष) को खोजता हुआ कलि बहुत वर्षों तक निवास किया [इसने नल दमयन्तीको अतिशय धर्माचरणपरायणता तथा कलिकी उनको पादित करनेके अत्यधिक इच्छाशाली सूचित होती है] ॥ २१४ ॥

यथाऽऽमीत् कानने तत्र विनिद्रकलिका लता ।

तथा नलच्छलासक्ति-विनिद्रकलिकालता ॥ २१५ ॥

यथेति । तत्र तस्मिन्, कानने घने, यथा विनिद्रकलिका उनिद्रकोरका, एता प्रसूति, आमीत् अवर्तत, तथा तद्देव, नलस्य वैरसेने, छले छलने, रग्धान्वेषणे इत्यर्थः । आसक्त्या अभिनिवेशेन, विनिद्र जागरूक, सततमग्रमत्त इत्यर्थः । कलिकलिरूप, काल समयो यस्मिन् तस्य भाव तत्ता, आसीत् इति शेषः । अग्राधर्मे देऽपि विनिद्रकलिकालतेति शब्दमात्रसाध्यात्तथेति सादृश्यमुक्तम् ॥ २१५ ॥

उम उद्यानमें जिस प्रकार लता विकसित हुई कलियोंवाली थी, इसी प्रकार नलको वशित करनेमें आसक्त कलि भी जागरूक था ॥ २१५ ॥

दोष नलस्य जिज्ञासुर्वर्ध्नाञ्च द्वापर क्षिती ।

नौदोष कोऽपि लोकस्य मुखेऽस्तीति-दुराशया ॥ २१६ ॥

दोषमिति । नथ द्वापर तुरीययुगमपि, नलस्य नैषधस्य, दोषम् अनाचारम्, जिज्ञासु ज्ञातुमिच्छु मन्, लोकस्य जनस्य, मुखे वाचि, नदोष निर्दोष, कोऽपि कश्चिदपि, नास्ति न विद्यते, इति दुराशया दुष्टवाञ्छया, लोको हि सर्वत्र दोषदृष्टि-परवान् सर्वथा दोषलेश द्रक्ष्यति वक्ष्यति चेति दुराग्रहेण इत्यर्थः । क्षिती मुवि, बभ्राज रराज, बभ्रामेति यावत् ॥ २१६ ॥

नलके दोषका जाननेका इच्छुक द्वापर (कलियुग सहायक होकर साधने आया हुआ) तृतीय युगका अधिष्ठाना देव-विशेष) 'लोगोंके मुखमें कोई भी निर्दोष नहीं है (पाठा०—कोई (किसी मनुष्य-विषयक) दोष नहीं है क्या ? अर्थात् है ही)' इस दुराशासे पूर्वोक्त शोभने विराजमान रहने अर्थात् ठहरने (पाठा०—धूमने) लगा । [द्वापरने सोचा कि 'सर लोग जिसे निर्दोष मानें ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, अतः नलके दोषको मैं किसीके मुखमें अवश्य झूठा' इसी दुराशासे वह नगरमें धूमने लगा] ॥ २१६ ॥

१ 'वर्धना' इति पाठान्तरम् । २ 'न दोष' इति पाठान्तरम् ।

अमुष्मिन्नारामे सततनिपतहोहदतया

प्रसूनैरन्निद्रैरनिशममृताशुप्रतिभटे ।

असौ बद्धालम्ब कलिरजनि कादम्बजिह्व-

च्छदच्छायाभ्यङ्गोचितमचितया लब्धनमृग ॥ २१७ ॥

अमुष्मिन्निद्रा । सततम् अविरतम् , निपतहोहदतया मिल्दधूपादिमङ्कारतया,
'हरणुमलतादीनामकाले कुङ्कुमे हृतम् । पुष्पाद्युत्पादश्च द्रव्य देहद स्यात्तु
तन्निद्रा । इति का-दार्णव । उचिष्ठे विकस्मिन् प्रसूने कुसुमे , अनिश निरन्तरम् ,
अमृताशुप्रतिभटे च उपायिनि, चन्द्रकक्ष इत्यर्थः । अमुष्मिन् अरिमन् , कामे
रुहोद्याने, बद्धालम्ब कृष्णाय , असौ कलि टुगदेष , कादम्बजिह्वस्य कलहसरस्य,
य छद पक्ष , दृक्कषणं इति भावः । तस्य छाया काचित् , तथा अभ्यङ्गे लेपने,
उचिता अभ्यङ्गा, रचित इहा दस्य तस्य भावः उत्ता, तथा कलहसपक्षवत् कृष्ण-
वर्णतया इत्यर्थः । लब्धनमृग कलकुङ्कुमा , अजनि जनिता । चण्ड्रे कलकुङ्कुम दद्या
मचण्ड्रेण अथ कृष्णवर्णकलकुङ्कुम अमृत इति भावः ॥ २१७ ॥

सर्वदा दिने जाते हुण्द दारदो (इक्ष्वाकू दूरने-दूरनेने हिन्दे धूप, सलीका पानी कादि
सादन-विशेषो) के कारण विकस्मिन् पुष्पोले निरन्तर चन्द्रके समान (स्वच्छ कान्तिवाले)
उत्त उद्यानमें बसता हुआ यह कलि कृष्णवर्णवाले इम्फलीय पक्ष के पक्षीको काचित् के बोध
(दा-काचित् निरन्तर तैलादिक समान जित) काचित् साद्यन्-म-वर्णी मृग हो गया ।
[जिस प्रकार स्वच्छ चन्द्रमें कृष्णवर्णी मृग है, वसी प्रकार सर्वदा दीहद देते रहने-व विकस्मिन्
पुष्पोले स्वच्छ (चन्द्रशान्ताय) उत्त उद्यानमें अति कृष्णवर्ण यह कलि साद्यन्मृग हो गया ।
स्वच्छ चन्द्रमें जिस प्रकार कृष्ण वर्णी मृग कलकुङ्कुरूप है, वसी प्रकार निरन्तर उत्त उद्यानमें यह
ही कलकु (बोध) हुआ] ॥ २१७ ॥

स्फारे सादृशि वैरसेनिगरे पुण्यै प्रजाना धन

धिघ्न लब्धवतश्चिरादुपनतिस्तस्मिन् किलासीन् कले ।

एतस्मिन् पुनरन्तरेऽन्तरामितानन्द स भैमीनला

वाराद्धु व्यधित स्मर श्रुतिशिलावन्दारचूड धनुः ॥ २१८ ॥

स्फारे इति । सादृशि स्थामृते, स्फारे विशाले, वैरसेने नहरय, गगरे पुरे, निष
धराण्ये इत्यर्थः , प्रजाना लोकानाम् , पुण्यै धर्मोत्तम, धन निरन्तरम् , धिघ्न कार्यप्रति,
च-धम् , लब्धवत प्राप्नुवत अपूर्णमनोरथस्य इत्यर्थः । कले कलिटुगस्य, तरिमधु
द्याने, चिराद बहुकालम् , उपनति स्थिति , अनूत् कार्त्तात् कलि, एतस्मिन् अन्तरे
अरिमन् मदकाशे पुन , अन्त अन्त करणे, अमितानन्द अतिदृष्ट , स अमोघलक्ष्य ,
स्मर वन्दर् , भैमीनलौ दम्य-तानेपधौ, आराद्धुम् उपासितम् , वशीकर्त्तमिति
यावत् । श्रुतिशिलाम् आशर्णाद्रम् , व-दार उदरठा इति यावत् । चूडा कोटि दस्य

तत् तादृशम्, आकर्षाकृष्टम् इत्यर्थः । धनु चापम्, व्यथित विहितज्ञात्, यागेन
मयाजितवानित्यर्थः । कञ्चराकमगात् प्राक् तौ यशस्व कामसुखम् अ वभूवाम्
इति निष्कर्षः ॥ २१८ ॥

विशाल बैसी (धर्मरत्नपूर्णं) नलकी राजधानीमें प्रजाओंके पुण्योत्से (अथवा—प्रजाओंके
पुण्योत्से बैसी विशाल नलकी राजधानीमें) बहुत (निरन्तर) विघ्न प्राप्त करते हुए कलिघ
उत्त उषानने बहुत मध्यमक निशाम हुआ अर्थात् उन उषानने उक्त प्रकारसे कलि बहुत
दिनोंतक ठहरा । इसी नाचने (कलिके वहां निवास करते रहने पर हो) अन्य कारण
(हृदय) में अनिश्चय प्रसन्न कामदेव दमयन्ती तथा नलकी सेवा (या—उन्हीं पीड़ित या
बधोभूत) करनेके निर धनुषको छोड़को कर्माग्रतः चड़ाया । [कलिके आक्रमण करनेके
पहले उन विरविरही तथा उत्कृष्टित चित्तवाले दोनों (नल तथा दमयन्ती) ने कामसुखको
प्राप्त किया । यहापर नल दमयन्तीके कामाराधनका प्रसन्न जाकर कविने अधिम सर्गमें
वर्णनाय उनके सम्मोग-वर्णनको मूचित किया है । अविषयमें होनेवाले कलिकृत नल-परा
भवम नायकका अवकर्ष (होना) सूचित हुना है, उसके अवर्णनाय होनेसे कविने उसे
यहां पर नहीं कहा है] ॥ २१८ ॥

श्रीहर्ष कविराजराजमुकुटालङ्कारहीरः सुव
श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवी च यम् ।

यान मनदश स्वसु सुसन्तति छन्द प्रशस्तेर्महा-

काव्ये तद्भुवि नेपथ्योचरिते सर्गो निसर्गोऽञ्जलः ॥ २१९ ॥

श्रीहर्षमिति । स्वधु सोदर्पा, एककृत्त्वात् एकोद्देशव्यवदेशः । छन्द प्रशस्ते
ए शोषद्वाराजचरितवर्णनात्मकान्यस्य, स्वकृतेरिति भावः । सुपदसि अत्यन्तशस्-
हति । तस्मात् श्रीहर्षात् भवतीति तद्भुवि । व्याख्यातमप्युक्तम् ॥ २१९ ॥

इति मल्लिनाथसूरिचरिते 'जीवानु' समाख्याने सप्तदश सर्गं समाप्त ॥ १७ ॥

कवीश्वर-समूहके - किया, उनके रचित (एक कविरचित) होनेसे वहनरूप छन्द-
प्रशस्ति (छन्दोवद् रानचरितका वर्णनात्मक ग्रन्थ, या—छन्दोवचनाके कमस्वरूपा
निरूपण करनेवाला ग्रन्थविशेष, या—छिदरशस्ति अर्थात् 'छिद' नामक राजाको प्रशस्ति
या वर्णनात्मक ग्रन्थ) के सर्वथा (सब प्रकारसे) सपान, मु रर नलके यह सप्तदश सर्ग
समाप्त हुआ ॥ २१९ ॥

यद् 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषध-चरित' का सप्तदश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १७ ॥



अष्टादशः सर्गः

मोऽयमिन्धमय 'मोमनन्दिनीं दारमारमधिगम्य नेपथ ।

ता नृनोयपुरुषार्थधारिणे पौग्लम्भननरोमरोरमन् ॥ १ ॥

मोऽयमिति । अथ इति वाक्यारम्भे अन्यायाग्नये वा, स प्रसिद्ध, अय नेपथ
न०, इत्यम् पृथग्, पूर्ववर्गितप्रकारेणैव । दारमार दारेषु शोषु, मार वरम्,
श्रेष्ठमिदं । स्मृतमिति यावत् । 'मारो वने स्थितो च न्याये मार वरे तथा'
इति शास्त्रम् । मोमनन्दिनीं मेमोम् । नन्दादि शब्दबुद्धयः । अत्रिगम्य प्राप्य,
नृनोयपुरुषार्थधारिणे काममागरह्य, पारलम्भने परमोरप्राप्तौ, नरो नावम्, नरजी-
स्वल्पाभिमित्यर्थः । ता इमयन्तीम्, अरोरमन् रमयामास, रमेगी चङ् । भस्मिन् सर्गो
रयोद्धतावृत्तम् — 'रो नराग्रिह रयोद्धता लो' इति लङ् जान् ॥ १ ॥

(उक्त शरीरमौन्द्य-रमात्रिगमिने) प्रसिद्ध वह नल इत प्रकार (देवेशादिके
ममज्ञ) खीरन मोमकुमारी (इमयन्ती) को पारक काममनुदके पार जानेमें नौकास्वपिगी
हम (इमयन्ती) को रमय कराने लगे । [बिना नौकाके मनुदका पार जाना बिन प्रकार
अनमवहै, शरीर मौन्द्यदि उक्त श्रुतशान्ते इमयन्तीके बिना नन्दा काममनुदके पार
जाना (परम सुखरु काममेवन करना) सम्भव है । रमये इमयन्तीके शरीरमौन्द्यादिका
मर्गोक्त होना सूचित होना है] ॥ १ ॥

आत्मविमह तथा जिज्ञानिरा भोगभाषापि न पापमाप स ।

आहृता हि विषयैकनानता ज्ञानयोनमनम न लिम्बति ॥ २ ॥

आमेति । आत्मवित् आत्मज्ञानो, जीवब्रह्मभेदबुद्धिशाली इति यावत् । स-
नञ्, तथा भोग्या मद्, दिवानिशम् अहाराश्रयम्, इन्द्रेणवद्भावः । अद्वयमयोने
द्वितीया । भोगमाक् अवि विषयसुखमनुभवन् अपार्यर्थ, 'मना वि' पापम् इन्द्रि-
यानिग्रहपतितप्रपञ्चायम्, न आप न लेने । ननु 'अतिप्रहाचेन्द्रियाणां नर-
पवनमृच्छति' इति निषेधात् कथं दिवानिश विषयबोलुरम्भ न पापमप नाह—
आहृतेति । हि तथाहि, आहृता कृत्रिमा, विषयेषु शब्दादिषु, एकनानता एकानता,
'एकनानाऽनन्यवृत्तिरेकाप्रकायनावि' इत्यमरः । ज्ञानेन तत्त्वबुद्ध्या, धीतमनस
निमलान्त करणम्, जनमिति शेषः । न लिम्बति न स्तृशति, न पातयति इत्यर्थः ।
'ज्ञानाग्नि सर्वकामाग्नि मस्मत्पात् कुर्वन् तथा' इति भगवद्भवनादिनि भावः ।
सामान्येन विशेषमयनरुहोऽर्थान्तरन्यासः ॥ २ ॥

आत्मज्ञाना (जीवात्मा तथा परमात्माने अनेक बुद्धि रखनेवाले) ने (नञ्) उप

१ अत्र — 'नन्दनाम्' इति शब्दो 'जीवानु-सुखावबोधो' सम्पन्न इति म० म०
शिवदत्तशर्माणः । २ 'पारतारणतरो—' इति पाठान्तरम् ।

रेजुरध्वततशैलजस्रजो यस्य मुग्धमणिकुट्टिमा भुव ॥ ७ ॥

बुद्धमेति । बुद्धमणमदयो कार्मभारजकर्तृरिक्तयो , पञ्चन कर्तमेन, घृष्टबुद्धमसृ-
गमशायानियर्थ । लेपिता दिग्धा , च किञ्च, हिमवातुकाऽपुमि कर्पूरोदके 'अय
कर्पूरमस्रियाम् । घनसारश्चन्द्र ■ सित, ओ हिमवातुका' इत्यमर । चालिता धौता,
तथा अध्वसु प्रवेष्टमार्गेषु, तता विस्मृता, शैलजस्य शैलेयस्य, शिलाकुसुमारय
गन्धद्रव्यस्य-यर्थ । कृत्वा माला यासु तादृश्य, तथा मुग्धा सुन्दरा, मणीनां
रत्नानाम्, मणिकया इत्यर्थ । कुट्टिमा नियन्त्रप्रदेशा यासु तादृश्य । 'कुट्टि
मोऽस्ती निघञ्ठा भू' इति यादव । यस्य सौधस्य, भुव अङ्गणादिप्रदेशा इत्यर्थ ।
रेजु शुशुभि । चूतचूचवत् सामान्यविशेषभावादपीनरक्त्यम् । समृद्धिमद्वस्तुवर्ण
मादुदात्तालङ्कार ॥ ७ ॥

कुट्टुम तथा कर्तुरीके पदसे लिपी गयी कर्पूरचूर्णके पानासे धोयी गयी (नन् के आनेके)
मागमे पैलाया गया पदेतपर होनेवाल (अस्मिन्मि मालती आदि, या—गन्धद्रव्य-विशेष)
की मालावाला और मनोहर मणियों के देने पर्शवाली जिस (प्रासाद) की (पाठा—
अक्षर) भूमि (आङ्गण आदि) शोभती थी । [प्रकृत पाठमें 'अतिशय रिनम्भता तथा
सुगंध के लिए कुट्टुम-कर्तुरी-पदसे लापना, तदंतर पङ्क्तिकी विच्छिन्नता दूर करनेके लिए
कर्पूर-वातुका-अक्षरसे धोकर पङ्क्ती दूर घब अतिशयित सुगंधित करना और नष्ट तथा
दमय तीव्र वर्णोंके अत्यंत मृदु होनेसे कलनेमें कशानुभव होनेके भयसे मणिमयी भूमिमें
पतितोत्पन्न मालायादि सुरमिन्त पुष्प-समूहोंको बिछाकर उसे मृदुतम बनाना' अर्थ होता है,
किंतु इस क्रममें अर्धक्रम ठीक नहीं प्रतीत होता, इससे 'पाठक्रमादर्धक्रमा बलीयान्'
(पाठक्रमसे अर्धक्रम अधिक बलवान् होता है) इस न्यायसे पहले कर्पूर-वातुका-
अक्षरसे धोकर गोमयादिस्थानीय कुट्टुमकर्तुरीपदसे लापना और सबके अन्तमें कुट्टुम-समूहोंको
बिछाना अर्धक्रम मानना सुंदर है । अथवा—'वातुकाऽपुमि' पाठमें तो क्रम-परिवर्तन बिना
बिना ही पहले कुट्टुम-कर्तुरी-पदसे लापकर विच्छिन्नता दूर करनेके लिए कर्पूर-वातुकाओंसे
उसे छुलाना और पुष्प-समूह बिछाकर मृदुतम बनाना' अर्थ होता है, इसी कारण 'प्रकाश'
कारने इस पाठका व्याख्या करके 'अत्र शाब्दोऽपि प्रमो घटते' अर्थात् 'इस पाठमें शाब्दिक
क्रम भी स्पष्टित होता है' ऐसा कहा है] ॥ ७ ॥

नैपथ्याङ्गपरिमर्दमेदुरामोदमार्दवमनोज्ञवर्णया ।

यदुभुज कचन सूनशय्ययाऽभोजि भालतिलकप्रगल्भता ॥ ८ ॥

नैपथ्येति । नैपथ्य नक्षत्र, अङ्गपरिमर्देन शरीरमर्दनेन, अङ्गछोटनेनेत्यर्थ ।
सा द, आमोद गन्ध, मार्दव मृदुत्वम्, मनोज्ञ मनोरम, वर्णश्च शोभप्रज्ञे
। यस्य तादृश्या, सूनशय्यया कुसुमशयनेन, यथ्य सौधस्य, भुव प्रदेशवि

१. 'यत्र' इति पाठान्तरम् । २. 'यान्ति भालतिलकप्रगल्भताम्' इति पाठांतरम् ।

क्षेपा, वचनन तुञ्जित, नक्षत्रय क्षयनस्थाने इति यावत्, माहर्षिह्वय ललाट-
देशे तिलवधारणय, प्रगल्भता रपद्धा, शोभेति यावत् । अभाजि प्राहा इति निद-
शंमालङ्कार ॥ ८ ॥

नलके शरीररपश (शयनकालमें शरीरके परिमदन) से अत्यधिक गन्ध, कोमलता,
मनोज्ञता और अप्सान वर्णवाली पुष्पद्रव्यासे कहींपर (नलक्षयनस्थानमें) जिस (प्रासाद)
की भूमिके ललाटतिलवकी प्रगल्भता (अत्यधिक समानता) को प्राप्त किया । [स्वयंवरमें
वदनके दिव्य रूप 'अम्भानिरामं वभरक्ष (१४।८५)' के अनुसार नलके शरीररपशसे उनकी
शय्याके पुष्पोमें वक्त गुण काजानेसे वन पुष्पद्रव्या उम प्रासादभूमिके ललाटस्थ तिलवकी
शोभाको प्राप्त किया । पाठा०—वक्त गुणवाली पुष्पद्रव्याके द्वारा जिस प्रासादकी भूमि
ललाटस्थ तिलवकी शोभाको प्राप्त होती है] ॥ ८ ॥

व्यापि यस्मिन्वटनिकुटफुटःकोरकः चरसौरभोर्मिभि ।

सान्द्रमध्रियत भीमनन्दिनीनासिकापुटकुटीकुटुम्बिता ॥ ९ ॥

व्यापीनि । व्यापि ववचित् प्रदेशे, यस्य सौधस्य, निकटे समीपस्थे, निपुटे
गृहारामे, पुटता विकृतताम्, कोरकप्रकराण वलिकान्वहानाम्, सौरभोर्मिभि
परिभूतपरिपराभि, सान्द्र निरंतरम्, भीमना र्धना भेमी, तथा नासिकापुटयो
नासाभ्यां, कुटीकुटुम्बिता ग्राह्यरूपम्, नित्यस्थायिव्यवस्थितम् । अध्रियत अघारि,
मन्दनविहारसुखम् अनुभूयते तथा इति भाव ॥ ९ ॥

किसी स्थानपर जिस (प्रासाद) के समीपमें गृहोदानके विवस्ति होते हुए कलिका-
स्मूहके दूर दसदहादसे दसद्व प्रवारसे दसदहीके नासापुटरूपी स्त्री गृहव कुटुम्बि-
त्वको धारण किया । [उस प्रासादके गृहोदानमें विवस्ति होते हुए कोरक-स्मूहके नासा
निधि सौरभकी दसद हीने अपने नासिकासे सूधा, वस्त्री वस्त्रि वक्षणा की है कि वे
सौरभस्मूह उस दसदहीके नासापुटमें इस प्रकार निवास विवे, जिस प्रकार एक कुटी
(लघुदम घर) में बहुत बड़ा कुटुम्ब वही स्त्रीगृहासे निवास करता है । अथवा—वे सौरभ
स्मूह दसदहीके नासापुटरूपी गृहके कुटुम्बी वने अर्थात् दसद हीके नासापुटमें जैसा
सौरभ था, वैसा ही उस कलिका-स्मूहकी भी सौरभ होनेसे वह कलिका-सौरभ-स्मूह वस्त्रे
नासापुटरूपी गृहकी कुटुम्बी बना (वस्त्री समानताको प्राप्त किया)] ॥ ९ ॥

रद्वसवेष्टतुवृक्षवाटिकाकीरकृतसहजारशीकरै ।

यञ्जुप स्म कुलमुस्यमाशुगो घ्राणवातमुपदाभिरञ्जति ॥ १० ॥

रद्वेति । आशुग वायु, बहिष्करो वायुरिति भाव । 'आशुगो' के शरीर वायु' इति
यावत् । कुलमुस्य वह मध्ये श्रेष्ठम्, नलदम्य-त्यो तत्परिजमानाश्च आपर प्रे

१ 'सान्द्रमध्रियत' इति पाठान्तरम् ।

२ 'अद्व—' इति पाठान्तरम् ।

३ 'प्राग—' इति पाठान्तरम् ।

स्त्रान्द्राभादिति मात्र । यज्जुष यत्सौधसेविनः, जनस्य इति शेषः, प्रागश्व
 निश्चासमारनम्, रक्षा अवहृद्वा, एकत्र मन्त्र्यस्थिता इत्यर्थः । हरे कर्मणि क्त ।
 'ऋद्वा' इति पठे—ऋद्वा समृद्धा, ऋयते कर्तारि क्त । सर्वे समधता, ऋत्र
 वसन्तादय यस्य तादृश्याम्, 'ऋयक्त' इति प्रकृतिभावः । एकत्रावस्थितवद्भुजा
 यामि यथ । वृक्षश्रिकाया गृहसकानोपवने, कारैः शुभे, कृतानां खण्डितानाम्,
 सहकाराणां मुराभिवृत्त्यागाम्, शाकरैः अम्बुक्रमैः, जरुकाभिमिश्रितमृदुसौरभैः
 हेत्यर्थः । उपशमि उपायनैः, अञ्जति स्म पूजयति स्म ॥ १० ॥

वायु कुक्षग्रह निम नल (या-दमवन्तो) के निश्चामको रोको पयो (पाठा०—
 समृद्धिः प्रसङ्गः) संपूर्ण ऋतुभावाके गृहयाननैः शुक्रोदारां कुरारे गये आम (के फल,
 या-मज्जी) के नलकग (पदम, या-नलकमके कम) का उदाहरणें पूरा करनी थी ।
 [अथ पाठा०—वायु समृद्ध ममरा ऋतुभावाके गृहयाननैः शुक्रोदारां कुरारे गये आमको
 उदाहरणें निम्न (प्रामाद) पर रक्षणाके (नल, या-दमवन्ता, या दूतरे) के कुक्षग्रह
 प्रागश्वको पूजा करनी थी । निश्चाम (या-पाठा०—रागश्व) को भी वायुसंस्कार होने
 से पय नल वायुको अवेष्टा नल या-दमवन्तोके निश्चामके अनिश्व सौरभयुक्त (पाठा०—
 प्रागश्वके अने उपमूढवात्) होनेसे वह (निश्चाम, या-रागश्व) उद्यानश्वको कुक्ष
 श्रेष्ठ के और करने ऋतुका अनेकविध उदाहरणें पूरा करना उचित होनेसे वायुश्व
 निश्चाम (या-प्रागश्व) का पूजन करना कहा गया है] ॥ २० ॥

कुत्रचित् कनकनिर्मितादिन कश्चिपि या विमलरत्नत्र किल ।

कुत्रचित्चित्रवित्रगान्ति कश्चिपि चास्थिरविधेन्द्रजालिक ॥११॥

कुत्रचिदिति । य मोघः, कुत्रचित् कश्चि प्रदेष्टे, कनकनिर्मित सुवर्गमयम्,
 अलिल ममप्राश यस्य स तादृशः, कश्चि कुत्रचित् प्रदेष्टे, विमलरत्नेभ्य उज्ज्वल-
 मणिभ्यः, जात निर्मित, आम्बररत्नघटित इत्यर्थः । किञ्च इति प्रसिद्ध । कुत्रचित्
 कश्चित्पि भागे, रचिता निर्मिता, चित्रशालिका आनेकवर्ण्य यद्य तादृशः,
 बहुविधमममिवनगृहविशिष्ट चित्राङ्कितगृहविशिष्टो वा इत्यर्थः । कश्चि च कश्चि
 शिद् भागे, अस्थिरविध चणे चणे परिवर्तितप्रकारः, कश्चि च तमस कश्चिदालो
 कस्य प्रकाशादिरूप इत्यर्थः । ऐन्द्रजालिक इन्द्रजालवान्, प्रतिघममन्वयाऽन्वया
 प्रतीयमानरत्नात् आश्चर्यदर्शन इत्यर्थः । मन्वर्थावधन् ॥ ११ ॥

ना प्रामाद कर्तार सर्वत्र (कर-तोचे) सुवर्णने बनाया हुआ था, कर्तार निर्मक
 (श्रेष्ठ) रत्नोंमें बनाया गया था, कर्तार विविध पुत्रलिखोशाला (या-विश्वोमे शोमनेवाला)
 या और कर्तार अस्थिर कानि (कभी प्रकाश, कभी अन्वकार अथवा धूर्तों के कपड़ेके-
 समान प्रतिघम परिवर्तनशील कानि) वाला होनेसे ऐन्द्रजालिक (नाट्यार) के समान
 (देखनेमें विस्मयजनक) था ॥ ११ ॥

चित्रतत्तदनुकार्यविभ्रमाधायिनेकविवरूपरूपक्रम ।

येद्य य बहु धुवन् शिरा जरायातका शिरिरुक्लि शिन्विप्राट् ॥११॥

चित्रेति । चित्रेषु आलेख्येषु, तेषां तेषाम् अ-पत्र ट्टाना प्रविष्टानां वा, अनुका-
यागाम् अनुकरणीयत्वानां राजर्विमनुष्यादीनाम्, विभ्रमस्य विह्वलस्य, आधायोनि
त गदकानि, नरविभ्रमाणि नानाप्रकारस्वरूपाणि, रुग्ण्येरेति रुग्णाणि प्रति-
कृतय यस्मिन् तादृशम्, य साधम्, वाच्यं दृष्ट्वा, बहु पुन पुन, शिर मस्तकम्,
धुवन् कनयन्, शिरिराट् कारुषेष्ट, शिबि स्रष्टा, जराया वार्द्धकेन, वानकी वात-
रोगी, वेपथुशताक्रान्त इत्यर्थः । 'वाताग्निसाराभ्यां कुक्षौ च' इति कुक्षु, चकाराट्
इतिप्रायसश्च । इति अकस्मिन् अनर्जि, द्वादिभिर्निति शेषः । मौधशिरिन आश्चर्य-
शिरपतपुष्य दृष्ट्वा विस्मयवशात् तदा शिरिराष्ट्रेण विधात्रा अपि पुन पुन शिर
कस्मिन्तम् इत्यर्थः ॥ ११ ॥

विश्वोदै (या-आश्चर्यकारक) उन-उन (अथवा—'चित्र त-शिरि' ऐसा विपद् करके
'चित्रमय' अथवा आश्चर्यवद्भक्त उन) अनुकरणीय (मनुष्य, देवादि) के विनास (या-
अविशय ज्ञम) के उत्पादक अनेकजन (नानास्य) प्रतिमाप्रोक्षणे जिन (प्रासाद) को
देखकर (देवों ने या-मनुष्यों ने या वहाँ रहने हुए कल्पित) बहुत शिर करीबने हुए, वार्द्धक्य-
रुग्ण वानरोगी, शिरिनयोंमें शेषजम मग्न (या-विदवकर्मा) की कनरना को । [अनेकविध
अनेक अनेकगण्य चित्रादियुक्त प्रामादका देखकर देवों या-दर्शकों ने करतना को कि-इसे
बृहत्स्वरूपा वानरोगयुक्त शिरिराष्ट्र मग्न । (या-विदवकर्मा) ने बनाया है] ॥ ११ ॥

भित्तिगभगृहगोपिनेनैर्य कृतादनुतकथादिरौतुक ।

सूत्रयन्त्रजगिशिष्टेष्वेष्टयाऽऽश्रयसञ्चिपदुशालभञ्जिक ॥ १२ ॥

भित्तीति । य सौध, भित्तिगर्भेषु कुक्ष्याभ्यन्तरेषु, य गृहा कथा, तेषु गोपितैः
गुप्तभावेनावस्थितै, जनै ल'क, हन विहितम्, अद्विजुनकथादिहौतुक विस्मयजन-
कभाषणादिगृहलयेन स तादृश, स्वयमेव सौध कथतीति आश्लिष्य इत्यर्थः ।
'कोनूहल कौतुकञ्च कुतुहलं कुतूहलम्' इत्यमरः । किञ्च, सूत्राणां यन्त्रेण तन्तुनिर्मि-
तयन्त्रविशेषेण, जाता उत्पादिता, या त्रिगिष्टेष्वेष्टा ह्यभिनयिमेवोन्मेषादिरूपामात्रा-
रणादिप्रविशेषा तथा, आश्चर्यं विस्मयम्, सञ्जयन्ति उत्पादयन्तीति तत्प्रज्ञित्य,
चद्वय अनेका, शालभञ्जिका दाहपुत्रिका यत्र स तादृश ॥ १२ ॥

जो (प्रासाद) दीवारोंके भीतर बने गृहोंमें छिपाये गये ल'गोंमें आश्चर्यजनक कथा-
कौतुक करनेवाला या और तारोंके यन्त्र य त्रिविध चेष्टा (आलिंगन, चुम्बनादि कार्यों)
से आश्चर्यजनक बहुत पुत्रियों (काष्ठादिगचिन मूर्तियों) वाला या । [जिस प्रासादकी
दीवारोंके भीतर बनाये गये तथा गृहोंमें छिपे मनुष्य वानादि करते थे तो मालूम पड़ता

१. '—घाट्यनेक—' इति पाठान्तरम् ।

या वि ये दीवालें ही परस्पर नथादि कर रहा हैं तथा तारोंके द्वारा सञ्चालित पुनरिधौ
अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ करके आश्चर्यित करती थीं, ऐसा वह गृहोद्यान था] ॥ १३ ॥

नामसीष्वपि तमीषु भित्तिगै रन्नरश्मिभिरमन्दचन्द्रिक ।

यस्तपेऽपि जलयन्त्रपातुकासारदूरधुतत्तापतन्द्रिक ॥ १४ ॥

तामसीष्विति । य सोध, तामसीषु तमस्विनीषु अपि, ज्योत्स्नादिभ्य उपसं
कुद्यानम' इति मत्वर्थो-ण-प्रत्यय । तमीषु रात्रिषु, भित्तिगै कुट्टमगतै, रन्नर
श्मिभि मणिप्रभाभि, अमन्दा प्रभृता, चन्द्रिका ज्योत्स्ना यस्य तादृश, तथा
तपेऽपि ग्रीष्मेऽपि, जलयन्त्रेभ्य जलोत्सारक्य-त्रदिशेषेभ्य, कृत्रिमप्रखण्डनेभ्य
इत्यर्थ । पाहुकें पतनशीलें, आसारे धारासम्पाते, दूरम् अतिशयेन, धुता निरा-
कृता, तापतन्द्रिका ग्रीष्मजनितमोहप्रायावस्था यस्य स तादृश ॥ १४ ॥

को (प्रासाद) अन्धकारयुक्त रात्रियोंमें भी दाब लोंमें कबे गये रत्नोंकी बिरणोंसे ताँत्र
चौदनी (प्रकाश) से युक्त था और ग्रीष्मकालमें भी पौनःपरासे बिरती हुई जलधाराकृति
दूरसे ही सन्तापकी तन्त्रा (अवस्था) को नष्ट कर देता था ॥ १४ ॥

यत्र पुष्पशरशास्त्रकारिका शारिकाऽभ्युपितनागदन्तिका ।

भीमजानपथसार्वभौमयो प्रत्ययैक्षत रते कृताकृते ॥ १५ ॥

यत्रेति । यत्र सोधे, पुष्पशरशास्त्रस्य चात्स्यायनादिप्रणीतकामतन्त्रस्य, कारिका
कर्त्री, प्रादृश पृथ टोकमुने श्रवणात् तत्पुनरुक्तिकारिणीत्यर्थ । तथा अभ्युपिता
अधिष्ठिता, नागदन्तिका भित्तिनिर्गतदारविशेष यथा तादृशी 'नागद'ती द्विपरदे
गृहाङ्गितदारणि' इति मेदिनी । शारिका शारीतिव्याप्त पक्षिविशेष । 'शारिका
शारी' इति यादव । भीमजानपथसार्वभौमयो भौमीनष्टयो, रते सुरते, कृताकृते
विहिताधिहिते, कामक्रांताशुसारेण सुरतममुष्टित न वा इत्यादिरूपे इत्यर्थ । प्रत्यये
क्षत निपुणभावेनापश्यत् । इदं कृतम् इदं न कृतम् इति अनुसन्देहे इत्यर्थ ॥ १५ ॥

जिम (प्रासाद) पर कामशास्त्रको करनेवाली (पक्षी—वातराज्यनष्ट कामशास्त्रके
श्लोकरूपिणी) तथा दीवालें की मृदियोंपर (वा—विजयों में) बैठी हुई शारिका पक्षी दम
वन्ती और निषधेश्वर नरके बिये गये तथा नहीं बिये गये रत (अथवा—बिये गये तथा
नहीं बिये गये रसविषयक कार्य) को देखती थी । [शास्त्रमें श्लोकरूपमें शारिका शोनी
है, यथा—साङ्ग्यकारिका, शारिकावली आदि । तथा—यद्यपि यशोव शास्त्रोक्त कावेदे न्यूना-
धिक्यको देखनेवाला मन्त्रा होता है, वैसे वह शारिका (मैना) पक्षी थी । दमवन्ती तथा
नरके रतका वह शारिका अनुकरण करती थी] ॥ १५ ॥

यत्र मत्तकल्पाविद्वशारिकाग्लोभ्यैकेलिपुनरुक्तिवत्तयो ।

क्वापि दृष्टिभरवापि वापिकोत्तसहसमिथुनस्मरोत्स्र ॥ १६ ॥

यत्रेति । यत्र सौधे, ववापि कुत्रचित् प्रदेशे, तयो भैमीनलयो, दृष्टिभिर्दशनैः, चापिकोत्तसाना दीर्घकालङ्काराणाम्, हसमिश्रुनाना हसद्वन्द्वानाम्, स्मरोत्सवसुरतकेलि, मत्ताना हृष्टानाम्, कलविह्वाना चटकानाम्, तथा शारिकाणा पक्षिविशेषाणाञ्च, आदलेत्यकेलिभिर्प्राग्वक्कीदामि, पुनरात्तवत् पौनरव्ययमिव, अवापि अवोधि तत्तुल्यम् अदृशि इत्यर्थः ॥ १६ ॥

अत्रापर मतवाले चटका (गोरैया) तथा शारिका (मैना) पक्षियों (पाठा०—अत्रापर मतवाले चटका पक्षियों) की बदलील कीडानोंसे (या-जाटाओंकी) पुनरुत्पत्तिसे युक्त (या-के समान) बारीके भूषणरूप हसोंकी जोड़ीक कामोत्सवको वन दो (नल तथा दमयन्ती) में कहींपर देखा । [वन्हीने पहले चटका तथा मैनाको तदनन्तर बाधाभूषण हसमिश्रुनकी आलिङ्गनादिहीन मैथुन कीडाको देखा] ॥ १६ ॥

यत्र घैणरचवैणवस्वरैर्हृद्भृत्तैरुपवनीपकालिनाम् ।

कङ्कणालिकलहैश्च नृत्यता गोपितं सुरतकूजितं तयो ॥ १७ ॥

यत्रेति । यत्र सौधे, घैणै बीणासम्पन्धिभिः, रचै शब्दैः, वैणवै हेतुसम्पन्धिभिः स्वरै ध्वनिभिः, तथा उपवग्याम् भारामे, पिकाना कोकिलानाम्, अलिना शृङ्गाणाञ्च, हृद्भृत् हृद्भार, तथा नृत्यतानर्त्तकीजनानाम्, कङ्कणालिकलहै करभूषणावलीकलकलैश्च, तयो दम्पत्यो, सुरतकूजितं शृङ्गारकालिकमणित्वादृशब्द, गोपितं तिरस्कृतम् । अतो न विज्ञग्मविघात इति भावः ॥ १७ ॥

अत्रापर बीणाकी शृङ्गार, बासोंकी ध्वनि और उपवनमें रहनेवाले कोयलों तथा अमरोंके शृङ्गार-गुञ्जनोसे, एक नृत्य करनेवालों (स्त्री-पुरुषों) के कङ्कण-कलह (कीडा कलहमें उत्पन्न कङ्कण समूहके झनकारों) से वन दोनों (नल तथा दमयन्ती) का सुरतकूजित (रतिकालिक अत्यक्त कण्ठध्वनि) छिप (पाठा०—मद पट) गया क्योंकि उत्त ध्वनियोंसे वन दोनोंका सुरतकूजित दूसरोंको सुनावी नहीं पडा ॥ १७ ॥

(सीत्कृतान्यशृणुता विशङ्कयोरेतर्प्रतिष्ठितरतिस्मरार्चयो ।

जालकैरपवरान्तरेऽपि तौ त्याजिनैः कपटकुड्यता निशि ॥ १ ॥)

सीत्कृतानीति । अपवरान्तरं गर्भगृहमध्ये रतिस्मरप्रतिभागृहापेक्षयाऽन्यस्मिन् वा गृहे स्थितावपि तौ भैमीनलौ दिवा गवाक्षेष्वपि भित्तिभ्रमादच्छिद्रगृहनिवास-वशादन्यानावर्णनबुद्ध्या विशङ्कयो शङ्कारहितयो ससम्भ्रमकूजनादिकुवतो यस्मिन् सौधेऽप्रतिष्ठितयो पुरोधसा मन्त्रसामर्थ्याच्चेतन्यमवलम्ब्य प्रतिमाया कृताधिष्ठानयो रतिस्मरयोरे अर्चं सुवर्णादिरचितप्रतिमे तयो सीत्कृतानि नलदन्तजपादानुभावसूचकानि सीत्कृत्यामिनेयानि शब्दितानि निशि रात्रौ कपटकुड्यतामलीक-

१ 'कुड्यतम्' इति पाठान्तरम् । २ 'प्रकाश' व्याख्यासहित पद्याय श्लोकोऽत्र स्थापितः ।

भित्तिभ्रमः स्याज्जिनेर्ज्ञानैरेव वा चै कृत्वा अश्रयताम् । दिने रजनादिभित्तोना मयोना
वा भामा द्यादिगानि जालानि भित्तिरुह्यानि भवन्ति, रात्रौ ॥ रजतादिभिनावा
त्तादृशप्रकाशाभावात्तामिरेव कपटकुट्यत्व स्याज्जितानि जलरूपेणैव प्रतीयन्ते । तत्र
प्रतिष्ठासामर्थ्यात्सचेतनौ सुरतलोहपौ रतिस्मरावपि गवाक्षेषु दिवा आतभित्तिभ्रमा
द्युभावपि कुट्यभ्रमेगाविचार्यैव विशङ्कौ यत्र सुरत चक्रतु, जालमार्गं शब्दमत्र
राक्ष तत्कृतितानि ते शुश्रुवतुरिति भावः । पुरोधसो मन्त्रप्रभावप्र सूचितः ।
नण्डुलचूणादिमण्डलिप्त चित्रमय वस्त्र कपटकुट्यम् । दिवोष्मप्रवेशमिषा गवाक्षेषु
चित्रपटा ध्रियन्ते रात्रौ च पवनानामनार्थमपनोयन्ते, तथा च दिनवद्वात्रावपि कुट्य
शुद्धया विशङ्क मणितानि चक्रुरिति वा । अपटुगोस्याङ्गाद्यतीर्यपवरो गृहगतं
पथाद्यच्च । 'प्रतिकृतिरर्चा पुमि—' इत्याद्यमरः ॥ १ ॥

गमगृहके मध्य (अथवा—रति-स्मर-प्रतिमा के पार्श्ववर्ती गृह) में दमयन्ती एवं
नरुने जडे हुए रत्नोंकी किरणोंमें (दिनमें भी विवर्तकोंको दोषाल समझनेके कारण)
नि शङ्क (दूरका काह मेर रति-कृजिका ॥ निशिट्ट वरमें-से नडा सुन सकना हम प्रकार
आद्वारदिन), भिम (प्राणाद) में प्रतिष्ठित (नर-पुरोहितके द्वारा प्राग्वणिडाप्राप्त) रति
तथा कामदेवकी (स्वगादिरविन) मूर्तियोंके 'सीकृतो' (रतिकालिक दन तथा नखादिके
क्षणमें उत्पन्न 'सीद', 'सीद' शब्द-विशेषों) को सुना तथा रात्रिमें रजन आदिकी बनी
दावालोंमें वैसा प्रकाश नहीं रहनेसे कपटकुट्यशको छाह (अग्निबन्ध दोषाल) के भ्रमकी
दूर करनेवाली खिलकियोंमें वक्त मोहकताको सुना । अवश—सूर्योदिस-नापके निवारणार्थ
जिह्वकीवोर डाले गये चित्र पशोंको ही रतिस्मर दोषाल समझकर नि शङ्क हो कोडा
करते थे और रात्रिमें वायु आनके लिए बन पशोंको हटा देनेपर प्रकाश नहीं रहनेसे
पिटकियोंकी ही रति-स्मर दोषाल समझकर निशङ्क हो कोडा करते थे और हम गृहके
पार्श्ववर्ती गृहमें स्थित नर तथा दमयन्ती उन दोषों (रति-स्मर) के सीकृतोंको सुनते
थे । [प्रतिमाओंमें मन्त्रद्वारा प्राग्वज्जार करनेसे नरपुरोहितका प्रभावविशेष सूचित
होता है] ॥ १ ॥

कृष्णसारमृगशृङ्गभङ्गुरा स्यादुरुज्ज्वलरसैकसारणि ।

नानिश श्रुति यत्पुर पुरा किन्नरोत्क्रिष्टगोनिष्कृति ॥ १८ ॥

कृष्णेति । यत्पुर यस्य सौधस्य सम्मुखदेशे, कृष्णसारमृगस्य कालमारुण्यहरि
णस्य, शृङ्गवन् विपाण इव, भङ्गुरा भङ्गवन्ती, अतिवक्त्रेति यावत् । एकत्र—कपटस्व
रस्य कम्पनविशेषेण तयोच्चारणात्, अन्यत्र—स्वभावादिति भावः । अत एव उज्ज्व
लरसस्य शृङ्गाररसस्य, 'शृङ्गार शुचिरुज्ज्वल' इत्यमरः । एका मुषया, सारणि
कृत्या, स्वल्पनदीत्यर्थं 'प्रसारण्यां स्वल्पनमात्र सारणि' इति मेदिनी । शृङ्गार-

१ '—सारिणी' इति पाठान्तरम् । २ 'यन्मुखे' इति पाठान्तरम् ।

रसामिका इति भावः । स्वादु मधुरा, विचरिणा विचरिणीणाम्, देवगायिकाना-
मित्यर्थः, विकटा विपुला, गीतरस्य गानस्य, झङ्कृति झङ्कारस्यस्वरः, अनुकारि-
ण्योऽयम्, अनिष्टा नित्यम्, पुरा अतीते वर्तमाने भाविनि वा इत्यर्थः । न भुङ्गति न
चिन्तति न विविष्टा इत्यर्थः । 'पुरि लुङ् चास्मे' इति भूते लट् । अत्र गीतझङ्कृते-
श्चङ्काररससारजित्वेन रूपकालङ्कारः ॥ १८ ॥

जिम (प्रामाद) के सामने (आरोह-अवरोह क्रमके कारण) दृग्गमात् गृहके सींगके
समान टेटा, वर्णाश्रय, विचरियोंके एक स्वरवाले गीतके झङ्कारमे युक्त शृङ्गार रसका मुख्य
प्रवाह सर्वदा नहीं टूटता था, (पञ्चा-—जिसके सामने दृग्गमात् गृहके सींगके समान
टेटी, मधुर (स्वादिष्ट), निर्मल जलवाली, विचरियोंके समान वदुन-भी भ्रमरिदोंके तीव्र
गुञ्जनके झङ्कारसे युक्त एक नहर सर्वदा नहीं विच्छिन्न होती थी अर्थात् कभी नहीं सूखती
थी) । [मधुर गान करती हुई दमयन्तीसे गान साधनेके लिए आयी हुई विचरियों जिन
प्रासादके द्वारपर सर्वदा गान करती थीं (अथ एव) जिसका द्वार उनकी ध्वनिसे विकारनें
परिपूर्ण रहता था । पञ्चान्तरका अर्थ स्पष्ट है । आगे 'लुङ्गप्रामादवामाद (२१।१०९)'
श्लोकद्वारा प्रासादके आगे नहरका वर्णन होनेसे यहाँ पञ्चान्तरमे नहरका वर्णन किया गया
समझना चाहिये] ॥ १८ ॥

भित्तिचित्रलिखितासलक्रमा यत्र तस्थुरितिहान्ममकृथा ।

पद्मनन्दनसुतारिरसुताऽमन्दसाहसहसन्मनोभुव ॥ १९ ॥

भित्तिंति । यत्र सौधे, भित्तिषु कुट्टयेषु, चित्रलिखिता आलेख्यरूपतया अङ्किता,
अलिखिता सलक्रमा, क्रमा अनुक्रमा, पूर्वोपरघटनाविशेषा इत्यर्थः । यासा तादृश्या,
पद्मनन्दनस्य पद्मयोने ब्रह्मण, तस्य विशुनामिकमलोपपन्नवाविति भावः । सुतया
कथयथा भारत्या, रिरसुता रम्भुमिच्छुता, सा एव अरुन्द महन्, साहसम् अविमृष्य
कारिणम्, तेन हसन् स्वप्रयाससाफल्यसन्तोषात् समयमान, मनोभू काम यासु
तथाभूता, इतिहाससङ्ख्या पुरावृत्तोच्चवृत्तान्ता, तस्थु विद्यन्ते स्म । यस्य साधस्य
भित्ती कामस्य ब्रह्मणोऽपि परामवादिप्रभाव चित्रक्रेण अङ्कित अवर्तते इत्यर्थः ॥ १९ ॥

अहापर दादालोके चित्रोमें लिखित सम्पूर्ण क्रमवाली, ब्रह्माकी पुत्री (सरम्भा) के
साथ रमणेच्छारूप महान् साहससे ईसते हुए कामदेववाली, इतिहासकी विस्तृत कथा थी,
(अथवा— रमणेच्छा उत्पन्न करने) से महासाहसी एव (देवा करनेसे अपने पराक्रम-
सफलता पर) ईसते (आनन्दित होते) हुए कामदेववाली) । [जिन प्रासादकी
दीवारोंसे ब्रह्मन् ब्रह्माकी भी पुत्रीके साथ रमणेच्छाकी कथा क्रमशः चित्रित है, जिसमें
ब्रह्माके महासाहस (अविचारित कार्य) पर अपनी सफलतामें ईसता हुआ कामदेव भी

१ ' रसमरणीयावेन रूपणादुपकालङ्कार ' इति 'जीवावृत्तिरिति म० म०
शिवदत्तशर्माणः ।

चित्रेन हे (अर्थात्—ब्रह्माकी उक्त इच्छा होनेपर अपने महापादकी सकृन्नामे दैतज
दुष्टा कामदेव को चित्रित है) । ब्रह्मा अपनी पुत्री सरस्वतीदेवीके साथ रति करना चा-
हता । यह कथा मत्स्यपुराणमें भिन्नो है] ॥ २९ ॥

पुष्पकाण्डजयडिण्डिमायित यत्र गौतमकलत्रगाभिन ।

पारदारिकविलासमाहस देवमर्तुरुदट्टङ्गि भित्तिषु ॥ २० ॥

पुष्पेति । यत्र मौधे, भित्तिषु कुड्येषु, पुष्पकाण्डस्य कुसुमेषु । जयडिण्डिमायितु
विजयशेषकडिण्डिमारयवाद्यविशेषवत् आचरितम् । 'उपमानादाचारे' इति वयवन्ताए
कस्तरि क्त । गौतमकलत्रगामिन अहल्यागन्तु, देवमर्तु, इन्द्रस्य, परदारान्
गच्छतीति पारदारिक । 'गच्छन्ती परदारादिभ्य' इत्युपपञ्चयानात् ठङ् । तस्य
विलास विजृम्भणम्, तत् एव साहसदृष्टकारिता, उदट्टङ्गि उदङ्कितम्, अङ्कितम्
इत्यर्थः । विजयशेषिभिरिति शेषः । ब्रह्मादिकीटपर्यन्त जगत् कामोन्मत्तमिति
ज्ञापनार्थं तथा दम्पत्यो हर्षजननाद्यंश्च सर्वमेतत् 'बृहत्साम्यं तत्र लिखितम्' इति
भावः ॥ २० ॥

जहाँ (जिन प्रामादकी सुवर्गादिरचित) दोवालोंपर कामदेव-विजयके किण्विमके
समान, अहल्याके कामुक देवद्रुका परलो-गमनकर माहम खोदकर लिखा गया है ।
[देवराज इन्द्रको भी जिन कामदेवने पराजित कर सुखिररतोके साथ सम्मोग कराया, उन
कामदेवका पूजन तुम दोनों (नन्द-दम्पती) को मनोबोधने सर्वदा करना चाहिये, यह
कामोद्देशक कथा स्वर्गादिरजित दोवालोंपर खादी गयी है] ॥ २० ॥

उच्चलत्कलरवालि कैतशाद् वैजयन्तरिजयाजिता जगत् ।

यस्य कीर्तिर्यदायति स्म सा कार्त्तिकीतिथिनिशोधिनोस्वसा ॥ २१ ॥

उच्चलदिति । कृतिकामि नक्षत्रेण युक्ता पूर्णमासी कार्त्तिकी । 'नक्षत्रेण युक्त
काल' इत्यण् । सा एव निधि पूर्णिमा, तस्या निशोधिनो रात्रि, तस्या स्वना
भगिनी, तामहशी सुतुम्ना इत्यर्थः । तथा वैजयन्तस्य इन्द्रयासास्य 'स्वात्
'प्राप्तादो वैजयन्त' इत्यमरः । विजयेन पराभवेण, औद्यत्येन मौन्द्येण च इति
भावः । अजिता लब्धेऽर्थः । यस्य मौवस्य, सा प्रसिद्धा, कीर्ति यया, प्रचलनेति
यावत् । 'यनामि चवलना चर्यने हासकीर्त्यो' इत्युक्तेरिति भावः । उच्चलनाम्
उड्डीयमानानाम्, ऊठवालीनां पारयातश्रेयोनाम्, कैतशात् उषातात्, इत्यरङ्-
वभेदः । जगत् सुवनम्, अवशयति स्म शोधयति स्म, शुश्रोहुरीति स्म इत्यर्थः ।
मौधेपरि उड्डीयमाना एते तावत् पारावना न भवन्ति, परन्तु एतस्य शरच्चन्द्रव-
न्दिकानुरथा कीर्तिरेवेति भावः । दीप् शोधने इत्यस्य लट् ॥ २१ ॥

कार्तिकी पूर्णिमाकी रात्रिके समान (अतिशय सुप्त) तथा (उज्ज्वल एव मोन्द्यके क्षण)

१. '—छामिन' इति पाठान्तरम् । २. '—उच्चल—' इति पाठान्तरम् ।

दम्भमानन्दके विनयने प्राप्त हुई जिन (प्रामाद) को कौन उठने हुए कवूरोंके झुण्डके बहानेन ममरको उज्ज्वल करती थी । [ये कवूर नही उठने, किन्तु इन्द्रप्रामाद-विषय जय हम प्रामादको शुभ कौन करको बढ रही थी] ॥ २१ ॥

गौरभानुगुहोद्दिनास्मं राद्भूतभावमिति वृत्तमाश्रिता ।

रेनिर यदाचेरेऽभि गोतिमि नाटिका भरनभारतासुता ॥ २२ ॥

गोरेनि । यस्य सौख्य, अजिरे प्राद्वमे, गौरनाना सिताशो, चन्द्रस्ये पर्य । गुहोद्दिन्या वृद्धस्यनिर न्या तारायाध, स्मरोद्भूतभाव कामव-पापारमेव, इति वृत्तं वर्तनायविषयम्, आश्रिता अवलम्बिता, तद्गर्नपरा इत्यर्थ । भरतभारतासुताः नाट्यशास्त्रस्य स्मरन्त्या भग्नकथा, नाटिका चतुरङ्गकविशोभा, 'चतुरङ्गा तु नाटिका' इत्युक्तमनुयाय, अभिनीतिमि अभिनयै, रेजिरे शुशुभिरे ॥ २२ ॥

चन्द्रमाका गुहरीनी (तारा) में कामवन्द (पाठा०—कामविक्रम मर्षादोल्लङ्घन भावकर) इतिहामका आश्रय किंवा हुआ नाट्यशास्त्रमें भग्नकर चार अङ्गोवाञ्छा उल्लु नाटक-विशेष जिन (प्रामाद) प्राद्वगर्ने अभिनीत (परादिन) होनेने शानने थे । (मयवा— चन्द्रमा तथा गुहरीनी (तारा) के कामव भाव (पाठा०—कामका मयवादिन) भावकर इतिहाम) ॥ २२ ॥

पौराणिक कथा—कामगोष्ठिन च द्रमाने एक मयव 'तारा' नामको गुहरीनीके साथ सम्भोग किया, जिनमें 'गुह' नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ।

शम्भुशरुवनसम्भुजिक्रियामाधन्ननधूविलासयो ।

गुम्भिकनैरुशानमा सुभाषितैर्यम्य हाटकविटङ्कमङ्कितम् ॥ २३ ॥

शम्भुशरुविति । यस्य सौख्य, हाटकविटङ्क हिरण्यकरपोतपात्रिका, 'हिरण्य हेम हाटकम्' 'करोतवाञ्छिहायाम्नु विटङ्क पुत्रपुत्रम्' इति आमर । शम्भो हरस्य दारवने देवशरुवानने, सम्भुजिक्रिया काचक्रोभि मङ्ग सम्भोगव्यापार, माधवस्य श्रोत्रगस्य, वज्रवधूविकाम गोशङ्खनाविहारश्च तथा विरये, उशनसा शुक्रवर्षग, गुम्भिकने विरचिन, सुभाषितै सूक्त, शिवकृष्णविहारवर्गनेतिर्ययं, अङ्गिन चित्रिनम् । तत्र लिखितम् इत्यर्थ ॥ २३ ॥

जिन (प्रामाद) को पुत्रगतिविन करोतवाञ्छो, जिनकोही (म दत्त दाम्ने) दारवने (शर्वकोके मार दि य मरुत वने य य) सम्भोग किंवा तथा श्रोत्रगकोके वज्रशङ्खकोके माधविकाम (रामकांडा) का 'शुक्राचार्यके द्वारा बनाये गये (इत्येकमय) सुभाषिताने पूर्ण वा अर्थात् जिनके मुरर्षमयो करोतवाञ्छिनासर जिनकोटा तथा कृष्णको रामकांडाके कोरे शुक्राचार्यकन सुन्दर वर्णन लिखे गये थे ॥ २३ ॥

१ '—स्मरोद्भूत—' इति पाठान्तरम् ।

अहि भानुभुवि दासदारिका यश्च परिचरन्तमुज्जगौ ।

कालदेशविषयासहरमरादुत्सुकं शुक्रपितामहं शुक ॥ २४ ॥

अहोति । यश्च यत्सौधचारी, शुरु कीर, काल रान्यादि, देश निर्जनादि, विषय उपभोग्याया नाय्या अवस्थादि, तेषाम् असहात् अक्षमात्, योग्यायोग्य विचारविह्वलासहिष्णोरित्यर्थ । स्मरात् कामात्, कामतादनादित्यर्थ । उत्सुकम् इच्छापूर्व योद्युक्तम् । 'इष्टार्थोद्युक्त उत्सुक' इत्यमर । अत एव अहि दिवेव, न रात्रौ इति भाव । भानुभुवि सूर्यतनया यमुनायाम्, यमुनामध्यस्थद्वीपे इत्यर्थ । न विधिवत् इति भाव । 'कालिन्दी सूर्यतनया यमुना रामनखसा' इत्यमर दासदारिका केवलेकस्याम्, सत्यवतीमित्यर्थ । न तु कुलीनामिति भाव । 'कवले दासधीवरौ' इत्यमर । परिचरन्त मेघमानम्, रमयन्तमिति यावत् । शुक्रपितामहं व्यासपितर पराशरम् 'शुक्रो व्यासुते कीरे' इति विश्व । उज्जगौ गायति स्म । पराशरस्य दासराजकन्यकासमागम पुराणादौ श्रुत पुत्र पुनरुच्चैः पपाठेत्यर्थ ॥ २४ ॥

जहाँ रहनेवाला शुक (लोग), बामदेव (अन्य विकार) में समय, देश तथा विषयको नहीं सहनेवाले (७१ एव) दिनमें यमुना (के द्वीप) में धीवरकन्या (योजनगन्धा—सत्यवती) के साथ सम्भोग करते हुए शुक्रदेवजीके पितामह (महर्षिव्यासके पिता) का उच्च स्वरसे गान करता (नाभोजारण करता) था अर्थात् उनके उक्त सम्भोगको कहना था । [यद्यपि शास्त्रमें रात्रिमें, तीर्थस्थानादिसे मित्र दूरान्त स्वगृहादिमें तथा स्वस्त्रीके साथ ही सम्भोग का विधान और दिनमें, तीर्थस्थानमें और परस्त्री—इसमें भी निषाद (शूद्र) कन्याके साथ सम्भोग करनेका निषेध किया गया है, किन्तु काम-पीटिन महर्षि व्यासजीके पिताने काल (दिन), देश (तीर्थस्थान-यमुना नदी) और विषय (शूद्रकन्या) होनेका विचार छोड़कर जो उसके साथ सम्भोग किया था इस बातको महाभागतत्त्वो कथा सुननेसे शीघ्र शिक्षा ग्रहण करनेवाला जिस प्रासादपर रह-वाला तोता भी उच्च स्वरसे कह रहा था । लोकमें भी कीर्ति सञ्जन बुरे कर्म करनेवाले अपने पितामहकी भी निन्दा करना फिरता है] ॥ २४ ॥

नीतमेव करलभ्यपारतामप्रतीयं मुनयस्तपोऽर्णवम् ।

अप्सर कुचघटाघलम्बनात् स्थायिनं कचन यत्र चित्रगा ॥ २५ ॥

नीतमिति । यत्र सौधे, कचन कुत्रचित् प्रदेशे, करलभ्यपारतां पाणिप्राप्यचरमसीमात्त्वम्, अचिरमेव लप्स्यमानफलत्वमित्यर्थ, नीतमेव प्राप्तमेव, तीर्णप्रायमेवेत्यर्थ । तपोऽर्णव तपस्यामागरम्, अप्रतीयं अनुत्तीर्य, तपस्यातो विरत्येत्यर्थ । अप्सरसा स्वर्गेश्याना, कुचा स्तना एव, घटा कुम्भा, तेषाम् अवलम्बनात् आश्रयात्, स्थायिन अवतिष्ठमाना, विश्रामपरा इत्यर्थ । तरणग्रान्ता घटादिकमवलम्ब्य विश्राम्यन्तीति प्रसिद्धि । मुनय विश्रामिनादय, चित्रगा आलेख्यवर्तिन, चित्रे अङ्किता विद्यन्ते स्म इत्यर्थ ॥ २५ ॥

वहाँपर किसी प्रदेशमें हाथसे (तैरकर) प्राप्त होने योग्य परतीर अर्थात् अतिशय निवृत्त (समाप्तप्राय) पलवाले तपस्यारूपी समुद्रको पार नहीं करके (इन्द्रके द्वारा तपस्यामें विघ्न करनेके लिए भेजी हुई मैनका आदि) अप्सराओंके स्तनरूपी घटों (पक्षा०—घटतुल्य स्तनों) को ग्रहणकर ठहरे हुए मुनिलोग चित्रित थे । [जिस प्रकार समुद्रको कठिन परिश्रमसे पार करता हुआ कोई व्यक्ति समुद्रके हाथमें हाँ पार करने योग्य अर्थात् अत्यन्त निवृत्तस्थ दूसरे किनारे तक तैरकर नहीं पहुँचना, किन्तु घटादिका आश्रय लेकर वहाँ (दूसरे किनारेके पास ही) विश्राम करने लगता है, उसीप्रकार बहुत दिनोंसे की गयी तपस्यासे शीघ्र ही मिथ्येवाले इसके फलको नहीं प्राप्तकर अप्सराओंके घटतुल्य स्तनोंको पकड़े हुए अनेक मुनि चित्रित थे । समाप्तप्राय तपवाले उन महातपस्वियोंका चित्र बनाया गया था, जो अप्सराओंका स्नान ग्रहण कर उनके साथ रमण करते थे] ॥ २५ ॥

(स्वामिना च वहता च त मया स स्मर सुरतवर्जनाजितः ।

योऽयमीदृगिति नृत्यते स्म यत्केकिना मुरजनिस्वर्नैर्धनै ॥ १ ॥)

स्वामिनेति । यस्य सौधस्य सम्बन्धिना केकिना क्रीडामयूरेणेति हेतोर्धनैर्मिथि-
हैमुरजस्वनैर्मृदङ्गध्वनिभिः, अथ च तैरेव मेघैर्नृत्यते स्म । इति किम्—योऽयमी-
दृगमहादिवशीकारकाङ्क्षी स महाप्रभाव स्मर स्वामिना कर्तिकेयेण प्रभुणा च तदी-
यपानत्वेन त वहता पृष्ठेन धारयता मया मयूरेण च सुरतवर्जनाजित इति ।
आवन्धोऽयसमुज्जये । कुमारस्य नैष्ठिकप्रह्लाचारिश्चाम्मयूराणां च वर्षर्तुकामभाजा-
नेशोपास्तस्त्र्यम्भामाग्रेण निर्गन्धुतामथुमयशुश्रुषि-दूना मयूरीमुखग्रहणमात्रेण गर्भ-
सम्भूनेर्लिङ्गसङ्कर्षणरूपरतपरित्यागो जयहेतुः । मयूराश्च मेघशब्दध्वन्या मृदङ्ग-
शब्दैर्नृत्यन्ति ॥ १ ॥

किम् (प्रासाद) का मयूर 'स्वामी' (कान्तिकेय, पक्षा०—मेरे प्रभु) ने तथा उनको ढोते हुए मैंने जो यह ऐसा (प्रज्ञा आदिको भी कामपरवश करनेके कारण हृत्प्रसिद्ध) है 'उस कामदेवको सुरतत्यागमे भीत लिया है' इस विजयमान्नामे मृदङ्गध्वनिरूप मेघ (या—मेघके गर्जनतुल्य मृदङ्गध्वनि) से नाचना था । [कामदेव प्रज्ञा, देवेन्द्र, महानपरवी व्यास, विश्वामित्र आदिको भी कामपरवश करनेसे महापराक्रमी प्रसिद्ध हो रहा है, उस कामदेवको भी मेरे प्रभु कान्तिकेयने तथा आदरातिशयसे उनका बाहन होकर उनको ढोनेवाले मैंने भी भीत लिया है, क्योंकि हम दोनों रति नहीं करते । वहापर नैष्ठिक प्रह्लाचारी होनेसे कान्ति केयको तथा मेघतुल्य मृदङ्गके शब्दसे नाचते हुए मयूरके नेत्रसे गिरे हुए वीर्यरूप अश्रुविन्दु-
को मुखसे ग्रहण करने मात्रसे मयूरीको गर्भवती होनेके कारण योनि-शिदन-सम्बन्धरूप रतिका त्याग करनेसे मयूरको सुरतका त्याग करनेवाला कामविघ्नेना समझना चाहिये] ॥१॥

१ मया 'प्रकाश' व्याख्यया सहाय श्लोकोऽत्र स्थापितः ।

७३ नै० उ०

यत्र वीक्ष्य नलभीमसम्भवे मुद्यतो रतिरतीशयोरपि ।

स्पष्टयेत् जयतोर्जयाय ते कामकामरमणीवभूवतु ॥ २६ ॥

यत्रेति । यत्र सौधे, नलभीमसम्भवे निषधेशमभ्यौ, वीक्ष्य दृष्ट्वा, मुद्यतो मोह गच्छतो, स्पष्टदशनात् विस्मयविमूढयोरित्यर्थः । अत एव स्पष्टया साम्येनेव, तुल्यताभिमानेनेवेत्यर्थः । जयतो अभिभवतो, रतिरतीशयो रतिकामयोरपि, जयाय अभिभवाय, ते नलदमयन्त्यौ, कामकामरमणीवभूवतु तज्जयाय स्वमन्ये ततोऽप्युत्कृष्टे कन्दपकन्दर्पस्त्रियौ जज्ञाते, ते अतिशयस्थिते इत्यर्थः । अभूततद्भावेति ॥ २६ ॥

जहाँर नल तथा दमयन्तीको देखकर (सुखके लिए) मोहित होते हुए (अथवा—अनद्युक्त होने हुए, अथवा—अपना अपेक्षा उनका अनिश्चय शरीरसौन्दर्य होनेसे आश्चर्यके कारण मोहित होते हुए) और मानो सार्द्धमे जीतने हुए कामदेव तथा रतिको जीतनेके लिए वे दोनों (नल तथा दमयन्ती) कामदेव तथा रति हो गये । [नल तथा दमयन्तीको शरीर-सौन्दर्य (या—उनकी रति) को देखकर कामदेव तथा रति भी आश्चर्यसे (या—सम्भोग करनेके लिये) मोहित हो गये और उनको मानो इष्टार्थोंसे जीतने लगे तो वे नल तथा दमयन्ती भी उक्तरूप कामदेव तथा रतिको जीतनेके लिए स्वयं भी उनसे उत्कृष्ट कामदेव तथा रति हो गये] ॥ २६ ॥

तत्र सौधसुरभूधरे तयोरानिरासुरथ कामकेलय ।

ये महाकविभिरप्यधीक्षिता पाशुलाभिरपि ये न शिक्षिता ॥ २७ ॥

तत्रेति । तत्र तस्मिन्, सौधसुरभूधरे मेरुतुल्यप्रासादे, तयो भैमीनलयो, कामकेलय अनङ्गक्रीडा । 'द्रवकेलिपरिहासा क्रीडाखेलाच' इत्यमरः । अथ आरम्भे कार्त्त्येन वा, अविरासु आविर्बभूवुः, विहारस्य प्रथमप्रवृत्ति कार्त्त्येन वा प्रवृत्तिरभूदित्यर्थः । प्रादुरादि शब्दो कृच्छ्रस्तिपरनियमात्तत्राप्रत्ययस्य कृच्छ्रस्तिप्रवृत्तिसामर्थ्यात् नास्ति भूभावः । ये केलय, महाकविभिः वात्स्यायनशास्त्रज्ञैरपि, अधीक्षिता अधृष्टा, वर्गिणुमशक्ता इत्यर्थः । तथा ये पाशुलाभिः पुष्टाभिरपि, न शिक्षिता न अभ्यस्ता, एतेन वर्णविषयप्राणकामकेलीनामपाधारण्यं सूच्यते ॥ २७ ॥

उस प्रासादरूपी सुमेरुपर उन दोनों (नल तथा दमयन्ती) को वे कामक्रीडा करने लगीं, जिनको महाकवि (कामशास्त्रके रचयिता वात्स्यायन आदि, या—कालिदास आदि) ने भी नहीं देखा (बुद्धिगोचर किया) था, तथा (अनेक जारोंके सफल होने पर) पुष्टलो (अर्थात् रतिपण्डित व्यवभारिणो स्त्रियों) ने भी नहीं सीखा था । ['कवयः किं न पश्यन्ति' (कविलोग क्या नहीं देखते अर्थात् सूक्ष्मसे सूक्ष्म वस्तु भी कवियोंकी बुद्धिमें स्फुरित होता है) नाटिके अनुसार महाकविलोककी बुद्धिमें भी जो कामक्रीडा स्फुरित नहीं हुई थी, तथा अनेक पुरुषोंके साथ सम्भोग करतेसे कश्चित् स्त्रियों द्वारा अधिक क्रीडा स्फुरित होती है,

किंतु जिन कामक्रीडाओंको उन्होंने भी नहीं सोचा था, अलौकिक उन कामक्रीडाओं को वे (नन्दा-दमयन्ती) करने लगे] ॥ २७ ॥

पौरुष दधति योपिना नले स्वामिनी श्रिततदीयभाजया ।

यूनि शैशवमतीर्णया कियत्प्रापि भीमसुनया न माध्वसम् ॥ २८ ॥

पौरुषमिति । पौरुष पुरुषत्वम्, युवादित्वाद्गुणप्रत्यय । दधति दधाने, यूनि नहणे, स्वामिनि पर्याय, नले नैपथविषये, क्रमात् योपिना स्त्रिया, भीरुस्वभावया इत्यर्थः । शैशवम् अनोर्णया अद्यापि अनुत्तीर्णतास्यया । कर्तरि क् । श्रित अवलम्बित, तदीयभाव नलाधिप्राय, तदधीनत्वमिति यावत् । यया तादृशया, अस्वतन्त्रया इत्यर्थः । भीमसुतया भोग्या, माध्वसम् सङ्गममयम्, कियत् किञ्चिन्मात्रम्, न प्रापि न भलमि, परन्तु महदेव भय प्रापि इति भावः । तच्च रसीभवतस्यायिन अङ्ग पत्यु अस्यानन्दकञ्च इति प्रपञ्चिन कुमारसम्भवमज्ञीभ्या 'भावसाध्वमपरिग्रहात्' इत्यत्र । अत्र भयहेतूना ललगतपौरुषादीना त्रयाणा भौमीगत-स्त्रीत्वादीना त्रयाणाञ्च यथासङ्ख्य सम्यग्भावा यथासङ्ख्यालङ्कार ॥ २८ ॥

पुरुषार्थको प्राप्त अर्थात् बलवान्, तद्वग नया स्वामी (राजा, पद्मा—पति) नलके विषयमें (क्रमशः) स्त्री (होनेमें मीर), वात्स्यावस्थाका त्याग नहीं को हुए अर्थात् प्रौढत्वको अप्राप्त, उसके बादका आश्रयको हुए अर्थात् नन्दापीन दमयन्तीने कुछ भय नहीं प्राप्त किया ? अर्थात् योका भय प्राप्त किया हो । [जिस प्रकार बलवान्, युवक और मालिकने मीर, वात्स्यावस्थायुक्त और दासभावप्राप्त व्यक्ति कुछ भय करता ही है, उसी प्रकार वक्त गुणयुक्त नलसे वक्त गुणवाली दमयन्तीने योका भय किया अर्थात् 'प्रथम झुटने न मालूम क्या होगा ?' इस प्रकार दमयन्तीको अपनी अनोदनाके कारण योका भय लगा । प्रथम झुटने स्त्रीका भययुक्त होना उचित ही है] ॥ २८ ॥

दूत्यसङ्गतिगत यदात्मना प्रागशिथ्र्यदिय प्रिय गिर ।

त विचिन्त्य विनययय द्विया न स्म वेद करवाणि कीदृशम् ॥ २९ ॥

दूत्येति । इय दमयन्ती, प्राक् स्वयवरात् पूर्वम्, दूत्ये इन्द्रभ्य दूतकर्मणि, सङ्गतिगत समागम प्राप्तम्, प्रिय नलम्, आश्रयता स्वयम्, गिर नवसर्गोक्तवाक्यानि, हृदयनिहितसप्रेमभाषणानीति यावत्, अशिथ्र्यवत् ध्रावयति स्म । शृङ्गो-वेर्गा चट्टपुपधाया ह्रस्वे सन्वद्भावा, 'श्रवतिशृङ्गोति—' इत्यादिना विकल्पादभ्यास-भ्येधम् । इति यत्, त पूर्वकृतम्, विनयययम् अविनयम्, प्रगल्भतामिति यावत् विचिन्त्य अनुस्मृत्य, द्विया लज्जया, सा भोग्या, कीदृश किम्, करवाणि विदधानि, इति न वेद स्म न बुबुधे । शालीनताऽभावस्मरणात् लज्जया वृत्तिकर्तव्यताविमूढा अभवदित्यर्थः ॥ २९ ॥

इस (दमयन्ती) ने (स्वयवरासे) पहले (इन्द्रदि देवोंके) दूतकार्यमें गिने हुए प्रिय

(नल) से जो स्वयं (नवमस्तोत्र) वचनोंको कहा था, उस अविनय (प्रगल्भता)को सोचकर लज्जासे 'मैं क्या करूँ ?' ऐसा (वह) कुछ नहीं जान सकी । [नटके १३ादिछा दूत बनकर अपने महलमें आनेके बाद दमयन्तीने जो अपने विरहप्रकाशक वचनोंको कहा था, उस धृष्टनाको सोचकर 'मुझे इस समय क्या करना चाहिये' इस बातको लज्जित वह दमयन्ती नहीं समझ सकी । नवसङ्गममें स्वामाविक लज्जाने पूर्वोक्त वचनके स्मरणसे दमयन्ती को क्लिप्तव्यमूढ बना दिया] ॥ २९ ॥

यत् तया सदसि नैषध स्वयं प्राग्वृत सपदि वीतलज्जया ।

तन्निज मनसि कृत्यं चापलं सा शशाक न विलोकि तु नलम् ॥ ३० ॥

यद्विदित । किञ्च, तया भोग्या, प्राक् पूर्वम्, स्वयंवरकाले इत्यर्थः । सदसि स्वयंवरसभायाम्, सपदि सहसा, वीतलज्जया विगतव्रणया सत्या, नैषध नल, स्वयम् आत्मना, नलकर्तृकयाऽऽभावेऽपि इति भावः । वृत पतित्वेन स्वीकृत, इति यद् तत् स्वयंवरणरूपम्, निजम् आत्मन्यम्, चापलं धाट्यम्, मनसि कृत्यं हृदि निधाय 'अनन्याधानं वरसि मनसि' इति समासे कथो वयसादेशः । सा भैमी, नलनैषधम्, विलोकि तु द्रष्टुमपि, न शशाक न शयमे ॥ ३० ॥

वीतलज्जा (लज्जाहीना) उस (दमयन्ती) ने जो पहले स्वयंवर सभामें नलको रख (बिना किसीकी प्रेरणा किये ही) वरण कर लिया, अपनी उस अपहृत्यको सोचकर ॥३॥ (दमयन्ती) नलको देखनेमें भी समर्थ नहीं हुई । [उस तीनों लोकोंसे भाये हुए सखी पुरुषोंके सामने मैंने लज्जा छोटकर नलको बिना किसीकी प्रेरणा किये ही वरण कर लिया, यह स्मरण कर अतिशय लज्जित वह दमयन्ती नलको देख भी नहीं सकी । इन दोनों इल्लोकोंसे दमयन्तीकी लज्जाका अपविनय बतलानेसे उसका उद्यम नायिका होना सूचित होता है] ॥ ३० ॥

आसने मणिमरीचिमासले या दिशः स परिरभ्य तस्थिवान् ।

तामसूयितवतीव मानिनी न व्यलोकयद्यि मनागपि ॥ ३१ ॥

आसने इति । स नल, मणिमरीचिभिः श्लक्ष्णैः, मासले सामग्रे, समुद्रासिते इत्यर्थः । आसने मणिपांठे, या दिशः वनुमम्, परिरभ्य आश्रित्य इत्यर्थः । तस्थिवान् उपविशे, यद्दिशाभिमुख्येनावस्थित इत्यर्थः । मानिनी अभिमानवती, इयं दमयन्ती, तां प्रियपरिरब्धां दिशम्, असूयितवतीव दिशं स्त्रीत्वेन सापत्न्यात् ईयितवतीव इत्युद्देशात्, मनागपि ईषदपि, न व्यलोकयत् न अपश्यत्, न लब्धुं किमु वक्तव्यमिति भावः ॥ ३१ ॥

(अनुरागाधिक्यसे एक बड़े आसनपर बैठे हुए उन दोनोंमेंसे) नल मणिदीकी किरणोंसे व्याप्त आसनपर (आसनके एक भागमें) जिस दिशाका आलङ्घनकर अर्थात् दिशाकी ओर बैठे थे, अपने प्रिय नलद्वारा आलङ्घित होनेसे उस दिशामें (सपत्नीभाव

करके) अन्धायुक्त होटी हुई भी मानिनी उम (दमयन्ती) ने उम (दिशा) को थोड़ा भी नहीं देखा । [यद्यपि लज्जाके कारण दमयन्तीने उम तरफ नहीं देखा, किन्तु कविने उस दिशारूपिणी नायिकाको उम (दमयन्ती) के पनि (नङ) द्वारा आलङ्घित होनेने दमयन्तीने उम दिशाको अपनी सरस्वती मानकर ईश्या की और स्वयं मानिनी होनेने उम (सरस्वतीरूपिणी) दिशाको देखातक नहीं ऐसी उपेक्षा की है । लेकिन भी सभी विषयों पत्रिके द्वारा आभिहित स्त्रीको सरस्वती मानकर उमके साथ श्यायु होने तथा उमको और देखनी तक नहीं, अतः एव दमयन्तीका वैसा करना उचित हो है] ॥ ३१ ॥

होमरिन्निजनिमज्जनोचितं मौलिदूरनमनं दधानया ।

द्वारि चित्रयुक्तिश्रेया तथा भृङ्गुनिशानमभ्रनीकृतम् ॥ ३२ ॥

होति । होमरिनि लज्जामयाम्, निजस्य आत्मन, निमज्जनं निमज्जोमयाम्, नश्य उचितं योग्यम्, लज्जाप्रयुक्तत्वात् मौलिनमनस्येति भावः । मौले मूढार्थं, दूरम् अत्यर्थम् तमनं ननिम्, श्यायनं चारयन्त्या, अत एव द्वारि द्वारदेशे, चित्रं युवते आलेख्यलिखितया नश्यत्वा, अरिष्ये कामिनि यस्या तथाभूतया, तद्वद्विषयया इत्यर्थः । तथा भ्रंशा, भ्रंशुं नञ्प्रत्यय, हुनिशतं पुन पुनराह्वानम् । 'हुतिराकारगङ्गानम्' इत्यमरः । अभ्रनीकृतं न भ्रंशविषयीकृतम्, भ्रंशमपि लज्जया प्रयुक्ताप्रदानात् अगमनाच्च अभ्रनमिव कृतमिति पर्यं । द्विधा प्रियं न किञ्चित् प्रयुक्ताच्च इति निरुक्तं । अभ्रतत्वात् चिच्च ॥ ३२ ॥

(निरन्तर प्रवाहित होनेने) लज्जाकाली नदीने आने कृत्वा (स्नान करने) के योग्य आरपन दूरतक नानुखी तथा द्वारपर चित्रलेखित युरत्रिके समान हुई उम दमयन्तीने पनि (नङ) के सैकड़ों आकृतियों ('प्रिये दमयन्ति ! शीघ्र आओ ' इत्यादि नलकृत हुजाने) को अननुना कर दिया । [विमं प्रकार नदीने स्नान करनेवाला व्यक्ति हुसकी लगाने मनव मुखको नाभिउक नाचे कर लेता है, उसी प्रकार लज्जावती दमयन्तीन मुखको अधिक नोचा कर लिया । तथा नङ्के बार-बार हुजानेपर भी उम प्रकार उम नङ्के वातको अननुनी कर दिया और उनके पास न गयी और न कुछ उत्तर हा दिया जिस प्रकार द्वारपर बनायी गया स्त्रीकी मूर्ति हो । लज्जावती अतः एव नत्रनुगी दमयन्ती नङ्के बार बार हुजानेपर भी उनकी नाचका अननुनी कर न ले उनके पास गयी और न उनकी आँखोंका उत्तर ही दिया] ॥ ३२ ॥

वैश्वं पत्युरविशन्नं साध्वनाद् वैशिनाऽपि शयनं बभ्राज न ।

भाजिताऽपि सविधं न साऽम्यपत् स्वापिताऽपि न च सम्मुत्ताऽभयम् ॥

वैश्वमेति । सा भैमो, साध्वसात् भयात्, पत्युं भर्तुं, वैश्वं गृहम्, न अविशत् न प्रविष्टवती, वैशिताऽपि सखीमि कथञ्चित् गृहान्तं प्रापिताऽपि शयनं तत्त्वम् न बभ्राज न तिथेवे, शय्याया न अवच्छदित्यर्थः । भाजिताऽपि सखीभिरनुनयादिना

शयन प्रापिताऽपि, मविघ समीपम्, अत्यन्तसयोगे द्वितीया । न अस्वपत् न अशेत
'स्वाप शयननिद्रयो' इति मेदिनी । स्वापिताऽपि सखीभि समीपे शायिताऽपि,
मम्मुखा अभिमुखी, न अभवत् न बभूव । एतेन नवोढाया मौम्यात् लज्जाविजित-
मन्मथारवमुत्तम ॥ ३३ ॥

वह दमयन्ती मयने पति (नल) के भवन (विलासगृह) में नहीं गयी, (नल या
सखियोंने) प्रविष्ट बरानेपर भी शय्यापर नहीं गयी, (नल या सखियोंसे) शय्यापर
पहुँचायी गयी भी शयन नहीं किया और (नल या सखियोंने) सुलगायी गयी भी सामने
मुतकर नहीं शयन किया अर्थात् पीठ फेरकर सोयी । [नवोढा स्त्रीकी यह प्रकृति होती है] ॥

(रुचल ॥ रल्लु भीमनन्दिनी दूरमत्रपत नैषध प्रति ।

भीमजाहृदि जित स्त्रिया द्विया मन्मथोऽपि नियत स लज्जित ॥१॥)

केवलमिति । भीमनन्दिनी केवल नैषध प्रत्युद्दिश्य दूर नितरामत्रपत लज्जा
प्राप्नोति न, किन्तु भीमजाहृदि वर्तमानया द्विया लज्जारूपया स्त्रिया जित खलु
जित एव सोऽतिप्रसिद्धपराक्रमो हृद्येव वर्तमानो मन्मथोऽपि नियत बहुकाल
लज्जित । अथ च—मनो मन्थाति पीडयतीति मन्मथ पृषोदरादि । एव विधोऽपि
जितालज्जित सङ्कुचितश्चेति चित्रम् । ह्योवशान्नलविषयोऽतिपीडाकरोऽपि कामो
बहुकाल तामभिभवति स्मेति भाव । अन्योऽपि स्त्रिया जितो लज्जते ॥ १ ॥

केवल भीमनन्दिनी (दमयन्ती) ही मन्से अत्यन्त लज्जित नहीं हुई, किन्तु दमयन्तीके
हृदयमें स्थित लज्जारूपिणी स्त्रीसे जोता गया वह (अतिशय प्रसिद्ध पराक्रमी) मन्मथ
(चित्तको मथिन = पीड़ित करनेवाला, कामदेव) भी निश्चितरूपसे (या—अत्यधिक) लज्जित
हो गया । [स्त्रीरूपी लज्जासे पराजित प्रसिद्ध पराक्रमी कामदेवका लज्जित होना उचित
ही है] ॥ १ ॥

आत्मनाऽपि हरदारसुन्दरी यन् किमप्यभिललाप चेष्टितुम् ।

स्वामिना यत्र तदर्थमधिता मुद्रितस्तदनया तदुद्यम ॥ ३४ ॥

आत्मनेति । हरदारा पार्वती इव, सुन्दरी सुरूपा, सा भेमीति शेष । आत्मना
स्वयमपि, यत् किमपि चेष्टितु यत् किञ्चन कटाक्षवीक्षणदि कर्तुम्, अभिललाप
स्पृहयामास, किन्तु स्वामिना पत्या, तदर्थं तन्निमित्तम्, अधिता यदि प्राथिता
चेत् । तत् तदेव, अनया भैर्या, तदुद्यम तस्य नलस्य, उद्यम चेष्टा, स्वकीयकटाक्ष
वीक्षणादिचेष्टा वा, मुद्रित प्रतिबद्ध, निरुद्धीकृत इत्यर्थ । स्वय चिकीर्षितमपि
लज्जावशात् न करोति इति निष्कर्ष ॥ ३४ ॥

शिवपत्नी (पार्वती) के समान सुन्दरी (दमयन्ती) ने स्वय भी जो कुछ चेष्टा
(कटाक्षदर्शन आदि, चुम्बन आदि) करना चाहा, (कि त) पति (नल) द्वारा उसीके

१ 'प्रकाश' व्याख्यासहित एवाय श्लोकोऽत्र स्थापित ।

लिए प्रार्थित वस (दमयन्ती) ने वस (नल) के उस वक्ष्य (कटाक्षदर्शन, आलिङ्गन, चुम्बनादि करने) को रोक दिया । [स्वयं चित्रीपिन भी आलिङ्गन आदिको नलके द्वारा करने की चाहना करनेपर उन्हें वैसा करनेसे रोक दिया] ॥ ३४ ॥

ह्रीभराद् विमुखाया तया मित्र सञ्जितामननरागशङ्किनि ।

स स्वचेतसि लुलोप सस्मरन् दृत्यकालश्लिन्न तटाशयम् ॥३५॥

ह्रीभरादिनि । स नल, ह्रीभरात् लज्जातिशयात्, विमुखाया प्रतिवृत्त्या, तया भैरव्या, अनुरागशङ्किनि वैमुख्यदर्शनात् अनुरागाभावम-देहिनि, स्वचेतसि मित्र मनसि, सञ्जिता पुञ्जीकृतम्, मित्र विरागसम्भावनाजनित भयम्, दृत्यकाले दूत-कर्मसमये, कलितम् अवगतम्, तस्या भैरव्या, आशय चित्तशक्तिम् स्मरन् सञ्जि-स्तयन्, लुलोप विनाशयामास । सहनुरागस्य स्मरणेन भय मुनोद हरपथं ॥३५॥

(अपने हृत्त्रादिके) दूतकर्मके समयमें निश्चिन्त दमयन्तीके अभिप्राय (स्व-विषयक वृद्धतमानुराग) को स्मरण करने हुए वस (नल) ने कञ्चनिक्यमें परलुलोपी वस (दमयन्ती) के द्वारा अनुरागका प्रभाव सोचनेवाले अपने चित्तमें उत्पन्न हुए भयको दूर कर दिया । [पहिले तो लज्जासे दमयन्तीको विमुक्त होनी हुई देखकर नलके हृदयमें भय उत्पन्न हुआ कि 'यह मुझसे अनुराग नहीं करती है क्या ?' किन्तु इस भयको अपने दूतकर्ममें देखते गये दमयन्तीके अटल अनुरागको स्मरणकर दूर कर दिया] ॥ ३५ ॥

पार्श्वमागमि निज सह्यालभिस्तेन पूर्वमय मा तयैकया ।

कयापि तामपि नियुज्य मायिना स्यान्ममात्रसचिवाऽवगोपिता ॥३६॥

पार्श्वमिति । मायिना कपटपटुना, चतुरेणेत्यर्थः । तेन नलेन, सा भैमी, पूर्वम् आदौ, आलिभि बर्ह्याभि सखीभि सह, निज पार्श्व स्वसमीपम्, आगमि आग-मिता, आनीतेत्यर्थः । गमेण्यन्तात् कर्मणि लृट् 'मित्रात् ह्रस्वच्च्म् । अथ अग्न्यासा सखीना कार्यव्यपदेशेन प्रस्थापनानन्तरम्, एकया एकमात्रया, तया आत्मा सह, अवगोपिता अवशिष्टं कृता । अथ ताम् एकामपि आलिम्, कयापि तावृत्तानयनादि रूपे कस्मिन्नपि कर्मणि, नियुज्य सग्रेष्य, स्वात्ममात्र केवल स्वयमेव, सचिव सहाय, सहचर इत्यर्थः । यस्या सा तादृशी, चतुरे इति शेषः । विशिष्टमकरोदित्यर्थः ॥३६॥

(भयमें अपने समीप नहीं आती हुई दमयन्तीको पास बुलानेके लिए) कपट करनेवाले नलने पहले सखियोंके साथ वस (दमयन्ती) को निकट बुलवाया, हमके अनन्तर (व्या-जान्तरसे अन्य सखियोंको भेजकर) एक सखीके साथ उसे अपने पास किया और (कुछ समय बाद पहलेसे योरा अधिक विश्वास प्राप्त कर लेनेपर) हम सखीको भी वहीं पर

१ 'चिष्णमुलोर्दीर्घोऽयतरस्याम्' इत्यनेन दीर्घ इत्यवश्यम् । अत्र 'विमाया चिष्णमुलो' इति दीर्घविकल्पात्पक्षे ह्रस्व इति वदन् 'प्रकाश' कारस्तु आन्तरतेन सुम्विधानाद्दीर्घविधानाच्च ।

(पान, मात्व आदि लानेके लिए) नियुक्तकर उस दमयन्तीके साथ केवल स्वयं ही रह गये ॥ ३६ ॥

सन्निधारपि निजे निवेशिनामालिभि कुसुमशखशाखवित् ।

आनयद् व्यवविमानिव प्रियामङ्कपालिवलयेन सन्निधिम् ॥ ३७ ॥

सन्निधिविनि । कुसुमशखशाखवित् कामतन्त्रसारग नल, आलिभि सहच रंभि , निजे सन्निधौ स्वसमीपे, निवेशिना स्थापिनामपि, प्रिया दमयन्तीम् , व्यव विमान् इव अमत्रिहित इव, अङ्कपालि पृष्ठदेशस्पर्शपूर्वकाङ्कलिङ्गनविशेष, तद्भूषण वलयेन वलयकारणरूपेण, सन्निधि स्वसमीपम् , आनयत् आनितवान् । 'आदौ रत बाह्यमेव प्रयाज्य तथापि चाङ्कलिङ्गनमेव पूर्वम्' 'तथा सामीप्यगा भीरु नवोढा सन्नि धावयन् । विश्वासच्छिद्यना गाढाङ्कलिङ्गनात् त्याजयेद् भयम् ।' इति कामशास्त्रादिति भाव ॥ ३७ ॥

सखिबोझरा भरत (नलके) पासमें पहुँचायी गयी प्रिया (दमयन्ती) को स्वयं पुरुष बैठे हुए—से कानशाखद्वय नलने अङ्कपालिमें घेरेने (पीठके पीछेसे पकड़कर भरने कीदमें करन) से समीपमें कर लिया । [यद्यपि सखिबोने नलके पासमें दमयन्तीको पहुँचा दिया था, तबपि अपनेको प्रियासे दूरस्थ—सा मानकर कामशाखद्वय नलने पीछेसे दमयन्तीको पकड़कर गोदमें या—अत्यन्त पासमें बैठा लिया] ॥ ३७ ॥

प्रागचुम्बदलिके ह्रिया नता ता क्रमाद्वरता कपोलयो ।

तेन विश्वमितमानसा झटित्यानने स परिचुम्ब्य क्षिप्तिमये ॥ ३८ ॥

प्रागिति । स नल, ह्रिया लज्जश, नता नम्रमुखीम् , ता भैरवीम् , प्राक् पूर्वम् , अलिके ललाटपट्टके । 'ललाटमलिक गाधि' इत्यमर । अनुचुम्ब्य चुम्बनवान् , अथ क्रमात् क्रमशः , वरताम् ईषद्वनताम् , पूर्वविषया किञ्चिदुत्तमिनमुखीमिदं । करोलया गण्डयो , तामनुचुम्बदिनि पूर्वगाम्बय । तेन पूर्वोक्तरूपमृदुपत्रहारेणैव । विश्वमितमानसा विश्वव्यवस्थाम् , तामिति शेष । झटिति द्रक् , आनने मुखे, परि-चुम्ब्य चुम्बनविश, क्षिप्तिमये क्षिप्तवान् , अथचुम्बनद्वारात् ईषद्वनतां प्रशंसितव्यम् । अनु-प्रवेशलाभात् इति भाव ॥ ३८ ॥

वम (नल) ने लज्जेमें अनिश्चय बोधे मुख की हुई दमयन्तीको पहले ललाटमें, (फिर कट विषम ललाट हा जानेसे) कुछ नम्र (पूर्णविश्रान्त कुठ कर) मुखका हुई उसके दोनों गालोंमें और उनमें विशस्त चित्तवाली उसका हृत् मुखमें चुम्बन करके दाढ़ा—सा मुस्तुरा दिया । ['अवनत जिस मुखचुम्बनके लिये मुझे लालाविन रहनेपर भी तुम पास भी नहीं आती थी, वम मुखका चुम्बन अब मैंने कर लिया' इस आशयसे बोला

हैस दिया । अधिक हमनेपर दमयन्तीको पुन मयभोज होनेको आग्रहासे कामशाम्भ नउने थोटा हो ईसा] ॥ ३८ ॥

लज्जया प्रथममेत्य हृद्भूत साधसेन बलिनाऽय तर्जितः ।

किञ्चिदुच्छ्वसित एव तदधृदि न्यग्रभूर पुनरर्मकः स्मरः ॥ ३९ ॥

लज्जयेति । अर्मकः क्षिणु, अप्रगल्भावस्थत्वात् तथा रूपगम् । स्मरः काम-
तस्या दमयन्त्या, यदि चेत्तमि, किञ्चिद् ईषत्, उच्छ्वसित स्फुरित एव पूर्वोक्तबु-
भ्रनाशुपलाढनेन किञ्चिदुच्छ्वसित मन् एवेत्यर्थः । प्रथमम् आदी, लज्जया दिया,
एव आगत्य, हृद्भूत हृद्भूतरेण धारित, अय नदनम्नरम्, यथाऽपुष्पमने बलिना
ततोऽपि प्रव्रजेन, साधसेन आसेन, तर्जित मर्षित सन्, पुन भूय, न्यग्रभूय
सम्बुकोष प्रशशामेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

दम (दमयन्ती) के हृदयमें (पूर्वोक्त (१८।३७-३८) अलिङ्गन-चुम्बनादि-
व्यापारने) थोडा दडा हुआ (अत्र एव) बालक (लुट मनव पड़े डरान्न) कामदेव आकर
पहले लज्जामे डराया, गया और बादने अधिक मयमे तर्जित किया गया अत्र एव मङ्गुचित हो
गया । [नलके अलिङ्गन चुम्बनादि करनेपर आनन्दमे दमयन्तीके हृदयमें थोडा काम
लपन हुआ, कि तु पहल लज्जामे लुट (बहुत थोडा) दडा, बादमें अधिक मय होनेसे
अधिक दबका मङ्गुचित हो गया । जिस प्रकार थोटी आनुवाण बालक माताके पास आता
है तो वह पहल माताके डगारसे तदनम्नर अधिक लजित होनेपर मरने मङ्गुचित हो जाता
है, वही दडा थोडा मनव पड़े दमयन्तीके हृदयमें उत्पन्न होने वाल बालरूप कामदेवकी हुई ।
दमयन्ती नलक अलिङ्गन-चुम्बनादि अपने हृदयमें उन्नत कामका लज्जा तथा अतिशय
मयसे दवा दिया] ॥ ३९ ॥

प्रथमस्य भुजयो स्मरोत्सवे न्निम्नतो प्रसभमद्वपालिकाम् ।

एककश्चिरमरोधि बालया तल्पयन्त्रणनिरन्तरालया ॥ ४० ॥

चक्षुमस्येति । स्मरोत्सवे सुरतारम्भे, प्रसभ बलात्, अद्वपालिकाम् अलिङ्गनम् ।
‘सम्परीरम्भ आरम्भे परिष्वन्न प्रगूहनम् । आलिङ्गनमपि ऋन्दीकरणञ्चाङ्गपाशयपि ॥’
इति यादव । दिक्ष्मनां दानुमिच्छतो, अलिङ्गनप्रवृत्तयोस्त्यर्थः । ददाते सनन्ता-
ल्लुट शत्रुदेश, ‘मनि मीमा—’ इत्यादिना इत्येऽप्यासलोपः । चक्षुमस्य प्रियस्य,
भुजयो बाह्यो, एकक एकौ भुज, असहाये कन्-प्रत्यय । तल्पयन्त्रगे शय्यानिरो-
धने, शय्याऽऽलेपणे इत्यर्थः । निरन्तरालया अव्यवधानया, हृद्भूतेन निरन्तरारिच्छ-
तल्पया इत्यर्थः । बालया तरुण्या भोग्या, चिरदीर्घकालम्, अरोधि निरुद्धः, तल्पमा-
शिलस्य प्रियस्य एककरमण्यत् इत्यर्थः । भोग्या पृष्ठदेशशय्ययोर्मध्ये अन्तरालमावाह-
नलः एक हस्त तत्र प्रवेश्य दमयन्तीमालिङ्गितु न समर्थ इति भावः ॥ ४० ॥

कानोत्सवमे बलास्कारसे अद्वपालिका देने (अङ्गारने लेकर अलिङ्गन करने) के

इच्छुक प्रियके दोनों भुजाओंमेंसे एक भुजाको शय्यामें अपनी पीठको अत्यधिक दबा दो हुई अवला दमयन्तीने बहुत देरतक रोका । [शय्यापर सेटो हुई दमयन्तीका अलिङ्गन करनेके लिए नन्हे दोनों बाहुओंको (एक नीचे दमयन्तीको पीठकी ओर तथा दूसरे ऊपर करके) फैलाया, किन्तु अवला वह दमयन्ती एक हाथ दोनों बाहुओंको रोकनेसे असमर्थ होनेके कारण शय्यासे अपनी पीठको इतने जोरसे दबाकर सड़ा दिया कि नलका एक बाहु उसकी पीठके नीचे नहीं घुस सका, अतएव एक हाथमें वे नल उसका आलिङ्गन नहीं कर सके । अथवा—उक्त प्रकारमें तो उस अवला दमयन्तीने प्रियके एक हाथ रोका और दूसरे हाथको अपने दोनों हाथोंसे रोका, इस प्रकार उसने नलको आलिङ्गन करनेसे रोका दिया] ॥ ४० ॥

हारसाधिमरिलोकने मृषा कौतुक किमपि नाटयन्नयम् ।

कण्ठमूलमटमोयमस्पृशत् पाणिनोपकुचधात्रिना धव ॥ ४१ ॥

हारेति । धव पति, अथ नल, हारस्य मुखावहया, साधिमन् अतिशयेन साधुताया, रमणीयताया इत्यर्थः । विलोकने दर्शने, परीक्षार्थमित्यर्थः । किमपि अनिविष्टमित्यर्थः । मृषा मिथ्या, कौतुक कुतूहलम्, नाटयन् प्रदर्शयन्नित्यर्थः । वस्तु तस्तु पीडनाभिप्रायेणेवेति भावः । उपकुच कुचसमीपे, धावति द्रुत गच्छतीति तद्धाविना स्तनसमीपगामिना, पाणिना करेण, अमुष्या इदम् अदसीय दमयन्ती, सम्बन्धि । 'त्यदादीनि च' इति वृद्धसंज्ञाया 'वृद्धाच्छ' इति ह्यप्रत्ययः । कण्ठमूल गलाधोभागम्, उर स्थलमित्यर्थः । अस्पृशत् स्पृष्टवान् ॥ ४१ ॥

हारकी श्रेष्ठता (पाठा—सुन्दरता) को देखनेमें झूठे ही कौतूहलका अभिनय करने हुए पति इत (नल) ने स्तनोंके पाममें दोहने हुए (शीघ्र पहुँचे हुए) हाथने इत (दमयन्ती) के कण्ठमूल (हृदयोपरिस्थ भाग) को छु लिया ॥ ४१ ॥

यत् स्वयाऽस्मि सदस्मि स्त्रजाऽञ्चितस्तन्मयाऽपि भयदर्हणोऽर्हति ।

इत्युदीर्य निजहारमर्पयन्नस्पृशत् स तदुरोजकोरकौ ॥ ४२ ॥

यदिति । हे प्रिये । यत् यस्मात् स्वया भवत्या, सदस्मि स्वयवरसभायाम्, स्त्रजा वरणमालया, अञ्चिन् पञ्जित, 'अञ्चे पूजायाम्' इतोऽङागम, 'नाञ्चे पूजायाम्' इत्यनुनासिकलोपप्रतिषेधः । अस्मि भवामि, अहमिति शेषः । तत् तस्मात्, मयाऽपि भवत्या तव, अहंणा पूजा । 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' । अहंनि युज्यते, इति एवम्, उदीर्य उक्त्वा, निज स्वयम्, हार कण्ठभूषाम्, अर्पयन् ददत्, गलदेशे सज्जिधापयन्नित्यर्थः । स नल, तस्या दमयन्त्या, उरोजकोरकौ कुचकुङ् मलौ, अस्पृशत् स्पृष्टवान् ॥ ४२ ॥

'स्वयवर समामें जो तुमने वरणमालामें मेरी पूजा की (मुझे वरणमाला पहनाकर

१ '—चारिम—' इति पाठान्तरम् । २ 'कृता' इति पाठान्तरम् ।

सत्कार किया), उस कारण मुझे भी तेरी पूजा (अपना हार पहनकर तेरा मदर) करना सचित है । देसा कहकर अपने हारको पहनते हुए उस (नल) ने वस (दमयन्ती) के क्षीरकटुल्य (छोटे-छोटे) दोनों स्तनोंका स्पर्श किया ॥ ४२ ॥

नीविसीम्नि निद्रित म निद्रग मुधुरो निशि निषिद्धमद्रि ।

कम्पित शयमर्पामयन्तिज दोलनैर्जन्तिवोधग्राडनग ॥ ४३ ॥

नीवीति । म नल, निशिरात्रौ, निद्रया स्वापेन, निषिद्धमद्रि नितृत्तमज्ञाया, सुसुषु सुन्दरशालिभ्या प्रियाया, नीविसीम्नि कर्णवन्धप्रभिममर्पी, निद्रित म्या पितम्, उन्मोषेनोप हृति भाव । अत एव कम्पित सत्त्वोदयात् मकम्पम्, निद्रा स्वीयम्, शय पाणिम, दोलनै पाणिहम्पने, कम्पनादेनो दमयन्त्या गात्रे महमा सङ्गतप्रात् हृति भाव । जनिवोधया प्रबुद्धया, भयया मैम्या, प्रयोन्या । अग्रा सयत् अपामारयत् ॥ ४३ ॥

रात्रिमें निद्रासे चेतनाह्यन्त सुन्दर झूषाशो (दमयन्ती) के नीवि (पुटुनी—नाभिके नीचेवाली बलप्रस्थि) पर (उसे सोन्नेके लिए) रखे हुए (किन्तु सत्त्विक मन्वेन्दबन्ध) कम्पनसे युक्त मदने हाथको (पाठा०—हाथको आनन्द प्राप्त करते हुए) वस नलने दिवनेव बनी हुई वस दमयन्तीसे हटा (पाठा०—छुड़ा) लिया ॥ ४३ ॥

म प्रियोर्युगकञ्चक्राशुके न्यस्य दृष्टिमय [सिम्निमे नृप ।

आश्वार तदयाम्यराश्रितै सा निरावृत्तिरिव त्रापृता ॥ ४४ ॥

स इति । स नृप नल, प्रियायाः दमयन्त्या, ऊर्युगस्य सविमद्वयम्, कट्टुके चोलके, आवरके इत्यर्थ । अशुके सूक्ष्मवस्त्रे, दृष्टि नेत्रम्, न्यस्य निक्षिप्य, सिम्निमे स्मितवान्, सूक्ष्मवस्त्राम्यन्तरात् ऊर्युगसौन्दर्यं दृष्ट्वा आनन्दोदयादिति भावः । अथ दर्शानन्तरम्, सा दमयन्ती, निरावृत्तिरिव आवरणरहितेव, माकादृष्टे र्युगा इवेत्यर्थ । अत एव त्रापृता लज्जामगता सती, तदूर्युगम्, आश्वाराश्रितै वस्त्र-प्रान्तैः, आश्वार आश्रयाद्यामास । आवृतमपि अनावृतमितीव आवृणोदिति त्रापृ-तिशयोक्ति ॥ ४४ ॥

इस (नीविमे हाथ हटाने) के बाद वस (नल) ने प्रिया (दमयन्ती) के उररुदको छिपानेवाचे वस्त्रमें दृष्टि रखकर कर्षात्रि पदने हुए वस्त्रको देसका (अत्यन्त महीन वस्त्र होनेसे इदममान ऊररुदको देखनेसे उत्पन्न आनन्दके कारण, अथवा—अत्यन्त महीन वस्त्र होनेसे मैं आच्छादित भी तुम्हारे ऊररुदको देख सकता हूँ—इम भावने) मुस्तुरा दिया । इसके बाद आवरणरहित-नी लज्जित वस (दमयन्ती) ने वस (ऊररुद, वा—ऊररुदा-वरक वस्त्र) को वस्त्रके अङ्गलों (प्रान्त मार्गों) से आवृत कर लिया । [वस्त्र आश्रयदे

कुर्वती निचुलित द्विया क्रियन् सौहृदात् प्रिवृतसौरभं कियत् ।

कुड्मलोन्मिपिनसूनसेत्रिनीं पद्मिनीं जयति सा स्म पद्मिनी ॥ ४६ ॥

कुर्वतीति । पद्मिनी पद्मिनीश्रोजातीया, सा भैमी, क्रियत् किञ्चित् रात्रिवृतम्, द्विया लज्जया, निचुलित मत्सी समीपेषुपि निगूहितम्, क्रियत् किञ्चित्, सुहृदे भाव सौहृद नस्मात् सौहृदात् सौहार्दात्, प्रगयाधिक्षयादिशब्धः । युवादिवाद्गुणायय । हृदयस्य 'हृदयस्य हृदयेष्वयद्वलसेषु' इति ह्रस्वावे बाहुलकान्नोभयपद यृद्धिः । प्रिवृत प्रकृतम्, सौरभ मनोज्ञरस सौगन्ध्यञ्च यस्य तत् तादृशम्, कुर्वती विद्वन्मनी मनी, कुड्मलानि सुकुलानि, उन्मिपिनसूनानि प्रस्फुटितकुसुमानि च, मेवमेव भजते इति नादशीम्, पद्मनीं कमलिनीम्, जयति स्म विजितवती, कियत् कलिकाद्या कियद्विक्रयितकमलाद्या च कमलिनीव सा यमौ हरयर्थः । रहस्यतोपने कलिकातुल्य रहस्यप्रकटने च विकशितपद्मनुश्रयमिति भावः ॥ ४६ ॥

(कामशास्त्रोक्त) पद्मिनी-जातीया उभ (दमयन्ती) ने लज्जासे (रात्रिमे पत्रिके माघ क्रिये गये रति-विषयक) कुछ (सम्भाषणदि) को अपकाश करती हुई तथा सौहार्द (सखि भाव) से कुछ (आलिङ्गनादि कर्म) को प्रकटित कामशास्त्रोक्त कुशलगाथा (पञ्चा—सुगन्ध बाला) करती हुई अर्थात् आलिङ्गनादि कुछ सम्भाषण-सुखको सखी होनेके कारण उन सखियोंसे बनानी हुई, कोरक तथा स्वभाविकसित पुष्पशाखों कमलिनीको जीत लिया । [मिल प्रकार कमलिनी कोरकावस्थामें अपने गन्धको प्रकटित नहीं करती तथा कुछ विकशित होनेपर उन प्रकटित करती है वन्मा प्रकार दमयन्ती भी लज्जावश पत्रिके साधने हुए रतिकालिक कुछ (चुम्बनादि) भावको छिपाती थी और सखी होनेके कारण प्रेमवश कुछ (आलिङ्गनादि) कर्मको उनमें प्रकट करती (कहती) थी, ॥ प्रकार 'पद्मिनी' जातीया दमयन्ती पद्मिनीके मुख्य हुई ॥ ४६ ॥

नारिलोक्य नलमासितु स्मरो ह्रीन् वीक्षितुमदान्मृगीदृशः ।

तद्दृशः पतिदिशाऽञ्चलन्नथ ग्रीहिता समकुचन्मुहु पथ ॥ ४७ ॥

नेति । स्मर काम, मृगीदृश हरिलोचनाया भैम्या सम्बन्धे, नल नैषधम्, अविलोचय अदृष्ट्वा, आसितु स्यातुम्, न अदात् न दत्तवान्, हो लज्जा पुन, वीक्षितु द्रष्टुम्, न अदात्, अत एव तस्या दमयन्त्या, दृश दृष्टव्य, पतिदिशा स्वामिन प्रतीत्यर्थः । मुहु पुन पुन, अचलन् अगच्छन् । अथ अनन्तरमेव, ग्रीहिता दृग्गता भव्य, पथ तन्मार्गात्, समकुचन् सङ्कुचिता अभवन् । अतीव कौतुकमिदमित्याशयः ॥ ४७ ॥

१ 'वीक्षितुमदत्त सुभूव' इति पाठान्तरम् । अत्र 'प्रकाश' कार - 'वीक्षयते स्म' इति पाठ सुयोगः । यद् यस्माद्विषयकननिमित्तं तत्र तत्र वस्तुनि नेत्रे दृश्यते स-वीक्षयते स्मैव, तस्माददृश्यता परोक्षता च ज्ञातव्येति वा, इत्यादि ।

जिम कारण कामदेवने नलको बिना देखे दमयन्तीको ठहरनेका स्थान नहीं दिया (कामदेवने दमयन्ती नलको बिना देखे नहीं ठहर सक्ती थी, अन एव मश नलको देखना चाहती थी), किन्तु लज्जाने उन (नल) को देखने का स्थान नहीं दिया (किन्तु लज्जा-वश वह दमयन्ती नलका नहीं देख पाती थी), उस कारण उन (दमयन्ती) को दृष्टिमा नलका ओर बढी, (नलको दमयन्तीने बार-बार देखनेको छिड उभर नेत्र फैलाये), हमको बाइर जेज्जन् बे (दमयन्तीका दृष्टिमा) फिर मार्गने हो सङ्गुविन हो गयो (कर लौट आयो । अर्थात् नलका मानना होने हो उनको बिना देख हो दमयन्तीने लज्जाने अपने नेत्रोंका उभरसे फैला दिया) । [इसने काम तथा लज्जाका समान बन होनेने भावमन्त्रिने दमयन्तीका रहना मूखिन हाता है] ॥ ५० ॥

नानया पतिरनायि नेत्रयोर्लक्ष्यनामपि परोक्षतामपि ।

वीक्ष्यते म स्मरतु यद्विलोकने तत्र तत्र नयने ददानया ॥ ५१ ॥

मेति । अनया भग्या, पनि नल, नेत्रयो नयनयो, लक्ष्यता विषयतामपि, न अनायि न नीत, लज्जावशादिति भाव । तथा परोक्षताम् अविषयतामपि, न अनायि इति पूरगान्वय । अनुरागवशादिति भाव । मनु लक्ष्यताऽलक्ष्यतयोरेकन-राकारणे प्रकारान्तराभावात् कथमपेक्षितं सङ्गच्छते ? इत्याह—यत् यस्मात्, विलोकने दर्शने निमित्ते, दर्शनाथमित्यथ । तत्र तत्र तेषु तेषु विषयेषु, आदर्शादौ इति भाव । नयने ददानया दत्तदृष्टया तथा, स नल, आदर्शादौ प्रतिविम्बित इति भाव । वीक्ष्यते स्म अवलोकयते स्म स्मरतु । अवर्जनायता वीक्षित एव प्राय इति भाव ॥ ५१ ॥

हम (दमयन्ती) ने पनि (नल) का नेत्रोंका लक्ष्य नहीं किया अर्थात् नलको नहीं देखा और उनको परोक्ष भा नहीं किया अर्थात् अप्रत्यक्ष भा नहीं किया—देखा भा, क्योंकि जिम-जिम (दण, माणस्वभादि रूप) दान-निमित्तोंमें वह (नल) दृष्टिगोचर होने थे, उन-उस (दण, माणस्वभादिरूप दर्शन-निमित्तक पदार्थों) को यह (दमयन्ती) देखती थी । [लज्जावश वरपि दमयन्तीने नलको सामनेने नहीं देखा, किन्तु दर्पण तथा 'माणस्वभा'में प्रतिविम्बित नलको देखा ही । हम कारण उसका नलको प्रत्यक्ष तथा परोक्ष—'दोनों करना असङ्गत चही होय] ॥ ५१ ॥

वासरे विरहनि सदा निशा कान्तयोगममय समैहत् ।

सा ह्रिया निशि पुनर्दिनोदय वाञ्छति स्म पनिकेलिलज्जिता ॥ ५२ ॥

वासरे इति । सा भेमी, वासरे दिवसे, विरहस्य विच्छेदस्य, नि सदा सहनात्, मर्या सती । पचाद्यच् । कान्तयोगममय प्रियममागमकालम्, निशा रात्रिम्, सम-हत् ऐच्छत्, निशि पुन रात्रौ तु, पत्यु भर्तुं, केलिषु अनन्यक्रीडासु, लज्जिता

प्राप्तलज्जा सती, हिया सहजलज्जया, दिनोदय दिवसप्रादुर्भावम्, वान्छति स्म धमिललाप । विचित्रा हि नवोद्गता चित्तवृत्तिरिति भाव ॥ ५२ ॥

वह (दमयन्ती) दिनमें (नलके) विरहको सहनेमें असमर्थ होकर पतिके सयोगका लक्ष्मिको चाहती थी और रात्रिमें पति (नल) की कामकेलिते लज्जित होती हुई लज्जाने दिनके प्रादुर्भावको चाहती थी ॥ ५२ ॥

तत् करोमि परमभ्युपैपि यन्मा हिय व्रज भिय परित्यज ।

आलिखर्ग इष तेऽहमित्यमू शश्वदाश्वमनमूचिवान् नल ॥ ५३ ॥

तविति । हे प्रिये ! यत् चुम्बनादिषु यत् किञ्चिन्मात्रम्, अभ्युपैपि स्वीकरोमि, अनुमोदने इत्यर्थः । त्वमिति शेषः । परं केवलम्, तत् तन्मात्रमेव, करोमि सम्पादयामि, अहमिति शेषः । न पुनस्तवानभिप्रेत किञ्चिदपि करोमीति भावः । अत एव हिय लज्जाम, मा न, व्रज गच्छ, भिय प्राप्त्य, परित्यज दूरीकुरु, अहं ते तव, आलिखर्गं सखीजन इव, विश्रम्भभाजनमिति भावः । नल नैषध, अमू प्रियाम्, इति एवम्, शश्वत् मुहुर्मुहुः । 'मुहु पुन पुन शश्वत्' इत्यमरः । आश्वसन, साम्बनाश्वचनम्, उचिवान् उवाच ॥ ५३ ॥

(' हे प्रिये दमयन्ति ') मैं केवल (आलिङ्गन, चुम्बन आदिमेंसे) वही करूँगा, जिसे तुम स्वीकार करोगी, लज्जा मत करो, (पुरुषके शरारत्स्वर्गमें न मालूम क्या होगा, या—ये मेरी इच्छाके विरुद्ध भी कुछ व्यापार करेंगे इत्यादि शङ्कासे उत्पन्न होनेवाले) मयकी छोड़ो, मैं भी तुम्हारी सखियोंके समान ही हूँ । (पाठा०—इत (आलिङ्गन, चुम्बनादि) के विषयमें मैं तुम्हारी सखी हो हूँ,—इस कारण ऐसे सखीके आलिङ्गन-चुम्बनादि करनेपर तुमको लज्जा या भय नहीं होता, उसी प्रकार सखीरूप मुझसे भी लज्जा या भय तुम्हें नहीं करना चाहिये । ' इस प्रकार आश्वसनयुक्त वचनको नल दमयन्तामें बराबर कहने से) ॥ ५३ ॥

येन तन्मदनवध्विना स्थित ह्रीमहौपधिनिरुद्धशक्तिना ।

सिद्धिमद्विरुद्धतेजि तै पुन स प्रियप्रियवचोऽभिमन्त्रणं ॥ ५४ ॥

येनेति । येन तन्मदनवध्विना तस्या दमयन्त्या, कामाग्निना, ही लज्जा एव, महौपधि अव्यर्थभेषजम्, तथा निरुद्धशक्तिना प्रतिवद्धवीर्येण सता, स्थित तस्ये । भावे क । मदनवध्वि, सिद्धिमद्विरुद्ध साफल्यजनकशक्तियुक्ते, तै पूर्वोक्ते प्रियस्य पायु, प्रियवचोभि एव सप्रेमभाषणैरेव, अभिमन्त्रणै मन्त्रप्रयोगै, पुन भूय, उदत्तेजि उत्तेजित । तिज निशाने इति घातोर्ष्यन्तात् कर्मगिलुङ् । औपधप्रतिवद्धोऽग्निः प्रतिमन्त्रेण पुनरहीपितो भवतीति लोके दृश्यते । रूपकालङ्कार ॥ ५४ ॥

लज्जारूप महौपधिते निरुद्ध शक्तिवाली जो दमयन्तकी कामाग्नि दरो थी, उसे सिद्धिप्राप्त नलके प्रियवचनरूप मन्त्रके प्रयोगसे फिर उत्तेजित कर दिया । [त्रिसंस्कार

किमी ओषधिके ससर्गसे अग्निना तेज मन्द पड जाता है, किन्तु मित्र दिये हुए मन्त्रोंके प्रयोग करनेपर वह पुन उड़ीस होकर जलने लगती है, उमा प्रकार लज्जावश मन्द पड़ी हुई दमयन्तीकी कामाग्निको नष्टने उक्त प्रियवचनोंने दूर कर दिया । यहाँ कामदेवको अग्नि, लज्जाको महौषधि तथा प्रियवचनोंको मित्र मन्त्र स्मरण चाहिये] ॥ ५४ ॥

यद्विधूय दयितार्पित कर-दोर्द्धवेन पिदधे कुचौ दृढम् ।

पार्वर्या प्रियमपास्य सा ह्रिया त हृदि स्थितमिदालिलिङ्ग तम् ॥ ५५ ॥

यदिति । सा मैत्री, दयितेन प्रियेण, अर्पितम् उरसि स्थापितम्, कर पाणिम्, विधूय अपमार्ग्यं, दोर्द्धवेन निजभुजयुगेन, कुचौ स्तनौ, दृढम् अक्षिपिल यथा तथा, यत् पिदधे आच्छादयामास, तत् तेन कुचपिधानेन हर्ययं । पृथग्भगवत्पते यदिति शेष । ह्रिया लज्जया, पार्वर्या वहि समीपस्थम्, प्रिय नलम्, अपास्य निरस्य, हृदि हृदयमण्ड्ये, स्थित वर्तमानम्, प्रियम्, आलिङ्गि हव आलिङ्गितवतीव, हृद्युल्लेख । अन्तरालस्थितस्य आलिङ्गने अन्यैर्दृशंनमग्मावनाविरहात् लज्जाऽभावेन हृदयमण्ड्य स्तरस्य नल दृढरूपेण आलिङ्गितवर्तमानेन भाव ॥ ५५ ॥

द्विज कारण इस (दमयन्ती) ने पति (नन्) के द्वारा (वक्षस्पत्तर) रखे हुए हाथको हटाकर (अपने) दोनों हाथोंने दोनों स्तनोंको अच्छी तरह ढँक लिया, उन कारण पार्वर्या (वहि स्थित प्रियको (वहि स्थित प्रियको आलिङ्गन करनेपर दूसरा कोई देख लेगा) इन मावनावश वरग्न) लज्जाने दूरकर मानों हृदयमें स्थित प्रिय (नन्) को आलिङ्गन कर लिया । [आलिङ्गन दिक्की प्रार्थना करने पर विर्योंका निषेध करना कामोदीरन होता है । अथ च—स्तनमर्दनार्थ तत्पर नलका काम दमयन्तीके द्वारा स्तनोंको छिपानेपर भी दमयन्तीका आलिङ्गन करनेके समान बड गया] ॥ ५५ ॥

अन्यद्वास्मि भवती न याचिता वारमेकमधर घयामि ते ।

इत्यसिस्वददुपाशु काकुषाक् सोपमर्द्धहठवृत्तिरेव तम् ॥ ५६ ॥

अन्यदिति । हे प्रिये ! भवती स्वाम्, अन्यत् अपर किमपि, याचिता अर्घयिना । त्वत्, बुद्धादित्वात् द्विकर्मता । न अस्मि न भवामि, किन्तु वारमेकम् एकवारमात्रम्, ते तव, अधर दन्तच्छदम्, घयामि पिबामि । घेद् पाने इत्यस्य भविष्यत्सामोप्ये लट । इति इयम्, उपाशु रहमि, काकु अनुनयेन विकृतस्वरा, वाक् वचन यस्य तादृश, नल इति शेष । उपमर्द्धं कुचपीडने, हठेन अनुमतिमनपेक्ष्यैव बलात्कारेण, वृत्ति प्रवृत्ति, तथा मह इति स तादृश मम् एव, तम् अधरम्, असिस्वदत् स्वादि तवान्, चुचुन्वेयर्थ । स्वदेर्गौ बलव्युपाया इस्व ॥ ५६ ॥

‘और कुछ मैं तुमसे नहीं याचना करूँगा, (केवल) एक बार तुम्हारा अधरपान करता हूँ’ इस प्रकार एकान्तर्ने (या—प्रार्थनाकी दीनतासे) काकु (दीनवचन) बोलनेवाले नल

गाढालिङ्गनमें इष्टपृति हो (बलात् अर्थात् दमयन्तीकी अनुमतिके बिना ही आलिङ्गन कर) उस (अथर) का स्वाद ले लिया अर्थात् अथरचुम्बन कर लिया । [अथवा—दमयन्तीके द्वारा केवल एक बार अथरपान करनेकी अनुमति प्राप्तकर नलने एक बारसे अधिक अथरपान तथा आलिङ्गन आदि व्यापारको भी बलात्कारसे (बिना अनुमतिके) कर लिया । अथवा—एक बार अथरपान करनेके लिए दमयन्तीसे अनुमति पाकर पहले आलिङ्गन, मलक्षण आदिको इष्टपूर्वक करके अन्तमें अथरपान कर लिया । 'अन्यदा' पाठा०—'फिर दूसरे समयमें अथरपानकी याचना भी नहीं करूँगा', यह अर्थ करना चाहिये । 'मोऽयमर्द्ध'—पाठा०—'वे नल कुछ इष्टयुक्त आलिङ्गनादि व्यापार किये—ऐसा अर्थ करना चाहिये] ॥ ५६ ॥

(पीतस्तावकमुत्सासवोऽधुना भृत्य एव निजकृत्यमर्हति ।

सत्करोमि भवदूरमित्यसौ तत्र सन्मथित पाणिपल्लवम् ॥ १ ॥')

पीतेति । असौ नल इत्युक्तिव्याज्जेन तत्रोरो पाणिपल्लव मृदुसुखस्पर्शतया पल्लवतुल्य पाणि सन्मथित स्पर्शद् सन्निवेशितवान् । इति किम् ?—हे मैमि !, एव भृत्यो मल्लक्ष्मणो दास, पीतस्तावकमुखमेवासवो मद्य येन, अथ च—पीतस्त्वदीय मुखस्य सुरागण्डूयो येन, एवम्भूत सप्तधुना निजकृत्य चरणसबाहनादिरूप भृत्य सम्बन्धिकार्यं कर्तुमर्हत्युचिनो भवति । तत्तस्माद् गृहारामपुष्पावचयादिना त्विह भवदूरस्त्वदीयमूरु करोमि सबाहयामि । अथ च—सामर्थ्यादूर्ध्वं करोमीति । अनेकार्थं स्वाकरोति सबाहनाथं । अन्योऽपि भृत्यो भुक्तमुखोच्छिष्टचरणसबाहन करोति ॥ १ ॥

इत समय दुम्हारे मुखरूपी (पक्षा०—मुखोच्छिष्ट अर्थात् पीनेसे बचे हुए) नपका पान किया हुआ यह (मल्लक्ष्मण अर्थात् नलरूप) दास अपना कार्य (स्वामिनीरूपिणी दुम्हारे चरणोंकी दबाना) करनेके योग्य है, (अथ च—सामर्थ्य होनेसे इससे अधिक कार्य करनेके योग्य है), यह कहकर इस (नल) ने बहापर (दमयन्तीके कहद्वयपर मुख-स्पर्श होनेमें) पल्लवोपम हाथको रख दिया । [लोकमें जो कोई दास मालिकके उच्छिष्टका भोजन करके उसके पैरको दबाकर उसे पीडा-रहित करता है] ॥ १ ॥

चुम्बनादिषु बभूव नाम किं ? तद्वृथा भयमिहापि मा कृथा ।

आलपन्निति तदीयमादिम स व्यधत्त रसनावलिव्ययम् ॥ ५७ ॥

चुम्बनेति । हे प्रिये ! चुम्बनादिषु अधरपानादिषु कृतेषु, किं नाम तव किमिति-ष्टमित्यर्थं । नाम इति प्रश्ने, बभूव ? सज्जातम् ? न किञ्चिदपीत्यर्थं । तत् तस्मात्, इह करिष्यमाणे अस्मिन् सुरतेऽपि, वृथा मिथ्या, भय शङ्काम्, मा कृथा न कुरु, इति

१ अथ श्लोक 'प्रकाश'व्याख्यासहित एवात्र मया स्थापित ।

२ 'इत्युदीयं रसनावलिर्व्यय निर्ममे मृगदशोऽययादिमम्' इति 'प्रकाश' कृता व्याख्यात पाठ ।

एवम् , आलपन् उदीरयन्नेव, स नल, तदीय तस्या प्रियाया इदं दमयन्तीसम्बन्धिनम् , आदिमम् आधम् । 'अमादिपश्चाद्विमच्' इति वार्तिकवचनात् विमच्-प्रत्यय । रसनावलि-यय काञ्चीदाममोचनम् , व्यधत् चकार । रन्तुमिति भाव ॥ ५१ ॥

‘ हे प्रिये दमयन्ती !) जुम्बव आदि (आलिङ्गन, स्तनमर्दन आदि) में क्या (तुम्हारा कौन-सा अनिष्ट) हुआ ? क्योंकि कुछ नहीं, अनिष्ट नहीं हुआ, इस कारण इस (किये जानेवाले सुरत, या—करषणी स्नोकने, या ऊकसुशङ्कन) में व्यर्थ भयको मन करो’ ऐसा कहकर इस नालने (हज्जादिके कारण अतिशय चपल) भृगुनेत्रके तुल्य नेत्रवाणी (दमयन्तीकी) करषणाकी पहली बार (सर्वप्रथम) सोल ।

अस्तिवाग्यभरमस्तिकौतुक साऽस्तिधर्मजलमस्तिवेषधु ।

अस्तिभीति रतमस्तिवाञ्छित प्रापदस्तिमुखमस्तिपीडनम् ॥ ५२ ॥

अस्तीति । सा भेमी, अस्ति विद्यमान , वाग्मय सर्वेष्वेव व्यापारेषु प्रतिप्लुताया , भर आनिशद्य यस्मिन् तत् तादृशम् , 'अस्ति' इति विभक्तिप्रतिरूपक विद्यमानार्थकमन्ययम् , 'अस्तिहीराक्षीरादयश्च' इति वचनात् बहुमीहि । एवमुत्तरादि दृष्टव्यम् । अस्ति विद्यमान, कौतुकम् औत्सुक्य यस्मिन् तत् तादृशम्, अस्ति धर्मजल स्वेदवाहि, श्रमजलितमिति भाव । यस्मिन् तत् तादृशम् , अस्ति वेषधु कम्प , शब्दोऽप्य सार्विकमात्रे पल्लवम् , यस्मिन् तत् तादृशम्, अस्ति भीति भय यस्मिन् तत् तादृशम् , अस्ति वाञ्छितम् ईप्सित यस्मिन् तत् तादृशम्, अस्ति मुखम् भागान्दानुभवो यस्मिन् तत् तादृशम् , अस्ति पीडन नखदन्तचतादिग्रथा यस्मिन् तत् तादृशम् , रतम् एवम्भूत सुरतसम्भोगम्, प्रापत् अलम्बित । नलादिति शेष ॥ ५६ ॥

वस (दमयन्ती) न (पहले) अतिशय प्रतिक्रियायुक्त (अनन्तर सुरतारम्भकार्यमें पूर्णभूत नहीं होनेसे) कौतुहलयुक्त (तदनन्तर सार्विक भाव उत्पन्न होनेसे परिश्रमग्रन्थ) स्वेदयुक्त तथा कम्पयुक्त (तदनन्तर सुरतके आरम्भ हो जानेपर पूर्वज्ञान भय दूर होनेपर भागे क्या होगा ? एवम्भूत) भययुक्त (मुखकारण होनेसे) अभिकाशायुक्त, (समस्त सुरतके होनेसे) मुखयुक्त और (उममे भी अतिशय गात्रलिङ्गनादि होनेसे) पीडायुक्त सम्भोगको प्राप्त किया । (दमयन्तीने सर्वप्रथम वक्तरूप मैथुन किया) ॥ ५८ ॥

ह्रीस्तवेयमुचितैव यन्मन्त्रस्तावके मनसि मत्समागम ।

तत्तु निरूपमत्रस्त्रमात् ग्रीहमावहति मामकं मन ॥ ५९ ॥

ह्रीरिति । हे प्रिये 'यत् यस्मात् , तावके त्वदीये, मनसि चेतसि, मत्समागम मम मद्रति , नव साम्प्रतिक , इति सोऽलुण्ठोक्ति , तव तस्मान् , तव ते इयम्

१ 'अस्तिहीरादयश्च' इत्येवोचितम् । सिद्धान्तकौमुद्यान्तु 'अनेकमन्यपदार्थे' इति स्वस्पोदाहरणे 'अस्ति' इति विभक्तिप्रतिरूपकमन्ययम् । 'अस्तिहीरा गो' ह्स्त्रुक्त भट्टोद्दिष्टितेन ।

पुषा, ही, लज्जा, उचिता कनुरूपा एव । तु किन्तु, अत्रछमद्रमात् एतावन्त काल
महैव मनसा नियममागमात् हेनो, निछप निलज्जम्, मामक मदीयम्, मनोऽपि
मोद लज्जाम्, आवहति प्राप्नोति । स्वया मह बहिरमिनवममागमादिनि भाव ॥५९॥

‘हे प्रिये’ जिम कारण तुम्हारे मनमें मेरे साथ यह नया (पहला) समागम है,
अत एव तुम्हें ‘वदता—जिम कारण मेरे साथ यह नया समागम है, अत एव तुम्हारे
मनमें’ यह लज्जा होना उचित ही है । किन्तु (विवाहमें पहले भी स्वप्नादिमें) निरन्तर
महान् हासते निलज्ज होना मन भी (अथवा—मन) जो लज्जित होना है, यह
उचित नहीं है, क्योंकि तुम्हारा साथ यह काय समागम हो पहला है, आन्तरिक तुम्हारा
समागम भी महास्वप्नादिमें हुआ ही था ॥ ५९ ॥

इत्युपालभन मन्मुजिज्जियारम्भरित्तपनलज्जित्वैजित्तान् ।

ता तथा न चतुरो न चा यथा व्रतमेव तमनु त्रपामयान् ॥ ६० ॥

इतीति । मन्मुजिज्जियारम्भस्य सम्भोगव्यापारोपक्रमस्य, विभिन्न प्रतिबन्धद्वी-
भूत, बलज्जिते प्रगाढलज्जामि जित्तान् अभिभूताम्, ता प्रियाम्, चतुर
परिहामनिदुः, न मल, तथा नादरास्नेह, उपालभत अभ्ययुक्त, यथा येन कृपा,
मा प्रिया, तम अनु नल प्रति, तन्मुमेव लज्जितुमेव । उदित्वात् विरहयादिहमात्र ।
प्रगा लज्जाम्, यथा अभ्ययुक्त, प्राप्तवतीत्यर्थः । पुनरपि उपालम्भजनितलज्जा
मयात् प्रया लब्धी इति भावः ॥ ६० ॥

६० प्रकार चतुर नलन सम्भोग वाचक आरम्भमें प्रतिबन्धक अनिदुःय लज्जा (पा-
रान्तिद्वय लज्जास्य प्रारब्धिमंशोच) मे देवी हुए तम (प्रिया दमयन्ती) की वैसा
उपालम्भ दिया, जिसमें तम (दमयन्ती) ने तम (नल) के प्रति लज्जा करनेमें ही
लज्जित हुए अथवा लज्जाको छोड़ दिया । [नल्लेख उक्त (१८१५) उपालम्भको सुनकर
दमयन्तीने बोला कि मेरे लज्जित होनेमें इनके मनमें अन्यथा भाव उत्पन्न होते हैं, अत एव
यह लज्जा छोड़कर सम्भोग करने लगी] ॥ ६० ॥

(चाहृत्त्रजयनम्भनाहृत्त्रितुन्धगान्धरतमज्ञतानती ।

उच्छृत्तुम्भुक्तने दिने स्मिने क्षीप्रितेति समकेति तेन मा ॥ १' ॥)

वाह्नि । तेन वाह्निता मा मैत्री इति पूर्वोपपत्त्यरेण समकेति सहेतिता ।
इति किम् ?—६ मैत्री । उच्छृत्ता स्वस्वकार्यमाधनोत्साहवन्तो जना यत्र रात्रिदृष्टा
कार्णात्पुष्पादुक् मदीयज्जा यत्रैदिविषो वा दिने दिवसेऽपि ते सम्बन्धितो पाहृ
व वक्रप्रद लवनज्ज मनो चाहृती च तस्य वाह्नादे कामसाधप्रमिता ये वन्धा
नागपदादीनि करणानि तेषा गन्धो लेहो विषते यत्र तादृश रत तेन सङ्गता मि-
ताश्च ता आनन्दपक्ष निवरा नम्रगानि कौशल्यतिशयनिर्मितानवयवनग्रीभायान् ।

१ ग्लोकोऽयं मया ‘प्रकाश’ व्याख्यया सहैवात्र स्थापितः ।

सङ्गता इति पृथग्वा । नतीरिचतुरमिलायुकोऽस्मीति । स्मित इति भैमीसम्बोधन
वा रात्रिचतुर्वन्धरतप्रत्यभिज्ञान यथा भवति वोद्यगमात्रेगेद्वित दृष्ट्वाऽनुरागाति
शरादिनेऽपि स्वीय तादृशरतामिलाप ता प्रति ज्ञापितवानिति भाव । यद्वा—
बाह्यादेस्ता प्रसिद्धा क्रमेण बन्धश्च, गन्धश्च, रतञ्च, मङ्गतञ्च, आनतिश्च, ता ।
बाहोर्नागपाशादिवन्ध, वक्त्रस्य गन्ध पश्चिनीत्वात्सौरभम्, जघनस्य रतम्,
हननयो मङ्गत रलेप, चरणयो पतनमानतिश्चेत्यर्थ । त्वमम्बुधिनीस्ता स्वस्वग्या
पारऋणमात्रनिरता दुश्चिता जना यत्रैवम्भूते दिनेपीचतुरस्मीति वीक्षिता साऽनेन
स्वाग्य ज्ञापितेति भाव । यद्वा—त्वा (यदैव) परयामि, तदैव ममेव वाङ्मोदेनि
त्वदर्शनमेव सम्भोगसमय इति च ज्ञापितेति भाव । 'उत्सुकसखी'नेऽस्मिते
वीक्षिते'नि पाठे—रात्रिवृत्तप्रश्नवाङ्मोपनाथं तस्मादलज्जा मा भूदित्यस्मिते
स्मिन्नरहित एवविधे ज्ञातुमेवोत्सुके सखीजने सखीजनसखिधौ पूर्वोक्तप्रकारेण सा तेन
सङ्केतिता शङ्किता । तद्वाग्वाचरित बाहुबन्धादि तद्विदानीमिच्छुरस्मीति रात्रि-
वृत्तज्ञापनार्थं सखीसखिधावेवमुवाचेत्यर्थ । अत एव सा वीक्षिता । उत्सुके सखीजने
स्मिते प्रारब्धहास्ये सति धांडितेति वा । हे भैमि ! ते बाह्यादिवन्धादीन् दिने
वीक्षिता दृष्ट्वा एवम्भूतोऽमिलायुकोऽस्मि । रात्रौ यद्यपि कृता, तथापि न दृष्टास्त
स्मादिने यदर्शनेच्छुरस्मीत्येव सा तेन शङ्किता । न परमहमेव, किन्तु त्वसखीजनतोऽ-
र्थायुत्सुकपदेन सूचितमिति वा । व्याख्यानान्तर ग्रन्थगौरवभयान्नोक्तम् । नतीरि-
त्यत्र इच्छुर्वीक्षितेत्येताभ्यां योगे 'न लोका—' इति पठ्यमिषेव ॥ १ ॥

अपने-अपने काम करनेके लिये उत्सुक लोगोवाले (अथवा—रात्रिमें हुए तुम्हारे
सङ्गमवृत्तान्तको जाननेके लिए उत्सुक सखियोंवाले) दिनमें तुम्हारे मुखादय, मुख, जघन-
दय, स्तनदय और चरणदयके (कामशास्त्र प्रसिद्ध भागपाशादिरूप) आसन-विशेषोंसे
युक्त सुरतसे सयुक्त कुशलगायिक्यने निर्मित मङ्गतार्थोंको (अथवा—सुरतकी तथा सङ्गत
आनतिधौकी मैं देखना चाहता हूँ) इस प्रकार दमयन्तीको देखकर नलने सङ्केत किया ।
अथवा— दिनमें क्रमशः बाहुओंके (नागपशादि) बन्ध अर्थात् कामशास्त्रोक्त आसन
विशेष), मुखका ('पश्चिनी' जानीया स्त्री होनेसे) सौरभ, जघनोंका रत, स्तनोंका मिलना
(दिग्गुप्त होना) और चरणोंकी आनति (मङ्गत—झुंकना) इन सबोंको मैं देखना चाहता
हूँ । अथवा—नब तुमको देखना हूँ, तभी हमें उक्त इच्छा होती है अर्थात् तुम्हें
देखनेका समय ही सम्भोगका समय है, ऐसा नलने दमयन्तीको देखकर सङ्केत किया ।
पाठा०—(रात्रिमें हुए तुम्हारे सम्भोगवृत्तान्तको पूछनेकी इच्छाकी छिपानेके लिए उसने
लज्जा न हो इस कारण) तुम्हारी सखियोंके हासरहिन होनेपर अर्थात् सखियोंके सामने ही
उत्तरूपने नलने दमयन्तीको सङ्केत किया, अब एव बह (दमयन्ती) लज्जित हो गयी ।
अथवा—नलके वैसा कहनेपर उत्सुक सखिया हसने लगी, तब बह लज्जित हो गयी ।

अथवा—तुम्हारे बाहु आदिके बन्धादि (नागपाशादि आसन-विशेष) आदिको मैं दिनमें भी देखूँगा, क्योंकि रात्रिमें मैं नहीं देख सका तथा उत्सुक भविष्या भी देखूँगी ऐसा नरने सहने किया] ॥ १ ॥

प्रातरात्मशयनाद्विनिर्गतां सन्निरुध्य यदसाध्यमन्यदा ।

तन्मुत्सार्पणमुखं सुखं भुवो जम्भजित् क्षितिशचीमचीकरत् ॥ ६१ ॥

प्रातरिति । भुव पृथिव्या, जम्भजित् इन्द्र, नल इत्यर्थः । प्रातः प्रभातसमये, आत्मशयनात् निजशय्याया, विनिर्गतां निर्गच्छन्तीम्, क्षितिशचीं भूलोकैन्द्राणीम् प्रियामिति शेषः । सन्निरुध्य, प्रतिबध्य कराम्यामाकृष्येति यावत् । अन्यदा अन्यस्मिन् समये, गृहास्तिर्गमनानन्तरमित्यर्थः । यत् यादृशं सुखम्, असाध्यं कर्तुं न शक्यम्, सखीसमीपे अवस्थानादिति भावः । तत् अनुभूतचरम्, मुत्सार्पणमुखं मुखचुम्बनादिरूपम्, दमयन्तीकर्तुं कमिति भावः । सुखम् अधीकरत् कारयामास । दमयन्तीमवरुध्य तथा निजमुखचुम्बनादिकमकारयदित्यर्थः । करोतेर्णां चङ्पपधा ह्रस्वादि । 'हृफोरन्यतरस्याम्' इति विकल्पादङिक्तुं कर्मत्वम् ॥ ६१ ॥

पृथ्वीन्द्र (नल) ने प्रातः काल अपनी शय्यासे उठकर बाहर आती हुए पृथ्वीन्द्राणी, (दमयन्ती) को रोककर जो (मुख) दूसरे समयमें (रात्रिमें शय्या, भय आदिके कारण) असाध्य था, उस मुखचुम्बन आदि मुखको दमयन्तीसे कराया [अथवा—यदि तुम इस समय (रात्रिके अन्तमें) मेरा कहना करोगी तभी तुम्हें अलभ्य पदार्थ तुम्हें दूँगा, (या-तभी बाहर जाने दूँगा), अन्यथा नहीं, यह सुनकर दमयन्तीने सोचा कि यदि मैं इनका कहना नहीं मानती तो ये मुझे बाहर नहीं जाने देंगे, और अब प्रातः काळ ही जानेंस सखियोंके आनेका समय है । यह विचारकर नलको मुखचुम्बनादि देकर वह दमयन्ती बाहर चली गयी । अथवा—नरने 'अपने मुख-चुम्बन आदि दमयन्तीद्वारा करानेसे भी सुख होगा, वह सुख दिनमें सखियोंके सामने असाध्य है' यह सोचकर दमयन्तीमें वह सुख कराया] ॥ ६१ ॥

नायकस्य शयनादहर्मुखे निर्गता मुदमुक्षीक्ष्य सुभ्रुवाम् ।

आत्मना निर्जनवस्मरोत्समारिणीयमहणीयत् स्वयम् ॥ ६२ ॥

नायकस्येति । अहर्मुखे उपसि । 'रोऽसुपि' इत्यद्धो नकारस्य रेफादेन । नायकस्य पत्युः, शयनात् शय्याया निर्गता नि पृता, इयं भूमी, सुभ्रुवा सुलोचनानां सखीनाम्, मुद हर्षम्, स्वसम्भोगचिह्नदर्शनजन्यमिति भावः । उद्दीप्य आलोक्य, आत्मना मनसा, 'आत्मा पुंसि स्वभावे च प्रयत्नमनसोरपि' इति मेदिनी । निज स्वकीयम्, नव नूतन सद्यस्कं वा, स्मरोत्सव सम्भोगानन्दम्, स्मरति चिन्तयतीति

तादृशी सती, स्वयम् एव आरम्भैव, अहणीयत्वं तत्प्रकाशनात् अङ्गिहन् । 'त्रयाणां हृणीदिति त्रिद्वेति लज्जते । हृणीयते' इति मट्टमहर्ष । कण्ठ्वादियगन्तावाप्तव्यं, तत्र हृणीदिति द्विकरणादात्मनेपदम् ॥ ६२ ॥

नायक (पति-जन) के शयनमें प्राङ्मूर्च्छा निकली हुई वह (दमयन्ती) इन्दुरियोंके (रात्रिमें स्व-स्वनायकके साथ सम्भोग करनेमें लग्य) इतनेके देखकर अपने नवीन (पाठा-पत्रिके साथ) कामोत्पलका स्मरण करती हुई स्वयं लज्जित हुई ॥ ६२ ॥

ता मिथोऽभिदधती सखी प्रियस्यात्मनश्च स निशाविचेष्टितम् ।

पार्वत्यां सुररान् पिषा दधद् दृश्यता श्रुतकथो ह्यमृ गतः ॥ ६३ ॥

तामिति । पार्वत्यां समीपस्मोऽपि, सुरागाम् इन्द्रार्शनाम्, वरान् वारप्रसादान्, विगाम् अन्तर्द्वाम्, 'आतश्चोपमर्गं' इत्यङ्गप्रत्ययः । 'वष्टि भागुरिरहोपम्' इत्यङ्कार लोपः । दधन् धारयन्, स नष्ट, प्रियस्य पत्न्यु, आत्मनश्च निजायाश्च, निशाविचेष्टितं रात्रिभूतम्, मिय रहमि, सखी सहचरो, अभिदधती आपनागाम् सखीभ्यः कथयन्तीमिदम् । भ्रुवैर्यवत्वाद् द्विकर्मकत्वम् । तां प्रियाम्, अतश्च आकर्णित-प्रियावचनं, अत एव हमन् उच्येहोस्य कुर्वन् मन्, दृश्यता तामां लम्पनगोचरताम्, गतं प्राप्तं ॥ ६३ ॥

देवाँके द्वारा दिये गये 'कृष्णायमन्त्र'—(१५ १४) वरदानसे अनुर्धन हो ममोपलब्धि स्थित नष्ट, परस्परमें रात्रिमें दिये गये प्रिय (लज्जा) तथा अपने (सुरत-सम्भोग) व्यापारोंके सखियोंसे कहती हुई वस (दमयन्ती) को वह वार्तावाद सुनकर हँसते हुए प्रत्यक्ष हो गये ॥ ६३ ॥

चक्रदारविरहेक्षणश्रणे शिष्यनी धरहस्ताय साऽभवत् ।

कवापि वस्तुनि वदन्नागतं चित्तमुद्यदनिमित्तवैकृतम् ॥ ६४ ॥

अथास्या प्रियविरहासङ्गि-शुतामाह—चक्रेति । चक्रदाराणां रात्रौ चक्रवाकव निताया, विरहवृत्तवशे वियोगदर्शनकाले, शिष्यनी स्वस्या अपि कदाचिद्विलेन विरहमग्भावनया श्रवन्ती, सा भेदी, ध्वजस्य नटस्य, हस्ताय हास्याय, अमवत् अज्ञापन, प्रियाया अकाण्डेनामदर्शनात् प्रियो अहास इत्यर्थः । 'स्वनहसोवो' इति विक्रवाद्प्राप्तम् । अथवा युक्तमेतत् भयमिच्छाह-अपि कुत्रचित्, वस्तुनि विपश्ये, उद्यत् उत्पद्यमानम्, अनिमित्तवैकृतम् आकस्मिकविकार यस्य तत् तादृक्, चित्तं मनः कर्तुं, अनागत भाविशुभाशुभादिकमेव, वदति ज्ञापयतीत्यर्थः । चक्रविरहदर्शनान् आशङ्कितनिज आत्माविग्रह एव भयहेतुनून इति तात्पर्यम् ॥ ६४ ॥

चक्र पक्षोंके विदांगक देखनेके समयमें अगत् सत्यकालमें ('मेरे प्रियके साथ भी

वहीं रही तरह बिरह न हो जाय' इस आशङ्कामे) डरती हुई वह (दमयन्ती) पति (नल) को हँसीके लिए हुई अर्थात् उस प्रकार डरती हुई उसे देखकर नल हँसने लगे (पा०— डरती हुई प्रियाका आलिङ्गनकर उस (नल) ने नहीं छोड़ा अर्थात् उसके मयको दूर करने के लिए बहुत देर तक आलिङ्गन किये रहे—लोकमें भी बरे हुए व्यक्तिके डरको दूर होनेके लिये उसका हितचिन्तक व्यक्ति उसे गोद आदिमें लेकर दबाये रहता है) । अकारण उत्पन्न होते हुए विकारवाला चित्त किसी पदार्थके (विषय में) सविष्य (होनहार) को बह देता है । [इससे कलिकरिष्यमाण मन्—दमयन्तीका बाकी बिरह सूचित होता है] ॥ ६४ ॥

‘चुम्बित न मुखमाचर्क्य यत् पत्युरन्तरमृत ववर्ष तत् ।

सा नुनोद न भुज यदपि तेन तस्य किमभून्न तर्पितम् ? ॥ ६५ ॥

चुम्बितमिति । सा भैमी, चुम्बित नलेन चुम्बितुमारब्धम्, ‘चुम्बितुम्’ इति पाठे—चुम्बित नलेनाधर पातुमुद्यते सतीत्यर्थः । मुख निजाननम्, न आचर्क्य न अपासारयत् । इति यत् तत् चुम्ब्यमानमुखस्य अनाकर्षणमेव, परपु नलस्य, अन्त अन्त करने, अमृत सुधाम्, ववर्ष निषिषेच, तत्तुल्यमानन्दमज्जनयदित्यर्थः । तथा अर्पित स्तनोपरि ग्यस्तम्, भुज नलकरम् यत् न नुनोद न निरास, तेन भुजानप सारणेन, तस्य नलस्य सम्बन्धि, किं किं वस्तु, अन्न वा चित्त वा हृदयम् । न तर्पितम् अभूत् ? न आप्यायितम् अभूत् ? अपि तु सर्वाङ्गसम्तर्पणमेवाभूदित्यर्थः ॥ ६५ ॥

(क्रमशः लज्जा तथा मयको दूरकी हुई) उस (दमयन्ती) ॥ चूमे जाते हुए (पाठा०— नल द्वारा चूमनेके लिये तत्पर) मुखको जो नहीं हटाया, वह पनि (नल) के अन्त करणमें अमृत वर्षा कर दिया अर्थात् उसमें अमृत वर्षा—जैसा नलको आनन्द हुआ । और (ग्लानादिपर) नलके द्वारा अर्पित (बढाये गये) हाथको जो नहीं हटाया, उससे उस (नल) का क्या (मन, या शरीरादि) नहीं तर्पित (अतिशय सतृप्त) हुआ ? अर्थात् नलका मन (या-प्रत्यक्ष) अतिशय सन्तुष्ट हो हुआ ॥ ६५ ॥

नीतयो स्तनपिधानता तथा दातुमाप भुजयो कर परम् ।

धीतबाहुनि ततो हृदशुके केवलेऽप्यथ स तत्कुचद्वये ॥ ६६ ॥

नीतयोरिति । स नल, तथा भैम्या, स्तनपिधानता कुचावरणताम्, नीतयो प्रापिनयो, भुजयो तदोयुंगयो, पर केवलम्, प्रथममिति भावः । आदौ केवल कुच स्थभुजोपरि इति निष्कर्षः । तत् अनन्तरम्, ‘धीतबाहुनि अपसारितभुजे, शनैः शनैः नलनेति भावः । हृदशुके स्तनावरकवच्छे, अथ तदनन्तरम् केवलेऽपि अपसारिताद्यु कवात् उन्मुक्तेऽपि इति भावः । तत्कुचद्वये दमयन्तीस्तनयुगले, कर हस्तम्, दातुम् अर्पयितुम्, आप शलाक इत्यर्थः । दमयन्त्या अपि क्रमशो मन्मथोदयेन लज्जाजन्य

सङ्कोचापगमादिति भावः । अत्रैकस्य वरस्य क्रमादनेकेषु मुजाशुककुक्षेपु वृत्तिकथनात् 'क्रमेणैकमनेकस्मिन्' इत्याद्यल्लक्षण पर्यायालङ्कारभेदः ॥ ६६ ॥

नलने स्नानोको ढके हुए दमयन्तीके हाथोंको पहले छुआ, अनन्तर (दमयन्तीके) स्नानोको ढाँवनेवाले कपड़ोंको छुआ और सबसे बादमें बछावरण रहित (दमयन्तीके) स्नानोको छुआ । [दमयन्तीने लज्जावश कपड़ेमे ढके हुए स्नानोको हाथसे भी ढक लिया था, अतः अब नलसे क्रमशः पहले उसके हाथोंका अनन्तर कपड़ेका और बादमें बखरहित स्नानोका स्पर्श किया] ॥ ६६ ॥

याचनाश्च दत्तो नखार्पणं ता विधाय कथयाऽन्यचेतसम् ।

बध्नामि न्यसितुमात्ततः कर स्व विभेद मुमुदे स तन्मये ॥ ६७ ॥

याचनादिति । स नल, याचनात् मा नखेन विदारय इति प्रार्थनाकरणाद्वि, नखार्पणं नखेन भेदनम्, न दत्तो नार्पयन्तीम्, स्नेहवशात् नावहतमकुर्वती मित्यर्थः । ता प्रियाम् कथया विविधाऽपप्रसङ्गेन । 'विन्तिपूजिकथि-' इत्यादिना अहमस्य । अन्यचेतसम् अन्यमानसाम्, प्रसङ्गान्तरव्यासक्तचित्तामित्यर्थः । विधाय कृत्वा, बध्नामि स्वारसि, न्यसितुं स्थापयितुम्, आत्ततःकर गृहीतमैमीपाणि सन्, तद्यत् प्रियाया एव नखै, स्वम् आत्मानम्, विभेद अभिनय, व्यद्वारयद्वित्यर्थः । मुमुदे च मनन्द च ॥ ६७ ॥

('तुम भी मेरे बन्ध स्थलपर नखझन करो' ऐसी) याचना करनेपर भी (प्रेम या लज्जामे) नखझन नहीं करनी हुई उस (दमयन्ती) को नलने दूसरी तरफकी बाँतोंसे क्यासक्त चित्तबाजी करके (अपने) बन्ध स्थलपर उसका हाथ रखकर तथा अपने (बन्ध स्थल) का (उसके ही नखोंसे) भेदनकर आनन्दको प्राप्त किया ॥ ६७ ॥

स प्रसङ्ग हृदयापवारक हर्तुमशमत सुभ्रुवो बहि ।

होमय न तु तदीयमान्तर तद्विनेतुमभरत् प्रभु प्रभु ॥ ६८ ॥

स इति । प्रभु स्वामी, स नल, सुभ्रुव सुलोचनाया प्रियाया, बहि बाह्यम्, हृदयापवारक बन्धोद्देशाच्छादकम्, स्तम्भावरणवत्प्रमित्यर्थः । प्रसङ्गं बलात्, हर्तुम् अपसारयितुम्, अशमत अशक्नोत्, तु किन्तु, तदीय दमयन्तीयम्, आन्तरम् अन्तर्वर्त्ति, होमय लज्जारूपम्, तव हृदयापवारकम्, विनेतुम्, अपसारयितुम्, न प्रभु न समर्थ, अमघत अजायत । तस्य सहजत्वादिति भावः ॥ ६८ ॥

एति वे (नल) बन्ध स्थलको ढाँवनेवाले दमयन्तीके बाहरी आवरण (बन्ध) को तो हठसे हटा सके, किन्तु लज्जारूप उसके भीतरी आवरणको नहीं हटा सके । [यद्यपि विश्वास वत्तज्ञ होनेसे वे दमयन्तीके बन्ध-स्थलके आवरणवत्को किसी प्रकार हटा नहीं सके, किन्तु स्वाभाविक लज्जाको नहीं हटा सके, उक्त बन्ध स्थलका स्पर्श करने पर वह दमयन्ती पुनः लज्जित हो ही गयी] ॥ ६८ ॥

सा स्मरेण बलिनाऽप्यहापिता ह्रीक्ष्मे भृशमशोभतावता ।

भाति चापि वसन विना न तु व्रीडधैर्यपरिवर्जने जन ॥ ६९ ॥

सेति । बलिना प्रवलेनापि, स्मरेण कामेन, व्रीडमे लज्जाधैर्य, अहापिता अत्याजिता, त्यजयितुमद्यमेत्यर्थः । जहातेर्ण्यन्तात् पुगि द्विकर्मकादप्रधाने कर्मणि क । अवला दुर्बला, सा भैमी, भृशम् अत्ययम्, अशोभन अराजत, 'नारीणां भूषणं लज्जा' इति नीतिशास्त्रोक्तेरिति भावः । तथा हि जन लोक, वसन वस्त्रम्, विनाऽपि ऋतेऽपि, भाति शोभते, तु किन्तु, व्रीडधैर्ययो लज्जाधैर्ययो, परिवर्जने परिवर्जितो, न च नैव, भातीति अन्वयः ॥ ६९ ॥

बलवान् (पञ्चा०—बड़े हुए) कामदेवके द्वारा रज्जा तथा धैर्यका रसग नहीं हो दुर्बल अवला (स्त्री दमयन्ती, पञ्चा०—निर्बल) अत्यन्त शोभित दुर्बल, क्योंकि कपड़ेके बिना भी मनुष्य शोभना है, किन्तु रज्जा तथा धैर्यके जोड़नेसे (पाठा०—छोटनेपर) नहीं शोभना ॥ ६९ ॥

आस्थ नेति रतयाचित न यन्मामतोऽनुमतवत्यमि स्फुटम् ।

इत्यमु तदभिज्ञापनोत्सुक धूनितेन शिरसा निरास मा ॥ ७० ॥

आस्थेति । हे प्रिये ! मा रतयाचित सुरतमिच्छाम्, यत् यत्, न इति, 'न दास्यामि' इति, न आस्थ न प्रवीये, मम सुरतप्रार्थनाया न दास्यामि इति यत् स्व न वदसीत्यर्थः । अत अप्रतिषेधादेतो, स्फुटं स्पष्टम्, अनुमतवती स्वीकृतवती, असि भवसि, 'अप्रतिषिद्ध परमतम् अनुमत भवति' इति न्यायात् इति भावः । इति इत्थम्, तस्या दमयन्त्या, तस्य अप्रतिषेधवचनस्योपार्थो वा, अभिज्ञापनाय वाचनाय, उत्सुकम् उद्युक्तम्, आप्रहान्वितमित्यर्थः । अमु प्रियम्, सा भैमी, धूनितेन कम्पितेन । 'धूम्-प्रीतोर्नुग्वक्तव्यः' । शिरसा मूर्ध्ना, निषेधसूचकशिरश्चान्तेनेत्यर्थः । निरास प्रत्यापयातवती । अहो ! अन्यन्ताभिमतार्थेऽपि निषेधशीलता स्त्रीणामिति भावः ॥ ७० ॥

'(हे प्रिये ?) मेरी सुरतमिच्छा जो तुम निषेध नहीं कर रही हो, इससे स्पष्ट ही तुझने मुझको (उस सुरतके लिए) अनुमति दे चुकी' इस प्रकार उस (दमयन्ती, अथवा—स्वीकृत वचन) के कहवानेके उत्सुक इस (नल) को उस (दमयन्ती) ने (निषेध-सूचक) शिर कम्पनमे मना कर दिया । [नलके दमयन्तीमे सुरतवाचना करनेपर अब उसने कोई उत्तर नहीं दिया तो 'अप्रतिषिद्ध परवचनमनुमत भवति' (दूसरेके वचनका निषेध नहीं किया जाता तो वह स्वीकृत समझा जाता है) इस न्यायके अनुसार उसके निषेधार्थक भावको समझने हुए भी उसको स्पष्ट कहानेके लिए उत्कण्ठित नलने कहा कि—'तुमने सुरतका निषेध नहीं किया, अब अब छमे तुम स्वीकार कर रही हो, ऐसा मैं समझता हूँ' किन्तु

फिर भी लज्जाशीला दमयन्तीने कुछ नहीं कहकर केवल शिर हिलाकर निषेध कर दिया ।
अथवा — हुए भी उससे परिहास-माषण करनेके लिए उत्सुक नहने । ॥ ७० ॥

या शिरोविधुतिराह नेति ते सा मया न किमिय समाकलि ? ।

तन्निषेधसममद्वयताविधिर्न्यक्तमेव तव वक्ति वाञ्छितम् ॥ ७१ ॥

येति । हे प्रिये ! ते तव, या शिरोविधुति निषेधसूचकमस्तकचालनम् । कर्त्री ।
न इति आह न दास्यामि इति निषेध व्रते, सा इय शिरोविधुति, मया न समा-
कलि किम् ? न सम्यक् भवोधि किम् ? अपि तु गृहीतार्थेव इत्यर्थ । कलयते
कर्मणि लुङ् । किं त्वया समाकलि ? इत्याह—तस्य शिरोविधुतिद्वयरूपस्य प्रतिपा-
दाय, निषेधस्य असम्भवे, स समसङ्ख्यतया प्रतिपादकस्य भ्रमोऽपि द्विसङ्ख्यतया,
प्रतिपादितो विधि विधानम् । 'द्वौ नभौ प्रकृतमर्थं गमयत' इति न्यायात् सुरता-
नुमोदनरूप इत्यर्थ । तव वाञ्छितम् अभिलाषम्, स्वस्त स्फुटमेव, वक्ति कथयति ।
चक्षेर्लट । निषेधार्थमपि वारद्वयशिरोविधूनन से सम्भतिमेव सूचयति, नभ्द्वयेन
प्रकृतार्थस्य गम्यमानत्वादिति भाव ॥ ७१ ॥

निषेधार्थं तुम्हारे शिर कम्पनने जो 'नहीं' (सुरत मत करो) ऐसा कहा, उने मैंने
नहीं समझा क्या ? अर्थात् शिर कम्पनके द्वारा सुरतनिषेध करनेका तुम्हारा आशय मैंने
समझ लिया है, (वह आशय यह है कि—) उस (शिर कम्पन) का दो बार निषेध करना
(सुरत करनेकी स्वीकृतिरूप) तुम्हारे चाहनाजो स्पष्ट ही कह रहा है । [नलके पूर्वोक्त
(१८।७०) वचन कहनेपर जब दमयन्तीने शिर कम्पन द्वारा निषेध कर दिया तब पुन
उसके साथ परिहासमाषणार्थ उत्सुक नहने कहा कि—तुमने शिर हिलाकर दो बार निषेध
किया है, अत 'द्वौ नभौ प्रकृतमर्थं गमयत' (दो निषेध प्रकृत अर्थ का समर्थन करते हैं)
न्यायके अनुसार तुम सुरतकी स्वीकृति दे रही हो अर्थात् 'सुरत स्वीकार नहीं है, ऐसा नहीं
है' इस वचनमें आये हुए दो निषेधोंने सुरतकी स्वीकृति स्पष्ट ही ज्ञात होती है] ॥ ७१ ॥

नात्थ नात्थ शृण्वानि तेन किं ते न वाचमिति ना निगन्त स ।

सा स्म दूत्यगतमाह त यथा तज्जगाद मृदुभिस्तदुक्तिभि ॥ ७२ ॥

नेति । हे प्रिये ! न आत्थ मया सह त्व न आलपसि, न आत्थ नेव कथयसि,
तेन अनालपनेन हेतुना, ते तव, वाच वचनम्, न शृण्वानि किम् ? न शृणुया
किम् ? अपि तु शृणुयामेव, इत्यसम्भावनानिषेध । स. नल, तां प्रियाम्, इति
एवम्, निगद्य उक्त्वा, सा भैमी, दूत्यगतं दूतरूपेण दमयन्तीसमीपमुपस्थितम्,
तम् आत्मानं नलम्, यथा नवमसर्गोक्तेन येन प्रकारेण, आह स्म उक्तवती, तत्
सर्वम्, मृदुभि नम्राभि, तस्या दमयन्त्या एव, उक्तिभि कथामि, दमयन्तीवा

१ 'सङ्ख्यता विधिम्' इति पाठान्तरम् ।

वयानुकरणैरित्यर्थः । जगाद् उवाच । तदा मत्समीपे वावयमुच्चार्यं हृदानीममुच्चारणे न किमपि फलम् , अतोऽवश्यमेव मया सह आलपिष्यसीति भावः ॥ ७२ ॥

(हे प्रिये ! तम) 'नहीं बोलती हो, नहीं बोलती हो', इस कारण अर्थात् 'तुम्हारे नहीं बोलनेसे तुम्हारे वचनको मैं नहीं सुनता हूँ क्या ? अर्थात् अवश्य सुनता हूँ' इस प्रकार उस दमयन्तीने कहकर नलने 'दूतभावसे गये हुए नलसे दमयन्तीने जैसा ('तदयं विप्रस्य दयालु-रेषि मे' (१/६६) इत्यादि मृदु वचन)' कहा था, वही वचन उस दमयन्तीकी मृदुक्तियोंसे कहा अर्थात् दमयन्तीने नल वचनकर गये हुए नलसे जैसे मृदु वचन कहे थे, वैसे ही मृदु वचन नलने भी दमयन्तीने कहे ॥ ७२ ॥

नीविसीन्नि निविड पुराऽरुणत् पाणिनाऽथ शिथिलेन उत्तरम् ।

मा क्रमेण न न नेति वादिनी विप्रमाचरदमुष्य केवलम् ॥ ७३ ॥

नीवीति । मा दमयन्ती, नीविसीन्नि ऋटीवस्त्रप्रण्यसमीपे, तत्कर प्रियहस्तम्, प्रण्यमोचनाय उपस्थितमिति भावः । पुरा प्रथमम्, पाणिना स्वकरेण, निविड इड यथा तथा, अरुणत् रद्ववती । रगद्धे कर्त्तरि लङ् । अथ कियद्दिनानन्तरम्, शिथिलेन श्लथेन, अहङ्गेत्यर्थः, पाणिना अरुणदित्यन्वयः । क्रमेण क्रमशः भयभङ्गेन, तत्परमित्यर्थः । केवल न न नेति वादिनी केवल वाचिकनिषेधम् एव कुर्वती सती, अमुष्य प्रियकरण्यापारस्य, विप्र नीविमोचनप्रतिबन्धम् , आचरत् अकुर्वदि त्यर्थः क्रमशो लज्जापगमात् वाङ्मायेर्गैव केवल विप्रमाचरत् न तु अङ्गेनेति भावः । अङ्गैरस्मिन् नीविर्देशे क्रमादनेकव्यापारसम्बन्धोक्ते पर्यायालङ्कारभेदः ॥ ७३ ॥

उस (दमयन्ती) ने पहल नीवि (नाभिके नीचे बैधी हुए वस्त्रप्रण्य) के पासमें (उसे खलनेके लिए पडुचे हुए) नलके हाथकी कडे हाथमे रोका, इनके बाद (लज्जा एवं भयके कुछ कम हो जानेपर) ढाल हाथमे रोका और क्रमशः (कुछ दिनोंके बाद, लज्जा एवं भयके अधिक कम हो जानेपर) 'नहीं, नहीं' ऐसा कहती हुई वम (दमयन्ती) ने इस (नल, या-नलकर) के विनकी किया अर्थात् रोका ॥ ७३ ॥

रूपरेपयस्तनाङ्गयसनाभूपणादिषु पृथग्विदग्धताम् ।

साऽन्यदिठ्ययुवतिभ्रमश्रमा नित्यमेत्य तमगान्त्रा नवा ॥ ७४ ॥

रूपेति । रूप सौन्दर्यम् , वेष विविधप्रकारनेपथ्यम् , वस्त्र वस्त्रम् , अङ्गना सना धृपादिना शरीरस्पर्कार , भूषण कङ्कणादि, तानि आदि येषा तेषु विविधप्रकारप्रसाधनादिषु विषयेषु, नित्य प्रत्यहमेव, पृथक् भिन्नभिन्नरूपाम् , विदग्धता कुशलिताम् , एष्य प्राप्य, प्रत्यहमेव नवनयवेशरचना कुर्वतीत्यर्थः । अत एव नवा नवा नूतना नूतना सती, आभीक्ष्ण्ये द्विर्मात्र । मा भैमी, अन्यथा अपरा काचित् , स्वर्गीया, युवति तरुणी, उर्वरयादिरित्यर्थः । इति भ्रमे आन्तिजनने,

१ 'चमाम्' इति पाठान्तरम् ।

धृमा समर्था सती, ■ मलम्, अगात् अगच्छत्, समतोपयदियर्थः । इगो गा लुङ् ॥ ७४ ॥

रूप (देववरदान (१४।९१) से विविध शरीरकारणमे उत्तम मौन्दर्यं) वेष (मण, राश, गुजरान, लाट आदि देशवाली भिद्योके भूषण-वस्त्रादिते शृङ्गाररचना), वस्त्र (कोर, लाट, पीले, रवेत, चित्रित आदि विविध रंग-विरंगे कपड़े), अङ्गनामना (चन्दन, कपूर, कस्तूरी, कुङ्कुमादिते तथा अगर-तगर-चन्दनादि निमित्त धूपोमे शरीरको सुरमित्त करना) और भूषण (अनेकविध मुक्ता, हीरा, पन्ना, माणिक्य आदि जेहे हुए सुवर्णमय अङ्गहार) आदि (अनेकविध माया, गायन कला आदि) ने अङ्गा-अलग चतुरराको करती हुई तथा दूसरी दिग्भाङ्गना (उर्वशी, मेना, रत्ना, निजोत्तमा आदि अक्षराओं या-परमसुन्दरी) युवतियोंके भ्रमको उत्पन्न करनेवाली कतएव नयी-सी बह दमयन्ती उम (मङ्ग) के पास गयी अर्थात् दमयन्तीने उन्हें उत्तम प्रकारसे दिग्भाङ्गनाओंके समान संतुष्ट किया ॥ ७४ ॥

इङ्गितेन निजरागसागर मविभाज्य चटुभिर्गुणज्ञताम् ।

भक्तताञ्च परिचर्ययाऽनिश साऽधिकाधिकप्रशं व्यथत् तम् ॥ ७५ ॥

इङ्गितेनेति । मा भभी, अनिश निरन्तरम्, इङ्गितेन कटाक्षवीक्षणविधेष्टितेन, निज स्वकीयम्, रागसागरम् अनुरागागर्वम्, सागरवदसीममनुरागाचिक्चमित्यर्थः । चटुभिः प्रियवाहै, गुणज्ञता पञ्च गुणाभिज्ञताम्, तथा परिचर्यया सेवया, भक्त ताञ्च तस्मिन् भक्तिमत्त्वञ्च, सविमाप्य सत्यम् ज्ञापयित्वा, त प्रियम्, अधिकाधिक-वशम् उत्तरोत्तरमधिकायत्तम् । 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विरक्ति, कर्मधारयवद्भावात् सुपो लुङ् । व्यथत् अकरोत् । इङ्गिताद्यनुमिते । रागादिगुणैस्तस्या स्तोत्रयन्तश्च शब्दोऽभूत् इति निष्कर्षः ॥ ७५ ॥

उस (दमयन्ती) ने चेतान् अपने अनुरागके समुद्ररूप नलको प्रियमात्रगौम अपनी गुणज्ञता (गुणप्राङ्गना) को तथा सेवामे (पतिविषयिणी बननी) भक्तिपुच्छाको प्रकटित कर उस (नल) को सर्वदा अत्यधिक अपने वशमें कर लिया । [वहापर 'चेष्टा' से-सत्ति आदिमे पतिके गुणोंका वर्णन करते हुए माचम करना, उनके दोषका अपलाप करना (मिश्रदा वगणना), पतिके शब्दमें सोना तथा सोकर पतिमें पहले बठना, पतिके आनेपर प्रसन्न होना, बाहर जानेपर उदासीन होना और सुख-दुःखमें समान रहना आदि, 'प्रियमाया' से—आपके ऐसा सुन्दर, मन्दादानी, नीर सब कलाओंका पण्डित पब देवस्त्री दूसरा कोर नहा है, श्रव्यादि अनुकूल वचन कहना, तथा 'मेवा' से—पङ्केसे हवा करना, चरण धवाना, पान-पीडा आदि देना, का अङ्ग करना चाहिये । इनके द्वारा दमयन्तीने नलको सर्वदा अपने वशमें कर लिया] ॥ ७५ ॥

स्वाङ्गमर्पयितुमेत्य वामता रोपितं प्रियमथानुनीय सा ।

१ सत्र इत् प्रक् 'यधिका प्रनि यदस्रमस्तया (१) स्वस्वरस्य लघुता

आतदीयदृढमधुसुक्षुप्तं नान्वमन्यत पुनस्तमर्थिनम् ॥ ७६ ॥

स्वाङ्गमिति । सा दमयन्ती, स्वाङ्ग निजवराज्जादिकम्, अर्पयितु न लक्ष्यं स्वस्य नाथं प्रदानुन, वामता इति कृत्वा, अभ्यसतिमित्यर्थः । पश्य प्राप्य, अथ तद् नमस्कृत्य, रोषितम् इच्छाशूरणात् कोपितम्, प्रियं पतिम्, अनुनीय चरणधारणादिना प्रसाद्य, पुन मूष, अर्थिनम् अर्पणयाचितम्, त प्रियम्, तदीया प्रियमम्वन्धिषी, वा हठात् दलात्, मन्धुसुहृता सम्मोक्तुमिच्छा, नाथत्वं पर्यन्तम् आतदीयदृढमधु सुहृत्तम्, दास्य म् अलपूर्वकं न सम्मोक्तुमिच्छत् तादर्थ्येऽतमित्यर्थः । 'आहू नपुंदाजमिविषयो' इत्यप्यदीभावेन नपुंसकह्रस्वत्वम् । न अम्वमन्यत न अनुमो दितवती । अथहारोऽय सम्मोक्तुमिच्छायाच्चार्थमिति भावः ॥ ७६ ॥

इम (दमयन्ती) न कान्ते (दमयन्तीके) शरीर (रतिमन्दिर, वा-स्तनादि) को देनेके लिए दावक / 'तुम जय' अनेक प्रकारका सम्मोक्तुमिच्छा करत' ऐसी दावना करते हुए । प्रतिक्रियाको प्राप्त होकर कान्त देनेका निवेदन (अनन्व) कोषित प्रिय (नभ) की अनुमति (करणी पर मिलने, वा हाथ को देने आदिसे प्रसन्नकर) फिर उस (अन्नको देनेके लिए , दावना करनेवाले नलको लक्ष्यक अनुमति नहीं दी, जबतक उन्होंने दगादार से सम्मोक्त करनेका इच्छा नहीं की । [कान्ते दमयन्तीने उसके क्षान्तमन्दिर आदि शरीरकी दावना की तो कान्ते नलाकर दिया, इसने जान कुछ रह हो गये तो उसको दमयन्तीने अनुमति देने प्रसन्न कर दिया, नदन्तर जब व पुन सम्मोक्तुमिच्छा अन्नकी दावना करने का नद दमयन्तीने लक्ष्यक उसको उत्त कावले लिए अपनी अनुमति नहीं दी, जबतक 'होंने हटानेक सम्मोक्त की इच्छा नहीं की । इस प्रकार निवेद, अनुमति देने करनेसे अनुमति हुई होगी है और सम्मोक्तुमिच्छा की कष्टि आनन्द आता है] ॥ ७६ ॥

आद्यस्तनममभादराण्यथा वल्लभाय वधती कथञ्चन ।

अङ्गानि घननानामतात्रीडलन्मिनदुरापनानि सा ॥ ७७ ॥

आयेति । सा नलप्रिया, धर्त प्रगाढ मानवामनात्री है प्रगपकोपप्रतिवृत्तात्र पामि, लम्बिता प्रापिता, दुरारता दीर्घम्य येषां तादृशानि, अङ्गानि मद्य मोक्षानि सुहृन्नाथकालीयर्थ । इत्थे अनुकम्पाया वा हन् । वल्लभाय प्रियत लाय, कथञ्चन लज्जावदात् वृष्टेण, वधती धारयन्ती, ददती सतीत्यर्थः । आद्य-मङ्गलेन प्रथममङ्गलकालेन, मम तुल्य, आदर प्राण्याग्रह येषां तादृशानि, अष्टाष्टवती । प्रथममङ्गलनुकम्पादरं प्रामाणीय स्वाङ्गानि प्रियाय अर्पित वतीति भावः ॥ ७७ ॥

दधनदा । पपुरन्दहनहोयत शुभ तकिटादियत तस्य मानमम् ॥ इत्यधिक श्लोक अपि ररपते, इति न० म० शिवदत्तशर्मान आह ।

। 'दृष्टान्'—इति पाठान्तरम् ।

अधिक प्रणयकलह (शरीरादि दानमें) प्रतिकूलता (अथवा—अधिक प्रणयकलहके कारण शरीरादि दानमें प्रतिकूलता) तथा लज्जामें दुःप्राप्य (अपने) मुकुमारतम शरीरोंको प्रियतम (नल) के लिए देनी बुद्ध उस (दमयन्ती) ने प्रथम सङ्ग्रामके समान आदरको प्राप्त करावा । [प्रणयकलहदिके कारण दुःप्राप्य दमयन्तीके मुकुमारतम अर्गोंको पानर सम्भोगेच्छार्थ वृद्धिगत कामवान्ते नष्टने प्रथम सम्भोगके अत्यधिक प्रसन्नताको प्राप्त किया । ॥ ७७ ॥

पत्युरागिरिशयात्तरु क्रमात् स्वस्य चागिरिजमालत वपुः ।

तस्य चार्द्धमखिल पतिव्रता क्रीडनि स्म तपसा विधाय सा ॥ ७८ ॥

पत्युरिति । पतिव्रता सात्वती, सा दमयन्ती, तपसा पतिसेवास्वरूपेण तपस्या-प्रभावेण, क्रमात् क्रमानुसारेण, औचित्यानुसारेणेत्यर्थः । पत्यु नलस्य, आगिरिजं साङ्गरमारम्य, आलरु वृक्षपर्यन्तम्, स्वस्य आत्मनश्च, आगिरिजगिरिजाम् अभिवक्षा मारम्य, आलतं तलापर्यन्तम् । सर्वत्रापि विद्याव्यपीमावः । वपु देवगन्धर्वोरा मृगविहगादिद्वन्द्वशरीरम्, तथा तस्य वपुष, अर्द्धम् अनुरूपम्, अखिलञ्च समग्र क्रीडासाधनमेत्यर्थः । विधाय कृत्वा क्रीडति स्म विस्रीड, पत्युर्गिरिजास्वरूपत्वे स्वस्य गिरिजास्वरूपत्वं तथा सद्गुरुत्वं ध्यात्रवर्मादिरूपशय्यादिकम्, तथा नलस्य वृक्षस्वरूपत्वे स्वस्य तलास्वरूपत्वं सम्पाद्य सा इत्यानुरूपेण । निरङ्कुशमहिम्नात् पतिव्रतामामिति भावः ॥ ७८ ॥

पतिव्रता वह (दमयन्ती) पतिके शरीरको शिवश्रीमें लेकर वृक्षनल (अथवा—वृक्षमें लेकर शिवनल) तथा अपने शरीरको पार्वतीमें लेकर लज्जानल (अथवा—लज्जामें लेकर पार्वतीनल) क्रमशः (पतिसेवास्वरूप) तपस्याके द्वारा वस (नल) के योग्य बनाकर क्रीडा करने लगी । [दमयन्ती पतिव्रता थी, अतः पतिसेवास्वरूप तपस्यामें देवप्राप्त वरदान (१४। ११) से अपने शरीरको सर्वथा नष्टके अनुरूप बनाकर क्रीडा करती थी, यथा—नल शिष्टस्व होने थे तो वह पार्वतीस्व-पिणी हो जाती थी और नल वृक्षस्व होने थे तो वह लज्जस्वपिणी हो जाती थी, इसी प्रकार क्रमशः शिवमें वृक्षपर्यन्त नलका शरीर होनेपर वह दमयन्ती पार्वतीमें लज्जापर्यन्त शरीर कारणकर तथा तदनुरूप ही वेश-भूषा-भाषा आदिकी भी ग्रहणकर उनके साथ तद्रूप होकर रमण करती थी । पतिव्रताके लिए कोई कर्म असाध्य नहीं है ॥ ७८ ॥

न स्थली न जलधिर्न काननं नाद्रिभूर्न निषयो न विष्टपम् ।

क्रीडिता न मयः यत्र तेन मा सा विधैव न यया यया न वा ॥ ७९ ॥

नेति । सा मैत्री, तेन नलेन सह, यत्र यस्मिन् प्रदेशे, न क्रीडिता न क्रीडित-वती । कर्त्तरि क । सा तादृशी, स्थली अकृत्रिमभूमि, स्थलदेश इत्यर्थः, न । 'जानपद—' इत्यादिना अकृत्रिमार्थे ढीप् । स जलधिः नदीसागरवहागादिजलाधार

इत्यर्थ । न, तत् कानन वनम्, न, सा अद्रिभू पर्वतसानु, न, स विषय देश,
न, तत् विष्टप जगत्, न, सर्वत्र आसीदिति शेष । किञ्च सा तादृशी, विधैव प्रकार
एव, न, आसीदिति शेष । यथा यथा विधया धेनुकादिबन्धप्रकारेण, न वा,
क्रीडिना इति शेष । तेन सह सर्वत्रैव विजहार इत्यर्थ ॥ ७९ ॥

उम (दमयन्ती) ने उम (नर) के साथ जहापर क्रीडा नहीं की, ऐसा कोई स्थली
(अद्रिभूमि भूमि) समुद्र (कृपादि लघु जलाशयसे लेकर समुद्रतक महाजलाशय), वन,
पर्वतीय भूमि, देश अथवा लोक (भू, भुव, स्व ये तीन, अथवा—भू, भुव, स्व, मइ,
जल, तप और सत्य ये सात लोक) नहीं या और वह (कामशास्त्रोक्त धेनुकादिबन्धप्रकार)
प्रकार नहीं था, जिस-जिम प्रकारसे उसने नरके साथ क्रीडा नहीं की हो [दमयन्तीने नरके
साथमें सब प्रकार की क्रीडाएँ सर्वत्र की] ॥ ७९ ॥

नम्रयाशुकनिकपिणि प्रिये वक्त्रवातहतदीप्तशीपया ।

भर्तृमौलिमणिदीपितास्तया विस्मयेन ककुभो निभालिता ॥ ८० ॥

नम्रवेति । प्रिये नले, अशुकविकर्पिणि परिहितवमनाकर्पणकारिणि सति,
नम्रया नतया, गूढाङ्गोपनाय अवधतपूर्वकायया इत्यर्थ । तथा वक्त्रवातेन मुख
मारसेन, फुटकारेणोपयम् । हत निर्वापित, दीप्त प्रग्वलित, दीप प्रदीप यथा तथा
भूतया, तथा भैम्या, भर्तृमौलिमणिभि परधुमुकुटस्थरत्नै, दीपिता प्रकाशिता,
ककुभ दिश, विस्मयेन दीपे निर्वापितेऽपि कथामालोकप्रकाश इत्याश्रयेण,
निभालिता इष्टा ॥ ८० ॥

(गुप्ताङ्गके दशनाथ) प्रियके वल खींचते रहनेपर (उम गुप्ताङ्गकी नहीं देखे जानेके
लिए) चुकी हुई तथा फूटकर जलते हुए दीपकको गुप्ताङ्ग हुई उस दमयन्तीने पति (नर)
के मुकुटमें जड़ हुए रत्नोंसे प्रकाशमान दिशाओंको आश्चर्यसे देखा । [अथकार होनेके लिए
किये गये दोप्रतिवर्गिकरूप अपने प्रयत्नको नलके मुकुटरत्नोंसे प्रकाशमान दिशाओंको देख
दमयन्ती आश्चर्यित हो गयी] ॥ ८० ॥

कान्तमूदधिं दधती पिधित्सया तन्मणे श्रवणपूरमुत्पलम् ।

रन्तुमर्चनमिवाचरत् पुर सा स्ववल्लभतनोर्मनोभुव ॥ ८१ ॥

कान्तेति । सा भैमी, तस्य भर्तृमौलिस्थितस्य, मणे रत्नस्य, पिधित्सया विधा
तुम् आवरितुम् इच्छया, कान्तस्य प्रियस्य, मूदधिं शिरसि, श्रवणपूर निजकर्ण-
भूषणीभूतम्, उत्पल नीलोत्पलम्, दधती स्थापयन्ती सती, रन्तु रतिकर्म कर्तुम्,
पुर कर्मप्रारम्भे, स्ववल्लभ निजपति एव, तनु मूर्ति यस्य तादृशस्य नलमूर्ते,
मनोभुव कामस्य, रायधिवैवतस्य इति यावत् । अर्चन पूजनम्, आचरत् हव
अन्वतिष्ठदिव इत्युपेक्षा ॥ ८१ ॥

पति (नर) के मस्तकमें उस (प्रकाशमान—१८।८०) रत्नको ढकनेकी इच्छासे

(अपने) कर्णभूषण-कमलको ऊपर करती हुई उस (दमयन्ती) ने रमय करनेके लिए अपने पति (नल) के शरीरधारी कामदेवका मानो पहले पूजन किया । [फूटकर दीपकके बुझा देनेपर भी नलके मुकुटस्थ रत्नमें प्रकाश होता हुआ देखकर दमयन्तीने जब अपने कर्णोत्पलमें उम रत्नको दक दिया, तब वह ऐसा प्रतीत होता था कि दमयन्ती रमय करनेके लिए नल देहधारी कामदेव को मानो पहले पूजा का हो । किन्ती कार्य के आरम्भ में उसके निर्विघ्न समाप्त होनेके लिए तत्सम्बन्धी देवके भक्तकपर फूल चटाकर पूजन करना शास्त्र सम्मन होनेसे साध्वी दमयन्तीका भी रमय करनेके पहले उस रमय-क्रियानो निर्विघ्न होनेके लिए तत्सम्बन्धी देव (काम) की पूजा करना उचित ही है] ॥ ८१ ॥

त पियाय मुद्रिताऽथ पार्श्वयोर्ध्वं दीपमुभयत्र सा स्वयो ।

चित्तमाप कुतुकाद्भुतत्रपाऽऽनङ्कसङ्कटनिवेशितस्मरम् ॥ ८२ ॥

तमिति । सा भैमी, न दिगुज्जासक शिरोमणिम्, पिघाय कर्णोत्पलेन आच्छाद्य, मुद्रिता अन्धकारसम्भावना हृष्टा, अभूदिति शेष । अथ अनन्तरम्, स्वयो स्वकीययो, उभयत्र उभयो, पार्श्वयो दीप प्रज्वलितप्रदीपद्वयमित्यर्थ । धीष्य दृष्ट्वा, कुतुकम्, अकस्माद्दीपदर्शनात् कौतुकम्, अद्भुत निर्वापितस्यापि पुन प्रादुर्भावाद्वाश्चर्यम्, त्रपा पया विघ्नोकरणात् लज्जा, जातङ्क कोऽयमष्टपूर्वग्यापार इति शङ्का, तेषा सङ्कटे सम्बाधे, परस्परसङ्घर्षे इत्यर्थ । निवेशित सस्थापित, निहङ्क इत्यर्थ । स्मर काम धम्मिन् तत् तादृक्, चित्त मनोभावम्, आप प्राप्तवती । तथा प्रनुद्धोऽपि काम तदा किञ्चित् सङ्कुचित इव आसीत् इति भाव ॥ ८२ ॥

वह (दमयन्ती) उस (पनिमुकुटजटिन रत्न) को दककर प्रमत्त हुई, इसके बाद उसने अपने दोनों मार्गोंमें दीपकोंको देखकर (अकस्मात् दीपकोंके देखनेसे) कौतुक (दीपकके बुझनेपर पुन दीपकोंके अलनेसे हा ' वह क्या हुआ ? ऐसा) आश्चर्य, (पतिके द्वारा बख्शीन किये जानेसे उत्पन्न) लज्जा, (यह विचित्र घटना किस प्रकार हो गयी ? ऐसा) भय—इनके समुदायमें स्थित कामयुक्त चित्तवाली हो गयी अर्थात् उसके देखनेपर कौतुक आदिसे दमयन्तीका बड़ा हुआ भा काम कुछ सङ्कुचित हो गया ॥ ८२ ॥

एककस्य शमने पर पुनर्जाग्रत शमितमप्यवेक्ष्य तम् ।

जातवह्निवरसस्मृति शिर सा विधूय निमिमिल केवलम् ॥ ८३ ॥

एककस्येति । एककस्य तयोरेकस्य, दीपस्य, प्रदीपस्य, शमने निर्वापने कृते सति, शमितमपि पूर्वं निर्वापितमपि, परम् अपरम्, त दीपम्, पुन भूय, आप्रत नलमाथया प्रज्वलन्तम्, 'नाम्यस्तान्द्रु' इति जुम प्रतिषेध । अवेक्ष्य विलोक्य, जाता उत्पन्ना, बह्ने अग्ने, वरस्य 'या दादपाकौपयिकी तनु' इत्यादिनोक्तवरदानस्य, सस्मृति सम्यक् स्मरण यस्या सा तादृशी, सा भैमी, शिर मस्तकम्,

विधूय कम्पयित्वा, स्मरण नाटयित्वा दुर्चारेण निश्चित्येति भावः । केवल निमिमील स्वयं निमीलिताही जाता । स्वाभाविकलज्जावशादिति भावः ॥ ८३ ॥

(उन दोनों दीपकोंमें— से) एकको । (बलाज्जल या—मुखवायुसे) बुझानेपर फिर हुंसे हुए भी उस दीपकको (नलकी इच्छामात्रसे) बलान हुआ देखकर (स्वयम्बरनें दिये हुए) अग्नि के वरदान (१४७४) का स्मरण होनेपर दमयन्तीने (अरे ! अग्निके द्वारा नलके दिये दिये हुए वरदानके प्रभावसे ऐसा हो रहा है, इस अभिप्रायसे) शिरको हिलाकर (दाढ़ बजाकर अन्धकार करना अशक्य होनेसे तुलसीदासके 'भूंदे आँखें वहीं कोठ नहीं' इस वचनके अनुसार) केवल आँखोंको बन्द कर लिया ॥ ८३ ॥

पश्य भीरु ! न मयाऽपि दृश्यते यन्निमेपितवती दृशावसि ।

इत्यनेन परिहस्य सा तम सविधाय समभोजि लज्जिता ॥ ८४ ॥

परयेति । भीरु ! हे बराहने ! लज्जाया बराहनाभूषणत्वादिति भावः । 'भिय क्लृप्तकुमौ' इति क्लृप्तयय, तत् कटन्तत्वात् नदीत्वात् ह्रस्वः । 'भीरुर्लक्ष्मि' स्यात् वरयोपिति योपिति' इति मेदिनी । यत् यत्, इसौ नयनद्वयम्, निमेपितवती लज्जाया निमीलितवती, असि भवसि, खनिति शेषः । मम दर्शनभयादिति भावः । तत् तत् एव, मया अपि न दृश्यसे अवलोक्यसे, अमिति शेषः । त्वन्निमीलने सर्वं स्थान्धकारावृत्तादिति भावः । परय अवलोक्य, इति इत्थम्, अनेन नलेन, परिहस्य उपहस्य, तम अन्धकारम्, सविधाय निर्माय, लज्जिता मीढिती, सा दमयन्ती, समभोजि सम्भुक्ता । अन्यथा उभयोस्तुल्यप्रीतेरयोगादिति भावः ॥ ८४ ॥

हे भीरु (लज्जाकार दमयन्ती) । जो तुमने नेत्रोंको बन्द कर लिया है, उसमें मैं भी तुमको नहीं देखता हूँ (अथवा—तुमने नेत्रोंको बन्द कर लिया है और मैं नहीं देखता हूँ, यह आश्चर्य की बात है । अथवा—तुमने नेत्रोंको बन्द किया है, इसमें मैं भी तुमको नहीं देखता ? अर्थात् तुम्हें तो मैं देख ही रहा हूँ । अथवा—कोई व्यक्ति अपने शरीरके अदर्शनार्थ वस्त्र शरीरको ही बजादिते छिपाता है, परन्तु तुमने शरीरको नहीं छिपाकर नेत्रोंको बन्द किया है, अतः अब मैंने तो तुम्हारे अङ्गोंको अच्छा तरह देख ही लिया है, तुम्हारे नेत्र बन्द करनेमें कोई लाभ नहीं हुआ ?) इस प्रकार परिहासकर (इच्छामात्रसे दीपकोंके बुझानेपर) अन्धकार करके नलने लज्जित हुई उस दमयन्तीके साथ सम्भोग किया ॥ ८४ ॥

चुम्ब्यसेऽयमयमङ्गयसे नरैः शिलाप्यसेऽयमयमर्प्यसे हृदि ।

नो पुनर्न करवाणि ते गिर हु त्यज त्यज तवास्मि किङ्करा ॥ ८५ ॥

अथान्धकारकल्पनाया फल युग्मेमाह—चुम्ब्यसे इत्यादि । हे प्रियतम ! इत्थामन्त्रजपदमूहनीयम् । अयं त्वम्, चुम्ब्यसे तव अघर पीयते, अयं त्वम्, नय अङ्गयसे क्षतकरणेन विह्वयसे, अयं त्वम्, शिलाप्यसे आङ्गिह्वयसे, अयं त्वम्, हृदि उरसि अर्प्यसे स्थाप्यसे इत्यर्थः । सर्वत्र मयेति शेषः । ते तव, गिर वाक्य, चुम्बनादि-

प्रार्थनारूपमित्यर्थ । पुन न करवाणि ? न पात्यामि ? इति चो न, अवश्यमेव करवाणीत्यर्थ । इमिति अनुनये, त्यज त्यज मा मुञ्च मुञ्च, ते तव, किङ्करा दासी । 'किंयत्तद्वपु कृभोऽज्ज्विधानम्' इत्यच्प्रत्यये टाप् । अस्मि भवामि । अतस्त्वन्मिच्छाप मवधेयं पूरणीयो मयेति भाव ॥ ८५ ॥

'यह मैं तुमको चुम्बन करती हूँ, यह मैं तुमको नखोंमें चिड़िन करती हूँ, यह मैं तुम्हारा आलिङ्गन करती हूँ यह मैं तुम्हें हरद्वार रखने हूँ' फिर तम्हारी बात नहीं कब्येगी ऐसा नहीं होगा अर्थात् कि मैं तुम्हारा मुरतवाचनको जानकर नालूगो हो, हा, छोड़े-छेड़ो, तुम्हारी ने दानी हूँ—' ॥ ८५ ॥

इत्यलीकरतकातरा प्रिय विप्रलम्भ्य सुरते ह्यि च मा ।

चुम्बनादि वितातर मायिनी किं विदग्धमनसामगोचर ? ॥ ८६ ॥

इतीति । इति इत्यम्, अलीक मिथ्या यथा तथा, रते रमणे, कातरा धममर्था, कपटेनैव रतकातरं नादयन्तो न पुनस्त्वरत इति भाव । मायिनी वाक्छलचतुरा, मा भेमी, सुरते रमणकाले, प्रिय नलम्, द्विपञ्च लज्जाञ्च, विप्रलम्भ्य प्रतार्य, चुम्बनादि केवलमभरणानादिकमेवेत्यर्थ । विततार बलाय दृष्टी । मध्यानायिकाभाव त्वेऽपि मुखारावकटनाय प्रकृतसुरताकरणेन प्रियविप्रलम्भ, किञ्च चुम्बनविपु लज्जातिशयसम्भवेऽपि तद्वलम्भजाभावात् लज्जाविप्रलम्भ इति भाव । तथा हि विदग्धानि कालोचिनम्यबहारकुशलानि, मनासि धिय येषा सादृशानाम्, जनाना मिति शेष । किं विदग्ध्यम्, अगोचर ? अविषय ? न किमपीत्यर्थ । अत एव सा विप्रलम्भ विहर्तुं शक्ता इति भाव ॥ ८६ ॥

इम प्रकार (१८८५) व्यर्थ ही रत्नें (पाठा—अत्यधिक न्यर्थ) कानर मायावती उत (दमयन्ती) ने नुरतमें पनि (नल) को तथा लज्जाको वञ्चिनकर चुम्बन आदि दिवा, चतुर चित्तवाले व्यक्तिपोंका क्या अविषय है ? अर्थात् चतुर व्यक्ति क्या नहीं कर सकते हैं ? [मध्या नायिका होनेपर भी मुखामावको प्रकट करके केवल चुम्बनादि देकर प्रकृत सुरतकी दास देनेमें प्रिय (नल) को तथा चुम्बनादिमें लज्जाधिक्यकी सम्भावना होनेपर भी उसका अवलम्बन नहीं करनेसे लज्जाको वञ्चिन करना कहा गया है । इसका अभिप्राय यह है कि— सुरतके विषयमें बलात्कार करनेके भयसे बरा दूरे वह जिस किसी प्रकार अपनेकी मुझसे छुड़ानेके लिए ही ऐसा कहती है । जिस प्रकार अप्रौढ़ा वह दमयन्ती प्रिय नलको वञ्चिन कर उनकी ऐसी कृपा बुद्धि जपत्र कर रही है, उसी प्रकार मुझे (लज्जाको) भी वञ्चिनकर मुझ अर्थात् लज्जाको यह अब तक भी नहीं छोड़ रही है । यह बलात्कारके भयसे ही चुम्बन नखछेदन आदि करती है, स्वेच्छामें नहीं, इम प्रकार लज्जाके स्वायको भी अशक्तिनकर चुम्बनादि संपूर्ण सुरतसम्भारको प्रौढतासे प्रियके लिए देकर माया (कपट) से अपने

१ '—तरकातरा' इति पाठान्तरम् ।

अमीश्वो वस दमयन्तीने पूरा कर लिया] ॥ ८६ ॥

स्वेप्सितोद्गमितमात्रलुप्रया दीपिकाचपलतया तमोघने ।

निर्विशङ्करतज्जन्मतन्मुद्राकृतदर्शनसुखान्धमुद्धूत स ॥ ८७ ॥

स्वेति । नल, तम अन्धकार एव, घन मेघ तस्मिन्, स्वेप्सितेन निजे-
च्छामात्रेणैव, उद्गमितमात्र प्रज्वलनचणमेव, लुप्ता विनष्टा तथा तथोक्त्या, चणिक
येत्यर्थ । दीपिका प्रदीप एव, चपला विद्युन् तथा तद्वारा इत्यर्थ । 'विद्युश्चञ्चला
चपलाऽपि च' इति यादव । निर्विशङ्करतात् अन्धकारजन्यनिश्चिन्तामणात्, जन्म
सम्भव । येषां साहसानाम्, तस्या, भैरव्या, मुद्राकृतानां वदनचेष्टितानाम्, दर्श
नात् अवलोकनात्, यानि सुखानि हर्षां तानि, अभुङ्क्त अन्वभूत् । स्थिरप्रकाशे
तद्विस्मयमिवावभयात् चणिकप्रकाशेन तन्मुखदर्शनसुगमम् अनुभूतवान् इत्यर्थ ॥ ८७ ॥

उम नलने अन्धकाररूपो मेघ (पञ्चा०—मेघतुरव अन्धकार) में अपनी इच्छामात्राने
जल्कर तत्काल दुष्टे हुए दीपकरूपी बिजलीसे निश्चिन्त किये जाने हुए सुरतमें उदन्न दमयन्ती
के मुखमिप्रायके दर्शनके सुखको प्राप्त किया । [जिस प्रकार काले काले मेघमें क्षणमात्र
दिपली चमककर शान्त हो जाती है उसी प्रकार वरुणके दिये हुए वर (१४।७४) के
प्रभावसे नलही इच्छानात्राने दीपक की क्षणमात्र जल्कर दुष्ट जाता था और पहले अन्धकार
होनेसे निश्चिन्त होकर सुप्त करती हुई दमयन्तीके मुखमें कैसी भाव हो रहे है, इने दीपकके
क्षणिक प्रकाशमें देखकर नल सुखका अनुभव कर रहे थे] ॥ ८७ ॥

यद्भ्रुयी कुटिलिते तथा रते मन्मथेन तवनामि कार्मुकम् ।

यत्तु हु हुमिति सा तदा व्यधात्तत् स्मरस्य शरमुक्तिदुष्कृतम् ॥ ८८ ॥

अथ तन्मुद्राकृतान्येवाह—यदित्यादि । तथा भैरव्या, रते सुरतकाले, यत् भ्रुवी
भ्रूद्वयम्, कुटिलिते सुक्वातिरेकात् सङ्कोषिते, तत् एव भ्रूकुटिलीकरणमेव, मन्मथेन
कामेन, कार्मुक धनु, अनामि नमितम्, आकर्षित्यर्थ । तस्मा भ्रूद्वयस्य कामकार्मु
कवत् मनोहरत्वादिति भाव । किञ्च, सा भैरवी, तदा रमणकाले, हु हुम् इति यत्
व्यधात् सुक्वातिरेकात् 'हु हु' इति यत् अव्यक्तशब्दम् अकरोत्, तत्तु तत् हुद्भूत
मेघ, स्मरस्य कामस्य, शरमुक्तिदुष्कृत वागमोक्षस्य दुष्कारस्वरूपम्, अभूदिति
शेष । तत् सर्वं तस्य अधिकमुद्रोपकम् अभूत् इति भाव ॥ ८८ ॥

उम (दमयन्ती) ने सुरतमें जो भ्रूद्वयो को टेढ़ा किया, वह कामदेवने (मानो) अपने
धनुषको झुकाया, तथा उस (दमयन्ती) ने जो 'हु, हु' शब्द किया, वही (मानो) काम
देवके वाग छोड़नेका दुष्कार हुआ [सुरतकालमें दमयन्तीके भ्रूद्वयो को टेढ़ा करना तथा 'हु,
हु' शब्द करनेसे फिर काम बढ गया । धनुर्धरलोग धनुषको झुकाकर बादमें दुष्कार करते
हए वाग छोड़ते हैं] ॥ ८८ ॥

ईक्षितोपदिशतीव नर्त्तितु तत्क्षणोद्विगता मनोभुवम् ।

कान्तदन्तपरिपीडिताधरा पाणिधूननमिव त्रितन्वती ॥ ८९ ॥

इति ते नि । कान्तस्य प्रियस्य, दन्तैः दशनैः परिपीडिताधरा दशनेन व्यधिन-
रदनच्छ्रदा, धत एव पाणिधूनन तन्निवारणाय करकम्पनम्, त्रितन्वती कुवती, इय
दमयन्ती, तच्छ्रेण सुरतकाले, उद्विगता स्वप्रभावदर्शनात् सञ्जातहर्षम्, मनोभु-
वम् अनङ्गम्, नर्त्तितु नृत्य कर्तुम्, उपदिशतीव इत्थं नृत्यं कुरु इति शिष्ययन्ती
इव, स्थितेति शेषः । 'आच्छीनर्द्योनुम्' इति विकल्पानुमनात् । ईक्षिता दृष्टा,
प्रियेणेति शेषः । नृत्यशिक्षको हि हस्तनर्चनेनेव स्वाशय्यान् नर्त्तितु मिश्रयतीति
लौकिका ॥ ८९ ॥

पति (नर) के दानोंमें पीड़ित अवस्थानी (अन एव निषेधार्थ) हाथको दैनागी दुः
उम (दमयन्ती) को (नरने) उम समयमें इति कामदेवकों नृत्य करनेके लिए शिक्षा
देती हुई-सी देखा । [चुम्बनके समय दाँतोंमें अवरके पीटित होनेपर दमयन्तीने हाथको
दैनाकर बेना करनेमें जो मना किया, जो नरको मालूम पड़ा कि मानो वह उम माया इति
दुः कामदेवको नृत्य सिखा रहा हो । दोनोंमें जो कोर व्यक्ति किमी शिष्यको नृत्य शिक्षाके
समय हाथ हुना घुमाकर शिक्षा देता है] ॥ ८९ ॥

सा शशाक परिरम्भदायिनि गाहितु बृहदुर प्रियस्य न ।

चक्षमे म च न भङ्गुरभ्रुवस्तुङ्गपीनकुचदूरता गतम् ॥ ९० ॥

मेति । परिरम्भदायिनी आलिङ्गनप्रदायिनी, मा भेमी, प्रियस्य नरस्य, बृहत्
विशालम्, उर वक्षस्थलम्, गाहितु प्रदेष्टुम्, माकल्पेनाभिधानुमित्यर्थः । न
शशाक ॥ चक्षमे, नलोऽस्थलमपेक्ष्य स्वस्व चीणाङ्गवादिति भावः । हाथाश्रया
धिक्येनाधिकालङ्कारभेदः । ॥ च नलोऽपि, भङ्गुरभ्रुवः सुवर्णमभ्रुवालिङ्ग्या प्रिया
या, तुङ्गपीनकुचाभ्याम् उन्नतस्थूलपयोधराभ्याम्, दूरता स्थवधानम्, गत
प्राप्तम्, उर गाहितुमिति पूर्वशब्दव्य, न चक्षमे न शशाक । कुचयोरीन्मन्त्रस्थी
रपाम्या व्यवहितत्वादिति भावः । इति सम्प्रत्येष्ट्यसम्प्रत्येष्ट्यरूपातिशयोक्तिः ॥ ९० ॥

आलिङ्गन देती हुई (वृशाङ्गी) वह (दमयन्ती) प्रियके विशाल वक्षस्थलको (स्पर्श-
आलिङ्गन नहीं कर सकी, तब वे बल भी नष्टि भ्रुवाङ्गी (दमयन्ती) के ऊचे-ऊचे
स्पर्शोंसे दूरत्व (दमयन्तीके) वक्षस्थलका स्पर्शनाया आलिङ्गन नहीं कर सके । [दमयन्ती
स्वद वृशाङ्गी या और नरकी छाती चौड़ी थी, अन वक्षस्य स्पर्शनाया वह आलिङ्गन नहीं
कर सकी तथा दमयन्तीके स्तन ऊचे-ऊचे थे, अतः वक्षकी छातीसे नरकी छाती दूर हो रह
जाती थी—सट्टो नहीं थी—इस कारण वे भी प्रियाकी छातीका स्पर्शनाया आलिङ्गन नहीं
कर सके । आलिङ्गनेच्छा अपूर्ण होनेसे दोनों वक्षोत्तकान ही रह गये] ॥ ९० ॥

बाहुवल्लिपरिरम्भमण्डली या परस्परमपीडयत् तयो ।

आस्त हेमनलिनीमृणालज पाश एव हृदये शयस्य स ॥ ६१ ॥

चाङ्क्षति । तयो भैमीनद्यो , या बाहुवल्लिभ्या भुजलताभ्याम् , परिरम्भेण परस्परमश्लेषेण, मण्डली वेष्टनम् , भुजचतुष्टयानां मण्डलाकारता इत्यर्थः । परस्परम् अन्योन्यम् , अपीडयत् प्रतादसश्लेषेण पीडितवती, स परिरम्भव्यापार इत्यर्थः । हृदये शेते इति हृदये शय काम तस्य । 'अधिकरणे शेते' इत्यत्र प्रत्ययः । 'शययासवामिध्वकालात्' इत्यलुक् । हेमनलिनीमृणालात् स्वर्णकमलिनीदण्डात्, जायते इति तज्ज अतिगौरवात् मृदुत्वाच्च सुवर्णमयकमलदण्डात् जात इव प्रतीयमान , पाश पाशादयवन्धनरज्जुरेव, आस्त अमबत् इत्युपेक्षा ॥ ९१ ॥

उन दोनोंके बाहुस्थो लताके आलिङ्गनकी गोलारं (वृष्णाकारता) ने परस्परमें (आलिङ्गन करते समय) पीड़ित किया, वह स्वर्णकमलिनीके मृणालका बना हुआ कामदेव का पाश (बाधनेकी रस्सी) ही हो गया । [कोमल, पतले तथा रत्न होनेसे लतातुल्य बाहुचतुष्टयसे परस्पर पीड़नपूर्वक एक दूसरे का आलिङ्गन करनेसे ऐसा मालूम पड़ता था कि सुवर्णमयी कमलिनीके मृणालसे बना हुआ कामदेवका वह पाश (बाधनरज्जु) ही परस्परालिङ्गन करनेमें वे दोनों कामके बन्दीभूत हो गये] ॥ ९१ ॥

यल्लभेन परिरम्भपीडितौ प्रेयसीहृदि कुचाववापतु ।

केलतीमदनयोरुपाश्रये तत्र पृत्तमिलितोपधानताम् ॥ ६२ ॥

उल्लभेनेति । यल्लभेन प्रियेण नलेन, परिरम्भेण प्रताडालिङ्गनेन, पीडितौ चिदि टीकृतौ इत्यर्थः । प्रेयस्या दमयन्त्या , हृदि वक्षसि, स्थितौ इति शेषः । लक्षौ स्तनौ एव, केलतीमदनयो रतिकामयो । 'कामली केलती रति' इति यादवः । उपाश्रये अवशम्भभूते, तत्र दमयन्तीवक्षसि, वृत्ते वृत्तुले, मिलिते परस्परसङ्गते, उपधाने उपर्यर्हे । 'उपधानं त्ववर्हम्' इत्यमरः । तयो भावः तत्ता ता शिरोनिधानताम् , अवापतु जग्मतु इवेति शेषः । इत्युपेक्षा ॥ ९२ ॥

प्रियतमा (दमयन्ती) को छातीमें प्रियतम (नल) के द्वारा (आलिङ्गन-कालमें) अनिश्चय पीडित अर्थात् दबे हुए (दमयन्तीके) दोनों स्तन रति तथा कामदेवके विश्राम स्थानपर गोलकार मित्रो हुए दो तर्कियोंके समान हो गये । [नलके यादालिङ्गनमें दबे हुए दलयन्तीके दोनों स्तन रति-कामके गोलारर तर्कियोंके समान मालूम पड़ने थे] ॥ ९२ ॥

तत् प्रियोरुयुगल नत्तार्पितै पाणिजस्य मृदुभि पदैर्वभौ ।

उत्प्रेरशस्ति रतिकामयोर्यस्तम्भयुग्ममिव शातकुम्भजम् ॥ ९३ ॥

तदिति । तत् अतिमनोज्ञम्, प्रियाया , कान्ताया , उत्प्रेरशस्ति सन्निधयम् , नलेन अपितै न्यस्तै , कृनेरित्यर्थः मृदुभि कोमलै , ईषन्मात्रैरित्यर्थः । पाणिजस्य, नखस्य,

पदै विहै, नगवतैरित्यर्थ । उत् उद्गता, उत्कीर्णा इत्यर्थ । प्रशस्ति प्रशसावचन
तत् नादशम् उत्प्रशस्ति उत्कीर्णप्रशसावचनम्, शातकुम्भञ्च द्विरण्मयम्, रतिका
मयो जयस्तम्भयुग्मम् इव चैवचसूचकस्तम्भद्वयमिव, वमौ शुशुभे इत्युपेक्षा ॥ २३ ॥

नन्वे द्वारा द्विये गये नखके कोमल अर्थात् छोटे-छोटे चिह्न (नखसर्जों) से प्रिया
दमयन्तीका वह करद्वय रति तथा कामदेवके विजय-प्रशस्ति लिखे गये सुवर्णनिर्मित दो
विजयस्तम्भोंके समान शोभता था ॥ २३ ॥

यह्ममानि विधिनाऽपि तावक नाभिर्मूयुगमन्तराऽङ्गकम् ।

स व्यधादधिक्यार्णकैरिदं काञ्चनैर्यदिति ता पुराऽऽह स' ॥ ६४ ॥

बह्विनि । हे प्रिये ! तावत् त्वदीयम्, नाभिम् ऊह्युगञ्च अन्तरा तन्मध्यवर्ति ।
'अन्तराऽन्तरेण युक्ते' इति द्वितीया । 'अन्तराशब्दो मध्यमाधेयप्रधानमाचष्टे' इति
काशिका । अङ्गकम् अयन्तामिलपगीयत्वेन आदरणीयमङ्गम्, वराङ्गमित्यर्थ ।
विधिना वेधसाऽपि, बहु भूमामि भतिशयेन समाहृतम् । कुत ? यत् परमात्, स'
विधि, इदम् अङ्गकम्, अधिक्यार्णकं समुज्ज्वलामै, काञ्चनै, सुवर्णं, व्यधात् छुष्टवा
नित्, इति इत्थम्, स नल, ता प्रियाम्, पुरा सुरतारम्भात् पूर्वम्, आह उक्त-
वान् । 'पुरि लुङ् चास्मे' इति भूने लट् ॥ २४ ॥

१/ तुम्हारा अतिशय कामुक युवक केवल मैंने ही नहीं, किन्तु बावराग दब बूड़े) ब्रह्मा
ने भी नाभि परा ऊहद्वयके मध्यमें स्थित तुम्हारे कामनिन्दरको बहुत माना अर्थात् अतिशय
आदर किया, क्योंकि, उस (ब्रह्मा) ने श्वे (अधिक पौरुष) लोभहीन तथा अग्न्यान्व अर्धोंकी
अरुणा शीत-शान्तनरही नहीं मई मकनेके कारण) अधिक बाँशल्ले मानो सुवर्णने बनाया है'
देना उस (नल) ने (मैथुन करनेके) पहले उस (दमयन्ती) ने कहा । [अतिशय
अश्लील होनेके कारण अवानाशोग्र होनेपर भी मैथुन-वर्णनके अतिरिक्त शयन वर्णन
करना अयोग्य होनेसे श्वे मैथुनकाव्य पूर्व वर्णन किया गया है] ॥

पीडनाय मृदुनी विगाह्य तौ कान्तपाणिनलिते स्पृहावती ।

तत्कुचौ कलशपीननिष्ठुरौ हारहासविहते वितेनतु ॥ २५ ॥

पीडनायेति । कलशवत् घटवत्, पीनी स्थूली, निष्ठुरौ कठिनौ च, तस्या
दमय त्वा, कुचौ स्तनौ । कर्तारौ । मृदुनो कोमले, तथाऽपि तौ अतिरुटिनौ दम-
यन्तीकुचौ, विगाह्य अवगाह्य, प्राप्य इत्यर्थ । पीडनाय पीडन कर्तुम्, स्पृहावती
अभिलषितवती, व्याघ्रियमाणे इत्यर्थ । कान्तस्य नलस्य, पाणिनलिते करकमले ।
कर्मणी । हार कुचविलम्बितमुक्तावली एव, हास हास्यम्, शुभ्रताविक्रपादिति
भाव । तेन विहते तिरस्कृते, तिरस्कारेण पिताडिते इव इत्यर्थ । वितेनतु चक्रतु ।
कोमलत्वात् दुर्बलयो नलपाण्यो स्थूलकठिनयो बलिनो दमयन्तीकुचयो पीडन

प्रवृत्तौ दुर्बलस्य प्रबलकर्त्र कदासताडनयोरवश्यम्भाभ्यत्वादिति भाव । अश्वघात-
प्रवृत्ताः परिहासास्पदं भवन्तीति निष्कर्षः ॥ ९५ ॥

घटके समान बड़े तथा कठिन दमयन्तीके स्नानद्वयने कोमल (होते हुए भी) उन दोनोंको स्पर्शकर मर्दन करनेके लिए इच्छुक पतिके हस्त-द्वयरूपी कमलद्वय (कमल तुल्य मृदु दोनों हाथ) को हारके प्रणाम (या—हाररूपी हास=उपहास) से आच्छादित (पक्षा०—निरस्तुन) कर दिया । (अथवा— मर्दन करनेके लिए इच्छुक उन दोनों हाथोंको मृदु जानकर उक्त प्रकारसे उपहास कर दिया) । [दमयन्तीके दोनों स्नान घटके समान विशाल तथा कठिन थे, उनको नष्टके मृदुतम कमल तुल्य हाथोंने मर्दन करना चाहा तो उन दोनों स्नानोंके हारका प्रकाश नष्टके उन दोनों हाथोंपर पड़नपर ऐसा मालूम पड़ा था कि कठिन एवं विशाल स्नान कोमल एवं लघु नष्टहस्तको हँस रहे हैं कि तुम दोनों कोमल तथा लघु होनेसे हमारा मर्दन नहीं कर सकते, अतः एवं तुम दोनोंका यह प्रयास व्यर्थ है । लोकमें कोई असमर्थ एवं लघु व्यक्ति कठोर एवं महान् व्यक्तिको नहीं दबा सकता, यदि दबाता है तो भी वह उपहासास्पद ही होता है । यद्यपि 'अकर्मकठिनौ हस्तौ—' इस वचन के अनुसार राजाके हाथका कठोर होना ही शार्ङ्गोंमें उत्तम माना गया है, तथापि नष्टके हाथोंको कमलवत् कोमल कहकर उसको अपेक्षा दमयन्तीके स्नानोंका अधिक कठिन्य घोषित करनेसे शास्त्रलक्षणमें कोई विरोध नहीं होता] ॥ ९५ ॥

यौ कुरङ्गमदकुङ्कुमाञ्जितौ नीललोहितरुचौ बधूकुचौ ।

स प्रियोरसि तयो स्वयम्भुवोराचचार नरकश्चुकार्चनम् ॥६॥

याविति । यौ बधूकुचौ दमयन्तीस्तनौ, कुरङ्गमदकुङ्कुमाभ्यां कस्तूरिकाश्मीर-
जाभ्याम्, अञ्जितौ पूजितौ, लेपनेन शोभितौ सन्तौ इत्यर्थः । अत एव नीला कस्तू-
रोल्लिप्तस्थाने कृष्णवर्णा च, सा लोहिता कुङ्कुमल्लिप्तस्थाने रक्तवर्णा ॥ 'वज्रो वर्गेन'
इति तत्पुरुषसमासः । रच् प्रभा ययो तादृशौ, अन्यत्र—नील कण्ठे लोहित केशौ
इति नीललोहित महादेव, तस्मिन् रक्तं च, अनुराग इत्यर्थः । ययो तादृशौ,
यम्भुवतुरिति शेषः । प्रियाया भैम्या, वरसि वचसि, स्वयम्भुवो यौवनागमे स्वतः
एव उत्पन्नयो, अन्यत्र—स्वयम्भूमूर्त्योश्च, तयो बधूकुचयो, स तल, नखे नख
चतैरेव किंशुके पलाशकुसुमे, रक्तवर्णतासाम्यास्वकर्णारूपाकारसाम्याच्चेति भावः ।
अर्चनं पूजनम्, आचचार चकारेव । स्वयम्भूरेण देवत्वाद् तयोरर्चनया औचित्या
दिति भावः । गम्योत्प्रेक्षा ॥ ९६ ॥

कस्तूरी तथा कुङ्कुम (के लेप) से शोभित (अत एव कमल) नील तथा लाल रंगवाले
(पक्षा०—नीललोहित अर्थात् शिवजीमें अनुरागवाले अर्थात् शिवतुल्य) को बधू (दमयन्ती)
के दोनों स्तन थे, प्रियाके वक्षस्थलपर (यौवनावस्थामें) स्वयमेव उत्पन्न (पक्षा०—स्वयम्भू
मूर्तिवाले) उन दोनों (स्तनों, पक्षा०—शिवजी) की वक्ष (नख) ने (बकादार एवं

रक्त वर्ण होनेने) नखरूपी किङ्करी (पलाश पुष्पों) से मानो पूजन किया अर्थात् उक्तरूप दमयन्तीके स्नानोपर नखस्नान किया ॥ ९६ ॥

अम्बुधे कियदनुत्थित विधु स्वानुबिम्बमिलित व्यङ्ग्ययत् ।

चुम्बदम्बुजमुखीमुरा तदा नैपद्यस्य वदनेन्दुमण्डलम् ॥ ९७ ॥

अम्बुधेरिति । तदा ससर्गकाले, अम्बुजमुराया कमलवदनाया प्रेयस्या, मुख वदनम्, चुम्बत् अधर स्ववमानम्, नैपद्यस्य नलस्य, वदनेन्दुमण्डलं मुखचन्द्रविम्बम् । कर्त्तुं । अम्बुधे सागरात्, कियत् किञ्चित्, अनुयितम् (अनुदितम्, अधिकांशमुदितम् इत्यत्र समुद्रगर्भे अवस्थितमित्यर्थः । स्वानुविम्बेन स्वस्य विधोरेव जलान्तर्यन्तिप्रतिविम्बेन, मिलितं युक्तम्, विधुम् इन्दुम्, व्यङ्ग्ययत् अनुचकार । तयो मुखयोर्मिथ सरलेपात् कारस्त्र्येनादश्यमानत्वादिदमुपमितम् ॥ ९७ ॥

उक्त समय (सुरतकालमें) कमलमुखी (दमयन्ती) के मुखका चुम्बन करते हुए, नलके मुखरूपी चन्द्रमण्डलने समुद्रसे कुछ नहीं निकले हुए अर्थात् अधिकांश उदित और स्ववशात् अनुदित हुए, (समुद्रजलमें) अपने प्रतिविम्बमें मिलित चन्द्रमाका अनुकरण किया । (अथवा— नलके मुखरूपी चन्द्रमण्डलका चुम्बन करता हुआ कमलमुखी (दमयन्ती) के मुखने) । [भोटा अर्थात् और अधिकांश उदित हुआ चन्द्रका प्रतिविम्ब समुद्रजलमें पड़ेते हुए अपने प्रतिविम्बसे युक्त होकर जैसा शोभा पाता है, वैसा ही नल-दमयन्तीके मुख भी चुम्बनकार्यमें शोभने में] विन्म-प्रतिविम्ब भाव कहनेमें नल-दमयन्ती के मुखोंकी अधिकतम साम्यता सूचित होती है तथा कामके मित्र चन्द्रमाके उदयका वर्णन करनेमें भविष्यमें कामकी अधिक वृद्धि होना भी सूचित होता है] ॥ ९७ ॥

पूगभोगंधृताकपायितैर्वासितैरुदयभास्करेण तौ ।

चक्रतुर्निधुवनेऽधरामृतैस्तत्र साधु मधुपाननिभ्रमम् ॥ ९८ ॥

पूरोति । तौ भैमीनलौ, तत्र तस्मिन्, निधुवने रसे । 'ग्ववापो प्राग्पथमौ मधुन निधुवन रतम्' इत्यमरः । पूगभोगः क्रमुकभक्षण, ताम्बूलचूर्णमिति यावत् । 'पूग क्रमुकचूर्णयो' इत्यमरः । तस्य वदुतया बाहुल्येन, 'पूगभागा' इति पाठे—चर्ष्यमाणाम्बुलं गुवाकभागस्य आधिव्यतया इत्यर्थः । कपायिते सज्जातकपायसरै, तथा उदयभास्करेण कर्पूरविशेषेण, वासितैः सुरमितै, अधरामृतै परस्परमधरमुधापान रित्यर्थः । साधु सत्पक्, मधुपानस्य मद्यपानस्य, विभ्रममिव विभ्रम लीलाम्, चक्रतु आचरेत् । गुवाकादिमदकारकद्रव्यसन्धानजमद्यपानेन यथा मत्तता जायते, तथा तादृशाधरमधुपानेनापि मत्तौ तौ सुरत चक्रतुरिति निष्कर्षः । अत्र सादृश्याच्चेपात् निदर्शनालङ्कारः ॥ ९८ ॥

उन दोनों (दमयन्ती तथा नल) ने (पान पीनेमें) टाली गयी) सुपाराके अधिक

१ 'पूगभागा—' इति, 'पूगराण' इति च पाठान्तरम् ।

खाने (पा०—सुपारीका भाग अधिक होने, द्वितीयपाठा०—पान चवानेसे कमश बढो हुई सुपारी की लालिमा) से कषाय रसवाले (पक्षा०—मुग्धयुक्त) तथा (पानमें डालने योग्य) कर्पूर-विशेषसे सुरभिन् अथरूप अमृत (पक्षा०—परस्पर किये जाते हुए मधुर होनेसे अमृत मुख्य अथरपान) से सम्यक् प्रकारसे मधु (मय-) पानके विलास (विशेष आन्ति-नशा) को प्राप्त किया । [जिस प्रकार कोई व्यक्ति सुपारी आदिकी अधिकतासे कषायरमयुक्त मधका पानकर नशेमें आनन्द (आनन्द या नशेमें उक्त) होता है, उसी प्रकार दमयन्ती तथा नलने भी सुरतमें अधिक पान चवानेसे अरुणवर्णके अधराभूतका परस्परमें पानकर (परस्पर अथर-चुम्बनकर) सम्यक् प्रकारसे कामोन्मत्त हो गये] ॥ ९८ ॥

आह नाथउदनस्य चुम्बत सा स्म शीतकरत्तामनक्षरम् ।

सीत्कृतानि सुदती वितन्वती सत्सदसपृथुवेपथुस्तदा ॥ ९९ ॥

आहेति । सुदती मनोज्ञदशना, सा भैमी, तदा अधरपानकाले, सीत्कृतानि दशनवेदनया सीत्कारान्, वितन्वती कुर्वती, तथा सखेन सखगुणोत्प्रेकेण, दस जनित, पृथु महान्, वेपथु कम्पाक्षय सात्त्विकभाव यस्या सा तादृशी च सती, चुम्बत चुम्बन कुर्वत, नाथवेदनस्य प्रियसुरस्य, शीतकरता शीताशुःखमेव शीत कारित्वम् । 'कृजो हेतु—' इत्यादिमा ताच्छीत्ये टप्रत्यय । अनक्षरम् अक्षरमेव, आह स्म उवाच, ज्ञापयमासेत्यर्थ । अन्यथा कथं शीतञ्जय कम्पसीत्कारादिकार्यं मिति भाव ॥ ९९ ॥

उत्त (सुरत-चुम्बन) कालमें (दन्तदशनवेदनानामे) सीत्कार करती हुई तथा सात्त्विक भावसे कम्पित होनी हुई उस सुदती (दमयन्ती) ने चुम्बन करते हुए नलमुखको बिना अक्षरोच्चारण किये ही शीतकर (ठण्डा करनेवाला, पक्षा०—ठण्डे किरणोंवाला अर्थात् चन्द्रमा) कह दिया । [ठण्ड लगनेपर मनुष्य 'सी-सी' शब्द करता हुआ कौण्ड और कुछ कहना नहीं है, दमयन्ती भी सुरतचुम्बनमें दन्त-दशनसे पीड़ित हो 'सी-सी' करता थी और सात्त्विक भावके उदय होनेसे कम्पित भी होती थी, अत एव वह मानी बिना अक्षरोच्चारण किये ही 'यह चुम्बन करने वाला नल-मुख शीतकर (ठण्डक करनेवाला—पक्षा०—च द्र) है' ऐसा कहती थी । नलके चुम्बनमें दमयन्तीको चन्द्रदर्श के समान परमानन्द हुआ] ॥ ९९ ॥

चुम्बनाय कलितप्रियाकुच वीरसेनसुतवक्त्रमण्डलम् ।

प्राप भर्तुममृतै सुधाशुना सक्तहाटकघटेन मित्रताम् ॥ १०० ॥

चुम्बनायेति । चुम्बनाय स्नानोपरि-चुम्बनकरणाय, कलित गृहीत, मुखेनैव स्पृष्ट इत्यर्थ । प्रियाकुच भैमास्तनो येन तादृशम्, वीरसेनसुतवक्त्रमण्डल नल मुखविम्बम् । कर्तुं । अमृतै सुधामि, भर्तुं पूरयितुम्, सक्त स्पृष्ट, हाटकस्य कन करय, घट कुम्भो यस्मिन् तादृशेन, सुधाशुना चन्द्रेण, मित्रतां सदृशताम्, प्राप

लेने । नलमुखस्य चन्द्रतुल्यत्वात् भौमीकुचस्य च स्वर्गघटसाम्यादिति भाव । कनककलशे अमृतमरभरणार्थं समागतः साक्षात् अमृताशुरिव इत्युत्प्रेक्षया अमृतकरत्वं व्यज्यते इति अलङ्कारेण वस्तुध्वनि ॥ १०० ॥

चुम्बनके लिए प्रिया (दमयन्ती) के स्नानको प्राप्त नन्का मुखमण्डल (अपने हा) अमृतने पूर्ण करनेके लिए सोनेके घटेका गन्ध किये हुए चन्द्रके भ्रमान् हुआ । [दमयन्ती के स्नानको जब नल मुखमें चुम्बन करने लगे तो मन्त्रम पढ़ता था कि चन्द्रमा अपने अमृतनवाहोने स्वर्गघटको भर रहा हो, इसमें नल मुखका अमृततुल्य मधुरस्पर्श चन्द्रतुल्य होता तथा दमयन्तीके स्नानका स्वर्गकलशतुल्य गौरवार्थ, विशाल एवं कठोर होना और नन्मुखमें रहने दमयन्तीको अमृतमधुपर्णके समान भवनाय आनन्द होता सूचित होता है । 'मुलनेत्रस्नानाद्भूकपोलौष्ठपञ्चरात्रान्यष्टौ चुम्बनस्थानानि, रागात् सप्तगण्डपि च' (मुख, नेत्र, स्नान, बाहुमुख (वक्ष), कपोल, दोनों ओठ तथा काममन्दिर ये आठ चुम्बनके स्थान हैं और रागादिशय होनेने सभी आठ चुम्बनके स्थान हैं) इन वात्स्यायनीय बचनके अनुसार अथवा—'नयनगण्डकपोलौष्ठपञ्चरात्रान्यष्टौ चुम्बनस्थानानि वा चुम्बनस्थानानि, स्नेहे चतुर्षु परिहृत्येति विदेष' इस बचनके अनुसार रतिकालमें स्त्रीके स्नान (वात्स्यायन स्नानप्रमाण । चतुर्षु) का छोड़कर) का भी चुम्बन करनेका विधान है ॥ १०० ॥

वीक्ष्य वीक्ष्य पुनरैक्षि माऽमुना पर्यरम्भि परिरभ्य चासकृतम् ।

चुम्बिता पुनरचुम्बि चादरात्तुतिरापि न कथञ्चनापि च ॥ १०१ ॥

वीक्षयेति । अमुना नलेन, सा भौमी, आदरात् आग्रहातिशयात्, पद्मिन्दु शुभ्र नाडिग्नयोरपि योज्यम् । वीक्ष्य वीक्ष्य पुन पुनर्दृष्ट्वापि, पुन भूय, ऐषि ईक्षिता, असकृत्वारवारम् । आदरात् परिरभ्य आलिङ्गयापि, पर्यरम्भि पुन परिरम्भा । 'रभेरशब्दो' इति नुमागम । तथा आदरात् चुम्बिता हनचुम्बनापि, पुनश्च भूयोऽपि, अचुम्बि चुम्बिता । कथञ्चनापि केनापि प्रकारेण, तृप्ति भावाद्वापूति, न च अपि नैव प्राप्ता । रागातिरेकात् इति भाव । सर्वत्र कर्मणि लुङ् ॥ १०१ ॥

इति (नल) ने इस (दमयन्ती) को आदरपूर्वक देख-देखकर फिर देखा, बार-बार आलिङ्गनकर फिर आलिङ्गन किया और चुम्बनकर फिर चुम्बन किया, किन्तु किसी प्रकार भी तृप्ति को नहीं प्राप्त किया अथवा आदरपूर्वक बार-बार दमयन्तीको देखने, आलिङ्गन करने तथा चुम्बन करनेपर भी पुन पुन कायोंको करनेकी प्रवृत्ति रह्यो-की-त्यों मनने वनी ही रहा ॥ १०१ ॥

द्विभ्रमत्यतनु हारमण्डलं मुग्धया सुरतलाम्यकेलिमि ।

न व्यतकि सुन्त्रा चिरादपि स्वेदत्रिन्दुफितवक्षसा हृदि ॥ १०२ ॥

द्विभ्रमिति । मुग्धया सुरतमोहितचित्तया, सुदृशा सुनयनया, भ्रमेति शेष । सुरतानि रमणान्येव, लास्यकेल्य नृत्यक्रीडा तै, हृदि वक्षोपरि, स्थितमिति शेष ।

अतनु महत्, हारमण्डल मुक्ताकलाप, द्विज शुद्धितमपि, स्वेदविन्दव एव स्वेदविन्दुका घर्मोदकवणा । स्वार्थे क ते अस्य सञ्जाता इति स्वेदविन्दुकित सुरतध्रम जन्यघर्मविन्दुयुक्तम् । 'तारकादित्वादितच्' । वच्च उर स्थल यस्या तादृशया सत्या, चिरात् दीर्घकालेनापि, न व्यतिक्रि न व्यभावि, द्विजेति न अज्ञापि इत्यर्थ । स्वेदविन्दुषु हारभ्रमादिति भाव । अतएव भ्रान्तिमदलङ्कार ॥ १०२ ॥

(सुरतानन्दसे) मुख मुलोचमा (दमयन्ती) ने छातीपर सुरतरुण (या-सुरत-मन्त्रिणी) नृत्यक्रीडाओंसे टूटी (नाभिपदंन एतकी) हुए बटी मुक्तामालाकी (सुरत-अमन्य) स्वेदविन्दुओंसे तारकित वक्ष स्थलाली होनेसे (स्वेदविन्दुओंमें ही मुक्तामालाका भ्रम होनेके कारण) देरतक नहीं जान सका ॥ १०२ ॥

यत् तदीयहृदि हारमौक्तिकैरासि तत्र गुण एव कारणम् ।

अन्यथा कथममुत्र वर्तितु तैरशाकि न तदा गुणच्युतै ? ॥१०३॥

यदिति । तदीये भैमीसम्बन्धिनि, हृदि वक्षसि, अन्त करणे च, हारमौक्तिक हारस्थितमुक्तावलीभि, यत् आसि अवस्थितम् । आसेभावे लुब्ध । तत्र स्थितौ, गुण एव मुक्ताना द्विद्रान्तर्घत्तिसूत्रमेव, सूत्रेण ग्रथितत्वमेवेत्यर्थ । कान्तिमन्त्रादिगुण एव च, कारण हेतु । अन्यथा तद्वैपरीत्ये, तदा सुरतकाले, गुणच्युतै गुणभट्टै, तै हारमौक्तिकै, अमुत्र अस्मिन् वक्षसि मनसि च, वर्तितु स्थातुम्, कथ कस्मात्, न अशाकि ? न शक्तम् ? अविद्वज्जसूत्रै कतिपयमौक्तिकैरेव तत्र स्थित न पुनरिद्वज्ज सूत्राशौ, नतो गुण एव अत्र कारणम् अन्यथा यतनप्रसङ्गादनुपादेयत्वाच्चेति भाव ॥

उम (दमयन्ती) की छातीपर (पञ्चा०—चित्तमें) हारके जो मोती ठहरे थे, उम (टहने) में गुण (हारमें गुण हुआ सूत्र-धागा, पञ्चा०—कान्तियुक्तत्वादि गुण) ही कारण था, अन्यथा (यदि उक्त गुण ही वहा टहनेमें कारण नहीं होता तो) उस समयमें अर्थात् सुरतक्षणमें गुण (उक्त सूत्र-धागा, पञ्चा०—कान्तिमन्त्रादि गुण) से हीन थे (हारके मोती) वहापर (दमयन्तीकी छातीपर, पञ्चा०—चित्तमें) क्यों नहीं टहर सके ? [दमयन्तीके वक्ष स्थलपर (पञ्चा०—चित्तमें) गुणवान् हो टहर सकने थे, अत एव गुण हीन (सूत्रज्ञान, कान्तिमन्त्रादि गुणरहित) मुक्तामणि उसके वक्ष स्थलपर (पञ्चा०—चित्तमें) नहीं टहर सके । इससे सुरतकालमें मुक्ताहारका टूटकर मुक्तामणियोंका नाचे गिर जाना, तथा नलके गुणवान् होनेसे दमयन्तीके उमयविध हृदय (बाझ वक्ष स्थल तथा आभ्यन्तर अन्त करण) में सर्वदा वर्तमान रहना सूचित होता है] ॥ १०३ ॥

एरुचुत्तिरपि मौक्तिकावलिस्त्रिज्वलितवितती तदा तयो ।

छाययाऽन्यहृदयेऽपि भूषण भ्रान्तिवारिभरभाजितेऽभवत् ॥१०४॥

एवेति । तदा तत्काले, तयो दमयन्तीनलयो मध्ये, एकरिमन् नले एव, वृत्ति अवस्थान यस्या सा तादृशी अपि, नलवच्च स्थिता अपीत्यर्थ मौक्तिकावलि मुक्ता-

हार द्विजा मुद्रिता, हारवितति विस्तृतहारो यस्य तादृशे । भाषितपुष्कत्वात् पुव-
द्भाव । श्रान्तिवारिभरेण सुरतश्रमोद्भूतस्वेदपूरेण, भाविते आप्लुते, अन्यस्या
भैरव्या हृदये वक्षसि । 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुवद्भाव' इति पुवद्भाव । छायाया
प्रतिविम्बेन, विभूषणम् अलङ्करणम्, अभवत् अजायत । अत्र एकस्यैव हारस्य
उभयत्र भूषणत्वेन असम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्ते तद्रूपातिशयोक्तिरलङ्कार ॥ १०४ ॥

उस समय (सुरतकाल) में उन दोनों (दमयन्ती तथा नल) में से एक (नल) के
बहु स्थलपर लटकनी हुई भी मुकुटमाला सुरत-श्रमजन्य स्वेदविन्दुसे व्याप्त दमयन्तीके
बहु स्थलपर प्रतिविम्बित होनेसे (दमयन्तीके बहु स्थलका) भी भूषण बन गया ।
[सुरतकालमें हारके टूट जानेसे हारहीन, किन्तु सुरतके परिश्रमसे स्वेदविन्दुओंसे युक्त
दमयन्तीके बहु स्थलमें प्रतिविम्बित मधुसूत नलके बहु स्थलका हार ही उस (दमयन्तीके
वन् स्थल) का भी हार बन गया । दमयन्ती सुरतजन्य श्रमसे स्वेदयुक्त हो गयी तथा
उक्त मुकुटहार भी टूट गया] ॥ १०४ ॥

धामपादतल्लुप्तमन्मथश्रीमदेन मुखवीक्षिणाऽनिशम् ।

भुज्यमाननवयौवनाऽमुना पारसीमनि चचार सा मुदाम् ॥ १०५ ॥

धामेति । धामपादस्य सत्यचरणस्य, तलेन अथ प्रदेशेन, अधस्तापट्टावयवे
मेति भाव । लुप्त हत, मन्मथस्य कामस्य, श्रिय भद्र सौन्दर्यवर्धनं येन दाहनेन,
अतिसुन्दरेश्वरार्थ । अनिश निरन्तरम्, मुखवीक्षिणा दमयन्तीवदनदर्शिना, अमुना
नलेन, भुज्यमानम् उपभोग 'कुर्वन्त, नवयौवनम् अभिनवतारुण्यं यस्या तादृशी,
सा भैमी, मुदाम् आनन्दाम्, पारसीमनि चरमावस्थायाम्, चचार विचरितवती
नलसम्भोगात् परमानन्दमाप इत्यर्थ ॥ १०५ ॥

धामचरणत्वं (शरीरका अतिशय सुच्छ अवयव, पञ्चा०—सुन्दर पादत्वं) से कामदेवके
मौन्दर्पमदको नष्ट करनेवाले अर्थात् कामदेवने भी अत्यधिक सुन्दर (तथापि—अर्थात्
इतना अधिक सुन्दर होने पर भी स्वानन्दबुद्धिवर्धन) मर्वादा (दमयन्तीके) मुखको देखते
रहनेवाले इस (नल) के द्वारा भोग किये जाने हुए नवयौवनवाली वह (दमयन्ती)
वहाँकी दूरी सीमापर घूमने लगी अर्थात् अत्यधिक इर्षित हुई ॥ १०५ ॥

आन्तरानपि तदङ्गसङ्गमैस्तर्पितानवयवानमन्यत ।

नेत्रयोरमृतसारपारणा तद्विलोकनमचिन्तयन्नल ॥ १०६ ॥

आन्तरानिति । नल तस्या दमयन्त्या, अङ्गसङ्गमै वाङ्मावयवसम्पर्के, आन्त
रान् आभ्यन्तरानपि, न केवलं वत् प्रभृतिबहिरवयवानिति भाव । अवयवान्
अन्त करणादीन् अङ्गान्, तर्पितान् प्रीणितान् अमन्यत अनुप्यत । तथा तस्या

१ अत्र बहुव्रीहिसमासत्वेन कर्मप्रययान्तस्य प्रथमान्तस्यैचित्याच्चिन्त्यमिदं
कर्तृप्रत्ययान्त द्वितीयान्त पदम् ।

भैर्या, विलोकन साक्षात्कारम्, नेत्रयो स्वाच्छयो, अमृतस्य पीयूषस्य, सारेण वःकृष्टाशेन, पारण्यम् उपवासानन्तरमाहारविशेषमिव, जचिन्तयत् अभावयत् । नद्वत् तृप्तिबोधवदिति भावः ॥ १०६ ॥

नलने उस (दमयन्ती) के अहो (वाहनों) के स्पर्शमें (अपने) आभ्यन्तर (राजाहमे अस्पृशनाय) अहोंको भी तृप्त हुआ माना तथा उस (दमयन्ती) के देखनेको दोनों नेत्रोंकी अश्रुतके सारभूत जशसे पारणा समझा । [नलने बार-बार दमयन्तीका आलङ्घन तथा दशनकर अनिश्चय हर्ष प्राप्त किया] ॥ १०६ ॥

‘बहुमन्यत विदर्भजन्मनो भूषणानि म दृशा न चेतसा ।

तैरभावि कियदङ्गदर्शने यत् पिधानमयविघ्नकारिभि ॥१०७॥

वद्विति । स नल, विदर्भजन्मन वेदभ्यां, भूषणानि आभरणानि, दृशा दृष्ट्वा एव, बहु अमन्यत अत्यर्थं समादृतवान्, दमयन्त्यङ्गस्पर्शसौभाग्यलाभादिति भावः । चेतसा मनसा, न, बहु अमन्यत इति शेषः । कुम् ? यत् यस्मात्, तै भूषणैः, द्विषताम् अज्ञाना प्रकोपादीना केषाञ्चिद्व्ययवानाम्, दर्शने विलोकने, पिधानमय छादनरूपम्, विघ्न प्रायूहम्, कुर्वन्तीति तादृशैः, इष्टिभ्यावातोत्पादकैरित्यर्थः । अभावि भूतम् । अतः भूषणबहुमान नातिपुष्कल इति भावः ॥ १०७ ॥

उन (नल) ने विदर्भकुमारी (दमयन्ती) के भूषणोंको दृष्टिसे ही अतिशय आदर किता, मनमें नही (पा०—इम (नल) ने प्रिया (दमयन्ती) को आश्रित अर्थात् शरीरमें पहने गये भूषणोंमें पहल सन्तुष्ट हुए, (किन्तु) बादमें विचार करते हुए खिन्न हुए, क्योंकि) व (भूषण) दमयन्तीके कुछ अङ्गोंके देखनेमें उन्हें आच्छादित करने (ढकने—छिपाने) के कारण विघ्नकारक हो रहे थे । [दमयन्तीके अगस्पर्शमें सौभाग्य लाभ होनेमें उन भूषणोंको देखकर पहले नलको हर्ष हुआ, किन्तु बादमें ‘यदि ये भूषण नही होते तो दमयन्तीके उन अंगोंको भी देखनेका मुझे सौभाग्य प्राप्त होता, जिन अंगोंको ये भूषण छिपा रहे हैं’ ऐसा विचार करनेमें मानसिक हर्ष नहीं हुआ । रत्निकार्यों भूषणोंका हटा देना ही कामशास्त्र-सम्मत होनेमें यहाँ उनके धारण किये रहनेका वर्णन, विष्णु सहस्रनामें अशक्त होनेके कारण नलका इष्ट मुरत करनेमें प्रवृत्त होना, या—सम्पूर्ण भूषणोंको नहीं हटाना दापरहित होनेसे किया गया समझना चाहिये । नलने अनिश्चय सौन्दर्य-सम्पन्न दमयन्तीके अंगोंसे हीन सौन्दर्यवाले भूषणोंका अधिक आदर नहीं किया] ॥१०७॥

योजनानि परिरम्भणेऽन्तर रोमहर्षजमपि स्म बोधत ।

तौ निमेषमपि धीक्षणे मिथो यत्सरव्ययधिमध्यगच्छताम् ॥ १०८ ॥

योजनानीति । तौ भैमीनलौ, परिरम्भणे आलङ्घनकाले, रोमहर्षात् सार्विकमा

१ ‘भूषणैरनुपदाश्रिते प्रिया प्रागय व्यपददेय भावयन्’ इति पाठ व्याख्याय ‘बहुमन्यत—’ इति मूलोक्तपाठ सुगममाह ‘प्रकाश’कार ।

बोधयेन रोमाज्जात, जातम् उत्पन्नम्, अन्तरमपि तन्मात्रव्यवधानमपि, योजनानि बहुयोजनव्यवधानानीत्यर्थः । बोधन स्म अत्रुच्यताम् । बोधतेर्भावादिकाद् भूते 'लट् स्मे' इति लट् । तथा मिथ अन्योऽन्यम्, वीक्षणे दर्शनविषये, निमेषमपि अस्ति वस्मिन्मीलनोन्मीलनकालव्यवधानमपि, वामरव्यवधि वर्षकालव्यवधानम्, अथ गच्छता मन्येते स्म । अनुरागाधिक्यादिति भावः ॥ १०८ ॥

उ० दोनों (नल तथा दमयन्ती) ने आलङ्घनमें रोमाञ्जजन्य व्यवधान (दूरी) को भी अनेक योजन दूर समझा तथा परस्पर देखनेमें निमेष (पलक गिरने) को भी वर्षोंका व्यवधान होना समझा ॥ १०८ ॥

बोध्य भावमधिगन्तुमुत्सुका पूर्वमन्त्रमणिकुट्टिमे मृदुम् ।

कोऽयमित्युदितसम्भ्रमीकृता स्वानुविम्बमददर्शतैव ताम् ॥ १०९ ॥

अथानयो ज्युतिसुख पञ्चभिर्बर्णयति, वीक्ष्येत्यादि । एष नैषध, सा प्रिया, मुद कोमला, परिश्रमास्तहिष्णुत्वात् श्लयावयवामिति यावत्, अत एव पूर्वम् आत्मन प्राक्, भाव ज्युतिसुखावस्थाम्, अधिगन्तु प्राप्तुम्, उत्सुकाम् इच्छन्तीं, वीक्ष्य गाढा किन्ननादिलिङ्गे ज्ञात्वा, कोऽयम् ? अथ कः अत्र समागत ? इति, उक्तवाऽइति शेषः, उदित सञ्जात, सम्भ्रम भयचकितभावो यस्याः सा उदितसम्भ्रमा, अतः सा कृताम् उदितसम्भ्रमीकृताम् । अभूततद्भावे चिन्ता प्रियामिति शेषः । अक्षे निर्मले, प्रतिबिम्बप्राप्तिगि इत्यर्थः । मणिकुट्टिमे रत्ननिबद्धभूमी, स्वानुविम्ब निजप्रतिबिम्बम्, अददर्शत दर्शितवान् । मत्प्रतिबिम्बदर्शनात् भ्रान्त मया इति तस्याः प्राप्तिम् अपाचकार इत्यर्थः । इदोर्णौ चङि 'गिचक्ष' इति लट् । 'अभेवादिदशोरात्मने पदे वेति वाच्यम्' इति अणिकर्तुः कर्मत्वम् । उभयोर्युगपदभावप्राप्तये तस्याः प्राक् पातस्थानं तेन प्रत्यवस्थानात्, अन्यथा वैरस्य स्यादिति भावः ॥ १०९ ॥

(अब इन दोनोंके ज्युतिसुखका पाच श्लोकों (१८।१०९-११३) से वर्णन करते हैं—) इस (नल) ने उस (दमयन्ती) को (अधिक सुरतग्रम नहीं सह सकनेके कारण) शिथिल अवयवोंवाली (अत एव नलने) पहले ज्युतिसुखावस्थाके लिए उत्सुक अर्थात् ज्युतिसुखको चाहती हुई देखकर ' यह कौन है ? ' (ऐसा कहने पर किसी दूसरे व्यक्तिके आनेकी आशङ्कासे) उत्पन्न मय न्या आश्चर्यसे युक्त हुई उस प्रियाको मणियोंके निर्मलतम कुट्टिम (फर्श) पर अपना प्रतिबिम्ब दिखलाया । [दमयन्ती अतिशय मृदु होनेसे सुरतग्रमको अधिक नहीं सह सकनेके कारण शिथिलगी होकर नलसे पहले ही रखलित बिन्दु होना चाहती थी, किन्तु ऐसा होनेपर सुरतके आनन्दके मन्थमें ही भग्न होना अनुचित होनेसे नलने ' यह कौन है ? ' ऐसा कहा, जिससे सुरत जैमे गोप्यतम समयमें दूसरेका उपस्थित हो जाना अमम्य होनेसे दमयन्ती सहसा चकित एवं भयावह हो गया तथा ' कहीं कौन आ गया ? ' ऐसा नलसे पूछा तो उन्होंने मणिमयी भूमिमें पड़ती हुई अपना परछाहीको

दिखाकर 'मैंने इसे ही बाहरसे आया हुआ दूसरा आदमी समझकर 'यह कौन है ?' ऐसा तुमसे कह दिया था' ऐसा कहकर 'अन्यचित्तनया सम्प्रमज्जननेन च भावबन्धनं कुर्यात्' [अन्यचित्त करके या सम्प्रमोत्यादनकर भावबन्धन करना चाहिये] इस कामशास्त्रोक्त वचनके अनुसार उसके भावबन्धनको किया] ॥ १०९ ॥

तत्क्षणावहितभावभावितद्वादशात्मसितदीधिविस्थिति ।

आत्मनोऽनभिमतक्षणोदया भावलाभलघुता नूनोद स' ॥ ११० ॥

तदिति । स नल, तस्मिन् क्षणे आसन्नच्युतिसमये, अवहितभावेन अवहित स्वेन, एकाग्रतया इति यावत् । भाविता ध्याता, द्वादशारममितदीधिव्यो सूर्याचन्द्र-मसौ, स्थिति नभोदेशे अवस्थानक्रम येन स तादृश सन्, तेन च विषयान्तर निविष्टतया च्युतिनिरोध इति भावः । आरमन स्वस्य, अनभिमतक्षणे अनभिप्रेत काले, उदय प्रादुर्भावे यस्या तादृशीम्, भावलाभस्य च्युतिसुखप्राप्ते, लघुताम् आशुभाविताम्, नूनोद निवारयामास । 'तत्काले हृदि सोमार्कधारणात् सिद्धि' इति रतिरहस्ये । अत्र पुन एव शक्त्याधिक्योक्त्या योषितो बहुशक्तिप्रदुत्तरसाभा सशक्ताऽपि भूमूलकापकपितेति द्रष्टव्यम् ॥ ११० ॥

उस (मुरतके) समयमें सावधान मनसे सूर्य तथा चन्द्रमाकी नभोमण्डलमें स्थितिका ध्यान किये (अथवा— सूर्य-चन्द्रसङ्ग 'ईडापिंगला' नाडियोंमें स्थित वायुको रोके) हुए उस (नल) ने अपने अमिलवित मुरतकालीन भावोदय (बीज-रखलन) की रोका । [पहले दमयन्तीका रखलन रोकनेके बाद जब अपना रखलन उसमें पड़े होने लगा तो नलने सूर्य-चन्द्रका आकाश-स्थितिका एकाग्रमनसे ध्यान करनेमें मनको दूसरी ओर लगाकर 'अन्यचित्तनया सम्प्रमज्जननेन च भावबन्धनं कुर्यात्' इस कामशास्त्रोक्त वचनके अनुसार अपने बीजरखलनकी रोका । अथवा—सूर्य-चन्द्रसङ्ग ईडा तथा पिंगलानामक क्रमशः दहने गया बायें नाडियोंमें स्थित वायुको रोककर 'दक्षिणनासासुद्रणं पुरुषस्य, वामनासिकासुद्रणं योषितो विन्दुस्तमो भवति' (दाहिनी नाक बन्द करनेपर अर्थात् 'ईडा' सङ्ग नाडीमें स्थित वायुको रोकनेपर पुरुषका और बायी नाक बन्द करनेपर पिंगलसङ्ग नाडीमें स्थित वायुको रोकनेपर स्त्रीका विन्दुलभ (रखलननिरोध) होता है ।) इस कामशास्त्रोक्त वचनके अनुसार क्रमशः अपने तथा दमयन्तीके भी रखलनकी नलने रोका] ॥ ११० ॥

स्वेन भोजमजने स तु प्रिया बाहुमूलकुचनाभिचुम्बनैः ।

निर्ममे रतरह समापनाशर्मसारसमसजिमागिनीम् ॥ १११ ॥

स्वेनेति । तु पुन, नल, भावमजने च्युतिसुखप्राप्तिविषये, बाहुमूढयो कक्ष देशयो, कुक्षयो स्तनयो, नाभौ नाभिदेशे च, चुम्बनैः पुनरुदीपनार्थं चुम्बनरूपे-

१ 'स्वा प्रियामभि—' इति 'प्रकाश' सम्मत पाठान्तरम् । २ 'भावमजने' इति पाठान्तरम् ।

उपाय , स्वेन भात्मना सह, प्रिया दमयन्तीम् , रतरहसं सुरतरहस्यस्य, समापना
या समाप्तिशाले, य शर्मसारं व्युत्तिसुचोत्कर्षं , तत्र सममभिभाषिणी समानसुखभा
षिणीम् , निर्ममे चक्रे । युगपदेवोभयोर्वीजनि सरणात् समानसुखभागित्वमिति भावः ।
एतेन तयोर्विप्रलम्भधत् सम्भोगम्यापि समानशक्तिरवमुक्त भवतीत्यनुसन्धेयम् ॥ १११ ॥

द्विर नन्दे स्खलन-सुख-प्राप्तिके विषयने (दमयन्तीके) दोनों काँट, तब पदा नामि-
नें चुननेसे अपने साथ सुरतरहस्यका समाप्तिने स्खलनसुखधित्यके समान भागवानी वस
दनदम्पतीको बताया [दोनोंके एक समवर्ष ही स्खलन होनेसे नन्दे दमयन्तीको भी अपने
समान ही स्खलनसुखको प्राप्त कराया । हमने विप्रलम्भके समान दोनोंने सम्भोग-सुखका
भी समानशक्ति होना सूचित होना है] ॥ ११२ ॥

विश्लथैरवयवैर्निमीलया लोमभिर्द्रुतमितैर्विनिव्रताम् ।

सूचित श्रुतिसीत्कृतैश्च तौ भावमकमजमध्यगच्छताम् ॥ ११२ ॥

विरहधैरिनि । तौ भैमीनलौ, विरह्यै शिथिलप्रायै अवयवै हस्तपादाद्यै ,
निमीलया ढाकटसुखानुभवजनितनेत्रनिमीलनेन । मिश्रद्विषाद्भु । द्रुत दृढात्,
विनिव्रताम् उद्वेगम् , इतै प्राप्त , कण्टकितैरित्यर्थः । लोमभि रोमभि , रोमाञ्चो
दृग्नैरित्यर्थः । तथा श्रमिणानि श्रमजनितद्रुतानि श्वाया , सीकृतानि सीकृताश्च तै
सूचित ज्ञापितम् , 'अस्तता वपुषि मीलन दशोर्मूर्च्छना च रतिलाभलक्षणम् । श्लेष
यत् स्वप्नधन धन मुहु सीकृतानि शलगजितानि च ॥' इत्युक्तवादिति भावः ।
अकमात् पोषापर्यं विहाय, जायते इति अकमज युगपज्जातम् , भाव पातसुखम् ,
अवयवगच्छता प्राप्तवन्तौ, ज्ञातवन्तौ वा । एवञ्च उभयो समरागिता सम्भवति,
अन्यथा पूर्वव्युत्तस्य उत्तरस्याविनि वेराग्येण तद्गन्धप्रसङ्ग इति भावः ॥ ११२ ॥

बन दोनों (दमयन्ती तथा नल) ने शिथिल (हाथ-पैर आदि) अङ्गोंसे (धन या
अधिक मुहने उत्पन्न) नेत्र-निमीलनने, उत्कल हृष्ट रोमाञ्चोंने-शोभनानि स्वासवायुन और
सात्कारने सूचन बीज-स्खलनको एक साथ प्राप्त किया अथवा दोनोंका एक साथ स्खलन
हुआ ॥ ११२ ॥

आस्त भावमधिगच्छतोऽनयो सम्मदेसु करजप्रसर्पणा ।

फाणितेषु मरिचापदूर्णना सा स्फुट कटुरपि स्पृहावहा ॥ ११३ ॥

आस्तेति । भाव व्युत्तिसुखम्, अधिगच्छतो प्राप्नुवतो, नयो दम्पत्यो, करज-
प्रसर्पणा पुनरपि मियो नलक्षतद्वरणम् , सम्मदेषु आनन्दलाभेषु, आस्त स्थिता,
अन्तर्भूता इत्यर्थः । ननु नलक्षत वेदभाजनकमपि कथमानन्देषु अन्तर्भूतमित्या
शङ्क्याह-सा नलक्षतक्रिया, कटु तीक्ष्णा अपि कटुरसा अपि च । 'रसे कटु' कटु
कार्ये त्रिषु भस्वरतीक्ष्णयो' इत्यमरः । फाणितेषु खण्डविकारेषु । 'भस्वण्डी फाणित

१. 'धृतापणा—' इति पाठान्तरम् ।

७६ नै० ८०

स्त्रण्डधिकारे' इत्यमर । मरिचस्य अवचूर्णना चूर्णं अवध्वसना, तच्चूर्णमिश्रणमिष्यर्थः । 'सत्याप—' इत्यादिना प्यन्तात् 'प्यासश्रन्थो युच्' इति युच् । स्फुटव्यक्तम्, अत एव स्पृहावहा रुचिकरी । या इय सम्मदेषु नस्वापणा मा फाणितेषु मरिचापणावत् इष्टा इव अभूदित्यर्थः । अत्र वाक्यार्थयो सादृश्ययोगेन सादरया चेपात् असम्भवद्वस्तुसम्बन्धलक्षणो वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शनाभेदोऽलङ्कारः ॥११३॥

भाव (बीज-स्खलन) को प्राप्त करते हुए उन दोनों (दमयन्ती तथा नल) का नख क्षन करना (नखविलेखन) आनन्दमें हुआ अर्थात् आनन्दप्रद हुआ, क्योंकि दूध या शकर के बनावे हुए पानक-विशेषमें कड़वा भी मिर्चका चूर्ण डालना रुचिकारक होता है । (अथवा—अनेक विध सुरतमें स्त्रलिबीज होते हुए उन दोनोंका नखक्षन करना दूध या शकर के बने हुए पानक विशेषमें कड़ु भी मरिच चूर्ण डालने के समान रुचिकारक हुआ । अथवा—स्त्रलितबीज होते हुए उन दोनोंके अनेकविध सुरतमें रुचिकर नखक्षन करना दूध या शकर के बने पानक-विशेषमें कड़ुरस मरिचके चूर्ण डालना ही (या—चूर्ण डालनेके समान) हुआ) ॥ ११३ ॥

अर्द्धमीलितविलोलतारके सा दृशौ निधुवनक्लमालसा ।

यन्मुहूर्त्तमवहञ्ज तत् पुनस्तुतिरास्त दयितस्य परयत् ॥ ११४ ॥

अर्द्धेति । निधुवनक्लमालसा सुरतश्रमेणावसज्ञा, सा भेमी, मुहूर्त्तं किञ्चित्कालमपि, यत् अर्द्धमीलिते ईषसङ्कुचिते, च ते विलोलतारके चञ्चलकनीनिके चेति ते तादृशौ । 'तारकाऽप्य कनीनिका' इत्यमर । दृशौ नेत्रे, अवहञ्ज अधारयत्, अकारयदित्यर्थः । तत् तादृशीमवस्थामिष्यर्थः । परयत् विलोकयत्, दयितस्य प्रियस्य नलस्य पुन, वृत्ति आकाङ्क्षापूर्त्तिं, न भास्त नासीत् । अतिरमणीयत्वात् पुन पुनरेव तामवस्थां दृष्टं स मुग्धो नल इति भावः ॥ ११४ ॥

सुरतश्रमसे आलस्युक्त वस (दमयन्ती) ने जो कुछ समय तक अर्द्धनिमीलित (आधे बन्द) एवं चञ्चल पुनलियोंवाले नेत्रोंको धारण किया, उसे बार-बार देखते हुए प्रियतम (नल) को वृत्ति नष्ट हुई अर्थात् आलससे अर्द्धनिमीलितनयना दमयन्तीको नष्ट बार-बार बहुत विलम्ब तक देखते ही रह गये ॥ ११४ ॥

तत्क्लमस्तमदिदीक्षत क्षण तालवृन्तचलनाय नायकम् ।

तद्विधाधिभ्रमधूननक्रिया वेधसोऽपि विदधाति घापलम् ॥ ११५ ॥

तदिति । तस्या दमयन्त्या, क्लम आन्ति, त नायक स्वामिन नलम्, यण सणकालम्, तालवृन्तचलनाय व्यञ्जनबीजताय । 'व्यञ्जन तालवृन्तकम्' इत्यमर । अदिदीक्षत दीक्षयति स्म, प्रावर्त्तयदित्यर्थः । तथा हि तद्विध तादृश, त आधि श्रमकातर्यं, तद्भवे तदुद्भूते सन्तापे, धूननक्रिया व्यञ्जनसञ्चालनम्, व्यञ्जनक्रियया

१ 'तद्विधा हि भवदैवत प्रिया' इति 'प्रकाश' सम्मत पाठान्तरम् ।

सुरतश्रान्तिश्रान्तिचेष्टेत्यर्थ । वेधम् जितसर्वेन्द्रियस्य लोकपितामहस्य ब्रह्मणोऽपि, चापल तरलताम्, तत्करणाथं चित्तचाञ्चल्यमित्यर्थ । विदधाति जनयति, क्रिमु-
तान्यस्येति भाव । सामान्येन विशेषमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्याम् ॥ ११५ ॥

उस (दमयन्ती) की यशस्वती ने नन्को कुछ समयनक पछा करनेके लिए दीक्षित किया
अर्थात् सुरतश्रान्त दमयन्तीको देखकर नल पछाते हवा करने लगे, क्योंकि वैसी
(सुरतश्रमजन्य) आधिम उत्पन्न तापमें पक्षेका होंकना (पाठा०—समार (समारमुख
सर्वस्व) की वैसी (दमयन्ती—जैसी परमसुन्दरी) प्रिया) ब्रह्माको भी (हम पछे
होंकनेके लिए) विचलित कर देती है (तो मनुष्य नलके विषयमें क्या कहना है ?) ॥ ११५ ॥

स्वेदबिन्दुकितनासिकाशिश तन्मुख सुखयति स्म नैपथम् ।

प्रोपिताधरशालुयावक सविलुप्ततिलक कपोलयो ॥ ११६ ॥

स्वेदेति । स्वेदबिन्दुकिता सजातधर्मबिन्दुका, नासिकाशिखा नासाग्र यस्य
तादृशम्, प्रोपिताधरशालुयावकम् अघरपानात् प्रमृष्टौघगतालककम्, कपोलयो
गण्डयो, सविलुप्ततिलकं चुम्बनादेव विनष्टविशेषम् । 'तमालपत्रतिलकविघ्नकाणि
विशेषकम्' इत्यमर । तस्या दमयन्त्या, मुखवदनम्, नैपथ मलम्, सुखयति स्म
आनन्दयामास ॥ ११६ ॥

(सुरतश्रमजन्य) स्वेदबिन्दुने युक्त नासिकाग्रभागवान् । (अघरपान करनेके कारण)
अघरस्थित अलक्ष्यने रहित तथा (चुम्बनकरनेसे) तिलक (चन्द्रनादिरचित मन्त्रिकादि
चिह्न-विशेष) से रहित (पाठा०—आधा नष्ट रोमाब्जावले) कपोलोंवाला दमयन्तीका मुख
नन्को सुखी कर रहा था । [वक्तरूप दमयन्तीके मुखको देखने हुए नल परमानन्दित हो
रहे थे । इस श्लोकके पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध भागको परस्पर से परिवर्तितकर पढ़ना चाहिये,
अन्यथा द्वितीय पादमें ही अर्थ-समाप्ति हो जाती है, अतः उपाय-चतुर्थ पादोंकी सङ्गति पुन
द्वितीय पादक साथ करनेसे यहाँ 'समाप्तपुनराप्त' नामक काव्य-दोष होता है] ॥ ११६ ॥

ह्रीणमेव पृथु सस्मय कियत् क्लान्तमेव बहु निर्वृत मनाक् ।

कान्तचेतसि तदीयमानन तत्तदालभत लक्ष्मणमादुरान् ॥ ११७ ॥

हाणमिति । पृथु एव भूविष्टमेव, ह्रीण लज्जितम्, सुरतकालिकनिशाघरणस्मर
णादिति भाव । कियत् क्रिष्टि, सस्मय सगर्व, सुरते कान्त सन्तोषयितुं निज
मामर्ष्यस्मरणादिति भाव । तथा बहु एव बाहुल्येनैव, क्लान्त परिश्रान्तम्, बहुलग्न
व्याप्य सुरतपरिश्रमादिति भाव । ईपत् मनाक्, निवृत सुप्तिनम्, कामवेगस्य
क्रिष्टि प्रगमादिनि भाव । तदीय दमयन्तीसम्बन्धि, तत् उज्जागरादिभावसमा
वेशादिति मनोज्ञम्, आनन मुखम्, तदा तत्काले, सुरतावसाने इत्यर्थ । कान्तचेतसि

१ 'साभिष्टुप्तपुलकम्' इति पादान्तरम् । २ 'सस्मरम्' इति पादान्तरम् ।

३ 'अत्र पूर्वोत्तरार्द्धं व्यत्यस्ते पठनीये, अन्यथा समाप्तपुनराप्तदोषापात' इति ।

नन्दये, आदरात् पुनरपि रमणाग्रहात्, तच्च व्याजम्, उद्दीपकतया पुन सुरदाय हेतु स्वरूपमित्यर्थः । अन्ततः प्राप्नोत्, बहुमतमनुदित्यर्थः । सर्वावस्थामनोहरं ननुस्मरामिति ज्ञाय ॥ ११७ ॥

तम सुरतन्त्रकान्तम् । रतिदानम् किं गये अपन कामचाप्यन्य व्यापारके रमणम्) कृत्वा हा रतिम्, (रतिकान्तम् पतिको सन्नुष्ट करनेकी अपनने शक्ति होनेमें) कुछ गये-महिन (पाठा०—(सुरतकी अधिकलायके रमण जानेमें) कुछ कामोद्दाम), (रतिकान्तम् अधिक कम होनेसे) अनिश्वर कथा हुआ, तथा (कामवेगके कुछ जाने होनेसे) कुछ हुआ दमनकी कृत्वा प्रिय (नर) के चित्तमें आदरमें अथात् रमण करनेके आग्रहमें रहा (वहाता—व्याज) के पाया अथात् वैसे इनदतीके कुछको देखकर नरके चित्तन पुन काम हापन हो गया । (अथवा—नरके विषय में लाहो पाया अर्थात् अधिक ओहनाको प्राप्त किया) ॥ ११७ ॥

स्वेदवारिपरिपूरित प्रियारोमकूपनिबह यथा यथा ।

नैपथस्य दृगपात् तथा तथा चित्रनापटपलृप्पता न सा ॥ ११८ ॥

स्वेदेति । नपथस्य मलस्य, रक् दृष्टि, स्वेदवारिणा घमोदकेन, परिपूरित सम्भृतम्, प्रियाया नन्वा, रोमकूपानां लोमच्छिद्राणाम्, निबह समूहम्, यथा यथा यत यत, यावत् परिमाणेनेत्यर्थः । अपात् पिबति स्म । पिबनेदृष्टि 'गातिस्था—' दयादिना सिद्धा लुम् । सा दृष्टि, तथा तथा तेन तेन, तावता परिमाणेनेत्यर्थः । ६.पलृप्पता पिपासानिवृत्तिम्, न अपत् नाहमत, वितृष्णा नानुदित्यर्थः । इति चित्रम् आश्रयम्, बहुकूपसम्भृतोदकपानेऽपि तृष्णा न अपाता इति विरुद्धमित्यर्थः । लोकोत्तरवस्तुदर्शने तृष्णावर्द्धते एवेति विशेषाभासोऽलङ्कारः ॥

नरकी दृष्टि (नर) ने (सुरतभ्रमजन्य) पनीनेके अलसे परिपूर्ण हुए दमनकाके रामदूर-समूहको जैसे-जैसे अर्थात् जिसकी अधिक मात्राने पान किया (इनदन्ताय रोम-रोमने निकलने हुए पाननेको जिसका हा देखा), तम् (नर-दृष्टि) ने जैसे-वैसे अर्थात् कतना ही अधिक मात्रामें तुलिका नहीं प्राप्त किया अर्थात् सन्नुष्ट नहीं हुए, वह कामप है ।] अधिक अधिक भी प्यासा हुआ व्यक्ति अतकि आदिम पानी पीकर भी पिपासा जानकर सन्नुष्ट हो जाता है, किन्तु ऊपरतक कामे परिपूर्ण दमनकी रोम दूर समूहके (अर्थात्) अत्यधिक पनेपर भा नर-दृष्टिकी पिपासा कनी हो रहा (नहीं शान्त हुए) वह पान करने पर सन्नुष्ट होकर तब पुन पुन देखनेका इच्छा कनी हो रहा है, वह पान विशेषा परिहार है । उच्चरूप दमनकाको बार-बार देखकर नरका काम पुन बढ़ाहा गया] ॥ ११८ ॥

यान्माल्यकच्छस्तसयनन्यस्तहस्तयुगाया स्फुटीकृतम् ।

१ 'वीत—' इति पाठान्तरम् ।

बाहुभूलमनया तदुज्ज्वलं वीक्ष्य मौस्त्यनलप्रौ ममञ्ज म ॥ ११५ ॥

रन्नेति । म नञ्, वान्तम् उट्टीगम्, परियन्मिष्यं । प्रवर्तमानावेगव
मत्तल्लनेनि भाव । 'जान्त' इत्यत्र 'वैत' इति पाठान्तर साधु । मास्त्य हनुम-
प्रव यन नादिशस्य कचहस्तस्य वेशपाशस्य, सयम वन्धने, न्यस्त निवेदिनान्,
हस्तपुग करद्वय यथा नाट्यपादा, वनया भेम्प्या, स्फुटं हस्त हस्तोत्तोलनेन वशी-
जनम्, उज्ज्वल सुन्दरम्, तत् अतिमनोहरम्, बाहुभूल कचदेशम् वीक्ष्य हृष्टा,
मास्त्यल्लप्रौ शानन्दमागरे, ममञ्ज निमग्नोभूत् । बाहुभूलदेशस्य वर्द्धमानता
इति भाव ॥ ११५ ॥

(सवग रति करलेमे) गिरे हुए माताके पुण्योवाचे देश-मनूखे दोनों हाथों में
बाधती हुई इस (दमयन्ती) के द्वारा (उन हाथोंको ऊपर उठाने) प्ररहित भेदक
बाहुभूल (नील) का देशकर वे (नन्) सुलभमुद्रमें हृष्ट गये । [रत्नकाव्यमें देशते
माताके हाथोंके गिरने तथा देशोंके सुख जाने पर उन देशोंकी बाधने समस्त हाथोंको ऊपर
उठानेके उपाये बाहुभूलको देशकर नन्को अनिष्टय सुख हुआ] ॥ ११५ ॥

वीक्ष्य पत्युरधर कृशोदरी बन्धुजीनमिभ भृङ्गसङ्गतम् ।

मञ्जुल नयनकव्जलैर्निजैः सवरीतुमराकन् स्मित न सा ॥ १२० ॥

वीक्ष्येति । कृशोदरी क्षीणमध्या, मा दमयन्ती, मञ्जुल मनोहरम्, पत्यु नल्लय,
धधर दृशानन्दम्, निज स्वके, नयनकव्जलैः नेत्राभ्रने, नेत्रचुम्बनसङ्क्रान्तेरिति
भाव । भृङ्गमद्गतम् अतिबुद्ध्युत्तम्, बन्धुजीव बन्धुकपुष्पम् इव स्थितम् वीक्ष्य
हृष्टा, मित्र मन्दहास्य, सवरीतु निरोद्धुम्, न वसकत् न वाक्काऽभूत्, हास
प्रसक्त प्रेति भाव ॥ १२० ॥

कृशोदरा (पतली बटवानी) वइ (दमयन्ती) अपनी औंठाके कज्जलमे मनोहर
(नल एव) अमरहुत्त बन्धुकपुष्प (दुपहरियाका फूल) के समान, पतिके धधरको देखकर
सुखानको नहीं रोक सकी । [रतिवाचमें नलने दमयन्तीके नेत्रका चुम्बन किया था, अब
उमरा बाज्ज उनके धधरमें लगकर ऐसा मान्ता पड़ना था कि दुपहरियाके फूलपर अमर
बैठा हो, उन दमयन्ती अपने मुस्कानको नहीं रोक सकी, किन्तु सुख देखकर घटा
सुन्दरा हा दिया] ॥ १२० ॥

ता त्रिलोक्य विमुखश्रितस्मिता पृच्छतो हसितहेतुमीशितु ।

ह्रीमती व्यतरदुत्तं वधू पाणिपङ्कुरहि दर्पणार्पणाम् ॥ १२१ ॥

तामिति । ता दमयन्तीम्, विमुख परादमुख यथा तथा, श्रितस्मिता ह्वामन्द
हामाम्, त्रिलोक्य हृष्टा, हसितहेतु स्मितकारणम्, पङ्कुर शिवालय, रणितु
पङ्क नल्लय, पाणिपङ्कुरहि करपदे, ह्रीमती लज्जावती, वधू नदीटा शोमी, दर्पणा
पङ्का मुखप्रदानरूपमेव, उत्तर व्यतरस् अदात् । अधेर कज्जलेशादर्शनायमिति
भाव ॥ १२१ ॥

मुख फेरकर मुग्धरात्री हुई उस (दमयन्ती) का देखकर मुस्तुरानेका कारण पूछते हुए पनिके हस्तज्मलमें म्जावती बधू (दमयन्ती) ने दर्पण (देकर उत्तर) दे दिया अर्थात् स्वयं लुप्त नहीं रहकर मुक्त देखनेके लिए उनके हाथमें दर्पण दे दिया ॥ १२१ ॥

लाक्ष्याऽऽत्मचरणस्य चुम्बनाच्चारुभालमवलोक्य तन्मुखम् ।

सा ह्रिया नतनताननाऽस्मरच्छेपरागमुदित पतिं निश ॥ १२२ ॥

लाक्षयेति । सा भैमी, आत्मचरणस्य निजपादतलस्थ, चुम्बनात् रतिप्रार्थनाकाले ललाटे एव स्पर्शकरणात् हेतोः, लाक्ष्या अवलोकनेन, निजचरणाच्छकृत्स्पर्शमित्यर्थः । आरुभाल इत्यललाटम्, तस्य नलस्य, मुखम् आननम्, अवलोक्य दृष्ट्वा ह्रिया भर्तृकर्मचरणपतनस्मरणजलजया, नतनतानना अतिमग्नमुखी सती, उदित प्राणोदयम्, शेपराग तदानीमपि किञ्चिदवशिष्टलौहित्यम्, निश निशाया । 'पद्मन्तोभास्—' इत्यादिना निशाया निरभाषः । पतिं नाथ चन्द्रम्, अस्मरत् स्मृतवती ललाटस्य भर्तृचन्द्रावृत्तित्वात् तत्र निजपादालच्छकृत्स्पर्शाच्च मुखस्य तादृशचन्द्रतुल्यत्वमिति भावः । स्मरणात् द्वार ॥ १२२ ॥

(प्रणयकूपित दमयन्तीको प्रसन्न करनेके लिए उसके चरणपर गिरकर रमणसे, पा- 'पथिनी' बाताया दमयन्तीका 'पद्मदन्ध' नामक आसन-विशेष करके रमण करनेसे) चुम्बन (छूने) से अपने (दमयन्तीके) चरणोंके लाक्षारस (महाकर) से सुन्दर ललाटवाले नल मुकुटको देखकर (वन समयकी अपनी धृष्टका स्मरण होनेके कारण उत्तरा हुई) लज्जाने अनिश्चय नाचे मुखकी दूर उस (दमयन्ती) ने थोड़ी बची हुई लाहिमावाड़े उदित निशापति (चन्द्रमा) का स्मरण किया । [दमयन्तीके चरणालक्षक रसमें रक्तवर्ण ललाटवाड़े प्रियमुख को देखकर इष्टदत्तवा चन्द्रमाका देखनेसे जिनका प्रसन्नता होती है, वगैरी प्रसन्नता हुई । इष्टदत्तवर्ण नलका ललाट इष्टदरुणिमायुक्त भर्तृचन्द्रवत् सुन्दर था] ॥ १२२ ॥

स्वेदभाजि हृदयेऽनुविम्बित वीक्ष्य मूर्त्तमिव हृद्गत प्रियम् ।

निर्ममे धुतरतश्रम निजेहानताऽतिमृदुनासिकानिलै ॥ १२३ ॥

स्वेदेति । स्वेदभाजि शिबन्ने, हृदये वक्षसि, अनुविम्बित प्रतिबिम्बितम्, अन एव हृदय नियतचिन्तया हृदयावस्थितम्, चिन्तनीयत्वादमूर्त्तमपीति भावः । प्रिय कान्ति नलम्, मूर्त्तं मूर्त्तिमन्तमिव, नीक्ष्य दृष्ट्वा, हीनता लज्जामयनता, दमयन्तीनि शेषः । निजै स्वीये, अतिमृदुमि अति कोमले, मन्दवेगैरित्यर्थः । नासिकानिलै नि धाममारुते, धुत निरन्तर, रतश्रम सुरतजनितकलम यस्य तादृशम्, निर्ममे चकार, इवेति शेषः । तस्य श्रममपनुदतीव स्थिता हर्युपेक्षा ॥ १२३ ॥

स्वेदयुक्त अपने हृदयमें प्रतिबिम्बित (अन एव निरन्तर चिन्तन करनेसे) हृदयस्थ प्रिय (नल) को भूमिमान्के समान देखकर लज्जाने नग्नमुखी उस दमयन्तीने अपने अनिश्चय मन्द निद्रावासायुक्त [सुरतमें उत्तम] भगसे रश्मि सा कर दिया । (अपवा—

(नन्हे के लम्हाटने अपने चरणका मशवर लगा हुआ देखकर सुरतकालकी अपनी धृष्टताका स्मरण होनेसे उत्पन्न) लज्जामे नतमुखी दमयन्तीने स्वेच्छुक अरने दृश्यमें) । [लज्जान्न नमिकाको शर्मका हृदयस्व प्रियके शर्मका दूर करना उचित ही है । वैसी दमयन्तीको देखकर नल सुरतश्रमरहित होकर इर्षित हो गये तथा वेने प्रिय नलको देखकर दमयन्ती भी अपने मन्द मन्द निद्रास छोड़ने लगी] ॥ १२३ ॥

मूलमायकनिदेशविभ्रमैरप्रतीततरवेदनोदयम् ।

दन्तदशमधरेऽविगामुका साऽस्पृशन्मृदु चर्मचकार च ॥ १२४ ॥

सूनेति । सा भैमी, सूनमायकस्य पुष्पगणस्य, कामस्येत्यर्थः । निदेशविभ्रमै आशाविलासै, अप्रतीततर अतिशयेनाज्ञात, 'अप्रतीततर' इति पाठ साधु । अप्रतीततर पूर्व किमपि अज्ञात इत्यर्थः । वेदनादय इत्योत्पत्ति यस्मिन् त तादृशम्, मदनपारवरयात् प्राक् अज्ञानमानदुःखमित्यर्थः । अधरे निजोष्ठं, दन्तदश नलस्य दन्तेन दशनम्, अधिकामुका जानती, वेदनया अनुभवन्ती सती । 'छप-पन—' इत्यादिना उक्तम्, 'नलोक्त—' इत्यादिना पट्टीप्रतिषेधः । मृदु मन्द यथा तथा, अस्पृशत् करतलेन दन्तदश परामृशदित्यर्थः । चर्मचकार च किमेतत् ? कदा जातमिति साक्षर्या बभूव च ॥ १२४ ॥

कामादाके विलासोत्ते पूर्वानुभवरहित वेदनावाके दन्तदशनको । समय अर्थात् सुरतके अन्तर्मे जाननी हुई वह (दमयन्ती) धीरेसे दर्शन का और आशयित हो गयी । [सम्मोगशर्मा में नलके द्वारा किये गये अशर-दशनका पीछाका अनुभव दमयन्तीको नहीं हुआ, किन्तु सम्मोगके बादमें जब अशुलिने अशरका स्पर्श किया तो उसको पीछासे वह सहसा आशयित हो गया कि—अरे ! यह कब तथा कैसे हुआ ?] ॥ १२४ ॥

वीक्ष्य वीक्ष्य करजस्य विभ्रम प्रेयसाऽजितमुरोजयोरियम् ।

क्रान्तमैक्ष्ण हसस्पृश कियत्कोर्पसङ्कुचितलोचनाञ्जला ॥ १२५ ॥

वीक्ष्येति । इय भैमी, प्रेयसा प्रियतमेन नलेन, अर्जितम् उत्पादितम्, कृतमि त्यर्थः, उरोजयो निजकुचयो, करजस्य विभ्रम नलवचनरूप विलासम्, वीक्ष्य वीक्ष्य दृष्ट्वा दृष्ट्वा, कियत् किञ्चित्, कोपेन रोषेण, सङ्कुचिती कुटिलीकृतौ, लोचनाञ्जलौ नेत्रप्रान्तौ, कटाक्षावित्यर्थः । यया मा तादृशी सती, इसहास्यम्, स्पृशति परामृश्य तानि हसस्पृश हसन्तम्, क्रान्त नलम्, ऐक्षत दृष्टवती ॥ १२५ ॥

१ 'सूनमायक—' इति पाठान्तरम्, तत्र 'कामस्य' पुष्पनायकस्य कथमिति विचार्य सुधीभिः । २ 'अत्र 'चर्मकृता क्रियत' इति 'जीवातु' सम्मत पाठः' इति म० म० शिवदत्तशर्माणः । ३ 'कोपकुञ्जितविलोचनाञ्जला' इति 'प्रकाश' सम्मत पाठान्तरम् । अत्र म० म० शिवदत्तशर्माणः—'कोपसङ्कुचितलोचनाञ्जलाम्' इति जीवातु' इत्याहुः, परमत्र द्वितीयान्त कथमिति त एव जानन्तु ।

इस (दमयन्ती) ने प्रियतम (नल) के द्वारा किये गये दोनों स्नानोंपर नखोंके विनास
अर्थात् नखक्षनको देख देखकर अर्थात् बार-बार देखकर थोड़े क्रोधसे सङ्क्षिप्त (अङ्गनिनी
लिन) नेत्रवाली होती हुई हँसने हुए पनि (नल) को देखा ॥ १२५ ॥

रोपभूषितमुखीमिव प्रिया वीक्ष्य भीतिदरकम्पिताक्षरम् ।

ना जगाद स न वेक्षि नन्वि । न ब्रूहि शास्मि तव कोपरोपकम् ॥ १२६ ॥

रोपेति । स नल, ता पूर्वोक्तरूपकोपमङ्कुचितलोचनाञ्जलाम्, प्रिया दमयन्तीम्,
रोपेण कोपेन, भूषितमुखीम् आरक्तवर्णतया अलङ्कृताननामिव, स्थितामिव शेष ।
वीक्ष्य विलोष्य, भीया भयेन, दरकम्पिताक्षरम् ईपञ्जलाक्षर यथा तथा, जगाद
उवाच । किमिति ? तन्वि । हे कुशाग्रि !, तव ते, कोपरोपकक्रोधजनकम्, जनमिति
शेष । न वेक्षि न जानामि । तस्मै अपराधिन् जनम्, ब्रूहि कथय । शास्मि दण्ड
यामि । अहमिति शेष ॥ १२६ ॥

(पूर्व (१८।१२५) श्लोकानुसार) मानो क्रोधने भूषित (पाठा०—(भ्रूमहादिके
कारण) क्लृप्त) मुखवाणी (वस्तुतः क्रोधरहित) प्रिया (दमयन्ती) को देखकर उस (नल) ने
उम (दमयन्ती) से भयसे गद्गद बचन कहा—‘हे तन्वि । मैं नहीं जानता हूँ, उसे कहो, मैं
तुम्हारे क्रोध उत्पन्न करनेवाले व्यक्तिको दण्डित करूँ (पाठा०—हे तन्वि । मैं उसे नहीं
जानता हूँ कि तुम्हारे क्रोधको किसने उत्पन्न किया ? अर्थात् किसके अपराध करनेसे तुम्हें
क्रोध हुआ ?) । [‘नहीं जानता हूँ’ ऐसा कहकर नल स्वयङ्कृत नपक्षतरूप अपराधको
दमयन्तीमें छिपाकर अस्त्य भाषण करने हे । उपहान बचन होनेसे ऐसा करनेपर नलको
अनस्य भाषणका दोष नहीं लगता हे] ॥ १२६ ॥

रोपकुङ्कुमयिलेपनान्मनाक् नन्ववाचि कुशतन्ववाचि ते ।

भूवयुक्तसमयैव रञ्जना माऽऽनने विधुरिधेयमानने ॥ १२७ ॥

रोपेति । ननु भये ! कुशतनु ! क्षीणाग्रि ! सस्वद्वौ नदीहस्व । अवाचि अव
नते । अवपूर्वाद्भवते छिन् । अवाचि वाचयमे, वाराधिरहिते इत्यर्थ । तथा विधुरा
चन्द्रेणादि, विधेया वर्त्तव्या, मानना पूजा यस्य तादृशे, विधोरपि दृष्ट्ये इत्यर्थ ।
ते तव, आनने मुखे, अयुक्त अनुचिन्त, समय कालो यस्या तादृशे, रमणाकाङ्क्षाया
अपरितृप्त्येन इदानीं प्रसरताया पूर्वोक्त्यादिति भाव । रोप कोप एव, इङ्कुम
कादमारजम्, तस्य विलेपनात्‘भृतेपादेतो, मनाक् ईषदपि, रञ्जना रक्तिना, मा भू
एव न भयक्षेव । निष्पल्लवे मुखे रोपकलङ्कस्य नेदानीं काट इति निन्द्य ॥ १२७ ॥

(नन्वे और भी कहा कि)—हे कुश शरीरवाली । हे (क्रोधके कारण) मीन धारण
को हुए । नम्रोभूने । इ (अपनी अदेशा तुम्हारे मुखके अनिश्चय सुन्दर होनेसे) चन्द्रमा

१ ‘—रूपित—’ इति ‘प्रकाश’ सम्मत पाठ । २ ‘कक्षकार तव कोपरोपणम्’
इति ‘प्रकाश’ कृता ध्यात्वाय ‘ब्रूहि शास्मि तव कोपरोपणम्’ इति पाठान्तरमुक्तम् ।

द्वारा माननाये (प्रिये) । तुम्हारे मुखपर अग्राप्त समयवाला अर्थात् अक्षामपिही, कोपलरी कुट्टरदे- एमे थोड़ी सी लालिमा न होवे अर्थात् हम इस प्रसन्नताके समयमें कोप मत करो । अथवा—निष्कलङ्क अपने सुखपर अक्षामधिक रोषकलङ्क लाकर उसे दूषित मत करो अर्थात् मैंने यह कोप अपराधका कार्य नहीं किया है, अब सब अक्षामधिक लोभमे मुझको लाल मत करो । अथवा—यह सम्मोहा समय । अत्रि है, कोपका समय नहीं है, अब सब इस समय कोप मत करो । अथवा—तुम्हारा मुख चन्द्रमाके सी अधिक सुन्दर है, इसी कारण वह तुम्हारी मानना (आदर) करना है, अब एक यदि कोपल्ले मुख करो तो वह चन्द्रमाके हीन कान्तिवान् हो जायगा, अब सब यह कोप का समय नहीं होनेसे उसे छोड़ दो । अथवा—हानिकारमें उपायप्रकृतिक कुट्टमने सुखलक्षित किया आता है, इस वस्तु कालमें तो स्वयं चम्पनही पाण्डुग ही सुलको शोभित करेगी, अब सब कोप-कुट्टमने सुलको रञ्जित करनेका समय नहीं है, वैसा (कोपमे, पाठा०—कुट्टमने) मुखको रञ्जित करना छोड़ दो] १२७ ॥

अप्रमत्त्यत् नृजा नरपादिजास्तात्रकीरमृतशीकर किरत् ।

एतदर्थमिदमजित मया कण्ठचुम्बि मणिश्रम कामदम् ॥ १२८ ॥

क्षिप्रमिति । हे प्रिये ! कण्ठचुम्बि मल्लेशविजिगि, कामदम् अभीष्टपूरकम्, इव हरयमानम्, मणिश्रम रत्नमालिका । कर्तुं । अमृतशीकर सुधाबिन्दुम्, किरत् वर्षत् मत्त, नरपादिजा लघ्वन्तच्छतादिश्रम्या, तावको रत्नीया, नृजा पीडा, मित्रादिवाद्दृष्ट्यय । क्षिप्र शीघ्रम्, अत्यन्त दूरीकरोतु, मया एतदर्थं [वृत्तादिश पीडानिरामार्थम् एक, अजित सत्त्वगृहीतम्, इव मणिश्रमेति शेष ॥ १२८ ॥

(नाने दमयन्तीने पुन कहा—) कण्ठमें लटकती हुई, इन्टा (मन्तरथ) को दूरी करनेवाला यह मणिश्रम अमृतशीकरों के समान होता है । अथवा (दन्तके क्षण) में नरपक्ष तुम्हारी पीडाको शीघ्र क्षान्त कर दे, इसी वाक्ये (नन्तम् एव दन्तदृशमे क्षणम् तु शरी पीडाका क्षान्त करनेका स्थिति है) नाने इसका सन्तुष्ट किया है । पाठा०— दूरी करने वाला, सुलक्षित इस (नन्तदृशमे तथा दन्तदृशमे तुम्हारी पीडाको दूर करने) के स्थिति मणिश्रम मियाकी नन्तदृशमे तथा दन्तदृशमे क्षणम् पीडाको शीघ्र दूर कर दो ऐसा) अब सब अमृतशीकरों के समान । वास्तविक, इव नन्त आदि (दन्तदृशम्) में नन्तदृशमे पीडाको क्षान्त कर दे । १२८

स्थापराधमलुपन् पथोधरे मत्कर सुरधनु करस्तम् ।

सैत्रया वननचालनाम्वा भूय एयं चरणीं नरोतु वा ॥ १२९ ॥

सैत्रि । हे प्रिये ! तव ते, पथोधरे स्तने मेघे च । पथोधरे कोपकारे नाजिके स्तनेऽपि च । करोस्मेघयो पुमि इति मेदिनी । सुरधनु इन्द्रधापाह्नि नागाङ्गम्,

इन्द्रचापञ्च करोतीति तादृश । 'दिवाविभा—' इत्यादिना टप् यय' । मक्षर मम पाणि , कर सूर्यकिरणश्च, व्यजनस्य तादृशवृन्तस्य, चालनया सचालनेन, वायुप्रवाहणेन च, भवति सम्पादयतीति तादृशया, मेवया परिचर्यया, स्वापराध नखघत करणजनितनिजदोषम् , अलुपत्तुनोद, प्रायेवेति भाव । लुम्पे लुदिवात् स्तेरदा देश । भूय एव पुनरपि, चरणौ वा तव पादौ वा, करोतु धातुनामनेकार्थत्वात् मेरुनामित्यर्थ । मामान्ये विदोषलक्षणा ॥ १२९ ॥

(नन्ते दमयन्तीसे पुन वहा कि—हे प्रिये !) तुम्हारे स्तन पर (पक्षा०—मेघमें) इन्द्रधनुष (रक्तवर्ण पक्ष बकाकार होनेसे इन्द्रधनुषतुल्य नखघत) का करनेवाला मेरा हाथ (पक्षा०—सूर्य किरण) पक्षा झलनको मेघामें पहले हा अपने (नखधनुषरूप) अपराधको नष्ट कर दिया, अथवा फिर भी दोनों चरणोंको दबावे अर्थात् दबाकर अपने अवशिष्ट अपराधको भी नष्ट करे । [अथवा—चरणोंको भस्मोगार्थ ऊपर उठावे । अथवा—अनेक बगोवाले रतनोंसे जड़ी टुह जंगलियोंसे युक्त मेरे हाथने तुम्हारे स्तनपर इन्द्रधनुषकी बनाया है, अथवा—पयोधर (स्तन) पर सम्भोगकालमें रक्तवर्ण, बक नखधनुषरूप इन्द्रधनुष बनाया है तथा पक्षा०—मेघमें इन्द्रधनुष बनाया है, अत एव (कमल रत्नकिरणोंमें इन्द्रधनुष बनाने पर पीड़ा होनेसे, अथवा—सम्भोगकालमें नखधनुष करना दूषित नहीं होनेसे, अथ च पक्षा०—मेघमें इन्द्रधनुष बनाना दोषकारक नहीं होनेसे) मेरे हाथने कोई अपराध ही नहीं किया था, तथापि यथाकर्माश्रित अपराध किया माननेपर भी पक्षा झलकर सेवा करनेसे उस हाथने उम अपराधका परिमार्जन कर दिया, इतनेपर भी यदि तुम क्रोध करती हो तो अह वह हाथ तम्हारे पैर दबाकर (पैरोंपर पटकर) अपने अपराधका मार्जन कर ले, क्योंकि पैरोंपर पड़नेसे नो बड़े अपराधका भी मार्जन हो जाता है, अत वैसा करनेके लिए मैं तैयार हूँ, इस कारण तुम क्रोध मत करो] ॥ १२९ ॥

आननस्य मम चेदनीचिती निर्दयं दशनदशदायिनः ।

शोध्यते मुदति ! वैरमन्य नत् किं त्वयाट्ट चिदश्य नाधरम् ? ॥१३०॥

आननस्येति । हे प्रिये ! निर्दय निष्कृप यथा तथा, दशनदश दन्तेन दंसनम् , वृदति करोतीति तादृशस्य, ते अधर दष्टवन इत्यर्थ । मम आननस्य मममुनस्य, अनीचिती अन्यायता, चेत् यदि तर्हि हे मुदति ! सुन्दरदशने । त्वया भवया, अधर मम ओष्ठम्, विदरय—दष्टा, दन्तघत कृत्वेति यावत् । अस्य मदाननस्य, तत् पूर्वोक्तरूपम्, वैर शत्रुता, किं कथं शोध्यते ? न निर्यात्यते ? न प्रतिक्रियते ? इत्यर्थ । वद तत् कथय । महाननदशस्य प्रतिदशनमेव प्रतीकार इति भाव ॥१३०॥

ददि निर्दयतापूर्वक दन्तदशन करनेवाले मेरे मुखका अनुचित कार्य है तो हे मुदति ! इस (मेरे मुख) के अधरको सम्मूक रूपसे दशनकर टसका बटका क्यों नहीं चुका लेगी ? कहो ॥ १३० ॥

दीपलोपमफलं व्यवत्त 'यस्ते पटाद्वितिपु मच्चिद्विखामणि' ।

नो तदागसि पर समर्थना सोऽयमस्तु पदपातुकम्पनम् ॥ १३१ ॥

दीपेति । हे प्रिये । ते तव, पटाद्वितिपु वज्राकर्पणकालेषु, य मच्चिद्विखामणि मम चूडारत्नम्, दीपलोप स्वकर्तृकदीपनिर्वाणम्, अफल व्यर्थम् व्यथत चकार, स्वप्रभया आलोकोत्पादनात् नव प्रयत्न निष्फलीचकार इत्यर्थः । तदागसि तस्मिन् अपराधे, परम् उत्कृष्टम्, समर्थना अनुमोदनम्, तदपराधस्य यौक्तिकत्वमर्थनमि-त्यर्थः । नो न, अस्तीति शेषः । अत एव स अयं शिखामणि, तव ते, पदपातुक-पादपाती 'लपत—' इत्यादिना उक्तम् । अस्तु भवतु । प्रणिपातेन पदपराधप्रमा-र्जनं करोतु इत्यर्थः ॥ १३१ ॥

चिन मेरे मुकुटमणिने तुम्हारे बखोंके अपहरण करने (इतने) मैं (अपनी प्रमाने) दीप तुम्हारे व्यर्थ कर दिया, उस अपराधमें कोई समर्थन नहीं है अर्थात् यह मुकुटमणि अपने किये हुए उस कार्यको किसी प्रकार उचित नहीं प्रमाणित कर सकना, अत एव वह (मुकुटमणि) तुम्हारे चरणोंपर गिरे अर्थात् अपराध-नार्जनका दूसरा कोई उपाय नहीं होनेसे तुम्हारे चरणोंपर गिरकर ही अपने पूर्वोक्त अपराधको क्षमा करावे [क्योंकि लोकमें भी कोई अपराधी अपने अपराधको चरणोंपर गिरकर क्षमा-वाचना करता है तथा मनुजन लोग उसे क्षमा भी कर देने हैं, अत एव चरणोंपर गिरनेसे तुम्हें भी इसके अपराधको क्षमा कर देना चाहिये] ॥ १३१ ॥

इत्थमुत्तिमुपहृत्य कोमला तल्पचुम्बिचिकुरश्चकार स ।

आत्ममौलिमणिकार्त्तभङ्गिनीं तत्पदारुणसरोजसङ्गिनीम् ॥ १३२ ॥

इत्थमिति । स नल, इत्थम् उक्तप्रकारम्, कोमला ललितपदाम्, उक्लिंषाणीम्, उपहृत्य उपायनीकृत्य, तस्या मन्तोपविधानाय उपशौकनवत् प्रयुग्ये-त्यर्थः । तल्पचुम्बनं शय्यास्पर्शिन, मन्त्रकनमनादिति भावः । चिकुरा हृदयका यस्य स तादृश मन्त्र, आत्ममौलिमणिकार्त्तं निजशिरोरत्नप्रभा एव, भङ्गिनी तरङ्गिणी, तरङ्गप्रवाहवत् कुटिलमया प्रसरगात् नदीत्यर्थः । ताम्, तपदे भ्रमैश्चरणावेव, अरुणसरोजं कोकनद्वयम्, तत्सङ्गिनीं तद्युक्तम् चकार सिद्धे । तराद्वयो-र्ममश्चकार इत्यर्थः । नद्यो ह रत्नमौलिमणिललादियुक्ता भवन्तीति प्रसिद्धिः ॥ १३२ ॥

इम प्रकार (१८।१२६-१३१) मृदु वचन कहकर (प्रार्थना करने) मुद्राका स्पर्श कर रहा है केश ब्रिसका ऐसे उस (नल) ने अपने मुकुटमणिोंको कान्तिस्विनी नदीको कम (दमयन्ती) के चरणरूपी रत्नकनलमें युक्त कर दिया । [उक्त मृदुवचन कहनेके उपरान्त नल दमयन्तीके चरणोंपर नम्र हुए नों उनके केश पञ्चको छूने लग तथा उनके मुकुटमणिोंकी कान्ति दमयन्तीके अरुणा चरणोंपर फैल गयी ता ऐसा नाजुम पहना था कि

१ 'यस्त्वत्पदा—' इति पाठान्तरम् ।

रत्नकान्तिकृष्णी नदी चरणरूप रक्तकमलसे युक्त हो रही है । नदीमें रक्तकमलका होना उचित ही है । ऐसा मृदु वचन कहकर नलने पल्लवर बैठी हुई दमयन्तीके चरणोंको नगमस्पर्क होकर पणाम किया] ॥ १३२ ॥

तत्पदाखिलनखानुबिम्बनै स्वै समेत्य समतामियाय स ।

१रुद्रभीतिविजिगीषया रतिस्वामिनोपदशमूर्त्तितामृता ॥ १३३ ॥

मदिनि । म नल, स्वे आत्मीयै, तस्या दमयन्त्या, पदयो चरणयो, अवि लेपु ममग्रेषु, दशस्वेवेति यावत् । नखेषु अनुबिम्बने प्रतिबिम्बे, समेत्य मिलित्वा, दशभि मेलनेन एकादशसङ्ख्याको मूर्त्तिवैयर्थ्य । रुद्रेभ्य एकादशभ्य रुद्रदेवताभ्य, भीते भयस्य विजिगीषया जेतुमिच्छया, मयान् परित्रानुमिच्छया इत्यर्थ । उप समीपे दशानाम् उपदशा एकादश इत्यर्थ । 'सङ्ख्याभ्यया-' इत्यादिना बहुव्रीहौ समाप्तान्तो ङच् ङितोपपन्न । मूर्त्तय यस्य तस्य भाव तत्ता ता विमर्सीति तादृशेन, रतिस्वामिना कामेन, समता मादरयम्, इयाय प्राप । एकादशरुद्रजिगीषया एका दशमूर्त्तिधारी माहात काम इव अलक्ष्यत इत्युत्प्रेक्षा ॥ १३३ ॥

(पणाम करने हुए) उस (नल) न उप (दमयन्ती) के दोनों चरणोंके सब (दशों) नखोंमें अपन प्रतिबिम्बोंमें युक्त होकर रुद्र (महाकोपी शिवजी) के मय (पाठा— बाहुवचना अर्थात् एकादश सरया) को जीतनेकी इच्छामें ग्यारह मूर्ति धारण किये हुए कामदेवकी समानताको प्राप्त किया । [जब नल दमयन्तीको प्रसन्न करनेके लिए उसके चरणोंपर गिरे, तब उसके चरणोंके दशों नखोंमें नलका प्रतिबिम्ब पड़ गया, वह देता मालूम पड़ता था कि ग्यारह रुद्रोंको अकेला जीतना असंभव मानकर उनमें डरे हुए कामदेवने भी ग्यारह (१० प्रतिबिम्ब तथा १ स्वयं कुल ११) रूप धारण कर लिया हो । इससे नलका माक्षाकामदेवतुल्य होना तथा दमयन्तीके चरणनखोंका रत्नवत् निमल होना सूचित होता है] ॥ १३३ ॥

आख्यतेप कुरु कोपलोपन पश्य नश्यति क्रुशा मधोर्निशा ।

एवमेव तु निशान्तरे वर रोपशेषमनुरोत्स्यसि क्षणम् ॥ १३४ ॥

आख्यतेप इति । हे प्रिये ! कोपस्य क्रोधस्य, लोपन सहरणम्, कुरु विशद्वि, क्रोधपरित्याग इत्यर्थ । यत् क्रुशा क्षीणा, अक्षपपरिमाणा इत्यर्थ । मधो वस-
भ्याम्, निशा रात्रि, नश्यति अपाच्छति । पश्य अवलोक्य निशान्तरे तु अन्यस्या राक्षी पुन, एवमेव इत्यमेव, उण णमात्रम्, न ॥ चिरमिति भाव । रोपशेषम् अवशिष्टशेषम् अनुरोत्स्यसि अनुसरिष्यसि, वर तत्त् किञ्चित् प्रियम्, एव एव, सागयत इति आह रम । चक्षिष्टो लुब्ध कयाप्रादेशे तट्, 'अस्यनिवृत्तिपातिभ्यो-
ऽट्' इति स्तेरछादेश ॥ १३४ ॥

(इस प्रकार दमयन्तीके चरणोंपर गिरकर) नलने कहा—‘कोपको छोड़ो, देखो, वसन्तकी छोटी (कुठ शेष रहनेमें थोड़ी, या शीतकालकी अपेक्षा छोटी) रात्रि नष्ट हो (व्यथमें हो बीत) रही है, (६५ एव) फिर दूसरी (आगामिनी—अगले दिनकी, या—शोणकालकी) रात्रिमें इसी प्रकार (पाठा०—इसा) बचे हुए कोपको क्षणमात्र करना, (७५ वमा कुठ ठीक भी होगा) । [दमयन्तीके चरणप्रतिपन्न होने के बाद—आजकल वसन्त ऋतुकी रात्रि एक तो शेष छोटी होगी है तथा दूसरे वह योगी ही शेष रह गयी है, अत एव इस समय कोप छुटकर सम्मोहार्य प्रसन्न होगी, हा, इस प्रकार कोपको तम भले ही जिसा दूसरी (शीतकालकी बड़ी, या कल-परमो आदिदा) रात्रिमें कर लेना तो बड़े कुछ ठीक भी होगा, अन्यथा यदि आज ही सब कोप करके उसे समाप्त कर दोगी तो दूसरी रात्रि में कहोते कोप करोगी, अत एव भविष्य के लिए भी कुछ कोपकी बचा रखना उचित है] ॥

साध नाथमनयत् कृतार्थता पाणिगोपितनिजाङ्घ्रिपङ्कजा ।

तत्प्रणामधुतमानमानन स्मेरमेव सुदती वितन्वती ॥ १३४ ॥

सेति । अथ प्रियप्रणामानन्तरम्, पाणिभ्यां कराम्भ्याम्, गोपिते तच्चिह्न स्पर्शं भयात् ह्यदिते, निजाङ्घ्रिपङ्कजे स्वीयपादपद्मयुगलं यथा तादृशी, सुदती सुन्दर दन्तशालिनी, मा भेमी, तस्य नलस्य, प्रणामेन पादपतनेन, धुतमान दूरीभूतकोपम्, अपगतकोपबिह्वलमित्यर्थ, आनन स्वमुखम्, स्मेर सम्मितम्, वितन्वती पृथ कुर्वती पृथ, नाथ स्वामिन नलम्, कृतार्थता पूर्णकामम्, अथयत् प्रापितवती ॥ १३५ ॥

इस (नलके प्रणाम-प्रियभाषण) के बाद हाथोंसे अपने चरणकमलों को ठकनी हुई सुन्दर दोनोंबाणों वम (दमन-वा) ने उस (नल) के प्रणामसे मानरहित मुखको स्पर्श युक्त करती हुई अर्थात् मुक्कुराणी हुई स्वामी (नल) को कृतार्थ कर दिया । [‘स्वामीके मस्तकका मेरे चरणोंसे स्पर्श न हो’ इस लिए अपने चरणोंका दोनों हाथोंसे दमयन्ताने ठक लिया तथा मान छोड़कर मुक्कुराणी हुई नलको कृतकृत्य कर दिया । उसके वक्त व्यवहारसे नलको अपार हृदय हुआ] ॥ १३५ ॥

तौ मिथोरतिरसायनात् पुनः सम्बुभुक्षुमनसौ बभूवतु ।

चक्षमे न तु तयोर्मनोरथ दुर्जनी रजानिरल्पजीविता ॥ १३६ ॥

ताविति । तौ भेमीनर्त्ता, मिथ अन्योजन्यम्, रति अनुराग एव, रसायन जरा विज्ञानावसादनाशकौषधविशेष तस्मात्, ‘यज्ञान्वाधिविभवसि भेषजतद्रसाग्रम्’ इति चाग्रभटोक्ते । प्रथमसुरतजावसादनाशकौषधविशेषमेव पुनः प्रवृत्तिहेतोः, पुनः भूय, सम्बुभुक्षुर्गाम्भोऽनुमिच्छन्तौ, मनमोचितेययोः तादृशो सम्मोक्षकामो, बभूवतु जज्ञाते । ॥ किन्तु, दुर्जनी दुष्टजन्मा, परसुसह्येष्टिवादिति भावः । अल्प जीविता वसन्तरात्रीणाम् अतिदृष्टत्वात् अधिरस्यायिनी, अर्द्धपायुष्का च, रजनि

१. ‘जीवना’ इति पाठान्तरम् ।

रात्रि काचित स्त्री च, तयो दम्पत्यो, मनोरथम् अमिलापम्, न चचमे न सेहे ।
शीघ्रमेव अवमितत्वात् विष्णाचरणाच्चेति भावः । दुर्जन परशुभासहोऽल्पजीवी चेति
युक्तम् । रात्रे धरुपावशिष्टत्वात् तयो पुन सम्भोगवान्छा न पूर्ण इति तात्पर्यम् ॥

वे दोनों (नर तथा दम्पत्या) परस्परमें रतिक्रियो रसावन (दौवत्यादि-नाशक दोष
वारक औषध-विशेषके सेवन) से फिर सम्भोग करनेके इच्छुक हो गये, किन्तु दुष्ट जन
वाला तथा दोला जीविनवाली अर्थात् थोटी बची हुई (पक्षा-—थोटी आयुवाली) रात्रिने
उन दोनोंके मन रखको नदी महा अर्थात् थोड़ी रात्रि शेष रहनेसे उनको पुन सम्भोगेच्छा
पूर्ण नहीं हुई । [अन्य भी कोर दुष्ट सपत्नी आदि स्त्री दम्पतिकी सम्भोगेच्छा को नदी सहन
करती] ॥ १३६ ॥

म्यप्तुमात्तशयनीययोस्तयो स्वेरमास्यत वच प्रिया प्रिय ।

उत्स्रैरधरदानपानजै सान्तरायपदमन्तराऽन्तरा ॥ १३७ ॥

स्वप्नुमिति । स्वप्नु निद्रातुम्, आतनयनीययो आश्रिततत्त्वयो, तयो प्रिययो
मध्ये, प्रिय नर, प्रिया भैमीम्, अधरयो रदनच्छयो, दानात् अन्योऽप्य युग्म-
नाथ समपंगात्, तथा पानात् शुम्भनाथ, जायन्ते उत्पद्यन्ते इति तादृश, उत्सवे
आनन्दै, अन्तराऽन्तरा मध्ये मध्ये, दानपानयोर्मध्ये मध्ये इत्यर्थः । सान्तरायानि
सम्प्रतिबन्धानि, दानपानरूपैर्विघ्नै विच्छिद्य विच्छिद्य प्रयोऽयमानानीत्यर्थः । पदानि
सुसिद्धान्तरूपशब्दा यस्मिन् तत् तादृशम् वच वाक्यम्, निजमेमज्ञापकमिति
भावः । स्त्रैर यथेच्छम्, असम्बद्धरूप यथा तथेत्यर्थः । आकष्यत अवोचत् ॥ १३७ ॥

शयनार्थं शय्यापर गये हुए उन दोनोंमेंसे प्रिय (नर) ने प्रिया (दम्पती) से अपने
अवरका दम्पतीके द्वारा पान कराने तथा दम्पतीके अवरका पान करनेके आनन्दोंसे
बीच-बीचमें विच्छिन्न पद-समूह हो अर्थात् एक-एककर (एकान्न होनेसे) स्वच्छन्दता
पूर्वक बोले । [शय्यापर बैठे हुए दोनों परस्परमें एक दूसरेके अवरका पान करते-करते थे,
कही समय नष्टने दम्पतीकी एकान्न होनेसे स्वच्छन्दतापूर्वक बहवमाण वचन (१८।१३८-
१४१) उक्त अवर-पान करने-करानेके आनन्दसे बीच-बीचमें एककर बहने लगे] ॥ १३७ ॥

देवदूत्यमुपगत्य निर्दय धर्मभीतिकृततादृशागसः ।

अस्तु सेयमपराधमार्जना जीवितावधि नलम्य वश्यता ॥ १३८ ॥

किं तत् वाक्य तदेवाष्टमिशचष्टे—देवेत्याहि । हे प्रिये ! देवदूत्य देवाना दूतकृ-
त्यम्, उपगत्य स्वीकृत्य, देवदूत्यस्वीकारहेतोरित्यर्थः । निर्दय निरुद्ध यथा तथा,
धर्मभीत्या प्रतिधुतिमद् जनितधर्मलोपभयेन, कृतम् अनुष्ठितम्, तादृक् तथाभूतम्,
इन्द्रादिवरगार्पणमनुरोधात् प्रतिकूलाचरणरूपमित्यर्थः । आग अपराध येन तादृशस्य,
तस्य अपराधस्य मम सम्यग्निनी, जीवितावधि यावज्जीवम्, सा इय क्रियमाणे-

स्वार्थ । वश्यता तव आज्ञानुवृत्तिना, 'वशङ्गत' इति यन्प्रत्यय । अपराधस्य दोषस्य, माजंता परीहार, चालनीत्यर्थ । अस्तु भवतु । यावज्जीव दास्येनापराधमिमं चालयिष्यामीत्यर्थ ॥ १३८ ॥

देवा (इन्द्र, अग्नि, वाम और वरुण) के दूतकनको स्वीकारकर धर्मके (यदि मैं अपना स्वीकृत बानका पालन नहीं करूँगा तो मुझे पाप लगेगा इस प्रकारके) भयमे वैया (दूत कर्म करते हुए तुम्हें कष्टदायक) अपराध करनेवाले नल्के अर्थात् मेरे जीवन पर्यन्त तुम्हारे वशमें होकर रहना उस अपराधका परिमार्जन करनेवाला होन । [धर्मके भयमे मैंने इन्द्रादि चारों देवोंका दूतकर्म करते हुए तुम्हें कष्ट पहुँचाकर बड़ा अपराध किया है, अतः अब अगले जीवनपर्यन्त तुम्हारे वशमें रहकर अर्थात् तुम्हारा दास बनकर वेमे मगान् अपराधका मार्जन करूँगा] ॥ १३८ ॥

म क्षण सुमुखि । यस्त्वदीक्षणं तच्च राज्यमुक्त येन रज्यसि ।

तन्नलस्य सुधयाऽभिपेचनं यस्त्वदङ्गपरिरम्भविभ्रम ॥ १३९ ॥

स इति । सुमुखि । हे सुवदनि । यत् स्वदीक्षणं तव दर्शनम्, तव दर्शनलाभ इत्यर्थ । नलस्य नैपद्यस्य मम, स चण उक्तव । 'अयं चण उक्तवो मह उक्तव उक्तव' इत्यमर । अनुपमानन्दजनकत्वादिति भाव । येन कर्मणा प्रभ्येण वा, रज्यसि रक्षा भवसि, प्रीयसे इत्यर्थ । स्वमिति शेष । 'दुविरजो' इत्यादिना रजन, परस्मैपदञ्च । तच्च तदेव, उक्त महत्, राज्य राजत्वस्वरूपम्, तव प्रसन्नवदनदर्शनसुखस्य राज्यसुखादपि अधिकसुखकरत्वादिति भाव । यत् स्वदङ्गस्य तव वक्तृश्रद्धा श्रवणवश्य, परिरम्भविभ्रम आलिङ्गनलाला, तत् एव सुधया पीयूषेण, अभिपेचनं सिञ्चनम्, अमृताभिपेचनवदङ्गानां ग्रहणजननमित्यर्थ । अवसन्नस्यापि देहस्य उत्तेज कत्वादिति भाव । स्वस्मिन्विना मे न किञ्चिदपि रोषते इति निष्कर्ष ॥ १३९ ॥

हे सुमुखि । जो तुम्हारा दर्शन है, वही मेरा (अनुपम आनन्दप्रद होनेसे) उत्तम है (अथवा—जो तुम्हारा बहुत समय तक भी दर्शन है, वह मेरे लिए (अतिशय सुखकर होनेसे) क्षणमात्रका समय है), जिन (वस्तु या-व्यापार-विशेष) से तुम अनुराग करती हो, वही (वस्तु, या-व्यापार-विशेष) मेरा राज्य है (तुम्हारे अनुरागवाली वस्तु या व्यापार-विशेष साम्राज्यके समान मुझे सुखप्रद है, वह भूमण्डलरूप साम्राज्य वैया सुखप्रद नहीं है) और तुम्हारे अङ्गोंके आलिङ्गनका धो विलास है, वही नलका अर्थात् मेरा अमृताभिपेक है (इस प्रकार है सुमुखि । तुम्हारे विना साम्राज्यादि कोई भी वस्तु या कार्य मुझे सुखकर नहीं है, किन्तु तुम्हीं मेरे सर्वविध सुखका साधन हो) ॥ १३९ ॥

शर्म किं हृदि हरे प्रियाऽर्पणं ? किं शिवाऽर्द्धघटनं शिखस्य वा ? ।

कामये तव 'मयेह तन्वि' । त नन्वह सरिदुदन्वदन्वयम् ॥ १४० ॥

१ 'महेपु' इति पाठान्तरम् ।

शर्मैति । हरे विष्णो , हृदि वचसि, प्रियाया हरिप्रियाया लक्ष्मीदेव्या , अर्पण दानम् , 'स्थानदानमित्यर्थ' । वचसि धारणमिति यावत् । किं शर्म ? सुख किम् ? नैव सुररुरमित्यर्थ । सर्वथा एकीभावाभावादिति भावः । वा अथवा, शिरस्य महादेवस्य, शिवाया गौर्या , अर्द्ध अर्द्धाङ्गे, घटन निजार्द्धाङ्गसम्मेलनम्, अर्द्धनारी श्वरभावमित्यर्थ । किं शर्म ? सुखरुरकिम् ? नेवेत्यर्थ । उभयोरर्द्धाङ्गमात्रयोजनेन सर्वथा एकीभावाभावादिति भावः । तर्हि किं तत् शर्म, यत् त्व कामये ? इत्याह-
ननु नन्वि । हे कृशाङ्गि ! इह अस्मिन् लोके, अहं नष्ट , मया सह तव ते, त प्रसिद्धत्वेन सर्वथा प्रार्थनीयमित्यर्थ । सरिदुदन्वतो नदीसमुद्रयो , अन्वय मेलनम्, तयो सयोगमिव सयोगमित्यर्थ । नदीसागरयोरिव एकात्मत्वेन मिश्रणमिति यावत् । कामये प्रार्थये । मिथुनान्तरमेलनवत् सरित्सागरमेलने भेदानवभासात् इति भावः ।

विष्णुकं हृदयमे प्रिया (लक्ष्मी) का स्थापन करना (रहनेके लिए स्थान देना) कौन-सा सुख है ? (अथवा—सुख है क्या ?), अथवा शिवजीके शरीराङ्गमें पार्वतीका घटित होना अर्थात् शिवजीको अर्द्धाङ्गिनी होना कौन-सा सुख है (अथवा—सुख है क्या) ? अर्थात् उक्त दोनों कार्योंमें एकीभाव नहीं होनेसे कोई भी सुख नहीं है (अत एव) हे तन्वि ! यह मैं यशस्वर अपने साथ (पाठा०—सुरत-सम्बन्धी उत्सवोंमें) नदी तथा समुद्रके अन्वय (एकीभाव) को चाहता हूँ । [लक्ष्मी-विष्णुकं तथा पार्वती-शिवका क्रमशः हृदयमे वाम देने तथा शरीराङ्गं समर्पण करनेपर भी पृथग्भाव होने रहनेसे अङ्ग-प्रत्यङ्गका सम्मेलन नहीं होनेके कारण परमानन्द लाभ नष्ट होना, अत एव मैं जिस प्रकार नदी समुद्रमें मिलकर एकीभाव प्राप्त करनेसे कौन नदी है ? और कौन समुद्र है ? यह नहीं कहा जा सकता, वैसे ही मैं अपने साथ तुम्हारा एकीभाव चाहता हूँ] ॥ १४० ॥

‘दीयता मयि दृढ ममेति वीर्वक्तुमेवमवकाश एव क ? ।

यन्निधूय तृणवह्निवत्पतिं क्रीतवत्यसि दयापणेन माम् ॥ १४२ ॥

दीयतामिति । हे प्रिये ! मयि भक्षिपत्रे, मा प्रतीत्यर्थ । मम इति धी तप मम-त्वबुद्धिः, दृढ निश्चल यथा तथा, दीयताम् क्षप्यता, स्थापयतामित्यर्थ । भवत्या इति शेषः । एवम् इत्थम् , यक्तु रुचयितुम् , अवकाश अवसर एव, क ? नैवास्तीत्यर्थ । अप्राप्तमेवार्थ लोका प्रार्थयन्ति प्राप्ते तु तस्या अनोचित्यादिति भावः । अवकाशाभावमेव प्रदर्शयति-यत् यस्मात् , दिवस्पतिम् इन्द्रमपि, तृणवत् तृण इव, निधूय निरस्य, परित्यज्य इत्यर्थ । दयया एव दृपारूपेणैव, एणेन मूढयेन, मा नष्टम्, क्रीतवती स्वीकृतवती, अस्ति भवति । अतः क्रीतदासे मयि प्रमो ते ममत्वबुद्धिविषये प्रार्थनाऽवकाशो नास्त्येवेति भावः ॥ १४१ ॥

ममज्ञा' ऐसा करनेका अङ्गपर ही कौन-सा है। क्योंकि तुमने स्वर्गासीस इन्द्रको भी लूण-
तुल्य। कुछ ममज्ञाकर। परित्यागकर दयास्वी मूर्खमनुज स्वीकार लिया है। ['तो तुमने
उक्त वागमनुज स्वीकार लिया है, अतः तूम मुझे अङ्गजे तरह अपना ममज्ञा' देने करनेका
को न अदम्य नहीं है, क्योंकि अस्वार्थक बतलने किम गर्वना की जाती है, दाम्भिकको
चिन्त नहीं। 'स्वर्गासीस तथा दयास्वी मूर्ख' कह मेरे रङ्ग सूचित होता है कि न तो मैं
इन्द्र पश्चिम देशवासी ही का और न तुमने अस्विक मूर्ख ही का अङ्गपर तुमने इन्द्रका
अपमान गाकर जो भुजे बना है, उनमें तुम्हारी दया ही मुख्य कारण है, अब जब उक्त
ममज्ञा दण्ड मेरे ऊपर जीवन पर्यन्त बनाये रहो, बड़े प्रत्यक्ष है। ॥ ११६१ ॥

मृगयता निवृत्तनातिमिन्नद्वान्विताममनकुम्भया किल ।

भायरावद्रिनिर्गजानकीश्रविणी मयचकार्णि वीक्षिता ॥ १४० ॥

[illegible]

अनेक वर मन्त्रियोंके साथ दुन्दुभे वाक्पलायिका (देशोंके सिधे हुए वरदान (१८११) के प्रसवसे पुत ईकर, वा—प्रकाशान्तरे मन्त्रे आदिने आने उपकर) सुगता सुनने हुए मने (मन्त्रे मासन मन्त्रिपरीक्षामे क्लिप्त मित्र इनेपर म) अर्थ है मन्त्रवन्द के द्वारा छाती जानेवाली सीलकी सुनकर (इस पत्रा मन्त्र निकलने पर मागत्रिमा सील-बीमा त्याग कर्ते मा-निका, उषी प्रकार निकलने मुप मा मने मानी कर्तवित्ता न कर है, इस प्रकार त्याग हुए) मन्त्रे वन्दन । वरदानी हुए , दुन्दुभे मने देवा है । [इस मन्त्रा इरा मन्त्र सीलकी क्यासाथ सुनने मन्त्र वरदान के मन्त्र मने देवा, मन्त्र वर निमित्त का तिरा कि दुन्दुभे सुनने अपार अनुग्रा है, इस कारण मन्त्र मुप मन्त्रा मन्त्र अपना मन्त्रों यद कर्तनका जोर अन्तर है नहीं है । मन्त्रा मने इनेवाले प्रकाशिक मन्त्र की अरुण मन्त्रे होन्वाले प्रकाशिक मन्त्रवन्द इरा मन्त्रे त्यागकी मन्त्रा विद्यालय मन्त्रिने सुनी हुए मन्त्रियोंका मन्त्रान्ते मन्त्रा मन्त्रवन्द नहीं होन्वे अन्तर नहीं है । अथवा—प्रकाशक कवि श्रीहर्षकी मन्त्रवन्द तथा सीलकी वरदान मन्त्रान्तीकी

सखियोंमें कराना असम्भव नहीं है । हमने नलके द्वारा निर्दोष दमयन्तीका भविष्यमें क्षण करना सूचित होना है] ॥ १४२ ॥

(युगम्)

हृत्पत्रविनिमीलितक्षुपात् कच्छपस्य घृतचापलात् पलात् ।

त्वन्मरीषु सरटाच्छिरोधुत स्व भियोऽभिदधतीषु वैभवं ॥ १४३ ॥

त्व मदीयत्रिगहान्मया निजा भीतिमोरितवती रह श्रुता ।

नोज्झितास्मि भवतीं तदित्यथ व्याहरद्वरमसत्यकातर ॥ १४४ ॥

अथ युग्मेनाह, छुप्तेत्यादि । छुप्तेन स्पृष्टेन, स्पर्शमात्रेणैवार्थः । छुप्तेति छविप्राप्तः । 'युपस्वरो' अथ एकारान्तस्तोदादिकोऽनिटश्च । पत्रेषु पर्णेषु, यद्वा-युक्तं पत्रं स्पृष्टपर्ण एव, विनिमीलितं मङ्कुचितं, यं छुप इत्यन्तापक्षिकहृदयुक्तविशेषः, कञ्जालुमङ्गकुञ्जशाखामूलविशिष्टश्च इत्यर्थः, तस्मात् । 'इन्ध्रशास्त्रिकं छुप' इत्यमरः । निरिच्छिद्रस्यापि खेन्द्रियवत् व्यवहारदर्शनेन भीतिकोऽपमिति त्रासादिति भावः । तथा एतच्चापलात् पुनः पुनः हृत्सङ्कोचविस्ताररूपचापलात्, कच्छपस्य कनकस्य, पलात् मातात्, शुण्डारूपादिनि यावत् । अस्थिवत् कठिनपदार्थमप्यात् सहसा कोमलमामनि सरणप्रदेशयोऽन्धत्र कुत्राप्यवशान्नजनितत्रासादिति भावः । तथा शिरोधुतं शिरो मस्तकं धुनोनि कम्पयतीति तादृशात् सदा चालितमस्तकात्, सरटात् कृकलासात्, तस्य आकारप्रकारयोरस्वाभाविकस्वदर्शनजनितभयादिति भावः । वायव्यत्रयेऽपि अहं विभेमीति शेषः । स्वसखीषु तव सहचरीषु, रहो निर्जने, स्व स्वकीय, भियः भयस्य, वैभव सम्पदम्, भयातिरेककारणमित्यर्थः । अभिदधतीषु वर्णयन्तीषु सतीषु, युष्माकं कस्मात् विभेयि ? इति परस्परालोचनायां तव सखीषु एकैका उत्तररूपं व्याहरन्तोऽसु सतीषु इत्यर्थः । त्वमिति । मदीय-विरहात् मम विश्देहात्, निजा स्वकीयाम्, भीतिं भयम्, ईरितवती उत्कवती, त्व भवती, मया नयेन, धृता आकर्णिता, आर्यपुत्रविरहाशङ्का एव मां भाषयति इति त्वदुक्तिः मया धृतेत्यर्थः । तत् तस्मात्, तव भयस्मरणादित्यर्थः । भवती त्वाम्, न क्षिप्ततास्मि न त्यज्यामि । उद्धते लुटि सिप् । अहमिति शेषः । असत्यकातरं अमृतमीतं, अथ नलः, इति इत्यम्, वरम् अपरित्यागरूपं वरम्, व्याहरत् अधो-धत् । दमयन्तीं वरं ददौ इत्यर्थः ॥ १४३-१४४ ॥

(किंवा समय एक साथ बैठकर विश्रम्भपूर्वक परस्पर बातचीत करनी दूर सखियोंमें— से 'कौन किसने डरती है ?' ऐसा प्रश्न करनेपर) स्पष्टमात्रसे सङ्कुचित पक्षोंवाली छुरमुई (लज्जिनी) नामक छुप (ओषधि-विशेष) से ('मैं डरती हूँ' ऐसा किसीने कहा), स्वभावतः चञ्चल कच्छप-मांस (लम्बे ढण्डेके समान मुख) से ('मैं डरती हूँ' ऐसा दूसरी सहोदर कहा), शिरको केशाते रहनेवाले गिरगिटसे ('मैं डरती हूँ' ऐसा तीसरी सहोदर

कहा), इस तुम्हारे सखियोंके अपना-अपना भयकारण बतलानेपर मेरे (नन्दके) विरहसे अन्तः भय बगलानी हुए तुमको मैंने एकान्तमें (दोनोंके दिये घर (१४११) के प्रभावसे अन्तर्धान होकर या—वृद्धे आदिके आडमें छिपकर) सुना, 'मो मे तुम्हें नहीं छोड़ूंगा' ऐसा वरदान अमत्यकागर (असत्यमे डरनेवाले, अथवा—असनी स्त्रियोंमें अकारण=निमग्न, किन्तु सदा स्त्रियोंमें मग्नयुक्त) नन्दने (दमयन्तीके लिए) दिया । [दमयन्तीके लिए ऐसा वरदान देकर भी भविष्यमें उसका त्याग करनेसे पालन नहीं होनेपर मो देवाधीन कार्यके अवगत्यमाशी होनेके कारण नभ अमत्यमाचरणके दोषा नहीं हुए ऐसा समझना चाहिये] ॥ १४३-१४४ ॥

महमस्य विरहेऽस्मि जीविका यैत्र वामस्य रताय संक्षणम् ।

हन्त दत्त इति रुष्टयाऽऽवयोनिद्रयाऽन्य किमु नोपसद्यते ? ॥१४५॥

सहमस्येति । या एष या नह निद्रा, विरहे परिणयात् पूर्वं विरहेऽदृष्टायाम्, या युवाम्, सहमस्य मेळयित्वा, स्वप्नसहनिधुष्यम् अनुभाष्येत्यर्थः । जीविका जीवितवती, युवयोज्ज्वलरक्षाकारिणीत्यर्थः । अग्निं भक्षामि । अथ अन्तर्धरम् परिणयात् परमिदानीमित्यर्थः । तस्या मम निद्राया एवेत्यर्थः, एष समस्य, रात्रिरूप कालमित्यर्थः । रताय सुरताय, दत्त अर्पयथ, युवामिनि शेषः । सहिमन् समये युवा मा परित्यज्य सुरत प्रपद्यथ इत्यर्थः । वृद्धातेर्लटि धत् । हन्त इति खेदः, इति अस्माद्धेतो, किमु किम्, इत्युत्प्रेषा, रुष्टया क्रुद्धया, निद्रया स्वापेन, अथ अस्या रात्रौ, आरयो तत्र मम च, न उपसद्यते ? न मच्चिह्नयते ? न समीपं आगत्यते ? इत्यर्थः । मोदतेभावे लट् । निद्रा लब्धु चेष्टया कृत्यायामपि तद्वलाभेन सहस्योक्तिरिष्यत् ॥ १४५ ॥

जो मैं (निद्रा) विरहमें तुम दोनोंको (स्वप्नावस्थामें) मिलाकर जिलानेवाली बनो, इसके बाद (इस समय विवाह हो जानेपर स्वन एव मिलनेपर तुम दोनों) उमके (मेरी निद्राके) समय अर्थात् रात्रिको सुरतके लिए दे रहे हो, मानो हम कारणसे नष्ट हुई निद्रा आज पासमें नहीं आती है क्या ? । (शाठा०—तुम दोनों धुगमात्र मुझे नहीं दे रहे हो, किन्तु रात्रिरूप मन्तूर समय सुरतके लिए ही दे रहे हो) । [नन्द तथा दमयन्तीने सारी रात्रिको कामकेलिये ही व्यतीत किया, क्षणमात्र भी नहीं सोये, इसपर नन्दने दमयन्तीमें कहा कि—दे प्रिये ! विवाहके पहले विरहावस्थामें जब हम दोनों सोये थे तब स्वप्नावस्थामें परस्पर सङ्गति हो जाया करती थी, इस कारण निद्रा ही हम दोनोंके जीवनका उम समय कारण थी । किन्तु अब विवाह होनेपर स्वन मिले हुए हम दोनों जो रात्रिका समय निद्राके लिए देना उचित था, उसे निद्राके लिए न देकर सुरतके लिए दे रहे हैं अर्थात् रात्रिमें थोड़ा भी नहीं सोकर पूरी रात सुरतकावामें व्यतीत कर रहे हैं, इस कारण प्रथमोपकार करनेवाली यह निद्रा हमलोगोंसे चष्ट होकर हमलोगोंके पास नहीं आती है क्या ? । लोकमें भी प्रथम उपकार करनेवालेके उपकारको भूलकर यदि उपरुक्त व्यक्ति

उसके योग्य वस्तुको दूसरेके लिए देता है तो वह प्रथम उपकार करनेवाला व्यक्ति उपहृतने रुठ होकर उसके पास तक नहीं जाना । नल तथा दमयन्तीने सम्पूर्ण रात्रिको कामगोचर करनेमें व्यतीत किया] ॥ १४५ ॥

ईदृश निगदति प्रिये दृशौ सम्मदात् कियदिय न्यमीमिलत् ।

प्रातरालपति कोकिले कल जागरादिव निशा कुमुद्वती ॥ १४६ ॥

ईदृशमिति । प्रिये नले, सम्मदात् सन्तोषात्, यथेष्टसम्मोगसुखानुभवजनितमन्दादित्यर्थ । ईदृशम् ईदृक् वाक्यम्, निगदति कथयति सति, तथा प्रातः तथा निशावसामात् उपसि, कोकिले पिके, कल मधुरास्फुट यथा तथा, आलपति कूजति च सति, निशा रात्रे सम्गन्धिन, जागरात् जागरणात् हेतो, कुमुदपद्मे—राश्री प्रस्फुटनात्, अन्यत्र—सुरतव्यापारेण मिद्रापरिहारादित्यर्थ । कुमुद्वतीव कुमुदलतेव कुमुदनिवेश्यर्थ । इय भैमी, कियत् किञ्चित्, दृशौ नेत्रे, न्यमीमिलत् मिमीलि तवती, 'भ्राजभास—' इत्यादिना विलम्बादुपधादस्व, 'दीर्घो लघो' इत्यभ्यास दीर्घ ॥ १४६ ॥

इम (दमयन्ती) ने आत्यधिक इष्टे प्रिय (नल) के इस प्रकार (१४।१३८-१४५) कहते रहनेपर तथा प्रातःकाल कोयलके मधुर बोलने रहनेपर रात्रिमें जगने (पक्षा—विकसित रहने) से कुमुदिनीके समान नेत्रोंका कुछ बन्द कर लिया [अथवा—इस समयन्तीने प्रिय नलके इस प्रकार कहते रहनेपर और प्रातःकाल कोयलके मधुर बोलते रहनेपर सूरजजय अत्यधिक हर्ष अर्थात् जगसे । अथवा इस दमयन्तीने प्रिय नलके इस प्रकार कहते रहनेपर प्रातःकालमें कोयलके मधुर बोलने रहनेपर रात्रिमें (विकसित रहनेके कारण) जागरण करनेसे कुमुदनीके समान नेत्रोंको अर्द्धनिमीलित कर लिया अर्थात् रातभर जागनेसे दमयन्ती कुछ-कुछ सोते समय नेत्रोंको बन्द किया तो वह रातभर विकसित रहकर प्रातःकाल बन्द होने समय कुछ सङ्कुचित पल्लवियोंवाला कुमुदिनीके समान सुन्दर जान पड़ती थी । इसमें नलके स्वरका कोकिलके समान मधुर होना तथा दमयन्तीके नेत्रोंके पलकोंका कुमुदिनीके पल्लवियोंके समान सुन्दर होना सूचित होता है] ॥

मिमितोरु मिलिताधर मिथ स्वप्नवीक्षितपरस्परक्रियम् ।

तौ ततोऽनु परिरम्भसम्पुटे पीडना विदधन्तौ निदद्रुतु ॥ १४७ ॥

मिश्रितेति । ततः दमयन्त्या दृङ्निमीलनात्, अनु परचात्, तौ भैमीनली, मिथ परस्परम्, मिश्रितौ सरिलष्टौ, ऊरू द्वयोः सक्थिनी यस्मिन् तथा तथा, मिलितौ स्पृष्टौ, अधरौ रदनच्छदौ यस्मिन् कर्मणि तत् यथा तथा, स्वप्ने वासनादशात् मिद्राकालिकविषयानुभवे, वीक्षिता दृष्टा, परस्परक्रिया अन्योऽन्यं सुम्बनादिव्यापारा यस्मिन् तत् यथा तथा च, परिरम्भसम्पुटे आलिङ्गनरूपपुटके, पीडना

१ 'न्यमीमिलत्' इति पाठान्तरम् ।

प्रगाढप्रेषणम् , विदधन्तौ कुर्वन्तौ सन्तौ, निद्रद्रुत सुषुपतु, निद्रासुप्तम् अनुवभूव-
तुरित्यर्थ ॥ १४७ ॥

इस (दमयन्तीके अर्द्धनिमीलित नेत्र होने) के बाद वे दोनों (दमयन्ती तथा नल)
परस्परमें एक दूसरेके उरुओंको मटाकर अघरोंको मिटाकर (पूर्व वामनाके कारण)
परस्पर की हुई रतिक्रीडाओंको स्वप्नमें देखने हुए तथा आश्लिङ्गनकरा मम्भुटमें (एक दूसरेको)
पाँडित करने हुए (हारनोराश्लिङ्गन करने) मो गये ॥ १४७ ॥

तथातायातररश्छलरुलितरतिश्रान्तिनि श्वासवाराऽ-

जस्रड्यामिश्रभावस्फुटकथितमिथ प्राणभेदव्युदासम् ।

बालावक्षोजपत्राङ्कुरकरिमकरीमुद्गतोर्वान्द्रवक्ष-

श्चिह्नाख्यातैकभाषोभयहृदयमगाद्ध द्वन्द्वमानन्दनिद्राम् ॥ १४८ ॥

तदिति । तायातायाना नि सरणप्रवेशानाम् , रडम वेगस्य, छुलेन व्याजेन,
कठिता ज्ञापिता, रनिश्रान्ति रमणवलाग्नि, यामि तादृशावा नि श्वासवाराणा
नि श्वाभपरम्परागाम् , अजलश्यामिश्रभावेन अमरनमेष्टनेन, स्फुट इत्यन्तम्,
कथित विज्ञपित, मिथ परस्परम् , प्राणभेदस्य पृथक्प्राणवायुताया, व्युदास
अभाव यस्य तत् तादृशम् , आपराश्यादौ मायागतरादिमिश्रणवद् नि श्वासवाताते
नि श्वासवाताभ्तरमिश्रणस्य भेदानुपलब्धात् अभिज्ञत्वं युज्यते एव नि श्वासवायोरेष
प्राणपरशदिनि भाव । तथा बालाया पौडशवर्षीयाया मित्राया, बक्षोजयो
कुचयो , ये पत्राङ्कुरा कुङ्कुमादिना रश्मिबुद्बुदतिलकविशेषा , तेषु वा करिमकर्षं
कस्तुरीप्रभृतिभि रश्मिता हस्तिमकरीप्रभृतीना मूलंय , तामि मुद्रितस्य चिह्नितस्य,
वर्षान्द्रवक्षस पृथिवीपतितलोर स्थलस्य, चिह्नेन प्रगाढाश्लिङ्गनेनाङ्गिनकरिप्रभृतीना
माङ्गुया आरपात कथित , एकभाव ऐक्य ययो ते तादृशी, उभये द्वे, दृष्टे
वक्ष स्थले, पयो तत् तादृक् एकविधचिह्नात् सर्वयैव एकमिति भाव । वृत्तिविषये
उभयशब्दस्थाने उभयशब्दप्रयोग इयुक्त शक् । तत् नलदमयन्तीरूपम् , द्वन्द्व
मिथुनम् , शानन्दनिद्रा सुखेन स्वापम् , अगाद्ध अगच्छद् ॥ १४८ ॥

याशयान (बाहर निकलने तथा भीतर प्रवेश करने) के वेगके व्याजते मुरतन्त्र्य
श्रमको बनानेवाके नि श्वास-सन्तुद्धे निरन्तर मिश्रण होनेसे (दमयन्तीके नि श्वासका
निकलकर नलकी नासिकाके भीतर प्रविष्ट होनेसे एव नलके नि श्वासका निकलकर
दमयन्तीकी नासिकाके भीतर प्रविष्ट होनेसे—एकके नि श्वासका दूसरेके नि श्वासमें
मिलनेसे) स्पष्ट रूपसे कहा गया है परस्परके प्राण-भेदका अभाव (पानीमें पानी तथा
तिलमें तिल मिलानेपर जिस प्रकार भेदज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार दोनोंके नि श्वासके
मिलनेसे और उसी नि श्वासके प्राणियुक्त होनेके कारण दोनोंके प्राणोंमें भेदाभाव)
जिसका ऐसा, तथा बाला (पौडशी दमयन्ती) के मन्दद्रवपर (कस्तूरी आदिसे बनाये गये)

पत्राङ्कुरमें चिह्नित हाथी-मकरी आदिते चिह्नित भूपति (नल) के वक्ष स्थलके चिह्नोंसे दोनों (नल तथा दमयन्ती) के हृदयद्वयकी एकताको स्तम्भानेवाला वह इन्द्र (नल तथा दमयन्ती की जोड़ी) आनन्दनिद्राको प्राप्त किया अर्थात् वे सो गये । [परस्पर गाढालिङ्गन कर मोये हुए उन दोनोंका निश्वास एक दूसरेकी नासिकामें प्रविष्ट होकर दोनोंके प्राणवायुमें अभेद होना सूचित करता था और दमयन्तीके ग्गनोंपर कस्तूरी आदिके द्वारा बसाये गये हाथी-मकरिका आदिके चिह्न गाढालिङ्गन करते समय नलके वक्ष स्थलपर भी लग गये, अत एव दोनोंका हृदय बाह्य वक्ष स्थल एवं अभ्यन्तर अन्तःकरणमें भी अभेद हो गया । इस प्रकारके वे दोनों सुरतश्रमसे थककर गाढालिङ्गन करके सो गये] ॥ १४८ ॥

श्रीहर्षं कपिराजराजमुकुटालङ्कारहीर सुत

श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवी च यम् ।

यातोऽस्मिन् शिवशक्तिसिद्धिभगिनीसौभ्रात्रभठ्ये महा-

काठ्ये तस्य कृतौ नलीयचरिते सर्गोऽयमष्टादश ॥ १४९ ॥

श्रीहर्षमित्यादि । शिवशक्तिसिद्धि नाम काचित् स्वकृति, सा एव भगिनी दमयोरेव एककर्तृत्वात् स्वसा, तथा सह सौभ्रात्र सुभ्रातृत्वम् । युवादिवाद्यन् प्रत्यय । भ्राता च भगिनी च भ्रातरौ । 'भ्रातृभगिन्यौ भ्रातरौ' इत्यमरः । 'भ्रातृपुत्री स्वसुबुद्धितुभ्याम्' इत्येकशेषः । तेन सौभ्रात्रेण हेतुना, अष्ट्ये द्युमे, उरुदृष्टे इत्यर्थः । एककर्तृकत्वादित्यनिर्देशः । अष्टौ च दश च - अष्टादश । 'द्वयपटन सङ्ख्यायामबहुव्रीह्यशौचो' इत्यात्वम् । तेषां पूरणं अष्टादश । 'तस्य पूरणे दृष्टं द्रिष्टो पथः' इति मन्त्रमन्वन्तः ॥ १४९ ॥

इति मल्लिमाधुरिविरचिते 'जीवातु' समाख्यानेष्टादश सर्ग समाप्तः ॥ १५० ॥



करीश्वर-समूहके किया, उसके रचित 'शिवशक्तिसिद्धि' नामक ग्रन्थके (एक मन्त्रकारकृत होनेसे) मशहूरत्वसे सुन्दर इस नलके चरित यह अष्टादश सर्ग समाप्त हुआ । ('शेष व्याख्याको चतुर्थसर्गके समान ममज्ञाना चाहिये') ॥ १४९ ॥

सह 'भगिनी' टीकामें 'नैषधचरित' का अष्टादश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १५० ॥



ऊनविंशः सर्गः ।

निशि दशमिनाभालिङ्गन्त्या विबोधविधिस्तुभि-
निपधसुधामीनाङ्कस्य प्रियाऽङ्गमुपेयुष ।
श्रुतिमधुपदस्तवैदग्धीविभाजितभाविक्-
स्फुटरसभृशाभ्यक्ता वैतालिकैर्जगिरे गिर ॥ १ ॥

अथ काव्ये प्रयोगवैचित्र्यालङ्कारत्वादस्मिन् सर्गे तद्वैचित्र्यमाश्रित्य प्रभातव
र्णनमारभते-निशीति । निशि निशायाम् । 'पद्मोमासू-' इत्यादिना निशादेशः ।
दशम दशोऽवस्थाविशेष अस्या अस्तीति दशमिनी वृद्धा 'वर्षीयाम् दशमी ज्या-
यान्' इत्यमरः । 'वपसि पूरणात्' इति इति प्रत्ययः । तस्या भावः तत्ता दशमिता
वृद्धत्वं ता वरमावस्थामित्यर्थः । 'खनलोगुंगवचनस्य' इति पुनर्वाचः । आलिङ्गन्त्या
स्पृशन्त्याम्, प्राप्नुवन्त्यामित्यर्थः । प्रभातप्रायायाः सत्यामिति भावः । प्रियाया
वमपस्या, अङ्गम् उरस्तङ्गम्, उपेयुष प्राप्तस्य, प्रियामालिङ्ग्य निद्रितस्येत्यर्थः ।
निपधवसुधामीनाङ्कस्य निपधदेशमभ्यस्य नलस्य, निबोधविधिस्तुभि जागरणं
विधातुमिच्छुभि । गम्पादिपाठात् द्वितीयासमासः । वैतालिके बोधकरे, निद्रा
भङ्गके, चन्द्रिभिरित्यर्थः । 'वैतालिका बोधकरा' इत्यमरः । श्रुतिमधुपदस्तवैदग्धी
कर्णे, मधूना मधुराणाम्, पदानां सुतिष्ठन्मनःशान्दानाम्, या शब्दं माला, पङ्क्तिरि-
त्यर्थः । तासां या वैदग्धी रचनाशानुर्यम्, कौशिक्यादिवृत्तिमग्निसिरिति यावत् ।
तया विभाजिता व्यञ्जिता, भावा स्थायिप्रभृतय अस्य सन्तीति भाविक् रसबो-
धकविभावादिष्वनुविधभाववान् । 'अत इनिठनो' इति मत्वर्योपहन्परपयः । अत एव
स्फुट अभिस्पृक्त, सवेद्यता प्राप्त इत्यर्थः । रस शृङ्गारादिरेव रस स्नेहद्रव्य, तेन
शृङ्गारम् अत्यर्थम्, अभ्यक्ता अचिता, स्निग्धीकृता इत्यर्थः । रमभरिता इति यावत् ।
गिर वचयमाणगीतवाच जगिरे गीयन्ते स्म । गायते कर्मणि लिट् । अस्मिन् सर्गे
हरिणी वृत्तम्, 'रसपुगहयेंसीं औ ग्लौ गो यदा हरिणी तदा' इति लक्षणात् ॥१॥

(एतः सर्गे प्रयोगवैचित्र्याका आश्रयकर यत्रकार प्रभातवर्णनं करते हैं—) रात्रिकी
अन्तिमवस्था प्राप्त करने (समाप्तप्राय होने) पर प्रिया (दमयन्ती) के अश्रुको प्राप्त (हर
सोए हुए) तथा निश्चय दशके नामदेव (नक्ष) की जगानेके इच्छुक वैतालिकलोग कर्नप्रिय
पदसमूहके चातुर्यमे व्यञ्जित (शृङ्गारादि) रमके प्रकाशित होनेमे अनिश्चय भिन्न अर्थात्
मरम वचन गाने (बहने) लगे । [वैतालिकोंने नलको जगानेके लिए पद समूह कदना
आरम्भ किया] ॥ १ ॥

जय जय महाराज ! प्रामातिकां सुपमामिमा
सफलतमा दानाददणोर्दरास्तसपद्मणोः ।

प्रथमशकुन शय्योत्थाय तवास्तु विदर्भजा

प्रियजनमुराम्भोजात् तुङ्ग यदङ्ग । न मङ्गलम् ॥ २ ॥

जय जयेति । हे महाराज ! नल ! जय जय अभीष्टम् सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । 'नित्यवीप्सयो' इति द्विर्भाव । दरम् ईपत्, अलसानि तदाऽपि निद्रावेशसत्त्वाद् निश्चेष्टानि, पद्मणि नेत्रलोमानि ययो तादृशयो 'अलपार्थे स्वयं दाम्' इति यादव । अचो वज्रपो, दानात् निवेपाम्, दृष्टिप्रदातादित्यर्थः । इमा पुरोवर्ति मीम्, प्राभातिकीं प्रयूपकालिकीम्, सुपमा परमा शोभाम्, सकलवृत्तमाम अति ज्ञेयम् सकलवृत्त मरपतिकर्तृकदर्शने शोभायाः सकलत्वात् । 'किमेतिष्ठयय-' इति आमुप्रापय । विदर्भजा देवर्भी, शय्योत्थाय शय्यायाः सत्वरम् उत्थाप, 'अपाशने परीप्सायाम्' इति णमुल् । परीप्सा स्वरा । एतेन स्त्रियः प्रथमोत्थानं लभ्यते, 'वाममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धा' इत्युक्तमाङ्गनालक्षणात् स्वतः पूर्वमेव शयनात् साव रमुत्थाय अवस्थिता इत्यर्थः । तव ते, प्रथमशकुन प्राथमिकं मङ्गलजनकं इत्यम्, अस्तु भवतु, तदा तरयामेव प्रथमाक्षिपातात् इति भावः । कुत इत्यत आह-यत् यस्मात्, अङ्ग ! भो ! प्रियजनस्य प्रीतिपान्नस्य, मुराम्भोजात् वदनकमलात्, आननपद्मदर्शनादित्यर्थः । तुङ्गम् अधिकम्, मङ्गलं श्रेयः, न, अस्ति इति शेषः । इत्यर्थान्तरयाम् ॥ २ ॥

हे महाराज (नल) । विजयी होवो, विजयी होवो, इस प्रातःकालीन उत्कृष्ट शोभाकी कुछ आलस्युक्त पलकोंवाले नेत्रोंके देनेसे (तत्काल निद्रामग्न होनेके कारण इष्ट आलसी पलकोंवाले नेत्रोंके द्वारा देखनेसे) कृतार्थ करा । विदर्भकुमारी (दम्पती) शय्यासे उठकर तुम्हारे लिए प्रथमं माहलिक वस्त्र हो, क्योंकि ते अङ्ग (स्वामिन्) । प्रियजनके मुखकमलके अनिरिक्त दूसरी कोई वस्तु श्रेष्ठ मङ्गल (करनेवाली) नहीं है । [आप उठकर प्रातःकाली श्रेष्ठ शोभाकी देखेंगे तो वह शोभा राजवल्लोकिन होनेसे सकल हो जायेगी । तथा आपके उठनेके पूर्व ही दम्पती शय्यासे उठेगी, अतः आप उठने ही सर्वप्रथम प्रातःकाल माहलिक वस्तुकी देखनेका शास्त्रीय विधान होनेसे उसके मुखको देखकर उस विधानका पूरा करेंगे, क्योंकि प्रियजनके मुखका देखना सर्वश्रेष्ठ मङ्गल है] ॥ २ ॥

वरुणगृहिणीमाशाभासाद्यन्तममु रुची-

निचयसिचयाशाशभ्रशक्रमेण निरशुकम् ।

तुहिनमदस पश्यन्तीय प्रसादमिषादसौ

निजमुल्लसिव स्मेर घत्ते हरेर्महिषी हरित ॥ ३ ॥

वरुणेति । असौ दृश्यमाना, हरे इन्द्रस्य, महिषी साम्राज्ञीस्वरूपा, हरित् प्राची दिक्, काचित् राजपत्नी च, वरुणगृहिणीं वारुणीम्, आशां दिशम् प्रतीचीमित्यर्थः । काञ्चित् पुरुषान्तरपत्नीञ्च, आसाद्यन्तम् अस्तोन्मुखात्वात् प्राप्नुवन्तम्, सङ्गच्छे

न्तमिति यावत् । सम्भोगार्थं गृह्णन्तमिति च, स्वीनित्यय प्रभासमूह एव, 'हृदि कारात्-' इति छीप् । सिचय वसनम्, आच्छादकत्वसाधर्म्यादिति भावः । 'मिचयो वस्त्रवसनमशुक्रम्' इति यादव । तस्य अज्ञातस्य किञ्चित् किञ्चिद्भागस्य, वीप्सायां द्विरुक्तिः । असक्रमेण उत्तरोत्तरं परित्यागेन, एकत्र-निशावमानात्, अन्यत्र-नगनीभवनाय इति भावः । निर्वास्ति अशु क्रिणा यस्य तादृश निरशुक्र निष्प्रभम् । शैषिकं कपः । नि नास्ति अशुक्रवस्त्र यस्य तादृश विवसनञ्च, अमु पुरःस्थम्, तुहिनमहस्य शीतकिरण चन्द्रम्, कमपि पुरुषञ्च, पश्यन्ती अवलोक यन्ती इव, प्रसादमिवात् प्राभातिकवक्त्राच्छृङ्खलात्, कौतुहजितप्रसन्नताव्याजाच्च, निजमुत्तरीयपुरोभागम् आननञ्च, स्मर सदात्मम्, धत्ते इव करोतीव । अत्र मिपशब्देन प्रसादरूपपङ्कजम् पराङ्मनासङ्गतपुरुषदर्शनजन्यस्मितशोभेणयात् साप ह्मशोभेणा ॥ ३ ॥

वक्त्राङ्गी स्त्री अर्थात् पश्चिम दिशाको प्राप्त करते हुए तथा प्रकाशनमूर्हणी वक्त्रके एक-दक अंशके क्रमशः इष्ट- (नष्ट होने, से क्षिरगर्दिन (पञ्चा०—वस्त्ररहित) चन्द्रमा (शीतलदर्श-नायक) को देखती हुई यह इन्द्रकी पटरानी (पूर्व दिशा) प्रस्तनता (स्वच्छता पञ्चा०—इव) के ब्याप्तने अपने मुखको स्मिन्मुख कर रही है । [जिस प्रकार कोई नायक पहले किसी नायिका का साथ करने में वक्त्रिको प्राप्त करके बादमें दूसरी नायिका का साथ करनेपर निष्प्रभ होता है तो उसे देखकर प्रथमा नायिका उसके दुष्स्वप्नर इच्छावश प्रेम न हाना हु" मुस्तुरानी है, उसी प्रकार पहले मायझालमें चन्द्रमा पूर्वदिशाका साथ करके वक्त्रिको प्राप्त करनेके बाद प्राग्वर्तमें पश्चिम दिशाका साथ करनेपर प्रमारहित हो रहा है तो प्रथमवक्त्रिकी पूर्वदिशा स्वरूप चन्द्रमाको देखकर प्रमन्नचित्त होकर मानो मुस्तुरा रही है । प्राग्वर्त में पश्चिम दिशामें जाकर चन्द्रमाका निष्प्रभ होनेमें तथा पूर्वदिशाको अतृप्तोदय होनेमें लालिमायुक्त एव स्वच्छ होनेमें वक्त्र उत्प्रेक्षा करने का है] ॥ ३ ॥

अमहतितरास्तादृक् तारा न लोचनगोचरा-

स्तरणिकिरणा दामञ्चन्ति क्रमादपरस्परा ।

कथयन्ति परिश्रान्ति रात्रीतम सह युध्वनाम्

अयमपि दरिद्राणप्राणस्तमीदयितस्विषाम् ॥ ४ ॥

अमहतीति । अतिक्रमेण महत्स्य महतिनरा 'धर्मपक्षय—' इत्यादिमा ज्यो ह्रस्व, अनेन ह्रस्वविधानेन परस्वात् 'तमिल्लादिषु' इति प्राप्तपुष्पज्ञावप्र तिपेय, ततो नञ्समास । अमहतितरा सूक्ष्मा, तारा अरन्धत्यादयः तारा का, तादृक् पूर्ववत्, रात्रौ इवेत्यर्थः । लोचनस्य, नयनस्य, गोचरा विषया, न, भवन्तीति शेषः । उत्तरोत्तरं सूर्यतेजोवर्द्धनादिति भावः । परे परे न भवन्तीति अपरस्परा, सततक्रिया, सततम् अविच्छेदेन प्रवृत्ता इति यावत्,

युगपदेव प्रसरणशीला इति भावः । 'अपरस्परं क्रियासातत्ये' इति निपात-
नात् साधु । तरणे अर्कस्थ, किरणं मयूखा, क्रमात् क्रमशः, घाम् आकाशम्,
अञ्जन्ति गच्छन्ति, व्याप्नुवन्तीत्यर्थः । दरिद्राणाम् प्राणं क्षीणवत् । दरिद्राते क्लृप्ति
व्युत् । 'बलान्तमरितो प्राणः' इति यादवः । अथ परिदृश्यमान, तमीदृशित निशा
पतिरपि, रात्र्या निशाया । 'कृदिङ्कारात्—' इति वा ङीप् । तमासि अन्धकारा-
त् सद्य युध्वना युद्धं कुर्वतीनाम् । 'सह च' इति वचनिप् । 'वनो न दृश—' इति
वक्तव्यात् 'वनो र च' इति ङीप् प्रत्ययो रश्च नास्ति । त्विषा भासाम्, स्वप्रभानां
मित्यर्थः । परिभ्रान्ति बलान्तिम्, कथयति वयापयति । प्रभातं सञ्जातं, अतः रात्रयम्
परिभ्रजेति भावः । समुच्चयोऽलङ्कारः ॥ ४ ॥

अतिशयं लघु (भ्रुवः, अरुन्धती आदि) अथवा—(पहले अधिक प्रकाशमान किन्तु
समय) अतिक्षीण (स्वामी आर्द्रा आदि) ताराएँ रात्रिके समान वृष्टिगोचर नहीं होने हैं ।
परस्पर अहमहमिकासे निरन्तर प्रवृत्त सूर्यकिरणों आकाशमें व्याप्त हो रही हैं । क्षीणप्राण
आर्द्रा कान्तिहीन वह चन्द्रमा भी रात्रिके अन्धकारसे युद्ध करनेवाली अपनी कान्ति
(किरणों) को परिभ्रान्ति (अतिशय ग्लानि, पक्षा—अतिशय यशवट) को कह रहा है
अर्थात् अपनी प्रभाके साथ चन्द्रमा भी क्षीण हो रहा है । [प्रातः काल हो गया, अतः रात्र अथ
आप शम्भा त्यागकर छठिये] ॥ ४ ॥

स्फुरति तिमिरस्तोमः पङ्कप्रपञ्च इवोच्चैः

पुरमितगन्धञ्जच्चचूचूषुटस्फुटचुम्बितः ।

अपि मधुकरी कालिम्भन्या विराजति धूमल-

च्छद्विरिव रवेर्लोकालक्ष्मीं करैरभिपातुके ॥ ५ ॥

स्फुरतीति । तिमिरस्तोमः तमोराशि, छायालक्ष्मीम् अलङ्कशोभाम्, अभि-
पातुके अभिज्ञानज्ञि, पञ्जनेमुमिन्दुमिरित्यर्थः । छायावर्गादपि अधिकारगवर्णैरिति
यावत् । उदीयमानसूर्यकिरणानां तद्वत् परिदृश्यमानत्वादिनि भावः । 'लपत—'
इत्यादिना उक्कट्, 'न लो—' इत्यादिना पक्षोपतिपेक्षात् कर्मणि द्वितीया । रवेः
सूर्यस्य, करे किरणैः, किरणसम्पातेरित्यर्थः । पुङ्क भूयिष्ठ यथा तथा, तित्तराग्नौ
श्वेतपक्षाणः हमानाम्, 'हसास्तु श्वेत' इत्यमरः । चञ्चलि, चञ्चले, मृगाल-
भक्षार्थं कर्दमालोढनव्यप्रनयेति भावः । चञ्चूपुटे अहगवर्मे श्रोत्रियुगले स्फुट
स्पष्टम्, चुम्बितं स्पष्टं, विलोडित इत्यर्थः । पङ्कप्रपञ्चं कर्दमराशि इव, उच्चैः
अत्यर्थं, स्फुरति दीप्यते इत्युपमा । तथा कालीम् आत्मानं मन्यते इति कालिम्भन्या
अतिवृष्णा इत्यर्थः । वीं अर्थे 'जानपद—' इत्यादिना ङीप्, कालशब्दोपपदात्
मन्यते 'आत्ममाने खञ्ज' इति खञ् प्रत्ययः, 'स्तिथ्यनव्ययस्य' इति इन्व ।
'अरद्विपत्—' इत्यादिना मुमागमः । मधुकरी मृद्वी अपि, छायालक्ष्मीम् अभि-

पातुके रवे करे घूमलच्छवि कृष्णलोहितकान्ति इव । 'धूमधूमलौ कृष्णलोहितौ'
हृन्मर । विराजति शोभते । 'अत्र काव्या मृदया रविकरलौहित्याद्युत्कृष्टगुणग्रहणे
तद्गुणालङ्कारः, तदुत्थापिता घूमलत्वोत्प्रेक्षेति सङ्कर ॥ ५ ॥

अन्नरार-मनूह लाक्षाशोभा (महावरकी लालिमा) का अधिकमग करनेवाले अर्थात्
महावरमे भी अधिक लाल सूर्य-किरणोंसे अनेक रंगे पड़ोवाले हसोंके (बीचटम मृगाल-
दण्डको खादकर निकालनेके लिए) चञ्चल चम्बुपुटसे स्पष्टन हुए जाने हुए पङ्क-समूहके
समान शोभित होगा है तथा अपनेको अधिक काली माननेवाली भ्रमरी अरण्यतम सूर्यकिरणोंसे
धूमिल (लालिमायुक्त कृष्णर्वा) कान्तिके समान शोभती है । [अत्यन्त अरण्य वर्णवाली
सूर्य-किरणें पङ्क-समूहमें प्रविष्ट होगी कुछ ऐसी मादम पर रही है, कि—रंगे पड़ोवाले
तथा लाल च चवाले अनेक हसोंके बीच मृगालदण्ड (दिस) के लिए अधिक पङ्कको छोदेते
हैं । तथा वैसे अरण्यतम सूर्य-किरणोंके रससे अत्यधिक काली भ्रमरी भी धूमिल वर्णवाली
हो रही है] ॥ ५ ॥

रजनिव्रमथुप्रालेयान्म कणक्रमसम्भृतै
कुशलिशलयस्याच्छैरभेशयैरुदविन्दुभि ।
सुपिरकुशलेनायसूचीशिक्षाङ्कुरसङ्कर
किमपि गमिताम्यन्तमुक्ताफलान्यनुमेनिरे ॥ ६ ॥

रजनीति । रजने रात्रे, हरिनीरूपाया इति भाव । वमथय करशीकरा,
शुण्ढाप्रविशितजलकणस्वरूपा इत्यर्थ । 'वमथु करशीकर' इत्यमर । ये प्राले-
यान्मस हिमजलस्य, कणा विन्दव, ते क्रमेण क्रमशः, किञ्चित् किञ्चित् कृष्येति ।
सम्भृतै सञ्चितै, किञ्चित् किञ्चित् कृत्वा सञ्चयात् स्थूलीभूतैरिति भाव । कुशकि-
शलयस्य सूचीवत् सूक्ष्माग्रतवीनदर्भपत्राणामित्यर्थ । जातावेकचमम् । अग्रे
शरतं इति अग्रेषाया तै अग्रस्यै । 'अधिकरणे शरते' इत्यच् । अष्टे निर्मले, उद-
विन्दुभि अलङ्कजे । कर्त्तभि । सुपिरे मुक्तादिषु द्विद्रविधाने, कुशलेन निपुणेन,
शिषिपनेति शेष । किमपि किञ्चित्, अन्त मध्ये, अपस लौहस्य, सूचीनाभ्यधनी-
नाम्, सीयन्माघनसूक्ष्माग्रशलाकाविनोषाणामित्यर्थ । शिक्षाङ्कुरः शिक्षा अग्रभाग,
स एष सूक्ष्मः वादङ्कुर, तै सङ्कर भङ्गमम्, गमिनानि प्रापितानि, मुक्ताफलानि
मौक्तिकानि, अर्द्धविद्धानि मुक्ताफलानीत्यर्थ । अनुमेनिरे हीनतया वुडुधिरे, हीनी-
कृतानीत्यर्थ । सूर्यकिरणसम्पर्केण अन्नरौज्ज्वल्यसाधर्म्यात् मुक्ताफलानि निरस्कृ-
तानीति भाव । इति सादृश्ये लङ्गा । अग्र दर्भाग्रोदविन्दूना वेधसूच्यप्रलप्रमुक्ता-

१ 'अत्र काव्या मृदया रविकरलौहित्याजीविकारात्तदेव तदुत्थापिता
इति 'जीवातु' इति अ० म० शिवदत्तशर्माणः । २ '—न्यवमेनिरे' इति पाठान्तरम् ।

फलेत्पमा, प्रायेद्याम्भ कनेषु वमधुत्वरूपगात् रजने करिणीन्वरूपमिदरेकदेशवि-
वर्त्तिरूपम् इत्यनयोरङ्गाङ्गिमावात् संसृष्टि ॥ ६ ॥

(करिणी-रूपिणी) रात्रिदे वमधु (गुण्टादण्टके पुत्कारने निकले हुए अलकण-रूपी
ओमदे जल-वर्णों) के कण्ठ (घोंरे-घोंरे) सहित ओर कुशाओंके नये पत्तोंके अग्रभाग
(नोक) पर स्थित जलविन्दुओंके (म तियोंके छेदनेमें चतुर करीगरके द्वारा कुछ मोनरने
होकेका मूँकी नोकपर रमे हुए मोनियोंको तुच्छ माना (पाठा—निररुक्त कर दिया) ।
[प्रायः कालमें कुशाओंके पत्तोंके ओर स्थित ओमकी बूँदें टेर करनेमें कुशर कारीगरके द्वारा
कुछ छेदे गये अथ एव मूँकी न कपर स्थित मोनियोंमें अधिक क्षाम रही हैं] ॥ ६ ॥

रविहचिञ्चुचामोङ्कारेषु स्फुटान्तविन्दुना

गमयितुममूरुचोयन्ते विहार्यामि नारका ।

स्वरविश्चनायामामुचैरुदात्तनयाऽऽहता ।

शिगिरमहमो विम्बादस्मादसशयमगव ॥ ७ ॥

रवीनि । एवं सूर्यस्य, स्वयं उदयकालीनकिरण एव, अथ पूर्वाह्णकाले अग्रे
समन्त्रदिशेषा मामास, 'अग्निश्च पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते' इत्यादि सम्मयद्वन्द्वैरिति
भावः । ओङ्कारेषु आहौ उच्चार्यमाणप्रणवेषु, स्फुटा स्वप्ता, अमला स्वप्ता, विन्दव
उपरिस्थितविन्दून्निर्गच्छन्ति, तेषां भावः तथा ताम् । गमयितुं प्रापयितुम्, ओङ्कारा
णामुपरिदेशे विन्दून् सम्प्रापयितुमित्यर्थः । विहायमि आकाशे, अम् परिहरयमाना,
नारका नक्षत्राणि, उक्षीयन्ते एकमेकं कृत्वा सङ्गृह्यन्ते, प्रभातालोकेन पुनर्गमनया
परिहरयमानत्वात् कृतत्वमाम्याच्चेति भावः । किञ्च, आमा अस्मात्, उदात्तनया
हृद्यनया, 'उचैरुदात्त' इत्युक्तस्यस्वरविशेषनया च । 'उदात्त' स्वरभेदे स्यात्
काव्यालङ्कारहृद्ययो' इति विश्वः । उचै अत्यन्तम्, स्वरविश्चनाय उदात्ताख्यस्वर
सम्पादनार्थम् । अस्मान् परिहरयमानान्, शिगिरमहम् प्रीतिकिरणस्य चन्द्रस्य,
विम्बान् मण्डलान् अथ किंवा, अमशय निक्षयम् । अभावायैऽन्यथोक्ताव ।
आहता सङ्गृहीता, कैलापीति शेषः । अन्यथा चन्द्राक्षरस्वरकाक्ष एव गता ? इति
भावः । अमशयमित्युत्प्रेक्षायां ॥ ७ ॥

सूर्य-विरण्यपी अचाओं (अग्ने-मन्त्रों) के ओङ्कारों (मन्त्रोंके आदिमें अवश्यो-
च्चार्यमाण 'ॐ' इस आकारवाले प्रणवों) में स्पष्टन निर्माण (स्वरोच्चारणदिशेपरितः)
विन्दुत्वको प्राप्त करनेके लिये अर्थात् 'ॐ' में विन्दु लक्षणके लिए इन नाराओंको ओर
एकत्रि (दा-उपरिगत) कर रहा है और इन (अचाओं) के अत्यन्त ऊपर लेनेमें—

(पञ्चा०—‘उच्चैर्दत्त’ इति पाणिनीय सूत्र (१।२।२९) के अनुसार ‘वशात्’ नामक स्वरविशेष बनानेके लिए) चन्द्रमाके इस विषय (मण्डल) में इन किरणोंको भी किसीने निश्चय ही ग्रहण कर लिया है । [ताराओंके अनिसूक्ष्म बिन्दुत्वर होनेसे ँकारके उपस्थित बिन्दु (अनुस्वार) बनानेके लिए नाराओंके तथा चन्द्रकिरणोंके सूक्ष्म रेखारूप होनेसे ऋचाओंके ऊपर उदात्त स्वरका चिह्न-विशेष लगानेके लिए चन्द्रकिरणोंके भ्रमण करनेकी संप्रेरणा की गयी है । उक्त कारणोंने ही ताराएँ तथा चन्द्र-किरणें नहीं दृष्टिगोचर हो रही हैं] ॥ ७ ॥

व्रजति कुमुदे दृष्ट्वा मोह दृशोरपिधायके
भवति च नलं दूरं तारापतौ च हतौजसि ।

लघु रघुपतेर्जाया मायामयीमित्र रावणि

तिमिरचिकुरग्राह रात्रि हिनस्ति गभस्तिराट् ॥ ८ ॥

व्रजतीति । दृष्ट्वा विद्योक्थ, रात्रेर्गोशोपक्रम सीतावधोपक्रमश्च इति शेष । कुमुदे कैरवे कपिविशेषे च । ‘कुमुद कैरवे रक्तपङ्कजे कुमुद कपी’ इति विश्व । मोह सङ्कोच मूर्च्छनञ्च, एकत्र—दिश सुद्रुणस्वभावात्, अन्यत्र—शोकादिति भाव । व्रजति गच्छति सति, तथा भवति स्वयि, नले च नैपथे च, दृशो दर्शनयोः, दर्शनमाधन-दृष्टिमण्डलयोरित्यर्थ । ‘दृक् स्त्रिया दर्शने नेत्रे बुद्धौ च त्रिषु वीक्षके’ इति मेदिनी । अपिधायके आख्यादके मति, तदाऽपि निद्रावेतापगमात् निमोलिताद्ये मनीष्यर्थ । अन्यत्र—नले कपिविशेषे । ‘नल पोटागले रात्रि पितृदेवे कपीश्वरे’ इति विश्व । दृशो अपिधायके सीतावधोद्यम द्रष्टु मोदुञ्च, अशक्यत्वात् हस्ताभ्यां चक्षुषोराद्यादके, भवति सति, तथा तारापतौ चन्द्रे सुग्रीवे च । ‘अस्मात्सिन्धयोस्तारा सुग्रीवगुरुयो पिनो’ इति विश्व । दूरम् अत्यन्तम्, हतौजसि निस्तेजस्के च मति, सूर्यतेजसा अभिभूतत्वात् सीतावधोद्यमस्य प्रतीकाराशक्यत्वाच्चेति भाव । रावणस्य अपत्य रावणि इन्द्रजित्, मायामयी मायाकल्पिता रघुपते रामचन्द्रस्य, जाया भार्या सीतामिव, कवचान्तरीयमायासीतावधविवरणावलम्बणेन अत्र उपमासन्नतिर्वोद्धृत्या । गभस्तिराट् सूर्य, रात्रि व्रजनीम्, लघु शिशुम्, तिमिराणि अन्धकारा पृथ, चिकुरा केशा, सीतापदे—निमिरागोव चिकुरा, तेषु गृहीत्वा निमिरचिकुरग्राहम् । सप्तम्युपपदे ‘समासत्तौ’ इति णमुल्-भाव । हिनस्ति । विनाशयति ॥ ८ ॥

मेघनादके द्वारा मायामयी सीताके वधका उपक्रम, पञ्चा०—रात्रिकी समाप्तिका उपक्रम) देखकर कुमुद (रात्रिमें विरसित होनेवाला कमल, पञ्चा०—‘कुमुद’नामक वानर) मोह (सङ्कोच, पञ्चा०—मूर्छा) को प्राप्त होते रहनेपर, कारके नेत्रोन्मूलन करते रहने-पर (पञ्चा०—‘नल’ नामक वानरके (सीतावधोपक्रमरूप दाहक कर्मके असह होनेसे) नेत्रोंको टक लेनेपर), चन्द्रमा (पञ्चा०—‘सुग्रीव’ नामक वानराधिराज) के क्षीयबल (निस्तेज, पञ्चा०—पराक्रमशून्य) होते रहनेपर जिस प्रकार रावणपुत्र (मेघनाद) ने

अनात्त्विक विवर्तिन वेदशास्त्राओंके सृष्टिआदिरूप पद-समूह हो सूर्य किरणरूप होकर प्रतिध्वनि हो रहे ह ॥ सूर्योदय हो गया, वेदपाठो वेदाध्ययन करने लगे, अतएव निद्रा त्यागकर जागिये ॥ १० ॥

नयनि भगवानन्भोजस्यानिबन्धनबान्धव
किमपि मघवत्प्रासादस्य प्रघाणमुपपन्नताम् ।

अपसरदरिध्रान्तप्रत्यग्वियत्पथमण्डली

लग्नेनफलदश्रान्तस्वर्णाचलभ्रमविभ्रम ॥ ११ ॥

नयतीति । भ्रमभोजस्य पक्षस्य, अनिवन्धनबान्धव निर्व्याजग्रन्थु, भगवान् माहात्मवान्, सूर्य इति शेष । अपसरन्ति अपगच्छन्ति, पलायमानातीत्यर्थ । अरिणि विरोधीनि, ध्वान्तानि अन्धकारा यस्या तादृश्याम्, प्रत्यग्वियत्पथमण्डल्या पश्चिमाकाशमार्गदेशे, लग्नात् किरणसम्पर्केण सयोगात्, तथाविधभावेन स्वास्त ध्वमतादिव्यर्थ । फलन् मफलीभवन्, अश्रान्तस्वर्णाचलभ्रम निरन्तरमेतद्विनिर्माणमेव, विभ्रम विलास यस्य स तादृश सन्, किमपि कस्यापि हेतो, मघवत्प्रासादस्य इन्द्रसौधस्य वैजयन्तस्य, प्रघाणम् अलिन्दम् । 'प्रघाणप्रघणादि' दा धदिद्वारमूकोष्टके' इत्यमर । 'अगारैकदेशे प्रवण प्रघाणश्च' इति निपात । उपपन्नताम् अन्तिकाश्रयताम्, 'स्यादुपपन्नोऽन्निकाश्रये' इत्यमर । नयति प्रापयति, प्रघाण समीपमाश्रितवानित्यर्थ । यथा स्वर्गादिपूर्णकोषागारपरिरक्षणाय नियुक्त कश्चित् रक्षिसेन्य तदागार परित पुन पुन परिक्रमण कुर्वन् सत्रैव गुप्तभावेनावस्थित शत्रुपक्षीय कमप्यनुसरन् तत्कोषागारप्राचारावलम्बनेनावस्थाय त दूरीकृत्य सफल प्रवृत्तिं सन् आन्तिपरिहाराय अलिन्द प्रविशति तद्वदिति भाव । सूर्य शत्रुनिब अन्धकार निरस्य घणानुदयाद्रिमाश्रित इति निष्कर्ष ॥ ११ ॥

कमलके लिप्यारण बन्धु तथा भागने (नष्ट होते) हुए शत्रुरूप अन्धकारके पश्चिम दिशा-सम्बन्धी आकाशमार्गमें तसर्ग (पाठा—अस्तद्वत-नष्ट) होनेसे निरन्तर सुनर पवनके चारों ओर घूमनेवाले भगवान् (सूर्य) इन्द्रप्रासादके अलिन्द (पट्टेइतर) का आश्रयकर रहे हैं अर्थात् पूर्वदिशामें उदय ले रहे ह । [विस प्रकार स्वर्गादि धनराशिका रक्षक पक्षेदार सर्वदा उसके चारों ओर चकर लगाना रहता है तथा उस धनराशि के पट्ट भागमें छिने हुए चोरका अनुमहण करता हुआ उसे मारकर आन्तिमें प्रवेशद्वारभागका आश्रय करता है, उसी प्रकार सुमेरुपर्वतरूप स्वर्गराशिका रक्षक जन एव उसकी चारों ओर घूमनेवाला सूर्य हम सुमेरुके पश्चिम भागमें पडुवे हुए चोररूपी अन्धकारको भागकर दवराज होनेसे देवोंके आवामभूत सुमेरुपवनके मी स्वामी पूर्व दिक्पति इन्द्रके 'वैजयन्त'

नामक प्रामादके प्रवेश-द्वारका आश्रय कर रहा है अर्थात् सूर्य-किरणों पूर्व दिशामें ऊपरकी ओर फैलने लगी हैं और सूर्य उदयाचनपर आगवा है] ॥ ११ ॥

नभसि मन्सा ध्वान्तधाड्यप्रमापणपत्रिणा-

मिह त्रिहरणै श्येनम्पाता रेवेरत्रवारयन् ।

शशविशमनत्रासादाशामगाक्षरमा शशी

तदधिगमनात्तारापारावतैरुद्वीयत ॥ १० ॥

नभसीति । शशी चन्द्र, ध्वान्तानाम् अन्धकारानामेव, ध्वाङ्काणां कृष्णवर्ण-
सायान् वायसानाम् । 'ध्वाङ्कात्मघोषपरमृद्वलिमुग्धायसा अपि' इत्यमर ।
प्रमापणे मारणे, पत्रिणा श्येनानाम्, श्येनस्वरूपागामित्यर्थ । 'अथ दशाङ्ग पत्री
श्येन' इत्यमर । पत्रिणा शराणामिति वा, शरस्वरूपागामि त्वर्थ । 'कलशमार्ग
शरा पत्री रोप इषुर्ह्येषो' इत्यमर । महसा तेजसाम्, सूर्याकिरणानामित्यर्थ । इह
नभसि आकाशे, विहरणै परिक्रमणै, रेवे सूर्यस्य, श्येनपात अस्या क्रियायां
घटनै इति श्येनम्पाता मृगया ताम् । 'घञ साऽस्या क्रियेति ज' इति जश्त्यय ।
'श्येननिहस्य पाते जे' इति मुमागम । 'श्येनम्पाता च मृगया' इत्यमर । अथवा
रपन् निश्चिन्वन्, ह्वेति शेष । दश स्वाङ्कस्थितमृगविशेष, तस्य विशतनत्रासात्
हिसामयात्, मारणभयादित्यर्थ । क्षरमा पश्चिमाम्, आशादिशम्, अगात् अगमत्,
पलायनवानित्यर्थ । तस्य श्येनम्पातावृत्तान्तस्य, रेवे मृगयाव्यापारस्येत्यर्थ ।
अधिगमनात् ज्ञानात्, ताराभि नक्षत्रैरेव, पारावतै कपोताद्यपक्षिदिपै । 'पारा
वत कलरव कपोत' इत्यमर । उद्वीयत उद्वीनन्, उद्वीय पलायितामित्यर्थ ।
माव लङ् । रत्रिकिरणा गगने प्रसरन्ति, शशाङ्क पश्चिमा दिश यात, तारकाश्च
अलक्ष्यता गता इति निष्कर्ष । रूपकालङ्कार ॥ ११ ॥

आकाशमें अन्धकारतुल्य (पञ्चा०—अन्धकाररूप) चौबौको मारने (पञ्चा०—नष्ट
करने) वाले ('श्येन'—बाज नामके) पक्षियों (पञ्चा०—बाजों) के समान अर्थात् पक्षि
रूप सूर्य-किरणोंके भ्रमण करनेसे ॥ स पूर्वदिशा (या आकाश) में सूर्यके आटेडका निश्चय
करता हुआ चन्द्रमा मानो (अपने अङ्गुष्ठ) दाँवके भी मारे जानेके भयसे पश्चिम (अर्थात्
अर्थात् बहुत दूर) दिशाको चला गया तथा उस (चन्द्रमाके भागने, या—सूर्यके आटेड
करनेके समाचार) के माध्यम से तारारूपी (पञ्चा०—ताराके समान) कबूतर भी उड़
गये (पञ्चा०—ऊपर चले गये अर्थात् अस्त हो गये) । [जिस प्रकार कोई शिकारा आकाश
में उड़ने हुए चौबौकी बाजोंसे मारकर शिकार करता है तो दाँवके ताला व्यक्ति भी अपने
दाँवके शिकारमें मारे जानेके भयसे वहाँमें बहुत दूर चला जाता है और कबूतर भी बहुत
ऊँचा उड़कर आकाशमें छिप जाते हैं, वसी प्रकार सूर्य भी आकाशमें फैलती हुई अपना
किरणोंमें ऊपर फैले हुए अन्धकारको नष्ट करने लगा तो 'वह भूय अपने किरणोंमें कृष्णवर्ण
अन्धकार को नष्टकर सनका शिकार कर रहा है, अब वह कदाचित् मेरे

कृष्णवर्ण शशकको भी न नष्ट कर दे' इस भयसे चन्द्रमा पश्चिम दिशाको चला गया और तारायें भी उस वृत्तान्तके मालूम होनेपर ऊपरकी ओर चली गयीं अर्थात् अस्त हो गयीं। आकाशमें सूर्यकिरण फैल रही हैं, कौवे तथा कबूतर उड़ रहे हैं, चन्द्रमा पश्चिम दिशामें अस्त हो रहा है तथा ताराएँ भी अस्तज्जत होनेसे अदृश्य हो गयी हैं ॥ १२ ॥

भृशमभिभरुस्तारा हाराच्युता इव मौक्तिका

सुरसुरतक्रीडाल्लनाद् घुसद्वियदङ्गणम् ।

बहुकरकृतात् प्रातः सम्मार्जनादधुना पुनः

निरुपधिनिजावस्थालक्ष्मीविलक्षणमीक्ष्यते ॥ १३ ॥

भृशमिति । तारा तारका, सुराणां देवमिथुनानाम्, सुरतजया रमणोद्भूतया, क्रीडया परिमर्दरूपविहारेण, लूनात् क्षिप्त्वा, हारात् मुक्तावलीत्, च्युता विचिता, मुक्ता इव मौक्तिका, ता इव मुक्ताफलानीव इत्युत्प्रेक्षा । स्वार्थे कप्रथम्य, 'प्रथम्य स्यात् काल् पूर्वस्य—' इत्योकार । घुसद्वियदङ्गण घुसदा देवानां नभोरूप प्राङ्गणम्, भृशम् आत्यर्थम्, अभिभरु अपूरयन्, रात्रौ परिपूरितवस्य इत्यर्थः । 'दुभृज् धारण पोषणयो' इत्यस्य लङि रूपम्, 'लङ् लाकटायनस्यैव' इति श्लेर्जुसादेशः । अधुना इहामीम्, प्रातः पुनः प्रभाते तु, बहुकरेण बहुव सहस्रसङ्ख्यका इत्यर्थः । करा किरणा यस्य स बहुकर सूर्यः, स एव बहुकर रत्नपूतञ्जक सम्मार्जनकारी जाति विशेष तेन, 'रत्नपू' स्यात् बहुकर' इत्यमरः । कृतात् सम्पादितात्, सम्मार्जनात् शोधनात्, शोधन्या तारापसारणेन धूल्याद्यपसारणेन च परिष्करणादित्यर्थः । निरुपधे निर्गन्धाया, अकृत्रिमाया इत्यर्थः । 'कपटोऽस्त्री व्याजङ्मभोपधपरङ्गकै- तवे' इत्यमरः । निजावस्थाया आरमस्वरूपस्य, लक्ष्म्या मीलनिर्मलशोभाया, विलक्षण राज्ञिकालिकावस्थातोऽन्यादृश रूपम्, ईक्ष्यते एतत् त्रियङ्गण दृश्यते, रत्नपूपरिशुद्धिवत् बहुकरशुद्धमन्तरीक्षमपि पूर्वंविलक्षण लक्ष्यते इत्यर्थः, जनैरिति शेषः ।

देवमिथुनों (पक्षा—देव तुल्य ऐश्वर्यवान् राजा आदि) के सुरतजन्य क्रीडामें दूटे हुए द्वारसे गिरे हुए मोतियोंक समान ताराओंने देवताओंके आकाश—प्राङ्गणको परिपूर्णकर दिया अर्थात् आकाशरूपी आँगनमें बिखर पड़ीं—फैल गयीं । फिर इस समय बहुत किरण वाले (सूर्य, पक्षा—शाहू देनेवाले लोगों) के द्वारा प्रातःकाल मार्जन (शाहू लगाकर साफ) करनेसे वह (आकाश—प्राङ्गण) स्वामाविक अवस्थावाली शोभासे विलक्षण (अपूर्व) दृष्टिगोचर हो रहा है । [जिस प्रकार ऐश्वर्यवान् राजा आदिके सुरतक्रीडाओंमें दूटे हुए द्वारसे गिरे मोती आँगनमें फैल जाते हैं तो शाहू देनेवाला नौकर आदिके प्रातःकालमें शाहू देनेसे कूड़ा—कचरा साफ हो जानेसे वह आँगन अपूर्व—सा दीखने लगता है, उसी प्रकार देवमिथुनकी सुरत क्रीडाओंसे दूटे हुए द्वारसे गिरकर मोतीतुल्य तारायण

देवोंके अग्निरूपी आकाशमें रातकी फैल गये थे, अब सूर्यरूपी शाङ्ख छमागेवालेमें प्रातः काल मानो शाङ्ख लगाकर वन ताराओंकी आकाशरूपी आँगनसे नहारकर फेंक दिया है, (दूर कर) दिया है, अत एव वह आकाशरूपी आँगन स्वामाविक शोभाकी धारण करनेमें अभूतपूर्व शोभाकी धारणकर रहा है] ॥ १३ ॥

प्रथमगुपहृत्यार्घ्यं तारैरखण्डिततण्डुलै-

स्तिमिरपरिपद्दूर्वापर्वोवलीशबलीकृतै ।

अथ रविरुचा प्रासानिधय नभः स्वविहारिभि ।

सृजति शशिरक्षोदश्रेणीमयैरुदसक्तुभि ॥ १४ ॥

प्रथममिति । नभ आकाशम् । कर्तुं । निमिरपरिपत् तमोवृन्दम्, सा एव दूर्वा-पर्वणा दूर्वाग्रन्थीनाम्, दूर्वाखलानामित्यर्थ । आवली ध्रेणी, श्यामवर्णात्वादिति भाव । तथा शङ्खलोकृतै विघ्नीकृतै, मिश्रितैरित्यर्थ । तारै नक्षत्रैरेव । 'नक्षत्रे मेघ मध्ये च तारा स्यात् तार इत्यपि' इति व्याडि । अखण्डिततण्डुलै निस्तुपाभग्न शालिवीजै, प्रथमम् आदौ, रविरुचा सूर्यकिरणानाम्, अर्घ्यं पूजाविधि, तस्मै इदम् अर्घ्यं पूजोपकरणमित्यर्थ । 'भूयै पूजाविधायकं' इति 'अर्घ्यमर्घार्थं' इति व्यासर । उपहार्य इत्या, अथ धनन्तरम्, स्वविहारिभि स्वस्मिन् नभसि सञ्चरणशीलै, शशिरक्षोदश्रेणीमय हिमक्षोदरपुञ्जरूपै, उदसक्तभि जलालोदितनृष्टयवचूर्णै । 'मग्नीदम्—' इत्यादिना उदकशब्दस्योदादेश । प्रासातिष्य प्रासकरम् अतिधिस-स्कारम्, अतिधये इदम् इति 'अतिधैर्यं' इति व्य । सृजति संपादयति, इवेति शेष । समामताय अतिधये अर्घ्यद्रामानन्तरमन्नदानदिगृहिणा रीति । रूपकादङ्कार

आकाश अण्वकार-समूहरूपी दूर्वाकाण्ड-समूहोंमें श्यामवर्ण युक्त अर्थात् मिश्रित किये गये नाराक्षरी अश्रुओंमें पहले सूर्यकिरणोंके लिए अर्घ्य देकर बादमें हिम-कण समूहरूपी जल मिश्रित सत्समूहोंमें भोजनदानरूप आनिध्य कर रहा है । जिस प्रकार कोई मद्गृहस्थ अपने गृहपर आये हुए अतिथिके लिये पहले भक्षण तथा दूर्वायुक्त जलमें अर्घ्य देनेके बाद उसके लिए अपने घरमें सरलाने प्राप्य जल मिलित सत् आदिमें भी उस भोजन देकर अतिथि-सत्कार क्रियाओं पूर्ण करता है, वही प्रकार यह आकाश भी श्यामवर्ण होनेमें दूर्वायुक्त अण्वकारमें तथा इवेनवर्ण होनेसे अखण्डित तण्डुल-कण (भक्षण) रूप्य ताराओंमें पहले सूर्य-किरणोंके लिए अर्घ्य देकर बादमें इवेन हिमकणरूप अल्पयुक्त सत्समूहोंमें वनना भोजनदानरूप अतिथि सत्कार कर रहा है] ॥ १४ ॥

असुरहितमप्यादित्योत्था विपत्तिमुपागत

दितिसुतगुरु प्राणैर्योक्तु न किं कचवत् तम ।

पठति लुठती कण्ठे प्रियामय मृतजीवनी ?

यदि न बहने सन्ध्यामौनव्रतव्ययभीरुताम् ॥ १५ ॥

असुरेति । दितिसुताना दैत्यानाम्, गुरु उपदेश शुक्राचार्य, असुरेभ्य दैत्येभ्य, दितमपि हितकरमपि, निशायामेव असुराणा वलपृष्ठेरिति भाव । 'चतुर्थी तदर्थाय—' इत्यादिना समास । अन्यत्र—असुभि प्राणै, रहित विहीनम्, अचेतनमपीत्यर्थ । आदित्योत्था सूर्योद्भूताम्, कचपत्ने—देवोद्भूताम्, देवानामसुरोधेनैव कचमय तत्रागममात् तद्विपत्ते तदुत्पत्त्यव्यपदेश । विपत्तिं विनाशम्, उपागत प्राप्तम्, तम अन्धकारम्, कचवत् बृहस्पतिसुत कचमिव, बृहस्पतिपुत्र कच देवताप्रेरित सञ्जीवनीविद्यार्थं शुक्रमुपागत, स दैत्यहत पुन शुक्रेणोज्जीवित इति भारती कथा । प्राणै असुभि, योक्तु सङ्घटयितुम्, कण्ठे गलमध्ये, लुठनीं परावर्त्तमानाम्, सदा निवृत्तीमित्यर्थ । 'आच्छीनयोर्नुम्' इति विश्वपाठुमभाव । मृत जीवनीं मृतसञ्जीवनीम्, विद्या ज्ञानम्, मन्त्रमिति यावत्, न पठति किम् ? न अधीते किम् ? अपि तु पठेदेव यदि, अथ शुक्र, सम्प्र्यामौनव्रतव्याप्त सम्प्र्याया प्रात सम्प्र्यायाम्, यत् मौनव्रत वाचसथमनियम, तस्य व्याप्त्य मद्वात्, भीरुता भयशीलताम्, न वहते न धत्ते, अन्यथा कथमोदकं विद्यावानपि पुरोवत्तिन स्वशिष्यासुररहितकरान्धकारविनाशमुपेक्षते इति भाव ॥ १५ ॥

दैत्यगुरु (शुक्राचार्य) देवों (पक्षा०—सूर्य) से उत्पन्न विपत्ति (मरण, पक्षा०—विनाश) को प्राप्त (रात्रिचर होनेसे) असुरोंके हितकर (पक्षा०—प्राण रहित) भी अन्धकारको 'कच' (नामक बृहस्पतिपुत्र) के समान प्राणोंसे युक्त करने अर्थात् जीवित कर के लिए कण्ठमें लोटनी हुई अथात् कण्ठस्थ (अतिशय अन्यस्त) मृतसञ्जीवनी विद्याको क्या नहीं पढ़ते ? अर्थात् अवश्य ही पढ़ते, यदि प्रात सम्प्र्यामें गृहीत मौनव्रतके भङ्ग होनेसे नहीं करते । [जिस प्रकार देवोंके कारण प्राप्त मृत्युवाले 'कच' को दैत्यगुरु शुक्राचार्यने मृतसञ्जीवनी विद्या पढ़कर जीवित कर दिया, उसी प्रकार सूर्यसे उत्पन्न नाशको प्राप्त किये हुए असुरहिंकारी अन्धकारको वह शुक्राचार्य मृतसञ्जीवनी विद्या पढ़कर अवश्य जीवित कर देते, किन्तु वे प्रात स ध्याका मौनव्रत लेनेके कारण उसके भङ्ग होनेपर दोष लगनेके भयमे वैसे नहीं करते हैं, अन्यथा वे सूर्यसे नष्ट हुए असुरों (स्वशिष्यों) के हितकारी अन्धकारको मृतमञ्जीवनी विद्या पढ़कर नामको अवश्यमेव जीवित कर देते] ॥ १५ ॥

पौराणिक कथा—देवासुरसंग्राममें मरते हुए देवपक्षको देखकर दैत्यगुरु शुक्राचार्यके पास उनसे मृतसञ्जीवनी विद्या पढ़नेके लिए बृहस्पतिपुत्र 'कच' को देवोंने भेजा तो उसके अभिप्रायको जानकर दैत्योंने उसे मार दारा, किन्तु दैत्यगुरु शुक्राचार्यने मृतसञ्जीवनी विद्यामे उस कचको पुन जीवित कर दिया । यह महाभारतकी कथा है ।

उदयशिरपरिप्रस्थान्यह्ना रणेऽत्र निश क्षणे

दधति प्रिहत्पूपाण्युष्मद्रुतारमजतुस्रवान् ।

उदयदरुणप्रह्वीभावादरादरुणानुजे

मिलति किमु तत्सद्वाच्छङ्कया नवेष्टकवेष्टना ? ॥ १६ ॥

उदयेति । अत्र अस्मिन्, चगे समये, अहर्मुखे इत्यर्थः । निश निशाया, अह्ना दिग्मेन सह, रणे युद्धे, स्वाधिकारस्थापनाय युद्धे प्रारब्धे सतीत्यर्थः । विहरण्यानि विहरन् मञ्जरम्, युद्धदर्शनकौतूहलेनेति भावः । पृथा सूर्यं यत्र तादृशानि मञ्जर-
स्पर्शाणि, उदयशित्तरिप्रस्थानि उदयात्रे भानूनि । 'ग्रन्थोऽग्नौ साधुमानयो' इति यादव । उग्रमग्नि सूर्यस्यैव तेजसा, द्रुताग्नि विर्लानानाम्, रश्मिचक्रेण शिलापत्रा
स्थानविशेषाणाम्, स्वदान् धावान्, प्रवाहानित्यर्थः । दधति धारयन्ति, रक्तम
प्राहानिवन्ति भावः । तेन च उदयत उल्लिख्य, अरगस्य सूर्यसारथे गच्छाम्रजस्य
अनुरागे समग्रये, प्रह्वीभावाद्गदाय प्रगमकरमाप्रहात्, अरगानुजे गच्छे, रक्तवर्गे
इति भावः । मिलति सङ्गम प्राप्तिवन्ति, अरगाय नन्तु समागच्छति मनीत्यर्थः ।
तासङ्ग ए गच्छमग्रकां वहेतो, जवा दायमा, इष्टका रक्तवर्गदाहमृत्तण्डविशेषा-
यस्या सा तादृशी, वेष्टना परिधि, प्राकार इत्यर्थः । इष्टका शङ्खनीया, किमु ?
किम् ? रक्तवर्गगर्दकास्ते पर्वतसमन्तात् स्थितेरिति भावः । यदुक्तं हेतुना गरुड न
सङ्गच्छेत्त तदा सुवर्गपद्म्यासिरूपा उदयात्रे नवेष्टकावेष्टना कश्मादिति सम्भावन
योगेष्टा ॥ १६ ॥

इस समयमें रात्रिका दिनके साथ (अग्ने-अग्ने पशुहं दृष्ट करनेके लिए) युद्ध
आरम्भ होनेपर (अथवा— रात्रिका दिन के साथ युद्धरूप इस समय अर्थात् प्रातःकालमें
जातो युद्ध देखनेके बौद्धिकने) विशावर (यून) रहे हैं सूर्य दिनमें ऐसे, उदयावका
शित्तर (सूर्य-किरणोंके साथ उत्पन्न) गमने विशाल हुए शिलाजीनके स्त्रावको कारण कर
रहे हैं अर्थात् सूर्य-किरण समाग्र मन्त्राग्ने शिलाजीन (पञ्चा०—युद्धमें आग्न होनेसे रक्त)
को बहा रहे हैं । तथा उदय होते (पञ्चा०—अग्ने युद्ध) अग्नि (अग्ने बहे माद) के
नमस्कार करनेके आदरमें गरुड (पञ्चारात्र, पञ्चा०—गारुडमणि) के निम्नोपर उनके
ममने नदे (मट्टने मर्याग्ने निष्ठा के कारण अकाल) ईरके बरेको गुहा क्यों नहीं
होनी क्या ? अर्थात् नर रात्रिके घिरे हुए के समान वह अवश्यनेव जान पड़ता है । [सूर्यके
अश्रित दिन-प्रकाशका रात्रिके साथ युद्ध होनेपर अपने आश्रितके सुदराग्रम को दिनके
लिए सूर्य युद्धरूपमें पशुने श्री वनक बारा तरफ नदी लाल-लाल सुवर्णवा ईशिका देता
बता दिना गना है मैनामन्त्रका दिन तथा रात्रिके परस्पर युद्ध होनेपर उनके मन्त्रुव
उदयावका शित्तर सूर्यमन्त्राग्ने मन्त्राग्ने बहे हुए शिलाजीनके रक्तस्त्रावना कारण कर
रहे हैं और बिना दिनकीव शिलाई गरुडमणि के समर्थमें दूरमें पट्टिकाओं में
अच्छुक्त हो रही है ऐसा मानस पड़ता है] ॥ १६ ॥

रश्मिरथप्रानध्वम्यन्ति मूत्र घडवा वल-

प्रतिबलवलावस्थायिन्य समोच्य समीपमान् ।

निजपरिवृद्ध गाढप्रेमा रथाङ्गविहङ्गमी

स्मरशरपराचीनत्वान्ता वृषस्यति सम्प्रति ॥ १७ ॥

रञ्जति । बलप्रतिबलस्य बलाख्यासुरप्रतिपक्षस्य पूर्वदिगधिपतेरिन्द्रस्य, वहेषु सन्वेषु, अवतिष्ठन्ते वर्तन्ते इति तदवस्थायिन्य, बडवा तुरङ्ग्य, पूर्वदिग्वर्तिन्य इति भावः । समीपगान् निकटस्थान्, रविरथहयान् सूर्यस्य स्यन्दनाक्षिण सप्त थोटकान्, समीप्य विलोक्य, अश्वस्यन्ति कामयन्ते, मैथुनार्थमश्वमिच्छन्तीत्यर्थः, भ्रुवमित्युपेक्षायाम् । तथा गाढप्रेमादृढानुरागा, अत एव स्मरशराणां कन्दर्पबाणानां पराधीनत्वान्ता परतन्त्रचित्ता, कामपीडितचित्ता इत्यर्थः । श्याङ्गविहङ्गमी चक्रवाकपक्षिणी । जातेरश्वी—'इत्यादिना ङाप् । निजपरिवृढ स्वप्रभुम्, आभन कान्त मित्यर्थः । सप्रति ऊप काले, दूषस्यति मैथुनाय कामयते इत्यर्थः । रात्रिप्रियोगिनो चक्रवाकमिथुनयो दिने एव मधुनकरणादिति बोध्यम् । 'सुष आभन वयच्' इति वयच् । 'अश्वक्षोरदृषपलवणानामाभनप्रीतो वयचि' इत्यसुगागमः । 'अश्वदृषयोर्मैथुनेच्छायाम्' इति वक्तव्यादर्धनियमः ॥ १७ ॥

बलासुरके प्रतिपक्षी (इन्द्र) की (पूर्वादिशास्त्रिन) सेनाकी धौडिया समापस जाने हुए सूर्यके पक्षके (साग) धोटकोंको मैथुनार्थ मानो इच्छा कर रही है (अथवा—अवश्य ही इच्छा कर रही है) तथा इस समय (प्राग कालमें) कामबाणोंसे पराधीन चित्तवाली एव अधिक प्रेमवाली चक्रवाकी अपने स्वामी (चक्रवाक) को मैथुनार्थ चाह रही है । अथवा—इस समय (प्राग कालमें) कामबाणोंमें पराधीन चित्तवाली एव अधिक प्रेम करनेवाली बलासुर (इन्द्र) की सेनामें रहनेवाली धौडिया अपने स्वामी समीपगामी सूर्यके साग में दिवा मैथुनार्थ चाह रही है तथा कामबाणोंसे पराधीन चित्तवाली एव अधिक प्रेम करनेवाली चक्रवाकी समीपगामी अपने स्वामी (चक्रवाक) को मैथुनार्थ चाह रहा है । (इससे अपने 'निजपरिवृढम्' पदको विभक्ति—परिणामकर बहुवचनान्त 'समीपगान्' पदको विभक्ति—परिणामकर एकवचनान्त करके बडवा तथा चक्रवाकी दोनों पक्षोंका विशेषण मानना चाहिये । 'गाढप्रेमा' पद 'डाडुमाभ्या—' सूत्रसे विकट बाप करनेसे तथा 'स्मर स्वान्ता' पद दाबत करनेसे बहुवचनान्त तथा एकवचनान्त दोनों हैं, इसके बहुवचनान्तपक्षमें विस्तीर्ण तथा भावन्त होनेसे सुलोपमात्र करनेसे उसको चक्रवाकी तथा बडवा—दोनोंके विशेषण मानना चाहिये) ॥ १७ ॥

निशि निरशना क्षीरस्यन्त क्षुधाऽश्वकिशोरका

मधुरमधुर ह्येपन्त्येते विलोलितचालधि ।

तुरगममज स्वानोत्थाय कण्ठमणिमन्यभू

धरभ्रमशिलालेहायेहाचणो लउणस्यति ॥ १८ ॥

निर्ज्ञाति । हे महाराज । निशि रात्रौ, निरशना निराहारा, मातु सकाशात् दूरे

१ 'ह्येपन्त्ये ते' इति 'प्रकाश' खखल पाठः ।

२ 'कण्ठमणि मन्यभू—' इति व्यस्तपद पाठान्तरम् ।

अवस्थापनादिति भाव । अत एव क्षुधा क्षुधया, क्षीरस्वन्त क्षीरम् आत्मन नृश-
मिच्छन्त, दुग्ध विपासत' इत्यर्थ । एते द्वेषाध्वनिना अनुमितसमीपावस्थाना
इत्यर्थ । अश्वकिशोरः घोटकबालका । 'बाल किशोर' इत्यमर । विडोलित
बालधि मज्जालितपुच्छ यथा तथा, मधुरमधुरम् अतिशयेन मनोहरम्, द्वेषन्ति
स्वनन्ति । किञ्च मणिमन्थभूधर सैन्धवाचल । 'सैन्धवोऽहोर्ज्ञातशिव मणिमन्थश्च
सिन्धुचे' इत्यमर । तज्जावाना मज्जानाम्, शिलाना लवणोपलविशेषाणाम्, लेहाय
आश्वादाय, ईहाचण चेष्टया वित्त, लवणलोलुपत्वेन व्याप्त इत्यर्थ । 'तेन वित्त-
क्षुब्धपूषणपौ' इति चणपप्रत्ययः । तुरगाणा वोटराणाम्, समज समूह । 'पशूनां
समज' इत्यमर । 'समुद्वेगः पशुषु' इत्यप्यमर । वृगन् शब्दायमान, हेया-
ध्वनि कुर्वन् इत्यर्थ । 'वृगन्मणि मन्थभू' इति व्यसनपाठे—मन्थभूधर रविपर्यन्त,
उद्याचल इत्यर्थ । 'मन्थो रवौ मयि । सात्त्विके नेत्ररोगे च' इति हैम । तज्जवशि
छालेहाय ईहाचण तुरगसमज, वृगन्त शब्दायमाना, मणय क्षुब्धपिण्डिकासमूहा
यस्मिन् तत्त यथा तथा वृगन्तकिङ्किणीक यथा तथा इत्यर्थ । स्थानोत्थाय स्थानात्
मिज्जशयनप्रदेशान्, उत्थाय उद्गत्य । 'अपादाने परीप्सायाम्' इति णमुल्ल । लवण-
स्यति लवणम् आत्मन नृशमिच्छति, लवण भोक्तुमिच्छतीत्यर्थ । 'अश्वक्षीर—'
इत्यादिना 'क्षीरलवणयोर्लसामाम्' इत्यर्थनियमेऽसुगागम । छालसा कृष्णा-
विरिक ॥ १८ ॥

तात्रिमै (मागते पृथक् वधे रहन्ते) निराहार एव भुक्षन् दूष पीनेकी अधिक इच्छा
करते हुए ये घोड़ों के बछड़े पूछकी हिलते हुए अतिशय मधुर दिनहिना रहे हैं तथा शयन
स्थानसे शीघ्र उठकर दिनहिनाता हुआ एव से थक पर्वतकी शिला (चट्टान—संथानमकके
बड़े बड़े टुकड़ों) के चाटनेकी इच्छासे युक्त (पाठा०—शयनस्थानसे तत्काल उठकर उद्या-
चलकी शिलाको चाटनेकी इच्छासे युक्त तथा गलेमें पड़े हुए मणियाँ की छुत्तुमको बार-
बार रजाना हुआ) अश्वरूमह नमक चाहता है । (घोड़ोंके छोटे बच्चे दूष पीना तथा उठकर
नमक चाटना चाहते हैं) ॥ १८ ॥

उडुपरिपद् किं नोर्हन्त्य ? निश किमु नौचिती ?

पतिरिह न यत् ताभ्या दृष्टो गण्यरुचोगण ।

स्फुटमुडुपतेराश्म वक्ष स्फुरन्मलिनाश्मन-

च्छवि यदनयोर्विच्छेदेऽपि मृत वत न द्रुतम् ॥ १९ ॥

उडुवनि । उडुपरिपद् तारागणस्य, अर्हन्त भाव अर्हन्त पूज्यत्वम्, प्रशसनी-
यस्त्वमित्यर्थ । प्रागेवास्तगमनस्येति भाव । न किम् ? अपि अहस्त्वमेव । 'अर्हन्त्वम्'
इति पाठे—अर्हन्त्वम् औचित्यम्, न किम् ? अपि तु औचित्यमेवेत्यर्थ । 'अर्हन्ती'

१ 'नाहन्त्वम्' इति, 'नाहन्ती' इति च पाठान्तरम् । २ 'द्रुतम्' इति पाठान्तरम् ।

इति पाठे । 'अहं' प्रशसयाम्' इति शतरि, अहंतो भाव इति ब्राह्मणादित्वात् व्यञ्ज
प्रत्यये 'अहंतो नुम च' इति नुमागम, 'व्यञ्ज पितृकरणादीकारो बहुलम्' इति
वामा । 'यस्य हल' इति यकारलोप । एतेन औचित्यो व्याख्याता । नुमभावस्तु
विशेष । निदा रात्रेरपि, न औचित्यो न औचित्यम्, किमु ? अपि ॥ उचितमेव,
प्रागेवापगमनमिति भावः । अहंस्वमेवोत्थितमेव चाह, —यत् यस्मात्, इह अस्मिन्
समये, प्रभातकाले इत्यर्थः । गणेशस्त्रीगण परिगणनीयकान्तिस्य, अतिशयेन
परिचीणकिरण इत्यर्थः । 'गणेशेय' इत्यौणादिकृष्यप्रत्ययः । पति चन्द्र, साभ्याम्
उडुपरिपन्निशयो, न दृष्ट न अत्रलोकित । 'धन्यास्नात' । न पश्यन्ति पतिमङ्ग
कुलक्षयम्' इति स्मृते स्त्रीणां पत्युः स्त्रीणावस्थाया ईष्यस्य अधन्यत्वसूचकत्वादिति
भावः । किञ्च, अश्वमेध इयम् आश्वमेध, 'तस्येइम्' इत्यण्, सश्वमेधे भगि त्रिका
राभावात् 'अश्वमेधो विकारे टिलोपो वक्तव्य' इति टिलोपोभावः । स्फुरन्ती शशाङ्क
तया कृष्णवर्णत्वेन प्रकाशमाना, मलिना कृष्णवर्णा, आश्वमेधो पापागमयी, पापाण
वत् कठिनेत्यर्थः । छवि कान्ति यस्य तत् स्फुरन्मिलनारमनश्छवि कृष्णवर्णप्रस्तर
सदृशम्, उडुपते ताराकान्तस्य, वक्ष हृदयम्, अश्वमेधो विकार आश्वमेध पापाण-
मयम्, प्रस्तरवत् दुर्भेद्यमिति भावः । विकारार्थेऽङ्गप्रत्ययः । 'अश्वमेधो विकारे
टिलोपो वक्तव्य' इति टिलोपः । स्फुट सयम् । कुत ? यत् यस्मात्, अनयो स्व
कान्तयो उडुपरिपन्निशयो, विच्छेदे वियोगोऽपि, प्रागेवापगमनादिति भावः । द्रुत
शीघ्रम्, न मृत न विदीर्ण जातम् वन इति स्नेहे । अनयोवियोगेन उडुपते वक्षो
विदारणेन मरणस्यौचित्यादिति भावः ॥ १९ ॥

त तारासमूहं पूज्यस्व (पाठा०—औचित्य) नहीं है क्या ? तथा रात्रिका औचित्य, क्या
है क्या ? कि उन दोनों (तारासमूह तथा रात्रि) ने गिनने योग्य अर्थात् अत्यन्त रूप से
समूहवाले (क्षीणकिरण) पति (चन्द्रमा) को नहीं देखा (पतिरूप चन्द्रके बिनाश)
पहले ही नष्ट होनेवाले तारासमूह तथा रात्रिका नष्ट हो जाना अत्यन्त उचित है ।
स्फुरित होने हुए मन्त्रि (कृष्णवर्ण) पत्थरके समान कान्तिवान् तारापति (चन्द्रमा)
वक्ष स्थल अवश्य ही पत्थरका (या—मानो पत्थरसे) बना है, क्योंकि (अथवा—जो =
हृदय) इन दोनों (तारासमूह तथा रात्रि) के वियोग होन पर भी शीघ्र नष्ट नहीं हुआ
(पाठा०—विषय गया) । [अत एव चन्द्रमाके ऐसा कार्य अनुविन हुआ । तारागण नष्ट
हो गये, रात्रि नीन गयी तथा चन्द्र भी क्षीणप्रम हो गया ।] ॥ १९ ॥

अरुणकिरणे वक्षो लाजानद्धनि जुटोति या
परिणयति ता सन्ध्यामेतामत्रैमि मणिदिव ।

इयमिष स एवाग्निभ्रान्ति करोति पुरा यत्

करमपि न कस्तस्यैतोत्क सकौतुकमोक्षितुम् ? ॥ २० ॥

अहणेति । या प्रातः सन्ध्या, अहणस्य सूर्यसारथे अनूरो, किरणौ रश्मौ एव, चह्नी भनले, आरत्तवर्णस्वसाम्यादिति भावः । उडूनि नक्षत्राणि एव, लाजान् भूट-
धान्यकृतान्, अक्षतान्, जहोति आहुतिदानेनेव अदर्शनं नयतीत्यर्थः । आहुतिं
ददाति च । प्रभातालोकेन नक्षत्राणां क्षीणत्वशुभ्रत्वादिरूपेण प्रतीयमानत्वात्
लाजमागम्यत्व बोध्यमिति । ताम् उच्छरूपाम्, एतां परिहरयमावाम्, सन्ध्या प्रातः
सन्ध्यारूपा वधूम, दिवं आकाशस्थं, मणि रत्नम्, सूर्यं इति यावत् । वर इति
भावः । परिणयति परि सर्वतोभावेन, नयति प्रापयति, उपस्थापयतात्यर्थः । उप-
पश्यते च, इति अवेमि जानामि । वाक्यार्थं कर्म । इत्युत्प्रेक्षे इत्यर्थः । कथमवेपी-
त्यपेक्षायामाह—यत यस्मात् हेतो, इयं सन्ध्यावधूरिव, सोऽपि स वरः सूर्योऽपि,
पुरा पूर्वम्, आगामिनि काले च । 'स्थात् प्रवन्दे चिरातीतं निकटानामिके पुरा'
इत्यमरः । तत्र सन्ध्या पूर्वं सूर्यश्च आगामिनि काले इत्यप्यर्थः । अग्निभ्रांतिम्
आख्यात् आत्मनि अग्निविभ्रमं लाजहोमानन्तरम् अग्निप्रदक्षिणरूपं भ्रमगज्ज,
करोति चकार करिष्यति च । 'यावत्पुराणिपातयोर्लट्' । एकत्र—सन्ध्याया मूर्पस्य
च उभयोरेव अग्निवर्णात्वात् उभावेन आ मनि तदभ्रमं कुर्वत अन्यत्र च—अग्रे वधू
तत्पृष्ठतो वरश्च अग्निप्रदक्षिणं करोतीति परिणयविधौ इत्यतः इत्यप्यर्थः । एवञ्च क एव
को वा जनः, सकीर्तुक् सकीर्तुहल यथा तथा, ससूत्रञ्च । 'कीर्तुक् विषयामोगे हस्त
सूत्रे कुतूहले' इति यादवः । तस्य परिणेतुं घुमणे, कर्म अशु इत्यञ्च । 'बलिहरना
शब्दं करा' इत्यमरः । ईदृशितुं प्रष्टुम्, न एव उक्तं ? नैव उक्तं ? एकत्र—अह
णोद्यकालिकहोमादिति त्यक्तमनुष्ठानार्थम्, अन्यत्र—चित्तविनीद्वनार्थमेति भावः ।
भवतीति शेषः । अयि तु सर्वेऽपि उच्छुका एव भवन्तीत्यर्थः । अहणोद्यं जातः,
तारकाश्च अहणप्रभाया लीना सत्यं न दृश्यन्ते, सन्ध्यासमयश्च समागतः, इदानीं
सूर्यं उदृश्यति इति निष्कर्षः ॥ २० ॥

जो (प्रातः सन्ध्यारूपिणी वधू) अहणक किरणरूपी (पञ्चा०—अहणवर्णं ज्वालावर्ण-
वाणी) अग्निर्मे ताराकूपी लाजामो (धनवी खोलों) को हवन करती (पञ्चा०—एतुचाकर
जणनी—नष्ट करनी) है, देखो उस प्रातः सन्ध्या (स्वरिणी वधू) को आकाशमणि (सूर्य,
पञ्चा०—सूर्यरूपी श्रेष्ठ वर) अनुन्नत (पञ्चा०—विवाहित) वर रहा है, क्योंकि इस
(प्रातः सन्ध्यारूपिणी वधू) के समान वह सूर्य भी पहले (पञ्चा०—आगामी समयमें)
अग्निकी आग्नि (भ्रम, पञ्चा०—प्रदक्षिणा) को करेगा तथा किया तथा उस (सूर्य के
किरणवर्णों) प्रातः सन्ध्या सूर्याश्रित होने समय) ऊपर जल किया हुआ कौन व्यक्ति कौनहल-
पूर्वक नहीं देखेगा ? (पञ्चा०—उस (सूर्यरूपी वर) के विवादके बङ्गमसूत्र युक्त हाथको
कौन व्यक्ति उच्छुक्कित होकर नहीं देखेगा ?) । [जिस प्रकार वधू अहणवद्वं ब्राह्मणोंवाली
अग्निमें लाजाकुली करती है, उससे श्रेष्ठ वर विवाह करता है, वह वधू आगे-आगे तथा वर
पीछे-पीछे अग्निकी चारों ओर प्रदक्षिणा करते हुए भ्रमण करने हैं और कौतूहलपूर्वक सब-

लोग उस वरके विवाहकालके कटुण बंधे हुए हाथको देखते हैं, उसी प्रकार प्रकृतमें प्रातः-सन्ध्यारूपिणी वधू अरुणकिरणरूपी अग्निर्मं नम्ररूपरूपा आजाका इवन करती है, सूर्यरूपी श्रेष्ठ वर उसको परिणीत (विवाहित) कर रहा है, पहले प्रातः सन्ध्या तथा बादमें सूर्यने अरुण वर्ण होनेसे लोगोंमें अग्निवा अम सत्पन कर दिये हैं तथा फिर करेंगे (पक्षा०—पहले अरुणवर्ण वधू तथा बादमें अरुणवर्ण ही वर अग्निकी प्रदक्षिणा किये गये तथा करेंगे) और यह अर्थ देनेवाले हाथमें उपरवी ओर जल लिये, सूर्य-किरणों को देखते हैं (पक्षा०—वैवाहिक मङ्गलसूत्रसंयुक्त वरके हाथको लोग देखते हैं) यहापर अरुणमें अग्नि, ताराओंमें लाल, प्रातः सन्ध्यामें वधू, सूर्यमें बरका आरोप किया गया है । अरुणोदय हो गया, ताराएँ अरुणकी प्रसामें विलीन होनेसे नहीं दायगी, प्रातः सन्ध्याका समय आ गया और अब सूर्योदय भी होनेवाला है] ॥ २० ॥

रतिरतिपतिद्वैतश्रोकौ । धुर बिभृमस्तमा
प्रियवचसि यन्नग्नाचार्या वदामस्तमा तत ।
अपि विरचितो जिह्वा पुण्यद्रुह खलु नर्मण
परुषमरुपे नैषस्यै वा मुदेतु मुदेऽपि तत् ॥ २१ ॥

रतीति । रतिरतिपत्यो कामाङ्गनाकामदेवयो, द्वैत द्वितीयस्य यत्र सा तादृशी, श्री सौन्दर्यं यद्यो तादृशी हे द्वितायी रतिकामो ! हे तादृशी भैमीनलौ ! प्रियवचसि चाटुवादे, स्तुतिपाठकर्मणीत्यर्थ । धुर भारम्, बिभृमस्तमाम् अतिशयेन भारयाम् । भवता सन्तोषकरवचनप्रयोगे एव वयं नियुक्ता स्म इत्यर्थ । तथाऽपि यत् परमात्, नम्राना वन्दिनाम्, अन्यान्यस्तुतिपाठकानामित्यर्थ । 'नम्र वपगवन्दिनो' इत्यमर । आचार्या उपदेशादिकारिण, वन्दिप्रधाना इत्यर्थ । वयमिति शेष । तत तस्मात्, वदामस्तमाम् अतिशयेन वदाम्, औचित्यात् अप्रियमपि हितमिति भाव । उभयत्रापि 'तिङ्श्रयात्-' इत्यामुप्रत्यय । ननु किं वा अप्रिय किं वा हित वदथ ? इत्याह—पुण्यद्रुह सन्ध्याचर्चनाद्यवरयकर्त्तव्यनित्यकर्मणां घातजनकत्वेन सुकृतविरोधिन, नर्मण युवयो सुखविहारस्य, विघ्न अन्तराय, विरचित खलु अपि ईदृगप्रियवाक्येन सम्पादित एव, अतः तत् तादृशम्, परं नर्मण्याघातकत्वा निष्ठुरम्, वाक्यमिति शेष । वा युवयो मध्ये, एकस्यै भैम्यै, अरूपे क्रोधाभावाय, हृषित् प्रसज्य प्रतिषेधेऽपि नञ्समास इत्यते । न उदेति न जायते, बालाया अदीक्षिताया तरया सन्ध्यादिप्रयोजनमाभावात् क्रोधायैव भवतु इति भाव । मुदे हर्षाय अपि, सन्ध्याचर्चनाद्यवरयकर्मप्रयोजनत्वात् तत्र सन्तोषायापीत्यर्थ । उदेतु । अप्रियमपि हित वाक्यमेवेत्यतो वदाम् इत्याशय ॥ २१ ॥

हे रति तथा कामदेवके द्वैतकी (द्वितीयत्व) की शोभाशले (कवच — दमयन्ती तथा मल) 'प्रियवचन (कहने) में हमलोग विशेषतः आर ग्रहण करते हैं अर्थात् आपलोगोंके,

प्रियभावको करना ही हमलोगोंका दायित्व, क्योंकि हमलोग नम्राचार्य (स्तुतिपाठक
बन्धियोंके आचार्य) हैं, हम कारण हमयोग (अप्रिय होनेपर भी हितकर वचनको)
विशेषण करते हैं। अथवा—जिस कारण बन्धियोंके आचार्य हमलोग प्रियवचन कहने में
भार ग्रहण करते हैं, उस कारण विशेषण करते हैं। अथ च—नम्रोंके आचार्य हैं, अत एव
निम्नजन्म होने के कारण चाहे जो कुछ मन्त्र—मुरा कहन हं)। प्रातः सन्ध्यादि (आवश्यक
निरुद्धनके व्याघात करनेने) पुण्यकर्मके नर्म (तुम दोनों के मुरतःदिविमान) का विज्ज
किया ही है अर्थात् उठनेके लिए यह वचन कहकर हमने आर दोनोंके मुरतःविजातने काम
ही वचन कहा है, (अत एव नम्रविधानक होनेने) कठोर वह (वचन) तुम दोनोंमें—ने एक
(दमयन्ती) के क्राशामावके लिए नहीं होवे अथवा केवल अक्रोध लिए हा नहीं होवे, किन्तु
हर्षके लिए भी होवे [दमयन्ती हम मुरतःविजातक वचनोंके केवल क्रोधने रहित हा नहीं
होवे, किन्तु वनप्रिय तुम्हारे अनुज्ञ वचनका आदरकर हर्षित भी होवे। अथवा—
(ममविरोधी होनेने) कठोर वह वचन पुण्यविरोधी नम्रका विज्जकारक होकर दमयन्तीके
क्राशामावके लिए ही न होवे, किन्तु हर्षके लिए भी होवे। अथवा—क्रोधहीन दमयन्तीके ही
हर्षके लिए नहीं होवे, किन्तु तुम्हारे हर्षके लिए भी होवे अर्थात् यद्यपि यह वचन
मुरतःविजातविजातक होनेसे कठोर है, तथापि वनप्रिया पतिप्राया दमयन्ती हम वनभावक
वचनको सुनकर क्रोध छोड़कर हर्षित हो होमी और तुम दो हर्षित होवोगे ही। अथवा—
उत्पन्न वह वचन दमयन्तीके क्राशामावके लिए नहीं होवे और हर्षके लिए भी नहीं होवे
अर्थात् दमयन्ती मने ही क्रोधित वा हर्षित—दोनोंमें से कुछ भी नहीं होवे, किन्तु प्रियवचन
कहनेका भार ग्रहण करनेके कारण तुम लोगोंके लिए जो वचन है, उभी वचन का हम
लोगोंने कहा है ॥ २१ ॥

अथ लघुयुताकान्त सन्ध्यामुपास्व्य तपोमय ।

त्वरयति कथ सन्ध्वेय त्वा न नाम निशानुजा ? ।

द्युतिपतिरथावश्यक्कुरी दिनोदयमासिता

हरिपतिहरित्पूर्णभ्रणायिन कियतः क्षणान् ? ॥ २२ ॥

भवेति । तपोमय । हे तपोनिष्ठ । महाराज । अत एव विशिष्टकाळे सन्ध्यादि
निमित्त तत्परां भय इत्याशय । उषु शीघ्रम्, युता धृष्टगमृता, कान्ता प्रिया यस्य
॥ तादृश युताकान्त विसृष्टप्रिय । भय जायस्व । कान्ताशान्दस्य प्रियादिपादात्
'स्त्रिया पुवत्' इत्यादिना पूर्वपदस्य न पुवज्ञाव, 'अप्रियादिषु' इति प्रतिषेधात् ।
सन्ध्या प्राभातिकोपासनाम्, उपास्व्य सेवस्व । इयम् उपस्थिता, निशानुजा
रात्रेरनन्तर सजाता, सन्ध्या प्रातः सन्ध्या, त्वा भवन्तम्, कथ किमर्थम् नाम
प्रश्ने, न त्वरयति ? न सत्परीक्षोति ? सन्ध्याोपासनार्थमिति भाव । यत, अथ

१ 'तपोमल' इति पादान्तरम् ।

अनन्तरमेव, सत्वरमेवेत्यर्थः । दिनोदय दिवसप्रादुर्भावम् , अवश्य करिष्यतीति अवश्यङ्कारी दिन निश्चितमेव करिष्यन् इत्यर्थः , 'आवश्यकार्थमर्णयो' इत्यावरण कार्यं णिनि । मयूरव्यसङ्गादिवात् समासः । आवश्यकार्यत्वादिह भविष्यति इत्यर्थः । एभ्यते, अतः 'अनेनोर्भविष्यदाधमर्णयो' इतीत्युक्तपट्टीप्रतिषेधः सम्भवति, अतः एव भविष्यदर्थाभावे अत्र प्रयुदाहरणकाशिकायाम् 'अवश्यङ्कारी वदस्य' इति । हरि इन्द्र, पति प्रभु यस्या नादस्या, हरितः दिशः, प्राचीदिगङ्गनाया इत्यर्थः । पूर्णभ्रण सम्पूर्णगर्भः, दशममासीयगर्भ इत्यर्थः । 'गर्भो भ्रूण इमौ मर्मा' इत्यमरः । स इव आचरित इति तादृशः । 'आचारक्यङ्गतात् कर्त्तरि च' । एति पति सूर्यः, कियत् चणान् कति कालान्, अत्यन्तसयोगे द्वितीया । आसिता ! स्थाता ! स्वोदय स्थगयित्वा अपेक्षिष्यसे ? इत्यर्थः । न च गमपीति भावः । शीघ्रमेव सूर्यस्य उदयो भविष्यति, अतः सूर्योदयात् प्राक् सन्ध्योपासनार्थं स वरमुत्तिष्ठ इति तात्पर्यम् ॥ २१ ॥

हे तपोनिष्ठ (पाठा०—तपसे निमल, नल) ! शीघ्र कालासौ पृथक् होवो अर्थात् दमयन्ती के साथ शयन करना छोड़ो और सन्ध्योपासन करो रात्रिके बाद होनेवाली सन्ध्या अर्थात् प्रातः सन्ध्या (सन्ध्योपासनके लिए) तुम्हें क्यों नहीं जल्दी करा रही है अर्थात् प्रातः सन्ध्योपासन का समय देखकर तुम जल्दी क्यों नहीं उठ रहे हो ? दिनोदयको शीघ्र करनेवाला, अतएव पूर्व दिशाके पूर्ण गर्भस्थित सा सूर्य विसर्जने क्षणतक ठहरेगा अर्थात् कुछ कुछ क्षणोंमें ही सूर्योदय होनेवाला है । यहाँ 'एधुयुताकाल' पदमें अदादिगणस्थ 'यु' मिथुनामिथुनयो' धातुसे भूतमें 'क्त' प्रत्ययसे सिद्ध होनेवाले 'युत' शब्दको 'पृथक् होने' अर्थमें प्रयुक्तकर महाकवि श्रीहर्षने सन्ध्योपासनके बाद पुनः वातासे संयुक्त होनेका संकेत किया है, केवल पृथक् अर्थको कहनेवाले 'त्यक्त' आदि शब्दका प्रयोग अमङ्गलवाचक होनेसे नहीं किया है ॥ २२ ॥

मुपितमनश्चित्र भैमि । तस्याऽथ कलागृहै-
निषधप्रसुधानाथस्यापि श्लथश्लथता त्रिधौ ।

अजगणदय सन्ध्या बन्ध्या त्रिधाय न दूषण

नममितुमता यन्नाम स्यान्न सम्प्रति पूषणम् ॥ २३ ॥

मुपितेति । भैमि ! हे दमयन्ति ! अद्य अस्मिन् दिवसे, कलागृहै कलानां सुगुणालिङ्गनादिरूपकामक्रीडाशानाम्, गृहै निवासे, आश्रयस्वरूपया इत्यर्थः । 'गृहा पुंसि च भूम्येव' इत्यमरः । त्वया भवत्या, मुपितमनसः अपहृतचित्तस्य, निषधप्रसुधानाथस्य नलस्यापि, परमधार्मिकस्यापीति भावः । त्रिधौ श्रुतिविहित सन्ध्योपासनादिनित्यकर्मानुष्ठाने, श्लथश्लथता अतिशिथिलता । कर्मधारयवद्भावे पुवङ्गावात् सुपो लुट् । चित्रम्, आश्चर्यम्, यत् यस्मात्, अथ नलः, सम्प्रति अधुना,

न ह्यन पूर्वमिति भावः । सन्ध्या प्रातः कालिकोपासनाम्, बन्ध्या निष्कलाम्, विधाय कृत्वा, अनुपास्येत्यर्थः । दूषण दोषम्, न अजगत् न गणयति स्म, तथा पूषण सूर्यम्, अचिरमेव उदेत्यन्तमिति भावः । 'इन्द्रहन्तृपाश्याङ्गा शौ' इति नियमाच्चात्र दीर्घः । नमस्मितुमना नमस्कृत्य कामम् । 'नमोवरिविशित्रञ्च वयच्' इति वयजन्तात् तुमन्, 'वयस्य विभाषा' इति वयलोपः, 'तु काममनसोरपि' इति मकारलोपः । न स्यात् नाम न भवेदपीत्यर्थः । अप्यर्थं नाम ॥ २३ ॥

२ इत्यन्ति । सोमठ कलाभोके आश्रयभूत तुमने चारितचित्त (या—त्यक्तम्भाव) निषधत्त राजा नल्लो सी (प्रातः सन्ध्यापासनरूपं नित्यं) कमने सी अतिशय शिथिलता हेता आश्रय जनक है (अथ च—कणाद तुमने चेरितचित्त मन्का कणात्वात् चन्द्रमामे शिथिलता (स्नेहाभाव) होना आश्रयकारक है) (क्योंकि) इस (राजा नल्ल) ने सन्ध्याको बन्ध्या (व्यर्थ) बनाकर (नित्यकृत्यके लोपवन्त्य) दोषको नहीं गिना तथा ॥ समय सूर्यको नमस्कार करनेका इच्छुक नहीं है । [जिन प्रकार अन्य क्षीमे आरुक्त पुरुष अपनी धर्मरक्षणी त्याग करनेमें दीव नहीं समझता और उसे बन्ध्या (सम्मानहीन) कर देता है एवं सम्मोगने दिनको विघ्नकारक मानकर सूर्यका आदर नहीं करता, उसी प्रकार ये नव मां तुमने आमक्त होकर प्रातः सन्ध्याका त्यागकर उसके त्यागके दोषको चिन्ता नहीं करने और न तो सूर्यका नमस्कार (सूर्योपस्थान) ही करना चाहते हैं] ॥ २३ ॥

न विदुषितरा काऽपि त्वमस्तनो नियतक्रिया-

पतनदुरिते हेतुर्भक्तं मनस्विनि । मास्म भू ।

अनिशमयदस्यागादेन जन खलु कामुको-

सुभगमभिवात्यत्युद्दामाऽपराङ्मददावद ॥ २४ ॥

नेति । मनस्विनि । हे प्रशस्तचित्ते । अत अवश्यमेव स्वामिनम् अवैधकार्यात् निवारयिष्यसीत्याशयः । त्वत् भवत्या, स्वामपेक्ष्य इत्यर्थः । 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी । अतिशयेन विदुषी विदुषितरा । 'घरूप-' इत्यादिना ह्रस्वः । काऽपि अग्या काचिदपि स्त्री, न, अस्तीति शेषः । तत तस्मात् हेतोः, भर्तुः परशु, नियतक्रिया पतनदुरिते सन्ध्यादिनित्यकर्मभ्रंशपापे, हेतु कारणम्, मास्म भू नैव भव । 'स्मोत्तरे लट् च' इति चकाराल्लुङ्, 'न माद्योगे' इत्यडभावात् । तथा हि—उद्दामा इव उद्गतम्, तल्लहितमित्यर्थः । दाम लोकस्थितिरूपपाश येन तादृश उच्छ्वल, उग्रस्वभाव इत्यर्थः । अत एव अपरेषाम् अन्येषाम्, अङ्कस्य कलङ्कस्य, वदा वद वक्ता । 'घरि-' इत्यादिना वदैद्धिरक्तिः अभ्यासस्यागागमश्च । जन लोक, खलु निश्चिन्तम्, अनिश निरन्तरम्, भवत्या त्वया, कर्त्या । अत्यागात् अमुक्त्वात् हेतोः । 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुवद्भावात्' । एन नलम्, तव स्वामिनमिति भावः । कामुकी वृषस्यन्ती । 'वृषस्यन्ती तु कामुकी' इत्यमरः । 'अश्ववृषयोर्मथुनेच्छायाम्' इति

वयच्च । तस्या सुमग वल्लभम् , तत्परवशमित्यर्थः । अभिधास्यति कथयिष्यति,
खीलोल वक्ष्यतीत्यर्थः । तस्मादेन चण सुञ्ज इति भावः ॥ २३ ॥

हे मनस्विनि (पण्डिते दमयन्ति) । तुमसे अधिक कोई (दूसरी स्त्री) विदुषी नहीं है,
इस कारण तुम (प्रागे सन्ध्योपासनरूप) नित्यकृत्यके त्याग पाप (के करने) में कारण मत
बनो, क्योंकि तुम्हारा निरन्तर माव करनेसे लच्छट्टुल तथा दूसरेके दोषको कहनेवाले लोग
इसे (नलको) खीलम्यट कहेंगे [अतः इस समय नित्यकृत्यके लिए नलका त्यागकर इनके
धर्मकार्य करने तथा जनापवादमें बचनेमें सहायिका बनो] ॥ २४ ॥

रह सहचरीमेता राज्ञपि 'स्त्रितरा क्षण
तरणिकिरणैः 'स्तोकोन्मुक्तैः' समालभते नभः ।

उदधिनिरयद्भाम्बत्स्वर्णोदकुम्भदिदृष्टुता

दधति नलिन प्रस्थायिन्य भ्रिय कुमुदान्मुदा ॥ २५ ॥

रहेति । हे राजन् , स्त्रितराम् दृष्टस्त्रियमपि । स्त्रीशब्दस्य जातिवाचिरत्वेऽपि
तस्मिन्पुण्यगतातिशयविवक्षया तरप्रत्यय इति भगवान् भाष्यकारः । 'नद्या शेष
स्यान्यतरस्याम्' इति विभाषया इत्थः । सहचरीं सहचारिणीम् । पञ्चाद्विषु चरद्
इति द्विकरणेन ङीप् । एता मिषा दमयन्तीम् , चण [कियत्कालम् , रह त्यज, वैध
क्रियासम्पादयार्थमिति भावः । 'रहति त्यजति त्यागे' इति भट्टमह । रहेर्भावादि
काङ्क्षोऽटि सिप् । नभ आकाशम् , कर्तुं स्तोकेन लेशेन, उन्मुक्तं प्रकटितं । 'करणे च
स्तोकादयः—' इत्यादिना यत्ते तृतीया । कर्त्तुं कर्मकर्त्तरि वा क । स्वल्पमुदितैरि
त्यर्थः । तरणिकिरणैः सूर्यरश्मिभिः करणे । समालभते आत्मानं विलिम्पति, अनु-
लिम्पति इत्यर्थः । 'समालम्भो विलेपनम्' इत्यमरः । 'समालम्भनमित्यपि' इत्यनु-
लेपनपर्याये यादव । कुङ्कुमैरिवेति भावः । किञ्च, कुमुदात् कैरवात् । अपादानात्
नलिन पद्म प्रति । गम्यमानोद्देशक्रियापेक्षया कर्मत्वम् । नलिनम् उद्दिश्य इत्यर्थः ।
प्रस्थायिन्य प्रतिष्ठमाना, रजन्यपगमेन ह्यमुदस्य मुदणोन्मुखत्वात् पद्मस्य च
स्फुटनोन्मुखत्वादिति भावः । प्रज्ञादिस्त्वात् णिनि । अत्र गम्यादिपाठात् 'भक्तेनो'
इति पष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीयेति केचित् , तत् प्रतिष्ठतेरकर्मकत्वमनालोच्य
उक्तमित्युपेक्षणीयम् । भ्रिय शोभा , मुदा हर्षेण, उदकानि धीयन्ते अस्मिन् इति
उदधि समुद्रः । 'कर्मण्यधिकरणे च' इति विप्रत्ययः । 'पेपदासवाहनधिषु च'
इत्युदादेशः । तस्मात् निरयन् निर्गच्छन् । एतेर्लट् राजादेशः । स चामौ भास्वान्
सूर्यश्च, स एव स्वर्णस्य उदकुम्भं जलपूर्णहेमघटः । 'एकहस्तादौ पूरयितव्येऽयतर
स्याम्' इत्युदादेशः । तदिदृष्टता द्रष्टुमिच्छव दिदृक्षव तासां भावः तत्ताताम् ,
विलोकयितुमिच्छुनाम् । 'न लोक—' इत्यादिना पष्ठीप्रतिषेधे गम्यादिपाठात् द्विती-

१ स्त्रितराम् इति पाठान्तरम् । २ 'स्तोकान्मुक्त' इति पाठान्तरम् ।

यासमास । दधति धारयन्तीव, दिदृक्षन्ते हवेत्यर्थ । प्रस्थानकाले पूर्णकुम्भदर्शनस्य मङ्गलावहवादिस्ति भाव ॥ २५ ॥

दे रात्रिम् । अत्रियोगे श्रेष्ठतम महचरी हस (दम्पत्यो) को छोड़िये, थोड़ी निकनी कुम्भसूर्य-किरणोंसे आकाश स्थित हो रहा है और (सञ्चलित होते हुए) कुम्भसूर्य (निकट भविष्यमें विकसित होनेवाले) कमलोंमें जानेवाली शोभा समुद्रमें निकलने हुए सूर्यस्य स्वर्णकलशको देखना चाहती है । [प्रस्थान कालमें स्वर्णकलशका देखना मङ्गलकारक होनेमें यहा कुम्भसूर्य कमलको जाती हुए शोभाके लिए देखी वस्तुश्री की गयी है] ॥ २५ ॥

प्रथमककुम्भ पान्यत्वेन स्फुटोक्षितवृत्रहा-

प्यनुपशमिह द्रक्ष्यन्ति त्वा महाभि मह पते ।

पटिमग्रहाद्गुहापोहक्षमाणि त्रितन्वता-

महत् । युवयोस्तावद्विचमात्रिवेचनचातुरीम् ॥ २६ ॥

प्रथमेति । मह पते सूर्यस्य महाभि तेजसि, प्रथमककुम्भ इन्द्रस्थामिकाया प्राच्या, पन्थान गच्छतीति पाथ नित्यपथिक । 'पन्थो ण नित्यम्' इति जम-पथ पन्थादेशस्य । तत्त्वेन पथिकत्वेन, नित्यमिन्द्रदिगन्त येन इत्यर्थ । स्फुट स्पष्टम्, ईक्षित स्पष्ट, वृत्रहा इन्द्र ये नानि । 'इन्द्रन्—' इत्यादिना शो धीर्घ । अनुपशम् अनुगमेव, इन्द्रेक्षणान्तरमेवेत्यर्थ । 'अन्वगन्वसमनुगेऽनुपद क्लीयमप्यपम्' इत्यमर । इह अरिमन् प्रदेशे, त्वा नल, द्रक्ष्यन्ति अवलोकयिष्यति । तन किं तन्नाह—पटिमग्रहात् पटिमा मीनगता, तीव्रगरिमता इत्यर्थ । चातुर्यञ्च, प्रज्ञातिशयञ्च इत्यर्थ । तस्य वहनात् धारणात् 'पटुघनुरतीव्रगयो' इति शाश्वन । ऊहापोहयो ऊह तर्क, विचारपूर्वकसङ्ग्रहमित्यर्थ । अपोह परित्याग, अपकृष्टवस्तुम् इति भाव । तयो जमाणि ज्ञप्तानि, तानि महाभि इति शेष । युवयो तस्य इन्द्रस्य तच्च च । 'त्यदादीनि सर्वानित्यम्' इति त्यदाद्येकशेष । छधर्माविवेचनचातुरी शोभासम्पदा तारतम्यविचारकौशलम्, तावत् साकश्येन, त्रितन्वता त्रितारपटु, प्रदर्शयन्तु इति यावत् । उभयदक्षिणान् उभयतारतम्य विवेकानु युक्तमेवेति भाव, अहह इत्यद्भुते ॥ २६ ॥

पूर्व दिशाका नित्य पथिक (सूर्यश जानेवाला) होनेमें इन्द्र (के ऐश्वर्य) को सम्यक् प्रकारमें देखी हुए सूर्यकी किरणें उसके बाद ही तुम्हें (नन्को) देखोगे (अत्र) तीक्ष्णता (पक्षा—चातुर्य) होनेसे उहापोह (सदस्तुके प्रज्ञ तथा अमदस्तुके त्याग) में समर्थ वे सूर्य-किरणें तुम दोनों (देवराज तथा निषधेन नन्) के सन्तानें ऐश्वर्य (या शोभा) को चातुर्यका विस्तार करे । [जिस प्रकार लोचनमें कोय चतुर व्यक्ति पहले किसी व्यक्तिका ऐश्वर्यादि देखकर समान्यबुद्धि तथा फिर दूसरेका ऐश्वर्यादि देखकर विशेषबुद्धि होनेपर निर्णय करके दूसरेके ऐश्वर्यादिको भेद्य ननयता है, वही प्रकार ये सूर्य-किरणें भी प्रथम

पूर्वदिशामे दद्रा ऐश्वर्यं देसकर विशेषे बुद्धिमे तुम्हारे (नरके) ऐश्वर्यको धेष्ट समझें] ॥२१॥

अनतिशिथिले पुम्भावेन प्रगल्भबला रलु
प्रसभमलय पाथोजास्ये निविश्य निरित्वरा ।
किमपि मुग्रत कृत्वाऽऽनीत त्रितीयं सरोजिनी
मधुरसमुपयोगे जाया नवाग्रमचीकरम् ॥ २७ ॥

अनतीति । पुम्भावेन पुस्त्वेन हेतुना, प्रगल्भबला स्त्रीमयोऽधिकशक्तिमपक्षा,
अलय शृङ्गा, अनतिशिथिले ईषद्विकसिते, पाथोजस्य पद्मस्य, आस्ये मुखे, उपरि
भाते इत्यर्थः । प्रसभ बलात्, निविश्य अधिष्टाय, निरित्वरा निर्गच्छन्त सन्त,
'इण्णज्जित्तित्थय ववरप्' इति ववरप । मुग्रत मुखे कृत्वा एवेत्यर्थः । आनीतम्
आहृतम्, सरोजिनीमधुरस मलिन्या मकरन्दद्रवम्, त्रितीयं दत्त्वा, उपोयोगे
प्रातः, जाया स्वकान्ताम् अङ्गिनीम्, किमपि पूर्वमनायासाद् अनिर्वचनीयसुखादु,
नवाग्र नूतन भोज्यम्, अधीकरन् कारयामासु, भोजयामासु इत्यर्थः । करोतेर्गं
बहुपुपधाया हृदय, 'हृकोरन्यतरस्याम्' इति अणिकर्त्तुं कर्मत्वम् । घटी पुमान्
हृदयन्तराधिकृतमपि मिष्टमद्य बलात् आदित्य स्वस्त्रियं प्रयच्छन्तीति भावः ॥ २७ ॥

पुरुषश्च होनेसे अनिशय सामर्थ्यवान् (या—घृष्ट) तथा कुछ विकसित (पद्मा—
स्वर विकसित होनेसे बढित) कमलके मुग्रमे (पद्मा—कमलके कर) बलाकारमे
बैठक- निवलने (बहसि उठने हुए अमरीने मुखमें लेकर लावे) हुए कमलिनी-मकरन्दको
देकर प्रातःकालमें स्त्रीके लिए अनिर्वचनीय आनन्दप्रद नवाग्रभोजन कराया । [जिस प्रकार
स्त्री होनेसे अक्षरशक्ति होनेके कारण अपने अधिक शक्तिशाले किसीसे कोई भोज्यार्थ लाने-
में अममर्थ स्त्रीके लिए पुरुष होनेसे अधिक शक्तिशाला उसका पति बलाकारपूर्वक उक्त
प्रबल स्त्रीसे भोज्य पदार्थ लेकर उसे समुष्ट करना है, वसा प्रकार अक्षरविकसित होनेसे
कठिनतर कमलसे मकरन्द-पान करनेमें अक्षरशक्ति स्त्रीके लिए अपने मुखमें उक्त मकरन्द
को लेकर दिया, जिससे उस अमरीको अनिर्वचनीय आनन्द हुआ । अथ च—पतिवत्
उच्छिष्ट मकरन्दपानकर अनिर्वचनीय स्वाद होनेसे स्त्रीका आनन्दित होना स्वाभाविक
ही है । अथ च—प्रातःकालमें शुभकारक नवाग्रभोजन करनेमें भी आनन्दित होना उचित
ही है । प्रातःकाल होनेसे कमल कुछ विकसित होने लगे तथा अमर एकमे दूसरे कमलपर
उठ-उठकर जाने लगे] ॥ २७ ॥

मिहिरकिरणामोग भोक्तु प्रवृत्ततया पुर
कलितचुलुकाऽऽपोशानस्य प्रदार्थमिय त्रिमु ? ।
इति विकसितेनैकेन प्राग्दलेन सरोजिनी
जनयति मतिं साक्षात्कर्त्तुं जनस्य दिनोदये ॥ २८ ॥

मिहिरिति । इय किञ्चित् विकसिता, सरोजिनी पद्मिनी, दिनोदये अस्मिन् प्रातः काले प्राक् दृष्टान्तरविकाशात् पूर्वम्, विकसितेन प्रस्फुटितेन, सहतीमावात् पृथग्भूतेनेत्यर्थः । एकेन पत्रमात्रेण, दलेन पत्रेण हेतुना, मिहिरकिरण सूर्यरश्मिरेव, आ सम्यक् भुज्यते इति आभोग भोज्य तम्, भोक्तुं खादितुम्, प्रवृत्ततया कृतारम्भतया हेतुना, पुर पूर्वम्, भोजनात् प्रागित्यर्थः । आपोशानस्य आपोशान नाम भोजनादौ कर्त्तव्यम् 'अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा' इति समन्त्रकजलपानेन अन्नस्य अमृतास्तरणरूप कार्यं, समन्त्रकाचमनमित्यर्थः, तस्य । पृषोदादित्वान् साधु । प्रहार्थम् आचरणार्थं, कलितं कृतं, चुचुक गण्डूपकरगार्थं त्रिशिलट्टकनिष्ठाद्गुलिकं प्रसूयपरारय निकुञ्जपागितलविशेष चस्या सा तादृशी, किमु ? जाता किम् ? इति उपप्रेक्षा, इति एवम्, सात्कारत्तुं स्वस्या एव द्रष्ट, जनस्य लोकस्य, मतिं बुद्धिम्, जनयति उत्पादयति । आपोशानकार्यकारा हस्तस्य कनिष्ठाङ्गुलिं प्रसार्य अग्राङ्गुलीना सङ्कोच विधाय च जल पिबति इति सम्प्रदायः । प्राग् विकसितैकदलस्य त्रिशिलट्टकनिष्ठाङ्गुलीतुल्यतया पद्मस्य च निकुञ्जपागितलतुल्यतया कलितचुचुकरव बोद्धव्यम् ॥ २८ ॥

सरोजिना प्रातः कालं सर्वप्रथमं लिखे (लिखकर पैले) हुए एक पत्र (पत्रुडी) से दर्शकका पैली बुद्धि उत्पन्न करती है अर्थात् उसे देखकर देखनेवाला यह समझता है कि— 'सूर्य-किरण-मण्डलका उपभोग (पक्षा०—भोजन) करनेके लिए प्रवृत्त होनेसे यह (सरोजिना) पहले (भोजन करनेसे पूर्व) अपोशानके प्रदण ('अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा' इस मन्त्रको पढ़कर आचमन) करनेके लिए उत्पन्न है क्या ?' [जिस प्रकार भोजनके पूर्व 'कनिष्ठा अङ्गुलीको पैलाकर तथा शेष अङ्गुलियोंकी सङ्चितकर चुस्कुमें पानी लेकर अन्नको अमृतमय बनानेके लिए 'अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा' मन्त्रमे आचमन किया जाता है, वसी प्रकार प्रातः काल सर्वप्रथम लिखनेमे पैले हुए एक पत्रवाली सरोजिनी सूर्यकिरणका भोग (पक्षा०—भोजन) कर रहा है' ऐसा दर्शकोंके मनमें विचार उत्पन्न हो जाता है] ॥ २८ ॥

तटतरुदगश्रेणीसाराविणैरिव साम्प्रत

सरसि विगलभिद्रामुद्राऽननिष्ट मरोजिनी ।

अघरसुधया मध्ये मध्ये धधूमुपलब्धया

धयति मधुपं स्वादुक्कर मधूनि मरोन्माम् ॥ २९ ॥

नटति । साम्प्रतं सम्प्रति, सरसि सरोवरे, स्थितेति शेषः । सरोजिनी पद्मिनी, तटतरुषु तीरस्थितवृक्षसमूहेषु, या खगश्रेण्य पश्चिममूहा, तासां साराविणै सम्यग् रावैरिव, उच्चकलकलैरिवेत्यर्थः । इत्युपप्रेक्षा । 'अभिविधौ माये इनुण्' इति स्वार्थे इट् प्रत्ययः । विगलभिद्रामुद्रा विगलन्ती अपगच्छन्ती, निद्रा स्वप्न इव, मुद्रा निमीलनम्, सङ्कोच इत्यर्थः । यस्या सा तादृशी, अजनिष्ट जाता । अने. कर्त्तरि लुट् ।

तथा मधुप अमर, सरोरहा कमलानाम्, मधुनि मकरन्दान्, मध्ये मध्ये अन्त
राज्ज्वरा, वधूनुखे स्वकान्तानने, लज्जया लज्जवन्काले प्राप्तया, अधरसुधया अध
रानुनेन, स्वादुद्वार स्वादुज्ज्वल, सुरमानि हृत्वेत्यर्थः । 'स्वादुमि लमुत्' इति
लमुत्प्रत्ययः । मान्तनिर्देशादेव पूर्वपदस्य मकारान्ननिपातः । धयति पिबति ।
घटो लट् ॥ २९ ॥

इस समय कमलानाने लज्जाके लट्पर स्थित वृक्षोंके पक्षियोंके गुण्डके कन्वरोंमें मत्ते
निद्रासुषुप्ता स्थापित कर दिया है अर्थात् अन्य मनुष्यादि जिस प्रकार पक्षी आदिके घरों
में निद्राको स्थापित करते हैं, उसी प्रकार कमलानाने भी निद्राका स्थापित कर दिया (विहसित
हो गया) है और अमर कन्वरोंके परागोंको अमरीके मुखमें प्राप्त अधराकृतने बीच-बीचमें
अधिक स्वादिष्ट करके पान कर रहा है अर्थात् अमर को कमलमकरन्दका पान करने समय
बीच-बीचमें अमरीके अधराकृतका पान उसे अधिक स्वादुमान् हो रहा है । [स्थापित
नीरसपक्षोंपर निवास करनेवाले पक्षिगण कन्वर करने लगे, कमल विकसित हो गये और
उनपर अमरी-महित अमर भ्रमण करने लगे, अब क्या है राजन् ? अब निद्रा-वाण
बीजित] ॥ २९ ॥

गतचरदिनस्यायुर्ध्वरो दयोदयसङ्कुचत्-

कमलमुकुलकोटं नीडे प्रवेशमुपेयुषाम् ।

इह मधुलिहा भिन्नेष्वम्भोरुहेषु ममायता

सह सहचरैरालोकयन्तेऽधुना मधुपारणा ॥ ३० ॥

गतेति । गतचरस्य गतपूर्वस्य । 'भूतपूर्वे चरत्' प्रागतीतरूप इत्यर्थः । दिवस्य
दिवसस्य, आयुर्ध्वरो जीवितावसाने मतिः, सायसमये इति भावः । दयोदयात्
वृषाविर्भावात् इव, तद्दुरवस्थादर्शनेनेति भावः । सङ्कुचता म्लानानाम्, रात्रिनि
मीलनस्वभावात् मुद्रिणीमदनामित्यर्थः । कमलमुकुलानां पद्मकोरकाणाम्, कोटो
अभ्यन्तरे एव, नीडे कुलाये । 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्' इत्यमरः । प्रवेशम् अन्तर्ग
मनम्, उपेयुषा प्राप्तवनाम् अन्तः प्रविशतामित्यर्थः, रात्रौ तत्रैव भावदानाम्
अत एव वृणोपवामानामिति भावः । इह अधुना, प्रभाते इत्यर्थः । भिन्नेषु विक
सितेषु, अम्भोरुहेषु पद्मेषु, ममायता निपतताम्, इनस्ततो भ्रमनामित्यर्थः । इणो
लट् शत्रादेशः । मधुलिहा मधुपानाम्, अधुना इदानीम्, सहचरैः सहदिर्भ्रम
रान्तरं सह, मग्नप्रयागतीरिति भावः । मधुना मकरन्देन, पारणा उपवामानन्तर
भोजनानि, आलोकयन्ते दृश्यन्ते, त्वनेरिति शेषः ॥ ३० ॥

पूर्व दिनके अन्त (कल सायंकाल) में मानो दयोदय होनेसे सङ्कुचित होने हुए मुकुल
(कोरक) के नीडे (मध्य) रूपी नीडे (घोंसले-वात्तगृह) में अमरीका इस समय

१ 'कोटाघीडे' इति 'कोट नीडे' इति च पाठान्तरम् ।

(मानकात्म्ये) कमलके विकसित होनेवाले कुर मङ्गल (अन्य अनर-अनरिने) के साथमें को जाने हुए मकरन्दपारणाको (लोग) देख रहे हैं [कमल मानकात्म्ये तत्र कमल मकरन्द होने लगा तत्र कुत अनर ठानेके अन्दर वन्द रह गये और मकरन्द मरी रहनेसे उन्हें उडवान किया तथा काटरी रहनेवाले उनके मङ्गल को उनके विपरीतके काम उडवान दिये, पुन अब मानकात्म्ये अनर कमल विकसित होने लगा तो वे बड़ा मङ्गलके साथ बड़ा पड़ने तथा रात्रिमें और बड़ा रहे हुए अनर का बड़ा निकले और सभी मङ्गल मकरन्द-पान करने लगे उने देखनेवालोंको देख कर कोन है कि रात्रिमें कमलके बड़ा अनर मानो कारागारमें बन्द रह गये (या नर गय) ये अब उड़ने लगे वनके बड़ा सड़कों रात्रिमें उडवान किया ये इन समय प्रातः काय होनेपर कमलके कारागारमें निकले हुए अनर अपने बड़ा मङ्गलोंके साथ मकरन्द पान करने लगे रह रहे] ॥ ३० ॥

निमिरप्रिरात् पाण्डुरान्ते शिरा कुमनारका
कमलमिति श्रेणीशोन्नीयने सरसी न का ? ।
शरपामितितध्वान्तध्वमिप्रमाऽऽवरवारपाद्
रत्नगिन्धर नीलरूपेक निजैरपरोभरै ॥ ३१ ॥

निमिरिति । शिरा प्राप्ताद्, निमिरा अन्यकारेण सह, विहात् विच्छेदात्, कृशा शीला, मूर्धममना औ-वश्यमादिनि भाव । नारका मङ्गलानि मानां ना तादरय मय, पाण्डुरान्ते पाण्डुवर्णा इव आचरन्ति, शिश्नमन्त्रादिनि भाव । का मारी नडाग, कमलानि विकसितरूपेण पञ्च, धूमिलानि हान्तरानि तैः, कमलानां हान्तरा विकसितरूपेण हान्तरानि वा, रनेनी कुव खेपणां इव, न उडाने ? न हयते ? अपि नु मर्वा एव उडाने इत्यर्थः । प्रियपनागनेन सर्वा एव हान्तरविकसितानां मवन्ति इति भाव । 'वर्मा' नुशानात् 'दशापो न' इति हांप्रमय, 'न'कारम् व 'न'कार । किन्तु एक केवलम्, रत्नगिन्धर वाकाशो परिमाण, तुल्यमोममठमिति-वर्थः । शरपामितितध्वान्तध्वमिप्रमाऽऽवरवारपाद् गवानी-वर्थः । ध्वान्तानि ध्वन्यकारात्, ध्वपमिति विनाशपन्नीति तादसीतान् । 'शिरा पुवत्' इत्यादिना पुवत्ताव । प्रमाणा मूर्धकिम्यानाम्, आदरेण आग्रहादि शानेन, घण्टात्, सरमात् हेतोः, स्वस्मिन् स्थानदानादेर्नोतिदर्थः । निजै स्वकीयैः, अयशोभरै अकीर्तिवाहुज्यैरित्, नीलानि नीलवर्णं भवन्ति । 'नील वर्ण' इति ध्वनोः मौवादिकाहम् । शरपागतहनुनाश्रयदानात् हेतुवित्तैर्निन्दाभरे कृष्णोभवति इत्यर्थः, शरपागताशक्रनकीर्तिओपादिव स्वमेक नीलमद्वयम् इति निष्कर्षः । नारकात्मनाश्रयात् गगने स्वेन नीलरूपेण प्रकट जातमिति भावः ॥ ३१ ॥

शिराई अक्षर के विशेष (पञ्चा—पाठ) से पाण्डुवर्ण-नी (स्वच्छ मांस) हो रही

है, कौन-सा तटाय कमलोंके (विकास रूपी) हातोंमें ध्वेन वर्ण नहीं हो रहा है !, (किन्तु) शरणागत अन्धकारके नाशक (सूर्य) किरणोंकी आदरपूर्वक ग्रहण करने (अपने यहाँ आश्रय देने) से केवल एक आकाशमण्डल (विशाल आकाश) मानो अपने अपकीर्ति-स्मृतिमें नीचा (क्षुण्णवर्ण) हो रहा है । [अन्धकाररूप प्रियजनके विरह होनेपर दिशाओंका पाण्डु वर्ण होने, कमलरूपी प्रियजनका विकास (शास) होनेपर तटोंको स्वच्छ होने और शरणागत अन्धकारके नाशक सूर्यकिरणोंको आश्रय देनेवाले आकाशमण्डलका अपकीर्तिमें नीलवर्ण होनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है । दिशाएँ स्वच्छ हो गयीं, तटोंमें कमल विकसित हो गये और आकाशमें सूर्य-किरण फैल गयीं, अग एव अब प्रभातकाल जानकर आप हीन निद्राभङ्ग करें] ॥ ३१ ॥

सरमिजवनान्युद्यत्पक्षार्यमाणि हसन्तु न ?

क्षतरुचिसुहृच्चन्द्र तन्द्रामुपैतु न कैरम् ? ।

हिमगिरिद्वपदायादश्रीप्रतीतमुद स्मित

कुमुदविपिनस्याथो पाथोरुहंनिजनिद्रया ॥ ३० ॥

सरसिजेति । उद्यन् उद्यम गच्छन्, पक्ष सहायभूत, अर्यमा सूर्य येषां तादृशानि, सरसिजवनानि कमलजाननानि, न हसन्तु ? न विकसन्तु ? न हास्य कुर्वन्तु ? इति च इति काकु, हसन्वेव इत्यर्थः । सुहृदाम् उद्यमे सर्वे पक्ष हसन्तीति लोके दर्शनादिति भावः । क्षतरुचि दीर्णक्षुति, सुहृत् मित्रम्, चन्द्र निशापति यस्य तत् तादृशम्, कैरव कुमुदम्, कर्त्तुं । तन्द्रा तन्द्रावत् निमीलनमित्यर्थः । प्रमीला च, न उपैतु ? न प्राप्नोतु ? अत्रापि काकु, उपैत्वेव इत्यर्थः । सुहृदीत्याया सर्वे पक्षावसीदन्तीति लोके दर्शनादिति भावः । अथो किञ्च, पाथोरुहं पत्रैः । कर्त्तुमि हिमगिरिद्वपदायादया हिमगिरे हिमालयस्य, द्वपदा शिलानाम्, दाया दया अशहरया, सदृशया इत्यर्थः । त्रिया क्षेत्रमम्पदा, प्रतीतमुद प्रतीता प्रकाश गता, मुत्तु हर्ष यस्य तादृशस्य प्रकटहर्षस्य, राश्री तथा हृष्टस्य इत्यर्थः । कुमुदविपिनस्य कैरववनस्य सम्बन्धिन्या, निजनिद्रया स्वनिद्रया विमिश्रेण, निशाकालिकस्व कीयनिमीलनात्मकनिद्रया सम्प्रति कुमुदवमगमित्वेन हेतुनेत्यर्थः, स्मित हसि तम्, विकसितश्च, भावे निष्ठा । राश्री कुमुदवनस्य हृष्टव कमलवनस्य च निद्रा आसीत्, इदानीं पक्षानि रात्रिजा स्वनिद्रा कुमुदवने सञ्चार्य तस्य हृष्टव गृहीत्वा हसन्तीवेत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या । 'हिमगिरिद्वपदायादधि प्रतीष्टमद स्मितम्' इति पाठान्तरं-पाथोरुहं निजनिद्रया स्वीयनिमीलनरूपनिद्रादानेन, हिमगिरिद्वपदायादा सदृशी, श्री शोभा यस्य तादृशम्, कुमुदवनस्य अद इदम्, स्मित नैशविकसन दारपञ्च, प्रतीष्ट वाञ्छितम्, प्रतिगृहीतमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

१ '—दधि प्रतीतमद' इति, '—दधि प्रतीष्टमद' इति च पाठान्तरम् ।

सपथ (सहायक) सूर्यके उदयमे युक्त कमन्वन विकसित नहीं होवें (पञ्चा०—नहीं हैं) १, क्षीणकान्ति मित्र चन्द्रमाशाला कुमुद तद्वा (निमीलन, पञ्चा०—नदीच-दर्शभाव) को नहीं प्राप्त करे १ व्ययश—कमन्-समूह हिमालय पर्वतकी चट्टानों के समान (स्वच्छन्म) कान्तिमे स्पष्ट दर्शवाले कुमुदवनकी निद्रामे हैंने इ अथवा अपनी निद्राको कुमुदवनमें देकर वनके विकासरूपी हामको ग्रहण कर लिये हें । (पाठा०—कमन्ने हिमालयकी चट्टानोंके समान स्वच्छन्म शोभावाले इम रिम (इषद्धारय, पञ्चा०—विकसन) को अपनी निद्रा (निमीलन) से बदल लिया) । [जिम प्रकार अपने पशुवाले व्यक्ति के अशुद्ध्य होनेपर कोई व्यक्ति ईसना है, उसी प्रकार विकसित होनेमे कारणभूत स्वपथ सूर्यके उदय होनेसे कमन् विकसित हो (पञ्चा०—ईस) रहा है, जिम प्रकार अपने पशुवालेका नाश या अवनति होनेमे कोई खिन्न होता है, उसी प्रकार विकसित करनेवाले सुहृद् चन्द्रमाके क्षीणविवि होकर अस्त (अस्तान्मय) होनेसे कुमुद निमीलित (पञ्चा०—विन) हो रहा है । अथवा—जिस प्रकार लोकमें कोई व्यक्ति किसीको वस्तुको लेकर अपनी वस्तु उपका देता है, जो कमल राजिमें निमीलित (पञ्चा०—निद्रित) था, उसने राजिमें विकसित रहनेवाले (पञ्चा०—स्मित करनेवाले) कुमुदमे अदला-बदली कर ली है अर्थात् अपनी निद्रा (पञ्चा०—निमीलन—विकासभाव) को कुमुदके लिए देकर उसके रिम (हास, पञ्चा०—विकासभाव) को स्वप ग्रहण कर लिया है] ॥ ३२ ॥

धयतु नलिते माध्वीक वा न याऽभिनवागत

कुमुदमकरन्दीधै कुक्षिम्भरिर्भ्रमरोत्तर ।

इह तु लिहते रात्रोत्तरं रथाङ्गविहङ्गमा

मधु निजवधूवत्राम्भोजेऽधुनाऽधरनामकम् ॥ ३३ ॥

धयतिनि । कुमुदाना करवाणाम्, मकरन्दीधै मयसमूहै, कुक्षिम्भरि उदर पुरक । 'कलेप्रहिरामम्भरिश्च' इति चकारात् कुक्षिम्भरि विद् । नलिते पद्मे, अभिनवागत सद्य समागत, भ्रमरोत्तर मृदुमह, माध्वीक मकरन्दम्, कमलमधु इत्यर्थ, धयतु पितृ वा, न वा, धयतु इति शेष । रात्री कुमुदमधुभि उदरपूर पीतत्वात् वृत्तस्य अतिथेः पानाद्यभाव न काऽपि सति इति भाव । तु किन्तु, रथाङ्गविहङ्गमा चक्रवाका, रात्रीत्तरं रात्रि व्याप्य तृप्तिश्च, प्रियाविरहात् तर्पणं रात्रि नीत्वा इत्यर्थः । 'अस्यतितृपो क्रियान्तरे कालेषु' इति गमुल्प्रत्यय । इह अस्मिन्, निजवधूवत्राम्भोजे स्वकात्तामुखकमले, अधुना सम्प्रति प्रभाते, अधरनामकम् ओष्ठसजकम्, मधु मकरन्दम्, लिहते आस्वादयन्ति । प्रभाते चक्रवाकदम्पतीना परस्परमेलननियमादिति भाव । ततश्च भुक्तस्य भोजनापेक्षया अभुक्तस्य भोजनादेव सहृदयाना तृप्तिरित्याशय ॥ ३३ ॥

कुमुदोंके मकरन्द-समूहों अर्थात् बहुत मकरन्द (का रात्रिमें पान करने) से परिपूर्ण

उदरवाला, नवागन अमर स्मूह कमलमें मकरन्दका पान करे या न करे (इसके विषयने मुझे कुछ नहीं कहना है, क्योंकि सरपेट मोहन विवे हुए अनिष्टियों पुन भोजन नहीं करनेमें कोई विशेष आप्रह नहीं करता), किन्तु (विवोग हनेपर प्रियाके अभावमें दुन्द-मकरन्दको भी नहीं पीनेसे) राजिका प्यासा हुआ चकवा पक्षी कमल-मकरन्दको छोटकर इस समय (प्रातःकालमें) स्ववधू-मुखरूपी कमलमें अषरनामक मकरन्दका पान कर रहा है । [राजिके दियोग होनेपर प्रियाविरहित चकवेका सुलभ भी दुन्दमकरन्दका अकेल होनेसे दुःख होनेके कारण पान नहीं करनेसे चुपचाप रह जाना तथा इस समय प्रातःकालमें कमलोंके विकसित होनेपर भी उनके मकरन्दका पान करना छोटकर प्रियाके अवरूप कमलके अमृतरूप मकरन्दका पान करना चकवेका प्रियामें अतिशय प्रेम तथा कमलकी श्रेष्ठताको सूचित करता है । कमल विकसित हो गये, उनपर वहीं-वहीं अमर मधुपान करने लगे तथा चकवा-चकइ परस्परमें सयुक्त हो गये, अग प्रभातकाल जानकर आप निद्रा त्याग करें] ॥ ३३ ॥

जगति मिथुने चक्रावेव स्मरागमपारगौ
नवमिव मिथ मम्भुजाते वियुज्य वियुज्य यौ
सततममृतादेवाहाराद् यदापदरोचक
तदमृतमुजा भर्ता शम्भुर्विप बुभुजे विभु ॥ ३४ ॥

जगतीति । जगति त्रिलोकमध्यं, मिथुने मिथुनेषु, स्त्रीपुरषयुगलमध्ये इत्यर्थः । निर्द्वारेण सप्तमी । जातावेकवचनम् । चक्रौ चक्रवाकौ एव, चक्रवाकमिथुनमेवेत्यर्थः । स्मरागमपारगौ कामशास्त्रतत्त्वज्ञौ, कामोपभोगे चतुरौ इत्यर्थः । 'अन्तात्यन्ताध्व-' इति द्रष्टव्यः । कुत ? यौ चक्रौ, मिथ परस्परम्, वियुज्य वियुज्य पुन पुन विश्लिष्य विश्लिष्य, प्रतिशत्रु स्वेच्छयैवेति भावः । नवमिव प्रत्यह नूतनमिव, इदं प्रथममिवेत्यर्थः । सम्भुजाते सुरतसम्भोगानन्दमनुभवतः । अग्नया अरोचकमपाद् इति भावः । अत्र दृष्टान्तमाह-यत् तस्मात्, अमृतमुजा मुधासेविना देवानाम्, भर्ता अधीश्वर, एतेन सर्वदा अमृतपानं सम्भवतीति बोद्धव्यम् । विभु प्रतीकार समर्थ, एतेन विषपानजानिष्टप्रतीकारसामर्थ्यं सूच्यते । शम्भु शिव सततम् अनारतम्, अमृतात् पीयूषत्, आहारात्, अशनात्, प्रात्यहिकाहार्यभूतामृतादित्यर्थः । न रोचते इति अरोचकं तदाख्यरोगम् आपत् अलमत, तत् तस्मात् एव, त्रिप गरलम्, बुभुजे पपी । नित्यं मयुरादिसेवनेन जाताया अरुचे कटुतिकादि विपरीतरससेवनेन निवृत्तिदर्शनादिति भावः ॥ ३४ ॥

सप्तरमें मिथुन (दम्पतियों) में चकवा-चकइ ही कामशास्त्रके पारगामी हैं अथवा-कामशास्त्रके पारगामी चकवा चकइ ही सप्तरमें मिथुन उत्तम दम्पति हैं जो (चकवा-चकइ) परस्परमें विपुक्त (पृथक्-पृथक्) होकर नवीन-नवीन-सा होकर सम्भोग करते

है । जैसे अमृतमोजियों (देवों) के स्वामी सर्वसमर्थ शिवजी निरन्तर अमृतके ही भोजन करनेमें जब अरोचक रोगको प्राप्त कर लिये, तब (उस रोगको दूर करनेके लिए) विषका भोजन किया । [एकमें भी जब किमोकी उत्तममें उत्तम भी एक ही पदार्थको खाने खाने भरचि हो जाती है, तब वह व्यक्ति उससे हीन भी दूसरे पदार्थको खाकर उम अरोचक रोगका दूर करता है । एक वस्तुके ही नित्य सम्भाषण भरचि होनेका दृष्टान्त यह है कि शिवजी अमृतमोजी देवोंके स्वामी हैं, और उन्हें सबदा अमृतभाजन करते रहना अत्यन्त आमान था, अत एव नित्य अमृतका ही भोजन करने रहनेमें जब उन्हें अरोचक रोग हो गया तब वे उनकी भिरुत्तिके लिए अमृतविरुद्ध विषका भोजन किये ऐसी हम उपदेशा करते हैं प्रकृतमें नित्य सम्भोग करनेसे भरचि होनेके भयमें चक्रवा-चक्र रात्रिमें विद्युत् होकर प्रतिदिन नवीन-सा सम्भोग करनेमें कामशान्ध पराजामी है ऐसा हमलोग समझते हैं] ॥ ३४ ॥

विशति युवतित्यागे रात्रीमुच मिहिकारुच
दिनमणिमणि तापे चित्ताग्निजाश्च यियासति ।

विरहतरलज्जिह्वा बह्वाह्वयन्त्यतिविह्वला

मिह सहचरी नामग्राह रथाङ्गनिहङ्गमा ॥ ३५ ॥

विशतीति । इह प्राग समये, रथाङ्गविहङ्गमा पुष्करवाका युवतित्यागे निज तरणीकान्ताविषोगे, चक्रवाककान्ताविच्छेदनुक्यविच्छेदे इत्यर्थः । दिनोदयेन रात्रेर-दर्शनादिति भावः । रात्रीमुचम् अधुनेव रात्रीरूपपरमोवियोगिमम् । मुचे निप् । रात्रीमि हृदिकाराशीकार । मिहिकारुच मिहिकाया हिमस्य, रुह् इव रुक् प्रमा यस्य ॥ तादृशम्, विरहात् हिमवत् शुभ्रमपि चन्द्रमित्यर्थः । विशति आश्रयमि सति, चक्रवाकपिरहवत् शशिनोऽपि रात्रिविरहे समुपस्थिते सतीत्यर्थः । तापे सन्तापे च, विरहजनितमनस्तापे औष्ण्ये च इत्यर्थः । निजात् स्वात्, चक्रवाकीयादित्यर्थः । चित्तात् मनसः । अपादानात् । दिनमणिमणि सूर्यकान्तमणिम्, यियामनि पातु मिच्छति सति, सन्तापे चक्रवाकचित्तात् सूर्यकान्त मनुमिच्छति सति इत्यर्थः । सूर्यकरमम्पक्केण सूर्यशान्तमणे उपलब्धस्य स्वाभाविकत्वादिति भावः । याते सनन्ता ह्येत शत्रादेशः । विरहेण रात्रौ विच्छेदेन, तरलन्त्य तरलायमाना, बहुकणादर्शनात् आह्वानार्थं खलायमाना इत्यर्थः । आचारार्थं द्विवन्ताह्येत शत्रादेशः । जिह्वा रपता येषां ते तादृशा सन्त, अनिर्विह्वला दीर्घकालादर्शनात् अतिविवशाम्, महचरीं प्रिया चक्रवाकीम्, नामग्राह नाम गृहीत्या । 'नाम्न्यादिकिप्रहो' इति णमुल्प्रत्ययः । बहु वारवारम्, आह्वयन्ति आकारयन्ति । दिनकर समुदिन, अतः सप्तरमुत्तिष्ठ इति भावः ॥ ३५ ॥

चक्रवाकनिष्ठ युवतित्यागके (खीस्थानीया) रात्रिका त्याग करनेवाले (तथा विरहने

हिमकुल्य पाण्डुवर्णं) चन्द्रमार्गे प्रविष्ट होते रहनेपर अर्थात् चक्रवाके समान चन्द्रमाको भी पत्नीविरह होनेपर तथा नाभ (विरहजन्य स्नायु, पक्षा०—उष्णता) के अपने (चक्रवाक) चित्तन सूर्यकान्तमणिं गमन करन्का इच्छुक होनेपर अर्थात् सूर्य-किरण-समर्पित सूर्यकान्त मणि के प्रज्वलित होनेमें चक्रवाक चित्तन उसके रात्रि-विरहजन्य स्नायुको सूर्यकान्तमणि में जानेकी इच्छा करने रहनेपर विरहमें अनिद्रीय चञ्चल जिह्वावाले चक्रवाक अत्यन्त व्याकुल महचरी (चवइ) को नाम लेकर बारबार बुला रहे हैं अर्थात् रात्रिकी पत्नी-विरह व्याकुलचित्त चक्रवाक पतिविद्योगमें है व्याकुलित चक्रको 'बड़ जीविन है या नहीं' ऐसी आदवाकर बारबार उसका नाम लेकर बुला रहे हैं ॥ ३५ ॥

स्वमुकुलमयैर्नेत्रैरन्धम्मविष्णुतया जन

किमु कुमुदिनीं दुर्ध्याचष्टेरचेरनवेक्षिकाम् ? ।

लिखितपठिता राज्ञो दारा कविप्रतिभासु ये

शृणुन शृणुतासूर्यम्पस्या न स्मा किल भाषिणी ? ॥ ३६ ॥

श्वेति । जन लोक, स्वमुकुलमयै निजकोकरूपै, निमीलितरित्यर्थ । नेत्रे मयनें, अन्धम्मविष्णुतया अन्धीभूततया, अन्धन्धाया अपि अन्धधाया भूततया इत्यु नेरत्यर्थ । अविचारादिति भाव । 'कर्त्तरि भुव निष्णुच्' इति अभूततद्भावे कर्त्तरि विष्णुच्प्रत्यय, 'अर्द्धिपन्—' इत्यादिना सुमासम् । रवे सूर्यस्य, अनवेक्षिकाम् अनवक्षणीम्, सूर्यमपश्यन्तीमित्यर्थ । ण्वुल् । 'प्रत्ययस्यात्—' इति ण्वुलि कापूर्वे स्पेक्षार । कुमुदिनीं कैरविणीम्, राजपत्नीमिति भाव । किमु किमिति, दुर्ध्याचष्टे ? दुर्ध्वानि ? कुमुदिनी जगत्पावनम् अत्रश्यदर्शनीय सूर्यमपि न पश्यति, अहो ! मह इत्युचितमिदमाचरणम् अस्या इत्यादिरूपेण गृह्या अपवदतीत्यर्थ । ननु 'लोकेश-म्भिन् मङ्गलान्यष्टौ ब्राह्मणो गौर्दुताशन । हिरण्य मर्पिरादित्य आपो राजा तथाऽ-ष्टम ॥ पतानि सतत पश्येद्यमस्येदर्धवेत्तु य । प्रदक्षिणञ्च कुर्वीत तस्य चायुर्न हीयते ॥' इति शास्त्रात् सूर्यावेक्षणस्य विहितत्वेन तदनाचरन्ती कथं न दुर्वास्या ? इत्याशमायामाह—कविप्रतिभासु कवीनां विदुषाम्, प्रतिभासु प्रज्ञासु, प्रनिमोज्जा-सितकाव्येषु इत्यर्थ । य कुमुदिनीत्याख्यया प्रसिद्धा, राज्ञ चन्द्रस्य तृपस्य च । 'राज्ञ प्रभो नृपे चष्ट्रे' इति विश्व । दारा पत्नी राजदारा । लिखितपठिता कवि भिलिपाकृता अप्पेत्तुभिश्च अधीता । लिखिताश्च ते पठिताश्च इति त्रिोपगसमासः । कवयो या राजपत्नीं वदन्ति, तच्छिद्रप्याश्च तथैव जानन्तीत्यर्थ । सा राजदारात्वेन वणिना कुमुदिनी, सूर्यं न पश्यतीति असूर्यम्पस्या सूर्यादर्शनी । 'असूर्यललाटयो-र्दन्तयो' इति व्यप्रत्यय । 'पाद्या—' इत्यादिना इने परयादेश । असूर्य इति चासमर्थसमासोऽय, दर्शना नञ् सम्बन्धत्वात् । 'यदा तु सूर्याभावदर्शनमात्र

१ 'येति पाठ समीचीन' इति 'प्रकाश' कार ।

सूर्येतरचन्द्रादेर्दशनं वा विवक्षितं तदा स्वस्व न भवति । भवमिष्टानाम्' इति न्याय-
कारादयः । अस्मादेव साधकात् क्रियाञ्चरिणोऽपि नञ उच्यते इति ममान् । न
चाविनी किञ्च ? न भविष्यति किञ्च ? न भविष्यत्येवेत्यर्थः । 'भविष्यति गन्धादयः'
इति धातुः । शृणुत शृणुत भो दुर्वाचो जना । आकर्णयन् आकर्णयन् । आक्रोशे
द्विगतिः । यदि अमूर्त्यम्भया राजद्वारा इति राजनीन्नुमारेण युक्तं स्यात्, तदा
चन्द्रात् राजापरमानन्दत्वात् चन्द्रदर्शनेनैव विक्रयनस्वभाव्या कुमुदिन्या चन्द्र-
पत्न्येन कविनि रूपगतं कुमुदिन्या अपि राजद्वारं मिदमेव, एवञ्च राजद्वार-
त्वात् नस्या सूर्यानिदेशस्य युक्तत्वेन भूवादशनेन यद् जना ता निन्दन्ति तद्-
मद्भनमेवेति निश्चयः । परमार्यतस्तु केन चन्द्रादेन पुन्याम्भदर्शननिषेधपक्षेनैव
न सूर्यदर्शननिषेधपक्षे इति द्रष्टव्यम्, यत् एव काशिका 'गुप्तिपरञ्चैव' इति ॥३६॥

अपने कोरकमय (वन्द्य होनेने निनीकित) नेवोंने अन्यो होनेके कारण लोग
। अन्ध-—त्वयमेव अन्धा होनेके कारण लोग अपने कोरकमय नेत्रोंने 'यद् कुमुदिनी
सूर्यको नहीं देखती है ऐसा बड़ानाच क्यों करते हैं ?' अर्थात् प्रातः सूर्य-दर्शन करना नाल-
कारक होनेने कुमुदिनीको निमित्तित हो जानेके कारण सूर्यदर्शन नहीं करनेकी निन्दा
करना उचित नहीं है क्योंकि (हे वैनी निन्दा करनेवाले लोगो) सुनिदे, सुनिदे,
(पाणिनि आदि) कवियों (विद्वानोंकी प्रतिभासे) ठिन्नी तथा (छात्र आदिके द्वारा वैनी
ही) पढ़ी गयी रात (नृगि, पञ्चाङ्ग—चन्द्र) की शिवा अमूर्त्यम्भया (सूर्यका दर्शन
नहीं करनेवाली) है, (किन्तु) यद् कुमुदिनी वद (सूर्य-दर्शन नहीं करनेवाला) नहीं
है । [जो राजगणिका ह वे सुश्रितनम मङ्गलोंमें रहने तथा सुकुमारत्व होनेने सूर्यदर्शन
नहीं कर पाती और नन्का देखा होनेमें आपर्ण मानकर ही पाणिनि आदि विद्वानोंने
अमूर्त्यम्भयादर्शितो (वा मू. १२ १२) का उदाहरण 'अमूर्त्यम्भया राजद्वारा' अर्थात्
सूर्यको नहीं देखनेवाला राजपरिवारा' दिया है और शिष्यादिने वैसा ही परंपराने पड़ा
है और उस रङ्ग्यके अनभिज्ञ होने उस कुमुदिनी एवं राजपत्नियोंकी वैसी निन्दा करते
हैं । तब अन्य राजपत्नियोंके समान कुमुदिनी मा राजपत्नी (चन्द्रकी स्त्री) है तब
उनका भी सूर्य-दर्शन नहीं करना अनुचित कहा जा सकता । वास्तविकने तो परमुक्त-
इतल-परक 'अमूर्त्यम्भया राजद्वारा' उदाहरण है, न कि 'सूर्य-दर्शन-निषेधपक्ष'
इतीने पुनिरुद्धेत् । यद् अन्धिय सुश्रित्वपरक है) यद् काशिकेति भी भवत
होती है] ॥ ३६ ॥

सुश्रुतितनमम्पिन्वोर्मुद्रे करादिषु सुम्यने
नमसि त्रिभिनीचन्धो रन्त्रच्युतैरुदविन्दुभि ।
शतजलमनुस्रोत कञ्चद्रयीपरिरम्भणा-
दनुपदनदपङ्काशह्रममी मरु तन्वते ॥ ३७ ॥

सुलङ्घितेति । नमसि आकाशे, मृद्वै उड्डीयमानभ्रमरैः, सुलङ्घित सुलङ्घीय
पानार्थं त्रिकुञ्जपाणौ गृहीत इत्यर्थः । तम सिन्धु अन्धकारसागर येन तपोक्त
विमिनीवन्धो पश्चिमीसखस्य सूर्यस्य, कराव् अशो हस्ताच्च, रन्ध्रव्युते बहुस
न्तरालगहिते उद्विन्दुमि इव तम सिन्धो जलकणैरिव, शुभ्यते दीप्यते, प्रदीप्त
इत्यर्थः, इत्युत्प्रेषः । शुभेर्भावे छट् । मृद्वतमसो सुलङ्घवर्णत्वात् तथा मृदाणां हृन्
वर्णस्थूलजलविन्दुवत् प्रतीयमानत्वाच्चेति भावः । किञ्च, भ्रमी मृदा, अनुपद्म
अनुवणम्, उक्तरूपेण प्रतीयमानानन्तरमेवेत्यर्थः । जलदलप्रधुञ्चोत्तसः कमलमद्य
न्दप्रवाहस्य, कच्छद्वयीपरिरम्भणात् उभयपार्वत्यजलप्रायभागसरलेषात्, मधुरा
द्याहस्य उभयतटोपरि उपवेशनाद्धेनोरित्यर्थः । भ्रमुष्य मधुञ्चोत्तसः पङ्कजशृङ्गा
कदम्भान्तिम्, मम धैतालिकस्य, तन्वते विस्तारयन्ति, उपादयन्तीत्यर्थः । पङ्क
मृद्वया समानवर्णत्वादिति भावः ॥ ३७ ॥

जुल्लसे लेकर पीये गये अन्धकार-समुद्रवाले सूर्य-जरो (सूर्यको किरणों, पङ्कज-
शृङ्गों) से अजुलियोंके छिद्रोंसे गिरे हुए जल-विन्दुके समान आकाशमें (उड़ते हुए) भ्रमर
शाम रहे इ भ्रमर ये (भ्रमर) कमलोंके मकरन्द-प्रवाहके दोनों किनारोंके आलिङ्गन
(आर्द्र) करनेसे इन मकरन्दप्रवाहोंके कीचड़की शृङ्गा प्रत्येक क्षणमें हमारे (बैतालिकोंके)
मनमें उत्पन्न करने दे । [जुल्लसे लेकर पीने समय (अजुलियोंके छिद्रोंसे गिरे हुए
जलकी बूंदोंके समान अन्धकार-समूहको जुल्लसे लेकर पान किये हुए सूर्यके किरणछिद्रों
गिरे हुए अन्धकाररूप समुद्रकी बूंदोंके समान ये आकाशमें उड़ने हुए भ्रमर शामसे हैं तथा
कमलोंके मकरन्द-प्रवाहमें दोनों पक्षोंके आर्द्र होनेसे हमन्तोंको देना शान होता है कि
ये भ्रमर मकरन्द-प्रवाहके दोनों तटोंके कीचड़ हैं । अल्पान करते समय अजुलिछिद्रों
विन्दुओंका गिरना तथा प्रवाहके उभयतटके मध्यमें कीचड़ होना उचित ही है । अपक्वा
नष्ट हो गया, कमलोंके मकरन्दका पान करनेके लिए भ्रमर आकाशमें उड़ने लगे, भ्रमर
पान काल जानकर है हाभन् नष्ट । निद्रात्याग कीजिये] ॥ ३७ ॥

धुमृणसुमनश्रिणिश्रीणामनादरिभि सर -

परिसरचरैर्भासा पत्यु कुमारतरै करै ।

अजनि जलजामोदानन्दोत्पतिणुमधुव्रता-

वलिशबलनाद् गुञ्जापुञ्जश्रिय गृन्थालुभि ॥ ३८ ॥

धुमृणेति । धुमृणसुमनश्रिणिश्रीणां कुङ्कुमकुसुमावलिशोभानाम् । 'वाऽऽमि'
इति नदीत्यपचे नुहागमः । 'कुङ्कुम धुमृण वर्णम्' इति इत्यायुषः । अनादरिभि
अवज्ञाकारिभि, कुङ्कुमवर्णादप्यधिकारगवर्णत्वादिति भावः । सर परिसरचरै
सरोवरप्रान्तवर्तिभि, कुमारतरै जलोदिनत्वादतिवाले, मासा पत्यु अर्कस्य, करै ।
कर्तृभि जलजामोदेन कमलपारमलेन, य आनन्द हर्ष, तस्मात् उत्पतिष्णूनाम्

मध्यभाग यस्या सा तादृशी सती, कल्माषी चित्रवर्णा, विविधवर्णेत्यर्थः । गौरि
त्वात् ह्रीप । अजनि जाता । 'दीपजन-' इत्यादिना कर्त्तरि लुङ् विष्णु । ध्रुवनि-
तम्, इत्युपेक्षायाम् । अत्र सरस्या स्वगुणत्यागेन रविकिरणादिगुणस्वाकृत
द्वगुणालङ्कारः, 'तद्गुण स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणग्रह' इति लक्षणात् । तत्रैव
गुणसङ्क्रान्तिपरिचयात् शोणाद्यनेकगुणमङ्गलमद्वारा कल्माषस्वीकारोपेक्षणात्,
णोपेक्षयोरङ्गाभिभावेन सङ्कर ॥ ३९ ॥

जिम कारणेने अनिष्टाय अभिनव सूर्य-किरण इमे (इस तडागको) छल कर रती है
जिम कारणसे (मकरन्द-पान करनेके लिए इस तडागके ऊपर गिरता अर्थात् आग हुआ
भ्रमर-समूह इस तडागको नीला करना चाहता है, मानो इस कारणसे) स्वच्छ खिन्ने हुए
कमल-कौरव-समूहोंसे मध्यभागमें स्वच्छ बर्णवाला यह तडाग कर्तुरित हो गया है
(अथवा— चाहता है और जिस कारणसे स्वच्छ विकसित होते हुए कमल-कौरव-
समूहोंने यह तडाग मध्यभागमें शुभ्रवर्णवाला हो गया है, मानो इस कारणसे ही यह तडाग
कर्तुरित हो गया है) ॥ ३९ ॥

कमलकुशलाधाने भानोरहो । पुरुषव्रत

यदुपकुर्वते नेत्राणि श्रीगृहत्वविबुधुभिः ।

कविभिरुपमादीनामभोजता गमितान्यसा-

वपि यदतथाभावान्मुञ्चत्युलूकविलोचने ॥ ४० ॥

कमलेति । कमलानां पद्मानाम्, प्रकृतानामुपमितानां वा इति भावः । कुश-
लाधाने जेमविधाने विनासजनने इति भावः । भानो सूर्यस्य, पुरुषव्रत पुरुषस्य
पुरुषाभिमानिनः, व्रत नियमः, दृढाध्यवसाय इत्यर्थः । पौरुषमिति यावत् । अहो !
विभ्रम् ! अथवा-अहोपुरुष पुरुषाभिमानवान् । अहोपुरुष इति मयूरगण्यसकादिषु
कैषट् । तस्य व्रतव्रतनियम इत्यर्थः । कुत ? यत् यस्मात् अस्मी भानु, श्रीगृ-
हत्वं शोभाश्रयत्वम्, नेत्राणां सौन्दर्यवर्णने उपमानत्वमित्यर्थः । विबुधिं वरुणि-
च्छुभिः । 'द्वितीया-' इति योगविभागात् द्वितीयासमासः । कविभिः काव्यकृत्भिः
वाङ्मयीकादिभिः, उपमादानात् नेत्राणां सादर्यत्वेन वर्णनमात्रान्, अभोजना-
गमितानि कमलत्वेन रूपितानि, नेत्राणि नयनानि अपि, सौन्दर्यातिशयव्यापनाय
कमलतुल्यतया वर्णितानि जननयनान्यपीत्यर्थः, उपकुरते वन्मीलनेन उपकृतानि
करोति, विकासयतीत्यर्थः । आलोकसहकारादेव लोकलोचनानां विषयेषु प्रवृत्तेरिति
भावः । सूर्योदये सर्व एव प्राणिनो निद्रा परिहृत्य नयनोन्मीलनकरणात् भानो
उपमितकमलानां कुशलाधायकत्वम्, प्रकृतानाञ्च विकाससम्पादनेन कुशलाधायक-
त्वमिति बोद्धव्यम् । यत् अपि यस्माच्च, अतथाभावात् औपमानिकामभोजत्वस्यापि

नादादित्यर्थ । नजयस्य नजन्दस्य सुप्सुपेति समास । उलूकस्य पेचकस्य,
‘नेत्रोचने नयने । गोलाकारे सुदे च इति भाव । मुञ्चति परिहरति, न उन्मीलनेन
‘पकरोतीत्यर्थ । सूर्यकरासहस्रेण निमीलिताश्चादिति बोध्यम् । अन्वपश्यतिरे-
‘गम्याम् अम्भोजसमूहस्य लोकलोचनस्य विकसनेन कुशलाण्यकत्वात् तदसदृशस्य
‘उलूकलोचनस्य च अविकारो न कुशलाणावायकत्वात् सहस्रकरस्य देवस्य अम्भोजहे-
नसूच्यत किमु वाच्यम् ? इति निष्कर्ष । प्रातः अम्भोजवत्लोकलोचनाम्भोजा-
न्यपि विज्ञापयामास इति भाव ॥ ४० ॥

कमलके मङ्गल कवये मे मूर्ध्ना पुष्पव्रत (अदीकृतम् सन्धक् प्रकारे परिपातन
करता) आश्रयकारक है क्योंकि यह (सूर्य) आ (शाभा या लक्ष्मी) के निवासस्थानको
कमलके इन्द्रुक (व्यास, वात्मोक्ति, कालिशम आदि) कवियोंके द्वारा उपमा देनेसे अपाद
मनुष्योंके नेत्रोंको भी कमलपुष्प कहनेसे कमलवको प्राप्त (मनुष्योंके) नेत्रको भी
विकसित (पक्षा०—वस्तुदर्शन समर्थ) करना है और अन्यथाभाव होनेसे अपाद कवियोंके
द्वारा कमलको उपमा नहीं देनेसे उलूके नेत्रद्वयको छोड़ देता (विकसित अथवा—वस्तु-
दर्शन—समर्थ नहीं करता) है । [सूर्य तथावत्पुष्प मूल्य कमलको विकसित करता ही है,
किन्तु कवियोंने मनुष्योंके विना नेत्रोंको कमलके साथ उपमा दी है, उन नेत्रोंको भी
(प्रातः कालमें सूर्योदय होनेसे मनुष्योंके लगने (नेत्रखोलने) तथा वस्तुओंको देखनेके
कारण) विकसित करता है और औद्दोम जित उलूक—नेत्रोंको कवियोंने कमलके साथ उपमा
नहीं दी है, उन्हें (दिनमें नहीं देख सकनेके कारण उलूके नेत्र को) नहीं विकसित करना
आत मूर्ध्ना यह पुष्पव्रत (कवियोंने उपमित होने मात्रमें मूल्य कमलके साथ ही मानव
नेत्रकमलको भी विकसित करनेका तथा कवियोंने उपमित नहीं होनेमात्रमें उलूकनेत्रको
अविकसित ही छोड़ देनेका अदभुत नियम) आश्रयकारक है] ॥ ४० ॥

यदतिमङ्गीभक्तिर्भागी तदेनमुदित्वर

त्वरितमुपतिष्ठस्वाध्वन्य । त्वमध्वरपद्मे ।

इह हि समये मन्देहेषु प्रनन्त्युद्यमताम्

अभिरविमुपस्थानोत्तिष्ठा जलाञ्जलय किल ॥ ४१ ॥

यदिति । अध्वरस्य यज्ञस्य, पद्मे पय, अध्वन्य । नित्यपान्थ । अध्वानमल
गच्छतीति अध्वन्यः, ‘अध्वनो य सौ’ इति यथार्थय । ‘ये चाभावकर्मणो’ इति
प्रकृतिभाव । हे नित्यपान्थानुष्ठाननिरत भद्रारात्र । यत् यस्मात्, त्व मवान्, मानौ
सूर्य, अतिमहती अयुतमा, भक्ति अनुरागविशेष यस्य स तारा, असीति दोष ।
भक्तिशब्दस्य प्रियादिषु पाठात् न पुत्रज्ञात् । तत् तस्मात्, उदित्वरम् दद्यन्तम् ।
‘इणश—’इत्यादिना । त्वरप् । एन मानुम्, त्वरित शीघ्रम्, उपतिष्ठस्व उपास्व ।

२ ‘स्वाध्वान्वन्’ इति-शास्त्रम् ।

‘उपाद्देवपूजा—’इत्यादिना देवपूजायामाऽनेपदम् । कुत ? हि यस्मात् कारक इह अस्मिन्, समये उदयकाले, रविम् अर्कम्, अभिलक्षयित्वा, रविमुद्दिश्य इत्थं ‘अभिरभोगे’ इति लक्षणाये कर्मप्रवचनीयत्वाच्चद्योगे द्वितीया । उपस्थाने उपस्याम्, उत्तिष्ठता उद्ध्वं निक्षिप्ता ‘आप उद्ध्वं विक्षिपन्ति’ इति श्रुते । उदात्ता उदकाञ्जलय, मन्दहेतु मन्देहारयेषु राक्षसेषु, उदवप्रता उलमयवज्रायुधज ‘मन्धौदन—’ इत्यादिनोदादेश । प्रयन्ति गच्छन्ति, किल इत्यागमे । अत्र ‘तद्गुह वा एते ब्रह्मवादिन पूर्वाभिमुखा, सम्ध्याया गायत्र्याऽभिमन्त्रिता उद्ध्वं विक्षिपन्ति, ता एता आपो धत्रीभूत्वा तानि रक्षसि मन्देहारगे द्वारे प्रयन्ति’ इति ॥ ४१ ॥

जिम कारणसे (अथवा—यदि) तुम सूर्यसे अत्यधिक भक्तिवाले हो, वन क्या (अथवा—तो) हे वृक्षके पथिक अर्थात् महायाज्ञिक (नित्य वृक्ष करनेवाले नष्ट) होने हुए (पाठा०—यज्ञमार्गके मन्त्र पथिक) इन (सूर्य) का शीघ्र उपस्थान (पूजन) करो, क्योंकि इस (प्रातः) कारमें सूर्यको लक्ष्मिकर उपस्थानमें दो गदों जलाकर (उदय होने हुए सूर्यके साथ उदक करनेवाले साठे तान करोट) ‘मन्देह’ नामक राक्षसेप जन्म (दिन्दुरूप) भय बज्र हो जाते हैं । [अत्र सूर्यके महान् भक्त आपको चाहिये कि शीघ्र निद्रात्यागकर नित्य स्नानादिते निवृत्त हो सूर्यका उपस्थान करते हुए सूर्याध्यें ॥ ४१ ॥

उदयशिरस्त्रिप्रस्थावस्थायिनी खनिरक्ष्या

शिशुतरमहोमाणिक्यानामहर्मणिमण्डली ।

रजानिदृषद् ध्वान्तस्यामा विधूय पिषाधिकाम्

न खलु कतमेनेय जाने जनेन विमुद्रिता ? ॥ ४२ ॥

उच्येति । इय परिदृश्यमाना, अहर्मणिमण्डली सूर्यविम्बस्वरूपा, उदयशिर रिण उदपाद्रे, प्रस्थावस्थायिनी सानुनिष्ठा, अक्षया अविनश्वरा, मूपसीत्यर्थः । शिशुतराणि अतिशयेन बालानि, सद्य प्रकाशितानीति यावत् । महामि तेजामि एव, माणिक्यानि पद्मरागा, अरुणवर्णत्वादिति भावः । तेषां खनि भाकर, ध्वाम्नेन अन्धकारेण, श्यामा कृष्णवर्णाम्, ध्वान्तवत् श्यामाश्च, पिषाधिकाम् आच्छादिकाम् जगत रत्ने प्रवेशद्वारस्य चेति भावः । रजनि रात्रिम् एव, दृषद् शिलाखण्डम्, विधूय अपमार्य, कनमेन केन, जनेन लोकेन, विमुद्रिता ? उद्रा टिता ? इति न जाने न बुध्ये, खलु इति वितर्कः । अत्र सूर्यमण्डलस्यादिषु खनिषा पारोपात्त रूपकालङ्कारः ॥ ४२ ॥

सूर्य-विम्बरूप तथा उद्यावल्की शिलापर स्थित, अक्षय (बहुत अधिक होनेमें कभी समाप्त नहीं होनेवाली), अभिनवनम तेजोरूप मणियोंकी स्थानकी अन्धकारतुल्य (अथवा—अंधकारसे) कृष्णवर्ण (घानके प्रवेशद्वारकी) आच्छादित करनेवाली रात्रिरूपी पत्थरकी दृष्टकर किसने खोल दिया है, यह मैं नहीं जानता हूँ । [अथवा—ब्रह्मने खोल दिया

यह मैं नहीं जानता अर्थात् अवश्य जानता हूँ कि कारगरिबर्तनकारी ज्ञानने ही होने
 १०० है । पर्वण्ठी शिलापर स्थित काले पत्थरमे ढकी हुई मणियोंकी अशुभ खानको जैसे
 १०१ माग्यज्ञान खोल देता है, वैसे उदयाचन्द्रकी शिलापर फैली हुई अमिनवत्तम होनेसे
 तबकी मणियोंके समान काली रात्रिच्यवी पत्थरमे आच्छादित सूर्यविम्बरूपी खानको कियेने
 १०२ गेलकर सूर्यमाशरणको विदित करा दिया है यह मैं नहीं जानता । अन्धकारयुक्त काली
 रात्रि नष्ट हो गयी, सूर्योदय हो रहा है, अब आप निशक्त्याग करें] ॥ ४२ ॥

सुरपरिवृढ कर्णात् प्रत्यग्रहीत् किल कुण्डल-
 द्वयमथ खलु प्राच्यै प्राशान्मुदा स हि तरपति ।
 विधुहृदयभागेऽनत्र व्यलोकि विलोक्यते
 नवतरकरस्वर्णस्त्रावि द्वितीयमहर्मणि ॥ ४३ ॥

सुरेति । सुराणां देवानाम्, परिवृढ प्रभु इन्द्र । 'प्रभौ परिवृढ' इति निपात-
 नान् साधु । कर्णात् राधेयात्, कुण्डलद्वय कर्णामरणयुगलम्, सूर्यप्रदत्त सङ्गम-
 ल्यमेति भावः । प्रत्यग्रहीत् याचि वा आदात्, किल इति वाचांयाम् । 'ततो
 निवृत्त्य गात्राणि क्षत्रेण निक्षितेन स । प्रायच्छद् देवराजाय वि-य वर्म सङ्कुण्डलम् ॥'
 इति भारतवचनम् । तत्रोपेक्षते—अथ प्रतिग्रहानन्तरम्, प्राच्ये पूर्वस्ये दिशे,
 मुदा प्रीत्या, प्रादात् दत्तवान्, तत् कुण्डलद्वयमिति शेषः, खलु निश्चये । हि यस्मात्
 स इन्द्र, तस्या प्राच्या दिशः, पति मर्ता, भार्यायै आभरणदानस्य पत्नुरीचि-या-
 दिति भावः । कथं स्वयां तद्विषयते? इत्याह—तत्र तयोः कुण्डलयो मध्ये, एक
 कुण्डलम्, उदय मज्जतीति उदयभाक् उद्यन्, उदयकालिङ्ग इत्यर्थः । 'मज्जोषि'
 इति विश्वप्रपञ्चः । विधु चन्द्र, हृद्येति शेषः । व्यलोकि विलोक्यते स्म, जनैर्गत-
 सायकाले इति शेषः । नवनरान् धतिशयेन प्रयमान्, करान् किरणान् एव,
 स्वर्गानि सुवर्णानि, तुल्यप्रभामम्पल्लवादिनि भावः । स्त्रावयति आभरणो वर्णयतीति
 तत् सादृशम्, द्वितीय कुण्डलम्, 'अहर्मणि' दिनमणि सूर्यः इवेति शेषः । 'रोऽसुपि'
 इति रेफादेशः । विलोक्यते हृदानीं प्रातः इत्यने, जनैरिति शेषः । एतदेव पूर्वानु-
 सामस्य कारणमिति भावः ॥ ४३ ॥

देवराज (इन्द्र) ने कर्णमें (सूर्यप्रदत्त मङ्गलान् एव अशुभ) कुण्डलद्वयको दान लिया
 और उसे हर्षके साथ पूर्व दिशाके लिये दे दिया, क्योंकि वे उम (पूर्व दिशा) के पति
 (स्वामी, मयवा—रक्षक) हैं । (पनिको हर्षके साथ पत्नीके लिये अमूल्य कर्णामरण आदि
 अलङ्कार देना उचित ही है । इस बातका हम हम कारणमे अनुमान करते हैं कि) उसमें
 (पूर्व दिशामें, मयवा—उन दो कुण्डलोंमेंसे साथकालमें) उदय होते हुए चन्द्ररूप एक
 कुण्डल तो दिखलायी दिया था और इस प्रातः कालमें सूर्यरूप यह लकीनरूप किम्बरूप

सुवर्णको प्रवाहित करनेवाला (अग्निव होनेसे सुवर्णवत् भासमान) दूसरा कुण्डल दिख लायी दे रहा है ॥ ४३ ॥

पौराणिक कथा—कुमारी कुन्तीके गर्भसे सूर्योश द्वारा कर्ण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था, उसको पिता सूर्यने सहजात कवचसहित दो अश्वय सुवर्णकुण्डल दिये थे, वने इन्दुने ब्राह्मणा वेष धारण कर माया मो महादानी कर्णने गन्धसे शरीरच्छेदनकर कवचसहित दोनों कुण्डलोंको इन्द्रके लिए दे दिया । यह कथा महाभारतके आरण्यक पर्वमें आती है ।

दहनमविशद्दीप्तिर्याऽस्तद्भते गतवासर-

प्रशमसमयप्राप्ते पत्यौ धिक्स्वति रागिणी ।

अधरभुवनात् सोदुधृत्यैषा हठात्तरणे कृता-

मरपतिपुरप्राप्तिर्धत्ते सतीव्रतमूर्त्तिताम् ॥ ४४ ॥

दहनमिति । रागिणी सायङ्कालिन्स्वात् रक्तवर्णा अनुरागिणी च, या दीप्ति सूर्यस्य प्रभा काचित् स्त्री च, गतवासरे अतीतदिने, प्रशमसमयम् अवसामकालम्, तेजसो जीवनस्य चेति शेष । सायकाल मृत्युकालञ्चेति भाव । 'प्राप्ते उपस्थिते सति, पत्यौ स्वाभिनि भर्त्तरि च, धिक्स्वति सूर्यं कस्मिंश्चित् पुरे च, अस्तम् अस्ता द्विम् अदर्शनञ्च, गते प्राप्ते सति, दहनम्, अग्निम्, अधिवात् प्रविष्टवती, 'अग्निं वाऽऽदित्य माय प्रविशति' इति श्रुते, मृते भर्त्तरि ब्रह्मचर्यं तदग्वारोहणं वा' इति स्मृतेश्च सहगमनार्थमिति भाव । सा पूर्वोक्ता, पृषा दीप्ति काचित् साध्वी नारी च, हठात् बलात्, आत्मीयपुण्यप्रभावादित्यर्थ । अधरभुवनात् अधोलोकात्, पातालात् मरकाच्च इत्यर्थ । उदुधृत्य उत्तरेण, तरणे पथे अर्कस्य, कस्यचित् पुरस्य च, कृता सम्पादिता, अमरपतिपुरप्राप्ति पूर्वदिगुपस्थितेन्द्रमगरलाम् स्वर्गलामश्च यथा सा तादृशी सती तीव्रतया तीक्ष्णतया सह वर्त्तते इति तादृशी सतीव्रता अतीव तीक्ष्णा, सत्या पतिपरायणताया, व्रत नियमो यत्र सा तादृशी पतिव्रताधर्मश्च इत्यर्थ । मूर्त्ति आकार रूपञ्च यस्या तस्या भाव सत्ता ता मती व्रतमूर्त्तिताम्, धत्ते धारयति । सूर्यतेजस उत्तरोत्तर तीक्ष्णताभावादिनि 'व्याल-प्राष्टी यथा सर्प बलादुद्धरते बिजात् । तद्वज्रस्फारमादाय तेनैव सह मोदते ॥' इति स्मरणादिति च भाव । अत्र प्रस्तुतदीप्तिविशेषणसाम्यादप्रस्तुतसतीप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ४४ ॥

(सायङ्काल होनेसे) लाल रङ्गवाली (पक्षा०—अनुरागवाली) जो दीप्ति (सूर्यप्रभा, पक्षा०—कोई साध्वी स्त्री) गत दिन (तेजके, पक्षा०—जीवनके) अन्त समय आनेपर स्वामा सूर्यके अस्त होने (पक्षा०—मरने) पर अग्निमें प्रविष्ट हो गयी थी (जन्मान्तरमें वसी पतिको पानेके लिये पतिव्रता-धर्मका पालन करती हुई अग्निमें जल गयी थी),

१. अत्र 'द्वितीयाश्रितातीत—' इति समासो बोध्यः ।

पानाल (पश्चा०—नरक) से (आने पारित्यक्तके प्रभावसे) दृष्टपूर्वक (सूर्यको, पश्चा०—
पतिको) निकाल कर सूर्य (पश्चा०—पति) को इन्द्रपुरी (पूर्व दिशा, पश्चा०—स्वर्ग) को
प्राप्त करानेवाली वर (दोषि, पश्चा०—साध्या को) तीव्रतायुक्त मूर्ति (पश्चा०—सतियोंके
जनका मूर्ति) को धारण करती है । [जिस प्रकार अनुरागिणी स्त्री पतिके मृत्यु होनेपर
अग्निमें प्रवेशकर नरकमें भी गये हुए पतिको अपने पारित्यक्तके प्रभावसे नरकसे निकालकर
स्वर्गमें पहुचानी हुई सतीव्रतके मूर्तिमान् मूर्तिमात्र सतीत्वको प्राप्त करती है, उसी प्रकार
लाल लाल सूर्यप्रभा कल सायंकाल सूर्यके अस्त हो जानेपर स्वयं अविचर्य प्रविष्ट हो गया
तथा वनात्कारसे भयभीतके सूर्यको निकालकर पूर्व दिशामें लाकर तीव्रतम भावतिवाली हो
रही है अर्थात् क्रमशः सूर्यके ऊपर उठनेसे सूर्यदोषि तीक्ष्ण (प्रखर) हो रही है । सूर्यके
अस्त होनेपर दीप्तिका अग्निमें प्रविष्ट होना मुनि-सन्मन एव सर्वप्रत्यक्ष है । सूर्योदय हो
गया और क्रमशः सूर्य किरणें तीव्र हो रही हैं] ॥ ४४ ॥

बुधजनकथा तथैवेय तनौ तनुजन्मन
पितृशितिहरिद्वर्णाद्याहारज किल कालिमा ।

शमनयमुनाक्रोडे कालैरितस्तमसा पिबा

वपि यदमलच्छायात् कायावभूयत भास्वत ॥ ४५ ॥

बुधेति । तनो शरीरात्, जन्म उत्पत्ति यस्य तस्य तनुजन्मन अपत्यस्य ।
'अवर्णो बहुव्रीहिर्यधिकरणो जन्माद्यत्तरपदे' इति वामन । तनौ शरीरे, कालिमा
श्यामता, पित्रो जननीजनकयो, शितिहरितौ कृष्णपाताशौ, वर्णौ वर्णविशिष्टम्
आहार्यव्रणमिवार्थ । तदादि तत्प्रभृति, य आहार भोज्यम्, तस्मात् ज यते
उत्पद्यते इति सादृश, इयम् ईदृशी, किल इति प्रसिद्धौ, बुधजनकथा विद्वज्जना
नामुक्ति, तथा एव सत्या एव । कुत ? यत् यस्मात्, समस्तच्छायात् अतिरवच्छ
कान्तेरपि, तमसाम् अन्धकाराणाम् । कृष्णगात् कर्मणि पठ्यते । पिबतीति दिव
तरमात् पातु । 'पात्रा—' इत्यादिना पिवादेशश्च शप्रत्यय । इवेति शेष । इत
अस्मात्, पूर्वाकाशे दृश्यमानादित्यर्थ । भास्वत सूर्यस्य, कायात् शरीरात्, काल
कृष्णवर्ण, शमनयमुनाक्रोडे यमकालिन्दाशनैश्चरै, वभूयत जातम् । भावे लट् ।
कृष्णवर्णान्धकाराहारादेव शुभ्रकान्तेरपि सूर्यस्य अपत्यानि कृष्णवर्णानि जातानि
इति निष्कर्षः । अत्र शमनादिकालिन्स्तत्पितृशितिहरिद्वर्णाद्याहारपरिणतिपूर्वकत्वोत्प्रेक्षा ॥ ४५ ॥

'सन्तानके शरीरमें कान्धान पित्रा (और माता) के काले तथा हरे आदि वर्णवाले
भोजनसे उत्पन्न होता है अर्थात् माता-पिताके काली-हरी वस्तुओंके भोजन करनेसे उनकी
सन्तान काली होती है' यह ('स द्यामो मित्रानयत्नात्' 'मित्र (मूर्ते) का पुत्र नहीं होनेसे
वह द्याम वर्ण है' इत्यादि उदयनाचार्यादि) पण्डित लोगोंका कथन सत्य ही है, क्योंकि
आयुक्त निर्मल कान्तिवाले अन्धकारोंको भीने (नाशक होनेके कारण भोजन करनेवाले)

जगति तिमिर मूर्च्छामन्वज्जनेऽपि चिकित्सत
 पितुरेव निजादस्मादभ्यापयत्य भिषज्यत ? ।
 अपि च शमनस्यामौ तातस्तन किमनौचिती
 यन्यमदय ऋहाराणामुदेत्यपमृत्युने ? ॥ ५० ॥

जगत'ति । द्रष्टो जघिनौ, जगति लोके, तिमिर तमे नेत्ररोगश्च । 'तिमिर ध्वाने
 नेत्रामयान्तरे' इति विश्व । तथा अन्वज्जनेऽपि, पञ्चपण्डेऽपि, मूर्च्छां निमीलन रोग
 विशेषश्च, चिकित्सा प्रसिद्धांगात् । कित सनन्ताष्टट दानादेता, 'गुप्तिचक्रिण
 सन्' इति निन्दाहमारायाभिप्रेतीकारेषु सन्निध्यते । निजान् स्वात्, पितु जनकात्,
 अस्मात् परिदृश्यमानात्, सूर्यादिनि शेष । अर्घीत्य पठित्वा इव, आयुर्वेदमिति
 शेष । भिषज्यत स्वर्गो चिक्रिस्तत, किम् ? इति शेष, इत्युत्प्रेषा । अन्यथा कुत्र
 तयो तादृता सिद्धा जाना ? इति भाव । कण्ठघातौ भिषजेति पाठात् यगन्ताहो
 तस्, चिकित्सति भिषज्यति' इति मट्टमस्य । अपि च किञ्च, अस्मां सूर्यं यत् यत्
 दमनस्य दमस्य, तात जन्म, तत सरमात्, इधेति शेष, अयं भागु, अदप
 निष्कण्ड मन्, बह्वाराणां कैरवाणाम् अपमृत्युये अनालमरणाय, निमीलनरूपायेति
 भाव । उदेति उचित्यति, सा अनौचित्यी किम् ? अन्याय किम् ? 'कारणगुणा कार्य
 गुणानारभते' इति न्यायान् निष्यमेव प्रागित्यहाररूपस्य तनयस्य पितुरपि तथैव गुण
 दत्तस्य पुत्रावात् नेवानौचित्यम्, वरमुचितमेवेति निष्कर्ष । उत्प्रेषा । दत्तपो
 पितृवत् सद्योपहारित्वमुचित, यमपितुस्तु रवे कृहारामारकत्वं न अनुचितम् इति
 भाव ॥ ५० ॥

समारम्भे तिमिर (अन्धकार, पञ्चा०—'तिमिर' नामक नेत्ररोग) की तथा अन्ध-सम्भू
 (पञ्चा०—'नेत्रमूह) में मूर्च्छा (निमीलन—विकल्पानाव, पञ्चा०—'मूर्च्छा' नामक रोग)
 की चिकित्सा (जाग, औषधोपचार कर्त्ता इत्यादि) करते हुए अश्विनीकुमार अपने द
 (प्रत्यक्ष दृश्यमान) पिता (सूर्य) से (आयुर्वेदज्ञ) मानो पदकर चिकित्सा करते हैं । तब
 जिस कारण वह मृत्युवर्जनाशक यमराजका पिता है, उस कारणसे निर्दय यह सूर्य कारण
 (कैरवों—राजिनें विकल्पित होनेवाले कुमुदों) को अपमृत्यु (निमीलन, पञ्चा०—'महा
 मरण) के लिए उद्यम प्राप्त करना (पञ्चा०—'मृग्य) है, यह अनुचित है क्या ? अर्थात्
 निर्दय दण्डे पिता निर्दयस्य सूर्यको कुमुदोंकी अपमृत्युके लिए उद्यम प्राप्त करना उचित है
 है । [जिस प्रकार कोई व्यक्ति चतुर एवं अनुभववी वस्त्रसे आयुर्वेद पदकर चिकित्सा करता है
 तो वह लोकमान्य राजवैद्य होता है, उसी प्रकार अश्विनीकुमारोंने उक्त गुणयुक्त अने
 पिता सूर्यसे आयुर्वेदको पदकर स्वर्गोपीय इन्द्रके राजवैद्य हो गये हैं और जिस कार
 निर्दय यह सूर्य कुमुदोंकी अपमृत्युको करता है उस कारण पना चलता है कि
 यमराजने भी अश्विनीकुमारों के समान ही अपने पिता सूर्यसे आयुर्वेदको पदकर रु

लोगों की अज्ञातमृत्यु करता है, क्योंकि कारणगुण कार्यगुणको आरम्भ करनेवाले होने हैं ।
अथवा—लोकोपकारक पिताके समान अश्विनीकुमारोंका सर्वोपकारी होना उचित ही है,
एव निर्दय यमके पिता निर्दयतम सूर्यका कुमुदविनाशक होना भी अनुचित नहीं है, अपितु
उचित ही है । उदीयमान सूर्यने अन्धकारको दूर कर दिया, वनस्पति विकसित हो गये और
कुमुद निमीलित (मकुंचित) हो गये ॥ ५० ॥

उड्डुपरिवृढ पत्या मुक्ता सर्ती यदपीडय-
द्यदपि विसिनी भानोर्जाया जहास कुमुदसी ।
तदुभयमत शङ्के सङ्कोचित निजशङ्कया
प्रसरति नवार्के कर्कन्धूकणारुणगेचिपि ॥ ५१ ॥

उड्डुविनि । उड्डुपरिवृढ तारापति चन्द्र , पत्या भर्ता भानुना, मुक्ता त्यक्तान् ,
दिनान्ते भस्ममितत्वादिति भाव । मतो साध्वीम् , विसिनी पद्मिनीम् , यत् यत् ,
अपीडयत् पीडितवान् , रात्रौ सङ्कोचनेन इति भाव । तथा कुमुदनी कुमुदिनी अपि ।
'कुमुदमद्वैतसेष्यो हस्तुप' । भानो सूर्यस्य, जाया भार्याम् , विसिनी पद्मिनीम् ,
यत् यस्मात् , जहास हसितवती, इवेति शेष । निजाया स्वविकाशेन इति भाव ।
अत अस्मादेव कारणत् , कर्कन्धू पञ्चदशीफलमित्यर्थ । 'अन्धदूरभू-' इत्यादिना
दूरापयान्तनिपात् । तत्कणावत् तच्चूर्णं हव, अदगरोचिपि लोहितकान्तौ, प्रभातका
लिक-त्रात् क्रोधाच्चेति भाव । नवाक वात्सूर्य, प्रसरति आकाश व्याप्नुवाने सति,
तयो चन्द्रकुमुदयो, उभय द्वन्द्वम् , निजशङ्कया स्वकृतपद्मिनीलाञ्छनामयेन,
सङ्कोचित निस्तेजस्त्व गतम् , निःप्रभोभूतमिति यावत् । निमीलितञ्ज । शङ्के इति
म-य, अहमिति शेष । हायुःप्रेक्षा । सर्वो हि स्वदुष्टायवहारेणात्मानं कलुषयतीति
भाव ॥ ५१ ॥

इम (भस्मक होते हुए) नक्षत्रपति अर्थात् चन्द्रेने पति (पक्षा०—सूर्य) से (साध-
व्वात् होनेके कारण) छोड़ी गयी सूर्य की पत्नी वर्मानाको पीडित (किरा-सूर्यने
सङ्कुचित, पक्षा०—करस्पन्दने दूषित) किया और (स्वयं विकसित होकर) कुमुदिनीने
जिम कारण (उस सङ्कुचित कमलिनोको) हँसा, इस कारण वे दोनों (चन्द्र तथा कुमुदिनी)
अपने अपराधी शङ्कासे देखके (कन्धे) चूर्ण (पाठा०—देखके पन्) के समान (प्राण
काल होनेने पक्षा०—मोचने कारण) अरुणराग नये सूर्यके तीव्रगतिसे आने (पक्षा०—
उद्दिन होने) रहनेपर सङ्कुचित हो गये ह ऐसी शङ्का करता हूँ । [जिस प्रकार किसी
पानमे विरहित पत्नीको दूसरा कोर पुरुष पारित करना तथा उसे पीडित करते हुए देखकर
उस पत्नीको उस दूसरे पुरुषकी स्त्री उपहाम करती है और उस पीडित स्त्रीके पतिको
त्रोषने लाल होकर तीव्रगतिसे आते हुए देखकर अपराधी दोनों स्त्री-पुरुष अपने जिये

१ 'फलारुण' इति पाठान्तरम् । 'कर्कन्धूकणेति पाठश्चिन्त्य' इति 'प्रकाश'कार ।

अपराधके भयमे सङ्कुचित हो जाते हैं, उसी प्रकार मायकान्मे पठित्यक्त सूर्यपत्नी कम
लिनीको पीडित करनेवाले चन्द्र तथा उपहास करनेवाली कुमुदिनीका प्रातःकाल इनेने
मानो कोषारुण सूर्यको आने हुए देखकर सङ्कुचित होना उचित ही है । अथ च—अने
दूषित व्यवहारसे सभी अपनेको कलुषित कर देने हैं । सूर्योदय हो गया, कमरिने
विकसित हो गयो तथा चन्द्रमा निष्प्रस होकर अस्त हो रहा है और कुमुदिनी सङ्कुचित
हो गयी ॥ ५१ ॥

श्रुतिमयतरोर्भाजोर्जानेऽधनेरधराध्वना

विहरणकृत शाखा साक्षाच्छतानि दश खिपाम् ।

निशि निशि सहस्राभ्या दग्भि शृणोति सहस्वरा

पृथगहिपति पश्यत्यस्याक्रमेण च भास्वराः ॥ ५२ ॥

श्रुतीति । अन्वने भूमे, अधराध्वना अधोमार्गेण, पातालवर्त्मना इत्यर्थः । एतच्च
अनुष्वस्थानमाधोपलक्षणम् । 'अधरस्तु पुमानोष्ट्रे हीनेऽनुष्वे तु वाच्यवत्' इति
मेदिनी । विहरणकृत विहारकृत सञ्चरत इत्यर्थः, आविर्भवत इत्यर्थश्च । श्रुतिमय
तरो वेदारमकवृक्षस्थः, 'श्रुतिमयतनो', इति पाठे—श्रुतिमयी पूर्वोक्तश्रुत्यनुसारेण
वेदशिक्षिका, तन्नु शरीर यस्य तादृशस्य इत्यर्थः । अस्य उच्य गच्छत, भानो
सूर्यस्य, खिपा रश्मीनाम् दशशतानि सहस्रम्, सहस्ररश्मिरूपेण परिणता इत्यर्थः ।
स्वरे उवात्तादिभि सह वर्त्तन्ते इति सहस्वरा सहस्वरा । 'वोपसर्जनस्य' इति सह
शब्दस्य विकल्पात् सभाषाभावः । पृथक् असाङ्ग्येण, भास्वरा दीप्तिशीला । 'इयेश
भास-' इत्यादिना वरच् । शाखा वेदभागान् वृक्षावयवाश्च । 'शाखा पञ्चान्तरे बाही
वेदभागान्नुमाङ्गयो' इति मेदिनी । अहिपति शेषः, निशि निशि प्रतिनिशम् ।
वीप्साया द्विर्भावः । तत्र तदा सूर्यसङ्घारेण निशाभावात् मर्त्यलोकापेक्षया निशीति
बोध्यम् । सहस्राभ्या द्विसहस्रमङ्गुल्याभि, दग्भि नेत्रैः, शेषनागस्य सहस्रफणत्वात्
प्रतिफणञ्च नेत्रद्वयसङ्घावात् नेत्राणां द्विसहस्रत्वं बोध्यम् । अक्रमेण यौगपद्येन,
साक्षात् प्रत्यक्षम्, शृणोति आकर्णयति, पश्यति अवलोकयति च, शेषस्य चक्षुःश्रव
त्वात् शाखानां शब्दारमकत्वेन श्रावणस्वोपपत्ते रश्मिपरिणामेन चाक्षुषत्वाच्च दर्श
नोपपत्तेरिति भावः, जाने इति मन्ये इत्युत्प्रेक्षा रूपकसङ्कीर्णा । एकेन दृक्सहस्रेण
पश्यतीति विश्वेश्वरभट्टारकव्याख्यानं चिन्त्यम्, दशा प्रत्येकमुभयशक्तियुक्तानां
शक्तिप्रविभागायोगात्, तस्मात् ग्राहकस्योभयशक्तिमत्त्वात् ग्राह्यस्य च तेजःशब्दो
भयात्मकत्वात् सर्वाभिरेव दग्भि सर्वाश्च शाखा युगपत् पश्यति शृणोति चेति
रमणीयम् ॥ ५२ ॥

पृथ्वीके अधोभाग (पाताल-भाग) से सञ्चार (अभिप्रेत) करते हुए वेदरूप वृक्ष शरीर) वाले सूर्यको एक सहस्र सत्त्वर (कठ, कण्व आदि) शाखाओं (किरणों) की शेषभाग प्रत्येक रात्रिमें (प्रत्येक फणामे दो-दो नेत्र होनेके कारण सहस्र फणाओंमें स्थित) दो सहस्र नेत्रोंसे एक साथ सुनना तथा देखना है । [सूर्य वेदरूपीवृक्ष है, उस वेदरूपी वृक्षमें कठ-कण्व आदि एक सहस्र शाखाएँ (पञ्चा०—किरणें) (वृक्षमें सत्तरों शाखाओं अर्थात् दालियोंका होना उचित ही है । अथवा—सूर्यका शरीर वेदरूप है, इनकी किरणें उन वेदकी शाखाएँ हैं) । चक्षु अथवा शेषकी सहस्र फणाओंमें (प्रति फणामे दो-दो नेत्र होनेमें) दो सहस्र नेत्र है, अत एव जब रात्रिमें सूर्य पृथ्वीके अधोभाग (पाताल) में चले जाते हैं, तब उनकी वेदात्मक भूर्भुवःकी शाखाओंके स्वर्गोंको शब्दरूप और किरणोंको तेजोरूप होनेसे दो सहस्र नेत्रवाला शेष एक साथ ही एक सहस्र नेत्रोंसे शब्दरूप वेदात्मक सूर्यकी वशाचादि स्वरमय सहस्र शाखाओंको सुनना तथा एक सहस्र नेत्रोंसे तेजोरूप सूर्यकी सदस्र किरणोंको देखना है, अत एव शेषके दो सहस्र नेत्रोंका होना सर्वथा चरितार्थ होता है । यही व्याख्या 'प्रकाश'कारने की है । विश्वेश्वर भट्टारकके इसी प्रकार की व्याख्याकी 'शेषके चक्षु अथवा (नेत्रोंमें सुननेवाला) होने दो सहस्र दृष्टियोंमें—से प्रत्येक दृष्टिमें दर्शन-अवगण दोनोंकी शक्ति होनेसे मात्र शब्द तथा तेज (शाखा तथा किरण) का दोनों सहस्र नेत्रोंमें सुनना तथा देखना एक साथ ही उचित है' ऐसी व्याख्या करते हुए 'जीवात्तु कारने चित्तं बलया दे, किन्तु उक्त अर्थके स्वरकार करनेमें दो सहस्र दृष्टियोंका होना सार्थक नहीं ही है उक्त व्याख्यान ही चिन्तन प्रतीत होता है] ॥ ५२ ॥

बहु नम्रता येपामग्रे खलु प्रतिभासते

कमलसुहृदस्तेऽमी भानो प्रवालरुच फगः ।

उचितमुचित जालेष्वन्त प्रवेशिभिरायतै

कियदवयवैरेपामालिङ्गिताऽङ्गुलिर्बलगाता ॥ ५३ ॥

वह्निः । येपा करणाम्, अग्रे प्रत्यगावस्थायास, प्रभाते इत्यर्थः । बहु प्रभूता, अल्पार्था इत्यर्थः । न-नम्रता अतीवगता, अन्यत्र-अग्रे अप्रमाणे, बहुनम्रता बहुन नम्रताम् । 'नलोऽस्त्री नलोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । खलु निमित्तम्, प्रतिभासते प्रतीयते कमलानां पदमानाम्, सुहृद् बन्धवः, विकासकत्वादिति भावः । सुहृद्वेनैव न-परता बोद्धव्या, अन्यत्र—सौन्दर्यमार्दवाभ्यां तत्सदृशा । प्रवालरुच विद्रुमभासः, उभयत्रापि समानम्, भानो सूर्यस्य, ते तादृशाः, अमी परिदृश्यमानाः, करा अश्व हस्ताश्च, प्रसर्पन्तीति शेषः । अत एव आलेषु गवाक्षविबरेषु, अन्तः प्रवेशिभिः अन्यन्तरप्रविष्टैः, आयतैः दीर्घैः, एषा करणाम्, कियदवयवैः किञ्चिदशः । कर्तुमि । उचि

१ 'लङ्गिमा' इति पाठ व्याख्याय 'अङ्गुलिचारुता' इति पाठ स्पष्टार्थ इति 'प्रकाश' कार आह ।

तमुचितम् अरयन्तोवित यथा स्यात् तथा । आतिशय्ये द्विरुक्ति । अद्भुलीनां करशा
गानाम् । 'अद्भुत्य करशाखा स्यु' इत्यमर । वल्गुता चारता, आलिङ्गिता प्राप्ता
इति 'रत्नेपसङ्कीर्णनिदर्शनाभेद । करणां कररूपत्वात् तदवयवानाम् अद्भुतिरूप
रस्य सूर्यधेय सम्भाव्यत्वादिति भावः ॥ ५३ ॥

जिन (किरणो, पञ्चा०—दाशो) को अनिशय अतीक्ष्णता पूर्वाङ्गमें प्रकाशित होती है
(अथवा—जिनकी अधिक तीक्ष्णता पूर्वाङ्गमें नहीं प्रकाशित होती है, पञ्चा०—जिनके आगेमें
बहुत नरालेसे युक्त रहना प्रकाशित होता है), (विकसित करनेसे) कमलोंके बाधव सूर्यकी
धे । करणें हैं (अथवा—सूर्यके कमलतुल्य (रक्तवर्ण) पत्र परलक्ष्य (या—मृगे) के समान
(या—अतिशय बाल = अभिनव होनेसे अरण) कातिवाने सूर्यकी धे किरणें हैं । अथवा—
अतिशय बाल = अभिन्न रत्नवाले सूर्यके कमलतुल्य अरण ये किरणें हैं, अथवा—(प्रातः
काशी १ होनेसे) विद्रुम (या—नवपरलक्ष्य) की समान कातिवाले सूर्यकी कमलतुल्य अरण
ये किरणें हैं । विरक्तियों (के तद्गो) में भीतर प्रवेश करनेवाले इन किरणों (पञ्चा०—
दाशो) के कुछ अवयवोंको अद्भुतियोंकी शोभा प्राप्त करना अरयन्त रचित है अर्थात् गदाशोके
तिद्र से भीतर प्रविष्ट होती हुई ये सूर्य-किरणें जो लम्बी होनेके कारण जो अद्भुतियोंके
समान शोभती है, यह सर्वथा उचित हो है ॥ ५३ ॥

नयं नयनयोर्द्राक् पेयस्व प्रविष्टयतीरम्

भवनवलभीजालाग्नालाङ्घ्यार्ककराद्भुती ।

भ्रमदणुगणक्रान्ता भान्ति भ्रमन्त्य इराशु या

पुनरपि धृता कुन्दे किं या न वर्द्धकिना दिवः १ ॥ ५४ ॥

नयेति । भवनवलभीनां भवप्रासादोपरि विद्यमानानां गृहविशेषाणाम् । 'शुद्धा
नो पलभी च' द्रशाले सौधोद्वर्ष्वेयमनि' इति रभस । जालात् गवाक्षविचारात्,
गवाक्षविचरमाधिशयेत्यर्थः । प्रविष्टयती भ्रमन्तर गतवती, माला कमलदण्डान्
एव स्थिता, कमलकण्ठामिता इत्यर्थः । भ्रमू पुरोयत्तिनी, अर्कस्य भावो, करा
किरणा एव करा हरता, दिल्ष्टरूपकम् । 'बलिहस्ताशव करा' इत्यमर । तेषाम्
अद्भुली करशाखा, अद्भुलीय प्रतीयमानानवयवानित्यर्थः । द्वाक् क्षटिति, नयनयो
नेत्रयो, पेयस्वम् आरवाद्यत्वम्, विषयत्वमित्यर्थः । नय प्रापय, साक्षर परय इत्यर्थः ।
रूप भासा दर्शनीयतामुत्प्रेषणा दर्शयति—या करादुत्थम्, भ्रमन्ति घूर्णमाने, भ्रु
गणे घसरेणुजाले, क्रान्ता घटिता सत्य, धाशु शाश्वम्, भ्रमन्त्य घूर्णमाना इव,
भान्ति प्रकाशन्ते इत्युत्प्रेषा । भ्रमणे धारणमुत्प्रेषते—पुनरपि पूर्ववत् अधुनाऽपि,
दिव स्वर्गात्, वर्द्धकिना सप्त्या, देवसिन्धुना । वध्वर्द्धना इत्यर्थः । 'तथा तु वर्द्धकि

१ 'विशेषणसङ्कीर्णो इति जीवात्' इति म०म० शिवदत्तशर्मणः ।

२ 'राधेयस्वम्' इति पाठान्तरम् ।

स्वप्ना' इत्यमरः । कुन्दे शाग्यन्त्रे । 'शाग्यन्त्रं यत्र कम्' इति यादवः । घृता वा तत्र शाग्यं स्थापितम् इव, न किम् ? कराद्वक्ष्य इति शेषः । अत्र तु घृता एव इत्यर्थः । पुनः पुनः चर्पणेन तदुत्थं सूचनमूचमाशौ धूर्तमानैरिव हरयते, अतः अमगं युग्मते इति भावः । पुरा क्विड स्वर्गं सन्ध्यादेन्द्या सूर्यमार्याया दुःसहस्पर्शा सविता-रमाद्येभ्यः प्रार्थितं विश्वकर्मा तं शाग्यन्त्रे कृत्स्वनेन मन्त्रद्वय मन्त्रद्वयं सुन्दरं चकारेति पौराणिकी कथाऽत्रानुसन्धेया ॥ ५२ ॥

(हे राजन !) अगर मन्त्रोंकी वृत्तियोंके गवाशु-विशेषों (अङ्गुलियोंके दिनों) में प्रविष्ट हुए कमजोरानुत्पन्न इन मूढ़विरण्णवी (अथवा — मूढ़के कर्णों = श्रावणों) अङ्गुलियोंकी शीमे मेंवका लभ्य बनारसे अर्थात् आदरपूर्वक देखिने, धूमते हुए जमरे-मनूहोंके बैठने जि हैं धूमते-मी (लोग देखने हैं, अथ एव ये स्वर्गके बड़े अर्थात् विश्वकर्माके द्वारा फिर शागर रखी गयी है क्या ? (ऐसा शोभनी है । अथवा — धूमते हुए जमरे-मनूहोंने बैठने (अथ दृष्ट) विश्वकर्माने शागर फिर रखा हुआ — मी नहीं धूमता है क्या ? अर्थात् शागर रखी हुआ — मी ही वे धूम रही हैं) ॥ ५४ ॥

पौराणिक कथा—विश्वकर्माकी पुत्री छदाने सूर्यके साथ विवाह होनेपर उनके नाकमन मेंवकी नहीं मूढ़ मकने पर अपने पितासे छाने कम करनेके लिए प्रार्थना का । तदनन्तर विश्व-कर्माने सर्वशो शागर रमकर विमने-विमने उन्हें छोड़कर उनके तेवक्षी छानाके द्वारा सूर्य को नै योग्य बनया ।

दिनमित्र दिवाकीर्तिस्तोरुणैः 'धुरेः सविनु' करै

स्तिनिरकवरीलूनां कृत्वा निशा निरदीवरन् ।

स्फुरति परितः नेशान्मोमैन्नन पनयालम्भि-

ध्रुवमववत तत्तद्वायुच्छलादयनोत्तलन् ॥ ५५ ॥

दिनमित्रि । दिन दिवस । ऋतुः । रात्रौ चौरकर्मनिषेधात् दिवा कीर्तिरस्य स दिवाकीर्तिनापि इव, 'धुरिमुग्धिदिवाकीर्तिनापिनाम्नावमापिन' इत्यमरः । तांशो-निरिते प्रखरैश्च, सविनु सूर्यस्य, इरे किरगरूपे, कुं वायनशब्दः । 'धुरोऽस्य वायन शब्दम्' इति यादवः । निशा रात्रिम्, अविचारिणी पनोनिषेधि भावः । तिमिरम् अन्धकारः, अगरी केशनाशा इव, सा लूना जिह्वा यस्याः सा मुग्धिन केशाम् । 'जानपद-' इत्यदिना कवरात् डोष्, "जातिकालमुत्तादिन्य परा निष्ठा

१ 'तीक्ष्णपुत्रास्सविनु कशात्' इति 'वीचानु'सम्मत पाठ इति म० न० शिव-दत्तसर्गात् ।

२ 'निशा शर्वरी तिमिरकवरी ध्वान्तउच्चता वेति लूना कृत्वा जिह्वमूला विषाय । 'तिमिरकवरीलूनाम्' इति पाठस्तु अन्नत्वेन पूर्वनिपातप्राप्तेरुपेक्ष, इति सुखावबोधा । 'जातिकालमुत्तादिन्य परवचनम्' इति लूनेति निष्ठाया (न्तस्य)

वाच्या' इति लुनीति निष्ठाया परनिपात, 'श्वादिभ्यश्च' इति निष्ठानत्व, 'बहुव्रीहे-
श्चान्तोदात्तात्' इति ङीप् । कृत्वा विधाय, निरदीधरत् निष्कासयामास, इवेति शेष,
इत्युप्रेषा । धरतेर्षो चङवपघाया इत्स्य । तत् निर्धारणानन्तरम्, तेषा तेषा गृहा-
दानाम्, छाया अनातप तत्तच्छाद्यम् । 'विभाषा सेना-' इत्यादिना 'छाया बाहुल्ये'
इत्यनेन वा नपुसकत्वम् । तस्य छलात् व्याजादित्यपह्नुव, परित समन्तात्, पत
यालुभि पतनशीलै । 'स्पृष्टिगृहि-' इत्यादिना आलुच् । केशस्तोमै विकुररा-
शिभि, अगनीतल भूतलम्, अधवलम् असितम्, स्फुरति भाति, व निश्चितमिधु
स्पृष्टायासु ॥ ५५ ॥

नाह के समान दिग्ने नोहा (परा, पक्षा—नेत्र) सूर्य-किरणरूपी छुरसे अन्धकार
रूपी केश समूहको काटकर रात्रि (रुषिणी व्यभिचारिणी स्त्री) का निश्चय किया अर्थात्
छुरसे मुण्डन कर-के बाद कहीं पर कोई केश बाकी तो नहीं रह गया है ऐसा निर्धारण
किया और उसे व्यभिचारिणी मानकर बहिष्कृत कर दिया । तदनन्तर उन उन गृह
आदिके छाया-समूहके छत्रसे सर्वत्रफ गिरनेवाले केश-समूहोंके समान कृष्णवर्ण पृथ्वी-
तल स्फुरित (दृष्टिगोचर) हो रहा है । [जिस प्रकार नाह अपनी या दूसरे की व्यभि-
चारिणी स्त्रीके बालोंको नेत्र छुरसे काटकर कहा भी बाल बाकी तो नहीं रह गये हैं ऐसा
अच्छी तरह निर्धारणकर उसे देशमें बहिष्कृत कर देना है और उसके फैलते हुए काले-
काले केश समूहसे पृथ्वी वाली दृष्टिगोचर होती है, उसी प्रकार दिनरूपी नाहने अन्धकार
रूपी केश-समूहको सूर्य-किरणरूप तीक्ष्ण छुरसे काट (नष्ट) कर रात्रिको बहिष्कृत कर दिया है
और भवनोंकी बाली बाली परछाईके कपटमें उस रात्रि रुषिणी स्त्रीके अन्धकार रूपी केशोंसे
यह भूतल कृष्णवर्ण हो रहा है । रात्रिका अन्धकार पूर्ण नष्ट हो गया, तीक्ष्ण सूर्य किरणें
फैल रही हैं और भवनोंका परछाई भूतलपर पड़ रही है] ॥ ५५ ॥

द्रूम शङ्ख तव नल । यश श्रेयसे स्पृष्टशब्द

यत्सोदर्य स दिवि लिखित स्पष्टमस्ति द्विजेन्द्र ।

अद्याःश्रद्धाकरमिह करच्छेदमप्यस्य परय

म्लानिस्थान तदपि नितरा हारिणो य फलङ्क ॥ ५६ ॥

द्रूम इति । नल । हे नदाख्यमहाराज । तव ते, यश कीर्तिम्, श्रेयसे महलाय,
स्पृष्टशब्द स्पष्ट निर्मित, फलित इत्यर्थ । शब्दो ध्वनि यस्य तादृश देवार्चनाशु
भजातकर्मार्थी विहितस्वनम्, शम्भु कर्णम्, शङ्खतुल्यमित्यर्थ । द्रूम कथयाम,
वधमिति शेष । शङ्खध्वने मङ्गलजनकत्वात् पुण्यरलोकत्वेन नलयशसश्च लोकानां
परनिपात । 'बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात्' इति ङीप्, इति 'जीवात्' इति म०भ० शिव-
दत्तशर्माण । अत्रोपरितने सुरावबोधायक्याख्याने 'तिमिरकवरी लज्जा' इति पाठ
इति वधम् ।

शुभावहत्वात् उभयोरपि समानभावस्याच्चेति भावः । यद्वा—श्रेयसे स्वर्गाय, सृष्ट
शब्द यस्य तत्तादृशम्, शङ्ख कञ्जम्, यश भ्रूम त्वदीययशस्त्वेन वर्गयाम
इत्यर्थः । यस्य यशसः, सोदय समानम् उदर यस्य ॥ तादृश महोदर आता,
शङ्खचन्द्रयोरुभयोरपि एकसमुद्रजत्वादिति शौक्ल्यात् सदृश इति वा भावः । समा
नोदरे दायित इत्यस्मिन्नर्थे 'सोदरात् य' इत्यनेन यप्रत्यये विवक्षिते 'विभापोदरे'
इत्यनेन प्रागेव यप्रत्ययात् समानशब्दस्य समावः । सदृशत्वाभिमानो इति फलि
तार्थः । स प्रसिद्ध, द्विजेन्द्र चन्द्र, दिवि गगने, लिखित चित्रित, किरणचयेण
निष्प्रभत्वात् निष्प्रियत्वाच्च चित्रितवद्भिनि भावः । स्पष्ट सुख्यक्तम्, अस्ति वर्तते ।
इह अशुना प्रमातृकाले, अश्रद्धाकरम् अनादरावहम्, प्रमाद्ययादेव इति भावः,
यद्वा—अश्रद्धाकर प्रत्यक्षत्वेन विश्वामावहम्, अस्य चन्द्रस्य, अश्रद्धा सत्त्वतः, सूर्यते-
जसा अभिहृतत्वात् यथार्थमित्यर्थः । करच्छेदम् अशुनाशम् अपि, परम अवलोक्य
किञ्च, हारिणो हरिणात्मक, यः कलङ्क बिह्वविशेष, अत्र विद्यते इति शेषः ।
तदपि दृष्टिह्रमपि, नितराम् अत्यर्थम्, म्लाने मलिनतायाः, स्थानम् भारपदम्,
विलसप्रभत्वादिति भावः । पर्येति पूर्व्यणान्वयः । अतः शीघ्र दायन त्यजेति भावः ।
अन्यच्च—श्रेयसे धर्मोपदेशरूपमङ्गलाय, सृष्टशब्द रचितस्मृतिग्रन्थम्, शङ्ख
शङ्खाय मुनिम्, तव यश यशस्तुभ्य यशस्विनमित्यर्थः । यद्वा—शङ्खम्, तव
यश श्रेयसे कीर्त्यैक्यरूपमङ्गलायेत्यर्थः । तद्वक्षितविधानानुसारेण कर्मानुष्ठानात्
यनोद्भूदेरिति भावः । सृष्टशब्द भ्रूम कथयाम । यस्य शरस्य, सोदय आता, ॥
प्रसिद्ध, द्विजेन्द्र ब्राह्मणोत्तम, लिखित लिपिताद्य मुनि, दिवि स्वर्ग, स्पष्ट
सर्वशक्तित्वात् सुख्यक्तम्, अस्ति विद्यते, इति अश्रद्धा सत्यम् । किञ्च, इह अस्मिन्
शङ्खलिखितयोः कृतविषये, अश्रद्धाकर विश्वासजनकम्, अस्य लिखितस्य, करच्छेद
हस्तच्छेदनम् अपि, चौर्यापराधेन राजाज्ञया इति भावः । परम अवलोक्य, विवे-
चयेत्यर्थः । पुराणोक्तत्वादिति भावः । हारिण ज्येष्ठस्य भानु शङ्खमुने आधने
फलापहारकस्य, लिखितस्य इति शेषः । यः कलङ्क सहोदराग्रमे कलञ्चौर्यरूप
अपवादः, तदपि नितराम् अत्यर्थम्, म्लाने विषादस्य, स्थान कारणम्, जानीहि
इति शेषः । अत्र महाभारतीयशान्तिपर्वणि सुद्युम्नोपाख्यानम्—'तव ॥ पृथिवी
पाली लिखितस्य महारामनः । करौ प्रच्छेदयामास एतदण्डो जगाम स ॥' इति ।
अत्र विशेषणविशेष्ययोरपि श्लिष्टत्वादभिधाया प्रकृतार्थत्वात् अप्रकृतार्थत्वाच्च निरेवेति
सदृशेपः । मन्दाकारान्तापुत्तम् ॥ ५६ ॥

(अब शङ्ख वज्रनेत्राके शङ्खो घनिको मुनिकर वैजालिक्रमोऽङ्गके व्याजये नञ्जे
यशका वर्णन करते हैं—) हे नल ! मङ्गलके लिए वज्राये गये शङ्खो (हमलोग) तुम्हारा
यश कहते हैं (शुभ वर्ग तथा पुण्यलोक होनेके कारण मङ्गलकारक होनेसे) तुम्हारा यश
शङ्खके समान है ऐसा हमलोग कहते हैं । अथवा—स्वर्गके लिए वज्राये गये शङ्खो हम लोग

तुम्हारा यश कहने हैं क्योंकि शङ्ख तथा चन्द्रमा दोनों समुद्रोत्थ एव शुभ्रवर्ण हैं) जिस (शङ्ख, पक्षा०—तुम्हारे यश) का सहोदर अर्थात् समान कान्तिवाञ्छा (पश्चिम दिशामें दृश्यमान) वह द्विजराज (चन्द्र) स्पर्शरूपसे लिखित है अर्थात् निष्प्रभ तथा निष्क्रिय होनेसे लिखित चित्रके समान स्पर्शतः दृष्टिगोचर हो रहा है । तुम इस प्रमातकाल (या—आकाश) में (निष्प्रभ होनेसे) अनादरणीय (अथवा—प्रत्यक्षतः निष्प्रभ दृष्टिगोचर होनेसे विश्रामयोग्य), इस (चन्द्रमा) के वस्तुन किरणनारको भी देखो अर्थात् शङ्खके समान इस चन्द्रमामें भी किरण नहीं है यह तुम देखो और हरिण-स-वन्धी जो (चन्द्रमाका) बन्धु है, वह भी कल्पेन मलिनता (कृष्णवर्णत्व) का म्यान है (शङ्ख उद्गममें भी चन्द्रमाके उत्तर (मध्यभाग) के समान ही मलिनता है, यह भी तुम देखो) । (अथ च—(धर्मावदेशरूप) मदलके लिपि (रसुति श्रय की रचना करके शब्दको करनेकाले 'शङ्ख' नामक मुनिको हमलोग तुम्हारा यश कहने हैं (यद्वा—तुम्हारे यशोवृद्धिरूपी महत्त्व के लिए (पक्षा०—उक्त ग्रन्थानुसार आचरण करनेसे स्वर्गाभिप्राप्तिकर मङ्गलके लिए) 'शङ्ख' नामक मुनिको), जिस ('शङ्ख' नामक मुनि) का सहोदर भाई जगद्गणेश 'लिखित' नामक मुनि स्वार्थमें स्पर्शतः त्रिधमान है यह सत्य है, इस (शङ्ख तथा लिखित मुनियोंके) आचरणके विषयमें शब्दाद्योम्य (योगीके अवधारणमें राजाकाशारा) 'लिखित' मुनिके साथ काटनेकी भी देखो अर्थात् जेष्ठ 'शङ्ख' मुनिके आश्रममें फलका चोरी करनेसे राजाकाशारा 'लिखित' मुनिके हाथ काटना भी आचरणके विषयमें शब्दाकारक (या—अनङ्गाकारक) है, यह भी तुम विचार करो । जो चोरीकर कलङ्क (दुरपवाद) अनिश्चय म्लानि (निन्दा) का कारण है यह भी तुम देखो अर्थात् शान्त्युदी नेत्रसे दखकर समझो । अथवा—'नर पुण्यलोक है' इस प्रकार तुम्हारे यशके लिए हमलोग 'शङ्ख' नामक मुनिको तुम्हारा यश कहने हैं, (उनके बन्धुपुत्र भाईकी नहीं), ('लिखित' मुनि सहोदर भाई 'शङ्ख' मुनिके आश्रममें फलकी चुरानेपर राजाकाशारा हम कटवाकर 'लिखित' हुए' यह कथा महाभारत के शान्तिपर्वके सुगुप्ताश्रमवाक्यमें देखनी चाहिये) ॥ ५६ ॥

नारागद्विभोऽकम्प जलज तीक्ष्णतिरपो भिन्दत

सारम्भ चलता करेण निद्रिडा निष्पीडना लम्भित ।

ऐदार्थोऽहताम्बुकम्बुजरजोऽम्बालपाण्डूभर-

च्छद्मच्छित्तरपत्रनामिह वहत्यस्त गताम्हो रिधु ॥ ५७ ॥

तारति । तारा तारका एव, शङ्खा कम्बव, दिनोदयेन ताराणां शुभ्रत्वेन प्रतीयमानत्वादिति भावः । सेपा तिलोपकस्य विनाशकस्य, अन्तर्दायकस्येत्यर्थः । ऐद-
क्षस्य च, तथा जलज पक्ष शङ्खश्च । 'जलज शङ्खपक्षयो' इति विधः । भिन्दत विदा-
रयत, प्रकोटयत इत्यर्थः । करभूषणनिर्माणार्थं सच्छिद्र कुर्वतश्च, तीक्ष्णतिरप-
तिगमादौ, तीक्ष्णास्त्रधरस्य कस्यचित् शङ्खकारस्य च, सारम्भ सप्रधानम्, चलता

प्रसरता, छेदनकर्मणि व्यावृत्तत्वात् पुर पश्चाच्च पुन पुन गतागत कुर्वता इत्यर्थश्च, करेण किरणेन हस्तेन च, निविडा प्रगाढाम्, निष्पीडनां बाधना धारणञ्च, लम्बित प्रापित, अस्तम् अदर्शनम्, गत प्राप्तम्, अर्द्धम् एकांश यस्य स तादृश, त्रिषु चन्द्र, इह अस्मिन् अर्द्धास्तमितसमये, छेदाय कर्त्तव्यार्थम्, तारकारूपशङ्खच्छेदन-सौकर्यसिद्धये इत्यर्थः । उपहतम् अर्पितम्, यत् अम्बु जलम्, शङ्खच्छेदनसौकर्याय जल दीयते शङ्खिर्नैरिति व्यवहारात्, तेन मह कम्बुज छिद्यमानात् शङ्खात् जातम् यत् रज करपत्रपत्रेणनिपतित चूर्णम्, तस्य य खम्वाल कर्दम, रजोराशौ जल निक्षेपेण कर्दमताया अवश्यम्भावादिति भावः । तेन पाण्डुमवत् शुभ्रोभवत्, यत् शङ्ख छिन्नलीनि शङ्खच्छिद्यत् शङ्खच्छेदकम्, करपत्र कृकच । 'कृकचोऽस्त्री करपत्रम्' इत्यमरः । तस्य भावः तत्ताम्, वहति धारयति, इवेति शेषः, इत्युत्प्रेक्षा । शङ्खच्छेदककरपत्रस्य अर्द्धचन्द्राकारत्वात् अर्द्धास्तमित चन्द्र शङ्खच्छेदककरपत्रमिव दृश्यते इति भावः । शार्दूलविकीर्णित वृत्तम् ॥ ५७ ॥

(अधिक प्राग काल होनेसे अतिशय शुभ्रवर्ण) ताराक्षी शङ्ख (अथवा—विशाखा नक्षत्रके शङ्खाकार मानुषमण्डलरूप तारा) को नष्ट करने (पश्चात्—छिन्न करने, या—काटने) वाले, कमलको विकसित करते (पश्चात्—शङ्खको छेदने, या—काटने) हुए तीव्र नेत्रवाले (सूर्य, पश्चात्—तीक्ष्ण शक्तवाले शिवजी) के मनेष चलते हुए किरण (पश्चात्—रागटनेके कारण आगे—पीछे चलते हुए हाथ) से अतिशय पीड़ित (पश्चात्—दबाया गया) आधा भस्म यह चन्द्र (शङ्खकी सरणामे) काटनेके लिए छोड़े गये पानीके कारण शङ्खसे उत्पन्न धूलिके पट्टेमें ध्वेनवर्ण होते हुए शङ्ख-च्छेदक आरेके समान दृष्टिगोचर हो रहा है । [ताराओंके विशालक एवं कमलोंके विकसितक मनेष चलते हुए सूर्यकी किरणमें पीड़ित तथा आधा भस्म हुआ निष्प्रभ चन्द्रमा ऐसा मानुष पट्टेमा है कि—शङ्खको छेदने (या—काटने) वाला तीक्ष्णशक्तवारी शिवजीके वेगपूर्वक घर्षणसे सञ्चलनशील (विस्तृत एवं सङ्कुचित होते हुए) हाथमें भरपूर पीड़ित आधा शङ्खको बख्सी छिदन (या—काटने) के लिए पानी बालनेने काटने समय उत्पन्न शङ्खके मलिन धूलि-पट्टेमें कुछ ध्वेनवर्ण हो रहा है । शङ्खको छेदने (या—काटने) के लिए तीक्ष्ण आरा लेना, हाथका मायायान होना, शीघ्र छेद होने (या—काटने) के लिए पानी छोड़नेपर शङ्खकी धूलिसे कीचड़ निकलकर आरेका कुछ ध्वेन वर्ण होना प्रसिद्ध है । सूर्योदय हो गया, ताराएँ लुप्त हो गयीं, कमल विकसित हो गये, चन्द्र आधा अस्त होकर शङ्ख काटते हुए शङ्खकर्दमल्लिख आरेके समान पाण्डुवर्ण एवं वक्राकार हो रहा है, अतः एवं प्रभात जानकर आप शीघ्र उठिये] ॥ ५७ ॥

(जलजमिदुरीभाव प्रेप्सु करेण निपीडय-

त्यशिशिरवरस्ताराशङ्खप्रपञ्चनिलोपकृत् ।

१ अयं श्लोक 'प्रकाश'ध्याय्यासहित एवात्र मया स्थापितः ।

रजनिरमणस्यास्तक्षोणीवराद्धपिधावशा-

द्वयतमधुना विम्ब कम्बुच्छिद करपत्रताम ॥ १ ॥)

जलजेति । अलज कमल शङ्खश्च । करेणाशुना पाणिना च । अयं श्लोक पूर्वण
(१९:५७) समानार्थकत्वात्पेक ॥ १ ॥

कमल (पद्मा०—शृङ्ग) का विकसित (पद्मा०—खण्डित) करनेका इच्छुक तथा
तारारूपी शङ्खका नाश (पद्मा०—खण्डित) करनेवाली सूर्यकी किरण अस्ताचल में भाषे
छिपनेमें शङ्ख काटनेवाले भारेके समान चन्द्र-विम्बको पीडित कर रहा है ॥ १ ॥

यत्पाथोजविमुद्गणप्रकरणे निर्निद्रयत्यशुमान्

दृष्टो पूरयति स्म यज्जलरुहामदणा सहस्र हरि ।

साजात्य सरसीरुहामपि दृशामप्यस्तिःतद्वास्तव

यन्मूलाऽऽद्रियतेतरा कवितृभि पद्मोपमा चक्षुष ॥ ५८ ॥

यदिति । यत् यस्मात्, अशुमान् अर्कं, पाथोजविमुद्गणप्रकरणे पञ्चविकासकरण
प्रस्तावे, दृष्टी दृश, जमनेत्राणि इति यावत् । निर्निद्रयति नि नास्ति, निद्रा स्वाप,
निद्राकालिकनिमोलनमित्यर्थ । यासु तास्तादशी करोति उन्मीलयतीत्यर्थ । तथा
यन् यस्माच्च, हरि विष्णु, जलरुहा कमलानाम्, शिवपूजाधर्ममाप्तीतानामिति
भाव । सहस्र सहस्रसङ्ख्यायाम्, अदणा स्वनेत्रेण, पूरयति स्म पूर्ण चकार, पङ्कोनवा-
दिति भाव । यदुक्त शिवनेहिम्न स्तोत्रे—‘हरिस्ते साहस्र कमलबलिमाधाय पद्मो-
पदकोमे सरिमन् निजमुदहरन्नेत्रकमलम्’ इति । तत् तस्मात्, सरसीरुहामपि कम-
लानाञ्च, दृशामपि वयनानाञ्च, वास्तव्य पारमार्थिकम्, साजात्य समानजातीयत्वम्,
अस्ति विद्यते । यत् हरिसूर्याभ्यां परमाभ्याम्भ्यां तत्तत् कार्यमकारि अतः पञ्चचक्षुषो
साजात्ये सन्देह एव नास्ति, अन्यथा पद्मोपमाप्रकरणवाधाद्विजातीयेन त्रुपुषा कनक
सङ्ख्यापूरणवत् चक्षुषा कमलसङ्ख्यापूरणायोगान्चेति भाव । कवितृभि कविभि,
यत् साजात्यम्, मूल हेतु यस्या सा तादृशी, चक्षुष वयनस्य, पद्मे कमलै सह,
उपमा औपम्यम्, आद्रियतेतरा सक्तियतेतराम्, अत्यर्थमाद्रियते इत्यर्थ । ‘किमेति
इत्ययात्’ इति आमु-प्रत्यय । वैजात्येन सद्रस्तुनोरपि सुवर्णरजतपोरुपमाऽयोगा
दिति भाव । सर्वे एव लोका अजागर, अतः स्वमपि जागृहि इति वस्तुराशय ॥ ५८ ॥

सूर्य कमलोंके विकसित करनेके अवसरपर जो (जोगोवे) नेत्रोंकी निद्रारहित (पद्मा०—
विकसित) कर देता है तथा विष्णुने जो (अपने एक) नेत्रसे कमलोंके सहस्र सङ्ख्याको
पूरा किया था, वसन्त कमलों तथा नेत्रोंकी वास्तविक समानता है, इसीसे कवि लोग
-जब कमलोंके साथ उपमा देनेका अत्यन्त आदर करते हैं । [यदि कमलोंकी नेत्रोंके

१ ‘कवितृभि’ इति ‘प्रकाश’ सम्मत पाठ ।

साय बालविक्रम समानता नहीं होती तो कमलोंको विकल्पित करने समय मूर्त नेत्रोंके विद्वन्निव (निद्रारहित) नहीं करने तथा विष्णु भगवान् भी सदैव कमलोंमें शिव-पूजन करने समय एक कमलके कम हो जानेपर उनके स्वप्नमें अपना नेत्र स्मरणकर कमलोंमें सदैव मत्तयाको पूरी नहीं करते, किन्तु दूसरा कमल लाकर ही उसे पूरी करते, इसमें विद्वन्निव होता है कि कमलों एवं नेत्रोंकी बालविक्रम समानता है और इसी मूढाचार्यका लेकर कविश्रेष्ठ को कमलोंकी नेत्रोंके साथमें उपमा बड़े आदरके साथ देने हैं । कमल विकल्पित हो गये, ममो लोग निद्रा त्यागकर उठ गये, अतः अब आप भी निद्रा त्यागकर उठें] ॥ ५८ ॥

अथैमि कमलाकरे निद्रितलयामिनोयामिक-

श्रिय श्रयति यन् पुरा जिततपन्त्रनेत्रोदरम् ।

तदेव कुमुद पुनर्दिनमत्राप्य गर्मभ्रमद-

द्विरैकरजधोरणाघनमुपैति निद्रामुदम् ॥ ५९ ॥

अथैमीति । यत् कुमुदम् , कच्छं । पुरा इतः पूर्वम् , कमलाकरे पद्माकरे मरमि, कमलाया पद्मालयाया लक्ष्म्या , घनसम्पत्तिरूपाया इति यावत् । आकरे वसति स्थाने कोषागारे च, जिततानि विस्तृतानि, पत्राणि दलानि एव, नेत्रोदराणि नय नमस्यानि यस्य तत् तादृश मत्त , निखिलाया समप्रायाम् , यामिम्या 'रजन्याम् , यामिक' प्राहरिक', प्राहरिरूपेण जागरूक इत्यर्थः । तस्य श्रियम् इव श्रियं शोभान् , सादरवसित्वम् । इति सादरयावेपाख्यदर्शनामेव । श्रयति मज्जते स्म । 'पुरि लुब्धास्मे' इति चकाराद् मृते लट् । तदेव वस्तरूपमेव, कुमुद कैरवम् , पुन इदानीम् , दिन दिवसम् , अत्राप्य, गर्म भ्रमन्तरे, अन्नता घूर्णमानानाम् , द्विरैकाणा अन्नरागाम्, प्रातः काले कुमुदाना मुदगात् तदन्तराघट्टानामिति भावः । एव शब्द एव, धोरणा निद्रितस्य घमरशब्दाश्रित्यम्, आसागर्जनमिति भावः । पुर भीमार्प-शब्दयो इति सौदादिकाश्रित्ये 'वपुश्' । तस्या घन ताद यथा तथा, निद्रामुदं निद्रा निर्मालन स्वप्नश्च, तस्या मुद सुप्तम् , उपैति लभते, 'अथैमि इति मम्ये, हायुज्येष्टायाम् । । रात्रौ जागरितो हि दिवा निद्रातीति दृश्यते । अत्र एकस्मिन् कुमुदे अनेक-योर्निद्राजागरयो क्रमेण प्रत्यभिधाभात् 'एकस्मिन्वयवाग्नेकम्' इत्युक्तलक्षणापर्याया-लङ्कारेण पूर्वोक्तनिदर्शनाः सङ्कोर्णाः । पृथ्वीवृत्त—'जसौ जसयला वसुप्रहयतिश्च पृथ्वी गुर' इति लक्षणात् ॥ ५९ ॥

कमलाकर (कमल-समुद्र, या-कमलोंके आकर तद्वत्, पद्मा-कमला-सम्पत्तिदे

१ 'भीमशब्दार्थद्विरैकजन्तात्' 'याममम्य'- इति युच् इति 'प्रकाश' कारः ।

२ 'अथैमि-हायुज्येष्टायाम् । 'एकस्मिन् सङ्कोर्णा' इति 'जीवानु' रिति म० म० शि० द० शर्मणि ।

२१ नै० उ०

कोष) में विकसित पत्ररूपी नेत्रमध्यकाल (पक्षा०—पत्रमध्यके समान विकसित = निद्रारहित होनेसे विस्तारित नेत्रमध्यकाल) जो कुमुद पहले (रात्रिमें) सम्पूर्ण रात्रिमें पहरदारकी शोभा (समानता) को प्राप्त किया था, वही कुमुद इस समय दिनको प्राप्तकर अर्थात् दिन होनेपर (प्राण कालमें कुमुदके बंद होनेमें) भीतरमें घूमते हुए भ्रमरोंके गुञ्जनरूपी शयन करने समय अधिक नासिक्यके 'घर-घर' शब्दको करनेके साथ-साथ निद्राके सुखको प्राप्त करता है । [जिस प्रकार कोषागार (खजाने) का पहरदार पूर्ण रात्रिमें जागरण कर दिन होनेपर खुराटा लेना हुआ सुखसे सोना है, उसी प्रकार मानो कुमुद भी रात्रिभर उन्मोलित रहकर दिन होनेपर इस समय भीतरमें बन्द हुए भ्रमरके गुञ्जनमें मानो खुराटा लेना हुआ सो रहा है, ऐसा हम समझते ॥] ॥ ५९ ॥

इह किमुपास पृच्छाशार्मिकिशब्दरूप-

प्रतिनियमितथाचा वायसेनप पृष्ट ।

भण फणिभवशास्त्रे तातड स्थानिनी फा-

त्रिति विहिततुहीनामुत्तर कोकिलोऽभूत् ? ॥ ६० ॥

इहेति । इह अस्मिन्, उपसि प्रभाते, पृच्छा प्रश्नम्, शसति सूचयतीति पृच्छा शामी प्रश्नवाचक । 'प्रश्नेऽनुयोगे पृच्छा च' इत्यमर । तादृशस्य किं शब्दस्य किमिति सर्वनामपदस्य, रूपे रूपविशेषे, कौ इति प्रथमाद्विवचनान्तपदनिष्पत्तौ, प्रतिनियमिता सदेव निर्दिष्टा, वाक् वाक्य यस्य तादृशेन, काविति व्यक्तावाक्येनेत्यर्थः । वायसेन काकेन, फणिम शेषात्, भवे उत्पन्ने, शेषप्रणीते इत्यर्थः । शास्त्रे पाणिनीये महाभाष्ये, तातड्तातडादेशस्य, स्थानिनी आदेशिनी कौ ? किं शब्दौ ? भण प्रह्नि, इति प्रश्नम्, पृष्ट जिज्ञासित, इवेति शेषः । एष पुरतो बृचशास्त्रायामुपविष्ट इत्यर्थः । कोकिलपिक् विहित प्रयुक्तम्, तुही तुश्च दिक्ष्व तुही, इति, वाक् निजध्वनिरेव, उत्तर प्रतिवचनयेन ॥ तादृश, अभूत् अजनि, किम् ? 'तुहोस्तातडाशिष्यस्य तरस्याम्' इति पाणिनिसूत्रे तुहो स्थाने तातड् विधीयते, प्रातः काक कौ इति शब्देन तातड् स्थानिनी कौ इति पृच्छति किम् ? कोकिलश्च तुही इति शब्देन तस्य उत्तरं ददाति किम् ? इत्यर्थः । पक्षिप्रवृत्तीनामव्यक्तध्वनी यस्य चेत्तस्मि पदुदेति स तथैव मन कल्पित प्रकाशयति, एवञ्च कविरय तदा काकध्वनि 'कौ' इति कोकिलध्वनिञ्च 'तुही' इति कल्पयित्वा काविति तुहीति च वाक्कोकिलद्वयजितेन पूर्वोक्तप्रश्नोत्तरत्वमुत्प्रेक्षते । प्रभात जात काकादयः पक्षिण कृजन्तीति भावः ॥ ६० ॥

इस प्रभातकालमें प्रश्नवाचक 'किम्' शब्दके (कौ, कौ) रूपसे प्रतिनियत वचनवाले कौवेसे 'शेषोक्त शास्त्र अर्थात् पाणिनिमहाभाष्यमें 'तातड्' के स्थानी अर्थात् आदेश कौन-कौन होते हैं इस प्रकार 'कौ, कौ' ऐसा पूछा गया, तथा 'तुहि' कहनेवाला कोकिल उसका उत्तर हो गया क्या ? [प्राण काल स्वभावसे ही कौवा 'कौ, कौ' तथा पिक 'तुहि, तुहि'

करता है, कविराज ओइसँ इसार उत्येक्षा करते हैं कि—हम प्रातःकालमें 'कौ, कौ' कहता हुआ कौवा 'पाणिनीय महामाध्यमे' 'तावत्' के स्थानी 'कौन-कौन हैं' ॥ ऐसा प्रश्न करता है और कोयल 'तुहि, तुहि' कहकर उत्तर देता है कि 'पाणिनीय महामाध्यमे' 'तावत्' के स्थानी 'तु-हि, तु-हि' ह । क्योंकि 'तुष्टोस्त्वातद्धाशिष्यन्तरस्यान्' (पा० सू० ७।१।३५) से 'तावत्' के स्थानमें 'तु और हि' आदेश होते हैं । हे राजन् । प्रातःकाल हो गया, कौवे तथा कोयल बोलने लगे, अतएव आप दीप्त आगिषे] ॥ ६० ॥

दाक्षीपुत्रस्य तन्त्रे प्रथमयमभवत् कोऽप्यगीती कपोत

कण्ठे शब्दौघसिद्धिश्चनबहुकठिनीशेषभूषाऽनुयात ।

नर्व चिस्मृत्य दैगात् स्मृतिमुषमि गता घोषयन् यो घुमजा

प्राक्सस्कारेण मम्प्रत्यपि ध्रुवति शिर पट्टिकापाठनेन ॥ ६१ ॥

दाक्षीति । अथ परिदृश्यमान, क अपि अपरिज्ञातपूर्ववृत्तान्त इत्यर्थ । कपोत-पारावन, दाक्षीपुत्रस्य दक्षगोत्रमज्ञातमावृक्तस्य दाक्षीनामकमातृगर्भजानस्य वा पाणिने, दक्षस्यापरयम् 'अन इज्' इति इमि 'इतो मनुष्यजाते' इति छीप् । तन्त्रे शास्त्रे व्याकरणे, ध्रुव निश्चितमेव, अथातम् अध्ययनम् अस्य अस्मीति अर्धाती दाक्षीपुत्रमन्त्राध्ययनकारी इत्यर्थ । 'इष्टादिभ्यश्च' इतोनिप्रत्यय, 'कस्तेन्विषयस्य कर्मण्युपसङ्ख्यानम्' इति सप्तमी । अमवत् अजायत । य कपोत, कण्ठे निजगल देशे, शब्दौघेषु 'राम रामी रामा' इत्यादि प्रातिपदिकसमूहेषु, सिद्धये शिष्टाष्टा भार्यम्, चता प्रस्तरफलकादी पुन पुन लिखनेन चय प्राप्ता, बद्धा प्रभूता, या कठिनी खटी । 'कठिनी खटिकायामपि' इति मेदिनी । तस्या शेष अवशिष्टाश, स पृथ भूषा भाभरणम्, तयाऽनुयात अम्बित, रुषित सन् इत्यर्थ, इवेति शेष, खटिकाचूर्णशेषरेखया कण्ठे अनुरञ्जित ससिक्वेत्यर्थ । कपोतविशेषस्य कण्ठे घबलरेखा भवति, तत्र खटिकाचूर्णानुरञ्जनत्वाध्यवसायो बोध्य । सर्वम् अधीत ममस्तशास्त्रम् । विस्मृत्य तियग्योने सम्यग्धात् विस्मृतो भूत्वा, पट्टिकापाठनेन पट्टिकाया प्रस्तरफलकादी, पाठनेन लिखितविषयस्य अध्यापनाज्ञानितेन, प्राक्सस्कारेण पूर्वतनवामनया, पूर्वग्यामवशेनेत्यर्थ । दैगात् सहसा, स्मृति स्मरणविषय ताम्, गता प्राप्ताम्, घुमजा 'दाश इडाप्' इति सूत्रेका घु इति सप्तमम्, घोषयन् 'घु' इति शब्देन उच्चै उच्चारयन्, मम्प्रति अनुनासिपि, उपसि प्रातःकाले, शिर मस्तकम्, ध्रुवति कम्पयति, इत्युपेक्षा । लोकेऽपि दृश्यते यत् कथित् विस्मृतस्य कस्यचित् विषयस्य स्मरणकाले मस्तक कम्पयतीति ॥ ६१ ॥

कण्ठने शब्दमनुदक्षी सिद्धिके टिय विनी दुई बहुत-सी खदियासे अवशिष्टाश (अनुलिने लो दुप रख) रूनी भूषणसे युक्त यह (प्रत्यक्ष दृश्यमान) जोर कवून् मानो

पाणिनिके व्याकरणशास्त्रको पहले पढ़नेवाला हुआ है, जो माग्य (दुर्भाग्य) से सब भूलकर प्रातःकालमें स्मृतियोत्तर हुई ('दाषाध्वदाप्' (पा सू १।१।१०७) से विहित) 'धु' सङ्गाको घोषित (बार-बार उच्चारण) करना हुआ पट्टिका (पाटी) के अध्ययनजन्य पूर्वस्कारसे इस समय भी शिर कँपा रहा है । [जिस प्रकार पहले पढ़े हुए ग्रन्थको दुर्भाग्यवश विस्मृत हो जानेपर प्रातःकालमें स्मरण पयागन किसी विशेष स्थानको बार-बार कहना हुआ वह भूतपूर्व विद्वान् पूर्वस्कारसे शिरको कम्पित करना है, तथा उसके गलेमें पढ़नेके समय काष्ठफलक (पाटी) पर खदियाते लिख-लिखकर उसे मिटानेके बाद अङ्गुलिमें लगी हुई खदियेकी धूलको विद्याप्रसादनार्थ कण्ठमें लगा रहना है, उसी प्रकार मानो वह शब्द भी पहले पाणिनीय व्याकरणको पढ़ा हुआ है तथा शब्दसिद्धि करते समय दिमी हुई खदियेकी धूलको कण्ठमें लगा लिया है, किन्तु दुर्भाग्यवश सब पठित व्याकरणको भूल गया है इस प्रातःकालमें केवल 'धु' शब्द उसे याद आ गयी है, जिसे वह बार-बार कहना हुआ अध्ययनजन्य पूर्वस्कारसे अपने दुर्भाग्यको कोसना हुआ सिर धुन (कँपा) रहा है । प्रातःकालमें स्मरण होना तथा स्मरण जानेपर शिर कँपाना प्रायः सबका स्वभाव होगा है । कदाचित् 'धु-धु' कर रहा है, अतः प्रातःकाल जानकर अब आप मित्रायाग करें] ॥ ६१ ॥

पौरस्त्याद्या धुमृणसुमन श्रीजुयो वैजयन्त्या-
'स्तोकैश्चित् हरति हरिनि क्षौरकण्ठैर्मयुखै ।

भानुर्जाम्बूनदरुचिरसो शुकसौधस्य कुम्भ
स्थाने पानं तिमिरजलधेर्भाभिरेतद्भवाभि ॥ ६२ ॥

पौरस्त्यायामिति । जाम्बूनदरश्च उदयरागात् कनककान्तिः, अत एव शक्र सौधस्य पूर्वदिगवस्थितस्य इन्द्रासादस्य वैजयन्तस्य, शुभं सौधाप्रवर्तितकनक कलशरूप इति रूपकम् । असी परिदृश्यमान, भानु सूर्य, पुरो भवाया पौरस्त्यायां प्राच्याम् । 'दक्षिणापश्चात्पुरस्तस्यक्' इति श्यक्, 'क्षिति च' इति वृद्धिः । हरिति दिशि, धुमृणस्य कुङ्कुमस्य, सुमनसो पुष्पाणाम्, या श्री शोभा, तज्जुप तस्यैविन्या, रत्नवगाया इत्यर्थः । वैजयन्त्या पताकाया, तोकै अपत्ये, पताकाया अपत्यसदृशैरित्यर्थः । 'अपत्यं लोकं तयो समे' इत्यमरः । क्षौरकण्ठे दुग्धपायिनि बालैः, मयूखैः किरणैः, चित्तमम, हरति मुष्पाति, मनोहरं भवतीत्यर्थः । किञ्च एतस्मात् कुम्भरूपात् भानो, भवति जायते इति तामि एतद्भवाभि कुम्भोत्पन्नाभि, मामि प्रमामि, तिमिरजलधेः अन्धकारसमुद्रस्य, पानं चुलुकीकरणम्, विनाशनमिति यावत् । 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इति कर्मणि पठ्यते । स्थाने युक्तम् ।

१ '—मधुण' इति पाठान्तरम् । २ '—स्तोमै—' इति पाठान्तरम् ।

३ '—तनुरसौ' इति पाठान्तरम् ।

‘युक्ते द्वे साम्प्रत स्थाने’ इत्यमर । कुम्भसम्भव अगस्त्य यथा जुलुकेन जलधि पपां, तथा अपरस्यापि कुम्भसम्भवस्य जलधिपानमुचितमेवेति भाव । रूपका-
लङ्कार ॥ ६२ ॥

मुक्तामुदय कान्तिवान् इन्द्रप्रासाद (वैजयन्त) का कञ्जरूप यह सूर्य पूर्वदिशामें कुङ्कुम-पुष्पोंकी शोभावाणी (पाठा०—कुङ्कुममुदय स्निग्ध शोभावाणी) पताकाओंके दुग्ध पानेवाले अथार अतिशय लघु (= अभिनवतम) अपत्यरूप (पाठा०—समूह) किरणोंसे चिन्को हरण कर रहा है । इस (सूर्य, पञ्चा०—इन्द्रप्रासादके स्वर्णकञ्ज) से उत्पन्न कान्तिपोंकी अन्धकार-समुद्रका पान करना उचिन ही है । [सूर्य अभी अभी उदित हुआ है अत एव इसकी किरणें कुङ्कुमपुष्पमुदय अतिशय अन्धकार इन्द्रप्रासादकी पताकाओंकी कुपमुहें सन्तानमुदय अश्वत्थ माल-लाल ह और यह सूर्य उस इन्द्रप्रासादका स्वर्ण कञ्ज है, अत उक्त स्वर्णकञ्जोत्पन्न इन किरणोंको अन्धकार-समुद्रका पान करना सर्वथा उचिन ही है, क्योंकि कुम्भोत्तरन्त अगस्त्य मुनिने भी समुद्रका पान किया था । पूर्वदिशामें स्वर्ण कल्यमुदय सूर्यका उदय हो गया तथा उसकी अक्षयवर्ण किरणें फैल रही हैं, अत आप निद्रात्याग करें] ॥ ६२ ॥

द्वित्रैरेव नमस्तमालगहनप्रासे दवीभावुकै-

रुक्षैरस्य महत्प्रसदसि व्यथाणि घ्नोत्सव ।

घर्माणा रयचुम्बित जिननुते तत् पिष्टपिष्टीकृत-

क्षमादिग्योमतमोऽघमोघमधुना मोघ निदाघद्युति ॥ ६३ ॥

द्वित्रैरिति । नम अन्धकार एव, तमालगहन मुख्यवर्णरत्नात् तमालालयनृत्तानां गभीर वनम्, तस्य प्रासे गिलने, दूरीकरणे इत्यर्थ । दवीभावुकै आरभ्यवह्नी-
भवद्भि । ‘द्विद्वी वनारण्यवह्नी’ इत्यमर । अभूततन्नावे स्त्रि, ‘अस्य वरी’ इती-
कार । ‘लपपत-’ इत्यादिना उक्तञ् प्रत्यय । अस्य निदाघद्युते, द्वौ वा त्रय वा
द्वित्रा । ‘सपययाऽप्यया-’ इत्यादिना बहुव्रीहि, ‘बहुव्रीहौ सपये-’ इति ङच्
मासान्त । तैरेव द्वित्रिमरयकमात्रैरेव, उच्चै करे । कर्त्तुंभि । महत्प्रसदसि
कमलममायाम्, पद्मसमूहे इत्यर्थ । यस्मात् घ्नोत्सव दिनानम्, विकाशप्राप्तिज-
न्यमानन्दानुष्ठानमित्यर्थ । विथाणि व्यथाणित, प्रदत्त इत्यर्थ । अथ दाने इत्यस्य
कर्मणि णिष् । तत् तस्मात्, द्वित्रिसत्यककिरणैरेव सर्वकार्यसाधनात् हेतोरित्यर्थ ।
निदाघद्युति सूर्य, पिष्टपिष्टीकृत पिष्टम्य चूर्णीकृततण्डुलादे, पिष्टीकृतम् पुन पेय्य
वह्नीकृतम्, द्वित्रैरेव मयूखै अन्धकार दूरीकृतमपि पुन मयूखान्तरं अत्यर्थ दूरी-
कृतमित्यर्थ । क्षमादिग्योमतम पृथिवीकुटुम्बानानाम् अन्धकारमेव, अघ पापम्,
मालिन्यावहत्वादिति भाव । येन तादृशम् । ‘पाप किरिष्यकर्मपम्’ । कलुष वृत्ति
नैनोऽघमहो दुरितदुष्कृतम् इत्यमर । रयचुम्बित वेगव्याप्तम्, वेगेन प्रसरणशील

होना है । बहुत सहचरियोंके द्वारा भूषण करनेसे भूषणोंकी अधिकता तथा दमयन्तीके अपने शरीरके भूषणोंकी पारितोषिकमें देनेसे भूषणोंकी बहुमूल्यता सूचित होती है] ॥ ६५ ॥

आगच्छन् मणतामुष क्षणमथातिव्यदृशोरानशे
स्वर्गद्गाम्बुनि वन्दिना कृतदिनारम्भाप्लुतिर्भूपतिः ।
आनन्दादतिपुष्पक रथमधिप्राय प्रियायीतुक-
प्राप्त तैरवरागतैरविदितप्रासादतो निर्गम ॥ ६६ ॥

भागवद्वृत्तिः । अथ दमयन्त्या प्रसाददानानन्तरम्, अवरागते अवरा पश्चात्, स्नानार्थं नलस्य बहिर्गमनानन्तरमित्यर्थः । आगतौ उपस्थितौ, नलस्य निद्रापनयनार्थं प्रासादे इति शेषः । तौ वैतालिक, अविदित अज्ञात, पश्चादागतत्वादिति बोध्यम्, प्रासादतः हर्षात्, निर्गम बहिर्निष्क्रमण यस्य स तादृश, भूपति पृथ्वीश नल, स्वर्गद्गाम्बुनि मन्दाकिनीप्रवाह, कृतदिनारम्भाप्लुति कृना सम्पादिता दिनारम्भस्य प्रभातकालस्य, आप्लुति निमज्जनम्, स्नानमित्यर्थः, येन स तादृश, कृतप्राप्त स्नान सन्, एतेन नलस्य महाधार्मिकत्वं प्रतिपाद्यते । प्रियाया भैरव्या, यौतुके विवाहकालिकोपाहरणे, प्राप्त हर्षम्, भीमदत्तमित्यर्थः । अतिक्रान्त पुष्पकम् अतिपुष्पक पुष्पकादपि उत्कृष्टमित्यर्थः । 'भरयादय आगताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः, 'द्विगुणतापन्नालम्'—इत्यादिना 'परवस्त्रिण द्वन्द्वतःपुरुषयो इति प्राप्तस्य परवस्त्रिण वस्य प्रतिषेधः । रथ स्वयन्दनम्, अधिप्राय आस्थाय । 'अधिशोङ्' इत्याधारस्य कर्मत्वम् । आनन्दात् हर्षात्, दमयन्तीसमागमाशया इति भावः । आगच्छन् प्रायावर्त्तमान सन्, उप प्रभातकालम्, मणता तथैव वर्णयनाम्, वन्दिना वैतालिकानाम्, दत्तो नेत्रयो दृशाम् इत्यर्थः । आतिष्यम् आगन्तुकत्वम्, विपदावमिति यावत्, सण किञ्चित्कालम्, सौधान्त प्रवेशात् पूर्वपर्यन्तमित्यर्थः । आनशे प्राप्त, तैरपि इत्यर्थः 'अत आदे' इत्यभ्यासदीर्घः, 'भरनोत्तेश्च' इति जुडागम अत एव नलस्य स्नानार्थं गमनात् पूर्वश्लोके दैव्यव पारितोषिक दत्तमिःपुक्तम् ॥ ६६ ॥

राम (दमयन्तीके दिये पारितोषिक-भूषणोंको वन्दियों द्वारा धारण करने) के बाद (नलकी निष्क्रियासम्पादनार्थ बाहर जानेके) अनन्तर (उनको धरानेके लिए उपस्थित) वन्दिनों ने नली मालूम किया गया है बाहर निर्गमन भित्तिका देख तथा प्रातः काल आकाश गङ्गाने गोश लगाये (स्नान क्रिये) हुए दमयन्तीके विवाहके समय दहेजमें (भीमराजाके द्वारा) दिये गये एवं पुष्पकविमानानिद्रायी (कुबेरके पुष्पक विमानको अपेक्षा उत्तम) रथपर चढ़कर (दमयन्तीका पुनर्मिलन होनेकी आशासे) आनन्दपूर्वक आने हुए राजा

नन्को प्रान्त-प्रान्तका बर्नन बनेवाले बन्दिगोले देखा । [बन्दिगोले आनेते पड़े है
नित्य-क्रियाय वाह-जाह-सोटा दिन चडै-चडै नित्य-क्रियाको स्थापक ओट आनेते
नन्को बानिबान और इन्ने का-ग अर्थात् नन्को वडा नही रहनेते पूरु इन्कोक दमयन्तीका
बन्दिगोले नि-मूषको परिनिषिक्तमाने देनेका औचित्य और स्वादार्थ प्रान्त स्तन
का-नेते नन्को रषका स्वर्ज जनन कर सकना, नन् स्थापक दमयन्तीके माध पुनर्जननको
प्रधाने आनन्दपूर्वक लौटना चडनेते अमानो मन्को कयाको अर्थात् नूतिन हुनेते
है । ६३ ॥

श्रीशं कथिराजराजमुकुटालङ्कारश्रीरः सुत
श्रीशं सुपुत्रे शिवेन्द्रशंभु नानन्देश्वरी च यम् ।

क्रान्त्यनो न्कार्यद्वननैकजिगो मय-

कावेरं नम्य कृतां नत्तायद्गिने नगोऽयन्नन्निभ्रगान् ॥ ६७ ॥

अहंमिति । पृष्ठा नुक्त्याम्, नवार्थवदनाम् अहंमिति । न त्वज्ज न मुञ्चत, सर्वज्ञ नव नव विरद वारित इत्यर्थः । तस्य अहंमिति, विज्ञाने पूर्वाः इत्यर्थः—'तस्य पूर्वा इति इति इति, 'नि विज्ञानेति' इति निशङ्कये । तस्य एकेन न विज्ञा इति 'तृतीया' इति योगविभागात् सनात् 'पृष्ठादिर्वैकृत्य आदृक्' इति नव प्रकृतिभावः, एकस्यात् अदुर्भास्यम् । अतः न त्वज्ज न मुञ्चत ॥

इति मल्लिनाथपुरिविरचिते 'श्रीशङ्खनान्ध्याने पुरुषोत्तमस्य चरं वन्दनम् ॥ ११ ॥



कवीण-मूत्रके - किंग, मुख्य नलीन घटकाका अणार (मश नरी-नरी वः-
नाओका ही वान) काये दुर इप मोहवके गविन मुन्दा नन्के वीन अणार 'नैय-
कवि' - - - इलोम्बा, मां मनात नूमा (सैव व्याख्या ननुयम्मावदु आनो व विने) १३३।

इह 'नगैदमा' दीक्षानि नैषधवर्चस्य क्य उल्लाङ्घनात् न मनसि दुःखा । १७ ।



विंशः सर्गः ।

सौधाद्रिकुट्टिमानेकधातुकाधित्यकातटम् ।

स प्राप रथपाथोभृद्वातजातजवो दिव ॥ १ ॥

सौधेति । वातवत् वायुरिव, जात समुत्पन्न, जव, वेग यस्य स तादृश, अन्यत्र—वातात् वायो, जात उत्पन्न, जव वेगो यस्य स तादृश, स पूर्वोक्त अनिपुष्पक, रथ स्यन्दन एव, पाथोभृत् जलधर, दिव स्वर्गात् आकाशाच्च । 'पाश्च स्वर्गातन्मागंयो' इति विश्व । सौध अट्ट एव, अट्टि पर्वत, तस्य कुट्टिमम् उपरिगृहेषु विविधरत्नादिनिबद्धभूमि । 'कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भू' इत्यमर । तदेव अनेके धातव मानाविधगैरिकादय यत्र सा तादृशी । 'शेषाद्विभाषा' इति कप् । आयधिका ऊर्ध्वभूमिप्रदेश, तस्या तट पर्यन्तप्रदेश शिखरश्च, प्राप लेभे । रूपकाच्छात्र ॥ १ ॥

वायुमे भी अधिक तीव्र चलनेवाला (अथवा—वायु भी जिससे वेगवान् है, ऐसा) वह रथवासी मेघ स्वर्ग (पञ्चा०—आकाश) से प्राप्तारूपी पर्वतकी (नानावर्ण मणियोंसे जटित) भूमि (फर्श) रूपी (गैरिकादि) अनेक धातुवाली पर्वतकी ऊपरी भूमिके तटको प्राप्त किया । [जिस प्रकार वायुमे वेगयुक्त मेघ आकाशमे नानाधातुयुक्त पर्वताधित्यकाके तटको प्राप्त करता है, उसी प्रकार नलका वायुमे भी तीव्रगामी वह प्रसिद्ध रथ प्राप्तारूपके अनेक वर्णवाले रत्नोंसे लड़ी हुई भूमिके पयन्तप्रदेशको प्राप्त किया अर्थात् पहुँचा] ॥ १ ॥

तत प्रत्युदगाद् भैमीकान्तमायान्तमन्तिकम् ।

प्रतीचीमिन्धुवाचीन दिनोक्कारे सुधाकरम् ॥ २ ॥

तत इति । तत रथस्य कुट्टिमतटप्राप्त्यनन्तरम्, भैमी दमयन्ती, दिनस्य विषयस्य, ओङ्कारे प्रारम्भे, गायत्र्यादीनां प्रारम्भे एव ओङ्कारप्रयोगदर्शनादप्रापि ओङ्कारशब्दस्य आरम्भार्थं लक्षणा ज्ञातव्या । 'ओमाङोश्च' इति पररूपत्वम् । प्रतीचीसिन्धो पश्चिमदिगवस्थितसमुद्रस्य, वीची उमि, अतिक समीपम्, आयान्तम् आगच्छन्तम्, कान्त रमणीयम्, सुधाकर चन्द्रमिव, प्रयूपे एव अस्तो म्मुपतया सुधाकरस्य पश्चिमान्तवतरङ्गलग्नवत् प्रतीयमानत्वादिति भाव । अन्तिक समीपम्, आयान्तम् आगच्छन्तम्, कान्त पति नलम्, प्रत्युदगात् सादर प्रयुत्थितवती । 'इगो ग्रा लुङि' इति गादेश । 'गातिस्था—'इत्यादिना सिचो लुक् ॥ २ ॥

तदनन्तर समीप आने हुए पति (नल) का दमयन्तीने उम प्रकार प्रत्युदगमन (आग वानी—अभ्युत्थान) किया, जिस प्रकार दिनके आरम्भ (प्रातःकाल) के समीप आने

इष्ट मनोहर चन्द्रमाक्षी प्रत्युद्गमन (अगवानी) पश्चिम समुद्रकी लहरों (पानीका तरङ्ग) करती है ॥ २ ॥

स दूरमादर तस्या वदने मदनेकदृक् ।

दृष्टमन्दाकिनीहेमारविन्दश्रोरचिन्दन ॥ ३ ॥

स इति । दृष्टा अवलोकिता, मन्दाकिन्या स्वर्गगङ्गाया, हेमारविन्दस्य स्वर्गकमलस्य, श्री शोभा येन स तादृश, सदृशदर्शनजातप्रियामुखारविन्दस्मृति ह्यर्थः । एवञ्च दमयन्तीमुखारविन्द-मन्दाकिनीहेमारविन्दयो उक्तर्पापकर्मनिर्धारणे समर्थ इति भावः । मदनेकदृक् कामकंशरण, कामासक्तचित्त ह्यर्थः । स, नल, तस्या प्रियाया मैत्र्या, वदने आनने, दूरम् अत्यन्तम्, तत्पदमापेक्षया समविकसितार्थः । आदरम् आग्रहम्, अचिन्दन अलभत । तत्पदमापेक्षया दमयन्तीमुखस्य अधिकसुन्दरत्वात् तत्रैव समविकादरत्वान् अभूवेत्यर्थः ॥ ३ ॥

मन्दाकिनी (आकाशगङ्गा) के स्वर्गकमलकी शोभाको पहले (स्नानकालमें) देखे हुए एकमात्र काममें दृष्टि रखनेवाले अर्थात् कामासक्त उस नलने उस (दमयन्ती) के मुखमें (मन्दाकिनीके कमलकी अपेक्षा दमयन्तीके मुखमें अधिक शोभा होनेसे) अधिक आदरको प्राप्त किया अर्थात् मन्दाकिनीके स्वर्गकमलकी अपेक्षा दमयन्तीके मुखकी अधिक आदरसे देखा । [पहले मन्दाकिनीके स्वर्गकमलकी शोभा देखनेमें दमयन्तीके मुखकी शोभाके साथ तुलना करनेमें नलकी क्षमता सूचित होती है] ॥ ३ ॥

तेन स्वर्देशसन्देशमर्पितं सा करोदरे ।

वभ्राज विभ्रती पद्म पद्मोवोमिद्रपद्मदृक् ॥ ४ ॥

तेनेति । उच्चिद्रपद्मदृक् विकचारविन्दलोचना, सा दमयन्ती, तेन तद्दानयता प्रियेण नलेन, अर्पित वत्सम्, स्वर्देशस्य स्वर्गलोकस्य, सन्देश सूचकम्, स्वर्गलोक गच्छामि, अतः तच्छोकस्थमेक पद्म मधिमितमानये इति दमयन्तीप्रार्थनाऽनुसारे णानीतम् अत एव स्वर्गभूमे नल आगत इति ज्ञापयदिव स्थितमित्यर्थः । पद्म हेमारविन्दम्, करोदरे पाणिमण्ड्ये, विभ्रती दधती सती, पद्मा इष सापादेव रुध्मी इव, वभ्राज रेजे । लक्ष्मीरपि उच्चिद्रपद्मदृक् पद्मदृक्ता च इति उपमास इति बोद्धव्या ॥ ४ ॥

उस (नल) के द्वारा स्वर्ग से देशक समान दिये गये स्वर्गकमलका हाथमें ग्रहण करती हुई (अत एव दधने, या—रक्मावन) विकसित कमलके समान नेत्रवाली वह दमयन्ती लक्ष्मीके समान शोभित हुई । [जब नल स्नानार्थ मन्दाकिनीको जा रहे थे तब दमयन्तीने अपने लिए स्वर्गमें एक कमल लाने की प्रार्थना की थी, तदनुसार ही नलने स्वर्गके सन्देशके समान उस मन्दाकिनी-स्वर्ग-कमलको दमयन्तीके लिए दिया तो उसे

१. 'वभ्राजे' इति पाठान्तरम् ।

हाथमें ग्रहण करनी हुई कमलतुल्य प्रफुल्लितनेत्रा वह दमयन्ती ब्रह्मोके समान शोभने लगी, क्योंकि लक्ष्मी भी स्वभावतः कमलतुल्य नेत्रवाली है तथा हाथमें कमल लिये रहती है] ॥

प्रियेणाल्पमपि प्रसन्नं बहु मेनेतरामसौ ।

ह्येकलक्षतया दध्यौ दत्तमेकवराटकम् ॥ ५ ॥

प्रियेणेति । असौ भैमी, प्रियेण कान्तेन नलेन इष्टजनेन च, प्रसन्नं दत्तम् । 'अथ उपसर्गात्' इति दस्तादेशः । अल्पम् अपि किञ्चिदपि वस्तु, बहु प्रभूत समधिकारणीयञ्च मेनेतराम् अतिशयेन मेने । 'किमेत्तिद्वययात्—' इति आमु—प्रत्ययः । कुत ? हि यस्मात् कारणात्, दत्तम् अर्पितम्, एक एकसंख्यामात्र, वराटक बीजकोपो यस्य तत् सादृश्यात् 'बीजकोपो वराटक' इत्यमरः । एकवराटकम् एककपदकञ्च । 'अर्धको वराटक' इति हलायुधः । एकलक्षतया एकलक्षसंख्यकत्वेन तदेकपरतया लक्षसंख्यकधनत्वेन च । 'लक्षञ्च सत्पायाम्' इति विश्वः । दध्यौ मेने, प्रियदत्त वराटकमपि स्त्वात् अनिरिच्यते इति भावः ॥ ५ ॥

प्रिय (नल) के द्वारा दिये हुए थोड़ा अर्थात् एक कमलको भी उस (दमयन्ती) ने बहुत (अत्यधिक, पक्षा०—अत्यादरणीय) माना, क्योंकि भ्रष्ट बीजकोपवाले उस दिये गये कमलको एकटक होकर ध्यान किया—देखा, (अथ च—प्रियजनमे दी गया थोड़ी-सी भी किसी वस्तुको हमने अत्यधिक माना, क्योंकि प्रियकी दो हुर एक कौड़ीको भी एक लाख धनके बराबर माना) । [प्रियमदत्त साधारण वस्तुका भी अधिक मानना दमयन्ती-जैसी साधवां कांके लिए उचित ही है] ॥ ५ ॥

प्रेयन्मावादि सा तन्वी त्वदालिङ्गनविघ्नकृत् ।

समाप्यता विधिं शेषं क्लेशश्चेतासं चञ्च ते ? ॥ ६ ॥

प्रेयसेति । प्रेयसा प्रियतमेन नलेन, तन्वी कृशाङ्गी, सा दमयन्ती, अवादि कथिता । किमवादि ? तदेवाह—हे प्रिये ! चेत् यदि, ते तब, चेतासि मनसि, क्लेशा दुःखम्, मदागमनविघ्नप्रजनितमिति भावः, न, भवेदिति शेषः । तर्हि स्वकालिङ्गनस्य तब आश्लेषजनितसुखस्य, विघ्नकृत् अन्तरायभूत, शेषं प्रातः स्नानसन्ध्योपासनानन्तरं कर्त्तव्यतया अवशिष्ट, विधिं निरव्याग्निहोत्रादेः अनुष्ठानम्, समाप्यता समाप्तिं विधीयताम्, मयेति शेषः, भवत्या एतेषां कर्मणा समाप्तिं अनुज्ञा यन्तामित्यर्थः ॥ ६ ॥

प्रियमम (नल) ने नन्वी (कृशीदरी दमयन्ती) से कहा कि—'यदि तुम्हारे चित्तमें क्लेश नदी हो तो तुम्हारे आलिङ्गनके विघ्नकारक अवशिष्ट (बचे हुए, अग्निहोत्रादि) निरवकर्मको भी (मैं) समाप्त कर लूँ' ॥ ६ ॥

१ 'विधे' इति पाठान्तरम् ।

कैनायाग्नर्ममर्माविद्विद्यते विधिरद्य ते ? ।

इति त मनसा रोषादबोचद्वचसा न मा ॥ ७ ॥

बवेति । अद्य इदानीमपि, त्वयि मम प्रयादानुरक्तिं विदित्वाऽपीति भावः ।

यद्वा—प्रयूपे यथाय स्नानार्थं गतोऽस्मि, तदनन्तरं यद्वचः काटा अपगता, इदानीमपीति भावः । ते तव, एतावान् इयान्, नर्मन् कौडासुमस्य, नर्मं विष्पतीति मर्मावित् मर्माभिवातक, अतीव क्लेशप्रदप्रतिबन्धक इत्यर्थः । 'नदिवृत्तिः' इत्यादिना पूर्वस्य दृष्टं । विधिः निष्पत्त्यानुष्ठानम्, छ कृत्, किनर्यमित्यर्थः । विद्यते ? अस्ति ? बहुवचनत्वात् मह विद्युता सस्मि, न पुनरिदानीं विद्यन् सौष्टु मया शक्यते, अतः वैयानुष्ठानमिदानीं तिष्ठतु, आगच्छ मममीपनिष्पाद्य, इति पृथक्, सा मैमी, रोषात् कोपात्, नलस्य आगमनविद्यन्वनिताभिमानादिति भावः । त नलम्, मनसा चेतसा, अबोधत् उच्छवती, वचसा वाक्येन, सुस्पष्टित्यर्थः, न, अबोधेदिनि पूर्वक्रियया भन्वयः । लज्जादक्षिण्यादिति भावः ॥ ७ ॥

यम् (दमयन्ती) ने डम् (नन) के प्रति मनसे ही कोयुक्त यह वचन करा, (लज्जा तथा वाञ्छितके कारण) बचनेसे नहीं कर—आग्निदनादि काटा-रहस्यका विनाशक आग्न इतनी विधि (निःशानुष्ठान) कहाँ हा गया ? ['आग्नी स्नानार्थं गये बहुत विद्यन् हो गया, आग्नयक इतन निःशानुष्ठान कमा नहीं करते थे, तो आग्न नेही आग्निदनादि कौडाका विनाशक इतना निःशानुष्ठान कहासे बड़ी रह गया ?' इस प्रकार दमयन्तीने बोलते नन्हे मुँह उत्तर दिया, कुछ कुछ नहीं करा] ॥ ७ ॥

अणारिच्छेदकादेव विधेर्मुग्धे । विरज्यसि ।

'विच्छेत्ताहं चिरं नु त्या हृदाऽऽह स्म तदा कलि ॥ ८ ॥

बवेति । मुग्धे । हे मूढे । मैमि । अणारिच्छेदकादेव किञ्चिच्छेदनात्रविरहमग्नादकादेव, विधेः अनुष्ठानात्, विरज्यसि विरज्य भवसि, किन्तु, नु मो. ! त्या त्वाम् । 'त्वामी द्वितीयादा' इति त्वाऽऽदेशः । विर विरकालम्, विच्छेत्ताहं विच्छेत्स्यामि । छिदे स्वरितेत्वाञ्छुडि तच्छिद् इत्, 'स्वनामी ललुयो' इति पाठो. तामि प्रत्यये कृते 'डित आगमनेपदाना टेरे' इत्यनेन इट्टेरेत्ये 'ह पति' इति सकारस्य हकारः । अठनिति दोषः । इति एव, तदा तच्छास्त्रे, दमयन्त्याः सुममलिनोत्तरममनये इत्यर्थः । कलि कलिपुत्र, हृदा स्वचेतसा, आह स्म उवाच । यद्यपि अनुना किमपि अनिष्ट कर्तुं न शक्नोमि, तथाऽपि रज्ज्वन्वेपी तिष्ठानि इति भावः । नलस्य पापच्छिद्रमन्त्रिष्यन् ईर्ष्युं कञ्चि तथो- ग्रामादसर्गपवर्त्तिति अश्ववृत्ते अविष्टानं कृतवानिति प्राग् वर्णितमामोत्, तत्रस्य एव स नलदमयन्त्यो आलापनं भ्रुवा विरहेण दीनानना मैमी विडोक्थ एवमुक्तवानिति मन्तव्यम् ॥ ८ ॥

१ 'विच्छेत्ता न चिरं त्वेति' इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः ।

‘हे मुग्धे (मोहित चित्तवाली दमयन्ति) । क्षणमात्र विद्योग करानेवाले निस्त्यानुष्ठानमे
हो चिरक (या—विदग्ध) होतो हो ?, मैं तुमको चिरकान्तक विद्युत् करूंगा (पाठा—
मैं तुमको शीघ्र विद्युत् करूंगा)’ इस प्रकार (नलके कीटोद्यनस्थ बड़ेउके वृक्षपर रहते
हुए नलच्छिद्रान्धेषो) कलिने अपने मनमें ही कहा ॥ ६ ॥

सावज्ञेयाथ सा राज्ञ सखी पद्ममुखीभगात् ।

लक्ष्मी कुमुदकेदारादारादम्भोजिनीमिव ॥ ६ ॥

सावज्ञेति । अथ नलवाक्यश्रवणानन्तरम्, सा भेमी, सावज्ञेव सतिरस्कारेव
सखी, स्वा विहाय होमाद्यनुष्ठानार्थं नलस्य गमनाभिप्रायात् सावधानेव सतीत्यर्थः ।
लक्ष्मी, शोभा, कुमुदकेदारात् कैरवचैत्रात्, त विहाय इत्यर्थः । आरात् कुमुदाकर
समीपस्थिताम्, पदममेव मुख यस्या तादृशीम्, अम्भोजिनीं पद्मिनीम् इव,
प्रातः काले इति भावः । राज्ञ नलसमीपात्, राज्ञान विहाय इति वा । कर्मणि
स्यचलोपे पञ्चमी । आरात् समीपे, समीपवर्तिनीमित्यर्थः । पद्मम् इव मुख यस्या
तादृशीम्, सर्वां वयस्याम्, अगात् भगमत्, अवज्ञाता हि अवज्ञाकारिण विहाय
गच्छन्तीति प्रसिद्धिः । लक्ष्मीनिर्गमे कुमुदचैत्रस्य यथा मालिन्य तत्सम्पर्कात् पद्माना
च यथा विकासो भवति, तथा भैमीविरहात् नलमुखस्य मालिन्य तत्समागमात्
सखीमुखस्य च स्मितशोभित्व सूचितममया उपमया इति द्रष्टव्यम् ॥ ९ ॥

इसके बाद तिरस्कारयुक्त—सी बह (दमयन्ती) राधा नलके पासमे पद्ममुखी (पद्मवत्
सुंदर मुखवाली, अथवा—‘पद्ममुखी’ नामवाली) सखीके पास उस प्रकार गयी, जिस प्रकार
(प्रातः कालमें) कुमुद-क्षेत्रमें समीपवर्ती कमलरूप मुखवाली अम्भोजिनीके पास शोभा जाती
है । [प्रातः कालमें जिस प्रकार शोभा रहित कुमुदनिर्मलीन होनेसे मलिनमुख और कमलिनी
विकसित होनेसे प्रसन्नमुख होती है, उसी प्रकार दमयन्तीके चले जानेसे नल मलिनमुख
(पिन्न) हो गये और सखी प्रसन्नमुखी हो गयी] ॥ ९ ॥

ममामावपि मा मम्भूत कलिद्वारपरत् पर ।

इतीत्र नित्यसत्रे ता म त्रेता पर्यंतुतुपत् ॥ १० ॥

ममेति । अस्मी त्रेता अपि, कलिद्वारपरत् चतुर्यन्तरीययुगाधीशाविव, मम मे
पर शत्रु, मा मम्भूत न आयता, मायोगादृढभावः । इतोव इति मत्वेव, स नष्ट,
नित्यमत्रे प्रत्यहमनुष्ठेययज्ञे अग्निहोत्रे, ‘एतद्वै जरामर्यं सत्र यदग्निहोत्रम्’ इति श्रुत्वा
नित्यस्वावगमादित्यर्थः । ‘सत्रमाच्छादने यज्ञे’ इत्यमरः । नाम आहवनीय-गार्हपत्य
दक्षिणाग्निर्त्वेन प्रसिद्धाम्, रामरावणादीनां विविधस्यापाराश्रयत्वेन प्रसिद्धाञ्च,
त्रेताम् अग्नित्रयम्, द्वितीययुगञ्च । ‘त्रेता स्वप्नित्रये युगे’ इत्यमरः । पर्यंतुतुपत्
द्विषा परितोपयामास । ‘सत्कर्मजिपतय -’ इत्यादिना विकल्पेनोपपत्त्या इत्यम् ॥ १० ॥

यह (‘त्रेता’ नामक द्वितीय युगाधिपानृदेव) भी कलि तथा द्वारके समान मेरा

सबु न हो बाद', मानो ऐसा मानकर उस (नर) ने निरुद्ध (अग्निहोत्र) में तम
 'त्रेता' (गार्ग्य, आश्वनीय तथा दक्षिण्यग्नि, पञ्चा०—'त्रेता' नामक द्वितीय युगके
 अविष्टाता देवविशेष) को (इविम्पते) सब प्रकार दुष्ट किया अर्थात् अग्निहोत्र किया ।
 [अग्निहोत्रको अग्निहोत्र कर्मसे हवनद्वारा दुष्ट नहीं करनेपर नियानुष्ठानवन्त्य प्रत्यक्ष
 होनेके सम्यसे नष्टन 'त्रेता' (अग्निहोत्र) को हवन करके समुद्ध किया, किन्तु वास्तवमें तो
 वे दमयन्तीके ही कपीन थे] ॥ १० ॥

(युगमम्)

क्रियां प्राहेतनीं कृत्वा निषेधन् पाणिना मर्म्बान् ।

कराभ्या पृष्ठगस्तस्या न्यनोमित्तदमी दृशौ ॥ ११ ॥

दमयन्त्या धयस्यामि मशान्यामि ममीक्षितः ।

प्रमृतिभ्यामिवायामं मायन् प्रेमर्मादृशौ ॥ १२ ॥

क्रियामिति । जसौ नष्ट, प्राहुं तनीं प्राहुं भवाम्, पूर्वोक्तकृत्यामि-धयं । 'मायं
 चिरम्—' इत्यादिना द्युपमयय तस्य मुद् च । तस्माद् एव निपातनान् प्राहुं तनीं-
 मिति । क्रियाम् अनुष्ठानम्, कृत्वा विषय, मर्म्बौ पूर्वोक्त मङ्गलरोम्, पाणिना
 हस्तसङ्गना, निषेधन् निषादयन्, स्वागन्तव्यविज्ञापितुमिति शेष, तस्याः कैम्या,
 पृष्ठगं पश्चाद्देशे स्थित सन् कराभ्या पाणिभ्याम्, दृशौ लोचने, दमयन्त्या एव इति
 शेष, न्यनोमित्तद् अवाहनम्, कौतुकार्यमिति भावः । 'आयनाम—' इत्यादिना
 विह्वलेनोपपाया हस्तविधानान् पश्ये हस्व ॥ दमयन्त्या इति । प्रमृतिभ्या निवृत्त-
 पाणिभ्याम्, गम्भीरार्थं क्रियमाकादुर्दसकोचिनकराभ्यामि-धयं । 'पाणिनिवृत्त-
 प्रमृति' इत्यमरः । प्रेमर्मादृशौ मेर्मानयनयोः, आयानं दैर्घ्यम्, मायन् तौल्यम्
 इव स्थित, नाते माहो वा व्यन्तत् एव कत्रादेशः । तथा सहासनामि ममृश्वम्
 मष्टशंभात् ईयन् हसन्तीमि, दमयन्त्या मीम्या, वयस्यामि मर्म्बामि, ममीक्षित-
 ष्ट, असौ नष्ट लोचने न्यमीमित्तदिति पूर्वोक्तव्ययः ॥ ११-१२ ॥

प्राक्काटकी (अवशिष्ट अग्निहोत्रादि) क्रिया सनातनर (नि आत्मा हूँ) एवं वत्
 क्रिया दमयन्त्याते नष्ट कर्तुं इस प्रकार) हावने सर्वाङ्गो भग्न करने हुए, (अन एव) ईदम्
 हुए सन्निधौ देखे गये तथा क्रियाके नेत्रद्वयको मानो दोनों दसरोसे नाथने हुए वत् नष्टने
 पीछे ककर वत् (दमयन्त्या) के नेत्रोंको बन्द कर दिया ॥ ११-१२ ॥

तर्किताऽऽलि ! त्वमित्यर्द्ध-याणोक्ता पाणिमोचनान् ।

जानस्पर्शान्तरा मानमानये मानसेरिना ॥ १३ ॥

तर्कितेति । आलि ! हे मन्त्रि ! त्वं नेत्राख्यादिका सर्वनी, तर्किता अवगतिना

१. 'पौ चडि—' इत्युपपाया हस्व इति 'प्रकाश'-व्याख्यानमेव समीचीन मतिः ।

अनुमानेन ज्ञाता इत्यर्थः, मया इति शेषः । इति एवम्, अर्द्धा 'अतो मा जहीदि' इत्यवशिष्टाशस्य अवचनात् अवसम्पूर्णरूपा, वागी वाक्ययस्या सा तादृशी । शैषिक कृप । पाण्यो नयनपिधायकनलहस्तयो, मोचनात् निजशशिभ्याम् अपनोदनात् ततो, ज्ञात विदिनम्, स्पर्शान्तरम् अन्यविध स्पर्शः, सखीस्पर्शान् विवृण्वन् नलस्पर्श इत्यर्थः । यया सा तादृशी विद्विनप्रियपाणिस्पर्शा, दमयन्तीति शेषः । ज्ञानमविनी भूमिमानवनी, नलस्य दमयन्त्यनादरपूर्वकत्रेतानुरक्तत्वेन तस्मिन् मानवनी धर्मात्पदम् । मौनं नारायताम्, आनन्दो प्राप, न किञ्चिद्दूचे कोपादिति भावः ॥१३॥

ह मलि । (नेत्र बन्द करनेवाला तुमको मैंने) अनुमाने ज्ञान लिया, ऐसी आधी बात कहा हुआ, तथा (अरने हाथों से नन्के) हाथोंको छुटानेसे (पनिके) स्पर्शको पहचानना ॥ मेरे साथ आन्निहनादि छोडकर 'जना' में अनुरक्त होनेसे नन्के प्रति) मान करने वाला दमयन्ती चुप हो गयी । ['तुमको मैंने अनुमाने ज्ञान लिया' इनती आधी बात हो दमयन्तीने सखीको सम्बोधितकर कहा या 'अन अब मुझे छोड दो' यह आधी बात कहना बाधा हो या इननेमें अपने हाथने नन्के हाथको छुटाने मनय इनके स्पर्शको पहचान लेनेमें 'अने मैं ने' मलाने लौख बन्द किया है' ऐसा समझती थी, किन्तु 'ये सखी नहीं, अरितु मिदम नन्क ह' दमा जानकर मानचुक होनेसे तन्क बातको पूरा नहीं कहा, किन्तु आधी बात कह कर ही चुप लग गयी] ॥ १३ ॥

साऽयाचि सुतनुन्तेन कोपन्ते नायमौचित्यी ।

त्वा प्राप यन्प्रनाडेन प्रिये । तस्माद्रिये तप ॥ १४ ॥

मेति । तेन नयेन, सुतनु अनवद्याही, मा भैमी, अवाचि उक्ता । वचे कर्मणि लृट् । तदेवाह-हे प्रिये । ते तव, अय क्रियमाणः, कोप शेषः, नौचित्यी न न्यायः, अलुचित इत्यर्थः । तथा हि, यस्य तपसः, प्रसादेन अनुग्रहेण, त्वा भवन्तीम्, प्राप प्राप्तवान् अस्मि, अहमिति शेषः । आप्नोतेर्लुङ् 'तस्यस्यमिषा तान्तन्ताम्' इति मिषोऽमादेशः । तत् महोपकारि, तप अग्निहोत्रादिकर्म, न आद्रिषः ? न सत्करोमि ? इति काङ्क्षु, अपि तु अवश्यमेव तस्य समादरं करोमि, तत्प्रसादादेव घत त्वा लब्धवानस्मि इति निष्कर्षः ॥ १४ ॥

दुस्तर शरीरवाली दमयन्तीने नटने कहा कि—'तुम्हें यह कोप करना उचित नहीं है (क्योंकि) किसके प्रसादसे (मैंने) तुम्हें पाया है, उस तपका मैं आदर नहीं करूँ ? क्या तुम्हें प्राप्त करनेमें कारण होनेसे उस तप (अग्निहोत्रादि निस्वानुष्ठान) का मुने आदर करना ही चाहिये, अन एव तुम्हें मुझपर कोष करना उचित नहीं है ॥ १४ ॥

निशि ताम्य गतोऽपि त्वा स्नात्वा यन्नाभ्यशीवदम् ।

त प्रवृत्ताऽमि मन्तु चेन्मन्तु तद्वद वन्द्यसे ॥ १५ ॥

१ 'साज्वादि' इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः । २ 'प्राप' इति पाठान्तरम् ।

निर्वाति । हे प्रिये ! निशि रात्रौ, दास्य दास्यम्, तवेति शेषः । चरनमर्दन-
व्यवनादिना सुरतश्रान्त्यपनोदनायमिति भावः । रात्रिं प्राप्तेऽपि, 'अहमिति शेषः',
स्नात्वा स्नानात् आगत्य, त्वा भवतीम्, यत् न अन्यथापदं न अभिवादिताम्
अस्मि । वदंमिवादिनायां चौरादिकात् ष्यन्ताच्चाटि 'औ' षष्ठ्युपधाया इत्स्व' इति
उपधाहस्वः ॥ तस्य अनभिवादनमेव, मन्तुम् अपराधम्, 'आगोऽपराधो मन्तुश्च'
इत्यमरः । मनरोपादिङ्मनुप्रचयः । मन्तु विवेचयितुम् । मन्यतेऽनुमुप्रचयः ।
प्रवृत्ता उद्युक्ता, असि भवामि, चेत् यदि, दामभ्यामनरेपराधवादिति भावः । तन्
तर्हि, यद् कस्य, वन्त्ये नमस्क्रियसे, इदानीमेव मया त्वमिति शेषः । प्रणिपात
प्रतीकारत्वात् अपराधम्येति भावः ॥ १५ ॥

(सुरतमग्नौ दूर करनेके लिए चरनवादन, वजनकाउन काँद करके) रात्रिमें
तुम्हारे दासभावको प्राप्त हो जैने (प्रातःकाल) स्नानकर ओ अभिवादन नहीं किया,
उसीको तुम अपराध माननेके लिये तैयार हो गे करो, (यह मैं तुम्हारा) अभिवादन
क्या हूँ । [प्रणिपातपरम सखनोंका जोष होनेसे कनिश्चन करनेपर तुम्हें दुस्तर
जोष करना छोड़ देना चाहिये] ॥ १५ ॥

उन्वेतस्या पदासक्त्यै पथ्यैषा प्रेरितौ करौ ।

दृष्ट्वा मकोप सातङ्क त कटाक्षैर्ममूहम् ॥ १६ ॥

इतीति । एषा दममती, पत्न्या प्रियेण बलेन, इति इयम्, दृष्ट्वेति शेषः,
एतस्या प्रियाया नैम्या, पदामाये अभिवादनार्थं पादप्रक्षालय, प्रेरितौ प्रनारितौ,
करौ हस्तौ, दृष्ट्वा स्वकराभ्यां निरुप्य, मकोपम् अनर्हकरणात् मकोपम्, सातङ्क
मनपङ्क, स्वचाने स्वानिष्कारमर्गस्य अनौचित्यादिनि भावः । कटाक्षे अयात्रविष्टो
कनैः ॥ प्रियम् अममूहम् मोहयति स्म, स्मरार्त्तं कृतमतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

देवा (२०।१४-१५) कहकर हम (दममती) ने चरण-नयनेके लिए पति (मत्त)
के द्वारा पतिने गये दोनों हाथोंकी जोष तथा (पतिके द्वारा मेरे चरणोंका स्पर्श न हो पाय,
हम मानते) मरके मर रोकर बसकने उक्त (मत्त) को मोहित कर दिया क्योंकि
कटाक्षोंद्वारा दममतीने मत्तको कामाभीन कर दिया ॥ १६ ॥

अवोचत तनस्मन्वो निषयानामर्घाश्वरः ।

तदपाङ्गलत्तारा-भानत्कारवशीकृतः ॥ १७ ॥

अवोचतेति । ततः कशङ्कैर्मुग्धाभावानन्तरम्, तस्या प्रियाया, भगवते नेत्रमन्ते,
पट्टमया भ्रमण्या, ताराया कनोविकीया, सङ्ककारेण प्रमादुरगेन, वशीकृतः
अपत्तामूतः, निषयानां निषयदेशांशानाम्, चर्चिरर-अधिपतिः नटः, तन्वी
हृशार्त्ता विनाम्, अवोचत अभाषत । ब्रुवो लुङि रूपम् ॥ १७ ॥

१ 'प्रेरितौ' इति पाठान्तरम् ।

८२ नै० ल०

उदयनर (दमयन्ती-कटाक्षोंसे मोहित होनेके बाद) उस (दमयन्ती) के नेत्रप्राप्तने चक्षुः कानानिवाशो (नेत्रकी पुत्रलियों) की स्फुरित होती हुई प्रभासे बसोभूत नल लम्बो (कटाक्ष दमयन्ती) से बोले ॥ १७ ॥

कटाक्षकपटारब्ध- दूरलङ्घनरहसा ।

दृशो भोत्या निवृत्त ते कर्णरूप निरूप्य किम् ? ॥ १८ ॥

कटाक्षेति । हे प्रिये ! कटाक्षरूपेण यथा दर्शनस्याजेन, आरब्धम् उपमानम्, दूरलङ्घनरहस्यं विप्रवृष्टदेशोत्पत्तनवेगं यथा सादृश्या, ते तव, दृशा नयनेन, कर्णं ध्रुवि पद, दूर तस्ते तम्, निरूप्य निरोक्ष्य, भीत्या भयेन, दूरलङ्घनोपक्रमे तत्र पत्तनमिषा इत्यर्थः । निवृत्त किम् ? निरस्त किम् ? दूरलङ्घनेच्छुरन्योऽपि जन मन्मुखे रूप तिष्ठे बवेत् तत्र पत्तनमिषा स्वारब्धात् निवृत्तो भवतीति लोके दृश्यते । आकर्णविधान्मलोचना दमयन्तीति तात्पर्यम् ॥ १८ ॥

कटाक्षके रूपसे दूर तक जाने के लिये वेगको आरम्भ की हुई कर्णात् सवेग चलती हुई नुशारी दृष्टि कानरूप रूपका निश्चयकर (उसमें गिरनेके) भयसे छोट जायी क्या ? [१८] में भी दूर तक जानेके लिए वेगपूर्वक चलना आरम्भ करके कोई व्यक्ति मार्गमें रूपको देखकर उसमें गिरनेके भयसे जिस प्रकार वापस लौट आता है, वही प्रकार कटाक्षक छापने दूर (कानने भी जाये) तक जानेके लिए सवेग दृष्टि कर्णरूपको देखकर छोट जायी है क्या ? ऐसा बात होता है] ॥ १८ ॥

सरोपाऽपि सरोजाक्षि ! त्वमुदेपि मुदे मम ।

तप्ताऽपि शतपत्रस्य सौरभायैव सौरभा ॥ १९ ॥

सरोपेति । सरोजाक्षि ! हे कमललोचने ! सरोपाऽपि रसाऽपि, त्वं भवती, मम मे, मुदे दुर्पाय एव, उदेपि भवसि, नयनाननयो तात्कालिकसुपमाया अतीवरमणी परबादिति भावः । तथा हि-तप्ता उष्णा अपि, सूर्यस्य इव सौरी सूर्यसम्बन्धिनी । 'सूयागस्त्ययो -' इत्यादिना यकारलोपः । सौरी च सा मा प्रभा च सौरमा सूर्यप्रभा । 'शिवा पुवत्-' इत्यादिना पुवद्भावः । शतपत्रस्य कमलस्य, सौरभाय एव सूरभि रभाय एव, प्रस्रुतनद्धारा भुगन्धवितरणाद्यैवेत्यर्थः, न तु शोषभाय, भवतीति शेषः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ १९ ॥

हे कमलनयनी (दमयन्ति) ! शोषयुक्त भी गुण मेरे दुर्पके लिए होनी हो, क्योंकि उष्ण भी सूर्य-कान्ति कलके (विकसित करके) सुगन्धके लिए हो जाती है (शोषणके लिए नहीं) । [तुम्हारे शोष करनेपर भी आलङ्घनादि करनेके लिए उत्तम गोमा होनेसे मुझे आनन्द ही होता है] ॥ १९ ॥

हेतुमिन्दौ मवद्वक्त्र-चिन्वविभ्रमविभ्रमम् ।

गङ्गे शशाङ्कमानङ्गे मिश्रमित्रमिविचित्रम् ॥ २० ॥

हेतुमिति । हे प्रिये ! मिश्रमित्र पृथक् पृथक् प्रकार, अत्यन्तविचित्रमरूप
इत्यर्थः । विधि निर्माणयापार यस्य स तादृश, विधि विज्ञाना, इन्द्रो चन्द्रे,
मन्त्रया तत्र, वक्त्रविभ्रमस्य सुखमगदगदम् । 'मर्वनाम्नो वृत्तिनामे पुनश्चात्र' । य-
विभ्रम शोभा, तस्य विभ्रन आन्तिम् । 'विभ्रम संशये आन्ती शोभायाश्च' इति
यावत् । सादृश्यस्य लोकाना तत्र सुखमममि-यम् । हेतु तिराकतुम् । द्वि-
तुम् । शशाङ्क शशास्य मृगस्य, अष्ट चिह्नम्, चानङ्गे अङ्कितवात् । 'अकि लङ्गे'
इति घ'लोमोवाटिकादिदि तद्, 'तस्मान्मुद् द्विहल' इति मुद्रागम् । इति गङ्गे
मन्त्रे, अहनिनि सेप । ईदृशाकरने निश्चिनमेव' इन्द्रो लोकाना तत्र सुखआन्तिरूपमेव
इति भावः ॥ २० ॥

मिश्र-मित्र विधिवान् अर्थात् प्रत्येक वस्तुकी एक दूसरेसे मिश्र रचना करनेवाले
शक्ताने तुम्हारे मुखकी शोभाके विशिष्ट भ्रन (मन्त्रा—विज्ञान) को नष्ट करनेके लिए
चन्द्रको शशने चित्रित कर दिया है, ऐसी मैं शङ्का करता हूँ । [यदि चन्द्रने शशविद्ध
नहीं होता तो वह तुम्हारे मुखकी शोभाको प्राप्त करता, तथा 'यह चन्द्र है या दमपन्ने-
मुख ?' इस प्रकारका भ्रम लोगोंको हो जाय, किन्तु वैसा नहीं होनेसे इस समय तुम्हारा
मुख चन्द्रने भी अधिक सुन्दर है तथा लोगोंको तुम्हारे मुख तथा चन्द्रके परवानेने भ्रन
नहीं होता है] ॥ २० ॥

ताम्रपर्णातिटोन्पन्नैर्मौक्तिकैरिन्दुक्षुब्धैः ।

वद्वम्पद्वतरा वर्णा प्रनम्रा स्वादवस्तत्र ॥ २१ ॥

ताम्रेति । प्रमन्त्रा प्रमादगुणमन्त्रा, सुस्पष्ट इत्यर्थः । स्वादुश्चात्र, स्वादुश्च
मनोज्ञा, अर्थाविशामावर्द्धका इति यावत् । मुमुक्षुरात्र 'स्वादु मिष्टमनोज्ञयो' इति
मेदिनी । तत्र मन्त्रया, वर्णा त्वन्मुखोच्चरितानि अक्षराणि, ताम्ररम्यां तदाक्याया
स्वच्छपक्षया कम्पाशित् नया, तटे तीरदेशे, उपन्ने संपाते, अत एव स्वादु-
रिति भावः । तमा इन्दुक्षुब्धैः चन्द्रगर्भोन्मैश्च, अत एव दीपूपपमकां नतुरे-
रिति भावः । मेक्षिते सुन्दरते मह, वद्वम्पद्वतरा वद्धा घृता इत्यर्थः, स्पष्टां
सादृश्यजनितामिमान येस्ते तादृश वद्वम्पद्वता अतिमनेन वद्वम्पद्वता वद्वम्पद्व-
तया, मन्त्रनीति सेप । तत्रोपि तत्र वर्णानामेव अत्रिक्ता मन्त्रया मन्त्रया च
इति भावः ॥ २१ ॥

मन्त्रा नदीके तीरेने तथा चन्द्र (पञ्च०—त्रि) के मन्त्रने उन्नत मोक्षिते
(मन्त्रया स्वादुर्गमे ममानया होकेके त्रि) अनेक वर्णा करनेवाले तुम्हारे वर्ग (मुखे-

१ '—रिद्धुक्षुब्धै' इति पाठान्तरम् ।

कारित मधुर) निर्मल तथा स्वादिष्ट (कामधुर) है । [मलयचक्षु मे निरुद्ध कर दक्षिण मधुरने गिरनेवाली स्वच्छम उज्ज्वली तल्लवणा नद्या के नीरमें उत्पन्न मोनो केवल स्वच्छ हो होंगे, अत एव अमृतमय चन्द्र (अथवा—मधुरतन इतु—गन्त) में उत्पन्न होनेकी वहा गता है, अतएव प्रसन्नने अधिक स्वच्छता तथा स्वादिष्टता होनेके अविमानने तुम्हारे मुखने स्वच्छ दिने गये अष्टम उत्कृष्ट मोतिवर्णमें अधिक स्वर्द्ध करने हैं और उन मानिषोंमें अति स्वच्छ तथा मधुर (वर्णमय) लगने हैं] ॥ २१ ॥

त्वद्गिर क्षीरपायोधे सुधयेन महोत्थिता ।

अथ यावत्सो ' धावद्दुग्धलेपलत्रस्मिता ॥ २२ ॥

वञ्चिति । हे प्रिये ! त्वद्गिर तव वाक्यानि, सुधयाऽमृतमेतन्, महैव साद्वर्मेध, क्षीरपायोधे दुग्धमागतात्, उच्यता उज्जता, इवेति शेष । अत सुधाममर्गादिव तासां सुधावत् मातुर्यं प्रतीयते इति भावः । ततश्च अथ यावत् अथपर्यन्तमर्पापर्यं । धावन्ति खलन्ति, दुग्धलेपानां क्षीरममुद्रे अवस्थानात् क्षितक्षीराणाम्, लवा रिन्दव एव, रिन्तानि ह्यपह्लास्यानि याम्य सा तादृश्य, यद्वा—धावतां खलवाम्, दुग्धानां लेपस्य तत्र ससृष्टस्य, लवा एव स्मितानि यामु ता तादृश्य परिलक्ष्यन्ते इति शेष । इति नहो ! आश्चर्यम् ! स्मितस्य जेन क्षीरक्षितत्वात् त्वद्विरा सुधया क्षारेण च महं क्षीरमागरोत्पन्नम् उच्यते, अन्यथा तथाभावामममवादिता भावः ॥ २२ ॥

तुम्हारे वचन क्षीरमधुर अमृतके भाव हो निरुद्ध हैं, क्योंकि आज्ञाक ये ऐशने हुए दुग्धके अरूप स्मितने पुत्र द अहो ! (आश्चर्य है) । [स्मितके छलने आज्ञाक क्षीर मधुरके दुग्धाशुक्ल तथा मधुर होनेसे अमृतशुक्ल इन तुम्हारे वचनोंके होनेका अनुमान होता है] ॥ २२ ॥

पूर्वपर्वतमारुह्य-चन्द्रिषश्चन्द्रमा इव ।

अलक्षके न पर्यङ्कमङ्कमङ्कमिताप्रिय ॥ २३ ॥

पूर्वेति । आरुह्य अरुह्य, अरुह्य इति यावत्, चन्द्रिषा कौमुदी येन स तद्वत्, चन्द्रमा चन्द्र, पूर्वपर्वतम् उदयाद्रिम् इव, अङ्कमङ्कमिता लोडारोपिता, त्रिषा दमयन्ती येन स तादृश लोडोपवेक्षितभैमीय 'अपूर्य'मिषादिषु' इति वच नाह निपादस्य पूर्वदर्शन 'क्षिरा पुवत्—' इत्यादिना एवमात्र । स नत्, पर्यङ्क रणाम्, अलक्षके मूषामास, उपविशेन इत्यर्थः ॥ २३ ॥

चौदनीका आदेव (स्पष्ट) कर चन्द्रमा जिस प्रकार उदयावधको अलङ्कृत करना है, उनी प्रकार लोडने त्रिषा (दमयन्ती) को लिये हुए लम् (नक्ष) ने पलङ्कको अलङ्कृत किया । [नक्ष दमयन्तीको अङ्गुने लेकर पलङ्कर बैठ गये] ॥ २३ ॥

प्रावृडारम्भणान्भोद स्निग्धो द्यामिव स प्रिगम् ।

परीरम्य चिरायास विरलेपायासमुक्तये ॥ २४ ॥

प्रावृडिति । स्निग्ध अनुरक्त, दमयन्ती प्रति प्रीतिसम्पन्न इत्यर्थः । जलगर्भत्वात् मत्स्यश्च । स नल, प्रावृडारम्भणे वर्षाप्रारम्भे, अम्भोद मेघ, द्या नम स्थलीम् इव, विरलेपायासमुक्तये वियोगबलेन परिहाराय, प्रिया मैत्रीम्, परीरम्य आलिङ्ग्य, चिराय दीर्घकालपर्यन्तम्, आस शुश्रुमे, चिरमारिलप्य अवस्थित इत्यर्थः । 'आसेति तिङन्तप्रतिरूपकम्' इति शाकटायन, वामनश्च 'अस गतिदीप्यादानेति' अस्-धातो 'ह्याह 'आसेत्यसते' इति ॥ २४ ॥

(दमयन्तीके प्रणि) अनुरक्त (पद्मा—जलपूर्ण होनेसे कृगवर्ग) वह नल, वर्षारम्भमें नैर (शरद् ऋतु आकाशमें उड़नेके कारण) पत्तियोंके सम्बन्धरूप भावामको दूर करनेके लिए प्रिय आकाशका आश्रित कर (व्याप्त होकर) जिस प्रकार बहुत देरतक ठहरता है, समीपकार (स्नान अग्निहोत्र आदि नित्यानुष्ठानके विराममें लगान) विरहदुःखों दूर करनेके लिये प्रिया दमयन्तीका आलिङ्गनकर बहुत देर तक ठहरे अर्थात् बहुत देरतक वने आलिङ्गनकर अङ्गमें लिपे रहे ॥ २४ ॥

चुचुम्यास्यमसौ तस्या रसमग्न श्रितस्मितम् ।

नभोमणिरिवाम्भोज मधुमध्यानुविम्बितम् ॥ २५ ॥

शुश्रुमेति । रसमग्न अनुरागसागरान्निविष्ट, असौ नल, श्रितस्मित प्राप्तमन्त्रहामम्, आलिङ्गनजन्यान्मन्त्रेण क्रोधापगमादिति भावः । प्राप्तविकासञ्च, तस्या रसमग्न्या, आस्यं मुखम्, मधुमध्ये कमलस्थवमकरन्दाभ्यन्तरे, अनुविम्बित प्रति फलित, पञ्च नभोमण्यम्भोजयो परस्पर सुदूरव्यवधाने सरयपि चुम्बने न काऽप्यनुपपत्तिरिति मन्तव्यम् । नभोमणि रवि, अम्भोज कमलम् इव, चुचुम्ब चुम्बितवान् ॥ २५ ॥

प्रेमरसमें परिपूर्ण उम (नल) ने (बहुत देरतक आलिङ्गन करनेके कारण मोचके नष्ट होनेसे) स्निग्ध दमयन्तीके मुखका रस प्रकार चुम्बन किया, जिस प्रकार कमलमधुमें प्रतिबिम्बित पव जलमें मग्न मृदु विकसित कमलका चुम्बन (प्रतिबिम्बित होकर अनिष्टय निकटस्थ होनेसे उत्पन्न) करता है ॥ २५ ॥

अथाहूय कला नाम पाणिना स प्रियासखीम् ।

पुरस्ताद्वेशितामूचे कर्तुं नर्मणि साक्षिणीम् ॥ २६ ॥

अथेति । अथ चुम्बनानन्तरम्, स नल, कला नाम कलनाम्नीम्, प्रियासखीं भग्या वयस्याम्, नर्मणि परिहामनीहास्याम्, साक्षिणीं प्रत्यक्षदर्शिनीम् इत्तुं विधातुम्, पाणिना हस्तमजया, आहूय आकार्य, पुरस्तात् अग्रे, वेशिताम् उपवेशिताम्, कृ-वेति शेष, ऊचे वभाषे ॥ २६ ॥

इम (चुन्वन करने) के बाद (नल) ने दमयन्तीकी 'कला' नामक सखीको हाथ (के सहित) से डुलाकर तथा परिहासकीटामें साक्षिणी (प्रत्यक्ष देखनेवाली) करनेके लिए सामने बैठाकर कहा ॥ २६ ॥

कस्मादस्माकमब्जास्या वयस्या दयते न च ? ।

आमक्षा भवतीष्यन्य मन्ये न बहु मन्यते ॥ २७ ॥

कस्मादिति । हे कले ! अब्जास्या कमलवदना, व युष्माकम्, वयस्या सखी, कस्मात् कस्य हेतों, अस्माक मामित्यर्थ । 'अवीर्ग्य' इत्यादिना कर्मणि पठ्यते । न दयते ? न अनुकम्पते ? मध्ये विवेचयामि, अहमिति शेष । भवतीषु युष्मासु, आसक्ता आश्रितमनुरक्ता सती, अभ्यम् अपर जनम्, न बहु मन्यते न समाद्रियते ॥

(हे कले !) कमलमुखी तुम लोगोंकी (पाठा—तेरी) सखी (दमयन्ती) हमपर क्यों नहीं दया करती है ? (जिस कारण दया नहीं करती, इस कारण मैं) तुमलोगोंमें आसक्त (यह) अनिशय प्रेममग्न (मेरे-जैसे) दूसरेका नहीं समादर करती है, ऐसा मानता हूँ । (अथ च—'कमलमुखी दमय' जो नवीन परिचयवाले भी मुझपर दया करती है और तुम लोगोंपर दया नहीं करती, (अथ एव) तुमलोगोंमें अनासक्त स्नेहहीन यह मुझ-जैसे दूसरे लोगोंको मानती है' ऐसा अर्थ अप्रिम इनोकरके अनुरोध से करना चाहिये) ॥ २७ ॥

अन्वप्राहि मया प्रेयान्निशि स्वोपनयादिनि ।

न विप्रलभते तावदालीरियमलीकथाक् ? ॥ २८ ॥

अन्वप्राहीति । मया मैम्या, निशि रात्री, स्वोपनयात् आश्रमसमर्पणात्, स्वाह्न दान कृतोऽर्थः । प्रेयान् प्रियतम नल, अन्वप्राहि अनुगृहीत इति पृथक्, अलीक वाक् अनृतवादिनी, इयम् एषा च सखी, तावत् सकला एव, आली सखी भवती, न विप्रलभते ? न प्रतारयति ? किमिति शेष, इति काङ्क्ष, अपि तु प्रतारयत्येव । तस्मात् अह रात्री प्रियतमाय आश्रमसमर्पणं कृतवतीति युष्मत्समीपे यदियमुक्त्वती तद् वच न श्रद्धेयम् इति भावः ॥ २८ ॥

'मैंने रात्रिमें आश्रमसमर्पण (आलिङ्गनादिके लिए वस्त्र स्वनादिका समर्पण) करनेमें प्रियतम (नल) को अनुगृहीत कर दिया है' ऐसा असत्य वचन कहनेवाली यह सखियोंकी भी नहीं टगनी है । [अर्थात् तुमलोगोंकी भी टगनी है तो हम लोगोंकी गणना ही कीन है । अथ एव इसकी बातका कदापि तुमलोग विदनास मन करना] ॥ २८ ॥

आह स्मैषा नलादन्य न जुपे मनसेति यन् ।

चीरनानुमितेनास्यास्तन्मृषाऽभून्मनोमुवा ॥ २९ ॥

आहेति । एषा इय व सखी, नलात् नैपथात्, अन्यम् अपर पुरुषम् मनसा

चेनमा, अपीति शेष, न जुषे न सेवे, इति यत् आह स्म ऊचे, अस्याः तत्र सद्यः । तद् वचनम्, यौवनानुमितेन यौवनेन तारुण्येन लक्षणेन, अनुमित तर्कित तादृशेन, एषा मनोभूमती यौवनवत्त्वात्, या या यौवनवती सा सा मनोभूमती इत्यनुमान-विषयीकृतेनेत्यर्थः । मनोभुवा मन चित्तमेव, भू उत्पत्तिस्थान यस्य तादृशेन कामेन, मृषा मिथ्या, अभूत् अजनि, मदन्यस्य कामस्य मगसा सेवनात् अस्या तादृशी ठकि मिथ्या जाता इति निन्दाच्छब्देन मध्येवेय कामानुरर्त्तेति स्तुते श्याजस्तुति ॥ २९ ॥

इस (दमयन्ती) ने 'य नलके अतिरिक्त दूसरेका मनसे भी नहीं सेवन करती हूँ' ऐसा ने (तुम लोगोंके समक्ष) कहा, युवावस्थासे अनुमित कामदेवसे इसका वह कपन अमत्य हो गया [युवावस्थामें यह कामासक्त है, अत एव मुझसे अनिरिक्त कामका सेवन करनेमें दमयन्तीका वह कपन अमत्य हो गया । वस्तुतस्तु 'युवावस्थाके आरम्भ होनेसे लेकर यह मुझमें ही आपक है' इस प्रकार नाने दमयन्तीको प्रशंसा ही की है] ॥ २९ ॥

आस्यसौन्दर्यमेतस्या शृणुमो यदि भापसे ।

तद्धि लज्जानमन्मौले परोक्षमधुनाऽपि न ॥ ३० ॥

आप्तेति । हे कले ! एतस्या युष्मत्पराया, आस्यसौन्दर्यं मुखशोभाम्, यदि चेत्, भापसे वगपति, त्वमिति शेष । तद् शृणुम आकर्णयाम, वपमिति शेष । मनु तव वत्सहे एव यदा इयमुपविष्टा, तदा अस्मन्मुखे कथं शृणुष्य, पश्यथ न कथम् ? इति चेद्वाह—हि यस्मात्, लज्जया त्रपया, नमन्मौले नम्रशिरस, एतस्या इति शेष । तत् आस्यसौन्दर्यम्, अधुना अपि विवाहात् परमवपर्यन्तमपीत्यर्थः । न अस्माकम्, परोक्षम् अपगोरगोचरमेव, वर्त्तते इति शेष । तत् यथा एषा लज्जा परिःपश्य स्वमुखकमलमस्मान् दर्शयति तथा क्रियताम् इति भावः ॥ ३० ॥

इम (अपनी सखी दमयन्ती) के मुखके सौन्दर्यका यदि तुम वर्णन करोगी तो हम सुनेंगे । ('अपने अङ्गमें स्थित हमके मुँह-सौन्दर्यको आप स्वयं देखते ही है तो हमके वर्णन करनेकी क्या आवश्यकता है ?' यह शङ्का तुम मत करो, क्योंकि—विवाहकालसे लेकर) अब तब भी लज्जामें अबनतमुखी (मुखको नीचे की हुई) इसका वह (मुखसौन्दर्य) हमारे परोक्ष (अप्रत्यक्ष) हो है । [अत एव जिस प्रकार लज्जा छोड़कर अपने मुखकमलकी यह मुझे दिखानावे वैसा वगव करो, अथवा—परिदाममें 'कला' से नल कइते हैं कि—आजकल जब मैंने इसके सदा नम्रमुखी रहनेमें मुखसौन्दर्यको भी नहीं देख सका तो सम्भोगादिका चर्चा ही व्यर्थ है, अत एव हमके उक्त वचन (नरेन्द्र मर्वाया आत्ममनर्पण करने आदिको वाच) पर विचार कदापि मत करना] ॥ ३० ॥

पूर्णयेर द्विलोचन्या सैपाऽऽलीखलोकते ।

द्रागदृगन्ताणुना मान्तु मन्तुमन्तमिवेक्षते ॥ ३१ ॥

पूर्णयेति । सा उक्तरूपा लज्जानतशिरस्का, एषा दमयन्ती, पूर्णयेव समप्रयैव, न

॥ अन्तेन इति भावः । द्वयोः लोचनयोः समाहार इति द्विलोचनी तथा द्विलोचन्या नेत्रद्वयेन त्रिलोकीवत् प्रक्रिया । आली सखी , अवलोकते पश्यति, मान्नु मां पुनः, मन्तुमन्तम् अपराधीनम् इव, द्राक् इति, घृणमात्रमित्यर्थः । दृगन्तायुता दश एकमात्रम् अक्षुपः, न तु द्वयोः, अन्त शेषभागः, न तु सम्पूर्णभागः, तस्यापि अणुना लेखमात्रेण, कटाक्षलेखेन इत्यर्थः । ईक्षते अवलोकयति, अन्योऽपि लोको यथा अपराधिन घृणया कटाक्षमात्रेणावलोकयति तद्वदिति निष्कर्षः ॥ ३१ ॥

यह (तुमलोगोंकी सखी दमयन्ती) सखियोंको पूरे ही दोनों नेत्रोंमें देखती है, किन्तु अपराधीके समान मुझको तो एक नेत्रके प्रान्नके अक्षमात्र भाग (लेखमात्र कटाक्ष) से पश्चर (या—सट—घोडा—हा) ही देखती है । [लोकमें भी अपराधीको घृणापूर्वक नेत्रप्रान्ते से ही देख आता है । यहापर भी 'मिया मियपतिको नेत्रमात्र (कटाक्ष) से तथा सखा आदि स्नेही बांधवोंको पूर्ण दृष्टिमें देखती है' ऐसा सर्वसाधारणका नियम होनेसे नान्न दमयन्तीके द्वारा कटाक्षपूर्वक देखना कहकर दमयन्तीका अपनेमें स्नेहाभिप्रायको सूचित किया है] ॥ ३१ ॥

नोलोकते यथेदानीं मामिय तेन कल्पये ।

योऽह दृष्टेऽनया नृष्ट सोऽपि व्यस्मारिणीदृशा ॥ ३२ ॥

नेति । इय दमयन्ती, यथा येन प्रकारेण, इदानीम् अधुना, मा नलम्, न नालोकते न ईक्षते, तेन तादृशानालोकनव्यापारेण, कल्पये पक्ष मन्वे, यत् य अह मल, दृष्टे इन्द्रादीना दृष्टकाले, अनया भैरवा, एष पूर्णलोचनद्वयेन अवलोकित, सोऽपि अहम्, ईदृशा इदानीमेतादृशव्यवहारेण माम् अपश्यन्त्या अनया, व्यस्मारिणि विस्मृत अस्मि । स्मरते कर्मणि लुङ् । 'स्यसिचत्सीपुट्—' इत्यादिना सिच इहागमे तरप चिण्वद्भावे 'अथो ङिति' इति वृद्धिः । अविस्मरणे पूर्ववत् सादर पश्येत् इति भावः ॥ ३२ ॥

यह दमयन्ती जिस कारण इस समय मुझे नहीं देखती है, उस कारण न कहना करना है कि—'दृष्टकालमें इस दमयन्तीने जिस मुझको देखा है, उसे भी इस व्यवहारमें भूल गयी है ।' [क्योंकि यदि इन्द्रादिका दृष्ट वनकर मेरे जानेपर जो पूर्ण दृष्टिमें देखना नहीं भूलती तो यह अवश्य ही इस समय मुझे पूर्ण दृष्टिमें देखती, किन्तु ऐसा नहीं कर रही है, अतः पक्ष भात होता है कि यह दृष्टकालमें मुझे पूर्ण दृष्टिमें देखना भूल गयी है] ॥ ३२ ॥

राग दर्शयते सैषा वयस्या मृतुवामृतं ।

मम त्वमिति वक्तु मा भानिनी मौनिनी पुनः ॥ ३३ ॥

रागमिति । सा उत्तरूपा, एषा प्रिया, मृतुवामृतं सत्यप्रियवाक्यपीयूषै । 'मृतुत प्रिये सये' इत्यमरः । वयस्या सखी, रागम् अनुरक्तिम्, स्नेहभावमित्यर्थः,

१ 'न लोकेते' इति पाठान्तरम् ।

दर्शयते प्रकाशयतीत्यर्थः, नाम्ना विवृण्व कथयतीति भावः । 'अभिवादिदशोराम
नेपथे वेति वाच्यम्' इति विकल्पादगिकत्तुं कर्मत्वम्, 'विचित्र' इत्यात्मनेपदम् ।
मानिनी मानवती इयम्, मा पुन मान्, ख भवान्, मन मदीय, उति पत्रम्,
ववतु कथयितुम्, 'मदीय खम्' इत्येतावन्मात्रवक्तुमपेक्ष्यम् । मौनिनी वाचनमा,
भवतीति शेषः । मतिनिष्कृष्ट इय मयि इति निन्दा, लज्जाशीलेपमिति स्तुति ॥३॥

यद् (दम्यन्ती) सत्यप्रिय वचनमुच्यते मन्त्रिणो (तुम श्रोता) को स्नेह दिव्यजाने
है, किन्तु मानिनी यह सुनते 'तुम मेरे हो' इत्या करनेके विद् भी नैन हो रही है । [मैंने
इन्का कोई अरराय नहीं किया है, क्योंकि यह सुनते 'तुम मेरे ह' इत्या मा नहीं करती
और तुमकोतोने 'मन्द, प्रिय एवं मधुर वचन कहकर स्नेह दिव्यजाने है' इस प्रकार उद्
सृजने मानकर उन्ना करनेने मुझे म्माय नहीं करती, यह कहकर जन्ने दमनन्तीको निन्दा
की है तथा यह लज्जाशील होनेके कारण यह रहा है उद् कहकर प्रदम्न भी की है] ॥३॥

का नामन्त्रयने नाम नामनाहमियं सखी ?

कले ! नलेति नास्माकी सृष्टान्धाह्वां तु जिह्वा ? ॥ ३४ ॥

कामिनि । हे कले ! इयम् एव, सर्वा ते वदस्या, का नाम मन्त्रीम्, नामनाह
नाम गृहीत्वा । 'नाम्नादिभिप्रहो' इति अनुष्टुप् । न नामन्त्रयने ? न मन्त्रोवर्तिन ?
अपि तु सर्वा एव आनन्त्रयने इष्यम् । नानेति प्रत्ये । तु किन्तु, अस्माकम् इमम्
आस्माकी मदीयाम् । 'धुमवस्मदो' इत्यादिना आनन्त्रय । 'तस्मिन्नगि च—'
इत्यादिना आन्माकादेशः, 'दिद्व्यान्—' इत्यादिना दीप् । जलेति आह्वानम् ।
'आत्माऽहो अभिधानञ्च नामपेदञ्च नाम च' इत्यमरः । विद्वपा रमनया, अनेति
शेषः, न सृष्टाति न स्पर्श करोति, मा नाम्नाग्रि न आह्वयति रहस्यालापम्तु दूग्म-
स्तानिति निन्दा, स्त्रीणा भर्तृनामप्रद्व्यस्य अनौचित्यात् स्तुति ॥ ३४ ॥

हे कले ! यह मन्त्री (दमनन्ती) किम मन्त्रीको नाम लेकर नहीं बुलाने है ? (हिन्दु)
'नञ्' इस प्रकार मेरे नामको आभते स्पर्श भी नहीं करने (रहस्यका वचनाना तो बहुत
दूर है) । [वक्षार भी नलने ऊन् वचन कहकर दमनन्तीकी निन्दा तथा पण्डितके गन
केनेका शास्त्रीन निषेध होनेके कारण उमका पाठन करनेने प्रशम्न का है] । ३४ ॥

अस्या पीनस्तनत्र्याने हृदयेऽम्मासु निर्देने ।

अवकाशनवोऽप्यस्ति नात्र कुत्र विभर्तु नः ? ॥ ३५ ॥

अस्या इति । पीनान्या स्पृष्टान्याम्, स्तनान्या लुप्तान्याम्, व्याते मन्त्री
तामादेन आक्रान्ते, तत्रश्च बहिरपि अवकाशश्चेदपि नास्तीत्याशयः, अम्मासु मयि
विषये, निर्देने अकथने, नत एव अन्तरपि अवकाशश्चेदपि नास्तीति भावः, अस्या
वनदन्त्या, हृदये वक्षसि, अवकाशस्य मन्दबन्धिनित्यानस्य, एवं लेशोऽपि,
नास्ति न दिद्यते, अत एव अत्र हृदये, कुत्र कस्मिन् स्थाने, नः अम्मान्, मामिदम् ।

विभर्त्तु ? धारयतु ? न कुत्रापीत्यर्थ । उच्चकुक्ष्याभ्या व्यवहितेनैव भया स्थीयते, न तु हृदयेन ध्रियते इति भावः । अत्रापि निन्दाच्छ्रद्धात् स्तुति ॥ ३५ ॥

स्थूल (विशाल) स्तनोत्ते व्याप्त तथा हमारे विषयमें निर्दय इत (दमयन्ती) के हृदयमें देशमात्र भी अवकाश (ठहरनेका स्थान) नहीं है, अत एव यह मुझे कहाँ धारक । [इस दमयन्तीके हृदयका बाह्य भाग बड़े स्तनोंमें व्याप्त है, अतः मेरे लिए इसके हृदयके बाहर ठहरनेका स्थान नहीं है तथा इसका हृदय भीतरमें मेरे प्रति निर्दय है अत एव भीतरमें भी मेरे लिए स्थान नहीं है, अत एव इस दमयन्तीके हृदयमें बाहरी या भीतरी—कहाँ भी मुझे ठहरानेके लिए देशमात्र भी स्थान नहीं है, अतः च—विशाल स्तन होनेमें इसका आलिङ्गन करते समय मैं इसके वक्ष स्थलसे ऊपर ही रह जाना हूँ और निर्दय होनेमें मोक्ष स्थान है ही नहीं, इस प्रकार नऊने दमयन्तीकी निन्दा तथा उच्च स्तनका वर्णन कर रचना की है] ॥ ३५ ॥

अधिगत्येहगेतस्या हृदय-मृदुतामुचोः ।

प्रतीम एव वैमुख्यं कुचयोर्युक्तयुत्तयो ॥ ३६ ॥

अधिगत्येति । पतस्या भैरवा, हृदयम्, भक्त करणम्, ईदृक् निर्दयत्वात् ईदृश कठिनम्, अधिगत्य ज्ञात्वा, इवेति शेषः । मृदुतामुचो कोमलतायागिनो, तथा कठिनहृदयससर्गात् स्वयमपि तावत् कठिन्यभाजो इत्यर्थः । अन्यथा कठिने मृदुना चरणे दुर्नीतिरिति भावः । अत एव युक्तयुत्तयो युक्तम् उचितम्, युक्तं व्यवहारं ययोस्तादृशयो, कठिने कठिनव्यवहारस्य औचित्यात्, अन्यत्र—युक्तां पोष्यात् निव सशिल्पो, युक्तां वृत्तौ च तयो युक्तयुत्तयो । विशेषणसमासः । उचयो स्तनयो, अपांति शेषः, वैमुख्यमेव कठिनात् हृदयात् विपरीतमुत्तममेव लोभाभीनमेव च, प्रतीम जानीम, पतस्या निर्दयात् कठिनात् हृदयात् स्वाङ्गभूता सद्वृत्तौ कुचावपि विमुक्ता जानी, वयन्तु बाह्या तत्र निवेष्टुं कथं शक्नुमः ? इति भावः, पट्टा—वैमुख्यमेव मवि पराङ्मुखत्वमेव, मुद्रतया आलिङ्गनविभजन-नादिति भावः, अन्यत्र—विगतमुखत्वमेव, नवोद्भिद्यत्वात् युक्तहीनतया मनोज्ञं मन्त्रमिति भावः ॥ ३६ ॥

इस (दमयन्ती) के हृदयको ऐसा (कठिन) जानकर ('सुठे शठ्य नपाचरेत्' नीतिने अनुसार कठिन हृदयके प्रति) मृदुताका त्याग करनेवाले अर्थात् कठिनतायुक्त (अत एव उक्त नीतिके अनुसार) अनुचित व्यवहार करनेवाले दोनों स्तनोंकी (कठिन हृदयके साथ विरतान व्यवहार करनेने, अथवा—ऊर्ध्वमुख होनेके कारण) पराङ्मुखता (पराङ्—उद्दामीनता) को ही हम जानने हैं । [इसके कठिन हृदयसे स्वाङ्गभूत सद्व्यवहारवाले ये स्तन भी यदि पराङ्मुख हो गये तो हम तो बाहरी होनेके कारण वहाँ (हृदयमें) प्रवेश ही किस प्रकार या सकते हैं ? अथवा—इन स्तनोंको आलुपन्न होनेसे मेरे आलिङ्गन करते समय दमयन्तीके वक्ष स्थलका निम्न नहीं होनेसे मेरे प्रति इन

स्तनोंकी पराङ्मुखता ही हम जानने हैं । अथवा—सौहृदय स्वभावसे ही मृदु होता है, उसने उत्पन्न होकर मृदुताका त्याग करनेवाले (अन एव, विपरीत लक्षणमे) अयुक्त आचरणवाले इन स्तनोंकी हम दमयन्ती हृदयसे पराङ्मुखता (मृदु हृदयसे उत्पन्न होकर भी मृदुताका त्याग करनेसे विपरीताचरणपरायणता) ही जानने हैं । अथवा—इसके सुदरतम हृदयको पाकर कठिनताको प्राप्त नया अत्यन्त बड़ा एव गोलकार इन स्तनोंकी अंगेमें श्यामवर्ण होनेसे हृदयके साथ पराङ्मुखता (विपरीत व्यवहार) ही जानते हैं । अथवा—उत्तररूप स्तनोंकी विमुखता (चूचुकशून्यता) ही जानते हैं अर्थात् दमयन्तीकी अहगावस्था होनेसे कठिन एव रत्नाग्रभागमें श्यामवर्ण वृन् (चूचुक) से हीन (अत एव) युक्त आचरण करनेवाले स्तनोंको जानते हैं । अथवा—ऐसे सहज कोमल साहृदयको पाकर मूर्तताको नहीं छोड़ते हुए तथा मेरे प्रति सदय होनेसे युक्त आचरण करनेवाले इन स्तनोंकी विमुखता (विशिष्ट = वृत्त, मुखता=अग्रभागता) को ही जानते हैं] ॥ ३६ ॥

इति मुद्रितकण्ठेस्मिन् सोल्लुण्ठमभिधाय ताम् ।

दमयन्तीमुखाधीत-स्मितयाऽस्मै तथा जगे ॥ ३७ ॥

इतीति । अस्मिन् नले कान्ते, ता कलाम्, सोल्लुण्ठ मोक्षप्राप्तम्, सपरिहास मि पथं । 'सोल्लुण्ठमस्तु सोक्षप्राप्तम्' इत्यमरः । इति एवम्, अभिधाय उक्त्वा, मुद्रितकण्ठे निरुद्धगले, तूष्णीम्भूते सतीत्यर्थः । तथा कलानामसरया, दमयन्ती-मुखाधीतस्मितया दमयन्त्या वक्षस्याया भैर्या, मुखात् आननात्, अधीत तित्ति सम्, गृहीतमिति यावत्, स्मित मन्दहास्य यया तादृशया सत्या, दमयन्ती हुसन्ती इष्ट्वा स्वयमपि स्मयमानया सत्या इत्यर्थः । अस्मै नलाय, जतो जगादे, नल गदित इत्यर्थः । 'क्रियया यमभिप्रेति सोऽपि सम्प्रदानम्' इति क्रियया अभिप्रायात् सम्प्रदानम्, तथा चात्रिचचितकर्मत्वाद्भावे लिट् । अस्मै इत्यत्र 'असौ' इति पाठे-असौ नल, जगदे ऊचे, वक्ष्यमाण वक्ष इति शेषः । कर्मणि लिट् ॥ ३७ ॥

उस (कथा) से इस प्रकार (२०।२७—३६) वक्तोक्ति आदिने युक्त वचन करकर हम (नल) के मौन होनेपर दमयन्तीके मुखने स्मितका अध्ययन की हुई अर्थात् दमयन्तीको स्मित करती हुई देखकर स्वयं भी स्मित करनी हुई उस (कथा) ने हम (नल) से कहा ॥ ३७ ॥

भानितेय त्वया साधु नवरागा खलु त्वयि ।

चिरन्तनानुरागाहं वर्तते न सखी. प्रति ॥ ३८ ॥

यदुक्त 'कस्मादस्माकम्' इत्यादि नत्र तावदुत्तरमाह—भाषितेति । हे महाराज ! त्वया भवता, इय सखी भेमी, माधु सम्यक्, भाविता तर्किता, खलु इति निश्चये यत्, त्वयि भवति नवरागा नूननपरिचयात् नूननानुरागा, जातेति शेषः । अतः तदनुस्य वर्तते इति भावः । न अस्मान्, सखी सहचरी प्रति तु, चिरन्तनस्य पुरातनस्य, अनुरागस्य प्रणयस्य, आवाक्यमेकत्रावस्थानात् सहजानुरागस्येत्यर्थः ।

अहम् अनुरूप यथा तथा, वर्तते विद्यते, व्यवहरतीत्यर्थः । अत एवैव भवति समझोचा अस्मासु तु तद्वर्जिता स्वभावत एव, एवञ्चायमुपालम्भ नोचित इति भावः ॥ ३८ ॥

(पहले नन्वाक्त 'कस्मादस्माकम्' (२०१२७)' वचनका उत्तर कला दे रही है—
 'दे महाराज ।') तुमने इस (दमयन्ती) को सम्यक् प्रकारसे जान लिया कि यह तुम्हारे नवीन अनुरागवाली है (इसीसे यह आपके सामने सत्त्व रहती है), इस सखियोंके प्रति पुराने स्नेहके योग्य बर्ताव करती है । [तुम्हारेमें नया स्नेह होनेसे दमयन्तीका आज्ञा (सङ्कोच) करना तथा हमलोगोंमें वचनसे एक साथ रहनेके कारण पुराना स्नेह होनेसे सङ्कोचरहित होकर बर्ताव करना दमयन्तीका उचित ही है इस बातको तो आपने ठीक ही समझ लिया है । अथवा—तुमने इस दमयन्तीको सम्यक् प्रकारसे नहीं समझा है, क्योंकि वह तुम्हारेमें नये (दृढ) अनुरागवाली है तथा इस सखियोंके प्रति पुराने अनुरागके योग्य अर्थात् पुराना स्नेह होनेसे ('अविपरिचयादवशा') प्रीतिके अनुसार) शिथिल अनुरागवाली है, अतः एव 'मेरे लिये दया करनी है, तुमलोगोंके लिये नहीं दया करनी' यह अपने दमयन्तीके विषयमें सत्य अनुमान किया है । अथवा—तुमने इस (दमयन्ती) को ठीक-ठाक ज्ञान किया है, क्योंकि तुम्हारे विषयमें नवीन (दृढ) अनुरागवाली होनेसे हमलोगोंके प्रति पुराने अनुरागके कारण शिथिल प्रीतिवाली है, अतः एव मेरे प्रति दृढानुरागवाली दमयन्ती हमलोगों (सखियों) को कुछ नहीं गिनती यह ठीक जान लिया है] ॥ ३८ ॥

स्मरशास्त्रविदा सेय नघोढा नस्त्वया सखी ।

कथं सम्भुज्यते बाला ? कथमस्मासु भापताम् ॥ ३९ ॥

यदुक्तम् 'अन्वग्राहि' इत्यनेन तत्रोत्तर श्लोकद्वयेनाह—स्मरेत्यादिना । नवम् अविरमेव, ऊठा परिणीता, अत एव लज्जासङ्कुचिता इत्याशयः । तथा बाला अविदग्धा, अत एव स्मरागमानमिज्ञा इति भावः । न अस्माकम्, सा एवया अभिपुङ्गा, इय भवत्कन्या, सखी सहचरी दमयन्ती, स्मरशास्त्रविदा कामतन्त्रवेदिना, अत एव कामकलाकुशलनेत्यर्थः । एवया भवता, कथं केन प्रकारेण, सम्भुज्यते ? निर्भर सम्भोवतु दावयते ? कथमपि नैवेत्यर्थः । अस्या लज्जाया एव दुर्वारविभ्रवादिनि भावः । कथं केन वा प्रकारेण, अस्मासु अस्मत्समीपे, भापताम् ? रात्रितृप्तममट्टोच कथयतु ? बालत्वेन लज्जावशादस्मभ्य स्वचेष्टित नैव कथयिष्यतीत्यर्थः । तस्मात्तस्मै अलीकवाक् न वा अस्मान् विप्रलभते, किञ्च नवोऽस्मत्प्रवशाया अस्या कामशास्त्रवेदिनस्तत्र एवमुपालम्भ नोचित इति भावः ॥ ३९ ॥

(अब नन्वाक्त 'अन्वग्राहि' (२०१२८)' वचनका उत्तर 'कथं' दे रही है—
 नवोऽह (अत एव सत्त्वा) बाला (अत एव अविदग्धा = कामशास्त्रानभिज्ञा) इस सखी

(दमयन्ती) का सम्भोग (बाला के साथ बलात्कारपूर्वक सम्भोग करनेका कामशास्त्रमें निषेध होनेमें^१) कामशास्त्रके रक्ष्यध आप कैसे करते हैं [कामशास्त्ररक्ष्यधेशी आप बाला एवं नवोडा दमयन्तीके साथ यथेष्ट सम्भोग नहीं कर सकते तथा सम्भोग करनेपर भी दुर्बार रज्जावश यह दमयन्ती वम सम्भोगवातांकी हमलोगोंमें किम प्रकार कहनी ? आपके द्वारा किं गये सम्भोग आदिकी चर्चा दमयन्तीने हमलोगोंने नहीं की है, अब एवं यह अमत्य भाषित नहीं है, आपको ध्ये हो ऐसा उपान्म देकर हमें वञ्चित करना उचित नहीं है ।
 अथवा—कामशास्त्र आप नवोडा एवं बाला दमयन्तीका निर्भर सम्भोग किम प्रकार कर सकते हैं तथा उक्त कारणसे रज्जाशीला यह सखी हमलोगोंसे सदा सम्भोगकी चर्चा क्यों करें अर्थात् जो बाला निर्भर सम्भोगद्वारा प्रतिमे पीडित होनी है, वही उक्त सम्भोगजय पीडा आदिही चर्चा सखियोंमें करती है, किन्तु कामशास्त्रके रक्ष्यधेशी आपने नवोडा एवं बाला प्रिय सखी दमयन्तीको निर्भर सम्भोग करके पीडित नहीं किया और वसने भी इसीसे हमलोगोंसे इस विषयमें कुछ भी नहीं कहा, अब एवं आपका उक्त उपालम्भ देना उचित नहीं । अथवा—कामशास्त्ररक्ष्यधेशी आपने नवोडा एवं बाला दमयन्तीके साथ अनुराग एवं सम्पर्क अनुसार ही सम्भोग किया और रज्जाशीला हमने हमलोगोंसे कुछ भी नहीं कहा, अब एवं तुम दोनों ही हमलोगोंका वञ्चित कर रहे हो । अथवा—शास्त्र आप नवोडा एवं बाला दमयन्तीका सम्भोग किस प्रकार किया ? वने स्मरण कीजिये और यह हमलोगोंसे किम प्रकार कहा अर्थात् हमने हमलोगोंसे कुछ भी नहीं कहा—विपरीत रज्जामें आपने हमने साथ सम्भोग किया और इसने हमलोगोंमें सब रक्ष्य कह दिया, अब आप हमें क्यों वञ्चित कर रहे हैं ?] ॥ ३९ ॥

नासत्यवदन देव । त्वा गायन्ति जगन्ति यम् ।

प्रिया तस्य सरूपा स्यादन्यथालपना न ते ॥ ४० ॥

अत्रैव यत् विशेषितवान् 'जलीकवाक्' इति तत्रोत्तरमाह—नासत्येति । देव । हे महाराज । जगन्ति लोका, यत्वा अवन्तम्, न असत्य मिथ्या, वदन भाषण यस्य न तादृश सत्यवादिनमित्यर्थ । गायन्ति कीर्तयन्ति, तस्य तादृशमत्यवादिन, ते नव, प्रिया स्निग्धा कान्ता, मरुपा समानरूपा, तवानुरूपसत्यवादिन्येवेत्यर्थ । स्यात् भवेत् अथवा तद्विपरीतम् असत्यभूतम्, लपन भाषण यस्या सा तादृशी, न नैव, स्यादिति पूर्वोक्तान्दय । पचान्तरे—य स्वाम् असत्यवदन मिथ्याभाषणशीलम् न गायन्ति ? इति काकु, अपि तु गायन्त्येवेत्यर्थ, तस्य तादृशमिथ्यावादित्वेन गीतस्य, ते प्रिया सरूपा समानरूपा, तवानुरूपेत्यर्थ । स्यात्, अत अन्यथालपना मिथ्या

१ तच्च स्मरशास्त्रमित्यरूपम्—

'बाला वञ्च्य भुञ्जीत विरागोत्पत्तिशङ्कया ।

भुञ्जीत चेलपामीतित्याजनकमसङ्गताम् ॥' इत्यादि बोध्यम् ।

भाषितो, न स्यात् ? इति काष्ठ, अपि तु अन्यथालपनैव स्यादित्यर्थः । एवञ्च भवान्
 इमां सम्मुख्यापि यथा न भुक्तवान् इति मिथ्या भाषते, तथा इयमपि आत्मसमर्प
 णमङ्कवाऽपि कृतवती इत्यभाषत, अत उभयोरेव तुल्यमृपावादित्वात् नाय ते
 अभियोग उचित इति भावः । एषे—यत्वा नास्त्ययो अश्विनीकुमारयो इव वद
 नम् धारय यस्य त नादृशम् अश्विनीकुमारस्तुल्यसुन्दरवदनम्, गायन्ति तस्य
 नादृशसुन्दरमुखस्य, ते तव, सरूपा समानरूपा, अनुरूपसुन्दरमुखी एवेत्यर्थः ।
 प्रिया काम्ना, स्यात्, अन्यथा तद्विपरीतम्, दुस्सितमित्यर्थः । एष वदन् यस्या
 मा तादृशी । 'वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं रूपं मुखम्' इत्यमरः । न, स्यादिति
 अन्वयः, योग्य योग्येन युज्यते इति भावः ॥ ४० ॥

(अत्र नन्वेक 'आशीरियमलीकवाक् (२०१२८ का उत्तरार्द्ध)' तथा 'आह रम
 (२०१२९)' का उत्तर कणा दे रही है—(सत्तर अर्थात् तीनों लोक तुमको असत्यवक्ता
 नहीं कहते हैं (किन्तु सत्यवक्ता हो कहते हैं । अथवा—सत्यवक्ता कहते हैं), ऐसे (सत्य
 वक्ता) तुम्हारी प्रिया अन्यथा (असत्य) कहनेवाली योग्य नहीं है । [किन्तु सत्य
 कहनेवाले आपकी प्रियाको भी मत्स्य कहनेवाली हो होना चाहिये, अत एव आपकी प्रिया
 यह दमयन्ती भी हमलोगोंम सत्य हो कहती है । अथवा—सत्तर आपको असत्यवक्ता
 नहीं कहता है ? अर्थात् कहता ही है, (अत एव ऐसे असत्यवक्ता) आपकी प्रिया अन्यथा
 (असत्यभाषिणी) नहीं होवे ? अर्थात् असत्यवक्ता तुम्हारी प्रियाको भी असत्यवक्ता हो
 होना चाहिये, अत सम्भोग करके भी 'मैंने सम्भोग नहीं किया' कहने हुए तुम जिस
 प्रकार अमत्य भाषण करते हो, उसी प्रकार तुम्हारे लिए सर्वाङ्गका समर्पण नहीं करके भी
 दमयन्ती अपने समस्त अङ्गोंका समर्पण कहना जो कहती है, वह 'योग्य योग्येन युज्यते'
 न्यायमेव उचित ही है । अथवा—सत्तर तुमको नामत्य (अश्विनीकुमार) ॥ समान
 (सुन्दर) मुखवाला कहते हैं, ऐसे तुम्हारी प्रियाको भी अन्यथा (कुरूप मुखवाली) नहीं
 होना चाहिये अर्थात् जैसा तुम्हारा मुख अश्विनीकुमारके समान सुन्दर है, वैसा ही
 दमयन्तीका मुख भी परम सुन्दर है] ॥ ४० ॥

मनोभूरस्ति चित्तेऽस्या किन्तु देव । त्वमेव स ।

त्वदवस्थितिभूर्यस्मान्मनः सख्या दिवानिशम् ॥ ४१ ॥

यदुक्तम् 'आह रम' इत्यादिश्लोके तस्योत्तर श्लोकरूपेणाह—मनोभूरित्यादि ।
 देव । इ राजन् । 'राजा भट्टारको देव' इत्यमरः । अस्या दमयन्त्या, चित्ते हृदये,
 मनोभू चित्तजन्मा, अस्ति विद्यते इति सत्यम्, किन्तु स मनोभू, त्वमेव भवानेव ।
 कुत ? यस्मात् यत्र, सरया वयस्याया भैर्या, मन चित्तम्, दिवानिश रात्रिन्दि
 नम्, सदैवेत्यर्थः । त्वदवस्थितिभू तवैवावस्थानस्य स्थानम् । मनो भू आश्रय
 यस्येति व्युत्पत्त्या त्वमेव मनोभू, नर्नास भवतीति व्युत्पत्तौ त्वदभिलाषिण्या अस्या
 कामस्य त्वपरत्वाद्भुभययाऽपि न पुरुषान्तरसेवाशङ्का इति भावः । अत्र नलेन

कामार्थं प्रयुक्तस्य मनसो भू उत्पत्तिर्यस्य इति व्युत्पत्तिछिन्म्यस्य मनोभूपदस्य कल्या
मन एव भू वसतिस्थान यस्येति व्युत्पत्त्या नकार्यं प्रयुज्यमानत्वात् इत्येवमनेति ।
लङ्कार ॥ ४१ ॥

(अथ नलोक्त 'आह स्व ' (२-१२९) का उत्तर तीन दलों में (२०१४१-४३)
ने कला दे रही—) इस (दमयन्ती) ने चित्तमें मनोभू (काम) है, किन्तु है इव
(है सरकार) । वह आप ही है, क्योंकि सखी (दमयन्ती) मन रात-दिन तुम्हारी अव
स्थिति (निवास) की भूमि है । [जड़ने पहले (२०१२९) 'मनोभू' शब्दका 'मनसि
भवति' ऐसा विग्रह करके दमयन्तीके चित्तमें कामका निवासस्थान कहकर उस परपुत्र
मन्मथक कह्य था, और 'कला' नामकी सखीने उसी 'मनोभू' शब्दका 'मन भू दस्य'
(मन है भूमि = निवास स्थान निमकी) ऐसा विग्रह करके नरको ही दमयन्तीके मनमें
निवास करनेवाला कहकर दमयन्तीके वचनको सत्य बनवाया है] ॥ ४१ ॥

सतस्नेऽथ सखीचित्ते प्रतिच्छायाऽसि मन्मथ ।

त्वयाऽस्य समरूपत्वमतनोरन्यथा कथम् ? ॥ ४२ ॥

सत इति । अथ इति पश्चान्तरे, अथवेत्यर्थ । स ! भवदुक्तमनोभूपदवाच्य,
मन्मथ काम, सखीचित्ते दमयन्तीहृदये, मत वर्तमानस्य, ते तयैव, प्रतिच्छाया
प्रतिबिम्बम्, अभ्यधा इत्यनयो, अतनो अनङ्गस्य, अस्य मन्मथस्य, त्वया भवता,
ममरूपत्व तुष्यकाकारत्वम्, कथम् ? केन प्रकारेण ? भवितुमर्हतीति शेष । अतनो
रूपासमवात् तत् न कथमपि सम्भवतीत्यर्थ । धर्मभावे धर्मानवकाशात् स्वच्छ-
दर्पणे प्रतिबिम्बितमुखस्य मुखम्यतिरेकेण यथा स्थितिर्नास्ति, तथा अतिस्वच्छं न
मत्स्या मनसि त्वद्व्यतिरेकेण त्वरप्रतिबिम्बभूतस्य कामस्य पृथक् स्थितिरेव नास्ति
अतनुत्वात् तस्य, अतो न पुरश्चान्नरसेवावमरोऽस्या इति भावः ॥ ४२ ॥

अथवा वह कामदेव सखी (दमयन्ती) के चित्तमें स्थित तुम्हारा प्रतिबिम्ब है, अथवा
शरीरहीन (कामदेव) की तुम्हारे साथ समरूपता किम प्रकार होनी ? [जो वस्तु शरीर
वाला है, किसी शरीरवाले के साथमें उसीकी समानता की जा सकती है, शरीरहीन के साथ
अशरीरहीनकी समानता कथमपि नहीं हो सकती, अतः दमयन्ती के हृदयमें नित्य निवस
करनेवाले आपका प्रतिबिम्ब ही आपको कामरूपमें प्रतिमासित हो रहा है, वास्तविकमें
तो वह काम कोई अन्य व्यक्ति नहीं, किन्तु आपका प्रतिबिम्बमात्र ही है । स्वच्छतम दर्पण
आदिमें ही कोई वस्तु प्रतिबिम्बित होती है, अतः दमयन्तीके हृदयमें नित्य निवास करने
वाले आपका प्रतिबिम्ब नामरूपमें इष्टिगोचर होना है, अतः एव दमयन्तीका हृदय अत्यन्त
स्वच्छ है, इस कारण आपको उसके हृदयको पुष्पाक्षरयुक्त होनेमें दूषित बनाना सर्वथा
अनुचित है] ॥ ४२ ॥

क स्मर कस्त्वमत्रेति सन्देहे शोभयोभयो ।

स्वय्येवाधिनया सेयं घत्ते चित्तेऽथवा युनाम् ॥ ४३ ॥

क इति । अथवा पदान्तरे, हे देव । उभयो तव कामस्य च द्वयो, शोभया समानसौन्दर्यं हेतुना, अत्र अनयो युवयो अन्ये, स्मर काम, क ? एवं भवान् वा, क ? इति एव, सन्देहे सशये सति, सेय मैमो, स्वय्येव भवत्येव, अधितया प्राधिनया, स्वामेव लब्धुमिच्छुतया इत्यर्थः । चित्ते मनसि, युवा स्वा कामश्च द्वावेव । 'यदानीना मिथ स होस्ती यत् पर तत् शिष्यते' इति वचनात् त्र्यदाद्येकशेष । घत्ते धारयति, 'स्वम्मन्मथयो कतर स्वम् इति सन्देहे कामस्य परिश्यागे तवापि परिश्यागादाङ्कया त्व परिश्रित्य मा स्या इति स्वदर्थित्वेन अनया उभौ एव चित्ते धार्यते, न नयो हृत्रिमाहृत्रिमयो सन्देहे उभयोरेव धारणवत्, अन्यथा अन्यतरस्यागे मुख्य स्थवाहृत्रिमस्य त्यागभयादिति स्वदर्थमेव काम धारयति, न तु कामार्थं स्वामिति भावः ॥ ४३ ॥

अथवा—दोनों (तुम्हारी तथा कामदेव) की शोभाओंके विषयमें (समान होनेसे) कामदेव कौन है ? और तुम (नल) कौन हो ? इस सन्देहके होनेपर यह दमयन्ती तुम्हारे विषयमें ही चाहना होनेसे तुम दोनों (तुम्हें तथा कामदेव) की चित्तमें धारण करती है । लोक में भी मणि आदि किसी दो वस्तु के समारूप होनेसे (कौन असली है ? और कौन नकली ? ऐसा) सन्देह होनेपर कोई व्यक्ति निर्णय होनेतक दोनोंको इस भयसे ग्रहण करने रहता है कि किसी एक के त्याग देनेपर कदाचित् मैं मुक्त (असली) का ही न त्याग कर दूँ, न कि दोनोंको या नकलीको ग्रहण करनेकी इच्छासे, उभी प्रकार सखीकी तुम दोनोंको समान काम्नि होनेसे 'कौन प्रिय नल है ? तथा कौन कामदेव है ?' ऐसा सन्देह हुआ और वह तुम्हें ही ग्रहण करना तथा कामदेवका त्याग करना चाहती थी, मत एव 'इन दोनोंमेंसे किसी एकके छोड़नेपर कहीं मैं प्रिय नलको ही नहीं छोड़ दूँ' इस भयसे निर्णय होनेतक तुम दो तोंको ही हृदयमें धारण करती है अथवा तुम्हारे लिए ही कामदेवकी धारण करती है, कामदेवके लिए तुम्हें धारण नहीं करती] ॥ ४३ ॥

स्वयि न्येस्त्वस्य चित्तस्य दुराकर्षत्वदर्शनात् ।

सङ्ख्या पङ्कजाक्षी त्वा दृग्गशेन स्पृशत्यसौ ॥ ४४ ॥

पङ्कवन/पङ्कजाक्षी दृग्गशेन स्पृशत्यसौ तत्रोत्तरमाह—स्वयीति । पङ्कजाक्षी कमल गयना, अत एव अचिद्धदे अस्या मृद्वयैव ममत्पुद्गिरिति भावः । असी दमयन्ती, त्रयि भवति, मयस्य सममितस्य, चित्तस्य मनस, दुराकर्षत्वदर्शनात् दु रेनापि पुन प्रयानैर्गुम् अशक्यत्वज्ञात्, शङ्कया भयेन, त्वा भवन्तम्, दृग्गशेन दृश एवमात्रस्य चक्षुष, अज्ञेन अवयवेन, किञ्चिन्मात्रभागेनेत्यर्थः । अथाद्वेनेति यावत् ।

१ 'स्वयैवा' इति पाठान्तरम् ।

स्पृशति स्पर्शविषयीकरोति, अवलोकयतीत्यर्थः । यदि पूर्णाम्या लोचनाम्या परयेत् तदा पञ्चत्रयत् सुन्दर नयनद्वयमपि चित्तवत् अपरादर्शनीयतया त्वयि लान मवेदिनि मशयेन आकर्षणविधान्तस्य विदगल्स्य नेत्रम्य किञ्चिन्मात्राशस्य त्वत्तः प्रपाहरणा- समर्प्यपि 'सर्वनाशो समुत्पन्ने नद्धं त्यजति पण्डितः' इति शास्त्रात् न विशेषवृत्तिरिति विविच्य त्वा पूर्णाम्या लोचनाम्यामपश्यन्ती सा द्गतामात्रेण परयति, अतो नोपाल- भावकादः इति भावः ॥ ४३ ॥

(अथ मनोक्त 'पूर्णा') (२०१३१) आक्षेपका 'कथा' उत्तर दे रही है—) कमल- लोचना (अथ एव नेत्रमें विशेषण समन्वयबुद्धिवाली) यह (दमयन्ती) तुम्हारेमें समर्पित विचारा पुनः प्रत्यावर्तन करना अशक्य होनेके कारण ('यदि मैं पूर्ण नेत्रोंसे इन्हें देखूगी अर्थात् इनके लिए नेत्रोंको पूर्णतया समर्पित कर दूंगी तो सम्भव है कि ये नेत्र भी वसी प्रकार पुनः नहीं लौटेंगे, जिन प्रकार इनमें समर्पित चित्त नहीं लौट रहा है' इति) मयसे तुमका नेत्रप्रान्त (कटाक्ष) से ही देखूगी है । ['पट्टभाषी' कहनेसे दमयन्तीके नेत्रोंका अनिष्टाय मौन्दर्यवान् होना तथा मौन्दर्यवान् पदार्थको विमोके लिए सनर्पण करनेपर पुनः वापस आनेमें कठिनाई होनेके कारण उसे (नेत्रोंको) तुम्हारे निम्ने समर्पित नहीं करना अर्थात् पूर्ण नेत्रोंसे नहीं देखना सूचित होना है] ॥ ४४ ॥

विलोकनात् प्रभृत्यस्या लग्न एवासि चक्षुषो ।

स्वेनालोकय शङ्का चेत् प्रत्यय पर्यायि कः ? ॥ ४५ ॥

पञ्चुत्त 'मालोकने' इत्यादि श्लोकेन नम्रोत्तरमाह—विलोकनादिति । विलोक- नात् प्रभृति दृश्यकाले प्रथमदर्शनात् आरम्भेव, 'अरादाने पञ्चमी' इति सूत्रे 'कासि- कया प्रभृति इति आध्यकारप्रयोगात् प्रभृतिदेगे पञ्चमी' इति कैषट । अस्या दमयन्त्या, चक्षुषो लोचनयो, लग्न मसक्त एव, अमि वसन्ते, स्वमिति शेषः । शङ्का च मनुष्यी अविद्याय यदि, तदा स्वेन आत्मना, स्वयमेवेत्यर्थः । आत्मनेन परय, स्वमस्या चक्षुषो लग्नो न वा इति परीचय इत्यर्थः । परीक्षीषि अन्येषामुक्तौ, कः प्रत्यय ? का श्रद्धा ? नैव श्रद्धा कर्त्तव्या इत्यर्थः । पुनरप्यस्य वस्तुन प्रतिविम्ब- अधिकर्मीनिकाया साक्षात् अवलोकयते, एवञ्च नल्लोकेत्या श्रद्धा प्रवसते तदा स्वप्रतिविम्ब तत्र प्रतिफलित इत्या स्वलग्नस्य साक्षादेव परयेत् इत्यत एव छलात् स्वेनालोकय इत्युक्तमिति मन्तव्यम् ॥ ४५ ॥

(दूतकर्म करते हुए) देखनेमें लेकर (जानक) तुम इस (दमयन्ती) के नेत्रोंमें लगे हो हुए हो अर्थात् तबमें लेकर दमयन्ती मदा तुम्हें ही देखना है, यदि (मेरे कथनमें) शङ्का है तो (दमयन्तीके नेत्रों) स्वयं देख लो (मैं दमयन्तीके नेत्रमें हूँ या नहीं ? क्योंकि) दूसरेके कहनेमें कौन विश्वास है ? [प्रत्यक्ष दृश्य वस्तुमें दूसरेके कहनेसे विश्वास करनेकी आवश्यकता नहीं होती, अत एव तुम स्वयमेव देख लो कि इसके नेत्रमें बसने हो या नहीं । यहाँपर 'कथा' ने इस अभिप्रायसे नलके प्रति ऐसा वचन कहा है कि 'यदि

ये दमयन्तीके नेत्रोंकी देखेंगे तो इनका प्रतिविम्ब दमयन्तीके नेत्रोंकी कनीनिकाओं (पुनलियों) में अवश्य पड़ेगा और उसे देखकर रहे विषाम हो आयेगा कि सचमुच दमयन्ती मुझे अपने नेत्रोंमें रखती है । अथवा—जो तुमने कहा है कि दमयन्ती तुम लोगोंकी पूर्ण नेत्रोंसे सर्वदा तथा मुझे एक नेत्रप्रान्तके स्वल्पनम मागके दाक् (क्षणमात्र) देखती है वह तुमने सत्य ही कहा है, क्योंकि तुम्हें दूतकर्म करने हुए दमयन्तीने देखा था, तबने ही तुम उसके नेत्रमें हो रहते हो तथा नेत्रमें स्थित कज्जलादिका पूर्ण नेत्रोंमें स्फुर देखना जिस प्रकार अशक्य है, उसी प्रकार स्वनेत्रमय वस्तुको कोई स्वयं ही देख सकता है या नहीं, इस विषयमें तुम्हें शङ्का है तो अपने नेत्रगण गोलकादिकों तुम स्वयं देख लो तो जानूँ हूँ आयेगा कि दूसरेके कहनेमें क्या विश्वास है ?] ॥ ४५ ॥

परीरम्भेऽनयाऽऽरभ्य कुचकुङ्कुमसङ्क्रमम् ।

त्वयि मे हृदयस्यैव राग इत्युदितैव वाक् ॥ ४६ ॥

अथ पदुक्त 'राग दर्शयने' इत्यादिश्लोकं तत्रोत्तरमाह—परीरम्भे इति । हे महाराज ! अनया सकया, परीरम्भे गाढालिङ्गनसमये, कुचकुङ्कुमस्य निःशस्त्रद्वय-लितस्य कार्मरीरजस्य, सहजस्य सहृदयान्तिम, मुद्रणमित्यर्थ । आरम्भ उपशम्य, स्वकुचकुङ्कुमराग तव हृदये ससज्जनात् प्रभृतीत्यर्थ । त्वयि भवति मत्ते विषये, मे मम, हृदयस्य अन्तःकरणस्य, राग अनुरक्ति, रक्तिमा च, एवम् इत्यम, हृदयस्य हृदयमित्युचकुङ्कुमवदेवेत्यर्थ । इति इयम्, वाक् वच, उदितैव उक्तैव, उक्तिवदेव स्पष्टतः सुचितमित्यर्थ । अतः मन्त्रीषु अनुरक्ता न भव्यति नोपालम्बयेयमिति भावः ॥

(अथ मन्त्रोक्त 'राग दर्शयने ' (२०।३३) आशेषका 'कला' उत्तर देती है—)

आलिङ्गनमें (स्पर्श हृदयमें मेरे) स्पर्शोंके कुङ्कुमके लगनेमें लेकर 'तुम्हारे (मम) में मेरे हृदयका देखा अनुराग (पक्षा०—लालिमा) है' यह वचन कथित हो है । [इसी अभिप्रायने दमयन्ती तुम्हारे प्रति मन्त्रा अनुराग बिना वचनोंको छोड़े ही व्यक्त करनेमें वचन द्वारा उसे व्यक्त नहीं करती, क्योंकि किसी प्रकार रहे गये वचनका पुनः शब्दाङ्गरने कहना कोई सुदिनना नहीं है । पक्षा०— तुम्हारेमें ही मेरे हृदयका राग (अनुराग, पक्षा०—रक्तिमा) है । अथवा— तुम्हारेमें मेरे हृदयका अर्थात् शारीरिक ही राग है, शारीरिक नहीं (अथ इव शारीरिकको अपेक्षा शारीरिक काटका अधिक महत्त्व होनेसे आपको उपास्य देना उचित नहीं है । द्वितीय पक्षा०— मानो वह वचन तो कही गयी—ही है) अथ एव पुनः कथन अनुचित समझकर यह दमयन्ती मुझमें कुछ नहीं बोला] ॥ ४६ ॥

मननाऽय भवनामकामसूक्तजपत्नी ।

अस्मूत्र सपीकण्ठचुम्बन्येकावलिच्छलात् ॥ ४७ ॥

१ 'हृदयस्यैव' इति पाठान्तरम् ।

२ 'इत्युदितैव' इति पाठान्तरम् ।

‘का नामन्त्रग्रन्थे’ इति श्लोके यदुक्तं तस्योत्तरमाह—मनसेति । अयम् इति हस्तेन पुरोवर्त्तिनिर्देशः, सखीकण्ठ भैमीयलनाल, मनसा अन्तःकरणेन, भवतो नलस्य, नामैव सज्ञा एव, कामसूक्त कामाविर्भावनाय कामदेवप्रकाशकप्रधानमन्त्र, तस्य जप पुनः पुनरुच्चारणमेव, अन्तःकरणेन अस्तीति तद्व्रती सन्, ‘साहस्रो मानसो जपः’ इति स्मृते सर्वजपानां मानसिकजपस्य सहस्रगुणत्वात्, नारीणां भर्तुः नामग्रहणनिषेधात् वा मनसा इत्युक्तम्, न तु जिह्वया इति भावः । एकावलि बहुलात् एकवचिकमुक्ताहारधारणव्याजात्, अक्षसूत्र जपसहस्रयानार्थम् अक्षमालाम्, शुभ्वति स्पृशति, धारयतीत्यर्थः । सखीनामग्रहणस्य कदाचित्कृत्वात् त्वन्नामग्रहणस्य च नैरन्तर्यातजिह्वया त्वन्नामस्पर्शमात्रेऽपि नायमुपालम्भो युज्यते इति भावः ॥४७॥

मनसे आपके नामरूप कामसूक्त (तुम्हारे नामोच्चारणमात्रसे कामोद्दीपन होनेके कारण कामोद्दीपक मन्त्र विशेष) के जपका मनो अर्थात् सर्वदा जपनेवाला यह (पुरोवृत्त्यमान) सखीका कण्ठ एकावली (एक लट्ठीवाले मुक्ताहार) के बहानेमे अक्षमालाको धारण कर रहा है । [शास्त्रमें शाब्दिक जपकी अपेक्षा मार्मिक जपका सहस्रगुणित फल होनेसे तथा एनिके नामका उच्चारण करनेका निषेध होनेसे दमयन्तीका कण्ठ मनसे (जिह्वासे नहीं) ही आपके नामका सदा जप करता है, अतः एव मानो कण्ठने एक लट्ठीवाले हाररूप मालाको ग्रहण किया है । इस प्रकार यह दमयन्ती आपके नामका तो सर्वदा मनसे ही जप करती रहती है और हमलोगोंका नाम तो मनसे नहीं—बाह्य भोमसे ही कभी कभी उच्चारण कर देती है, अतः एव आपका उक्त उपास्य उचित नहीं है] ॥ ४७ ॥

अध्यासिते वयस्याया भवता महता हृदि ।

स्तनावन्तरसरमान्तौ निष्क्रान्तौ ब्रूमहे बहि ॥ ४८ ॥

‘अध्यासिते वयस्याया’ इत्यादिश्लोकोक्तं वेपरीयापादनेन परिहरति—अध्यासिते इति । हे महाराज ! वयस्याया सस्याः, हृदि वचसि, वचोऽभ्यन्तरे इत्यर्थः । महता गौरववता वृहदाकारेण च, भवता वया, अध्यासिते अधिष्ठिते सति, समप्रतया आरम्य अवस्थिते सतीत्यर्थः । स्तनौ सस्या कुचद्वयी, अन्तरसमान्तौ अभ्यन्तरे अवस्थातु स्थानमप्राप्नुवन्तौ सन्तौ, बहि हृदयस्य उपरिदेशे, निष्क्रान्तौ निर्गतौ, इति ब्रूमहे कथयाम, सम्भावयाम इति यावत् । भवदध्यासात् प्राक् अनिर्गमात् अध्यासादनन्तरञ्च निष्क्रमादिति भावः । अतोऽस्या हृदयैकशरण महाराज एव इति निष्कर्षः ॥ ४८ ॥

‘मदान् (गौरवयुक्त, पञ्चा०—विशालाकार) आपके द्वारा इस (दमयन्ती) के हृदयमें अधिष्ठित होनेपर भीतरमें नहीं ममाने (स्थान पाने) हुए दोनों स्तन बाहर निकल आये हैं’ ऐसा हम कहती हैं । [पहले दमयन्तीके स्तन बाहर नहीं निकलने थे, किन्तु जबसे आपने हमके हृदयमें निवास किया तबसे उसमें रहनेका स्थान नहीं पा सकनेके कारण ही ये स्तन बाहर निकल आये हैं, ऐसा हम समझती हैं । श्लोकमें भी किसी बड़े व्यक्तिके द्वारा

किमी स्थानपर अधिकार क' सेनेपर निबल स्यक्ति वहाँ स्थान नहीं पानेसे वहाँसे बाहर निकल आता है । इस दमयन्तीके एकमात्र आप ही हृदयमें निवास करते हैं, स्नाशभूत स्नानोंको भी वहाँ ठहरनेका अवकाश नहीं है] ॥ ४८ ॥

कुचौ दोपोज्झितावस्या पीडितौ व्रणिनी त्वया ।

यथ दर्शयतामास्य वृहन्तावावृतौ ह्रिया ? ॥ ४९ ॥

‘अधिगम्य’ इत्यादि श्लोकोक्तकुचवैमुख्योपाख्यमस्योत्तरमाह—कुचाविति । वृहन्तौ महान्तौ अतिपीनौ इत्यर्थं, महाशयौ च, तथा दोपोज्झितौ दोषेण शिथिलत्वादिना, वज्झितौ वज्झितौ, कठिनौ इत्यर्थं । अथ च दोषा रात्रौ, उज्झितौ वज्झितौ, निराश्रयौ इत्यर्थं । अस्या सख्या, कुचौ स्तनद्वयम्, त्वया भवता, पाडितौ पाणिभ्या मर्दितौ, अहेतुक दत्तखलेद्यौ च, तथा व्रणिनी नखे सतविश्रुती कृतौ, शास्त्रावासेन व्रणवन्तो कृतौ इति च । व्रणवच्छब्दात् ‘तरकरोमि—’ इति प्यन्तात् कर्मणि च, णविडवद्भावात् ‘विगमतोर्लुक्’ इति मतुपो शेषः । अत ह्रिया लज्जया हेतुना, इवेति शेषः । आपुनौ आच्छादौ, वस्त्रेणेति शेषः । कथं केन प्रकारेण, आस्य मुखम्, चुचुकमिति यावत्, आननञ्च । दर्शयताम् ? प्रकाशयताम् ? न यथमपीत्यर्थः । महान्तौ जना परेण लहेतुक दूयिता अपि लज्जया न मुख प्रदर्शयन्तीति भावः । अत्र भवान् स्वयमेव कृतापराध इति निष्कर्षः । दशोप्यन्तात् लोटि सामादेशः ॥ ४९ ॥

(अब नहोत्त ‘अधिगम्य ’ (२०।१६) आश्लेषका ‘कला’ उत्तर दे रही है—) दोषरहित (पक्षा०—रात्रिमें बलावरणरहित), बड़े आकारवाले (पक्षा०—प्रतिष्ठादिसम्पन्न होनेमें बड़े) तुममें (रात्रिमें रतिकालमें) हाथमें मर्दिन (पक्षा०—पादित) तथा (नख छन, पक्षा०—शास्त्रादि) से व्रणयुक्त किये गये इस (दमयन्ती) के दोनों स्तन (छिनमें) लज्जासे (युक्त होनेके कारण बखसे) टके (पक्षा०—मुख अपनको छिपाये) हुए हम (दमयन्ती) के स्तनमुख (चुचुक, पक्षा०—मुँह) को कैसे दिखलावे ? [जिस प्रकार मातङ्गिन एव अपराधरहित कोई बड़ा आदमी किसीमें पीडित एव शस्त्रछन श्लोक लज्जासे अपना मुख छिपा लेता है और किसीको अपना मुख नहीं दिखलाता, उसी प्रकार रात्रिमें बखरहित, शैथिल्यादिदोष-रहित अर्थात् कठिन दमयन्तीके बड़े-बड़े स्तनोंको आपने हाथसे मर्दिन एव नखसे विक्षत कर दिया, मानो इसी कारण वे दिनमें लज्जावश बखसे आच्छादित हो अपना मुख नहीं दिखला रहे हैं, अत इनका ऐसा करना उचित ही है । अथ च—आप यदि बाहर स्थित रहने लो ये स्तन अपना मुख आपको दिखलाते अर्थात् इनका अग्रभाग आपके नेत्रोंके सामन होना, किन्तु आप तो दमयन्तीके हृदयमें रहते हैं और ये स्तन ऊपर मुख किये दमयन्तीके हृदय (दक्ष स्थल) से बाहर रहते हैं, अत एव ये अपना मुख आपको वैसे दिखला सकते हैं, क्योंकि दमयन्ती-हृदयस्थ आपका स्तनाग्रके

सामने होना सर्वथा असम्भव है, अत एव स्तनोंके विषयमें भी आपका उपाह्वान देना उचित नहीं है] ॥ ४९ ॥

इत्यसौ कलया सूक्तै सित्क पोयूपवर्षिभि ।

ईहरोवेति पप्रच्छ प्रियामुन्नामिताननाम् ॥ ५० ॥

इतीति । इति इ यस् , कलया प्रियाया सप्या, पायूपवर्षिभि अमृतस्यग्निभि , सूक्तै प्रियवचनै, सित्क आर्क्षित, मन्तोषित इत्यर्थ । अमौ राजा, उन्नमित स्वपाणिना उन्नत कृतम् , आनन मुख यस्या तादृशीम् , प्रिया दमयन्तीम् , ईदृक् पृष्ठ ? कलया यदुक्त तत् किं सत्यमेव ? इत्यर्थ । इति एवम् , पप्रच्छ जिज्ञासयामास ॥ ५० ॥

'कला' के द्वारा इस प्रकार (२०।३८-४९) अमृतवर्षा मधुर वचनोंसे सित्क (होनेसे प्रेमरसने परिपूर्ण) ये नल प्रिया (दमयन्ती) के मुखका कपर उठाकर ' (जैसा 'कला' कहती है) यह देसा ही है ?' इस प्रकार पूछ ॥ ५० ॥

बभौ च प्रेयसीरन्त्र पत्युरुन्नमयन् कर ।

चिरेण लब्धसन्धानमरविन्दमिवेन्दुना ॥ ५१ ॥

बभाविति । प्रेयसीवक्त्र दमयन्तीमुखम् , उन्नमयन् उत्तोलयन् , पायु भक्तुर्न लक्ष्य, कर पाणि । चिरेण महता कालेन, बहुकालान्तरमित्यर्थ । इन्दुना विधुना, निशाकाले सरसीवद् प्रतिविम्बितेनेति भाव । लब्धप्राप्त, सन्धानसहजवैरनिवृत्तौ मयोग येन तत् तादृशम् , अरविन्द पद्मम् इव, बभौ शुशुभे । अभूतोपनेति वण्डी, अद्यस्तमसम्भवसम्बन्धोवत्तरतिसयोस्त्रिभेद इत्यपरे ॥ ५१ ॥

अत्रिणय प्रिया (दमयन्ती) के मुखको कपर उठाया हुआ नटका हाथ बहुत समयके बाद (सहज बैरको छोड़कर) चन्द्रमासे सम्मिलित कमलके समान शोभित हुआ । [इसने नलको हाथका कमलतुल्य तथा दमयन्तीके मुखका चन्द्रतुल्य होना सूचित होना है] ॥ ५१ ॥

ह्रीणा च स्मयमाना च नमयन्ती पुनर्मुसम् ।

दमयन्ती मुदे पत्युरत्युच्चैरभवत्तदा ॥ ५२ ॥

ह्रीनेति । तदा तत्काले, नष्टकर्त्तृकदमयन्तीमुखोत्तोलनकाले इत्यर्थ । ह्रीणा लज्जिता च । 'मुदविद—' इत्यादिना विकल्पात् निष्ठानत्वम् । स्मयमाना मन्द हसन्ती च, दमयन्ती भैमी, पुन भूय, मुख वदनम् , नमयन्ती धवनमन कुर्वती सती पर्यु नलस्य, आयुच्चै उच्चतरार्यै, मुदे आनन्दाय, अभवत् अजायत ॥ ५२ ॥

उस समय ('कला' की कहो हुए बानको लेकर दमयन्तीका मुख उठाकर बैसा प्रदान करनेपर) लज्जित तथा स्मितयुक्त एव नलके द्वारा अधिक कपर उठाये गये मुखको ('ये मेरा स्मित देख न लें' इस भावनासे) फिर नीचे करता हुई वह दमयन्ती पतिके होंके लिए (अथवा—पतिके अधिक हर्षके लिए) हुई अर्थात् बैसा पूछनेपर लज्जित एव स्मितयुक्त

हो उपर उठाये गये मुखको नीचे करनी हुई प्रियाको देखकर नल अत्यधिक हर्षित हुए ॥

भूयोऽपि भूपतिस्तस्याः सखीमाह स्म सस्तिनम् ।

परिहासविलामाय स्पृहयालु नहप्रिय ॥ ५३ ॥

भूय इति । प्रियदा जैन्दा सह चर्तते इति नहप्रिय काम्तासयुक्त । 'तेन सह—' इत्यादिना बहुव्रीहि । भूपति नल, परिहासविलामाय नर्मक्रीडावार्थम्, दनयन्दा महैव नर्मव्यवहारेण वित्तविनोदनायेत्यर्थः । स्पृहयालु अभिलाषुक, केलिकामुक मन् इत्यर्थः । 'स्पृहेश्चिन्त' इति मन्प्रशमनत्वाच्चतुर्यी, 'स्पृहिशृहि—' इत्यादिना आलुच् । भूय पुनरपि, नस्या प्रियाया, सखी इत्याम्, सम्मिलितम् ईषदास्पसहि-
तम्, आह स्म उवाच ॥ ५३ ॥

प्रिया (दनयन्ती) सहित नल परिहासक्रीडाके लिए इच्छुक होने हुए स्मिन्पूर्वक प्रियाकी सखी 'कहा' से बोले ॥ ५३ ॥

क्षन्तु मन्तु दिनस्याम्य वयस्येय व्यद्वेन्यतात् ।

निशीव निशिधात्वर्थं यदाचरति नात्र नः ॥ ५४ ॥

क्षन्तुमिति । इयम् एषा, वयस्या व सखी, अस्य वयसनामस्य, दिनस्य दिवसस्य, मन्तुम् अपराधम्, क्षन्तु सोढुम्, व्यवस्यताम् प्रवर्तनाम् । तातहादेशः । मन्तु दिनस्य क खलु दोषः ? इत्याह—यत् यस्मात्, निशि इव रात्रौ इव, अत्र दिने, न अस्माकम्, निमिषावर्धं निमिषातो 'निमि जुम्बने' इति घातो, अर्थम् अनि-
धेयम्, जुम्बनमित्यर्थः । न आचरति न व्यवहरति, न करोतीत्यर्थः, एतज्जदेति शेषः । तत्र जुम्बनस्य विघ्नतायां दिनस्य स्वप्रकाश एव अपराध, नान्यत् किञ्चित् निमित्त परदान इति भावः ॥ ५४ ॥

इमं (त्वहारी) मन्तो (दनयन्ता) को (वर्तमान) दिनके अपराधकी क्षमा करनेके लिए व्यवसाययुक्त (कार्यन्तर) अर्थात् नैवार) करो, क्योंकि इमं (दिन) में रात्रिके समान अर्थात् रात्रिके जैसा किया या कैसा 'नित्' शत्रुके अर्थ (जुम्बन) को नहीं करनी

१ 'व्यवस्यताम्' इति पाठे आत्मनेपदं विन्यस्य, इति 'प्रकाशः' । 'इयं वयस्याम्य दिनस्य मन्तु क्षन्तु त्वया व्यवस्यता व्यवसायं प्रार्थ्यताम्'—इति कर्मण्यारम्भ-
नैपदमिति कश्चित् । तदुपावसातो व्यवसायनामिति प्राप्तोरपेक्ष्यम्, इति सुखाव-
बोधा, इति न० म० शिवदत्तशर्माणः । २ 'निशिधात्वर्थम्' इति प्रकाशकृत्वा न्या-
रयातस्य पाठस्य तु 'निशि जुम्बने' निस्ते । इत्यान्तोऽयम् । आनरगकारस्तु ताल-
व्यान्त इति दक्षाम् । निदान्तकौमुद्या मट्टोजिदीक्षितेन स्पष्टमेव इत्यान्तस्यैव प्रति-
पादनात् 'निमे' प्रतिषेधो वाच्यः । निस्ते । निस्त्व ।' इति महाभाष्ये भगवत्पतञ्ज-
लिना स्पष्ट इत्यान्तस्यैव ध्वनितवाच इत्यान्तस्यैव सम्मतत्वेऽपि 'तालव्यान्त-
स्याप्यङ्गीकारे न बाधकम् ।' इति 'शब्दरत्न' कृदुनरोष्ठात्कथञ्चिदीक्षितमिति दोष्यम् ।

है । [इस दमयन्तीने रात्रिमें मेरा चुम्बन किया था, किन्तु इस समय दिन होनेके कारण मेरा चुम्बन नहीं कर रही है, अतः चुम्बन नहीं करनेमें दह दिन जो अपराध कर रहा है, उसे क्षमा करनेके लिए तुम्हारी सखी (दमयन्ती) तैयार होवे अर्थात् दिनके अपराधको क्षमा कर दे] ॥ ५४ ॥

दिनेनास्या मुखस्येन्दु सखा यदि तिरस्कृत ।

तत्कृता शतपत्राणा तन्मित्राणामपि श्रिय ॥ ५५ ॥

अथ दिन किसस्या अनिष्टकारि ? इत्यपेक्षायामाह—दिनेनेति । दिनेन अह्ना, अस्या च सरया, मुखस्य बह्वनस्य, सखा मित्रम्, सदृशत्वादिति भाव । इन्दु चन्द्र, यदि यद्यपि, तिरस्कृत अवज्ञात, सूर्योदयेन निष्प्रभाकरणात् तुच्छीकृत इत्यर्थ । इति हेतो दिनस्य अपराधि इति उच्यते यदि इति भाव । तर्हि तस्य मुखस्य, मित्राणा सखीनाम्, सदृशानामित्यर्थ । शतपत्राणा बहूना पद्मानाम्, श्रिय अपि शोभा अपि, विकाशनेनेति भाव । तत्कृता तेन दिनेन सम्पादिता दिनेन एतन्मुखस्य एकस्य सकयुरिन्दोरपकारे कृतेऽपि अनेकेषा मित्राणा कमलानां मुपकारोऽपि कृत । रात्र्या तु देशल चन्द्र एव उपकृत, तत् बहुपकारिण एकोऽप्य रात्रौ न गणनीय, अतः दिनेऽपि चुम्बनमुचितमिति भाव ॥ ५५ ॥

यदि दिनेन इत (दमयन्ती) के मुखके मित्र (समानाकारक होनेसे सुहृद्) चन्द्रमाको तिरस्कृत (पक्षा०—निष्प्रभ) किया है तो (दमयन्तीके मुखके समान होनेके कारण) उस (मुख) के मित्र कमलोंकी शोभा (पक्षा०—सम्पत्ति) को भी उसी (दिन ही) ने किया है । [अतः एव मुखके एक मित्र चन्द्रमाका अहित करनेपर भी उसी मुखके अनेक मित्र कमलोंका हितकरनेके कारण दिनका कोई अपराध नहीं है, अतः एव दिनमें या आप चाहें तो सखी चुम्बन कर सकती है अथवा— 'तत्कृता' पाठा०—उस (दिन) के मित्र कमलोंकी या—मित्रोंके सैकड़ोंके बाहनोंकी शोभा (पक्षा०—सम्पत्ति) का उच्छेद भी तो चन्द्रमाने किया है (अतः एव दिनका किया हुआ अपराध छोटा तथा उसके प्रतिकारमें चन्द्रमाका किया हुआ अपराध बड़ा है, अतः दिनका अपराध नगण्य है । अथवा— उस (मुख) के मित्र कमलोंकी शोभा उस (दिन) के द्वारा ही नष्ट हुई है (क्या) ॥ अर्थात् नहीं, कमलोंकी शोभाको तो चन्द्रने प्रतिकारस्वरूप नष्ट किया है, अतः एव दिनका अपराध नगण्य है । अथवा— उस (दिन) के मित्र कमलोंकी शोभाकी भी तो (मुखपेक्षा होनेकात्ति होनेसे) उस (दमयन्तीके मुख) ने ही नष्ट किया है, (अतः एव दमयन्तीके मुख) ने दिनके द्वारा किये गये अपने मित्र चन्द्रमाके शोनाशका प्रतिकार उस दिनके बहुतसे मित्रोंका आनाश करके कर दिया है, इस कारणसे अब दिनका उत्सापराध नगण्य है] ॥ ५५ ॥

लज्जितानि जितान्येव मयि क्रीडितयाऽनया ।

प्रत्यावृत्तानि तत्तानि वृच्छ सम्प्रति क प्रति ॥ ५६ ॥

लज्जावशात् दिने नासौ जुग्वतीति चेत्तदप्ययुक्तमित्याह—लज्जितानीति ।
 क्रीडितया रात्रौ स्वयमेव कृतसुरतक्रीडया, कर्त्तरि क्त । अनया च सख्या, मयि मम
 विषये मत्समीपे इति वा, यद्वा—मयि मम वक्षसि उत्थायेत्यर्थः । क्रीडितया
 कृतविपरीतविहारया इत्यर्थः । अनया लज्जितानि क्रीडितानि, भावे क्त । जितान्येव
 निरस्तान्येव, दूरीकृतान्येवेत्यर्थः । सम्प्रति इदानीं पुनः, क प्रति कम् उद्दिश्य,
 तानि लज्जितानि, प्रत्यावृत्तानि प्रत्यागतानि, तत् प्रत्यावृत्ते निमित्तमित्यर्थः ।
 पृच्छ जिज्ञासय । मयि प्रागेव लज्जात्यागात् नाहमस्या लज्जाया' निमित्तम्,
 भवतीना समीपे लज्जायां जातत्वात् भवत्य एव अस्या लज्जाकारणमिति
 तर्कयामीति भावः ॥ ५६ ॥

(सुरतकान्म अनेकविध) क्रीडा की हुई इस (समय नी) ने मेरे विषयमें लज्जा को
 जान ही लिया (छोड़ ही दिया) है, फिर वह लज्जा किसके प्रति लौट आयी (किसके साथ
 यह लज्जा करती है) ? यह पूछो । { मेरे साथ रात्रिमें अनेक क्रीडाओंको हमने मझोच
 रहित होकर किया, इससे स्पष्ट है कि हमने मुझमें लज्जा करना छोड़ दिया है, किन्तु इस
 समय तुम लोगोंके सामने पुन लज्जा कर रही है, अतः जान होता है कि तुम्हीं लोगोंमें यह
 लज्जा हो रही है } ॥ ५६ ॥

निशि वृष्टाधरायापि सैषा मल्ल न रुष्यति ।

क फल वशते विम्बी-लता कीराय कुप्यति ? ॥ ५७ ॥

सम्प्रति अधरदशनादिरूप रक्षापराध चतुर्भिः चालयति, निशीति । सा एषा
 मिया, निशि रजम्याम्, दष्ट हृन्दशन, अधर रत्नरत्नद येन तस्मै तादशायापि,
 मल्ल मलाय, न रुष्यति न कुप्यति । 'क्रोधद्रुह—' इत्यादिना सम्प्रधानत्वाच्चतुर्थी ।
 तथा हि—विम्बीलता रक्तफलावयववृक्षस्य ज्ञतति, ओष्ठोपमफलस्य वृक्षस्य लता
 इत्यर्थः । 'तुण्डिकेरी रक्तफला त्रिभिर्वका पीलुपर्ण्यपि' इत्यमरः । फल प्रसवम्, निज
 मेव विम्बफलमिदम् । वशते निश्चिन्त्वा द्विन्दते, कीराय शुक्राय, छ कुत्र,
 कुप्यति ? क्रुप्यति ? न ज्ञापित्यर्थः । दृष्टान्तालङ्कार, प्रतिवस्तूपमेति युक्तमिति
 केचित् ॥ ५७ ॥

रात्रिमें (रात्रिमें) अधरदश करनेवाले मुझपर यह क्रोध नहीं करती है (पाठा०—करे),
 क्योंकि (विम्बा) फलका काटनेवाले तोतेपर विम्बोलना वहाँ (किस देश या समयमें)
 क्रोध करती है ? अर्थात् कभी क्रोध नहीं करती, अतः इसे मुझपर क्रोध नहीं करना चाहिये ॥

शृणोपदसुचिह्ना श्रीओरिता कुम्भिमुन्मयो ।

पश्यैतस्या कुचाभ्या तन्नृपसन्तौ पीडयामि न ? ॥ ५८ ॥

१ 'रुप्यतु' इति पाठान्तरम् । २ 'सुणी—' इति दन्त्यादि पाठ 'मकाश'-
 व्याख्यातः ।

यदुक्तं कलया 'कुचौ दोषोऽस्ति नावस्या पीडितौ घणितौ त्वया' इति तत्रोत्तर-
माह—शृणोति । एतस्या दमयन्त्या, कुचाभ्या स्तनाभ्याम्, कुम्भिकुम्भयो राजस्य
शिर स्थपिण्डयो मम्बन्धिनी, शृणीपदानि अङ्गुलचतानि एव, सुचिह्नानि उदृष्ट-
लक्ष्माणि यस्या मा तादृशी, स्त्री शोभा सम्पत्तिश्च, चोरिता अपहृता, इति परस्य
एतत् त्व स्वयमेवावलोक्य । नन्वपदस्य अङ्गुलपदवदेव परिहरयमानत्वादिति भावः ।
तत् नस्मात्, चौर्यापराधाद्धेतोरित्यर्थः । नृप दण्डधर, चौर्योच्चिदण्डविधाता
इत्यर्थः, अहं नृप, तौ कुचौ, न पीडयामि ? न दण्डयामि ? न मर्दयामि च ? अपि
तु पीडयाम्येव, दुष्टनिग्रहाधिकारान् राज्ञामिति भावः ॥ ५८ ॥

इसके दोनों स्तनों के अङ्गुलापान (नखपान) रूप सुन्दर चिह्नवाली हाथीके कुम्भों
(मस्तकस्थ मांस-पिण्डों) को शोभाको चुरा लिया है उस कारण राजा (मैं) उन्हें
(उन दोनों स्तनोंको) पीटन (दण्डित, पछा—इत्यमरिन) नहीं करूँ ? (पाठा—
पीडित करता हूँ) । [चोरको दण्डित करना राजाका धर्म होनेसे नखपान के अङ्गुलपान
यत्कुम्भकी शोभाको चुरानेवाले इसके स्तनोंको करमदनरूप दण्ड देना मुझे उचित ही है] ।

अधरामृतपानेन ममास्यमपराध्यतु ।

मृदूधर्मा किमपराद्धं य पादौ नाप्नोति चुम्बितुम् ? ॥ ५९ ॥

अधरेति । हे कले ! मम मे, आस्य मुपस्य, अधरामृतपानेन अधरसुखास्वादेन
हेतुना, अपराध्यतु अनिमित्ताचरणात् अपराधि अस्तु । अत एव अपराधिनः अस्य
परा दण्ड विदधातु इति भावः । किन्तु मृदूधर्मा मम शिरसा, किम् अपराद्धम् ? क
अपराध कृत ? य मूर्धा, पादौ अस्याश्रणौ, चुम्बितुं स्पष्टमित्यर्थः । न नाप्नोति ?
न लभते ? तत् पृच्छ इति शेषः ॥ ५९ ॥

(इमं दमयन्तीके) अधरके अमृतका (चुम्बन करने हुए) पान करनेसे (मेरा) मुख
भले ही अपराधी हो, (किन्तु मेरे) मरनकने क्या अपराध किया है या (दमयन्तीके)
शरणोंका चुम्बन (प्रसादना) स्पष्ट) भी नहीं पाता है ? ॥ ५९ ॥

अपराद्धं भवद्वाणी-श्राविणा पृच्छ किं मया ? ।

वीणाऽऽह परुष यन्मा कलकण्ठी च निष्ठुरम् ॥ ६० ॥

अपराद्धमिति । यत् यन्मात्, वीणा वाद्यविशेष, मा नृप, परुष कर्कशम् अग्रि-
यवाक्यञ्च, आह अवीति, कलकण्ठी च कीकिला अपि, मा निष्ठुर कठोर सतिरस्का-
रञ्च, आह, अत हे कले ! पृच्छ जिज्ञासय, त्वं व सखीम् इति शेषः । भवत्या तव
दमयन्त्या, वाणी वाक्यम्, शृणोति आकर्णयतीति तच्छ्राविणा, मया नलेन, किम्
अपराद्धम् ? कोऽपराध कृत ? न किञ्चिदप्यपराद्धम् इत्यर्थः । लोकानामयमेव
स्वभावो यत् परुषनिष्ठुरवाक्यश्रवणसन्तप्तचित्तं प्रशमयितुं सुमधुर वाक्य श्रोतुं
निच्छा भवतीति तयो पात्प्यदोषादहृत्या त्वत्पत्न्या सुमधुरा वाणी शुभ्रपु अहं
सम्भाषणेन च, सख्या अनुकम्पनीय इति भावः ॥ ६० ॥

तुम्हारे (दमयन्तीके) बचनको सुननेवाला मैंने क्या अपराध किया ? जो मुझसे वीणा पर (कठोर) और कोकिल निष्ठुर बोलती है ? (यह अपनी सखी दमयन्तीने) पूछो । [रात्रिको सुरत्वात्मे दमयन्तीके वीणाकी ध्वनि तथा कोकिलके कूजनमें भी मधुर बचन मैंने बहुत सुना, अतः इस समय वीणाकी ध्वनि तथा कोकिलका कूजना हमें अप्रिय मालूम होता है, क्योंकि अथ पदाथवा भोग करनेके बाद निवृत्त पदार्थ प्रिय नहीं होता । प्रकृतमें जो जिसके प्रति अपराध करता है, उसीके प्रति उसे अनुचित व्यवहार करना चाहिये, मैंने तो दमयन्तीका बचन सुनकर उमका, वीणाका या कोकिलका कोई अपराध नहीं किया जो तुम्हारी सखी दमयन्तीने हम समय मुझसे बोलना छोड़ दिया और वीणा तथा कोकिल कठोर एवं निष्ठुर बचन कह रही हैं, इसका क्या कारण है ? यह तुम अपनी सखी से पूछो । अवश—मुझसे वीणा जो पर (कठोर) तथा कोकिल निष्ठुर बोलती है, सो हे कहे ! तुम अपनी सखी दमयन्तीसे पूछो कि तुम्हारी (वीणा तथा कोकिलसे भी मधुर) वीणाकी सुननेवाले मैंने क्या अपराध किया है ? । यह लोकनियम है कि जो दुःखी होना है, वह सुख चाहता है, अतः एवं दमयन्तीके बचनकी अपेक्षा कटु वीणाकी ध्वनि तथा कोकिलका कूजना सुनकर उससे भी मधुरतम दमयन्तीके बचनको मैंने पीछेसे चुपचाप आकर जो सुन लिया तो क्या अपराध किया, जो यह जब मेरे सामने नहीं बोलती, अतः एवं जब इसके सामने मुझे निरपराध कहकर बोलनेके लिये रही] ॥ ६० ॥

सेयमालिजने स्वस्य त्वयि विश्वस्य भापताम् ।

ममताऽनुमताऽस्मात् पुन प्रस्मर्यते कुत ? ॥ ६१ ॥

मेति । हे कहे ! सा इय प्रिया भैमी, स्वस्य आत्मनः, आलिजने सखीजने, त्वयि भवति, विश्वस्य विश्वस्य, प्रत्यय कृत्वा इत्यर्थः । भापता वदतु, त्वा सखी विश्वस्य अधरयमेव एतत् कथयतु इत्यर्थः । किं भापताम् ? इत्याह—अस्मात् मयि विषये, अनुमता अङ्गीकृता, ममता आत्मीयता, मम अपम इत्यभिमान इत्यर्थः । रजन्या नदनुकूलचरणादिति भावः । कुत कस्मात् हेतोः, पुन इदानीं, प्रस्मर्यते ? प्रगतस्मरणीक्रियते ? रात्रौ तथा आत्मीयत्वेन आलस्य दिवा युष्मत्समक्ष इष्टिनिष्ठेप मात्रस्यापि अकरुणात् नत कथं विस्मर्यते अनयेति वृत्तेत्यर्थः । मयि अनात्मीयाच्च रणे कथं जीवेयम् ? इति भावः ॥ ६१ ॥

यह (दमयन्ती) सखीजन तुमपर विश्वास करके कहे कि—(रात्रिमें) हमारे विषयमें स्व-ममता आत्मीयताको फिर (इस समय तुम) क्यों भूल रही हो ? [रात्रिमें पूर्णतया नेत्र माध अनुकूल वर्तन करके दमयन्तीने जो आत्मीयताका परिचय दिया था, उसे इस समय अस्मत्साक्ष आदि प्रतिकूलचरण करके क्यों भूल रही है ? इस बातको प्रिय सखी तुमने विश्वासकर बतलावे] ॥ ६१ ॥

अथोपपदने भैम्या स्वकणोपनयच्छलात् ।

सन्निधाप्य भ्रुतो तस्या निजास्य सा जगाद ताम् ॥ ६२ ॥

अथेति । अथ राजवाक्यान्तरम् , सा कला, भैम्या दमयन्त्या , उपपद्मे आन-
नसमीपे । सामीप्येऽव्ययीभावः , 'तृतीयासप्तम्योर्धुलम्' इति पित्रक्षात् सप्तम्यां
नामभावात् । स्वकणेश्वर निजप्रयत्नस्य, उपनयनकृत्वात् समीपनयनव्याजात् , तत्
तस्या भैम्या , धृतौ कर्णे, निजास्य स्वमुखम् सन्निधाप्य सविहितं कृत्वा, तां भैमीम् ,
जगताद् वधामे ॥ ६२ ॥

इस (७७ के देमा (२०१५-६१) करने) के बाद उस ('धृता' नामकी शक्ती) ने
हृदय की के मुख के पास अपना हाथ कर के छूसे उस (दमयन्ती) के कानों (के पास)
में अपना मुख लगाकर उस (दमयन्ती) से बोली ॥ ६२ ॥

अहो ! मयि रहोयुक्त धूर्ते ! किमपि नाभ्यधा ।

आस्त्र सत्यमिमं तत्ते भूपमेयामिधापये ॥ ६३ ॥

अहो इति । धूर्ते ! हे यज्ञनपरे ! मयि अस्त्रसमीपे, रहोयुक्त रहस्यचेष्टितम् ,
सुम्यनाल्लिङ्गनाशिरूप निजंनपृथगन्तमिष्यर्थं । स्मिन् अपि किञ्चिदपि, न आभ्यधा न
अभिहितवती अस्ति, त्वमिति शेषः , ह्यहो ! आश्रयम् ! भवतु, आरक्ष्य तिष्ठ । दमम्
अमुम् , भूप राजानं नष्टमेव, से तव, तत् रात्रिचेष्टितमिष्यर्थं । सत्यं यथायथम् ,
अभिधापये वाचयामि, कौशलेन भूपमेव सर्वं लयापविश्यामि ह्ययर्थं । 'गतिगुद्धि-'
हत्यादिना शब्दकर्मत्वादिनकत्वं कर्मत्वम् । राजा यथा स्वयमेव तव रहस्यवृत्तान्त
कथयति तथा करोमि इति निष्कर्षः ॥ ६३ ॥

हे धूर्ते (दमयन्ती) मुझसे तुमने एकान्तमें हुए कुछ भी (आलिङ्गन जुम्बनादि)
वृत्तान्त नहीं कहा, अहो ! आश्चर्य है (कि तुम—जैसा धूर्ता सराही की सीने वाली नहीं देखा)
तो डरते, उस (एकान्त के वृत्तान्त) की मैं सत्य बोलीवाले राजा (नल) से ही कहलाती
हूँ । (अथवा—उस सत्य अर्थात् यथार्थ वृत्तान्तकी मैं भूप पाठा—मैं राजा नलसे
हैं वम असभ्य (सब समार्ये अकथनीय होनेसे अदकील) वृत्तान्तकी शीघ्र कहलवाती
हूँ) ॥ ६३ ॥

स्मरशास्त्रमधीयाना शिषिताऽसि मयेव यम् ।

अगोपि सोऽपि कृत्वा किं दास्यत्यधरथयस्त्वया ? ॥ ६४ ॥

स्मरेति । स्मरशास्त्रं वात्स्यायनादिकामनस्यम् , अधीयाना पठन्ती, गता
अभ्यस्यन्तीत्यर्थः । त्वमिति शेषः । य दास्यत्यधरथयस्त्वया ? मया कथयैय,
अभ्यापिकया यम् इति यावत् , शिषिता उपदिष्टा, अस्ति भवति । 'मुविशासि—'
इति शास्त्रेर्महणात् द्विकर्मकत्वम् 'अप्रधाने पुहादीनाम्' इति अप्रधाने
कर्मणि क्तः । त्वया अध्याया, स मदुपदिष्ट, दास्यत्यधरथयाः दास्यत्यस्य
दम्पतित्वमद्वारस्य स्वाभाविकविहारस्य, भयस्य, वपरीत्यम् , अभ्यधाचरणमित्यर्थः ।
विपरीतसम्भोगः इति यावत् । कृत्वाऽपि स्वयं निष्पाद्यापि, किं किमर्थम् , अगोपि ?

मम समीपे गोपित ? शिष्यविराजितं मामेव यदा ख गोपायितुमिच्छसि, तदा नास्ति तवासाध्य किञ्चिदिति भावः । एतच्च 'लज्जितानि जितान्येव' इत्यादिना नलोक्ति मनुसृत्य चतुरया सख्या अभिहितमिति मन्तव्यम् । 'नितरा धार्ढ्यमवलम्ब्य मया शिषित विपरीतसुरत कृत्वाऽपि भवेव पुरस्तात् न कृतमिति कथयसीति नितरा वञ्चनाचतुराऽसीति भावः' इति 'नैषधीयप्रकाशः' ॥ ६३ ॥

(वारत्यायनादिरचित) कामशास्त्रको पदवी दुःख मुहमे ही जिस (विपरीत रति) को तुमने सीखा है, उस विपरीत रतिको करके भी तुमने क्यों छिपाया ? ॥ ६४ ॥

मौनिन्यामेव सा तस्या तदुक्तीरिष्यति ।

याद याद मुहुश्चक्रे हु हुमित्यन्तराऽन्तरा ॥ ६५ ॥

मौनिन्यामिति । सा कला, तस्या भैरव्याम्, मौनिन्यामेव तूष्णीम्भूतायामेव, किमपि अलङ्घयन्त्यामेवेत्यर्थः । तदुक्ती तस्या दमयन्त्या वाक्यानि, शृण्वती आह्वयन्तीव, श्रवणभङ्गी प्रकाशयन्तीवेत्यर्थः । अन्तराऽन्तरा मध्ये मध्ये, बाद बाद सहाय्यस्य प्रत्युत्तरम् इव बोधित्वा । आभीक्ष्ण्ये जमुल् । मुहु पुन पुन, हु हुम् इति हु हुमित्यनुमोदनसूचकं सङ्घम्, चक्रे कृतवती, पुन पुन हु हुमिति करणेन तद्वाक्यानुमोदन चकार इत्यर्थः । अनेमास्या अतीवपरिहासप्रियत्वं व्यज्यते इति बोद्धव्यम् ॥ ६५ ॥

(दमयन्तीसे इतना बहनेपर भी) उस (दमयन्ती) के चुप रहनेपर ही उसके बदनको झुनगी दुःख-भी बह (कला) बान-बानमें बीच-बीचमें 'हु-हुं' देना करती थी । [यद्यपि दमयन्ती उसकी बानों का कुछ भी उत्तर नहीं देती थी, तथापि वह कला बीच-बीचमें हम प्रकार 'हु-हु' कर रही थी, मानो दमयन्तीकी बान झुन रही हो । कलाने परिहास करनेबाले नान्ते अधिक परिहास करनेके लिए ही ऐसा किया, अब अब उनकी विशेष परिहासप्रियता सूचित होती है] ॥ ६५ ॥

अथासावभिसृत्यास्या रतिप्रागल्भ्यशङ्किनी ।

सरया लीलाम्बुजाघातमनुभूयालपन्नुपम् ॥ ६६ ॥

अथेति । अथ उक्तप्रकारभङ्गिकरणान्तरम्, अस्या भैरव्या, रतिप्रागल्भ्यसुरतकाले ननुपपन्नम्, शङ्कते तर्कयतीति रतिप्रागल्भ्यशङ्किनी सुरतक्रीडाया दमयन्ती निपुणा जाता इति विवेचयन्तीत्यर्थः । असौ कला, अभिसृत्य दमयन्तीसकाशं गत्वा सरया भैरव्या, लीलाम्बुजाना करस्थितलीलाकमलानाम्, आघातं ताडनम्, अनुभूय प्राप्य, नृप राजानम्, आलपत् अभिषत् ॥ ६६ ॥

रस ('कला' के इस प्रकार (२०६३-६४) विशेष परिहास करने) के बाद रतिकी प्रगल्भताका अनुमान करनेवाली ('दमयन्ती रति करनेमें पूर्ण निष्णात हो गयी' इस

प्रकार मनझनी बुद्धे) वह कृपा (दमयन्तीके समीप) जाकर दमयन्तीद्वारा नीलाञ्जनसे
साधित होकर नलमे बोली ॥ ६२ ॥

दृष्ट दृष्ट !! महाराज ! त्वद्योभ्यर्चनाक्रुधा ।

यत्ताडयति मामेव यद्वा तर्जयति भ्रूवा ? ॥ ६३ ॥

तद्देवाह पश्वमि — दृष्टमिष्यादि । हे महाराज ! दृष्ट ! दृष्टम् ! ! खवलीकृतम् !
खवलीकृतम् ! ! इति आदेशे द्विरुक्तिः । किं दृष्टम् ? तद्वाह—त्वदर्थं भवप्रमितम्,
यत् क्षम्यार्थना प्रार्थना, भक्तुं रमिलाय पूरयतु इत्येवमुक्ता यावन्ना इत्यर्थः । तथा क्रुधा
शोषेण, यत् माम् एवम् अनेन प्रकारेण, ताडयति प्रहारयति, यत् वा यच्च, भ्रूवा
भ्रूमङ्गेन, तर्जयति निरस्करोति, तन् वक्ष्ये दृष्टं स्यात् ? इत्यर्थः । एतच्च रहस्यशक्त्य-
श्रवणार्थमिति भावः । तर्जनेरनुदात्तत्वेऽपि अनुदात्तैतं चरिडं स्फिकरणेनानि यदा-
ज्ञापनात् परमपदमपि भवति, अत एव तर्जयते समर्थयते तर्जयतीत्यपि च दृश्यते
इति महामह ॥ ६३ ॥

हे महाराज (नन्) ! आपने देखा, देखा, कि—आपके लिए (रति-विषयक)
याचना करनेमें क्रुद्ध (यह दमयन्ती) मुझे इस प्रकार मार रही है (किं तुमने देखा क्यों
स्थिति ?) और मौड़ने बरबा रही है (कि—निर पेक्षा कमी मत कहना) ॥ ६३ ॥

वदत्यचिद्धि विद्धेन त्वया केनैव नैषधः ? ।

शक्ते शक्त्वं स्वयं कृत्वा मायामायातवानयम् ॥ ५८ ॥

किं तद्वाच्यम् ? तद्वाह त्वमि, वदन्त्येवादि । हे राजन् ! वदन्ति कथयति, मैत्री
मामिति शेषः । तद्देवाह—हे कले ? त्वया भवम्पा, एषः अथ जन, केन विद्धेन
लक्षणेन, नैषधः नत्, इति अचिद्धि ? विद्धि ? प्रत्यभिज्ञात ? इत्यर्थः । शक्ते
मम्ये, अहमिति शेषः । अयम् एष जन, स्वयं साक्षात्, शक्त्वं इन्द्र एव, माया
छलम्, छलेन नलवेदप्रारम्भमिष्यार्थं, कृत्वा विद्याय, आपातवान् भागतवान् इति ॥

(तुम्हारे लिए याचना करनेपर मेरे कानमें) वह कद्वती है कि—‘तुमने इस नलको
किम विद्धेने निर्धारित किया है ? ’ यह माया करके (मायाद्वारा नलकर प्रारम्भके) मार
इन्द्र माया हुआ है’ ऐसी कड़ाई करती है (अतः) मुझसे इस पराजयके लिए तुम क्यों
रति-याचना करती हो ?) ॥ ६४ ॥

स्वर्णदीस्वर्णपद्मिन्या पद्मदानं निदानताम् ।

नयतीय त्वदिन्द्रत्वे दिवश्चागमनञ्च ते ॥ ६५ ॥

कथं यदि अस्या शक्त्वंशक्त्वा ? इत्याह—स्वर्णदीति । किञ्च, हे महाराज ! इय

१. ‘मार्मयते तर्जयते सन्तर्जति’ इत्येव वदन्नुपलभ्यते महामहत्कृत्यापामा-
ख्यानचन्द्रिकायाम् (आ० च० १११०५) इति बोध्यम् ।

भैमी, स्वर्णधाम आकाशगङ्गाया मन्दाकिन्याम्, या स्वर्गपद्मिनी कनकमयकमल
 एता तस्या, पद्मस्य स्वर्णकमलस्य, दान स्वस्यै अर्पणम्, तथा ते तव, दिवश्च अन्त-
 रीक्षाच्च, आगमनञ्च उपस्थितिञ्च, स्वदिन्द्रत्वे तव वासवत्वसंशये, निदानता मूल
 कारणताम्, नयति प्रापयति । मानये एतदुभयस्यासम्भवत्वादिति भाव ॥ ६९ ॥

आकाशगङ्गाया स्वर्ग-कमल देना तथा स्वर्गसे (रथद्वारा पुनः द्वारा यहापर) आना
 सुभारे (नलके) इन्द्र होनेमें यह (दमयन्ती) कारण मानती है । मनुष्यका आकाश
 गङ्गाका स्वर्गकमल एना तथा स्वर्गसे आना असम्भव हो-ते यह तुमको मायामे मन्दा
 रूप धारणकर इन्द्र होनेमें मूल कारण समझनी है, क्योंकि तुम स्वर्गसे रथपर चढ़कर आये
 हो तथा हमके लिए आकाशगङ्गाका स्वर्णकमल दिये हो (२०।१-४), अत एव इसकी ऐसी
 शक्ती होना उचित प्रतीत होता है । यहापर 'कन' परिहास करनेमें नलके भी भागे बढ
 गयी है] ॥ ६९ ॥

आपते नैपथच्छाया मायाऽमायि मया हरे ।

आह आहमहल्याया तस्याकर्णितदुर्ण्या ॥ ७० ॥

आपते इति । हे महाराज ! आपते भैमी अन्यदपि वदति । किमिति ? हे कले !
 मया नैपथच्छाया नलरूपधरा, हरे इन्द्रस्य, माया छलना, अमायि अनुमिता,
 स्वयंवरकाले तथाभूतव्यापारदर्शनादिति भाव । माह कर्मणि लुङ् धिनि युगागम ।
 ननु तदानीं ते कौमार्यात् त्वल्लाभार्थं तस्य माया न दूषणीया, इदानीन्तु तव परस्त्री-
 त्वात् तस्य तथाविधा माया न सम्भवत्येव इत्याह—आह च एतदपि वदतीत्यर्थ ।
 अह दमयन्ती, अहस्याया तल्लाम्बा गीतमभार्यायाम्, तस्य इन्द्रस्य, आकर्णित
 श्रुत, पुराणादौ इति शेष । दुर्ण्य दुःखेष्टितम्, मायया गीतमरूप एवा सतीत्वना
 शरूपदुर्ण्यवहार इत्यर्थ । यया सा तादृशी, अस्मीति शेष । सापेक्ष-वेऽपि गमकत्वात्
 समाम । 'वपमगांसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति णत्वम् । पारदार्यात् भीतिरप्यस्य
 नास्ति, अत इदानीमपि तत्कर्तृकनलरूपधारण नासम्भव इति भाव ॥ ७० ॥

(यह दमयन्ती मुझमें यह भी) कहता है कि—^१(मैंने) इ द्रुके नलकान्ति (को मायासे
 धारण करने) के कपटका अनुमान कर लिया । (उस समय तुम्हें कुमार रहनेसे उक्त
 माया द्वारा इन्द्रका मुझे प्राप्त करनेकी चेष्टा करना अनुचित नहीं कहा जा सकता, कि तु
 भवता तू मन्दा पद्मी होनेसे परात्री हो गयी हो, अत इन्द्र मायामे नलका रूप धारण
 करके प्राप्त करनेकी चेष्टा कैसे कर सकते हो' इस शब्दाके उत्तरमें यह दमयन्ती) और
 कहती है कि उस (इन्द्रकी) अहत्या (यौनमपत्नी) में दुर्नाम (यमिचार) मैंने सुना
 है । अत एव इ द्रुका परात्री-सम्भोगसे भी डरकर ऐसा करना असम्भव नहीं है) ॥ ७० ॥

सम्भाषयति वैदर्भी दर्भाप्राभमतिस्त्नव ।

जम्भारित्य कराम्भोजाहम्भोलिपरिरम्भिण ॥ ७१ ॥

सम्भावयतीति । किञ्च, दर्माग्रामा कुशाग्रसदृशी, अतीव तोषणा इत्यर्थः, मति
बुद्धि यस्या सा तादृशी सूक्ष्मबुद्धिः, वैदर्भी दमयन्ती, दम्भोलि वज्रायुध वज्रो-
प्याञ्च, परिरमते धारयतीति तस्मात् वज्रायुधधरात् वज्रचिह्नविशिष्टाच्च, कराम्भो-
जात् पाणिकमलात् हेतोः, कराम्भोजं दृष्ट्वा इत्यर्थः । तव ते, अभारित्वन् इन्द्रत्वम्,
सम्भावयति नर्त्तयति । 'वज्रहस्तं पुरन्दरं' इति श्रुते तथा नलस्य पाणितले वज्रा-
दिविविधसार्वभौमलक्षणस्यावस्थानादिति भावः ॥ ७१ ॥

कुशाग्रके समान (२५५) बुद्धिवाणी दम्भयन्ती वज्रधरत्वधारी (पञ्चा०—वज्रचिह्ना
ङ्गित) करकमलमे तुल्ये इन्द्र समस्तो है । [इन्द्रके हाथमें 'वज्र' नामक छल रहता है,
नलके हाथमें 'वज्र' का चिह्न है, अतः परमचतुरा 'वज्र' वज्रचिह्नको वज्रायुध मानती हुई
नलको इन्द्र होना प्रमाणित कर रही है । नलके हाथमें वज्रचिह्न होनेसे वनका सार्वभौम
होना सूचित होता है] ॥ ७१ ॥

अनन्यसाक्षिका. साक्षात्तद्व्याप्याय रहःक्रिया. ।

शङ्काऽऽतङ्कं नुदैतस्या यदि त्व तत्त्वनैपथ्य ॥ ७२ ॥

अनन्येति । हे राजन् ! त्वं भवान्, यदि चेत्, तत्त्वनैपथ्य परमार्थनल, असीति
शेषः, तत् तर्हि, अनन्यसाक्षिका भारित अन्ये स्वैतरा, साक्षिण प्रत्यक्षदक्षिण
यासा तादृशी स्वमाग्रसवेद्या, रहःक्रिया शुम्भनाल्लिङ्गनादिरूपरहस्यव्यापारान्,
मावात् अस्या समक्ष स्वयमेव, व्याप्याय उक्त्वा, एतस्या वैदर्भ्या, शङ्काया
इन्द्रत्वसन्देहस्य, आनङ्क भयम्, नुद निवर्त्तय । यान् यान् गुह्यव्यापारान् केवल
युवामेव जानीथ, न पुनरन्येषा केपाङ्गिदपि तज्ज्ञानसम्भावना, ईदृशान् व्यापारान्
यदि एव बभूवुः शक्नोषि, तदैव एषा स्वां नलत्वं अवधारयिष्यति, माम्यया इति भावः ॥

यदि तुम वास्तविक नल हो तो अनन्यसाक्षिक (जिने तुम दोनोंके अनिरित्त किमने
नहीं देखा है ऐसी) अक्रान्तकी (कालिङ्गन, शुम्भन, सम्भाषण ५५ रति आदि) निदाओंको
विनेश्वरने अर्थात् स्वष्ट कहरर हम (दम्भयन्ती) को उद्घातजन्य भयको दूर करो, ['बला'ने
नलके द्वारा ही रहोइत बहानवानेके लिए जो पहले (२०११३) दम्भयन्तीने कहा था, उसे
वरुनेके श्रिये नलकी वाध्य कर यहा वनने अपने चानुर्दकी पराकाष्ठा प्रदर्शित की है] ॥ ७२ ॥

इति तत्सुप्रयुक्तार्था निहृतीकृतकैतराम् ।

वाचमाकण्यं तद्भावे सशयालु शशस स ॥ ७३ ॥

हतीति । इति इत्यम्, तथा कलया, सुप्रयुक्तार्था सुप्रयुक्त स्वर्गगमनस्वर्गपद्म
दानवज्रधारणादिजन्यसन्देहस्य निरसनाय यथाकालं अभ्यगुप्यस्त, अर्थ अभि-
धेय यस्या नादृशीम्, 'सुप्रयुक्तव' इति पाठे—सुप्रयुक्तत्वेन युक्तियुक्तरूपेण प्रयो-
गेन, निहृतीकृतकैतवा निहृतीकृत कैतवद्योतकहास्यादिविकारराहित्येन गोपायितम्,

१ 'सन्निहृती' इति पाठान्तरम् ।

कैतव द्रुल यत्र तादृशीम्, अप्रकाशीकृतनिगूढमिमांसाया, वाच वाक्यम्, आकर्ष्य
श्रुत्वा, स नल, तस्या भैम्या, भावे अभिप्राये, सञ्जयालु क्रिमिय सत्यमेव मामि
न्द्रमाशङ्क्य चुम्बनादिक न करोति इति सन्दिहान सन्, सशस कथयामास ।
मस्योच्छेदकरदृश्यवाच्यसमूहम् उदाच इत्यर्थः । एतेन कलाया वचनचातुर्येण
राज्ञ पराजय सूचित इति बोद्धव्यम् ॥ ७३ ॥

रम (कला) स सुप्रयुक्त अर्थवाला (पाठा०—अच्छी तरह (परिहासादि चेटारहित
हकिर कहने) से) छिपाया गया है कपट जिसमें ऐसा जयाँत कपटयुक्त होनेपर भा कपट
रहित प्रतीत होनेवाला यह (२०।६७-७२) वचन सुनकर उस (दमणी) के अभिप्रायमें
सन्देशान्वित (यह दमवन्ती सचमुच आकाङ्क्षगङ्गाका स्वर्णकमल अर्पित करने, स्वर्गमें आने
तथा हाथमें वस्त्रग्रहण करनेके कारण मुझे नलवेपथरा इन्द्र मानकर ही मेरा आलिङ्गन-
चुम्बनादि नहीं करती है क्या ? इस प्रकारके सन्देशसे युक्त) वे (नल) बोले [इस प्रकार
'कला' के चातुर्यपूर्वक वचन कहनेसे नलका पराजय सूचित होता है] ॥ ७३ ॥

स्मरसिच्छद्मनिद्रालुर्मया नाभी शयार्पणात् ।

यदानन्दोल्लसल्लोमा पद्मनाभीभविष्यसि ? ॥ ७४ ॥

अथैतदेव विंशत्या श्लोकं प्रपञ्चेनाह, स्मरसीत्यादि । हे प्रिये ! सुधना कपटेन,
निद्रालु सुप्ता । 'सृष्टिपृष्टि-' इत्यादिना निपूर्वात् द्रातेरालुच् । त्वमिति शेष । मया
नलेन, नाभी तव नाभिदेशे, ज्ञयस्य पाणे, अर्पणात् स्थापनात्, मीश्रीमन्मिथोचनार्थ
धमिति भाव । आनन्देन स्पर्शसुखेन, उल्लसल्लोमा प्रहृष्यद्भोमा सती, रोमाञ्जितगात्री
समीप्यर्थः । यत् पद्मनाभी मस्या सा पद्मनाभि अपद्मनाभि पद्मनाभिर्भविष्यसीति
पद्मनाभीभविष्यसि पद्मनाभितुल्या सञ्जाताऽसि इत्यर्थः । मम पाणे पद्मनुवयवान्
तव रोमाञ्जानाञ्च पद्मस्य कण्टकनुत्तरत्वादिति भावः । पद्मनाभ विष्णुश्च स अपि
छद्मनिद्रालु इति बोध्यम् । 'अच्छ प्रत्यन्ववपूर्वात्-' इत्यादिसूत्रे 'अच्छ' इति योग
विभागात् वचनप्राप्ति समासान्तोऽच्छप्रापय । अभूततन्नावे शिव । 'अभिज्ञावचने
लृट्' इति भूतार्थे लृट् । तत्तु स्मरसि ? तव प्रत्यभिज्ञानासि किम् ? इति काङ्क्ष ॥ ७४ ॥

(यहसे लेकर २० श्लोकक (२०।७४-९५) नल रहोदृष्ट कहने हैं-) सकपट सीधी
इस नृप नाभिमें (नीविमोचनार्थ मेरे) हाथके रखनेपर जो (पाठा०—उसके) आनन्दमे
रोमाञ्जित हा कमलनामिवाली हो गयी, यह स्मरण करती हो ? ! [यहां नीविमोचनार्थ

। 'मूलोक्तपाठे न यदि' इति यच्छब्दयोगेऽभिज्ञावचने प्राप्तस्य लृटो निषेधा
भिप्रायेण 'तदानन्द-' इति पाठः सम्य इति 'प्रकाश'कार आह । मूलपाठेऽपि
यदेति पदच्छेदेन यच्छब्दयोगेऽपि व्याजज्ञयनेन लक्षणेन पद्मनाभीभवनस्य लक्षण
तथा लक्ष्यलक्षणसम्बन्धे 'विभाषा साकाङ्क्षे' इति परत्वाच्छब्दो विधानादोपाभाव
इति 'सुखावशोपाकार'स्याभिप्रायः इति शि० द० क्षर्माणः ।

व्याजमुत्त दमयन्तीकी नाभिर नलको हाथ रखनेपर रोमाञ्जित होनेमे रोमाञ्जको कण्टक तथा नलके हाथको कमलपुष्प होनेमे दमयन्ती की नाभिको पद्मनाभि होना कहा गया है । अथवा—रोमाञ्जको कण्टक तथा नाभिको विकसित कमल मानकर दमयन्तीकी नाभिको पद्मनाभि कहा गया है । अथवा—नाभिर करचम रचनेमे तुम पद्मनाभि (कमलपुष्प नाभिवाली अर्थात् विष्णु) हुन्थो (क्योंकि विष्णुके हा नाभिमें कमल रहता है) ऐसा अर्थ करना चाहिये । बाल्मिकि, शयन में नाभिर हाथ रखनेमे रोमाञ्ज नहीं होनेके कारण यदा दमयन्तीको सकुपट बोना कहा गया है] ॥ ७४ ॥

जानासि ह्रीमययथा यत्रने मन्मथोत्सरे ।

सामिमुत्सैत्र मुक्ताऽमि मृद्धि । खेदभयान्मया ? ॥ ७५ ॥

जानासीति । मृद्धि । हे कोमलाद्रि ! अत एव अतिपीडाऽसहत्वात् त्रेदमयमिति भाव । नवे भूतने, मन्मथोत्सवे स्मरोहामे, प्रथमरतप्रीडायासिपर्यं । ह्रीमयाभ्या लज्जाऽऽतङ्काभ्याम्, यथा विद्वान्तचित्ता, रमिति शेष, खेद सुरतश्च मज्जनितवर्णेश, तद्वयात् तत्पङ्कजात्, मया सामिमुत्सैत्र, अर्द्धमात्रहृन्सुरतैरेत्यर्थं । 'सामि खर्द्वे जुगुप्सिते' इत्यमर । मुक्ताऽमि परित्यक्ता भवामि, तदन्यथा वैरस्याम् इति भाव । तदुक्त इतिरहस्ये—'सहसा वाऽप्युपक्रान्ता कृप्या खेदमविन्दन । भयाच्चित्तसमुद्रेग सङ्गद्वेषञ्च गच्छति ॥ सा प्रीतियोगमप्राप्य बलोद्वेगेन दूषिता । पुरपद्वेषिणी वा स्यात् सुप्रीता वा ततोऽन्यथा ॥' इति । तत् जानासि ? स्मरामि हिम् ? इत्यर्थं ॥ ७५ ॥

हे कोमलरीरवाली (अत एव रोहा मरनेमें असमर्थ दमयन्ति) ! नये कामोत्सव (सुरतक्रीडा) में लज्जा तथा मयने व्याकुल तुमको नये आवा ही सम्भोग धरके छोट दिया, नह तुम स्मरण करती हो ? ॥ ७५ ॥

स्मर जित्वाऽऽजिमेतस्त्वा करे मन्पदधाविनि ।

अङ्गुलीयुगयोगेन यदाश्लिष्य धने जने ॥ ७६ ॥

स्मरेति । हे शिष्ये ! आङ्गि युद्धम्, जिवा निमित्तम्, स्वा भवतीम्, स्वामसीव मित्यर्थ । पुन समगत, आहमिति शेष । करे पाणौ, तदेति शेष । मन्पदधाविनि मम चरणप्रक्षालनार्थं प्रवर्तमाने मति, मम चरणं स्पृष्टवति सतीत्यर्थं । धने बहुले, जने महदंशार्थं समागते लोके, बहुजनमध्ये इत्यर्थं । अङ्गुलियुगयोगेन मम पादाहु लीद्वयस्य, योगेन तव कराहुलीद्वयस्य निग्रिहयोजनया, मम पादाहुलीद्वयेन तव कराहुले प्रगाढनिपीडनेनेत्यर्थं । यत् आश्लिष्यम् आश्लिष्यमान् अस्मि । 'श्लिष्य आलिङ्गने' इति लुङि उत्तमेकवचने च्ले वम्, 'विभाषा साकाङ्क्षे' इति वैकृतिरुक्त्वात् शृङ्गभाव । तत् स्मर चिन्त्यय ॥ ७६ ॥

युद्धकी जीतकर तुम्हारे पास आने हुए मैंने मेरे चरणके पास दौटते (शीघ्र जाते)

रहनेपर अर्थात् मेरे चरणोंको घोंने या चमस्कार करनेके लिए मेरे चरणोंकी ओर शीघ्रतासे तुम्हारे हाथ बढ़ानेपर (दर्शनार्थं अथे ह्युप) बहुत लोगोंके उपस्थित रहनेपर (साक्षात् आलिंगन करना अनुचित जानकर मेने अपने चरणको) दो अनुलिपियोंने जो आलिंगन किया (तुम्हारे हाथको दबाया) उमे तुम स्मरण करो ॥ ७५ ॥

वेत्थ मानेऽपि मत्त्याग-दूना स्व माञ्च तन्मिथ ।

मद्दृष्टाऽऽलित्य पश्यन्ती व्यग्रा रेत्तयाऽन्तरा ? ॥ ७७ ॥

वेथेति । हे प्रिये ! माने प्रायःकोपेऽपि, मत्त्यागदूना मद्विरहतया, स्वमिति शेष । मिथ रहसि । 'मिथोऽप्योन्ध रहस्यपि' इत्यमरः । स्वम् आत्मानम्, मा नलब्ध, आलित्य चित्रे लिखित्वा, पश्यन्ती अबलोकयन्ती, तदालेख्यमिति शेष । मद्दृष्टा मया स्वया आलेख्यद्विनेन मया नलेन चित्रिता सती, अन्तरा लिखित पोरावयोर्मध्ये, रेखया तुलिकया नूननरेगाङ्कनेन, महर्शनप्रतिरोधार्यमिति भावः । यद् व्यवसाय व्यवधान कृत्वनो नमि, व्यवधान विधाय तत्रापि कोप प्रकटित इति भावः । व्यवपूर्वाङ्कातेर्लुङ् सिपि 'गातिस्था-' इत्यादिना सिचो लुक् । तत् वेथ । स्मरसि किम् ? इति काटु ॥ ७७ ॥

मान (प्रगल्भ) मैं भी मेरे त्यागसे चित्र तुम अब अपनेको तथा मुझको चित्रित कर देखती थी, तब मैंने तुम्हें देख लिया तब मनस तुमने उस चित्रके बीचमें एक रेखा अङ्कितकर व्यवधान कर दिया, यह तुम जानती (स्मरण करती) हो ? । [अब तुम्हारे मानके कारण तुम्हें मैंने छोड़ दिया तब मेरे वियोगको सहनेमें असमर्थ होकर तुमने अपना तथा मेरा मद्विल्ल चित्र बनाकर उमे देखती रही थी, वही समय जब मैंने तुम्हें देख लिया तब तुमने तब तब चित्रित अपने दोनोंके बीचमें एक रेखा बनाकर दोनोंको व्यवहित कर दिया अर्थात् रेखा द्वारा यह अभिव्यक्त किया कि चित्रमें भी मैं तुमसे पृथक् ही हूँ, अब एव मेरा प्रायमान व्योका स्थो बना हुआ है] ॥ ७७ ॥

प्रस्मृत तन् त्वया तावद् यन्मोहनविमोहित ।

अतृप्तोऽधरपानेषु रमनामपि च तव ? ॥ ७८ ॥

प्रस्मृतमिति । हे प्रिये ! मोहने सुगते, विमोहित विमुग्धचित्त, अहमिति शेष । तव ने सम्बन्धमानान्ने पथी, 'पृग्ण-' इत्यादिना पथीसमासनिषेधरपायनात् पठानि कटित्, अधरपानेषु अधरास्त्रादनेषु, सुम्बनेषु कृतेष्वपि इत्यर्थः । अतृप्त मन्त्रमात्रेण तपूगाङ्काच्च मन्, यत् रसना जिह्वाम्, अपिबम् आस्वादितवाना मम् । तत्, तावत् साकल्येन, स्वया भवत्या, प्रस्मृतम् ? चिन्तित किम् ? इति काटु ॥ ७८ ॥

मृतमोहित (मृदा—काममोहित, अब एव) तुम्हारे अधरपानमे अतृप्त मैंने जो

तुम्हारी बीमका पान किया, उस सम्पूर्ण वृत्तान्तको तुमने स्मरण किया क्या ? [रतिकान्तमें जिहा-पान करनेका भी कामशास्त्रमें विधान है] ॥ ७८ ॥

त्वत्कुचार्द्रनखाङ्कुस्य मुद्रामालिङ्गनोत्थिताम् ।

स्मरे स्वहृदि यत् स्मेरं सखी शिन्ध तवानुभम् ? ॥ ७९ ॥

स्वदिनि । हे प्रिये ! स्वस्य आमन, मम नलस्य इत्यर्थः । हृदि वक्षसि, आलिङ्गनेन आश्लेषेण, उत्थिताम् उत्पन्नाम्, सङ्क्रान्ताम् द्रव्यम् । त्वत्कुचयो तत्र स्तनयो, आर्द्रनखाङ्कुस्य सद्यः कृन्तनपरवर्तस्य, मत्कर्तृकस्येति भावः । मुद्रा रक्तवर्णचिह्नम्, स्मेरं सखितं मन्, सखी तत्र वयस्या प्रति, तव ते, शिख्य कारुकार्यम्, शिखरनिर्माणनैपुण्यमित्यर्थः । यत् अभुवम् अकथयम्, तत् स्मरे ? चिन्तये ? ॥ ७९ ॥

मैंने अपने हृदय (छाती) में (मेरे) आलिङ्गनसे उत्पन्न तुम्हारे स्तनोंके (मरुत्तन) सरस नखझनके चिह्नको इसका हुआ सखियोंसे तुम्हारा शिख्य बनवाया, इसे तुम स्मरण करो । [मैंने तुम्हारे स्तनोंमें नखझन किया था, उसके सूखनेके पहले ही मैंने तुम्हारा आलिङ्गन किया तो आर्द्र होनेसे उस नखझनका चिह्न मेरे वक्षस्वर्णमें प्रतिबिम्बित हो गया और मैंने हुए मैंने सखियोंसे कहा कि मेरे वक्षस्वर्णमें यह नखझन तुम्हारी सखीने किया है । अथवा— प्रतिबिम्बित हो गया तो उसे देखकर स्मरण करती हुई सखियोंसे मैंने कहा कि । मैंने तुम स्मरण करो और मुझे वाल्मिकिक नल जानो] ॥ ७९ ॥

त्वयाऽन्या क्रीडयन्मध्ये-मधुगोष्ठि रुपेक्षित ।

वेत्सि तासां पुरो मूढूर्णां त्वत्पादे यत् क्लिप्तास्खलम् ? ॥ ८० ॥

इत्येति । हे प्रिये ! मधुगोष्ठ्या मद्यपानसभाया मध्ये मध्ये मधुगोष्ठि पानगोष्ठि मध्ये इत्यर्थः । 'पारे मध्ये पट्या वा' इत्यभ्ययीभाष, 'गोष्ठियोऽपसर्जनस्य' इति ह्रस्वत्वम् । अन्या अपरा स्त्रिय, क्रीडयन् मर्मस्पर्शवहारेण विनोदयन्, अहमिति शेषः । त्वया मकाया, रया रोपेण, ईक्षितं दृष्टं सन्, तासां स्त्रीणाम्, पुर अग्रे पक्ष, मूढूर्णां शिरसा, त्वत्पादे तत्र चरणे, यत् क्लिप्तास्खलम् अपत खलु, मद्यमत्तत्वात् स्मरणवृत्तेन तत्र प्रसादनाय इति भावः । तत् वेत्सि ? स्मरसि किम् ? इति काकु ॥ ८० ॥

(अनेक स्त्रियोंके साथ सम्मिलित होकर) मद्यपान-सभाके बीचमें दूसरी स्त्रियों (तुम्हारी सखियों) को क्रोधा करता हुआ (क्या उसी समयमें) तुमसे क्रोधपूर्वक देखा गया मैं उनके सामने तुम्हारे चरणोंमें जो स्तूलिन हो गया, इसे तुम जानती (स्मरण करना) हो ? [बहुत स्त्रियोंके साथमें जिसमें तुम भी थी-मद्यपान करके दूसरी स्त्रियोंको क्रोधा कराते हुए मुझे तुमने क्रोधसे देखा वो उन स्त्रियोंके सामने ही मैंने तुम्हारे चरणपर

१ 'स्मेरसखीम्' इति पाठान्तरम् ।

इम प्रकार मस्तक रखकर तुम्हें प्रसन्न किया कि मानों मैं मचके नशेमें स्थलित होकर तुम्हारे पैर पर गिर पड़ा हूँ । यश पर चलने स्थलित होना इसलिए कहा कि—यदि मैं ऐसा नहीं करता तो वे मुझपर रुष्ट हो जातीं, और तुम्हारे चरणोंपर गिरकर क्षमायाचना नहीं करता तो तुम्हीं मुझपर रुष्ट हो जातीं, अब एव चातुर्दूर्बक मैंने अपना काम साध लिया, यह तुम स्मरण करती हो क्या ?] ॥ ८० ॥

वेत्थ मय्यागते, प्रोष्य चत्वा पश्यति हादिनि ।

अचुम्बीरालिमालिङ्ग्य तस्या केलिमुदा किल ? ॥ ८१ ॥

वेत्थेति । हे प्रिये ! हृदयस्य कर्म हार्दं प्रेम । 'प्रेमा ना प्रियता हार्दम्' इत्यमर । हादिनि प्रियपात्रे, हादिनि । इति दमयन्त्या सम्बोधन वा हादिनि । हे अनुरागिणि । प्रोष्य प्रवास गत्वा, आगते प्रत्यावृत्ते, मयि नले, स्वा भवतीम्, परपति वीक्षमाणे सति, आलि सखीम् आलिङ्ग्य आरिख्य, केलिमुदा क्रीडाहर्षेण, तस्या सस्याम्, सस्या गण्डदेवे इति यावत्, यत् किल इति अलीके, सत्यालिङ्गनचुम्ब नश्याजेनेत्यर्थ । अचुम्बी चुम्बितवती, मामेव त्यमिति शेष । सत्यालिङ्गनचुम्ब नश्याजेन मा प्रति स्वप्रेमभर यत् सूचितवती अस्ति, तत् वेत्थ ? स्मरसि ? ॥ ८१ ॥

प्रवासकर प्रियपात्र (अथवा—हे प्रियपात्रभूते दमयन्ति । प्रवासकर) मेरे आनेपर और तुम्हें देखते रहनेपर तुमने सखीका आलिङ्गनकर क्रीडाके हर्षके छान्ने जो वमके कपोलका चुम्बन किया (बालविकर्मे तो वसका आलिङ्गनकर चुम्बनके छान्ने तुमने बहुत दिनोंपर लौटे हुए मेरा आलिङ्गन कर चुम्बन किया, किन्तु वहाँ उपस्थित सखियोंको यह दिखानाया कि क्रीडावशमे सखीका ही आलिङ्गनकर चुम्बन कर रही हूँ), इसे तुम जानती (स्मरण करती) हो ? ॥ ८२ ॥

जागर्त्ति तत्र सस्कार स्मृताद्वयदानने ।

निक्षिप्यायाचिप यत्त्वा न्यायात्ताम्बूलफालिका ? ॥ ८२ ॥

जागर्त्ति । हे प्रिये ! स्वमुखात् निजाननात्, भवदानने तव वदने, ताम्बूल फालिका मागवहीदलश्लिका, बीटिकावण्डानीत्यर्थ । चूर्णपूगफलदिसमुक्तस्य मध्वितस्य पर्गस्य वण्डानीति यावत् । निक्षिप्य न्यस्य, स्वा भवतीम् । 'ता' इति पाठे—ता ताम्बूलफालिका, न्यायात् निक्षिप्तद्रव्यप्रत्यर्पणधर्मात्, निक्षिप्त द्रव्य निक्षेपरुस्यैव प्रत्यर्पयितव्यमिति नीत्यनुसारादित्यर्थ । यत् अप्याचिप प्रार्थितवाना सम्, बहमिति शेष । तत्र याचने, सस्कार नियतभाजनाजनितस्मृतिविशेष इत्यर्थ । जागर्त्ति ? उपपद्यते ? स्मरसि किम् ? इत्यर्थ, इति कावु ॥ ८२ ॥

(मैंने) अपने मुखमें तुम्हारे मुखमें जाया चवाये हुए पानके बीटेकी डाल (दे) कर ('जिसकी जो वस्तु ली जाती है, उसको उस वस्तुको वापस करना उचित है' इस) 'यायसे जो याचना की (तुमसे वह चर्चित पानका बीटा लौटानेको कहा), उस विषयमें

।। मस्कार जागरूक है क्या ? अर्थात् उस वृत्तान्तको तुम स्मरण करती हो क्या ? ॥

चित्ते तदस्ति कश्चित्ते नखज मयि यत् क्रुधा ।

प्राग्भावाधिगमागस्थे त्वया शम्बाकृत क्षतम् ॥ ८३ ॥

चित्ते इति । हे प्रिये ! मयि नखे, प्राग्भावेन प्राक् पूर्वमेव, त्वत्त इति शेष । वक्ष्य रेत पतनकालिकहृषंस्य, अधिगम लाभ पुत्र, भाग अपराध तस्मिन् घृणीति भाग स्य तादृशे, सादृशापराधेन अपराधिनि सति, तव सुपावसिम्पति-
चक्रादिति भाव । त्वया भवत्या, क्रुधा क्रोधेन, यत् नखज नखेण कृतम्, न खनम्, शम्बाकृत द्विगुणाकृतम्, आनुलेभ्यप्रातिलोभ्याभ्या द्विवारकृष्ट चेष्ट ग्राह्यतमुच्यते । 'द्विगुणाकृते तु सर्वं द्विपूर्वं शम्बाकृतमपीह' इत्यमर । 'कृजो-
त्तीयगृतीयशम्बाजीनात् कृजो' इति ङाप्रत्ययः । तत् शम्बाकरणम्, ते तत्र चित्ते नमि, अस्ति विद्यते कश्चिद् ? स्मरसि किम् ? ॥ ८३ ॥

मेरे पहले भावाधिगमरूप अपराधन्य होनेपर (रतिछावने मेरा तुमसे पहले ही दीर्घ-
व्रजन होनेके कारण पूर्णतः दुःखी हो भोगच्छा पूरी नश्व होनेसे अपराध करनेपर) तुमने
।। मेरे जो पूर्वकृत नखजन्य क्षतको दुःखी कर (के बजा) दिया, वह दुःखी चित्तने
का ? अर्थात् उसे तुम स्मरण करती हो क्या ? ॥ ८३ ॥

स्वदिग्निमयेनैव निशि पारर्षनिर्घर्त्तिनो ।

स्वप्नेष्वप्यस्तवैमुदये सख्ये सौरय स्मरावयो ॥ ८४ ॥

स्वेति । हे प्रिये ! निशि रात्रौ, स्वदिक्षो निजनिजशयनस्थानयोः, विमिमयेनैव
परिवर्त्तनेनैव, मम शयनस्थाने तवागमनेन तव शयनस्थाने मम गमनेन चेत्यर्थः ।
स्वस्थानपरिवर्त्तनं विना सम्मुखीनयोः शयने पार्श्वपरिवर्त्तने पैमुख्यप्रसङ्गादिति
भावः । पार्श्वयोः वामदक्षिणद्वयोः विवर्त्तने शय्यालयनपार्श्वपरिवर्त्तनेन शयाते यौ
तादृशयोः पार्श्वपरिवर्त्तनकारिणो, आवयो तव मम च, स्वप्नेषु स्वापकालेषु अपि,
अस्नम् उच्छरीर्या निरस्नम्, वैमुरय पराह्मुरय यत्र तादृशे, सद्ये मेळने, सौख्य
सुखम्, स्मर विन्तय ॥ ८४ ॥

(अमचरा) अगती अगती दिक्षाका परिवर्तन होनेसे ही रात्रिने करवट बदलते हुए इन
दोनोंके सोनेने भी विमुखताहीन मेळन होनेपर (परस्पर हम दोनोंके सम्मुख ही रहनेपर)
या होनेवाले सुख (परस्परवल्कीकरणन्य इव) को स्मरण करो ॥ ८४ ॥

क्षण प्राप्य मदस्येव नृणां विमनितेक्षणाम् ।

दर्शिताधरमहेशा स्मर यन्मामतर्जय ॥ ८५ ॥

चणमिति । हे प्रिये ! सदसि एव समायामेव सखीभिरनुष्ठितनृत्यगीतादिपमा

१ 'यत्क्रुधा क्षतम्' इति पाठान्तरम् ।

यामेवेत्यर्थं । नृणां सखीजनानाम् विमनितानि नृत्यगीतादिषु व्यासक्तचित्ततया द्रष्टव्यान्तरदर्शने विमुखीभूतानि इत्यर्थं । विमनासि कृतानि इति विमनस्शब्दात् 'तत्करोति—'इति ष्यन्तादिष्टवद्भावे टिलोप, कर्मणि क्त । ईदृशानि लोचनानि यस्मिन् तादृशम्, अन्यत्रासक्तजनदृष्टिप्रमरमित्यर्थं । चणम् अवसरम्, प्राप्य लब्ध्वा, अन्यथा सखीनां तत्र दृष्टिपातसम्भवात्, दर्शित दृष्टिविषयोकारित, अघरे निजनिम्नौष्ठे, मद्भशो मत्कृतदर्शनच्छत यया सा तादृशी सती, यत् माम् अतर्जप अङ्गुलीमर्त्तनेन भर्त्सितवती, त्वमिति शेष । तत् स्मर चिन्तय ॥ ८५ ॥

समा (सब सखियोंकी उपस्थिति) में हो (सखी) लोगोंके (नृत्यादि उत्सव भादि देखतेमें) अन्यासक्त नेत्रके होनेपर (इस समय मेरे व्यापारको कार्यान्तरासक्त दृष्टिवाली वे सखियां नहीं देखती हैं ऐसी भावना होनेसे) अवसर पाकर अपने अघरमें किये गये मेरे दन्तहतको दिखानेवाली तुमने जो मुझे (अङ्गुलिसे) तर्जित किया, उमका ध्यान (स्मरण) करो । ८५ ॥

तथावलोक्य लीलाञ्जनालभ्रमणविभ्रमात् ।

करौ योजयताऽध्येहि यन्मयाऽसि प्रसादिता ॥ ८६ ॥

तथेति । हे प्रिये ! मया नलेन, तथा पूर्वोक्तरूप स्वरकृततर्जनम्, अवलोक्य इष्टा, लीलाञ्जस्य क्रीडापद्मस्य, यत् नालदण्डम्, नस्य भ्रमण घूर्णनमेव, विभ्रम विलास तस्मात्, तद्व्याजादित्यर्थं । करौ पाणी, योजयता मेलयता, अञ्जलि वधनता सता इत्यर्थं । यत् प्रसादिता प्रसन्नोक्ता, 'असि भवसि, तत् अध्येहि स्मर ॥

और उस प्रकार (२०।८५) देखकर, लीला-कमलके नाल (डण्डल) को घुमानेके विलास (छन) से हाथोंका जोड़ने हुए मैंने जो तुम्हें प्रमत्त किया, वैसे तुम स्मरण करो ॥

ताम्बूलदानं सन्यस्तकरजं करपङ्कजे ।

न मम स्मरसि ? प्रायस्तव नैव स्मरामि तत् १ ॥ ८७ ॥

ताम्बूलेति । हे प्रिये ! तव करपङ्कजे स्वल्पागिपद्मे, प्राय याहुत्येन, सन्यस्तकरजविरचितनखाङ्कम्, भगवद्वययोगेन कृतमृद्धाघातमि यर्थं । मम नलस्य, मत्कर्तृक मित्यर्थं । ताम्बूलदानं वीटिकार्पणम्, न स्मरसि ? न मनसि करोषि ? तव तेऽपि च, तत् तादृश करजच्छतपूर्वक ताम्बूलदानम्, नैव स्मरामि ? न ध्यायामि ? अपि ॥ स्मराभ्येव, उभयत्र वाक्, उभयमुभावपि स्मराव एवेत्यर्थं ॥ ८७ ॥

जब मैं पानका बीड़ा देता था, तब प्राय तुम्हारे कर-कमलमें इलका नखझल कर देता था, उमे तुम नहीं स्मरण करती ? और मैं बी तुम्हारे वसे (पानका बीड़ा देते समय मेरे हाथमें किये गये ध्रुव नराशनको) नहीं स्मरण करता हूँ ? अर्थात् जिस प्रकार मुझे उसका स्मरण है, उसी प्रकार तुम्हें भी उसका अवश्य स्मरण होना चाहिये ॥ ८७ ॥

तदध्येहि सृपोद्य मां हित्वा यच्च गता सखी ।

तत्रापि मे गतस्याग्रे लोलयैवाच्छिनस्तृणम् ॥ ८८ ॥

तदिति । हे प्रिये । सृपोद्य मिथ्यामापिगम्, किमपि तव अप्रियकार्यं कृत्वा नाहमेतत् कृतवानिति कथयन्तमित्यर्थः । मा नलम्, हित्वा विहाय, सखी, वयस्या, सखीसमीपमिर्यर्थः । गता प्रयाता, स्वमिति शेषः । तत्रापि सखीसमीपेऽपि गतस्य उपस्थितस्य, मे मम, अग्रे सम्मुखे, लीलया विनोदेन एव, यत् तृण शुष्कपत्रम्, अच्छिन्न खण्डितवती । बाला हि अन्योऽन्यविच्छेदसूचकं तृणच्छेदनं कुर्वन्ति, तृणद्वयं यथा विच्छिन्नं जातं तथा आवामपि विर विच्छिन्नौ इति स्थापनार्थमिति भावः । तत् सादृशं चेष्टितम्, अध्येहि स्मर । अधिपूर्वस्य इति स्मरणे इति घातोर-
दादित्वाज्ञोति द्वादश ॥ ८८ ॥

(किं तु तुम्हारे अप्रिय कार्यको करके 'मैंने यह कार्य नहीं किया' ऐसा कहनेसे) अमत्यभागी मुझको छोटकर (कोपने) सखियोंके पास गयी फिर तुमने वहा भी पहुँचे हुए मेरे मामले बर्थाव मुझे दिखाकर लीलायें ही तुमको जो तोट दिया उसे तुम स्मरण करो । [सखीसमूहने तो 'यह दमयन्ती की भावना ही हम तुम्हारे सोझा है, किसी अन्य विदेश अभिप्रायसे नहीं' ऐसा समझा, किन्तु तुमने 'हम तुम्हारे समान हमारा तुम्हारा सम्बन्ध विच्छेद हो गया' हम आशयसे उस तुमको सोझा । परन्तु हमें विरोध हो जानेपर बान्ध की 'आजसे हमारा तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं रहा' हम प्रकार कहते हुए तुम्हारे सोझे हैं, जन एव वयस्यस्का दमयन्तीका भी ऐसा करना उचित ही था ॥ ८८ ॥

स्मरसि प्रेयसि । प्रायस्तद्विद्वितीयरतामहा ।

शुचिराश्रीत्युपालब्धा त्वं मया पिक्वनादिनी ? ॥ ८९ ॥

स्मरसीति । प्रेयसि । प्रियतमे । द्वितीयस्य वारद्वयकृतस्य, रतस्य सुरतस्य, असादा दुर्बलत्वात् अश्रमा, अन्यत्र—अतपपरिमिततया . पूर्ववारसम्भोगेनैव अश्रसि तत्त्वात् अपर्याप्ता, पिक्वत् कोकिलवत् मधुरम्, नदति भाषते इति पिक्वनादिनी, अन्यत्र—पिक्वनाद कोकिलवति अस्ति अस्यामिति पिक्वनादिनी, एव भवती, प्राय वाहुवयेन, मया नलेन, शुचिराश्री ग्रीष्मराश्री, ग्रीष्मकालिकरात्रिस्वरूपा इत्यर्थः । 'तृदिकारादक्षिण' इति ङीप् । इति एवम् अन्त्या, यत् उपालब्धा तिर स्मृता, तत्कल्पाऽसि इत्यादिता इत्यर्थः । असीति शेषः । तत् स्मरसि ? अत्येयि किम् ? ॥ ८९ ॥

हे प्रियतमे ! (अत्यवयवका होनेसे) द्वितीय बार जिने गये सुरतको नहीं सहनेवाली तुमको मैंने कीकिल त्रिसर्ग बोली है ऐसी (पद्या—पिक्वके समान मधुरमापिणी) ग्रीष्मकी रात्रि कहकर उपालम्भ दिया था, यह तुम स्मरण करती हो ? [ग्रीष्मकालकी रात्रिमें भी वसन्तकालके आश्रयकालमें ही समाप्त होनेसे कोकिलका बोलनेका वर्णन करना

असङ्ग नही है । अथवा—ग्री‘मकाल’में कोकिलका बोलना सर्वथा असङ्गत माननेपर ‘अपिकनादिनी’ अर्थात् पिकमिन्न सारिका आदि पक्षी जिस रात्रिमें बोलनी है ऐसा तथा (पक्षा०—पिकमिन्न सारिकादिके समान बोलनेवाली) ऐसा अर्थ करना चाहिये । अथवा—ग्री‘मके बाद वर्षा ऋतुके आमन्त्र होनेसे ‘मयापिकनादिनी’ ‘मया+अपि+कनादिनी’ ऐसा पद त्रयच्छेद करके ‘कनादिनी’ आदिवा ‘जल्का’ आदि (ध्वनि) है जिसमें ऐसी, पक्षा०—जल्के समान ध्वनि करने (बोलने) वाली अककर क्रमशः ग्री‘मरात्रि तथा दमयन्तीका विशेषगानना चाहिये । प्रकृतमें जल्का ‘जिम प्रकार [पिकनादिनी या-अपिकनादिनी या-कनादिना] ग्री‘म ऋतुकी रात्रि छोटी हो’से एक बार रवि करनेमें हो समाप्त हो जाती है, उनी प्रकार पिकनादिनी (या-अपिकनादिनी, या-कनादिनी) तुम भी अवश्यवत्का होनेसे एक बार ही रवि करनेमें एक जानो हो’ ऐसा दमयन्तीको बपालम्भ होना समझना चाहिये] ॥ ८९ ॥

भुञ्जानस्य नव निम्ब परिवेषिपती मधौ ।

नपत्नीष्वपि मे राग सम्भाष्य स्वरूप स्मरे ? ॥ ९० ॥

भुञ्जानस्येति । हे प्रिये ! परिवेषिपती परिवेषण कुर्वती, परिपूर्वात् त्रिपधातो लुहोत्यादिगणीयात् शतरि रूपम् । स्वमिति शेष । मधौ वसन्तकाले, नव प्रत्यग्रम्, अभिनवोत्पलवात् कोमलमित्यर्थ । निम्बम् अरिष्टपत्रम्, व्यञ्जनीभूतमिति भाव । ‘वसन्ते भ्रमण पथ्यमथवा निम्बभोजनम्’ इत्यादि स्मरणात् । भुञ्जानस्य खादत, मे मम, मपानीषु समानपतिकासु अपरासु राज्ञीषु अपि, यद्वा—भुञ्जानस्य अन्वय इतर, मे मधौ चीन्नेत्यपि । ‘मस्तु-मनु-सोऽनु-शीघ्र-मानु-कमण्डलानि सपुसके च’ इति चङरात् पुनि येति पुष्टिता । * निम्ब पितुमर्दम्, ‘पितुमर्दं निम्ब’ इत्यमर । परिवेषिपती वृक्षी, स्वमिति शेष । मेने १षु अपि मे रागम् अनुरागम्, सम्भाष्य कृपयित्वा, कृता इति शेष, ‘वस्तुकर’ १ पथ्यमथवा निम्बभोजनम् । अथवा पुनरी भाषा अथवा बह्मिसेषु ? प्रादति शास्त्रात् मा वसन्ते निम्बभोजन कृतवन्त इष्ठा अन्यैश्चपि युवर्ताभावात् । सुपगता इति सम्भाष्य, अथवा शार्ङ्गामोदकादिक स्वादु त्र्यम् विहाय नितरा तिके यदा अस्य मधि, तदा मुरुपामपि मा विहाय अपहृष्टासु नम मदनीषु अस्यामिति नासम्भाष्या, लोकाना विभिन्नस्वमित्वादिति भाव । इत्यस्य आग्रम, एव रोषान्, स्मरे ? मनसि कुर्या म्नि ? ॥ ९० ॥

अन्त फलुमें नये नीम (क व्यञ्जन देने हुए कोमल पत्ती) को खाते हुए मेरे अनु र तथा सम्भावना सपत्नी क्रियोंमें भी करके बार-बार नीमको ही परोसती हुईं तुम अपने आशका स्मरण नहीं करती हो ? (अथवा—परोसती हुईं तुम वसन्त ऋतुमें नये नीमको भोजन करते हुए मेरे अनुरागका सम्भावना सपत्नियोंमें भी करके किये गये अपने कोपका स्मरण करती हो क्या ?) । [दमयन्तीने ऐसी सम्भावना इस कारण की कि—

‘यदि ये स्वादिष्ट उत्तमोत्तम भोजनको छोटकर बड़ नीम खा रहे हैं तो सम्भव है अनिष्टय सुन्दरी मुझको छोटकर मेरी अपेक्षा कम सुन्दरी सख्तियोंमें भी ये अनुराग करते हों ।’ और ऐसी सम्भावना करके ही क्रोधवश उनके लिए भोजनमें नीम ही परोसनी थी । किंतु वस्तुतः ऋतुमें नीमके नये कोमल पत्तेको घृतमें तन्दुर खाना रोगविनाशक होनेके कारण ही नल उमे खाते थे, अतः दमयन्तीका अनुमान अमन्य एवं भ्रमपूर्ण था] ॥ ९० ॥

स्मर शार्करमास्वाद्य त्वया राद्धमिति स्तुयन् ।

स्वनिन्दारोपरक्तात् यदभैप तवाधरात् ॥ ९१ ॥

स्मरेति । हे प्रिये ! स्वयां भवत्या, राद्ध पठम्, निष्पादितमित्यर्थ । शर्कराया विहार शार्कर शर्करावृत्त पानकादिक शर्करामिश्रित स्वयंजनविशेष वा, आस्वाद्य पीत्वा लीट्वा वा, स्तुयन् एतत् सर्वस्मात् अधिक स्वादु इति प्रशंसन्, अहमिति शेष । स्वनिन्दारोपेणैव स्वरय अधरस्यैव, निन्दया गृहणेन, अधरस्यापि सर्वान्त भूतत्वात् शार्करस्य प्रशंसया अधरस्य निन्दास्तुयनेनेत्यर्थ । यो रोप कोप, अधर-स्येति भाव । तेनैव रक्तात् अह्नात्, अह्नीभूतादिवेत्यर्थ । तव अधरात् मित्रौ छात्, यत् अभैप भीतोऽभूषम्, अहम् इति शेष । विभीतेर्दुःखं, निपि सिचि रूद्धि मादेशश्च । इति तु तच्च, स्मर चिन्तय ॥ ९१ ॥

शर्करके बनावे गये भोज्य पदार्थका आस्वादनका (यह तो मय मधुर रसवाने पदार्थोंसे अधिक मधुर है, इमे) तुलने पकाया है क्या ? इस प्रकार प्रशंसा करना हुआ मे (ये सभी मधुर पदार्थोंमें उत्तम इस शर्करके बने पदार्थोंसे ही बनकर रहे हैं, अतः एवं सब मधुर पदार्थोंके अनर्गल ही मेरे अधरको भी होनेसे मेरी (अधरकी) भी ये निन्दा करते हैं, इन मावनाने) अपनी निन्दाके कारण उत्पन्न क्रोधमे लाल हुए तुम्हारे अधरमे जो डर गया, उमे तम स्मरण करो । [क्रोधमे दमयन्तीका अधर स्फुरित होना देखकर नलको भयान होने का समझना चाहिये । क्रोधमे मुखादिक रक्तवर्ण होना सर्वानुभवमिति है] ॥ ९१ ॥

मुखादारभ्य नाभ्यन्त चुम्ब चुम्ब न तृप्तवान् ।

न प्राप चुम्बितु यत्ते धन्या तच्चुम्बतु स्मृतिः ॥ ९२ ॥

मुखादिति । प्रिये ! मुखात् तव वदनात्, आरभ्य उपक्रम्य, नाभ्यन्त नाभि पर्यन्त कुचादिभ्यः अङ्गम्, चुम्ब चुम्ब पुन पुन चुम्बित्वा चुम्बित्वा । आभीक्ष्ण्ये णमुल् । न तृप्तवान् अपूर्णाकाङ्क्ष सन्, ते तव, यत् रतिगृहरूपमङ्गमित्यर्थ । चुम्बितु चुम्बन कर्तुम्, न प्राप न अलभिमि, अहमिति शेष । पाण्यादिना प्रतिबन्धात् तृप्तातिशयात् गोपितत्वात् अपापिष्टनिषेधादिति वा भाव । तत् रतिगृहरूप तवाङ्गमित्यर्थ । धन्या मया अप्राप्तस्यापि लाभान् भाग्यवती, स्मृति तव स्मरणशक्ति, चुम्बतु स्पृशतु, तव स्मृतिविषयीमवतु इत्यर्थ । अङ्कतचुम्बन तदङ्क

१ ‘चुम्बनतृप्तवान्’ इति पाठान्तरम् ।

स्मरेति भावः । सर्वभौमस्यापि मे यद्वज्रसुम्बने योग्यतामाव, धन्या ते स्मृति स्तद्वज्र विनैव किञ्चिदपि प्रतिबन्धकं सुम्बितु समर्था इति स्मृतेर्धन्याव योद्धव्य मित्याशयः ॥ ९२ ॥

सुपमे लेकर नाभिनक (तुम्हारे अर्द्धोका बार-बार) सुम्बनकर (लज्जावश तुम्हारे हाथ या बगलदिसे आच्छादित करनेसे या पुणके निषेधमे) जिस अन्न (तुम्हारे मदन मन्दिरे) को सुम्बन करनेके लिए मैंने नहीं पाया, उसे तुम्हारी भय स्मृति सुम्बन करे अर्थात् तम लारकाहिक उस अवस्थाका स्मरण करो । [सावभौम होकर भी जिसे मैं नहीं पा सका, उसे तुम्हारी स्मृति प्राप्त कर रही है, अत एव वह स्मृति धन्य है] ॥ ९२ ॥

कमपि स्मरकेलिं त स्मर यत्र भवञ्जिति ।

मया विहितसम्बुद्धिर्ब्रीडिता स्मितवत्पमि ॥ ९३ ॥

कमिति । हे प्रिये ! कमपि अवाच्यम्, नम् अतिशयेनानन्दप्रदम्, स्मरकेलिं कामक्रीडाम्, विपरीतसुरतमिति भावः । स्मर स्मृतिविषयीभूतं कुरु, यत्र यस्मिन् स्मरकेलौ, यस्मिन् पुरपायिते त्वयि इति वा, मया हे भवन् । इति पृथम्, विहिता पुरुषवत् आचरणात् पुरिल्लभित्वंशेन कृता, सम्बुद्धि आमन्त्रणयस्या सा तादृशी, त्वमिति शेषः । ब्रीडिता लज्जिता । स्मितवती स्मरैपुण्यप्रदर्शनजनित हर्षात् ईपत् स्मितवती च, असि भवमि, पुरपायितत्वात् ब्रीडा हर्षात् स्मितम् इति बोध्यम् ॥ ९३ ॥

तुम उम किती (अनिवंचनीय) कामक्रीडा अर्थात् विपरीत रतिरा स्मरण करो, जिस (कामक्रीडा—विपरीत रति) में (पुरुषायिन होनेसे खोवाचक 'भवति' पदमे सम्बोधित न करके) मेरे द्वारा (पुरुषवाचक) 'भवन्' इस पदमे सम्बोधित तुमसे लज्जित होकर मुस्करा दिया ॥ ९३ ॥

नीलदा-चित्रुक यत्र मदाक्तेन श्रमाश्रुना ।

स्मर हारमणौ हृष्ट म्वमास्यं तत्क्षणोचितम् ॥ ९४ ॥

नीलदिति । हे प्रिये ! यत्र यस्मिन् विपरीतस्मरकेलौ, मदाक्तेन स्वकपोलकृत पद्मभङ्गकस्तूरीचूर्णकलुषितेन । 'मदो रेतमि कस्तूर्याम्' इति विश्वः । श्रमाश्रुना श्वेदोदकेन, आचित्रुकम् अधरोष्ठाद्य प्रदेशपर्यन्तम् । 'अधस्तात् चित्रुकम्' इत्यमरः । नीलत् नीलीमवत्, अत एव सज्जितरमयुकवत् प्रतीयमानमिति भावः । नील वर्ण इति धातोर्लट् शत्रादेशः । तत्क्षणोचितं तत्कालयोग्यम्, विपरीतकेलौ पुरुषवत् तव उपरि अरुस्थानेन कपोलनिरालम्बदाक्षधर्मोदकाना द्रवत्वेन निम्नगामित्वाच्च पुरुष

१ 'नीलजातम्भ्रु' इति पाठान्तरं दुर्बोधम् ।

२ 'नीलदु, आचारीविषयन्ताच्छ्रुता' इति 'प्रकाशः' ।

योग्यश्मश्रुलनिर्वेति भाव । एवं निवृत्तम्, वास्यं मुखम्, हारमगौ हारम्यन्तर-
मप्ये, अथ म्यिनस्य ममेति भाव । इत्यन् अवलोकितम्, स्मर विन्त्य ॥ ९१ ॥

त्रिम (अनिर्वचनीय कालक्रीडा—विहारी रति) में कस्तूरीने पुन पसीनेने दुब्दोत्क
नीचा होने हुए (अत एव दाक्षीने केशजुल—सा प्रतीतमान) वम-सनद (अथवा—वन्ध
अथवा विहारी रति) के योग्य (अथ म्यिन मत्) हारके मणिमें (प्रतिनिवेश होनेने)
स्वय देखे गये अपने मुखका पुन स्मरण करो । [विहारी रति करते मनन कर हुन्ने
पसीना जाने लग, तब हुन्हारे केशके कालक्रीडा कस्तूरीरहित स्फुरिकादिबिहारी कस्तूरी पसीनेने
आर्द्र होकर दुब्दोत्क पैठ गयी, जो दर्शित होनेने पुन्यापित हुन्हारे छिने लविन था,
क्योंकि पुनपरी दाक्षीने कृपावां बाध होना ही है, ऐसे करने मुखको हुन्ने मन्वित्र मै
हाररत्नमें देखा था, उसे स्मरण करो] ॥ ९४ ॥

(स्मरे तम्रखनप्रारौ कस्ते धा (दा) त्रिति तन्मृषा ।

ह्रीद्वनमलुम्पं यद् अनं रतपरोक्षजम् ॥ १ ॥)

स्मरेति । अश्रुमद्रास्मिन्ने तत्रोरौ को वनमघा (दा) द् इति वानिनि मृषा अम-
भाषी मन् ह्रीरेव दैवत यम्प तत्, अत एव रतन्प परोक्षः परोक्षहरां प्रकृष्यं-
रूप सुरतप्रतिषेधक अन नियम यदलुम्पं निर्वर्तिनवान् तस्मर । परपुत्रमन्त्रक-
शङ्कोत्पादनाय मृषामाषीन इमान्तरमुपाय कृपाकृतं सुरतप्रतिषेधकमनुष्ठानं
पश्चिर्वर्तिनवान्स्मर । अनं मदैवत मवर्तनि ह्रीदैवतमिषुक्तम् ॥ १ ॥

हुन्हारे इन करने किमने नल्लुम्प किदा ? इन प्रकार मिथ्या भाषण करना हुआ
नै लजा हा है दैवता त्रिमका पैठा, रतको परोक्ष करनेवाला; अर्थात् मन्त्रवैषय प्रकृष्य
को छोडा, वने पुन स्मरण करो । [परपुत्रकी बड़ा रतिमान्ने ही हुन्हारे करने मन्त्र
करनेके छिने मिथ्याभाषणने जो रमन्तरको पैठाकर लज्जित सुरतबाधक हुन्हारे मन्त्र-
हरा नहीं करनेके अन (प्रकृष्य) को नष्ट किना अथवा सुरतकारने मन्त्र किना उसे
स्मरण करो] ॥ १ ॥

वनकेतौ स्मराश्च यदलु मूपनित प्रति ।

देहि मन्त्रमुदस्तेति मद्गिरा श्रीहिताजमि यन् ॥ ९५ ॥

वनैति । हिन्द, हे वाहसीने ! वनकेतौ मन्त्रद्वनविहारकाये, मन्त्रित वृषात्
मूलछे च्युतम्, अक्षयदलम्, अथ यन्त्रम्, प्रति वदिर, उदस्य उदृष्टप, एन्द-
क्षयपत्रमिति दीप । मन्त्र नयाय, देहि अप्यं, इति उक्तरूपया, महिरा ममेवता,
यत् श्रीहिता एहिता, अग्नि भवति, रहस्यान्त्य अथ यन्त्रमृतिदुश्नतया तदावने
रहस्यान्त्यावतानिमायज्ञानादिनि भाव । तत् स्मर विन्त्य । अथ मानुषिका-

१ अयं रतको 'प्रकाश' व्याख्यया सहैवात्र मया निहितः ।

‘अश्वत्थदलमद्वाश गुल्य गूढमनिक्षिप्तम् । यस्या सा सुमगा कन्या पूर्वपुण्यैरवा
प्यने ॥’ इति ॥ ९५ ॥

उद्यानमें विहारके समय भूमिपर गिरे हुए पीपलके पत्तेको लक्ष्यकर ‘इसे ठठाकर मुझे
दो’ ऐसे कहे गये मेरे वचनसे जो तुम लजित हुई, उसका स्मरण करो । [पीपलके पत्तेने
ममान स्त्रीका मदनमन्दिर होनेके कारण नलके परिहामात्मक अभिप्रायको समझकर
दमयन्तीका लज्जित होना उचित ही था] ॥ ९५ ॥

इति सस्या रहस्यानि प्रिये शसति साऽन्तग ।

पाणिभ्या पिदधे तस्या अजसी ह्रीवशीकृता ॥ ९६ ॥

हनीति । प्रिये नले, तस्या भैया, रहस्यानि गुप्तचेष्टितानि, इति इत्थम्,
शसति कथयति मति, सा भेमी, ह्रीवशीकृता लज्जापञ्चशा सती, अन्तरा कथामन्ये,
तस्या कलाया, अजसी कर्णौ, पाणिभ्या स्वकराभ्याम्, पिदधे छ्दादयामास । इतोऽ
धिरु रहस्य कथयिष्यति चेत् तदजया न श्रोतव्यमिति बुद्धयेति भावः ॥ ९६ ॥

प्रिय (नल) के इन प्रकार (२०१७४-९५) वस (दमयन्ती) के रहस्यों (पकानने
किये गये छुल्लचुल्लों) को कहते रहने पर वस (दमयन्ती) ने बीचमें (नलका कहना पूरा
होनेके पहले) ही लज्जाके नशीभूत हो सकी ‘कला’ के दोनों कानोंको दोनों हाथोंसे बन्द
कर दिया । [अब यह इनके कहे हुए अश्वत्थीय अत्यन्त गुप्त रहस्योंको भा सुनेगी,]
आशयसे दमयन्तीने ‘नल’ के दोनों कानोंको अपने दोनों हाथोंसे बन्द कर दिया] ॥

कर्णौ पीडयती सस्या वीक्ष्य नेत्रासितोत्पले ।

अप्यसादयता भैमी-करकोकनदे नु तौ ? ॥ ९७ ॥

कर्णाविति । सस्या कलाया, नेत्रे लोचने एव, असितोत्पले नीलसरोजे, कर्णौ
कलाया एव अवणगुगलम्, पीडयती अभिभवती, आक्रम्य पीडन कुर्वतीत्यर्थः ।
आकर्णविश्रान्ते इति भावः । वीक्ष्य दृष्ट्वा, भैम्या दमयन्त्या, करान्नेष पाणिगुगल
मेघ, कोकनदे रक्तोत्पले अपि । कर्तुंणी । ‘अथ रक्तसरोरुहे रक्तोत्पले कोकनदम्’ इत्य
मर । नौ कर्णौ, असादयता स्वयमपि समत्परे एव अपीडयताम्, न किम् ?
इत्यु प्रेक्षा ॥ ९७ ॥

सगी ‘कला’ के दोनों कानों- (उसीके) दोनों नेत्ररूपी नीलकमल पीडित कर रहे
हैं (यह एव मशानाय नेत्ररूपी नीलकमलोंके साथ स्पर्श होनेसे या-उनकी सहायता करने
के लिए) दमयन्तीके दोनों हाथरूपी रक्तकमलों ने भी उन (कलाके दोनों कानों) को
पीडित किया क्या ? [कलाके नेत्ररूपी नीलकमलों द्वारा उसीके कानोंको पीडित करना
कश्नेने ‘कला’ के नेत्रद्वय नीलकमलतुल्य एव काननक बड़े-बड़े हैं, यह सूचित होता है ।
सशानाय कलाके नेत्ररूपी नीलकमलोंके साथ दमयन्तीके हस्तद्वयरूपी रक्तकमलोंकी स्पर्श
या उनकी सहायता करना उचित ही है] ॥ ९७ ॥

तत्प्रविष्ट सखीकणौ पत्युरालपित हिया ।

पिदधाविव वैदर्भी स्वरहस्याभिसन्धिना ॥ ९८ ॥

कर्णशीढने तत्प्रेक्षान्तरमाह—तदिति । वैदर्भी भैमी, सखीकणौ कलाया ध्वज-
युगलम्, प्रविष्ट टौकितम्, पत्यु नलस्य, तत् पूर्वोक्तम्, आलपित निजरहस्यभाषि-
तम्, हिया लज्जया, स्वरहस्यस्य निजगुह्यन्यापारस्य, धामिमन्धिना निगूहनाभि-
प्रायेणेव, बहिर्निर्गमननिरोधामिप्रायेणेवेत्यर्थः । पिदधौ आच्छादयामास, स्वरहस्य-
गोपमाय इव कर्णनिधानमकरोदित्युपेक्षा । यया कश्चित् निगोपनीय द्रष्टुं छिप्या-
दिकृ वा पेटिकादौ संस्थाप्य तस्य बहिः प्रकाशननिरोधार्थं पिधानेन सुदृढं पिदधानि
तद्वदिति भावः ॥ ९८ ॥

दमयन्तीने (मखीके कानोंमें) प्रविष्ट अर्थात् कण्ठसे नुनै मये पति (नन्) के उम
कथन (रहस्य वृत्तान्त) को मानो अपने रहस्यके अभिप्रायसे (यह अतिशय रहस्य कि-
कानमे बाहर न निकले अर्थात् इने कोई दूसरा भी नुनकर मालूम न करले, इस आशयसे)
मखी 'कला' के दोनों कानोंको बन्द कर लिया है । [लोकमें भी किसी गोप्य वस्तुको
किसी वर्तनमें रखकर 'दूसरा कोई इने मालूम न कर सके' इस अभिप्रायसे उसके ऊपरी
भाग (मुख) को जिस प्रकार बन्द कर दिया जाता है उसी प्रकार मानो दमयन्तीने भी
कलाके कानरूपी वर्तनमें प्रविष्ट नटका रहस्यवृत्तान्तरूप गुप्त पदार्थको छिरानेके अभिप्रायसे
इने बन्द कर दिया है] ॥ ९८ ॥

तमालोफ्य प्रियाकेलिं नले सोल्लुण्ठदासिनि ।

आरात्तत्त्रमबुद्ध्वाऽपि सख्य सिस्मियिरेऽपरा ॥ ९९ ॥

तमिति । त पूर्वोक्तम्, प्रियाया भैम्या, केलिं सखीकर्णविधानरूप विनोदम्,
आलोच्य बीषय, नले नैपथे, सोल्लुण्ठ सपरिहासम्, हसति हास्य कुर्वतीति तादृसी
सति, आराध दूरात्, अपरा क्लेशरा, सख्य वयस्या, तत्र यथार्थन्यापारम्,
अबुद्ध्वाऽपि अज्ञात्वाऽपि, सिस्मियिरे जहसु । नलस्य हास्यमात्रदर्शनात् ता अपि
हसितवत्य इत्यर्थः । हरयते च लोके ईदृशान्यापारो नियतमेव ॥ ९९ ॥

प्रिया (दमयन्ती) की वह केलि ('कला' के कानोंको बन्द करना) देखकर नन्के
परिहासपूर्वक (हा-उच्चस्वरसे) हसनेपर दूरसे अर्थात् दूर स्थित रहनेमे वाग्मविद्वान्को
नहीं जानकर भी (नन्को हँसना हुआ देखकर ही) दूसरा सखियोंने भी मुस्करा दिया ।
[लोकमें भी किसी एकको हँसने देखकर दूसरे लोग हसनेके कारणको नहीं जानते हुए
भी हँस देने ह, अतः एक दमयन्तीकी दूरस्थ अन्य सखियोंका वैशा करना उचित ही था] ॥

दम्पत्योरुपरि प्रीत्या ता घराप्सरसस्तयो ।

वयुष्मिस्तपुष्पाणि सुरभीणि सुरानिलै ॥ १०० ॥

दम्पत्योरिति । ताः पूर्वोक्ता, धराप्सरस मूलोकसुराङ्गनासदृश्य सस्य, दम्पत्यो जायापत्यो, तयो दम्पयन्तीनलयो, उपरि ग्रीत्वा हर्षेण, तयोर्व्यापारदर्शनजनितानन्दनेत्यर्थः । मुस्तानिले नि श्वासमारुत, सुरभीणि सुगन्धीनि, स्मितानि एव ईषद्भसितान्येव, पुष्पाणि सितकुसमानि, कविभिर्हास्यस्य घवलतया कीर्त्तनादिति भावः । ववृषु सिपिषु । सख्यस्तौ सस्मितमन्त्रलोकयामासुरिति निष्कर्षः ॥ १०० ॥

पृथ्वीकी अप्सराएँ (अप्सराओंके समान सुन्दरी) वे सखियाँ उन दम्पति (नल तथा दम्पयन्ती) के ऊपर (उनके व्यापार देखनेसे उत्पन्न) हर्षसे नि श्वाससे सुगन्धित स्मित रूप पुष्पोंकी बरसाया । [भिन्न प्रकार देवाङ्गनाएँ किसी भाग्यवान् दम्पतिके ऊपर प्रसन्न होकर सुगन्धित पुष्पोंकी बरसाती हैं, उसी प्रकार सखियोंने किया । सब सखियाँ नल तथा दम्पयन्तीकी स्मित बरती हुई देखने लगी] ॥ १०० ॥

तदास्यहसिताब्जात् स्मितभासामभासत ।

आलोकादिषु शीताशो कुमुदध्रेणिजृम्भणम् ॥ १०१ ॥

तदिति । तस्य नलस्य, भास्ये वदने, यत् हमित हास्य तस्मात् तदास्यदर्शनादित्यर्थः । जातम् उत्पन्नम्, भासा सखीनाम्, स्मित मृदुहास्यम् शीताशो चन्द्रस्य, आलोकात् प्रकाशात्, जातमिति शेषः । कुमुदध्रेणीनां कैरवपद्मीनाम्, जृम्भण विकास इव, अभासत अशोभत ॥ १०१ ॥

उन (नल) के मुखके हासमे उत्पन्न इन (सखियों) का स्मित चन्द्रमाके देखनेसे कुमुद-मनूषके विकासके समान शोभित हुआ । [इससे सखियोंकी अपेक्षा नलका अधिक श्रुता मूचित होता है] ॥ १०१ ॥

प्रत्यभिज्ञाय विज्ञाऽथ स्वर हामविकस्वरम् ।

सत्यास्तासु स्वपक्षाया कला जातबलाऽजनि ॥ १०२ ॥

प्रत्यभिज्ञायेति । अथ सखीनां हासानन्तरम्, विज्ञा अभिज्ञा, सुचतुरोत्पर्थः । कला कलाप्या सखी, तासु स्मितकारिणीषु सखीषु मध्ये, स्वपक्षाया स्वसहायाया, निजमुद्बुद्धभूताया इत्यर्थः । 'पक्षो मासार्द्धके पार्ष्णिग्रहे साध्यविरोधयो । केशादे परतो वृन्दे बले सखिमहाययो ॥' इति मेदिनी । सख्या कस्याश्चित् वयस्याया सम्यन्धिनम्, हासेन हास्यशब्देन, विकस्वरं प्रकाशमानम्, स्वर ध्वनिम्, प्रत्यभिज्ञाय समैव प्रियसख्या स्वरोज्यमिति निश्चित्य, जातबला प्राप्तसामर्थ्या, दम्पयन्तीकरनिरङ्गमिजर्णमोचने इति भावः । अजनि जाता । जने कर्त्तरि लुङ् । 'दीप जन—' इत्यादिना चले घिणि तलुकि रूपम् ॥ १०२ ॥

इम (सखियोंके स्मित करने) के बाद अतिशय चतुरा कला उन सखियोंमें अपने पक्षवागी सखीके हासमे स्पष्ट स्वरको पहचानकर (अब वह मेरा पक्ष लेगी और मैं

दमयन्तीसे अपने बन्द हुए कानोंको खुला मढ़ागो हम अभिप्रायने) बलवुक्त हो गयी ।
[लोकमें भी आपद्ग्रस्त कोई व्यक्ति अपने पशुके व्यक्तिको देखकर आपत्तिसे घृष्ट जानेकी
आशासे सबल हो जाता है । दमयन्तीके कोमल हाथोंने कलाके कान अच्छी तरह नहीं बन्द
हुए थे, अतः उसने छविघोंने-से स्टाट हमनेदाली अपने पशुकी सखीके हासको सुनकर बने
पहचान लिया, अथवा—दमयन्तीके हाथोंने कानोंको बन्द होनेने पहले ही सुनकर बने
पहचान लिया, ऐसा समझना चाहिये] ॥ १०२ ॥

साऽऽहूयोच्चरयोचे तामेहि स्वर्गेण वञ्चिते । ।

पिब घाणी सुधावेणीर्नृपचन्द्रस्य सुन्दरि । ॥ १०३ ॥

सेति । अथ स्वरप्रत्यभिज्ञानान्तरम्, सा कला, तां सखीम्, उच्यै तारम्,
आहूय आकार्य, हे स्वर्गेण स्वर्गसुखेन, स्वर्गसुखजनकनलवाक्याश्रयगेनेत्यर्थ ।
वञ्चिते । प्रतारिते । सुन्दरि । हे सौन्दर्यशालिनि । पृष्टि आगच्छ, नृपचन्द्रस्य
राजेन्द्रो सम्बन्धिनी, घाणी वाक्यस्वरूपा, सुधावेणी अमृतसरप्रवाहान्, पिब
स्वद, यथेष्टम् आकर्ण्य इति यावत्, इति ऊचै कथयामास, स्वर्गे चन्द्रात् मि स
तस्य अमृतस्य तुल्य राजचन्द्रमुखात् उद्गता वाक्यसुधाप्रवाहम् अनुभूय स्वर्गसुख-
मनुभवेत्यर्थ ॥ १०३ ॥

इम (स्वपत्नीया सखीको पहचानकर साहज भा जाने) के बाद उस 'कला' ने उसे
(स्वपत्नीया सखीको) ऊँचे स्तरमें पुकार कर कहा—(दूरस्थ होनेके कारण) हे स्वर्ग
वञ्चिनी सुन्दरी ! आओ नृपचन्द्र (नर) के अनृतप्रवाहरूप वचनोंका पान करो अर्थात्
इसके अनृतशुभ्र कर्मधुर वचनोंको सुनो ॥ १०३ ॥

साऽऽमृणोत्तस्य बाग्भागमनत्यासत्तिमत्यपि ।

कल्पप्रामाल्पनिर्घोष बदरीव कृशोदरी ॥ १०४ ॥

सेति । कृशोदरी शीगमध्या, सा आहूता सखी, अनत्यासत्तिमती अपि इंपद्-
रक्षा अपि, तस्य मलस्य, बाग्भाग तत पर कथित वाक्याशम्, कल्पप्रामस्य
वदरिसमीपवर्त्तिनः कल्पपाच्यस्य प्रामस्य, अल्पनिर्घोष मन्दध्वनिम्, किञ्चिद्दूरवा-
दनुच्चकलरवमित्यर्थ । बदरी इव वदरिकाश्रमस्यलोकसमूह इव, अमृगोत् आकर्ण-
यत् । सनिहृष्टेयु ग्रामेषु यथा परस्परमालापा श्रूयन्ते तद्वदश्रीपीडित्यर्थ ॥ १०४ ॥

इम (कलाके पुकारने) के बाद कुछ दूरपर स्थित श्री कृशोदरी उस (कलाकी सखी)
ने उम (नर) के वाक्याश (अवदित वाक्य) को उस प्रकार सुना, जिस प्रकार थोड़ी
दूरपर स्थित खलजनयुक्त वदरिकाश्रमके लोग 'कल्पप्राम' (या—कल्पनामक ग्राम)
के जनस्वको सुनते हैं । ['वदरिकाश्रमवासी लोग थोड़ी दूरपर स्थित 'कल्पप्राम' के
सुनियोंकी कलकल ध्वनि सुनते हैं' ऐसी वहाँके शीर्षवासी लोगोंमें प्रसिद्धि है] ॥ १०४ ॥

अथ स्वपृष्ठनिष्ठाया शृण्वत्या नेपधामिधा ।

नलमौलिमणौ तस्या भावमाकलयत् कला ॥ १०५ ॥

अथेति । अथ सप्त्याह्वानानन्तरम्, कला तन्नामसखी, स्वपृष्ठनिष्ठाया नित्यपञ्चाङ्गागस्थिताया, दर्पणपिधानार्थं कलाया एव पश्चाद्देशे अवस्थिताया सख्या इत्यर्थः । नेपधस्य नलस्य, अमिषीयन्ते इत्यमिधा वचनानि । 'आतश्चोपसर्गे' इति अङ्गप्रत्ययः । शृण्वत्या आकर्णयन्त्या, तस्या, भैरव्या, भाव कोपादिचेष्टाम्, नलस्य नपधस्य, मौलिमणौ मुकुटस्थरत्ने, आकलयत् अपश्यत् । पुरोवर्तितया तत्र तस्या प्रतिकलनादिति भावः ॥ १०५ ॥

एत (सखीको कुलाने, या—सखीद्वारा नलोक्त शेष वाक्यको सुनने) के बाद 'कलाने अपने पीछे रियत हुए तथा नलके (अवशिष्ट) बातको सुननी हुई उस (दमयन्ती) की चेष्टा (नलोक्त अवशिष्ट बातको सुननेमें उत्पन्न हुए क्रोधादि भाव) की (अपने सामने बैठे हुए) नलके मुकुटमें जटे हुए रत्नोंमें (प्रतिबिम्बित होनेसे) देखा, (किन्तु नलोक्त अवशिष्ट वचनको अपना कान दमयन्तीके श्रोत्रोंमें बन्द रहनेके कारण सुना नहीं) ॥ १०५ ॥

प्रतिबिम्बेक्षितै सरया मुखाकृतै कृतानुमा ।

तद्व्रीडाद्यनुकुर्वाणाः शृण्वती चान्वमायि सा ॥ १०६ ॥

प्रनोति । सा कला, प्रतिबिम्बे नलमौलिमणितत्सखीप्रतिचित्रायाम्, ईदृशै ह्ये, सरया भैरव्या, मुखाकृतै छत्रारोपादिभ्यञ्जकवदनमङ्गिभि लिङ्गै, कृतानुमा हृदिमिदमय वक्षीति विहितानुमाना, दमयन्तीकृतं कर्णपिधानेन अवगतासामर्थ्या दिनि भावः । अत एव तस्या दमयन्त्या, व्रीडादि छत्रास्मितादिभावम्, अनुकुर्वाणा अनुकरणशीला सती, दमयन्त्यनुकरणेन स्वयमपि नादत्तभाव प्रत्ययन्ती मतीत्यर्थः । 'तादृशीत्यवयवचनशक्तिषु' इति तादृशीत्ये चान्वश्, अन्यथा 'अनुप राग्या कृत' इति परस्मैपदप्रसङ्गात् । शृण्वती इव साहाचार्ययन्ती इव, कर्णयो विहितयोरपि नभ्रवचनस्पष्ट शृण्वती इवेत्यर्थः । अन्वमायि अनुमिता, तद्वदमयन्तीम्यामिति शेषः ॥ १०६ ॥

(सामने बैठे हुए नलके मुकुटमणिके) प्रतिबिम्बमें देखे गये उस (दमयन्ती) के मुखके भावों (नलोक्त शेष रहस्यको सुननेमें उत्पन्न हाम क्रोधादि चेष्टाओं) से अनुमान करके उस (दमयन्ती) की नल आदिका अनुकरण करनी हुई उस (कला) को (नल तथा दमयन्तीने नलोक्त अवशिष्ट वचनको) सुननी हुई—सा समझा । [यद्यपि अपने बानोंको बन्द रिये जानेसे कलाने नलोक्त शेष बातको नहीं सुना, किन्तु उसको सुनकर ही गयी पृष्ठस्थ दमयन्तीकी चेष्टाओंको सम्मुखस्थ नलमुकुट रत्नमें देखकर वैसा ही अनुकरण करने लगी, जिससे नल तथा दमयन्तीने अनुमान किया कि वह कला कान बन्द करनेपर भी नलोक्त वचनको सुन रही है] ॥ १०६ ॥

कारङ्कार तथाऽऽकारमूचे साऽशृणवन्तमाम् ।

मिश्या वेत्थ गिरश्चेत्तद्व्यर्था स्युर्मम देवता ॥ १०७ ॥

कारङ्कारमिति । सा कला, तथाऽऽकार पूर्वोक्तरूपमनुकरणमित्यर्थः, कार कार कृत्वा कृत्वा । आभीक्ष्ण्ये णमुल् । अशृणवन्तमा भवदुक्त सर्वमतिशयेनाकर्णयम्, अहमिति शेषः । श्रुतेर्लङि मिपो मादेशः, 'किमेत्तिङ्ययधात्—' इत्यामुप्रत्ययः । इति ऊचे कथयामास, चेत् यदि, गिर अशृणवन्तमाम् इति वाच, मिश्या अनृतम्, वेत्थ जानासि, मन्यसे इत्यर्थः । तत् तदा, मम मे, देवता उपास्यदेवता, व्यर्था विफला, विफलोपासना इत्यर्थः । विशिष्टार्था इत्यपि निगूढार्थो गम्यते, विशिष्टार्थसाधिका इत्यर्थः । स्यु भवेयु ॥ १०७ ॥

वैने अनुकरणको बार बार करके कलाने कहा कि (मैंने नलके कहे हुए अवशिष्ट रहस्य वृत्तान्तोंको भी) मन्यक् प्रकारमे सुन लिया, यदि (तुम मेरी) बातको असत्य जानती हो तो मेरे देव व्यर्थ (निष्फल, पश्चात्—विशिष्ट अर्थवाले अर्थात् विशेष कार्यसाधक) होंगे ॥ १०७ ॥

मर्कणभूषणानान्तु राजन् ! निबिडपीडनात् ।

व्यधिष्यमाणपाणिस्ते निपेद्धुमुचिता प्रिया ॥ १०८ ॥

मविति । तु किन्तु, राजन् ! हे महाराज ! मर्कणभूषणाना मम श्रवणालङ्काराणाम्, निबिडपीडनात् दृढभावेन धारणात्, कर्णपिधानार्थमिति भावः । व्यधिष्यमाणपाणि तोरुष्यमाणकरा, ते तव, प्रिया कान्ता भैमी, निपेद्धु कर्णपिधानात् निवारयितुम्, उचिता कर्णभ्या, मया युवयो रहस्यस्य सर्वस्यापि श्रुतात्वात् कर्णपिधानस्य स्वपाणिपीडनादतिरिक्तफल नास्तीति भावः ॥ १०८ ॥

हे राजन् ! मेरे कानके भूषणोंमे (विशेष दबनेके कारण भविष्यमें) व्यधायुक्त होनेवाले हैं हाथ जिसके ऐसी अपनी प्रिया (दमयन्ती) को आप निषेध करें । [आपकी प्रिया दमयन्तीके द्वारा कानोंके बन्द करनेपर भी मैंने जब आपकी अवशिष्ट बातोंको सुन ही लिया, अतः मेरे कानोंको तुकुमार हाथों से अधिक विचित्र तक बन्द करनेके कारण उनमें पीडा होने लगेगी, इस बीस्ते आपको उचित है कि निष्फल एवं दुःखान्न कार्य करनेवाली अपनी प्रियाको रोकें] ॥ १०८ ॥

इति सा मोचयाञ्चक्रे कर्णां सख्या करग्रहात् ।

पत्युराश्रयता यान्त्या मुधाऽऽयासनिषेधिन ॥ १०९ ॥

इतीति । सा कला, इति इत्यम्, एवविधवचनकौशनेनेत्यर्थः । मुधाऽऽयास वृथावशेषम्, निषेधति निवारयति, कलया सर्वस्यैव वृत्तान्तस्य यथावत् श्रवणात् मिश्या कर्णावरणपरिधम मा कुर्विति वारयतीति तादृशस्येत्यर्थः । पत्यु नलस्य, आश्रयता वाक्पकारित्वम्, 'वचने स्थित आश्रय' इत्यमरः । यान्त्या प्राप्नुवत्या,

भक्त रादेतात् कर्णोत्पन्नया इत्यर्थः । सख्या मैत्र्या , करग्रहात् हस्ताभ्या धारणात् ,
कर्णौ निजध्वजद्वयम् , मोचयाञ्चके मोचितवती ॥ १०९ ॥

उस 'कला' ने देता (२०१२०७-१०८ कइकर) निरर्थक परिश्रमसे निषेध बरनेवाले
पति (नल) का कहना माननेवाली सखी (दमयन्ती) के करग्रहण (हाथोंसे बन्द करने)
से अपने कानोंको छुड़ा लिया । ['जब कान बन्द करनेपर भी यह कला मेरी बातें छन ही
रही है, तब अविध्यमे इतनीपीढाबनक ऐसा काम करना छोड़ दो' ऐसा नलके वचनको
मानकर दमयन्तीने कलाके कानोंको छोड़ दिया] ॥ १०९ ॥

श्रुतिसरोधजध्वानसन्ततिच्छेदनालताम् ।

जगाम भटिति त्यागस्वनस्तत्कर्णयोस्ततः ॥ ११० ॥

श्रुतिः । तत् कर्णमोचनान्तरम् , तस्या कलाया , कर्णयो ध्वजयो , स्रदिति
सहसा , त्यागेन मोचनेन , य स्वन शब्दः , श्रुतिविवरं प्रविष्ट बाह्यशब्द इत्यर्थः ।
श्रुतिसरोधेन कर्णावरणेन , जाताया उत्पन्नाया , ध्वानसन्तते 'धुम् धुम्' इत्यादि
रूपध्वनिपरम्पराया छेदे विरामे , तालता गीतादिक्रियाभ्युत्पन्नकालिकमानरूपताम् ,
जगाम प्राप । बाह्यशब्देन आभ्यन्तरध्वनिनिवृत्त इत्यर्थः । एतत्तु सर्वेषामेवानुभव
सिद्धमिति बोद्धव्यम् ॥ ११० ॥

वम (दमयन्तीसे कानोंको छुटाने) के बाद (अथवा—बड़ा हुआ), उस 'कला' के
कानोंको अतिशीघ्र अर्थात् सहसा छोड़नेसे उत्पन्न ध्वनि (कर्णविवरोंमें प्रविष्ट बाह्य शब्द)
कानोंके बन्द करनेसे उत्पन्न ध्वनि—समूहके विराम अर्थात् बादमें तालभाव [गीत आदिकी
क्रियाके समान प्रमाणता] को प्राप्त किया । [कानोंको बहुत विन्मशतक बन्द रखकर सहसा
छोड़नेके बाद उसमें प्रविष्ट हुआ बाह्य ध्वनि गानेके तालके समान कलाको मालूम
पड़ा] ॥ ११० ॥

सापऽसृत्य कियद् दूर मुमुदे सिम्भिये ततः ।

इदं ताञ्च सरसीमेत्य ययाचे काकुभि कला ॥ १११ ॥

सेति । तत मुक्तिप्राप्तेरनन्तर सा कला तन्नामसखी , कियत् किञ्चित् , दूर विप्र
ज्जददाम , अपसृत्य गत्वा मुमुदे अहर्षं , निजकौशलस्य साफल्यदर्शनादिति भावः ।
अत एव सिम्भिये च मन्द जहास च , किञ्च , ताम आहूता स्वपत्नीयाम् , सरसी
धयस्याम् , परम आगत्य , काकुभि अनुमयसुखविकृतस्वरैः , इदं वक्ष्यमाण , ययाचे
च प्रार्थयामास च ॥ १११ ॥

इस (कानोंमें सहसा प्रविष्ट ध्वनिको गानेके तालके समान झल होने) के बाद वह
'कला' (दमयन्तीके पासमें) कुछ दूर हटकर इर्षित हुई तथा मुस्कराया और उस (बुलायी
गयी स्वपत्नीया सखी) के पास अजब झुका (हीनतापूर्णक, दिक्क, इतर) से अदृशकान्ते ।

अभिधास्ये रहस्य तद् यदथावि मयाऽनयो ।

वर्णयाकणित महामेधोति विनिमीयनाम् ॥ ११२ ॥

किं यदाचे ह्याह—अर्भानि । आत्ति । हे सखि ! एहि आगच्छ, अनयो मैत्रीनलयो सम्बन्धि, यद् रहस्य गोपनीयव्यापार मया अथावि कर्तारोधात् प्राक् श्रुतम्, नत् अभिधास्ये कथयिष्यामि, तुभ्यमिति शेष । आकर्णित त्वया श्रुतञ्च, रहस्यमिति शेष । मह्य कलायै, वर्णय कथय, त्वमिति शेष । विनिमीयता परस्पर श्रुतवृत्तान्तस्य विनिमय क्रियताम्, आवाभ्यामिति शेष ॥ ११२ ॥

‘हे सखि ! मैंने इन दोनों (नन् तथा दमयन्ती) के जिन (रहस्य—सुरतकालिक गोप्य वृत्तान्त) को सुना है, वह रहस्य (तुमने) कहूँगी, (तथा तुमने मेरे कान बन्द होनेके बाद इन दोनोंका जो रहस्य) सुन है वैसे (सुनने) कहो, इस प्रकार हम दोनों मिलकर इनके रहस्योंको परिचयित (बदलावदली) कर लें’ ॥ ११२ ॥

वयस्याऽभ्यर्थनेनास्या प्राक्कूटश्रुतिनाटने ।

विस्मिता कुरुत स्मैतौ दम्पती कम्पित शिर ॥ ११३ ॥

वयस्येति । वयस्याया इवपनमृताया मयथा, अभ्यर्थनेन प्रार्थनेन, ‘वर्णयाऽऽकर्णित मह्यम्’ इत्युत्तरपेक्ष श्रुतवृत्तान्तस्य विनिमयप्रार्थनया इत्यर्थः । अस्या कलाया, प्राक् पूर्वम्, कर्णविधानावध्यायानि यर्थ, कूटे मिथ्यैव कृते, श्रुतिनाटने मया सर्व श्रुतमिति भावव्यञ्जने, विस्मिता आश्चर्याम्बितौ, दम्पती जायापती, पुनौ भेदीनौ शिर स्वस्वमस्तम्भ, कम्पित क्षालितम्, कुरुत स्म मृदु मृदु शिरश्चालन चक्रगुरिति विमयभावोक्तिः ॥ ११३ ॥

सखीन वाचना (२०।११२) करनेमें हम ‘कला’ के पहले जन्मे ही (ननोक्त अवशिष्ट वाक्याशको) सुनने का अभिनय करनेमें आश्चर्यित थे दम्पति (नन् तथा दमयन्ती) शिर कम्पन करने लगे । [‘इस कलाने में ननोक्त शेष वाक्याशको अच्छी तरह सुन लिया’ कहकर हम दोनोंको ही विनैतरूपमें वञ्चित कर दिया, हम आश्चर्योचिन् अभिप्रायमें शिरको कम्पित करने लगे । आश्चर्यित स्वक्तिका शिर कँपाना स्वभाव होता है] ॥ ११३ ॥

तथाऽऽलिमालपन्ती तामभ्यधात्रिपवाधिप ।

आस्त्व तद्वज्जिनी स्वश्चेन्मिथ्याशपथमाहसात् ॥ ११४ ॥

नथेति । निपधात्रिप नल, आलिम् आहुतस्वपनमत्वात्, तथा तेन प्रकारेण ‘वर्णयाकर्णित मह्यम्’ इत्युत्तरप्रकारेणैवार्थः । आलिपन्ती सम्भाषणमात्रम्, ता कलाम्, अभ्यधात्, अवोचत्, किम् इति ? हे धूर्त ! मिथ्याज्ञपथसाहसात् ‘व्यर्था इत्यु मम देवता’ इति कृत्वा अनृतशपथमेव साहसम् अविचारितकारित्व तस्मात् हेतोः,

१ ‘—मेधेहि’ इति पाठान्तरम् ।

चेत् यदि, वञ्चिनौ प्रतारितौ, स्व भवाव आत्रामिति शेष । तत् तर्हि, आरश्च तिष्ठ, पुनर्द्य तदा यथोचित दण्टयामि क्व गमिष्यसीति भाव ॥ ११४ ॥

निषधराज (नन्) ने मखीमे उम प्रकार (२०११२) कह्ने लु उम 'कहा' मे कहा—'मिथ्या रुपय लेनेके बाद (२०११०७) मे यदि हम दोनोंको तुमने वञ्चन किया हे तो ठहरो अर्थात् मिथ्या रुपयमे वञ्चन करनेमे हम दोनों तुम्हें दण्डन करेंगे' ॥ ११४ ॥

प्रत्यलापीत् कलाऽपीम कलङ्कं शङ्किन कुत ? ।

प्रियापरिजनोत्तस्य त्वयैवाद्य मृपोद्यता ॥ ११५ ॥

प्रत्यलापीदिनि । कदा अपि तन्नामसंगी अपि, हम नलम् , प्रत्यलापीत् प्रत्यक्षे चत् । लपेत्तुङ्कि 'अनो हलादेल्बो' इति निषेधविरुद्धपात् सिद्धि वृद्धि । हे राजन् ! तदा सवता, अद्य एव अस्मिन्नेव दिवसे, न तु ह्य पूर्व कदाऽपीति भाव । प्रियाया भेद्या परिजनेन मखीजनेन, उत्तस्य कथितस्य वचनस्य, मृपोद्यता मिथ्यावादि त्वम् । 'राजसूयसूर्यमृपोद्य—' इत्यादिना मृपापूर्वाद्दे कथयन्तो निपात । अनृत वादितारूप इत्यर्थ । कलङ्क अपवाद, कुन कथम् , शङ्कित सम्भावित ? भवप्रियाया मदा सत्यवादित्वात् तत्परिजनानामस्माकमपि मिथ्यावादिष्व न सम्भवति इति भाव । वृत्तस्यापि रात्रिम्यापारस्य न वृत्तमिति अपलापवत् अस्माकमपि तत्परिजनाना तथा व्यवहार न दुष्यतीति तु निगूढतास्पर्यम् ॥ ११५ ॥

'कहा' न मा वस (नन्) की प्रत्युत्तर दिया कि—(हे राजन् !) आप आज हो (हमरे किसी दिन नहीं) प्रिया (हमदली) के परिजनो (सखी—सुख 'कहा') के कथनकी अस्मत्मापिनाक कलङ्क की -यो गुहा कर रहे हैं । [सत्यवादिनी दमयन्तीके परिजनोने भाषामें अस्मत् मापणरूप कलङ्क होनेका स्पन्देह आपकी नहीं करना चाहिये, क्योंकि रात्रिने किये गये मृत्को आपकी प्रिया एव हमारी स्वामिनी दमयन्ती नहीं हुआ बगदा रही है, अत एव परिजनका स्वाम्यनुकूल बनाव करना ही उचित होनेसे मेरा यह व्यवहार भी आदर स्वीकृत नही मानना चाहिये] ॥ ११५ ॥

सत्य सलु तदाऽश्रोप पर धुमुधुमारवम् ।

शृणोमीत्येव चाबोध न तु त्वद्वाचमित्यपि ॥ ११६ ॥

सत्यमिति । अथवा तदा पूर्वोक्तशपथात् पूर्व कणरोधसमये, पर केषलम् , धुमु धुमारव धुम् धुम् इत्येवमाग्यन्नरिक शब्दम् , सत्य सलु सत्यमेव, अश्रीपम् आक गितवनी, अहमिति शेष । च किञ्च, शृणोमीत्येव 'अशृणवन्तमाम्' इत्यनेन अवण मात्रमेव, अबोधम् अकथयम् , अपि तु परन्तु त्वद्वाच भवदीयवाक्यम् , अशृणवन्त मामिति शेष , इति न, अशोचमित्यनेनान्वय । यस्मात् शृणोमीत्युक्त, तस्मान्नात्र मृपोद्यतादोष , शब्दप्रवणस्य सत्यत्वादिति भाव ॥ ११६ ॥

१ 'प्रियापरिजनोत्तस्य' इति पाठान्तरम् । २ 'धुमुधुमा'—इति पाठान्तरम् ।

(प्रचारान्तरमे कदा करने बचनका सम्बन्ध प्रभावित करता है—अथवा—) वर (इन्द्र बन्द रहनेके) समय मनुष्य ही नैने बना था, किन्तु 'उम' 'धुम' ध्वनिकों की दृष्टि या ईर नैने 'धुनी हूँ' नहीं कहा था, (किन्तु) 'धुम्हारे बचनको भी (धुनी हूँ)' यह नहीं कहा था । [वर एक ध्वनिमात्रका धुननेके क्रमिकरूपसे नेत्रा वैसा कहना उचित नहीं मानना चाहिये] ॥ ११६ ॥

आमन्त्र्य देव ! तेन त्वा तद्वैश्वर्यं मनर्थये ।

शपथं कर्कशोदकं मत्स्य मत्स्योऽपि वैवत ॥ ११७ ॥

आमन्त्रयेति । देव ! हे राजन् ! तेन 'व्यथा' म्युर्मन देव ! ता' इत्यादि पूर्वोक्त बाधयेन हेतुना, हे देव ! इति त्वा भवन्तम्, आमन्त्र्य मानुष्य मन्त्रोऽप्य, ता' मन्त्रावन्तमात्रं इत्यादि गिर, अर्थां मिथ्यामृता' इत्युक्त्वा, तस्य अन्त्रावन्तमात्रं मिथि शपथवाक्यस्य, वैश्वर्यं मिथ्यास्वम्, अथवा श्रुतानां धनुर्धुनेत्यादीनां ध्वनीनां वेदस्यम् अर्थगूणस्वम्, 'उम धुम' इति कन्दर्प इयद्विधादिष्व अर्थगूणस्वपा तत्त्वपरस्परानि निरर्थकादिनि भाव । समर्थये मिथ्यात्मन्वेन स्यान्मार्गाव्ययं । अहमिति शेष । शपथकरणे मन्त्रादुक्त शेष ज्ञानया मया तु शपथ न कृतः, किन्तु अहं शपथ कृतवतीति देवस्यैव आन्तिजाना, तथा हि देवनः देवताम् बहिरम् कृतः, मत्स्योऽपि यथार्थोऽपि, शपथः शपथम्, मय निश्चितमेव, कर्कशोदकं कर्कशं धनं हानिकारत्वेन निदाहः, उदकं उत्तर फलं यस्य सारसा, शोचनीयपरिणाम इत्यर्थः । 'उदकं फलमुत्तरम्' इत्यमरः । भवतीति शेष । 'मन्त्रेणापि शपदे पशु देवानिगुणमधिषौ । मत्स्य वैवस्वतो राजा धनं स्यात् न किञ्चनिति ।' इति मनुस्मरणादिनि भावः ॥ ११७ ॥

(अब 'धुम' पूर्वोक्त (१० १०७) शपथका अर्थान्तर करके करने बचनका सम्बन्ध प्रभावित करती है—) हे देव ! इन 'अथ' स्युर्मन देवता' (१०११०७) बचनमे आरम्भ की आमन्त्रित्वर वन (तुने धुम-या आरम्भ के कई हुए बचन) की अन्त्रावन्तमात्र समर्थन करता हूँ, मत्स्यके विश्वरूपे भा किंवा देव-सम्बन्धी शपथ कर्कश (अग्निष्ट) परिणामवान् होता है । [इसका भाव यह है—कदा कदा है कि—मैंने तो 'हे देव ! मन गिर मिथ्या वैश्वर्य वेद, न व्यय' म्यु' अथवा 'हे राजन्' हमारे वाचको आप अमन्त्र्य जानते हैं ? वे व्यर्थ (क्रमिक ही) शेष 'मा कहा था, किन्तु जानने उमे इन्द्रसम्पत्ति समझ दिया, वर एक नेत्रे कई नेत्रे क्रमिकरूपको समझनेने यदि आपकी ज्ञान है, तथा तो सुझाने अमन्त्रमात्र करने वा शपथ लेनेका शेष नहीं लगाया चाहिये, क्योंकि उच्चाभिप्रायसे कहनेके कारण न तो मैंने असम्बन्धना किया और न इन्द्र हा दिया] ॥ ११७ ॥

असम्भोगकथारम्भैर्वञ्चयेथे कथं नु माम् ?

हन्त ! सेयमर्हन्ती यत्तु विप्रलभे युवाम् ॥ ११८ ॥

मिश्राशयधेन युवयोर्वञ्चनाया न कोऽपि दोष इत्याह—असम्भोगेति । युवां भवन्तौ, असम्भोगादन्धाना सम्भोगचिह्ने विद्यमानेऽपि स्वया उच्यते भैमी मा न स्पृशत्यपि, अनयाऽपि नलेन नाह स्पृष्टा इत्युच्यते पृथग्भूताना सम्भोगाभावोक्तीनाम्, आरम्भे उपन्यासे, प्रवर्तनैरित्यर्थः । मा कलाम्, कथं नु किमर्थम्, वञ्चयेथे ? प्रतारयथ ? तु पुन, युवा भवन्तौ, यद्विप्रलभे वञ्चयामि, अहमिति शेषः । मा ह्य वञ्चया, अनर्हन्ती हन्त ! अयुक्ता स्मि ॥ मद्ब्रह्मन युवयो युक्तमेव मम तु भवद्ब्रह्मनमयुक्तम् अहो आश्चर्यं धूर्त्तयोरिति भावः । अनर्हन्ती 'अहं प्रशसायाम्' इति शतरि उगिरवात् ङीप्, ब्राह्मणाश्रित्वात् प्यम्प्रत्यये 'अर्हतो नुम् च' इति नुमागम्, 'प्यञ्ज पितृरणादाकातो 'गुह्यम्' इति वामन । 'यस्य ब्रह्म' इति यज्ञारलोपे आर्हन्ती, ततः मत्समासः । यत्तु इत्यत्र 'यस्य' इति पाठे—अनर्हन्ती दासीवात् अवयव्याऽपि, मा ह्य कलानाम्नी अहं, युवा प्रतारकौ भवन्तौ, यत् न विप्रलभे, तत् किं सम्भावयथ ? इति शेषः । 'शठे शाठ्य समाचरेत्' इति न्यायाद् वञ्चकेन सह प्रतारणापूर्णव्यवहार एव युज्यते इति भावः ॥ ११८ ॥

('आनं हि कुटिलेषु न नीति ' अर्थात् 'कुटिलोंके विषयमें सरलताका व्यवहार करना नीति नहीं है' इस बचनके अनुसार असत्यभाषण करनेपर मेरा कोई दोष नहीं है, इस आशयमें कला अपने पक्षका समर्थन करती है—) तुम दोनों असम्भोग-कथाके कहनेसे (सम्भोग करनेपर भी 'यह दमयन्ता न तो मुझे स्पर्श करती है, न देखती है और न बोलती है' इत्यादि आप तथा पैसा ही यह दमयन्ती भी कहती है, अतः इस प्रकार सर्वथा असत्य बतलानेसे) मुझे क्यों वञ्चित करने हो ? आश्चर्य है कि यह मञ्जुन वञ्चना अनुचित है क्या जो मैं आप दोनोंको वञ्चित करूँ ? [पाठा०—(दासी होनेसे) अवश्य भी है जो तुम लोगोंको नहीं वञ्चित करूँ ? यह समझते हैं क्या ? अर्थात् 'शठे शाठ्य समाचरेत्' (शठके साथ शठता करनी चाहिये) इस नीतिके विपरीत तुम दोनोंको नहीं समझना चाहिये] ॥ ११८ ॥

कर्णं कर्णे तव मख्यौ श्रुतमाचख्यतुमिथ ।

मुहयिस्मयमाने च स्मयमाने च ते वहु ॥ ११९ ॥

कर्णं कर्ण इति । ततः अनन्तरम्, ते मख्यौ कला तस्मिन्पक्षा च, मुहु पुन पुन विस्मयमाने आश्चर्यभाव प्रकाशयन्त्यौ, तथा स्मयमाने मन्द हसन्त्यौ च साथी, श्रुतम् आकर्णित पूर्वोक्तप्रहस्यज्ञातम्, मिथ अन्योऽन्यम्, कर्णं कर्णं कर्णसमीपे

मुख सस्थाप्य नि शब्द यथा तथेत्यर्थः । बहु दीर्घकाल व्याप्येभ्यः । आचरयतु कथयामासतु ॥ ११९ ॥

इम ('कला' के इस प्रकार (२०११५-११८) स्ववन्ननशेषका परिहार करने) के बाद दोनों सखियों ('कला' तथा उसकी चुनायी हुई दूसरी सखा, दमयन्ती तथा नलके सम्भोग वृत्तान्तके सुननेसे) बार-बार आश्चर्यित होती हुई तथा स्मिन् वरती हुई सुनी गयी (नलोक्त सम्भोग कथा) को एक दूसरेके कानमें बहुत देर तक कहने लगीं ॥ ११९ ॥

अधारयायि कलासख्या कुप्य मे दमयन्ति । मा ।

कर्णाद्वितीयनोऽप्यस्या संज्ञोप्यैव यद्व्रथम् ॥ १२० ॥

अपेति । अथ अन्योऽन्यकथनानन्तरम्, कलासरया 'कलाया वयस्यया, भावयादि उक्तम् । किमिति ? हे दमयन्ति । मे मद्यम्—मा कुप्य न क्रुद्धा भव, त्वमिति शेषः । 'ऋऋहु—' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । यत् यस्मात्, द्वितीयात् द्वितीयात्, कर्णात् अथवा अपि, संज्ञोप्य गोपायित्वा, अस्या एव कलाया एव, अम्रथ रहस्यम् अकथयम् ॥ १२० ॥

इम (परस्परमें कानमें भाषण करने) के बाद कलाकी मखीने बहुत देर तक कहा— 'हे दमयन्ति । मुझपर मन क्रोषित होवे, क्योंकि मैंने इसके दूसरे कानसे भी छिपाकर ही कहा है अर्थात् मैंने इस प्रकार कहा है कि दूसरे व्यक्तिको कौन कहे, इसके दूसरे कान तकने मैं नहीं सुना है' । [इम प्रकार दमयन्तीसे कहकर उसने परिहार ही किया है] ॥ १२० ॥

प्रिय प्रियामथाचष्ट हृष्ट कपटपाटयम् ।

वयस्ययोरिदं तस्मान्मा सखीप्रेव विश्वसो ॥ १२१ ॥

प्रिय इति । अथ कलासखीवाक्यानन्तरम्, प्रिय कान्तो नल प्रियां कान्ता भैमीम्, आचष्ट अचोचत्, किमिति ? हे प्रिये । वयस्यो मरयो, इदं त्वासमक्षमेव आचरितम्, कपटपाटय वञ्चनाचातुर्यम्, हृष्टम् ? अवलोकितम् ? इति काकुः । तस्मात् एव—स्वयम्भारदर्शनात्, सखीषु वयस्यासु, मैव नैव, विश्वसी विश्वास कुर, मर्येव विश्वास कर्त्तव्य इति भावः । इवसेमाङ्गि लुडि 'न माङ्ग्योरो' इति अष्टागमनिषेधः । 'अतो हलादेर्लो' इति वृद्धौ प्राप्ताया 'स्यधन्तचणश्चस—' इत्यादिना निषेधः ॥ १२१ ॥

इम ('कला' की सखाके ऐसा (२०१२०) कहने) के बाद प्रियने प्रिया (नलने दमयन्ती) ने कहा—'(तुमने अपने मानने ही अपना इन) दोनों सखियोंके कपटचातुर्यको

१ 'संज्ञोप्यैवम्' इति पाठान्तरम् । २ अत्र 'कलारूपिण्या सख्या' इत्याश-यात्मक 'कलयैव सरया वा' इति पञ्चान्तरार्थक 'प्रकाश'व्याख्यान 'अलापि कलयाऽपीय' (२०१२२) इति वक्ष्यमाणत्वाच्चिन्त्य सुधीभिः ।

देखा ? हम कारणते ही तुम सखियोंपर (अथवा—हम कारणते तुम सखियोंपर ही) विश्वास मन करो, (किन्तु एकमात्र मुझपर ही विश्वास करो) ॥ १२१ ॥

आलापि कलयाऽपीय पतिर्नालपति क्वचित् ।

वयस्येऽसौ रहस्यं तत् सभ्ये विस्मभ्यमीदृशि ॥ १२२ ॥

आलापति । कलयाऽपि इय भैंसी, आलापि अवादि, किमालापि ? इत्याह—
हे दमयन्ति ! असौ अयम्, पति तत्र भर्ता नल, इति कुत्रापि, न आलापनि
न कथयति, गोप्यरात्रिवृत्तमिति शेष । अत एव ईदृशि पूर्वम्भूते, सम्ये सञ्जने,
वयस्ये सरयौ, तत् पूर्वोक्तम्, रहस्य गोप्यवृत्तान्त, विस्मभ्य विस्मत्तनीयम् विस्मत्प
वक्तरपमेवेत्यर्थः । अत्र विपरीतलक्षणया—असौ ते पति सर्वत्रैव तव रहस्यमालपति,
अत एव ईदृशि असभ्ये वयस्ये न विस्मभ्यमेव इति । 'हृत्पल्लवुटो बहुलम्' इति भावे
हृत्पल्लवस्य, तस्याक्षिप्राक्षकारलोपः ॥ १२२ ॥

'कल' ने भी दमयन्तीसे (सधुर परिहास एव काटूत्तिके साथ) कहा कि—'यह पति
(नल) कहीं पर रहस्य (तुम्हारी मन्मागादि बातों) को नहीं कहते हैं, हम कारण देन
सम्य मित्रमें (तुम्हें) विश्वास करना चाहिये' । 'विपरीत लक्षणासे—ये तुम्हारे रहस्यको
सर्वत्र कह देते हैं, अतः एव ऐसे असभ्य साधोपर विश्वास नहीं करना चाहिये' । [महार
भी 'कला' न नलोक्त पूर्ववचन (२०१) २१) का बोधा ही समुचित उत्तर देकर नलका
पुनः पराजित किया है] ॥ १२२ ॥

इति व्युत्तिष्ठमानाया तस्यामूचे नल प्रियाम् ।

भण भैमि । वदि कुर्वे दुर्विनीते गृहादम् ? ॥ १२३ ॥

इतीति । तस्या कलयायाम्, इति इत्थम्, व्युत्तिष्ठमानायां विरोधम् आश्र-
नयाम्, मुख्यभावेनैव विपश्चिद्वत् अथवहत् प्रवर्तमानायामित्यर्थः । 'उद्धोऽन्तर्ध्वं
मणि' इत्यात्मनेपदम् । नल नैपथ प्रिया भैंसीम्, ऊचे कथयामास । किमिति ?
भैमि ! हे दमयन्ति ! दुर्विनीत बद्धते, अन्तः पृते सख्यौ, गृहात् प्रकोष्ठमध्यादित्यर्थः ।
वदि कुर्वे ? निर्धामयामि ? इति कातु, भण मूढि, आदिस इत्यर्थः ॥ १२३ ॥

इम प्रकार हम 'कला' के विरोध करने रहनेपर नन्ने प्रिया (दमयन्ती) से कहा
कि—'हे दमयन्ति ! इन दोनों दुर्विनीत सखियोंको घर (इम प्रकोष्ठ) से बाहर करता हूँ ?
कह ! यहापर नन्ने उन सखियोंको बाहर करके सम्मोग करनेके लिए दमयन्तीने मन्मति
चाही है, इसा कारणसे यहाँ वर्तमानकालिक 'कुर्वे' (करता हूँ) क्रियाका प्रयोग किया है] ॥

शिर कम्पानुमत्याऽथ सुदत्या श्रीणित प्रिय ।

चुलुक तुच्छमुत्सर्प्य तस्या सलिलमक्षिपत् ॥ १२४ ॥

शिर इति । अथ नलवाक्यानन्तरम्, सुदत्या शोभवदन्त्या, भैंस्या इति शेषः ।

१ 'अलापि' इति पाठान्तरम् ।

शिर कम्पेनैव मस्तकस्य ईषञ्चालनरूपेणैव, अनुमत्या अनुमोदनेन, सहया बहिष्क
रणविषये मग्गतिज्ञापनेनेत्यर्थः । प्रीणित तोषित, प्रिय नलः, नृच्छ रिक्तमेव,
जलशून्यमेवेत्यर्थः, चुलुक प्रसृतम्, निकुञ्जपाणिद्वयमित्यर्थः । अञ्जलिमिति यावत्,
उत्सर्प्य उत्तिप्य, तस्या कलाया उपरीत्यर्थः । मल्लि जलम्, अक्षिपन्
अक्षिरत्त ॥ १२४ ॥

दमयन्तीके द्वारा शिर हिलाकर अनुमति देनेसे सजोषित प्रिय (नल) ने पानी
चुलुकी ही उठाकर उस मल्लोके ऊपर पानी फेंका । [दमयन्तीने कुछ वन सखियोंकी
बाहर करनेकी अनुमति दी, तथा जलने 'सम्भोगार्थ यह मुझे उ हँ बाहर करनेके लिए शिर
हिलाकर अनुमति दे रही है' यह समझकर खाली चुलुकी का सखियोंके ऊपर फेंका तो
वहणके बरदान (१४८०) में वह जलपूर्ण हो गया और सखियोंका वल्ल भोग गया] ॥

तच्चिप्रदत्तचित्ताभ्यामुच्चैः सिचयसेचनम् ।

ताभ्यामलम्भि दूरेऽपि ननेच्छापूरिभिर्जलैः ॥ १२५ ॥

तद्दिनि । तस्मिन् पूर्वोक्तरूपे रिक्तहस्तादपि जलमि सरणरूपे, चित्रे आश्चर्य,
दत्तचित्ताभ्या निवेशितमनोभ्याम्, अत एव अपसर्गु विस्मृताभ्यामिति भावः ।
ताभ्या सखीभ्याम्, दूरेऽपि विशृष्टदेशे स्थिताभ्यामपि, नलस्य इच्छा पूरयन्तीति
सादृश्ये नलेच्छापूरिभि बरुणवरात् भैषथस्य अभिलषित साधयन्नि, जलै सलिलै,
उच्चै अतिमात्रम्, मिषयशेचन वज्राभावनम् । 'पटोऽग्नी सिचयो वल्लम्' इति
यावत् । अलम्भि प्रापि । 'विभाषा विष्णुमुलो' इति जुमागम ॥ १२५ ॥

खाली चित् (के अल फेंकने) से आश्चर्ययुक्त चित्तशाला वन दोनों (कन्या तथा
वमकी मल्लो) का (वरुणके दिये गये वर (१४८०) के प्रभावसे) नलका इच्छामात्रमे
पूर्ण हुए पानीसे दूरत्व होनेपर भी कपटा भोग गया ॥ १२५ ॥

वरेण वरुणस्याय सुलभैरम्भसा भरै ।

एतयो स्तिमितोचक्रे हृदय विस्मयैरपि ॥ १२६ ॥

ननु नलस्य रिक्तहस्तात् कुतो जलमभभव इत्याह—वरेणेति । अयं नलः,
वरुणस्य जलेशस्य, वरेण वरदानेन, अभीष्टपूरकवाक्यप्रयोगेनेत्यर्थः । सुलभे
अनायासप्राप्यै, अभिमसा अलानाम्, भरै ओषै, तथा विस्मयैरपि रिक्तहस्तात्
जलानि नि सृजानीति आश्चर्यरसैश्च, एतयो सहयो, हृदय वल्ल स्यलम् अन्नरक्ष ।
'हृदय वल्लसि स्वान्ते' इति विरव । स्तिमितोचक्रे आर्द्राचकार निशलीचक्रे च ।
अभूततज्जावे चि । अत्र स्तिमितहृदयमिति विशेषणविशेष्ययो द्वयोरपि प्रकृत-
त्वात् श्लेष ॥ १२६ ॥

इम (नल) ने वरुणके वर (१४८०) के प्रभावसे सुखमयकपूरसे इन दोनों (कन्या
तथा वमकी मल्लो) के हृदय (वाक्यरक्ष स्वक अवार्त छाती और आन्तर पर अन्न करण) को

अधिक आश्चर्य पूर्ण कर दिया [वरुणके वरदानके प्रभावसे नलेच्छामात्रमे उत्पन्न पानीमे वे भीग कर आश्चर्यित हो गयीं] ॥ १२६ ॥

(युग्मम्)

तेनापि नापसर्पन्त्यौ दमयन्तीमयं तत ।

हर्षेणादर्शयत् पश्य नन्विमे तन्वि । मे पुर ॥ १२७ ॥

क्लिन्नीकृत्याम्भसा वस्र जैनप्रव्रजितीकृते ।

सख्यौ सशौमभावेऽपि निर्विघ्नस्तनदर्शने ॥ १२८ ॥

तेनेति । तत जलमेव नानन्तरम्, अयं मल, ननु भो ! तन्वि । कृशाद्रि ? प्रिये ! अम्भसा जलेन, वस्त्र वपनम्, क्लिन्नीकृत्य आर्क्षीकृत्य । अभूततद्भावे चिद्वि । सशौमभावेऽपि शौमवस्त्राच्छादने सख्यपि, निर्विघ्नम् अप्रतिबाधनम्, स्तनदर्शनं कृपावलोकनं ययो ते सारथ्यौ, शुभ्रसूचमार्द्रवस्त्रेण आच्छादितेऽपि अङ्गे सर्वाङ्गरस्य दर्शनविषयीभूतत्वादिति भावः । अत एव जैनप्रव्रजितीकृते बौद्धपरिमाजिकाप्राये कृते, सासामपि दिगम्बरप्रायत्वादिति भावः । तेन तथाविधकरणेनापि, न अपसर्पन्त्यौ न अपगच्छन्त्यौ, इमे एते, सारथ्यौ वयस्ये, मे मम, पुर अग्रतः, स्थिते इति शेषः । पश्य अवलोकय, इति हर्षणं स्तनादिदर्शनजनितानन्देन, दमयन्तीं भेमीम्, दमयन्त्यै इत्यथ । अदर्शयत् अङ्गुलिनिर्देशेन दर्शयामास । अत्र 'अभिवादिदृष्टो राशमेने पदे उपमङ्गुयानम्' इति पालिककर्मत्वस्य परस्मयपदे अप्राप्ते 'दशश्च' इत्यनेन दमयन्नामित्यणिकत्वं नित्यकर्मत्वम् । ईदृशघटनया लज्जितयो तयो गृहात् बहिर्गमनसम्भावनया दमयन्त्युपमोगलिप्ता व्यज्यते ॥ १२७-१२८ ॥

इस (उन दोनों सखियोंकी नलप्राप्त भीगकर आश्चर्ययुक्त होने) के बाद चलने, चलने भी नहीं इतनी दृढ़ उन दोनों सखियोंको 'हे तन्वि (दमयन्ति) ! पानीसे कपड़ेको भिगाकर जैन-प्रव्रजिका बनायी गयी महीन रेशमी वस्त्र पहनने पर भी (उनके भीगनेसे) अनायास दिखलायी देत हुए स्नोबाली इन दोनों (कला तथा उसकी सखी) को देखो' यह कहकर इसमें दमयन्तीके लिए दिखलाया । [पहले वस्त्रको भीग जानेसे उनके स्तनादि दृष्टांगोच्चर इ। रह थे तथा व न नके समान प्रतीत होनेसे दिगम्बर जैन प्रव्रजिका प्रतीत हो रही थी । यहा पर जावानु वारन 'जैन' शब्दका 'बौद्ध' अर्थ किया है, किन्तु बौद्धोंके मूल आगम्य दस्ता बुद्ध' मगवान् ह, न कि 'जिन' मगवान्, अत 'जैन' शब्दका अर्थ 'जिन' देवता'का माननेवाला 'जैन' ही जानना चाहिये । किन्तु जैन सम्प्रदायमें पुरुषोंको ही दिगम्बर (नग्न) होनेका विधान है, न कि प्रव्रजिका ('अजिका' या 'शुद्धिका' का व्रत ग्रहण करनेवाली स्त्रियोंका भी) बौद्ध सम्प्रदायमें भी नग्न रहनेका शास्त्रीय विधान नहीं है, अत 'श्रीहर्ष' महाकाव्यका यह कथन किस व्यापार पर है ? विद्वानोंको इसका विचार करना चाहिये] ॥ १२७-१२८ ॥

अम्बुन शम्बरत्वेन मायैवाविरभूदियम् ।

यत् पटावृतमप्यङ्गमनयो कथयत्यद् ॥ १२९ ॥

अम्बुन इति । अद् मलनिक्षिप्तम् इदं जलम्, कर्तुं । पटावृतमपि वस्त्राद्यादि-
तमपि अनयो सरयो, अङ्ग रतनादि निगूढावयवम्, यत् कथयति वदति, सुस्पष्टम्
आविष्करोतीत्यर्थः । द्वयं पटावृतस्यापि अङ्गस्य आविष्करणरूपा एषा अवस्था,
अम्बुन जलस्य, शम्बरत्वेन शम्बरापरनामत्वेन शम्बरामुत्त्वेन च, 'देत्ये ना शम्भ
रोऽम्बुनि' इति वेंजयन्ती । माया एव शम्बरी एव, छलना एवेत्यर्थः । 'स्यान्माया
शम्बरी' इत्यमरः । आविरभूत् प्रकटिता आसीत्, अन्यथा कथं अमग्नयोरपि
रतनादिहरयते इति भावः ॥ १२९ ॥

यद् (जल) वस्त्राद्यादित भी इन दोनोंके अङ्ग (रतन, जवनादि अवयव) को कटना
(प्रकट दिखाना) है, जलको शम्बर ('शम्बर' शब्दका पर्याय पञ्चा०—'शम्बर' नामक
मायावी वैश्य) होनेसे 'माया' (शम्बर वैश्यका छल) ही प्रकट हो गया है । [शम्बरको
महामायावी होनेसे 'शम्बरी' शब्द 'माया' अर्थमें प्रयुक्त होता है । सो यही भी शम्बरी
(जल-शम्बन्धी, पञ्चा०—शम्बर वैश्य-रम्ब-भी) माया ही प्रकट हो गयी है, इसीसे बिना
जलके भी इन दोनोंके वस्त्र भाग गये हैं] ॥ १२९ ॥

वाममो वाऽम्बरत्वेन दृश्यतेयमुपागमत् ।

चारुहारमणिध्रेणि-तारवीक्षणलक्षणा ॥ १३० ॥

वामम इति । वा अथवा, चाख्यं मनोज्ञा, हारमणिध्रेण्य एव मौक्तिकमरस्थ-
रत्नराज्य एव, तारा लघुप्राणि, ताम्रा बीक्षण दर्शनमेव, लक्षण लघुम यस्या सा
तादृशी, इयम् एषा, दृश्यता रतनादिदर्शनयोग्यता आकाशरूपेण दर्शनविषयता च,
वामस्य वस्त्रस्य, अम्बरत्वेन वस्त्रत्वेन आकाशत्वेन च । 'अम्बरं व्योम्नि वामसि'
इत्यमरः । उपागमत् प्राप्नोत्, जाता इत्यर्थः ॥ १३० ॥

अथवा—हारके सुन्दर मणिममूरूप ताराओंका दिखानाही देना है किन्तु जिसका अर्थात्
जिसने हारके सुन्दर मणिसमूहके ताराएँ दृष्टिगोचर हो रहा हैं उसी दृश्यता (दृष्टिगोच-
रता) कण्ठके 'अम्बर' शब्दवाच्य होनेसे हो गयी है । [कण्ठके 'अम्बर' (आकाश) भी
बहने है और 'अम्बर' (आकाश) में ताराएँ दृष्टिगोचर होती ही हैं, तथा वह (अम्बर—
आकाश) शून्य पदार्थ है, इसी कारण इन मणियोंके कण्ठके भीतरके हारके सुन्दर
मणिममूरूप सुन्दर ताराएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं । भीत हुए सूक्ष्म कण्ठके भीतर हारके
मणियोंका दिखानाही पटना उचित ही है] ॥ १३० ॥

ते निरीक्ष्य निजाग्रस्था ह्रीणे निर्ययतुस्तत ।

तयोर्वीक्षाग्मात् सख्य सर्वा निश्चक्रमु क्रमात् ॥ १३१ ॥

ते इति । ते सख्यौ, निजावस्था जलसेकात् गोप्याङ्गप्रकाशरूपाम् आत्मनो

दशाम्, निरीक्ष्य अवलोक्य, हीने लज्जिते सत्यौ, ततः तस्माद् गृहात्, निर्ययतु निर्जग्मतु । ततः तयो कलातस्तरयो वीक्षारसाद्दर्शनेच्छात्, सर्वा अपरा समस्ता सरय वयस्या, क्रमात् एकमेक कृत्वा, निश्चरन्मु निष्क्रान्ता ॥ १३१ ॥

वे दोनों ('कला' तथा उसकी सखी) (कपटके भोगनेसे समस्त शरीरावयवका स्पष्ट दर्शनरूप) अपनी अवस्थाको देख लज्जित होकर बहाते चली गयीं तथा उन्हें देखनेके कौतुकसे दूसरी सब सखिया भी क्रमशः चली गयीं ॥ १३१ ॥

ता बहिर्भूय वैदर्भीमूचुर्नीतावधीतिनि । ।

उपेक्ष्ये ते पुनः सख्यौ मर्मज्ञे नाधुनाऽप्यमू ॥ १३२ ॥

ता इति । ता सरय, बहिर्भूय बहिर्निर्गम्य, वैदर्भी दमयन्तीम्, ऊचु कथया मासु । किमिति ? नीतावधीतिनि । हे अधीननीतिशास्त्रे भैमि ! इष्टादिस्वादिनि प्रापय 'सम्येन्विपयस्य—' इति कर्मणि सप्तमी । अमू एते, मर्मज्ञे भवस्यो रहस्या भिज्ञे, सख्यौ कलातरसपक्षे, अधुना पूर्वं यथा भवतु, इदानीमपि, ते तव स्वपेक्ष्यर्थ । 'कृत्याना कर्त्तरि वा' इति कर्त्तरि पष्ठो । न पुन नैव, उपेक्ष्ये अवहेलनीये, 'मर्मज्ञ न प्रज्ञोपयेत्' इति न्यायात् सत्स्वरमेव रात्वा ते प्रसादनीये, अन्यथा सर्वमेव रहस्य ते प्रकाशयिष्यत इति भावः ॥ १३२ ॥

वाङ्मनिकर उज (कला और उसकी सखी को छोड़कर अन्य) सखियोंने कहा कि—'हे नीतिशास्त्रको पढ़ी हुई दमयन्ति ! (तुम्हारे) मर्म (रहस्य—सन्मोगादि वृत्तान्त) को जाननेवाली उन दोनों ('कला' तथा उसकी सखी) को इस समय भी तुम्हारे द्वारा उपेक्षा नहीं होनी चाहिये अर्थात् तुम उन दोनोंकी उपेक्षा मत करो, [क्योंकि उपेक्षित वे दोनों तुम्हारे रहस्यको सबके समक्ष प्रकट कर देंगी] ॥ १३२ ॥

उच्चैरुच्चेऽथ ता राजा सरसीयमिदमाह य ।

श्रुत मर्म ममैताभ्या दष्ट मर्म मयेतयो ॥ १३३ ॥

उच्चैरिति । अथ सखीवामुक्तवचनश्रवणानन्तरम्, राजा नल, ता सखी, उच्चैः सारस्वरेण, तासां नदा दूरप्रयाणादिति भावः । उच्चैः वामाये । 'उच्चैरवोचिरे राजा' इति पाठान्तरम् । किमिति ? य युष्माकम्, इयम् एषा सखी वयस्या दमयन्ती, इदं वक्ष्यमाणम्, आह वक्ति । किमिति ? एताभ्या कलातरसखीभ्याम् । मम म, मर्म रहस्यवृत्तान्त, श्रुतम् आकणितम्, न तु दष्टम्, मया भोग्या तु, एतयो कला तरसपक्षयो, मर्म रहस्यम्, गोपनीया इति स्वार्थः । दष्ट प्रत्यचीकृतम्, आर्त्तभूतवक्षा भ्यन्तरादिति भावः । श्रवणाद्दर्शनस्य अधिकविश्वास्यतया अहमपि सर्वमेव प्रकाशयितुं शक्यामीति मर्मश्रवणाच्छर्शनं तु सहमिति तात्पर्यम् ॥ १३३ ॥

१ 'उपेक्ष्येते' इति पाठान्तरम् । २ उच्चैरवोचिरे राजा' इति पाठान्तरम् । ३ 'तत्तु मयाऽनयो' इति पाठान्तरम् ।

इम (दमयन्तीमे सखियोंके बैसा (२०१३२) कइने) के बाद राधा (न७) ने उन (सखियों) मे कहा-तुम्हारी यह सखी (दमयन्ती) यह कहती है कि-मेरे मर्म (रहस्य-सम्भोगवृत्तान्त) को उन दोनों ('कला' तथा उमको मरती) ने सुना है अर्थात् लेशमात्र भी देखा नहीं है, (किन्तु) मैंने इन दोनोंके मर्म (पापनीय अङ्ग-स्नानादि) को देखा है अर्थात् केवल सुना ही नहीं है, अपि तु देखा भा है । [अतएव यदि ये सुने हुए मेरे (दमयन्तीके) रहस्यको दूसरोंके सामने कहेंगी तो मे (दमयन्ती) इन दोनोंके प्रारब्ध देखे हुए रहस्य-गुप्ताङ्गोंका वगन उमरोंके सामने कर दूंगी, क्योंकि सुननेका अपेक्षा देखने का महत्त्व अधिक होता है, अतएव इनकी अपेक्षा करनेसे भी मेरी कोई हानि नहीं होगी] ॥

मद्विरोधितयोर्वाचि न श्रद्धातन्त्र्यमेतयो ।

अभ्यपिञ्चदिमेभाया-मिध्यामिहामने विधि ॥ १३४ ॥

मदिति । किञ्च, हे सख्य । मया दमयन्त्या सह, विरोधितयो सजातवैरयो, वहिष्करणानुमोदनात् शत्रुभाषापक्षयोरित्यर्थ । एतयो सकृद्यो, वाचि वचने, न श्रद्धातन्त्र्य न विशसितस्यम्, युष्मामिरिति शेष । तथा हि-विधि प्रज्ञा, इमे सख्यौ, माया कपटता, मिथ्या अनृतम्, तयो सिंहामने भद्रासने, अभ्यपिञ्चत् जलवर्षणेन अभियुक्तवान्, मिथ्याकपटतयो आकरत्वेन कल्पितवानित्यर्थ । तस्मात् मयि मिथ्याचरणस्य सर्वथा सम्भावनामत्वात् एतयो मिथ्याप्रज्ञापो न शब्देय इति निष्कर्ष ॥ १३४ ॥

(बाहर निकालनेके कारण) मुझ (दमयन्ती) से विरोध की हुई इस दोनों ('कला' तथा उमकी सखी) की बातोंपर (तुमभोग) विश्वास मन करना (क्योंकि विरोधी प्रायः भवर्तमान दोषोंको ही कहने हैं), और अज्ञाने इन दोनोंको माया तथा असत्यके सिंहासन पर अभियुक्त किया है अर्थात् ये माया करने एवं असत्य बोधनेमें सबसे बड़ी-बड़ी हैं ॥

धौतेऽपि कीर्त्तिधाराभिश्चरिते चारुणि द्विप ।

मृषामपीलवैर्लक्ष्म लेखितु के न शिल्पिन १ ॥ १३५ ॥

धौतेऽपीति । कीर्त्तिधाराभि यश प्रवाहै धौते विशुद्धे, अत एव चारुणि मनो-हरेऽपि, द्विप शत्रो, चरिते स्वभावे, मृषामपीलवै मृषा मिथ्यादोषारोप एव, मयी 'काली' इति प्रसिद्धलेखनसाधनद्रव्यविशेष, तल्लवै तद्विन्दुभि, अतएवात् किञ्चि-भ्रमात्रैरिति भाव । लक्ष्म कलङ्कम्, लेखितु चित्रितुम्, उत्पादयितुमिति यावत् । के, जना इति शेष, न शिल्पिन १ शिल्पकुशला न १ अपि तु सर्वेऽपि कुशला एवे-त्यर्थ । भवन्तीति शेष । मम शुभ्रे चरित्रेऽपि इमे मिथ्याकलङ्कम् अवश्यमेव आवि-ष्कुर्यात्तामिति भाव ॥ १३५ ॥

कीर्त्तिधाराओं (यश समूहों) से धोये गये (अत एव) स्वच्छतम शत्रुके चरित (के

१ 'मद्विरोधितयोर्वाचि' इति पाठान्तरम् । २ 'श्रद्धास्यध्वम्' इति पाठस्तु समीचीन ।

अथवा—अन एव तुम्हें भी सम्मोकार्थ लज्जाका त्याग कर देना चाहिये । अथवा— ऐसी ('कला' तथा उसका सत्तीके समान) अदन्तोत्प्राप्तिणी एव निर्लज्ज कोई भी सखी मोटी (वही) भी नहीं है अर्थात् इन दोनोंके समान अदन्तोत्प्राप्तिणी एव निर्लज्ज सखी मैंने वही भी नहीं देखा है ॥ १३९ ॥

अहो ! नापत्रपाकते जातरूपमिदं मुखम् ।

नातितापार्जनेऽपि स्यादितो दुर्धर्षनिर्गम ॥ १४० ॥

अहो इति । जातरूप जात सम्भूतम् , रूप सौन्दर्य यस्य तादृशम् , सम्पन्न सौन्दर्यम् , स्वर्णमण्डलमित्यर्थं । सुवर्णं च । 'सुवर्णञ्चामीकर जातरूपम्' इत्यमरः । इदं दृश्यमानम् , ते नव, सुन्द वदनम् , अपगता दूरीभूता, त्रपा लज्जा परमात् तत् अपत्रपम् । दौषिक कप्प्रत्ययः । तत् न भवतीति नापत्रपाक सलज्जमिति यावत् । नजयेत् न शब्देन समाम् । दृश्यते इति शेषः । 'लज्जा रूप कुलखीणाम्' इति नीतिशास्त्रात् सलज्ज ते वदनम् अतीव रमणीयदर्शन जातमिति निष्कर्षः । अन्पत्र-पत्रस्य पत्रोक्तस्य, कण्टकवेषयोग्यतन्काशितस्येत्यर्थः । यद्वा-पत्रे पात्र विशेषे इत्यर्थः । द्रवीकरणार्थं मृद्गाजनविशेषे इति यावत् । पाक द्रवीकरण द्रवीकरण वा, विहायितासम्पादनाय इति भावः । पत्रपाक तद्रहितम् अपत्रपाक न भवतीति नापत्रपाक पत्रपाकविशुद्धमेवेत्यर्थः । अतितापार्जनेऽपि सखीकृतपरिहास जनितलज्जामिवन्धनघोडामासावपि, अत्यन्तदाहकरणेऽपि च, इतः अस्मात्, शोभ नवर्गयुक्तात् मुखत् , सुवर्णाच्च, दुर्धर्षनिर्गम कर्कशवचननिर्गम, श्यामिकाति र्गमश्च, न स्यादिति विराधः, अत एव अहो ! आश्चर्यम् !, सखीकृतप्रबलकुलखीणा तेषां अपि मुखत् दुरचरनिर्गमन न स्यादिति विग्रमिति विरोधपरिहारात् विरोधाभासांश्लङ्कारः ॥ १४० ॥

(नरुने दमयन्तीम कहा है दमयन्ति !) सौन्दर्य-सम्पन्न (जातरूप = सुवर्ण और सुवर्ण मण्डल) यह (दिखाद पढ़नेवाला) तुम्हारा मुख नापत्रपाके—लज्जा से रहित नहीं है अर्थात् 'लज्जा रूप कुलखीणा' इस नीतिशास्त्र के अनुसार सलज्ज तुम्हारा मुख अनि रमणीय दीख रहा है । (सुवर्णपद्मे नापत्रपाक अर्थात् पीटकर कण्टक वेष योग्य पत्ता किया गया सुवर्ण का मन्त्रीकरण अथवा पत्र—पात्र विशेषमें द्रवीकरणसे रहित अर्थात् पत्रपाकसे विशुद्ध है ।) सखियों द्वारा किये गये परिहास से उत्पन्न अतिताप (मनकी पीडा) के प्राप्त होनेपर भी (सुवर्णपद्मे अतितापार्जनेऽपि अत्यन्त तपाने पर भी) हम तुम्हारे वर्णयुक्त तुम्हारे मुखमें दुर्धर्षनिर्गम कठोर वचन नहीं निकल रहा है (सुवर्णपद्मे सुवर्णते काला पन नहीं निकल रहा है) यह आश्चर्य है । सखियोंके परिहाससे प्रबल दुःखके उत्पन्न होनेपर तुम्हारे मुखमें कठोर वचन नहीं निकल रहा है यह आश्चर्य है । इस विरोधके परिहारसे यहां विरोधाभास अलंकार है ॥ १४० ॥

तामथैप हृदि न्यस्य ददौ तल्पतले तनुम् ।

निमील्य च तदोयाङ्ग-सौकुमार्यमसिस्वदत् ॥ १४१ ॥

तामिति । अथ उत्तररूपभाषणानन्तरम्, एष नल, ता प्रियाम्, हृदि वक्षसि, न्यस्य निधाय, तल्पतले शय्योपरि, तनुं स्वदेष्टुम्, ददौ स्थापितवान्, शयितवान् इत्यर्थः । तथा निमील्य चक्षुषीं मुद्रयित्वा, इत्यानन्दानुभवोक्तिः । प्रगाढसुखानुभवकाले चक्षुर्निमीलनस्य लोकादृष्टत्वादिति बोध्यम् । तदोयाङ्गस्य प्रियाशरीरस्य, सौकुमार्यं मार्दवम्, असिस्वदत् अनुभवभूत इत्यर्थः । स्वदेष्टौ बह्व्युपधाइत्यः ॥ १४१ ॥

इस (देस (२५१२४०) कहने) के बाद ये (नल) उस (दमयन्ती) को हृदयपर रखकर अर्थात् आलिङ्गनकर पलङ्गपर लेट गये और (आलिङ्गनोत्पन्न सुखसे) नेत्रोंको बन्द कर उसके अङ्गोंकी सुकुमारताका आत्मादन (अनुभव) किये ॥ १४१ ॥

न्यस्य तस्या कुचद्वन्द्वं मध्येनीवि निवेश्य च ।

स पाणौ सफल चक्रे तत्करग्रहणश्रमम् ॥ १४२ ॥

न्यस्येति । स नल, तस्या भोग्या, कुचद्वन्द्वे स्तनयुगे, न्यस्य निधाय, पाणि-मिति शेषः । मध्येनीवि भीषीमध्ये, कटीतलवन्धनमध्ये इत्यर्थः । 'पारे मध्ये पष्ठया च' इत्यव्ययीभावः । निवेश्य प्रवेश्य च, स्वपाणिमिति शेषः । पाणौ स्वकरस्य, तत्करग्रहणश्रमं दमयन्तीपाणिग्रहणाश्रयम्, सफल सार्थकम्, चक्रे विदधे । तादृग्विधं प्रियाभ्यर्शस्तस्य महवानन्दफलमित्यर्थः ॥ १४२ ॥

उस (नल) ने हाथको उस (दमयन्ती) के दोनों स्तनोंपर रखकर तथा नींदकी बीचमें डालकर हाथके उस (दमयन्ती) के साथ करग्रहण (विवाह) के श्रमको सफल किया [दमयन्तीके करग्रहणमें जो हाथको श्रम हुआ था, उस हाथको दमयन्तीके मनोका मर्दनकर तथा नींदमें प्रविष्टकर चरितार्थ किया । अथवा—उस कर (राजप्राप्त भला-विशेष) के ग्रहणके श्रमको सफल किया । अथवा—अपने हाथसे दमयन्तीको रोकनेमें जो श्रम हुआ था, उसे सफल किया] ॥ १४२ ॥

स्थापितामुपरि स्वस्य ता मुदा मुमुदे बहन् ।

तदुद्धनकर्तृत्वमाचष्ट स्पष्टमात्मनः ॥ १४३ ॥

स्थापितामिति । मुदा हर्षेण, स्वस्य आत्मनः, उपरि वक्षसि, स्थापिता निदि-ताम्, ता प्रियाम्, बहन् धारयन्, मुमुदे आननन्द, नल इति शेषः । तथा आत्मनः स्वस्य, तस्या भोग्या, उद्धदने विवाहे, कर्तृत्वम् अधिकारित्वम्, स्पष्ट सुस्पष्टम्, आचष्ट कथयामास । अनुद्धतः, एवमुरसि बहनायोगादिति भावः ॥ १४३ ॥

हर्षमें अपने ऊपर (वक्ष स्पष्टपर) स्थापित उस (दमयन्ती) का बहन करते हुए उस (नल) ने स्वकृत उस (दमयन्ती) के उद्धनकर्तृत्वको (मैंने दमयन्तीका उद्धन

(उमके साथ विवाह) पश्चात्—ऊपर रखकर बहन किया दे, इस बातको) स्पष्टरूपसे कह दिया । [मैंने दमयन्तीको उद्वहन विवाह किया है, पश्चात्—ऊपर लेकर धारण किया है, इस बातको नलने दमयन्तीको अपनी छातीपर गिराकर धारण करते हुए स्पष्ट कह दिया] ॥ १४३ ॥

स्विद्यत्कराङ्गुलीलुप्तकस्तूरीलेपमुद्रया ।

कृ-कार्यपीडितौ चक्रे स ससीषु प्रियास्तनौ ॥ १४४ ॥

स्विद्यदिति । स नल, प्रियाया भैर्या, स्तनौ कुक्षौ, स्विद्यन्तीभि सत्त्वाद्यात् घर्मोदकार्द्राभिवन्तीभि, कराङ्गुलीभि निजकरशालाभि, लुप्त प्रमृष्ट, कस्तूरी लेप मृगमदप्रदेह, मृगमदकृतपत्रावलीत्यर्थ । स एव मुद्रा चिह्नम्, स्तनपीडन-विषये इति भाव । तथा, ससीषु चयस्यासु विषये, कृ-कार्यं कृ-कारेण दृष्ट्वैस्तर सुपानिलेन प्रशमनीयम्, पीडित पीडनम्, पीडनजनितवेदना इत्यर्थ । ययो सौ तादृशी कृ-कार्यपीडितौ, चक्रे विद्ध्ये । नल भैर्याकुक्षौ तथा पीडयामास, यथा नलस्य सार्विकभावोत्थघर्मोदकविलसाङ्गुलीभि कुचयो पद्मलेखा प्रोम्बिता जायन्ते, मुणयश्च तद् दृष्ट्वा प्रगाढपीडनेन कुचयोर्वेदना तीव्रामनुमाय कृ-कारेण ता प्रशमयितुम् अयतिपत इति निष्कर्ष ॥ १४४ ॥

उस (नल) ने (सार्विक भावके उद्भव होनेसे) पसीनती (स्वेदनलसे आर्द्र होती) अङ्गुलियोंसे नष्ट हुए (पीछे गये) कस्तूरीलेपके चिह्ने प्रिया (दमयन्ती) के स्तनोंको छूने योग्य पीडावाला (जिसे छूक-छूककर दूर किया जाय ऐसी पीडासे युक्त, पाठा०—पुकारकर उच्च स्वरसे कहनेयोग्य पाडावाला) कर दिया । [दमयन्तीके स्तनोंको कस्तूरी लेपकी नलकी स्वेदाद्र अङ्गुलियोंसे नष्ट हुआ देखकर 'नलने इन्हें अतिशय पीडित किया है' ऐसा समझकर सखिया मुखसे छूक-छूककर उसे पीडापरित करनेगी, ऐसा बना दिया । पाठा०—
—सखिया जोर-जोरसे कहने लगेगी कि 'नलने इसे अतिशय पीडित किया है'] ॥ १४४ ॥

तत्कुचे नखमारोप्य चमत्कुर्वस्तयेक्षित ।

सोऽवादीत्ता हृदिस्थ ते किं मामभिनन्देय न ? ॥ १४५ ॥

तदिति । नल, तत्कुचे दमयन्तीस्तने, नख कररुहम्, आरोप्य निखाय, घर्मकुर्वन् स्वयमेव आश्चर्येण सञ्जातरोमाञ्चो भवन्, तथा तथा दमयन्त्या, ईक्षित सस्मितमवलोकितश्च सन्, एव नल, ते तव, हृदिस्थ हृदयान्तर्गतम् । 'सुपि स्थ' इति कप्रत्यय, 'हृद्यम्याञ्च' हृद्युपसङ्ख्यानान् मस्यम्या अलुक् । मा नलम्, न अभिनन् न स्पष्टारयत्, किम् ? अपि तु अभिनन्देव । नो चेत् ममाङ्गप्वपि कथं चमत्कारनियन्धन । रोमाञ्चा समुत्पन्ना इति भाव । इति ता दमयन्तीम्, अवादीत्

अकथयत् । अत्र मैत्रीकुचनिष्ठस्य नखचतस्य नलहृदये चमत्कारजननात् असङ्गत्य
लङ्कार, 'कार्यकारणयोर्मिच्छदेशतायामसङ्गति' इति लक्षणात् ॥ १४५ ॥

वे (नल) हम (दमयन्ती) के स्तनपर नखचतन करके स्वयं चिद्रुक्ने हुए तथा (नख
क्षण करनेमें) उस दमयन्तीसे अवलोकित होकर उस (दमयन्ती) से बोले कि—'इस नखने
तुम्हारे हृदयमें रहनेवाले मुझको नहीं भेदन किया क्या ? अर्थात् अवश्य भेदन किया,
अथवा मैं इस नखचतसे सद्मा क्यों चिद्रुक् गया ? ॥ १४५ ॥

अहो ! अनौचित्य ते हृदि भुद्धेऽप्यशुद्धवत् ।

अङ्ग मलैरिवाकल्पि नयैस्तीक्ष्णमुखैर्मम ॥ १४६ ॥

अहो इति । हे प्रिये ! तीक्ष्णमुखै निष्ठुरवाग्भि, मलैरिव असङ्गतैरिव, तीक्ष्ण
मुखै मिशितामै, मम मे, नयै करुणहै, शुद्धे अदुष्टेऽपि, ते तव, हृदि हृदये, कुचे
इति यावत्, अशुद्धवत् अशुद्धे इव, सक्षोषे इत्येत्यर्थ । 'तत्र तस्येव' इति वति
प्रत्यय । अङ्ग कलङ्क, चिह्नज्ञ, अकल्पि कल्पित कृत इत्यर्थ, अहो ! इति खेदे,
इयं निर्दोषेऽपि क्षोषकवचना, अनौचित्य अयुक्तम्, अभूदिति शेष । अहो इति 'भोव'
इति प्रगृह्यतश्चाया 'स्तुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इति प्रकृतिसम्बन्ध ॥ १४६ ॥

तीक्ष्णाग्र इन मेरे नखोंन तुम्हारे निशोच स्तनोंपर जो (नखक्षणके द्वारा) चिह्न
(पक्षा०—कलङ्क) कर दिया, वह उम प्रकार अनुचिन्त है, जिस प्रकार कङ्क भाषण करने
वाले दुष्टोंका दोषरहित व्यक्तिमें जो सक्षोष होनेका कलङ्क लगाना अनुचिन्त होता है, अहो !
यह (मेरे नखका अनुचित बनाव) करना आश्चर्य है । [यद्वापर नयने स्वकृत नखक्षणका
क्षोषरहित दमयन्तीको प्रसन्न करनेके लिए ही स्वयं कहा है] ॥ १४६ ॥

यच्छुम्बति नितम्बोरु यदालिङ्गति च स्तनौ ।

भुङ्क्ते गुणमय तत्ते वाम शुभदशोचितम् ॥ १४७ ॥

यदिति । हे प्रिये ! गुणमय सूचमतन्तुरचित सौशीलयादिविशिष्ट, ते तव,
वास वसन, वश्रित सुभगपुरुषत्र । कर्तुं । नितम्बौ ऊरु च नितम्बोरु नितम्बद्वय
संश्लिष्यद्वयञ्च । प्राण्यद्भवात् द्वन्द्वैकवद्भावे । यत् शुम्बति स्पृशति, ओष्ठधारस्पृष्ट
करोति च, यच्च स्तनौ कुर्वी, आलिङ्गति आलिलप्यति, तत् शुभदशाना शुभानां
शोभनानाम्, दशानां प्रान्तवर्तितन्तूनाम्, ज्योति शाम्भ्रप्रसिद्धशुक्रादिशुभग्रहाव
स्थानाञ्च, उचितम् अर्हम्, भुङ्क्ते एकत्र-स्पर्शरूप भोग करोति, सुदृश्यदशासम्भ्र
नितवसनस्पर्श तव प्रियत्रेन तद्धारणादिति भावः । अन्यत्र-सोर्गामक सुखमनु
भवति शुभग्रहाणा इष्टि विना तव नितम्बादिस्पर्शरूपभोगासम्भ्रवादिनि भावः ।
'दशाऽवस्थादीपवत्सो वदन्ते भूमिं योषिति' इति मेदिनी । 'शुभग्रहदशाया
हि भुङ्क्ते जन शुभ फलम्' इति ॥ १४७ ॥

गुणयुक्त (मङ्गल सूत्रे उक्त गया, पक्षा०—औदार्यं शौर्यादि गुणमयिन) तुम्हारा

नन्तर स्तनपटको प्राप्त किया और तदनन्तर सघन जघनको प्राप्त किया अर्थात् नलने पहले दमयन्तीके मुखकमन्ती, नदनन्तर स्तनपटको तदनन्तर परस्परमें आदिलष्ट जघनको देखा । [यहाँपर मुक्तादिके साथ 'अम्बुज, तट तथा घन' शब्दका प्रयोग करनेसे उनकी दशनीयता सूचित होती है] ॥ १५१ ॥

इत्यधीरतया तस्य हठवृत्तिविशङ्किनी ।

भट्टित्युन्थाय सौत्कण्ठमभावन्वसरत् सखी ॥ १५२ ॥

इतीति । इति उत्कप्रकारया, तस्य स्वप्रियस्य नलस्य, अधीरतया कामजयाश्च क्षेपेन हेतुना, हठवृत्ति बलात्कारप्रवृत्तिम्, विशङ्कते सम्भावयतीति सा साहसी, भैमी भैमी, हटिति महमा, उपाय वज्रम्, नलवचोदेशादिति भावः । सौत्कण्ठ सौत्कलिकम्, स्वरितप्रस्थानार्थमुत्सुका सतीत्यर्थः । सखी वयस्या, अन्वसरत् अन्वगाच्छत् ॥ १५२ ॥

इम प्रकार (२०१५०—१५१) उस (नल) की अधीरता, मे (मुरतार्थ) बलात्कार करनेकी आज्ञा करती हुई वह (दमयन्ती) बहुत शीघ्र (परङ्क, या—नलके वक्ष स्थल) से उठकर उत्कण्ठा सहित हो सखियोंके पीछे चली । [अत्यन्त रसाक्त होना दोषोत्पादक है तथा रसका त्याग भी नायकके नीरसताका उत्पादक है, अत एव यहाँपर कविसम्राट् श्रीहर्षने रमानरका वर्णनकर सम्भोग स्फुरारको चरमसीमा तक पहुँचानेके लिए दमयन्ती तथा नलको भिन्न स्थानमें पहुँचानेका उपक्रम किया है] ॥ १५२ ॥

न्यवारीय यथाशक्ति स्पन्द मन्द प्रितम्बता ।

भैमी कुचनितम्बेन नलसम्भोगलोभिना ॥ १५३ ॥

न्यवारीयेति । भैमी दमयन्ती, नलस्य नैषधस्य, सम्भोगलोभिना मर्दनस्पर्शनादिरूपसम्भोगलालसेन, कुचनितम्बेन स्तनद्वयेन जघनगुम्फेन च । प्राण्यह्मत्वादेक बलात् । अत एव स्पन्द भैम्या एव गमनम्, मन्द मन्दरम्, स्वल्पोभूतमित्यर्थः । प्रितम्बता कुर्वता सता, गतिं प्रतिघट्णता इत्यर्थः । आत्मनोरतिपीनत्वेन गुरुभारत्वादिति भावः । यथाशक्ति सामर्थ्यानुसारेण, न्यवारीय निवारिता, सम्भोगप्रतिबन्धात् त्रिवेन सता अल-सम्भोगा मा गच्छ इति न्ययेधीव हस्युत्प्रेक्षा ॥ १५३ ॥

नलके साथ सम्भोग करनेके लिए लोभी (अन एव अधिक मारयुक्त होनेसे दमयन्ती के) गतिको मन्द करनेवाले स्तनों तथा नितम्बोंने यथाशक्ति मानो दमयन्तीको (नलको छोटकर जानेमें) निषध-मा किया । [सखी तथा नितम्बोंके बड़े-बड़े होनेसे दमयन्ती उत्कण्ठान्वित होती हुई भी शीघ्रगतिसे नहीं जा सकती] ॥ १५३ ॥

अपि श्रोणिर्भरस्वैरा धत्तुं तामशम्भ स ।

तदङ्गमङ्गजस्तम्भो गजस्तम्भोरुदोरपि ॥ १५४ ॥

अपीति । स नल, गजस्तम्भौ आलाने इव, हस्तिबन्धनस्थूणे इवेत्यर्थः । उरु महान्तौ, दोषौ भुजौ यस्य स तादृशोऽपि महामुजोऽपि । 'भुजशालू प्रवेष्टो दो' इत्यमरः । तस्या दमयन्त्या, अङ्गसङ्गात् देहस्पर्शात्, जायते उत्पद्यते इति तादृशः, स्तम्भ निष्क्रियाद्गताल्लक्षणसात्त्विकविकारः यस्य स तादृशः सन्, श्रोणिभरेण नितम्बभारेण, स्वैरा मन्दा मन्दगमनामपि इत्यर्थः । 'मन्दस्वरद्धन्दयो स्वैरम्' इत्यमरः । ता प्रियाम्, घत्तुं प्रहीतुम्, निरोद्धुमिति यावत् । न अशक्तं न समं योऽभूत् । स्वयं निर्व्यापारस्य किं सहकारिसम्पदा ? इति भावः ॥ १५४ ॥

(हाथी बाँधनेके छम्भेके समान लम्बे तथा विशाल बाहुवाले होने हुए भी उस (दमयन्ती) के शरीर एतद्वन्त्य स्तम्भ ('जडश' रूप सात्त्विक भाव) युक्त उन (नल) ने निम्बोंके भारसे मन्दगामिनी (पाठा०—पराधीन-इच्छानुसार तीव्रगतिसे नहीं चल सकनेवाली) उस (दमयन्ती) को नहीं पकड़ सके । [क्योंकि कर्तव्यशून्य व्यक्तिके सहायक कुछ भी नहीं कर सकते हैं] ॥ १५४ ॥

आलिङ्गालिङ्ग तन्वङ्गि । मामित्यर्द्धगिर प्रियम् ।

स्मित्वा निष्ठृत्य पश्यन्ती द्वारपारमगादसौ ॥ १५५ ॥

आलिङ्गेति । असौ भैमी, तन्वङ्गि । हे कृशाङ्गि । मा नलम्, आलिङ्ग आलिङ्ग आरिख्य आरिख्य, इति एवम्, अर्द्धां अन्यकृतं कथयणभयात् अर्द्धस्फुटा, गी वाक् यस्य त तादृशम्, प्रिय पतिम्, स्मित्वा मन्द हसित्वा, निष्ठृत्य, परावृत्त्य, पश्यन्ती अवलोकयन्ती सती, द्वारस्य कपाटस्य, पार चरमभागम्, अगात् गतवती । द्वारम् अतिचक्राम इत्यर्थः ॥ १५५ ॥

'हे तन्वङ्गि । मेरा आलिङ्गन करो, आलिङ्गन करो' ऐसा आवा (दूसरेके सुननेके मयने अस्फुट या—वाक्य दोष उच्चारण करनेमें नन्वके असमर्थ होनेसे अर्द्धोक्त) वचन (कहने) वाले प्रिय (नल) को स्मितकर तथा लौटकर देखती हुई वह (दमयन्ती) दरवाजेसे बाहर चली गयी ॥

प्रियस्याप्रियमारभ्य तदन्तर्दूनयाऽनया ।

शेके शालीनयाऽऽलिभ्यो न गन्तु न निवर्त्तितुम् ॥ १५६ ॥

प्रियस्येति । प्रियस्य पश्यु नलस्य, अप्रियम् अतिक्रमरूपम् अप्रीतिजनक व्यापारम्, त विहाय गमनरूपव्यापारमित्यर्थः । आरभ्य आचरित्वा, तेन अप्रिया चरणेन, तदित्यत्र 'तम्' इति पाठे—तत्पूर्वोक्तरूपमप्रियमित्यर्थः । अन्त अन्त करणे, दूनया परितः सया । 'ओदितश्च' इति निष्ठा 'न'त्वम् । शालीनया अष्टयया, स्वभावत एव सलज्जया इत्यर्थः । अनया भैम्या, आलिभ्य सखीभ्य, गन्तुम् अपि यातुमपि । 'गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यां चेष्टायामनध्वनि' इति चतुर्थी । न शेके न शक्तम् । भावे लिट् । अन्तर्दूनत्वादिति भावः । तया निवर्त्तितुं प्रियं प्रव्यामन्तुश्च, प्रियसन्निधौ

१ 'तमन्त—' इति पाठान्तरम् ।

प्रत्यावर्त्तनं कर्त्तुं मित्यर्थः । न शोके इत्यनेनाश्रयः । शालीनतयैवेति भावः । लज्जा विपादाभ्याम् उभयतः आकृष्यमाणत्वादिति तात्पर्यम् ॥ १५६ ॥

प्रिय (नल) का अप्रिय (सम्मोगेच्छातिक्रमणकर गमनरूपकार्य) करके अन्तःकरणे पश्चात्तापयुक्त यह (दमयन्ती) सखियोंके प्रति नहीं जा सकती और बाह्यार्थमावयुक्त अर्थात् अतिशय लज्जाशीला होनेसे लौट जा नहीं सकती [प्रियका अप्रियाचरणकर बिना उन्हें प्रसन्न किये चला जाना अनुचित समझकर दमयन्ती द्वारदेशको लोंघकर अपने सखियोंके पास नहीं जा सकी तथा 'हमलोगोंके पीछे आकर भी यह दमयन्ती सम्मोग करनेके लिए पुनः नलके पास चली गयी' ऐसा सखिया मनने कहेंगी इस लज्जामें, अथवा—'यह पहले तो शानमें चली गयी और अब फिर स्वयं चली आया' ऐसी श्रवके प्रति ही उत्पन्न लज्जामें वह दमयन्ती द्वारदेशको लोंघकर कुछ देर तक रुक गयी] ॥ १५६ ॥

अकथयद्य वन्दिसुन्दरी द्वा सविधमुपेत्य नलाय मध्यमह ।

जय नृप ! दिनयौवनोद्गततप्ता प्लवनजलानि पिपामति क्षितिस्ते ॥ १५७ ॥

अकथयदिति । अथ दमयन्तीनिर्गमनान्तरम्, वन्दिसुन्दरी काचित् वैतालिकछो,

हृद्यान्तःपुरे पुरपप्रवेशनिषेधादिति भावः । द्वा सविध द्वारसमीपम्, उपेत्य समागत्य, नृप ! हे राजन् ! जय सर्वाङ्गपेङ्गवत्स्व, अहं मया मध्याह्नकाह्न समागत इत्यर्थः । अतः पृथु दिनस्य दिवसस्य, यौवन तात्पर्यम्, पूर्णावस्था इत्यर्थः । मध्याह्न इति यावत् । तस्य उष्मणा सन्तापेन, तप्ता उष्णीभूता, क्षिति, धरणी, ते तव, प्लवनजलानि स्नानोदकानि, पिपामति पानुमिच्छति, तापस्य पिपासाहेतुत्वादिति भावः । इति नलाय नैषधाय, अकथयत् अवदत्, मध्याह्निकस्नानकालोऽयमवधार्य सामिति तात्पर्यार्थः ॥ १५७ ॥

इस (दमयन्तीके बाहर चले जाने) के बाद दूरीकी स्त्रीने द्वारके समीप आकर मध्याह्नकाह्न होनेकी सूचना दी—'हे राजन् ! विजयी होवें, दिनके तापवशी उष्णतासे समस्त पृथ्वी आपके स्नानजलको पीना चाहती है अर्थात् आपके स्नानका समय हो गया है ॥ १५७ ॥

उपहृतमधिगङ्गमम्बु कम्बुच्छवि तव बाह्वृक्षति केशभङ्गिसङ्गात् ।

अनुमन्त्रितुमन्तर तरङ्गासमशमनस्वस्मृतिश्रमावशोभाम् ॥ १५८ ॥

उपेत्य । किञ्च, कम्बुच्छवि शङ्खच्छायम्, शङ्खवत् शुभ्रप्रममित्यर्थः । अधिगङ्ग गङ्गायाः । विभवार्थेऽव्ययीभावः । उपहृतम् आनीतम्, कलशेन गङ्गातः समानीतमित्यर्थः । अम्बु गङ्गाजलम् इत्यर्थः । तव ते, केशभङ्गया कुटिलकृष्णकुन्तलजातस्य, सङ्गात् स्पर्शात्, अनन्तर सङ्गात् परमित्यर्थः । तरङ्गैः उमिभिः, असमाया विपमाया, निर्गोजताया इत्यर्थः । शमनस्वसु अतिकृष्णायामुनाया, मिश्र भावस्य मेलनस्य, शोभा सौन्दर्यम्, अनुमन्त्रितुं प्राप्तुम्, बाह्वृक्षति हृच्छति । शुभ्रग

गङ्गाजलमध्ये कुटिलकृष्णकेशकटाप निमज्ज्य स्नानं कुरु, ततश्च शुभ्रतरस्य गङ्गाजलस्य
'कृष्णतरकेशपाशसङ्गे प्रयागजलशोभा भविष्यतीति भाव । निदर्शनालङ्कार ॥१५८॥

शङ्क के समान (स्वच्छ) कान्निवाला, लाया गया गङ्गाजल आपके (काले एव) टेढ़े
केशों के ससर्गमे बादमें तरङ्गोंसे असमान (गङ्गासे भिन्न अर्थात् कृष्णवर्ण, अपना—वशावच
'निम्नोन्नत') यमुनाके मिलनेकी शोभाको चाहता है । [आप वहाँमें लाये गये शुभ्र
गङ्गाजलमे स्नान करें, जिससे आपके टेढ़े एव कृष्णवर्ण केश—समूहके साथ मिलकर उस
गङ्गाजलकी शोभा टेढ़े एव कृष्णवर्ण तरङ्गोंवाली यमुनामें मिलनेके समान हो] ॥ १५८ ॥

तपति जगत एव मूर्द्धिन् भूत्वा रश्मिधुना त्वमिवाद्भुतप्रतापः ।

पुरमथनमुपास्य पश्य पुण्यरश्मितमेनमनन्तर त्वदीयै ॥ १५९ ॥

तपतीति । एवम् ह्य भवानिव, अद्भुतप्रताप आश्रयतेज सम्पन्न, एकत्र—
कोपदण्डजप्रभावशाली, अन्यत्र—मध्याह्नकालिकप्रखरकरसम्पन्न इत्यर्थः । रवि
सूर्य, अधुना इदानीम्, जगत पृथिव्या, मूर्द्धिन् एव शिरसि एव, आकाशस्य
उपयथेति यावत्, भूत्वा स्थित्वा, तपति सन्ताप ददाति, एकत्र—दुर्जनान् दासित,
अन्यत्र—जगन्ति सन्तापयतीत्यर्थः । तनन्तर ततश्च स्नानोत्तरकालम्, पुरमथन
शिवम्, उपास्य अर्चयित्वा, त्वदीयै पुण्यै तव सेवासुकृते, हवेति शेष । अधरित
मस्तकोपरिभागात् श्यावितम्, तदा मध्याह्नापगमात् अचस्ताद्गतमित्यर्थः । एन
रविम्, पश्य अवलोक्य, प्रणामार्थमिति भावः । पुरहरप्रसादात् सूर्याभ्यधिकप्रतापो
भविष्येति इत्यर्थः ॥ १५९ ॥

आपके समान आश्चर्यजनक प्रताप (क्षात्र तेज, पक्षा०—किरणोष्णता) वाला यह
सूर्य सत्सारके ऊपर (सबके मस्तकपर, पक्षा०—सबसे ऊपर आकाशमें) होकर तप
(दुष्टोंका शासन, पक्षा०—सत्सारको सन्तप्तकर) रहा है, (आप) शङ्करजीकी उपासना
करके बादमें मानो आपके पुण्योंसे अधोभूत इस सूर्यको देखिये । [शिव पूजन करनेके
बाद सूर्यको नमस्कार करें और देखें कि इस समय यद्यपि यह सूर्य आपके समान ही प्रतापी
है, किन्तु आपके शिव पूजन करनेके बाद मानो उस पूजनसे उत्पन्न आपके पुण्यके प्रभावसे
यह सूर्य नीचा हो गया है । दोपहरके बाद रविव एव पश्चिम दिशाकी ओर दले हुए सूर्यको
नन्हे शिवपूजनजन्य पुण्योंसे नीचा होनेकी गम्योपेक्षा की गयी है] ॥ १५९ ॥

आनन्द हृत्माहरन्निव हरध्यानार्चनादिक्षण-

स्यासत्तानपि भूपति प्रियतमाविच्छेदखेदालसः ।

पक्षद्वारदिश प्रति प्रतिमुहुर्द्राङ् निर्गतप्रेयसी-

प्रत्यावृत्तिधिया दिशन् दृशमसौ निर्गन्तुमुत्तस्थिचान् ॥ १६० ॥

आनन्दमिति । हरस्य शिवस्य, ध्यानार्चनादिक्षणस्य मन समाधानपूर्वकचिन्ता
पूजादिसमयस्य । आसत्तौ समीपवर्तित्वेऽपि, प्रियतमाविच्छेदखेदेन प्रेयसीवियोग
दुःखेन, अलस जड, कर्त्तव्यविमुख इत्यर्थः । असौ अयम्, भूपति राजा नल

द्राक् शटिति, निर्गताया निष्क्रान्ताया, प्रेयस्या, प्रियतमाया भैम्या, प्रत्यावृत्ति
धिया पुनरागमनबुद्ध्या, पञ्चद्वारदिश प्रतिपार्श्ववृत्तिकपाटप्रदेशमुद्दिश्य, तेनैव
द्वारेण प्रत्यागमनसम्भवादिति भावः । प्रतिमुहु पुन पुन, दश दष्टिम्, दिशन्
व्यापारयन्, दृढ बलपूर्वक यथा तथा, स्वत एव आनन्दलभासम्भवादिति भावः ।
आनन्द प्रेयसीसमागमहर्षम्, आहरन् इव पशवर्त्तयन् हव, निर्गन्तु गृहात् निर्धां
नुम् उत्तस्थिवान् दाश्यात् उज्जयाम् ॥ १६० ॥

(शिव-पूजनके समय (मध्याह्न, अथवा—शिव-पूजनरूपी उत्सव) के समीप होनेपर
भी बलात्कारपूर्वक गये (बोले) हुए भी आनन्दको मानो आकृष्ट करते हुए तथा परमप्रिया
(दमयन्ती) के वियोगजन्य निःश्रुतिसे आलस और एकाग्र निकली (बाहर गयी) हुए
प्रियतमाके लौटनेके कारण सामीप्य होनेकी बुद्धि (दमयन्ती लौटकर हजर आ तो नहीं
रही है इस विचार) से द्वारकी ओर दृष्टि बाळते हुए ये राजा नल बाहर जानेके लिए
पलङ्गसे उठे । [यद्वापर कविसंघाट श्रीहर्षने चार श्लोको (२०१५७-१६०) से अग्रिम
संगकी सङ्गति सूचित कर दी है] ॥ १६० ॥

श्रीहर्षं फधिराजराजमुकुटालङ्कारहीर सुत

श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवी च यम् ।

अन्याधुष्णरसप्रमेयभणितौ विशस्तदीये महा-

काव्येऽयं व्यगलल्लभ्य चरिते सर्गो निसर्गोऽब्जल ॥ १६१ ॥

श्रीहर्षमिति । अर्थ अपरै, अधुष्णा अस्पृष्टा, पूर्वम् अनालोचिता इत्यर्थः ।
रसा शृङ्गाराद्य, प्रमेया वाक्यार्थाश्रया, यासु भणितेषु वाक्येषु तस्मिन् । 'तृती
यादिषु भाषितपुस्कपुवत्' इत्यादिना पुष्पज्ञाव । तदीये श्रीहर्षकृते, महाकाव्ये ।
विशतीति पूरणे षटि, 'ति विशते' इति शब्दस्य लोपः । गतमभ्यस्य ॥ १६१ ॥

इति मञ्जिमाधसूरिविरचिते 'जीवातु'समाख्यानं विश सर्ग समाप्त ॥ २० ॥



कवीश्वर-रसूत्रके क्रिया, उसके रचिन दूसरे (श्रीहर्षभिन्न कवियों) से
अनभ्यस्त शृङ्गारादि रसके प्रमेयों (वक्तृक्ति, ममासक्ति, उत्प्रेक्षा आदि) के वधन (या-
गुप्यन) वाले सुन्दर 'नल-चरित' अर्थात् 'नैषध चरित' का यह बीसवा सर्ग
समाप्त हुआ । (शेष व्याख्या चतुर्थ समस्त समझनी चाहिये) ॥ १६१ ॥

यद् 'माणप्रभा' टीका में 'नैषधचरित'का बीसवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ २० ॥



१ 'भणितौ, भाषितपुस्कम्' इति 'प्रकाश' व्याख्यान चिन्तयम्, तस्य नित्य
स्तीत्वात् ।

एकविंशः सर्गः ।

तं विदभरमणीमणिसौधादुज्जिहानमनुदशितसेवै ।

अर्पणामिजकरस्य नरेन्द्रैरात्मन करदत्ता पुनरुचे ॥ १ ॥

तमिति । विदभरमण्या वैदर्भ्या दमयन्त्या, मणिसौधाद् रत्नमयप्रासादात्, उज्जिहान निर्गच्छन्तम्, त नलम्, अनु प्रति, त लक्ष्यीकृत्य इत्यर्थः । दर्शितसेवैः दर्शिता अन्तःपुरद्वारि प्रणामादिना विज्ञापिता, सेवा आराधना, आनुगत्यमित्यर्थः, ये सैः । अनोल्लस्यार्थे कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया । नरेन्द्रै अधीनराजन्ये शर्गैः, मिजकरस्य स्वस्वहस्तस्य, अर्पणात् दानात्, सोपानावतरणसमये नलाघ हस्तावलम्बनदानादित्यर्थः । आत्मन स्वस्य, कर हस्तवलिं च ददातीति करद । 'वलिहस्ताशेष करः' इत्यमरः । तस्य माघ तत्ता, पुन भूयोऽपि, वलिदानादेव करदत्वे सिद्धे पुनर्हस्तदानेन करदत्ता इति पुनरुक्तिरिति भावः । ऊचे वभाषे । एतेन नलस्य चक्रवर्तिनश्च घोरयते ॥ १ ॥

विदभदेशकी रमणी (दमयन्ती) के मणिमय प्रासादसे निकलने हुए उस (नल) के प्रति (प्रणामादिके द्वारा) सेवा प्रदर्शित किये हुए राजाओंने अपने हाथ (पञ्चा०—राजदेय भा०) के देनेसे अपने करदातृत्व (हाथ पञ्चा०—कर = राजदेय भागको देनेके भाव) को पुन कष्ट दिया । [सभा राजाशेख पहलेसे सार्वभौम नलके लिए कर देते थे, वे इस समय प्रासादसे बाहर जाने हुए नलके सीढियोंसे उतरते समय अपने हाथका सहारा देकर उस करदातृत्वको मानो पुन कष्ट] ॥ १ ॥

तस्य चीनसिचयैरपि बद्धा पद्धति पदयुगात् कठिनेति ।

ता प्यधत्त शिरसा खलु माल्यै राजराजिरभितः प्रणमन्ती ॥ २ ॥

तस्येति । राजराजि सामन्तनृपपङ्क्तिः, अभित समन्तात्, प्रणमन्ती आभूमि शिरो नमयन्ती सती, चीनसिचयै चीनदेशीयपट्टवस्त्रै, बद्धा आच्छादिता अपि, पद्धति मार्गः, तस्य नलस्य, पदयुगात् चरणयुगलात्, कठिना कठोरा, इति हेतोः । 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी । ता पद्धतिम्, शिरसा मूर्ध्नि, माल्यै मालाभिः सावनैः, प्यधत्त पिहितवती, खलु इति उच्छेद्यायाम् । पदयुगलादपि भूमे कठिनत्वात् तत्र पदविन्यासे वेदनाप्राप्तिसम्भवादिति भावः ॥ २ ॥

चीन देशोत्पन्न मृदु तथा सूक्ष्म वस्त्रमे आच्छादित भी मार्गः उस (नल) के चरणद्वयमे कठोर है (अत एव इनको उस पर चलनेमें सम्भावित कष्टको दूर निवारण न होनेके लिए मार्गके दोनों ओरसे प्रणाम राजश्रेणि-पङ्क्तिवद्ध राज-ममूह) ने अस्तकोंकी मालाओंसे उस (मार्ग) को आच्छादित कर दिया । [कोमल नलके चरणोंको कठिन मार्गमें गमन करनेमें कष्ट होनेकी सम्भावनामे राजाओंका अपनी अस्तकस्थ मुकुटमालाओंसे उस मार्गको मृदुनम

बनाता उचिन ही था । मुकुटको माला गिरने तक बर्षात बहुत बिलम्ब तक राजालोग नरम रनक हो नरको सादर दण्टवत् प्रणाम किया] ॥ २ ॥

द्रागुपाह्वित तस्य नृपेस्तदृष्टिदानबहुमानकृतार्थे ।

स्वस्वदिश्यमथ रत्नमपूर्य यत्नकल्पितगुणाधिकचित्रम् ॥ ३ ॥

द्रागिति । अध प्रणामानन्तरम् , तस्य नलस्य, दृष्टिदानम् अक्षिनिषेप एव, तेषु नृपेषु तदानीतरत्नेषु च इति भावः । बहुमानः समादरः, तेन कृतार्थे सफलधर्मैरित्यर्थः । नृपैः सामन्तराजभिः, स्वैषा स्वैषा दिशि भव स्वस्वदिश्य निजनिजदेशोपलभम् । 'तत्र भव' इति यत्-प्रत्ययः । यत्नेन समादरेण, कल्पितं शाण्डर्यणादिना सम्पादितं, गुणैः औज्ज्वल्यसुन्दरवस्त्रादिधर्मैः, अधिक प्रकृष्टम्, श्रेष्ठमित्यर्थः । चित्रम् आश्चर्यम्, अपूर्व पूर्वं केनाप्यप्राप्तम्, रत्नमणिः, तस्य नलस्य सम्बन्धे, द्वाक् शीघ्रम्, स्वमतिक्रम्य गमनसम्भाषणया इति भावः । उपाह्वित उपायनीकृतम् ॥ ३ ॥

धन (नल) द्वारा (राजाओंको) देपना ही (राजाओंका) बहुत सत्कार हुआ, उसमें हुआध अर्थात् नलके दृष्टिदानरूप बहुमानमें कृतकृत्य राजाओंने अपनी-अपनी दिशाओं (पाठा०—अपनी दिशा) में उतरा, बड़े यत्नमें किये गये गुणोंमें अधिक आश्चर्यकारक (पाठा०—जो कल्पित गुणमें अधिक आश्चर्यकारक नहीं है ऐसा अर्थात् स्वभावतः अधिक गुणयुक्त गोलाकार उज्ज्वलरत्नम एव देदीप्यमान होनेसे) अपूर्वरत्नको (ये राजारानेधर महाराज नल मेरे सामनेसे आगे न बढ़ जायें, इस भावनासे) अतिशीघ्र भेंट किया ॥ ३ ॥

अङ्गुलीचलनलोचनभङ्गिभ्रतरङ्गिनिवेदितदानम् ।

रत्नमन्यनृपढीकृतमन्ये तत्प्रसादमलभन्त नृपास्तत् ॥ ४ ॥

अङ्गुलीति । अन्ये अपरे, नृपा राजानः, अङ्गुलीचलनेन अङ्गुलीकम्पनेन, अङ्गुली निर्वेशनेत्यर्थः । लोचनभङ्ग्या नेत्रसङ्केतेन, भ्रतरङ्गेन भ्रुवोश्चाहनेन च, निनिवेदित विज्ञापितम्, दानस्याग यस्य तत् तथोक्तम्, अन्ये अपरे, नृपैः राजभिः, वांकि तम् उपकृतम्, तत् पूर्वोक्त रत्नम्, तस्य नलस्य, प्रसादम् अनुग्रहस्वरूपम्, अलभन्त प्राप्नुवन् । एकस्मात् लब्ध रत्नज्ञातम् अन्यस्मै प्रदत्तं, न तु कोपातारे निश्चितम् इति अस्य दातृत्वम् अनुजीवितोषण विवेकिरवबोधोक्तम् ॥ ४ ॥

दूसरों (चिरकालम सेवा करनेवाले, या-तत्काल आये हुए) राजाओंने (अङ्गुलीके हिलाने (अङ्गुलिसेसङ्केत करने) से, नेत्रमङ्गुलीमें तथा भ्रतरङ्गमें बलबलया गया है दान जिसका ऐसे, दूसरे राजाओंके भेंट किये हुए रत्न को उस (नल) के (द्वारा दिया गया) प्रसाद (प्रसन्नराज्य पारिताधिक) पाया । [राजाओंके दिये गये उत्तमोत्तम रत्नको अङ्गुलि, नेत्र या भ्रुवा सङ्केतकर नलने दूसरे राजाओंके लिए अपने प्रसादरूपमें दिलवा दिया । इन अमूल्य रत्नको भी स्वयं न लेकर या कोषमें जमा न कराकर दूसरे-दूसरे

१ 'स्वस्व दिश्यमथ' इति, 'दिश्यम्' इति, 'यत्नकल्पित'—इति च पाठान्तराणि ।

राजाओंको अङ्गुलि आदिका सङ्केतकर पारितोषिकरूपमें दिलवानेसे नरका लोमामाव अधिक उदारता एवं भृत्योंके प्रति दयालुता सूचित होती है] ॥ ४ ॥

तानसी कुशलसूनुतसेकैस्तर्पितानथ पितेन विसृज्य ।

अखशस्त्रखुरलीपु विनिन्ये शैष्यकोपनमितानमितौजा ॥ ५ ॥

तानिति । अथ उपहारप्रहणदानानन्तरम्, अमितम् अतुलनीयम्, भोज तेज यस्य तादृश, अमौ नल, कुशलस्य कुशलप्रश्नस्य सूनुतस्य सत्यप्रियवचनस्य च, पीयूषरूपस्येति भावः । सेवै वर्षणै, उक्तिभिरित्यर्थः । तर्पितान् प्रीणितान्, तान् नृपान्, विष्णुस्य सग्रेष्व, गमनाय अनुमत्य इत्यर्थः । शैष्यवेण शिष्यात्वेन । 'दोष घादगुरुपोतमादयुज' । उपनमितान् समेतान्, युद्धविचार्य शिष्यभावेन समागतानित्यर्थः । नृपानिति दोषः । पितेन जनक इव, अस्त्रेषु धनुरादिषु, दास्त्रेषु पश्यादिषु, खुरलीषु भ्रमणविशेषेषु, अखशस्त्राणां खुरलीषु प्रयोगसहाराविषयेषु इति वा, विनिन्ये शिचित्तवान् ॥ ५ ॥

इस (उपहार-स्वीकार करने) के बाद अपरिमित बटशाला इव (नष्ट) ने कुशल प्रश्न तथा सत्यप्रिय भाषणोंसे सन्तुष्ट किये गये इन राजाओंको नेत्रकर शिष्यभावेन (शिष्य बनकर) भावे हुए राजाओंको अस्त्र (धनुष-बाणादि), दास्त्र (मर्दंग, कुत्र, आदि) तथा खुरली (भ्रमण—भ्रमण-विशेष, अथवा—अस्त्र-दास्त्रके प्रयोग एवं प्रहार करने) में विनाश समान शिक्षित किया ॥ ५ ॥

मर्त्येदुःप्रचरमस्त्रविचारस्त्रातु शिष्यजननामनुशिष्य ।

स्वेदविन्दुक्रितगोचिरधीर म श्वमश्वमश्वान्तनेच्छ ॥ ६ ॥

मर्त्येति । स नल, मर्त्येषु मनुष्यलोकेषु, दुःप्रचरम् अविद्यमानप्रचरम्, अस्त्र विचारम् अस्त्रविद्याम्, शिष्यजनता शिष्यमूतनृपसमूहम्, चातु सुष्ठु यथा भवति तथा, अनुशिष्य शिक्षयित्वा, स्वेदेन घमोदनेन, विन्दुक्रित मज्जाविन्दुक, गोत्रि छटाट यस्य स तादृश मन् । 'छटाटमटिक गोत्रि' इत्यमरः । अधीरम् अशिष्य यथा भवति तथा, श्वमन् श्वमज्जनितदीर्घदीर्घशाम त्यजन्, आच्छ्रयत श्मनम्, तद्विन्दु तद्विन्दुशी, अमवत् अजायत ॥ ६ ॥

(नष्टकर) मनुष्यमात्रमें अविद्यित अस्त्र-विचार (अत्युन्नत प्रयोग तथा प्रहार) शिष्य-समूहको अच्छी तरह (अथवा—प्रौढ मर्दोंको शिष्य-समूहको) शिक्षाकर स्वेदशिक्षा सुत्त छटाटवाले तथा अधिक श्मन छेदे (छेदने) हुए उम (नष्ट) ने श्मन करवाया ॥ ६ ॥

यस्यकर्तृममृदून्मृद्विताङ्ग शान्तुरङ्गमङ्गीलितमौलिम् ।

गन्धराभिरनुधन्विनमृङ्गैरङ्गना मिरिचुङ्गकुशस्तम् ॥ ७ ॥

१ 'शिष्यतोष-' इति पाठान्तरम् ।

यचेति । उच्चा उच्चता, वृक्षा स्तना यासा तादृश्य, अङ्गना स्त्रिय, प्राक् प्रथमम्, यद्वकदंमेन कर्पूरादियोगजेन सुगन्धिस्नानीयचूर्णेन । 'कर्पूरागुरुकस्तूरीक क्कोलैर्यत्नकदंम' इत्यमर । मृदु कोमल यथा तथा, उन्मृदित शोधितम्, अङ्ग शरीर यस्य ॥ तादृशम्, तथा कुरङ्गमदेन कस्तूर्या, मौलित सम्बन्ध प्रापित, लिप्त इति यावत्, मौलि मस्तक यस्य त तादृशम्, त नलम्, अनुबन्धिता अनुबन्ध गमिता, स्वसौगन्धात् सयोग प्रापिता इत्यर्थः । मृद्धा अमरा येषु सै तादृशै, गन्धवाभि गन्धोदकै माघनै, सिषिषु मिक्तवस्य, स्नपयामासुरित्यर्थः ॥ ७ ॥

यक्षकदम्बके उषदन गाये हुए अङ्गोवाले तथा पहले कस्तूरीसे लिप्त शिरवाले नङ्गके उन्नत स्तनोपाठी (चुबना) स्त्रियोने (अधिक सुगन्धि होनेसे) अमर जिसपर आ रहे हैं ऐसे सुगन्धयुक्त पानीसे नहलवाया ['अमरकोषके अनुसार 'कर्पूर, अगुरु, कस्तूरी और कङ्कोल' से, तथा 'गरुडपुराणके अनुसार उक्त चारों द्रव्य तथा चन्दनसे बनाये गये उषदन को 'यक्षकदंम' कहते हैं । इसके विषयमें मिश्र-भिन्न मन जाननेके इच्छुकोंको अमरकोषकी मरहट्ट 'मणिप्रभा' व्याख्याकी 'अमरकौमुदी' नामक टिप्पणी देखनी चाहिये] ॥ ७ ॥

भूमृत पृथुतपोधनमामस्त शुचि स्नपयति स्म पुरोधाः ।

सन्दधजलधरस्खलदोषास्तोर्थवारलहरीरुपरिष्ठात् ॥ ८ ॥

भूमृतमिति । तदनन्तर आस विश्वस्त, शुचि शुद्ध पुरोधा पुरोहित, जलधर धान् नलपूर्णघटात्, स्खलन् पतन्, ओष प्रवाह यासा ता तादृशी, तीर्थ तारीणा गङ्गादितीर्थोदकानाम्, लहरी तरङ्गान्, धारा इति यावत्, उपरिष्ठात्, उपरिष्ठात् कोपरिभागे । 'उपर्युपरिष्ठात्' इति निपातनात् साधु । सन्दधत् सन्दधान धृत् वर्षयन् सन् इत्यर्थः । पृथुता महता, तपसा तपस्यया, घन परिपूर्णम्, भूमि राजानम्, त नलम्, स्नपयति स्म अभिषिञ्चति स्म, स्नापितवान् इत्यर्थः । अन्यथा, आस प्राप्त, शुचि आपाट । 'शुचि शुद्धेऽनुपहते श्रद्धारापादयोरेपि' इति विश्व । जलधरेभ्य मेघेभ्य, स्खलन् पतन्, ओष प्रवाहो यासा ता तथोक्ता, तीर्थवारि लहरी पूनजलप्रवाहान्, उपरिष्ठात् मस्तकोपरि, सन्दधत् सन्दधान, वर्षयन् सन् इत्यर्थः । पृथो तदाख्यस्य वेणुपुत्रस्य नृपभेदस्य, 'पृथु स्यात् महति त्रिषु । त्वक् पय्या कृष्णजारेऽङ्गो पुमानग्नौ नृपान्तरे ॥' इति मेदिनी । तपसा तपस्याप्रभावेण, घनम् अभिषिञ्चत्यम्, दटमित्यर्थः । त प्रसिद्ध, भूमृत भूमिधर, हिमालयादिपर्वत मित्यर्थः । 'भूमृद् भूमिधरे नृपे' इति विश्व । स्नपयति स्म । अङ्गना सामान्यजलेन

१ तद्यथा—'कर्पूरागुरुकस्तूरीक्कोलैर्यत्नकदंम ।' इति (अमर २।६।१३३) ।

२ तद्यथा—'तथा कर्पूरमगुरु कस्तूरी चन्दनन्तथा ।

क्कोलश्च भवेदेभि पञ्चभिर्यत्नकदंम ॥' इति ।

पुरोधा समन्वकतीर्थोदकेन त स्नपयति स्म हति बोद्धव्यम् । अत्र द्वितीयार्थस्य प्रकृते अपर्यवसानाद् उपमाध्वयौ पर्यवमान ज्ञेयम् ॥ ८ ॥

१४ (अङ्गनाओंके सम्बन्ध, या-उप्योदकेने स्नान कराने) के बाद द्वितीयार्थ तथा मन्त्राचारविधि (परम्परायुक्त) पुरोहितने, जलपूरा स्वर्ज्यमे गिरने हुए प्रवाहवाने तथा (प्रयागादि) तीर्थोंके जलके तरङ्गोंको (जलके) ऊपरमें धारा कराने हुए, बहुत (चान्द्रा यादि वनस्प) तदस्याओंमें पूर्ण वन रात्रि (नल) को स्नान कराया । (पञ्चा— जेयोंसे गिरने हुए प्रवाहवाने तथा पवित्र जल-प्रवाहको ऊपर (शिखरपर) धारा करते हुए वगलिय आवाह मानने 'पृथु' नामक राजाके प्रभावसे स्थिर वन (प्रसिद्धतम हिमालयादि) पर्वतको स्नान कराया था अर्थात् वन पर्वत शिखरपर वन वरसाता था । [अङ्गनाओंके सामान्य जलसे स्नान करानेके बाद उक्त पुरोहितने मन्त्रपूर्वक तीर्थोदकेने जलको स्नान कराया] ॥ ८ ॥

प्रेयसीकुचमियोगहृजिर्मुग्धजन्मधूमविततीरिव बिभ्रन् ।

स्नायिन करसरोरुहयुग्म तस्य गर्भधृन्दर्भमराजन् ॥ ९ ॥

प्रेयसीति । स्नायिन भन्त्रवज्जलेन स्नान कुर्वन्त, तस्य नलस्य, गर्भे अभ्यन्तरे करतले इत्यर्थ, घृष्टानि गृहीतानि, दर्भाणि कुशा येन तत् तादृशम्, स्नानकाले कुशाप्रहणस्य शास्त्रीयत्वादिति भावः । यद्वा—स्नायिन हृन्स्नानस्य, तस्य नलस्य गर्भे मध्यमाकनिष्ठयोस्तलले, अनामिकायामित्यर्थः । एत परिहित इत्यर्थः । दर्भ कुशा, कुशाङ्गुरीयको येन तत्तादृशम्, करयो पाण्यो एव, सरोरुहयो कमलयो युग्म द्वयम्, प्रेयस्या दम्पत्या, कुचयो स्तनयो, त्रियोपहृजिर्मुग्ध विरहवद्भे, जन्म सम्भव यस्य तथाभूतस्य, धूमस्य वितती, सम्तती विघ्नविघ्न धातपदिव, अराजत् अशोभत । नूतनदर्भाणां श्यामवर्णराजत् धूमसाम्यमिति शेषम् ॥ ९ ॥

(प्रयागादि तीर्थोंके जलसे स्नान करके) स्नान करते हुए (या—स्नान किये हुए) वन (नल) के अनानिका अङ्गुलि के बीचमें कुशाको धारण किये हुए दोनों करकन प्रियता (दम्पती) के स्तनोंको विरहान्वितने वगल धूम-सङ्घको धारा करते हुएके समान शोभित हुए ॥ ९ ॥

कल्प्यमानममुनाऽऽचमनार्थं गाङ्गमम्बु चुलुकोदरचुम्बि ।

निर्मलत्वमिलितप्रतिबिम्बा द्यामयन्द्वादुपनाय करे नु ? ॥ १० ॥

कल्प्यमानमिति । अमुना नलेन, आचमनार्थम् उपस्पृशन्तार्थम्, कल्प्यमान गृह्यमाणम्, अत एव चुलुकस्य प्रसृतस्य, निरुद्धपाणोरित्यर्थः । उदर मध्यम्, चुम्बति स्पृशतीति तादृशम्, गाङ्ग गङ्गासम्बन्धि, अम्बु जलम् । कर्तुं । निर्मलत्वेन स्वच्छत्वेन हेतुना, मिलित संयुक्त, तत्र निपतित इत्यर्थः । प्रतिबिम्ब प्रतिच्छाया

यस्या तथोक्तम्, धाम् आकाश स्वर्गज्ज । 'धौ' स्वर्गसुरवर्त्मनो' इत्यमर । करे हस्ते, उपनीय सस्थाप्य, अयच्छत् तु ? अददात् किम् ? प्रजाम्य इति शेष । दाना यैव तत्प्रहणसम्भवादिति भाव । धौ शब्दस्य स्वर्गाकाशवाचित्वाच्छ्लेनोक्तिः ॥१०॥

इम (नल) के द्वारा आचमन करनेके लिए जुल्लमें लिये हुए गद्गामलने स्वच्छान्न प्रतिविम्बित आकाश (पक्षा०—स्वर्ग) को लाकर हाथमें दे दिया है क्या ? [लोकमें से दुलम वस्तुको लाकर पुण्यात्मा तथा प्रियतम व्यक्तिके हाथमें दे दिया जाता है] ॥ १० ॥

मुक्तमाप्य दमनस्य भगिन्या भूमिरात्मदयित धृतरागा ।

अङ्गमङ्गमनु किं परिरेभे त मृदो जलमृदु गृह्यालुम् ? ११ ॥

मुक्तमिति । भूमि तिलकार्थं गृहीता रत्नवर्णा मृत्तिका, अत्र स्मृति — 'विश्व गौरमृद प्रोक्ता चत्रा रक्ता प्रकीर्त्तिता' इति । दमनस्य भीमात्मजस्य, भगिन्या सोदरया दमयन्त्या, मुक्त स्नानार्थं परित्यक्तम्, मृद तिलकार्थं मृत्तिका, गृह्यालु, प्रहीतारम्, आत्मन स्वस्य दयित प्रियम्, पतिमिति यावत् । राज्ञोऽभूपतित्वादिति भाव । त नलम्, आप्य लब्ध्वा, घृत गृहीत, वद्ध इत्यर्थ । राग स्वभावात् एव रत्नवर्णं अनुरागश्च यथा सा तथोक्ता सती । 'रागोऽनुरागे मात्सर्ये वलेशे च लोहि तादिषु' इति विश्व । जलेन स्नानोददेन, मृदु कोमलम्, अङ्गम् अङ्ग ललाटादिक प्रयत्नयवम्, अनु लक्ष्मीकृत्य, परिरेभे आलिङ्गि किम् ? अन्याऽपि सपत्न्या दूरेऽवस्थित वल्लभ प्राप्य सानुरागा सती यथा प्रत्यङ्गमालिङ्गति तद्वदिति भाव । ललाटादिषु द्वादशाङ्गेषु मृत्तिलकानि चकारेति निष्कर्षः ॥ ११ ॥

दमयन्तीसे मुक्त (छोड़े गये—पृथक् स्थित, तथा तिलकके लिए) मिट्टीको लेनेवाले, अपने पति वस (नल) को राग (लाजिमा, पक्षा०—अनुराग) से युक्त पृथ्वी (मिट्टी) ने जल (द्वारा स्नान करने) से कोमल प्रत्येक अङ्गका आलिङ्गन किया ? [जिस प्रकार कोई सपत्नी को किसी दूसरी सपत्नीसे पृथक् किये गये, उसे चाहेते हुए पतिको प्रत्येक अङ्गका आलिङ्गन करती है, उसी प्रकार पृथ्वीने दमयन्तीसे पृथक् स्थित तिलकार्थ मिट्टीको हाथमें प्रार्थन करते हुए नलके जलसे कोमल अर्थात् सुख-स्पर्श प्रत्येक अङ्गोंका मानो सानुराग होकर आलिङ्गन किया । नलने प्रत्येक अङ्गमें लालवर्णको मिट्टीका तिलक लगाया] ॥

मूलमध्यशिरसरश्रितवेध शौरिशम्भुकरकाङ्घ्रिशिर स्थै ।

तस्य मूर्द्धिन् च करे शुचि दमैर्वारि वान्तमिव गाङ्गतरेङ्गैः ॥१२॥

मूलमिति । मूलमध्यशिरराणि दर्शनाम् आदिमध्याग्राणि, श्रिताना यथाक्रम प्राप्तिनाम्, वेध शौरिशम्भूना ब्रह्मविष्णुरुद्राणाम्, अत्र स्मृति — 'कुशमूले स्थितो ब्रह्मा कुशमध्ये तु केशव । कुशाग्रे शङ्करः विद्यात्त्रयो देवाः कुशस्थिताः' इति । करकाङ्घ्रिशिरश्च कमण्डलुपादमस्तकेषु, तिष्ठन्ति वर्तन्ते इति तथोक्तैः, गाङ्गैः गङ्गासम्बन्धिभि तरङ्गैः कर्मिभिः, वाप्त निष्ठयूतम् इव, स्थितमिति शेष । शुचि

निर्मलम्, चारि गङ्गोद्भक्तम्, दमै कुशै, कर्तुंभि । तस्य नलस्य, मूर्त्ति शिरसि,
चक्रं कीर्णम्, नल कुशाग्रजलेन 'आपोद्दिष्टा' इत्यादि मन्त्रं पठन् मान्त्रस्नान कृत
वान् इत्यर्थ । 'वृ विक्षेपे' इति घातो कर्मणि छिट् ॥ १२ ॥

(कुशाग्रे) मूल, मध्य तथा उग्र भागमें निवास करने वाले कमल जला, विष्णु तथा
शङ्करके कर्मक्ष कम्पण्डल, चरण तथा मस्तकमें स्थित गङ्गाके तरपोंसे निकले हुए निर्मल
(पं १०—पवित्रतम) जलको कुशाग्रेमें डस (नल) ने मस्तकपर छिटका अर्थात् मार्जन
किया । [पुराणोंमें प्रसिद्धि है कि गङ्गाके कमण्डलु, विष्णुके चरण तथा शङ्करके मस्तकमें
गङ्गाका भवदा निवास रहता है । नान्ने कुशाग्रेसे अपने मस्तक पर गङ्गा-जल छिटककर
माजन किया] ॥ १२ ॥

प्राणमायतवतो जलमध्ये मज्जिमानममजन्मुत्पन्नस्य ।

आपगापरिवृद्धोदरपूरे पूर्वकालमुपितस्य सुधाशो ॥ १३ ॥

प्राणमिति । जलस्य उदकस्य, मध्ये अग्न्यन्तरे, प्राणमायतवत प्राणायाम कृत
वर्ण अस्य नलस्य, मुख वदनम्, कर्तुं । पूर्वकाल समुद्रमग्न्यभात् प्राक्, आपगाप
रिवृद्धस्य नदीभक्तुं समुद्रस्य, उदरपूरे जलगर्भप्रवाहमध्ये, उपितस्य कृतवासस्य,
सुधाशो चन्द्रस्य, मज्जिमान सौन्दर्यम्, अमजन् जलमत्, समुद्रोदरमध्यस्थचन्द्र-
सदृश दर्शनीयमभूदित्यर्थ ॥ १३ ॥

जलके भागर प्राणायाम किये हुए इस नलका मुख (समुद्र-मग्न्यसे) पहले समुद्रके
प्रवाहके भातर वर्णमाल चन्द्रके सौन्दर्यको प्राप्त किया । [नासिका तथा मुखकी वायुका अट्टप
एव कनिष्ठामे प्रश्न, अवगोच तथा त्याग करने हुए अवमर्त्य करनेवाले नलका मुख समुद्र-
मध्यगत चन्द्रके तुल्य होमने लगा] ॥ १३ ॥

मर्त्यलोकमदन मदशान्ध बिभ्रदभ्रपिशदद्युति तारम् ।

अम्बर परिदधे विधुमौले स्पर्द्धयेव दशदिग्घसनस्य ॥ १४ ॥

मर्त्यलोकेति । मर्त्यलोकमदन मूलोक्तद्वयं, नल इति बोध । दश दशस-
ङ्गमता, दिश ककुभ एव दम्पन वक्ष यस्य तस्य दिग्गम्बरस्य, विधुमौले चन्द्रमौल-
रस्य, दाम्भोरित्यर्थ । स्पर्द्धयेव साम्यबोधहेतुकाहमिकयेव, मदनत्वादेव मदधारिणा
हरेण सह स्पर्द्धा युज्यते इति भाव । यदुक्तं दशभिः प्रान्तविलम्बिदीर्घतन्तुभिः
सह घर्त्तमागम, आकाशपद्मे—दशभिः दिग्दिग्भागे सह युक्तम्, तस्य भाव तत्र
सदृशत्वम्, विभ्रत धारयत्, 'ईषद्वैत नवशुभ्र सदृश यच्च धारितम्' इत्यादिस्मृत्या
सदृशवस्तुधारणस्य प्रशस्तत्वादिति भाव । तथा अम्बरेव शारदमेघस्येव, तदा
कस्य शुभ्रगतुविशेषस्येव वा, पिशदा शुभ्रा, द्युति प्रभा यस्य तत् तादृशम्, तार
महत् सूक्ष्मतर वा, अन्यत्र—अम्बरे मेघेषु, विशन्त्य प्रवेश कुर्वन्त्य, अत एव

अद्युतय दीप्तिरहिता, तारा नक्षत्राणि यस्मिन् तत्तादृशम्, अम्बर वस्त्रम् आकाशञ्च ।
‘अम्बरं ज्योतिर्न वाससि’ इत्यमरः । परिदधे परिहितवान् ॥ १४ ॥

शृंगलोकके कामदेव (नल) ने दश दिशारूपा बखवाले अर्थात् दिग्गम्बर चन्द्रशेखर (शङ्करजी) के साथ मानो स्पर्धा (‘मैं भी शङ्करजी बन जाऊँ’—मानो हम भावना) से किनारीयुक्त (पक्षा०—दश सरयायुक्त) शरत्तापीन देव (या—अन्नक) के समान (शुभ्र) कान्तिवाले, बड़े (या—अत्यन्त महीन) वस्त्र (पक्षा०—आकाश) को धारण किया । [कामदेवका कामदेव शङ्ख शङ्करजीके साथ स्पर्धाकर तत्तद्वत् होनेकी इच्छा करना उचित हो है । नलने पहले आर्द्रवस्त्र पहने ही लालचूत्तिकारा तिलक, कुशमार्जन तथा अयमर्पण किया, स्नाननर इवेन किनारीदार एव महीन वस्त्रको पहना] ॥ १४ ॥

भीमजामनु चलत् प्रनिबेल संयियसुरिव राजशृङ्गपीन्त्र ।

प्राववार हृदय स समन्तादुत्तरीयपरिवेषमिषेण ॥ १५ ॥

भीमजामिति । राजशृङ्गपीणाम् श्लेषित्व सदाचारसम्पन्नपतीना मध्ये । राजा श्लेषि, ‘श्लेषक’ इति प्रकृतिभावः । इन्द्र श्लेष, स नल, प्रतिबेलम् अनुसङ्गम्, भीमजाम् आत्मश्रिया दमयन्तीम्, ननु लक्ष्योक्त्य, चलत् गच्छत्, हृदय वक्षः अन्न शरणश्च, संयियसुरिव सयन्नुमिच्छुरिव, वदधुमिच्छु सनिवेश्यर्थः । स्वहृदयस्य सर्वज्ञः स्वविधाय अन्यत्र गमनस्य अन्यायवत् तस्य वन्दनेच्छा इति भावः । उत्तरीयस्य उत्तरासङ्गस्य, यः परिवेषः परिधिः हृदयोपरिवेष्टनमित्यर्थः । तस्य मिषेण व्याजेन, समन्तात् सर्वतः, प्राववार प्रावृत्तवान्, स्वहृदयमेवेति शेषः ॥ १५ ॥

रानधिराज (नल) ने प्रतिश्रुत दमयन्तीको श्लेषितकर चलने हुए—ते हृदय (वक्षः स्थल, पक्षा०—भय करण) को दुष्टद्वेमे बाधनेके छान्ने रोका । [एक वक्षसे किसी कर्नके अनुष्ठान करनेका निषेध होनेसे नलने दुष्टद्वेको ओटा] ॥ १५ ॥

स्नानधारिघटराजदुरोजा गौरमृत्तिलरविन्दुमुखेन्दु ।

केशोपजलमौक्तिकदन्ता त यमाज सुभगाऽऽप्लवनश्री ॥ १६ ॥

स्नानेति । स्नानधारिघटी स्नानीयोदरकुम्भावेव, राजन्तौ शोभमापी, उरोजौ हृदौ यस्या सा तादृशी, गौर शुभ्रवर्ण, शुष्कत्वादिति भावः । मृत्तिलरविन्दु मृत्तिकाकृतवस्त्रतिलकमेव, मुखेन्दु वदनचन्द्र यस्या सा तादृशी, केशोपाणि हस्तलेपु अवशिष्टानि, जलमौक्तिकानि मुक्तानुव्यवारिन्द्रिय एव, दन्ता दशना यस्या सा तादृशी, ‘नासिकोदर—’ इत्यादिना पक्षे ङीपो विधानादन्यत्र पक्षे टाप् । सुभगा रम्या, तलाङ्गसद्गलामादिति भावः । आप्लवनस्य श्री स्नानशोभा, त नल, यमाज सिपेये ॥ १६ ॥

स्नानार्थे जलके घटरूप स्नानवाली, गौरवर्ण मिथुके गोणकारविन्दुरूप मुखचन्द्रवाली, केशमे अवशिष्ट मोनीतुल्य जलविन्दुरूप दोनोंवाली सुन्दर (पक्षा०—सौभाग्यवती) स्नान

शोमाने उभ (नञ) का सेवन किया । ['ऊर्ध्ववृत्तिनिर्यगर्द्धचद्राकारा वर्णानां कमात्तिलका' अर्थात् 'ऊपर, मोलाकार, तिरछा और अर्द्धचद्राकार नाक्षत्रादि वर्णोंका क्रमशः तिलक होना है' इस दश-वचनके अनुसार नलके द्वारा लगाया गया मोलाकार भिष्टीका तिलक स्नानच्छमोके मुखचन्द्रमुख्य या और 'इत्यवर्त्तनं मार्जयेत्' अर्थात् 'स्नानके बाद हाथ या कपड़ेसे शिरको ज पोंछे' इस 'व्याप'—वचनके अनुसार शिर नहीं पोंछनेसे चेहरेमें मुखमुख्य जन्मकी वृद्धि स्नानच्छमोके दन्त मुख थी] ॥ १६ ॥

शैत्यशैत्यनलदैवतमन्त्रस्यादुताप्रमुदिता चतुरक्षीम् ।

वीक्ष्य मोघघृनमौरभलोभ घ्राणमस्य सलिलधमिवाभूत् ॥१७॥

शैत्येति । अथ जलस्य, घ्राण घ्राणेन्द्रियम्, नामिकेत्यर्थः । चतुर्गां चतु मङ्गल-
कामाम्, अज्ञाणा नयनत्वश्चोत्तरसनात्पामाम् इन्द्रियाणां समाहारः चतुरक्षी तां
चतुरक्षीम्, शैत्येन जलस्य श्वेततया, तेन नेत्र प्रमुदितमित्याशयः । शैत्येन जलस्यैव
शीतत्वेन, तेन च त्वक् प्रमुदितेत्याशयः । जल वारि, दैवत देवता यस्य तेन तादृशेन
मन्त्रेण 'ऋग्वेद सत्यञ्जामिध्यात्तपम्' इत्यादिमन्त्रा, तच्छब्देन च ओम्नेन्द्रियं
प्रमुदितमित्याशयः । तथा स्वादुनया जलस्यैव माधुर्येण च, तेन च रमना प्रमुदिते-
त्याशयः । प्रमुदिता प्रहृष्टाम्, वीक्ष्येव दृष्ट्वेव, मोघ व्यर्थं यथा भवति तथा, घृन
प्राप्त, सौरभे सौगन्ध्ये, द्रव्यान्तरस्येति शेषः । लोभ लोलुपता येन तत् तादृश
सत्, मल्लिजलम्, जिघ्रति घ्राणविषयीकरोतीति तत् तादृश मल्लिजलम् । 'आतोऽ
मुपसर्गो क' । अभूत् अजायत, अधमपंगवाळे ऋग्वेद इत्यादि मन्त्र पठन् जल
जिघ्रति श्वेतिति निष्कर्षः ॥ १७ ॥

(जलजी) स्वच्छता, शीतलता, अन्वेषणा (अवलोकन) मन्त्र तथा स्वादुते इवित
(क्रमशः—नेत्र, त्वक्, घ्राण और जीम—इत) आर इन्द्रियोंको देखकर शम (नञ) को
नामिका रूपमें ही (अन्य द्रव्यगत) सुगन्धके लोभको ग्रहण की हुई—सी अर्थात् मन्त्र
द्रव्यके सुगन्धको चाहती हुई—सी पातको सुगन्धी था । [पृथ्वीमें गन्धका होना पृथ्वीका
अभाषात् पुनः है, तथा जन्म उस गन्ध पुनःकी सर्वथा अभाव रहता है, द्रव्यान्तरसे सुवासित
रूपसे देवीकी स्नान करानेका शालीय निषेध होनेसे औदाधिक्य मोरनका मो वैयं जन्म
रुम्भव नहीं है, अतः एव द्रव्यान्तरमें सौगन्ध प्राप्त करनेका लोभ करनेवाली नाकने ओ जलको
सुगन्ध वद व्यर्थ ही था, लोभीका विवेकशून्य होकर निष्कण्ट प्रयास करना उचित ही है । नल
'ऋग्वेद मन्त्र' मन्त्रमें अधमपंगवा करने लगे] ॥ १७ ॥

(रांति भानुमदुपस्थितयेऽस्मिन्नात्तमभु किरिति स्वरूपेण ।

भ्रान्तय' स्फुरति तेजसि चक्रुस्त्वष्टृतुचलद्रकवितर्कम् ॥ १॥)

१ अथ श्लोक 'प्रकाश'व्याख्यया सहैवात्र निहितः । २ 'स्फुरिततेजसि'
इति पाठान्तरम् ।

राज्ञीति । अस्मिन् रात्रि आनुमत् सूर्यस्योपस्थितये उपस्थानार्थमात्र गृहीत मर्घदानसम्बन्धि अर्घ्यदानानन्तर वा । 'असावादित्य -' इत्यादिमन्त्रपूर्व जल शिर परित स्वपाणिना स्फुरति प्रकाशमाने तेजनि सौरप्रभाप्रसरे मध्ये गलद्भिन्दुक्रमेण क्षिरति सति भ्रान्तय क्षितोदकस्यैव प्रादक्षिण्यपरिभ्रमणात्रि लोकस्य त्वष्टुविधकर्मण तर्कु' शाणचक्र तत्र घर्षणवशाच्चलतो आगम्यतो त्रिचक्रपतनशीलतेज कणस्या वर्य वितर्क नद्विषय विदिष्टमूह चक्र । प्रकाशमानसौरप्रभाप्रदक्षिणप्रक्षिप्तगलद्भिन्दु जलप्रमगदर्शनेन विश्वभ्रमणा सूर्य पुनरपि शाणचक्रे घृत् किम् ? अत एवेतेऽण्व कणा पतन्तीति लोकस्य तदानीं बुद्धिरभूदित्यर्थ । आनुमदुपस्थितये गृहीतमनु स्वक्रेण विक्षिप्यस्मिन् रात्रि विषये लोकस्य भ्रान्तयो नष्टाद्भ्रमासरे प्रकाशमाने सति निशाणचक्रपतिभ्रमत्सूर्यमभावन । लोकस्य चक्ररिति वा । राज्ञा यदम्बु गृहीते तस्मिन्नुत्क्षिप्ते जले स्फुरति प्रतिफलति रचितेजनि जायमाना भ्रान्तयो भ्रमणानि त्वष्टतल्लुचलदर्शनकं चक्रु । उत्तिष्ठा अपो वियति भ्रमन्त्य , पतन्ति, तन्प्रतिविम्बिते तेजस्यपि भ्रमणानि जायन्ते । तत्रोपेक्षेति वा । अर्घ्यदान सूर्योपस्थानञ्च कृतवानिति भाव । 'स्फुरिततेजसी' ति पाठे जलविशेषणम् ॥ १ ॥

इस राज (नर) के सूर्योपस्थान करनेके लिए स्फुरित होने हुए सूर्य-प्रभा-समूहके मध्यमें ('असावादित्य ' मन्त्रोच्चारणपूर्वक) अपने हाथसे लिये हुए जलको फेंकनपर देखनेवालोंको घूमने हुए उस जलके पलनने विश्वकर्माके आगमपर पुन चढ़ाये गये सूर्यके मर्कटो डरान्न कर दिया अर्थात् सूर्योपस्थानके समय अपने शिरके चारो ओर घुमाकर फेंके गये जलमें सूर्यकी प्रभा पड़ी तो प्रदक्षिणक्रमसे गिरते हुए उस जलमें ऐसा शान होना था कि विश्वकर्माने अपने आगमपर सूर्यको पुन चढ़ाया है ॥ १ ॥

सम्यगस्य जपत श्रुतिमन्त्रा सन्निधानमभजन्त कराब्जे ।

शुद्धबीजविशदस्फुटवर्णा स्फाटिकाक्षवल्यचङ्छलभाज ॥ १८ ॥

सम्यगिति । शुद्धानि आगमोक्तक्रमोच्चारणाभिर्दोषाणि, बीजानि वद्विवाहगादि-मूलमन्त्राणि तेषु ते च ते विशदा निर्मला, स्फुटा स्पष्टाश्च, वर्णा अक्षराणि येषां ते चेति तथोक्ता । शुद्धबीजाश्च ते विशदस्फुटवर्णाश्चेति विरोधसमाप्त । प्रतिमन्त्रा वेदोक्तमन्त्रा गायत्र्यादयः, शुद्धानि अदुष्टानि, बीजानि गुह्यकानीत्यर्थ । यस्य तच्च नत् विशद शुभ्र, स्फुट उज्ज्वलश्च, वर्णं प्रज्ञापिरोप यस्य तच्चेति तत्, स्फाटिक स्फटिकमयम्, यत् अक्षवल्य जपमाला, तस्य छल घ्याजम्, भजन्ति आश्रयन्ति ये ते तादृशा सन्त, सम्यक् सुष्ठु यथा तथा, जपत जप कुर्वन्त, अस्य नलस्य, कर पाजिरेव, वल्ल कमलतस्मिन्, सन्निधान सान्निध्यम्, अभजन्त प्राप्ता, इवेति शेषः ॥ १८ ॥

(आगमोक्त क्रमसहित उच्चारण करनेसे) निर्दोष (बहि, वरुण आदिके) बीजोंसे स्फुट

अर्थात् मात्रादिके सम्यक् प्रकार उच्चारण करनेमें सन्देह रहित अक्षरोवाके (पञ्चा०—वत्सादि दोषहीन स्फटिकके मणिरूपी बीजोंमें स्वच्छमणिवाले, अथवा—मणिरूपी बीज ही हैं अक्षर जिनके देमें) तथा स्फटिकाभ्रमालाके कण्टको प्राप्त अर्थात् नलकी अधिक भक्तिमें स्फटिकाभ्र मालारूपमें परिणत होकर मूर्तिमान् हुए वेदमन्त्र सम्यक् प्रकारसे जप करते हुए इस (नल) के मामोप्यको प्राप्त नये अर्थात् समाप्तमें आकर साधव रूपमें रहने लगे । [नलने सूर्योपस्थान करनेके बाद स्फटिककी मालामें गायत्रीका जप किया] ॥ १८ ॥

पाणिपर्वणि यव पुनराख्यदेवतर्पणयन्त्रार्पणमस्य ।

न्युप्यमानजलयोगिनितौघै स द्विरुक्तकरकालतिलोऽभूत् ॥ १९ ॥

पाणिरिति । अस्य नलस्य, पाणे करस्य, पर्वणि ग्रन्थी, यव यवाकारा स्फटरेखा, देवतर्पणे देवसम्बन्धितर्पणक्रियायाम्, उवाचाम् अर्पण दानम् । कर्म । पुनराद्यत् पुनरुक्तम् अकरोत् । पुन पुनर्वाचमभाषतेवैश्वर्यं । पाणिपर्वस्थयवरेव तर्पणमम्पादनादिति भाव । तथा च नल, न्युप्यमानेव पित्र्य्य दीयमानेन । 'पितृदान निवाप इत्यत्' इत्यमर । जलेन बद्धकेन, युज्यन्ते मित्र्यन्ते ये सै तादृशै, तिलाना कृष्णतिलानाम्, ओघ समूहे करणे, द्विरुक्त वारद्वयमुक्त, पुनरुक्त इत्यर्थ । द्विगुणीभूत इति यावत् । करकालतिल पाणिम्यकृष्णवर्णतिलाकाररेखा यस्य स तादृश, अभूत् अजायत, इवेति शेष । नल, देवाना पितृणाञ्च तर्पण कृतघानिति भाव । भाग्यवता हस्ते यवाकारा तिलाकाराश्च रेखा दृश्यन्ते इति सामुद्रिका ॥

इम (नल) के हाथ (की अङ्गुलियों) के पर्व (गाँठों) में स्थित यव (सामुद्रिक शास्त्रा अनुसार शुभमूचक यवाकार चिह्नविशेष) ने देवतर्पणमें दिये गये यवकी पुनरुक्तकर दिया तथा पितृतर्पणमें जलके साथमें लिये गये तिल-समूह अर्थात् निर्गमे वे नल (पहलेसे ही हाथमें स्थित शुभमूचक) वाले निम्नके चिह्नसे पुनरुक्त हो गये । [नलके हाथकी अङ्गुलियोंके पर्वमें यव तथा तलइधीमें काले तिलका चिह्न पहलेसे ही था, अतएव क्रमशः देवतर्पण तथा पितृतर्पणमें नलने यव तथा तिल लेकर तर्पण किया तो वह यव तथा तिलका लेना पुनरुक्त हो गया । यवका हाथकी अङ्गुलियोंके पर्वमें तथा काले तिलका तन्मध्यमें होना सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार शुभमूचक माना जाता है । देव-तर्पण तथा पितृ-तर्पणका यहाँ वर्णन होने से हमके सम्पन्न ऋषितर्पणका भी करना सूचित होता है । नलने देवपितृतर्पण किया] ॥ १९ ॥

पूतपाणिचरण शुचिनोच्चैरध्वनाऽनितरपादहतैन ।

ब्रह्मचारिपरिचारिमुरार्चादेशम राजर्चापरेष विवेश ॥ २० ॥

पूतपाणिरिति । एष अयम्, राजर्चापि मुनितुल्यनृपति, नल, इति शेष ।

१ '—करतालुतिल' इति,—'करतालुतिल' इति,—'करनालुतिल' इति च पाठान्तराणि ।

‘नृत्यक’ इति प्रकृतिभाव । पूतौ प्रबालनेन पवित्रौ, पाणिधरणी हस्तपादौ यस्य स तादृश मन्, इतरेषा ब्रह्मचारिव्यतिरिक्तानाम्, पादै चरणै, हत क्षुण्ण इतर पादहत, तादृश न भवतीति अनितरपादहत तेन जनान्तरपादास्पृष्टेन, अत एव शुचिना शुद्धेन, श्रद्धा मार्गेण साधनेन, ब्रह्मचारिण ब्रह्मचर्यव्रतावलम्बिन एव, परिचारिण परिचारका यत्र तत् तादृशम्, उच्चै उच्चनम्, सुरार्चावेशम देवपूजा गृहम्, विवेश प्रविष्टवान् । पूजार्थमिति भाव ॥ २० ॥

(धोनेमे) पवित्र हाथ-पैरवाले राजपि नग्नमे दूसरेके चरणके स्पर्श नहीं होनेसे अर्थात् स्व मागमे दूसरेके नहीं जानेमे शुद्ध (अथवा—अधिक शुद्ध) मार्गसे (अथवा—जैसे सोपानमार्गसे) ब्रह्मचारी परिचारक हैं जिसमें ऐसे विशाल देव-पूजा-मन्दिरमें प्रवेश किया ॥ २० ॥

क्वापि यज्ञभूमि धूपजधूमैर्मैत्रिकागुरुभवैर्भ्रमराणाम् ।

भूयते स्म सुमन सुमन स्रग्दामधामपटले पटलेन ॥ २१ ॥

हेति । यस्य सुरार्चावेशमन, नभसि आकाशे, अग्न्यन्तराकाशे इत्यर्थः । क्वापि कस्मिंश्चित् प्रदेशे, सुमन सुमनसा मालतीपुष्पाणाम् । ‘सुमना पुष्पमालाधो’ इति मेदिनी । स्रग्दामभि मालासमूहे, कल्पितस्येति शेषः । धामन गृहस्य, गृहाकार-रचनाविशेषस्येत्यर्थः । पटले प्राप्ते, मैत्रिकागुरुभवे कृष्णागुरुसम्भवे, धूपजधूमै धूपाधधूम, भ्रमराणां मृदाणाम्, पटलेन समूहेन, भूयते स्म भूमम् । पुष्पाणामुपरि भ्रमरै भाष्यम्, अत एव धूपजधूमा एव तत्समूहस्वरूपा जाता इत्यर्थः ॥ २१ ॥

जिस (देव-पूजा-मन्दिर) के आग्नेयन्तराकाशमें मालतीपुष्पोंके माला-समूहके बने (मालती-पुष्प-रचित) गृह (देवोंकी पूजाके लिए लाये गये पुष्पोंकी मालाओंके रजने का स्थान—बास आदिके बने ढलिया, झोलूची आदि पात्रविशेष) अथवा—देव पूजार्थ लाये गये पुष्पोंकी कण्ठमालाओं तथा शिरोमालाओंके गृह (पात्र विशेष) अथवा—देवपूजार्थ लाये गये पुष्पोंकी मालाओंके स्थान (लटकनेकी जगह अर्थात् पूजामन्दिरके छज्जेके) ऊपरमें चमकीले एव काले रंगके अगुरुधूपके धूप ही भ्रमर-समूह हुए । [उचरूप पुष्पमाला गृहके ऊपर अगरके धूप ही परागप्रदगार्थ लाये हुए भ्रमर समूहके समान गान होने पर पुष्पगृहके ऊपर भ्रमर-मनूहका होना उचित ही है] ॥ २१ ॥

माङ्कुरैश्च रुचिपीततमा यैश्च पुराऽस्ति रजनी रजनीय ।

ते धृता वितरितु त्रिदशेभ्यो यत्र हेमलतिका इव दीपा ॥ २२ ॥

माङ्कुरेति । रजनी रात्रि, यै दीपै, रुचिमि दीप्तिमि भाषने, पीत प्रस्तम्, विनाशितमित्यर्थः । तम अन्धकार यस्यां सा रुचिपीततमा सती, साङ्कुरा तेजोऽङ्कुरसङ्घिता इव, पुरा प्राक्, अस्ति आसीत् ‘पुरा लङ् चास्मे’ इति भूते लट् । रजनी रात्रिरेव, यैश्च दीपै, रुचिमि दीप्तिमि, पीततमा अत्यर्थ पीतवर्णा सती, साङ्कुरा

सप्ररोढा, दीपरूपाङ्कुरयुक्तैर्मय्य । रजनी इव हरिदेव, पुरा प्राक्, अस्ति धामीत् ।
'रजनी पीतिकाया रात्री हरिद्रायाम्' इति विध । हेमलतिका स्वर्णलता इव
स्थिता, ते पूर्वोक्ता, दीपा आलोकवर्त्तय, यत्र सुरार्चाविरमनि, त्रिदशैभ्य, देवेभ्य
विनरितुम् उत्सर्ज्यैकस्मिन्, घृता स्थापिता, परिचारकैरिति शेष ॥ २२ ॥

रात्रि, जिन (दीपकों) से कान्ति अर्थात् दीपक प्रकाशने अन्धकारको नष्ट करनेवाली
(तेजके) अङ्कुरसे युक्तके समान तथा जिन (दापकों) से अतिशय पीले वर्णवाली अङ्कुरयुक्त
हृद्दीके समान थी, स्वर्णलताओंके समान इन दीपकोंको जिस (देव-पूजा-गृह) में
(परिचारकोंने) देवोंके लिए रक्खा । [पुजारियोंने देव-पूजा-गृहमें देवोंके लिए
दीपक रक्खा] ॥ २२ ॥

(यत्र मौक्तिकमणिविरहेण प्रीतिकामधृतयह्विपदेन ।

कुङ्कुमेन परिपूरितमन्त शुक्तय शुशुभिरेऽनुभजन्त्य ॥ २ ॥)

यत्रेति । यत्र देशागारे मौक्तिकमणे प्रियतमस्य विरहेण कर्त्रा कुङ्कुमस्य स्वो-
द्दीपनहेतुतया प्रीतिस्तया काम दत्त कामेन कर्त्रा वा दत्तबह्वे पद दाहकत्वादिरू-
पोऽधिकारस्तद्रूप चिह्न वा यस्य तेन कुङ्कुमकेसरेण परिपूरितमन्तमभ्यभागमनुभ-
वन्त्यो विभ्राणां शुक्तय शुशुभिरे । वियोगिन्यो हि विरहाग्निस्तप्त हृदयमनुभवन्ति ।
कुङ्कुमपूर्णं शुक्तयो वियोगिनीरूपेण वर्ण्यन्ते । यद्वा—मौक्तिकमणिविरहेणोपल-
ब्धिना शुक्तय कुङ्कुमस्य कामोद्दीपनहेतुतया या प्रीतिस्तया युक्तेन कामेन । अन्य
स्पष्टवत् । प्रीतो हि किञ्चिदपि ददाति शुक्तयो विशिष्टेन कुङ्कुमेनोपलब्धिना सत्यो
मौक्तिकमणिविरहेण पूर्ण मध्यमनुभवन्त्य इव शुशुभिरे इति प्रतीयमानोपेक्षा वा ।
'प्रीते'नि पाठे स्वोद्दीपकत्वेन प्रीतात्फामाद् घृत करेण रक्थ बह्विपद् येनेत्यर्थ ।
मुक्ताफलोत्पत्तिहेतुभूता शुक्तय पुत्रविरहेण मातरो यथा हृदयान्तर्दहन्ति, तथा
कुङ्कुमरूपमन्तर्दाह वहन्त्य शुशुभिरे इति वा ॥ २ ॥

जिन (देव-पूजा-मन्दिर) में मोती (रूपी अत्यन्त प्रिय पुत्र) के वियोगने प्रेमाने
अच्छी तरह (या—कामदेवके द्वारा) दिये गये अग्निस्थानीय कुङ्कुमसे परिपूर्ण अन्तःस्थ
(मध्यभाग) को प्राप्त करनी हुई शुक्तिया (सीदें) शोमनी या । (अथवा—मोती (रूप
अतिप्रिय पुत्र) के विरहमें युक्त शुक्तियाँ) । [जिन प्रकार अतिशय प्रियपुत्रके विरह
होनेसे उक्त पुत्रमें अतिशय प्रतिभे मालाई उसकी विरहान्ध्रसे अन्तःकरणमें अतिशय
जलनी हुई पीड़ित होती है, उसी प्रकार स्वोत्पन्न पुत्र-स्थानीय मोतीके पृथक् होनेपर
अग्नि-स्थानीय कुङ्कुमसे परि र्ण मध्यभागवाली शुक्तियाँ अन्तर्दाहको कारण करती हुई सी
शोमनी थी । मुक्ताशुक्तियोंमें कुङ्कुम रक्खा गया] ॥ २ ॥]

१ अथ श्लोक 'प्रकाश ध्यास्यामहेवात्र स्थापित ।

२ 'प्रीतकाम—' इति पाठान्तरम् ।

अह्नुचुम्बिघनचन्दनपङ्क यत्र गारुडशिनाजममत्रम् ।

प्राप केलिकवलीभवदिन्दो सिंहवासुनमुग्रस्य सुप्तानि ॥२३॥

अङ्केति । यत्र सुरार्चाविशमनि, गारुडशिनाज मरुतमणिनिर्मितम्, अमत्र पात्रम्, अह्नुक्रोडम्, अश्व्यन्तरभागमित्यर्थः । चुम्बति स्पृशतीति अह्नुचुम्बो, घन सान्द्र, चन्दनपङ्क घृष्टचन्दन यस्य तत्तादृश सत्, केलिना क्रोडया, कवलीभवन् ग्रामीभवन् क्षाम्यन्तर प्रविशन्निति यावत्, इन्दु चन्द्रो यस्य तादृशस्य 'तृतीयादिषु भाषित पुरः पुत्रहालवस्य' इति पुत्रहाव । सिंहवासुनमुग्रस्य राहुवदनस्य । 'सिंहिकान्दमो राहु' इति माधु । सुप्तानि भानन्दान्, सादृश्यमिति भावः । प्राप लब्धवान् । इन्दु-चन्दनपङ्कयो रवेत्य-शैत्यसाम्यात् सिंहिकानुत-गारुडमणिपात्रयोश्च गोष्ठवहृष्णवर्णवसाग्यादिति भावः । यत्र गृहे गारुडमणिपात्राणि चन्दनभरितानि सन्तीति निष्कर्षः ॥ २३ ॥

शिम (देव-पूजा-गृह) में मध्यमें रक्त रुप चन्दन-पङ्क (विने रुप चन्दन) वाग्न नरकन मणिका वर्तन लीलापूर्वक (बनायापन) अस्त करते हुए चन्द्रवाले अर्थात् श्रीहा पूर्वक चन्द्रको निगलते हुए राहु-मुखके (शोभा) को प्राप्त किया अर्थात् वक्त्ररूप राहुमुखके समान शानन लगा । [नरकन मणिमय पात्रमें चन्दन शिमकर रखा गया] ॥ २३ ॥

गर्भमैणमदकर्मसाम्ना भ्राजनानि रजतस्य भवन्ति ।

यत्र साम्यमगमममृताशोरङ्करङ्कुलुपोकृतकुत्ते ॥ २४ ॥

गर्भमिति । यत्र सुरार्चाविशमनि, रजनस्य रोम्परस्य, भ्राजनानि पात्राणि कर्तुं नि पुणमदकर्ममेत कस्तूरीपङ्केन, सान्द्र निविडम्, परिपूर्णमित्यर्थः । गर्भं मध्यप्रदेशम्, मज्जन्ति प्राप्नुवन्ति सन्ति, अङ्केन चिह्नेन, वङ्कटारमयेत्यर्थः । रङ्गुणा मृगेण, यद्वा—अङ्के क्रीडे, यो रङ्ग मृगावृत्तिविह्वल, तेन कलुषीकृत मलिनभीत, वृत्ति उदर यस्य तपोक्तस्य, अमृताशो चन्द्रस्य, साम्य समताम्, अगमन् प्रापन् । रज-समाजनानां शुभ्रवर्णोलाकारवसाग्यात् चन्द्रसादृश्यम्, कस्तूरीपङ्कस्य च वृष्णवर्णत्वात् क्रोडस्थहरिणमुषख चोद्भूत्यम् । यत्र देवपूजार्थं रजतपात्राणि घृष्टकस्तूरीपुर्णानि सन्तीति निष्कर्षः ॥ २४ ॥

शिम (देव-पूजा-गृह) में बीचमें कस्तूरी-लेपने गरे हुए चादीके वर्तन मङ्कमें (कण्डू-) मृगमें दयामय चन्द्रको समानताको प्राप्त किये अर्थात् विने रुप कस्तूरीके लेपको बीचमें रख । पर चादीके वर्तन वङ्कटवृष्ट सुक पूर्णचन्द्रके समान शोभने लगे ॥ २४ ॥

उज्जिहानमुकृताङ्करशङ्का यत्र धर्मगहने खलु तेने ।

भूरिशर्करकरम्भेलीनामालिभि सुगतसौखमत्पानाम् ॥ २५ ॥

उज्जिहानेति । धर्मेण सुकृतेन, गहने निविडे धर्मगहने बहुविधधर्मांलुछानपूर्ण, अन्यत्र—धर्मारण्ये यत्र सुरार्चाविशमनि, सुगतस्य बुद्धस्य, सौधानां सुधाधवलित-

प्राप्तादानाम्, शुभ्रचैत्यानामित्यर्थ । सराय शुभ्रतया तत्तद्वशा इत्यर्थ, तेषा
'राजाह सखिम्यष्टच' । मूरय प्रभूता, शकेरा सिता येषु तथोक्ता, ये करम्मा
दधिमन्त्रव 'करम्मा दधिमन्त्रव' इत्यमर । तेष्वबल्य उपहारा, नैवेद्यानीत्यर्थ ।
तेषाम्, भाटिमि पङ्क्तिभि कर्त्रीमि । उज्जिहानेषु उद्वगच्छन्तु, सुकृताहारेषु पुण्यप्र
रोहेषु दाह्या सशय, तेने विस्तारयामामे, जनयामामे इत्यर्थ । एतु इति निश्चिनम् ॥

धर्मने परिपूर्णं जिन (देव-पूजा-गृह, अथवा—जिन वर्णाश्रम) ने बौद्ध-देवमन्दिरोंके
स्नान, अथवा दण्डरतुक्त दही-मिश्रित मधु (गा-मान) बलि-समूह उत्पन्न हुए पुण्या
हृत्की शङ्का देना करते थे । [दधि युक्त मधु (दा-जात) के बलि की राशियोंको देखकर
ये पुण्यके बहुत उत्पन्न हुए हैं, ऐसा बात होता था । मात्रादिके वर्तने अत्रादिके अङ्कुरके
स्नान वर्णाश्रमके पुण्यहृत्की उत्पत्ति होना उचित हा है । उस देव-पूजा-गृहमें दण्डर
युक्त दही, मधु (दा-दही-मान) की दलित देवोंके शिवे अनेक स्थानों पर दा गया था] ॥

स्वर्गमाप्यदमरौघनिशास पर्वत कचन चम्पकसम्पत् ।

मल्लिकार्जुमुमराशिरकार्पात् यत्र च स्फटिकमानुमनुद्यम् ॥ २६ ॥

स्वर्गमिति । यत्र सुरार्चावैरमनि, कचन छविष्य प्रदेशे, चम्पकाना स्वर्गवर्गचम्प-
कपुष्पाणाम्, ममपत्त समृद्धि, राशिरित्यर्थ । अमरौघस्य देवममूहस्य, निशाम
शासस्पष्टभूतम्, पर्वत सुमेरुम्, स्वर्ग इत्यम्, आरपत्त उच्छवती तथा मल्लिका
कुसुमाना मल्लिकार्जुपुष्पाणाम्, राशि समूह, स्फटिकमानु शुभ्रकैलासपर्वतम्
अनुच हम्बम्, अकार्पात् विद्ये ॥ २६ ॥

जिन (देव-पूजा-गृह) में चम्पके फूलोंकी सम्पत्ति (देर) ने देव-निशाम पर्वत
अर्थात् सुमेरु पर्वतको छोटा बह दिया तथा मल्लिका-कुसुमोंकी राशिने कैलास पर्वतको नीचा
(छोटा) कर दिया । [चम्प तथा मल्लिकाके फूलोंके देरोंने कमल सुमेरु तथा कैलास पर्वत
भी छोटे मान पड़ने थे । देव-पूजा-गृहमें चम्प तथा मल्लिकाके फूलोंके देर पूजाईं रखे
गये थे] ॥ २६ ॥

स्वान्मन प्रियमपि प्रति गुप्ति कुर्वती कुलवधूमरज्जो ।

हृद्यदैवतनिवेशनिवेशाद् यत्र भूमिरनकाशत्रिष्टा ॥ २७ ॥

स्वान्मन इति । यत्र सुरार्चावैरमनि, भूमि पृथिवी, देवपृष्ठाम्बन्तरप्रदेश
इत्यर्थ । हृद्याना मनोज्ञानाम्, देवताना देवतासम्बन्धिनानाम्, निवेद्यानाम् उपह
र्तव्यानाम्, नैवेद्यानामित्यर्थ । देवनेभ्य प्रतिष्ठितदेवताभ्य, निवेद्यानाम् उत्सर्ज-
नीयानामिति वा, निवेशात् स्थापनात् हेतो, अवकाशश्चिद्रा निरन्तराला सनी
सर्वथा हृष्टेरागोचरा सतीत्यर्थ । स्वान्मन निजाया, प्रिय दयित सत्कारम्, सूपति
नलमित्यर्थ । प्रति अपि नलम् उद्दिश्यापीत्यर्थ । गुप्ति गोपनम्, स्वाद्वाच्छादनमि-
त्यर्थ । कुर्वती विदधती, कुलवधूं सदस्यामङ्गनाम्, अवज्जो अवज्ञातवती । कुल-

वधूरपि स्वभर्तार प्रत्यपि लज्जाधिक्यात् स्वशरीर गोपयति, अतः सा भूमि-
तः सदृशी जाता इत्यर्थः । यद्वृत्ति नैवेद्यानि तत्र गृहे स्थापितानि आसन् इति
निष्कर्षः ॥ २७ ॥

जिस (देव-पूजा-गृह) में मनोहर देवाय नैवेद्य रखनेमें अवकाश-रहित (तिल मो
रखनेके लिए स्थान-रूप) भूमिमें अनेक पत्तियों (नख) के प्रति भी (लज्जावश शरीरको
छिपानो हुए कुलाङ्गनाको भी निरस्तुत कर दिया । [जिस प्रकार कुलाङ्गना लज्जावश अपने
शरीरका थोड़ा-सा भी भाग पत्तियों में नहीं दिखलाना चाहती, उसी प्रकार उस देवपूजा
गृहमें देवार्पणके लिए रख गये नैवेद्योंमें पृथ्वीमें तिल रखनेको भी स्थान नहीं बचे रहनेमें
मादुर्य पड़ना था कि पृथ्वीमें भी अपने पत्तियों (नख) से अपने सम्पूर्ण शरीरको छिपा
लिया है । हम देव-पूजा-गृहमें देवोंको चढ़ानेके लिए अनेक प्रकारके नैवेद्य रखे थे, जिनमें
तिल रखनेके लिए पृथ्वी लेशमात्र भी नहीं दिखलायी पड़ती थी] ॥ २७ ॥

यत्र कान्तकरपीडितनीलप्रावरशिमचिकुरासु विरेजुः ।

गातृमूर्द्धविधुतेरनुविम्बात् कुट्टिमक्षितिषु कुट्टमितानि ॥ २८ ॥

यत्रेति । यत्र सुरार्णवैरमनि, कान्तस्य प्रियस्य चन्द्रकान्तमणेश्च । 'कान्त प्रिये
चन्द्रकान्ते' इति यादव । करेण हस्तेन अश्रुना च । 'बलिहस्ताशय करा' इत्य-
मर । पीडितानां सुदृढाऽर्पणेन व्यथितानाम् श्वर्शेन विकार प्रापितानाञ्च, वर्णान्तर-
प्रापितानामिष्यर्थः । नीलप्रावरणम् इन्द्रनीलमणीनाम्, रश्मय दीप्तय एव,
चिकुरा देशा यासां तादृशीषु, कुट्टिमक्षितिषु मणिनिबद्धभूमिषु, गातृ गायकस्य
मूर्द्धविधुते शिरः कम्पनस्य, अनुविम्बात् प्रतिबिम्बपतनात् हेतोः, कुट्टमितानि शिर-
कम्पनरूपशृङ्गारचेष्टाविशेषा, विरेजुः शुशुभिरे । अत्र भरतमुनि — 'केशस्तनाधरा-
दिप्रह्वेऽपि हृत्पद्मभ्रमोत्पन्न शिरः करकम्पन कुट्टमितमिति विज्ञेय सुप्त विधुः'
इति । मणिबद्धा भूमयो गायकाश्च यत्र सन्तीति भावः ॥ २८ ॥

जिस (देव-पूजा-गृह) में पत्तियों (पद्मा — चन्द्रमा, या सूर्य) का कर (हाथ, पक्षा-
किरण) छूट गये नीलमणिबद्धोंकी किरणरूप केशशाली मणिबद्ध भूमिमें गायकोंके (गाने
समय) कंपने हुए मस्तकके प्रतिबिम्बित होनेसे (नायकके द्वारा किये जाने हुए दन्तक्षनका
निषेध करनेके लिए) शिरः कम्पनके समान शोभने लगा । [गायकलोग गान करने हुए
शिरः हिलाने या तबका प्रतिबिम्ब मणिमयी भूमिपर पड़कर ऐसा था । होता था कि
पतिते चुम्बन या दन्तक्षन करनेके लिए लयन होनेपर नायिका जिस प्रकार शिरः हिलाकर
निषेध करती है उसी प्रकार चन्द्र (या सूर्य) की किरणमें छुई गयी चन्द्रकान्त (या सूर्य-
कान्त) मणिमें लटो गयी भूमिरूपिणी नायिका नीलमणिबद्धोंकी किरणरूप केश-समूहवाले
शिरकी कोंपाकर निषेध कर रही हो । देवपूजागृहमें गायक लोग देवोंके भजन शिरः हिला-
दिष्टाकर गा रहे थे और वहाँकी भूमि मणिमयी थी] ॥ २८ ॥

नैकवर्णमणिभूषणपूर्णे स शिनीन्दुरनग्रयनिवेद्ये ।

अध्यतिष्ठदमल मणिपोठ तत्र चित्रसिचयोन्वचयचारौ ॥ २९ ॥

नैकेति । शिनीन्दुः भूतलचन्द्रः, स नलः, नैकवर्णा विविधवर्णविशिष्टा, ये मणयो रत्नानि, तेषां भूषणे आभरणे, पूर्णे व्याप्ते, अनवधानि निर्दोषानि, निवेद्यानि वस्तुर्जनीयानि द्रव्याणि यत्र तस्मिन्, तथा चित्राणां विविधप्रकाराणाम्, सिचयानां चन्द्राणाम्, उच्चयेन समूहेन, चारौ मनोज्ञे, तत्र सुराचविरमन्ति, भ्रमलम् उज्ज्वलम्, मणिपोठ रत्नमयासनम्, अध्यतिष्ठत् अधिष्ठितवान् । सुरार्चनार्थमुपविवेश इत्यर्थः । 'अधिशीङ्गस्यामाम्' इति अधिकरणस्य कर्मसंज्ञा ॥ २९ ॥

यद् वृष्वीके चन्द्रमा नलः अनेक रंगोंवाला मणियोंके भूषणोंसे पूर्ण, अनिन्दनीय (दर्शनीय तथा शुद्धरस) देवापनीय पदार्थों वाले तथा चित्र-विविध बल-समूहने सुन्दर उभ (देव-पूजा-गृह) में रत्न अडे (या-रत्नके बने) हुए आसन पर बैठे । (पाठाः—वित्र विविध वस्त्रसमूहने सुन्दर रत्न अडे हुए आसन पर बैठे) ॥ २९ ॥

सम्यगर्चयति नत्तेऽर्कमतूर्णं भक्तिगन्धिरमुनाऽकलि कर्ण ।

गद्धानहृदय प्रति चान्त साम्बमन्दरमणिर्निरचैपीत् ॥ ३० ॥

सम्यगिति । नत्ते नैपत्रे, अतूर्णम्, अन्यत्रम्, स्वयमेव सम्यक्ताऽभावादिति भावः । अत एव सम्यक् सुष्ठु यथा भवति तथा, अर्कं सूर्यम्, अर्चयति आराधयति मतिः, अमुना अर्केण, कर्णं राधेयं, भवते श्रद्धाविशेषस्य, गन्धं लेश भस्ति यस्य मः तादृश भक्तिगन्धि अवयमस्ति । 'गन्धो गन्धक आमोदे सेधे सम्बन्धगर्वयो' इति विश्वः । 'अवपात्तायाम्' इति समासान्तः इत् । अकलि निरधारि । अग्ररमणि सूर्यः, साम्ब सदाशम्भुपुत्रसुतम्, प्रति च उद्दिश्यापि, अन्तः अन्तः करणे, श्रद्धान् भक्तिमत्, हृदय चेतो यस्य तादृशम्, साम्ब केवल मनसा भक्तः, न तु पूजक इति भावः । निरचैपीत् निश्चितवान् । कर्णापेक्षया तथा साम्बापेक्षया च नल एव मे परम भक्त इति निश्चिताय इत्यर्थः । 'यावच्च दीयते चार्घ्यं भाररुणाय महात्मने' इत्यादिना सूर्यार्घ्यदानमन्त्रेण देवतान्तरपूजानियेवात् नल प्रथम सूर्यमेवाशर्चयामासेति भावः ॥

(पञ्चदेव-पूजनमें सर्वप्रथम सूर्यपूजाका वर्णन दो श्लोकों (२१।३०-३१) से करते हैं—) अन्यत्राके साथ नलके सूर्यको सदैव प्रकारसे पूजा करते रहनेपर हम (सूर्य) ने (कुन्ती-पुत्र) नर्मीकी मोड़ी भक्तिवाला माना तथा (कुण्ड-पुत्र) साम्बको हृदयमात्रमे ही श्रद्धालु निश्चित किया अर्थात् नलके समान कार्यरूपसे भी पूजा करनेवाला नहीं निश्चित किया, किन्तु केवल मनमे ही श्रद्धालु निश्चित किया । [पञ्चदेवपूजनमें सूर्यका पूजन सर्वप्रथम करनेका विधान होनेसे यह पड़ले सूर्यपूजनका वर्णन किया गया है । सूर्य-भक्त कर्ण तथा साम्बमे भी नलको सूर्यने अधिक भक्तिमान् माना ॥ ३० ॥

१ 'हृदयप्रति' इति 'प्रकाश'सम्मत पादान्तरम् ।

तत्तदयमरहस्यजपेषु स्रङ्गमय शयममुष्य बभाज ।

रक्तिमानमित्र शिक्षितुमुच्चै रक्तचन्दनजबीजसमाज ॥ ३१ ॥

तदिति । तेषां तेषां श्रौतस्मार्तानाम्, अर्थम् । सूर्यस्य, रहस्यानां मन्त्राणाम्, जपेषु असकृत् गूढोच्चारणकाले, सद्यस्य जपमालास्वरूप, रक्तचन्दनजानां कुचन्दनोज्ज्वलानाम्, बीजानां गुटिकानाम् । 'तिलपर्णी तु पत्राङ्ग रञ्जन रक्तचन्दनम् । कुचन्दनम्' इत्यमरः । समाजः समूहः उच्चैः अधिकम्, रक्तिमान रक्तवर्णम्, शिक्षितुमिव शस्यमितुमिव, अमुष्य नलस्य, शयनहस्तम्, बभाज सिधेवे । नलपाणितलस्य ग्रहाणां एव रक्तिमातिशयात् शिक्षार्थं यथा शिष्या उपाध्याय सेवन्ते, तथा रक्तिमाधिव्यतिशयार्थं तत्पाणितलम् आश्रयामास इति भावः ॥ ३१ ॥

उन-उन सूर्य मन्त्रोंके जपोंमें मालारूप रक्तचन्दन-बीज-समूहने मानो अधिकतर लालिमाको मीछनके लिए इस (नल) के हाथ को प्राप्त किया । [नल जब रक्तचन्दनके बीजोंकी मनियोंवाली मालासे सूर्यके श्रौत तथा स्मार्त मन्त्रोंको अपने लगे तो ऐसा माछम होता था कि—मानो यह रक्तचन्दन-बीज समूह स्वभावतः अत्यधिक लाल नलके हाथमें अधिक लालिमाको सीछनके लिए इनके हाथके पान आ गया है । शिक्षा लेनेके लिए शिष्यका गुरुके पान जाकर उमकी सेवा करना उचित हो है । सद्यफलप्रद होनेसे नलने रक्तचन्दनके बीजोंकी मणिवाली मालामें सूर्य मन्त्रोंका जप किया] ॥ ३१ ॥

(हेमनामकतरुप्रसवेन त्र्यम्बकस्तदुपकल्पितपूज ।

आत्तया युधि विजित्य रतीश राजित कुसुमकाहलयेव ॥ ३२ ॥)

हेमेति । हेमनामकस्य धत्तूरस्य तरो प्रसवेन विकसितकुसुमेन कृत्वा जित्वा वनमलेनोपकल्पिता पूजा यस्य स त्र्यम्बको राजितः शुशुभे । उपमेयते—रतिशोभते युधि विजित्य बलादात्तया गृहीतया कुसुमरूपकाहलया धत्तूरपुष्पाकारवाद्यवि-हितेन युक्तवाक्काशकाहलया कौसुमत्वमुद्धितमेव । परानूतात्कामाहलाद् गृहीतया कौसुमकाहलयेव धत्तूरपुष्पेण राजित इत्यर्थः । अन्योऽपि शत्रु जित्वा बलाद् गृहीतेन तच्छत्रुवादिश्रादिना शोभते । सौन्दर्येण स्वस्पर्धितया स्वस्य शिवभक्त्या वा कामस्य च शिवविरोधित्वात् स्वविरोधिन् स्वस्वामिविरोधिन् च स्मर रणे जित्वा तस्माद्बलात् अलेनेन गृहीतया कुसुमकाहलयेवेत्य धत्तूरपुष्पेण कृत्वा नलेन कृतोपदं, अथ च-कृतपूजः शुशुभे । सेवको हि स्वविरोधिन् स्वस्वामिविरोधिन् वा रणे जित्वा तच्छत्रुवादिश्रादि बलाद् गृहीत्वा स्वामिन् उपदीकरोति । तेन च स्वामी शोभत इति वा । प्रियतरण धत्तूरपुष्पेण स नल शिवमपूजयदिति भावः । 'धत्तूर कनकाहल्य' इत्यमरः । 'वाद्यमाण्डविसेपे तु काहल्य' इति विश्वः ॥ ३२ ॥

१ अथ श्लोक 'प्रकाश'ग्याहयया सहेवात्र स्थापित ।

(धत्तूके दूजोंसे नञके द्वारा पूजित शिवजी हम प्रकार शोभित हुए कि—मानो वे सुद्धमें कामदेवकी जीउकर हमके पुष्पमय काहना ('दुरशी' नामक वाद्य) की ठाकर धरणा किये हों । अथवा—पुद्धमें कामदेवकी जीउकर हमने छीने गये पुष्पमय काहनाके समान धत्तूर-पुष्पमे नञके द्वारा पूजित शिवजी शोभने लगे । [प्रथम अर्थमें धत्तूरके पुष्पोंसे नञके द्वारा पूजा करनेपर शिवजी स्वयमेव कामदेवकी जीउ का पुष्पमय बाणोंवाले हम कामदेवके पुष्पमय 'बाहुला' नामक वाद्यकी सी छीनकर लाने हुए—ने शोभने लगे, छोकने सी कोर बीर वैरीके । पुद्धमें जीउकर हमके मन्त्र-द्वन्द्व-वाद्य आदिकी छीनकर लानेपर शोभित होता है । दूसरे अर्थमें—नञने हो त्वारागदेव शिवजीके शत्रु कामदेवकी पुद्धमें जीउकर हमके पुष्पमय 'काहना' वाद्यकी लच्छा धत्तूर-पुष्पमयमें शिवजीकी समर्पित किया है, जिसमे वे (शिवजी) शोभते (प्रमत्त होते) हैं । छोकने सी कोर बीर करने स्वामीके शत्रुकी पुद्धमें जीउकर हमके मन्त्र-द्वन्द्व-वाद्य आदिकी ठाकर दया करने स्वामीके लिए समर्पितका वैसे प्रमत्त काज है । कामदेवके 'काहना' (दुरशी) वाद्यकी धत्तूरके दूजोंके समान एव पुष्पमय होनेने शिवजीका चढ़ाने गये धत्तूरके दूजकी वत्सरूपसे समझा की गयी है । नञने धत्तूरके दूजोंसे शिवजीकी पूजा की । यहाँसे देवर काठ दजकों (२१। मे० तथा मूल श्लोक ३२-३८) द्वारा शिव-पूजनका वर्णन किया गया है] ॥ ३१ ॥

अर्चयन् हरकर स्मितभाजा नागकेसरतरो प्रमथेन ।

मोडयमापयदतिर्यग्वाग्निदग्ध-पालपाण्डुरकपालविभूषाम् ॥ ३२ ॥

अर्चयति । स तत्कल्पेण पूजानिरत, अयम् एव 'नञ', स्मितभाजा प्रस्तु टेतेनेत्यर्थ । नागकेसरतरो तद्वाक्यवृद्धविशेषस्य, प्रमथेन कुसुमेन साधनेन, हरस्य ताम्रमो, कर हस्तस्य, अर्चयन् पूजयन्, तिररच्या दिश तिर्यग्वाग्मानप्रास्यादिविगृह्यात्, तथा अवाच्या दिश अर्धे, दिशश्च सकाशात्, अन्ये पृथगिति अतिर्यग्वाग्नेदककृष्णादिकृद्ध्यर्थ । तस्या पाठ रचक, ब्रह्माङ्ग्यर्थ । तस्य पाण्डुर पाण्डु-शण्ड, दत्त कपाल शिरोऽस्थिबन्धम्, मिषावात्ररूपेण हरकृष्णकविरकाद्रधारणात् गतकृति भन एव पाण्डुराङ्गं ब्रह्मण पञ्चमगितोऽस्थिबन्धमिति । तस्य विभूषामिव विभूषा शोभाम्, आपयत् प्रार्थितवान् । हरेण स्वमुदितरं सग्न्या प्रति काम-जावेनानुगवत ब्रह्मण पञ्चम शिर द्विषम्, तत् तस्यास्य प्रापयिषं विद्योपुं हरः मिषाय तत् करे दधार, नागकेसरपुष्पस्यापि ताम्रदण्डपाण्डुराङ्गाद् इयमुच्छिर्जो-द्धव्या । नलेन पूजया दत्त नागकेसरपुष्पं ब्रह्मकपालसदृश वनौ इति भावः ॥ ३२ ॥

विकसित नागकेसर-पुष्पसे सुवर्णादि वस्तुमयी (दक्षिणपूर्व) शिव (की प्रतिमा) के हाथकी पूजा करते हुए हम (नञ) ने सुवर्णदि एव अथोदिशासे मित्र दिशा अर्धपर कर्ण-दिशाके पवि (ब्रह्मा) के दत्तवर्ण कपाटके नूराकी प्राप्ति करा दिया । [शिवप्रतिमाके हाथमें नागकेसरका पुष्प चढ़ानेपर शिव-प्रतिमा हाथमें ब्रह्मकपाट बाण करती हुई—सी बात होती थी । नञने नागकेसर-पुष्पसे शिवका पूजा की] ॥ ३२ ॥

पौराणिक कथा—अपना कन्या 'सञ्च्वा' के पीछे कामवशभूत होकर अनुगमन करते हुए मन्दाके पाचवें शिरको शिवजीने काट दिया । तदनन्तर मन्दावधन य प्रायश्चित्त विधानार्थे भिक्षाके लिए निरन्तर उभे हाथमें धारण किया ।

नीलनीररुहमाल्यमयीं स न्यस्य तस्य गलनालविभूषाम् ।

स्फटिकीमपि तन् निर्मासोन्नीलकण्ठपदसान्वयतायै ॥ ३३ ॥

मीलेति । स नल, तस्य हरस्य, नीलनीररुहमाल्यमयीम् इन्दोवरमालारूपाम्, गलनालस्य कण्ठदेशस्य, विभूषा भूषणम्, न्यस्य समर्प्य, स्फटिकीं स्फटिकमयीम् अवि, तन् शरीरम्, नीलकण्ठ इति पदस्य शिवस्य नीलकण्ठ इति सजावाचकस्य शब्दस्य, सान्वयतायै अन्वयत्वाय, नील कण्ठो यस्य इति विग्रहस्य सार्धकताम् स्पादनायोग्यम् । निर्मासोत् कल्पितवान् । मा माने इति धातोरदादिकास्तुङ् ॥ ३३ ॥

उस (नल) ने नीलकमलोंकी मालाको शिवजीके कण्ठमें पहनाकर स्फटिकमणिमयी (अथ इवेनवर्णवाली) भी शिवप्रतिमाको 'नीलकण्ठ' (नीले कण्ठवाले) शब्दकी सार्धकताके लिए नीलकण्ठरूप विशिष्ट भूषणवाणी बना दिया । [शिवप्रतिमा स्फटिकमणिकी होनेसे पहले इवेनवर्ण थी, किन्तु शिवको 'नीलकण्ठ' (नीले कण्ठवाला) होनेसे उनकी प्रतिमामें भी नीलकण्ठ होनेपर ही शिववाचक 'नीलकण्ठ' शब्दकी साधकता होती है, ऐसा समझकर नलने नीलकमलोंकी माला उस स्फटिकमणिमयी इवेनवर्ण शिवप्रतिमाके कण्ठमें डालकर उस 'नीलकण्ठ' शब्दको साधक कर दिया । नलने स्फटिकमयी शिवजीकी प्रतिमामें नीलकमलोंकी माला पहनायी] ॥ ३३ ॥

प्रीतिमेप्सति कृतेन ममेदकर्मणा पुररिपुमन्दनारि ।

तत्पुरं पुरमनोऽयमधाक्षीदू धूपरूपमथ कामशरञ्च ॥ ३४ ॥

प्रीतिमिति । पुररिपु त्रिपुरारि, मन्दनारि कामशत्रुश्च, सम्भुरिति शेष । कृतेन विहितेन, मम मे, ईदृशकर्मणा गुग्गुलुपर्यायकपुरदाहेन कर्पूरपर्यायककामशरदाहेन च कर्मणा, प्रीतिं सम्नोषम्, एष्यति प्राप्स्यति, अतः अस्मादेव कारणात्, अथ नल, तस्य पुररिपो मन्दनारेश्च, पुर अग्रतः, यथाक्रमं धूप-याजम्, पुरं गुग्गुलुम् असुरपुरञ्च । 'गुग्गुली दधित पुर' इति विश्व । अथ अनन्तरम्, कामशर कर्पूर मदनवाणञ्च, अथाक्षीत् दग्धवान् । नल धूपदानरूपो पूजां चकारिति निष्कर्षः ॥ ३४ ॥

पुररिपु (पुरोके शत्रु) तथा मन्दनारि (कामदेवके शत्रु शिवजी) मेरे पेट काटते प्रसन्न होंगे (मानों ऐसा मनमें विचारकर) नलने उन (शिवजी) के सामने धूपरूपको प्रज्ञा किये हुए पुर अर्थात् गुग्गुलु तथा कामवाण अर्थात् कर्पूरको जनाया । [स्वामी शिवजीकी प्रसन्नताके लिए उनके मक्त नलका उनके शत्रु 'पुर' (गुग्गुलु) तथा 'कामवाण' (कर्पूर) को नलाना उचित ही है । लोकमें यो कोई व्यक्ति स्वामीको प्रसन्न करनेके लिए

उसके शत्रुओंको स्वामीके सम्पत्ति मत्त करता है । नलने शुम्भु तथा कर्दूर सत्कार
शिवजीको धूप समर्पण किया है] ॥ ३४ ॥

नन्मुहूर्त्तमपि भीमतनूजाविप्रयोगमसहिष्णुरित्रायम् ।

शूलिभीलिशशिभोनतयाऽभूद् ध्यानमूर्च्छननिमीलितनेत्र ॥ ३५ ॥

तदिति । अथ नल, तन्मुहूर्त्तमपि तस्मिन् मुहूर्त्तेऽपि, 'कालाश्वनोरयन्तसयोगे'
इति द्वितीया । शूलिन अर्धमानशम्भो, मौलिशशिनः शिरोभूषणचन्द्रमकाशात्,
भीततया भीतरवेन हेतुना, शशिनो विरहिषोढक्यादिति भावः । भीमतनूजाया
धमयत्तया, विप्रयोग विरहम्, असहिष्णुरिव सोढुमक्षम् सन् इव, ध्यानेनैव हृदि
वैवमुत्तिष्ठितस्वरूपेणैव, मूर्च्छनेन मूर्च्छारोगेन, सर्वेन्द्रियाधोपरस्वसायत्त ध्यानस्य
मूर्च्छामास्यत्त बोद्धव्यम् । निमीलिते मुद्रिते, चेन्नै लोचने, यस्य स तादृशः, अभूत्
अभायतः । धूपदानानन्तर हरध्यानमकरोदिति निष्कर्षः ॥ ३५ ॥

उम (पूजा) ममधर्म भी दमय-नोंके विरहको नहीं सहनेवालेके समान इस (नल)
ने शूलधारी (शिवजी) के मस्तकस्थित चन्द्रमासे करे हुए से ध्यानरूप मूर्च्छामि नेत्रोंको
बन्द कर लिया । [चन्द्र विरहियोंको रुन्तस करता है, अब उमसे मानो करे हुए मज्ज
ध्यानरूप मूर्च्छासे नेत्रोंको बन्द कर लिया । निम्ने शूलसे धारण करनेवाला व्यक्ति
(पश्चात्—शिवजी) भी मस्तक पर धारण करता है, उम च इने तलका मयजुक्त होता
उचिन ही है । नलने नेत्रोंकी बन्दकर शिवजीका ध्यान किया ॥ ३५ ॥

दण्डग्रहं मुनि लुठन् स ननाम अश्वक शरणभागिय काम ।

आत्मशस्त्रविशिखासनबाणान् न्यस्य तत्पद्मुने कुसुमानि ॥ ३६ ॥

दण्डग्रहिति । आत्मन ह्यस्य, शस्त्राणि आयुधस्वरूपान्, विशिखासन धनु,
बाणान् विशिखान् च, कुसुमानि पुष्पाणि, कामस्य धनुर्गणयोः पुष्पमपायादिति
भावः । तस्य यशस्कस्य, पदयोः शरणयोः, युगे द्वे न्यस्य समर्प्य, शरणभाक्
आश्रयाधी, काम कन्दर्प इव, स नल, दण्डवत् दण्डसदृशः, मुनि भूमी, लुठन्
पतन्, अश्वक त्रिलोचनम्, ननाम प्रगतवान् ॥ ३६ ॥

शिवजीके शरणार्थमे पुष्पमर्पण कर नलने दण्डवत् साष्टाङ्ग प्रणाम किया तो रेखा
मलिन पटना या कि कामदेव शिवजीमे पराजित होनेके कारण अपने पुष्पमय धनुषबाणको
उन (शिवजी) के दोनों चरणोंमें रखकर (क्षमायाचनार्थ) साष्टाङ्ग प्रणाम कर शरणार्थ
हुआ है । [इसने नलका साष्टाङ्ग कामदेवके समान सुन्दर होता सूचिन होता है । लोकमें
मरी दुर्बल शत्रु बलवान् शत्रुके समक्ष अपने यत्न शम्भको समर्पितकर क्षमायाचना करता
हुआ उसके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम कर शरणार्थ होता है । नलने शिवके चरणोंमें पुष्प-
जलि देकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया] ॥ ३६ ॥

मल्लिकाकुसुमदुण्डुभकेन च भ्रमीवलयितेन कृते तम् ।

आसने निहितमैश्वर्यं साक्षात् कुण्डलीन्द्रतनुकुण्डलभाजम् ॥४०॥

मल्लिकेति । स नल, भ्रमीवलयितेन चक्राकारवेष्टनं बलयाकारीकृतेन, मल्लिकाकुसुमानां मल्लिकापुष्पाणाम्, मल्लिकापुष्पप्रयितेनेत्यर्थः । दुण्डुभकेन राजिलसर्पाकारया स्तूलया मालया । 'ममौ राजिलदुण्डुभौ' इत्यमरः । 'द्वेवे प्रतिवृत्तौ' इति कन् । 'मल्लिकाकुसुमदुण्डुभकेन' इत्यत्र पादान्तगुस्त्व छन्दशास्त्रेभ्युपगम्यते । कृते निर्मिते, आसने पीठे, निहितं स्थापितम्, कुण्डलीन्द्रस्य नागराजस्य, दीपस्य सम्प्रशिक्षया इत्यर्थः । मनो शरीरस्य, कुण्डलं बलयम्, कुण्डलिततनुमित्यर्थः । भजते आश्रयति, क्षीरोद्रे शेषशायिरूपेणाधिशेते इत्यर्थः । यं तादृशम्, तं नारायणम्, साक्षाद् ध्यानयोगेन प्रत्यक्षमिव ऐक्यतः अपश्यत् ॥ ४० ॥

उम (नल) ने लपेटकर गोलाकार किये हुए, टोंब (निर्दिष्ट सर्प-विशेष) सोंपके समान मल्लिकापुष्पोंकी मालासे बनाये गये आसनपर स्थापित उस विष्णुको (क्षीरनागर में) साक्षात् कुण्डलित शरीरवाले शेषनागके ऊपर स्थितके समान देखा ॥ ४० ॥

मेघकोत्पलमयी बलिचन्द्रवुस्तद्वलिभगुरमि स्फुरति स्म ।

कौस्तुभाख्यमणिकुट्टिमवास्तुश्रीकटाक्षविकटायितकोटि ॥ ४१ ॥

मेघकेति । बले भस्मुरविशेषस्य, वन्द्यु वन्द्यकस्य, बलिनामकदैत्यराजपञ्चनकारिणो विष्णोरित्यर्थः । उरसि वसति, कौस्तुभाख्य कौस्तुभरत्नसंज्ञकम्, यत् मणि कुट्टिम रत्ननिर्दिष्टभूमि, तदेव वास्तु आवासभूमि यस्या तादृश्या, श्रिय लक्ष्म्या, कटाक्षेण अपाङ्गदर्शनेन, विकटायिता विशालीभूता, वृद्धिगता इत्यर्थः । कोटय प्रान्तदेशा यस्या सा तादृशी, मेघकोत्पलमयी नीलोत्पलप्रभिता, तस्य नलस्य, तेन नलेन दत्ता इत्यर्थः । बलिचन्द्र पूजामाख्यम् । 'बलि पूजोपहार स्याद् बलिर्वैद्यो बलि कर' इति विश्वः । स्फुरति स्म शुशुभे ॥ ४१ ॥

(वामनावतार धारणकर) बलि नामक दैत्यको बाधनेवाले (विष्णु) के हृदयमें उम (नल) के द्वारा पूजामें अर्पित नीलकमलकी माला ऐसी शोभता थी कि—(विष्णु भगवान् के हृदयस्थ) कौस्तुभ मणिजटित भूमिवाले निवासस्थान (घर) वाली अर्थात् सदा रहनेवाली हर्दामें कटाक्षोंमें उम मालाके प्रान्तभाग वृद्धिगत हो रहे हों ॥ ४१ ॥

स्वर्णकेतकशतानि च हेम्न पुण्डरीकघटना रत्नस्य ।

मालयाऽरुणमणे करवीर तस्य मूर्द्धनि पुनरुक्तमवार्पित् ॥४२॥

स्वर्गति । स नल, तस्य विष्णो, मूर्द्धनि शिरसि, हेम्न सुवर्णस्य, मालया मालयेन, स्वर्णनिर्मितपुष्पमाल्यार्पणेनेत्यर्थः । स्वर्णमैत्रानां स्वर्णवर्णदेतकीपुष्पाणाम्, शतानि घट्टसङ्घट्टानि, स्वर्णमेतकीपुष्पमाल्यार्पणमित्यर्थः । रजतस्य रौप्यस्य, मालया सूना, रौप्यनिर्मितपुष्पमाल्यार्पणेनेत्यर्थः । पुण्डरीकानां सिताम्भो

जानाम्, घटना रचनाम् श्वेतपद्ममाख्यार्पणमित्यर्थ । अरुणमणे पद्मरागस्य, मा-
लया माल्येन, पद्मरागमणिघटितमाल्यदानेनेत्यर्थ । करवीर करवीरकुसुमम्, रक्त-
करवीरपुष्पमालार्पणमित्यर्थ । पुनरुक्त द्विस्तम्भ, द्विपुगोक्तमित्यर्थ । पुनरुक्तानि
च पुनरुक्ता च पुनरुक्तानि द्वन्द्वे 'नपुंसकमनपुंसकेन—' इत्यादिना, नपुंसकरीपे
एकवद्भाव । अकार्पात कृत्वात् । द्विविधेनापि माल्येन स नारायणमचयामासेति
निष्कर्ष ॥ ४२ ॥

उम (नल) ने उम (विष्णु भगवान्) के मस्तक पर स्वर्णनिर्मित पुष्पमालाके चढ़ानेसे
स्वर्ण (पीले) केनकियोंको, चाँदीकी बनी पुष्पमालाको चढ़ानेसे श्वेतकमलकी रचनाको
रथा पद्मरागमणिकी बनी पुष्पमालाको चढ़ानेसे करवीर (लाल बनेर) की पुनरुक्त कर
दिया । [नलने विष्णु भगवान्के मस्तकपर पीली केनकी आदि तथा स्वर्ण निर्मित पुष्प
आदिका मालाको चढ़ाया] ॥ ४२ ॥

नालपभक्तप्रलिरभनिवेद्यैस्तस्य हारिणमनेन स कृष्ण ।

शङ्खचक्रजलजातवदर्थ शङ्खचक्रजलपूजनयाऽभूत् ॥ ४३ ॥

नेति । स भगवान् नारायण, तस्य नलस्य, अश्वनिवेद्यै अश्वान्येव भक्तान्येव
निवेद्यानि उपहारा तै, इवेति शेष । नालप प्रभूत भक्तवलि अश्वोपहार यस्य
स तादृश । 'भक्तमन्थोऽञ्जम्' इत्यमर । अन्यत्र—नालपभक्त अधिकभक्तिसम्पन्न,
वलि असुरविशेष यस्य स तादृश, तन्नामक इत्यर्थ । अभूत् अजनि, तस्य
हारिणमनेन कस्तूरी, नलार्पितमृगमश्वोपहारेणेवेत्यर्थ । कृष्ण कृष्णवर्ण पापकर्मणाल्
कृष्णनामा च, 'कृष्णो वर्णं हरौ ध्याये पिके व्यासे शुभेऽर्जुन' इत्यजयपाल । अभूत्,
तथा शङ्खाना दधिगावर्तादीना विविधाना मृगानाम्, चने समूहे । 'चक्रसैन्ये
रथाङ्गे च राष्ट्रे दम्भान्तरे चये । आयुधा सलिलावर्ता' इत्यजयपाल । यत् जल
धारि, तैत या पूजना अर्चना तथा, इवेति शेष । शङ्ख पात्रपान्यम्, चक्र सुदर्शनम्,
जलजात पद्मज अस्या अस्तीति सा तद्वती शङ्खचक्रपद्मविशिष्टेत्यर्थ । अर्था प्रतिमा
पूजा च यस्य स तादृशश्च । 'अर्था पूजाप्रतिमयो' इति विश्व । अभूत् । नलपूजा
निवन्धना खलु भगवन् विष्णोर्मातृभक्तवलिनि यादिशब्दवाच्यता अभूदिति नाव ॥

२ विष्णु भगवान् उम (नल) के (चढ़ाये तये) अश्वोपहारोंन अधिक भागकी बलि
(पूजा) बाजे (५५।०—अनिश्वय मक्त 'वलि' नामक दैत्यराज) हुए, कस्तूरीमें कृष्ण
भगवान् (५५।०—'कृष्ण' नामवाले) हुए तथा (स्वर्णोंदिनिर्मित दक्षिणार्ध) शङ्खोंके
समूहोंके ज्ञान पूजन करनेसे शङ्ख-मस्तकके चढने हुए है पूजा निमन्त्रों देम (५५।०—छन्द,
चक्र और कमलसे युक्त प्रतिमावाले) हुए । [नलने भगवान्की अजापिकी बलि देकर
उनके 'नालपभक्तवलि, कृष्ण तथा शङ्खचक्रजलजातवदर्थ' विशेषणशब्दोंको सार्थक कर दिया ।
नलने विष्णु भगवान्को अन्न, कस्तूरीका लेप तथा शङ्खने युक्त जल चढ़ाया] ॥ ४३ ॥

राज्ञि कृष्णलघुधूपजधूमा पूजयत्यहिरिपुध्वजमस्मिन् ।

निर्ययुर्धवधृता भुजगा भीरुर्यशोमल्लिनिता इव जालै ॥ ४४ ॥

राज्ञीति । अस्मिन् राज्ञि नले, अहिरिपु नागारि, गरुड इत्यर्थः । ध्वज-
लाङ्घनम्, ध्वजे रथचूडायामित्यर्थो वा, यस्य त विष्णुम्, पूजयति अर्चयति
सति, भिया अहिरिपुभयेन, यत् दुर्यश भीरत्वापत्ताद्, तेन मल्लिनिता स्वभावन
शुभ्रा अपि नलिनीकृता, भवेन शम्भुना, तत्रैव प्रतिष्ठितेनेति भावः । धृता भूषण-
त्वेन परिशुद्धीता, भुजगा वासुकिप्रमुखा शुभ्रमर्षा इव, कृष्णा कृष्णावर्णा, एवम्
अगुरश्च । 'शीघ्रे मनोज्ञे नि सारे लघु ध्यातुस्तुमे' इति शाश्वतः । तेषां धूपजा-
गृपोऽथा, धूपदाताय कालागुरुकाष्ठदहनोत्पन्ना इत्यर्थः । धूमा, जाल-
गम्याद्यविवरे, निर्ययु निर्गता । भवक्षरीरे भूषणत्वेन धृता विदादा अपि भुजगा पूज्यमाननारा-
यणस्य रथस्थस्थितस्वशत्रुगरुडदर्शनात् भवेन मलिना इव सन्त धूपजातकृष्णा
धूमरूपेण बह्निज्जम्बुनिर्ययुः ॥ ४४ ॥

इम राजा (नल) के गरुडध्वज (विष्णु) की पूजा करते रहनेपर खिन्नियोंके छिद्रोंमें
जाले आगके धूपके धूँ में ऐसे मालूम पड़ते थे कि (गरुडसे उत्पन्न) भयङ्करी भयभरे
मल्लिनि किये गये, (उस देव-पूजा-गृहके एक भागमें ही प्रतिष्ठित) शिवजीके द्वारा प्रदत्त
किये गये सर्प निराल (भाग) रहे हों । [सर्प हमारे शत्रु (गरुड) के ध्वजचिह्नवाले विष्णुजी
पूजा हो रही है, अब वह हमारा शत्रु गरुड आकर हमन्लोंको खा जायेगा, इस भयङ्करी
अपयशसे (स्वभावसे स्वच्छ होने की) मल्लिनि हुये, शिव-गरीर-नूषणभूत सर्पोंके समान
काले आगके धूँ में खिन्नियोंके छिद्रोंमें निराल रहे थे । लक्षमें मां शत्रुके भयसे मालूम
पड़ती मुख्य द्वारको छोड़कर खिन्नकी आदिके भागमें भाग जाता है । नलने विष्णुमगवान्को
धूप अर्पण किया] ॥ ४४ ॥

अर्धनि स्वमणिमान्यविमिश्रे स्मेरजातिमयदामसहस्रैः ।

त पिधाय विदधे बहुरत्नक्षीरनीरनिधिमग्नमिवैव ॥ ४५ ॥

अर्धति । एष नल, अर्धेण मूल्येन, नि स्वाना दरिद्राणाम्, अमूह्यानाम् इत्यर्थः ।
मणीना रत्नानाम्, मास्यै खम्भि, विमिश्रै सयुक्तै, स्मेराणा विक्रमितानाम्,
ज्ञानिमयदाग्ना मान्तीकुसुमस्तजाम्, सहस्रै समूहैः, त विष्णुम्, पिधाय आच्छाद्य,
बहुरत्नक्षीरनीरनिधौ बहूनि, रत्नानि मणयो यस्मिन् सादृश य क्षीरनीरनिधि-
क्षीरोदमनुद्, तत्र मग्नम् इव, विदधे चकार । अत्र क्षीरस्थानीया शुभ्रमादती
कुसुमपत्र रत्नरथानादानि च मणिमास्यानीनि बोध्यम् ॥ ४५ ॥

अमूह्य मणिदोहा मालाओंमें मिश्रित, विकसित जालिपुष्पोक्षी मण्डितों मालाओंमें

आच्छादितकर इम (नर) ने उम (विष्णु भगवान्) को बहुत रत्नोंवाले शीरमुदने दूरे हुएके समान कर दिया ॥ ४१ ॥

अश्वमूत्रगनपुंकरबीजश्रेणिरस्य करमङ्करनेत्य ।

गौरिमूक्तजपिनु पुनरापत् पद्मसद्मचिरवानविलासम् ॥ ४२ ॥

अश्वसूत्रेति । अश्वसूत्रगताना जपमालाप्रथनतन्नुत्थितानाम् , पुंकरबीजाना त्र्यगुटिकानाम्, श्रेणि राजि माला इत्यर्थः । गौरिमूक्तस्य पुष्पसूक्तस्य, जपिनु जप कर्तुं , अथ नलस्य, करसङ्कर हस्तसम्बन्धम्, पृथ प्राप्य, पुन मूयोऽपि, पद्म कमलम् पद्म, सद्य गृहम्, तत्र चिरवासास्य बहुकालावस्थिते, विलास शोभाम् , आपत् प्राप्तवती । नलकरस्य कमलसदृशादिति भावः ॥ ४२ ॥

अश्वनाभार्ने दूरे गये कमलशेजोके समूह सर्पात् कमल-बीज-मालाने विष्णुमूक्त करने-वाले इम (नर) के हाथने लम्बव होकर पुन कमलकर गृहमें चिरकालक निवास करनेके समान शोभने लगा । [कमल-बीजोंकी मालाने नर विष्णुमूक्त करने लगे तो नरके हाथके कमलरूप होनेने ऐसा मान्य पदार्थ था कि वे कमलबीज पुन कमलमें निवास कर रहे हों । नर कमल-बीज-मालाने विष्णुमूक्त कर करने लगे] ॥ ४२ ॥

कैटभारिपदयोर्नतमूदर्णा सञ्जिना विचकिलस्रगनेन ।

जह्नुजेन भुवनप्रमुणाऽभात् सेविताऽनुनयताऽऽयतमाना ॥ ४३ ॥

कैटभारीति । नत भूमलङ्घ इत्यर्थः । मूर्दां शिर यस्य तेन प्रगामार्थं नतमस्त केन, अनुनयना स्वयम् देव प्रमादयता, भुवनप्रमुणा भूयोऽकनाथेन, अनेन नलेन भारिधेन च, यद्वा—चलेखरेण मनुदेग च । 'भुवन विविने सोयं' इति विश्व । कैटभारे विष्णो, पादयो चरगयो, सञ्जिता समर्प प्रापिना, समर्पिता इत्यर्थः । अन्यत्र—आसञ्जिता आसक्तिं गता, भक्तिमर्त इत्यर्थः । विष्णुरदोद्भूतत्वादिति भावः । आयत दीर्घम्, मान प्रमाणं यस्या सा, अन्यत्र—यतमाना यष्टमाना, पृथिं वा गन्तु पानवतीत्यर्थः । यद्वा—यत दीर्घ, मान ईर्ष्या कोपश्च यस्या सा । 'मान प्रमाणे प्रत्यादौ मानश्चित्तोद्यती गृहे' इति विश्व । सेविता आराधिता, पूज्य-सुगन्धेन सर्वे समादृता इत्यर्थः । अन्यत्र—त्रिभुवनजनपूजिता इत्यर्थः । विश्व किलस्रक् मल्लिकार्जुनमाला । 'स्मृतो विचकितो मल्लो प्रमेदे मद्नेऽपि च' इति विश्व । यद्वा गद्गा इव, जमात् वमौ ॥ ४३ ॥

नरनस्तक प्रार्थना करते हुए भूति इम (नर) के द्वारा श्रीविष्णु भगवान् के दोनों चरणों रत्नी हुई लकी मल्लिकामाला नरनस्तक (गन्तामत्यर्थः) प्रार्थना करते हुए भूति इम (नारायण) के द्वारा श्रीविष्णु भगवान् के चरणद्वयने सत्त्व (पृथ्वीपर अवतरण करनेके लिए) ठहर गद्गाके समान लम्बित हुई । (१३.०—(प्रेयसाके मानकी दूर करनेके लिए) नरनस्तक एवं प्रार्थना करते (मनाने) हुए भूति (नायक नर) के द्वारा देवित्त अथिह

मानवाली नायिकाके समान शोभित हुई) । [नन्ने विष्णु भगवान्के दोनों चरणोंपर विकसित मलिका-पुष्पकी मालाका समर्पित किया तो वह भगीरथकी तपस्यासे प्रसन्न होकर विष्णु भगवान्के चरणोंसे निकली हुई गङ्गा-जैसी शोमनी थी] ॥ ४७ ॥

(युग्मम्)

स्वानुरागमनघ* कमलाया सूचयन्नपि हृदि न्यसनेन ।

गौरव व्यधित वाग्धिदेव्या श्रीगृहोद्धर्धनिजकण्ठनिवेशात् ॥४८॥

इत्येत्य वसुना बहुनाऽपि प्राप्नुवन्न मुदमर्चनया स ।

सूक्तिसौक्तिकमयैरथ हारैर्भक्तिमैदृत हरेरुपहारं ॥ ४९ ॥

इति । अथ निष्पाद, विष्णुरिति शेष । हृदि वसति, न्यसनेन स्थापनेन, कमलाया पृथेति भाव । कमलाया लक्ष्म्याम्, स्वानुराग निजप्रेम, सूचयन् प्रकटयन् अपि, श्रिय तस्या कमलाया एव, गृहात् निवामभूतात्, निजवचस इति शेष । उद्धर्ध्वं उपरिस्थिते, निजे स्वकीये, कण्ठे गल्दशे, निवेशात् स्थापनात् हेतो, वाग्धिदेव्या वाग्देवताया सरस्वत्या, गौरव पूजाम्, सम्मानाधिरमिष्यम् । कमलापेक्षया इति भाव । व्यधित कृतवान् । इतीति । स नल, इति पूर्वोक्तप्रकार विष्णोर्मनोभावम्, अघेय शास्त्रा, बहुना प्रभतेनापि, वसुना धनेन, लक्ष्मीरूपेण मणिरत्नादिना इति भाव । लक्ष्म्या च इति ध्वन्यते, विहितया इति शेष । अर्चनया पूजया, अपीति शेष । मुद मीतम्, न प्राप्नुवन् न लभमान सन्, अथ अनन्तरम्, सूक्तिभौक्तिकमयै, सूक्तय सरसपदनिबद्धानि स्तोत्राण्येव, मौक्तिकानि सुक्तसमूहा, विशदत्वादिति भाव । तन्मयै तदात्मकै, हारै हाररूपै, सरस्वत्या इति च ध्वन्यते, उपहारै, उपायने, हरे भारायणरय, भक्तिषु ऐकान्तिकसेवा विशेषम्, एतत् अचेष्टत, हरिभक्ति दर्शयितुमैच्छदिति भाव । हरिणा कमलात् वाण्या अधिकगौरव कृतमत सरस्वतीकरणकार्चनेनैवास्मिन् अधिका भक्ति प्रदक्षिता भविष्यताति मन्वानल सरस्वतीमयै सुकतेरतमभजत इति निश्चयम् ॥ ४८-४९ ॥

‘निर्दोष विष्णु भगवान् (लक्ष्मीको) हृदयमें रखनेसे लक्ष्मीने अपने अनुरागको सूचित करते हुए भी लक्ष्मीके निवासस्थान (विष्णुहृदय) के ऊपर कण्ठमें (सरस्वतीको) रखनेसे सरस्वतीका (लक्ष्मीकी अपेक्षा अधिक) गौरव किये है’ इस बातको जानकर उस (नल) ने बहुत-से स्वर्णकमलादि धनोके द्वारा पूजा करनेसे भी पूर्णत इष्टित नहीं होते हुए, सूक्तिरूप मोनियोंके बने समर्पित हारोंसे विष्णुकी भक्ति करने लग्य । [जिस प्रकार कोई पति किसी स्त्रीको सुन्दर स्वानमें रखकर उसमें अपने स्नेहको सूचित करता हुआ भी उस स्त्रीसे अधिक रनहावा किसी दूसरी स्त्रीकी उससे भी अच्छे उचितम स्थानमें रखकर उसका गौरव बढ़ा देता है, उसी प्रकार हृदयमें लक्ष्मीको रखनेसे उसमें अपने अनुरागको प्रकट करते हुए भी विष्णु भगवान् लक्ष्मीके निवासस्थान हृदयम् भी ऊपर कण्ठमें

सरस्वतीको रखनेसे लक्ष्मीकी अपेक्षा सरस्वतीको अधिक गौरव देते हैं] अत एव विष्णु भगवान्की प्रियतमा सरस्वतीके द्वारा ही उनकी प्रसन्न करना उचित समझकर सुवर्ण-कमलादि अनेक बहुमूल्य पद्मार्थोंमें पूजन करनेपर भी सन्तोष नहीं होनेसे वे नल सूक्तरूप मोतियोंके द्वाररूप उपहार (मेंट) से विष्णु भगवान्की स्तुति करने लगे । [लोकमें भी कोई किमीको सुवर्णादि सम्पन्न करके उसे शीघ्र प्रसन्न करनेके लिए मोतीके द्वारोंको उपहारमें देता है । पूजाके बाद नल विष्णुकी स्तुति करने लगे] ॥ ४८-४९ ॥

दूरत स्तुतिरवाग्विषयस्ते रूपमस्मदभिधास्तव निन्दा ।

तत् क्षमस्य यदहं प्रलपामीत्युक्तिपूर्वमयमेतदवोचत् ॥ ५० ॥

दूरत इति । हे भगवन् ! ते तव रूप स्वरूपम्, अवाग्विषय वाचामगोचर, 'यतो वाचो निर्वर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुतेरिति भावः । स्तुति स्तव, दूरत दूरे, कर्तुं मशक्या इत्यर्थः । यस्य तव स्वरूपं वाचामतीतं तस्य तव स्तुतिं कथं कर्तुं शक्येत ? कथमपि नेयादयः । एवञ्च अस्मदभिधा अस्माकमुक्तयः, अस्मद्विधा स्तुतिरित्यर्थः । तव भवन्, निन्दा कदर्थना, भवतीति शेषः । अमन्त-गुणस्य तव अत्यन्तगुणप्रकाशकरत्वात् वाग्विषयस्य च वाचा वर्णनात् निरस्कार एवेत्यर्थः । अत एव अहं नल, यत् प्रलपामि अनर्थकं वचिन्, तत् प्रलापवचनम् वचस्व सहस्व, मार्जयेत्यर्थः । इत्युक्ति एव-वचनम्, पूर्वं प्रथमं यस्मिन् तद् यथा अवति तथा, अथ नल, एतद् वक्ष्यमाणम्, अवोचत् उक्तवान् ॥ ५० ॥

(हे भगवन् !) तुम्हारा स्वरूप वचनान्तीत है (अतः तुम्हारी) स्तुति दूर है, अर्थात् नहीं की जा सकती (इस अवस्थामें), हमारा कथन (आपकी स्तुतिकारमें मल्लन वर्णन, वर्णनान्तीतका स्वरूप शब्दोंमें वर्णन करनेके कारण) तुम्हारी निन्दा है । इस कारणसे 'मैं (तुम्हारा स्तुतिके रूपमें) जो कुछ प्रलाप करता हूँ, उसे आप क्षमा करें' ऐसा कहकर नल यह (२१।५०-१०३) कहने (विष्णु भगवान्की स्तुति करने) लगे ॥ ५० ॥

स्वप्रकाशः । जह एव जनस्ते वर्णनं यदभिलष्यति कर्तुम् ।

नन्वहर्षनिमहं प्रति स स्यान्न प्रकाशनरसस्तमसः किम् ॥ ५१ ॥

स्वेति । स्वप्रकाशः । हे स्वयंप्रकाशः । अन्यनिरपेक्षप्रकाशरूपः विष्णोः । 'एष आत्मा स्वप्रकाशः' इति वेदान्तादिति भावः । जह मूढ, अविद्याऽऽच्छन्नः इति यावत् । एष अयम्, जन लोक, ते तव, चिन्मयस्येति भावः । वर्णनं गुणकीर्तनम्, कर्तुं विधातुम्, यत् अभिलष्यति वाञ्छति, ननु मा विष्णोः, स नादश्च वर्णनाभिलाषः, अहर्षते सूर्यस्य, सह तेजः, प्रति लक्ष्याकृत्य, तमसः अन्धकारस्य, प्रकाशने प्रकटने, स्वाविर्भावविषये इत्यर्थः । रम वाञ्छा, न स्यात् किम् ? न भवेत् किम् ? अपि तु स्यादेव इत्यर्थः । स्वप्रकाशस्य तव वर्णने जहस्य ममाभि-

लाप प्रकटप्रकाशसूर्यतेज प्रकाशने तमस अभिलाष इव अत्यन्तमशोभन एवेति भावः । तेजोनाशस्य तमसः तेजः प्रकाशमिलाप यथा विकल एव, तथा स्वप्रकाशनाशया लब्धताया अपि तत्प्रति प्रकाशनात्मकवर्णनोद्यमः विकल एवेति तात्पर्यम् ॥

हे स्वयं प्रकाशमान ! भूख (अविद्यामे आवृत) यह जन अर्थात् मैं (या—लोक) को तुम्हारा वर्णन करना चाहता है, वह सूर्यतेजको अन्धकारद्वारा प्रकाशित करनेका इच्छा (के समान) नहीं है क्या ? । [स्वयं प्रकाशमान सूर्यके तेजको जिसप्रकार अन्धकार प्रकाशित करनेकी इच्छा करे तो वह उसकी अदृश हो होगी, उसी प्रकार स्वयं प्रकाशमान बिष्णु भगवान्‌के वर्णनको भी स्तुतिकर प्रकाशित करना मेरी (या—लोगोंकी) मूर्खता ही होगी] ॥ ५१ ॥

मैव वाङ्मनसयोर्विषयो भूस्त्वा पुनर्न कथमुद्दिशता ते ।

उत्कृष्टातकयुगस्य घनं स्यात् तृप्तये घनमनाप्तुमर्हति ॥ ५२ ॥

मेति । हे बिष्णो ! वाङ्मनसयो वाक्यचेतसो । 'अचनुर—' इत्यादिना साधु । विषय गोचर, मैव भू नैव भव, स्वमिति शेषः । 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतेरिति भावः । पुनः तथाऽपि, ते वाङ्मनसे, एवा भवन्तम्, कथं केन हेतुना, न उद्दिशताम् ? न लक्ष्यताम् ? त्वामुद्दिश्य न प्रवर्त्ततामित्यर्थः । अपि तु उद्दिशतामेवेति भावः । 'दिश भतिसर्जने' इत्यस्माद्धातोर्लोपि रूपम् । तथा हि घनमेतम्, अनाप्तुवत् अलभमानस्य अपि, दूरावस्थितत्वादिति भावः । उत्कृष्टो मेघार्थमेव उत्कृष्टयो, चातकयो सारङ्गयो, युगस्य द्वन्द्वस्य, चातक मिथुनस्येत्यर्थः । तृप्तये अलदानेन प्रीतये, घनं मेघं स्वयमेव, स्यात् भवेत् । चातकयुगस्य अविषयोऽपि मेघा यथा स्वयमेव सत्तृप्तये उदेति तथा वाङ्मनसयोर गोचरोऽपि स्व स्वयमेव सत्तृप्तये स्या, अतो न वर्गनोद्यमो मया त्यज्यते इति निष्कर्षः ॥

(यद्यपि) तुम वचन तथा मनके विषय नहीं हो अर्थात् न तो तुम्हारा वर्णन ही किया जा सकता है और न ध्यान ही, तथापि वे दोनों (वचन तथा मन) तुमको लक्ष्यकर क्यों नहीं प्रवृत्त होवें अर्थात् जोग तुम्हारी स्तुति तथा ध्यान क्यों नहीं करें, क्योंकि मेघकी नां पाने हुए भी उत्कृष्टतम ज्ञानरूपके मिथुन (जोड़ी) की तुमके लिए भय होना है । [जिस प्रकार चातक-मिथुन मेघको नहीं पाकर भी उसका उद्देश्य कर उससे जल चाहता है तो मेघ उसे जल देकर तृप्त करता ही है, उसी प्रकार वरुण आपका वर्णन तथा ध्यान क्रमशः वचन तथा मनके द्वारा नहीं किया जा सकता तथापि आपको लक्ष्यकर प्रवृत्त होनेवाले उनको सत्त्वरमल आप अवश्यमेव तृप्त करते ही हैं, अन एव मैं वचन तथा मनमे आपकी स्तुति तथा ध्यान करता हूँ] ॥ ५२ ॥

द्युधामत्स्यरपुपस्तव पुच्छास्फालनाञ्जलमिवोद्धृतमन्धेः ।

रुतैत्यमेत्य गगनाङ्गणसद्भादाविरस्ति त्रिबुधालयगङ्गा ॥ ५३ ॥

दुप्तेति । हे विष्णो ! हृदयना कपटेन, वेदोद्धार यावेत्यर्थः । मत्स्य मोनः, वपुः शरीर यस्य तथोक्तस्य, तव ते, पुच्छस्य लागूतस्य, आस्फालनात् तादनात् हेतोः, अग्ने सागरात्, उद्धृतम् ऊर्ध्वम् उद्धृतम्, उद्धृवाग्, कर्तुं । गगनाद्गणेन आकाश-शात्मकञ्च वरेण, सद्भात् मयोगात् हेतोः, श्वेष्य श्वेतस्वम्, एष्य प्राप्य, त्रिदुधालय-गङ्गा स्वर्गदो, मूत्वा इति शेषः । आत्रिस्त्रीयं प्रादुर्भवतीत्यर्थः । नीलवर्गं अपि मामुद्रा-क्षायो गगनालोकमस्पृशदिव चवला इत्यन्ते इति भावः ॥ ५३ ॥

(भगवत्पत्नी स्तुति करते हुए नमः सर्वप्रथम मात्स्यावतारकी स्तुति करते हैं—उद्धारके द्वारा भगवत् वेदके उद्धारके लिए) कष्टमे मत्स्यका शरीर धारण किये तुम्हारे पूछके आस्फालनमे कष्ट रहता हुआ सुन्दरतम आकाशलाके समाने श्वेतितानकी प्राप्तकर मानो स्वर्गीय नदी (आकाशगङ्गा) बनने प्रकट हुआ है । [यद्यपि मत्स्यका उद्धृतम होना प्रसिद्ध है, तथापि शिवकी विष्णुका मत्स्य होनेसे विष्णुकी स्तुति द्वारा ही नमः शिवकी प्रशंसा करना चाहते हैं और 'क्षीरं' शब्दके परमवैभव होनेसे भी विष्णु भगवान्की स्तुतिसे ही आरम्भ करनेमें कोई अनुरोध नहीं है, इसी कारण अगे 'भेदना इतिहो परिदूय' (२१।१०५) के द्वारा शिव-विष्णु दोनोंके ही पूजन करनेका वर्णन कबिने किया है] ॥ ५३ ॥

भूरिमृष्टिधृतभूवलयाणा पृथ्वीमनिर्मुक्तिर्गैरिव चक्रे ।

सुम्बिताऽननु जगम् क्षितिरक्षाकर्मठस्य कर्मठस्तत्र मूर्ति ॥ ५४ ॥

भूरीनि । हे भगवन् ! पृथ्वीमनि पृथ्वीप्रदेश, भूरिषु प्रतिक्रम नूतनसृष्टिभरगात् षष्ठीषु, सृष्टिषु सृजनकार्येषु, घनानां पृष्ठदेशे एव उद्धृतानाम्, भूवलयाणां पृथ्वी भगवन्नाम, किं पुन पुन बहनेन भवेन्नयनितविह्वविशेषैरिव, चक्रे चक्राकार-चिह्नराजिमि, सुम्बिता स्थाने स्थाने सृष्टा, चित्ते पृथिव्या, रक्षाया पालने अश्र-निमग्ननात् रक्षणविषये इत्यर्थः । कर्मठस्य कुशलस्य । 'कर्मणि घटोऽटच्' । तव भवत मन्त्रचिन्ता, कर्मठ कूर्मस्मृतिगां, मूर्ति तनु, रक्षात् भुवनम्, भवतु रचतु ॥ ५४ ॥

(एव कच्छपान्तारकी स्तुति करते हैं—उद्धारकी) पीठपर अनेक मूर्तियोंमें आकाश किये गये पृथ्वी-मण्डलोंके दृष्टे (किं) के स्थान नक्षत्रिणोंमें स्पष्ट (दृश्य) पृथ्वीकी रक्षा करनेमें तब आपका कच्छप-शरीर समारकी रक्षा करे । [आपके कच्छप-शरीरके पृष्ठ-भागका जो लक्षणकार चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं, वे मानो अनेक मूर्तियोंमें पृथ्वीकी रक्षा करनेके लिए उमङ्गे धारण करनेके दृष्टे पडे हुए हैं, ऐसा आनन्द कच्छप-शरीर समारकी रक्षा करे । पीठपर प्रत्येक मूर्तिमें पृथ्वीकी धारणकर आर उमङ्गी रक्षा करते हैं । मृदु पानानोंके नीचे पानाओंपर पृथ्वीकी शेषजय धारण करते हैं, उनके भी नीचे ज्ञानान्धके नीचे कटाइके भारकी ज्ञानान्ध (वक्र-) वराकरवज्रके कच्छपरूप विष्णु धारण करते हैं ॥ ५४ ॥

दिक्षु यन्तुरचतुष्टयमुद्रामभ्यवैमि चतुरोऽपि समुद्रान् ।

तस्य पौत्रिवपुस्तव दष्टा तुष्टयेऽस्तु मम वास्तु जगत्याः ॥५५॥

दिक्ष्विति । हे विष्णो ! दिक्षु चतसृषु आशासु, चतुर चतु सङ्ख्यकान् अपि, समुद्रान् सागरान्, यस्य वराहरूपधरस्य, सुराणां चतुष्टयस्य चतु सङ्ख्यकशकस्य, मुद्रा चिह्नम्, सुरेण विद्वन्नजनितस्वातरूपचिह्नमिति यावत्, अभ्यवैमि जानामि, तस्य उत्तविधस्य, पोत्री वराह ष्व । 'वराह शूकरो पृष्टि कोल' पोत्री किर किटि' इत्यमर । वपु शरीर यस्य तादृशस्य, नव भवत, जगत्या पृथिव्या, वास्तु वेदसंस्थानम्, रसातलप्रदेशादुद्दृत्य दष्टोपरिस्थापनेन आवासभूता इत्यर्थः । 'येदमभूर्वास्तुरस्त्रियाम्' इत्यमर । दष्टा विशालदन्त, मम मे, तुष्टये वाङ्मापूरण जनितप्रीतये, अस्तु भवतु ॥ ५५ ॥

(अब दो द्योकोन वराहावनारकी स्तुति करने हैं—) मैं (पूर्वादि चारों) दिशाओंमें चारों समुद्र का जिस (वराहरूपधारी विष्णु) के सुरोंका चिह्न (सुरोंसे उत्पन्न गर्न-विशेष) समझता हूँ, वन वराहरूपधारी तुम्हारा (विष्णु भगवान्की) पृथ्वीका गृह (आधारभूत) वद दष्टा (विशालदन्त दोन) मेरे कल्याणके लिए हो ॥ ५५ ॥

उद्धतिस्रलदिलापरिरम्भाल्लोमभिर्वहिरितैर्यदुहृष्टै ।

ब्राह्ममण्डमभवद् बलिनीप केलिकोल । तव तत्र न मातु ॥५६॥

उद्धतीति । केलिकोल । हे क्रीडावराह ! लीलाप्रदर्शनार्थं वराहरूपधारिन् । तत्र ब्रह्माण्डे, न मातु अवकाशम् अलभमानस्य, अतिविपुलदेहतयेति भावः । मा-धातोस्तुति पष्ठयेकवचनरूपम् । तव भवत, उद्धती जलाद् उद्धरणसमये, खलत्वा दन्तात् पतन्या, इत्याद्या पृथिव्या, परिरम्भात् सयनधारणात् आलिङ्गनाच्च हेतो, बहु अर्थम् यथा भवति तथा, हृष्टे विकसितै, पुलकितैरि र्यर्थः । उद्धतैरिति यावत्, यदिब्रह्माण्डस्य बहिः प्रदेशे, इतै गते लोमभि तनुहृदै-माधनै, ब्राह्मम् अण्ड ब्रह्माण्डम्, बलिनीप तव पूजार्थं कदम्बकुसुमम्, इवेति शेषः, अभवत् अजायत ॥ ५६ ॥

हे क्रीडामे (अनायास—बिना परिश्रमके) वराहरूप धारण किये हुए (विष्णु भगवान्) । तुम्हारे (अतिशय विशाल) ब्रह्माण्डमें नहीं समाते अथवा छोटा पड़ते हुए, (हिरण्याक्षकी मारकर पातालसे) ऊपर उठाने समय स्थलित होती हुई पृथ्वीके आलिङ्गन (यत्नपूर्वक धारण) करनेसे बाहर निकले हुए अत्यन्त हर्षित रोमोत्त ब्रह्माण्ड पूजार्थं समर्पित कदम्ब-पुष्पके समान हो गया । [वराहरूप धारणकर हिरण्याक्ष नामक दैत्यकी मारकर जब आप पातालसे पृथ्वीकी दीनपर रखकर यत्नपूर्वक ऊपर उठान लगे तो ब्रह्माण्ड रूप आपका शरीर रोमाञ्चयुक्त होकर ऐसा मालूम पटना था कि ब्रह्माण्डरूप आपके शरीर-

पर कदम्बके पुष्प चढ़ाये गये हों, और वन विशालतम दांतपर वह पृथ्वी भी छोटा हो रही थी] ॥ ५६ ॥

दानवौघगहनप्रभवस्त्व सिंह ! मामत्र रवैर्घनघोरै ।

वैरिदारिदित्रिषत्सुकृतास्त्राममन्मवभवन्मनुजार्द्ध ॥ ५७ ॥

दानवाविति । सिंह ! हे नृसिंहमूर्तिधर ! विष्णो !, दानवानां दनुजानाम्, ओघः समूह एव, बहुदानवाधिपतिहिरण्यकशिपुसमा एवेति भावः । गहनं वनम्, हिंस्र-प्रकृतिदानवौघाधिष्ठितत्वेन दुष्प्रवेद्यादिति भावः । तत्र प्रभव उपपत्ति यस्य ॥ तादृश, अनेन सिद्धाकारधारणस्य औचित्यं प्रकटितम्, सिंहस्य घनसम्भव इति भावः । तथा वैरिणः शत्रून् दानवान्, दारयन्ति नाशयन्तीति तादृशानि, यानि दिविषत्सुकृतानि देवानां पुण्यानि, ताग्येव अस्त्राणि आयुधानि, तेषां ग्राम समूह एव ग्राम सचसच, स्वल्पमद्भुतकमनुष्यवमतिस्थानमित्यर्थः । तस्मात् सम्भव उपपत्ति यस्य स तादृश, भयम् जायमानं, प्रकटयमित्यर्थः । मनुज मनुष्य एव, नराकार एव इत्यर्थः । अर्द्धं अर्धं काय यस्य स तादृश, एतेन देवो एकारिनरोत्पत्तौचित्यं प्रदर्शितम्, नरस्य ग्रामसम्भवाविति भावः, एव भवान्, यन्मैः अनवरतं, घोरैः भयद्वारथ, एवं ध्वनिभिः, गर्जनेरिति यावत्, मा नष्टम्, अव रक्त ॥ ५७ ॥

(अब दो इन्कोमें नृसिंहावतानी स्तुति करते हैं—) हे सिंह (नृसिंह) ! दानव समूहरूपी गहन (घने जङ्गल) में उत्पन्न तथा शत्रुविदारक देवोंके पुण्यालसमूह (प. ५०—ग्राम) में आधे मनुष्य होने हुए तुम मेवदे समान (अथवा—घन अर्थात् मयङ्कर, अपने) गजनोंसे मेरी रक्षा करो । (पाठा०—दानवोंमें प्रथम (हिरण्यकशिपु) के कष्टके निमित्त उत्पन्न अथवा—दानवोंमें (हरिभक्त होनेसे) मुरख (प्रकाश) के पितृदत्त कष्टके निमित्त (निवारणार्थ) उत्पन्न, अथवा—दानवोंमें परिपूर्ण सभा (हिरण्यकशिपुका सम्मानघन) रूपी वनमें उत्पन्न, अथवा—दानव हिरण्यकशिपु के पापके (अधिकतासे) घने जगलमें उत्पन्न, अथवा—दानवरूपी आद्य (प्राचीन) गहनमें उत्पन्न । [गहन के अर्थात् घने वनमें सिंहको तथा ग्राममें मनुष्यको उत्पन्न होनेसे आपकी 'नृसिंह' रूप होना सर्वथा वचन ही है] ॥ ५७ ॥

दैत्यमर्त्तृरुदरान्धुनिविष्टा शक्रमम्पदमित्रोद्धरतस्ते ।

पातु पाणिमृणिपञ्चकमस्मारिद्धन्नरञ्जुनिभलग्नतदन्त्रम् ॥ ५८ ॥

देवेति । हे नरसिंह, दैत्यमर्त्तृ हिरण्यकशिपु, उदरमेव जठरमेव, अन्तु कृप । 'पुष्टेवान्धु' प्रहि कृप इत्यमरः । 'अजिह्वशिकम्पमि' इत्यादिना औणादिकं कुप्रत्यय धुगागमश्च । तस्मिन् निविष्टा मग्नत्वेन स्थिताम्, शक्रमम्पदम् इन्द्रैश्वर्यम्, उद्ध

१ 'दानवाघ—' इति 'दानवाघ—' इति च पाठान्तरम् ।

रत उत्तोलयत इव, ते तत्र, जिह्वरज्जुनिमानि खण्डितदामसदृशानि, लघनानि सम
कानि, पागिसृण्वपञ्चके एव इति भाव । तस्य दे यमसु', अन्त्राग्नि पुरीतदारयनादी
विशेषा यत्र तादृशम् । 'अन्त्र पुरीतत्' इत्यमर । पाणे करस्य, सृणीना तीक्ष्णतया
रूपाणाम् अङ्गुशानाम्, पञ्चकपञ्चसङ्ख्या, अस्मान् मत्प्रमृतीन्, पातु रक्षतु, कूरेहि
पतितान्युदञ्जनादीन्यङ्गुशाकारेण रज्जुवेष्टितेन लोहयन्त्रविशेषेण उद्धूयते यथा
तद्वदिति भाव ॥ ५८ ॥

वैद्यराज (हिरण्यकशिपु) के उदररूपी कूपमें पटी (गिरी) हुए इन्द्र-सम्पत्तिको
बाहर निकालते हुए—से तुम्हारे दूटी हुए रस्सोंके समान फँसी हुई उस (हिरण्यकशिपु)
के आँतोंवाला, हाथके (नजरूपी) अङ्गुश (कौटा) पञ्चक हमारी रक्षा करें । [जिस प्रकार
कूपमें दूटी हुई रस्सीमदित घट आदि गिर पटना है तो उन् अङ्गुशाकार बौटे (झगरे)
में दूटी रस्सोंको फँसाकर निकाला जाता है, उसी प्रकार इन्द्रकी सम्पत्ति हिरण्यकशिपुके
उदररूपी कूपमें गिर गयी थी, और आपने अङ्गुशके समान अपने हाथके नजोंसे उस देवकी
आँतोंको उदरविदारणपूर्वक फँसाकर अर्थात् उसके पेटको फाटकर इन्द्रकी सम्पत्तिको बाहर
निकाला वे अङ्गुशाकार नख हमारी रक्षा करें] ॥ ५८ ॥

स्वेन पूर्यते इय सकलाशा भो ! बले ! न मम किं भवतेति ? ।

न घटु कपटवाचि पटीयान् देहि वामन ! मनः प्रमद न ॥ ५९ ॥

स्वेनेति । भो ! बले ! हे बलिनामहैयाधिप ! भवता स्वया, इयम् पृथा, सक-
लाना सर्वेषामेव लोकानाम्, आशा मनोरथ, स्वेन धनेन, धनवितरणेनेत्यर्थ । पूर्यते
परिपूर्णक्रियते, मम मे, किं न ? आशा पूर्यते इति पूर्वोक्तान्वय । अपि तु पूर्यते एव ।
अन्यथा—भो राजन् ! भवता इय सकला सर्वा, आशा दिक् । 'आशा वृष्णादिशो
प्रोक्ता' इति विश्व । स्वेन आसीयेन, बलेन सामर्थ्येन, पूर्यते व्याप्यते, मम मे,
आशा दिक्, किं पूर्यते ? अपि ॥ नैवेत्यर्थ । मम बेतुण्टलोकक्यापने तव सामर्थ्या
आवादिति भाव । यद्वा—मम किम् ? तावता मे किं प्रयोजनम् ? यथा ते त्रिपाद्-
भूमिरेव व्याप्यते, नाधिकेन अस्ति मे प्रयोजनम्, अतस्ते सर्वदिग्धिकारे मम लाभ
क्षती ॥ रत इति भाव । वामन ! हे वामनरूपधर विष्णो ! एत्येवरूपायाम्, कपट
वाचि छद्मवचने, भगवत आशाया एवाभावात् तादृशप्रार्थनाया कपटत्वमिति
योध्यम् । पटीयान् कुदाली, बट्ट माजवक, तरुणग्रहचारीत्यर्थ । स्व भवान्, न
अस्माकम्, मनस चेतस, प्रमद हर्षम्, अभीष्टसाधनादिना इति भाव । देहि कुरु ॥

(अब चार श्लोकोसे वामनावतारकी स्तुति करते हैं—) 'हे बले ! तुम यदि सबको
आशा (अमिताया) को अपनेसे (या—स्वर्गादि धनसे) पूरा करते हो तो मेरा आशा
(तीन पाद परिमित भूमिकी याचना) नहीं पूरा करोगे ? अथवा अवश्यमेव पूरा करोगे
(अथवा—तुम अपने बल या सेनासे सब दिशाओंको व्याप्त (आवृत) करने हो, किन्तु

मेरी आज्ञा (निष्कामस्थानभूत वैकुण्ठ धाम) को भी पूरा करते हो क्या ? अर्थात् नहीं ।
 अथवा—तुम अपने दल या सेनामें सब दिशाओंको व्याप्त करते हो, उसमें मुझे क्या प्रयोजन
 है ? अर्थात् उसमें मुझे कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि मुझे तो केवल तीनपाद भूमि ही
 प्रयोजन है । अथवा—तुम द्रव्यमें सब आज्ञाओंको पूरा करने का तो मेरा छोटीसा आज्ञा
 (पादत्रयमात्र भूमि) को नहीं पूरा करोगे क्या ? अर्थात् अवश्य पूरा करोगे । अथवा—
 सन्तानों दिशाओं में अपने विशालरूपमें नहीं पूरा कहेंगा ? अर्थात् अवश्य पूरा कहेंगा, तुम
 को हममें क्या ? अर्थात् तुम कुछ नहीं कर सकोगे । अथवा—(तीनपाद भूमि देनेका
 वचन देकर उसे नहीं पूरा होनेपर) अपने शरीरमें मेरी सब आज्ञाओंको नहीं पूरा करोगे
 क्या ? अर्थात् अपने वचनको सत्य करनेके लिए अपने शरीरमें भी मेरी आज्ञाओंको अवश्य
 पूरा करोगे । इस प्रकार (स्पष्टोक्तिद्वारा) कष्टपूर्ण वचनमें अनिष्ट चतुर ऋद्धाचारीका
 रूप धारण किये हुए हे वामन ! (हमारी समस्त कामनाओंको पूरा करनेमें) हमारे मनके
 हर्षको दो ॥ ५० ॥

दानवारिरमिकाय विभूतेर्ब्रह्म तेऽस्मि सुतरा प्रतिपत्तिम् ।

इत्युदग्रपुलकं बलिनोक्तं त्वा नमामि कृतवामनमायम् ॥ ६० ॥

दानवारीनि । हे वामन ! अस्मि अहम्, अस्मीत्येतदभ्ययमहमर्थे । दानस्य
 एतादृश्य, वारिण जलस्य, दानार्थकमपट्टवसल्लिख्यस्येति । रसिकाय अनुरागिणे,
 प्रतिग्रहवाञ्छकाय इत्यर्थः । ते नुभ्यम्, विभूते सम्पत्ते, ममेति शेषः । सुतराम्
 अत्यर्थम्, प्रतिपत्तिं दानम्, यस्मिन् कामये । वशं कान्तावित्यस्य लज्जुल्लसपुष्पैकव
 चनम् । अथवा—हे वामन ! एतद् दानवानाम् असुराणाम्, अरिं शत्रुं साक्षात्
 विष्णुं, अग्निं भवयि, अत एव अस्मि अहम् ते तव, कायविभूते शरीरसम्पत्ते, गृही-
 तत्रिविक्रममूर्तेरिति भावः । सुतराम् अत्यर्थम्, प्रतिपत्तिं ज्ञानम्, तव स्वरूपज्ञा-
 नेच्छाम्, दर्शनप्राप्तिं वा इत्यर्थः । अरिम् कामये । इत्यनेन प्रकारेण, उदग्रा उलका,
 भक्त्यानिशङ्कया अत्यर्थमुद्रता इत्यर्थः । पुलका रोमाञ्चो यस्मिन् तन् यथा भवति
 तथा, बलिना दानवेन्द्रेण, उन्नतं कथितम्, कृता विहिता, वामनरूपा वामनाकार
 धारणामिका, माया छलयेन त तादृशम्, त्वा भवन्तम्, नमामि नतोऽस्मि ॥ ६० ॥

‘मै दान-संवादी उलका रमिक (प्रतिग्रह करनेका शुक) तुम्हारे लिए सम्पत्तिको
 देनेके लिए अत्यन्त इच्छुक हूँ (अथवा—तुम) दानवाँके शत्रु (विष्णु) हो, (अत एव)
 तुम्हारे शरीरको विभूतिके धानका अत्यन्त इच्छुक हूँ अर्थात् तुम्हारे विना शरीरको देखना
 चाहता हूँ’ इस प्रकार अत्यन्त पुनक्ति हो बलिम् कहें मये वामनरूप धारणकर माया किये
 हुए तुमको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ६० ॥

भोगिभि स्तितितले दिवि वास दन्धमेध्यसि चिर त्रियमाण ।

पाणिरेप भुवन वितरेति छद्मवाग्भिरव वामन । त्रिष्वम् ॥ ६१ ॥

भोगिभिरिति । हे बले ! चितितले भूलेके, दिवि स्वर्गे वा, चिर बहुकाल, व्याप्य, ध्रियमाण अवतिष्ठमान । छट् अवस्थाने इत्यस्य रूपम् । त्वमिति शेष । भोग सुखमेषामस्तीति तादृशं भोगिभि सुखिभि, जनेभिरिति शेष । मह मादम्, वासम् अवस्थानम्, तथा बन्ध स्त्रयबन्धनञ्च, एष्यमि प्राप्स्यमि, मम करे दानवा रिप्दानादिति भाव । अत एव एष अयम् । पाणि हस्त, मया प्रसारित इति शेष । भुवन जटम्, दानवारीति यावत् । वितर देहि, अत्र पाणी इति शेष । अन्यच्च—हे बले ! दिवि स्वर्गे, स्वर्गनुष्यपरमरमणीये इत्यर्थ । चितितले रसानले, चिर दोर्ह काल व्याप्य, ध्रियमाण अवतिष्ठमान, त्वमिति शेष, भोगिभि सर्पे सह, वासम् अवस्थानम्, बन्ध बन्धनञ्च, एष्यमि प्राप्स्यमि, एष पाणि, मया प्रसारित इति शेष, भुवन जटम्, इन्द्राव धरपूर्वकं गृहीतम् अत एव तस्यैव प्राप्यमिति भाव । 'भुवन विष्टपे तोषे' इत्युक्तपाठ । वितर समर्पय, हे वामन ! इत्यनेन प्रकारेण, छन्दारिम कपटवचनै, विध जगत्, अव रच ॥ ६१ ॥

(देवा (- ११०) शनिके कहतेपर वामनरूपधारी आरने कहा कि—हे बले !) 'भूला'र या स्वर्गमें रहते हुए तुम भोगयुक्त अर्थात् सुखी लोगोंके साथ चिरकालक निवास एवं मन्त्रीबन्धनकी पाबंदी, (दान लेनेके लिए मेरा) यह हाथ (जैसा अर्थात् आगे का ओर कहा हुआ) है, (दान-मन्त्रों) जल्दी दो, (पश्चात्—छुटकारक हो मे) स्वर्गपुण्य (अथवा—स्वर्गनिष्ठ) पापात्मोंके द्वारा ग्रहण किये गये तुम चिरकालक बन्धन पावों एवं निवास करोगे । अथवा—चिर कालक नौदिन रहने हुए तुम सर्वोंके साथ निवास एवं बन्धनको प्राप्त करोगे । (सुन्नतको चलानेके लिए तत्पर मेरा) यह हाथ है, (इन्द्रसे छिने हुए) स्वर्गलोको वापस दोगे' इस प्रकार कोट-वचनोंके उपरान्त हे वामन भगवान् ! आप स्मरारणी रह्या करें ॥ ६१ ॥

आशयस्य प्रवृत्ति क्रियते किम् ? विलुप्तस्मि हि भवश्चरयेभ्य ।

त्रिभूमित्यभिहितो बलिनाऽस्मान् वामन ! प्रणतपात्रम् । पाया ॥ ६२ ॥

आशयस्येति । हे वामन ! आशयस्य अभिप्रायस्य, प्रतिग्रहाभिलाषस्येत्यर्थ । 'निप्रायश्चन्द्र आशय' इत्यमर । प्रवृत्ति विवर्णम्, प्रकाश इत्यर्थ । किं किम् यम्, क्रियते ? विध यत्ते ? हि यत्, नवचरयेभ्य इति पृच्छताऽनिशयद्योतनपरम्, भवश्चरयेभ्य एतन्मात्र भवते इत्यर्थ । विध सर्वो यत् सम्पद् इत्यर्थ । दिशु स्वयमेव दातुमिच्छु, तस्मि मदासि । त्वयच्च—हे वामन ! त्वयस्य हस्तस्य, आ सम्पत्, विद्वान् प्रसारजमित्यर्थ । किं यथम्, क्रियते ? विधीयते ? त्वदेति शेष । दानप्रणयार्थमिति भाव । हि यत्, भवन नञ्, चरयेभ्य त्रिन्य एव पादेभ्य, न तु पाणी इति भाव । विश्व जगत् दिशु धनि, प्रपात्रा पात्रम् । हे भक्तजनवि-
—शोधक ! वामन ! इत्यनेन प्रकारेण बलिना दानवेन्द्रेण, अभिहित उक्त त्वमिति

शेष । अस्मान् मलादीन्, पाया रचे । 'पा रचने' इत्यस्य लिङो मध्यमपुरुषैक-
वचनम् ॥ ६२ ॥

(देस (२१।६९) वामनके कहनेपर परममऊ बन्निने कहा—'हे पावन ! भरने)
अभिप्राय (दान लेनेकी इच्छा) को क्यों प्रकट करते हो ?' (अथवा—दान लेनेके लिए
हाथकी सम्बद्ध प्रक्षारसे क्यों पैन्ते हो ?, अथवा—आ ' हाथकी क्यों पैन्ते हो ? । अर्थात्
आरको बैसा करना बचिन नहीं, क्योंकि 'मैं आरके चरणोंके लिए सब (स्वर्णिम मण्डपि
या—ममस्त सप्तर) को देना चाहता हूँ' इस प्रकार बन्निन कह गये हैं प्रगनधारिन । वामन ।
आर हम ओगंधी रखा करें । [अतएव होनेमे चरणोंमें ही सब कुछ समर्पित करनेके लिए
इच्छुक मन्त्रात्र बन्निने अपने मापने दान लेनेके लिए वामनरूपधरा विष्णुभगवान्को हाथ
फैलानेमें निषेध करना उचित ही है] ॥ ६२ ॥

क्षत्रजातिरिदियाय भुजाभ्यां या तवैव भुवन नृजत प्राक् ।

जामदग्न्यथपुपस्तत्र तम्यास्तौ लजार्थमुचितौ विजयेताम् ॥ ६३ ॥

क्षत्रेति । हे विष्णो ! प्राक् पुरा, भुवन जगन्, सप्तर सृष्टि कुर्वन्, तव भवन
एव, भुजाभ्यां दोह्यां मकाशान्, या क्षत्रजानि क्षत्रियसमूह, उदिष्याथ उद्भूता,
'बाहु राजन्य कृत्' इति श्रुते, तम्या क्षत्रजाने, लजार्थं विनाशार्थम्, उचितौ
योग्यौ, 'नाम कारणलय' इति साङ्ख्यदिमिद्वान्तात् कार्यं हि कारणे एव हीन
भवतीति सर्वत्र दशानात्त्व कार्यम्भूता क्षत्रजातिं प्रति तव भुजयोरेव कारणत्वात्
क्षत्रजातेष्वेव भुजयोरेव हीनत्वस्योचित्यादिति भाव । जामदग्न्य' पाशुराम, वपुः
शरीर यस्य तस्य परशुरामदेहधारिण, तव ते, तौ मुजौ, विजयेतां सर्वो कर्षण
वर्तेताम् । विषाम्या जेतव्यताद्वैत ॥ ६३ ॥

(भव हीन दशैकी (२१।६३-६४) में परशुराम, शरकी श्रुति करते हैं—) "इले
सृष्टि करते हुए (मन्त्रात्र) तुम्हारे ही बाहुद्वये से क्षत्रिय जाति उत्पन्न हुई, वपुः (क्षत्रिय
जाति) के वपुः (नाभ) के लिए योग्य परशुरामशरीरधारक आरके बाहुद्वय विजयी होंगे ।
['जामदग्न्य सुखमायेशुभ्या रान्त्व कृत्' इस वेदवचनके अनुसार मन्त्रके बाहुने
क्षत्रक्षत्रियका उत्पत्तिकारणभूत उक्त बाहुद्वयमें ही 'नाभ कारण' (कारणों कार्यका
स्थ होना ही नाभ है) इस साङ्ख्यमिद्वान्त तथा भरतवचनके अनुसार हीन होना उचित
है । जातिको नियम माननेवालोंके सिद्धान्तमें दर्शों मन्त्रजातिका अविनाश-विनाश समस्तता
चारिने । [यहाँ परशुरामा-नाम लेकर क्षत्रियजातिका संहार करना स्वशरीरका नश्वर
कहा गया है] ॥ ६३ ॥

१ तस्य भरतवचन यथा—

'अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्म एवमश्मनो लोहमुचितम् ।

एषा सर्वत्रय तेज स्वासु योनिषु क्षान्ति ॥' इति ।

पाशुला बहुपतिनियत या वेधसाऽरचि रुपा नवखण्डा ।

ता भुव कूनर्वनो द्विजमुक्ता युक्तकारितरता तव जीयात् ॥ ६४ ॥

पाशुलेति । हे जामदग्न्य ! विष्णो ! पाशुला रजोयुक्ता, स्वैरिणी च । 'सिन्धुमा दिम्पश्च' इति मन्त्रधीयो लब्धः । 'स्वैरिणी पाशुला समा' इत्यमरः । बहुवचनेन, पतय स्वामिनं यस्या सा बहुपतिश्च अनेकाऽपतिका, अनेकोपपतिका च, मा भू, वेधमा ग्रहणात्, नियत निश्चितमेव, स्या कोपेन हेतुना, नव नवसङ्ख्यकानि, खण्डानि अंशाः, भारतादीनि वर्षाणीत्यर्थः । यस्या सा, नव नवमानेन विभक्तानि, खण्डानि द्वेदनेन शकलीकृतानि अङ्गानि यस्या सा तादृशी च, अरचि रचिता, भारतादिवर्षभेदेन नवधा विभक्तीकृता द्वेदनेन नवधा विभक्तीकृता इत्यर्थः । ता पूर्वोक्तरूपान्, भुव पृथिवीम्, काञ्चित् त्रियम्, द्विजं कश्यपादिभिः ब्राह्मणैः, माताशिवि पक्षिभिश्च । 'दन्तविप्राण्डजा द्विजा' इत्यमरः । मुक्ता प्रतिप्राद्वेनेन भोगविपयीकृता खादिताश्च, कृतवत विहितवतः, ते तव, युक्तकारिषु उचितकर्म केषु प्रकृष्ट इति युक्तकारितर, तस्य भावस्तत्ता युक्तकारितरता भातिशयेन विवेकिता, जीयात् जपतु । निम्बिलतन्त्रियविनाशनेन अधिकृताया भूमे ब्राह्मणसारकर-णस्यैव औचित्याद् बहुजारमुक्ताया हि सिया भर्ता खण्डश कृत्वा पक्षिभिः स्वादनाया औचित्याच्चेति भावः ॥ ६४ ॥

धूम्रियुक्त एव (मनु आदि) बहुत पतियोंवाली जिस पृथ्वीको ब्रह्माने मानो कोपने ('भारत' आदि) नव खण्डोंमें विभक्त कर दिया (पञ्चा०—व्यभिचारिणी एव बहुत जारोंवाला जिस स्त्रीको पतिने कोपने नव दुकड़ोंमें काट दिया), वन (पृथ्वी, पञ्चा०—श्री) को ब्राह्मणों (प-१०—गीष आदि पक्षियों) ने मुक्त (भोग की गयी, पञ्चा०—छापी गयी) बनानेवाले तुम्हारी अधिक उचितवारिता विजयिनी (सर्वोत्कृष्ट) होवे । [व्यभिचारिणी एव बहुत जारोंवाली स्त्रीको कोपने नव दुकड़ोंमें काटकर गीष आदिको खिलानेके समान धूम्रियुक्त मन्वादि बहुत पतिवाली 'भारत' आदि नव 'खण्डोंमें विभक्त पृथ्वीको क्षत्रियोंका सारकर उनमें छोनकर ब्राह्मणोंके लिये दान करना तुम्हारा अत्यन्त उचित कार्य था] ॥ ६४ ॥

१ भारतादिनवखण्डानां (वर्षाणां) नामानि यथा—

'न्याद्भारतं त्रिपुररूपं हरिवर्षं च दक्षिणा ।

रम्यं हिरण्यमयं कुरु हिमाद्रेरुत्तराख्यम् ॥

मद्राक्षकेतुमाली तु द्वौ वर्षौ पूर्वपश्चिमौ ।

इलावृत्तं मध्यस्थं सुमेरुर्वन्नं निष्ठति ॥' इति ।

एषा सीमा भुवत् ऊर्ध्वस्वामी त्वष्टावेव वर्षाण्याह तच्च अमरकोपस्य 'लोकोऽयं भारत वर्षं' (२।१।६) इत्यस्यास्मत्कृत्यायाम् 'अमरकोमुष्ण' इत्यप्यम् ।

कार्तवीर्यमिदुरेण दशास्ये रैणुकेय । भवता सुपुनारये ।

कालभेदविरहादसमाधिं नौमि रामपुनरुक्तिमह ते ॥ ६५ ॥

कार्तवीर्येति । हे रैणुकेय । रैणुकापत्य । परशुराम । 'छोभ्यो टक्' । कार्तवीर्यस्य कार्तवीर्यार्जुनस्य, मिदुरेण नाशयेन । मिदे कर्तरि कुरच् । भवता स्वया, दशास्ये रावणेऽपि, सुपुनारये अनायास यथा भवति तथा, नारये हन्तव्ये सति, रावणं जितवन् कार्तवीर्यस्य य जेता तस्य रावणनाशे आयासमावादिता भाव । कालभेदस्य युगरूपस्य ममयान्तरस्य, विरहात् अमावास्या, एकस्मिन्नेव त्रेतायुगे उभयो रेवावतीर्णत्वात् इति भाव । असमाधिं सिद्धान्तहीनम्, ते तव, रामेण दाशरथिना, पुनरुक्तिं रामनाम्न पुन वचनम्, अह नल्, नौमि स्तौमि । द्विरुक्ते कालभेदात् कार्यभेदाद्वा परिहारो भवितुमहति, अत्र तु एकस्यामेव त्रेतायां दशास्यवर्षाद्विरूपस्य कार्यस्य एकेभेव कर्तुं क्षम्यत्वेऽपि पुन दाशरथिरामरूपेणावतीर्णत्वात् तेन सह तव अज्ञव्यपरिहारा पुनरुक्तिर्ज्ञाता, सादृशीम् अतर्क्यरूपां महीयसीं रामरूपा पुनरुक्तिमह नौमीत्यर्थ । रैणुकापत्यत्वात् मात्रशे एकस्यामेव क्षत्रियजातौ समुच्चतेन एकस्मिन्नेव त्रेतायुगे अवनीणन कार्तवीर्यविजयिपरशुरामावतारेणैव कार्तवीर्यजितस्य रावणस्य वधे सुकरेऽपि पुन तदर्थं रामावतारग्रहणस्य आमर्षव्यात् पुनरुक्तिमिव प्रतिभाति, अस्याश्च निरसनाय सवुत्तर नास्तीति भाव ॥६५॥

हे रैणुकापुत्र (परशुराम) । सहस्रार्जुनको काटने (मारने) वाले आपसे सुखपूर्वक विभाशनीय रावणको होनेपर कालभेदके बिना अर्थात् एक ही त्रेतायुगमें समाधान रहित रामावतार ग्रहणरूप लुम्हारी पुनरुक्तिको मैं नमस्कार करता हूँ । [त्रेतायुगमें मानव क्षत्रिय परशुरामावतार लेकर रावणको विजेता मइस्रार्जुन-को आपने मार दिया तो रावणको मारना भी उसी मानवरूप परशुरामावतारसे सुखसाध्य था, फिर भी उसी त्रेतायुगमें दशरथ-पुत्ररूपमें मानव क्षत्रिय रामावतार धारण करनेका कोई समाधान नहीं होनेसे यह रामावतार धारण पुनरुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि कालभेद या कार्यभेदसे परिहार हो सकता है, किन्तु इन दोनों त्रेतायुगके मानव एवं क्षत्रिय (परशुराम तथा राम) अवतारोंमें भेद नहीं होनेसे पुनरुक्तिका समाधान नहीं होता । 'स्वनन्द' आपने कोई भी प्रश्न करना किसी को उचित नहीं, क्योंकि उसकी सर्वश्रेष्ठ प्रमत्ता होती है । यद्यपि परशुराम मनुष्य थे, परन्तु उनमें देवभाव भी था और देवसे रावणको नहीं मारनेका वरदान प्रदान किया था, अतः एक परशुराम रावणको नहीं मार सकते थे । तथा रावणको मारनेके लिये (दाशरथि) रामको देवदान नहीं होनेसे मनुष्यरूप रामके द्वारा ही रावणका वध होना सुकर था, इस कारण एक कालमें भी दो अवतार धारण करना उचित होनेसे यद्यपि उक्त पुनरुक्तिका सूक्ष्म समझना है ही, तथापि स्थूलरूपसे समाधान नहीं होनेसे उक्त पुनरुक्तिको कहा गया समझना चाहिये । परशुराम को 'रैणुकापुत्र' कहनेसे उनमें क्षत्रियत्वकी प्रशङ्का

सूचित की गयी है । इस श्लोकमें मलने परशुरामकी ही स्तुति की है, ऐसा 'प्रकाश'कारका मन है, किन्तु 'सुखावबोध' व्याख्यारकार इस श्लोकसे दशरथापरय रामकी स्तुति न करने को है, ऐसा मानने हैं] ॥ ६५ ॥

हस्तलेखमसृजत् खलु जन्मस्थानरेणुकममौ भवदर्थम् ।

राम ! राममधरीकृततत्तल्लेखक प्रथममेव विधाता ॥ ६६ ॥

हस्तेति । राम ! हे दाशरथे ! अधरीकृता तिरस्कृता, सुग्रीवादिरूपेण भूतल मवतारिताश्च, ते ते प्रसिद्धा, लेखका लिपिकरा, लेखा इन्द्रादयः देवाश्च येन त तादृश अधरीकृततत्तल्लेखक । देवपक्षे 'शेषाद्विभाषा' इति कप् समासान्त । असौ पुप, विधाता स्रष्टा, भवदर्थं भवादसोत्तमशिवपनिर्माणार्थम्, प्रथममेव आदादेव, जन्मस्थानम् उत्पत्तिस्थानम्, रेणुका तत्त्वज्ञानी जन्मदग्निभाष्या परस्य त तादृशम्, राम परशुरामम्, हस्तलेख्य कराम्यासम्, असृजत् सृष्टवान्, खलु निश्चिन्तम् । अन्योऽपि शिवपात्रीवी शिवपनिर्माणे नैपुण्यलाभार्थमादौ यत् किञ्चिद् द्रव्य निर्माय निर्माय अभ्यास कृत्वा अभ्यन्तर यथा उत्कृष्ट निर्माति, तद्वदिति भाव । एतेन परशुरामाद् दाशरथे रामचन्द्रस्य औत्कर्ष्यं प्रदर्शितमिति सन्तुष्ट्यम् ॥ ६६ ॥

(अब नव (११।६६-७४ तथा श्लोक सहित दश) श्लोकोंसे रामावतारकी स्तुति करते हैं—) हे रामचन्द्र ! ऊन-ऊन (प्रसिद्धतम) लेखकों (चित्रकारों या—इन्द्रादि देवों, या-दश भादि आठ प्रभापतियों) को तिरस्कृत किये हुए (पक्षा०—नीचे अर्थात् मृत्पुलोकमें सुग्रीवादिरूपमें देवोंको अवतार ग्रहण करानेवाले) इस मझाने आपके लिए रेणुका है जन्मस्थान जिसका धेमे 'राम' अर्थात् परशुरामका पहले ही दाथके अभ्यासार्थ रचा है । [जिस प्रकार कोई चित्रकार दाथके अभ्यासके लिए पहले साधारण चित्रको बनाकर बादमें उत्तम चित्र बनाता है, उसी प्रकार मानो मझाने तुम्हें भूलोकमें अवतीर्ण करनेके लिए रेणुकान्तय 'परशुराम' को पहले बनाकर हस्तकौशल-अभ्यास होनेके बाद दशरथापरय 'राम' को बनाया है । इससे परशुरामकी अपेक्षा रामका अधिक महत्त्व सूचित होता है] ॥ ६६ ॥

उद्भवाजतनुजादजं । काम विश्वभूषण । न दूषणमत्र ।

दूषणप्रशमनाय समर्थ येन देव । तथैवभवमेव ॥ ६७ ॥

उद्भवेति । न जायते इति अज, तत्सम्बोधने हे अज । हे जन्मरहित विष्णो ! सनातनत्वादिति भाव । अजस्य रघुनन्दनस्य तदाख्यनृपशिरोपस्य, तनुजात् आत्मजात् दशरथात्, काम यथेच्छम्, उद्भव जायस्व, त्वमिति शेष । भवतेल्लेखेति सिपि रूपम् । विश्वभूषण । जगदट्टार । पुरयोत्तमत्वादिनि भाव । अत्र अस्मिन् विषये, अजस्य नव अजतनुजोद्भवने इत्यर्थे । दूषण दोष, असङ्गतिरूपदोष

इत्यर्थः । न नास्ति । कुत इत्याशयेन हेतुमाह—येन हेतुना, हे देव । तव ते, वैभव-
मेव ऐश्वर्यमेव, प्रभाव एवेत्यर्थः । दूषणस्य असाङ्ग याद्विदोषस्य तद्धारपराधसविरो-
पस्य च, प्रशमनाय निवारणाय निधनाय च, समर्थ योग्यम्, भवतीति दोषः ।
स्वयम् । अजस्रवम् अजस्रस्य पुत्रात् जायमे, अत्र य अज स कथं जायते ? यस्य
पितामहोऽपि न जातः तस्य वा कथं तनुजः ? कथं वा तस्मात् तनुजात् तव जन्म
सम्भवेत् ? इत्यादिरूपं दूषणं नास्ति, यतः दूषणमाशयैव तव उपपत्तिः, अथ च
अज्ञात्वात् पितामहात् अजपौत्र जात इत्यत्र दूषणं नास्ति, उभयो अज्ञाह्यनृप-
जातत्वात् इति भावः ॥ ६७ ॥

हे अज (वराहिरहित रामच ५) । अज (रघुनन्दन) के पुत्र अर्थात् दशरथसे वरत्र
होवो (या—यष्ट वरत्र होवो), हे अजस्रद्वार । हम (अजको भी वरत्र होने) में दोष
(असङ्गित दोष) नहीं है, (क्योंकि जिसका पितामह 'अज' अर्थात् अनुत्पन्न है, उसका
पुत्र भी वरत्र कैसे कहा जायेगा तथा हमसे पौत्र भी सुनराम वरत्र नहीं हो सकता, अतः
एव हम सब वरत्र होनेके कथनको स्वेच्छा-विनिमित्तमान होनेसे इसमें कोई दोषलेश नहीं
है । अथवा—'अज' (छान) के पुत्र एव पौत्र 'अज' जानीव ही होंगे, इसमें कोई दोषलेश
नहीं है । अथ वरत्रादौ भी उक्त दोषलेशामात्रका ही समर्थन कर रहे हैं—) जिस तुम्हारा
ऐश्वर्य अर्थात् प्रभाव हो दोषों (पञ्चा०—'दूषण' नामक राश्वम) के नाशके लिए है
(जिस 'राम' नामके स्मरणमात्रके प्रभावसे अमत्रमान्तरके दोष नष्ट हो जाते हैं), ऐसे
आरमें दोषलेशकी सम्भावना कैसे हो सकती है ? (अथवा—'आपका अज्ञात ही दूषण,
आदिसे लेकर राश्वम तक राश्वमोंके नाशके लिए है, इस कारण आप परशुरामके अवतारकाल
त्रिआयुने ही रामावतारसे प्रकट होवें' इसमें कोई पुनरुक्त दोष नहीं है) ॥ ६७ ॥

नो ददासि यदि नत्तयधिय मे यच्छ मोहमपि त रघुवत्स । ।

येन रावणचमूर्युधि मूढा त्वन्मय जगदपश्यदशेषम् ॥ ६८ ॥

नो ददासीति । रघुवत्स । हे रघुनन्दन । त्रिण्यो । मे मल्लम्, यदि चेत्, तस्ये
नक्षत्रि, धिय बुद्धिम्, मोक्षोपयोगिज्ञानमित्यर्थः । नो न, ददासि यच्छसि, अज्ञा
नाष्टरत्नादिति भावः । तर्हि येन मोहेन, तुवि बुद्धे, रावणस्य दशाननस्य, चमू
मेका मूढा आन्ता सती, अशेष निस्त्रिम्, जगत् विश्वम्, त्वन्मय भवदात्मकम्,
राममयमित्यर्थः । अपश्यत् ऐक्यं, त मोहमपि सुखनामपि, भ्रमज्ञानमपीत्यर्थः । मे
मल्लम्, यच्छ देहि तेनैव कृतार्थो भवेयमिति भावः ॥ ६८ ॥

हे रघुनन्दन । यदि आप मेरे लिए (मो-म.धक) नत्तयज्ञको नहीं देते हैं तो उस
मोहको ही दें, जिस (मोह) से म.दिन रावणमेनाव सम्पूर्ण मन्त्राका ही राममय (मयके
कारण रागात्मक) देखा ॥ ६८ ॥

१ 'रघुवीर' इति 'प्रकाश'सम्मत पाठः ।

आज्ञया च पितुरज्ञाभिया च श्रीरहीयत महीप्रभवा द्वि ।

लङ्घितश्च भवता किमु न द्विर्वारिराशिरुदकाङ्कगलङ्क ॥ ६६ ॥

आज्ञयेति । हे विष्णो ! राम ! भवता त्वया, पितु जनकस्य दशरथस्य, आज्ञया च वन गच्छेत्त्येव रूपेण आदेशेन च, अज्ञेभ्य मूर्खेभ्य, मिथ्यापवादकरेभ्य मूढेभ्य सकाशादित्यर्थः । भिया च भयेन च, मही पृथिवी, प्रभव उत्पत्तिस्थान यस्या सा तादृशी, श्री राज्यलक्ष्मी, लक्ष्म्या अशभूता पृथ्वीसुता सीता च, द्वि द्विवास्म अहीयत परित्यक्ता, पितुरादेशपालनाय वनगमनात् राजलक्ष्मी परित्यक्ता, मूर्खं नापवादभयेन च सीता परित्यक्ता इत्यर्थः, तथा उदकरण जलस्य, अङ्क समीप, गच्छति या सा तादृशी, लङ्का तदास्या पुरी यस्य ॥ तादृश, वारिराणि जलसन्तु हारमङ्क समुद्र, अरिराशिर्वा रावणादिशत्रुसमूहश्च, वा-शब्दोऽत्र समुच्छये चार्थः, द्वि चारद्वय, न लङ्घित न अतिक्रान्त न जितश्च, किमु ? किम् ? अपि तु लङ्घित एवेत्यर्थः, अत एव सत्यस-य जितेन्द्रिय महाप्रभावश्च भवन्त नमामीति भावः ॥ ६९ ॥

पिताको आशा तथा मूर्खलोगोंके अपवादके भयसे तुमने क्रमशः राजलक्ष्मी तथा पृथ्वी पुत्री (सीता) का दावार नहीं त्याग किया क्या ? (तुम्हारे जैसा पिताका आशापात्रक एवं लोकारवाद भीरू दूसरा कोई नहीं है) । और जिसके बरमे लङ्का है, ऐसे समुद्र तथा जलमें लङ्का है जिसके ऐसे शत्रु-समूहको तुमने दो बार नहीं उल्टाद्वि (बाधकर परतोरगमन पक्षा—पराजित) किया है या ? (समुद्रको बाधकर बार आनेवाला तथा रावणादि शत्रु-समूहको पराजित करनेवाला आप-जैसा महाप्रतापी एवं दूर कोई नहीं है) ॥ ६९ ॥

कामदेवविशिखै रल्लु नेश माऽर्पयज्जनकजामिति रक्ष ।

दैवतादमरणे वरवाक्य तथ्ययत् स्वमपुनाद्भवदस्त्रै ॥ ७० ॥

कामेति । हे राम ! विष्णो ! जनकजा सीताम्, अर्पयत् दत्त्वा, रामाय प्रत्यर्पयदित्यर्थः । रक्षोऽहमिति शेषः । कामदेवस्य देवतात्मकमम्मथस्य, विशिखै बाणै, मा त्वल्लु नेश नैव विनष्ट भवेयम्, तथास्त्वे ब्रह्मणो धरो मृपैव भवेदिति भावः । नशे पुषादित्वादिति 'नशिमन्योरलित्येव वक्ष्यम्' इत्येत्वम्, 'न माह् योगे' इत्यदभावः । इति एवम्, विचिन्त्य इति शेषः । दैवतात् अमरात्, अमरणे मरणा भावं विषये, वरवाक्य देवात् तव मृत्युर्न भविष्यति इति ब्रह्मा पुरा रावणाय यत् वरमदात् तद् वचनम्, तथ्ययत् तथ्य सत्यं कुर्यात् सत्, रघु रावण, भवत तव, नरदेहधारिण इति भावः । अस्त्रै बाणै, स्वर् आत्मानम्, अपुनात् धृतवान्, तवा-स्त्रेण आत्मानं घातयित्वा पवित्रं जातमित्यर्थः । अपुनादिशब्देन कामघाणात् मरणे धारमन अपवित्रवत् सूचितम् । कामघाणात् केवल मरणमेव भवति, भवत घाणात् तु पापनाशात् सभारमोक्षोऽपि भवतीति भावः ॥ ७० ॥

'जनकनन्दिनो' (सीता) को (रामके लिए) लौटाना हुआ मैं (उसके विरहमें)

कामदेवके बागोंसे नहीं मरू, (अन्यथा कामदेवके भी देव-विशेष होनेसे देवत्वाने नहीं मरनेका ज्ञानमें मिला हुआ वरदान असत्य हो जायेगा इस कारण) देवत्वाने नहीं मरनेका वरदान-वचनको मत्त्व करता हुआ रावण अपने (शरीर) को आपके शस्त्रोंसे (आहत कराकर) पवित्र किया । [यदि रावण सीताको आपके लिए बाध दे देता तो वह काम-बागोंने पोषित होकर अवश्य मर जाता और हम अवस्थामें देवतासे नहीं मरनेका दिया हुआ मद्भावाका वरदान असत्य हो जाता, मानो हमीलिए रावणने सीताको आपके छिप नहा छौटाकर अपनेको आपके बागोंमें मरवाया । कामदेवके बागोंने मरनेपर तो परलोकान्तरमें मरनेके कारण दुःखशयिनी मृत्यु होगी तथा रामके बागोंसे मरनेपर सद्गति प्राप्ति होगी, यह भी 'भयनाद' पदसे ध्वनित होता है] ॥ ७० ॥

तद्यशो हसति शम्बुकदम्ब शम्बुकस्य न किमम्बुविचुम्बि ? ।

नामशेषितमसैन्यदशास्यादस्तमाप यदसौ त्व हस्तात् ॥ ७१ ॥

तदिति । हे राम ! बिण्णो ! नाम सज्जामात्रम्, शेष अवशेष यस्य स तादृश कृत इति नामशेषित कथामात्रसेपाकृत, मसैन्य सैन्यसहित, दशास्य रावण येन तस्मात्, त्व भवत, हस्तात् करात्, असौ शम्बुक, यत् अस्मत् 'अदर्शनम्, नाशमित्यर्थ । आप लेने, शम्बुकस्य तदारयशुद्रमुनिविशेषस्य, शम्बुधितुम्बि साग रपर्यन्तगामि, तत् पूर्वोक्तरूपम्, यदा कीर्ति कर्तुं । कम्बुना शङ्खानाम्, कदम्ब समूहम् कर्म । न हसति किम् ? न परिहसति किम् ? अपि तु हसदेव इत्यर्थ, स्वशृङ्खलाऽऽतिशयादिनि भाव । यस्य हस्तात् ब्रह्मकुलोद्भव त्रिभुवनविजयी दशाननो विनाशमाप, तस्यैव हस्तात् बीजशूद्रकुलोद्भूत दुर्बल शम्बुक विनष्ट इति शम्बुकस्य महासौभाग्यमिति भाव ॥ ७१ ॥

सनासहित रावणको नामशेष करने (मारने) वाले, आपके हाथमें जो 'शम्बुक' नामक शुद्रमुनि नष्ट हुआ (मारा गया), वह शम्बुकका समुद्रतक विस्तृत यश शङ्ख-समूहको नहीं हस्तता है क्या ? । अथवा—ब्रह्मकुलिका इवेत्य समुद्रस्थ शङ्ख-समूहके इवेत्यको हैमता (उनके समान होता) है, अत एव उसका यश होना उचित ही है । [जिस राम हस्ते त्रिभुवनविजयी, ब्राह्मणकुलोत्पन्न रावणको सेनाके सहित मारा, उसी रामहस्तेन भूधराग करनेवाले मुनिरूपधारी शूद्रकुलोत्पन्न 'शम्बुक'को मारा, अत एव उसको महा भाग्यवान् होनेमें उसका स्वच्छ यश समुद्रतक फैल गया है । बड़े बीरोंका विजयी यदि किसी छोटेपर विजय पाता है तो उस विजेताका यश नहीं होता, किन्तु उस छोटे विजित व्यक्तिका ही यश होता है] ॥ ७१ ॥

(मृत्युभोतिकरपुण्यननेन्द्रासदानजमुपाज्य यशस्तत् ।

ह्योणवानसि रुचञ्च विहाय क्षुद्रदुज्जनभिया निजदारान् ॥ ४ ॥^१)

१ अथ श्लोक 'प्रकाश' व्याख्येयैव सह स्थापितोऽत्र ।

मृत्युभीतीति । यस्मान्मृत्योर्यमादन्येषा भीति, मृत्योर्भीतिकर पुण्यजनेन्द्रो-
राक्षसेन्द्रो रावणस्तस्यापि मरणपर्यन्त त्रासदानाद्भयोत्पादनाद्धेतोर्जात तदतिप्रसिद्ध
लोकत्रये गीयमान यश्च उपाय्यं क्षुद्रोऽत्यल्पको दुर्जनस्तस्माद्भिया भयेन पाम
रलोकापवादभिया निजदारानात्मन प्रिया सीता विहाय परित्यज्य कथं न द्वीगवान्
लज्जितवानसि । लज्जितव्य तावदेवत्यर्थं । यो रावणाय भय दत्तवास्तस्य दुर्जन-
भीत्या निदुष्टजनप्रियापरित्यागे हि लज्जैव युक्त । यमिमाननिजस्त्रीहर्ता रावणो
माशितो लोकापवादभयाच्च सापि परित्यक्तेति । एतादृश शूरोऽभिमानो लोकापवा-
दभीष्टश्च कोऽपि नास्तीति भावः । 'यातुधान-पुण्यजन' इत्यमर । 'भीतिं करोतीति
सास्त्रीक्ये ट ॥ ५ ॥

यमको भी डरानेवाले राक्षसेन्द्र (रावण) को व्रत करनेसे वरपत्र ठस (वर्णनाहीन)
यश्चको उपाजितकर क्षुद्र दुर्जनके भयसे (अग्निर्म सुपरोक्षिण एव प्रेयसी) अपनी स्त्री
(सीता) को छ डकर क्यों लज्जित नहीं हुए ? [महाबली रावणके विजेता तुमको क्षुद्र
दुष्टसे डरनेमें लज्जित होना उचित था । स्तुति पक्षमें—तुम्हारे—जैसा शूरीर अपनी एक
लोकापवादसे डरनेवाला ससारमें कोई नहीं है] ॥ ४ ॥

इष्टदारनिरक्षोवपयोधिरत्वं शरण्य । शरणं मम मेधि ।

लक्ष्मणक्षणनियोगकृशानौ य स्वजीविततृणाहुतियज्या ॥ ७० ॥

इष्टेति । दारण्य । हे आश्रितरक्षक । राम । यः स्व भवान्, लक्ष्मणस्य अनुजस्य
सीमिने, क्षणवियोग अत्यल्पकालविच्छेद एव, कृशानु अग्नि तस्मिन्, स्वजीवित-
स्यैव निजजीवनरूपव, तृणस्य यवसस्य, आहुत्या आहुतिदानेन, निक्षेपेणेत्यर्थ ।
यज्या इष्टवान्, याज्ञिक इत्यर्थ । 'सुयजो वर्त्तिन्निप्' । नासीरिति शेष । सरयूसलिले
निमज्जय वेह त्यक्तव्रतो लक्ष्मणस्य क्षणकालवियोगमपि असहिष्णु यस्तस्य स्वजीवन
विसर्जयामासेत्यर्थ । स तादृश, इष्टदाराणां प्रियभार्याया सीताया, विरह वियोग
एव, और्वं यादवानल, तस्य पयोधि आश्रयभूतसागरसदृश, स्व भवान्, मम मे,
शरण रचिता, पधि भव । प्रेयसीस्नेहेभ्योऽपि आतृस्नेहो गरीयानिति तात्पर्यम् ॥ ७१ ॥

हे शरणागतरक्षक ! जो तुमने लक्ष्मणके क्षणिक वियोगरूपी अग्निमें अपने जीवनरूप
तृणकी आहुति से (लक्ष्मणके क्षणिक वियोग में तृणवत् प्राणत्याग रूप) यज्ञ करनेवाले
हो, प्रेयसी सीताके विरहरूप ब्रह्मवानलके समुद्र अर्थात् आश्रय वह तुम मेरा रक्षक होवो ।
[यदा रामके स्त्रीविरहसे आतृविरहका अमलतर होना सूचित होता है] ॥ ७२ ॥

पौराणिक तथ्य—(१) सीतावधरणके बाद लक्ष्मणमें युद्ध करते समय मेघनादके शस्त्रने
लक्ष्मणका मूर्च्छित देख राम भी तत्काल मूर्च्छित हो गये । यह कथा वास्तवीक रामायणका
है । युद्ध (लक्ष्मण) काण्डमें आया है ।

अथवा—(२) रामावतारके अवसानके समीप आनेपर उनके पास मुनिरूप धारणकर

राज आया और वनसे एकान्तमें वार्तालाप करने की इच्छा प्रकट की । तदनुसार रामचन्द्रने लक्ष्मणको द्वारपर नियुक्तकर कहा कि 'हम दोनोंके एकान्तमें वार्तालाप करते समय कोई भी भीतर का आयेगा तो इस महापराधमें तु हैं प्राणदण्ड दिया जायेगा' । ऐसा अनुशासितकर रामचन्द्र मुनिरूपधारी कान्हे बन्द कमरेमें वार्तालाप करने लगे वही समय महा-क्रोधो दुर्वासा मुनि आ गये और तत्काल ही रामचन्द्रसे मिलना चाहा, अन्यथा सदश समस्त रघुवंशकी भी शप देकर नष्ट करनेकी धमकी उन्होंने दी । लक्ष्मणने सोचा कि यदि मुनि-को हम भीतर जानेकी अनुमति नहीं देते हैं तो ये समस्त रघुवंशियों को ही शपसे नष्टकर देंगे, तथा यदि भीतर जानेकी अनुमति देता हूँ तो राजा रामचन्द्र केवल मुझे ही प्राणदण्ड देंगे, अतएव अपने प्राण देकर समस्त रघुवंशियोंकी मुनिशापसे रक्षा करना उचित है' ऐसा विचारकर लक्ष्मणने दुर्वासा मुनिको भीतर जानेकी अनुमति दे दी । फिर क्या था ! समय (शर्त) के अनुसार रामचन्द्रको आशासे लक्ष्मणने सरयूनदीके अरमें प्रवेशकर अपने प्राण त्याग दिये और वनके विरहकोटनहीं सह सकनेके कारण श्रीरामचन्द्रने भी टाकाल ही परम धामको प्रयाण किया । यह कथाप्रसन्न वात्मीकि रामायणके उत्तरकाण्डमें मिलता है ।

क्रीञ्चदु रमपि बोदय शुचा य श्लोकमेकमसृजत् कयिराद्य ।

स त्वदुत्थकरुण रत्नु काव्य श्लोकमिन्धुमुचित प्रबन्ध ॥ ७३ ॥

क्रीञ्चेति । हे राम ! विष्णो ! य आद्य प्रथम, रवि कवयिता वाल्मीकि, क्रीञ्चस्य पश्चिमिरेपस्य, कामत्रिमुग्धयो क्रीञ्चाख्यपश्चिमिधुनयोर्मध्ये एकस्मिन् ष्पाथेन हन्यमाने अपरस्य सदान्यपक्षिण इति पावत् । दुःख शोकम्, वीर्यापि शृङ्गापि, शुचा शोकेन, एकम् एकसङ्घयकम्, श्लोक—'मा निपाद । प्रतिष्ठा स्वम-गम शाश्वती समा । यत् क्रीञ्चमिधुनादेकमवधी काममोहितम् ॥' इति अमु शोकोद्भवत्वात् श्लोक पद्यम्, असृजत् अरचयत् । स आद्य कवि, त्वदुत्था त्वत् स्वतः सीताविरहादिदुःखपीडितात् भवत, उत्था उद्भूता, भवद्विषये समुत्पन्ना हृदयार्थ । कतगा कर्तृगत्सो यस्य स तादृश सन्, उचित रत्नु योग्यमेव, अनिष्टदृश्य एकस्य पक्षिण शोकात् एकस्मिन् श्लोके रचिते पुरुषोत्तमस्य भवत शोकात् बहुत-रश्लोकरचनाया एव औचित्यादिनि भाव । श्लोकमिन्धु पद्यसागरम्, चतुर्विंशति सहस्रश्लोकनिबद्धत्वात् सागरतुल्यमित्यर्थ । काव्य रामायण नाम महाकाव्यम्, प्रबन्ध रचयामास ॥ ७३ ॥

त्रिम आदिकवि (वाल्मीकि) ने (कामपरवश) कौत्र पक्षीके दुःखको देखकर शोकसे (मा निपाद । प्रतिष्ठा स्व) एक श्लोकको रचा, (सीता-परित्यागके कारण) तुम्हारे विषयमें उत्पन्न करुणावाले उस वाल्मीकिने श्लोक-समुद्र (२४००० श्लोक होनेसे समुद्रतुल्य महान् 'वाल्मीकि रामायण' नामक) काव्यको रच दिया । [साधारणतम

तिरंगातीय कौञ्च पक्षीके दुःखमे करुणार्द्र हो एक श्लोक रचनेवाले कविका आप जैसे महापुरुषके दुःखमे अत्यन्त करुणार्द्र होकर २४००० श्लोकवाले महाकाव्यका रचा जाना उचित हो है । अथवा—आपने एक समुद्रको बांधा तो आपमें सन्मनचित्त मुनिने भी श्लोक-मिथुनको बांधा यह उचित हो है । समस्त सांसारिक सम्बन्धमें रहित मुनिने भी आपके दुःखमे करुणार्द्र हो महाकाव्य बनाकर आपका वर्णन किया, अत एव आपका प्रभाव अचिन्त्य है] ॥ ७३ ॥

पौराणिक कथा—एक समय वाल्मीकि मुनि स्नान करनेके लिए अब अपने आश्रमके पास बहती हुई तमसा नदीको जा रहे थे, तब कामपरवश कौञ्च-मिथुनमेंमें व्याघ्र नर (पुरुष पक्षा) को मारा, उसे देख करुणार्द्र महामुनिने सर्वप्रथम शौकिक अनुष्टुप् छन्दमें 'म निषाद' प्रणिष्ठा स्वगम शम्भानो समा । यत्कौञ्चमिथुनादेकमवधा काममोहितम् ॥' इस श्लोककी रचना की । इसके पूर्व वेदके अतिरिक्त लोकमें अनुष्टुप् छन्दमें रचना किसीने नहीं की थी, अतएव हमकी रचना करनेसे ही वाल्मीकि मुनि, 'मादिक कवि' कहलाये ।

विश्वत्र पितृकयाऽऽप्तुमनर्हं सश्रजस्त्वमनयेत्युचितञ्च ।

एव चकस्तिथ न शर्पणस्त्राया लक्ष्मणेन वपुषा अवसी वा ? ॥ ७४ ॥

विश्वत्र इति । हे राम ? विष्णो । विश्वत्र तदाप्यमुनि अवशरहितश्च जन, पिता जनको यस्या सा विश्वत्र पितृकया । 'नयूनश्च' इति कप् समासान्त । अनया शूर्पणखाया, सश्रवस्त्वश्रोत्रसहितत्वम्, आप्तुम् लब्धुम्, अनर्हम् अयोग्यम्, इत्युचितञ्च इति एवम्, उचित योग्यम्, जानाति बुध्यते य स तादृश, त्व भवान् लक्ष्मणेन वपुषा लक्ष्मणरूपेण निजदेहेन, एक एव नारायण आत्मानं चतुर्धा विभज्य रामाद्विभक्तवत्पुष्ट्यरूपेण अवसीर्णत्वात् इति भावः । शूर्पणखाया तदाप्ययाया राखणमगिन्या निशाचर्या, अवसी श्रोत्रे, किं वा न चकस्तिथ ? किं न कृतवान् असि ? शपि तु चकस्तिथ एवेत्यर्थः ॥ ७४ ॥

'विश्वत्र (विश्वत्र नामक मुनि, पक्षा—कानरहित व्यक्ति) की कथा इस (शूर्पणखा) की कान सहित शोना अनुचित है' इस उचित बातको जाननेवाला तथा (एक विष्णुके ही अंशमें चारों भार्योंको अवगार ग्रहण करनेके कारण) लक्ष्मणशरीरधारी तुमने शूर्पणखाके धो गे कानोंको नदी काटा या क्या ? अर्थात् अवश्य काटा या ॥ ७४ ॥

तं हरन्तु निर्ऋतिव्रतति मे ये स कल्पप्रिष्टपी तय श्रोभिः ।

छद्मयादयतनोरुदपाटि स्पर्द्धमान इव दानमदेन ॥ ७५ ॥

ते इति । हे विष्णो ! कृष्ण ! छद्मयादयतनो छद्मना कपटेन, यादवी यदुचशोद्ध-चकृष्णरूपिणी, तनु मूर्तिर्यस्य तादृशस्य, निराकारस्वस्यैव स्वाभाविकत्वात् लीला स्वीकृतयादवशरीरस्येत्यर्थः । तव ते, ये दोर्मि चतुर्भिर्बाहुभिः, दानमदेन लोकेभ्यः

१. 'दुरितव्रततिम्' इति पाठान्तरम् ।

अमीष्टवितरणजनितदर्पेण हेतुना, स्पृष्टमान इव तव दोर्भि सह स्पृष्टां कुर्वन्निव स्थितः, स प्रसिद्धः, कल्पवितपी कल्पतरुः, उदपाटि उत्पाटितः, तव दोर्भि सह स्पृष्टांकरणजन्याहङ्कारदूरीकरणायेति भावः । ते तारया तव दोषः, मे भयं सम्बन्धिनीम्, निश्च्युतिम् भङ्ग्यमीमेव व्रनति लताम्, 'दुरितव्रततिम्' इति पाठ एव साधु । दुरितव्रततिं पापरूपिणीं लताम् । 'स्यादलङ्घनीस्तु निश्च्युतिः' 'वह्नी तु व्रततिर्लता' इत्युभयत्राप्यभयः । हरन्तु नाशयन्तु, छिन्दन्तु इत्यर्थः । महातल्लपाटनशक्तस्य लताच्छेदनमकिञ्चिदकरमेवेति भावः । कृष्णकर्तृककल्पवृक्षोत्पाटनकथा हरिश्चन्द्रोत्सङ्घेया ॥ ७५ ॥

(अथ भाठ (११७५—८२ और छेदकमहिन नव) इन्कोसे कृष्णावनारको स्तुति करते हैं—) कपटसे यादवशरीरधारी (अथवा—कपटयुक्त (कपादिरूपा वनके लिए) दवाग्निशरीरधारी) अर्थात् कृष्णावनाररूप तुम्हारे जिन (चारों) बाहुओंने वानके मूढ़ने तुम्हारे (बाहुओंके साथ) स्पृष्टां करते हुएमे कल्पवृक्षको उखाट दिया, वे तुम्हारे (चारों) बाहु नेरे अलङ्घनी (पाठा०—पाप) रूपी ज्वाला नष्ट करें। [वृक्षको उखाड़नेवाले बाहुओं का तथा वृषको नष्ट करनेवाले कपट दवाग्निशरीरधारिकों का ज्वालाको नष्ट करनेमें समर्थ होना वचन ही है] ॥ ७५ ॥

पौराणिक कथा—मत्स्यमामाके याचना करनेपर श्रीकृष्णने स्वर्गमें इन्द्रको ज्ञाना और बदामे कल्पवृक्षको लाकर सत्यमामाके लिए दिया, यह कथाप्रसङ्ग हरिवंश महापुराणमें है।

बालकेलिषु तदा यदलावी कर्परीभिरभिहत्य तरङ्गान् ।

भाविबाणभुजभेदनलीलासूत्रपात इव पातु तदस्मान् ॥ ७६ ॥

बालेति । हे विष्णो ! कृष्ण ! तदा तस्मिन् समये, शोभने इत्यर्थः । बालकलिषु शिशुसुलभक्रोडासु, कर्परीभि शर्कराभि, स्फुटिकलज्ञाना सुदृष्टव्रणवैरित्यर्थः । 'क्षी स्यात् काचि-मुणाश्यादि विवक्षापचये यदि' इति कोषात् अपचयविवक्षायां क्षीत्वम् । अभिहत्य तादृशित्वा, तरङ्गान् ऊर्ध्वान्, यमुनाया इति भावः । यत् अलावी द्विध्वजान् अस्ति, शिखायां हि उपरखण्डतादनेस्तरङ्गान् छिन्दन्ति इति हरपते । भाविनी भविष्यन्ती, बाणस्य तदायस्य असुरराजविशेषस्य, मुचानां सहस्रबाहुनाम्, भेदनमेव छेदनमेव, लीला क्रीडा, तस्या सूत्रपात इव प्रथमसूचनमिव, स्थितमिति शेषः । तत् तरङ्गधवनम्, कर्तुं अस्मान् सप्रकृतिवर्गं मामि-त्यर्थः । पातु अवतु । इत्यते च लोके यथा रथकारा काष्ठगतानां पूर्वं तत्र कृष्णसूत्रेण रेखाङ्कनं कुर्वन्ति तद्वदिति भावः ॥ ७६ ॥

तुमने उस समय (कृष्णावनारमें) वानक्रीडाओंने फूटे हुए ठिकठों (घड़े आदिके ठिकठों) से यमुनाके तरङ्गोंको मार मार जो खण्डित किया था, मर्वण (उपाहरणके समय) में बाणाशुरके बाहुच्छेदनरूप क्रीडाके विनाशके सूत्रपातके समान वह (ठिकठोंसे यमुनाके तरङ्गोंका खण्डन करना) हमारी रक्षा करे। [जिस प्रकार लकड़ीको बराबर

काटनेके लिए बढ़ई पहले उसपर घागा आदिसे चिह्न बना लेता है, उसी प्रकार भविष्यमें स्यादरण्यके समय बाणासुरके बाहुओंको काटनेके लिए मानो तुमने ठिकठोसे दमुताके तरहोंको काट-काटकर गेर आदिका सूत्रपान किया । ठिकठोंको पानीके तरहोंपर फेंकना बच्चोंका एक क्रीडा-विशेष होता है, जिसे 'छिछली मारना' कहते हैं] ॥ ७६ ॥

कर्णशक्तिमफला खलु कर्तुं सज्जितार्जुनरथाय नमस्ते ।

केतनेन कपिनोरसि शक्तिं लक्ष्मण कृतवता हृतशन्यम् ॥ ७७ ॥

कर्णेति । हे विष्णो ! कृष्ण ! उरसि वक्षसि, शक्तिं शरवणनिक्षिप्तशक्तिशेखराय आयुधविशेष यस्य त सादृशम्, 'अमूर्त्यमस्तकात् स्वाद्वादुकामे' इति सप्तम्यलुक् । लक्ष्मण सौमित्रम्, कृत निष्काशितम्, गन्धमादनाख्यपर्वतसहानीतेन विशश्वक शण्यारयौषधविशेषेणेति भावः । 'शश्व तत्-शक्तिशेखराख्यास्रविशेष यसमात् ॥ सादृशम्, कृतवता विहितयता, कपिना धानरेण, हनूमद्रूपेणेत्यर्थः । केतनेन लाङ्घनेन, रथध्वजभूतेन हनूमता इत्यर्थः । खलु निश्चितमेव, कर्णस्य राधेयरथ, शक्तिं सामर्थ्यमेव शक्तिं कासूनामाख्यविशेष ता, 'कासूनामर्थ्यो शक्ति' इत्यमरः । अफला व्यर्थम्, कर्तुं विधातुम्, सज्जित कपिना समोजित, अर्जुनस्य पार्थस्य, रथ स्यन्दन येन तस्मै, ते तुभ्यम्, अर्जुनसारथ्ये इत्यर्थः । नमः प्रणतिः, अस्तु भवतु । रामावतारे शरवणनिक्षिप्तशक्तिशेखरेण मृतप्राय लक्ष्मणम् उज्जीवयत हनूमतः शक्तिशेखरनिर्हरणे सामर्थ्यं त्वया दष्टम्, इदानीं कृष्णावतारेऽपि तदैवानुस्मृत्य कर्णं निक्षिप्ता शक्तिमपि विफलीकर्तुं स एव हनूमान् भवता अर्जुनस्य रथध्वजे स्थापित इति रणपण्डिताय तुभ्य नमः इति निष्कर्षः ॥ ७७ ॥

(नैषधनादके द्वारा) छानीमें लगी हुई शक्तिवाले लक्ष्मणको (गन्धमादनपर्वतसे 'विशश्व' नामक औषधि लाकर) शल्यरहित करनेवाले तथा पनाकास्थित हनुमान्ते कर्णको (इन्द्र-दत्त) शक्तिकी निरर्धक करनेके लिए अर्जुनके रथको सज्जित करनेवाले अर्थात् अर्जुनके सारथि बने हुए तुमको नमस्कार है । [रामावतारमें लक्ष्मणके हृदयमें लगी हुई नैषधनाद-प्रदत्त शक्तिकी गन्धमादन पर्वतसे 'विशश्व' नामक औषधिकी लाकर हनुमान् निष्कल कर दिया था, अतएव इन्द्रने जो कर्णके लिए शक्ति दी है, उसे भी निष्फल करनेके लिए तुमने पूर्वानुमती हनुमान्को अर्जुनके रथ-पनाकापर नियुक्तकर अर्जुनका सारथित्व दिया, उस रणचतुर आपके लिए नमस्कार है] ॥ ७७ ॥

नापगेयमनय सशरीरं या घरेण नितरामपि मत्तम् ।

मा र्सं भूत् सुरवधूसुरतंज्ञो दिव्यापि व्रतविलोपभिचेति ॥ ७८ ॥

नेति । हे विष्णो ! कृष्ण ! व्रतस्य चिरप्रवृत्त्यर्थनियमस्य, भीष्मो हि यावच्छरीरं प्रवृत्त्यर्थं सङ्घनिपतवानिति महाभारतकारा । विलोपात् नाज्ञात्, सुरवधूसुरतंनेति

भावः । मिया भयेन हेतुना, दिवि स्वर्गोऽपि, सुरज्यूना रम्मादीनां देवाङ्गनानाम्, सुरतस्य मेधुनमुत्तसम्भोगस्य, प्र' अमित्र', मा स्म मृतं न भवतु, मी'म इति भावः । इति एवम्, विचार्यैव इति शेषः । नितराम् अत्यर्थम्, भक्तम् अनुरागिणं सेवकमपि, आपगाया भद्या गङ्गाया अपत्यमिति आपगेय गाङ्गेयन्, मीप्समि'म्यर्थः । वरेण स्व सशरीर एव स्वर्गं गच्छ इति वरप्रदानेन, सशरीर देहसहितम्, या स्वर्गम्, न भनय न नीतवान्, स्वमिति शेषः । किन्तु स्वर्गादपि श्रेष्ठ मोक्षं प्रापिनवानित्यपूर्वं ते भक्तव्रतसङ्गमिति भावः ॥ ७८ ॥

(पूर्णप्रतिशत प्रदत्तचर्यं त्रैलोक्ये नष्ट होनेके मयने सशरीर स्वर्गनाति करनेपर) स्वर्गमें भी देवाङ्गनामोका सङ्ग न हो, देवा विचारकर भगवते परममन्त्र भी मी'मप्रतिशतइको वरदानमें सशरीर स्वर्गमें नहीं पहुंचाया । [भोगने प्रवृत्तकारी रहनेका प्रसन्न दिया था, भक्त एव 'यदि न इतक' सशरीर स्वर्गमें वरदान देकर नेत्रता हू तो वहाँ पर देवाङ्गनाके सङ्गते रहना प्रसन्न हो जायेगा, इसी भदसे आपने परममन्त्र भी माप्सको वरदान देकर सशरीर स्वर्गमें नहीं पहुंचाया, किन्तु सम्भोग में सङ्ग मी'मपि दया । अतएव भक्त-परम भक्तसमूह है] ॥ ७८ ॥

पौराणिक कथा—सम्भवतीसे विवाह करनेके इच्छुक पिताकी इच्छाको पूर्ण करनेके लिए मीप्सने सप्तवतीके पिताके कहनेके आज्ञान् प्रवृत्तकारी रहनेका प्रसन्न कर दिया था । यह कथा महामारतने कहा है ।

घानितान्सुतकर्णदयालुर्नेत्रितेन्दुकुलपार्यट्टतार्थः ।

अर्द्धदुःखमुत्तमभ्यनयन्व माश्रुभानुविहन्निधुनेत्र ॥ ७९ ॥

घानितेति । घानित बिनाशित, अर्द्धनेनेति शेषः । य अर्द्धसुत सूर्यपुत्र, कर्ण' अर्द्धराज, तस्मिन् दयालु कारुण्यपर' अत एव अर्द्धरूपद्विगनयनस्य साश्रुवमिति भावः । तथा जैत्रित' जैता कृत्, इन्द्रकुल चन्द्रवशात्, य पार्य-अर्द्धन, तेन कृतार्थ सफलमनोरथ, भूभारहरणरूपमिजावतरणप्रयोजनस्य साफल्यमिति भावः । एवञ्च चन्द्ररूपवामलोचनस्य हर्षविह्वलितत्वमिति भावः । एवञ्च पयाक्रम माश्रु रोदनजलसहित, भानु सूर्यश्च, विहसन् हृषग विकासमाप्नुवन्, विष्णु चन्द्रश्च, तौ नेत्रे दक्षिणवामलाचनद्वय यस्य स तद्वत्, सूर्याचन्द्रमसौ नारायणस्य भगवतः नेत्रद्वयमिति श्रुत्युक्तत्वात्, त्व भवान्, दुःख सुखञ्च दुःख-सुखम् दुःखसुखस्य अर्द्धम् 'अर्द्धं नपुमकम्' इति अर्द्धशब्दस्य पूर्वनिपातः । पट्याय-कमे' अर्द्धदुःखम् अर्द्धसुखञ्चेत्यर्थः । अभ्यनय अभिनीतवानसि । अभ्यनय इत्यनेन निष्क्रियस्य ते न काऽपि वास्तविकी क्रिया विद्यते, यास्तु क्रिया तव इत्य'ते, अतः सर्वमेवामिभयमात्रमिति सूचितवानिति भावः ॥ ७९ ॥

(कौरव-पाण्डवके सुदमे) सूर्य-पुत्र (कर्ण) के मरवाने तथा चन्द्रकुलोत्पन्न अर्द्धनको

विजयी बनानेमें (क्रमशः) अश्रुयुक्त सूर्य तथा विहसित होते हुए चन्द्ररूप (दक्षिण-वाम) नेत्रद्वयवाले तुममें एक साथ ही आये दुःख तथा आये सुखका अभिनय किया । [सूर्य-पुत्र कर्णके मग्नेपर मूर्धका दुःखी होना राना तथा चन्द्रवक्षोपत्र अर्जुनके विजयशोक होनेसे चन्द्रका हर्षित होकर इसना उचित ही है, सूर्य-चन्द्र ही विष्णुके दक्षिण-वाम नेत्र हैं] ॥ ७९ ॥

प्राणवत्प्रणयिराद्य । न राधापुत्रशत्रुसत्पता महशी ते ।

श्रीप्रियस्य सन्नेव तव श्रीवत्समात्महृदि घत्तुं भजस्यम् ॥ ८० ॥

प्राणेति । प्राणवत् जीवनतुल्या, प्रणयिनी प्रेयसी, राधा वृषभानुसुता राधिका यस्य तत्सम्बन्धि हे प्राणवत्प्राणयिराद्य । हे कृष्ण ! ते तव, राधा अधिरधायस्तु जाया, सैव राधा श्रीराधिका वृन्दावनेश्वरी, तस्या पुत्र तनय, कर्ण हृत्पथ । अग्रे कश्चिदित्यर्थः, तस्य शत्रु अर्जुन, तस्य सखा मित्र राधापुत्रशत्रुसत्प तस्य भाव तत्ता सा, न सहसी न युक्ता, पुत्रशत्रु प्रति शत्रुनायायवैचित्यादिति भाव । परन्तु, श्री लक्ष्मी, प्रिया प्रोत्तिदायिनी भार्या यस्य तादृशस्य, नव भवत, आश्रित स्वस्य, हृदि वसति, अजस्र सर्वदा, श्रीवत्स रोमावर्त्तरूपलान्छनविशेषम्, प्रिय लक्ष्या, वत्स पुत्रस्य, घत्तुं ग्रहीतुम्, सहक् सहशमेव, योग्यमेवेत्यर्थ । राधाप्रियस्य राधापुत्रद्वेपिगि सख्यम् अनुचितम्, श्रीप्रियस्य हृदि श्रीवत्सधारण युक्तमिति राधा श्रीवत्सशब्दाभ्यां छद्मनोक्ति ॥ ८० ॥

प्राणतुल्य प्रणयिनी है राधा जिसकी, ऐसे हे कृष्ण भगवान् । राधापुत्र (कर्ण) के शत्रु (अर्जुन) की मित्रता तुम्हारे योग्य नहीं है (प्राणप्रणयिनी राधावालेकी राधा पुत्रके बैरो की मित्रता करना उचित नहीं होनेसे विरोध आता है, उसका परिहार 'राधा' नामक गोपकन्या तथा कर्णका पालन करनेवाली 'राधा' नामकी कैवर्त्त ओ करनेसे होता है) । तथा लक्ष्मीके प्रिय तुम्हें श्रीवत्स (श्रीका पुत्र, पद्या०—ब्राह्मण धरणका 'श्रीवत्स' नामक हृदयस्थ चिह्न-विशेष) को अपने हृदयमें निरन्तर धारण करना उचित ही है (श्रीप्रियका श्रीपुत्रको हृदयमें धारण करना योग्य है) । [तुम्हारे-जैसा स्वपक्षपातकर्ता एवं ब्राह्मणके धारणविहकी मन्त्रा हृदयमें धारणकर लोगोंकी ब्राह्मण-भक्ति-परायण होनेकी शिक्षा देनेवाला दूसरा कोई नहीं है] ॥ ८० ॥

(तावकापरतनो भिनकेशम्व हली किल त एव च शेष ।

माध्वसाप्रवतरस्तव घत्ते तज्ज्वरच्चिकुरनालविलास ॥ ५ ॥)

(तावकेति । हे कृष्ण ! हली लाहलघरो चलमद् स एव च शेषोऽनन्तस्वमेव ।

१ '—सविता' इति पाठान्तरम् ।

२ अयं श्लोको मया 'प्रकाश' व्याख्यासहित एवात्र स्थापित । अत्र 'तावकीपर सनो' इति पाठ उपेक्ष्य, पुनरुक्तप्रसङ्गात् । ३. त्वज्ज्वरत्—' इति पाठान्तरम् ।

शेषावताररूपोऽपि बलभद्रो भवानेव, न तु स त्वत्तो भिन्न इत्यर्थः । त्व बलभद्रः, स एव शेषः । त्वत्तो हली न भिद्यते, हलिनश्च शेषो न भिद्यत इति वा । यतः कायस्य सम्बन्धाजरसा सितकेशो धवलितकच किलेत्यागमे । विष्णुपुराणादौ च यदुक्तम्—‘उज्जहारामन केशौ सिनकृष्णौ तत प्रभुः’ इति । न विद्यते परोक्तं द्वाऽन्या यस्या सा तावकी अपरा तनुस्वरसम्बन्धिनी सर्वोत्कृष्टा सत्त्वमूर्तिस्तस्या सितकेश श्वेतकेशरूपो हली तत्तावतारोऽन्धावताररूपोऽसौ हली त्व किल । तदव यवभूतकेशरूपत्वात्तरय । स च हलयेव शेष इति वा । शेषरूपबलदेवलङ्घनोऽमाव-
धतरो मूर्ति । अत एव तस्या भवदीयापरतनोर्जरतो जरसा धवलीकृतस्य चिकुर नालस्य केशदण्डस्य विलासवर्णसारूप्य साधु यथा तथा धत्ते । अतिगौरो बल देवस्त्वदीयापरतनुर्धवलकेश इव भातीत्यर्थः । शेषस्यापि दीर्घवधश्चैवाभ्या जरा-
धवलदीर्घकेशसारूप्यधारण युक्तमेव । ‘कारणगुणा हि कार्ये गुणामारभन्ते’ इति न्यायाच्च युक्तमेव । ‘अन्धावतारो बलभद्र’ इति चोक्तम् । अत्र श्वेतकेश सहज एव, न तु जरायोगात्, इति वा । यतो हरिनिव्यतरुग इति पुराणादिप्रसिद्धिः । वस्तुनस्तु-कस्य ब्रह्ममुखस्येदौ मुखरूपावित्यर्थः । प्रकाशकत्वेन सत्त्वस्य सितशब्द-
वाच्यत्वात्, मोहकत्वेन च तमस कृष्णशब्दवाच्यत्वात् सितकृष्णौ सत्त्वतमोगुणा-
त्मकावेतावतारौ भूभारोत्तारणार्थं प्रभुरादिनारायण स्वस्मात्प्रकटीककारेति विष्णु पुराणस्य ‘सित-कृष्ण’ पदस्यार्थः । ‘कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्’ इति भागवतवचनेन कृष्णस्तु-लीलाविप्रहारी परमहैव । ‘समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेषोऽस्ति न प्रियः’ इति भगवद्ब्रह्मनाम् । बलभद्रस्त्ववतार ‘रामो रामश्च रामश्च’ इति वच-
नात् । अन्यथा बलभद्रस्य सत्त्वमूर्तित्वम्, कृष्णस्य तमोमूर्तित्वमापद्येन, न च तथास्तीति बलभद्रस्य तम प्रधानत्वदर्शनादित्याशयः । ‘शितिकेश-’ इति पाठे—
‘शितौ धवलमेचकौ’ इत्यभिधानात्तद्वदीयपुराणतमो सम्बन्धी शितिकेश रयामकेश रूपसत्त्वम्, हली च धवलकेशरूपः, स एव च हली शेषो बलभद्र शेषावतार इति पुराणादौ । स त्वदीयधवलकेशविलास धत्ते तस्याधु । कृष्णस्य कृष्णवर्णात्वाच्च (व)
लिनश्चातिगौरत्वाद्यथाक्रम रयामसितकेशत्वमौल्येचिकत्वेनैव व्याख्येयमित्यलमिति विस्तरोगः । ‘तामकापर-’ इति पाठः साधीयान्, यत ‘युष्मदस्मदो-’ इत्यणि त्वद्वादेशे वृद्धौ ॥ ‘वृद्धिनिमित्तस्य-’ इत्यादिना पुनश्चावप्रतिषेधे प्रसङ्गतेऽपि कर्म-
धारयत्वात् ‘पुनर्वर्तमान-’ इति प्रतिप्रसवात्पुनश्चाव । अवतर पूर्ववत् ॥५॥)

तुम्हारी सर्वश्रेष्ठ मूर्तिके श्वेतकेशवाले हलधारा (बलराम) हैं, वह शेष (शेषावतार) तुम्हारी हो, (जो बलराम हैं, वही शेषनाम है और वह तुम्हीं हो अर्थात् बलराम तथा शेष-
नामों कोई भेद नहीं है और उक्तरूप तुम्हीं हो । शरीर-सम्बन्धते बलराम श्वेतकेश हैं) । शेषनामरूप ‘बलराम’ की यह मूर्ति तुम्हारे सर्वोत्कृष्ट शरीरके बार्धक्यके कारण श्वेत किये गये केश-समुहके विलासकी जो धारण करती है, वह ठीक ही है । अत्यन्त गौरवर्णवाले

बलरामके वेशोंकी भी स्वन पव श्वेनवर्ण होना उचिन् ही है । अथवा श्वेत केश सख ही है, वादवयके समर्पणे नहीं है, क्योंकि पुराणादि शास्त्रोंमें विष्णुको सर्वदा तनू ही कहा गया है । वस्तुतस्तु—प्रकाशक होनेसे सत्त्वगुण 'सित' (श्वेत) शब्दका और मोक्षदानसे तमोगुण 'असित' (कृष्ण) शब्दका वाच्य है और सख तदा तमोगुण द्वायान्तक अवतारको पृथ्वीका मार दूर करनेके लिए आदिनारायण भगवान् ने अपनेमे प्रकट किया है, ऐसा विष्णुपुराणस्थ 'सित' शब्दका अर्थ जानना चाहिये और कृष्णजाता हाग विद्यदधारी साक्षात् स्वयं परब्रह्म ही हैं, क्योंकि भगवान् का कोई भी शत्रु या मित्र नहीं है, वे तो सबमें समान व्यवहारकर्ता हैं । 'रामो रामश्च रामश्च' इस वचनके अन्तर्गत बलरामजी अवतार-विशेष है, अन्यथा बलरामजी श्वेत होनेसे सखमूर्ति तथा कृष्णजी कृष्णर्त्ता होनेसे तमोमूर्ति माने जायेंगे, किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि बलरामजीको तमोगुणप्रधान तथा कृष्णजीको सत्त्वगुणप्रधान होना सर्व सम्मत सिद्धान्त है ॥ ५ ॥

हृद्यगन्धवह ! भोगवतीश शेषरूपमपि बिभ्रदशेष ।

भोगभूतिमदिरारुचिरश्रीरुहसकुमुदबन्धुरुचिस्त्वम् ॥ ८१ ॥

हृद्येति । हृद्यमनोहरम्, गन्धचन्दनादिमौरभम्, वहति धारयतीति हृद्यगन्धवह तस्य सम्बोधनम्, हे हृद्यगन्धवह ! भोगवत्या सुखभोगोचिताया कतुषिक्तन्याया रेवत्या, ईश भर्ता, भोग स्रक्चन्दनादिधारणम्, भूति पेशवर्णम्, भूषणादिधारणरूपा भसृदिरित्यर्थः । मदिरा सुरा च, सुरापानश्चेत्यर्थः । तामि रुचिरा मनोहारिणी, श्री सौन्दर्य यस्य स तादृश यद्वा—भोगस्य सम्भोगस्य, भूति समृद्धि, भूतिकारिणीत्यर्थः । तया भोगभूत्या भोगसमृद्धिः अनिक्रया, मदिरया सुरया, रुचिरा मनोज्ञा, श्री शरीरशोभा यस्य ॥ तादृश, मदिराया नेत्रशोभादिप्रकाशशोभाजनकरादिति भावः । यल्लभद्रस्य मदि राप्रियवादिष्यमुक्तिः । उल्लसन्ती लोभमाना, कुमुदाना कौरवाणाम्, बन्धो मरुपु, चन्द्रस्येत्यर्थः । रुचि इव रुचिः प्रशरीरकान्ति यस्य स तादृश, एव भवान्, शेषस्य अनन्तनागस्य, रूपमूर्तिम्, बिभ्रदपि धारयन्नपि, यल्लभद्रस्य शेषावतारश्चादिति भावः । अशेष शेषो, शेषात् अनन्तनागात् बिभ्र इत्यर्थः । असि इति शेष, यो हि शेष स कथम् अशेष इति शब्दतो विरोधः । अन्यस्य—हे विष्णो ! हृद्य, साहारेण हृद्यगन्तस्य गन्धवह वायु यस्य स तादृश, सर्पाणा पवनाश नरत्वात् इति भावः । तत्समुद्धा हृद्यगन्धवह ! भोग कृष्ण विद्यते अस्या इति भोगवती नागरमणी । 'भोग सुखे स्थादिमृतावहेष्य फणकाययो' इत्यमरः । तस्या ईश स्वामी, यद्वा—भोगवत्या पातालगङ्गाया, ईश अधिपति, अनन्तस्य पातालाधिपतिर्यादिति भावः । हृद्यगन्धवह भोगवतीश इत्यस्य समस्तपदत्वे हृद्यगन्ध वहश्च असौ भोगवतीशश्चेति विशेषणममास । भोगाना फणानाम्, भूति सम्पत्,

बाहुल्यमिति यावत् भस्यास्तीति भोगभूतिमान्, सहस्रफलत्वादिति भावः । इरया भवा, शिरस्यया पृथिव्या इत्यर्थः । 'इरा भूवाक्सुराप्सु स्यात्' इत्यमरः । रुचिरा मनोहारिणी, श्री शोभा यस्य स इरावरित्री, भोगभूतिमात्रासी इरावरित्री-श्वेति स तादृशः । कर्मधारयः तथा उल्लसन्ती शोभमाना, प्रकटयन्तीति यावत्, कुमुदे कुमुदाख्ये सर्पे 'कुमुद कैरेव रक्तपङ्कजे कुमुद कपी । दौषान्तरे च दिङ्नाग-नागयो परिकीर्तितः' इति विश्वः । बन्धौ स्वजने, रुचि प्रीति यस्य स तादृशः, ख भवान्, शेषस्य अनन्तस्य रूपमूर्तिम्, विभ्रत् धारयन् अपि, अशेष असीम्, अस्ति भवसि, अतो न पूर्वोक्तिविरोधः । अनन्तनागारमकवल्गरामस्यापि ज्ञावतारान्तर्गतत्वे न सोऽपि खमेव, सर्वारमकत्वाद्विष्णोरिति भावः ॥ ८१ ॥

हे हृदयहारो गन्धको धारण करनेवाले शोकुण्ड ! आप भाग्युक्त गोपिकाओंके पति हैं, बलरामके रूपमें अवतार लेकर भो सम्पूर्ण विषरूप (अनन्त) हैं, भोगैश्वर्यसे मदिराके दुस्व मादक (अतिहर्षप्रद) एवं रुचिर कान्तिवाले हैं तथा आकाशजनक चन्द्रमाके समान सुन्दर हैं । (बलरामनक्षत्रम्—आप मनोहर चन्द्रनादि-गन्धयुक्त भोगवाणी रेवतीके स्वामी हैं, शेषरूप होते हुए भी अशेष हैं, यह विरोध हुआ, इसका परिहार यह है कि—बलराम होते हुए भी महान् हैं, भोगके ऐश्वर्यरूप मदिराके पीनेसे आप रुचिर कान्तिवाले हैं तथा गौरवां होनेसे शोभमान चन्द्रमाके समान कान्तिवाले हैं । शेषनागपक्षम्—आप हृदय प्रिय चन्द्रनादि गन्धयुक्त भोगवाणी (नामक पानालस्य नदी, या—पातालपुरी) के स्वामी हैं, शेषनागका रूप धारण करते हुए भी विशाल हैं, अपने शरीर की फगाओंके पेटवर्ध (समृद्धि—अधिकृता) से हर्षित करनेवाणी रुचिर कान्तिवाले हैं तथा उल्लसित होते हुए कुमुदनामक सर्पमें प्रेम करनेवाले हैं (या—उल्लसित होने हुए चन्द्रमाके समान स्वच्छ कान्तिवाले हैं) ॥ ८१ ॥

रेवतीश ! सुप्रभा किल नीलस्याम्बरस्य रुचिरा तनुभासा ।

रामपाल ! भजत कुमदाभिर्भाजितरुचेरुचितैव ॥ ८२ ॥

रेवतीति । रेवत्या ककुशिकन्याया, ईश भर्ता, तस्य सम्बोधन रेवतीश ! हे रेवतीरमणबलराम ! कामपाल ! भो कामपालापरारयबलराम ! रेवतीरमणो राम कामपालो हलायुधः' इत्यमरः । को भूमे सुद प्रीते, आविर्भावाय उत्पादाय, भूमार-हरणेनेति भावः । पद्मा-कुमुदस्य तदारयनागस्य, आविर्भावाय उपस्थितये, भावितार्कृता, रुचिरिन्द्रा येन तादृशस्य, बलरामस्य अनन्तनागरूपध्वेन कुमुदस्य च अनन्त-मजातीयत्वेन सहस्रसम्बन्धादिनि भावः, भवत तव तनुभासा शुभ्रदेहकान्त्या, नीलस्य नीलवर्गस्य, अम्बरस्य वल्लस्य, रुचिं रातीति रुचिरा मनोज्ञा, सुप्रभा शोभा, उचितैव अनुरूपैव, जातेति शेषः । श्वेतनीलयोर्वर्णयो मिश्रमे शोभातिशयात् शरीरस्य शुभ्रकान्त्या नीलवर्णस्य शोभा नितरानुचितैवेति भावः । अन्यद्वय—

रेवतीश । हे रेवतीनक्षत्रपते । कामपाल । हे मदनोद्दीपक । शशधर । कुमुदानां
कैरवाणाम् , आविर्भावाय प्रकाशनाय, प्रस्फुटनयेत्यर्थः । भाविता सञ्ज्ञाता, रुचि-
दीप्ति तस्य तादृशस्य, भवत तव, तनुमासा देहप्रभया, ज्योत्स्नयेत्यर्थः । नीलस्य
नीलवर्णस्य, अम्बरस्य गगनस्य, रुचिरा रमणीया, सुपमा परमा शोभा, उचितैव
युक्तैव क्लिष्ट, जातेति शेषः । नीलाकाशे शुभ्रकान्तिशशधरस्य रम्यदर्शनत्वादिति
भावः ॥ ८२ ॥

हे रेवतीरमण (बलराम) । हे कामपाल (बलराम, अथवा—मक्तमनोरथपूरक) ।
(पृथ्वीके भारको हरणकर) पृथ्वीके इषंके प्रादुर्भावसे रुचिको (अथवा—गौरवर्ण होनेसे
चन्द्ररुचिको) उत्पन्न करनेवाले, आपके शरीरकी गौरुकान्तिसे नीले कपड़ेकी रुचिर शोभा
होना उचित ही है । (पञ्चा०—हे रेवती नक्षत्रके स्वामी तथा कामबद्धक (चन्द्र) ।)
कुमुदको विकसित करनेके लिए प्रकटित चाँदनीवाले तुम्हारे शरीरकी कान्तिसे नीले
आकाशकी रुचिर (दृष्य) तथा उत्कृष्ट शोभा होना उचित ही है । [गौरवर्ण शरीरमें
नीले कपड़ेकी तथा नीले आकाशमें चाँदनीकी हृदयहारिणी उत्कृष्ट शोभाका होना
सर्वविदित है] ॥ ८२ ॥

(एकचित्तततिरद्वयवादिभिः त्रयीपरिचितोऽथ बुधस्त्वम् ।

पाहि मा बिधुतकोटिचतुष्क पञ्चबाणविजयी पहभिन्ना ॥ ६ ॥

तत्र मारजयिनि त्वयि साक्षात्कुर्वन्ति क्षणिकतात्मनिपेधौ ।

पुष्पवृष्टिरपतस्सुरहस्तात्पुष्पशस्त्रशरसन्ततिरेव ॥ ७ ॥

तावके हृदि निपात्य कृतेय मन्मथेन दृढधैर्यतनुत्रे ।

कुण्ठनावतितमा कुसुमाना छत्रमित्रमुखतव शराणाम् ॥ ८ ॥

यत्तत्र स्तब्धविधौ विधिरास्ये चातुरीं चरति तच्चतुरास्य ।

त्वय्यशोभविधिर्जायन्तिर्भवं सर्वविद्ब्रुवतया शितिकण्ठ ॥ ९ ॥

धूमवत्कल्लयता युधि काले श्लेष्मकल्पशिखिना करवालम् ।

कालिक्ता दशार्तय मम कल्क त्वत्कल्लयस्य दशमावतरेण ॥ १० ॥

देहिनेव यशसा भ्रमतोऽन्या पाण्डुरेण रणरंणुमिरुचै ।

विष्णुना जनयितुर्मुर्वताऽभूर्जाम विष्णुयशसञ्च सदर्थम् ॥ ११ ॥

सन्तमद्द्वयमकेऽध्वेनि प्रसीत्रियमर्जुनयशोऽर्जुनवीरम् ।

नौमि योगजनिर्निघसन्न त्वामलकर्मवमोहतमोऽर्कम् ॥ १२ ॥

१ इमे दश श्लोका 'प्रकाश' व्याख्यया सहैवात्र स्थापिता २ 'परिचिताय
बुधस्त्वम्' इति, 'परिचिताय्वबुधस्त्वम्' इति च पाठान्तरम् । ३. —'यशोऽर्जुन-
न्येत्यर्थ' इति 'पाठान्तरम्' ।

भानुसुनुमनुगृह्य जय त्व राममूर्तिरतवृत्रहपुत्र ।

इन्द्रनन्दनमपक्षमपि त्वा नौमि कृष्ण । निहृताकननूजम् ॥ १३ ॥

वामनादणुतमादनुजीयास्त्व त्रिक्रमतनृभृतदिक ।

वीतहिंसनकथादथ बुद्धात्कल्मिषना हतसमस्त । नमस्ते ॥ १४ ॥

मा त्रिक्रम । पुनोहि पदे ते कि लग्नजनि राहुरूपानत् ।

कि प्रदक्षिणनरुद्धभ्रमपाश जाम्बवानदित ते बलिबन्धे ॥ १५ ॥)

चतुर्भि श्लोकेषु द्वयं यति—एकेति । हे अद्वयवादिन् द्वैतवाद्यदृष्ट्यादिभेदानामसरयताप्रतिपादनेनेकस्या ज्ञानाकारताया एव सरयताङ्गीकारादद्वैतवादिन् । एवं मा पाहि । किंभूत ?—एतैव चित्तनिर्ज्ञानसन्ततिर्यस्य दीपकलिङ्गान्यायेन चमिकज्ञानप्रवाह एवैको यस्य भवेत्, न तु तदतिरिक्त किञ्चिदप्यस्ति, तादृश, अत एव—अद्वयवादिन् इति योजना । तथा—अद्या परिचितो ज्ञातस्तदज्ञो न भवसीत्यप्रयीपरिचित । नममामो वा नेति पृथग्ज्ञा । वेदत्रयीगम्योऽपि न भवसीत्यर्थ । अथ—वेदत्रयां परिचित कृमपरिचयो वेदत्रयी परिचिताऽभ्यस्ता येन तादृशो वा न भवति । सर्वस्य चणिकाङ्गीकाराद्वैतार्थमवस्थाया निरासाराङ्गीकृतवेदप्रामाण्य इत्यर्थ । अत एव शुभ पण्डित । न हि पण्डित यिना वेदादिसर्वदूषणसमर्थोऽस्य बुद्धि सम्भवति । अथ—अप्रयीपरिचितोऽपि शुभ इति विरोधाभास । न हि वेदत्रयमज्ञानस्यापि पण्डितस्य सम्भवति । अथ—य पण्डित 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' इति मन्यमानो वेदान्ती न वेदत्रयी न मन्यत इति विरोध । वेदान्तिना हि वेदप्रामाण्यस्य स्वीकृतत्वात् । अथ—अद्वयवादाद् द्वैतमद्वयमपि नाङ्गीकरोति । स द्वैतसद्भूता न मन्यत इति युक्तमेवेत्यर्थ । तथा—माध्यमिका नामपि किमन्मात्रमतभेदेन धौढमिद्वान्तान्त पातिर्यात् । 'न सहासन्न सवसन्न चाप्यनुमपानमकम् । चतुःकोटिविनिर्मुक्त तत्र माध्यमिका विदुः ।' इत्यनिर्वचनीयप्रपञ्चवादिष्वद्विषुत निराकृत सवमस्तदसद्वैलक्षण्यलक्षण कोटिचतुष्टय प्रसारचतुष्टय येन, अथ—त्रिवेदिनपेधातिरस्तचतुष्टय । तथा—विरक्तत्वादिगम्बरत्वात्पञ्चषण कामस्तद्विजयी मारजित् । अथ—'ब्रह्म शब्दे' इत्यस्माद्धि चणशब्दस्त पञ्चषष्ठयो वाचिन पञ्चशब्द न सहत इत्यर्थ । यो हि चतुष्टय न सहते स पञ्चापि न सहति इति युक्तमेवेत्यर्थ । तथा—देशादिव्यवहितवस्तुनिर्ज्ञानम्, देशादिव्यवहितशब्दप्रवणम्, अतीतजन्मस्थितिरमरणम्, परचित्तज्ञानम्, अविद्याधर्मितारागद्वेषाभिनिये शास्त्रपञ्चवले शचय, अणिमादिसिद्धिद्वैति यद्विज्ञा ज्ञानप्रकारा यस्य । वेदानुसारिभिर्देवैः परानूता देवा ब्रह्माण कारण गता, ब्रह्मण्य-प्रमादितो नारायणो बुद्धरूपे-

१ बलिबन्धे' इति पाठान्तरम् ।

६० नै० उ०

णावनीर्यं दैत्यवृद्धिं वेदायैर्मयस्यावयित्वा योद्धमतमुपदिदेश, अतस्ते देवानां जयः सम्पन्ना इति । अत एव चतुर्दीयमतपरिभाषयवस्तुतिकारि । 'परिचिताथ बुधस्त्वम्' इति पाठे नेति एद भित्त्वा त्वया वेदजयी न परिचिता न स्वीकृतप्रामाण्या । अथ विरोधे । तथापि बुधस्त्वमित्यर्थः । 'परिचिताश्चबुध —' इति पाठे त्रयोपरिचितानां वेदिकानां मार्गं पण्डितो न भवति । अवैदिकमार्गमेव जानान इत्यर्थः ॥ ६ ॥

तत्रेति । तत्र तस्मिन् बुद्धावनारूपे मौन्दर्यास्त्रितेन्द्रियत्वाच्च मारजयिनि कामस्य जैत्रे स्वयि चणिकता सर्वं चणिक सत्त्वात्, तथा—आत्मनिषेधश्च 'ममनस्तेन्द्रियजन्मनीलपीताद्याकारसर्विकल्पकनिर्विकल्पकज्ञानोपबृंहितचित्तस्मन्तिरेवामा, भूतान्येव चेतयन्ते, ममसा सयोगे ज्ञानमुत्पद्यते, तस्माद्देह एवात्मा, न तु निर्योऽन्य कश्चित्' इत्यादिप्रकारेण सर्वमात्रानां चणमात्रावस्थापितानैरात्म्यञ्च स्वदर्शनोक्तसमाधिना साक्षात्कुर्वन्ति सति पुष्पशस्त्रस्य कामस्य शरस्तन्ततिर्वाणपरम्परारूपा सुरदस्तापुष्टवृष्टिरेवापतत् । अतिबले हि शत्रौ करादायुधानि पतन्ति । कामोऽपि त्वक्तो भीतः पुष्पशरश्च । तथा च नस्य कराश्चन्द्रयेन पतितः पुष्परूपज्ञानपरम्परा चणिकतामनिषेधौ साक्षात्कुर्वन्ति स्वयि विषये सुरमुक्ता पुष्पवृष्टिरिवापतदित्युल्लेखः । कामेऽपि त्वत्त्वमेव पुष्पवृष्टिमोचनहेतुः । यो हि लोकोत्तरवस्तुमात्रचणोच्चरकरोति, यश्च कञ्चन विजयते, तयोरुपरि देवः पुष्पवृष्टिं क्रियत इत्यादि ज्ञातव्यम् ॥ ७ ॥

तावक इति । मन्मथेन हृदमभेद्यधैर्यमेव ननुत्र क्वच यस्य तस्मिन्स्तावके हृदि मनसि, अथच—वृक्षसि अर्थाश्चुरास्त्रिपात्य नितरां दृढाघातपूर्वयथा तथा पातयित्वा दृढतनुत्रावादेवातिसमा कुण्ठमात्तैश्चण्ययागादेतो कुसुमरूपाणां स्त्रीयवाराणां छत्रमित्रयेषां तानि, छत्रस्य वा मिश्राणि, मुखानि येषां तेषां भावस्तत्ता सूचीमुपज्ञता परित्याजनेन छत्रतुल्यवृत्तमुखेनेव प्रत्यक्षदृशा कृताः । दृढतनुषे हि पातितो बाणः कुण्ठितत्वाद् वृत्तमुखो भवति । स्मरशरा शरत्वात्पूर्वं सूचीमुक्ता आसन्, इदानीन्तु धैर्यकज्जके त्वदीये हृदि निपत्य नितरां कुण्ठमादिव तेषां पुष्परूपाणां छत्राकारमुखतां जातेर्युल्लेखोपमे । विकसितानि पुष्पाणि छत्रतुल्यानि भवन्ति । अथच—छत्रं द्वायाशरिवास्तुत्तदमेव यथा, न तु दुःखदम्, तथा कामशरा अपि त्वदृष्टदयस्या निर्वापका एव जाता न तु त्वा जेतुमशक्यमित्यर्थः । एतादृशो जितेन्द्रियः कोऽपि नास्तीति भावः । निपात्य, ण्यन्तात् कत्वो द्यप ॥ ८ ॥

यदिति । विधिस्तव स्तुतिविधौ बहुभिर्मुखैश्चातुरी वैदग्ध्यं यद्यदि चरति प्राप्नोति नानाप्रकारैर्यदि तद्गर्जनं करोति तत्तर्ज्यैश्चतुराजि वर्जनं निपुणान्यास्यानि यस्यैतादृशो भवेन्नान्यथा । अथच—तद्गर्जनं विधौ यस्माच्छातुरीं प्राप्नोति तस्मादेव हेतोश्चतुराण्यन्यानि यस्येति चतुरास्यो न तु चत्वार्यास्यानि यस्येति विग्रहेण चतुरास्यः । आस्यानां चतुष्टेः सत्यपि तत्रार्थगौरवाभावात् अत्र तु गौरवसद्भावात्तथैवोच्यत इत्यर्थः ।

स्वदीयस्तुतिपत्रवाद् ब्रह्मणो लोकत्रयेऽप्येव कीर्तिरजनीनि भावः । तथा—शर्वो हर-
स्त्वपि बुद्ध एवाशेषविधि सर्वज्ञे जाग्रति सति सर्वविद् सर्वज्ञमात्मानं प्रते स सर्ववि-
द्ब्रुवस्तत्तयेव परगुणस्यात्मन्यारोपेण हेतुना कलङ्केन शितिकण्ठो नीलकण्ठः, न तु
कालकूटमङ्गणेन नीलकण्ठः, त्वारस्पर्दिनया लोकत्रयेऽपि मरेशस्यैवमयशो जातमि-
त्यर्थः । ब्रह्ममहेताम्यामपि सत्ताशास्त्रनेव परमपुरुषः सर्वज्ञ इति भावः । अन्यस्या-
प्यारमस्तुत्या सर्वसन्निधौ लज्जया मालिन्यं भवति । सर्वविद्ब्रुवेति विदुषिब्रुवेतिवद् ॥

श्लोकद्वयेन कश्चिन्न स्तौति—धूमवदिति । त्व धूमवत् काठ कराल खड्ग युधि-
श्लेष्टै सह युद्धे कठयता धारयता, मृत्पुच्छ खड्ग धूममिव धारयता वा । अत-
एव—श्लेष्टानां कहरशिक्षिना प्रत्यक्षाहानलरूपेण श्लेष्टा इव श्लेष्टा पापिनस्तेषां
वा, श्लेष्टमायाणां वा, एवमूनेन कश्चिन्नज्ञेन दशमावतारेण कृत्वा मम दशतय-
दशावपव कश्च पापं द्युदस्य निराकुरु । समूलमुन्मूलयेत्यर्थः । अथच—य स्वयं
कहूँ सोऽन्यकृक विनाशयनीति विरोधः । कश्चिन्नस्य विष्णुनामवात्परिहारः ।
श्लेष्टकहरशिक्षिनेत्यवतारप्रयोजनमुक्तम् । अदस्य वस्तुन स्वयं प्रहणम्, पापी-
पातिरिक्ता हिंसा, परस्त्रीगमनञ्च (इति) त्रिविधं कायिकम् । पाह्न्यम्, अनृतम्,
सैद्यन्यम्, अमरवदप्रलापश्चेति चतुर्विधं वाचिकम् । परद्रव्यप्रहारेऽद्या, परानिष्ट-
चिन्ता, हृद्यैव परेषु दोषाभिप्यानश्चेति त्रिविधं मानसम् । इति दशविधं पापम् ।
चतुस्रवध्राग्रग्राग्निकृपाणिपादपायूपस्थमनाञ्जन्यं वा । दशसु मासेषु भवत्वाङ्ग-
वासलक्षणं दुःखमिति वा । 'कक्क पापाशये पापे' इति विश्वः ॥ १० ॥

देहेनेति । विष्णुयशस्तत्त्वामकस्य जनयितुं पितुं विष्णुरिति नाम भवता च
त्वयैव कृत्वा मर्त्यं सान्त्वयमभूत् । किम्भूतेन भवता—रणेषुमिरश्चै पाण्डुरेण
बलवतरेण, तथा—दुष्टगवेपगार्धमुन्यां भ्रमता विष्णुना व्यापकेन विष्णुसंज्ञकेन च
पाण्डुरवाद्वापाणिवाच्च देहिना शरीरधारिणा यशसेव यशोरूपेण विष्णु व्यापक-
यशो यस्य त्वया पुत्रेणेति यावत् । तस्य तव पितुर्नाम सान्त्वयमभूत्, जातप्रायमे-
वेति मात्रिण्यपि भूतवदुपचारः । अतीतकलियुगान्तापेक्षयाऽभूदिति निर्देशो वा ।
पूर्वं तु हित्यादिवत्तत्त्वामाभूत्, त्वरुमुत्पद्ये तु तत्सार्थकमभूदित्यर्थः ॥ ११ ॥

दत्तात्रेय स्तौति—सन्तमिति । अहं दत्तात्रेयनामानं त्वा नीमि । किम्भूतम्—
अद्वयमयेऽप्यनि अद्वैतमार्गे ऐकान्त्यवादे सन्तं वर्तमानम्, तथा—अर्जुनस्य कार्त-
वीर्यार्जुनस्य यशसो यदर्जनं तस्य वीजं मूलम् । कार्तवीर्यणाराधितो दत्तात्रेयस्तव
यशो लोकव्यापि भविष्यतांति वरं दत्तवान् । 'दुर्जनं' इति पाठे अर्जुनयश एवा-
र्जुनो वृषः, तस्य वीजम् । वृषस्योत्पत्तिर्बीजादेव युक्ता । अथच—अर्जुनं घवलं यशो
यस्यैवविधोऽर्जुनः कार्तवीर्यस्तस्य वीजम् । तथा—अष्टाङ्गयोगेन अनितोत्पादिता
पापादिराहित्यादनघ इत्यपरा संज्ञा यस्य । तदा हि देवैर्योगादुत्पादनादिति संज्ञा
कृता । तथा अलङ्कनाग्नं शत्रुध्वजमदालसापुत्रस्य राज्ञो भवमोहो ममताविरूपः

ससारमोह स एव तमोऽन्धकारस्तस्य विनाशहेतुत्वादूर्कस्तम् । योगमार्गोपदेशेन तस्य मोह विच्छेदेति पुराणकथा ॥ १२ ॥

एव दशारताराश्विर्वर्ण्य भक्त्यतिशयेन पुनरपि क्रियतस्तानेवावताराश्विविक्रम हरिहरी बालमुकुन्दञ्च सङ्घेपेण चतुर्विंशत्या श्लोकेर्वर्णयति—मानुसूनुमिति । हे विष्णो ! मानुसूनु सूर्यपुत्र सुग्रीवमनुगृह्य बालिकता तद्बधू तारा तस्मै दत्त्वा राज्याभिषेकद्वारा कृतार्थीहस्य राममूर्त्यो रामावतारेण हतो मारितो वृत्रघ्न इन्द्रस्य पुत्रो यादो येन, स त्व रामो जय सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । नमस्योऽसीत्यर्थः । तथा भो कृष्णावतार ! अहमिन्द्रनन्दनस्यार्जुनस्य सपत्न्यमित्रभूतम्, अत एव निहतो मारितोऽर्जुनतनुजो येनेति या । यो मानुसूनुमनुगृह्णाति स निहतार्कतनुजः कथम् ? तथा—हतेन्द्रपुत्र-स इन्द्रपुत्रमित्र-कथम् ? इति विरोधार्थोऽपि शब्दः । निग्राह्यानुग्राह्यो स्तरपुत्रयो रामकृष्णावतारयोश्च भेदात्तु विरोधपरिहारः । एतादृश्विरुचरितरत्नाद् हुविज्ञेय परमपुरोऽसीति भावः ॥ १३ ॥

वामनाविति । हे विष्णो ! अणुतमाद् हृष्यतमशरीराद्वामनावतारावदु पश्चाच्च त्रिविक्रमावतारस्य तन्वा शरीरेण त्रिविक्रमावताररूपया वा तन्वा मृता व्याप्ता विशो येन त्व त्व जीया सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । तथा—वीता निवृत्ता हिंसनकथा प्राणिवध चार्तापि यस्मादेवम्भूनाद् बुद्ध्यावतारात्, अथ पश्चात् कश्चिन्ना दशमावतारेण हृत्वा हत मारित कलिमलदूषित समस्त प्राणिजात येन तादृश विष्णो ! ते तुभ्य नमः । यो ह्यणुतम स एव तनूतमृतादिको ध्यापकदेहः कथम् ? तथा—यश्च वोतहिंसनकथ-स एव दत्तसमस्त इति विरोधः, अवतारभेदेन परिहारः । हुविज्ञेयचरितोऽसीति भावः । यामात्रिदिननी वर्णितां ॥ १४ ॥

मामिति । हे त्रिविक्रम ! त्व मा पुनीहि । तथा—गगनव्यापिगुर्ध्वीकृते ते पदे विष्णुपदं लग्नं नक्षत्रमालामध्यवती श्यामरूपो राटुरपानद् अजनि किं पादरश्मिकैव जाता किम् ? । एतावदतिमहच्छरीर एतम्, यस्य चरणस्थाने गगनस्थो राहुकृपा-नक्षत्र जात इत्यर्थः । सापि हि श्यामा, चरणे च एतस्मिन् । तथा—प्रदक्षिणतः प्रदक्षिणाप्य पञ्चदशमुपचार कुर्वन् जायमानं श्वराजो ब्रह्मावतारो बलिनिबन्धननिमित्तं ते तुभ्य श्मिपाश परिभ्रमणरूप बलयाजारवेष्टनमेव पाशः बन्धवारजुमेवादित दत्तं धानं स्मि ? । यो हि कश्चिद्वन्तुमुपप्रसते तस्मै देवचित्पाशो दीयते । यद्यपि देवेन बलिबान्धमेव प्रापितः, न तु राज्यादिवन्धम् तथापि श्लोके बद्ध इति प्रसिद्धिपश्चात् इन्द्रनन्दनश्चलेन कवि पाशशब्दः प्रायुह्यः । जायमानं किल तदा त्रिविक्रमस्य पौंडरीकधारपूजामकृतेति प्रवादः । अत्रापि त्रिविक्रमो वर्णितः । 'बन्धे' इति पाठे नृक्षन्ताद्वन्धेत्युर्थी 'ते' इत्यस्य विशेषणम् । 'बन्ध' इति तस्मादेव सम्बुद्धिः ॥ १५ ॥

(हे अदयवादिन् धृष्ट-पथादि भेदको भक्त्य मानकर एक धानाकारको दो माननेसे

अद्वैत सिद्धान्तवाले) । तुम (दीपकलिका-न्यायसे केवल) क्षणिक प्रवाहको माननेवाले, त्रयी (ऋग्यजुः सामवेद) से परिचित (उनके ज्ञाता) नहीं होनेपर भी विद्वान् हो (यहाँ वेदज्ञान-न्यूनको विद्वान् होनेमें विरोध है, उसका परिहार यह है कि—) (सबको क्षणिक ही मानने तथा धर्माधर्ममोक्षव्यवस्थाका खण्डन करनेसे) वेदत्रयोक्त प्रमाणको नहीं माननेवाले हो तथा विद्वान् हो, (तथा—जो अद्वयवादी ('एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' सिद्धान्तको माननेवाला) वेदान्ती है वह त्रयीसे अपरिचित (वेदज्ञानविधु) कैसे हो सकता है ? यह दूसरा विरोध है, इसका परिहार उपर्युक्त अर्थसे ही हो जाता है । अथच—जो द्वित्वको स्वीकार नहीं करता उसे त्रित्वका स्वीकार नहीं करना (उससे अपरिचित रहना) उचित ही है ।) तथा तुम (सत्, असत्, सदसत्, न सत् न असत्—इन) चार कोटियोंको नहीं स्वीकार करनेवाले हो, (त्रिवेन्द्रिय होनेमें) काम विजयी हो (अथवा—जो (कोटि) चतुष्टय अर्थात् चार सङ्गा को नहीं मानता, उसे पांचका वाचक 'पञ्चन्' शब्दको नहीं मानना न्यायोचित ही है) । और तुम षडभिष्ट (१ दिव्यचक्षु श्रोत्र, २ परचित्तज्ञान, ३ पूर्वनिश्चयका अनुसरण, ४ आत्मज्ञान, ५ आकाशगमन और ६ कायव्यूहसिद्धि—इन ६, अथवा—१ ज्ञान, २ शौच, ३ क्षमा, ४ वीर्य, ५ ध्यान और ६ प्रज्ञा—इन ६, अथवा—१ देशादिव्यवहित वस्त्रको धारण, २ देशादिव्यवहित शब्दको सुनना, ३ पूर्वज्ञानकी स्थितिका स्मरण, ४ दूसरेके मनकी वाङ्मनना, ५ अविद्या-अहङ्कार-रोग-दोष-अभिनिवेशरूप पांच वृत्तियोंका नाश और ६ अग्निमादि-सिद्धि—इन ६ में ज्ञान करनेवाले अर्थात् इनके ज्ञाता) हो, ऐसे तुम मेरी रक्षा करो ॥ ६ ॥

(अतिशय सुन्दर एवं मिलेन्द्रिय होनेसे) कामविजयी आर (बुद्ध) को क्षणिकता तथा आपत्तिनिषेधका साक्षात्कार करनेपर देवोंने जो आपके ऊपर पुण्यवृष्टि की, वह मानों आपसे पराजित कामदेवके हाथमें पुनरुप बाण ही छुटकर गिर पड़ा । [आपने कामदेवकी जीव रिषा तो देवोंने आपके ऊपर पुण्यवृष्टि की, वह आपसे मयात कामदेवके हाथसे शून्य ही गिर पड़े ऐसा हात होगा था । विजेताके भयसे विजित व्यक्तिका मयात होना तथा उसके हाथमें शूलोंका गिर पड़ना उचित है । कामदेवका शून्य पुण्य है, अत एव ऐसा रूपक किया गया है । बौद्ध-सिद्धान्तके अनुसार सब कुछ क्षणिक ही है तथा देहमें भिन्न नाशव्यापी 'आत्मा' नामका कोई भी पदार्थ नहीं है] ॥ ७ ॥

कामदेवने दृढ धैर्यरूप कवचमें युक्त तुम्हारे हृदय (वक्षस्थल, पञ्चा०—मन) में गिरा कर पुण्यरूप बाणोंके अत्यन्त कुण्ठित होने से उन्हें छत्राकार मुखबाला बना दिया । [जिस प्रकार कोर वीर वीरोंके कवचयुक्त छातीपर बाण मारता है ता उस बाणका मुख (अग्रभाग) उस दृढ कवचपर कुण्ठित होकर छत्राकार हो जाता है, उसी प्रकार कामदेवने धैर्यरूपी दृढ कवचयुक्त आपके हृदयमें तीक्ष्ण बाण मारा तो उन बाणोंका अग्रभाग अत्यन्त कुण्ठित होकर छत्राकार हो गया । कामदेवके बाणोंके पुण्यरूप होनेसे तथा पुण्योंके विकसित होनेपर छत्राकार होनेसे उक्त उत्प्रेक्षा की गयी है । अथच—पुण्य शरीर-स्पर्श करनेपर

जिस प्रकार सुखद होते हैं, वही प्रकार काम-प्रक्षिप्त पुष्पवाण भी तुम्हें जितेन्द्रिय होनेसे सुखद ही हुए । आपने समान जितेन्द्रिय कोई भी जयलमें नहीं है] ॥ ८ ॥

यदि ब्रह्मा तुम्हारा स्तुति करनेमें चतुरता करे तो वह चतुरास्य (चतुर मुखवाला, पञ्च०—चार मुखवाला) कहलावे, अन्यथा—जिस कारण ब्रह्मा तुम्हारी स्तुति करनेमें चतुरता करता है, अतः एव चतुरास्य (चतुर मुखवाला, पञ्च० चार मुखवाला) कहलाता है (तुम्हारी स्तुतिवा ही यह सत्यरिणाम है कि ब्रह्मा चतुरास्य (चतुरमुखवाला, पञ्च०—चार, मुखवाला) कहलाया, अन्यथा वह 'चतुरास्य' कभी नहीं कहलाता) । [सर्वथा तुम्हारे जगत्क रहनेपर अपनेको सर्वथा कहनेसे शिवजी नीलकण्ठ हो गये यदि शिवजी, तुम्हारे सर्वथा रहनेपर भी अपनेको सर्वथा नहीं कहने तो वे लज्जासे नीले (वाले) कण्ठवाले नहीं होते, किन्तु तुम्हारे भाव ऐसी स्पष्ट करनेमें ही वे नीलकण्ठ हो गये, विषयानम नीलकण्ठ नहीं हुए । लोकमें भी कुछ व्यक्ति किसी मशान् व्यक्तिके साथ स्पर्धा करना है तो उसके सामने लज्जामें उसका कण्ठ (मुख) बाला हो जाना है । ब्रह्मा तथा शिवसे भी आपका प्रभाव श्रेष्ठ तम है । इन चार इत्थोकोसे नरने बुद्धावतारको स्तुति की है । वेदविरोधी बुद्धकी स्तुति करनेमें यह कारण है कि दैत्योंसे पराजित देवलोग ब्रह्माकी शरणमें गये और उनकी स्तुतिसे प्रसन्न विष्णु भावान् बुद्धावतार लेकर दैत्योंको वेदविरोधी उपदेशोंके द्वारा धर्मभ्रष्टकर दिया, इसीमें व हैं जीतनेमें देवलोग समर्थ हुए] ॥ ९ ॥

(अब दो इत्थोके दशम (कल्कि) अवतारकी स्तुति करते हैं—) सुद्धमें धूमके समान दयामर्ग लम्बावतारकी (अथवा—कालरूप तलवारकी धूमके समान) कारण करते हुए, श्रेष्ठोंके लिए प्रत्यक्षानिर्णय 'कल्कि' नामक दशवें अवतारवाले तुम मेरे ददविष पापोंको दूर करो । [जो शब्द 'कल्कि' कल्ववाला = पापवाला है, वह दूसरेके कलकों = पापोंको दूर कर सकता है ? इस विरोधका परिहार—'कल्कि' शब्दको 'विष्णु' वाचक मानकर करना चाहिये । दशविध पाप ये हैं—बिना दिये दूसरेकी वस्तुको लेना, यशानि रिक्त हिंसा करना और परस्त्री सम्मोग—ये ३ नाविक, बहुमाषण, असत्य, जुगलधोरी और असम्बद्ध प्रणय—ये ४ वाचिक तथा दूसरेकी वस्तु लेनेकी इच्छा, दूसरेके अनिष्ट करनेका विचार होना और दूसरेपर अशुभ दोषारोपण—ये ३ मानसिक, इस प्रकार (३+४+३=१०) दश प्रकारके पाप होते हैं । अथवा—दशों इन्द्रियोंके द्वारा किये गये दश पाप हैं । अथवा—गर्मावस्थाके दश मासोंमें होनेवाले बृष्ट-विशेषरूप 'दश पाप' यही अभिप्रेत हैं] ॥ १० ॥

विष्णुवशकी वशत्र करनेवालेका 'विष्णु' यह नाम (दुष्टोंको दूढ़नेके लिए) पृथ्वीमें घूमते हुए, विष्णु (व्यापक, पञ्च०—'विष्णु' नामक) और सुद्धज्य भूतियोंमें पाण्डुर (श्वेत) वर्ण शरीरपारी यशके समान आपने ही साथक हुआ है । [यद्यपि 'विष्णु' नाम पहले हुआ है तथा 'कल्कि' अवतार पीछे हुआ है, तथापि मविष्यकालकी अपेक्षा या कलरा नरको अपेक्षा उक्त विरोधामात्र समझना चाहिये] ॥ ११ ॥

(अब दत्तात्रेयकी स्तुति करने हैं—) मैं अद्वैतार्थों में वर्तमान, सद्ब्रह्मज्ञान (कार्तवीर्य) के यश प्राप्ति (पाठा—स्वच्छ यशवाते सद्ब्रह्मज्ञान) के कारण, (अष्टाङ्ग) योगसे 'अनन्य' सदाको प्राप्त करनेवाले और 'अनङ्क' राजा के समारम्भोदत्तों के अन्धकारके सूर्य (सत्तारमोहको नष्ट करनेवाले) दत्तात्रेय तुमको नमस्कार करता हूँ ॥ १२ ॥

पौराणिक कथा—१ दत्तात्रेयकी आराधना करनेमें कार्तवीर्यने समारम्भापि निर्मल यश पाया था । २ दत्तात्रेयके अष्टाङ्ग योगकी देखकर अधिक योग होनेसे देवीने दत्तात्रेयका दूसरा नाम 'अनन्य' रखा । ३ अङ्क के नामक राजाका सांसारिक मोह हुआ तो दत्तात्रेयने हो उद्देश्य देकर उसे दूर किया ।

(इस प्रकार मरुत्यादि अवतारोंकी स्तुति करनेके बाद अधिक कतिमान् नन पुनः हमोंने—से कुछ अवतारोंकी स्तुति करने हैं)—सूर्यपुत्र (सुग्रीव) की (बालिवध, बालिके द्वारा अण्डहत ताराका पुनः प्रत्यर्पण एवं राव्याभियेकने) अनुगृहीतकर रामायणमें इन्द्रपुत्र (बालि) की मारनेवाले तुम विजयी हो तो तथा हे कृष्ण 'इन्द्रपुत्र (अर्जुन) के मित्र होते हुए मैं सूर्यपुत्र (कर्ण) की मरवानेवाले तुमको नमस्कार है । [इन्द्रपुत्रका सस्य (मित्र) इन्द्रपुत्रको तथा सुदुष्टको अनुगृहीत करनेवाला सूर्यपुत्रको मैंने मारेगा । इस विरोधद्वयका परिहार (निवारण) राम तथा कृष्णके अवतार भेदसे करना चाहिये । इस प्रकार अर्जुन चरित करनेवाले आपकी नमस्कार है] ॥ १३ ॥

अत्यन्त छोटे बामन शरीरके बाद त्रिविक्रम-शरीरसे दिशाओंकी अगम करनेवाले तुम विजयी होवी तथा हिंसाही चर्यानि भी विरत बुद्धके बाद कविक अवतारसे समस्त (पानी) प्राणियोंकी मारनेवाले तुमको नमस्कार है । [यहा भी अत्यन्त छोटे शरीरवाले का नमस्त दिशाओंको व्याप्त होना, हिंसाही चर्यानि भी विरत रहनेवालेका समस्त प्राणियोंकी मारना अत्यन्त विरुद्ध होनेसे कष्ट अवतार भेदसे परिहार करना चाहिये । इससे मगवान्का अतिशय दुर्गोच होना सूचित होता है] ॥ १४ ॥

हे त्रिविक्रम ! मुझे पवित्र (पापहिन) करो, (आकाशको मापते समय) तुम्हारे चरणों में लगा हुआ राहु जूटा नहीं हो गया था क्या ? (बलिसे तीनपद भूमिको दानरूपमें प्राप्तकर जब तुम आकाशको एक पादमें मापने लग, तब तुम्हारे चरणों के समीपमें स्थित राहु कृष्णवाँ होनेसे जूटेके समान मालूम पड़ना था) । और प्रसिद्धि प्राप्त हुआ बालवान् नामक अक्षराजने तुम्हारे लिये बलिको बंधनमें, पाठा०-बलिक' बंधनेवाले तुम्हारे लिये) उत्तमर बाननेवाली रस्मी दे दी क्या ? [यद्यपि बामन मगवान्ने बलिको कैवल्य वचनरुद्ध ही किया था, रज्जु आदिसे बद्ध नहीं किया था, तथापि हिंदू हुआ' इन लोकोपचारमें यदा पाण्डु (बाल्यके रस्मी) का वर्णन स्पष्टता चाहिये । बामनवतारमें ब्रह्माके अवतार बालवान्ने बामन मगवान्का षोडशोपचारमें पूजन किया था, अतः एवं षोडशोपचारानुगुण प्रदक्षिणा वर्णन यदा किया गया है] ॥ १५ ॥

अर्द्धचक्रवपुषाऽर्जुनबाहुन् योऽलुनात् परशुनाऽथ सहस्रम् ।

नेन किं मकलचक्रविलुने बाणबाहुनिधयेऽञ्जति चित्रम् ? ॥ ८३ ॥

अर्द्धेति । हे विष्णो ! यः भवत एवावतारभूतः यः परशुरामः, चक्रस्य अर्द्धम् अर्द्धचक्रम् अर्द्धचक्राकारम् अर्द्धचक्रमात्रञ्च, वपुः शरीरं यस्य तादृशेन अर्द्धचक्राकारेण, परशुना कृटारेण, सहस्रं सहस्रमङ्गुलकान्, अर्जुनस्य कर्त्तव्यीर्यस्य ककुभवृक्षस्य च 'अर्जुन' ककुभे पार्थे कर्त्तव्यीर्यमयूखयो' इति विश्वः । बाहुन् भुजान्, अथशब्दः कार्त्स्न्यं 'मद्गलानन्तरारम्भप्ररनकार्त्स्न्ये'ष्वयो अथ' इत्यमरः । अथ कार्त्स्न्येन, अलुनात् अर्द्धितत्, नि शोषेणाच्छिन्नवित्यर्थः । अथशब्दस्य परेण वा अभवय, अथ अतन्तरम्, तेन भवता कृष्णरूपिणेत्यर्थः । सकलेन सम्पूर्णेन, चक्रेण सुदर्शनेन, विलुने क्षिप्ने, बाणस्य बाणासुरस्य, कुरण्टकवृक्षस्य च 'बाणो दामवभेदे तु शरे वासीकुरण्टके' इत्यजयपालः । बाहुना भुजानाम्, शास्त्रारूपभुजानाञ्च, निधये समूहे महत्प्रमङ्गुलबाहुविषये इत्यर्थः । किं चित्रं किमाश्चर्यम्, अञ्जति ? प्राप्नोतीत्यर्थः । जनस्य चित्तमिति शेषः । अत्र चित्रं नास्तीत्यर्थः । ककुभवृक्षेदिन कुरण्टकवृक्षेद्यो यथा नाश्चर्यं, तथा अर्द्धचक्रेण यो बाहुसहस्रच्छेत्ता, तस्य सम्पूर्णचक्रेण पुनः सवृक्षेदनं न किमपि वैचित्र्याधायकमिति भावः ॥ ८३ ॥

अर्द्धचक्राकार परशुने (परशुरामावतारम्) जिस (विष्णु) ने अर्जुन (कर्त्तवीर्य, पक्षा०—अर्जुन नामक पेड़) के सहस्र बाहुओं (सहस्र भुजाओं, पक्षा०—इमारों=अनेकों शाखाओं) को काट डाला, वस (विष्णु) के द्वारा सम्पूर्ण चक्र (सुदर्शन चक्र) से काटे गये बाण (बाणासुर, पक्षा०—'बाण' नामक वृक्ष-विशेष) के बाहुओं (भुजाओं, पक्षा०—शाखाओं) के समूह में क्या आश्चर्य है ? [अर्द्धचक्राकार परशुने सहस्र बाहुओंको काटने वालेके लिए सम्पूर्ण चक्रमे कतिपय बाहुसमूहको काटना, तथा अर्जुन वृक्षके सहस्रों शाखाओंको काटनेवालेके लिए बाण वृक्षके कुछ शाखा-समूहोंको काटना कीर आश्चर्यजनक बात नहीं है । इसी प्रकार परशुरामावतारमें सहस्रार्जुन-जैसे महाबलवान्को मारनेवाले विष्णुके लिए कृष्णावतारमें बाणासुरको मारना भी आश्चर्यजनक नहीं है] ॥ ८३ ॥

पाञ्चजन्यमधिगत्य करेणापाञ्चजन्यमसुरानि न वक्षि ।

चेतना म्य किल पश्यत किं नाचेतनोऽपि मयि मुक्तचिरोधः ? ॥ ८४ ॥

पाञ्चजन्यमिति । हे विष्णो ! करेण पाणिना, वामहस्तेनेति यावत् । पाञ्चजन्यं नदायनक्षुम् । 'बहिर्देवपञ्चजनेम्यश्च' इति वक्तव्यात् म्यः । 'शङ्को लक्ष्मीपते पाञ्चजन्य' इत्यमरः । वृक्षिणेन च करेण अपाञ्च जलानाञ्च, जन्यम् उपासम्, जलज पद्ममित्यर्थः । अधिगत्य प्राप्य, एत्वा इत्यर्थः । असुरान् दानवान्, वक्षीव इदमधीपीव । 'वच परिमाणे' इत्यस्यादादिकस्य लटि सिपि रूपम् । किमित्याह—हे असुरा ! चेतना चैतन्यवन्तः, स्य भवय, यूयमिति शेषः, अत एव

पर्यत अवलोकयन्, अचेतनोऽपि जडोऽपि, पाञ्चजन्य-अपाञ्चजन्यश्च इति शेष । मयि अस्मद्विषये, मुक्त-पूर्वोक्तप्रकारेण त्यक्त, विरोध विद्वेष येन स तादृश, जात इति शेष । न किम् ? विरोध परित्यज्य मयि अवस्थितो न किम् ? इत्यर्थः । किल इति प्रश्ने, अपि तु तयोरुभयोरेव मयि अविरोधेनावस्थानात् त्यक्तविरोध एव जात इति भावः । अत एव सचेतनै युष्माभिरपि विरोध परित्यज्य मयि स्वातन्त्र्यम्, अन्यथा चेतनशङ्कासुरवत् मय्यतामपि मरण भविष्यत्येव इति तात्पर्यम् ॥

(हे विष्णो ! कार्ये) हाथसे 'पाञ्चजन्य' नामक शङ्खको तपा (दहने) हाथमें जलोरतत्र अर्थात् कण्ठको धारणकर असुरोंमें मानो इस प्रकार कहने हो कि—तुमलोग चैत्रन हो तो क्यों नहीं देखने हो कि—मचेनन ('पाञ्चजन्य' तथा 'अपाञ्चजन्य' अर्थात् क्रमशः शङ्ख तथा कमल) भी मेरे विषयमें विरोध रहित हैं । [अवस्था—मचेनन भी पाञ्चजन्य शङ्खको मैं नहीं छोड़ता तो मचेनन शङ्कासुर आदि तुम लोगोंको मैं बिना मारे कैसे छोड़ूँगा ? अर्थात् कदापि नहीं छोड़ूँगा । अवस्था—मचेनन पाञ्चजन्य शङ्ख ही मेरे विषयमें विरोधरहित है, तुमलोग सचेतन हो, अतः एव मेरे विषयमें विरोध करो तो तुमलोगोंको भी बड़ा गति रोगी, जो चैत्रनावस्थामें इस पाञ्चजन्य शङ्ख (शङ्कासुर) को डुर्द भी अर्थात् तुम लोगोंको भी मैं मारूँगा] ॥ ८४ ॥

तावकोरसि लसद्बनमाले श्रीफलद्विफलशारिकयेव ।

स्थीयते कमलया त्वदजलस्पर्शकण्टकितयोत्कुचया च ॥ ८५ ॥

तावकेति । हे मारायण ! तव भवतः, अत्रल निरन्तरम्, स्पर्शन सस्पर्शन, कण्टकितया सारिकभायोदयेन सञ्जातरोमाञ्चया कण्टकयुक्तया च, तथा उच्च-वृण्णौ उल्लसती, कुचौ स्तनौ यस्या तादृशया च, कमलया लक्ष्म्या, लसन्ती शोभ-मावा, वनमाला आरप्यकुसुमस्रक् काननश्रेणी च यस्मिन् तादृशे, तावके स्वास्त-शब्दिनि, उरसि बहमि, श्रीफलस्य विष्वक्वृक्षस्य । 'विष्वे शाण्डिल्यशैलुपौ मालाश्रीफलावपि' इत्यमरः । हे फले फलद्वयमात्र यस्या सा द्विफला, या शाविका इन्द्रशास्ता तथा हव । अल्पार्थे कन् । स्थीयते धृष्यते । भावे लकारः ॥ ८५ ॥

शोभित होती हुई वनमालावाले तुम्हारे वक्ष स्थलपर तुम्हारे निरन्तरस्पर्श (अन्य सुख) से रोमाञ्चयुक्त, उन्नत स्तनोंवाली लक्ष्मी बेलवृक्षके फलद्वयत युक्त दहनी (पत्नी बानी) के समान रहती है । [बड़ापर वनमाला (वनोंकी श्रेणी) रहनी है, बड़ापर कण्टक एवं पद्मयुक्त चित्त्व वृक्षकी शाखा भी रहती है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी वनमाला होनेसे लक्ष्मीको भी फलस्थानीय पीवर स्तनद्वय एवं कण्टकस्थानीय रोमाञ्चमे युक्त होकर रहनेकी वृत्तेश की गयी है] ॥ ८५ ॥

त्यज्यते न जलजेन करस्ते शिक्षितु सुभगभूयमिवोच्चे ।

आननञ्च नयनायितार्त्तम्भ्वं सेवते कुमुदहासकराशु ॥ ८६ ॥

त्यज्यत इति । हे विष्णो ! जलजेन पद्मेन, उच्चै महत्, सुभगभूय सुभगाध्वम्, कोमलपरस्परस्पर्शस्पर्शसौभाग्यमित्यर्थः । भुवो मावे' इति वयम् । शिचितुम् अभ्यसि तुम् इव, ते तव, कर इस्त, न त्यजते न हीयते । तथा नयनायित वामलोचनवत् इति श्रुतेरिति भावः । कुमुदानां कैरवाणाम्, हासकरा विकासकारिण अश्व किरणा यस्य स तादृश चन्द्रश्च, उच्चै सुभगभूय शिचितुम् इव ते आनन सुगम्, सेवते आश्रयति । कमल मार्दवादिसौभाग्य चन्द्रश्च निष्कलङ्कत्वादिसौभाग्य शिचितुमिव तव कर बदनञ्च शुभ्रपते, गुरुसेवाया एव विद्यालभहेतुत्वादिति भावः ॥

कमल (अश्व—शङ्ख) मानो (अरुणत्व—कोमलत्वादि) अधिक सौभाग्यकी वृद्ध शिक्षा प्रदण करनेके लिए तुम्हारे हाथको नहीं छोड़ना है तथा (चन्द्रको विष्णुका वामनेत्र होनेसे) नेत्रके समान आचरण किया है बिम्ब (मण्डल) जिसका ऐसा कुमुद-विकासकारी किरणोंवाला चन्द्रमा माना (आहारकत्व—निष्कलङ्कत्वादि) अधिक सौभाग्यकी उच्चशिक्षा प्रदण करनेके लिए तुम्हारे मुखको नहीं छोड़ना है । [निरन्तर गुरुके समीप रहनेसे उच्चशिक्षाकी प्राप्ति होती है, अत एव पद्म तथा चन्द्रका कृष्णके हाथ तथा मुखका स्पर्श नहीं करना उचित ही है । 'पाञ्चजन्य—' इत्यादि तीन श्लोकों (११।८४-८६) से विष्णुके मूल प्रकृतिका वर्णन किया गया है] ॥ ८६ ॥

ये हिरण्यकशिपु रिपुमुच्चै रावणञ्च कुरुवीरचय च ।

हन्त हन्तुमभवत्स्वयं योगास्ते नरस्य च हरेश्च जयन्ति ॥ ८७ ॥

ये हनि । हे विष्णो ! उच्चै महान्तम्, रिपु शत्रुम्, हिरण्यकशिपु तदाश्रयदैत्ये श्वरम् रावणञ्च राजसाधिप दशाननञ्च, तथा कुरुवीरचयञ्च दुर्योधनप्रभृतीनां समूहञ्च, हन्तु विनाशयितुम्, यथाक्रम क्रमानुसारेण, उत्तरोत्तरमित्यर्थः । नरस्य च मनुष्यस्य च, हरेश्च सिंहस्य च, मनुष्याकारसिंहाकारयोरित्यर्थः । नरस्य च तथा नरस्य च अर्जुनस्य च, हरेश्च कृष्णस्य च, नरनारायणयोरित्यर्थः । 'नरोऽर्जुने मनुष्ये च' इति यादव । 'यमानिलेन्द्रश्चन्द्रार्कविष्णुसिंहाश्वामिषु । शुकाहिकपि-भेवेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु ॥' इत्यमरः । ये योगा सत्त्वन्धविशेषा, देहेन व्यक्तित्वा च ये सग्नधनविशेषा इत्यर्थः । तत्र हिरण्यकशिपुहन्ते नरसिंहयोः शरीरसंयोग, रावणहन्ते रामसुग्रीवयोः नरदानरयोः व्यवस्थो संयोग, कुरुवीरचयहन्ते च नरनारायणयोः अर्जुनकृष्णयोरव्यवस्थो संयोगो ज्ञातव्यः, अभवन् अजायन्त, ॥ तेति हर्षे, तव भवतः, ते योगा, जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते, अतस्तान् प्रणमामीति भावः ॥ ८७ ॥

तुम्हारे जो योग (दुहरे संयोग) प्रबल शत्रु हिरण्यकशिपु, रावण तथा (भीष्म-दुर्योधनादि) वीरवधश्च वीर-समूहकी मारनेके लिए हुए, नर तथा हरिके वे याग सर्वोत्कर्षसे विजयी होते हैं आश्चर्य है । [हिरण्यकशिपु की मारनके लिए मनुष्य तथा हरि (सिंहा)

का योग = नरमिह रूप, रावणको मारनेके लिए मनुष्य (रामचन्द्र) तथा हरि (सुग्रीवादि वानर) का योग = नर वानररूप और कौरववीर-ममूहको मारनेके लिए मनुष्य (अर्जुन) तथा हरि (विष्णु) का योग = नर-नारायणरूप सर्वोत्कृष्ट होकर विजयी होते हैं । उक्त तीनों अवतारोंमें भी 'नर-हरि' के योगमें ही प्रबल शत्रुओंका नाश होनेसे आश्चर्य है ।] ॥

केयमर्द्धभवता भवतोहे मायिना ननु भव सकलस्त्वम् ।

शेषतामपि भजन्तमशेषं वेद वेदनयतो हि जनस्त्वाम् ॥ ८८ ॥

केयमिति । हे विष्णो ! मायिना मायाविना । मोह्यादित्वादिनि । भवता त्वया, का कीदृशी, विचित्रैवेत्यर्थ । इयम् एषा, भवस्थ तस्मै ससारस्य च, अर्द्धमर्द्धांश-अर्द्धमर्द्ध तस्य भाव तत्ता, यद्वा—अर्द्धम् अर्द्धदेह, भव शिव यस्य तस्य भाव तत्ता हरिहरमूर्तिता इत्यर्थ । अर्द्धससारता च, ऊहे ऊटा, भृता इत्यर्थ । अर्द्धमवता तव न युक्ता इति भाव । हि यत्, मनु ओ । सकल सम्पूर्ण, भव महादेव-ससारश्च, त्व भवतेव, तथा चेद् श्रुतिरेव, नयन चक्षु स्वरूप यस्य स तादृश वेदज्ञ इत्यर्थ । जन लोक, शेषताम् अनन्तनागताम् उपयुक्तात् अभ्यास च । 'शेष सङ्ख्यण्डेऽनन्ते उपयुक्तेतरे च' इति विरव । भजन्त प्राप्नुवन्तम् अपि, त्वा भवन्तम्, अशेषम् अनन्तात् अन्य सकलञ्च, वेद्य आनाति, 'पुरुष एवेद सर्वम्' इत्यादि श्रुतेरिति भाव ॥ ८८ ॥

(हे विष्णो !) तुम्हारी यह (पुष्पादि प्रसिद्ध) आश्चर्यकारिणी अर्द्धभवता (आधे शिवका भाव अर्थात् हरिहरमूर्तिता) आपने ग्रहण की गयी है (मुखसे लेकर चरणतक आधे शरीरमें हरिरूप होनेसे क्यामूर्ति तथा आधे शरीरमें शिवरूप होनेसे शिववर्णवाली लोकोत्तर तुम्हारी मूर्ति है । अथवा—यह कैसी अनिर्वचनीय मूर्ति आपने धारण की है), आप तो सम्पूर्ण शिव हैं, अथवा—कलामहिम स्वतन्त्र शिव (मूर्तिवाले) हैं, (इस कारण सम्पूर्ण भववाले आपको अर्द्धभव होना विरुद्ध होनेसे आश्चर्यजनक है । अथवा—तुम्हारी यह अर्द्ध भवता (आधे ससारका भाव) आश्चर्यजनक है, क्योंकि तुम क्याओं (अवयवों) के सहित षट्पदिधर्मां तुम्हीं हो । वेदानुसार देखनेवाला (वेदानुगामी जन) शेषभाव (पृथग्भूतता) को ग्रहण करते हुए भी तुमको अशेष (सम्पूर्ण चराचररूप) जानता है, [अथवा— शेषता (शेषनामके भाव) को धारण करते हुए भी आपको अशेष (अनन्त निःशुरूष आनता) है । शेषको अशेष होनेमें विरोध आनेका परिहार उक्त अर्थसे समझना चाहिये] ॥ ८८ ॥

प्राग्भवैरुदगुन्मभवगुम्फान्मुक्तियुक्तिविहताग्रिह तावत् ।

नापर स्फुरति कस्यचनपि तत्समाधिभवधूय समाधिः ॥ ८९ ॥

प्रागिति । हे विष्णो ! प्राग्भवै पूर्वपूर्वजन्मार्जितकर्माणि, उदगुदग्भवानाम् उत्तरोत्तरजन्मनाम्, गुम्फात् प्रयत्नात्, सम्पादनाद्देतोर्गित्यर्थ । जन्मपरम्परो-स्यादनात् हेतोरिति यावत् । इह ससारे, भुक्ते मोक्षस्य, युक्ति योग, प्राप्तिरित्यर्थ । तस्या विहता विष्णे विषये, कर्मचयाभावेन आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपस्य अविद्या-

स्तमयलङ्घय वा मोक्षस्य अनुपपत्तिविषये इत्यर्थः । स्वस्ममाधि तव ध्यानम् , अवध्य परित्यज्य, तव ध्यान विनेत्यर्थः । कस्यचन कस्यचित् अपि, आचार्यस्येति शेषः । अपर स्वस्ममाधिमिच्छ, समाधि समर्थनम्, समाधानमित्यर्थः । मिद्वान्त इति यावत्, 'समाधिनिर्वये ध्याने नोचारे च समर्थने' इति विश्वः । न तावत् नैव, स्फुरति प्रकाशते । तथा हि पूर्वपूर्वजन्मान्तकर्मभि उत्तरोत्तरजन्मपरिग्रहात् सुप्तनेर्थावाप्त, तत्र च तव ध्यानेन तव साक्षात्कारलभ्यात् तेनैव च प्राप्तकर्मण्येवात् मुक्तिर्लभते जीव इति सर्वेषामेव सर्वज्ञानिना सिद्धान्तः, 'भिद्यते हृदयप्रस्थि' इत्यादिशास्त्रोक्तेरिति भावः ॥ ८९ ॥

पूर्वजन्मोपाजित कर्मोत्ते आने-आये जन्मोत्ते गुणन करनेसे अर्थात् अवापरूपमे वत् उत्तर जन्मपरम्परा चात् २४-से मुक्तिप्राप्तिके बिनाशके विषयमे किमी (आचार्य, वा विद्वान् आदि) को तुम्हारे ध्यानेके अतिरिक्त दूसरा कोई समाधान नहीं स्फुरित होता है । [पूर्वजन्मोपाजित कर्मोत्ते उत्तरोत्तर जन्म परम्परा होते रहनेसे समारम्भित नहीं होनेके कारण मुक्तिप्राप्ति किम् प्रकार हो सकती है ? ऐसा सोचनेवाले किसी आचार्यादिको भी आपके ध्यानके अतिरिक्त कोई दूसरा समाधान नहीं प्रतिपासित होता है । आपका ध्यानसे ही दान होकर कर्मपथपूर्वक मुक्तिप्राप्ति होना सब आचार्योंने एक मनमे स्वीकार किया है, अत एव आप ही मुक्ति के कारण हैं] ॥ ८९ ॥

ऊर्ध्वदिक्षु शलाकाद् द्विरकार्यं किं तनु हरिहरीभवनाय ? ।

किञ्च तिर्यग्गमिनो नृहरित्वे क स्वतन्त्रमनु नन्वनुयोगः ? ॥ ९० ॥

ऊर्ध्वेति । हे विष्णो ! हरिहरीभवनाय विष्णुशङ्करीभावात्, हरिहरमूर्तिपरिग्रहादेश्यर्थः । ऊर्ध्वा दिक् यस्मिन् तत् तादृशम् ऊर्ध्वदिक्षु उपरिभागीयमित्यर्थः । वामदक्षिणभावेन चरणात् मूर्द्धपर्यन्तमूर्द्धांशमिति यावत् । बहुव्रीहिसमासे समासान्तक । यत् दलन विभक्त्य 'तस्मात् हेतोः, एकमेव देहमूर्ध्वाधोभावेन द्विधा विभज्येत्यर्थः । किं निर्मयम्, तनु शरीरम्, द्वि द्विधा, सम्पूर्णदक्षिणाद्धं हरिरूपा तादृशवामाद्धं च, हरिरूपामित्यर्थः । अकार्यं ? कृतवान् असि ? हरिहररूपधारणाय कथं वा पादादुत्तरम्य शिरो यावत् द्विविधरूपेण शरीरं द्विधा विभक्त्य कृतवान् अस्मि ? इत्यर्थः । किञ्च किमर्थं वा, नृहरित्वे नरसिंहभावे, नरसिंहरूपधारणे इत्यर्थः । तनु तिर्यक् वस्तु यथा भवति तथा, अभिन ? भिन्नवान् असि ? कण्ठात् अधोदेशस्य नररूपेण ऊर्ध्वभागस्य च सिंहरूपेण विभागम् अकरो ? इत्यर्थः । ननु भो विष्णो ! स्वतन्त्र स्वाधीनम्, पुरुषवर मयन्तमिति शेषः, अनु लक्ष्योक्तस्य क पूर्वोक्तरूपको नाम, अनुयोगः ? प्रश्नः ? 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः । स्वतन्त्रेच्छे परमेश्वरे न्यमेव कृतं कथं वा नेवमिति प्रश्नो न युज्यते, यतः स हि स्वेच्छया यथेष्टमेव कर्तुं शक्यते, तत्र कस्यापि किमपि प्रश्नावसरो नैव स्थानुमर्हति इति भावः ॥ ९० ॥

हरिहर-रूप धारण करनेके लिए नीचेसे ऊपरतक (चरणसे मस्तकतक) विभक्त करनेके कारण शरीरके दो भाग क्यों किये हो (नृसिंहके समान ऊपर-नीचे आधे-आधे शरीरमें हरि तथा हरक रूप क्यों नहीं ग्रहण किये हो) ? तथा नृसिंह भावमें अर्थात् नृसिंहरूप धारण करनेमें शरीरको निर्धन्यूपसे क्यों विभक्त किये हो ? (हरिहरमूर्तिके समान ही चरणसे मस्तकतक आधे भागमें मनुष्य तथा आवे भागमें सिंह शरीरको क्यों नहीं धारण किये हो ? अर्थात् हरिहर तथा नृसिंह—इन दोनों रूपोंको धारण करनेके लिए एक ही प्रकारसे शरीरको विभक्त न करके भिन्न भिन्न प्रकारसे क्यों विभक्त किये हो ?) । अथवा—स्वतन्त्र व्यक्तिये क्या प्रदत्त हो सकता है अर्थात् स्वतन्त्र व्यक्ति चाहे जो कुछ भी कर सकता है, उससे किसीको कुछ पुछनेका अधिकार नहीं है ॥ ९० ॥

आप्तकाम ! सृजति त्रिजगन् किं ? किं भिन्नसि यदि निमित्तमेव ? ।

पासि चैवमप्रतीर्य मुहु किं स्यात्समाऽपि यद्वश्यमिनाश्यम् ? ॥ ९१ ॥

स्वतन्त्रत्वमेव स्फुटयति—आप्तेति । आप्तकाम ! हे कृतकृत्य ! निजप्रभावादेव पूर्णमर्वाभिलाष । विष्णो ! अत एव नास्ति ते कार्यप्रयोजन किमपि इति भाव । किं किमर्थम्, त्रयाणां जगतां समाहार इति त्रिजगत् त्रिभुवनम्, सृजति ? रचयति ? आप्तकामस्य स्वप्रयोजनाभावादेन शिष्टप्रयोजनमिति भाव । यदि चैव, निमित्तमेव सृष्टमेव, त्रिजगदिति दोष, तर्हि किं किमर्थम्, भिन्नसि ? विदारयसि ? निष्प्रयोजनमेव सहृदयीर्यथ । यत् त्रिजगत्, स्वार्थमना अपि स्वयमेव, अवश्य-विनाश्य निश्चितमेव सहार्थम् । 'लुम्पेदवश्यम् कृत्य' इति म-लोप । इदं तद्विद् त्रिजगत्, मुहु वार वारम्, अवतीर्य आविर्भूय, मत्स्यादिरूपेणायनीर्णं सन्नित्यर्थ । किं किमर्थं वा, पासि च ? रचसि च ? अवश्यविनाशस्य रक्षणमनुपयुक्तमिति भाव । स्वमेव प्रत्यादिरूपेण जगत् सृष्टिस्थितिसंहारान् करोषि, पर्यनुयोगानहंश्चेति निष्कर्ष ॥ ९१ ॥

हे पूर्णकाम (विष्णो) ! (स्वप्रभावने ही सम्पूर्ण अभिलाषाके पूर्ण होनेसे निष्काम होनेके कारण) तीनों लोकों, क्यों रचते हो ? तथा यदि रच ही दिया तो उसे नष्ट क्यों करते हो ? और यदि यह स्वयं विनाशशील है तो बार-बार (मत्स्य, कूर्म, राम, कृष्णादि रूपमें) अवतार लेकर (लम्बादि नाना कल्पोंको सृष्टिके लिए) इसकी क्यों रक्षा करते हो ? [इन कार्यों में तुम्हारी परमस्वतन्त्रता सूचित होती है । तुम्हीं सत्ताशक्त रचना, पालन तथा संहार करनेवाले कमल, मत्स्य, विष्णु तथा शिव भी हो, अत एव तुम्हारी महिमा वर्णनातीत है] ॥ ९१ ॥

जाह्नवीजलजकीस्तुमचन्द्रान् पादपाणिहृदयेक्षणवृत्तीन् ।

उत्थिताऽव्यसलिलात् त्वयि लोला श्रो स्थिता परिचितान् परिचिन्त्य ? ॥

जाह्नवीति । हे विष्णो ! अव्यसलिलात् सागरोदकात्, उत्थिता उद्भूता,

छोला चञ्चलाऽपि, श्रीः लक्ष्मी, पादपागिहृदयेचने चरण-कर-वलयधर-वाम-
नयने, वृत्ति रथाक्रमनवस्थान येषां तादृशान्, जाह्नवी-जञ्ज-कौस्तुभ-चन्द्रान्
गङ्गा-पाञ्चजन्य-शङ्ख-कौस्तुभमणि-वाराहान्, परिचितान् मस्तुनान्, समुद्रे एकवा-
चस्थानेन विनोपनया परिज्ञानान् अन एव चिरकाटप्रगयिन इति भावः । 'संस्मृ-
स्यात् परिचयः' इत्यमरः । परिचिन्त्य पर्यालोच्य, इवेति शेषः । एवं भवति,
स्थिता विद्यमाना, चलाऽपि जचलत्वेन चिरं विद्यमाना इत्यर्थः । किम् ? इति शेषः ।
गङ्गाकमलादीनामपि आश्रयत्वा प्रथमामीति भावः ॥ ९२ ॥

समुद्र-जलमे निम्नी दृष्ट्वा चञ्चल-न्दनी जनया तुम्हारे चरण, हाय, दृश्य तथा (वाम)
नेत्रमे स्थित गङ्गा, पाञ्चजन्य शङ्ख, कौस्तुभ मणि तथा चन्द्रनाभौ विचारकर भारकौ यदा
स्थित दृष्टे है-या ? [चञ्चल-समुद्रजलमे उत्तरज-न्दनी स्वमादन चञ्चल हाकर भी समुद्र
जलजात होनेसे परिचित गङ्गादिको जानकर ही चञ्चलता छोड़कर तुम्हारे पान नित्य निवास
करने लगी है क्या ? परिचिनोंके पास निवास करना लक्ष्मीको उचित ही है] ॥ ९२ ॥

वस्तु वास्तु घटते न भिदना यौक्तिकविषयाविरोधैः ।

मत्स्वदीप्तिविजृम्भिततत्त्वमेतदिति तत्त्वनिश्चिन्ति ॥ ९३ ॥

वक्षिषति । हे विष्णो ! यौक्ता युक्तिसिद्धा, नैकविधा अनेकप्रकारा, बाधा
प्रतिबन्धा, विरोधाश्च विरुद्धभावाश्च तै हेतुभिः, वस्तु पदार्थः, घटपटादिरूपद्रव्य
जातमित्यर्थः । भिदना भेदानाम्, वास्तु आधर, न घटते न युज्यते, तत् तस्माद्
कारणात्, एतत् घटपटादिरूप वस्तुजातम्, त्वद्दीहितेन भवद्विज्ञेयैव, विजृम्भित
विलसित, प्रकटित इत्यर्थः । स स तादृश तादृश, भेद-विशेष, घटपटादिन्य
वैषम्यमित्यर्थः । यस्य तत् तादृशम्, इति एवरूपा, तत्त्वस्य व्यापार्यस्य, निश्चि-
तिर्वचनम् । मृक्षिर्मिनघटस्य नृन्मयत्ववत् एकमात्रमूलकारणोत्पन्न वस्तु एकविध
मेव भवितुमर्हति । भेद तु युक्तिसिद्धा बहुवो बाधा, तथा एकस्मादेव मूलकारणात्
पृथक् वस्तु जायते चेत् तदा तेजस औष्ण्यमिदं शैत्यमपि जायेत इत्यादयश्च युक्ति-
सिद्धा विविधा विरोधाः, एवञ्च घटपटादीनां यदयमन्योऽन्यभेदोऽनुमुपेत, तच्च
तार्किक, परन्तु भवद्विच्छाप्रेरितया अविद्याकृत्या माययैव तत् नामते, अनस्त्वमे
वैक सर्वमिदं वस्तु इति तत्त्वनिर्वचनमिति भावः ॥ ९३ ॥

युक्तियुक्त अनेक प्रकारका बाधाओं तथा विरोध मे पदार्थ भेदादित् (भेदयुक्त-विभिन्न)
नहीं होते, किन्तु तुम्हारी चेष्टाके विजृम्भितसे वस्तु भेदादित् होते हैं, यही तार्किक सिद्धान्त
है । ['सर्वं विष्णुमय जगत्' हम श्रुतिवचनके अनुसार घट पटादि पदार्थोंमें वास्तविक विचारसे
कोई भेद प्रतीत नहीं होता, किन्तु तुम्हारी इच्छाके विलासमान से दो चन्द्रमाके समान
भेदप्रतीति होती है, अत एव श्रवण-मननादि क्रमसे आपका स्पष्टात्कार होनेपर एकमात्र
आप ही इस सम्पूर्ण जगत्वरूप दीखते हैं, आपसे भिन्न किसी पदार्थका भेदज्ञान नहीं होता
यही 'वस्तुनसि' इत्यादि उपनिषद्-वचनोंसे भी निश्चित होता है] ॥ ९३ ॥

वस्तु विश्वमुदरे तव दृष्ट्वा बाह्यमन किञ्च मृकण्डननृज ।

स्व विमिश्रमुभय न विविञ्चन् निर्णयो स कतरस्त्वमवैपि ॥९४॥

वसति । हे विष्णो ! मृकण्डननृज मार्कण्डेयमुनि, तव भवत, उदरे जठरे, बाह्यवत् वहिर्लङ्गदवस्थित वस्तुज्ञातमिव, विश्व निसिञ्चम्, वस्तु पदार्थम्, दृष्ट्वा बोध्य, उभय बाह्यमुदरस्यन्व द्वयम्, विमिश्र विदोषेण सयुक्तम्, एकविधप्रकारत्वेन ममिलितमित्यर्थ । एरुस्मिन्नेव उदरे बाह्योदराम्यन्तरस्थितयो द्वयोरपि स्थित स्वेन प्रतीयमानत्वात् अविविक्तमिति यावत् । स्वम् आत्मानम्, न विविञ्चन् विदे कुम् अज्ञानवन्, कोऽह बहिरासम् ? को वा उदराम्यन्तरे वत्ते ? इत्येधरूपेण भिन्न सदा ज्ञातुमसमर्थं नन् इत्यर्थ । निर्णयौ उदरात् निर्गतवान्, किञ्च इति प्रसिद्धौ बाध्यां वा, स मृकण्डननृज, कतर वहि स्थितो वा क ? उदरस्थितो वा क ? इति एव भवानेव, अवैपि जानासि, नान्य कोऽपि इत्यर्थ । सर्वज्ञ-वाचिति भावः ॥९४॥

(हे विष्णु मगवान्) मार्कण्डेय मुनि तुम्हारे उदरमें, बाहरके समान (जिम रूपमें बाहर स्थित है उभी प्रकार) समस्त पदार्थको देखकर विशेषरूपसे मिलित (एक ही उदरमें स्थित होनेसे अविविक्त) दोनों अपनेको नहीं निश्चिन करते हुए (बाहर स्थित हो मैं उदरमें प्रविष्ट हुआ, वह कौन है ? तथा जो पड़ेले उदरमें है, वह कौन है ? यह निर्णय नहीं कर सकते हुए) बाहर निकल गये । (बाहर तथा उदरमें स्थित उन दोनोंमें वह (मार्कण्डेय) कौन है ? यह तुम जानते हो (दूसरा कोई नहीं जानता) । [अथवा—जिम तुम्हारे उदरमें बाहरी समस्त वस्तुओंको देखकर मार्कण्डेय मुनि उदरमें स्थित अपनेसे विदोष रूपसे मिलित दोनों अपनेको नहीं जानते हुए निकल गये, वह अनेक अवतारोंमें-से कौन-सा तुम्हारा विशिष्ट अवतार है ? यह तुम्हीं जानते हो, स्वप्रकाश तुमको दूसरा कोई भी नहीं जानता] ॥

ब्रह्मणोऽस्तु तत्र शक्तिलताया मूर्द्धिन्न विश्वमथ पत्युरहीनाम् ।

यालता कलयतो जठरे वा सर्वथाऽसि जगतामवलम्ब ॥ ९५ ॥

ब्रह्मण इति । हे विष्णो ! विश्व जगत्, ब्रह्मण परब्रह्मरूपिण, तव भवत, शक्ति माया एव, लता वल्ली तस्याम्, अस्तु तिष्ठतु, फलस्वरूपेणेति भाव । अथ किं वा, अहीना नागानाम्, पत्यु ईशस्य नागराजशेषस्य, अनन्तनागरूपिण इत्यर्थ । तव भवत, मूर्द्धिन्न शिरसि, अस्तु । वा अथवा, वालता शिशुभावम्, कलयत दधानस्य, वटपत्रशायिनो बालकभूतस्येत्यर्थ । तव इति दोषः । जठरे उदरे, अस्तु, सर्वप्रकारेणापि, जगता त्रैलोक्यस्य, अवलम्ब आश्रय, असि भवसि, स्वमिति दोष । अत एव तुभ्य नमोऽस्तु इति भावः ॥ ९५ ॥

(हे विष्णो ! सृष्टि पड़े स्थावर-जड़मात्मक यह) सत्तार ब्रह्मरूप तुम्हारी शक्ति-रूपिणी लतामें रहा, उदर-उर (सृष्टिके बाद तुम्हारे ही अङ्ग) सर्पराज (शेषनाग) के मस्तकपर रहा, अथवा (प्रलयकालमें) बालभाव धारण किये हुए आपके उदरमें रहा,

प्रकार तुम्हीं सब तरहसे लोकत्रयके आश्रय हो । [इससे ससारके सृष्टि, पालन तथा संहार करनेवाले एकमात्र तुम्हीं हो, यह ध्वनित होता है] ॥ ९५ ॥

धर्मवीजसलिला सरिदङ्घ्रावर्थमूलमुरसि स्फुरति श्री ।

कामदेवतमपि असवस्ते ब्रह्म मुक्तिदममि स्वयमेव ॥ ९६ ॥

धर्मेति । हे विष्णो ! धर्मस्य चतुर्वर्गेषु प्रथमवर्गस्य, बीज हेतुभूतम्, सलिल जल यस्या सा तादृशी, सरित् नदी, आह्वयीत्यर्थ । ते तव, अङ्घ्री चरणे, स्फुरति शोभते । अर्थस्य धनरूपस्य द्वितीयवर्गस्य, मूल बीजभूतम्, श्री लक्ष्मी, तव वरसि यद्यसि, स्फुरति । कामस्य कामनारूपस्य तृतीयवर्गस्य, देयतम् अधिष्ठाता कामदेवोऽपि, ते यदुपश्रावतीर्णस्य श्रीकृष्णरूपस्य तव, प्रसव पुत्र, प्रसूयन् इत्यर्थ । मुक्तिदं मुक्तिं मोक्षरूपं चतुर्थवर्गम्, ददाति यच्छतीति तादृशम्, ब्रह्म परमात्मा च, स्वयमेव साक्षात् स्वमेव, असि भवसि । अतः धर्मार्थकाममोक्षरूपं पुरुषार्थचतुष्टयमेव स्मिन् स्थयेव अविरोधेन वर्तते इति पुरुषार्थचतुष्टयाकाङ्क्षिणा त्वमेव सर्वथा सेवनीयोऽसीति भावः ॥ ९६ ॥

धर्म (प्रथमपुरुषार्थ) का बीज है जल जिसका ऐसी गङ्गानदी तुम्हारे चरणमें स्फुरित होती है, अर्थ (द्वितीय पुरुषार्थ) की अङ्ग लक्ष्मी तुम्हारे हृदयमें स्फुरित होती है, काम (तृतीय पुरुषार्थ) का अधिष्ठाता देव (कामदेव) अर्थात् प्रसूयन् (यदुपश्री कृष्णरूप) तुम्हारा पुत्र है और मुक्ति (चतुर्थ पुरुषार्थ) को देनेवाले ब्रह्म अर्थात् परमात्मा तुम स्वयं ही हो । [इस प्रकार धर्मार्थकाममोक्षरूप चारों पुरुषार्थ आप में ही निर्विरोध निवास करते हैं, अतः इस आपकी सेवासे चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति सहज ही में होती है] ॥ ९६ ॥

लीलयाऽपि तव नाम जना ये गृह्णते नरकनाशकरस्य ।

तेभ्य एव नरकैरुचिता भीस्ते तु विभ्यतु कथं नरकेभ्यः ॥ ९७ ॥

लीलयेति । हे विष्णो ! ये जना लोका, नरकस्य रौरवादे निरयस्य असुरविशेषस्य च 'नरको निरये दैत्ये' इति विश्व । नाशम् उच्छेदं निघनञ्च, करोति विदधाति य तादृशस्य, तव भजत, नाम नामधेयम्, लीलयाऽपि क्रीडापद्धत्यापि, अवहेलयाऽपीति यावत् । गृह्णते कीर्तयन्ति, तेभ्यः तादृशजनेभ्य एव, नरकैः निरयैः, भी भयम्, उचिता युक्ता, नरकनाशकरस्य नामग्राहित्वादिति भावः । ते तथाविध जनास्तु, नरकेभ्यः निरयेभ्यः सकाशात्, कथं किमर्थम्, विभ्यतु ? प्रस्थन्तु ? अपि तु न कथञ्चिदेवेत्यर्थः । 'साङ्केत्य पारिहास्यं वा स्तोमहेलनमेव वा । वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहर चिदु ।' इति श्रीमद्भगवत्सोवतेरिति भावः ॥ ९७ ॥

(अब दो श्लोकों (२१।९७-९८) से भगवान्‌के नामकीर्तनका माहात्म्य कहते हैं—)
ओ लोग नरक (रौरवकूट, शम्भु—नरक—रौरव आदि नरक) से जाऊँक तुम्हारे नामको परिहासदिमें भी लेते (व्यंग्यारण करते) हैं, उनसे ही नरक (रौरवादि नरक) को हरना

सधिन है, वे नरकसे क्यों डर ? अर्थात् उनको नरकमें लेसमात्र भा भय नहीं रह जाता ।
['लीलाभात्रसे भी' शब्दसे जो भक्ति एवं श्रद्धाके साथ बुद्धिपूर्वक नाम ग्रहण करते हैं, उनको नरकमें भय कदासे हो सकता है ?] ॥ ९७ ॥

मृत्युहेतुषु न वज्रनिपाताद् भीतिमर्हति जनस्त्वयि भक्त ।

यत् तदोच्चरति वैष्णवकण्ठान्निष्प्रयत्नमपि नाम तत्र द्राक् ॥ ९८ ॥

मृत्पिबति । हे विष्णो ! त्वयि भवति भक्त सेवानुरक्त, जब लोक, मृत्युहेतुषु मरणकारणेषु मध्ये, प्रधानादिति शेष । वज्रनिपातात् मृत्युहेतो बुद्धिशपतनादपि, भीति भयम्, लज्जुमिति शेष । न अर्हति न योग्यो भवति, कुत इत्याह—यत् यस्मात् कारणात्, तदा वज्रनिपातसमये, वैष्णवस्य विष्णोः तव भक्तस्य, तरयेति शेष । कण्ठात् गलदेशात्, तव भवत नाम नामधेयम्, निष्प्रयत्नमपि प्रयत्न विनाऽपि, सततनामोच्चारणाभ्यासात् चेष्टा विनाऽपीत्यर्थ । द्राक् क्षीप्रमेव, उच्चरति निष्क्रामति । तदेव वज्रनिपातभय निवारयतीति भाव । अनभिसन्धिनाऽपि विष्णुनामोच्चारकस्य मृत्युभय नास्तीति निष्कर्ष ॥ ९८ ॥

तुम्हारेमें भक्ति करने वाला मनुष्य मृत्युके कारणों में-से (मृत्यु) बज्र गिरनेसे भी भयको (पानेके) योग्य नहीं है अर्थात् तुम्हारे भक्तको बज्र गिरनेसे भी भय नहीं होता, क्योंकि उस समय (वज्रपानके अवसरपर) विष्णुभक्तके कण्ठसे विना प्रयासके ही शब्द तुम्हारा नाम कहा जाता है । [मरणके मूल हेतु वज्रपान होनेपर सहसा तुम्हारे नामके उच्चारणसे मनुष्य जन्म-मरणदु छाने सर्वदाके लिए कुम्भकारा पाकर मुक्तिको पा लेना है, तो साधारण मृत्युकारणों (व्याघ्र-निहादि) से उसे किम प्रकार भय हो सकता है ? । लोकका यह नियम है कि सहसा सङ्घट आनेपर लोग अपने इष्टदेवका नामोच्चारण करते हैं] ॥ ९८ ॥

सर्वथाऽपि शुचिनि क्रियमाणे मन्दिरोदर इवावकरा ये ।

उद्भवन्ति भविष्येति तेषां शोधनी भवन्नुस्मृतिधारा ॥ ९९ ॥

सर्वथेति । हे विष्णो ! सर्वथा सर्वप्रकारेणापि, सम्मार्जनीसाधनेन परिष्कारा दिना कामादिरिपुपट्कविजयेन च इति भाव । शुचिनि निर्मले शुद्धे च, क्रियमाणे विधीयमाने, अपीति शेष । भविना ससारिणाम्, चेनसि मनसि, मन्दिरोदरे गृहाभ्यन्तरे इव, ये अवकरा सङ्घरा, सम्मार्जनीचित्तधूल्याद्य इत्यर्थ । रागादयो मलाश्च । 'सम्मार्जनी शोधनी स्यात्सङ्घरोऽवकरस्तथा' इत्यमर । उद्भवन्ति जायन्ते, भवत तव कर्मभूतस्य, अनुस्मृतिधारा चिन्तनपरम्परा, तेषाम् अवकराणाम्, शोधनी सम्मार्जनीस्वरूपा, पवित्रतासम्पादनहेतुश्च, भवतीति शेष ॥ ९९ ॥

(भगवान्के नामोच्चारणका माहात्म्य कहकर अब स्मरण करनेका माहात्म्य कहते हैं—) सब प्रकार (मन, वचन तथा शरीरके नियमन आदि) पवित्र (दोषहीन, या—फलको अर्घार्पण करनेसे दम्बनकारक कर्मोंमें रहित, पृ० १०—स्वच्छ) किन्ने जाते हुए

मन्दिरके भीतरी भागके समान प्राणियोंके हृदयमें जो अवकर (रागद्वेषादिविकार ११०—
झूठा-बर्कट आदि) उत्पन्न होते हैं, आपका स्मरण-समूह उसका शोधन (विनाश)
करनेवाला (पक्षा०—स्वच्छ करनेवाला अर्थात् ज्ञाह) है । [मन्दिर (घर) में उत्पन्न बूँडेको
जिम प्रकार झाड़ू दूर कर मन्दिरका स्वच्छ कर देना है, उसी प्रकार आपका स्मरण
प्राणियोंके मनको रागद्वेषादि दूषित भाव दूरकर निष्काम कर देता है, इस प्रकार आपका
स्मरण ही प्राणियोंके चित्तको शुद्धकर मोक्ष देनेवाला है] ॥ ९९ ॥

अस्मदाद्यविषयेऽपि विशेषे रामनाम तव धाम गुणानाम् ।

अन्वयान्वय भवतैव तु कन्मादन्यथा ननु जनुस्त्रिनयेऽपि ? ॥ १०० ॥

अस्मदिति । हे विष्णो ! विशेषे धार्यक्ये, तव नामसु कस्य उत्कर्ष इत्येव तार
तन्वनिश्चये इत्यर्थः । अस्मदादीना मन्त्रिधाना मूढानाम्, अविषये ज्ञानागोचरे सात्यपि,
तव ते, रामनाम महत्प्रनामसु मध्ये रामेति नामैव, गुणानाम् उत्कर्षांगाम्, धाम
आश्रय, इति मन्वते इति शेषः । कुत इत्याह—अन्यथा तु भवैव नो चेत् पुनः,
तव रामनाम्नोऽस्य गुणधामत्वाभावे तु इत्यर्थः । ननु भो नारायण ! जनुषा जन्मनाम्,
त्रितयेऽपि त्रयेऽपि, कामदग्न्य दातारथि बलमद्रामकजन्मश्रयेऽपीत्यर्थः । भवतैव
स्वयैव, कस्मात् कृत हेतोः, अन्वयान्वय ? अनुबन्ध नीतम् ? राम इति एव तु नाम
पुनः पुनरावृत्त्या गृहीतम् ? इत्यर्थः । त्रिवेव अवतारेषु स्वया रामनामप्रदणत्,
पूतसेऽनीव प्रियमिति ज्ञापते अत्रापि अस्माभिरिति भावः । तव नामसु रामनाम,
श्रेष्ठमिति निष्कर्षः ॥ १०० ॥

(भव पुनः भगवान्के दूसरे नामोंकी अपेक्षा 'राम' नामका माहात्म्य कहते हैं—भगवान् के
सहस्रों नामोंमें—मे किम नाममें अधिक गुण है ? इस प्रकारका) विशेष ज्ञान हमकोयों को
नहीं रहनेपर भी 'राम' नाम हा तुम्हारे (विष्णु भगवान्के) गुणोंका स्थान है (अथवा —
तुम्हारा 'राम' नाम ही गुणोंका स्थान है) । अन्यथा (यदि ऐसा नहीं होता तो 'परमुराम' !
दशरथपुत्र 'राम' तथा 'बलराम' रूप) तीनों जन्मोंमें भी इस कारण और क्यों 'राम'
नामको आपने ही प्रदण किया है ? [उक्त तीनों अवगारोंमें विष्णु भगवान्को 'राम' नाम
प्रदण करनेसे यही नाम सब नामोंमें अधिक प्रिय एवं महत्वात्सव मात्स्य पट्टा है, अत एव
मैं उसी का शरावर उच्चारण करता हूँ] ॥ १०० ॥

भक्तिभाजमनुगृह्य दृशा मा भास्करेण कुरु वीततमस्करम् ।

अर्पितेन मम नाथ ! न तापं लोचनेन विधुना विधुनामि ? ॥ १०१ ॥

भक्तीति । नाथ ! हे प्रभो ! विष्णो ! भक्तिभाज भक्तिमन्त सेवकम्, मां नष्टम्,
अनुगृह्य अनुकम्प्य, भास्करेण सूर्येण, दृशा नेत्रेण, सूर्यामकद्विगनयनेनेत्यर्थः ।
वीतम् अवगतम्, तम तमोगुण, तमोगुणात्मकमृतेत्यर्थः । प्वान्तञ्च यस्य त
तादृशम्, 'राहो प्वान्ते गुणे तम' इत्यमरः । कुरु विधेहि । तथा अर्पितेन मा प्रति

दत्तेन, विधुना चन्द्रेण, लोचनेन नेत्रेण, चन्द्रात्मकवामनयनेनेत्यर्थः । मम मे, तापम् आध्यात्मिकादिमन्त्रापत्रयमित्यर्थः । न विदुनामि ? न अपनयसि ? इति काङ्क्ष, अपि तु विधुनास्पेक्षेत्यर्थः । मास्करेण तमोविदूतनस्य विधुना च तापविदूतनस्य सम्भववादिनि भावः । धून् कम्पने हृत्पश्चात् ऋषादिकात् सिपि 'प्रादीनां ह्रस्वः' ॥ १०१ ॥

देव्यामिन् ! भक्तियुक्त मुनिको दहने नेत्ररूप मूर्तिं अनुवृत्तकरा भव्यकाररहित (पञ्चा०—मन्त्रानरहित) करो तथा मुनिरर दिये गये वाम नेत्ररूप चन्द्रे मे भरे सञ्जान (पञ्चा०—आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिकरूप नाशत्रय) को नहीं दूर करते हो क्या ? अर्थात् अवश्य करने हो । [मूर्ति को दहना नेत्र होनेसे उसके द्वारा भव्यकारको दूर करना तथा चन्द्रको वाशों नेत्र होनेसे उसके द्वारा मन्त्रारको दूर करना उचित ही है] ॥

लङ्घयन्नद्वर्ध्मवदाज्ञामस्मि हा । विधिनिषेधमयीं यः ।

दुर्लभं न तपसाऽपि गिरैव न्वत्प्रसादमहमिच्छुरलज्जः । ॥ १०२ ॥

लङ्घयसि । हे विष्णो ! यः योऽहं नञ्, अहम् इत्य, विधिनिषेधमयीं विधि — 'वामन्ते ज्योतिष्टोमेन पचेत्' इत्यादिरूप, निषेध — 'न मुरा विनेत्र कलत्र भक्षयेत्' इत्यादिरूपश्च, तन्मयीं तदामिकाम्, भवदाज्ञा त्वदादेश, 'धुनिस्तूनी ममेवाक्षे' इत्यनुस्मरणात्, लङ्घयन् अगिज्ञामन् अस्मि वच्चे, हा ! सेदे, ॥ उच्छरु पाञ्चालहवनकारी, अहं नञ्, अहम् निश्चय सन्, गिरैव वचनेनेव, 'मामनुपृष्टाग मामनुपृष्टाग' केषलमियेव रूपवाक्प्रयोगेनेत्यर्थः । तपसा अपि कठोरतपस्य याऽपि, दुर्लभं दुष्प्रापम्, त्वत्प्रसाद भवदनुग्रहम्, इच्छु अमिच्छाशुक्ल, अस्मीति शेषः । यस्य त्वत् तव प्रसाद सर्वदा तपस्यादिक्रियायुष्टानरूपेण महता प्रयत्नेन हस्य, स मया सर्वदा तत्पाञ्चालहवनकारिणा वाह्मात्रेणैव प्राप्यते इत्यहो मे निर्लज्जता । सर्वथा अनुप्राप्तोऽस्मीति भावः ॥ १०२ ॥

जो मे ('प्रत्येक वामन ऋतुने स्वातिष्ठोन याप करो' इत्यादि) विष्णुजन्म तथा ('नय पान न करो' इत्यादि) नियोगमक आज्ञाको प्रतिदिन लङ्घन करता रहा, हाय ! (खैर है कि) वह मे तबसे भी दुर्लभ आरक्षी प्रपन्नको (मुझपर अनुग्रह करो, मुझपर अनुग्रह करो इत्यादि रूप) वाङ्मात्रने ही च दत्ता हुआ दिक्कत है । [अतः एव हे भगवान् ! भार मेरी सर्वथा रक्षा करो] ॥ १०२ ॥

विश्वरूप ! कुनत्रिंशः । कियन् ने वैमवाद्भुतमणी हृदि कुर्वे ।

हेम नञ्जति कियत्रिंशचोरे काञ्चनाद्रिमधिगाय दरिद्रः ? ॥ १०३ ॥

विश्वेति । विश्वरूप ! हे सर्वात्मक ! 'मयं स्वविश्वं ब्रह्म' इत्यादि ध्रुतेरिति भावः । नत्रिंशः ॥ सम्पादितमुपन । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतेरिति भावः । अगौ जगन्त्वसूक्ष्मपरिमिते, हृदि हृदये, ममेति शेषः । ते तव,

वैभवस्य सामर्थ्यातिशयस्य, अद्भुतम् आश्चर्यस्वरूपम्, कियत् किम्परिमाणम्, कुर्वे ? गृह्णामि ? इत्यर्थं । हृदयस्य अत्यन्तमल्पपरिमितत्वात् नितान्तमल्पम् एव धारयितुं शक्नोमि इति भावः । तथा हि—दरिद्रं नि स्व, अत एवातिलोलुपोऽपि इति भावः । काञ्चनाद्रिं सुमेरुपर्वतम्, अधिगम्य प्राप्य, निजे स्वीये, चीरे शनघाच्छिद्यवस्त्रखण्डे, कियत् किम्परिमाणम्, हेम सुवर्णम्, नहति ? यध्नाति ? अपि तु अत्यल्पमेव बद्धुं शक्नोति इत्यर्थं । चौरखण्डे बहुसुवर्णवन्धनासामर्थ्यवत् मम सकलगुणवर्णनाभिलाषे सत्यपि असामर्थ्यात् क्रियन्मात्रं वर्ण्यते इति भावः । 'गह वन्धने' इति धातु ॥ १०३ ॥

हे विश्वरूप (श्वावर जह्मादि सर्वात्मक) । हे ससारके रचयिता । मैं तुम्हारे सामर्थ्याधिक्यजन्य आश्चर्यको अत्यल्प अपने हृदयमें कितना ग्रहण करूँ ? (आपके आश्चर्यकारक ऐश्वर्यको अतिमहान् होनेसे मैं स्वल्पतम अपने हृदयमें धारण नहीं कर सकता अर्थात् यद्यपि आपके महान् वैभवको वर्णन करनेको इच्छा रहती है तथापि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकना हूँ), क्योंकि दरिद्र आदमी सुमेरु पर्वतको पाकर भी (सहस्रो छिद्रयुक्त अपने) फटे वस्त्रखण्ड (चिथड़े) में कितना सोना बांधता है ? अर्थात् अत्यन्त थोड़ा ही सोना लेगा है ॥ १०३ ॥

इत्युदीर्य स हरिं प्रति सम्प्रज्ञातवासित्तम समपादि ।

भावनावशविलोकिताधिष्णीं प्रीतिभक्तिसदृशानि चरिण्युः ॥१०४॥

इतीति । स नल, इति पूर्वोक्तप्रकरणे, हरिं विष्णुम्, अर्थात् उद्दिश्य, उदीर्य उक्त्वा, स्तुत्वा इत्यर्थः । सम्प्रज्ञातेन तद्वारयेन साकारध्यानेन हेतुना, वासित्तम अतिशयेन सञ्ज्ञातभावनः सन्, अत्यर्थं तन्मग्न सन्नित्यर्थः । भावनावशेन सस्कार पादवेग, ध्यानप्रभावेणेत्यर्थो वा, विलोकित साक्षात्कृत, य विष्णुः नारायण तस्मिन् विषये, प्रीतिभक्तयो प्रेमानुरागयो, सदृशानि उचितानि, आनन्दवाष्पमोचननृत्यगीतादीनि कर्माणीति शेषः । चरिण्यु आचरणशील, अनुष्ठाता इत्यर्थः । समपादि सम्पन्न, जात इत्यर्थः । 'विण् ते पद' इति कर्त्तरि चिण ॥ १०४ ॥

वे नल विष्णुके प्रति ऐसा (२१।५०—१०३) कहकर अर्थात् ऐसी प्रार्थनाकर 'सम्प्रज्ञात' नामक समाधि (साकार भगवद्ध्यान) से तब मग्न भावनावशे होते हुए भावनावश होते (साक्षात्कार करने) लगे विष्णुमें प्रेम तथा भक्तिके योग्य (नृत्य-गीत आदि) ॥ आचरण करने लगे । [ध्येय तथा ध्यानकर्ताके भावयुक्त साकार ध्यानको 'सम्प्रज्ञात' समाधि और सचित्त-सवेदके दिना निराकार स्वप्रकाश परमानन्दलक्षण सांप्राज्य ध्यानको 'असम्प्रज्ञात' समाधि कहते हैं । साकार भगवान्की स्तुति करनेसे यहाँ नलको 'सम्प्रज्ञात समाधि' द्वारा भावना करनेकी कहा गया है ॥ १०४ ॥

१ 'भावनावशविलोकित—' इति 'क्षीवातु'सम्मत पाठ, इति म० म० शिव-दत्तशर्माण आहुः । २ '—विष्णु' इति, '—विष्णुप्रीति—' इति च पाटान्तरम् ।

विप्रपाणिषु भृश वसुधो पात्रसात्कृतपितृकुम्भम् ।

श्रेयसा हरिहरी प्रतिपूज्य प्रह्व एष शरण प्रविवेश ॥ १०५ ॥

त्रिप्रेति । एष नल, विप्राणा ब्राह्मणानाम्, पाणिषु करेषु भृशम् अत्यर्थम्, वसु धनम्, वर्पति विकिरति, वृद्धातीत्यर्थ, यः सादृश, तथा पात्रपात्रकृत सत्पात्रे दत्तम्, पितृकुम्भो पितृपूज्यस्य, आदृत्य इत्यर्थ । कथं पित्र्यम् अन्न येन स तादृशश्च सन् । 'हृष्यकृष्ये देवपैत्रे (विप्रे)' इत्यमर । नित्यभ्रातृमनुष्ठाय इति भाव । श्रेयसा उत्कृष्टवस्तुना, हरिहरौ विष्णुशिवौ, प्रतिपूज्य अर्चयित्वा, प्रह्व हरिहरचरणयोः प्रगलभ्य सन्, शरणं गृह्यम्, भोजनगृहमिति यावत् । 'शरणं गृह्यचित्रो' इत्यमर । प्रविवेश प्रविष्टवान् ॥ १०५ ॥

ब्राह्मणोंके शायोंमें (दान-सम्पत्तियों, सुवर्णरत्न आदि) धनको बरमाने (दान देने) बाधे, सत्पात्रोंको ब्राह्मण-मण्डपोंमें दिये हुए वे नल उत्तम द्रव्यों (अवश—मिश्र) आन, देवपूजन, आदिभक्तिकर्मोंमें पुण्य) से विष्णु तथा शिवकी पूजा करके नत्र होते हुए ही भोजन गृहमें प्रवेश किये ॥ १०५ ॥

साध्यन्दिनादनु रिषेत्रसुधांविष्वानास्वादितामृतमयीदनमोदमान ।

प्राञ्च स चित्रमविदूरितवेनयन्त वेश्माचल निजकचोभिरलङ्घ्यकार ॥ १०६ ॥

साध्यन्दिनादिति । वसुधाविष्वान् भूलोकसूर्य, स नल, साध्यन्दिनस्य मध्याह्नकालस्य अयमिति साध्यन्दिन तस्मात् साध्यन्दिनात् दिनमप्यमागे विप्रेषात्, विप्रे अनुष्ठानात्, देवार्चनादिभिरनिरूपकायां विषयं । अनु पश्चात्, पञ्चमहायज्ञानुष्ठानादनन्तरमित्यर्थ । आस्वादितेन भुक्तेन, अमृतमयेन पूषपुण्येन, सुखादुनेत्यर्थ । ओदनेन अन्नेन, मोदमानं हृष्यन्, साध्यन्दिना सन् इत्यर्थ । प्राञ्च प्राचीनम्, प्रामादत् पूर्वभागस्यमिति वा । 'शयनगृहं प्राञ्चया कृतं ययम्' इति शयनशास्त्रादिति भाव । चित्रम् आश्चर्यम्, आश्चर्यदर्शनमित्यर्थ । अविदूरितं निकटोक्तम्, अत्युच्चं वादिति भाव । वेश्मयन्त इन्द्रमासाद् येन त तादृशम्, वेश्माचलं प्रासादरूपं पर्वतम्, निजामि स्वोयाभि, कचोभि काम्तिभि प्रभामिष्व, अलङ्घ्यकार भूषयामास, सूर्यस्तु मध्याह्नात् पर पश्चिमदिगवस्थितम् अस्ताचलमेवालङ्करोति, अयं तु भूलोकसूर्यं मध्याह्नात् परमपि पूर्वाचलमलङ्करोतीति चित्रम् । एवञ्च सदाद्यभागयमिति भाव ॥ १०६ ॥

पृथाके सूर्योपादरके बाद (शाकादि नानाविध व्यञ्जन पदार्थोंमें) अमृतमय मांसको खाकर इतिन होने हुए उस नलने पूर्व दिशामें स्थित (अवश—जिममें पहले दमयन्तीके साथ रहे थे उस प्राचीन), चित्रोंमें युक्त (अवश—भोजनपादिके द्वारा आश्चर्यकारक) और ऊँचाईमें इन्द्रमासादक निकटवर्ती (या—इन्द्रमासितुल्य) पर्वतकार 'महच्छो बरनी

१ '—सुधासुधाशुरास्वा—' इति पाठान्तरम् ।

शोभाते सुशोभित विद्या अर्थात् वे प्रामादपर गये (पक्षा०—सूर्य भी भूमिसे अमृत भोजन करके अर्थात् जलको सुखाकर हविर्त होते हुए पूर्व दिशामें इन्द्रप्रामादके निवृत्तस्य उदयाचलको अपना कान्तिसे सुशोभित करता है, परन्तु मध्याह्नके बाद पूर्व दिशामें उदयाचलको नहीं, अपितु पश्चिम दिशाके अस्ताचलको सुशोभित करता है और ये पृथ्वीसूर्य (नक्ष) पूर्वपर्वतको सुशोभित करते हैं, यह आश्चर्य है । पाठा०—चन्द्र भी देव होनेसे अमृतनय भोजनसे हविर्त होते हुए अर्थ—परिवर्तनकर शेष अर्थ पूर्ववत् करना चाहिये) । [दोपहरके बादमें पूर्वदिशाके उदयाचल पर्वततुल्य उच्चतम प्रामादको अपनी कान्तिदोसे सुशोभित करनेके कारण नक्षत्रा सर्वदा उदयशील रहना सूचित होता है] ॥ १०६ ॥

भीमात्मजाऽपि कृतदैवतभक्तिपूजा पत्यां च मुक्तवती मुक्तवती ततोऽनु ।
तस्याङ्गमङ्कुरितनरपाररिप्समध्यमध्यास्त भूषणभरातितरालसाङ्गी ॥ १०७ ॥

आमेति । तत् पतिभोजनमात्रं मलस्य वेदमाचलाहङ्कुरणमिति वा, अनु पश्चात्, भूषणभरेण अलङ्कारभारेण, अतितराम् अयर्थम्, अलसाणि जटानि, विवसाना-
त्यर्थं । अङ्गानि अवयवा यस्या सा तादृशी, भीमात्मजा दमयन्ती अपि, प्रजा ।
अनुष्ठिता, दवताः देवानाम्, भक्त्या श्रद्धया, पूजा अर्चना यया सा तादृशी ।
पत्यां भक्ति-मते, मुक्तवती कृतभोजने सति, मुक्तवती स्वयं च कृतवती ।
अङ्कुरिता उद्भूता, तस्या कर्मभूताया दमयन्त्या, परिरिप्सा आलिङ्गने ॥ १०८ ॥
तद्वत्, 'सनि मीमा'—इत्यादिना सनि इमादेशे 'अत्र लोपोभ्यास्' उदासं
अभ्यासः, छाप । मध्य मध्यभाग यस्य त तादृशम्, तस्य मलस्य, अङ्गम् उदरम्
क्रोशमिति मिति यावत् । अभ्यास उपविशत् ॥ १०७ ॥

नर (गौरी आदि) देवताओंका भक्तिपूर्वक पूजन करके तथा नरके भोजन
नस्मत् । भोजन की हुई, भूषण-भारके अतिशय बोझसे आलस्ययुक्त अङ्गोंवाली दमयन्ती भी
चतुर्दश (वती) के आलिङ्गन करनेके लिए इच्छुक नरके अङ्गमध्यमें स्थित हो गयी ।
समपादि करके बाद आलस्य आना स्वामाविक होनेसे यहां मृदङ्गी दमयन्तीको भूषणके
वे नरस्युक्त होना उचित ही है] ॥ १०७ ॥

हानं नमना शितद्विम्बत्रिपाकचञ्चो रूपेण शलाटुपरिणत्युचितच्छदस्य ।
(शांतिवार) अपि करारिखे यहन्ती सौन्दर्यपुञ्जमिव पञ्चरमेकमाली ॥ १०८ ॥
करने का । वे । अशितस्य भक्षितस्य, विग्रस्य तदाख्यपलविरोपस्य, विपाक
सहित-स्वद-
च, अत एव अनिरक्तवर्ण इति भाव, चञ्चु छोटी यस्य तादृशस्य
ममादि वदते शितस्य इत्यर्थ । तथा स्पष्ट स्पष्ट यथा भवति तथा, शलाटुन आम
मादना करनेको ।

१ 'भावने' रिप्सु—' इति पाठान्तरम् । २ '—भरातिभरा—' इत्येव पाठ
दत्तशर्मान आह ।
इति वदता 'प्रकाश' कृता '—भरातितरा—' इति पाठं लक्ष्मीकृत्य
'यम्' इत्युक्तम् ।

फलस्य, अपक्वफलस्य सम्बन्धिन्या इत्यर्थः । 'आमे फले शलाह्ण स्यात्' इत्यमरः । परिणते परिणामस्य, उचितौ योग्यौ, नीलौ इति यावत्, छद्मौ पक्षौ यस्य तादृशस्य, कीरस्य शुक्लपक्षिणः सौन्दर्यपुञ्जमिव सुमण्डितत्वेन पक्षीभूतसौन्दर्यशशिमिव, एकं पञ्जरं पञ्चिवन्धनागारम्, करो हस्त, चारिरुहमिव सरोजमिव तस्मिन्, बहन्ती धारयन्ती, का अपि काचित्, आली सखी, ता दमयन्तीम्, अन्वगात् अनुजगाम ॥

पक्षी हुए (लाल रंगके) बिन्दुफल खानेके परिणामस्वरूप लाल चोंचवाले तथा कच्चे फल (खानेके) परिणामस्वरूप योग्य (हरे हरे) पक्षीवाले तोतेकी मौ-दर्य-राशिके समान दिक्केकी बरकमलमें धारण करते हुए कोई (एक) सखी उस दमयन्तीके पीछे चली । [कारणगत गुणकी कार्यमें आनेसे लालबिन्दुफलको खानेसे उनके परिणामके योग्य चोंचकी लाल रंगका तथा हरे कच्चे फलको खानेसे उसके परिणामके योग्य पक्षीको हरे रंगका होना उचित ही है । भोजनके उपरांत विश्राम करते हुए राजादिका शुक्ल-सारिकादि पक्षियोंका मधुर कृजन सुनना प्रायः स्वभाव होगा है, अतः एवं कविसम्राट् हम वर्णनको आरम्भ करते हैं] ॥ १०८ ॥

कूजायुजा बहुतापक्षगिनिभिन्नि सीम्ना स्पष्ट कुहूपदपदार्थमिधोऽन्वयेन ।
तिर्यग्धृतस्फटिकदण्डकवर्त्तनेन सा मन्ववर्त्तत पिकेन मदाधिकेन ॥ १०९ ॥

कूजेति । कूजायुजा कृजनकारिणा । 'गुरोश्च हल' इत्यकारप्रत्ययः । बहुलपक्षस्य कृष्णपक्षस्य च शितिमा कालिमा तस्मिन्, सीम्ना मर्षावाभूत्सेनेन, अतीव कृष्णवर्णनेत्यर्थः । अतः एव स्पष्टं व्यक्तं यथा, भवन्ति तया, कुहूपदं कुहू इति शब्दः, कोकि-कालाप इत्यर्थः । तथा कुहूपदस्य अर्थः कुहूशब्दवाच्या अभावस्याच्च । 'कुहूः स्यात् कोकिलालापमष्टेन्दुकल्योरपि' इत्यमरः । तयो मिय परस्परम्, अन्वये सादात्म्यम्, सामानाधिकरण्यसम्बन्ध इत्यर्थः । यत्र तेन तादृशेन, 'कुहू कुहू' इति रवकारिणा अभावस्येव शाब्दकृष्णवर्णेन चेत्यर्थः । अभावस्यापि बहुलपक्षस्य सीमा इति प्रसिद्धमेव । तिर्यक् नक्रमाद्येन, धृतं गृहीतं, ॥ स्फटिकस्य स्फटिकनिर्मित इत्यर्थः । दण्डकं छद्मदण्डं, तत्र वर्त्तते तिष्ठतीति तादृशेन, मदाधिकेन अत्यन्त मत्सेन, पिकेन पद्मं कारुलेन उपलक्षिता, कोकिलहस्ता इत्यर्थः । एका काचित्, आलीति शेषः । ता दमयन्तीम्, अन्ववर्त्तत अन्वगच्छत् ॥ १०९ ॥

कृजनी (कुहू-कुहू-कुहू करती) हुइ, कृष्णपक्षी सीमाभूत (अतः एव मानो) 'कुहू' (अष्ट-चन्द्रजालावाली अभावस्या निधि) के पद ('कुहू' शब्द) तथा पदार्थ (अनिष्टय कृष्णत्व) का परस्पर समन्वय स्थापन, तिष्ठे (आटे) एकडे गये स्फटिक दण्डपर बैठी हुई और अधिक मदोन्मत्त कोयलके सहित कोई एक सखी उस (दमयन्ती) के पीछे चली । [अभावस्या निधि सीमा पक्षपक्षकी सीमा (अन्तिम दिन) एवं बहुत काली (अन्धकारयुक्त) होती है] ॥ १०९ ॥

शिष्या कलाविधिषु भीमभुवो वयस्या वीणामृदुकणनकर्मणि या प्रवीणाः ।
आसीनमेनमुपसीणयितु ययुस्ता गन्धर्वराजतनुजा मनुजाधिराजम् ॥१०॥

शिष्या इति । वीणाया वाद्यविशेषस्य, मृदुकणनकर्मणि कोमलवादनक्रियायाम् प्रवीणा निपुणा, या गन्धर्वराजननुजा गन्धर्वराजकन्या, कलाविधिषु नृत्यगी तादिकलाविद्याभ्यासेषु, भीमभुव दमयन्त्या, शिष्या अन्तेवासिन्य सत्य, वयस्या सख्य, अभवन् इति शेष । ता गन्धर्वराजतनुजा, आसीनम् उपविशन्तम्, मनुजाधिराज नराधिपम्, एव नलम्, उपवीणयितु वीणया उपगतुम्, ययु प्राप्तवन्त्य ॥ १० ॥

जो दमयन्तीकी सखियाँ कलाकर्मोंमें दमयन्तीकी शिष्या थीं, तथा जो गन्धर्वराजकी कन्याएँ वीणाके मधुर शब्द करनेमें निपुणा थीं, (अथवा—वीणाको मधुर बजानेमें निपुणा जो गन्धर्वराजकायाएँ (नृत्यगीणादि) कलाकर्मोंमें दमयन्तीकी शिष्या होकर (दमयन्तीके कलाओंको सीखकर (उनकी सखी हो गयी थीं) वे (प्रासादपर दमयन्तीके साथ) बैठे हुए हम (नल) की, वीणासे स्तुति करने के लिए (बहापर) गयीं ॥ १० ॥

तासामभासत कुरङ्गदशा विपश्चो किञ्चित् पुर कलितनिष्कलकारुलीम् ।
भैमीतथामधुरकण्ठलतोपकण्ठे शब्दायितु प्रथममप्रतिभावतीव ॥११॥

तासामिति । कुरङ्गदशा मृगलोचनानाम्, तासां ॥ बवराजतनुजानाम्, विपश्चो वीणा, किञ्चित् अल्पम्, पुर प्रथमम्, कलिता स्वीकृता, निष्कला निर्वि दोषा, सामान्येण्यर्थ । काकली मधुरास्फुटध्वनि यस्या सा तादृशी सती । 'काकली तु कले सूक्ष्मे ध्वनी तु मधुरास्फुटे' इत्यमर । 'नद्यतश्च' इति कप् समासान्त । भैम्या दमयन्त्या, तथा तादृशी, या मधुरा मनोहारिणी, सुश्राव्या इत्यर्थ । कण्ठ-
एता कण्ठस्वरसन्तति, तस्या उपकण्ठे समीपे, शब्दायितु सङ्गीतात्मक शब्द कर्तुम् 'शब्दचैर—' इत्यादिना वयल्ल सत तुमुन् । प्रथमम् आदी, अप्रतिभावतीव प्रतिभा रक्षिता हव, स्फूर्तिमप्राप्तेवेत्यर्थ । अभासत प्रतीयते स्म इत्यर्थ । विद्याधिकारानां पुर सोऽव्यवस्य कण्ठो न स्फुरति इत्युचितमेवेति भाव ॥ ११ ॥

उन मृगनयनी (गन्धर्वराजकन्याओं, या—दमयन्तीकी सखियों) की पहले कनारहित काकली (गायनारम्भमें की जानेवाली मधुरास्फुट ध्वनि) करनेवाली वीणा दमयन्तीके वैसे अतिप्रसिद्ध मधुर कण्ठलव्यके समीपमें शब्द करने (बजाने, पशा—बोलने) के लिए पहले प्रतिमाश्रय सी शोभित हुई । [जिम प्रकार किसी विशिष्ट विद्वान्के सामने कम पदा हुआ व्यक्ति पहले बोलनेमें बहुत सजुचित होता है, उसी प्रकार अतिशय मधुरभाषिणी दमयन्ती के कण्ठके पासमें उनकी मधुरास्फुट काकलीयुक्त वीणा भी हो गयी है, ऐसा शान होता था] ॥ ११ ॥

सा यदधुनाऽखिलकलागुणभूमभूमीभेमीतुलाऽधिगनये स्वरसङ्गताऽऽसीन् ।
त प्रागसायविनय परिवादमेत्य लाङ्केऽधुनाऽपि विहिता परिवादिनीति ॥

तेति । सा गन्धर्वराजतनुजाना वीणा, धनानां प्राप्तानाम्, अखिलानां सर्वानां
साम्, कलानां नृयगीतादिविद्यानाम्, गुणानां सौशील्यमौन्दर्यादीनाञ्च, य भूमा
ब्राह्मण्यम्, तस्य भूमी स्थानम्, आश्रयभूमा इत्यर्थः । या भेमी दमयन्ती, तस्या
तुलाऽधिगनये मादृश्यलाभाय, भेमीकण्ठस्वरतुल्यस्वरप्राप्तये इत्यर्थः । यत् स्वरस-
ङ्गता स्वरेण चनिना, सङ्गता सयुता, चनिकारिणीत्यर्थः । अथ च स्वरस स्वयमेवा-
धुरायम्, गता प्राप्ता, आसीत् अभूत्, असौ वीणा, प्राक् पूर्वम्, त तादृशम्, दम-
यन्तीसाम्यलाभेच्छारूपमित्यर्थः । अविनयम् औद्धत्यम्, स्वस्या उक्तमेव सादृश्य-
लाभाय घृष्टनाप्रकाशरूपमित्यर्थः । परिवादं निन्दाम्, पृथ्य प्राप्य, अधुनाऽपि 'इहा-
नीमपि, लोके जगति, परिवादिनीति परिवादवती इति अथ च परिवादिनीति
आख्या च, विहिता कृता, इव जनेरिति शेषः । 'विपक्षी सा तु तन्त्रीभि सप्तभि
परिवादिनी' इत्यमरः ॥ ११२ ॥

वह वीणा ग्रहण किये गये (नृत्य-गीतादि) मङ्गूरु कलाओं तथा सौन्दर्य-सुशोक्तादि)
सम्पन्नगुणोंकी अधिकताका आश्रय दमयन्तीकी समानता पानेके लिए (वज्र आदि)
स्वरों (पञ्चा०—स्वाच्छन्द्य, वा स्वाधुनाम्) से जो युक्त हुई ? वह वीणा पहले सत्कारमें
हम अविनय (अत्युत्कृष्ट दमयन्ती—स्वरके साथ समानता करना) रूप परिवाद (निन्दा)
को पाकर ॥ समय (इतने लम्बे समयके बीच जानेपर) भी परिवादिनी (निन्दात्री,
पञ्चा०—मान तारोंसे बजनेवाली वीणा) प्रसिद्ध है । [पहले भी अधिक गुणवतीने भीष
वीणा भरने उक्त प्रगल्भताका अविनयका स्मरण करनी हुई इस समयक भी वही प्रकार
भीत-सी मालूम पड़ती है । जैसा महाकवि भारविने कहा है—'अशे दुरन्ता बलवदितोषिना'
(किरातार्जुनीय १।२३)] ॥ ११२ ॥

नाद निषादमधुर ततमुज्ज्वलार साऽभ्यासभागवनिभृत्कुलकुञ्जरस्य ।

स्वम्बेरमीर कृतमश्रुतिमूर्द्धकम्पा वीणा विचित्रकरचापलमार्भजन्ती ॥ ११३ ॥

नादमिति । सा गन्धर्वराजतनुजानि, स्वरसङ्गता, वीणा विपक्षी, अनिमृत्कुल
कुञ्जरस्य राजवशश्रेष्ठस्थ, नलस्य इति शेषः । अन्यत्र—अविनिमृत्कुले भूवरसमूहे,
य कुञ्जर हस्ती, पार्वत्यहस्तीत्यर्थः, तस्य अभ्यास समीपम्, मज्जति आश्रयति या
सा तादृशी, तथा कृत विहित, सश्रुतीनां द्वाविंशतिश्रुतियुक्तानां पट्जादीनाम्,
मूर्द्धनि नादप्रान्ते, कम्प कम्पितस्वर यथा सा तादृशी, यद्वा—सश्रुतीनां तद्विनि-
श्रवणकारिणा लोकानाम्, मूर्द्धर्धं शिरस, कम्प चालनयथा सा तादृशी, अन्यत्र—
कृत, विहित, सश्रुते कर्णद्वयसहितस्य, मूर्द्धर्धं शिरस, कम्प चालन यथा सा

तादृशी, तथा विविध नानाविधम्, करस्य पाणे, चापस्य चाञ्चलयम्, करादुली-
चात्तनेन द्रुतवादनरूपमित्यर्थः । अन्यत्र—विविधम् लघुमुत्तमं मनोहरमित्यर्थः ।
करस्य शुण्ढादण्डस्य, चापस्य सञ्चालनचापस्यम्, आमन्त्रन्ती सम्यक् प्राप्नुवती
सती, स्तम्भेरमो हस्तिनी इव । 'स्तम्भकर्णयो रमिजपो' इत्यच्, 'हलदन्तात्
सप्तम्या मज्ञायाम्' इत्यलुक्, 'जातेरस्त्रीविषयात्—' इत्यादिना ङीप् । निषादेन
तदाग्यस्वरविशेषेण, मधुरं रम्यम्, तत विस्तृत तारञ्च, भाद ध्वनिं वृहणञ्च,
कण्ठगार लघुगीर्णवती, आविश्रकारेत्यर्थः । एकत्र—वादननपुण्यात्, अन्यत्र—निषा
इत्य् गङ्गो धृते' इति पञ्चशास्त्रादिति भावः ॥ ११३ ॥

(राज मन्त्रमें धेठ (जम्) के पापमें स्थित, ('बास्त प्रकारकी) धुनियों (स्वरोंके)
महिम्न बह्ज् कण्टिके ऊपर (जादप्रानमें) कम्पित-स्वर करनेवाली) (अथवा—धुनियोंके
महिम्न (वीणाके) ऊपर मागमें (सब अङ्गुलियोंके) कम्पितको करनेवाली (अथवा—बारम
धुनियोंके जाननेवालोंके इच्छाम्य मन्त्रकी कम्पित करनेवाली) विविध (आरोहावरोह
रमयण अनेकविध) इत्याहुलिका चञ्चलताको प्राप्त वम वींगाने वम प्रकार 'निषाद' नामक
स्वरमें मधुर लघुस्वरको निषा, जिस प्रकार पर्वत-समूहमें हाथीके समीप स्थित, दोनों
कानके महित न तकको कम्पित करनेवाली, विविध शुण्ढादण्डकी * लताको प्राप्त अथवा
शुण्ढादण्डका विविध ढगमें हिला-नी हुई हस्तिनी निषाद स्वरसे मधुर ध्वनिको करती है
(हाथीका 'निषाद' स्वरम बोलनेका स्वभाव होता है) ॥ ११३ ॥

आहुत्य नारमखिल किमु बल्लकीना तस्या मृदुस्वरमसर्जि न कण्ठनालम् ? ।
तेनान्तर तरलभाषमवाप्य वीणा ह्रीणा न कोणममुचत् किमु या लपेपु ? ॥

आहुत्येति । बल्लकीना वीणाशाम्, अखिल समग्रम्, चारम् उद्गृह्यशाम्,
आहुत्य मङ्गलम्, मृदु कोमल, स्वर ध्वनि यस्य तत् तादृशम्, तस्या वमयन्त्या,
कण्ठनालकलनाली, न अमर्जि किमु ? न स्पष्ट किम् ? बल्लगा इति शेषः । अपि
तु तादृशमेवामर्जि इत्यर्थः । कथमन्यथा वीणावादि वमयन्तीकण्ठरवस्य माधुर्या-
निषाय इति भावः । तेन कारणेन, आन्तरम् अन्त्यन्तरस्थितम्, तरलभाष ध्वनि

१ पङ्क्तादीना स्वरागान्तरिमुद्रमाणा ध्रुवयो भवन्ति । तत्र पङ्क्ते ४, ऋषभे
३, गान्धारे २, मध्यमे ४, पञ्चमे ४, ध्रुवते ३ तथा निषादे २ ध्रुवयो भवन्ति । एव
सप्तमु स्वरापु मङ्गलनया (४+३+०+४+४+३+२+२२) द्वाविंशति अतयो
भवन्तीति बोध्यम् ।

० तदुक्तं नागदन्—'पङ्क्त रीति मयूरस्तु गावो नर्दन्ति चर्पमम् ।

अजाविकौ च गान्धार म्रौञ्चो धृदनि मप्यमम् ॥

पुष्पमाधारणे काले कोकिलो रीति पञ्चमम् ।

अथस्तु धेवत रीति निषाद रीति कुञ्जर ॥ इति ।

चाञ्चल्यम्, सर्वसाराकर्षणेन शून्याभ्यन्तरत्वादिति भाव । अन्यत्र—भान्तर तर
लभाव मानसचाञ्चल्यम्, अवाप्य प्राप्य, वीणा विपद्भी, द्वीणा लज्जिता सती,
लयेषु माग्देषु, लयकाले इत्यर्थः । 'लय साम्यम्' इत्यमर । अन्यत्र—आलयेषु
गृहेषु, षोण वीणावादनदण्ड गृहेकदेश च । 'कोणो वाद्यप्रभेदे स्यात् कोणोऽप्यौ लघु
हेऽपि च । वीणादिवादने वा स्यादेकदेशे गृहस्य च ॥' इति विधे । न भ्रमुषत् किमु
वा ? न अत्यजत् वा किम् ? अन्योऽपि अपहृतसारो जन अन्तश्चञ्चल द्वीणश्च सन्
गृहस्य कोणमाश्रित्य यथा तिष्ठति तथा इति भावः ॥ ११४ ॥

(प्रज्ञाने) वीणाओंके समस्त सार भागको लेकर उस (दमयन्ती) के कण्ठनालको
नहीं रचा है क्या ? अर्थात् सब वीणाओंके सार भागमें ही दमयन्तीके कण्ठनालको प्रज्ञाने
रचा है (अथवा वीणासे भी अधिक भयुर स्वर इस दमयन्तीका कैसा होगा ?), इसी
कारण (भीतर शून्य होनेसे) भीतरी दरलता (मदसन्दत्त्व, पञ्चा०—मानसिक चञ्चलता)
को छोड़कर कञ्चित् दूर वीणा लयों (स्वरविभिनिरूप मूच्छन्ताओं, पञ्चा०—आदों
अर्थात् धरों) में कोण (धनुषाकार वीणावादन दण्ड, पञ्चा०—धरका कोना) को नहीं
छोड़ती है क्या ? [लोकमें भी कोई व्यक्ति सम्पत्तिके अपहृत होनेपर चञ्चलताको छोड़कर
लज्जित हो घरके कोनेमें बैठा रहता है । वीणाद्यष्टके भीतरी भागको जितना छाना किया
जाना है वतना ही अधिक दुन्दर स्वर वष वीणासे निकलता है अतः उत्तम कोटिवाला उस
वीणाको भीतरमें भरवाने लाठी होनेसे तथा धनुषाकार टेढ़े काष्ठ (धनुरी) से ही बजनेसे
इत्येवम् । यथा उक्त उत्प्रेक्षा की गयी है] ॥ ११४ ॥

तद्वम्पतिभ्रुतिमधून्यथ चाटुगाथा वीणास्तथा जगुरतिस्फुटवर्णबन्धम् ।
इत्थ यथा वसुमतीरनिगृह्यकस्ता कीर किरन् मुदमुदीरयति स्म विश्वा ॥

तदिनि । अथ अन्तरम्, पूर्वोक्तरूपकलभ्यन्तुद्वारानन्तरमित्यर्थः, वीणा
विपद्भय, कार्य । तयो दम्पयो जायापत्यो दमयन्तीतलपो, श्रुती श्रोत्रे, मधूनि
क्षौद्ररूपा, भ्रुतिमुखकरा इत्यर्थः । चाटुगाथा, प्रियगीतानि, अतिस्फुटाना सुस्प-
ष्टानाम्, वगीनामचराणाम्, यन्ध विन्यास यस्मिन् तत् यथा तथा, तथा तादृश-
प्रकारेण, जगु गीतव्य, यथा येन प्रकारेण, वसुमतीरते भूलोकरतिदेवीस्वरू-
पाया दमयन्त्या, गृह्यक पञ्जरे स्थापित । 'पदास्वेति—' इत्यादिना अस्वेति इत्यर्थः
कप् । 'गृह्यामका पविमृगाश्चेका स्युर्गृह्यकाश्च ते' इत्यमर । कीर शुरु, मुद
प्रीतिम्, तत्रयजनानामिति भाव । किरन् उत्पादयन् इत्यर्थः । इत्थ वक्ष्यमाणेन
प्रकारेण, विश्वा समस्ता, ता चाटुगाथा, वर्गनश्लोकानित्यर्थः । उदीरयति स्म
उच्चारयति स्म ॥ ११५ ॥

स्मके बाद वीणाओंने उन दम्पति (नन्-दमयन्ता) के कानोंके लिए (मुखकारक

२ 'चाटुगाथा' इति पाठान्तरम् ।

होनेसे) मधुररूप प्रियस्तुतिपरक गाथाओं (श्लोकों) को उस प्रकार अत्यन्त सौष्टव्य-रचनाके साथ गाया कि पृथ्वीकी रति (स्तुति, दमयन्ती) का पाला गया तोना सुनने वालोंको हर्षित करना हुआ वन सम्पूर्ण गाथाओंको इस प्रकार (२१।११५—१२६) कहने लगा । [इसमें वीणा बजानेवाली गन्धर्वराज कन्याओंकी वीणा बजानेमें नैषुष्य तथा तोतेकी अनिशय तोमबुद्धि होना सूचित होता है, क्योंकि जिस बालके स्वर की सुनकर तोना भी अश्रुशय वचनारण करता है, उसके स्पष्टश्रुत होनेमें सन्देह हो क्या हो सकता है] ॥ ११५ ॥

अस्माकमुक्तिभिरवैष्यथ एव बुद्धेर्गोत्रं युवामनिमती । स्तुमहे तथाऽपि ।
ज्ञानं हि यागरसरावचनाद्भुवद्भ्यामेतावदप्यनवधारितमेव न स्यात् ॥ ११६ ॥

अस्माकमिति । अति अत्यधिका, मति बुद्धि ययो नयो सम्बोधनम् अति-मती । हे महाबुद्धिसम्पन्नौ दमयन्तीनन्दौ । अत एव अवैष्यथ इति भावः । युवां भवन्तौ, अस्माक 'ममेत्यर्थः । उक्तिभि रचनैरिव, मङ्गलाभि भवतो स्तुतिगाथा-भिरवैष्यथ । बुद्धे ज्ञानस्य, अस्माकमिति शेषः । गाथम् उत्तानस्यम्, अगभीरव-मित्यर्थः । स्थूलबुद्धितामिति यावत् । अवैष्यथ ज्ञास्यथ, तथाऽपि स्तुमहे नव-कुर्म, वय युवामिति शेषः । हि यस्मात् भवद्भ्या युवाभ्याम्, यागवसरे वाच्य-प्रयोगोचितावकाशे, भवदीयगुणोत्कर्षस्य समुचितवर्णनावसरे सत्यपीत्यर्थः । अवच-नात् अकथनात् तथावर्णनाऽकरणादित्यर्थः । एतावदपि ह्यवद्वरमपि, ज्ञानम् अस्म-दायबुद्धिम्, अनवधारितमेव अज्ञातमेव, न स्यात् न भवेत्, अपि तु अवधारित-मेव स्यादित्यर्थः । भवतोर्गुणोत्कर्षमेव बुद्धिहीनानप्यस्मान् स्मोतुमुत्सहते, अत-उत्तानबुद्धयोऽपि वय भवन्ती स्तुमहे, ततश्च अनयैव स्तुत्या अस्माकज्ञान कियदिति ज्ञातु शक्येन भवद्भ्यामिति भावः ॥ ११६ ॥

हे विशिष्ट बुद्धिशाले (दमयन्ती तथा नन्द) । तुम दोनों हमलोगोंकी उक्तियों (तुमलोगोंकी का गयी स्तुति-रचनाओं) से (हमलोगोंकी) बुद्धिके छिछकापनको जान ही जाओगे, तथापि (हमलोग तुम दोनोंकी) स्तुति करनी हैं, क्योंकि—बोलने (आप दोनोंकी स्तुति करने) के अवसरपर भी (हमलोगोंके) नहीं बोलनेसे ' (इनका) इनका ही ज्ञान है' यह आप दोनोंसे अज्ञान ही रहेगा (वैसा न हो, अत एव हमलोग आप दोनोंकी स्तुति कर रहा हैं, क्योंकि वर्तनीय विषयके वर्णन करनेपर ही वर्णनकर्ताका ज्ञान थोड़ा है या अधिक ? यह निर्दिष्ट होना है । अथवा—आप दोनोंका पुनःपुनः हो थोड़े ज्ञानवाला भी हमलोगोंकी स्तुति करनेके लिए उत्साहित कर रहा है, अत एव हमलोग स्तुति कर रही हैं, हमसे हमलोगोंका ज्ञान कितना है ? यह आप दोनों समस्त जानेंगे) । [इस प्रकार वीणा

१ इदमेकवचन 'गन्धर्वराजकन्यानां वयस्यानां वा बहुत्वस्य विस्मरगमूलरूपं' अत्रेऽपि स्वयं बहुत्वस्यैव प्रतिपादनादिति शोध्यम् ।

बजावर स्तुति करती हुई गन्धर्वराजके यात्रों या दम्पयन्तीको सखियोंने अपने मोदस्पको दूर किया है ॥ ११६ ॥

भूमृद्भवाऽङ्गमुवि राजशिराभगे सा त्वज्जाम्य भोगसुभगस्य सम क्रमोऽयम् ।
यन्नाकपालकलनाकलितस्य भर्तु रत्रापि जन्मनि सती भवती स भेदः ॥ ११७ ॥

भूमृदिति । हे दम्पयन्ति । भूमृत् हिमालयभूषणात्, भीमनृपतेश्च । 'भूमृद् भू मिषो नृपे' इत्यमर । भवति जायते या सा तादृशी, हिमालयाद्वजा राजननुजा च, सा पार्वती, त्व भवती च, भोगे भूषणीकृतसर्पशरीरै स्त्रक्चन्द्रनादिसम्भोगेश्च । 'भोग' सुप्ते रन्यादिभृताषहेश्च फाकाययो ' इत्यमर । सुभगस्य सुन्दरस्य, तथा राजा चन्द्र, शिराभगि शिरोरत्न यस्य तस्य इन्दुमौलेः, राज्ञा नृनामम्, शिरा भगे चूडारत्नस्य च, नृपश्रेष्ठस्येत्यर्थ । 'राजा भृगाङ्गे चित्रिणे नृपे' इत्यमर । अस्य शिवस्य नलस्य च, अङ्गमुवि कोढदेशे, वर्तते वर्तसे च इति शेष । अयम् एव, अङ्गरूप इत्यर्थ । कम परीपाटी, सादरपमिति यावत् । सम तुल्य, पार्वत्या सह ते इति शेष । परन्तु, भवती त्वम्, अत्रापि अस्मिन्नपि जन्मनि, न केवल पूर्वज ज्मनि इति भाव । नाकस्य स्वर्गस्य, पाल पालक इन्द्र, तस्य कलनया सादृश्येन, अशक्तया वा, कलितस्य विदितस्य, वासवतुल्यस्येत्यर्थ । भर्तु पत्यु, नलस्य सम्बन्धिनी सती इत्यर्थ । यत् सती पतिव्रतेव, वर्तते इति शेष । पार्वती तु अत्र जन्मनि कपालस्य ब्रह्मकर्परस्य, कलनया धारणया, कलित विदित, न न भवतीति अकपालकलनाकलित, तादृगपि न भवतीति नाकपालकलनाकलित तस्य गृहीत-ब्रह्मकपालत्वेन विषयातस्य, भर्तु पत्यु शिवस्य, सम्बन्धिनी सती, एव, असती वर्तते इति शेष । स उक्तरूप एव, भेद अन्तरम्, पार्वत्या तव च इति शेष । तथा च दुरा पूर्वजन्मनि दक्षकन्यापत्ये एव सतीनाम्ना विदिता आसीत्, हिमालयपुद्गुहिद्वेषधुना तु पार्वतीनाम्ना विदिता सती असती सतीति नामविरहिता, भवती ॥ अस्मिन्नपि जन्मनि पतिव्रत्येन सतीनि प्रसिद्धा, अयमेव तत्र पार्वत्याश्च भेद इति भाव ॥ ११७ ॥

(हे दम्पयन्ति) वह पूर्वजन्मा (पार्वती) सर्पशरीर (को शरीरने नृप-रूपसे धारण करने) से सुन्दर चन्द्रचूड (गङ्गान् शङ्कर) के अङ्गने है तथा राजननुजो पुन (चन्द्रनादि-रूपरूप) भोगोंने सुन्दर राजश्रेष्ठ (नल) के अङ्गने हो, वह कम (पार्वती तथा पुनद्वारा कमल शिव तथा नलके साथ सम्बन्धरम्परा व्यवस्था—शब्दस्थे) समान है, (किन्तु पार्वतीके साथ इस प्रकार स्नानात्ता होनेपर भी सममानता इस कारण है कि—) पुन इस जन्मने भी ('अनि' शब्दसे पूर्व जन्मने भी) स्वर्गासीश (इन्द्र) के अशक्त सुक्त पति (नल) की स्त्री (पतिव्रता) हो और पार्वती (दक्षपि पूर्व जन्मने दक्षप्रजापतिकी कन्या होकर सती ('सती' नामवाली) भी, परन्तु इस जन्मने) अ-कपाल धारण करनेमें भिन्न अर्थात् कपालमुक्त (भिक्षार्थ ब्रह्मकपालको धारण किये हुए) पति (शङ्करजी) की सती ('सती'

नामवालो) नहीं है, (किन्तु 'पार्वती' नामवाली है, अतएव तुम्हारी पार्वतीसे भी अधिक महिमा है) । [यहापर नामकी अपेक्षा पार्वतीको हम जन्ममें 'असती' कहनेसे उनकी निन्दा नहीं समझनी चाहिये] ॥ ११७ ॥

एषा रतिः स्फुरति चेतसि कस्य यस्या सूते रतिं द्युतिरस्य त्वयि वाऽऽतनोति ?
त्रैयक्ष्णोक्षेण रिशलीकृत-निर्जरत्नसिद्धायुरध्वमकरध्वजसशायक ? ॥ ११८ ॥

एषेति । हे नल ! एषा दमयन्ती, कस्य जनस्य, चेतसि मनसि, रति मदनवधू,
इति स्फुरति ? प्रकाशते ? अपि तु न कस्यापि इत्यर्थः । कुत इत्याह—यस्या दम
यस्या, द्युति अद्भुतान्ति, एवेति शेषः । रतिम् अनुराग मदनवधूश्च इत्यर्थः । 'रति
स्त्री स्मरदारेषु रागे सुरतगुह्ययो' इति मेदिनी । सूते जनयति, यस्या अद्भुतान्ति
रति जनयति सा कथमपि रतिर्भवितु नार्हति इति भावः । अथ प्रत्यर्थकमस्ययम्,
क' वा, जन इति शेषः । त्वयि भवति नले विषये, त्रैयक्षेण शिवसम्बन्धिता । 'न
द्वाम्याम्—' इत्यैश्वर्यम् । वीक्षणेन चक्षुषा, वृत्तीयनयनेनेत्यर्थः । विलीकृत प्रति-
घट्टीकृत, विनाशित इति यावत् । निर्जरत्नेन देवत्वेन, सिद्धस्य प्रसिद्धस्य, आयुष
जीवनकालस्य, अमरत्वरूपदीर्घजीवनस्य इत्यर्थः । अध्वा मार्ग यस्य तादृशस्य,
मकरध्वजस्य कन्दर्पस्य, सशाय सन्देहम्, मकरध्वज इति भ्रान्तिमित्यर्थः । आतनोति ?
विस्तारयति ? न कोऽपि इत्यर्थः । देवत्वेन अमरोऽपि काम कामारिनयनानलेन
दग्ध सन् मृत, मृतस्य च आवृतमाग्निनि सम्बन्धासम्भवात् भवति अप्ये कामो न
वा इति सशयो न कस्यापि उद्वेगमर्हति, तस्य मृतत्वादिति भावः । रतिकामाभ्या
मपि भवन्तौ मनोहरश्रीकौ इति तात्पर्यम् ॥ ११८ ॥

यह (दमयन्ती) रति (कामपत्नी) है, ऐसा किसके मनमें मानिन होता है ? अर्थात्
किसीके नहीं (कोइ भी व्यक्ति इस दमयन्तीको रति नहीं समझता, क्योंकि) जिसकी
शरीरकान्ति रति (कामपत्नी, पञ्चा०—तुम्हारेमें अनुराग) को उत्पन्न करती है और तुम्हारे
विषयमें भी शिवजीके वृत्तीयनेत्रमें दर्प (मट्ट) किये गये अमरत्व-सिद्ध आयुर्मार्ग (आयु)
वाले कामदेवका सन्देह कौन करता है ? अर्थात् कोई भी आपकी कामदेव नहीं समझता ।
[दमयन्तीकी शरीरकान्तिरूपिणी पुत्रीसे उत्पन्न रति दमयन्तीकी धेनवी (मानिन) हुई,
अतएव दमयन्तीको कोई भी रति नहीं समझता, तथा कामदेवको देव होनेके कारण अमर
(मरणहीन) होता सिद्ध होनेपर भी शिवजीने वृत्तीयनेत्रसे कामदेवको नष्ट कर दिया,
अतः आपको कोइ कामदेव भी नहीं समझता क्योंकि शिवजीके द्वारा उसके नष्ट हो जानेके
कारण कामदेवविषयक सन्देहका अवसर ही नहीं रह जाता । आप तथा दमयन्ती—दोनों ही
कमल कामदेव तथा रतिमें अधिक सुन्दर हैं] ॥ ११८ ॥

एता घराभिः सरिञ्चनिहारिहारामुल्लासितस्त्वभिदमाननचन्द्रभासा ।
विभ्रद्विभासि पयसामिव राशिरन्तर्वेदिश्रियजनमन प्रियमभ्यदेशान् ॥ ११९ ॥

पुतामिति । हे राजन् ! ख मवान्, सरित नद्य इव, लुवि शोभा, शुभ्रकान्ति-
रित्यर्थ । तथा हारी मनोहारी, हार मुक्तासर यस्या ता, पद्मे—सरित नद्य पुव,
क्षया कान्त्या, हारिणो मनोज्ञा, हारामौलिकमरा यस्यास्ताम्, वेशाम् अन्य अन्त
वेदि वेदिकामध्यम्, तद्वदतिवृक्षा इत्यर्थ, श्री शोभा यस्या ताम्, यद्वा—अन्त
शरीराम्यन्तरे, वेदे कीटविशेषस्य, श्रीरिवश्री सौन्दर्यम्, तनुतारुणा इत्यर्थ यस्या
स्ताम्, कुमारसम्भवादावपि 'मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या' इत्यत्र कीटविशेषार्थ वेदि
शब्द प्रयुक्त इति दृश्यते । पद्मे—अन्तर्वेदि तदाव्यगद्वायमुनासन्नमस्यानम्, तेन
श्री शोभा यस्या तारशम्, तथा जनमनसा लोकचेतसाम्, प्रिय प्रीतिजनक,
मध्यदेशो नितम्बभागो यस्या ताम् । पद्मे—जनमनसा लोकचित्तानाम् प्रिय हर्ष-
जनक, मध्यदेश 'हिमवद्भिन्ध्ययोरन्तर्यं प्राकृतललाटपि । प्रायतेव प्रयागाच्च मध्य-
देश प्रकीर्तिनः ॥' इत्युक्तविन्ध्यहिमाचलान्तरभूमागरूप यस्या ताम्, पुता दम्
यन्तीम्, धरामिव पृथिवीमिव, विभक्त अङ्गे दधान, यस्या दमयन्त्या धरायाश्च,
आनन मुद्राम्, चन्द्र शशधर इव, पद्मे—आननसदृशचन्द्रश्च, तस्य भासा प्रभया,
उल्लासित हर्ष प्रापित वल्लभमित्यस्य सन्, पयसा राशि समुद्र इव, विभाषि
शोभने । सागर हि चन्द्रभासा वल्लभसि । भवति इति प्रसिद्ध पुव ॥ ११९ ॥

(हे राजन् !) नदीकी शोभाको जुरानेवाले (नदी सुन्दर) हाथाली, वेदिमध्यके
समान शान्तावली अर्थात् पत्नी कटिवाली तथा लोकोके मनको प्रिय कटिभागवाला हम
(दमयन्ती) का अङ्गुने धारण करते हुए और हम (दमयन्ती) के मुखचन्द्रकी वाग्मिने
हर्षित हुम, शोभाय मनोहर नदीरूप हाथवाली, यद्वा—यनुनाके मध्यभागस्थित (अन्तर्वेदि
नामको (भूमिमे शोभित तथा जनमनके प्रिय मध्यदेश (हिमाचल-विन्ध्यान्तरका
मध्यभाग—मार्गवर्त्य) वाली पृथ्वी को अङ्ग (शीव) में धारण करने हुए तथा चन्द्रकान्तिने
वदमान समुद्रके समान शोभने हो ॥ ११९ ॥

एते जय जनितपद्मनिवेशने साक्षीरुनेन्दुवदना मदनाय नन्त्री ।

मध्यस्थदुर्धलयमत्वफल किमेतद् भुक्तिर्यदत्र तर भर्त्तिनसन्त्यकेतो ? ॥

इति इति । हे महाराज ! जनित कृतम्, सखिमि विचारकेन चेति शेष । पत्रस्य
कस्तूर्यादिकविरतमकरपत्रवल्लयाद्याकारतिलकस्य जयसूचकपत्रस्य च, निवेशन रच
यम्, अङ्गनमि-यर्थ, दानमित्यर्थश्च । यस्या सा तिलकसूचितकपोलादिका विचारके
विचार्य लिखितजयपत्रा च, तथा अधिम्या सह वर्त्तमान साच । 'बहुजीही सन्दर
योगो स्वाङ्गात्' इति समासान्त पद् । असाच साच कृत साक्षीकृत सद्योचनी
कृत, इन्दु चन्द्र एव, वदन मुख यस्या सा, इन्दो मल्लोचनोदरणाभावे वदने
नेत्रस्थिति क्रय युज्यते इति भाव । अन्धत्र—माक्षीहना साक्षाद् दृष्टीहना,
इन्दुवदना चन्द्रमुख्य सत्य यस्या सा, कामजयविषये भैम्या सत्य पुत्र माक्षि
प्य वर्त्तन्ते, यत भर्त्या नलस्य कामवश्यता तामिरेव साक्षाद् दृष्टा इति भाव ।

क्षयज पथपर्यटनजनितम्, भ्रम बलान्तिम्, हरति नाशयति वा सा तादृशी, भवतीति शेष । छायाबहुले मार्गे गतायति कुर्वाणानां पान्यानां पर्यटनबलेशानुभवादिति भाव । दमयन्त्या कामसखवि तव च दमयन्त्यामेव वर्तते, नान्यत्र कुत्रापिति तात्पर्यम् ॥ १२२ ॥

(हे राजन् !) इस (दमयन्ती) से आपको तथा आपसे इसको जाना (प्राप्त होगा) हुआ कामदेव (गमनागमनत्रय) धमको क्यों नहीं पावे ? (पाठा०—पाना है ?) अर्थात् तुम दोनोंमेंसे एकके पाससे दूसरेके पास जाना हुआ कामदेव अवश्य थक जाता है । अथवा (तुम दोनोंमें—मे एकके पाससे दूसरेके पास) गमनागमन करते हुए इस कामदेवके मार्ग जग्य धमको दूर करनेवाली आप दोनोंकी छाया (परछाईं, पक्षा०—शरीरकान्ति) ही है । [लोकमें भी छायामें गमनागमन करनेसे थकावट नहीं होती, अतः आप दोनोंकी छाया ही कामदेवके गमनागमनत्रय मार्गधमको दूर कर देती है । दमयन्तीमें आपका तथा आपमें दमयन्तीका काम है, ऐसा आपसमें स्नेह अन्यत्र कहीं भी नहीं देखा जाता] ॥१२२॥

स्वेदप्लवप्रणयिनी तव रोमराजी रस्यै यदाचरति जागरितव्रतानि ।

आभासि तेन नरनाथ । मधूत्थसान्द्रमगनासमेपुशरकेशरदन्तुराङ्ग ॥१२३॥

स्वेदेति । नरनाथ । हे मनुजाधिप । नल ! स्वेद घर्मजलम्, तत्र प्लवे स्नाने, प्रगप्य पीति अस्या अस्तीति सा तादृशी, तव भवत, रोमराजि रोमसमूह, रस्यै सुरताय, जागरितामि जागरणान्वेव, उद्गमा एव च, व्रतानि नियमान्, यदा आचरति अनुतिष्ठति, पुष्पवती कामिनी यथा शुद्धस्नाता पतिसन्तोषार्थं जागरितानि आचरति तद्वद्विभि भाव । तेन व्रताचरणेन हेतुना, रस्यै श्रीशरस्य, शरात्मक कुसुमसारस्य इत्यर्थ । उरधेन उद्गमेन । 'सुपि स्थ' इत्यत्र योगविभागात् भावे कप्रत्यये तत समास । सान्द्रा गाढा, मिश्रणेन हेतुना घनीभूता इत्यर्थ । तथा मग्ना भवदङ्गे अन्न प्रविष्टाश्च, असमेपो अयुग्मशरस्य कामस्य, शराणा बाणानाम्, कुसुममयानामिति भाव । केशरैः किञ्चकैः, दन्तुराणि निम्नोच्चतानि, अङ्गानि अवयवा यस्य स तादृश इव, आभासि प्रतीयसे । भैमीसङ्गात् सास्त्रिकभावोद्देन रोमाक्षितशरीर स्वेदयुक्तश्रामि इति निष्कर्ष ॥ १२३ ॥

हे नरनाथ ! (सार्विक भावज्य) स्वेदजलसे (या—स्वेदजलमें) स्नानकरनेवाली तुम्हारी रोमराजि रतिके लिए जो जागरण व्रतोंको करती है अर्थात् तुम्हें जो रोमाञ्च हो जाना है, उसमें पुष्परमसे पूर्ण सपन मग्न (शरीरके भीतर घुसे) हुए कामदेव बाणभूत पुष्पके किञ्चक (पक्षा०—बाणोंके पुच्छरूप पङ्करोम) से दन्तुरित (उच्चावच) अङ्गोंवाले तुम रोमते हो । (पक्षा०—रोमराजीरूपिणी दूती रतिके लिए तीर्थादिमें स्नानकर जो जागरण व्रत करती है, उसमें शरीरमें पूर्णतः प्रविष्ट हुए कामबाणोंके पुच्छके पक्षोंके ऊपर दृश्यमान रोमोंसे युक्त शरीरवालेके समान तुम रोमते हो अथवा—रोमराजीरूपिणी श्री

रतिके लिए स्नानकर जो जागरणपूर्वक व्रत करतो है, उसने भीतर प्रविष्ट हुए कामबाणोंके बहुदृष्ट्यमान पृच्छ-सम्बन्धी रोमोंसे युक्त शरीरवाला पनि होता है अर्थात् वनाचरणके प्रभावसे वह पुरुष कामबाणविद्ध हो जाता है । [रतिके पूर्व तुम स्वद तथा रोमाञ्च युक्त होकर आपुद्ध सन्न कामबाणोंसे पीड़ित हो जाते हो] ॥ १२३ ॥

प्राप्ता तवापि नृप । जीवितदेवतेय घर्माभ्युशीरकरम्बनमभ्युजाक्षी ।

ते ते यथा रतिपते कुसुमानि बाणा स्वेदस्तथैव किमु तस्य शरक्षतास्त्रम् ॥

प्राप्तेति । नृप ! हे राजन् ! नल ! तव भवत, जीवितस्य जीवनस्य, देवता अपि छात्री, जीवनेश्वरीत्यर्थ । अभ्युजाक्षी कमलजयजा, हयम् दमयन्ती अपि, घर्माभ्युन स्वेदजलस्य, शीकरै ऊणं, करम्यन मिश्रणम्, प्राप्ता अधिगता, सार्विकमात्रोदयात् स्वेदप्लुताङ्गी जाता इत्यर्थ । रतिपते कामस्य, ते ते प्रसिद्धा, बाणा शोषणमग्नौ, हुनादय शरा, यथा यद्भूत्, कुसुमानि कमलादीनि पुष्पाणि, नभश्चिति शेष । तथैव तद्देव, स्वेद घर्मादिकम्, तस्य कामस्य, शराणा बाणानाम्, चतस्य जगस्य, अन्व रक्तम्, किमु ? तथा हि सुकुमाराणि कुसुमान्यपि यदि कामस्य शरा भग्निभृन्ति, तदा स्वेदोदकमलोहितमपि अस्य शराघातनिश्चल लोहित भवितुमर्हत्येव देवप्रभावस्य उभयत्रापि तुल्यत्वादिनि भाव ॥ १२४ ॥

हे राजन् ! तुम्हारे जीवनकी देवता कमलजयजा यः (दमयन्ती) भी घर्मजल (स्वेद) के कणोंसे युक्त हो जाती है (इसे भी सार्विक भावजन्य स्वेद हो जाता है, अथ च— देवताको स्वेदीय नहीं होगा, किन्तु आपकी जीवनदेवता (इस दमयन्ती) को भी स्वेद हो जाता है, यह आश्चर्य है) । तथा कामदेवके वे-वे (अभिप्राय) बाण जिस प्रकार पुष्प हैं वसी प्रकार उस कामदेवका बाणधननय रक्त भी वैसे (श्वेतवर्ण) हैं क्या ? [देवताको स्वेद नही होनेपर भी जिस प्रकार तुम्हारे जीवन-देवता दमयन्तीको स्वेद होगा है, पुष्प-जैसे कामलजय पदार्थको किसी भी बीरका बाण होना उचित नहीं होनेपर भी जिस प्रकार कामदेवके बाण पुष्प हो हैं, उसी प्रकार बाणधन्ये वरान्न रक्तको श्वेत होना उचित नहीं होनेपर भी कामदेवके बाणधनज्य (दमयन्ती के शरीरसे बहता हुआ स्वेदरूप) रक्त यदि श्वेत वर्ण है तो कौन-सा आश्चर्य है ? क्योंकि देवोंका काय ही विकल्पा होता है । दमयन्ती भी कामबाण-पीड़ित हो जाती है, जिससे उत्पन्न सार्विक भावजन्य स्वेद बाण-धनन य श्वेतवर्ण रक्तसे भगान ज्ञान होता है । अथवा—दमयन्तीके अरुणवर्ण कर, चरण, पाणि, मुखा आदिके सम्बन्धसे स्वेद भी अरुणवर्ण होकर काम-बाण-क्षतजन्य रक्तके समान ज्ञान होता है] ॥ १२४ ॥

राग प्रतीत्य युरयोस्तमिम प्रतीची भानुश्च किं द्वयमज्रायत रक्तमेतत् ?

तद्दीप्य वा किमिह केलिसरित्सरोजै कामेपुनोचितमुसन्धमधीयमानम् ? ॥

रागमिति । हे राजन् ! प्रतीची पश्चिमा दिक्, भानु सूर्यश्च, एतत् द्वयम् उभ-

यम्, युवयो भवतो, त पूर्वोक्तभेदादिसात्विकभावसूचितम्, इम परिदृश्यमानम् रागम् अनुरागम्, प्रतीत्य ज्ञात्वा, प्रत्यक्ष दृष्ट्वेत्यर्थः । रक्त रक्तवर्णम् अनुरक्तञ्च, 'रक्त स्यात् बहुमे ताम्रे प्राचीनामलङ्केऽसृजि । अनुरक्ते च नील्यादिरङ्गिते लोहिते ऽयवत् ॥' इति विश्वः । अजायत किम् ? अमवत् किम् ? कयोश्चित् स्त्रीपुंसयोः सम्भोगानुरागतदर्शनेन अपरथोरपि स्त्रीपुंसयोः तथाविधानुरागोत्पत्तेः प्रायोदर्शनादिनि भावः । दिवाविहारस्य शास्त्रनिषिद्धत्वात् अथच भैमीनल्योरव्युत्कटसम्भोगाभिलाषावलोकनात् वृथया अस्तगमनद्वारा राग्यानयनाभिप्रायेण सूर्यं किं रक्तवर्णोऽजायत इति सारपर्यम् । तथा इह अस्मिन् समये, केलिसरित तवैव क्रीडानद्या, सरोरै कमलै, तत् प्रतीचीभानुद्वयम्, वा युष्माक, वीक्ष्य दृष्ट्वा, अस्तगमनाय सुरतसम्भोगाय च अभिलाषिणमवलोक्येत्यर्थः । कामेषुताया कम्पदंषाणात्वस्य, उचित योग्यम्, मुखम् अग्रभाग, मुकुलितत्वेन सूक्ष्ममिति भावः । येषां तेषां भावः तत्त्वम्, अभीयमानम् अभ्यस्यमाणम्, किम् ? वर्तते इति शेषः । मुखस्य सूक्ष्मताया अभावे बाणघासङ्गतेरिति भावः । सायकालोपस्थिते प्रतीचीभान् अरणवर्णो जातौ, कमलञ्च मुकुलितप्रायम्, अतः सत्वर रात्रिरागमिष्यति, अल धाम् उत्कण्ठयेति निष्कर्षः ॥ १२५ ॥

तुम दोनोंको इस राग (रमणेच्छा) को देखकर सूर्य तथा पश्चिम दिशा रक्त (अरणवर्ण, पक्षा०—परस्परमें अनुरागयुक्त) हो गये हैं क्या ? तथा इस समय तुम दोनोंको क्रीडा-नदीके कमलसे वे (सूर्य तथा पश्चिम दिशा) तुम दोनोंको देखकर कामबाणत्वके योग्य मुख (सूक्ष्म—तीक्ष्णाग्रभाग) होरका अभ्यास करते हैं क्या ? [नल तथा दमयन्ती रमण करना चाहते हैं, किन्तु दिनमें रमणका निषेध होनेसे वे रमण नहीं कर सकते, अतः सायंकाल होना आवश्यक है, यह विचारकर सूर्य तथा पश्चिम दिशा लाल हो गये हैं, क्योंकि किमी दम्पतिकी दृष्टाको परा करना दूसरे दम्पतिका कृतव्य होता है । अथवा—दम्पति तुम दोनोंको रमणेच्छुक देखकर सूर्य एवं पश्चिम दिशाकूपी दम्पति भी रमण करनेके दृष्टुक हो गये हैं क्या ? क्योंकि कि-हो स्त्री-पुरुषको रमण करते हुए देखकर दूसरे स्त्री-पुरुषको भी कामोत्पत्ति हो जाती है । तथा—इस समय सायंकालके समीप होनेसे कमल मुकुलित हो रहे हैं, वह ऐसा ज्ञात होता है कि—कामबाणके पुष्पबाण होनेसे मुकुलित होकर तीक्ष्णाग्र कामबाण होने का अभ्यास करते हैं । कमलाग्रभागका मुकुलित होकर तीक्ष्णाग्र हो जाना स्वाभाविक है । अस्तोन्मुख होकर सूर्य तथा पश्चिमदिशा लाल होने लगे, कमल मुकुलित होने लगे, अतः रमणेच्छुक तुम दोनों सायंकालके बाद रात्रिको भासत्र जान कर धैर्य धारण करो] ॥ १२५ ॥

अन्योऽन्यरागवशयोर्युवयोर्विलासस्यच्छन्दताच्छ्रदपयासु तदालिखत् ।

अत्याजयन् सिचयमाजिमकारयन् वा दन्तैर्नखैश्च मदनो मदनं यथ स्यात् ॥

अन्योऽन्येति । हे दमयन्तीनन्तै ? तन् तन्मन्त्रं, युवयोरस्यन्तसुगनाभिजापादे-
तो रित्यर्थः, अन्योऽन्यस्मिन् परस्पर प्रति, रागास्य अनुरागास्य, रमणामिच्छास्येत्यर्थः,
वशाये वशीनयो, युवयो भवतो, विग्रहस्य सुरतकीटाया, स्वस्त्युन्मत्ता म्वाभि
प्रायानुवर्तिताम्, विनक्ति व्यादन्ति य स नादस्य, सुगनव्यापारस्य रह मग्पाद्य-
त्वादिनि भावः । आलिवर्गं सखीममूह, दमयन्त्या इति शेषः । यत्रयातु निर्गच्छतु,
गृहादिनि शेषः । तथा हि—यदन् काम, मियय वन्नन्, दम्पत्रोगिति भावः । तथा
जदन् अमोचयन्, दम्पतीभ्यामेव परस्पर अन्त्रोन्मोचनमकारयन् इत्यर्थः । वा
अथवा, दम्पते दशाने, नखैश्च करद्वेष्ट्य, आनि युद्धन्, परस्परान्तरहस्यमित्यर्थः ।
अकारयन् अन्तरायन्, दम्पतीभ्यामेव परस्परमिति भावः । इय केन प्रकारेण,
मदन मदीदृता, सुरत व्यापारे मत्तनो गडक उदय, स्यान् ? भवेत् ? अपि तु न
कथञ्चिन्नेवेत्यर्थः ॥ १२१ ॥

इह कात्यायन परस्परमे अनुरागके बोधून् (सम्मोहोन्तुक) तुम दोनोंके बिलान
(सम्मोहकेनि) का बाधक मखो ममूह (घामे बाहर निकल) जावे (योंकि तुम दोनोंके)
नखोंके नदी-उदका हुआ गया शौंनो एव नखोंम (सम्मोहकाहित नह—) युद्ध नहीं
करना हुआ कामदेव मदीदृतादक (हर्षकर्ता) कैसे होगा ? । [सखियोंके रहनेपर
तुमचोगोका बन्ध रग नय, दन्त नखझगड़ि करते हुए परस्परप्राप्तादि करना नहीं हो
सकेगा, अत एव दमयन्तीकी सखियोंका अब बहौन रुद जाना बचित है] ॥ १२२ ॥

इति पठति शुके मृपा ययुस्ता बहुनृपकृत्यमवेत्य मान्धिबेलात् ।

कुपितनिनसखीटशाऽर्द्धदृष्टा कमलनयेन तदा निकाचवय ॥ १२३ ॥

इतीति । इति पूर्वोक्तकारेण शुके कीरपक्षिणि, पठति वाचयति मति, गन्धर्व
राजनयाना रीणायागानुवादक्रमेण स्फुटम उच्चारयति मन्त्रीत्यर्थः । तदा तस्मिन्
सम्प्राप्तमये, कमलनयेन पद्मवनेन हेतुना, निग्रनिजवदनामिति भावः । निकोच
मङ्गोच विद्यते यामा ता निकोचवय मङ्गोचशालिन्य, एकत्र—सम्प्राकालागम
मान्, अन्यत्र—सुरतप्रमदोत्थानेन लज्जेदयादिनि भावः, ता आस्य गन्धर्वराज
मनयाश्च, मृपा मिथ्या, कुपिताया कदावा मन्त्राभिर्गन्धनेन कोपभाव प्रकाशमा
भावा इत्यर्थः । निजमग्न्या दमयन्त्या मन्त्रविन्या, दशा चक्षुरा, अर्द्धदृष्टा द्वि-
र्दृष्टमाणा, क्रोधाग्निजेन ईषद्वलोटिना मन्त्र इत्यर्थः । मान्धिबेला मन्धिबेलाया
मन्त्रायामपे भवम् । 'सन्धिबेलाद्यनुनक्षत्रेऽर्द्धाऽण्' । बहु अनेकम्, नृपस्य नलस्य,
कृत्य कायम्, सन्ध्यायामनादिकम् अनुष्ठेयमित्यर्थः । अत्रत्य ज्ञान्ता, ययु प्रतस्थिरे,
तस्मात् गृहादिनि शेषः ॥ १२४ ॥

१म प्रकार (२१।२१६ १२६) तोनेके पढने (गन्धर्वराजकन्यामोंके बीणाशब्दको
उच्चारण करने) रहनेपर उस समय (सन्ध्याकाल, पश्चात्—रनिकाच) में मानो कमल-

भाव होनेने (मुखको) सङ्कुचिन करता हुई अवास्तविक कोचित अपनी सखी (दमयन्ती) के द्वारा अर्द्धदृष्टिसे देखी गयी वे (सखियाँ तथा गन्धर्वराजकन्याएँ) राजाके माध्या समयके बहुतसे (सन्ध्यावन्दनादि) कार्योंको जानकर बहाते चली गयीं । [सध्याकालमें कमल सङ्कुचिन होता है, यहाँसे बाहर जानेके लिए शुकके बहनेपर मुखे बाहर जानेके लिए कहा जा रहा है अत एव उनको अपना मुख सङ्कुचिन करनेपर कमलत्वके कारण सायंकालमें उनके मुखको सङ्कुचिन होनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है । अथवा—यह शुक हम लोगोंको बाहर जानेको कह रहा है, इसी करने हमलोग यहाँमें जा रही हैं, हम प्रकार मिथ्या (न्यायपूर्वक) वे सखियाँ बाहर चली गयीं, किन्तु वास्तविकमें तो 'सम्मोगेष्टुक भी राजा नर सायंकालके सध्यावन्दनादि कार्योंको छोड़कर रमण नहीं करेंगे और न दमयन्ती ही सम्मोग करेंगी' इस प्रकार नरके बहुतों कार्यको ध्यानमें रखकर ही वे बहाँते बाहर गयीं, उस समय दमयन्ती भी कुछ कुछ होकर अर्द्धदृष्टिसे उन्हें देखी । कुछ व्यक्तिका अर्द्धदृष्टिसे देखना वभाव होता है] ॥ १२७ ॥

अकृत परभृत स्तुहि स्तुहीति श्रुतवचनस्रगनूक्तचुचुचुचुम् ।

पठितनलनुति प्रसीध कीर तमिव मृप प्रति जातनेत्रराग ॥ १२८ ॥

अकृतेति । परभृत कोकिल, सकया आनीत इति भाव । मृप राजानम्, त नलम्, प्रति उद्दिश्य, जात उत्पन्न, नेत्रयो नयनयो, राग रन्धयणता अनुरागश्च परस्य स तादृश सन् इव तस्य परमसुन्दराकारत्वादिति भाव । 'रागोऽनुरागे मासयै बलेशादी लोहितादिषु' इति विश्व । अत एव नृपस्तुनौ, कीरस्य प्रवर्त्तनमिति बोद्धव्यम् । अनानाम् आकर्षितानाम्, वचनस्रजा वाच्यमालिकानाम्, अन्यमुत्वात् श्रुतवाक्यपरम्पराणामित्यर्थ । अनूक्तया अनुवचनेन, किंसे विख्याते इति तादृशौ 'तेन वित्तश्रद्धापचण्णौ' । चञ्च गोटिद्वय यस्य त तादृशम्, एतेन नलस्तुतो कीरस्य सामर्थ्यमस्तीति सूचितम् । तथा पठिता अधीता, उच्चरिता हास्य । नलस्य नैपघस्य, नुति स्तुति येन त तादृशम्, कीर शुकम्, प्रति लक्ष्यीकृत्य इव, स्तुहि स्तुहि इत्यत्र कुरु इत्यत्र कुरु, इति एव ध्वनिम्, अकृत कृतवान्, पिको हि राजनि अनुरागाधिक्यात् नलस्तुतिविषये विरत शुक स्तुहि इति सहजरेवम् अपेक्षार्थं प्रोत्साहितवानिवेति भाव ॥ १२८ ॥

राजा (नर) के प्रति रनेष्टुक्त-स्य (अथच—स्वभावतः रसवर्ण नेत्रवाला (२१।२००) में वर्णित सखीके द्वारा लाया गया) पिकने सुने गये (गन्धर्व-राजकन्याओंके बीणास्वर-गन) वचनको अनुवाद करने (दुहराने) से युक्त चौचवाले (उक्त वचनको दुहराकर करते हुए तथा नरको स्तुतिका पद हुए) उस लोतेसे 'स्तुहि, स्तुहि' (इस नर राजाकी और भी स्तुति करो, स्तुति करा मानो) ऐसा कहा । [पाठा—गन्धर्वराज कन्याओंके बीणा-स्वरूप वचनको अनुवाद करने (पुन कहने) वाले पिकको मानकर उसे भी तोतेके

कहनेके बाद उक्त वचनको पुन कहनेवाला जानना चाहिये । निकके नेत्रको स्वभावतः रक्तवर्ण होनेपर मा यहा राजाके प्रति अनुराग होनेकी श्लेषद्वारा उपेक्षा की गयी है] ॥

तुङ्गप्रासादवासादथ मृशकृशतामायती केलिकुल्या-

मद्राक्षोर्दकबिम्बप्रतिकृतिमणिना भीमजा राजमानाम् ।

यत्र यत्र व्रजन्ती फणियुवतिरिति त्रस्तुभिर्न्यक्तमुक्ता-

न्योऽन्य चिद्रुत्य तीरे रथपदमिथुनै सूचितामार्तिरुत्या ॥ १२९ ॥

तुङ्गेति । अथ कोकिलवधमानन्तरम् , भीमजा दमयन्ती, तुङ्गे अयुधते, प्रासादे सौधे, वासात् अवस्थिते हेतो, मृशाम् अत्यर्थम्, कृशता चीणताम्, आयतीं गच्छन्तीम्, विस्तृतावेऽपि प्रासादस्य अयुधनतया दमयन्तीदृशि अतिकृशात्वेन प्रतीयमानामित्यर्थः । इत्यते हि सुदूरात् स्पृष्टमपि द्रव्यं कृशात्वेन छोके, अत्र प्रासादस्य तुङ्गतैव कुल्याया दूरत्वे हेतुर्बोध्यः । तथा अर्कबिम्बस्य सूर्यमण्डलस्य, अस्तो न्मुक्ताश्चात् आरम्भयेति भावः । प्रतिकृतिरेव प्रतिबिम्बमेव, तज्जलपतितेति भावः । मणिं तुङ्गदाकारपरागारणमित्यर्थः, तेन, राजमानः शोभमानान्, यत्र यत्र कुटिल कुटिल यथा तथा, व्रजन्ती गच्छन्तीम्, प्रवहन्तीमित्यर्थः । अत एव फणियुवति काचित् सर्पस्त्री इयम्, इति एव त्रिविध्यं, त्रस्तुभि भीरुभि, रथपदानां चक्रनाम्नाम्, मिथुनै द्वन्द्वः । कर्तृभिः । एक स्फुटमेव, मुक्त एकम्, अन्योऽन्य परस्पर यस्मिन् तत् यथा भवति तथा, तीरे कूटभागे, कुल्याया एव एकैकस्मिन् तीरे इत्यर्थः । चिद्रुत्य पलाय्य, मार्तिरुत्या दुःखस्वनेन साधनेन, निशागमनात् भावविरहचित्तया कातरस्वरेणेति भावः । सूचितां ज्ञापिताम्, ईषद्वन्द्वकारागमेन स्पष्टं च दृश्यमानामपि चक्रशकनन्दे चिद्रिनामित्यर्थः । केलिकुल्या काङ्क्षार्थं कृत्रिमसरितम् । 'कुल्याऽपरा कृत्रिमा सरित्' इत्यमरः । अद्राक्षीत् ऐषिष्ट ॥ १२९ ॥

इसके बाद दमयन्तीन ऊँचे पामादपर रहने (बैठकर देखने) से अत्यन्त पतली होनी हुई, (मायशून्य होने से अस्ती-मुख होने वाले अक्षवर्ण) सूर्यविन्दके प्रतिरूपि (अक्षमें पतली हुई परछाई) का मणिमें अक्षवर्ण होने हुई, देदी-देदी जाती (बहती) हुई तथा 'नह मरिगी है' यह जानकर डरने हुए चक्रशकमिथुनों (चक्रवा-चक्रवर्तीकी जोटियाँ) से परस्पर-मार्ति-यक छानकर नागपर मागकर (सायशून्य होनेसे आसन्न) विरहजन्य रोदनने सूचित कीवानदी (कीद्वार्थ छोटी नहर) का देखा, [दमयन्तीने उस कीद्वार्थ नहरको देखा, जो दमयन्तीके ऊँचे प्रासादमें दूरस्थ होनेके कारण बहुत पतली मालूम पड़नी थी, जिसमें अक्ष सूर्यबिम्ब प्रतिबिम्बित होकर उसे भी रक्तवर्ण कर रहा था, जो धीरे-धीरे बहती थी और जो अन्धकार होनेसे स्पष्ट नहीं देखे जानेपर भी मानी निरहके दुःखने रीने (बोलने) हुए चक्रवा-चक्रवर्तीके शब्दमें यह नदी है ऐसा मालूम पड़नी थी और वह सर्पिणीके समान थी, क्योंकि सर्पिणी भी पतली मस्तकस्थ नागमणि रज्यमान,

टेढा चलनेवाणी हंती है और उसे देखकर दूरसे मनुष्य, पशु, पक्षी आदि परस्पर सन्निधि भावकी छोट कर (दूर हटकर) 'यद् सर्पिणी है' ऐसा रो-राकर विस्मयते हैं, उसने दूसरे लोग 'यद् सर्पिणी है' ऐसा मालूम करते हैं] ॥ १२९ ॥

अथ रथचरणौ त्रिलोक्य रक्षावतिविरहामहताऽऽहताविवासे ।

अपि नमस्कृत्य पद्मसुनिकाल श्वसनविकीर्णसरोजमौरभ सा ॥ १३० ॥

अपेनि । अथ द्रीढासहिर्दशनानन्तरम्, सा दमयन्ती, रथचरणौ चक्रवाक्युगली, अनिविरहस्य समस्तरजनीत्यापितया दीर्घवियोगस्य, अमहन्तया अहमन्तया, आहूतौ प्राप्ताघातौ, कामशरविद्धतया कान्तौ इत्यर्थः । द्विधा भूनी इत्यर्थश्च । अत एव अन्तरेण रथिरेतिव, रक्तौ रक्तचर्णौ, अनुरक्तौ च, त्रिलोक्य इष्टा, तम् आसन्नम्, पद्माना कमलानाम्, सुसिंहालमपि सङ्कोचसमयमपि, सायसमयमपीत्यर्थः । क्षमनेन चक्रवाक्यु लक्ष्मणेन स्वस्या अपि दुःखमूचकदीर्घनिश्वासेन, विकीर्णं विविक्तम्, सरोजमौरभ पद्मसौगन्ध्यं यस्मिन् तत्तादृजम्, अकृतं कृतवती, तदा सन्ध्यामयमे पद्मसङ्कोचात् तामौरभामयमभवेऽपि स्वस्या पद्मिनीजायावत्वात्, पद्मिन्याश्च पद्म सुगन्धिष्वामयायुःत्वात् निश्वासमोक्षनेन पद्मसौगन्ध्यं विस्तारयति स्म इति भावः ॥

रम (जोड़ा नदीको देखने) के बाद उस (दमयन्ती) ने (राममें होनेवाले) विरहकी अमहन्त, आहन्त हुए (अत एव) कश्चित्मे माना चक्रवर्ण (पद्मा—अनुगाग युक्त, वा-स्वभावतः रक्तवर्ण) चक्रवा न्या चक्रको देखकर उस कमलके सान (मुकुटिन होने) के समय अर्थात् मन्वाद्युष्णका (चक्रवा-चक्रके विरहदग्धनय दुःखके कारण उत्पन्न) इवाम पँकतेसे कमलकी सुगन्धिमे युक्त कर दिया । [चक्रवा-चक्रके विरहमे कतनाई दमयन्ती भी अब इवाम छोड़ने लगा, तब मालूम पड़ना था कि यह कमलके मुकुटिन होनेसे सायङ्कालका कमल औरमहीन जानकर स्वयं पयिनीजाणीया रही होनेसे कमलवृक्ष सौरभको छोड़कर उस सायङ्कालकी कमल-सौरभमे युक्त कर रही है । विरही चक्रवा-चक्रके दुःखमे सदृश दमयन्तीका कल्पनाई होना उचित ही था] ॥ १३० ॥

अभिलपति पतिं प्रति स्म भैमी सदय । विलोक्य कोकयोरवस्थाम् ।

मम हृदयमिमौ च भिन्दतीं हा ! का इव विलोक्य नरो न रोदितो माम् ? ॥

अभिलपतीति । भैमी दमयन्ती, पतिं नरम्, प्रति उद्दिश्य, अभिलपति स्म उवाच, किमिष्यात्—मदय । हे दयाल ! कोकयो चक्रवाकयो, अवस्था दुर्दशाम्, वियोगजनितकार्यमिति यावत् । विलोक्य पश्य, मम मे, हृदय वक्ष्येऽहम्, इमौ वियोगिनी कोकौ च, भिन्दतीं विदारयन्तीं वियोजयन्तीश्च, अनयो वातरतादर्शन-जनितशोकात्, वियोगदुःखदानाच्चेति भावः । इमा वियोगावस्थाम्, विशेष्य दृष्ट्वा, हा ! खेदे, क इव नर को वा जन, न रोदिति ? न क्रन्दति ? अपि तु सर्वं

एव जन रोदन करोत्येवेत्यर्थ । मद्यत्वात् तत्रापि रोदनसम्भव इति मन्ये इति भावः ॥ १३१ ॥

दमयन्तोरे पनि (नर) ॥ कदा—'हे दयालो ! चक्रवा-चक्रकी अवस्था देखिये, इन दोनोंकी अलग करती हुई तथा (इनके दुःखने) मेरे हृदयको भा विदारण करती हुई इस अवस्थाको देखकर मया कौन अनुभव नहीं होता है [अत एव स्मृदयन्म होनेसे आप रो वेंगे हमने क्या आश्चर्य है ? अवस्था— आपको जो रो देना सम्भव है, ऐसा मैं मनसता हूँ ॥ १३१ ॥

कुमुदमुदमुदेष्यनीमसोढा रविरग्निलम्बितुकामनामनानीन् ।

प्रतिनरु विरुवन्ति किं शकुन्ता स्वर्गद्वि निवेशिनकाककाकुन्ता ? ॥

कुमुदेति । रवि भानु, नदेष्यनीम् आविभविष्यन्नीम्, कुमुदाना केरवाणाम्, मुद चन्द्रोदयान् विज्ञातारूप दर्पम्, अमोहा भमहिप्पुरिव मन्, तेगामुत्तुल्लभार्थं प्रप्लुमचम मक्षि-पर्य । महे तृनि 'हो ड' इति हरय उत्वे 'क्षयस्तयोर्घोऽय' इति तस्य ध-वे, 'प्लुता प्लु' इति क्षय्य लक्षे, 'हो डे लोप' इति प्रथमद्वयोपे 'सद्विबहो-रोद्धवर्णरप' इति ओरवम् । अखिलमिषु स्वरा कर्तुम्, श्रीग्रमस्त पानुमि-पर्य । काम अभिष्टाय यस्य तस्य भाव तथा काम्, अनानीत् विभारयामास, कृत्वाम् इत्यथ । इत्यते च लोके, परोत्कर्षममहमानां श्वेतरेषामानन्दशान्ता तस्यानात् श्रीग्रमेव प्रतिष्ठन्ते इति । तथा प्रतिनरु तर तर प्रति, प्रत्येकवृत्तपि उपविष्टा इत्यर्थ । पायाप्यऽप्यधीभाव । शकुन्ता पक्षिण, स्वर्गद्वि निजमिजवृत्ति, निवे शित् अर्पित, इवेन निस्तान् इत्यथ, शंकाया चक्रवाकाणाम्, काकु वियोगात्त-स्वर एव, कुम्भ प्रामाण्याकविशेष येषा तादृशा मन्त । 'मासस्तु कुम्भ' इत्य-भार । विरवन्ति शब्दायन्ते, किम् ? वितर्कं किञ्चान् ॥ १३२ ॥

कुमुदाके भावी इर्षको नहीं सङ्ग कान्ते हुएके समान सूय शीघ्र गमन करनेका शक्त हो रहा है अर्थात् शान् अस्त होना चाहता है और चक्रवा-चक्रदने (विरह निग्रह) दान चञ्चलको भालेकी अपने हृदयने रले हुएके भागन पक्षिण प्रत्येक वृत्तर विद्येरूपने (अर्थिक) रो रहे हैं वा ? [लोकमें भा प्रतिपक्षीक भावा इर्षको नही देख सकनवाणा व्यक्ति वहाँ १४७४ ही चला जाता है क्या भालेके हृदयने पविष्ट होनेपर अर्थिक रोग भा है] १३२ ॥

अपि विरहमनिष्टमाचरन्नावधिगमपूर्णकपूर्वमर्यचेष्टौ ।

इदमद्दृष्ट्वा निदर्शनं निद्विषी विप्रियशचेननचेष्टितानुमाने ॥ १३३ ॥

अपीति । हे नाथ ! अग्रिम ज्ञानम्, विप्रेयकलेशानुभव इत्यर्थ । पूर्वम् आश्री यासा तास्तादृश्य, पूर्वसर्वचेष्टा स्वयमेवानुष्ठितमकलविरहव्यापारा यदेस्तौ तादृशी, अपि प्रागनुभूतविरहदुःखावपीत्यर्थ । अनिष्टम् अनन्तिमतम्, विरह

वियोगम्, आचरन्तौ अनुतिष्ठन्तौ, विद्यातृनियमेन दीर्घकालं पालयन्तौ इत्यर्थः । विद्वद्भौ चक्रवाकपद्मिणौ, विधिवशं देवाधीनम्, चेतनानां प्राणिनाम्, चेष्टितम् आचरणम्, इत्येवरूपे, अनुमाने कार्यात् कारणविशेषज्ञाने विषये, प्राप्तनकर्मवशां देव अनभिमतोऽपि विषये प्राणिना प्रवृत्तिदर्शनादिति भावः । इदम् एतदेव, निदर्शनं दृष्टान्तः, अदृष्ट इति खेदे अदृष्टे वा, तथा हि-सर्वे एव प्राणिनः देवाधीनतयैव हितं महितं वा सर्वं कार्यम् इच्छया वा अनिच्छया वा कर्तुं प्रेरिता भवन्ति, ततश्च विद्वद्भ्यः अनिष्टाव जानन्तावपि चक्रवाकयुगलौ स्वयमेव समाचरत इति तावेवात्र निदर्शनामिति निष्कर्षः ॥ १३३ ॥

ज्ञानपूर्वक पहली समस्त चेष्टा करनेवाले भी (इस समय भाग्यवश) अनिष्ट विरहो भा करते हुए दोनों (चक्रवा-चक्रव) पत्नी भाग्याधीन प्राणिचेष्टाओंके घटित होनेके अनुमानमें वृद्धारण है । [कोर भी ज्ञानयुक्त प्राणी अपने अहितमें प्रवृत्त नहीं होता, किन्तु इन दोनों चक्रवा-चक्रवों अपने अहितकारक विरहमें प्रवृत्त होने हुए देखकर यह अनुमान होता है कि प्राणी भाग्येच्छानुसार ही ममस्त चेष्टाओंको करता है, स्वेच्छामें कुछ भी वह नहीं कर सकता] ॥ १३३ ॥

अद्भ्यस्थिराणिमेष्टकाविसरणै शोणे कृपाण स्फुट
कालोऽयं विधिना रथाद्गमिथुन विच्छेत्तुमन्विच्छता ।

रश्मिप्राहिगरुन्मदप्रजममारब्धाविरामभ्रमौ

दण्डभ्राजिनि भानुराणनलये ससज्य किं तिज्यते ? ॥ १३४ ॥

अद्भ्यीति । हे प्रियतम ! रथाद्गमो चक्रवाकयो, मिथुन द्वन्द्वम्, विच्छेत्तुं दियोक्तुम्, विरोधेण विदारयितुञ्च, अन्विच्छता अभिलषता, विधिना दृष्टाणां अयम् एव कालः सायसमयः, तत्स्वरूप इत्यर्थः, कृष्णवर्णश्च, 'कालो मृत्यो महाकाले समये यमकृष्णयो' इति द्विषः । कृपाणं स्वप्न, अद्भ्यः किरण पादश्च, तत्र तिष्ठन्तीनि अद्भ्यस्था, ये अरणिमान रक्तिमान्, ताम्येव दृष्टकाविसरणानि दृष्टका-चूर्णनिक्षेपा, सौ शोणे रक्तवर्णः, रश्मिप्राहिणा अश्वरज्जुवारिणा, ज्ञानयन्त्ररज्जुषा रिणा च, गरुन्मदप्रजेन, गरुद्वयेष्टेन अरणेन, केनचित् शानिजनं च, समारब्धा प्रशान्ता, अविरामा अचिच्छिन्ना, भ्रमि भ्रामण यस्य तस्मिन्, तथा दण्डेन चण्डा शो मानो पारिपाशिकेन, ज्ञानस्थेन वस्तुलेन काष्टेन च । 'दण्डो यमे मानभेदे लघुहे दमस्तेन्यो । व्युत्क्रमेदे प्रकाण्डेऽथे कोणमन्यायोरपि ॥ अभिमाने प्रहे दण्ड क्षण्डाशो पारिपाशिके ।' इति विश्वः । भ्राजिनि शोभमाने, भानी सूर्ये एव, ज्ञान वरये शत्रोपेजनयन्त्रमण्डले, गोलाकारत्वसाध्यादिति भावः । ससज्य आरोप्य, स्फुट स्पष्ट यथा भवति तथा, तिज्यते तीक्ष्णाक्रियते, किम् ? तिज निज्ञाने

समापाद्य ह्ययस्मात् भौवादिकात् कर्मणि यकि रूपम् । 'निज्यते' इति पाठे-
परिस्त्रियते, उज्ज्वलीक्रियते इत्यर्थः । 'गिजिर्' शौचे' इत्यस्य रूपम् । शाशिका हि
शाणचक्रे शृङ्गाचूर्णं दत्त्वा दत्त्वा कृपागादिकमुत्तेजयन्ति इति लोके हरयते ॥ १३४ ॥

चक्रवाह-मिथुन (चक्रवा-चक्रवाही जीटा) को पृथक् (पन्ना०—विदीर्ग) करनेकी
इच्छा करनेवाला ज्ञान (या-दैव) बाल (मा = मध्याह्नमय पञ्चा०—बाल = इयामवर्ग,
अय च—यानक इ नेमे बालरूप) कुपागको, विरगम्ब (पञ्चा०—वरणद्वयमे दबाये गये)
रक्षक ईंटके वृत्तिहणोति लाल, रसिम (मूर्धरथके घोड़ोंकी राम, पन्ना०—शाग खावने-
वाली रस्मी) को पकड़े हुए 'अवग' (नामक सूर्यमारवि) से घुसाये जाते हुए और उज्ज
(मूर्धके पारिषान्दिक-विशेष, पञ्चा०—शागकी रस्मी जिमने बांधी गयी है, ठस छण्टे =
हथ्थे मोटे काष्ठ-विशेष) से युक्त सूर्यरूपी शागचक्रपर रखकर तीव्र करना है क्या ? ।
[लोकमें भी किसी पदार्थको चोखने या काटनेके लिए लौहमय होनेसे इयामवर्ग तत्वारको,
पैरोंमें दबायी गयी ईंटके धूम्रिगमे लाल, रस्मी पकड़कर किसी व्यक्तिने खींचे जाते
हुए मोटे काष्ठयुक्त शागपर रखकर तेज किया जाना है । नरने कहे गये दमयन्तीके इन
(२१॥ ३१-३४) वचनोंसे कल्पियासकन मावो बिहका आमास होना सूचित होता है] ॥

इति स विधुमुखीमुखेन मुग्धालपितसुधासवमपित निपीय ।

स्मितशयलवलन्मुखोऽवदत् ता स्फुटमिदमीदृशमीन्द्रा यथाऽस्य ॥

हनीति । स नल, इति अनेन प्रकारेण, विधुमुदया चन्द्राननाया, दमयन्त्या,
मुखेन वदनेन, अपित दत्तम्, मुग्ध सुन्दरम्, आलपितमेव भाषितमेव, सुधासव
पीयूषवत् स्वादु मद्यम्, निपीय आश्वास, स्मितेन ईषदास्येन, कदल विग्रम्,
रजितमित्यर्थः । वलन् चलच्च, भैमी प्रतिवक्तुमुपक्रमादिति भावः । मुख वदन
स्य = तादृश मन्, ता दमयन्तीम्, अवदत् अवोचत् । अन्त्येऽपि कामिन यथा
कामिनीमुत्तर्पितासव सादर पिबन्ति, एत वलिनमुत्ता महास किञ्चित् वदन्ति च
तद्वदिति भावः । किमिथाह-हे प्रिये । यथा यादृशम्, यदित्यर्थः । आत्थ प्रदे,
स्वमिति शेष, इदम् एतत्, ईदृशम् ईदृशम् एवम्भूतमेवम्भूतम्, स्फुट वदकमेव,
सायमेवत्यर्थः ॥ १३५ ॥

चन्द्रमुखी (मयन्ती) के मुखमें सम्पित मनोहर भावार्थरूप कष्टवत् मसुर मद्यको
अन्ती नरद पीकर (सुखकर) स्मितसे युक्त मुखको दमयन्तीकी ओर किये हुए अर्थात्
दमयन्तीकी ओर मुखकर मुस्तराते हुए नल दमयन्तीने बोले—'जैसा तुम वदती हो' यह
देसा हो है । [लोकमें भी कामी लोग प्रियाके च्छिट्ट मद्यको पाकर नरने प्रियाकी ओर
मुखकर परिग्राम करते हैं] ॥ १३५ ॥

१ अनेन व्याख्यानेन 'निज्यते' इति पाठ स्वीकृत्य 'नकारे तकारात्त्येव
'तिज्यते' इति पठन्ति, तदसत् इत्येव 'प्रकाश' वृद्धिकेवामर्तति बोध्यम् ।

स्त्रीपुंसौ प्रप्रिमज्य जेतुमखिलावालोचितौचित्ययो-
नम्रा वेदि रतिप्रसूनशरयोश्चापद्वयी त्वद्भ्रूयौ ।
त्वन्नासाच्छलनिह्नुता द्विनलिकीं नालीकमुकयेपिणो-
स्त्वन्नि श्यामलते मधुश्चसनज वायव्यमस्र तयो ॥ १३६ ॥

स्त्रीपुंसाविति । हे प्रिये । त्वद्भ्रूयौ तव भ्रूयुगलम्, कुटिलाविति शेष । अमिली
समश्रुतौ, स्त्रीपुंसौ नारीनरौ, प्रप्रिमज्य विभागीकृत्य, रतेरशेष्य कामाशे च पुमास
इत्येव विभाग इत्येत्यर्थः । जेतुं वशीकर्तुम्, अलोचितं मनसा विवेचितम्, औ-
चित्यं युक्तियुक्ततां याभ्यां तादृशयो, रतिप्रसूनशरयो कामप्रियाकामयो वन्ना
लक्ष्य लक्ष्मीकृत्य आकर्षणेन वन्नीभूतामित्यर्थः । चापद्वयीं कामुकयुगलम्, उभयोरेव
वक्रत्वमसाम्यादिति भावः, वेदिं जानामि । नालीकमुकयेपिणो नालीकानां
('पिस्तौल' इत्यादिपदप्रसिद्धानाम्) अस्त्रविशेषाणाम्, नालीकानां गुलिकाविशे-
षाणामित्यर्थो वा, मुक्तिं मोक्षणम्, निक्षेपमित्यर्थः । इच्छतो अभिलषतो, तयो
रतिमदनयो, त्वन्नासाच्छलेन तव नासिकाद्वयम्याजेन, निहन्ता नापिताम्, द्वयो
मलिनयो ममाहार इति तां द्विनलिकीं नलद्वयविशिष्टगुलिकाक्षेपकलौहमयास्त्र
विशेषमित्यर्थः । (दोनली पिस्तौल) वेदि इति पूर्वणान्वयः । उभयोरेव तुल्यदर्शन
त्वादिति भावः । तथा तव भवत्या, नि श्यासौ एव लते निरवामवायुप्रवाहद्वयमि-
त्यर्थः । तयो रतिमरयो, मधुरवसनज वसस्तकालिकमलवजातम्, वायव्यं वायु-
देवताकम्, अस्त्रम् आयुधम्, वायुत्वाविशेषादिति भावः, वेदि इति पूर्वणान्वयः ।
अहमिति शेषः । स्मरोद्दीपने स्वमतीव निपुणेति तात्पर्यम् ॥ १३६ ॥

(हे प्रिये दमयन्ति ।) सम्पूर्ण स्त्रा-पुरुषाणां विभागरूपं जीवनके लिए औचित्यको
विचारे (प्रमत्त स्त्रियोंको रति तथा समस्त पुरुषोंको कामदेव जाने ऐसा उचित समझे)
इए रति तथा कामदेवके तुम्हारे देते भ्रूयुकी (रति-कामदेवके बाण छोड़नेके लिए आकर्ष-
णोंचनेसे) मन्त्र दो धनुष जानता हूँ, तथा नालीक अस्त्रको छोड़नेकी इच्छा करनेवाले
उन दोनोंके तुम्हारी नाकके ब्याज (कण्ठ) से गुप्त दो नाभियोंसे युक्त अस्त्र-विशेष (दा-
नना पिस्तौल) जानता हूँ और तुम्हारे निश्वासवाली ललाटकी उन दोनों (रति तथा
कामदेव) का वमन श्यामोदर वायव्य (वायु-देवता-सम्बन्धी) अस्त्र जानता हूँ । [तुम्हारे
भ्रूयु, नासिका तथा निश्वासके द्वारा शीघ्र वामोदरपन होनेसे तुम्हीं वामोदरपनमें सरमे
निपुण हो] ॥ १३६ ॥

पीतो वर्णगुणस्तथातिमधुर कायेऽपि सोऽयं यथा
अ विभ्रत् कनकं सुवर्णमिति कैराट्य नोत्कीर्त्यते ? ।
का वर्णान्तरवर्णना घवल्लिमा राजैव रूपेषु य-
स्तद्व्योगादपि यावदेति रजत दुर्वर्णतादुर्यशः ॥ १३७ ॥

पीतो वर्जते । हे प्रिये ! म प्रियद्व, अयम् एव, पीन गौरो नाम, वर्णगुण-
वर्णस्वरूप, अतिममुर अतिरमणीय, यथा येन हतुना, च पीतवर्णम्, शिघ्रत्वात् धार-
यत्, कनक हिरण्यम्, के जनै, सुवर्ण शोभन वर्ण यस्य तत् सादृशम्, इति
एव रूपेण, आद्य आद्देयोहित्य, न उक्तोच्यते ? न उच्ये प्रशस्यते ? अपि तु
सर्वत्र उक्तोच्यते इत्यर्थः । तथा तव मन्त्र्या, काये शरीरे अपि, अस्मि इति शेषः,
अत एव अतिममुर इति मन्ये इति भावः । वर्गान्तराणां पीतशुक्लरूपानिर्दिष्टानां
मालाङ्गीनां वर्णानाम्, वर्णना प्रसङ्गः, का ? कीदृशा ? दूरे आस्नामिति भावः । य-
द्यद्यस्मात् शुक्लवस्त्रम्, शुभ्रवस्त्र इत्यर्थः । रूपेषु वर्णेषु, राज्ञा एव उक्तं एव, अस्मिन्
गोत्रात् वर्णेषु प्रथमोऽवस्थितत्वाच्चेति भावः । नस्य घबलिम्न, योगात् सम्बन्धात् अपि,
शुभ्रवर्णधारणादपीत्यर्थः । रजन शोभ्यम्, कर्त्तुं । यावत् साकल्येन, दुर्बर्णतादुर्ब-
दुष्ट निम्बित, वर्ण रूप यस्य तस्य भावः तत्ता, तस्या दुर्बर्ण अकीर्त्तिम्, अपहृ-
ष्टवर्णालङ्घननिन्दामित्यर्थः । दुर्बर्णम् इति नामधेय च । कर्म । 'दुर्बर्णं रजत-
रूपम्' इत्यमरः । एति प्राप्नोति । तथा हि, स्वर्गस्य पीन-प्रादेव लोकाः तु सुवर्ण-
मिति वदन्ति, यतः अमौ हि पीतो वर्णः तव देहं विद्यते, ततश्च पीतो वर्णः वर्णेषु
सुरस्य एव, नीलरक्तादयश्च हीना, यस्तु शुभ्रो वर्णः वर्णेषु प्रथमः कीर्त्तते तद्व्योगा-
दपि रजत दुर्बर्णमिति निन्दाप्राप्नोति, अतः शुभ्रवर्णोऽपि पीतात् हीन एव इति
निष्कर्षः ॥ १३० ॥

वैशेषिकोंके द्वारा गुणदर्शने निर्दिष्ट) को पीला बना है, वही अत्यन्त रमणीय है,
क्योंकि वह तुम्हारे शरीरमें भी है (अथवा—जिम कारण यह पीला वर्ण तुम्हारे शरीरमें
है, अतः एव अत्यन्त रमणीय है । अथवा—वैशेषिकोंके द्वारा गुणदर्शने निर्दिष्ट करनेमें
सर्वप्रथम मुख्यतया निर्दिष्ट तथा वर्णान्तरने अभिव्यक्ति होनेसे अन्धान भी पीला बना हो
अभिव्यक्त रमणीय है) क्योंकि वह तुम्हारे शरीरमें है (बहुत विविधोंके द्वारा गृहीत साधारण
भी वचन हो जाता है, अतः नारीस्तु तुमसे गृहीत होनेके कारण ही अप्रधान को पीले
वर्णका प्रधान होना उचित ही है ।) अथवा—गुण पीला वर्ण ही है और अत्यन्त रमणीय है
(दूसरे सब वर्णों का बोध तथा अनुन्तर है), क्योंकि वह पीला वर्ण तुम्हारे शरीरमें है ।
अथवा—तुम्हारे शरीरमें स्थित अतिममुर (स्वादुतम रस) को मैंने पीला (अथवा सुन्दरनादि
करने मन्य आस्वादन किया, अथवा—पीतवर्णको सादर देखा, इत्यादि प्रकारसे पाले वर्णकी
शुद्धरूपमें स्तुतिवर पुनः प्रकारान्तरसे उभोका समर्थन करते हैं—), जिम (तुम्हारे शरीर-
में स्थित) पीतवर्णको धारण करते हुए चम्पक-पुष्प (अथवा—मोना) को सुवर्ण (सुन्दर
बालाला, पद्मा—मोना) कोन मनुष्य कादरपूर्वक नदी करते हैं ? अर्थात् मन्ना लोक
चम्पक तथा सोनेको सुवर्ण करते हैं । अथवा—(नीला, लाल आदि) दूसरे वर्णोंके वर्णन
करनेको क्या बात है ? (स्वर्ण, नीला, पीला, हरा, कश्मिर और चित्ररूप छ) क्योंने
को देव राजा (प्रधान) है, उनके भी सम्मति समस्त रजत (चाँदी बाहु) दुर्बर्ण (दुष्ट)

वाँवालेका माव) रूपी आश्रय (निन्दा) को पाता (अथच दुर्वर्ग—दुष्ट वर्गवाला कहलाना) है । [अत्र एव तुम्हारे शरीरमें वर्तमान होनसे पीला (हरिद्राके तुल्य गौर) वर्ण ही सर्वोत्तम एव रमणीयतम है, क्योंकि उसका समर्प करनेवाले चम्पा (या—सोने) का आदर के साथ सर्वत्र ग सुवर्ण (सुन्दर वर्गवाला, तथा 'सुवर्ण' नामवाला) कहते हैं और क्योंकि राजा इवेन वर्णके समर्पण चौदौको लोग दुर्वर्ण (बुरे वर्गवाला, अथच—'दुर्वर्ण' नामवाला) कहते हैं, अतः वास्ते इवेन भी तुम्हारी सजानना नहीं कर पाया दूसरे वर्णोंकी चर्चा ही व्यर्थ है] ॥ १३७ ॥

खण्डलोदमृदि स्थले मधुरपय कादम्बिनीतर्पणात्

कृष्टे रोहति क्षोहदेन पयसा पिण्डेन चेत् पुण्ड्रक ।

स द्राक्षाद्रवसेचनैर्याडि फल घत्ते तदा त्वद्दिगारा—

मुद्देशाय ततोऽप्युदेति मधुराधारस्तमप्रत्यय ॥ १३८ ॥

खण्डेति । हे प्रिये । मधुनि चौद्वाणि एव, पयसि जलानि यस्या तादृश्या, कादम्बिन्या मेघमालिकाया, 'कादम्बिनी मेघमाला' इत्यमर । तर्पणात् भाष्याय नात्, तादृशवारिवर्पणेन अभिविज्ञेतादमन्तरमित्यर्थ । कृष्टे हलचालनेन पुनरपि कृन्कर्पणे, वर्पणान्तर कृषीवला पुनरपि चेत्र कर्पन्तीति लोकादृशनादिति भाव । खण्डस्य शर्कराविशेषस्य, क्षोद चूर्णमेव, मृत् मृत्तिका यत्र तादृशे, स्थले शरपक्षेत्रे, पिण्डेन पाकविशपात् पिण्डोन्मूलेन, घनीभूतेनेत्यर्थ, पयसा क्षीरेण एव, 'पयसाम्' इति पाठे—पयसा पिण्डेनेत्यमर । क्षोहदेन वृषादिवृद्धिकेण वस्तुना साधनेन, पुण्ड्रक वृक्षविशेष । 'रमाल इक्षुस्त्वद्देवा पुण्ड्रकान्तरकादय' इत्यमर । रोहति प्रभवति, चेत् यदि, स पुण्ड्रक, द्राक्षाद्रवमेव न मृत्तीकारतत्सक, यदि चेत्, पठ शस्यम्, घत्ते धारयति, तदा तर्हि, ततोऽपि तादृशेषुफलादपि, त्वद्दिगारा भवद्भूषणानाम्, उद्देशाय शर्कराविशेषादय, मधुर मधुर इति शब्द, आधार आश्रय, मृत्तिरिष्यर्थ । यस्य स तादृश, तमप्रत्यय मधुरतम इत्यर्थ । उदेति उत्पद्यते । सभाष्यमानतादृशेषुफलादपि मधुरतमा तव वाणी इति भाव ॥ १३८ ॥

(अत्र नव दशको (११।१३८—१४५) से नव दमवन्त्रोंके वचनमाधुर्यका वर्णन करते हैं—हे प्रिये ।) अमृत (या—महद) रूपी जलवाले मेघ—समूहमें सींचनेके कारण दुबारा जोने (क्षोभारे) गये, चीनी (शर्करा चूर्ण) रूपी मिट्टीवाले खेतमें दूधके पिण्ड (छाये) के आससे पीठा (उत्तमजातीय मोटा) गन्ना अद्भुत हो तथा बादमें दासके रसोंमें बार-बार सींचनेपर यदि फन्को धारण करे अर्थात् फले तो तुम्हारे वचनोंके उद्देश (समानता) के लिए उसके 'मधुर' शब्दसे 'तमप्' प्रत्यय हो अर्थात् वैम शब्दके फन्में तुम्हारा वचन मधुरतम (अतिशय मधुर) कहलावे [अन्वया मामान्य मधुर पदार्थोंकी अपेक्षा तुम्हारे वचनको मधुरतम कहना अतिशय भेद होनेमें अमहत है, अत्र एव उत्तरूप

गन्नेको उत्पन्न होना और उसमें जो फल लगना सर्वथा असम्भव होनेसे तुम्हारा वचन नि हीन मनुष्य है, यही कहना पड़ेगा] ॥ १३८ ॥

उन्मीलदूग्धपाकतन्तुलतया रज्ज्वा भ्रमोरज्जैयन्

दानान्त श्रुतशर्कराचलमथ स्वेनामृतान्धा स्मर ।

नव्यामिधुरसोदघैर्यदि सुजामुत्थापयेत् सा भव-

जिह्वाया कृतिमाह्वयेत् परमा मत्कर्णयो पारणाम् ॥ १३९ ॥

उन्मीलदिति । हे प्रियतमे ! अमृत पीयूषमेव, अन्ध अथ यस्य सा तादृश, अत एव अमृतभोजिन देवस्य स्मरस्य सद्युत्थापनाया अतीवावश्यकता इति भावः । स्मर कन्दर्प, स्वेन आत्मनेव, स्वयमेवैष्यर्थ, न पुनरन्यसाहाय्येन, तथा सति न सर्वथा ह्योत्पादकता स्यादिति भावः । उन्मीलन्ती, प्रकाशयन्ती, जायमाना इत्यर्थः । गुडस्य स्वनामरपातस्य इधुरसत्रिचरस्य, पाकात् अग्निसंयोगेन घट्यमात्, या तन्तुलता सूत्राकारता, सूत्रवद्विष्टिघ्नसंयोग इत्यर्थः । यद्वा-तन्तुलता तन्तव इव तन्तव गुडनिर्गतदोरका, त एव लता तथा तद्रूपया, रज्ज्वा रश्मिना साधनेन, दानान्त गुलापुरुषादिमहादानानां मध्ये, श्रुत शास्त्रे भाष्यगित, या शर्कराचल सितापर्वत, दानार्थ पर्वताकारतया स्थापितशर्कराराशिरित्यर्थः । स एव मया मन्थनदण्ड तस्य, 'मस्य टेडोप' इति टिडोप । भ्रमी भ्रामणानि, धूर्गनामीत्यर्थः । भ्रजयन् सम्पादयन्, आकर्षणेन लब्ध्वन् सन् इत्यर्थः । इधुरसस्य उदधे इधुरससमुद्रात्, नव्याम् अभिनवाम्, देवासुरोत्थापितसुधातोमिध्वरूपामित्यर्थः । सुजाम् अमृतम्, यदि चेत्, उत्थापयेत् उचोळयेत्, तदा मा सुधा । कर्त्री । मत्कर्णयो मम श्रवणयो, परमाम् उत्कृष्टाम्, पारणा पारणावत् अद्वितीयवृत्तिहेतुम्, भवजिह्वाया तव रसनाया । सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पूर्वपक्षस्य पुनर्भावः । कृति कार्यम्, गिरम् इत्यर्थः । आह्वयेत् स्पन्दया आकारयेत्, प्रतिमटी-कुर्यात् इत्यर्थः । 'स्पन्दायामाड' इति छेज तद् । मधुरद्रव्यमाश्रित हि द्रव्य परममधुरमेव भवति, एवञ्च प्रोक्तरूपेणैवेत्यापिता सुधा तव वाच सादृश्य लब्धुम-इति न पुनरन्य कश्चित् पदार्थ इति भावः ॥ १३९ ॥

प्रकाशमान गुडशकके तन्तुलतास्त्री रस्मीने दानके प्रकरणे सुने गये शर्कराचल (शर्करा पहाड अर्थात् पर्वताकार शर्करा राशि) रूप मयना (रई) को घुमाता हुआ अनृतमोक्षी कामदेव यदि स्वयं गन्नेको रसके समुद्रमे नवान (देवोंके द्वारा मन्दराचलको मन्थन दण्ड तथा दीपका रस्ती बनाकर शीरसागरमे निकाले गये अनृतमे मित्र) अनृतको निकाले तो वह (नया निकाला हुआ अनृत) हमारे कर्णद्रव्यको पारणारूप, तुम्हारा जिह्वाका इति अर्थात् वाणीके साथ स्पर्श (कुछ ममानता) कर सकता है । [मधुर साधनोंमे उत्पन्न अत्यन्त मधुर वह नया अनृत ही तुम्हारे वचनकी समानता कर सकता है, अन्य कोई पदार्थ नहीं] ॥ १३९ ॥

स्थित्वा इति शेष । असौ त्वद्वाणी, रसिके अतिमधुरे, रसालाङ्कुरास्वादेन इति भाव । अथ च समापि ईदृशी वाणी भवतु एव सामिलापे, कण्ठे गलदेशे, कण्ठध्वनौ इत्यर्थ । कर्तुं विधातुम्, कण्ठस्था कर्तुंमित्यर्थ । आग्नेहितेन द्वित्रिधारमुक्तेन, पुन पुनर्घोषणेन इत्यर्थ । 'आग्नेहित द्विस्त्रिरकम्' इत्यमर । कति कियत् वारान्, न अभ्यस्यते ? न शिच्यते ? अपि तु बहुवारम् अभ्यस्यते एव, तथाऽपि अद्यापि तासां भवद्वाणी सम्यक् न आयाति इति ज्ञायते इति भाव । कोकिलालापात् अपि त्वद्वाणी मधुरतमा इति निष्कर्ष । गुरुगृहे ब्रह्मचर्यावलम्बनपूर्वकं विद्याभ्यासस्य शास्त्रीयत्वात् परमृतपदम्, तथा पुमपेक्षया स्त्रीणां विशेषतः तरुणीनां कण्ठस्वर मधुरम् इति सूचनार्थं युवतीपदं प्रयुक्तमिति बोध्यम् ॥ १४२ ॥

हे तरुणि (दमयन्ति) ! पिकयुवतियोंको भी अमृत-समुद्रकी प्रवाहरूपी तुम्हारी वाणीको अच्छी तरह गाने नहीं आता है, मगर एव वे तुम्हारे क्रीडावनके आनन्दरूपर (बैठकर) रसिक (हमारी वाणी भी दमयन्तीके समान हो जाय इस प्रकारके अभिलाषयुक्त, पक्षा०—आनन्दरूपी तथा आनन्दमलयके आस्वादनमें कषावरसयुक्त) कण्ठमें करनेके लिए बार-बार कहनेसे किन्ती बार अभ्यास नहीं करती हैं, अर्थात् बहुत बार अभ्यास करती हैं । [आज तक भी तुम्हारी वाणीको यथावत् पिकयुवतियाँ अभ्यासकर नहीं गा सकीं, अत एव तुम्हारी वाणी अत्यन्त मधुर है । पुरुषकी अपेक्षा स्त्रियोंका, उनमें भी युवतियोंका और उनमें भी पिकयुवतियोंके स्वरको अत्यन्त मधुर स्वर होनेसे यहाँ 'पिकयुवतियों'को दमयन्ती-वाणीका अभ्यास करना कहा गया है । अन्य भी कोई व्यक्ति वनमें गुरुके आश्रममें रहते हुए निश्काशनपूर्वकं विद्याभ्यास करता है] ॥ १४२ ॥

ऊर्ध्वस्ते रदनच्छद स्मरधनुर्बन्धूकमालामयं

मौर्वी तत्र तवाधराधरतटाध सीमलेखालता ।

एषा वागपि तावकी ननु धनुर्वेदं प्रिये ! मान्मथ

सोऽयं कोणधनुष्मतीभिरुचित वीणाभिरारभ्यते ॥ १४३ ॥

ऊर्ध्व इति । हे प्रिये ! ते तव, ऊर्ध्व उपरिस्थित, रदनच्छद ओष्ठ दत्तरोष्ठ एवेत्यर्थ । वन्धूकमलामयं बन्धुजीवपुष्पमालारमकम्, स्मरधनु कामकामुकम्, ईषद्वाकाकारत्वादिति भाव । तथा तत्र कामचापे, तव भवत्या, अधराधरतटस्य निम्नोष्ठदेशस्य, अध सीमाया निम्नस्थमर्षादायाम्, प्रान्तदेशे इत्यर्थ । या लेखा लता वीरदाकाररेखाविशेष इत्यर्थ । दैर्घ्यादिति भाव । सा एव मौर्वी ज्या, एषा श्रूयमाणा, तावकी तव सम्बन्धिनी, वाक् वाणी अपि, ननु निश्चये । मान्मथ कामसम्बन्धी, कामाद्वैतप्रतिपादक इत्यर्थ, धनुर्वेद, स विशिष्ट, अथ त्वद्वाणी-रूप मान्मथधनुर्वेद, कोणधनुष्मतीभि वीणावादनसाधनधनुयुक्ताभिः । 'कोणो

वीणादिवादनम्' इत्यमर । वीणाभि वल्लभीभि, आरम्भते अभ्यस्यते, इति उचित युक्तम्, परम् अद्यापि न आयाति इति भावः । त्वद्वागी वीणाकृगिताम् अपि मधुर-
तमा इति निष्कर्षः । 'अनुर्दक्ष चतुर्धरे' एव अभ्यस्यते इति एतत् उचित, परन्तु
यत् स्वन एव न आयाति तदागमनार्थम् अभ्यास उचिन एव इति तात्पर्यम् ॥

हे प्रिये ! तुम्हारा ऊरवी ओष्ठ वधूको (दुग्धरियाके लूनी) की मालासे बनाया गया
कानदेवका धनुष है, वध (कामधनुष) पर तुम्हारे निचले ओष्ठकी वध-मोमारेखा लड़ा
कोरी (धनुषको नाभ) है, यह तुम्हारी बागी मानो कामदेव सम्बन्धी धनुर्वेद है, वल्ल
(अग्निप्रसिद्ध) हम (कामदेव-मन्त्रधो धनुर्वेद) को कोर (बागी बमनेका धनुषाकार
वक्र काष्ठ-विशेष) रूप धनुषको धारणकी हुई बागीएँ आरम्भ (पाठा०—अभ्यास) कर
रही हैं, यह उचित है । (परन्तु तुम्हारा बागीको वे बागीएँ भवतक नहीं मील सकीं)
[धनुष धारण करनेवाले हो धनुर्वेदको साखते हैं, और जो स्वयं नहीं आया वसका आरम्भ
(पाठा०—अभ्यास) करना उचित हो है । तुम्हारी बागी बागीभौसे मी आरम्भिक
मधुर है] ॥ १४१ ॥

स ग्राम्यः स त्रिदशसमदि मदा गच्छत्यपाङ्क्तेयतां

तश्च स्मृदुमपि स्मरस्य विशिषा मुग्धे ! त्रिगानोन्मुखाः ।

यः किं मञ्चति नाधर तत्र कथं हेमेति न त्वद्वपुः

कीदृङ्नाम मुचेति पृच्छति न ते दत्ते गिर चोत्तरम् ॥ १४४ ॥

स इति । मुग्धे ! हे सुन्दरि ! य पुरुष, मधु चौद्रम्, मधवा, किम् ? कीदृ-
शम् ? इति प्रथम, पृच्छति प्रश्न कुत्राणि जने विषये, तव से, अधरम् निम्नोष्ठम्
एव, उत्तर मधु इति प्रतिवचनम्, न दत्ते न विद्वाति, स ग्राम्य पामर, अधरम्,
इत्यर्थः । न तु तव नगरनिवासयोग्य इति भावः । 'ग्रामात् यन्त्रजौ' इति भवार्थे
यः । तथा हेम कनकम्, कथम् ? किं प्रकारकम् ? इति पृच्छति जने यः त्वद्वपुः
तव शरीरम्, इति उत्तर न दत्ते, स जन, विद्वज्जाना चतुराणाम्, सप्तदि समा-
याम्, मदा सर्वकालम्, अपाङ्क्तेयता पङ्क्तिवर्द्धिर्भूत-वम्, याति गच्छति, तेषां
पङ्क्ति न उपवेष्टुमर्हति अधनुरत्वात् इति भावः । पाङ्क्तेय- इति मद्यादिवात् दक् ।
तथा मुधा नाम पीयूषाख्य द्रव्यम्, कीदृक् ? कीदृशम् ? इति पृच्छति जने, यत्र ते
नव, गिर वाचम्, इति उत्तर न दत्ते, स्मरस्य कामस्य, विशिषा घागा, तश्च
पुरम्, स्मृदुम् अपि स्वर्शं कर्तुमपि, त्रिगानोन्मुखा- विरदभाषणप्रवृत्ता, 'नीरस'
अयम्' इति घृणया त स्मृदुमपि न कृतोद्यमा इत्यर्थः । त्वद्वागी मुघाया अपि
मधुरतमा इति भावः । अत्रगदिवर्गन तु ग्राम्यिकम् ॥ १४४ ॥

जो पुरुष 'मधु' (शुद्ध, वा-मध) कैसा होता है ? यह प्रश्न करनेपर 'तुम्हारा अधर
(मधु) है' ऐसा उत्तर नहीं देता है, वह पुनः ग्राम्य (देशी) है अर्थात् नगरनिवासी

सम्ब नही है, जो पुरुष 'सोना कैसा है !' यह प्रश्न करनेपर 'तुम्हारा शरीर (सोना) है' ऐसा उत्तर नहीं देता है, वह सदा चतुरोंकी समामें पड़िये बाहर बैठने योग्य अर्थात् अचतुर है और जो पुरुष 'अमृत कैसा होना है ?' यह प्रश्न करनेपर 'तुम्हारी वाणी (हो अमृत) है' ऐसा उत्तर नहीं देता है, उसको निन्दा करने (या-विषयों में भाषण करने) के लिए उन्मुख कामवाण स्पर्श करना भी नहीं चाहने अर्थात् 'वह अत्यन्त नीरस है' ।
[तुम्हारी वाणी अमृतरूप ही है यहा अक्षरदिका बगन तो गौण है] ॥ १४४ ॥

मध्ये बद्धाणिमा यत् सगरिममहिमश्रोणिबक्षोजयुग्मा

जाप्रच्येतोवशित्वा स्मितवृत्तलघिमा मा प्रतीशित्वमेपि ।

सूक्तौ प्राकान्यरम्या दिशि विदिशि यशोलब्धकामावसाया

भूतीरष्टावपीशस्तद्वदित मुदित स्वस्य शिन्पाय तुभ्यम् ॥ १४५ ॥

मध्य इति । हे प्रिये ! त्वं यत् यस्मात् हेतो , मध्ये उदरप्रदेशे, बद्ध एत ,
अणिमा सौख्यमतिशयो यया सा तादृशी कृतोदरी । तथा गरिममहिमया गुह्य
महाराम्या सह वर्त्तमानम् , श्रोणि नितम्ब , बक्षोजयुग्म स्तनयुगलञ्च यस्या सा
तादृशी गुह्यलुनितम्बा पीभोद्यतकुचा च । तथा जाप्रत् स्फुरत् , उद्बुध्यमान-
मित्यर्थं । चेनसि मनसि, वक्ष इन्द्रियाणां स्वाधीनत्वम् , तदस्यास्तीति वशी
तद्भावे वशित्व जितेन्द्रियता यस्या सा तादृशी पतिव्रता । तथा स्मिते ईप्सदा
स्पर्शपि, एत आश्रित , लघिमा अह्वय यया सा तादृशी अक्षरहासेत्यर्थं । अणि
मादौ गुणवचनत्वादिमनिष् । तथा मा नलम् , प्रति उद्दिश्य, ईशानमीश ऐश्वर्यम्,
तदस्यास्तीति ऐशी तद्भाव ईशित्व स्वामिताम् , एपि गच्छति, मम प्राणामामीश्वरी
भवसीत्यर्थं । तथा सूक्तौ वचनचातुर्यविषये, प्राकाशेण प्रकारबाहुल्येन, रम्या रम
णीया, वक्रोक्तादिनानाप्रकारा वाणीं वक्तु त्वमेव जानासि मान्या इति भाव ।
तथा दिशि प्राच्यादौ, विदिशि आग्नेयादौ च, वक्षसः सौन्दर्यादिविषयककीर्त्ते,
यद्यसौ वा कृत्वा, एव प्राप्त . काम यथेष्ट यथा तथा, अवस्ताय अप्रतिहतप्रसरा
गतियंया सा तादृशी ग्रैलोभयप्रसरकीर्त्ति, असीति शेष । तत् तस्मात् कारणात्,
मुदितो हृष्ट , त्वा निर्माय मौन्दर्यादिना परितुष्ट इत्यर्थं । ईश , ईश्वर , अष्टावपि
अष्टसङ्ख्यका अपि, भूती ऐश्वर्याणि, स्वकीया अणिमादौ महासिद्धीरित्यर्थं ।
स्वस्य आत्मन , शिष्याय करणे, तुभ्य भवत्ये, त्वद्भाष्य निजनिर्माणाय इत्यर्थः ।
अदित प्रायच्छत् । यथा सन्तुष्टो हि पित्रादि अपत्यादिभ्य स्वकीयमैश्वर्यादिक
प्रददाति, तथैश्वरेण सन्तुष्टेन स्वकीयम् 'अणिमा महिमा गरिमा लघिमा वक्षित्वमी
शित्व प्राकान्य कामावसायिता च' इत्येवमष्टविधमैश्वर्यं तुभ्य दत्तम् , अन्यथा एतत्
मर्षं त्वयि कथं स्यादिति भाव । अत्र वाणीवर्णनम् एव प्रस्तुत मध्यादिवर्णनं
प्रासङ्गिकम् ॥ १४५ ॥

(हे प्रिये दमयन्ति !) जिस कारणने तुम कटिमाघने अणिमा (अमन्त वृद्धता, पञ्चा०—‘अणिमा’ नामकी सिद्धि) वाली हो, गरिमा तथा महिमा (गुरुता = भारोपन तथा विशालता, पञ्चा०—‘गरिमा तथा महिमा’ नामकी दो सिद्धियों) से युक्त दोनों निजम्ब तथा दोनों स्तनोंवाली हो अर्थात् तुम्हारे दोनों निजम्ब भारी एवं बड़े हैं तथा स्तनद्वय पीन तथा लज्जित है, चित्तमें जागरूक (चिन्तित उत्पन्न) वदित्व (पञ्चा०—‘वदित्व’ नामकी सिद्धि) वाली हो अर्थात् सर्वज्ञ चित्तको वशमें रखती (विजिह्विता, या—पतिव्रता) हो, सुस्नानमें लविमा (लाजवत्ता, पञ्चा०—‘लविमा’ नामकी सिद्धि) धारण करने वाली अर्थात् योद्धा सुस्नात्री हो, मेरे (नल) के प्रति इक्षित्व (स्वानिधित्व, पञ्चा०—‘इक्षित्व’ नामकी सिद्धि) प्राप्त करती हो अर्थात् मेरी प्राप्तिस्वरूपी हो, मूर्च्छिमें प्राकान्य (अस्वविक्रम पञ्चा०—‘प्राकान्य’ नामकी सिद्धि) से रमणीय हो अर्थात् उत्पन्न, वक्रोक्ति, माधुर्यादि युक्त भाषण करनेमें रमणीय हो, और (पूर्वादि चारों) दिशाओं तथा (आग्नेयादि चारों) विदिशाओंमें यश (सौन्दर्यादि प्रसिद्धि) से इच्छातुल्य अन्वयप्रसर गति (पञ्चा०—‘कामावभाव’ नामकी सिद्धि) को प्राप्त करती हो, इन कारणसे तुम्हारी रचना करके हर्षयुक्त इक्षरने अपनी शिल्पिभूत तुम्हारे लिये आठों भूतियों (सिद्धियों) को दे दिया है । [शौकने भी कोई व्यक्ति जिस प्रकार मनुष्यको वस्त्र कर उसके लिए अपने सम्पूर्ण ऐश्वर्यको दे देता है वैसे ईश्वर (तुम्हारे रचयिता शिवजी, पञ्चा०—‘ऐश्वर्यवान् पिता’) ने भी वस्तुशोभावाली सर्वश्रेष्ठ (तुम्हारे लिये अपनी आठों विभूतियोंको दे दिया है, इसीसे तुमने वे बनमान हैं । प्रकृतने तुम्हारी वाणी पर्याप्त रमणीय है, यह प्रकरणका विषय है, अन्य वर्ण प्राप्तकृत हैं] ॥ १४५ ॥

त्वद्वाच स्तुतये वय न पटव पीयूषमेज स्तुम-
मनस्यार्थे गरुडामरेन्द्रममरः स्थाने म जानेऽजनि ।

द्राक्षापानकमानमर्दनसृजा क्षीरे दृढावजया

यस्मिन्नाम धृतोऽनया निजपदप्रक्षालनानुग्रहः ॥ १४६ ॥

त्वद्विज्ञिति । हे प्रिये ! वयं नलादयः, त्वद्वाच तव सुमधुरवाण्या, स्तुतये प्रशंसायै, न पटव न ममर्या, तस्मात् पीयूषम् अमृतमेव, स्तुम प्रशंसा कुर्मः, तस्य पीयूषस्य, अर्थे निमित्तम्, म पुराणादिप्रसिद्ध, गरुडस्य वैनतेयस्य, अमरेन्द्रस्य देवेन्द्रस्य च, समर युद्धम्, अजनि जात, तत् स्थाने युक्तम्, जाने इत्यहं मन्ये । द्राक्षापानकस्य पञ्चद्राक्षासम्बन्धिन सहस्रपानीयविशेषस्य, मानोऽ-
क्षर, माधुर्यादिशयरूप इति भावः । तस्य मर्दन खण्डनम्, सृजति विदधातीति तादृशया, तथा क्षीरे दुग्धे विषये, दृढा निश्चला, अन्येन त्याज्यमित्युक्तं अशक्या इत्यर्थः । अजना अनादर यस्या तादृशया, अनया तव वाण्या, यस्मिन्नमृते, निजपदयोः स्वदरजो, प्रक्षालनेनैव शोधनेनैव, अनुग्रह प्रसाद, एत कृत,

नाम सम्भावनायाम्, इति सम्भावयामीत्यर्थः । अथ च यस्मिन् पीयूषे भवद्वाक्यं भूतया वाण्या, स्वीयसुतिष्ठन्तरूपाणां पदानां प्रचालनात् अनु पश्चात्, ग्रहणं ग्रहः, कृतोऽस्त्येव, अमृतचालिततयैव निर्दोषं मधुरञ्च वदसीत्यर्थः । द्राघापानकधीर-पीयूषादपि त्वद्वाणी मधुरतमा इति भावः । प्रमोर्धस्मिन्ननुग्रहातिशयः स एव प्रमो-चरणचालनादिकं यथा करोति तद्वत् इति बोध्यम् ॥ १३६ ॥

(हे प्रिये !) तुम्हारी वाणीकी स्तुतिके लिए हम लोग (मैं = नल तथा अन्यान्य जनता) चतुर (समर्थ) नहीं है, अतः एव अमृतकी स्तुति करते हैं (जिस प्रकार किसी बहुत बड़े व्यक्ति के पास नहीं पहुँच सकनेवाला मनुष्य उससे छोटे के पास जाकर ही सन्तोष कर लेता है, उसी प्रकार तुम्हारी उत्कृष्टतया वाणीकी स्तुति करनेमें असमर्थ हमलोग अमृतकी स्तुतिसे ही सन्तोष करते हैं), उस अमृतके लिए गरुड तथा इन्द्रमें युद्ध हुआ था, उसे मैं उचित मानता हूँ, क्योंकि दासके पना (पेय द्रव्य विशेष, दा—शर्दन) का मानमर्दन करनेवाला तथा गन्नेके विषयमें स्थिरतम निन्दावाली (दासके पने तथा गन्नेसे बहुत ही उत्तम) यह तुम्हारी वाणी जिस (अमृत) में अपने पदों (सुप्-तिष्ठन्त रूपपदों, पक्षा०—चरणों) को धोनेके बाद ग्रहण (पक्षा०—धोनेका अनुग्रह) किया है [अमृतमें भी अपने सुप्-तिष्ठन्तरूप पदोंको धोकर जो तुम्हारी वाणी वर्णचरित होती है, उसके नापुर्णके विषयमें क्या कहना है पक्षा०—जिस वाणीने अमृतमें अपने पैरोंको धोनेकी कृपा की है, उसके समान अमृत मला कैसे हो सकता है ? और दास तथा गन्नेके विषयमें तो कुछ कहना ही निरर्थक है, क्योंकि तुम्हारी वाणीने दासके पनेका मान-मर्दन तथा गन्नेको अत्यन्त अवज्ञान कर दिया है] ॥ १४६ ॥

शोकश्चेत् कोकयोस्त्वा सुदति । तुदति तद्व्याहराज्ञाकरस्ते

गत्वा कुल्यामनस्तं व्रजितुमनुनये भानुमेतज्जलस्थम् ।

बद्धे यथाञ्जलावप्यनुनयविमुखं स्यान्मयैकग्रहोऽयं

दत्त्वैवाभ्या तदम्भोऽञ्जलिमिह भवती पश्य मामेव्यमाणम् ॥ १४७ ॥

शोक इति । सुदति । हे शोभनदम्भे दमयन्ति । कोकयो चक्रवाकयो, शोक-विरहजनितशुक्, त्वा भवतीम्, तुदति पीडयति, चेत् यदि, तत् तदा, व्याहर-ग्रहि, ते तव, आज्ञाकर आदेशपालक, अहमिति शेषः । वुर्या सुदृष्टिमसरितम्, गत्वा प्राप्य, एतस्या कुल्याया, जलस्थ जले प्रतिबिम्बितम्, भानु सूर्यम्, अनस्तम् अस्तगमनाभावम्, व्रजितु प्राप्तम्, अस्ताचलगमनाभिप्राय परित्यक्तुमि-त्यर्थः । अनुनये विनयेन चम्यर्थये, स्वयि अस्तमिते कोकयोर्न्योऽन्य वियोग अव-श्यभावी, अतो नारत व्रज इति सविनयं प्रार्थये इत्यर्थः । यदि चेत्, मया नलेन, अञ्जली करद्वयसयोगे, बद्धे कृतोऽपि, एक एकमात्र, ग्रह अभिनिवेश यस्य स सादृश एकग्रह एकमात्रविषये दृढनिश्चयपर, निजनिर्वन्धपरित्यागीत्यर्थः । चन्द्रा-

दिपु मुख्यग्रहश्च । 'निर्वन्धोपरागाकादयो ग्रहा' इत्यमर । अयं भानु, अनुनय-
विमुक्त विनीतप्रार्थनायामपि पराङ्मुखः, स्यात् भवेत्, एकग्रहत्वात् मम प्रार्थ-
नामगणयित्वा यदि अस्ममेव व्रजेदित्यर्थः । तत् तर्हि, इह अस्मिन् सायंकाले,
अम्भम्, जलस्य, अञ्जलिं गण्धपम्, आभ्या कोकाम्यामेव, दत्त्वा प्रदाय, अनुनया-
ग्राहिणे सूर्याय न दत्त्वा कोकाम्यामेव चिन्ता इत्यर्थः । भवतीं त्वा प्रति, एष्यमाणं
पुनः प्रत्यागमिष्यन्तम् । ईदृशतावित्यस्य लुट् ज्ञानचि रूपम् । मा नलम्, परस्य
अवलोक्य । सायसम्प्योपासनानिमित्तं मग्नया बहिर्गमनाभ्यनुज्ञा याचितवान् इति
भावः ॥ १४७ ॥

हे सुदति ! यदि चक्रवा-चकर्क (माँ बिरहसे उरग्न) शोक तुम्हें पीड़ित करता
है, तो करो, तुम्हारा आधाकारो मैं कोठानदी (नहर) को जाकर इसके अलमें स्थित
(प्रतिबिम्बित) सूर्यको अस्त नहीं होनेके लिए प्रार्थना करू (कि आपके अस्त होनेसे
चक्रवा-चकर्कको बिरहजन्य दुःख होगा और उसमे मेरी प्रिया दमयन्ती भी दुःखित होगी,
अन एव आप अस्त न होवें, या पुनः उदयाचलकी ओर लौट चलें), और यदि मेरे हाथ
झोटे पर भी एक ग्रह (अत्यन्त आग्रही-महाइटी, पक्षा०—मुख्य चन्द्रादि नवग्रहोंमें
प्रधान के सूर्य) मेरी प्रार्थनाके विमुक्त होते हैं अर्थात् महाइटी होनेसे मेरी प्रार्थना पर
ध्यान नहीं देकर यदि अस्त ही होते हैं तो उस (सूर्यके लिए दी जानेवाली) जला-
जलिको इन दोनों (चक्रवा-चकर्क) के लिए ही देकर तुम्हारे पास आनेवाले मुझे तुम
देखो । [इस व्याजसे नल सध्यापासनके लिए जानेकी अनुमति दमयन्तीसे मांगते हैं ।
'सुदति' कहनेसे जब तुम बोलोगी, तब तुम्हारे सुन्दर दाँतोंको देखनेसे मुझे अतिशय हर्ष
होगा, यह भी नलने सूचित किया है] ॥ १४७ ॥

तदानन्दाय स्वपरिहसितकन्दाय भवती

निजालीना लीना स्थितिमिह मुहूर्त्तं मृगयताम् ।

इति व्याजान कृत्वाऽऽलिपु वलितचिन्ता सहचरी

स्वयं सोऽयं सायन्तनविधिविधित्सुर्बहिरभूत् ॥ १४८ ॥

तदिति । हे दमयन्ति ! तत् तस्मात्, तथा सूर्यानुनयस्य प्रयोजनीयत्वादि-
स्थ । भवती त्वम्, स्वपरिहसित तव परिहास एव, कन्दः मूल परस्य तादृशाप,
आनन्दाय प्रीत्यै, परिहासानन्दं कर्तुं मित्यर्थः । इह प्रासादे एव, निजानाम् आत्मी-
यानाम्, आलीना सखीनाम्, लीना छिन्न गूढाम्, स्थितिम् अवरयानम्,
मुहूर्त्तं कञ्चित् कालम्, मृगयताम् अन्विष्यतु, इति एवम्, व्याजात् दृष्टात्, सह-
चरी दमयन्तीम्, आलिपु विषये, वलितचिन्ताम् आसक्तमनस्काम्, कृत्वा विधाय,
स अयं नलः, स्वयम् आत्मना, सायन्तन विधि सायसध्याग्निहोत्रादिकृत्यम्,
विधिं सु विधातुमिच्छुः सन्, बहिः तस्मात् प्रासादात् निर्गतः, अभूत् ॥ १४८ ॥

‘इम (सूर्यको प्रार्थना किये जानेके) कारणसे तुम्हारे परिहासके मूक (अथवा—
तुम्हारे परिहासके मूल उन (सखियों) के) आनन्दके लिए तुम यहीं पर छिपी हुई
अपनी सखियोंको मुहूर्ततक मोजो’ इस प्रकार स्वात्र (छल) से दमयन्तीको अपनी
सखियोंके विषयमें आसक्त (या—चञ्चल) चित्तवाली करके सावङ्गालकी विधि (सन्ध्यो
पासनादि कर्म) करनेके इच्छुक नल (प्राणादमे) बाहर हो गये ॥ १४८ ॥

श्रीहर्ष कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर सुत
श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामल्लदेरो च यम् ।
तस्यागादयमेकविंशगणन काव्येऽतिनव्ये कृतौ
भैमीभर्तृ चरित्रघर्षणनमये मर्गो निसर्गोज्ज्वल ॥ १४९ ॥

श्रीहर्षमिति । भैमीभर्तुं नलस्य, पत् चरित्र शीलम्, तद्गर्णनमये तादृशना-
रमके, काव्ये तस्ये नूतने, भद्र अस्मिन्, श्रीहर्षस्य कृतौ, एकविंशति गणना यस्य
स तादृश भय सर्ग भगात् समाप्ति गत । गतमन्यत् ॥ १४९ ॥

इति मल्लिनाथकृते ‘जीवातु’ समाप्त्यान् एकविंश सर्ग समाप्त ॥ २१ ॥



कवीश्वर-समूहके किया, उसके, दमयन्ती-पति (नल) के प्रचुर चरित्रवाले
अत्यन्त नवीन रचनावाले काव्य (‘नैषधचरित’ नामक महाकाव्य) में स्वभावतः यह
इकोसवा सर्ग समाप्त हुआ । (शेष व्याख्या चतुर्थमर्गवत् समझनी चाहिये) ॥ १४९ ॥

यह ‘मणिप्रभा’ टीकामें ‘नैषधचरित’ का इकोसवा सर्ग समाप्त हुआ ॥ २१ ॥



द्वाविंशः सर्गः ।

इदानीं पूर्वमर्गान्तरप्रस्तावित सायकाल वार्णियन् कविद्विंशः सर्गमुत्क्रमते—

उवास्य माष्य विविमन्तिमाशारानेप कन्ताधरचुन्दिचेताः ।

अवानवान् सन्नमभूमिभागे भैमीवर भावमसौ घरेन्द्रः ॥ १ ॥

उपास्येति । असौ घरेन्द्रो नटः सायक्यान्तन्त्रवेनान्तिनाशायाः प्रन्याया आशाया दिशो रागेण रक्तवर्णं हेतुना कान्ताया अधरचुन्दि अधरोष्ठम्भारि केचो यस्य तादृश सन्ध्यारागमदशभैम्यधरस्मारी मन् तद्विरहाम्बुधुनया बहिरवन्त्यानु मन्नाको यत्र मा विद्यते न सततं भूमिभागे कदापि स्थितं भैम्या धरं पर्वतवत् प्रोक्तं इत्थं प्रामादस्य सतमीमुपकारिकामवातवाद् । किं कृत्वा ? सार्व सन्ध्यामंबन्धितं सन्ध्यात्रपादिविबिनुपास्य कृत्वा ॥ १ ॥

इमं रागा (नट) ने सन्ध्याकण्ठिक विविक्तो पूर्वोत्तर परिवर्तन विशाकी कान्तिनासे प्रिया (दमयन्ती) के अधरका स्मरण करने हुए, दमयन्ती के प्राक्वक्ते सार्व तत् (सनन्दा) को प्राप्त किया ॥ १ ॥

प्रत्युद्ग्रजन्त्या प्रियया विमुक्त पर्यङ्गमङ्गस्थितसञ्चरस्यम् ।

अध्यास्य तामन्यविवास्य मोऽयं मन्थामुपरलोकयति स्म सायम् ॥ २ ॥

प्रतीति । मोऽयं नटः सायकालमन्त्रिणी सन्ध्या रात्रिविनामन्त्रिणीं लुप्तं भैम्या पुर उपरलोकयति स्म रक्तं कैः स्मृति स्म । किं कृत्वा ? प्रत्युद्ग्रजन्त्या मन्नुवमागच्छन्त्या प्रियया विमुक्तम् । अङ्गे नये ग्यता सञ्च आम्बुना शन्या लुप्तिका यत्र त पर्यङ्गमन्त्रास्य स्वदनविद्यान ता मैर्नामन्यविवास्य तत्रोपवेश्य । पर्यङ्गम्, 'अग्निशब्दः' इति कर्मत्वम् । अग्निवत्, ज्यम्बाभूतगौरवम् । तस्य शब्दन्तरत्वाद् 'वयान्वध्याङ्गस' इति कर्मवाच्यतेस्तान्विवास्तेष्वत्र सामर्थ्यात्तत्रैवेति ज्ञेयम् । उपरलोकयति, 'मन्थामुपरलोकयति' इति शिच् । स्मरणे मूले लट् ॥ २ ॥

ये (नट) अगवनी करनी हुई प्रिया (दमयन्ती) ने छोड़े गये तथा गदा विद्याये हुए पल्लवपर स्वयं बैठकर और उस (दमयन्ती) को भी बैठकर सायकालको सन्ध्याया वर्णन इत्यादि द्वारा करने लगे ॥ २ ॥

विलोकनेनानुगृहाप तावदिशं जलानामधिपस्य दाराम् ।

अकालि लाक्षापयमेव येयनपूरि पङ्कैरिव कुङ्कुमस्य ॥ ३ ॥

विद्योक्तेनेति । हे प्रिये ! त्वं जलानामधिपस्य दाराम् नार्थां पश्चिनां दिशं विलोकनेनानुगृहाप कृतार्थोक्तम्, तावदादौ विद्योक्तेनानुगृहाप, वार्णिया तु पश्चादियर्थः । यावच्चन्द्रोदयादिव प्राच्या रान्तीयकं भवति तावत्सन्ध्यारागेण कृत-रान्तीयकां पश्चिनां दिशं विलोक्येति वा 'तावत्'शब्दार्थः । जडाधिपस्य च नानां

दुःखिता विलोकनादिनाऽनुग्रहीतुमर्हां भवतीत्युक्ति । येथ पश्चिमा दिक् लाघापयस-
लक्षकरसेन कृत्वा केनाप्यच्छालीव छालितेव । तथा-कुङ्कुमस्य पङ्क्तौ कृत्वा केनाप्यपू-
रीव पूरितेव । एवविधा रक्ता दृश्यते, यतस्तस्माद्रमणीयामेता विलोकयेत्यर्थ ॥ ३ ॥

‘ हे प्रिये ।) जलाधिप (वरुण) की स्त्रीरूपिणी दिशा अर्थात् पश्चिम दिशाको अच्छी
तरह देखनेसे अनुगृहीत करो (अथवा—पहले देखनेसे और बादमें वर्णन करनेसे अनुगृहीत
करो, अथवा—तबतक देखनेसे अनुगृहीत करो, जब तक चन्द्रोदय होनेसे इसकी अग्निमाका
सौन्दर्य नष्ट नहीं होता), जिस (पश्चिम दिशा) को (किसीने) लाघारसे माने धो
दिया है तथा कुङ्कुमके पङ्क्तोंसे परिपूर्ण कर दिया है । (पञ्चा०—‘ङ’ तथा ‘ल’ का अभेद
मानकर ‘जलाधिप’ अर्थात् अतिशय जड़की स्त्रीको देखनेसे अनुगृहीत करो, क्योंकि अतिशय
जड़की स्त्रीको देखकर अनुगृहीत करना उचित है) ॥ ३ ॥

उच्चैस्तरादम्बरशैलमौलेश्च्युतो रविर्गैरिकगण्डशैल ।

तस्यैव पातेन विचूर्णितस्य सध्यारजोराजिरिहोजिहीते ॥ ४ ॥

उच्चैरिति । हे प्रिये । रविरेव गैरिकालयधातुविशेषसम्बन्धी गण्डशैल उच्चतरा-
द्युच्चतादम्बरशैलस्य गगनगिरेर्मौले शिखरासकाशाश्च्युत पतित स्थूलपाषाण
एवाथ पतित, अथ च,—सनिहित, पातेनोच्चतरगिरिशिखराद्य पतनेन हेतुना
विचूर्णितस्य विशेषेण सूक्ष्मचूर्णीकृतस्य तस्यैव गैरिकगण्डशैलस्य सध्वनिनी सध्वव
रजोराजि, सध्यासम्बन्धी राग इत्यर्थ । इह सायकाले पश्चिमदिशि वा उज्जिहीते
उपरिदिशाप्रसरति । अस्तसमये सूर्यस्य रक्तावाद्गगनगिरिशिखराश्च्युतवाथ गैरिक-
गण्डशैलत्वम् । उच्चतराप्रदेशारपतितो गण्डशैलश्चूर्णीभवति, चूर्णीभूतस्य च रजो-
राजिरुभं प्रसरति, तद्रजोराजिरेव सध्याराग प्रायेणोर्ध्वं प्रसरतीत्यर्थ ॥ ४ ॥

गैरका चट्टानरूपी यह सूर्य अत्यन्त ऊँचे आकाशरूपी पर्वतके शिखरस गिर पड़ा है और
गिरनेसे अत्यन्त चूर्ण (चकनाचूर) हुए उसीका सन्धारूपी धूलि-समूह वहाँ (पश्चिम
दिशामें) उड़ रहा है । [सायकालमें सूर्यको रक्तवर्ण होनेसे शेरुके चट्टानकी तथा आकाशकी
आधुनिक पर्वतकी कल्पना की गयी है । ऊँचे स्थानसे गिरे हुए चट्टानका चकनाचूर होना और
उसके धूलि-समूहका ऊपरको उड़ना उचित ही है] ॥ ४ ॥

अस्ताद्रिचूडालयपङ्क्त्यालिच्छेकस्य किं कुक्कुटपेटकस्य ।

यामान्तकूजोल्लासिते शिखीघैर्दिग्वारुणी द्रागरुणीकृतेयम् ॥ ५ ॥

अस्तेति । हे प्रिये । कुक्कुटानां पेटकस्य समूहस्य यामान्ते प्रहरान्ते या कृत्वा
शब्दित तद्दशादुल्लासिते प्रकाशमाने किंचिदुच्चोमूतैरुपसृजपाकुसुमतुल्यै शिखानां
शिरसि रक्तवर्णममकेशराणामोद्युर्ध्वं किमिय वारुणी दिक् द्राक् अकस्मादरुणीकृता
रक्षीकृता । उल्लेख । किंभूतस्य ? अस्ताद्वेश्चूडा शिखर सैवालय स्थान यस्य स
तस्यालि समूहस्तत्रच्छेकस्यासक्तस्य शबरैर्गृहेषु संगृहीतस्य । कुक्कु-

दाना कृत्तनेनोन्नमितशिलरत्नव जाति । ते च मामान्ते कृजन्ति । सायसमये कृजना दुष्कुलशिखावृन्दसवन्धादृणीमवनसमवार्यं यामान्तेत्याद्युक्तम् । 'पङ्कण शबरालय' 'गृहासत्ता परिमृगाश्चेकास्ते गृहकाश्च ते' इत्यमर । 'पेटक पुस्तकादीना मञ्जूपायां कदम्बके' इति विश्व ॥ ५ ॥

अस्तावले के शिखरपर स्थित शबर-गृहसमूहोंमें पाठे गये मुर्गोंके समूहोंके सायङ्कालमें कृजने (शब्द करने) से ऊपर घटे हुए (चर्ममय रक्तवर्ण) शिखा-समूहोंने इन पश्चिम दिशाकी एकएक लाल कर दिया है क्या ? [सोलते समय मुर्गोंका ऊपर शिर ठठाना सामान होता है] ॥ ५ ॥

पश्य द्रुतास्तगतसूर्यनिर्यत्करावलीहेङ्गुलवेत्रयात्र ।

निपिध्यमानाहनि सध्यथापि रात्रिप्रतीहारपदेऽधिकारम् ॥ ६ ॥

पश्येति । सध्यया अथ सायसमये चन्द्रस्य नायिकाया रात्रौ सवन्धिष्व प्रतीहारस्य दौवारिकस्य पदे अधिकारमास्पदमपि पश्य विलोक्य । किंभूतया ? द्रुत शीघ्र मस्तगतस्य सूर्यस्य निर्यती बहिर्निर्गच्छन्ती करावली किरणपरम्परैव हेङ्गुल दिङ्गुलारयेन रत्नकरकद्रव्यविशेषेण रत्न वेत्र दण्डविशेषो यस्यास्तया । किंभूते पदे ? निपिध्यमान निवार्यमाणप्रवेशमहो दिन यस्मिन् । शिवा हि दौवारिकी स्येव पुन्येति सध्यव रात्रेर्दौवारिकी जातेत्यर्थः । सूर्योऽस्तमितः, दिन गतम्, रात्रिरागता, इति सायसध्यया ज्ञाप्यत इति भावः । दौवारिक्यपि हेङ्गुलवेत्रपाणि सती प्रविशन्त कमपि प्रतिषेधयति । 'निर्यत्करा—' इति तिर्यञ्छस्तिर प्रसारिणश्च ते करा श्वेति । अहर्नीत्यत्र तत्पुरुषत्वाभावाद्ब्रजभावः ॥ ६ ॥

शान् (अभी) अस्त हुए सूर्यसे निकलते हुए किरण-समूहकी दिङ्गुलने रगे हुए वेंत (बी छड़ी) वाली सध्या के द्वार। रोका जा रहा है दिन जिसमें, ऐसे रात्रिके द्वारपाठके पदपर अधिकारको देख। [लोका द्वारपाठ लोकी ही होना वधिन होनेसे रात्रिने सन्ध्याको द्वारपाठ बनाया है, तथा लालरगकी छड़ीवाली वह सन्ध्या दिनरूप परपुरुषको चन्द्रमाकी नायिका रात्रिके पाम आनसे निषेध करती हुए अपना अधिकार पालन कर रहा है । सूर्यास्त हो गया, दिन बीत गया, रात आ गयी, यह सब सायङ्कालकी सन्ध्यामें शान हो रहा है] ॥ ६ ॥

इदानीं सध्यानङ्गप्रसङ्गो वर्णयति—

महानट किं नु सभानुरागे सध्याय सध्या कुनटीमपीशाम् ।

तनोति तन्वा वियतापि तारथ्रेणिस्रजा साप्रतमङ्ग । हारम् ॥ ७ ॥

महानट इति । अङ्ग । हे मैमि । महान् सध्यापासनाद्विषयेऽतिप्रशस्त, तथा,— अर्तत गच्छतीत्येवभूत काल स प्रवृत्त सायतन, यद्वा,—महान्परमेस्वररो नटी नर्तको परिमन्त्र । सध्याकाहे ईश्वरो दृश्यति । स प्रवृत्त सायसध्यासमयो मानो-

सूर्यस्य रागे लोहितिमनि सति अस्तमयानन्तर सूर्यस्य रागमात्रेऽवशिष्टे सति सभ्याकान्ति किंचिदपीतरक्तवर्णत्वात्कुण्टी 'नेपानी कुण्टी गोला' इत्याद्यभिधानात् मन शिलारूपाम् , तथा,—ईशामपि स्वकालस्वामिनीं च, अथ च,—पितृप्रपूरुष श्वाद् ब्रह्मतनुत्वाद् देवतारूपाम् , अथ च,—समृद्धिमतीं सभ्याय सभ्यविविक्त्य साप्रतमिदानीं तन्वा किंचिद्बुद्धतया सभ्यारागतिरोहितकान्तितया वा कृशया किंचिद्दृश्यया । तथा,—विद्यतापि गगनरूपया लक्षण्या यावद्गगन विस्तीर्णया, यद्वा,—आ सामस्येन व्याप्त विद्यया गगनव्यापिन्या च, तारश्रेण्या नक्षत्रपरम्परारूपा स्रजा पुष्पादिमालया हार तनोनि विरचयति किं नु । यद्वा,—ताराणां शुद्धमौक्तिकानां श्रेणिर्यत्र तादृशया ग्रथितमौक्तिकया मालया हारविरचन युक्तमिति सभ्याकाल सभ्यामेवविधा सचिन्त्य नक्षत्रपरम्परामेव हार विरचयति किमित्यर्थः । सभ्याराग विद्यानवशिष्टोऽस्ति, मुक्तातुल्यानि नक्षत्राणि च किंचिद्दृश्यानि जातानीति भावः । तन्वा तारश्रेणिस्रजोपलक्षितेन तद्युक्तेन विद्यता गगने नवहार तनोनीति वा । सभ्या मेवविधा विज्ञाप्य पूर्णोभूत इति न किंरौचिभ्याद्विशिष्टया तारश्रेणिस्रजा हारमपि विरचयतीत्यर्थः इति वा 'अवि'शब्दार्थः । अथ च,—स प्रसिद्धो महानटस्ताण्डवनृत्तकर्ता शिषो भानोः सूर्यस्य रागे सति, अस्तमितार्धे सूर्यं सतीति यावत् । तत्र सभ्यासमये मन शिलारूपवर्णमचिरस्थास्तुःप्राक्कुसितनर्तकीरूपां वा ईशां देवीं सभ्या सभ्य सभ्यावा सायसभ्यावन्दन कृत्वाऽष्टासु मूर्तिषु मध्ये तारापरम्परैव माला यस्या तथा गगनरूपयापि अमूर्तयापि मूर्त्या कृत्वा इदानीं सभ्यावन्दनान्तरमङ्गहार सुयकर पार्श्वार्चनानां समतालमान विक्षेप करोति किंनिति वितर्कः । अमूर्तस्याङ्गहारकरणं चित्रमिति विरोधार्थं 'अवि'शब्दः । न केवलं चन्द्रसर्पभोगादिभूयितयेव तन्वाङ्गहार करोति, किन्तु विद्यतापि तन्वेति समुच्चयार्थो वा । ईश्वरो हि सायसमये नृत्यति । भानुरागे मन शिलारूपवर्णां सभ्यामपीशा स्वसहचरौ पार्वतीं विविक्त्य विशिष्टया विषद्रूपयापि तन्वाङ्गहार तनोति । पार्वतीसमीपेऽपीश्वरो नृत्यति ॥ अथ च,—महानतिप्रवीणो नटः कुसितां नटीं नृत्तेऽनतिचतुरामपि सभ्यां वय सधौ वर्तमानां तरणीं रसभावसधौ वर्तमानां वा रसभावज्ञाम्, अत एव—समाया अनुरागे ईशां सभ्यानुरागजनेन समयां सचिन्त्य विषत्तुल्ययाऽतिविशालया शुद्धमौक्तिकपरम्परा रूपया मालयोपलक्षितया तन्वाङ्गहार तनोति तदसाप्रत किम् ? अपि तु—रसभावादि जनयन्त्या तथा सभ्यानुरागे समुत्पादितेऽपि नृत्तकर्मकौशलेनापि सभ्यानुरागार्थं स्वयमङ्गहार तनोतीति युक्तमेवेत्यर्थः ॥ अथ च,—महाव्रतंको वय सधौ रसादि सधौ वा वर्तमाना तथा समृद्धिमतीमपि स्त्रियः कुसितां चटो नृत्तानभिज्ञा ज्ञात्वा सभानुरागे निमित्ते विशिष्टया तन्वा स्वयमङ्गहार तनोति तदसाप्रत किं नु, अपि तु नस्या नृत्यकौशलाभावान्नृत्तेन सभानुरागने सामर्थ्याभावात्सभानुरागार्थं स्वयमेव निपुण नृत्यतीति युक्तमेवेत्यर्थः ॥ अथ च,—अन्योऽपि महानतिसमृ

खोऽति सर्वत्र गच्छति तादृशोऽतिचञ्चलोऽतिप्रसिद्धो विट कुनटीमपि नृत्तविद्याया-
मचनुरामपि भया कायकान्त्या कृत्वा सोऽनुरागस्तद्विषये ईशा सौन्दर्यातिशयेनैव
रागमुत्पादयन्तीम्, तथा—शैशवतारण्ययो सधौ चर्तमाना प्रादुर्भूतयोवना रसभाव-
साधस्थत्वादसभावज्ञा वा सचिन्त्य कायकान्त्यानुरागे सति कुनटीमपि तरुणो रस
भावज्ञा वा तथेशा सपज्ञा च विचिन्त्य तदीयशरीरस्यातिविस्तृततया शुद्धमौक्तिक-
मालया द्वार विरचयति, तत्रानुरक्त सस्तस्य मुक्ताहार वितरतीत्यर्थ । एवमन्या
अपि योजना सुधियोहमीया । 'सभानुरागे मधाय' इति पाठो बहुषु पुस्तकेष्व
दृष्टत्वादुपेक्ष्य । अट, पचाद्यच् । सध्याम्, दिगादित्वाद्यत् । 'तार'शब्दस्य नञ्च
कर्त्तानिकाभिधायिष्व दृशमसर्ग एवोक्तम् ॥ ७ ॥

(इस समय सन्ध्या तथा नर्तकों के योगका वर्णन करते हैं—) वे महानट (नृत्य
करनेमें सुप्रसिद्ध शिवजी) मैनसिलरूपिणी अर्थात् मैनसिलके समान लाल सन्ध्या (साय-
ङ्काल) की सूर्यकी लालिमा (उत्पन्न करने) में समर्थ जानकर अर्थात् सूर्यकी लाल करने
वाली यह सन्ध्याकाल ही आ गया है ऐसा निश्चितकर तारामभूह ही है माला जिसमें ऐसे
आकाशरत्नक शरीरसे इस समय (नृत्य-कालमें) अङ्गहार (शरीरका सञ्चालनादि) करते
हैं क्या ? [यद्वा आठ मूर्तियोंवाले शिवजीकी 'आकाश' की भी अन्यतम मूर्ति
होनेसे उसका अङ्गहार करना कहा गया है । यद्यपि 'आकाश' अमूर्तपदार्थ है, तथापि
शिवजीकी आठ मूर्तियोंके अन्तर्गत होनेसे उससे अङ्गहार करनेमें कोई विरोध नहीं समझना
चाहिये] । अथ च—नृत्यमें चतुर कोई व्यक्ति वाक्प-सारूप्यरूप अवस्थाकी संधि
(मध्य) में वर्तमान कुनटी (नृत्यकालमें अनभिष्ट) की भी सभा (में उपस्थित दर्शकों)
के अनुराग (उत्पन्न करने) में समर्थ मानकर विशाल मुक्तासमूहकी मालावाले आकाशवत्
विशाल शरीरसे इस समय अङ्गहार (नृत्य-विशेषमें शरीरका सञ्चालन) करता है क्या ?
अथ च—महान् अर्थात् सन्ध्योपासनादि कर्ममें अङ्गनम तथा गमनशील (अथवा—(साय-
ङ्कालमें शिवजीकी नृत्य करनेका नियम होनेसे) महान् अर्थात् शिवजी हैं नट (नृत्यकर्त्ता
जिसमें ऐसा) वह सन्ध्याकाल सूर्यकी लालिमा होनेपर अर्थात् सूर्यकी लालिमाके कुछ
कुछ अवशिष्ट रहनेपर सन्ध्याशोभाकी मैनसिलरूपिणी, अपने समयकी स्वामिनी (या—
देवतारूपिणी, या—ममृद्धिशास्त्रिनी) निश्चितकर थोड़ी-थोड़ी दृश्यमान, आकाशतक फैली
हुई (अथवा—सब ओर आकाशमें विस्तीर्ण) नञ्चन भेषिरूपिणी मालामे द्वार बनाया है
क्या ? (अथवा—युधे गये शुद्ध मोतियोंकी मालासे द्वार बनाना युक्त समझकर सन्ध्या-
काल नञ्चन-समूहरूपी द्वार बना रहा है क्या ?, अर्थात् सन्ध्याकालकी लालिमा कुछ कुछ
अवशिष्ट रह गयी है और नञ्चन समूह मोतियोंके तुल्य कुछ-कुछ दृष्टिगोचर होने लगे) ।
अथ च—वट (प्रसिद्धतम) महानट (शिवजी) सूर्यकी लालिमा रहनेपर मैनसिलके समान
अरुणवर्ण (अथवा—(अस्विर कान्ति होनेसे तुच्छ नर्तकोंके समान) सन्ध्याका सम्यक्
ध्यानकर अर्थात् ॥ ध्योपासन कर्म समाप्तकर (अपनी आठ मूर्तियोंमेंसे) तारा-समूहरूप

मान्वावानी आकाशरूपिणी (अमूर्त मो) मूर्तिमे इस समय (मध्यापासन कर्म समाप्त करनेके बाद) अङ्गहार (मुख, हाथ आदि अङ्गोंका सञ्चालन) करते हैं क्या ? (अथवा—केवल चन्द्र, सूर्य तथा चमोदिते भूषित शरीरसे ही अङ्गहार नहीं करते हैं ? अपितु अपनी आठ मूर्तियोंमेंसे आकाशमूर्तिसे भी अङ्गहार करते हैं) । अथवा—चतुर नट वाद्य-ताह पदरूप वय-सन्धि (या—रमादि-मन्त्रि) में स्थित, समृद्धियुक्त भी स्त्रीको नृत्यकला में अनभिज्ञ जानकर समाके अनुरागमें विशिष्ट (अपने) शरीरसे अङ्गहार करता है, यह असम्भ्रत (अयोग्य) है क्या ? अर्थात् नहीं, (क्योंकि नृत्यकलाको नहीं जाननवाली बने कुनटीसे समानुराजन होना असम्भव जानकर उसका स्वयमेव अङ्गहार करना सर्वथा उचित ही है) । अथवा—अतिशय चञ्चल (कोई बिट) नृत्यकला में अवतुर भी किसी स्त्रीको शरीर-सौन्दर्यसे अनुरागात्पादनमें समर्थ तथा वाद्य-गान्धरूप वय-सन्धिमें वर्तमान अर्थात् युवावस्थामें प्रवेश करती हुई जानकर उसके शरीरके अतिशय विस्तृत होनेसे श्रेष्ठ मुक्ता-समूहकी मालासे हार बनाता है अर्थात् उसमें अनुरक्त होकर उठे हार देता है । अथवा—चतुर नर्तक, वाद्य-गान्धरूप वय-सन्धिमें वर्तमान कुनटी (पृथ्वीमें प्रसिद्ध नदी) अर्थात् लोकप्रसिद्ध नर्तकीको समाके अनुराग उत्पन्न करनेमें समर्थ जानकर भी अतिशय बड़े श्रेष्ठमुक्तासमूहकी मालाबो पहने हुए स्वशरीरसे जो अङ्गहार करता है, वह उचित है क्या ? अर्थात् नहीं उचित है, (क्योंकि नर्तकीके नृत्यके अवसरमें उसका नृत्य करना समासदोंको यथायोग्य अनुराजन नहीं करनेसे अनुचित ही है) ॥ ७ ॥

भूपास्थिदाग्नछुटितस्य नाट्यात्परयोडुकोटीकपट वहन्नि ।

दिङ्मण्डल मण्डयतीह खण्डे सायनटस्तारकराट्किरीट ॥ ८ ॥

भूयेति । हे भूमि ! तारकराट् चन्द्र किरीटो यस्य स शम्भु साय नटतीति सायनटो नर्तक उद्धताद्यात्पद्मत्ताक्षेतोछुटितस्य भूपास्थिं दाग्नो मालाया उच्छ्रलिते खण्डे दाकलेस्तैरेव उडुकोटीकपट कोटिसस्यनक्षत्रप्राज वहन्निर्धारयन्नि सद्गिरिह सायसमये दिङ्मण्डल मण्डयति पश्य । एतानि नक्षत्राणि न, किन्तु ताण्डवमुद्रिता स्थिमालोच्छ्रलच्छुक्कलान्येव दिक्षु शोभन्त इत्यर्थः । अन्योऽपि चन्द्रतुल्यकिरीटो नृत्यछुटितहारखण्डे स्त्रीवृन्द मण्डयति । 'मण्डयतीव' इति पाठे—उत्प्रेक्षा ॥ ८ ॥

(हे प्रिये दमयन्ति !) चन्द्रमुकुट एव सायङ्कालके नट शिवजी (अत्युद्धत) नृत्य करनेमें दूटे हुए तथा करोड़ों ताराओंके कण्टको धारण करनेवाले भूषणभूत अस्थिमालाके टुकड़ोंमें इस सायङ्कालमें दिवसमूहकी अलङ्कृत करते हैं, देखो । [ये करोड़ों नक्षत्र नहीं हैं, किन्तु उद्भूत ताण्डव नृत्यमें दूटी हुई शिवजीकी भूषणभूत अस्थिमालाके टुकड़े हैं । छोकमें भी चन्द्रतुल्य मुकुट पहनकर नाचता हुआ कोई व्यक्ति दूटे हुए हारके टुकड़ोंसे स्त्री-समूहकी अलङ्कृत करता है] ॥ ८ ॥

कालं किरानं स्फुटपद्मकस्य वध व्याघ्रस्य दिनद्विपस्य ।

तस्यैव सख्या रत्निरास्त्रगारा ताराञ्च कुम्भस्यलभौक्तिकानि ॥ ६ ॥

काल इति । हे प्रिये ! काल सध्यासमय एव किरात, अथ च,—हृण्गवर्गो हिमन्तवान्मृयुरूपो वा कालो गिरिमहारण्यमवारी शबर स्फुटानि विक्रिमितानि पद्मानि यस्मिन् । यद्वा,—विक्रमितकमलकज्जल यस्मिन्, अथ च,—प्रकटीभूत शुष्कादण्डाग्रे प्रकाशमान पद्मक रक्तचिन्दुदृन्द यस्मिन्सादृशस्य दिनरूपस्य द्विपस्य वध वधघादकरोत् । तस्येव हतस्य करिगो रचिरा रम्या सम्पाज्जवारा रचिरवरा । स्थूलमुक्ता इव शोभन्त इत्यर्थः । स्फुटपद्मकस्येति बहुमोहो कप ॥ ९ ॥

मध्यममय (पञ्चा०—सृष्ट्यरूप, वा—हृष्यवर्ग) किराउ विकसित कनकशाले (जिनमें कमज-पुष्प विकसित हो रहे थे देखे, वा—जिनमें कमज-पुष्प विकसित हो रहे थे देखा जा रहा है जिनमें देने, पञ्चा०—(शुद्धादण्डपर) रगट टूटिगोबर हा रहे थे पन्नाका विह-विशेष जितके देने) जिन दिनरूपी हावाका बच किया (दिनका अपसारा किया तथा हाथीको मारा), सन्धा (अर्वावा यह सायंकाल) वनी दिनरूपी हाथीको रमगीष रक्त-वारा है तथा मध्य (उस दिनरूपी हाथीके ऊर्मस्थ) गुजमुकार है ॥ ९ ॥

नभ्यासराग ककुभो विभागः शिवाविग्रहे विमुनायनेष ।

दिग्वाससा पूर्यमवैमि पुष्पसिन्दूरिकापर्शणि पर्यधायि ॥ १० ॥

सम्प्रेति । विमुना प्रमुगा हरेण पूर्व शिवाया पार्वत्या विवाहावसरे सम्पया सरागो रक्षवर्गोऽपमेव ककुभ पश्चिमाशया विभाग प्रदेश पुष्पवर्गयुक्ता मिन्दूरिका रक्षवन्न त सवम्बिनि तद्योगात् पुष्पसिन्दूरिकारये पर्वयुत्सवे पर्यधापि परिहित । यतो दिग्वलयमेव वासो यस्य तेन रक्षवन्नपरिधानावसरेऽपि दिग्वाममा औचिन्पाद्रक्षदिग्भाग एव परिहित इत्यवैमिशङ्के । विवाहस्य चतुर्थे दिने प्रथमादिन-परिहितानि वस्त्राणि प्रञ्चलनार्थं परित्यज्य पुष्पसिन्दूरिकारयपर्वणि कौसुग्मादिरक्ष-वस्त्राणि वधूधरेण परिधीयन्त इति वृद्धाचार । तत्रेष्टस्य दिग्वामन-वाद्रक्षपश्चिमभाग एवानेन परिहित इत्यर्थः । वर्गकभूतपुष्पस्यामे तारा, मिन्दूरिकार्याने सप्या-सराग पश्चिमदिग्भाग इति भावः ॥ १० ॥

स्वामी दिगम्बर (मगवान् शङ्करजी) ने पड़े पार्वतीके विवाहमें 'पुष्पसिन्दूरिका' नामक वरमन्त्रके दिन सन्ध्यासे रत्नचर्चा इसी दिशाके हिस्से (पश्चिम दिशा) को पढ़ना था, ऐसा मैं जानता हूँ। [कुलम्भादिके पुष्प तथा सिन्दूरसे रंगे हुए बरखको बच्चे-वर विवाहसे चौथे दिन पहनते तथा विवाह-समयमें पड़ने गये बरखको धोनेके लिए उतार देते हैं, उसीको 'पुष्पसिन्दूरिका' पर्व कहते हैं। प्रकृतमें मगवान् शङ्करजीने पार्वतीके साथ विवाह होनेके चौथे दिन ठीक पर्वके आनेपर स्वयं दिगम्बर होनेमें मानो पुष्पसिन्दूरसे रंगनेसे

रक्तवर्णं इतो पश्चिम दिशाको वस्त्ररूपमेव धारण किया । ताराओंको रगनेवाला पुष्प, सन्ध्या की लालिमाको सिन्दूर तथा पश्चिम दिशाके हिरसेको वस्त्र समझना चाहिये] ॥ १० ॥

प्रातः सायसन्ध्ययोः प्राचीप्रतीच्योर्द्वयोरपि सुवयवर्णत्वात्सायसन्ध्यारक्तपश्चिमदिश एव पुष्पसिन्दूरिकात्वं कथं वर्ण्यत इत्याद्येते तत्परिहारार्थं प्राच्या अपि तद्भावात्माह—

मतीमुमामुद्रहता च पुष्पसिन्दूरिकार्थं वसने सुनेत्रे ।।

विशौ द्विसधीमभि रागशोभे दिग्वाससोभे किमलम्बिपाताम् ॥११॥

समीक्षितम् । हे सुनेत्रे ! सती दायायणीमुमा पार्वती चोद्बहता परिणयता दिग्वाससा हरेण पूर्वोक्तपुष्पसिन्दूरिकार्थं द्विसधीं अभि द्वे अपि प्रातः सायसन्ध्ये लक्ष्मीकृत्य द्वे प्राचीप्रतीच्यौ दिशावेव रागेण रक्तवर्णेन शोभा योस्ते, रक्तवर्णेन शोभेत इति वा, तादृशे रक्ते वस्त्रे द्वे वसने अलम्बिपाता प्राप्ते किम् ? 'विवाहद्वये सन्ध्याद्वयरक्त दिग्द्वयनेव दिग्वासनत्वाद्भक्त्यलम्ब्य शिवेन लब्धम्' इत्यहं अन्य इत्यर्थः । शिवेन द्वे दिशावेव वस्त्रे द्वे सन्ध्ये लक्ष्मीकृत्य रागेण रत्नकद्रव्येण कृत्वा ये शोभे कर्मभूते ते प्रापिते किम् ? विवाहे वस्त्रं रत्ननाय कस्यचित्करे सम्पत्त्ये तस्माच्छिवेन दिग्वल्लयरूपे मम द्वे वस्त्रे भवतीत्या रक्तशोभे प्रापणीये इति सन्ध्याद्वयमाश्रुतं सद्दिग्द्वय रक्तशोभं चकारित्यर्थः इति वा । 'सुनेत्रि' इति पाठे—'अस्योगोपधात्' इति निषेधान्धीप् चिन्त्य । द्विसधीम्, समाहारद्विगोरेकत्वे 'अवान्तो वा' इति स्त्रीषे च 'द्विगो' इति ङीप् 'सन्ध्या' शब्दस्य सञ्चित्यदन्तत्वात् 'हलस्तद्धितस्य' इति चलोपः । 'अभिरमार्गे' इत्यभे कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया । शत्यर्थत्वाद्गौ कर्तुर्गौ कर्मत्वं पठे ॥ ११ ॥

हे सुलोचने (दमयन्ती) ! सती (दक्षवत्या) तथा पार्वतीके साथ विवाह करते हुए दिगम्बर (शङ्करजी) ने दोनों (प्रातःकाल तथा सायंकालकी) सन्ध्याओंको लक्षितकर लाल शोभावाले (पूर्व तथा पश्चिम दिशारूप) दो वस्त्रोंको 'पुष्पसिन्दूरिका' नामक वस्त्रके लिये (श्वशुर दक्षप्रजापति तथा हिमालयसे) प्राप्त किया था क्या ? (भगवा— ' शङ्करजीने 'पुष्पसिन्दूरिका' वस्त्रके लिये पूर्व—पश्चिम दिशारूप दो वस्त्रोंको (रगनेके लिए) दोनों (प्रातःकाल तथा सायंकालकी) सन्ध्याओंको प्राप्त कराया (दिया) था क्या ?) । [प्रथम अर्थमें—शङ्करजीको दिगम्बर होनेसे उनके लिये दिशारूप वस्त्र ही देना उचित समझकर श्वशुरने भी 'पुष्पसिन्दूरिका' वस्त्रके लिए दोनों सन्ध्याओंको लक्ष्यकर पूर्व—पश्चिमरूप दो दिशाओंको ही वस्त्ररूपमें दिया था । द्वितीय अर्थमें—जिस प्रकार किमीको कोई वस्त्र रगनेके लिए कोई व्यक्ति देना है, उसी प्रकार शङ्करजीने भी 'पुष्पसिन्दूरिका' वस्त्रमें रगे हुए लाल वस्त्रोंकी पहननेका निवम होनेसे पूर्व—पश्चिम दिशारूप दो वस्त्रोंको लाल रगनेके लिए दोनों सन्ध्याओंको दिया था] ॥ ११ ॥

आदाय दण्ड सकलासु दिक्षु योऽयं परिभ्राम्यति मानुभिर्भु ।

अथौ निमज्जन्निन तापसोऽयं सध्याभ्रकापायमधत्त सायम् ॥ १० ॥

आदायेति । योऽयं मानुरेव भिक्षु परिभ्राट् दण्ड पारिपाशिकमेव वैगवपट्टि-
मादाय सकलासु दिक्षु परिभ्राम्यति सोऽयं तापस परिभ्राट् सायकाले अथौ निम-
ज्जन् पाताल प्रविशन्, अथ च—यद्बुद्धले जलाशये स्नान कुर्वन् सध्यायामभ्र गगन
तटेय कपायरक्त वस्त्रमधत्तेव उपरि स्वस्योर्ध्वमागे, अथ च,—उत्पततस्योपरि
दण्डस्योपरि वा निजमस्तकोपरि वा घृतयानिव । एवं यतिरपि बहुकालावस्थानस्य
मिपिद्वन्नादुक्कलङ्घ्य सन् परिभ्रमणे कपाय वस्त्र धारयति, कापायमिव सध्या
शोभते इत्यर्थः । 'मातर पिङ्गलो दण्डरचण्डाशो पारिपाशिका', 'भिक्षु परिभ्राट्
कर्मन्वी' इत्यमरः । कापायम्, 'तेन रक्तम्—' इत्यण् ॥ १२ ॥

नो यद्द सुपरूपी भिक्षु अर्थात् सन्यासी दण्ड (वासटा दण्ड, पञ्चा०—'दण्ड' नामक
पारिपाशिक) को लेकर सम्पूर्ण दिशाओंमें घूमता है, वह (सूर्यरूप) यह तपस्वी अर्थात्
सन्यासी मायङ्गामने समुद्र (पञ्चा०—समुद्रवय अगाध जलवाले जलाशयदि) में डूबता
(अस्त होता, पञ्चा०—स्नान करता) हुआ—ता सध्याके (रक्तवर्ण) आकाशरूप कापाय
(गेहना) वस्त्र धारण करता है ॥ १२ ॥

अस्ताचलेऽस्मिन्निकपोपलामे सध्याकपोल्लेखपरीक्षितो यः ।

विक्रीय त हेलिहिरण्यपिण्डं तारावराटानियमादित द्यौः ॥ १३ ॥

अस्तेति । यः सूर्य अस्मिन्प्रतीच्या वर्तमाने निकपोपलामे सुवर्णपरीक्षापापाण
तुल्येऽस्ताचले सध्याराग एव कपोल्लेख धर्पणोल्लेखस्तेन परीक्षितः । इयं द्यौस्त हेलि
सूर्यमेव हिरण्यपिण्डं विधीय विनिमयेन कस्मैचिद्भूत्वा तारारूपान्वराटान् कपदंका-
नादित जग्राह । उत्तम सुवर्णरक्षपीत भवति । तथा च रक्षपीतसुवर्णगोलकस्य निक-
पपरीक्षितसुवर्णरेखेन सध्या इत्यते, तारावराटा इव इत्यन्त इत्यर्थः । 'द्यौः' इति
लोकव्यवहारानभिज्ञत्वद्योतनाय खीलिहिरण्यनिर्देशः । खी हि सुवर्णं दत्त्वा मूर्खतया
वराटकान्गृह्णाति, धूर्तेन वक्ष्यते च । वराटकव्यवहारे देशे सुवर्णमपि दत्त्वा वरा-
टका एव गृह्णन्ते ॥ १३ ॥

कौटीके पत्थरके समान इस अस्ताचलपर सध्या (सायकालकी लालिया) रूप
धर्पणरेखासे जिस (सूर्यरूप सुवर्णपिण्ड) की परीक्षा की गयी, उस सूर्यरूपी सुवर्णपिण्डको
बेचकर यह द्यौ अर्थात् आकाश तारारूपी कौटियोंको लिया । [जिस प्रकार कोई मूर्ख
खी बसौटीके पत्थरपर बिसकर परोटित सुवर्णपिण्डको कौटियोंको लेकर किसी चतुर
व्यक्तिके लिए बेच देती है, उसी प्रकार आकाशने तारारूप कौटियोंको लेकर निम्नरूप
अस्ताचलपर सुगिरक्षित सूर्यरूप सुवर्णपिण्डको किसीके हाथ बेच दिया है । अथवा—
अक्षररूपके स्थानमें कौटियोंका व्यवहार होता है, वहापर सुवर्णको बेचकर कौटियोंका

लेना उचित ही है । रक्तवर्णं सूर्यं अस्त हो गया, कमौटीपर धिमे गये सुवर्णपिण्डको रेखाके समान सन्ध्या पीतारुणवर्ण हो गयी । आकाशमें ताराएँ कौडियोंके समान दिखलाई पड़ने लगी] ॥ १३ ॥

पचेलिम दाडिममर्कबिम्बमुत्तार्य सध्या त्वगिरोज्ज्वितास्य ।

तारामय बीजभुजादसीय कालेन निष्ठयतमित्रास्थियूथम् ॥ १४ ॥

पचेलिममिति । दाडिमबीजभुजा कालेन रक्तमर्कबिम्बमेव पचेलिम ततोऽप्येव स्वयं पक्व दाडिम फलमुत्तार्य गगनतरोहोदयित्वा बीजप्रहणार्थं भित्ति वा सन्ध्यासुचिसवगिव अस्य दाडिमस्य पक्त्वाद्भक्तकृत्तिरिवोज्ज्विता परित्यक्ता । तद्बीजमभ्युत्थयन्मुपरितमबीजकोशवत्सध्या पृथङ्गता । तथा,—बीजमभ्युत्थयन्तरे तारामय तारारूपमदसीयमस्य दाडिमस्य अमीषा बीजानां वा, सवन्धि अस्मिन् बीजमप्यभ्युत्थयतकणानां यूथं बृहद् निष्ठयन्तमिवोद्गीर्णमिव बीजानि भञ्जयित्वा गृहीतरस तदन्तर्गतस्वेतकणबृहद् पुनरुत्थूकूलमिव । न हि कालादन्यं सूर्यं दाडिमं भक्षितुं समर्थं । अन्योऽपि दाडिममुत्तार्य तत्पक्व परित्यज्य बीजान्यास्वाद्य गृहीतरसान्बीजकणास्थूश्चूरय त्यजति ॥ १४ ॥

(अनारके) बीजको खानेवाले सायङ्कालने सूर्यबिम्बरूप पके हुए अनारके फलको (पेटसे) तोड़कर अरुणवर्णवाले सन्ध्यारूपी इस (अनारके फल) के छिन्नकेको फेंक दिया है और (इस अनारके फलके दानोंके रसको सम्यक् प्रकारसे चूसकर) इस (अनार) के तारारूप नि सारबीजोंको यूक दिया है । [लोकमें भी कोई व्यक्ति पकनेसे काळ अनारके फलके छिन्नकेको फेंककर उसके दानोंके रसको चूमनेके बाद उन नीरस बीजोंको यूक देता है । प्रकृतमें—काङ्कड़ नियमसे ही सूर्यास्त आदि होनेसे सायङ्कालने सूर्यको अस्तकर दिया, सन्ध्या अनारके छिन्नके समान अरुण वर्ण हो रही है तथा तारासमूह अनारके नीरस बीजोंके समान श्वेतवर्ण दीखता है] ॥ १४ ॥

(ताराततिर्बीजमिवादमादमिय निष्ठेवि यदस्थियूथम् ।

तन्निष्कुलाकृत्य रवि त्यगेषा सध्योज्ज्विता पाकिमदाडिमं वा ॥)

तारेति । सामर्थ्याकालेन कर्षो रविमेव तत् पवित्रम दाडिम निष्कुलाकृत्य मिर्गतबीजकुलं कृत्वा बीजरूपं सारं गृहीत्वा तदीया स्वमेवैषा सध्या उज्ज्विता । 'वा' शब्द समावन्तायाम् । उज्ज्विता किमित्याशङ्क्याह—बीजानि आदमाद भञ्जयित्वा भञ्जयित्वा यस्य सूर्यरूपस्य पक्वदाडिमस्य सवन्धि अस्थियूथमिवेयं ताराततिर्निरष्टेवि निष्ठयन्ता । जग्ध्वा इत्यादमादम्, अदेरामीदृश्ये णमुट् द्विवचनश्च । निरष्टेवि, कर्मणि चिण् । निष्कुलाकृत्य, 'निष्कुलाक्षिप्कोपगे' इति ङाच् । वेपथोऽप्यंशलोके ॥

(सायङ्कालने) सूर्य (रूपी पके हुए अनारके फल) को छीलकर अर्थात् उसके बीजको नष्टकर सन्ध्यारूपी छिन्नकेको फेंक दिया है तथा बीजको खा-खाकर अर्थात् उसके

रसको अच्छी तरह चूमकर तारामण्डरूप नीरस बीजको मानो थूक दिया है । [पूर्व श्लोकका अर्थ होनेसे नारायणमूर्तने इसे धैर्य माना है] ॥

सध्यावशेषे धृतताण्डवस्य चण्डोपते पत्पतनाभिघातात् ।

कैलासशैलस्फटिकाश्मस्रण्डरमण्ड पञ्चोत्पनयालुभिर्घा ॥ १५ ॥

सध्यावेति । हे प्रिये ! सध्यावशेषे सध्यावन्दनान्ते घृतताण्डवनृत्य येन तस्य चण्डोपते पदोद्भरणयोर्हट यत्पतनतेनाभिघाताद्धेनोत्पतयालुभिरुत्पतनशीलैस्त्वत्पतितै कैलासशैलमन्धिस्फटिकारमना स्रण्डे शकलैर्घोरमण्डि भटकुना पर्य । कैलासस्फटिकस्रण्डा एव गगने तारारूपेण शोभन्ते । उत्पनयालुभिः, 'सृष्टिगृहि-' इत्यालुचः ॥ १५ ॥

सध्यावासनके बार ताण्डव नृत्य करने हुए शिवजीके चरणोंके काषातने (चूर्ण-चूर्ण होकर) ऊपर उठऊठेवाले, कैलासपर्वणके स्फटिक पत्थरके टुकड़ोंने इस आकाशको भरकून कर दिया है, यह तुम देखो ॥ १५ ॥

इत्थं ह्रिया वर्णनजन्मनेव मध्यामपक्रान्तवर्ती प्रतीत्य ।

तारातमोदन्तुरमन्तरिक्ष निरीक्षमाण न पुनर्वभापे ॥ १६ ॥

इत्थमिति । स नलः, पुनर्भेदी वभापे । किंभूत ? इत्थमुक्तप्रकारेण वर्णनजन्मना स्तुतिजातपाद्विषयापक्रान्तवर्ती निर्गता सध्या प्रतीत्य निश्चित्यान्तरिक्ष गगन तारातमोभ्या दन्तुरित निश्चित निरीक्षमाण । अग्योऽप्युत्तमो निजवर्णमजातलज्जयापक्रामति ॥ १६ ॥

इस प्रकार (२२१—२५) वर्णनसे उत्पन्न लज्जामें मानो भगी (१५०—नष्ट) हुए सध्याको जानकर ताराओं एवं अन्धकारसे संयुक्त आकाशको देखने हुए वे (नल, दमयन्तीसे) पुन बोले ॥ १६ ॥

रामेपुमर्मग्रणनार्निवेगाद्रत्नाकरः प्रागयमुत्पपात् ।

प्रादौचकिर्मिरितमीनकम्बु नमो न भो कामशरासनभ्रु । ॥ १७ ॥

रामेति । हे कामशरासनमेव भ्रुवी यस्याः, भ्रुवर्शनमात्रेण कामोदयकारिणि भौमि । रामस्य जामदग्न्यस्य वा इषुणा मर्मणो व्रगनाद्धेनाद्धेतोस्त्वत्पत्ता वार्ति पीडा तस्या वेगादाधिव्याद्धेतोनिजस्थाने स्थातुमशक्त सन् भीत्या रत्नाकर एवाय प्राक् तरिमन्त्रसरे उत्पपातोर्वमगात् । नेद नभः, यः पूर्वमुत्पतितः स रयामजल स्फुट रत्नगमो रत्नाकर एवाय न त्येतन्नभ इत्यर्थः । कोदश ? प्राहाणा जलचारिणा जन्तूना वा ओघस्तेन, किर्मिरिता मिश्रिता मीना कम्बज शङ्खाश्च यस्मिन् । नभस्तु ग्रहसंघन्धी ओघ शुक्रबृहस्पत्यारुधनाराग्रहसमूहः प्रुचमण्डऽग्रहसंघन्धी समूहो वा तेन मिश्रितो मीनारयो राशि कम्बु शङ्खाभरविशाखानक्षत्र च यस्मिन् । रघुनाथेन त्रिल सेतु-चन्वसमये शरणे समुद्रो भेत्तमारुह्य इति तावन्मात्रेण पीडातिशयादुत्पतित इत्यु-

मकर, कुलीर कर्कराशिस्तत्सवन्धिन्यस्तारा कुलीर, अमूनि प्रत्यक्षदरयान्यमर-
निर्क्षरिण्या मन्दाकिन्या यादासि जलजन्तव एव इत्यह मन्वे। गोधा मर्या कर्कटका
अपि जले वर्तन्ते उपरि च दृश्यन्ते । तस्मादेवमद्या यादास्येवैतानीत्यर्थ । तद्युपरि
वर्तमानेन द्रष्टु योग्या, नत्वध स्थितेनेत्यत आह—तस्या नाकनद्या पूरे खेळन्त
झीडन्त सुरास्तेभ्य सकाशाद्गोधा दूरतलपर्यन्तमग्नानि अत एव जलतलगामिवा
दधोभागे इतो भूदेशादपि स्पष्ट सुप्तेन जानीम । भूभागे स्थिता अपि जलतलगामि
रग्राहोधादियादासि व्यवस्य पश्याम इत्यर्थ । गोधाकार भ्रुवमण्डल, गोधा ज्येष्ठा वा ॥

गोधा (गोधादृति भ्रुवमण्डल, या—गोधा नक्षत्र, पञ्चा०—‘गोद्’ नामक जलचर जीव),
मकर (दशम राशि-सम्बन्धी तारा-विशेष, पञ्चा०—‘मगर’ नामक जलचर जीव) और
कर्कट (चतुर्थ राशि-सम्बन्धी तारा-विशेष, पञ्चा०—‘केकडा’ नामक जलचर जीव)—ये
(प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हुए ये सब) देवतर्दी (आकाशगङ्गा) के जलचर जीव हैं, ऐसा
मैं मानता हूँ और उस (आकाशगङ्गा) के प्रवाहमें झोडा करते हुए देवोंके भयसे दूर
(जलके नीचे अन्तिम तल तक) दूरे हुए इनको हमलोग यहा (इस भूलोक) से स्पष्ट
देखते हैं । [अन्यथा आकाशगङ्गाके जलके ‘गोधा, मकर तथा कर्कट’ नामक जलचर जीवोंको
पानीके ऊपर रहनेसे उस आकाशगङ्गाके जलके ऊपर लोकमें निवास करनेवाले ही लोग
देख सकते हैं, आकाशगङ्गाके नीचे भूलोकमें निवास करनेवाले हमलोग नहीं देख पाते, किन्तु
यहा जलझोडा करते हुए देवोंके भयसे जब वे जीव पानीके निचले सतहपर आ जाते हैं
तब हमलोग भी उन्हें देख लेते हैं । जलमें झोडा करनेवालोंके भयसे जलचर जीवोंका
जलके भीतर दूबकर छिप जाना स्वभाव होता है] ॥ २० ॥

स्मरस्य कम्धु किमय चकास्ति दिवि त्रिलोकीजयवादनीय ।

कस्यापरस्योद्धमयै प्रसूनैर्वादित्रशक्तिर्घटते भटस्य ॥ २१ ॥

स्मरस्येति । त्रिलोकीजये वादनीयो वादनाहं स्मरस्य सवन्धी अथ प्रत्यक्ष-
दरयो विशाखानक्षत्ररूप कम्धु शङ्ख दिवि चकास्ति किम् ? उत्तरप्रदेशो वदित
वाद्य सर्वत्राकर्ष्यत इति गगने स्थापितो लोकप्रथविजयवादिनाहं कामस्यैव कम्धु-
किमित्यर्थ । यस्मादपरस्य कस्य भटस्योद्धमयैस्तारारूपे प्रसूनै कृत्वा वादित्रशक्ति-
र्वाद्यनिर्माण घटतेऽपि स्मरस्यैव धनुर्माणाना पुष्परूपत्वदशनात्तद्दीपस्यैव वाद्यस्य
पुष्परूपत्वसमावनाया युक्तत्वात् ताराकुसुमरूप कामशङ्ख पृथाय गगने शोभते, न
त्वन्यदीय इत्यर्थ ॥ २१ ॥

तीनों लोकके विजयके लिये बजाने योग्य, कामदेवका यह (इस्यमान विशाखानक्षत्ररूप)
शङ्ख आकाशमें शोभ रहा है क्या !, (क्योंकि तारारूपी पुष्पोंमें) बाजा बनाना (पाठा०—
बनानेकी शक्ति) दूसरे किस शरीरमें घटित होती है ? अर्थात् किसीमें नहीं । [अधिक
ऊँचे स्थानसे बजाया गया बाजा बहुत दूरतक सुनायी पड़ता है, अत एव तीनों लोकपर

विजय पानेके लिए कामदेव भी अधिक कँचे स्थान—आकाशमें चढ़कर बजानेवाले शङ्खको लिया है, (अथच—कामदेवको देव होनेसे उसके शङ्खको भी स्वर्गमें दृष्टिगोचर होना उचित हो है) क्योंकि दूसरा कोई ऐसा शूरवीर नहीं है, जो पुष्पोंको बाजा (शङ्ख) बजाकर उसके बजानेसे तोनों लोकोको जीत ले । कामदेवके वनुष-बाणको पुष्पमय होनेसे उसके शङ्खको भी पुष्पमय होना उचित हो है] ॥ २१ ॥

किं योगिनीय रत्ननी रत्नीश याऽजीजिवत्पद्मममूमुहस्य ।

योगद्धिमस्या महतीमलग्नमिदं वदत्यम्बरचुम्बि कम्बु ॥ २२ ॥

किमिति । येय रत्ननी योगिनी स्त्रीपुसयोगवती, अथ च,—शाक्तमन्त्रसिद्धा मारणोष्ठादनाद्यभिज्ञा स्त्री किम् ? या रत्नीश दिवा निर्जावमिव निजसनिधे अजीजिवत् सजीव चक्रे । पद्मममूमुहत् पद्मानि च समञ्जोचयत् । रात्रौ हि स्त्रीपुसयोगे काम उद्दीप्तो भवति, पद्मानि च सकुचम्वित । अलग्न निराधारमम्बरचुम्बि आकाशवर्ति तारामात्रात्मकत्वावलग्नमराशिभूत वा इदं प्रत्यक्षदृश्य कम्बु तारारूप कञ्चुकोऽस्या रात्रियोगिन्या महतीं योगद्धिं योगसमृद्धिं वदति । दिवादर्शनाभावादिदानीं दृश्यमान शङ्खो रात्रिर्जातेति कथयति । योगशक्तिं विना निराधार वस्तु कथं स्थापयेत् ? योगिन्यपि हि मृगमपि कश्चिज्जीवयति । कश्चिच्च मोहयति मूर्च्छां प्रापयति भ्रान्तं करोति वा । तस्माद्योगिनी किमित्युपेक्षा । 'कम्बु' शब्दस्य नपुंसकत्वमप्यस्तीति पूर्वमेवोक्तं स्मर्तव्यम् । अजीजिवत्, अमूमुहदिति, 'शौ चङि—' इत्युपधादस्व ॥ २१ ॥

यह रात्रि योगिनी (स्त्री-पुरुषके योगवाणी कोई स्त्री, पञ्चा०—शाक्त मन्त्रके प्रभावसे योगनिद्रिको प्राप्त कोई स्त्री) है क्या ? जिसने कामदेवको जीवित कर दिया तथा कमलको मोहिन (निमीलित, पञ्चा०—मूछित) कर दिया । आधाररहित (विशाखा नक्षत्ररूप) यह शङ्ख आकाशमें स्थित है, (इसके द्वारा) इस (योगिनी) की श्रेष्ठ योगसिद्धिको देखो । [दिनमें प्राण कामोदीपन नहीं होनेसे कामदेव मरा-सा रहता है और वह स्त्री-पुरुषके संयोगसे रात्रिमें बढ जाता है तथा कमल रात्रिमें बन्द हो जाते हैं, अत एव जिस प्रकार कोई योगिनी किसी मृत व्यक्तिको जीवित कर देती है तथा किसी सजीवको भी मूर्च्छित कर देती है, तथा अपने योगबलके द्वारा शङ्खको आकाशमें निराधार रखती है, उसी प्रकार रात्रिमें कामदेवके पुनरुज्जीविता तथा कमलको निमीलित करनेसे और तारारूप विशाखानक्षत्ररूप शङ्खको निराधार आकाशमें रखनेसे यह रात्रि भी योगिनी (योगबलसे सिद्धिप्राप्त स्त्री, पञ्चा०—स्त्री-पुरुषके संयोगवाली कुट्टिनी) है क्या ? ऐसा ज्ञात होता है] ॥ २२ ॥

प्रबोधकालेऽहनि बाधितानि तारा सपुष्पाणि निदर्शयन्ती ।

निशाह शून्याध्वनि योगिनीय सृषा जगद्दृष्टमपि स्फुटमभम् ॥ २३ ॥

प्रबोधेति । हे प्रिये ! प्रबोधकाले जागरणसमये, अथ च,—सम्यग्ज्ञानोत्पत्ति-

दृश्यन्ते, तानीध भानि भान्तीति भावः । 'मण्डपोऽस्त्री जनाश्रयः' इत्यमरः । अनुकाष्टम्, वीप्सायामध्ययीभावः, पदान्तरे विभक्त्यर्थः ॥ २५ ॥

सबसे पहले रचा गया (पद्या०—अत्यन्त पुराना), लोको (तीनों या सातो लोकोंमें रहनेवाले प्राणियों, पद्या०—गृहवासी लोगों) का आश्रय ब्रह्माण्डरूप मण्डप (गृह विशेष) शोभ रहा है (अथवा— ब्रह्माण्ड मण्डपके समान शोभ रहा है) । इस (ब्रह्माण्ड, या—मण्डप) के प्रत्येक दिशाओंमें अर्थात् चारों ओर (पद्या०—काष्ठमें) अपनी कान्ति रूप धूलि-समूहको उगलते (गिराते) हुए तथा 'धुन' (काष्ठको जल कर देनेवाला कोट-विशेष) के छिद्रके द्वारके समान ये नक्षत्र इष्टिगोचर हो रहे हैं । [जिस प्रकार अत्यन्त पुराने घरकी लकड़ियोंमें धुन लगनेसे गोलाकार उनके छिद्रद्वार दिखलायी पड़ते हैं तथा उनमेंसे धुनी हुई लकड़ीकी धूलके समान धूलि गिरती रहती है, उसी प्रकार अतिशय प्राचीन एवं लोकाश्रय ब्रह्माण्डके प्रत्येक दिशाओंमें धुनी हुई लकड़ीकी धूलि के समान अपनी कान्ति को नीचेकी ओर फैलाते हुए धुनके छिद्रद्वार के समान गोलाकार ये नक्षत्र जान पड़ते हैं] ॥ २५ ॥

इदानीं सर्वदिग्ध्यापितमोवर्णनं प्राच्यादिक्रमेणोपक्रमते—

शश्वीसपत्न्या दिशि पश्य भैमि । शक्रेभदानद्रवनिर्भरस्य ।

पोप्ल्यते वासरसेतुनाशादुच्छिन्नं पूर इवान्धकारः ॥ २६ ॥

शश्वीति । हे भैमि ! अन्धकारः शश्वी सपत्नी दिक् प्राची तथा वासररूपस्य सेतो सूर्यप्रभामयाद्वाया नाशात् उच्छिन्नो निर्गलः शक्रेभस्य दानद्रवो दानोदक तस्य निर्भरः प्रवाहस्तस्य श्यामः पूर इव पोप्ल्यते श्रुता प्रसरति, प्राच्यो व्याप्तो सीधर्थः । एवं पश्य । प्राच्यामेव चैरावतदानप्रवाहपूरसमं । जलपूरोऽपि यन्धापगमादप्रतिहतप्रसरः सञ्चलितः प्रसरति, 'प्लुद् सर्पणे' इत्यस्माद् श्रुतार्थं यद्द्विवचनम् ॥ २६ ॥

(अन्धकार-वर्णनके प्रसङ्गमें पूर्वदिशाके अन्धकारका पहले वर्णन करते हैं) हे वसन्ति ! मूलरूपी बांधके नष्ट होने (टूट जाने) से ऐरावतके दान (मद) जलरूप धरनेके प्रवाहके समान निर्बाध अन्धकार फैल रहा है, यह तुम देखो । [जिस प्रकार बांधके टूटनेसे जलाशयका प्रवाह निर्बाध होकर फैलता (बहता) है, उसी प्रकार सूर्यप्रभाके नष्ट होनेसे ऐरावतके मदजलके धरने (जलाशय) के प्रवाहके समान बड़ा हुआ अन्धकार पूर्वदिशाको ओर फैल रहा है] ॥ २६ ॥

दक्षिणदिग्ध्यापि तमो वर्णयति—

रामालिरोमावलिद्विविगाहि ध्रान्तायते वाहनमन्तकस्य ।

यद्वाच्यं दूरादव बिभ्यत स्वान्धान्गृहीत्वापस्तुतो विरस्तान् ॥ २७ ॥

रामेति । श्रीरामस्यालिः सेतुः सेतुबन्ध एव श्यामत्वाद्गोमावलिर्वास्यास्तस्या

दक्षिणस्या दिशो विगाहि नितरा व्यापकम् अन्तःकस्य द्विपत्तिर्वाह्णिणदिवस्थ तद्वा-
हन महिष एव ध्वान्तायते कज्जलीलोऽन्धकार इवाचरति । विवस्वान् सूर्यं यद्यम-
वाहन दूराद्दीप्य सहजाश्रमहिषवैरस्मरणाद्विम्यत समयान् स्वानश्वान् गृहीत्वाऽप-
सुन पलायित इव दक्षिणदिशि तिमिर यममहिषवच्छोमत इत्यर्थः । 'अन्तः' पदेन
तद्वाहनस्य दारण्यं सूचितम् । अत एव ततोऽप्यश्वानां मय युक्तम् । ध्वान्ता
यते, 'उपमानादाचारे' 'कसुं वयङ्—' इति वयङ्मतात्तत् । 'सितुरालौ क्षियां
पुमान्' इत्यमरः ॥ २७ ॥

(अब क्रमप्राप्त दक्षिण दिशाके अन्धकारका वर्णन करने हैं—) रामचन्द्रके पुररूपी
रोमावलिवाली (दक्षिण) दिशाने रहनेवाला यमवाहन (भैंसा) अन्धकारके समान आचरण
कर रहा है, जिने देखकर करने हुए अपने (साठ) घोड़ोंको लेकर सूर्य (इस दक्षिण दिशा-
से) मानो दूर चले गये हैं । ['अन्तः' (सबका अन्त करने (मारने) वाला) पदसे
उमके वाहन भैंसेका जो देखा हो कर होना सूचित होना है । स्वामारिक वैर होनेसे वक्तरूप
भैंसेसे घोड़ोंको डरना और उन्हें लेकर सूर्यका दूर हट जाना उचित ही है । भैंसेका रग
काला एव स्वभाव क्रूर होनेसे उने काले एव भयानक रात्रि-सम्बन्धी अन्धकारके समान
आचरण करनेका कहा गया है] ॥ २७ ॥

प्रतीक्षीष्यापि तमो वर्णयति—

एक महाकालफल किलासीत्प्रत्यगिरे सानुनि भानुविम्बम् ।

भिन्नस्य तस्यैव द्विपत्तिपाताद्वाजानि जानामितमा तमासि ॥ २८ ॥

एकमिति भानुविम्बं प्रत्यगिरे प्रतीक्ष्या वर्तमानस्यास्ताचलस्य सानुनि-
कालवशात्पक्व महाकालस्यैन्द्रवारण्या फटमासीत् किल, अहं मय्य इत्यर्थः ।
तथा,—अहमिति पक्षवादा वृन्तच्छयत्वादुच्चतरप्रदेशादधस्ताद् द्विपत्तिपाता-
त्तद्विपत्तिपाताद्भेदोभिन्नस्य विदीर्णस्य तस्य भानुविम्बरूपस्य महाकालफलस्य कृष्णत-
मानित्रीजाग्रथं तमासीति जानामितमा नितरा मन्ये । पर्वतादिकटिभूममुन्नत-
जम्बीरवर्तुल पक्व सदतिरक्त कृष्णबीज महाकालफल ग्रहोपसर्गनिवारणार्थं गृहद्वारे
शृङ्खल्यते । अस्तमयसमयसवन्धात्परिणतकाल रक्त महत कालस्य फलभूत एव
भानुविम्ब महाकालफलमिव, तमासि च विदीर्णस्य तस्य कृष्णतमानि बीजाभोज-
प्रसरन्तीत्यर्थः । अन्यदिगपेक्षया प्रतीक्ष्या सायसमये सूर्यसंख्यासचन्धिन प्रकाश-
स्यामश्रवाद्विपत्तिपातसूचनार्थं तमसा बीजत्वेन निरूपणम् ॥ २८ ॥

(अब क्रमागत पश्चिम दिशाके अन्धकारका वर्णन करते हैं—) पश्चिम दिशाने स्थित
पर्वत अथवा अस्ताचलके क्षिप्रपर सूर्यविम्बरूप (कालवश) एका हुआ 'किन्नाक' नामक
फल था, ऐसा मैं मानता हूँ और इन अन्धकारोंको (लँचेने) पत्थरपर गिरनेसे (पकनेके
कारण शीघ्र) फूटे हुए वसी फलके कृष्णवर्णी बीजरूप मैं सम्यक् प्रकारसे मानता हूँ ।

पर्वनते पत्थरपर गिरे हुए पके फलको टूटने और उसमें बौजोंको सर्वत्र फैल जानेके समान पके फलके तुल्य अरुणवर्ण सूर्यकिरणका अस्वाचलके शिखरसे गिरनेसे चूर-चूर होकर उसके कृष्णवर्ण बौजोंको फैलाना उचिन्त ही है । पकनेपर खाल एवं नीवके समान गोलाकार 'किम्पाक' (महाकाल) के फलको लोग द्वारपर प्रदवावाके निवारणार्थ बाधते हैं, ऐसा वृद्धोंका कथन है । दिनकालके परिणत होनेसे अस्त होनेके समय रक्तवर्ण सूर्यको पके हुए 'किम्पाक' फलके सदृश तथा अन्धकारको पके एवं पत्थरपर गिरनेसे फूटे हुए उस 'किम्पाक' फलके कृष्णवर्ण बौजोंके सदृश कहा गया है । दूसरी दिशाओंकी अपेक्षा पश्चिम दिशामें सायंकालके समय सूर्य सन्ध्यासम्बन्धी प्रकाशके निकटस्थ रहनेसे थोड़े अन्धकारकी सूचित करनेके लिए अन्धकारके बीजरूपमें निरूपित किया है] ॥ २८ ॥

उदीचीव्यापि तमो वर्णयति—

पत्युगिरीणामयश सुमेरुप्रदक्षिणाद्भास्वदनादृतम्य ।

दिशस्तमश्चैत्ररथान्यनामपत्रच्छटाया भृगनाभिःशोभि ॥ २९ ॥

पत्युरिति । चैत्ररथ कुबेरवन तदेवाभ्युद्यम यस्यास्तादृशी पत्रच्छटा पत्रवल्ली यस्याश्चैत्ररथावयवमरूपपत्रवल्लीकाया उत्तरस्था दिशो भृगनाभि पत्रवल्लीरचनासाधनभूता कस्तूरी तद्वच्छोभते एवशील कृष्णतम तमो गिरीणा पत्युर्हिमाचलस्यायश एव । यत — सुमेरो प्रदक्षिणीकरणाद्भास्वता स्थणानादृतस्यावजातस्य । हिमाद्रि यद्यपि गिरीणा पति , तथापि सूर्यानादृतस्याद्धीन एव, मेरुव महान् । 'अस्योद्यान चैत्ररथम्' इत्यमर ॥ २९ ॥

(अथ क्रमागत उत्तरदिशाके अन्धकारका वर्णन करते हैं—) 'चैत्ररथ' नामक वनरूप पत्ररचनावाली दिशा (उत्तर दिशा) के (पत्ररचनासाधनभूत) कस्तूरीके समान शोभनेवाला अन्धकार, सुमेरुकी प्रदक्षिणा करनेसे सूर्यके द्वारा अनादृत गिरिराज (हिमालय) का अयश ही है (या-अयशके समान है) । [यद्यपि पर्वणोंका राजा होनेसे हिमालय पर्वतकी प्रदक्षिणा ही सूर्यको करनी चाहिये थी, किन्तु वे सूर्य हिमालयकी प्रदक्षिणा नहीं करके सुमेरुकी प्रदक्षिणा करते हैं, यह हिमालयका महान् अयश है, जो 'चैत्ररथ' नामक कुबेरवाद्यनरूप पत्ररचना (पक्षियोंकी रचना, पक्षा०—चन्दन, कस्तूरी आदिते स्तनादिपर बनायी गयी पत्राकार चिह्न विशेष) वाली उत्तरदिशा स्थिणी नाविकाके पत्ररचनाके साधनभूत इत्यर्थ वर्ण कस्तूरीके समान शोभना है । उत्तर दिशामें 'चैत्ररथ' नामक कुबेरवाद्यन, कस्तूरी का पर्वतराज हिमालयका होना तथा सूर्यका हिमालयको त्यागकर सुमेरुकी ही प्रदक्षिणा करना सर्वविदिन है] ॥ २९ ॥

उर्ध्वदिग्वापि तमो वर्णयति—

ऊर्ध्व धृत व्योम सहस्ररश्मेर्दिवा सहस्रेण करंरिवासीत् ।

पतत्तदेवाश्रुमता विनेद् नेदिष्ठतामेति कुतस्तमिहम् ॥ ३० ॥

ऊर्ध्वमिति । तमालरयामलं यद्द्वयोर्म दिवा सद्वारस्मै सहस्रमर्त्यै कर किरणैः ।
अथ च,—हस्तै ऊर्ध्वं दूराच्छप्रदेशे घृतमिवासीत्, तत्रम एवेद तमालरयामलमनु
मना विना सायसमने सूर्यविनाशाद् धारकेण तेन विनाश पतत्सर्वे नेदिष्टनामतिनमां
नैकद्वयेनेति । तमिख कुन कस्माद्वायनम् ? अपि तु निमिर नाम किमपि नास्ति,
किंतु निकटीभवद्गगनमेव तमिखमिन्द्रियं । पतद्द्वयोर्मेव तमिख कुनो भूमौ निकटना
मेति ? ननु तदनिरिक्त तमोऽस्तीति वा, अन्यदपि प (न) एकस्यचि क्काम्यामूर्ध्वं
धार्यते, तदभावेऽथ पतत्येव । नेदिष्टनाम्, अनिशापने इष्टनि 'अग्निहोत्रादयो —'
इति नेद्वैश । कुत, पथे सार्वविमलिकुलसि ॥ ३० ॥

(चारों दिशाओंके अन्धकारका वर्णन करनेके करारान् अब ऊपरके अन्धकारका वर्णन
करने हैं—) दिनने (कृष्णवर्ण) जिस आकाशमें सूर्यरश्मि (सूर्य) की किरणों (किरणों,
पञ्चा—शायेंसे) ऊपरमें मानो धाराकर रक्खा था, वही यह आकाश सूर्यके दिना मानो
समीपमें (नीचेकी ओर) जा रहा है, अन्धकार कमाने क्या ? अर्थात् यह अन्धकार नहीं
मूर्ध्नामाने नीचेकी ओर गिरता हुआ कृष्णवर्ण यह आकाश ही है ॥ ३० ॥

अधोदिग्वापि तमो वर्गयति—

ऊर्ध्वार्पितन्युज्जकटाक्षल्पे यद्रूपोन्मि दीपेन दिनानिपेन ।

न्यघायि तद्भूमिलद्गुरुत्वं भूमौ तम कज्जलमस्त्रलत्किम् ॥ ३१ ॥

ऊर्ध्वति । सामर्थ्याद्विना ऊर्ध्वं सूर्यदीपस्यैवोपरि माने अर्पितो भ्युज्ज कज्जल-
धारणार्थमधोमुखो महान् क्यह कर्परं तत्कवे तत्तुल्ये कृष्णतमे स्योमि अधिकरने
प्रकाशकारिणा कज्जलधारणार्थेन दिनानिपेनेव दीपेन करनेन यत्कज्जल न्यघायि न्य-
शनम्, तत्कज्जलमेव तमो भूम्ना क्रमसञ्जातबाहुवयेन कृत्वा मिलद् युक्त पनना-
अयकर्मकारण गुरुत्व यस्य तादृश सङ्गमावस्थलत्वं किम्, अतिनारोग पतितं किम् ?
गुरुत्वाद्धि पतन युक्त, तत्कज्जलमेव भूमौ पतित किम् ? अपि तु तमो नाम न
किंचिद्विशेष्य इति वा । कज्जलमपि कर्परे एव क्रमेण बहु भवद्गुरुत्वाद्भव पतति ।
'कटाह कर्परे तथा' इति निधगृह । ईषदसमाप्तौ कश्चप ॥ ३१ ॥

(अब नीचेके अन्धकारका वर्णन करने हैं—) सूर्यरूपी दीपने अधोमुखकर कर रखे
गये कटाह (विद्यालभ कटाह) के समान आकाशमें जिस अन्धकाररूप कागडकी छोटा,
क्रमशः सञ्चित होते रहनेने अधिक भारी हुआ वही अन्धकाररूप कज्जल पृथ्वीपर गिर पडा
है क्या ? [जिस प्रकार दोनके ऊपरमें सञ्चित रखे हुए लकड़ने के घाट पड़ने होते-
होते बहुत शीतल मारीपनने पकाएक नीचे गिर पडता है, उसी प्रकार सूर्यरूपी दीपकके
ऊपर आकाशरूपी विद्यालभ लकड़को ब्रह्मने लट्टकर रख दिया था और उसने बहुत पक-
जित कज्जल भारी होनेसे पृथ्वीपर गिर पडा है क्या ? ऐसी अन्धा होती है] ॥ ३१ ॥

ध्वान्तैगनाभ्या शितिनाम्बरेण दिश शरै सूनशरस्य तारै ।

मन्दाक्षलक्ष्या निशि मामनिन्दौ सेर्या भवायान्त्यभिसारिकाभा ॥३२॥

ध्वान्तेति । ध्वान्तेनैवैगनाभ्या कस्तूर्या तथा,—शितिना नीलेनाम्बरेण गगनेन, अथ च,—वस्त्रेण, यद्वा,—ध्वान्तैगनाभ्या कृत्वा नीलेन गगनेनोपलक्षिता । तथा,—निशितत्वाऽपुष्पतुल्यरूपत्वाच्चोऽज्ज्वलै तारैर्नक्षत्रैरेव सूनशरस्य कामस्य शरस्य लक्षिता, अथ च,—तारैरज्ज्वलै पुष्पैरुपलक्षिता । तथा,—प्रकाशाभावान्मन्दाक्षै मन्दतयनैर्नक्षत्रैरलक्ष्या लक्षणीया, अथ च,—मन्दाक्षस्य लज्जाया विषयभूता मलज्जा । अत एवाभिसारिकाभा स्वैरिणीतुल्या दिशोऽनिन्दौ चन्द्ररहितायामनुदितचन्द्रत्वा चक्षुषामाया निशि मामायान्ति प्रत्यागच्छन्ति । तस्मात्सप्तनीघ्रान्त्याश्च सेर्या भव । अभिसारिका अपि शुभ्राया रात्रौ शुभ्रवस्त्राणाभरणा, कृष्णाया च रात्रौ कृष्णवस्त्राणाभरणा समायान्ति, ता अपि कस्तूरीकृताङ्गरागा नीलवसना प्रबुध्वजघनपुष्पा कामबाणपीडिता सलज्जा सत्य कामुकप्रति समायान्ति, तदीयनादिका च सेर्या भवति, तथा दिशोऽपीत्यर्थः । सर्वा अपि दिश एकत्र मिलिता इति प्रतीतिः । तिर्यङ्मयापि तमो वर्णितमनेन । 'कान्तार्थिनी तु या याति सकेतः साभिसारिका' इति । 'मन्दाक्षमन्दा' इति पाठे मन्दतयनानामक्षद्वयस्तमोबाहुषयात् । अथ च,—तमोबाहुषयान्मन्दाक्ष्य, अत एव मन्दगमना इत्यर्थः । 'तार' शब्दः पूर्ववत् । मन्दाक्षेति पुनर्वाचः ॥ ३२ ॥

(हे प्रिये वसयन्ति !) अन्धकाररूप कस्तूरी (पक्षा०—कस्तूरीतुल्य अन्धकार) से युक्त, काले कपडे (पक्षा०—आकाश) से उपलक्षित कामबाणोंसे पीडित (पक्षा०—कामबाण = पुष्पोंके समान श्वेतवर्ण ताराओंसे युक्त), लज्जायुक्त (पक्षा०—नेत्रको सङ्कुचित किये हुए खोर्गोंसे ढेछी जानेवाली) अभिसाराभिराषिणी दिशारूपिणी नायिकाएँ चन्द्ररहित अर्थात् अन्धकारयुक्त रात्रिमें मेरे पास आ रही है (अत एव तुम) ईर्ष्यायुक्त होवो । [जिस प्रकार कृष्णपक्षकी अँधेरी रात्रिमें कस्तूरीसे सुगन्धित काला कपड़ा पहनी हुई, कामपीडित लज्जानी हुई नायिका नायकके पास जाती है, तब नायकके समीपस्थित उसकी की उस अभिसार करनेवाणी कीके प्रति ईर्ष्या करती है, उसी प्रकार उक्तरूपा दिशारूपा ये अभिसारिकाएँ मेरे पास आ रही हैं, अत एव तुम इनके प्रति ईर्ष्या करो । जब एक अभिसारिकाके भी नायकके पास आनेपर उसकी परनी उस अभिसारिकाके प्रति ईर्ष्या करती है, तब बहुत दिशारूपिणी अभिसारिणी नायिकाओंके आनेपर उनके प्रति तुम्हें अनिश्चय ईर्ष्यायुक्त होना उचित है] ॥ ३२ ॥

भास्वन्मयी मीलत्यतो दृश द्राक्ष्मियोमिलद्वयञ्चलमान्पुन ।

आचक्ष्महे तन्वि । तमासि पद्म श्यामत्वलक्ष्मीरिजितेन्दुलक्ष्म ॥३३॥

भास्वदिति । हे तन्वि कृशाङ्गि । भास्वन्मयी रविरूपां दृष्टिणां दृशमस्तमय

एषानेन द्वाक् सीध मीलयत सकोचयत आदिपुनः ॥ विष्णोर्निधोऽन्योन्य मिलन्तो
द्वावप्यल्लवूर्ध्वांश्च पुनरेव निमीलनवशादन्योन्यमल्लवुदवाविदिदरोमरुम्, अन
पुन इषामचउक्ष्मा विनितं नितरा पराभूतमिन्दुलक्ष्मयेन तादृश पचन नेत्रपवन्त्यु-
र्ध्वांश्च पुनरप्रीमूतरोमाग्नेव तनापि वयनावचनहे भूम, नतु तनोऽन्यानि तमासी
त्यर्थः । तिमिरव्याप्तकारिकमपि न दृश्यत इति भावः । 'पचन' इति जालेकवचनम् ॥

मूर्ध्ना (दहने) नेत्रको क्षीय बन्द करते हुए आदिपुनः (आदिपु नवान्) के
परान्तर्गते मित्रने द्वय दोनों प्रान्त (नेत्रप्रान्त) बाजा तथा कटिमाते चन्द्रकण्टके वंशने
बाजा मर्चाव वधने अविक्र काठे पञ्च (पञ्चके बाजों) को हा हन मन्वहार करते हैं ।
[हमने मित्र 'अन्वहार' नामक कोरे पदार्थ नहीं है । विष्णु भगवान्के दक्षिण तथा वाम
नेत्रमन् मूर्ध तथा चन्द्रमाके होनेसे मूर्धान्त होनेपर दहने नेत्रको बन्द करने और नेत्रको
बन्द करनेपर इनके प्रान्तद्वय (दोनों पञ्चकों) को भी बन्द होना तथा बाजमें घनीभूत
कुत्तारोंन समूहका घनीभूत होकर अन्वहार मायान पञ्चनेकी वज्रैश्या की गर है] ॥३३॥

विषस्वतानायिपतेन मित्रा म्वगोमहत्सेन सनं जनानाम् ।

गावोऽपि नेत्रापरनामधेयास्तेनश्मान्धस्य खलु नान्धकारिः ॥ ३४ ॥

विषस्वतेति । विषस्वता नेत्रमिषर नामनेन यामां तावच्चरुपा जनाना
गावोऽपि स्वयं गवा किरगना महत्सेन सनं मह मित्रा दिने मिथिता मर्चाऽ-
नायिपतेव नीता इव । यस्मात्तेन खलु तेनेवश्मान्धस्य प्रजासामावाग्नेत्रापगनाश्च
रुपाप्रहृण, नान्धकारै कृत्वेवनाम्भ्यम् । तनोवसाकिमपि न दृश्यत इति भावः ।
अभ्येनापि गोपालेन स्वगोमहत्सेन मिथिता परेषामपि गावो मीयन्त इति ॥ ३४ ॥

सूर्य नेत्र (बाँछ) रूप नामान्तरकाठे, लोगोंके गौओं (पञ्चा०—नेत्रों) को अपने
स्वयं गौओं (किरगों, पञ्चा०—नेत्रों, वा—गौओं) के साथ माने लेकर चले (बल हो)
गये हैं, इसीने वह प्रकार मान है, व्यवहारोंसे नहीं । [लोकमें या कोरे गोता करनेकी
सहजों गौओंके साथ दूसरे लोगोंकी गौओंको भी मिश्रकर विष प्रकार चला जाता है,
वसा प्रकार सूर्य ना अपनी सहजों गौओं (किरगों, पञ्चा०—गौओं) के साथ अन्य
लोगोंके गौओं (पञ्चा०—नेत्रों) को लेकर बल होनेके बाद चल गये हैं, अब वह मूर्खों
किरणों (नेत्रों) एवं लोगोंके नेत्रोंके नहीं रहनेसे ही यह अन्वहारभाव (पदार्थदर्शन-
शक्त्यभाव है, अन्वहारके कारणसे नहीं । यहाँ 'गो' शब्द मूर्खोंमें किमार्थक तथा
चनमूर्खोंके पञ्चने नेत्रार्थक तथा गवार्थक है] ॥ ३४ ॥

ध्वान्तम्य यामोह । विचारणाया वैशेषिकं चारुमनं नतं मे ।

औच्छ्रकमाह खलु दर्शनं तत्क्षेप तन्मस्तत्त्वनित्यपजाय ॥ ३५ ॥

ध्वान्तस्तेति । हे वानोह अनिमुन्दरोह । ध्वान्तस्य विचारणाया तमस्वहृर
नहृराविषये वैशेषिकं नतं चद्रदार्पणार्थवैधर्म्यनिरूपणमकं कागादं दर्शनं धाह

सदुपपत्तिक, नखन्यदिति मे मत समतम् । खलु यस्मात्कारणात् (सप्रदायविद्)
तद्दर्शनं वैशेषिकशास्त्रं औलूकमाहुर्वदन्ति । अत एव तमस्तत्त्वनिरूपणाया नारो-
पितस्वरूपनिरूपणाय चम समर्थम् । उल्लूकस्य धूकस्य सवन्धि इत्यतेऽनेनेति दर्शनं
नेत्रं हि तमस्यपि घटपटादिस्वरूपाणां याथात्म्यदर्शने समर्थं भवति । वैशेषिकम-
न्युल्लूकारणान्ना कणादमुनिना प्रोक्तमित्यौलूकं दर्शनम् । ततश्चेतदपि तमस्तत्त्व-
निरूपणाय समर्थमिति युक्तमित्यर्थ इति शब्दच्छूलम् । वैशेषिकदर्शने च 'किमिदं'
तमो भावरूप अभावरूप वा ? इति सन्देहे 'भासामभाव एव तमः' इति सूत्रविरो-
धेन श्योमशिवाचार्यादयः घटपटार्थवैधर्म्येणाभावरूपमेव तमो म्यरूपयन् । श्रीधरा-
चार्यास्तु—'आरोपितं भूरूपमेव तमः' इति निर्वर्ण्य 'भासामभावे सत्येव तमः प्रतीते-
र्भाभाव एव तमः' इत्युक्तमिति सूत्रविरोधपर्यहापुं । एतदसहमाना श्रीमदुदयना-
चार्याश्च पुनर्भासामभावमेव तमस्तत्त्वेन निरूपयन् । यस्मात्तदौलूकं दर्शनं वैशेषि-
कादिशास्त्रं तमस्तत्त्वनिरूपणाया चम समर्थमाहुरिति वान्वयः । महाम्बधकारे
सत्यपि घटादिपदार्थजातं को वा पश्यतीति ध्वान्तनिरूपणार्थं क्रियमाणार्थां
धूकनेत्रमेव आह सर्वेभ्योऽप्यधिकमिति मम मतं मतं पुनः पुनः समतमित्यर्थः ।
उल्लूकनेत्रमेव महाम्बधकारे घटादि विभोक्तयितुं समर्थम् । अन्यदीयनेप्राणां वाग्य-
मेव जातमिति भावः । यतो वैशेषिकं घटादीन्विशेषयान्नेति तादृशम् । महाम्बधकारे
धूकनेत्रमेव घटादीन्भेदेन जानाति, नखन्यदीयं नेत्रम्, तस्मात्तदेव चार्चितम् । तत्र
वृद्धस्तमस्यार्थमुत्तरार्थम् । उल्लूकवृत्त्या कणान्तीति कणाद्, तस्य कणादस्यैवोल्लूक-
इति माम्, तेन प्रोक्तत्वादौलूकम् । वाम सख्ये प्रतीये च द्रविणे चातिसुन्दरे' इति
विश्वः । वामोरु, 'सहितशक—' इत्यादिनोक्तिं नदीत्वादध्वरवः । औलूकम्, 'तेन
प्रोक्तम्' इत्यण् । पक्षे 'तस्येदम्' इति ॥ ३५ ॥

हे वामेश ! अम्बधकारके स्वरूप-निरूपणके विषयमें वैशेषिक मत (कणादोक्त दर्शन-
शास्त्र) युक्तियुक्त है, ऐसा मेरा सिद्धान्त है, क्योंकि (सप्रदायको जाननेवाले लोग)
उस वैशेषिक मतको औलूक दर्शन (कणादोक्त शास्त्र-विशेष, पक्षा—उल्लूका नेत्र)
कहते हैं, अतः एव अम्बधकारकी वास्तविकताका निरूपण करनेके लिए वही (औलूक
दर्शन ही) समर्थ है । [उल्लूका नेत्र अम्बधकारमें घट-पटादि समस्त पदार्थोंको वास्तविक-
रूपमें देखता है, इस वास्ते उल्लूके समान कणको खानेवाले 'कणाद्' नामसे प्रसिद्ध ग्रन्थ
कर्णाका शास्त्र भी 'औलूक' कहलाता है और उस 'औलूक' दर्शन (शास्त्र) को उल्लू-
पक्षीके नेत्रके समान अम्बधकारमें पदार्थोंको वास्तविकरूपमें निर्णय करना उचित ही है ।
अथवा—उल्लू ही अम्बधकारमें पदार्थोंको यथार्थरूपमें देखता है, इस विषयको योगरहसे
उल्लूका रूप धारणकर साक्षात् स्वयमेव समझनेके बाद 'कणाद्' के बनाये गये उस
शास्त्रकी अम्बधकारके विषयमें यथार्थ निर्णय करना उचित ही है । उक्त वैशेषिक दर्शनमें—
'तम भावरूप है ? या अभावस्वरूप ?' ऐसा सन्देह होनेपर 'तत्रोक्ता अभाव ही तम है'

एतदर्थक 'मासामभाव एव तम्' हम सूत्रके अविरोधके लिए न्योमशिवाचार्यादिने ॥ पदार्थोंके दैर्घ्यसे अभावरूप तमको युक्तियुक्त माना है, किन्तु श्रीधराचार्यने 'आरोपित भूरूप हो अन्वकार है' ऐसा निश्चयकर 'तेजोंके अभावमें वास्तविक रूपसे अन्वकारका शान होनमें तेज भाव ही तम है' ऐसा कहकर सूत्रके विरोधका परिहार किया है। परन्तु उदयनाचार्यने 'तेजोंके अभावको ही अन्वकार' मानकर श्रीधराचार्यके मतका खण्डन कर दिया है] ॥ १५ ॥

मलानिस्पृश स्पर्शनिषेधभूमे सेय त्रिशङ्कोरिव सपदस्य ।

न किंचिदन्यत्प्रति कौशिकीरे दृशौ विहाय प्रियमातनोति ॥ १६ ॥

मलानोति । मलानिस्पृश कालिमस्पर्शिन इयामस्य, अथ च,—चण्डालावान्मा लिन्ययुक्तस्य नि श्रीकस्य । तथा,—अभावरूपत्वात् स्पर्शगुणनिषेधस्य भूमे स्थानस्य, अथ च,—चण्डालादेवास्त्वरस्यास्य तमस राज्ञश्चित्रशङ्कोरिव सेय प्रसिद्धा प्रत्य चैण गृह्यमाणा च सप्त बाहुष्येन स्वरूपलाम्, अथ च,—राज्यसमृद्धि कौशि- कीये भौल्लके, अथ च,—वैश्यामित्रे दृशौ नेत्रे विहायान्यत्किंचिदपि अपर किमपि वस्तु लक्ष्यीकृत्य प्रिय हित नातनोति करोति, किन्तु तदीये एव नेत्रे लक्ष्यीकृत्य हित करोति । अन्यत्प्रति किंचिदप्यपि प्रियं नातनोतीति वा, अन्वकारे झलकनेत्रे एव पदार्थान्परयत् इति तात्पर्यस्यो प्रिया । त्रिशङ्कोश्च सप्तद्विधामित्रस्यैव नेत्रयो प्रिया, नान्यस्य । एतदुपायान्न रामायणादौ प्रसिद्धम् । कौशिकीये, 'वृद्धाच्छ' ॥

मालिन्ययुक्त, अभावरूप होनेसे अस्पृष्टादे इत अन्वकारकी प्रत्यक्ष इष्टमान बहुला वल्लके नेत्रों के अतिरिक्त दूसरे किसीके प्रति वस प्रकार हित नहीं करती है, (किन्तु अन्य किसीको हम अन्वकार बाहुष्येन कोर पदार्थ दिखाने नही पढ़नेमें यह इत अन्वकार बाहुष्येन वल्लके नेत्रोंको ही हित होता है), मित प्रकार (वसिष्ठ मुनिके शानने) चण्डाल होनेके कारण मलिनतायुक्त तथा स्पर्शके अयोग्य हम प्रसिद्ध त्रिशङ्क नामक रामाकी राज मन्त्रि विश्वामित्र मुनिके नेत्रोंके अतिरिक्त दूसरे किसीके प्रति प्रियकारिणी नहीं थी अर्थात् उन त्रिशङ्क की राज-मन्त्रिती देखकर विश्वामित्र ही प्रमत्त हुए दूसरा कोई प्रसन्न नहीं हुआ] ॥ १६ ॥

पौराणिक कथा—जब महर्षि वसिष्ठजीके शानने राजा त्रिशङ्क चण्डाल हो गये तब उन्होंने यश करके सशरीर स्वर्ग जाना चाहा, किन्तु जब उनके यश करानेके लिए कोई श्रद्धावित्र नहीं मिला तब वे वसिष्ठजीके परम वैरी विश्वामित्रजीके पास जाकर अपनी इच्छा प्रकट किये और विश्वामित्रजी भी यश कराकर उन्हें सशरीर स्वर्गमें ले जानेकी प्रतिज्ञाकर यश कराने लगे । इसके अनन्तर स्वर्गमें जाने हुए राजा त्रिशङ्कको चण्डाल होनेसे देवोंके द्वारा अपोमुखकर नीचेकी ओर गिराये जाने हुए देखकर विश्वामित्रजी स्वर्ग तथा भूलोकके वाचमें ही दूसरा स्वर्ग बनाने लगे, जिने प्रजाजीने स्वयं आकर विश्वामित्रको वैसा करनेसे रोका और 'त्रिशङ्क' को वहीं रहनेका स्थान दिया, जो अब तक तारारूपमें वहीं विद्यमान है ।

मूर्धाभिषिक्त खलु यो ग्रहाणा यद्भासमास्कन्दितच्छशोभम् ।
दिवाब्धकार स्फुटलब्धरूपमालोकतालोकमुल्लूकलोक ॥ ३७ ॥

मूर्धेति । यो रविः । नवाना ग्रहाणा मध्ये खलु निश्चित मूर्धाभिषिक्तो राजा ।
उल्लूकानां लोक सहस्तस्य रवेर्भया दीप्या समास्कन्दिता नितरां पराभूता ऋ-
शोभा नक्षत्रकान्तिर्यस्मिस्तत् । तथा,—स्फुटमुपलब्धानि अन्येन जनेन दृष्टानि
घटादिवरूपाणि यस्मिस्तादृशमपि दिवा कर्माभूत दिनमन्धकारमेवालोकतः । दिने
तस्य दर्शनाशक्तेर्दिनमन्धकाररूपत्वेनैव मेने इत्यर्थः । तथा,—अप्यलब्धानि
घटादिरूपाणि यत्र तादृशमन्धकारमेवालोकमपर्यदर्शनसहकारिप्रकाशरूपत्वेनैव
मेने । (अर्थाद्वाश्रावित्यर्थः ।) अन्धकार स्फुटलब्धरूपमिदं यत्तु योऽप्यस्य । तेन
तमसा विपरीतदृश एव भवन्तीति व्यज्यते । एवविधमन्धकार च स्फुटमतिप्रसिद्ध
शुक्लभास्वरारमक लब्ध रूप येन तादृशमालोकमेवापश्यत् । कृष्णरूपमपि तम
शुक्लभास्वरालोकत्वेनापर्यदिति विद्वमित्यर्थः । अथ च,—यो ग्रहा राज सूर्यः,
आकाशतनचक्षुरलक्ष्मीकां तज्जात सूर्यदीप्तिमेवायमुल्लूकलोको दिवा दिनेऽन्धकारम
पर्यत् । रात्रौ चान्धकारमालोकमपर्यत्, दिने सूर्यालोक एव तमः, रात्रौ च तम
एव सूर्यालोक इति दर्शयति । कीदृशी तज्जातम् ? कीदृशमन्धकारम् ? स्फुटमुप-
लब्धानि घटादिरूपाणि यस्यामन्यजनेन तादृशीम्, स्फुटसजातस्वरूपलाभ चेत्-
मन्धकारस्य नपुंसकधातुसकैकशेषैकवद्भावेन वा व्याख्येयम् । सूर्यदीप्याऽसमा-
स्कन्दिताऽपराभूता नक्षत्रलक्ष्मीर्यत्र तम्, अन्धकारविशेषण वा । रात्रौ सूर्य
दीप्तेरभावाद्वातिरङ्गुलनक्षत्रशोभामित्यर्थः । सूर्यदीप्तेरेव समास्कन्दनसामर्थ्यात्तममेव
रात्रौ यत्तिरङ्गुलन तेन नक्षत्रशोभा यस्मिन्निति वा इत्यादिभ्यामपमानानि ज्ञात-
व्यानि । 'लक्ष्मीम्' इति पाठे—नदीत्वेऽपि समासात्तविधेरतिशयावाक्यभावः ।
'मूर्धाभिषिक्तो राजस्य' 'अन्धकारोऽखियाम्' इत्यमरः ॥ ३७ ॥

ओ सूर्ये ग्रहो मे मूर्धाभिषिक्त राजा है, उल्लूकोंके समुदायने उस सूर्यको प्रभासे
पराभूत नक्षत्र-प्रकाशवाले तथा (उल्लूके अतिरिक्त दूसरे लोगोंके द्वारा) स्पष्ट दिखलायी
देता है (घट-पटादिका) स्वरूप जिसमें ऐसे दिनको अन्धकार रूपमें देखा (जिसमें
सूर्यकान्तिने नक्षत्र-शोभाको नष्ट कर दिया है तथा सब घट पटादि पदार्थोंको लोग स्पष्ट
देख रहे हैं, उस दिनको ओ उल्लूकोंने अन्धकार माना) तथा (रात्रिमें) उस सूर्यके प्रभासे
अपराभूत नक्षत्र-प्रकाशवाले तथा (उल्लूकोंके द्वारा) स्पष्ट दिखलायी देता है (घट
पटादिका) स्वरूप जिसमें ऐसे अन्धकारको प्रकाशरूपमें देखा अर्थात् उक्तरूप दिनको
अन्धकार तथा रात्रिमें प्रकाश समझा । अथ च—ओ सूर्य ग्रहा राज है, उल्लूकोंके
समूहने दिनमें उस सूर्यको प्रकाशके द्वारा नष्ट किये गये नक्षत्र-प्रकाशवाले एवं दूसरोंको
दृश्यमान घट पटादिस्वरूपोंके प्रकाशको अन्धकार मानो तथा रात्रिमें उस सूर्य-प्रकाशके

द्वारा नहीं नष्ट किये गये न पत्र-प्रकाशने एवं अग्नेको दृश्यमान घट रसादित्वकारणसे
अन्वकारको प्रकाश माना (ऐसा यह अन्वकार है) ॥ ३७ ॥

दिने मम द्वेपिणि कीन्तेषा प्रचार इत्याकलनाय चारी ।

छाया विधाय प्रतिवस्तुलगा प्रावेशय-प्रष्टुमिवान्वकार ॥ ३८ ॥

दिन इति । अन्वकार ह्वायकलनाय सामर्थ्येन जनार्थं प्रतिवस्तुलगा पदार्थ
मात्रमवद्धा प्रतिवक्ष्याया एव चारीगूढार्थवेदिकाश्राव्यो विराय चरपद् ताव्यो
दत्वा दिन प्रति समेष्व समानतास्वास्वत्रयवृत्तान्त प्रष्टुमिव पुन प्रावेशय । निन
नैकत्रयव्यप्योत् । इति किम् ? समान्तरकारस्य द्वेपिणि सामर्थ्यमाने दिने विषये
पुषा वस्तुना कीदृक् प्रचारो विहरण स्नेहादिष्ववधारयेति । दिवा प्रतिपदार्थमवद्धा
वक्ष्याया एव रात्रौ समानस्य मिलिता निजस्वामिनमन्वकार प्राविशन् । रात्री हि
प्रकाशमात्रे छाया अन्वकारेण सदैकीमवृत्तानि तत्प्रवृत्त्यादेव महानन्वकार प्रतीयन्
इति भाव । एतेन प्रतिवक्ष्यायापि तम एवेति चर्गितम् । अन्वोऽपि रात्रौ छाकस्यिनि
ज्ञानुकाम श्रोगा सर्वत्र प्रवेष्टु शक्य-वाच्यारानारा समेष्व तत्र-य वृत्तान्त विचार्य
समानतास्वा प्रष्टमारममविष प्रवेत्तयति । छाया एव चारी प्रतिवस्तुलगा विधायेति
वा । चारयन् दत्वा पदिन प्रत्येक प्रेययामाय । अत्र एव सा दिने प्रतिवस्तुलगा
हरयन् इति वा । चारी, पुषोपान्दो ॥ ३८ ॥

‘मेरे शत्रु दिनमें इन (पक्ष्यादि उशवों) को कैसी स्थिति (पक्ष-शकादिविवक्ष
स्नेह) है, हम बातोंको अच्छे तरह जाननेके लिय अन्वकारने प्रत्येक पक्ष्योंके माथ लगान
छाया (पराङ्ही) को दूनी बनाकर (हम समय रात्रिमें उक्त कर्मको पूराकर छोटी हुई)
उन दूनीछोरीगी छायाओंका मानो उनमें उक्त बात पूजनेके लिय प्रवेश कराया है ।’
[छोड़नें मो कोई रात्रा अदि जाने शत्रुमाके दश रहनेवाले अमरशक्तिकी स्थिति
जाननेके लिय सर्वत्र सरलगने पशुवनेशाने त्रिपोंको दूनी बनाकर भेज देना है, और अत्र
वे बहाकी बातोंको जानकर छोटीगी हैं तब उनमें सब बातोंको पूजनेके लिय अरन पान
जुलावा (प्रविष्ट करावा) है । हमने दिनमें प्रत्येक पक्ष्यने सम्बन्ध रखनेवाली छाया ही
रात्रिमें एकत्रित होकर अन्वकारका हो रही है, अत्र एव छाया मो अन्वकारका हा भग
है, अन्वकारसे मित ‘छाया’ नामक कोई वस्तु नहीं है] ॥ ३८ ॥

इदानीं चन्द्रोदय वर्णयितुमुपक्रमते—

ध्वान्तम्य तेन क्रियमाणयेत्य द्विव शशो वर्णनयाऽथ रुष्ट ।

उद्यन्तुपाग्लोकि जपारुणश्रोतेराधिपेनानुनयेन्द्रयेव ॥ ३९ ॥

ध्वान्तस्थेति । तेन चराधिपेन नयेन इयं क्रियमाणया द्विव शत्रुभूतस्य
ध्वान्तस्य वर्णनया एव क्रुद्ध इव जराशुमुमवदरुणा आर्यस्य ॥ उद्यन्तुदय प्राप्नुवन्
शशो तेनैव राजाधानन्तरमनुनयेन्द्रयेव प्रमादतवान्द्रयेवो सरलौकि रजोके स्त्रोनुमा-

रश्मि । अन्योऽपि वैरिवर्णनया कष्ट सन्नरगो भवति, यत्परिहारार्थमुदित सन् वर्णं
केन प्रसादनाय स्तूयते । प्रतीयमानोऽप्येषा । 'हव'शब्दस्योभययोजना वा । उपा
रलोकि, 'सत्या—' इति निजन्ताऽकर्मणि चिन् ॥ ३९ ॥

अनन्तर उम राजा (नल) के द्वारा किये गये इस प्रकार (२२।२६—३८) के वर्णन
से दृष्ट-से (अन एव) ओढलके पुष्पके समान लाल और उदय होते (पक्षा—भा
वते हुए) चन्द्रमाका मानो अनुनय करने (मनाने) की इच्छासे श्लोकों द्वारा स्तुति
करने लगे । [लोकमें भी कोई व्यक्ति शत्रुके वर्णन करनेसे, यह होनेसे रक्तर्वा होकर
आगे बढ़ते हुए व्यक्तिकी प्रशंसा करनेके लिए स्तुति करता है । अन्वकारके बाद उदित होने
हुए अरुणवर्ण चन्द्रमाको देखकर राजा नल अन्वकारका वर्णन करने लगे] ॥ ३९ ॥

पश्यावृत्तोऽप्येष निमेषमद्रेरचित्यकाभूमितिरस्करीण्या ।

प्रवर्पति प्रेयमि । चन्द्रिकाभिश्चकोरचञ्चूचुलुकप्रमिन्दु ॥ ४० ॥

पश्येति । हे प्रेयमि प्राणप्रिये । एष इन्दुश्चन्द्रिकाभिश्चकोराणां चन्द्रिकाजवद्-
भूतपापिना पक्षिणा चञ्चव एव चुलुकास्तान्पूरयित्वा प्रकर्षेण वर्पति सुधामित्य
र्थात् । पावना चकोरचञ्चूपूरण भवति तावत्प्रमाण वर्पतीत्यर्थ । स्व परप । किंभूत ?
अग्रेऽदयाधलस्याधित्यकाभूम्योर्ध्वतिसरेणैव तिरस्करीण्या जवनिकया निमेषलक्ष
णमत्यल्पकालमावृत्तोऽपि सन् । सपूर्णमुदितोऽपि प्रथमचन्द्रिकाभिरेव चकोराणा-
मानन्द करोति, किं पुनरुदित स्थिति भाव । अन्योऽप्युपकारी दूरस्योऽप्युदयो
न्मुद्योऽप्येषामुपकरोति । चुलुकप्रम, 'वर्पप्रमाणे—' इत्यादिना पूर्णमुल्ल,
उकारलोपश्च ॥ ४० ॥

हे प मप्रिये (दमयन्ति) । उदयाचञ्चके लक्ष्यं शिखररूप पदसे क्षणमात्र दका हुआ
भी यह (उदीयमान) चन्द्रमा चाँदनीने चकोरके चोवरूपी नुस्तुको भरकर अच्छी तरह
झुटिकर रहा है, यह तुम देखो । [जब यह अपूर्ण उदयको प्राप्त होनेके पहले ही चकोरोंके
चोवरूपी चुलुका चन्द्रिकाओंमें भरकर अतिशय बरस रहा है, तब पूर्णोदय हो जानेपर
कोर भी अधिक बरमेगा, हमने सुनैह नहीं है । लोकमें भी कोई उपकारी व्यक्ति अन्धुद-
योमुख होकर दूरस्थ रहने हुए भी उपकार करता है] ॥ ४० ॥

भ्रान्ते द्रुनान्नानभिन्नारिषास्त्व शङ्खस्य सङ्केतनिकेतमाप्रा ।

छायां नलानादुज्ज्वलनीलचेला ज्योत्स्नाऽनुकूलैश्चलिता दुदृष्टे ॥ ४१ ॥

भ्रान्त रश्मि । हे प्रिये । त्व हन्द्वादयात्पूर्वं भ्रान्ते सति दुमान्तात् तरनिकट
देशानव दूरात्, भागतेज समोगार्थं कामुकदत्त सङ्केतनिकेतमाप्ता प्राप्ता अभिस्ता
रिषा स्वेरिषा शङ्खस्व समावय । तथा,—दूदानीं चन्द्रोदये सति वृद्धाधोभागवति
छायाच्छलादुज्ज्वल पूर्व एत समानुकूल नील चेला वद्य याभिस्तादृशी, सती
समोवाज्योत्सनानुकूलैश्चन्द्रिकानुगुणधवलतरैर्दुन्दुर्लभरूपल्लेखता सतीश्चलिता समोग

कृत्वा स्वगृहं प्रति पुनः परावृत्ताम्बु ममावय । तमसि सत्येव केनापि न ज्ञात
द्यमिति वृद्धया नीलं वस्त्रं परिधाय सकेतस्थानमागता, चन्द्रोदये पुनर्नलिवस्त्ररि
धाने पूर्ववद्गीत्या नक्तत्रैव विहाय श्वेतदुग्धं सर्वस्वापरिधाय परावृत्ता केनापि
न ज्ञाता । 'नीलवोला -' इति पाठे-चोक्तं व्यास ॥ ४१ ॥

(हे प्रिये) अचरारमें अर्थात् चन्द्रोदयने पहले तुम वृषोंके नीचे भातर
(प्रियवर्धन) मझे स्नानकी पटुचो हुइ अभिमारिकाओंको जानो (तब प्रियके साथ
सम्भोग करके इस समय—चन्द्रोदय हो जानपर, वृषोंकी) परछाईके कण्ठसे नाळे
कपहोंको छोड़ (उबार) कर चौदनीके अनुकूल (श्वेत) बल्लोंको धारार कर चली (वापस
लौटो) हुइ समझो । (चन्द्रोदय होनेके पहले अचरार रहनेपर दे अभिमारिकाएँ
दूमरोंके द्वारा देखे जानेके भयमे काळे बल्ल पहनकर प्रियपुद्गेतिउ वृषके अगमागको पटुच
गयी तथा उन प्रियोंके साथ सम्भोग करके अब चन्द्रोदय होनेपर इन काळे बल्लोंको
पहनकर चौदनीने लौटते समय कोइ देख लेगा इस तरह वृषोंकी परछाईके कण्ठसे उन
काळे बल्लोंको छोड़कर चौदनीके अनुकूल श्वेत बल्ल पहनकर लौट रही है, ऐसा तुम जानो ।
ये वृषोंकी परछाई नहीं है, किन्तु उन अभिमारिकाओंको छोड़ें हुए काळे बल्ल हैं । अभिमा-
रिकाओंका अँधेरेने बाल बल्ल तथा छेड़ने श्वेत बल्ल पहनकर प्रियके पास जाने या बराडे
लौटनेका स्वभाव होता है] ॥ ४१ ॥

त्वदास्यलक्ष्मोमुकुर चकोरैः स्वकीमुनीमादयमानमिन्दुम् ।

दृशा निगेन्दीयरचारुमासा पिबोरु रम्भातरूपीरारु ! ॥ ४२ ॥

तदिति । हे रम्भानखद्विषीवरावरू यस्यास्तरमबुद्धि, त्व निशापामिन्दीवर
नीलोत्पल तद्दृष्ट्वावा भा यस्यास्तया दृशा वरु सादरमिन्दुविम्ब विडोक्य । किं-
भुनन् ? तवात्यलक्ष्म्या मुनशोभाया अवलोकनार्थं मुकुर दर्पणमिव । तत्रा, -चकोर-
प्रयोज्यै कौमुदीमादयमान निजकीमुदी चकोरान् पाययमानम् । उदिते चन्द्रे
चकोरा सानन्दा जाता, नीलोत्पलानि च विकसितार्जानि भवत । एतेनेन्दो
परोपश्रितिव सूचितम् । विकसितेन्द्रावरमुह्यया दृशा पिबे जनेन चन्द्रोदये हीन्दीवर
विकसति, तत्र चैवभूतया दृशा यदा चन्द्रमवलोकयिष्यति, (तदा) जनस्त्वद्दृष्टं
चन्द्रावलोकनविकसितमिन्दीवरमेवेदिति ज्ञास्यतीति सूचितम् । दिवा सकोपा-
दमन्दरमिन्दीवरस्य विकसितत्वद्योतनार्थं 'निशा' पदम् । चकोर, 'गमिबुद्धि-'
इति कर्मत्वप्राप्तावपि 'आदिश्वानो' इति प्रनिपेष्टाकर्तुरि तृतीया । आदयमान,
निगर्गार्थं वापरस्मैपदप्राप्तावपि 'अदे प्रनिपेष्टो वक्तव्य' इति निपेष्टात् 'मिचक्ष'
इति तद्ध ॥ ४२ ॥

हे नेनेके ख-नेके समान स्थूल करुआंशला (प्रिये दमवन्ति) । तुम रात्रिके (विक-
सित) नीलकमलके समान सुन्दर शोभावाले नेत्रने, तुम्हारे मुखशोभाका दर्पणरूप तदा
चकोरोंसे बननी चौदनीका पान कराते हुए चन्द्रमाको बहुत पीसी अर्थात् अन्धे तरह

देखो । (पाटा—हे मोटे बेलेबे रम्बेबे रमान उरुओं वाली ! इस पाटमें 'पिष+एर-
म्मा+रु' = पीरोरु+रमा+र' देस पद समझना चाहिये) । [तुम रात्रिमें विकसित
हुए नीलबमल लगे तबले मेंसे च द्रमाको रन्ध्र प्रकारसे देखोगी जो तुम्हारे नेत्रको
लगे नीलबमल समझेंगे । च द्रोदय हो गया नीलबमल विकसित हो गये तथा चकोर
चन्द्रिका-पान करने लगे] ॥ ४२ ॥

असशय सागरभागुदस्थात् पृथ्वीधरादेव मथ पुराऽयम् ।

अमुष्य यस्मादधुनाऽपि सिन्धौ स्थितस्य शैलादुदय प्रतीमः ॥ ४३ ॥

असशयमिति । पुरा पूर्वं सागरभाक् समुद्रगर्भस्थोऽयं चन्द्र मथो दण्डभूतापृ
थ्वीधरात्पर्वतामन्दराद्रेरेव हेतरेदस्यादुत्पन्न इति असशय निश्चितम् । पुराणादौ
यदैव श्रूयते तत्सायमित्यर्थः । पुरा उदयात्प्रथमसमवायसरे तस्मादेव समुत्पित
इति वा । तत्र हेतुमाह—यस्माच्छैलोरुधनापि सम्भवात्तरावसरेऽपि सिन्धौ स्थितस्य
सागरगर्भस्थस्याप्यमुष्य चन्द्रस्य शैलादुदयाच्छलादेवोदयमुत्पत्तिं प्रतीमो जायमीम ।
प्रत्यहं सागरतथाप्यस्याच्छलोत्पत्तिशीलत्वरूपलिङ्गदशानां समुद्रमथने प्रथमसमवा
यसरेऽप्ययमच्छलादेवोत्पत्ति इति निश्चितम् इत्यर्थः । उदयाच्छलादेवोत्पत्तिश्चन्द्रोत्पत्तिश्चा-
मतीति भावः ॥ ४३ ॥

पक्षे (समुद्रमथनके समय) समुद्रस्थ रह च द्रमा निश्चय मथनदण्डरूप (कुम्भ)
पदसे कवचरूप के तत्पत्र हुआ है, क्योंकि इस समय भी समुद्रमें स्थित ॥ चन्द्रमाक
उदयको पर्वत (उदय, चला) से ही उत्पन्न हमलोग देखते हैं । [इस समय प्रतिदिन उदया
करते ही समुद्रस्थ चन्द्रमाका उदय देखकर पूर्वकालमें भी इस चन्द्रमाका मथनदण्ड
॥ दराचरसे ही उदय होना प्रतीत होता है] ॥ ४३ ॥

दुश्वा

ब्रह्म

निजानुजेनातिथितामुपेत प्राचीपतेर्वाहनवारणेन ।

सिन्दूरसान्द्रे किमकार मूध्न तेनारुणश्रीरयमुज्जहीते ? ॥ ४४ ॥

निजैति ॥ निजानुजेन एकरमासिन्धोरप्यधतयाऽस्माच्च द्वाव पक्षाज्जातन कनी
यसा आत्रा प्राचीपतरम्भस्य बाहमवारण्येन प्राच्या स्थितनरावतनातीथितामुपेत
प्राष्ठ । प्राच्यामुदितवात्तत्सविधप्राप्त सस्य चन्द्रोऽज्जयात्सिन्दूरण सान्द्र मूध्न
अकारि कृत किम् ? गौरवागमस्कारपूर्वं शिरस्यारापितः । किमित्यर्थः । तन सान्द्र
सिन्दूरशिर स्यापनेन हतुना अत्रसिन्दूरवशादयमरणश्रीरारुणशाम उज्जहात् उदीत,
उज्जहीते किमिति वा । उदितश्चन्द्र सिन्दूररक्तो दृश्यत इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

(एक समुद्रमें निवास करने तथा समुद्रमथनके अवसरपर च द्रमाक बाद उत्पन्न
होनेसे) अपने छोट माह इन्द्रके वाहनभूत घेरावतने (पूर्व दिशामें जानेसे) आतपित्वको
प्राप्त चन्द्रमाके मरतकको सि दूरसे लिप्त कर दिया है क्या ? जिससे यह (च द्रमा) अरुण
शोभावाला उदित हो रहा है । [गुह्यपर आये हुए पूर्वव्य अतिथिके मरतकमें सिन्दूरालिका

तिलक लगाकर उस अनियंता सत्कार करना कर्तव्य होता है, अत एव अधितिरूपमें आये हुए बड़े भाई चन्द्रके मस्तकमें सित्तर-तिलक लगाकर सत्कार करना सदा पूर्व दिशामें निवाम करनेवाले पेरवतको उचिन् ही है] ॥ ४४ ॥

यत्प्रीतिमर्द्धिर्वदनै स्वसाम्यादचुम्बि नाकाधिपनायिकानाम् ।

ततस्तदीयाधरयावयोगादुदेति बिम्बारुणबिम्ब एष ॥ ४५ ॥

यदिति ॥ वृत्तत्वादिगुणयोगेन स्वसाम्यात्प्रीतिमर्द्धिर्नाकाधिपस्येन्द्रस्य नायिकाणां वदनैर्यथाभारस्वसविधमागत एष चन्द्रोऽचुम्बि चुम्बित, तस्माद्धेतोस्तस्मात्पुष्पमाह्वा तदीयानां देवेन्द्रनायिकानामधरेषु न्यस्तो यावोऽलक्तकस्तस्य योगात्सम्प्राप्तेऽतोविम्बद्वयपक्षिर्वाक्कवदण बिम्ब मण्डल यस्य तादृश उदेति । अयोऽपि समान सत्का सविधमागत सन् सत्कया प्रीत्या चुम्ब्यसे । 'सुखै' इति बहुवचनेन तत्र प्रदेशे युगपदेव चुम्बनाद्बहुलपावकयोगात्सकलस्यापि चन्द्रबिम्बस्य रक्षणं युक्तमिति सूचितम् ॥ ४५ ॥

आह्लादक तथा गोलाकारादि गुणोंसे अपनी समानता होनेके कारण इन्द्रकी नायिकाओंके मुखोंमें भिन्न कारण (पूर्व दिशामें उदयोग्मुख होते समय समापत्य होनेपर) चन्द्रमाका चुम्बन किया, उस कारण (या-उस चुम्बनके करने) से वन (इन्द्रकी नायिकामें) के अर्धोंके यावक (अर्ध रगनेके अलक्तक) के ससर्गसे बिम्ब फलके समान लाल मण्डल वाला यह चन्द्रमा उदित हो रहा है । [इन्द्रकी नायिकाएँ सदा पूर्व दिशामें रहती हैं, और हम अर्धमाको उसी दिशामें उदित होते हुए देखकर चन्द्रमामें आह्लादक एवं गोलाकार आदि गुणोंको अपने मुखके समान देखकर स्नेहपूर्वक वे नायिकाएँ चन्द्रमाका चुम्बन करती हैं और उसके बाद शीघ्र ही उदय होनेमें कुछ क्षण पहले लगे हुए वन इन्द्रनायिकाओंके अर्धके रागने यह चन्द्रबिम्ब अरुण दृष्टिगोचर होता है] लोकमें भी कोई व्यक्ति अपने समान गुणवाले व्यक्तिसे आनेपर वमका स्नेहपूर्वक चुम्बनादि करता है । उदयको प्राप्त यह चन्द्रमण्डल रक्तवर्ण दृष्टिगोचर हो रहा है] ॥ ४५ ॥

विलोमिताङ्गोत्किरणाद् दुरुहट्टगादिना दृश्यविलोचनादि ।

विधिविधत्ते विधुना वधूना किमानन काञ्चनमञ्चकेन ? ॥ ४६ ॥

विलोमितेति ॥ विधिर्प्रज्ञा विधुना चन्द्रेणैव काञ्चनस्य सञ्चकेन विम्बकेन कृत्वा वधूनामतिरमणीयमानन विधत्ते किम् । यत किमूतेन ? विलोमित पराङ्मुख कृत स्वप्रमया जित अङ्ग कलङ्को येन तादृशादुत्कृष्टादतितेजस्विन किरणाद्धेतो दुरुहो दुरतवर्षो दगादिनेत्राद्यवयो यस्य, अथ च, - विपरीतीकृतानामङ्गानां नेत्रादिनिर्माणार्थं निम्नोन्नताशचिह्नस्थानानामुत्किरणं सघटन तस्माद्धेतो साक्षादलक्ष्य नेत्रकर्णनासिकाद्यवयवेन । आनन तु साक्षाद्दृश्य विलोचननासाकर्णाद्यवयवा यस्य तादृशम् । तस्माद् भग्नौ स्त्रीमुख चन्द्ररूपेण स्वर्णस्य सञ्चकेन निर्ममे । सञ्चके हि

निष्पाद्यस्य वस्तुनो निम्नोन्नतभागा विपरीता एवोत्कीर्यन्ते । तत्र च नेत्राद्यवयवा दुर्ज्ञेया भवन्ति, तस्मिन्निमित्ते मुद्रादौ च दृश्या भवन्ति, तस्मादेव तत्पर्यंत इत्यर्थः । उदितमात्रश्चन्द्रोऽयुत्तमसुवर्णमञ्जुकवद्रक्तो दृश्यत इति भावः । उत्तम सुवर्णं रक्तवर्णं भवति । 'आननम्' इति जात्येकवचनम् ॥ ४६ ॥

प्रज्ञा अपनो प्रभाये तिरस्कृत कलकुवाले अतिशय उत्कृष्ट किरणों (पञ्चा०—उलटा बनाये गये चिह्नोंकी रचना) से स्पष्ट नहीं दिखलायी पड़ते हैं, नेत्र आदि (नासिका, अङ्गुर) जिसके ऐसे चन्द्रमारूप सोनेके साँचेमें खियोंके मुखको रचने हैं क्या ! । [जिस प्रकार नेत्र नासिका आदि उलटा खोदनेमें स्पष्ट नहीं मालूम पड़ने हुए नेत्रादि वाले साँचेसे कोई मूर्ति ढाली जाती है तो उस ढाली गयी मूर्ति आदिमें नेत्रादि स्पष्ट दिखलायी पड़ने लगते हैं, वसी प्रकार गोलाकार उदयकालीन होनेसे सुवर्णवत् रक्त-पीतवर्ण तथा कलङ्कको पराभूत करनेवाली किरणको उत्कृष्टगामे (पञ्चा०—उलटे खोदे गये चिह्नों) से स्पष्ट नहीं दिखलायी पड़नेवाले नेत्रादिवाले चन्द्ररूपी सोनेके साँचेसे खियोंके मुखको प्रज्ञा ढालते हैं क्या ! । उदयकालीन चन्द्र सोनेके समान रक्त-पीतवर्ण होता है । चन्द्रको खियोंके मुखका सुवर्णमय साँचा होनेसे उसमें उलटा खोदे गये नेत्रादिको स्पष्ट नहीं दिखलायी पड़नेकी उपप्रेक्षा की गयी है] ॥ ४६ ॥

अनेन वेधा विपरीतरूपविनिर्मिताङ्गोत्किरणाङ्गकेन ।

एवदानन दृश्यदृगाद्यलक्ष्यदृगादिनैवाकृत सञ्चकेन ॥

अनेनेति ॥ वेधा विपरीतरूप यथा तथा विनिर्मितमुक्तविधमङ्गोत्किरण यत्र तादृशमङ्ग यस्य । तेन । तथा,—अलक्ष्यदृगादिनानेन चन्द्रजैव सञ्चकेन दृश्य सुन्दर तरम् , अथ च,—अलक्ष्यदर्शनयोग्य दृगादि यस्य तादृश एवदाननमकृत । एवदानन मेवाकृत न स्वन्यायनमिति वा । अयमेवात्र श्लोके विशेषः । अयं श्लोकः शेषकः ॥

प्रज्ञान, उलटा बनाये गये चिह्नोंकी रचनावाले अङ्ग हैं जिसमें ऐसे तथा (उलटा विष्ट करनेके कारण ही) स्पष्ट नहीं दिखलायी दते हुए नेत्रादिवाले इस (चन्द्ररूप) साँचेमें ही स्पष्ट देखने योग्य (वा-मनोहर) नेत्रादिवाले तुम्हारे मुखका बनाया है । [इस श्लोकका आशय पूर्व श्लोकके समान ही है, केवल विशेष इतना ही है कि पूर्व श्लोकमें खियोंके मुख की रचना करनेको कहा गया है तथा इस श्लोकमें केवल दमयन्तीके ही मुखकी रचना करनेको कहा गया है । इससे अन्य खियोंका मुख उक्त चन्द्ररूपी साँचेमें नहीं ढाले जानेसे सामान्य सौन्दर्य युक्त तथा तुम्हारा मुख उक्तरूप चन्द्ररूपी साँचेमें ढाले जानेसे अन्य खियोंके मुखसे अधिक सौन्दर्य युक्त है, यह भी सूचित होता है । पूर्व श्लोकके समान ही अर्थ होनेसे टीकाकार इसे शेषक मानते हैं] ॥

अस्या सुराधीशदिश पुराऽसीत् यदम्बर पीतमिदं रजन्या ।

चन्द्राशुचूर्णव्यतिचुम्बितेन तेनाधुना नूनमलोहितायि ॥ ४७ ॥

अस्या इति ॥ हे मैमि ! अस्या सुराधीशस्येन्द्रस्य दिश यदिदमग्र गगन
वच्च च पुरा चन्द्रोदयात् पूर्वं रजन्या रात्र्या हरिद्रया च पीत तमाभ्यास्तत्वादृश्य
पीतवर्ण चासीत्, तेनाम्बरेण गगनेन वस्त्रेण चातुना चन्द्रोदये चन्द्राशुना चूर्णे
श्लक्ष्णसूक्ष्मतेजोलेषौ कर्तृभिर्व्यतिबुद्धिभेदातितरा स्पृष्टन सता चद्राशुवद्भुत
रेण चूर्णेन ताम्बूटसाधनचूर्णद्रव्येण स्पृष्टेन सता नूनमलोहितायि आरक्तोभूतम् ।
हरिद्रया पीतवर्णं वच्च चूर्णेन युक्त सद्वत् भवति । देवेन्द्रस्त्रियाश्च वस्त्राणि नाना
वर्णानि युक्तानि । चन्द्राशव एव चूर्णमिति वा । अलोहितायि, लोहितादिक्यपन्ता
ज्ञावे क्षिण् ॥ ४७ ॥

इस सुराधीशकी दिशा अर्थात् पूर्व दिशाका ओ आकाश (पञ्चा०—करडा, चन्द्रोदयसे)
पहले रात्रि (पञ्चा०—हत्तरी) से पीत (अम्बकारसे पीया गया = अम्बूदय, पञ्चा०—रीके
रगवाला) था, हम समय (चन्द्रोदय होनेपर) चन्द्र-किरणके समान (या—चन्द्र-किर-
णरूप) अनेमे स्पृष्ट वह (आकाश, पञ्चा०—करडा) लाल हो गया । [हत्तरीमे रंगे गये
पीले कपड़ों के चूनेका ससर्ग होनेसे लाल होना थोड़ा प्रसिद्ध है, ओ देवताओंके राजा (इन्द्र)
की (पहलीरूपिणी पूर्व) दिशा है, हमके कपड़े (पञ्चा०—आकाश) की पीला, लाल अर्थात्
अनेक वर्ण होना उचित ही है] ॥ ४७ ॥

तानीय गत्वा पितृलोकमेनमरक्षयन् यानि स चामदग्न्य ।

क्षिन्वा शिरोऽस्त्राणि सहस्रबाहोर्निस्त्राणि विश्राणितवान् पितृभ्य ॥४८॥

तानीति ॥ सोऽतिशीरो जामदग्न्य सहस्रबाहो शिररिद्धत्वा विस्त्राण्यमग्न्यग्नीनि
याम्यस्त्राणि रक्षानि पितृभ्यो जमदग्न्यादिभ्यो विश्राणितवान् दत्तवान् । ये रक्षस्ये प्रति
ज्ञात पितृनर्पणं कृतवान् । तान्येव रक्षानि मन्त्ररत्नाग्निभूतलोक गत्वा प्राप्य पितृलो
काधीन (दा) मेन चन्द्रमरक्षयन् रक्तमचकुरिव । 'चन्द्रो ये पितृलोक' इति श्रुते ।
चन्द्रो रक्तवर्णो दृश्यत इति भाव । परशुराम सहस्राजुंनं हत्वा तद्दीये रक्षस्ये पितृन
र्पणं कृतवानिति तिहास । 'विल्ल स्वादागमग्न्य यत्' इत्यमर ॥ ४८ ॥

परशुरामजीने सहस्राजुनके शिरको काटकर भिन कच्चे गन्धवाले रक्तोंको (जमदग्नि
आदि) पितरोंके लिए दिया, वे ही (रक्त) मानो (मग्न्य बल्मे) पितृलोकमें जाकर हम
(च दमा) को रक्तवर्ण कर दिये हैं । [चन्द्रको पितृलोकमें निवास करनेसे वरुणा पितृदे
ह्य रक्तोंसे उम चन्द्रका लाल होना बुझिजुक्त ही है] ॥ ४८ ॥

पौराणिक कथा—परशुरामजीके आश्रममें बाहर जानेपर सहस्राजुंनने जमदग्निके शिरको
काट लिया, पुन परशुरामजीने बाहरसे लौटकर जब पितरोंके मारे जानेका समाचार सुना,
रक्त प्रतिष्ठा की कि सहस्राजुंन (एव उसके गन्धवाले ममस्त क्षत्रियों) के रक्तसे पितृनर्पण
करूँगा । तदनुसार ही उन्होंने सहस्राजुंन (को तथा २१ बार अन्य ममस्त क्षत्रियों) को
मारकर उस रक्तमें पितृनर्पणकर अपनी प्रतिष्ठा पूर्ण की ॥ ४८ ॥

अवर्णनासखपते मुख ते पश्यन्न सीतास्यमिवाभिरामम् ।

रक्तोस्त्रवर्षा बत लक्ष्मणाभिभूत शशी शूर्पणखामुत्साम् ? ॥ ४६ ॥

अवर्णति ॥ हे प्रिये ! शशी सीतास्यमिवाभिराम कर्णादिकृतशोभ ते मुखं पश्यन्सख प्रपते न लज्जते बत चित्रम् । किंभूत ? न विद्यते कर्णनास स्वभावादेव यस्य ॥ तथा रक्षा आरक्षा उच्चा किरणास्तद्वर्णशील, शोणश्चासौ किरणवर्षा च तादृशो वा । तथा, लक्ष्मणा कलङ्केनाभिभूत आक्रान्तमध्य, अत एव शूर्पणखाया रावणभगिन्या मुखवदाभा यस्य स तद्वदनतुल्य, एषु लज्जाकारणेषु सार्वपि न लज्जते तत्त्विन्नमित्यर्थः । स्वमुखं पश्यन्पुद्गल्येष, स्व प्रकाशयति च, तस्मादेव न लज्जते, इति ज्ञायते । अन्यो ह्यकर्णनासो लज्जते, अयं तु तादृशोऽपि न लज्जत इत्यपि चित्रमेव । शूर्पणखामुखमपि लक्ष्मणेन पराभूत क्षिप्रकर्णनासवाद्बुधिरवपि सद्गाममभि लक्ष्मीकृत्य वर्तमानम्, अत एवाभि मयरहितं च, सीतामुखं परमपि न लज्जते, तदनन्तरमपि प्रौढिवाद्प्रकटनाय 'अभि' शब्दस्यावृत्तिः कार्या । 'लक्ष्म' शब्दो भास्व, पक्षेऽकारान्तः ॥ ४९ ॥

(हे प्रिये !, स्वभावतः) नाक-कान्ते हीन, रक्तवर्णवाली (अथवा—वदनकालीन होनेसे स्वयं रक्तवर्ण, तथा), किरणोंको बरसाता हुआ और कलङ्क (गूदाकार काले बिंदु) से आक्रान्त यह चन्द्रमा सोणके मुखके समान सुन्दर तुम्हारे मुखको देखता हुआ उस प्रकार लज्जित नहीं हो रहा है, जिस प्रकार (लक्ष्मणजीके द्वारा काटे जानेसे) नाक कानमें रहित, लाल तथा रक्तको बरसाता (बहाना) हुआ तथा लक्ष्मणजीमें पराभूत शूर्पणखाका मुख रामचन्द्रको लक्ष्मण स्थित तथा निर्भय सीताजीके मुखको देखता हुआ नहीं लज्जित हुआ, यह आश्चर्य है । [अपनेसे श्रेष्ठ वक्तरूप तुम्हारे मुखको देखकर हीन चन्द्रमाको लज्जित होना चाहिये था, किन्तु वह नहीं लज्जित होता यह उस प्रकार आश्चर्य है, जिस प्रकार वक्तरूप होनेसे हीनतम शूर्पणखका मुख श्रेष्ठ सीताके मुखको देखकर भी नहीं लज्जित हुआ । सत्ययुगमें स्थित नरका अपनेसे बाद भेगा युगमें होने वाले सीता, राम, लक्ष्मण तथा शूर्पणखा आदिक । वर्णन कवि का वक्ष्यन्तारकी अपेक्षा समझना चाहिये] ॥ ४९ ॥

पौराणिक कथा—पिताकी आज्ञासे १४ वर्षके लिये वनवास करते हुए अभिराम, रामचन्द्रके साथ विवाहकी इच्छा करती हुई रावणकी बहन शूर्पणखाके नाक कानको लक्ष्मणजीने काट दिया था । यह कथा वाल्मीकि रामायण आदि अनेक ग्रन्थोंमें मिलती है ।

आदत्त दीप्र माणिमम्बरस्य दत्त्वा यदस्मै रज्जु सायधूर्तः ।

रव्यत्तुपारद्यतिभूटहेम तत्पाण्डु जात रजत क्षणेन ॥ ५० ॥

आदत्तेति ॥ हे भूमि ! सायकालरूपो घूर्तो यद् रज्यन्नुदयकाले रक्षीभयरतुपारद्य निश्चन्द्र एव लेपवशाद्गज्यत् भूटहेम वृत्रिम सुवर्णमस्मै रागताय मृत्युरूपेण दत्त्वा

दीप्त प्रकाशमानमखरय मणि सूर्यमादत्त जग्राह । तदलीक हेम घणमात्रेण पाण्डु शुभ्र रजत खलु रूप्यमिव जातम् । धूर्तो हि रूप्य लेपादिभिरुपलिप्त सुवर्णाङ्गित्य ददाति, घट्टान्तरस्थमपि प्रसरदीप्तिकरत्न च गृह्णाति । उदयानन्तरमतिक्रान्तकि यत्कालत्वाद्रक्षिमान परित्यज्य चन्द्रो रूप्यवद्वलो जात इति भाव । घणन्तोऽत्र 'साय' शब्द 'साय' शब्दसमानार्थ ॥ ५० ॥

सायङ्कारूप धूर्तने इस (जाकाश) के लिए ऊपरमें लेप (कलई) करने अर्थात् सुनहला पानी चढ़ानेसे लाल चन्द्ररूप नकली सोनेको देकर चमकते हुए आकाशके रत्न (रूप सूर्य) को ले लिया, तथा वह (रखा गया चन्द्ररूप नकली सोना) क्षण (थोड़ी देर) में श्वेत वर्ण चादी हो गया । [लोकमें भी कोई धूर्त चांदीके ऊपर सोनेका पानी चढ़ाकर किसी अजानके लिए देकर चमकने हुए रत्नको ल लेता है और वह पानी चढ़ाया हुआ चाँदीरूप नकली सोना थोड़ी देर बाद श्वेत हो जाता है । सायङ्कारको धूर्त व्यक्ति, उदयकालके रक्तवर्ण चन्द्रको पानी चढ़ाया हुआ नकली सोना तथा सूर्यको बहुमुख्य रत्न, तथा कुछ समय बाद श्वेत वर्ण हुए चन्द्रमाको प्रकृतावस्थापन्न चादी होनेकी कल्पना की गयी है] ॥ ५० ॥

बालेन नक्षसमयेन मुक्त रौप्य लसद्भिम्बमिवेन्दुभिम्बम् ।

भ्रामक्रमादुज्जितपट्सूत्रनेत्रावृति मुञ्चति शोणिमानम् ॥ ५१ ॥

बालेनेति । हे प्रिये ! रौप्य राजत रजस्तमय लसद्बिलसमान दिग्ध बालक्रीडा साधन भ्रमरकमिवेन्दुभिम्ब कर्तुं भ्रमिक्रमाद् भ्रमणपरिपाठ्या, अथ च,—ऊर्ध्वदेशगम नक्षमेणोत्थिता त्यक्ता वा पट्सूत्रस्य नेत्र दोरवस्तत्कृता आवृतिर्वेष्टन तद्रूपम्, अथ च,—पट्सूत्रजालिकावत् चन्द्रावरण येन त शोणिमान रक्षिमान मुञ्चति । किभूत मुमयम् ? नक्षतसमयरूपेण बालेन, अथ च,—बालेन प्रदोषरूपेण, रात्रिसमयेन मुक्त भ्रमणार्थं करात् कृतमोचनम्, अथ च—उद्गीर्णं जनितोदयम् । शिशुक्रीडासाधनं हि भ्रमरक काष्ठमय भवति । ईश्वराणां च दिम्ब समृद्धयतिशयाद्वाजत पट्सूत्रबलित-दोरवत्सनात्तत्त्ववन्धजात रक्षिमान मुञ्चति । तथेद चन्द्रविम्बमपीत्यर्थ । इदानीं चन्द्रो घबलो जात इति भाव । 'नेत्रावृते —' इति पाठे—भ्रमिक्रमाद्धेतोरुज्जिता वा पट्सूत्रनेत्रावृतिरसत्या हेतो शोणिमान मुञ्चति । उज्जिता दिम्बेनेव पट्सूत्र नेत्रावृतिर्गत्र तादृशाद् भ्रमिक्रमाद्धेतोरिति वा दिग्ब लट्ठ इति वा राष्ट्रमायायां भ्रमरकस्य सज्ञा । राष्ट्रमायायां च 'भँवरा' इति सज्ञा । रौप्य, सबन्धे विकारे वाण् । 'नेत्र मन्यगुणे वस्त्रे' इत्यभिधानात् 'नेत्र' शब्दो यद्यपि मन्यवेष्टनगुणे सुरय तथा प्यत्र गुणमात्रपर इति ज्ञेयम् ॥ ५१ ॥

बालक रात्रिसमय अर्थात् प्रदोषकाल (पक्षा—रात्रि—समयरूप, अनिकक) बालकके द्वारा छोड़े (नचाये) गये चांदीके बने हुए शोभमान लट् (मचायेका भँवरा) नानक-सिलोनेके समान चन्द्रविम्ब धूमनेके क्रमसे छोड़े गये रेशमी डोरीके लिपटाव (लपेटनेके

भाव) बाली (पञ्चा०—रेशमी डोरेके समान चन्द्रावरणवाली) लालिमाको छोड़ रहा है । [जिस प्रकार बालक लट्ठूकी डोरेमें लपेटकर फेंका है तो वह माचते समय कमश लाल डोरेके लिपटावकी छोटते-छोड़ने अपने प्राकृत श्वेत आदिके रंगमें दीखन लगता है, उसी प्रकार बाली प्रदोषकालस्थ बालकसे रेशमी डोरेमें लपेटकर फेंका (नचाया) गया । चादीके बने लट्ठूके समान यह चन्द्रबिम्ब अपने आप रूप (लालिमा) को कमश छोड़ रहा है । सामान्य वर्गके लट्ठूकी लट्ठू काष्ठका तथा डोरा सामान्य सूतका होता है, किन्तु प्रदोषकालरूप धनिक बालकके चन्द्ररूप लट्ठूकी चादीका तथा चन्द्रावरणरूप डोरेकी रेशमी सूत का होता उचित ही है] ॥ ५१ ॥

ताराभरैर्यामसिते कठिन्या निशाऽलिखद्भयोम्नि तम प्रशस्तिम् ।

विलुप्य तामल्पयतोऽरुणेऽपि जात करे पाण्डुरिमा हिमाशोः ॥५२॥

तारेति । निशाऽसिते स्थामे व्योम्नि गगन एव कज्जलादिलिखयामलपट्टिकायां कठिन्या द्युभवातुविशेषस्य सम्बन्धिमिरताराचरै शुभ्रैरचरैरिव नक्षत्ररूपैरचरै कृत्वा यां तम प्रशस्तिं तमोवर्णनश्लोकादिलिपिमल्लिखत् । ताराचरैरुपलक्षिता यां तम प्रशस्तिं रात्रि कठिन्यालिरदिति वा । ता लिपिं विलुप्य प्रोक्ष्यपावपयत परिमेयताराचरा कुर्वतो हिमाक्षोररुणेऽपि करे किरणे, अथ च—पाणी, पाण्डुरिमा जात । प्ररुषाकरणे हि चन्द्रे नक्षत्राणामवपता भवतीति खटिकालिखिताचराणि मार्जयत-श्चारणोऽपि कर एटिकासहाय्यवली भवतीति । तमसि नक्षत्राणि बहुन्युज्ज्वलतराणि च दृष्टानि, चन्द्रे वृद्धितेऽपानि निम्नभाणि च जातानि, चन्द्रश्च धवलो जात इति भाव ॥ ५२ ॥

रात्रिने कृष्णवर्ण आकाश (पञ्चा०—कज्जनी आदिते काली पाटी या स्लैट) पर नक्षत्र रङ्गी (पञ्चा०—बटे-बटे) अक्षरोंसे उपलक्षित ॥ वक्ताके जिस प्रशस्तिको खटिया (चॉक) में लिखा था, उसे मिटाकर बोझ (परिमितक्षर) करते हुए चन्द्रमाकी रत्नवर्ण चिरणों (पञ्चा०—हाथ) में भी मफेदी हो गयी है । [जिस प्रकार काली पाटीपर खटियामें लिखे गये अक्षरोंको मिटानेवाला लाल हाथ श्वेत हो जाता है, उसी प्रकार रात्रिद्वारा काले आकाशरूप पाटीपर खटियेमें लिखी गयी नक्षत्ररूप अक्षरवाला अन्धकारप्रशस्तिको लाल चिरणोंमें मिटाकर धोटा करनी हुई चन्द्रकिरण भी श्वेत हो गयी है । चन्द्र दयके पहले बहुत ताराएँ थीं, वे च दीश्य होनेपर कम हो गयी हैं] ॥ ५२ ॥

सितो यदाऽत्रेव तदाऽन्यदेशे चकास्ति रज्यच्छप्रिरुज्जिहान ।

तदित्यमेतस्य निघे कलाना को चेद वा रागयिरागतत्तम् ? ॥५३॥

सित इति । एव चन्द्रो यदा यस्मिन्काले अत्र देशे सितो धवलधकास्ति, तदा तस्मिन्नेव काले अन्यदेशे रज्यच्छुद्धी रक्तकान्तिरुज्जिहान उद्ययन् शोभते । एवमत्रो-पपन्नक, अन्यत्र च श्वेत इत्यपि सामर्थ्याल्लभ्यम् । एतद्देशस्थ प्रतीदानी सितो

दृश्यते, द्वीपान्तरस्थ प्रति तूदयजिह्वादीमेव दृश्यते यस्मात्, तस्मात्कलाना निधे पूर्णस्य चन्द्रस्य रागविरागयोर्लोहितत्वालोहितत्वयोस्तत्त्वं याथात्म्यमित्यममुना प्रकारेण को वा वेद, अपि तु—कोऽपि निश्चेतु न शक्नोतीत्यर्थः । तदप्यास्तमययोरता-
त्त्विकत्वाद्द्वयहितस्य यत्र यदा प्रथमदर्शनं तदा तत्रोदय इति दूरस्थस्य प्रथम रक्तव प्रत्यय, क्रमसामीप्यात् घावत्प्रत्यय इति तत्त्वम् । अन्यस्यापि चतु पट्टिकलाभिश्च
स्यानुरागाननुरागयोर्मायात्म्यं बुद्धानुरक्तं कुत्र वा नेति कोऽपि न जानाति ॥ ५३ ॥

यह (चन्द्र) जब (कुछ अधिक रात्रि स्वर्तीन होनेपर) द्योतवर्ण शोभता है, तब
(इसी समय) दूसरे (यहासे पश्चिमवाले) देशमें उदय होता हुआ (अत एव) भव-
वर्ण शोभता है, इस कारणसे इस प्रकार (इस देशमें द्योतवर्ण तथा यहासे दूर पश्चिम
देशमें उदय होने रहनेके कारण रक्तवर्ण, एव यहासे अतिदूर पूर्व दिशामें अस्त
होते रहनेके कारण कान्तिहीन, सोल्ह, पक्षा०—चौसठ कराओं) के निषान इस चन्द्रमाके
राग तथा विराग (राहिमा तथा द्योतवर्ण, पक्षा०—अनुराग तथा वैराग्य) के तत्त्वको कौन
जानता है ? अर्थात् कोई नहीं जानता ॥ ५३ ॥

कश्मीरजै रश्मिभिरौपसन्ध्येर्मृष्ट घृतध्वान्तकुरङ्गनाभि ।

चन्द्राशुना चन्दनचारुणाऽङ्ग क्रमात् समालम्बि विगङ्गनाभि ॥५४॥
कश्मीरजैरिति । विभिरेवाङ्गनाभि सध्याया समीपमुपसस्य तत्र जातरङ्गे
रश्मिभिरव कश्मीरजै बुद्धिमे कृत्वा मृष्ट पूर्वं कृतोद्धर्तनं तत् सध्यायामपगतार्था
घृता ध्वान्तरूपा मृगनाभि कस्तूरी येन तादृशमङ्ग क्रमात्कस्तूरीन्पान्तर चन्द्राशु
नैव चन्दनेषु मध्ये चाश्नोत्तमेन चन्दनेन कृत्वा समालम्बि अलेपि । अग्या अपि
हृत्ना बुद्धिमादिभि क्रमेणाङ्गमनुलिङ्गन्ति । चन्दनघबलेश्चन्द्रकरै सर्वा अपि दिशो
वितसरका कृता इति भावः । औपसस्य सामीप्येऽप्ययीभावाद्भवाधेऽङ्ग ॥ ५४ ॥

दिशारूपिणी क्षिप्येने राध्याकालको समीपवर्ती किरणरूप बुद्धिमेते लिप्त (तदनन्तर)
अपकाररूपी कस्तूरी लगादे हुए शरीरको चन्द्रकिरणरूप भेष्ट ध्वेन चन्दनमे क्रमशः
मल्लिप्त किया है । [लोकमें भी कोई क्षिया शरीरमें क्रमशः बुद्धिमे, कस्तूरी तथा द्योतव-
न्दका लेपन शरीरक सरकार करती है । चन्द्रकिरणमे इस समय सब दिशाएँ व्याप्त
हो गयी हैं] ॥ ५४ ॥

विधिस्तुपारतुर्दिनानि कर्तुं कर्तुं विनिर्माति तदन्तर्भिस्तै ।

ज्योत्स्नोर्ने चेत्तत्प्रतिभा इमा वा कथं कथं तानि च वामनानि ॥५५॥
विधिरिति । विधिस्तुपारतो दिशिरतोदिनानि कर्तुं कर्तुं द्वित्वा द्वित्वा तेषां
दिनानामन्तर्भिर्मेध्यसवन्धिभि सारभूतं शक्यं शुभ्रै यण्डै कृत्वा ज्योत्स्नीनिदा
विनिर्माति । न चेदेवं यदि नार्द्धक्रियते, तदेमा रात्रयश्चन्द्रिकायुष्मास्तध्प्रतिमासै
दिनैस्तुल्या शीतलत्वप्रकाशवत्त्वाम्या तत्सदृश्यं कथम् ? तानि च दिनानि वाम-

नानि न्यूनपरिमाणानि न्यूनशीतत्वादियुगानि कथं वा ? अपि तु—दिनवामनता रात्रिदीर्घतान्यथानुपपत्तेः शिशिरर्तुदिनापेक्षया च ज्योत्स्वीनामतितमा शीतत्वप्रकाशवत्त्वानुपपत्तेश्च शिशिरर्तुदिनानि द्वित्रा द्वित्रैव तत्सारमूर्तैश्च सकलैश्चन्द्रिदान्विता रात्रयो ब्रह्मणा वर्णिता इत्यर्थः । चन्द्रचन्द्रिकया रात्रि शीतला घञलतरा च कृतेति भावः । कर्तं कर्तम् 'कृती छेदने' इत्यस्मादाभीक्ष्यते पसुल् द्विवचनं च । ज्योत्स्नो, ज्योतिरस्यामस्तीत्यर्थे 'ज्योत्स्नातमिस्त्रा—' इति साधुहृतात् 'ज्योत्स्ना'-सम्बद्धा अप्रकरणे 'ज्योत्स्नादिभ्य उपसख्यानम्' इत्यस्यर्थेऽणि ङीप् ॥ ५५ ॥

अथा शिशिर ऋतुके दिनोंको काट-काटकर उनके मध्यवर्ती सारभूत होने डुहोने चादनीकी रात्रियोंको रचना करने हैं, अन्यथा ये (चादनीयुक्त रात्रियाँ) इन (शिशिर ऋतुके दिनों) के समान (शीतल) क्यों हैं और वे (शिशिर ऋतुके दिन) छोटे क्यों हैं ? [इस चादनीकी रात्रियों को शीतल तथा शिशिर ऋतुके दिनोंको छोटा होनेसे अनुमान होता है कि अथा शिशिर ऋतुके दिनोंको काट-काटकर उनके सारभूत होने छोड़ोसे चादनीकी रात्रियोंको रचने हैं । चादनीमें रात्रि शीतल एवं प्रकाशयुक्त ही गयी] ॥ ५५ ॥

इत्युक्तिशेषे न बधू बभापे सूक्तिश्रुतासक्तिनिबद्धमौनाम् ।

सुखाभ्यसूयानुशयादिवेन्द्री केय तव प्रेयसि । मूकमुग्धा ? ॥ ५६ ॥

इतीति । न नल इत्युक्तिशेषे एव चन्द्रवर्णनावमाने सूक्ष्मा प्रमादादिगुणयुक्तानां शोभनबधमानां श्रुते ध्रुवणे विषये धामस्या रसातिसयाचक्षेकताननया बद्ध स्वीकृत मौन यथा ता तूर्णोभावमास्थिता बधूं भैमीं प्रतीक्षं बभापे । इति किम् ? हे प्रेयसि ! इन्द्री विषये तवैव मूकस्येव मुग्धा कागिनरोधरीति किंकारगिका ? त्वमपि किमिति न चन्द्रं वर्णयसीत्यर्थः । मौने स्वयमेव हेतुमुपेक्षते—मुखस्य चन्द्रहृत्तवद न सान्यस्याम्यसूया स्पर्शा तज्जन्यान्महतोऽनुसयाम्मनोद्वेषादिव । स्वस्पर्शाकारिणो हि वर्णनेऽन्येन क्रियमाणेऽन्योपि कोपासृष्णीं तिष्ठति, जानुमोदते, स्वयं च न त वर्णयति । तथा—स्वमुखस्पर्शाकरणमज्ञातकोपादिवेन्दुं न वर्णयति जानुमोदते च किमिति प्रश्नः । मलसूक्तिप्रवगादकृत मौन कोपादिवेत्युपेक्षितम् ॥ ५६ ॥

इस प्रकार (२२।१९-५५, चन्द्रवर्णनरूप) सद्भाषणके अन्तर्ने वे (नर) उक्त सद्भाषण सुननेने आसक्त (तल्लीनता) होनेसे मौन दमयन्तीने बोले—'हे प्रियदने' । मानों (तुम्हारे) मुखके साथ (चन्द्रके द्वारा स्पर्शरूप) अमूषा करनेके पश्चात्तरके समान तुम मौन हो क्या ? [देने मुन्दर चन्द्रको देखकर तुम चुप क्यों ? तुम्हें मौ १५५ वांन करना चाहिये, परन्तु वर्णन नहीं करनी हो हमने ज्ञात होता है कि मुन्दरनन तुम्हारे मुखके साथ चन्द्रमा स्पर्श करती है और उसका मैं मराहना करता हूँ, इसी देखने तुम चुप हो । दूसरा मौ कोई व्यक्ति अपने साथ बनी करानेके वांनको सुनकर पश्चात्तर या देखने चुप रहता है] ॥ ५६ ॥

शृङ्गारशृङ्गारसुवाकरेण वर्णस्रज्जाऽनूपय कर्णकूपी ।

त्वच्चास्त्राणोरमवेणितीरतृणानुकार खलु कोषकार ॥ ५७ ॥

शृङ्गारेति । हे प्रिये ! त्वं शृङ्गाररससम्बन्धी शृङ्गार स्वर्यकलस्तद्गुण सुधा-
करेण चन्द्रेण हेतुना वर्णस्रज्जा कृत्वा मम कर्णकूपी अनूपय बलपूर्वम् । वर्णस्रज
सरसत्वात्कर्णकूपयोजनपूर्वत्वरूपेण युक्तम् । अथ च-शृङ्गाररससम्बन्धिस्वर्गकलशस्य
भवन्मुखस्य सबधि यत्पीयूष तस्याकरणे स्निग्धतया सरसया वर्णस्रजा कर्णकूपा
वनूपय । खलु यस्मात् कोषकार हस्तविशेषस्तत्र चारुवाण्या वक्रोक्त्यादिरूपाया
चाव मयधिम शृङ्गारादयो रसास्तेषां वेणि प्रवाहस्तस्यास्तीरे समुद्यद्यत्तु तस्या
नुकारस्तत्सरसः । अतिस्वाद्गुरसोऽपीन्द्रविशेषो यदीयसरसवाणोतीरतृणमनुकरोति,
तत्तु समो जातः । तां चार्णीं आधाय, चन्द्र वर्णयेति भावः । 'कोषकाराद्या हस्तविशेषा'
इति चौरस्वामी । अनूपय, 'अनूप' शब्दात्, 'तत्करोति—' इति निधि लोट् ॥ ५७ ॥

(हे प्रियन्ते !) शृङ्गारकी हारी (कलस-विशेष) तथा अमृतका आकर वर्णमाला
(चन्द्रवर्णनके अक्षरसमूह) से मेरे कानरूपी कूपीको (अमृतवत्से) पूर्ण करो, क्योंकि
कोषकार (हस्त-विशेष—एक प्रकारका उत्तम आनीय गन्ना) तुम्हारी सुन्दर वाणीरूपी
अमृतरसके प्रवाहके तीरपर (उत्पन्न होनेवाले) तृणके समान है । [अत्यन्त मधुरतम ओ
गन्ना तुम्हारे वचनामृतरसके प्रवाहके तीरपर उत्पन्न तृणके समान है (उस तृणके समान
है न कि वक्तरूप तृण है अर्थात् उस तृणमे भी होने दें), अतः उस गन्नेको तुम्हारे वचना
मृत्की समानता करना तो बहुत बहुत दूरकी कल्पना है । तुम भी चन्द्रका वर्णनकर मेरे
कानोंको पूरा करो] ॥ ५७ ॥

अत्रैव वाणीमधुना तवापि श्रोतु समीहे मधुन सनाभिम् ।

इति प्रियप्रेरितया तथाऽथ प्रस्तोतुमारम्भि शशिप्रशस्ति ॥ ५८ ॥

अत्रैवेति । इति प्रियेण प्रेरितया तथा मैम्याधानन्तर क्षणित प्रशस्तिर्माहात्म्य
प्रस्तोतुमारम्भि प्रारब्धा । इति किम् ? हे मैमि ! अहमत्रैव चन्द्रवर्णन एव विषये
मधुनाऽमृतस्य सनाभिं तुल्या तवापि वाणीमधुना श्रोतु समीहे इच्छामि ॥ ५८ ॥

इस समय मैं इस चन्द्रके विषयमें ही मधुतुल्य तुम्हारे वचनको सुनना चाहता हूँ ।
इस प्रकार (२०१५९-५८) प्रियसे प्रेरित उस क्षणवन्तीने चन्द्रप्रशस्तिका वर्णन करना
आरम्भ किया ॥ ५८ ॥

पूर विधुर्वर्द्धयितु पयोधे शङ्केऽयमेणाङ्गमणिं कियन्ति ।

पयासि दोग्धि प्रियविप्रयोगसशोककोकीनयने कियन्ति ॥ ५९ ॥

पूरमिति । हे प्रिय ! अयं त्रिषु पयोधे पूरमागन्तुकजलप्रवाह वर्द्धयितुमेणा
ङ्गमणिं चन्द्रकान्तं कियन्ति पयासि दोग्धि तस्माद् गृह्णाति तथा,—प्रियस्य चक्रवा-
कस्य विप्रयोगेन सशोकायाः कोक्या नयने अपि कियन्ति जलानि दोग्धि, ताभ्यामपि

सकाशाञ्जल कियद्गृहातीत्यह शङ्के मन्ये—इति भेमी प्रियमवदत् । उदिते चन्द्रे सागरपुरो वृद्धि प्राप्ता, चन्द्रकान्ता सवन्ति, चक्रवाको मृदा रोदितेति भाव । दुर्हिदिकर्मा ॥ ५९ ॥

यह (चन्द्रमा) समुद्रके जलप्रवाहको बढ़ानेके लिए कुछ जल चन्द्रकान्तमणिसे और कुछ जलप्रिय (चक्रव) के बिरहसे शोकात् चक्रके नेत्रद्वयसे दुहता (प्राप्त करता-लेता) है, यह मैं शङ्का करती हूँ । [समुद्रका जल-प्रवाह बढ़ने लगा, चन्द्रकान्तमणि पिघलने लगा तथा चक्रवाके बिरहसे चक्रई रोने लगी] ॥ ५९ ॥

व्योत्स्नामय रात्रिफलिन्दकन्यापूरानुकारेपसृतेऽन्धकारे ।

परिस्फुरन्निर्मलदीप्तिधीप व्यक्तायते सैकतमन्तरीपम् ॥ ६० ॥

व्योत्सनेति । हे प्राणेश । तमोवसरेऽतिरयामा रात्रिरेव कलिन्दकन्या यमुना तस्या पूर आगन्तुकातिनीलजलप्रवाहस्तदनुकारे तत्सदृशे तद्वदतिक्रमोऽन्धकारेऽप सृते गते सति परिस्फुरन्तो निर्मला दीप्तिर्यस्य । प्रकाशमानासौ धवलपुतिश्च सादृशो वा यश्चन्द्र स एव द्वीपो यत्र तावत् चन्द्रिकारूप सैकत धवलतरवालुकामये रात्रियमुनाया एव जलमध्यस्थितमन्तरीप द्वीप व्यक्तायते स्फुटमिव भवति प्रकट दृश्यते । पुरावसरेऽस्फुटमपीदानीं स्फुटीभवतीति शङ्के । चन्द्रचन्द्रिकया सरुठे धवलीकृतमिति भाव । व्यक्तायते व्यक्तमिव भवति, 'कतुं वयद्—' इति वयद् । अक्षयत अक्षय भवतीत्यर्थ । सैकतम्, 'सिकतासर्कराभ्या च' इत्यस्यार्थेऽण् ॥ ६० ॥

रात्रिरूपिणी यमुनाके प्रवाहके समान (कुम्भवर्ण) अन्धकारके (चन्द्रोदय होनेके कारण) दूर होनेपर प्रकाशमान निर्मल कान्तिवाण (चन्द्ररूप) दीप है जिसका ऐसा (यमुना-सम्बन्धी) जलका अन्तरीप (जलमध्यगत शुष्क स्थान—टाँ) स्पष्ट-सा हो रहा है । [यमुनाके जलके बीचमें स्थित जो बालुवामय भूभाग अन्धकारके कारण नहीं दृष्ट होता था, वह अब चादनीके प्रकाशसे दृष्ट होने लगा] ॥ ६० ॥

हासत्विपैराखिलकैरवाणा विश्व निशङ्केऽजनि दुग्धमुग्धम् ।

यतो दिवा बद्धमुखेषु तेषु स्थितेऽपि चन्द्रे न तथा चकास्ति ॥ ६१ ॥

हासेति । अखिलकैरवाणा सकलकुमुदाना हासत्विपैव विवासदोऽप्येव विश्व मङ्गल जगत् दुग्धवत् मुग्ध धवल शीतल चाजनि जातम्, ननु चन्द्रेणेत्यह विशङ्के विनोपेग मन्ये । यतो हेतोर्दिवा तेषु सकलकैरवेषु बद्धमुखेषु सङ्चितेष्वविरुद्धेषु च मासु चन्द्रे स्मिते विद्यमानाऽपि सकलकुमुदविकामाभावात्सकल जगत्तया रात्राविव शीतलधवलतया न चकास्ति । तस्मादिदं जगत् कुमुदहासत्विपैव शीतल धवल च कृतम्, ननु चन्द्रेणेत्यर्थ । कुमुदवद् दुग्धवत् च शीतल धवल चन्द्रचन्द्रिकारतीति भाव ॥ ६१ ॥

सम्पूर्ण कुमुदोंके हास (विहसित होने) की कान्तिसे ही सदा दृष्टके समान मनोहर

(शीतल तथा श्वेतवर्ण) हो गया है ऐसा मैं विशेषरूपसे मानती हूँ, क्योंकि दिनमें चन्द्रमा विद्यमान रहनेपर भी उन (कैरवों) के मुखको बन्द किये (अविकसित) रहनेपर यह सत्तार बैसा (दूधके समान शीतल एवं श्वेत) नहीं शोभता है । (इस कारण कुमुदोंको विकाम दीसिते ही यह सत्तार दुग्धवत् शीतल एवं श्वेतवर्ण हो रहा है) । [दूधके समान ठण्डी तथा स्वच्छ यह चांदनी है] ॥ ६१ ॥

मृत्युञ्जयस्यैव वसञ्जटाया न क्षीयते सद्भयदूरमृत्यु ।

न वर्द्धते च स्वसुधाप्रजीवस्त्रमुण्डराहुद्ववभीरतीव ॥ ६२ ॥

मृत्युमिति । मृत्युजयस्य मृत्यु जितवत् शिवस्य जटाया वस्त्रमेव चन्द्र षोड-
शांशभूतो न क्षीयते नाक्षरपरिमाणः भवति, कलामान्नवरूपेणैव तत्र सदा वसस्त
तोऽपि न्यूनपरिमाणो न भवतीत्यर्थः । अथ च,—न क्षीयते न क्षियते यस्मात्,
तस्मान्मृत्युजयात्मकाशाब्दयेन दूरो मृत्युर्मरणहेतुद्वत्ता यस्य स मृत्युजयजटाजूट-
निवासान्मृत्युना स्पर्ष्टमपि न शक्यते तस्माच्च क्षीयतेऽप्यमित्यर्थः, तर्हि तत्र वसन्व
वर्द्धते किमिति नेत्याशङ्क्याह—वर्द्धते च न, उपचितोऽपि न भवतीत्यर्थः । यतः—
स्वस्य सुधया आसो जीवश्चैतन्मयैस्तानि स्रजो मुण्डानि शिरोमालाया शिर कपा
लानि तान्येव राहुवस्तेभ्य उद्धवा समुत्पन्ना भौर्यस्य । कथम् ? अतीव, मितरां
भीत इत्यर्थः । सजीवमुण्डेषु बहवो राहुव एवैते इति धिया मिया न वर्द्धते । भीतो
हि सौख्याभावाद्दृशतर एव भवति । अथ च,—पूर्णस्य राहो सकाशाद्भयम् । अतः
कारणद्वयाच्च क्षीयते, न च वर्द्धते इत्येककल एव शिवशिरश्चन्द्र इत्यर्थः । एतेन
चन्द्रस्य षोडशी कला वर्णिता । शिवशिरसि वर्तमानत्वादस्य माहात्म्यमपि वर्णितम् ।
मृत्युञ्जयेति, 'सज्ञाया भृतृवृजि—' इति त्वज्ञ, 'अरुद्विषत्—' इति मुम् ॥ ६२ ॥

मृत्युञ्जय (मृत्युको जीतनेवाला, पक्षा०—'जिबजी) की जटामें निवास करता हुआ
(अतः) उस (मृत्युञ्जय) से दूर मृत्युवाला (मृत्युञ्जयके मयसे मृत्यु जिससे दूर ही रहती
है, ऐसा) यह चन्द्रमा क्षीण नहीं होता अर्थात् मरता नहीं है (पक्षा०—सोलहवीं कलासे
सदा वतमान रहता है), और अपनी (चन्द्र-सम्बन्धी) अमृतसे जीविग हुए (शिवजीकी)
मालाके मुण्डरूप राहुभीते अत्यन्त डरा हुआ यह चन्द्रमा (सोलहवीं कलामें अधिक)
बढ़ता भी नहीं है । [शिणजीकी जटामें चन्द्रमा षोडशांश (एक) कल्पसे सर्वदा निवास
करता है, वह उक्त कारणद्वयमें न ता घटता, ई और न बढ़ता ही है । लोकमें भी अपने
विजेताके मयमें परानिनि व्यक्ति दूर ही रहता है, अत एव मृत्युञ्जय शिवजीके मयसे
मृत्युका दूर रहना और उससे आत्माका निर्भय होकर क्षीण नहीं होना उचित हो है ।
जब सम्पूर्ण चन्द्रको यह ही राहु निगल जाता (नष्ट कर देता) है, तब षोडशांश होनेसे
अतिशय क्षीण शिवजटास्थित चन्द्रका शिवमाला स्थित अनेक मुण्डरूप राहुसे अतिशय

मयानं होना और इसी कारण नहीं बढ़ना भी उचित ही है, क्योंकि लोकमें भी कोई व्यक्ति प्रबल शत्रुओंके भयसे सर्वदा क्षीण रहता एवं उन्नत नहीं होता] ॥ ६२ ॥

त्विष चकोराय सुधा सुराय कलामपि स्वाययव हराय ।

ददज्जयत्येष समस्तमस्य कल्पद्रुमभ्रातुरथाल्पमेतत् ॥ ६३ ॥

त्विषमिति । ऽप्य चन्द्रो जयति सर्वोत्कर्षेण प्रकाशते । तत किंभूत ? चकोराय स्वाययव त्विष निजाशभूतां चन्द्रिका ददत् । तथा,—सुराय भाग्यादिदेवैर्म्यो निजाशभूता सुधा ददत् । तथा,—हराय निजाशभूता कला ददत् । अद्यापि अस्य चन्द्रस्यैतत्प्रमस्त परोपकारकरणकल्पमेव, अतिचमत्कारकारि न भवतीत्यर्थ । यत —समुद्रोपश्रवात्कल्पद्रुमस्य भ्रातु । कल्पद्रुमस्तु कल्पितसर्व सर्वैर्म्यो ददाति, अथ तु न तथैत्यपमेशैत्यर्थ । एवविध परोपकारी कोऽपि नास्तीति भाव । 'चकोराय' इति 'सुराय' इति च जात्येकवचनम् ॥ ६३ ॥

अपना भवयव (चन्द्रिकारूप) कान्तिको चकोरके लिए, अश्विनको देवोंके लिए और (षोडशी) कलाको भी शिवजीके लिए देना हुआ यह (चन्द्र) सर्वोत्कर्षमें प्रकाशमान है, (किन्तु) कल्पवृक्षके भाई इस (चन्द्र) का यह सब भी परिपूर्ण नहीं है, (क्योंकि) कल्पवृक्ष नष्टना करनेपर सबके लिए सब कुछ देना है और यह चन्द्रमा केवल चकोर, देव तथा शिवजीके लिए ही देता है) । [कल्पवृक्ष तथा चन्द्रको भी समुद्रमें ही वश होनेके कारण च को कल्पवृक्षका भाई कहा गया है] ॥ ६३ ॥

अङ्गुणनाभेविपकृष्णकण्ठ सुधाऽऽप्रशुद्धे कटभस्मपाण्डु ।

अहंनपिन्दोर्निजमौलिधानान्मृद कलामर्हति षोडशी न ॥ ६४ ॥

अङ्गेति । मृद शिवो निजमौली धानास्थापनादेतोरिन्दो षोडशी कलामर्हन्माप्नुवत्, अथ च—पूजयन् अपि षोडशीं कलां नाहति च प्राप्नोति, न पूजयति च । निजशिरसि धारणादेव तस्या प्राप्तिः पूजा च सम्बिनी । यो हतितरां पूज्यते स शिरसि धार्यते । तथा चैतस्य षोडशीं कलां मृद शान्नुवन्पूजयन्नपि च ता प्राप्नोतीति विरोधपरिहार । यत —किंभूतस्येन्दो, किंभूतश्च मृद ? अङ्गुणो य एणो हरिणस्तद्युक्ता नाभिर्मध्यमागो यस्य, अथ च—अङ्गरूपा कलङ्गरूपा एणनाभि कस्तूरी यत्र । मृदस्तु—विषेण कृष्णकण्ठ । तथा—सुधयामृतेनासा शुद्धिर्भावस्य येन, मृदस्तु—कटभस्मना चित्ताभस्मना पाण्डु । तस्माच्चन्द्रस्याल्पमपि साध्य शिवो न प्राप्नोति । किंच चन्द्रादधिक शिवश्चेदभविष्यत् तर्हि तदीयकला मौली नाधारयिष्यत्, सा मौली एता, तेन तस्माच्चन्द्र एव तदधिक इत्यर्थ । शुभस्याशु भस्य च महदन्तरमिति भाव । 'षोडशीमपि कला नाहति' इत्यनेन पूर्णचन्द्र नाहतीति किं वाध्यमित्यपि सूचितम् । हरस्यापकर्षे विष, चित्ताभस्म च हेतु, चन्द्रोत्कर्षे मृगमदोऽमृत च ॥ ६४ ॥

इन्द्राक्ष विश्वके पीनेने कुम्पवर्ग कण्डकारके तम दिव-जन्मने श्वेतवर्ग सिद्धि करने
 मन्त्र (सर्वोच्च स्थान) पर चन्द्रनाको वाग्य करन्ते, विडु (कल्प-विदु) भूत हरि-
 पुत्र मन्थनागवाले (कथक-विदुमूय कम्पूरीवर्ग) तथा अमृतने निर्मलकाको प्राप्त चन्द्रना
 की पोटनी कलाके भी योग नहीं है । [चन्द्रना कल्पनाका रूप श्रीरामजने वाग्य करण
 है और शिवजी इन्द्राक्ष विनेने कुम्पवर्ग कण्डकारके हैं तथा चन्द्रना अमृतने निर्मल
 है और शिवजी विश्वजन्मने निर्मल (स्वर्गवर्ग) हैं, अत एव चन्द्रनाकी पोटनाय कलाको
 महत्कार वाग्य (पद्यः—आने सर्वोच्च स्थान पर विराजमानका पूजा) करने कुछ भी वै
 चन्द्रकी पोटनाय कलाके भी योग नहीं है, बने के उक्त वाग्यद्वये शुभ चन्द्रनाको अनेक
 शिवजी अवतत अशुभ हैं और जब वे चन्द्रनाके पोटनाय कला (अनेने एक आना) म
 वाग्य नहीं है, तब पूज चन्द्रके योग (स्थान) केन से कथन सम्भव ही है । शुभ चन्द्र
 तम अशुभ शिवजीके शुभ वश कला है] ॥ ४४ ॥

पुपादु रन्नाम्यमिरुंश्वैः मितामिनशौगवष्टि द्विजेन्द्र ।

स्मरारिणा भूयन्ति न्दुपुनोजनि ननानि तर्नष्टिकवष्टिकानि ॥ ६५ ॥

पुष्पनि । प्रकृता द्विवेद्यमन्त्रं पुनरुच्यते कामस्यपदं वैश्वैरान्वितं कृत्वा-
 टे निमित्तं । अथ एव विनामित्रमोदनात्प्रवृत्तनामस्तथास्मि । स्मरान्वित-
 व निमित्तं हृद्यं हेतुनाह—स्मरारिणा मूर्धनि तुजोऽपि, अथ च—हृदय-
 पि, तस्य स्मरारिश्च तौष्टिकानि हृदयकारेण, तौष्टिकानि नमिद्विक्रमिणि च य-
 त्नात्तौष्टि । कामारिणा पुनरनातोऽपि कामदिनमेव यस्मात्कारेण, तस्मात्तद्विनि-
 यतेन हृदयं । एतात्कालोदात्तं किमपि चाम्पनि मावः । अन्विमिरिरेति
 उपमानोपमेया । अन्विमिरिरेति तत्रैव प्रवृत्तिं यत्करोति स तद्विनिर्बन्ध-
 नं तौष्टिकमुक्ति । तौष्टिकतौष्टिकानि, 'प्रमोदयन्' इति ठक् ॥ ६१ ॥

(ज्ञानाने मानने शिवजीके मूर्ति देवको अर्थात् अवबोधो ब्रह्मदेवको इष्टियोंके (शिवता अर्थात् इष्टियोंके प्राप्तिप्राप्तने) देखे तथा (अर्थात् इष्टियोंके सम्पन्नप्राप्तने) कृप्य रूप चन्द्रनाको रचा है क्योंकि कामचन्द्र (शिवजी) ने सम्पन्नकार रखा गया (पञ्चम—सम्पन्नको पाना हुआ) या वह चन्द्र तन (कामदेव) के ही तुष्टिकारक तथा पुष्टि (वृद्धि) का एक कार्योंके करता है । [लोकमें भी जो लोग दूसरेके आश्रयमें रहकर हुआ भी उनके शत्रुको हितमानना करता है, वह व्यर्थ तन शत्रुको इष्टियोंके रचा गया है ऐसा कहा जाता है । चन्द्रन सर्वाधिक कामोद्भोक्त है । ॥ ६५ ॥

मृगस्य लोमान्स्त्रिंशु सिद्धिर्नाम मृदुर्नृगाङ्गं क्वलोद्धरोति ।

स्वस्यापि दानादनुमङ्गलमुनं नोऽग्नस्तुत तेन च सुख्यतेऽयम् ॥ ५५ ॥

मृगस्येति । मिद्विद्यायां सुखं लभ्यते इति । अत्र मृगशर्करा इति । तद्वत्सुखं
लभ्यते । अत्र मृगशर्करा इति । तद्वत्सुखं लभ्यते । अत्र मृगशर्करा इति । तद्वत्सुखं लभ्यते ।

छापादेव स्वाधीन करोति । तर्हि किमर्थं मुञ्चतीत्यत आह—अङ्गसुप्त मध्यवर्तिनम्, अथ च—उत्सङ्गे विद्यासाधुत्वेन निद्रितम्, अमु मृग स्वस्यापि दानाद्वाहुदन्तकृत खण्डनादपि नोञ्जस्य त्यजन्, अथ च—स्वशरीरस्यापि वितरणादप्यजन्, अथ चन्द्रस्तेन राहुणा तेन पुण्येन च हेतुना मुदा शरणागतखण्डनिमित्तहर्षेण कृत्वा मुच्यते त्यज्यते । अन्योऽपि शरणागत मृग जिघासो सिंहाद्वसितुमात्मानमपि वृद्धामो हि तेन पुण्येन सिंहान्मुच्यत एव । 'नैऋत्य' इति पाठे—स्वस्यापि दानाङ्ग सुप्तममु यतो नामुञ्चतेन हेतुनाऽपि विमुच्यते, अर्थाद्वाहुणेत्यर्थः ॥ ६६ ॥

राहु मृगके लोमसे चन्द्रमाको ग्राममें लेना (खाता) है, किन्तु (शरणागत होनेसे निर्भय होकर) अङ्गमें सोये हुए इस (मृग) को अपने शरीरके राहुद्वारा (चर्चित) होने (पक्षा—देने) से भी नहीं छोड़ते चन्द्रमाको यह राहु हर्षके साथ उस (शरणागतखण्ड रूप) पुण्यसे छोड़ देता ॥ [लोकमें भी शरणागतकी रक्षा करनेवाला व्यक्ति उस पुण्यसे छूट जाता है, अथच—यह व्यक्ति भी उसके इस सत्कार्यमें प्रसन्न होकर उसे छोड़ देता है] ॥ ६६ ॥

सुधाभुजो यत्परिपीय तुच्छमेत वितन्वन्ति तदर्हमेव ।

पुरा निपीयास्य पिताऽपि सिन्धुरकारि तुच्छ कलशोद्भवेन ॥ ६७ ॥

सुधेति । सुधाभुजो देवा एव चन्द्र परिपीय साकल्येन पीत्वा तुरङ्ग रिक्त यद्वितन्वन्ति कुर्वन्ति तदर्हमुचितमेव, यतोऽस्य पिता सिन्धुरपि कलशोद्भवेना गत्येव पुरा निपीय तुरङ्गो रिक्त अकारि, तस्मात्कुलक्रमागत तुरङ्गावमित्यर्थः । एतस्य पूर्वोऽपि परोपकारनिरता, तस्मादयमपि तथैवेति भावः । कलशादुत्पन्नेनापि सागरस्य पानमिच्छाश्चर्यम् ॥ ६७ ॥

अमृतभोजन करनेवाले देवलोग जो इस चन्द्रका अच्छी तरह पानकर इसे खालीकर छोड़ देते हैं, यह उचित ही है, क्योंकि पहले कलशसे उत्पन्न (अयस्य मुनि) ने भी इसके पिता (समुद्र) को भी अच्छी तरह पीकर खाली छोड़ दिया था । [यह चन्द्र अपने पिताके समान ही परोपकार वरावण है, अथच—कलशसे उत्पन्न अगस्त्यजीका समुद्रको अच्छी तरह पी जाना महान् आश्चर्य है] ॥ ६७ ॥

पौराणिक कथा—असुरलोग देवोंको युद्धमें मार पीट कर समुद्रमें छिप जाते थे और वही कलशके भीतर स्वयं नहीं जा सकनेके कारण देव उनका कुछ प्रतिकार नहीं कर पाने थे । इस प्रकार अनेक बार होनेपर अतिशय पीड़ित देव अगस्त्य मुनिके पास आकर अपनी कष्टगथा सुनाये, यह सुनकर अगस्त्यजीने समुद्रजलको गण्डूषमें लेकर पी लिया और देवोंने असुरोंको निर्जल समुद्रमें युद्धसे पराजित किया और बादमें अगस्त्यजीने भी समुद्रको पुनः जलसे पूर्ण कर दिया ।

चतुर्दिगन्ती परिपूरयन्ती ज्योत्स्नैव कुन्त्या सुरसिन्धुबन्धु ।

श्रीरोदपूरोदरवासहानरैरस्यमेतस्य निरस्यनीयम् ॥ ६८ ॥

चतुरिति । चतुर्णां दिगन्तानां समाहारस्ताम् । चतुर्दिग्गन्तानित्यर्थः । (ता) परिपूरयन्ती सामर्थ्येन व्याप्नुवन्ती, तथा—अत्रासुरसिन्धोर्मन्दाकिन्या बन्धुमत्या । तथा कृन्ता पूर्णा इय ज्योत्स्नैवैका श्रीरोदपूरोदरे वास स्थितिस्तस्य हाना-
च्छुक्लपक्षिणागाद्धेतोरेतस्य चन्द्रस्य वैरस्य क्षीरसागरविरहजनित दुःख निरस्यति नाशयति । अस्मी चन्द्रिकायामेव क्षीरसागरबुद्ध्या पितृवियोगदुःख परित्यजनीत्यर्थः । सकलदिगन्तव्यारिष्वल्लचन्द्रिकामध्यवर्ती चन्द्र क्षीरसागरमध्यस्थ इव शोभत इति भावः । गङ्गावद्दुग्धवस्त्रेय कौमुदीति । चतुर्दिगन्तीम्, समाहारे द्विगोर्होप् ॥

चारो दिशाभोंको परिपूर्ण करनी (जनने व्याप्त होती) हुई तथा (इवेन होनेत) गङ्गाके समान चादनी ही इस चन्द्रका क्षीरसमुद्रके प्रवाहके मध्यमें निवास करनेके अभावजन्य विरमण (क्षीरसमुद्रके विरह दुःख) को नष्ट करती है । [चन्द्रमा पहले सर्वदा क्षीरसमुद्रमें निवास करता था, परन्तु वहांत निकलकर सर्वदा आकाशमें रहनेके कारण पिता (क्षीरसागर) के विरहजन्य दुःखमें दुखी हुआ तो ज्ये गङ्गाके समान शुभ्र चादनी ही मादृश्य होनेसे दूर करती है । सब दिशाओंमें व्याप्त स्वच्छ चादनीके मध्यमें क्षीरसमुद्रके मध्यमें स्थितके समान यह चन्द्रमा शोभता है] ॥ ६८ ॥

पुत्री विधोस्नाण्डविकाऽस्तु सिन्धोरश्या चकोरस्य दशोर्बयस्या ।

तथाऽपि सेय कुमुदस्य फाऽपि ब्रवीति नामैव हि कौमुदीति ॥ ६९ ॥

पुत्रीति । इय चन्द्रिका यद्यपि चन्द्रात्मस्तथाद्विधो पुत्री अस्तु । सिन्धो समुद्रस्य ताण्डविका नृतोपदेशिका नाटयित्री अस्तु । चन्द्रिकया हि सिन्धुस्रव्णाम्यते सा च तस्य मन्त्री भवति । यद्वा—इय त्रिधो पुत्री सिन्धोस्माण्डविका भवतु । तथा—चकोरस्य अश्या पेया भवतु । तथा—सकललोकस्य दशो प्रेमपात्रनया वयस्या मत्वा भवतु । तथापि सेय चन्द्रिका कुमुदस्य काचि अनिर्वचनीया स्वग्विनी भवतु । पूर्वनिदिष्टसर्वपेयया कुमुदस्यैव निरतिशयानन्दकारित्वात्केनाप्यनिर्वचनीयेन स्वग्विघ्नी भवत्वित्यर्थः । हि यस्मा कौमुदीति नामैव कर्तुं ब्रवीति । सर्वपा तत्तत्प्रत्यक्षतमभवेऽपि कुमुदानामिष कौमुदीति, 'तस्येदम्' इति स्वग्वेष्टम् । कुमुदा नामैव प्रीत्यतिशयेन स्वग्वन्धवदतीत्यर्थः । कौमुदीति नामैव हि स्पष्ट ब्रवीतीति वा । चन्द्रिकया सर्वेषामप्यानन्द कृत, कुमुदानां तु विशेषत इति भावः । कार्येण कारगानुमानम् । ताण्डविका, अर्द्धाद्यनन्तान्मनुवन्ताद्वा 'ताण्डव'शब्दात् 'तान्करोति—' इति ण्यन्ताण्डुल् । अशनमशि, 'इवकृप्यादिभ्य' इनीकि अशिमहंतीति दण्डादिवाचत् । 'आश्या' इति च पाठः ॥ ६९ ॥

यद्यपि चादनी (चन्द्रमाने उत्पन्न होनेमें) चन्द्रमाकी पुत्री ही, (चन्द्रोदय होनेपर

समुद्रके उदसित होनेसे) समुद्रको नचानेवाली (नृत्योपदेशकारिणी) हो तथा (कौमुदीको देखकर चकोरको आह्लादित करनेसे) चकोरके नेत्रद्वयकी सखी हो (अथवा—चन्द्रमाकी पुत्री यह चाँदनी समुद्रको नृत्योपदेशकारिणी हो और चकोरका पेय द्रव्य हो तथा (रम ससारके नेत्रोंके आह्लादक होनेसे) इस ससारमें नेत्रोंकी सखी हो), तथापि कुमुदकी भी कोढ़ (अनिर्वचनीया—लोकोत्तर) है, क्योंकि कौमुदी (कुमुद—सम्बन्धिनी) यह नाम ही (कुमुदके साथ लोकोत्तर अनिर्वचीय सम्बन्धको) कह रहा है । [यद्यपि चाँदनी समुद्र, चकोर तथा इस ससारको आनन्द देनेवाली है, तथापि कुमुदकी अतिशय आनन्द देने वाली है] ॥ ६९ ॥

उयोत्सनापय चमातटवास्तुवस्तुच्छायाच्छलच्छिद्रधरा धरायाम् ।

शुभ्राशुशुभ्राशकरा कलङ्कुनीलप्रभामिश्रविभा विभान्ति ॥ ७० ॥

उयोत्सनेति । शुभ्राशोश्चन्द्रस्य शुभ्राशा घवलभागाश्च ते कराश्च किरणारस्ते धरायां भूषा कलङ्कस्य नीलीभिः प्रभाभिर्मिभा विभा कान्तियेषां ते कलङ्कुनीलकान्तिरुत्थिता इव विभान्ति । यतः कीदृशा ? उयोत्सनेव पयो जल दुग्ध वा यस्मिस्तादृश चमातट दुग्धधवलच्छन्दिकाधवलीकृत भूतल तदेव वास्तु वसतिगृह येषां तानि वस्तूनि वृषादिपदार्थास्तेषां छाया छल येषां सादृशानि छिद्राणि प्रकाशेन रिक्तत्वाद्द्विलानि पदार्थप्रतिच्छायाकृपाणि तानि धरन्तीति तादृशा । चन्द्रिकाधवलता पदार्थाश्चन्द्ररमय एव, वृषादिप्रतिच्छायाश्चन्द्रकलङ्कुनीलरमय एवेति धारायामपि निपतिताश्चक्रकिरणा नीलधवल एव शोभन्त इत्यर्थः । अन्यस्य करा हस्ता कलङ्क वल्लीलस्य नीलमणे प्रभया मिश्रकान्तयो नीलमणियुक्ताङ्गुलीयकप्रभामिश्रा विभान्ति । 'शुभ्राशुशुभ्राशु—' इति पाठेऽपि 'अशुर्लेशे रवे ररमी' इत्यभिधानात् 'अशु'शब्दस्य लेशवाचित्वास एवार्थः । उयोत्सनेव पयो जल तस्य चमा भूमिस्तस्यास्तट तदेव वास्तु निवासस्थान येषां तेषां वस्तूनां छायायां व्याजेन छिद्राणि धरन्तीति वा ॥ ७० ॥

चाँदनीरूप जल (या—दूध) बाधा भूतलपर निवास करनेवाले (वृक्षादि) पदार्थोंकी छाया (परछाया) के छम्बाले छिद्रोंकी धारण करती हुई, चन्द्रमाके श्वेतवर्णरश्मियों (पक्षा—हाथ) कलङ्क (रूप गुण) की नीला कान्तिमें मिश्रितके समान पृथ्वीपर शोभ रही है । [चन्द्रमाकी श्वेताद्य किरणें चाँदनीसे श्वेतवर्ण वृक्षादि पदार्थों होकर तथा कलङ्क-सम्बन्धी वृक्षांश किरणें भूतलस्य वृक्षादिकी छायारूप होकर शोभती हुई—सी मालूम पड़ती है । लोकमें भी किसी व्यक्तिका स्वच्छ हाथ वङ्गुणादि भूषणोंकी कान्तिमें मिश्रित होनेसे श्वेत-वङ्गवर्ण होकर शोभते हैं] ॥ ७० ॥

कियान्यथाऽनेन वियद्विभागस्तमोनिरासाद्विशदीकृतोऽयम् ।

अद्विस्तथा लावणसैन्धवीभिरुल्लासिताभिः शित्तिरप्यकारि ॥ ७१ ॥

क्रियानिति । उदितमात्रेणानेन चन्द्रेण तमोनिरासादेतो क्रियान् किञ्चिन्मा-
त्रोऽयं वियद्विभाग पूर्वाकाशदेशो यथा विशदीकृत तथा चन्द्रकिरणैरुल्लासिताभि-
वृद्धिं प्रापितभिर्निर्वाणसंन्यवीभिरद्भि क्रियानयं वियद्विभाग शिति रयामोऽप्य-
कारि । अग्नौदप्रमे चन्द्रे पूर्वाकाशदेशस्तिमिरनिरासादत्रलो भवति, ततो निरतस्य
य तमस प्रतीत्या घनीभूतत्वात्पश्चिमाकाशदेश रयामलो भवतीति तत्रेयमुपेक्षा ।
समुद्रजल ॥ नील, पूर्वाकाशदेश एव नीलं समुद्रजलं पुनर्नीलोऽप्यकारीति वा ।
लावणसंन्यवीभि, लवणसिन्धोरिमा 'तस्येदम्' इत्यणि 'हृद्गतसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य
च' हायुभयपदवृद्धि ॥ ७१ ॥

(उदित होनेमात्रे) इस चन्द्रमाने अन्धकार दूर करनेसे जिस प्रकार आकाशके कुछ
भागक (पूर्व दिशामें) रवेण कर दिया है (चन्द्रोदय होनेसे) बड़े हुए, क्षारसमुद्रके जलने
उसा प्रकार आकाशके कुछ भागको (पश्चिम दिशामें) काल कर दिया है । [पहले
चन्द्रोदय होते ही पूर्वदिशामें अन्धकारच्छन्न आकाश अन्धकार दूर होनेसे स्पष्ट हो जाना
है और पश्चिम दिशामें अन्धकार अधिक रहना है, इसीपर उक्त उपेक्षा की गयी है] ॥७१॥

गुणौ पयोधेर्निजकारणस्य न हानिवृद्धी कथमेतु चन्द्र ? ।

चिरेण सोऽयं भजते तु यन् ते न नित्यमभोविरिवात्र चित्रम् ॥७२॥

गुणःशिवि । चन्द्रो निजकारणस्य पयोधेर्हानिवृद्धिरूपौ गुणौ कथं नैतु प्राप्नोतु ?
अपि तु कार्यगुणानां कारणगुणपूर्वकत्वनियमादवश्यमपचयोपचयौ चन्द्र प्राप्नुत
इति युक्तमेवेत्यत्र न किञ्चिच्चित्रमित्यर्थ । तर्हि कुत्र चित्रमित्याशङ्क्याह—सोऽयं
चन्द्रस्तं हानिवृद्धी यच्चिरेण पञ्चान्तपरिमितेन बहुना कालेन भजते, न तु अभोधि-
रिव नित्यं प्राप्यहं भजते, अत्र विषये चित्रमित्याश्चर्यम् । समुद्रो यथा प्राप्यहं
हानिवृद्धी भजते, तथा पुनरोऽपि चन्द्रो नेत्याश्चर्यमित्यर्थ ॥ ७२ ॥

अग्ने किरण (उपपत्ति-स्नान) भूत समुद्रके भीण होना तथा बढ़ना—इन दो गुणोंको
चन्द्रमा क्यों नहीं प्राप्त करे ? (हममें कोई आश्चर्य नहीं है, किन्तु) यह चन्द्रमा उन दो
गुणोंको विष्ण्व से (१५-१५ दिन बीतनेपर) तथा समुद्र सदा (प्रतिदिन) प्राप्त करता है,
यह आश्चर्य है । [चन्द्रमाके उत्पत्तिकारणभूत समुद्रके क्षय-वृद्धिरूप गुणोंको कार्यभूत
चन्द्रमामें होना उचित होनेसे कोई आश्चर्य नहीं है, किन्तु उक्त दोनों (समुद्र तथा चन्द्रमा)
में उक्त गुणद्वयको क्रमशः नित्य एवं विष्ण्वने होनेमें आश्चर्य है] ॥ ७२ ॥

आदर्शदृश्यत्वमपि श्रितोऽयमादर्शदृश्या न विभर्त्ति मूर्त्तिम् ।

त्रिनेत्रमुरत्ययमत्रिनेत्रादुत्पादमामादयति स्म चित्रम् ॥ ७३ ॥

आदर्शेति । अयं चन्द्र आदर्शवद् दृश्यत्ववृत्तत्वादिना रमणीयत्वश्रितो भजमानो-
ऽप्यादर्शवद्दृश्या (रमणीया) मूर्त्तिं न विभर्त्ति चित्रम् । यो ह्यादर्शवद् दृश्यो भवति
स एवादृशवद् दृश्या मूर्त्तिं न विभर्त्ति तद्दृश्यो न भवतीति विरोधाश्चर्यमित्यर्थ ।

अथ च—दर्पणवद्दृश्यत्वं श्रितोऽप्यादर्शं दर्शमभिव्याप्य दृश्याममावास्यायां दर्शनयोग्या मूर्तिं न विभति । इदानीं पूर्णत्वेन दृश्यमानोऽपि दर्शं लेदोनापि न दृश्यते इत्यर्थ इति विरोधपरिहार । दर्पणवद्दृश्यत्व श्रितोऽपि आदर्शं दर्शं मयां दी कृत्य कृष्णचतुर्दशीमभिव्याप्य दृश्या मूर्तिं न विभति, अपि तु तावत्पर्यन्तं दृश्यो भवत्येवेति वा । तथा—अथ चन्द्रशिखिनेत्राद्भवति तादृशशिखिनेत्रादुत्पन्नोऽपि न शिखिनेत्रोऽश्रिनेत्र । तस्मात्त्रिनेत्रव्यतिरिक्तास्तकाशाद्मुत्पादमुत्पत्तिमासादयति स्म प्रापेत्ते तदपि चित्रम् । शिखिनेत्रादुत्पन्नोऽपि शिखिनेत्रादुत्पन्नो न भवतीत्याश्चर्यमित्यर्थ । अथ च—त्रिनेत्रादुत्पन्नोऽप्यत्रिनेत्रादुत्पत्तिमापेत्त्येतदपि विरुद्धम् । अथ च—त्रिनेत्रो भूवंसंतिस्थान यस्य तादृश, तथा—अत्रेमुनेर्नैत्राश्चित्रमाश्चर्यरूपमुत्पाद प्रापेति विरोधपरिहार । सहजसौन्दर्यमाभयमाहात्म्यं कुलस्य माहात्म्यं चानेन चन्द्रस्य वर्णितम् । चन्द्रस्यात्रिनेत्रसमुद्भूतस्य पुराणप्रसिद्धम् ॥ ७३ ॥

यह चन्द्रमा आदर्श (दर्पण) के समान (स्वच्छ एवं गृष्ठाकार होनेसे दर्शनीयताको प्राप्त होता हुआ भी आदर्शमें (या—आदर्शतुल्य) दर्शनीय मूर्तिको नहीं धारण करना है, यह आश्चर्य है (जो आदर्शवत् दृश्य है, उसका आदर्शवत् दृश्य मूर्तिको नहीं धारण करना विरोध है, उसका परिहार यह है कि—आदर्श (दर्पण) के समान दर्शनीय मूर्तिको धारण करता हुआ भी यह चन्द्रमा अमावस्यातक दर्शनीय (देखने योग्य) मूर्तिको नहीं धारण करता अर्थात् अमावस्याका इसकी मूर्ति नहीं दिखलायी पड़नी, तथा त्रिनेत्र (तीन नेत्रों वाले) से उत्पन्न भी यह चन्द्रमा त्रिनेत्रमे उत्पत्तिको पाया है (बिना तीन नेत्रोंवाले उत्पन्न हुआ है, अथवा—त्रिनेत्र (शिव) जी से उत्पन्न होता हुआ भी त्रिमुनि (त्रिभिन्न) के नेत्रमे उत्पन्न होता है, यह आश्चर्य है । इस विरोधका भी परिहार यह है कि त्रिनेत्र (शिवजी) हैं भू—निवासस्थान त्रिनेत्र के ऐसा चन्द्रमा भी त्रि मुनिके नेत्रमे उत्पन्न होगा है । [चन्द्रमाको त्रिमुनिके नेत्रसे उत्पन्न होता वशिष्ठेण कालिशानने भी रघुवत् द्वितीय सर्गमें कहा है] ॥ ७३ ॥

इज्येय देवव्रजभोज्यश्छद्दि शुद्धा सुधादीधितिमण्डलीयम् ।

हिंसा यथा सैव तथाऽङ्गमेवा कलङ्कमेक मलिनं विभर्ति ॥ ७४ ॥

इज्येति । देवानां भोज्यं समूहैर्भोज्या पेया ऋद्धि समृद्धिर्यस्या सा शुद्धा धरता इय सुधादीधितेरमृत्करस्य चन्द्रस्य मण्डली इज्येय याग इव, शोभत इति शेष । इज्यापि देवव्रजभोज्यपुरोडाशादिसमृद्धि शुद्धा पवित्रा च भवति । तथैवा चन्द्रमण्डली कलङ्काद्यमेक मध्यवर्तिनमङ्गमवयव मलिनाकार तथा विभर्ति, यथा मेव इज्येय पूर्वोक्तगुणविशिष्टा सावज्येक पशुहिसारमकमङ्ग कमसाधन मलिन पापहेतु

१ तथा—अथ नयनसमूह ज्योतिरत्रैव चो (रघु० २।५५) अथ त्रिमुनिनेत्रोत्पन्न ज्योतिश्चन्द्र एव गृह्यत इति बोध्यम् ।

विभर्ति । परोपकारशीलाया सर्वात्मना शुद्धाया अपि चन्द्रमण्डल्या दैवादेकमङ्ग
मलिन जातमित्यर्थः । यागे हि हिसामात्रमेव मालिन्यम् । 'मुधाङ्गम्—' इति
पाठे—कलङ्करूपमेकमङ्ग मलिन वृथैव विभर्ति । शुद्धाया मालिन्ययोगस्यानौचित्या
दित्यर्थः । शुद्धस्यापि श्रौतधर्मस्य सारयैर्दोषारोपणमालिन्यं मुधेवेत्यर्थः । इत्या,
'यजयजो —' इति वयम् ॥ ७४ ॥

देव—मूढसे भोज्य ममृद्धि (कलावृद्धि, पक्षा०—हविष्यादि म-पति) बाली तथा
स्वच्छ वर्ण (पक्षा०—पवित्र) यह चन्द्रमण्डली वृक्षके समान (शोभना) है, तथा यह
(उत्तररूपा चन्द्रमण्डली कच्छरूप एक (मध्यभागस्य) मलिनता (कुगर्भ) को उस
प्रकार धारण करती है, जिस प्रकार उत्तररूपा श्वया (याग—) पशुकी हिसारूप मलिन
(दोषयुक्त) एक अङ्ग (वर्म-विशेष) को धारण करती है । [सर्वथा परोपकारशील स्वच्छ
चन्द्रमार्गे वृक्षमें हिसारके समान एक मलिन कलङ्क (दोष) लगा हुआ है] ॥ ७४ ॥

एक पिपासु प्रवहानिलस्य व्युत्तो रथाद्वाहनरङ्गरेप ।

अस्त्यम्बरेऽन्तर्गुनि लेलिहास्य पिबन्नमुन्यामृतविन्दुवृन्दम् ॥ ७५ ॥

एक इति । एष मृगाङ्गे दृश्यमान प्रसिद्ध एक पिपासुस्त्वपाक्रान्त सप्तवायु
हन्धमप्यवर्तिन प्रवहारवस्थानिलस्य मृगवाहनस्य गगनचारिणी रथाच्च्युतो
७५ एकभूतो रङ्गमृगोऽन्तर्गुनि निर्जलेऽम्बरे लेलिहास्यो नितरा पुन पुनयेन वास्वाहन
इति मुख यस्य तादृशो भक्षणमुप्य चन्द्रस्यामृतविन्दुवृन्दं पिबन्सन्नरितः ।
अन्तो रथ परित्यज्य पतितो निर्जलेऽपि गगने चन्द्रामृतविन्दुवृन्दमास्वाद्यन्
रिव निमृग एवायम्, न तु कश्चिकलङ्कमृगो नामेत्यर्थः । अस्तीति वर्तमानप्रत्यय
हानि स्वादनेन चन्द्र परित्यज्य गन्तुमशक्नोऽद्यापि उतंत इति सूचितम् । पञ्चम
एव तृपाक्रान्तो निर्जले देशे प्रसन्नवादे पतज्जलविन्दुवृन्दं पिबन्नमुपशान्तपि
। सो लेलिहास्य सन्ततश्रैव चिर तिष्ठति । सप्तवायुस्कन्धा पुराणप्रसिद्धा । लेलि-
हेति, नितरा पुन पुनवा लंढान्यर्थयद्विपचाद्यच्चि 'यदोऽचि च' इति घट्टो लुक् ॥ ७५ ॥

प्यामा हुआ (अत एव एत वायुओंके स्स्थके मध्यवर्ती) 'प्रवह' नामक वायुके रथने
पृथक् हुआ यह (प्रत्यक्ष दृश्यमान) वाहन (प्रवह' नामक वायुका वाहनभूत) मृग
निर्जल आकाशमें (प्यामम व्य. कुल जानेके कारण ओष्ठप्रातको चाटने वाला) इस चन्द्रमाके
अमृत-विन्दु-ममृद्धको पी रहा है । [यह चन्द्र मार्गे दृश्यमान कलङ्क 'प्रवह' वायुके रथसे
प्यामके कारण अन्ध होकर जन्म-रहित आकाशमें प्याममे ओठको चाटनेवाला और चन्द्र
माके अमृतविन्दुको पीता हुआ 'प्रवह' वायुका वाहनभूत मृग हा है । लोकमें भी कोई
प्यामने बाहुल्य व्यक्ति निज स्थानमें ओठोंको चाटता तथा झरने आदिके जल-विन्दुको
पीता रहता है, वगैरे छोटता नहीं है । 'अस्ति' (है) इस वर्तमान कालिक क्रियासे बहुत
दिन पूर्व तक एमम पृथक् रूप मृगका आनन्दक स्थित रहना सूचित होता है । सात वायु

स्कन्ध, 'प्रवह' वायुमें नैषादि राशि समूह और उस नैषादि राशि-मण्डलमें चन्द्रमाका रहना पुराणोंमें देखना चाहिये] ॥ ७१ ॥

अस्मिञ्छिन्ना न स्थित एव रङ्गयूनि प्रियाभिर्विहितोपदाऽयम् ।

आरण्यसन्देश इवोपवीभिरङ्गे स शङ्कोऽग्निधुना न्यधापि ॥ ७६ ॥

अस्मिन्निति । शिशी बाले एककलामकेऽस्मिन्धन्दे रङ्गमृगो न स्थितो नासी देव तस्या दशायामदर्शनात् । किंतु प्रियाभिरोपवीभिर्यूनि तद्गणे पूर्णावयवेऽस्मिन् धन्देऽयं रङ्गुरपदेव विहिता प्रेषिता । कीदृशी ? अरण्ये भव सदिश्यते प्रस्थाप्यते सदृशस्तद्रूपा । अरण्यभवाना सदेवार्कपा वा । 'वयं नवप्रिया निर्जने वने मृगं सह वसाम', एवं तु स्वर्गे विजयी सुखेन वर्तसे' इति गूढार्थोप(पा)श्रुमसूचिकेति यावत् । अनन्तर विधुना प्रेषसीसदेशरूपं स रङ्गुरङ्गे मध्ये, अथ च—उत्तम्रे, प्रियाप्रेम भरेण न्यधापि स्थापित इत्यहं शङ्के । अन्यापि प्रिया तरुण प्रिय प्रति कश्चिसदेश-मुपदारूपेण प्रेषयति, स च तद्दद्याद्धारयति । ओपध्वो हि वनवासिन्यस्तदनु रूपमेव सदेश मृग स्वप्रिये चन्द्रे प्रेषितवत्य । आरण्यसदेश इवायमुपदा प्रहितेति वा । 'पदा—' इति पाठे—यदाप्रभृति प्रेषित, तदाप्रभृति सारण्यदशाया चन्द्रेणा यमङ्के न्यधापि, न ॥ पूर्वमित्यर्थः । आरण्य, भवार्थेऽण् ॥ ७६ ॥

वाक्य (एक कलामक) इस चन्द्रमामें मृग (कलङ्कहरण) था ही नहीं, (किन्तु) इसका युवक (पूर्णावयव) होनेपर (इस चन्द्रमाकी) प्रिया ओषधियोंने वनके सन्देहके समान इस मृगको उपहार (नेट) बनाकर भेजा ('तुम स्वाका आनन्द दूट रहे हो और तुम्हारा प्रिया हम ओषधियां तुम्हारे विरहमें वनमें मृगोंके साथ वसती हुई बट सरन कर रही है' इस प्रकारके सन्देहरूपमें वनमें सुप्त हम मृगको युवक (पूर्ण) चन्द्रमाके पास ओषधियोंने भेजा) और उस प्रियाप्रेमिण उपदाभूत मृग को चन्द्रमामें अपने बीच (पक्षा—फोड़) में रख लिया ऐसा मैं जानती हूँ । [वनवासिनी चन्द्रप्रियाभूता ओषधियोंका बहकें अनुरूप मृगको सन्देहरूपमें उपहार भेजना तथा प्रियाओंके भेजे हुए उपहारको अपने फोड़ में चन्द्रमा का रहना उचित ही है] ॥ ७६ ॥

अस्यैव सेवार्थमुपागतानामास्वादयन् पल्लवमोपधोनाम् ।

धयन्नमुच्यैव सुगजलानि सुप्तमत्येव कलङ्करङ्गु ॥ ७७ ॥

अस्येति । एष कलङ्कहरणविरहपीडितत्वादस्यैव चन्द्रस्य सेवार्थमुपागतानामोपधोनां पल्लवमास्वादयन् । तथा—अमुष्येव सुप्तरूपाणि जलानि धयन् पिबन् सुप्तमनापासलत्वावृत्तिरिव वमति, आहारलोभादत्रैव वमतीत्यर्थः । अन्योऽपि मृगो जलकिसलधयुते देवो सुखेन वसति कदाचिदपि न त्यजति । पल्लवम्, जाये कवचनम् ॥ ७७ ॥

(चन्द्रमन्दार) यह कलङ्कमृग (ओषधियोंके विरहसे पीडित) इसी (चन्द्रमा) की

देवाने लिए आयो हुई ओषधियोंके पड़वोंको खाता हुआ तथा इमो (चन्द्रमा) ॥ अमृतरूप (पद्मा०—अमृततुल्य मधुर) जलको पीता हुआ सुखपूर्वक रहता है । [यही कारण है कि ओषधिरूप चन्द्रप्रियाओंका भेजा हुआ यह मृग चन्द्रमाके कोठमें ही सदा रहने लगा, वहां से पुन वापस नहीं गया । कोमल पहलव तथा मधुर जल मिजनेवाले स्थानमें मृगका सुख पूर्वक रहना और उसे छोड़कर कहीं नहीं जाना तबिन ही है] ॥ ७७ ॥

रुद्रेषुविद्रावितमार्त्तमारात्तारामृग ऋयोमनि वोक्ष्य विभ्यत् ।

मन्येऽयमन्य शरण विवेश मत्तेशचूडामणिभिन्दुमेण ॥ ७८ ॥

रुद्रेति । दक्षयज्ञे वीरमद्रावतारस्य रुद्रस्येषुणा विद्रावितम् । अत एव भार्त्त तारारूप मृग ऋयोमनि भारारममीपे दूरे वा वीषय विभ्यत् त्रस्पन् अयमन्योऽपरपृग इन्दुमीशस्य चूडामणि ज्ञात्वा शरण विवेश । शिवेन शिरसि स्थापितत्वादय मान्य इत्येतदाश्रयेण रुद्रान्मामय रक्षिष्यम्येवेत्याशयेनान्यो मृगश्चन्द्र शरण प्रविष्ट इत्यर्थ इत्यह मन्ये । अन्योऽपि सज्जातीय कस्माच्छिद्रीत दृष्ट्वा स्वयमपि भीत सम्क्रमपि शरणं याति । 'गत्वा—' इत्यपि पाठ । तारामृगस्य रुद्रेषुविद्रावण काशीखण्डादौ ज्ञातव्यम् ॥ ७८ ॥

रुद्र (रुद्र शिवजी) के बागमें विद्रीर्ण (अर्ध एव) दु खित तारा (नक्षत्र) रूप मृगको समीर (या—दूर) से ही देखकर डरता हुआ यह दूरा ही मृग इश (सर्व समर्थ शिवजी) के मस्तकस्थ मणिभूत चन्द्रमाको शरण (अपना रक्षारथान) मानकर इनके मध्यमें प्रविष्ट हो गया है, ऐसा मैं मानती हूँ । [लोकमें भी कोई व्यक्ति किसी सज्जतीय व्यक्तिको किसी के द्वारा पीड़ित देखकर भयान होता हुआ सुरक्षित स्थानमें प्रवेश करता है, अत एव शिवके बागमें पीड़ित 'नक्षत्र' रूप मृगको पीड़ित देखकर शिवजीके मस्तकपर रहनेवाले चन्द्रमाको (अपने मस्तकपर रहे हुए स्नेहपात्र चन्द्रमाके मध्यमें प्रविष्ट होनेपर ये मुझे नहीं मारेंगे, हम भावनामें) अपना सुरक्षित स्थान समझकर दूरा मृग चन्द्रमामें स्थित हो गया, जो काल्पनिक भावित होता है] ॥ ७८ ॥

पौराणिक कथा—कामरीटिन ब्रह्मने अपनी कन्या सरस्वतीके साथ सम्भोग करना चाहा तो वह मृगीका रूप धारणकर माग चली और ब्रह्मा भी मृगका रूप धारणकर उनके पीछे दौड़े, यह ब्रह्माका अनुचिन व्यवहार देखकर महाक्रोधी शिवजीने मृगरूपधारी ब्रह्माके मस्तक ऊपर दामसे काट लिया तब वह मृगरूपधारी ब्रह्ममस्तक 'मृगशिरा' नामक तथा शिवजीका 'आर्द्रा' नामक नक्षत्रोंके रूपमें आकाशमें स्थित हुए और तब ब्रह्मकपालको शिवजीने ब्रह्म इतना दूर करनेके लिए प्रायश्चित्तरूपमें भिक्षापात्र बनाकर ग्रहण किया । यह कथा स्कन्द-पुराणके काशीखण्डमें आयी है । 'शिवमहिम्नस्तोत्र' में यह वर्णन आता है ।

१ 'प्रज्ञानाय नाथ प्रसन्नमधिकस्वा दुहितरगत रोहिदुभूता तिरमपिषु मृष्यस्य वपुष' ।
धनुष्पाणेयांत दिवमपि सपत्नाकृतममु ब्रसन्त तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरमस ॥'

पृष्ठेऽपि किं तिष्ठति नाथ । नाथ रङ्गुर्निधोरङ्ग इवेति शङ्का ।

तस्मात् तिष्ठस्व मुखे स्व एव यद्वैरथे पृष्ठमपश्यदस्य ॥ ७९ ॥

पृष्ठ इति । हे नाथ ! विधोरङ्ग इव यथा चन्द्रस्योत्पन्ने कलङ्कमृगां वर्तते, तथा रङ्गु पृष्ठेऽपि पश्चाद्भागे किं तिष्ठति ? अथ न तिष्ठति इति तवाशङ्का चेद्वर्तते इति शेष । तर्हि त्वं तत्वाय याथाभ्युत्थानार्थं स्वे निजे मुखे विषये तिष्ठस्व, निजमुखमेव निर्णयं पृच्छेत्पर्यं । यत्स्वमुखं द्वैरथे समानशोभाभिलाषाद्विरथसबन्धिनि द्वन्द्वपुंस्त्वस्य त्वन्मुखाञ्जयमानत्वात्पलायमानस्य चन्द्रस्य पृष्ठं पश्चाद्भागमपश्यत् । तस्मात् तत्स्वमुखमेव निर्णेतुमेव पृच्छेत्पर्यं । त्वन्मुखं चन्द्रादधिकमिति भग्नया नलमुखं वर्णनं मे कृतम् । तत्वाय तत्त्वं ज्ञातुं, 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्माणि स्थानिनः' इति श्रुत्या, तादृश्यमात्रे वा । तिष्ठस्व, स्थेयादपाया तद् । स्वे, वैकल्पिकत्वादिमन्त्रभाष ॥ ७९ ॥

हे नाथ ! (इतः चन्द्रमाके) अङ्गमे-के समान (जिस प्रकार इसके तन्मुखस्य अङ्गमे मृग रङ्गा है, वही प्रकार) पृष्ठभागमें भी मृग है क्या ? ऐसी यदि आपकी शङ्का है तो निर्णयार्थ अपने मुखमें ही पूछिये, जिसने (समान शोभा चाहनेके कारण चन्द्रमा तथा आप के मुखके साथ) दो रथों (लक्षणासे रथस्य बीरों) का युद्ध होनेपर इस (चन्द्रमा) के पृष्ठभागी देखा है । [चन्द्रमाने जब आपके मुखकी समानता करना चाहा, तब आपके मुखके साथ युद्ध होने लगा और चन्द्रमा पराजित होकर भाग चला, उस समय आपके मुखमें चन्द्रमाकी पीठकी देखा, इस कारण 'च' माकी पीठमें भी कलङ्कमृग है या नहीं ? इस शङ्काको 'अपने मुखमें ही छुकर आप अपनी शङ्का दूर कर लें ।' इस प्रकार चन्द्रमाका वर्णन करती हुई दमकती है अपने प्रियतम नन्दके मुखकी चन्द्राधिक सुन्दर बतलाया] ॥ ७९ ॥
उत्तानमेवास्य पलश्चक्षुश्चिदेवस्य युक्तिं शशमङ्गमाह ।

तेनाधिक देवगवेऽपि स्या श्रद्धालुस्तानगतौ श्रुतायाम् ॥ ८० ॥

उत्तानमिति । युक्तिरर्थावतिरनुमानं यस्य देवस्य चन्द्रस्य मत्पवतिनमङ्ग कलङ्कमृगं दाशमुत्तानं स्वर्गममुखमस्मदादिहरयमानपृष्ठभागमाह मते । यतो बलश्च क्षुब्धं घबड़ोदरम् । यद्यपि दाशकोऽस्मत्समुखोदरोऽनुत्तानोऽभविष्यत्, तर्हि मत्पवतिशशकोदरस्य घबड़त्वाच्चन्द्रमध्यभागीऽपि घबड़ोऽभविष्यत्, न च तथा हरयन्, किन्तु मलिन । तस्मादुत्तानं पलं दाशकञ्चन्द्रेऽस्तीति युक्तिराहोपर्यं । तेन चन्द्रदाशकनिश्चितोत्तानावेनैव हेतुनाह देवोवेध्वपि मुरभीममृतिषु विषये येदे धूनायामुत्तानगतौ मुरलोऽस्मत्पृष्ठपर्यन्तया गमने विषये पूर्वपेक्षयाधिकमतिरती श्रद्धालुरस्ति वयमुष्ठा इयाम् । 'उत्ताना वै देवगवाश्चरति' इति श्रुतिन्यायोपपन्नार्थनया सारये वेत्तव्यमिदानीमधिकं मन्य इत्यर्थं । देवगवेषु 'गोरतद्विनलुकि' इति दृष्टं । 'देवगवेषु' इति पाठे शिवान्दीप् ॥ ८० ॥

अनुमान कह रहा है कि—(चन्द्रमा) का अङ्गुष्ठ दशक क्षेत्र जुष्टिवाला होनेसे उज्जान (ऊपर—स्वर्गकी ओर मुख किया हुआ) ही है, इस कारण देवोंकी गी (कामधेनु) स्वर्गमें उज्जान होकर (स्वर्गकी ओर मुख करनेसे भूलोकवासियोंके लिये पृष्ठमागको दिखानाही दुर्) चलती है इस विषयमें मैं अधिक अट्ठाहूँ । [दशकका उदर भाग देव होता है, अतः यदि यह हम लोगोंकी ओर मुख किया जाता तो चन्द्रकलङ्ग भी स्वच्छ ही दृष्टिगोचर होता, परन्तु मूढवृत्ता इस लोगोंको वह बाला दृष्टिगोचर होता है, अतः जान होता है कि चन्द्रकलङ्गान् दशक ऊपर—स्वर्गकी ओर मुख तथा भूलोककी ओर पीठ किया है और जिस कारण यह स्वर्गस्थ दशक उज्जानसे स्थित है, इस कारण 'उज्जान (भूलोककी ओर पीठ तथा स्वर्गकी ओर) मुख करके देवोंकी गाँवें चरती हैं' अतएविका 'उज्जाना वै देवगणाश्चरन्ति' इस दृष्टि में अब नुझे विशेष यत्ना हो गयी हैं] ॥ ८० ॥

उत्तरीत्योत्तानगतौ सिद्धायामपि दशकस्य रक्तपृष्ठशालीलचेन प्रतीति कथमिष्यत आह—

दूरस्थितैवस्तुनि रक्तनीले निलोक्यते केवलनीलिमा यत् ।

शशान्य तिष्ठन्नपि पृष्ठलोम्ना तन्न परोक्ष मलु रागभागाः ॥ ८१ ॥

दूरीति । दूरस्थितैर्द्रष्टुमी रक्तनीले मिश्रितोभयवर्गं वस्तुनि केवलरूपकतागमागो मीलिमैव यद्यस्माद् निलोक्यते तत्तत्प्राकारणाच्छब्दस्य पृष्ठवर्तिरोम्ना तिष्ठन्नपि रागभागा रक्तिमाद्य नोऽस्माकमतिदूरस्थितानां मलु निश्चित परोक्ष इति विरोधाभास । किन्तु मीलिमैव दृश्यत इत्यर्थः । तिष्ठन्वर्तमानोऽपि परोक्ष इति विरोधाभास । दूरस्थत्वाच्च दृश्यत इति तत्परिहारः । 'मलु' अल्पेवाया वा ॥ ८१ ॥

दूरस्थ लोग जिस कारणसे लालिमायुक्त नीलवर्णवाली वस्तुके केवल नीलवर्णको ही देखते हैं, इस कारण (चन्द्रकलङ्गान्) दशकपीठकी लालिमा होनेसे हुए भी वह दूरस्थ हम लोगोंको परोक्ष (अदृश्य) ही रहती है । (यही कारण है कि चन्द्रकलङ्गस्य हम दशकके पीठकी नीलिमा ही हम लोगोंको दृष्टिगोचर होती है, लालिमा दृष्टिगोचर नहीं होती) ॥ ८१ ॥

भङ्गस्तु प्रमुठ्योकरणस्य दर्पं पदप्रयोगाध्वनि लोक एष ।

शशो यदस्यास्ति शशी ततोऽयमेव मृगोऽस्यास्ति मृगीति नोक्तः ॥ ८२ ॥

भङ्गमिति । एष कविलोक पदार्था सुसिद्धन्तानां प्रयोगाध्वनि त्रिषये व्याकरणस्य प्रकृतिप्रत्ययविभागपूर्व सन्ध्वन्यादनकारिणः शास्त्रस्य भङ्गधीन एव सकल शब्दप्रयोग इति दर्पं गर्व, यद्वा—लक्षणाया व्याकरणस्य व्याकरणाधीन एव 'सकल' शब्दप्रयोग इति गर्व भङ्गस्तुत्याजयितुं प्रभु समर्थः । यद्यस्माद्धेतोरप्यशब्द शशोऽस्यास्ति ततो हेतोः शशी यथोक्त, लोकेनेति शेषः । एवममुनैव प्रकारेण मृगोऽस्यास्ति मृगीति नोक्तः । शशीस्यानीति अनुवर्त्ये 'अत इतिठनी' इतीती यथाय

नाशीत्युच्यते, तथा तेनैव सूत्रेण भृगोऽस्यास्तीत्यत्रेण प्राप्ता स्यामपि भृगीति
नोक्त । तस्मादतिव्याप्यादिदोषाद् व्याकरणमूल एव लोकप्रयोग इति नियमो
न युक्तः, किन्तु कृतद्वितममासानामभिधाननियामकम् । लघ्वयमुद्दिश्य लघ्वणप्रवृत्ति
ननु लघ्वणमुद्दिश्य लघ्वप्रवृत्तिरिति । तस्मात् 'प्रयोगमूल व्याकरणम्' इति व्याकर
णाम्लोक एव प्रयोगे यलीयानीति भावः । अग्रस्तुतप्रदासा ॥ ८२ ॥

यह (शुद्धव्यवहार करनेवाला) लोक व्याकरण (अथवा—लघुगणते व्याकरणशालाओं)
के (प्रवृत्ति—प्रत्ययके विभाजनपूर्वक शुद्ध विवेचन में ही करना है, दूसरा नहीं, ऐसे)
अभिमानको नष्ट करनेके लिए समर्थ है, क्योंकि यह चर्मा 'शुद्ध' है इसका वह 'दोष'
कल्पना है परन्तु 'दोष' है इसका वह 'भृगी' नहीं कहलाना है । जिस प्रकार चर्माको
शुद्धबाला होनेसे 'दोषी' कहा जाता है, उसी प्रकार भृगवान् होनेपर भी 'भृगी' नहीं कहा
जाना अतः एव 'अतिव्याप्ति—अव्याप्ति दोष आनेसे व्याकरणमूलक लोकप्रयोग होनेका
नियम नहीं है, किन्तु कृत—द्वि—समाम भी उसमें नियामक है । अर्थात् लोकप्रयोगका
अनुगामी व्याकरण होता है, व्याकरणका अनुगामी लोकप्रयोग नहीं होता' ॥ ८२ ॥

यान्तमिन्दु प्रतिपत्प्रभून् प्रासात्रि तावानयमधिनापि ।

तत्कालमीगेन धृतस्य मूर्द्धिन् त्रिवारणायस्त्वमिहाम्बि लिङ्गम् ॥ ८३ ॥

यामन्तमिति । शुक्लप्रतिपद्यावन्त यत्प्रमाणमेककलमिन्दु प्रभूते, अधिनापि
तावान्तप्रमाण एककल एवाय प्रामाण्यं, न तु पूर्ण इत्यर्थः । एतत्कथं ज्ञातमिह
आह—तत्काल तस्मिन्काले समुद्रादुत्पत्तेरवसर इव ईतेन मूर्द्धिन् घृतस्य विधोरेणी
यस्य नितरा कारणमेवेहैककलत्वे लिङ्ग ज्ञापकमनुमापको हेतुरस्ति । यदि समुद्रेण
सपूर्वोऽप्यमजनिष्यत, तर्हि त्रिवेनापि तदात्मीमेव क्षिरसि तावानेवापाद्यत, तदु
तथा, तस्मात्प्रतिपदैककल प्रभूत, तावान्समुद्रेणापीति प्रतिपदुत्पत्तोऽप्ययमेककल
स्वादेव न हरयत इति भावः ॥ ८३ ॥

(शुक्लप्रतीक) प्रतिपदातिथि जितने बड़े अर्थात् एक कलावाले चन्द्रमाको उत्पन्न
करती है, समुद्रे भी उतने ही बड़े (एक कलावाले ही) चन्द्रमाको उत्पन्न किया था,
एक (प्रतिपदातिथि) समयमें शुक्लप्रीके द्वारा मलकपर चारण किया गया (एक कलावाला
चन्द्रमा ही) इस विषय (समुद्रे एक कलावाले ही चन्द्रमाको उत्पन्न होने) में चन्द्रमाका
कि प्रभुत्व (एक कलात्मक होना) ही प्रमाण है । [यदि समुद्रे पूर्ण चन्द्रको उत्पन्न
किया हो उस समय त्रिवेना एक कलात्मक चन्द्रको मलकपर चारण नहीं करने

१ 'मलकये लघ्वणमनमनिष्याति' 'लघ्वे लघ्वणमनमनिष्याति' इति ज्ञेयम् ।

२ तदुक्तं भगवत्पतञ्जलि महाभाष्ये—'न हि लघ्वेण पदकारा अनुवर्तनीया,
पदकारेणैव लघ्वणमनुवर्तनीयम् ।' इति । अथ लघ्वे व्याकरणमूलादिकम्, पदकारा
भेदे परप्रोचारे, अना इति बोध्यम् ।

किन्तु वे एक कञ्जामक चन्द्रमाको ही सर्वदा शिरपर धारण करते हैं, इससे प्रतीत होता है कि समुद्रमे एक कञ्जामक चन्द्रमाको ही बलन्त बिदा था, पुनश्चन्द्रमाको नहीं ॥ ८३ ॥

आरोप्यते चेद्विह केतकचमिन्दो दलाकारकलाकलापे ।

तन् संवदत्यङ्गुलस्य नाभिकस्तूरिका सौरमग्रामनाभि ॥ ८४ ॥

आरोप्यते इति । केतकचमिन्दो चेद्विह आरोप्यते यतो 'दलाकार' केतकी पत्रमदला धवल कलाना कलाप समूहो यस्य तस्मिन् । ततश्चाकेतकदलवच्चतुर्भ-
कलाकलापवच्चन्द्र दनकमेवेति रूप्यत इत्यर्थः । ततर्हि अङ्गुलस्य नाभिवत्
नाभिकस्तूरिका कर्त्री आरोपित तत्केनकच कर्मानृत सौरमग्रामनाभि कृत्वा संव-
दति, चन्द्रे केतकच शुक्लमिष्यनुमन्वत इत्यर्थः । 'नाभि' इति पाठे—अङ्गुलस्य
नाभि कर्त्री कस्तूरिकासमन्विमौरमग्रामनाभि कृत्वा संवदति वा । केनवया
कस्तूरीपरिमणो वनत, चन्द्रे कटङ्गुलनामिरुदा कस्तूरी वर्तते । तस्माच्चन्द्रे केतक-
चमार्पयितुं शुक्लमिष्यत् । तत्केनकचमङ्गुलस्य नाभिकस्तूरिकाया परिमणस्य
वामनाभि-सदृशम् कृत्वा संवदति पुनश्चासवाद प्राप्नोत्येवेति वा । 'ताभि' इति
पाठे—अतिप्रमिद्वामिष्यमनाभि ॥ ८४ ॥

(केतकी पुष्पके) पुष्पके समान कञ्ज—मनूत्राते इष चन्द्रमार्गे यदि केतकी का आरोप
बिदा जाना है तो (इसके) कटङ्गुलको नाभिवत् कस्तूरी सुगन्धके समानोंसे उस
(आरोपित केतकी पुष्पक्य च मा) क स्य सङ्गत होती है । (प्रथम पाठः—कस्तू-
रुगकी नाभि कस्तूरिकाकी सुगन्धके समानोंसे उस आरोपित । द्वितीय पाठः—कस्तू-
रुगकी कस्तूरी वन (नाभि प्रमिद्व) कान्धके समानोंसे उस आरोपित ।) [चन्द्रकञ्जके
केतकी-पुष्प-दलके समान स्वच्छ एव तथा तथा कस्तूरुगकी नाभिसे स्थित कस्तूरीके
सुगन्धसे परिपूर्ण होनेके कारण स्वच्छ एव कस्तूरुगके समान सुगन्धि परागवाते केतकी-पुष्प-
दलका चन्द्रमार्गे आरोप करना युक्तियुक्त होगा है ॥ ८४ ॥

आसीद्यथाज्योतिषमेघ गोल शशी ममस्तु चिपिटस्ततोऽभूत् ।

स्वर्मानुदम्रापुगयन्त्रकूपीयूपपिण्याकदम्बावशेष ॥ ८५ ॥

आसीदिति । एष शशी यथाज्योतिष गार्गादिमन्त्रिप्रणीतग्रहगणितशास्त्रानभि-
क्रमेण गोल कपिथरुद्वन्द्वनुज्ञोपरितनमाग एव पूर्वमासीत् । तर्हीदानीं कथमन्यथा
हरयत इत्याशङ्क्याह—ततोऽनन्तरं कालक्रमेण स्वर्मानो राक्षोरुर्वायोभागमिनदश-
युगमेव यन्त्र निष्पीडनचक्र तेन कृष्टनिष्कृत्य गृहीत पीयूषममृतं यस्य, तस्माद्वा, स
चामौ पिण्याकश्च तस्य दशा गृहीतरसर्गारसविहादिनिर्द्धीमात्ररूपनावशेष बद्धस्तो
भागो यस्यैवमृत स चिपिट पर्यटनयोऽभूदिति समक्षमिदानीं प्रयत्नेगानुनूपत
एवेत्यर्थः । ज्योतिरभिहित्य कृतो ग्रन्थो ज्योतिषम्, 'अधिहित्य कृते ग्रन्थे' इत्यर्थः ।
ततो यथार्थेन्द्रधीभाव । ज्योतिःशास्त्रादौ त्रयोदशाङ्गुलश्चन्द्र पोटसाङ्गुलस्य सूर्ये-

स्याधोभागस्यो जलपूर्णकाचकूपिकाप्रायो ययोदिन , तयैव पूर्वमासीदित्युक्तम् ॥ ८५॥

यह चन्द्र (गंगाचार्यादिप्रणीत) ज्योतिषशास्त्रके अनुसार (कपित्थफलके समान) गोलाकार था, तदनन्तर राहुके दोनोंकी दोनों पक्तिरूप (दबानेके) य व्रत्ते निचोड़े गये ॐमृतरसवाले (तिल आदिकी) खण्णिके समान चिपटा हो गया है, यह सबको प्रत्यक्ष अनुभव होता है । [गोलाकार पदार्थको दबाकर रस निकाल लेनेपर चिपटा होना उचित ही है] ॥ ८५ ॥

अमावसान्याद्वितनो सखा नो कर्पूरमिन्दु खलु तस्य मित्रम् ।

दग्धौ हि तौ द्वात्रपि पूर्वरूपाद्यद्वीर्यव्रत्तामधिका दधाते ॥ ८६ ॥

अमावसिति । असौ चन्द्रो वितमोरनङ्गस्य सखा नो भवति । कुत ? अस्यामा दमाश्रयात् । 'विवाहमैत्रीवैराणि भवन्ति समशील्यो' इति शास्त्रादयः साक्षात्तयो माश्रयाभावात्मेत्री न समश्नुत इत्यर्थः । तर्ह्यनयोर्लोकप्रसिद्धा मैत्री कथमि रयत आह—खलु निश्चित कर्पूरगपरनामैवेन्दुस्नस्यानङ्गस्य मित्रम् , तावदेव लोक प्रसिद्धिरिति विरोधाभाव इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—यद्यस्मात्तौ द्वात्रपि कामकर्पूरी दग्धौ भवतौ पूर्वरूपाद्यदग्धदत्ताया सकाशादधिका वीर्यवत्ता हि स्पष्ट दधाते । पक्षो हि कपूरो वीर्यवत्तरो भवति, कामोऽपि दाहानन्तरमधिक वीर्यवाननुभूयते । तदु-
क्तम्—'कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने । नमोऽश्वत्थार्चवीर्याय तस्मै कुसुमघन्वने ॥' इति । तस्मात्कामकर्पूरयोर्मैत्री युक्ता । 'अथ कर्पूरमस्त्रियाम् । घन सारश्चन्द्रसज्ज' इत्यमरः । 'अस्त्रियाम्' इत्यमरवचनात् 'कर्पूर'शब्दो नपुसकोऽपि ॥

(अङ्गसहित तथा अङ्गरहितरूप) असमानता होनेसे यह (अङ्गसहित) चन्द्रमा (अङ्गरहित) कामदेवका मित्र नहीं है, किन्तु ('चन्द्रमा' का पर्ववशाच्चक) 'कर्पूर' वत्त कामदेवका मित्र है, क्योंकि जले हुए वे दोनों (कामदेव तथा कर्पूर) ही पहले (जलनेके पूर्व) अधिक वीर्यवत्ताको वारण करने हैं । [जला हुआ कर्पूर भी कच्चे कर्पूरकी अपेक्षा अधिक वीर्यवत्तर होता है । शिवजीकी नेत्राश्रिते जला हुआ कामदेव पहलेकी अपेक्षा अधिक वीर्यवान् हो गया है, इससे कामदेवका मित्र चन्द्रमा नहीं, किन्तु 'चन्द्रमा' का वाचक 'कर्पूर' ही चन्द्रमाका मित्र है, इस शब्दभ्रमसे ही लोकमें कामदेवका मित्र चन्द्रमा समझा जाता है] ॥ ८६ ॥

स्थाने विधोर्वा मदनस्य सस्य स शम्भुनेत्रे ज्वलति प्रलीन ।

अय तयं गच्छति दर्शमात्रि मास्त्रन्मये चक्षुषि चादिपुस ॥ ८७ ॥

स्थान इति । वाय्वा विधोर्मदनस्य सस्य स्थाने, युक्तमेवेत्यर्थः तत्र हेतु—
म काम ज्वलति देदीप्यमाने शम्भुनेत्रे प्रलीन प्रकर्षेण लीन पृक्ता प्रलप्य गतः,
विनष्ट इत्यर्थः । अथ चन्द्रश्च दर्शमात्रि दर्शन दर्शरतद्व्यापारयुक्ते, अथ च—अमा
वस्या गते, मास्त्रन्मये सूर्यरूपे आदिपुसो विष्णोश्चक्षुषि लयमेकतां गच्छति । दर्श

हि चन्द्र सूर्यं गच्छति, अत एव दशस्य सूर्येन्दुसगम इति नाम । सूर्यो विष्णोर्दक्षिणं चक्षुः । तथा च तुल्ययोर्हरिहरयोर्नेत्रयोर्द्वयोरपि चन्द्रकामयो प्रलीनत्वाद्दर्शं चन्द्रस्याप्यनङ्गतया च समशीलत्वादुचितैव मैत्रीत्यर्थः । तथा च कामस्य चन्द्र-सखिताप्रसिद्धिमुच्यैव युवतेति भावः ॥ ८७ ॥

अथवा चन्द्रमा तथा कामदेवकी मित्रता उच्यते, क्योंकि वह कामदेव दीप्यमान शिव-नेत्रमें सम्बन्ध प्रकारसे लीन (नष्ट) हो गया और यह चन्द्रमा देखनेवाले (पञ्चा—अमावस्या तिथिको प्राप्त) आदि पुरुष (विष्णु) के सूर्यरूप (दक्षिण) नेत्रमें लीन (नष्ट) होता है । [विष्णु भगवान्का दक्षिण नेत्र सूर्य है, अत एव हरिहररूपधारी भगवान्के शिवजीके नेत्रमें कामदेव नष्ट हो गया तथा विष्णुजीके सूर्यरूप नेत्रमें अमावस्या आनेपर यह चन्द्रमा नष्ट होता रहना है, इस कारणसे चन्द्रमा तथा कामदेवकी मित्रता होना युक्तियुक्त ही है] ॥ ८७ ॥

नेत्रारविन्दस्त्वमगान्मृगाङ्ग पुरा पुराणस्य यदेष पुंसः ।

अस्याङ्ग एवायमगात्तदानीं कनीनिकेन्द्विन्दिरसुन्दरत्वम् ॥ ८८ ॥

नेत्रेति । पुरा पूर्वं यदा हरिमन्काले एव मृगाङ्ग पुराणस्य पुंसः श्रीविष्णोर्नेत्रारविन्दत्व नयनकमलमगमात् । तदा तस्मिन्काले अस्य विष्णुनेत्रारविन्दभूतस्यास्य चन्द्रस्यायमङ्ग कलङ्ग एव कनीनिकायाः इन्द्विन्दिरस्य भ्रमरस्य सुन्दरत्वमगात्प्रापत् । 'अदात्' इति पाठे—अथ श्रीविष्णुरस्य चन्द्रस्याङ्गे विषये कनीनिकेन्द्विन्दिरसुन्दरत्वमदात् । नेत्रे हि कनीनिकायाः भाग्यम्, भरविन्दे च भ्रमरेण । तथा चास्य नेत्रारविन्दरूपत्वादङ्गमेवोभयं श्रीविष्णु कृतवानित्यर्थः । अङ्ग एव कनीनिका कर्त्री भ्रमरेण सुन्दरत्वमस्यादादिति वा । 'इन्द्विन्दिरादिपद्वचरणचञ्चरीकालिनो द्विरेफा स्यु' इति हलायुधः ॥ ८८ ॥

पहले जिस समय यह चन्द्रमा पुराणपुरुष (विष्णु भगवान्) का नेत्रकमल बना, उसी समय यह कलङ्गरूप मृग कनीनिका (नेत्रगारा—आँखकी पुतली) रूप भ्रमरकी सुन्दरताको प्राप्त किया । [नेत्रमें कनीनिकाका तथा भरविन्दमें भ्रमरका होना उचित होनेसे चन्द्रमा अब विष्णुका नेत्ररूप कमल हुआ, तब चन्द्रमण्डलस्य कलङ्गमृग कनीनिकारूप भ्रमर हो गया] ॥ ८८ ॥

देवेन तेनैव च काश्यपिश्च साम्यं समीक्ष्योभयपक्षभाजो ।

द्विजाधिराजौ हरिणाश्रितौ च युक्तं नियुक्तौ नयनक्रियायाम् ॥ ८९ ॥

देवेनेति । तेन देवेन श्रीविष्णुना एव चन्द्र काश्यपिर्गुरुद्वैतौ द्वावपि साम्यं समानधर्मता समीक्ष्य तुलयाया नयनक्रियाया क्रमेण नेत्रव्यापारे वाहनव्यापारे च यत्नियुक्तौ, तद्युक्तमुचितमित्यर्थः । 'चौ' अन्योन्यसमुच्चये । साम्यमेवाह—उभयपक्षौ शुक्लपक्षकृष्णपक्षौ भजति चन्द्रः, गरुडस्तु द्वौ छदौ भजति, तादृशौ द्वावपि ।

तथा—द्विजानां ब्राह्मणानां 'राजा चन्द्र । गरुडस्तु पक्षिणां राजा, तारुणौ ।
तथा—हरिणेन कलङ्कमृगेणाधितश्चन्द्र , गरुडस्तु हरिणा विष्णुना वाहनार्थेनाधित,
तारुणौ । एवमुभयो साम्यात्सम एव व्यापारे यद्वियुक्तौ तदुचित कृतमिति भाव ।
कारयति, दाहादिवादिन् ॥ ८९ ॥

उस देव (पुराणपुराण—श्रीविष्णु भगवान्) ने इस चन्द्रमा तथा गरुडको समानग
देखकर दो पक्ष (शुक्लपक्ष तथा कृष्णपक्ष, पक्षा०—दो पक्ष) धारण करनेवाले, द्विजों
(ब्राह्मणों, पक्षा०—पक्षियों) के स्वामी, हरिणमे आधिन अर्थात् मृगयुक्त (पक्षा०—
विष्णुस आधित) उन दोनोंको जो नेत्रके कार्य (देखने, पक्षा०—दोनेके कार्य अर्थात् वाहन
बनने) में नियुक्त किया, यह उचिन् है ॥ ८९ ॥

यैरन्यमायि उल्लनस्तुपारे सरोजिनीदाहविकारहेनो ।

तदीयधूमोघतया हिमाशौ शङ्के कलङ्कोऽपि समर्थितस्ते ॥ ९० ॥

देरिति । ये पण्डितैः सरोजिन्या दाहरूपाद्विकारादेस्तुपारे उल्लनोऽग्नि
रन्वमायि । तुपार साग्निरभविनुमर्हति, सम्बन्धे सति दाहकारित्वात्, साग्निरभूदेश
वत् ततोऽकवद्वेति हिमे विषये वह्निरनुमित इत्यर्थः । ते पण्डितैर्हिमाशौ तुपारमये
चन्द्रे वर्तमान कलङ्कोऽपि तदीयधूमोघतया हिमाग्निसम्बन्धिधूमसमूहरूपत्वेन सम
र्थित इत्यहं शङ्के । वही हि धूमेन भाष्यम्, चन्द्रश्च तुपारमयत्वादुत्तरीया वह्निमात्र,
तथा च कलङ्को धूमसमूह एवेति ते समर्थितमित्यहं समावधानोऽर्थः ॥ ९० ॥

जिन (विद्वान्) ने कमलिनीका दाहक होनेसे तुपारमें अग्नि होनेका अनुमान किया,
उन (विद्वानों) ने (तुपारमय) चन्द्रमामें कलङ्कको भी उस (तुपार) का धूम समूह
होनेका समर्थन कर दिया, ऐसा मैं जानती हूँ । [जहाँ अग्नि रहती है, वहाँ धूम भी सम
व है, अत एव तुपारमें अग्निका समर्थन करनेवालोंने उसमें धूमका भी समर्थन कर दिया, इस
प्रकार तुपारमय चन्द्रमें अग्निके दाहचर्यसे कृष्णवर्ण कलङ्क भी धूम-समूह ही है ऐसा
कहना चाहिये] ॥ ९० ॥

स्वेदस्य धाराभिरिषापगाभिव्याप्ता जगद्भारपरिश्रमार्ता ।

छायापदेशाद्वसुधा निमज्जत्य मुधाम्बुधावुज्झति स्वेदमत्र ॥ ९१ ॥

स्वेदस्येति । वसुधा छायापदेशात्स्वीयप्रतिबिम्बव्याप्तेन मुधाम्बुधावथ चन्द्रे
निमज्जयान्त प्रविश्य स्वेदं जगद्भारपरिश्रमपीडामुज्झतीति । किंभूता ? जगद्भारपहन
निमित्त परिश्रमरतेनार्ता नितरां पाद्विता । अत एव—स्वेदस्य धाराभिरिषापगाभि-
व्याप्ता समन्तादूर्गता । अमृतसमुद्रनिमज्जने हि स्वेदो गच्छत्येव । यस्यास्य तत्तस्य
दीरूप स्वेद, तस्याः श्रमहरणे मुधासमुद्र एवोचित । एतेन कलङ्कस्य शृगलानाम्
चछायापामृति मद्भेदा वर्जिता ॥ ९१ ॥

सत्तारके भार (धारण करने) के परिश्रमसे यकी दुर्ग (अथ एव) एवोनेके प्रवारके

समान नदियोंसे व्याप्त पृथ्वी (कणशूलक अपनी) छायाके छत्रसे हम अनृतममुद्र (चन्द्रमा) में गोता लगाकर यकावटको दूर कर रही है । [लोकमें भी परियमसे यका हुआ तथा बहने हुए पत्तीनेकी धाराओंमें व्याप्त कोई व्यक्ति अन्धकारमें गोता लगाकर (नष्टकर) यकावटको दूर करता है । कोई-कोई आचार्य चन्द्रमामें दृश्यमान कलङ्कको पृथ्वीकी छाया मानते हैं] ॥ ११ ॥

ममानुमैव बहुकालनीलोनिपातनील खलु हेमशैल ।

इन्दोर्जगच्छायमये प्रतीके पीतोऽपि भाग प्रतिविम्बित म्यान् ॥

ममेति । हेमशैलो मेरु खलु निश्चित सर्गमारम्भाद्ययावदतिष्ठान्तेन बहुना कालेन दृष्ट्वा नीलोनिपात रयामिच्छालग्न तेन कृत्वा वा नील बहुकालीनत्वाञ्छील-मलमरम्भाञ्छीलवर्गं सज्जामोऽस्तीति, एवप्रकारा ममानुमाऽनुमानम्, एवमह सभावा यामीत्यर्थ । अन्यथा यदि स्वर्णाञ्छल कालभूयसत्वेन न नीलोभूत किंतु हेममय स्वापीत एव स्यात्, नहि इन्दोर्जगच्छायमये जगत्प्रतिविम्बमूने कलङ्करूपे प्रतीके ऽवयवे मेरो पीतोऽपि भाग प्रतिविम्बित स्यात्प्रतीतोऽशोऽपि दृश्येत, तस्मात्स्वर्गा-ञ्छलो नील एव जात । तथा च सकलाया अपि भूमेर्नीलवर्गत्वात्प्रतिविम्बरूप कलङ्कोऽपि नील एव युक्त इत्यर्थ । जगच्छाये, 'विभाषा सेना—' इति पण्डित्यम् ॥

सुनेरु पर्वत (सृष्टिक आरम्भमें आजगकके) बहुत अधिक समय व्यतीत होनेके कारण नीलिमाके लगनेसे नीला हो गया है, यह मेरा अनुमान है । अन्यथा (यदि उक्त कारणसे सुनेरु पर्वत नीला नहीं हुआ होता, किंतु सुवर्णमय होनेसे पीला ही रहना तो) समारकी छायाभूत चन्द्रमाके कण्डूने (पीले सुनेरुका) पीला भाग या प्रतिविम्बित होता । [चन्द्रमामें पृथ्वीकी छाया ही कलङ्करूपमें दृष्टिगोचर होती है, यदि सुनेरु पीला होता तो कलङ्कमें प्रतिविम्बित सुनेरुका पीला वर्ण भी दृष्टिगोचर होता, किंतु सम्पूर्ण कण्डू काग्रा ही दृष्टिगोचर होता है, अतः अनुमान होता है कि बहुत समय बीतनेसे सुनेरु भी कृष्णवर्ण हो गया है, जिसका प्रतिविम्ब कारण ही दृष्टिगोचर होता है] ॥ १२ ॥

माऽनापदुभिद्रसरोजपूजाश्रिय शशी पद्मनिमीलितेजा ।

अश्विद्वयेनैव निजाङ्कुराङ्गोरलङ्कृतस्तामयमेति मन्ये ॥ १३ ॥

मेति । शशी उज्जिष्टैर्विकसिते सरोजै कृत्वा या पूजा तज्जडिता श्रिय मा अवा पत् मा स्म लभत । यत्—पद्मनिमीलित कमलसकोचकतेजो यस्य ॥ । विकसिताना-मपि कमलानां पूजार्थं चन्द्रसविधे क्रियमाणानां चन्द्रतेजसा सकोचस्यैव समवाहु निद्रमसरोजपूजाश्रिय प्राप्नोति । प्रकारान्तरेण प्राप्नोतीत्याह—निजाङ्कुराङ्गोरलङ्कृतस्तामयमेति प्राप्नोति तत्र यनयोरलङ्कितकमलरूपत्वादित्यर्थ इत्यह मन्ये । अङ्कुराङ्गोरलङ्कृतत्वात् कृत्वाऽयं चन्द्रो विकसितकमलाग्रां पूजामिव शोभा प्राप्नोतीति भाव । एत्येवेति वा ॥ १३ ॥

कमल-सङ्कोचकारक तेजवाला चन्द्रमा विकसित कमलोंकी पूजा (आदर) की श्रीको भले नहीं पावे, किन्तु यह (चन्द्रमा) अपने कण्डूभूत हरिणके (कमलतुल्य) दोनों नेत्रोंमें हो उस (विकसित कमलोंकी पूजा) की शोभाको पाता है, ऐसा मैं मानती हूँ । [स्वभावतः कमलसङ्कोचक प्रवृत्ति होनेमें यद्यपि चन्द्रमा विकसित कमलोंकी नहीं देखता, तथापि कण्डू-सृणके विकसित कमलके समान नेत्रोंसे उक्त शोभाको देख ही लेता है] ॥ ९३ ॥

य एष जागर्त्ति शशा* शशाङ्के बुधो विधत्ते क इवात्र चित्रम् ? ।

अन्तः* किलैतत्पितुरम्बुराशोरासीत् तुरङ्गोऽपि मतङ्गजोऽपि ॥ ९४ ॥

य इति । य एष प्रत्यक्षदृश्य शशा शशाङ्के जागर्त्ति स्फुरति, अत्र विषये क इव बुधश्चित्रमप्राप्त्यर्थं विधत्ते ? अपि तु न कोऽपि । किल यस्मादेतत्पितुरम्बुराशोरन्तर्मध्ये उच्यै*श्रव मङ्गकस्तुरङ्गोऽप्यासीत् । ऐरावताख्यो मतङ्गजोऽप्यासीत् । पद्मीवपितुर्मध्ये-
ऽधराज्यादिकं भवति, तदीय (पुत्र) मध्ये शशमात्रसमवे किमाश्चर्यमिदं ॥ ९४ ॥

औ यह (प्रत्यक्ष दृश्यमान) शशक चन्द्रमामें स्फुरित होता है, इस विषयमें कौन विद्वान् आश्चर्य करते हैं ? (पदार्थ-विशेषके मध्यमें जीव-विशेषके रहनेसे किसी विद्वान्को आश्चर्य नहीं होता), क्योंकि इस (चन्द्रमा) के बिना समुद्रके मध्यमें ('उच्यै श्रवा' नामका) घोडा तथा ('ऐरावन' नामका) हाथी भी था । [जिसके पिताके मध्यमें बड़े-बड़े घोडा-हाथी-जैसे जीव रहते थे, उसके पुत्र (चन्द्रमा) के मध्यमें शशक-जैसे छोटे जीवके रहनेमें किमी विद्वान्को कोई आश्चर्य होना उचित नहीं है] ॥ ९४ ॥

गौरि प्रिये भातितमा तमिस्रा ज्योत्स्नी च नीले दयिता यदस्मिन् ।

शोभासिलोभादुभयोस्तयोर्वा सितासिता मूर्त्तिमय बिभर्त्ति ॥ ९५ ॥

गौर इति । तमिस्रा तमोयहुल्यस्य दयिता रात्रिर्गौरि प्रिये चन्द्रे विषये भाति तमार्थः । तथा—ज्यौत्स्नी च चन्द्रिकायुक्ता धवलाऽस्य दयिता रात्रिर्नीले प्राणेशे ऽसिंशङ्गे नितरा शोभते, मिश्रवर्णे हि शोभते इत्यर्थः । यस्मादेतोस्तयोस्तमिस्रा ज्यौत्स्न्योऽस्मयोश्चि विषये इत्यस्य शोभाप्राप्त्येर्लोभाश्मिलपातयोरेष वा परम्योर्वा शोभाप्राप्तिस्तदमिलपाद्वलश्रयःमलवसवन्धासमिस्राज्यौत्स्न्यो शोभया भवितव्यमिति । 'अयं चन्द्रः सितासितां धवला श्यामलां च मूर्त्तिं बिभर्त्ति । 'या' इत्यर्थः । शोभासिलोभादिवैयर्थ्यम् । नीलमागे ज्यौत्स्नी प्रियां धारयितुं धवले च तामसी मिति ययामयम् ॥ ९५ ॥

अन्वकार (युक्त रात्रि) रूपा प्रिया गौरवर्ण प्रियतम (चन्द्र) में तथा चन्द्रिका (युक्त रात्रि) रूपा प्रिया कृष्णवर्ण प्रियतम (चन्द्र) में विशेषतः शोभती है, अतः एव मानो यह चन्द्रमा उक्त दोनोंकी शोभाको पानेके लोभसे (प्रान्तभागमें) श्वेत तथा ('कृच्छ्रमे') कृष्णवर्णकी मूर्तिको ग्रहण करता है ॥ ९५ ॥

वर्षावपानावरण चिराय काश्रौवमालन्य समुन्धितेषु ।

बानेषु ताराकवकेष्विहैकं विकम्बरोमृतमवैमि चन्द्रम् ॥ ९६ ॥

वर्षेति । अह बालेषु तनुषु सूक्ष्मरूपेण विकम्बितेषु चेह प्रत्यक्षरूपेण तारासु नक्षत्रेष्वेव कवकेषु छत्राकेषु मध्ये चिरकाष्ठोत्पन्नत्वाद्विकम्बरोमृत विकम्बितमेकं छत्राकमेव चन्द्रमवैमि मध्ये । किंमृतेषु ताराकवकेषु ? चिराय बहुकाल वर्षास्वृतौ तपे ग्रीष्मर्तौ च वर्षेषु जलवृष्टिषु वातप्रेषणेषु च सप्त अनावरणमनाच्छादितं काष्ठौघ दिक्कमूहमेव दारममूहमालन्य समुन्धितेषूपन्नेषु । वर्षाकाष्ठे इनावृतेषु जलस्निमितेषु पद्मापुष्पपन्नेषु च काष्ठेषु सूक्ष्मस्थूटानि छत्राकाणि भवन्ति । तथा च तारा अक्षरकवकानि, चन्द्रस्तु स्पृष्टकवकमिदेषु प्रेक्षा ॥ ९६ ॥

वर्मान तथा घूर (घोरम्) कष्टमै चिरकाष्ठक विना डके हुए दिक्कमूह (पञ्चा०—काष्ठ-ममूह) का आलम्बनकर पैदा हुए तारास्यौ छत्राकौ-मे विकम्बित (फैला) हुआ एक छत्राक चन्द्रमाको माननी है । [वर्मान तथा घूर मयनेने लहडो में तारा-जैसे छोटे-छोटे छत्राक (त्रिने—बन्ने 'सप्तका छत्रा' कहने हैं) उत्पन्न होते हैं और वे कुछ समयके बाद विकसित होकर चन्द्रमा-जैसे मोटाकर हो जाते हैं, जब एव मैं उन्हीं तारास्य छोटे-छोटे छत्राकौ-मे विकसित छत्राकको चन्द्रमा माननी हैं] ॥ ९६ ॥

दिनावसाने तरणेरकस्माज्जिनज्जनाद्विष्वविलोचनानि ।

अन्य प्रमादादुद्धुपस्य नक्त तनोविपद्द्वीपवतो तरन्ति ॥ ९७ ॥

त्रिनेति । विश्वस्य जगतो विश्लोचनानि दिनावसाने तरने सूर्यस्याकरमात्मना-विनष्टेनोर्निमज्जनाप्यतीचीमागरीरप्रवेशादेनोर्नक्त राशौ तमोनिमिच्छा स्वच्छनादि रूपा विपद्मेव द्वीपवतो महानदीनस्तोद्धुपर चन्द्रस्य प्रकाशरूपा प्रमादात्तरन्ति । चन्द्रेण तमो निरस्य सर्वं प्रकाशितमिति भावः । अन्येऽपि राशौ तरनेनोकाया अकरमात्मजनादेतोर्मुहुरनानामादृशीमुद्धुपस्थाकस्मादागतस्यावपानानाद्वद प्र-सादात्तरन्ति ॥ ९७ ॥

मगरके नेत्र, मायझालने मूर्त (पञ्चा०—नाव) के मध्य हुए जानेने रात्रिमें हम बहुत (तारासि चन्द्रमा, पञ्चा०—छोटी नाव) के प्रकाश (चोटीनी, पञ्चा०—हवा) से अन्यकारके कारण स्वच्छन आदिरूप विपत्तिरूपा महीको तरने हैं । [लोकमें भी कोई व्यक्ति सायझालने नावके मध्य हुए जानेपर छोटीनावकी कृपासे रात्रिमें महीको पार करता है] ॥ ९७ ॥

किं नादपि नोऽपि क्षणिकोऽणुकोऽय मानस्ति तेजोमयविन्दुरिन्दुः ।

अत्रेन्तु नेत्रे घटते यदामीन्मासेन नाशो महतो महीयान् ॥ ९८ ॥

किमिति । नोऽस्माकममहतां पानरागमपि अक्षि नेत्रविषये तेजोमयस्तेजो रूदो विन्दुरेवायमिन्दुरहस्या नयनप्रान्तविपिटीकरणे घटवर्द्धताकारेण मान्

शोभमान किं नास्ति ? अपि त्वरमदादिनेत्रेऽपीन्दुर्वर्तत एव, परम्—अणुकोऽवपी-
यान्, तथा चणिक चणमात्रावस्थायी, यावच्छिपिटीकरणमेव दृश्यत इत्यर्थः । तर्ह्य-
श्माचन्द्रात्तस्य वैलक्षण्य कथमत आह—अत्रेमुनेनेत्रे ॥ पुनस्तेजोमयविन्दुरयमिन्दु-
र्महीयानितरापेक्षया नितरा महापरिमाण आसीत् । तथा मासेन कृत्वा नाशी प्राप्त-
विनाशश्चाभूदिति यत् । तद्वदते, एतद्युज्यत इत्यर्थः । यत्—कीदृशस्यात्रे ? महतो
महानुभावस्य । 'सर्वे हि महता महत्' इति न्यायेन महतोऽत्रेस्तेजोमयविन्दुरप्य-
यमिन्दुर्महापरिमाणश्चिरकादस्यायी चेत्यस्मन्नेत्रवर्तितेजोमयविन्दोरिन्द्रोवैलक्षण्य-
युक्तमेवेति भावः । अणुश्च, 'अवपे' इति कञ् । नाशीनि, अस्यर्थे इति ॥ ९८ ॥

अतिशय लघु इमलीगोके भो नेत्रमे क्षामात्र (अवतक अनुसृष्ट्य भागमे नेत्रको दशांते
है ठमी तक) रहनेवाला छोटा सा तेजोमय-विन्दुरूप शोभता हुआ चन्द्रमा नहीं है क्या ?
अर्थात् अवश्य है, किन्तु महानुभाव अतिमुनिके नेत्रमें एक मामनक (प्रत्येक अमावास्याको)
नष्ट हो-नाला तथा आधिक्य बटा जो चन्द्रमा था, वह घटित होता है । ['सर्वे हि महता
महत्'—'बड़ोका सब कुछ बड़ा ही होता है' इस नीतिके अनुसार, अतिमुनिके नेत्रमें एक
मामनक रहनेवाला विद्यालक्ष्म चन्द्र था और लघुतम इमलीगोके नेत्रमें क्षामाया तेजा-
विन्दुरूप लघुतम चन्द्र है—जो अह्निके अग्रभागे से नेत्रको दशानुपर दिखाना ही
पहला है] ॥ ९८ ॥

प्रातु पतिं नौपय स्वशक्त्या मन्त्रेण त्रिषा त्रिष्यण न शेकु ।

एन पयोधिर्मणिभिर्न पुत्र सुभा प्रभावैर्न निजाश्रय या ॥ ९९ ॥

प्रातुमिति । मृतसज्जीविन्याद्य ओषधय स्वशक्त्या स्वसामर्थ्येन निजसयोर्य-
विपाकाभ्या कृत्वा ओषधीस्तत्वात् पतिमेन चन्द्र चविण प्रतिदिन कलापयवन्तम्,
अथ च—चयरीगिग सन्त प्रातु न शेकु । तथा—विषा द्वित्राज्जवाक्षित्रशामिर्न
चयिग मन्त्रेण अतिमामर्थ्येन कृत्वा रक्षितु न शेकु । तथा—पयोधिरपि पुत्र चयिग
मेन मणिभिरनेकप्रकारैरन्त रये रत्नै कृत्वा रक्षितु न शक्नोति चेति वचनविपरिणामः ।
तथा—सुधापि शराधारभूत चयिगमेनमज्जामरत्वजनकै प्रभावै कृत्वा प्रातु न
शक्नोति । 'वा' समुच्चये । ओषध्याश्च स्वशक्त्यादिरचणमाधने सद्यपि पतित्वापु
ग्रन्थाश्रिताश्रयत्वेन च यथाद्रक्षितु समर्था न समुच्चुरिति विदो शोकाया पूर्वकर्मजो रोगो
महानुभावरूपपतेन न दक्षयत इति व्यज्यते । 'अचिनयो हि मणिमन्त्रीपक्षोना
प्रभाव' इत्योपपत्तीनां सामर्थ्यं प्रसिद्धम् ॥ ९९ ॥

पयो (प्रतिदिन क्षीण होनेवाले, पक्षां—अधरागने युक्त) अग्ने पने (अ'चिररति)
चन्द्रमाको (सजीवनी अदि) ओषधिर्वा अरभी अक्षिम नहीं क्या मरों, मादगन्धोक्त
(दिवरात्र—मादगोके राजा) चन्द्रमाको म'वते नहीं क्या सहे, समुद्र (अवनम उत्तरण
होनेके कारण) पुत्र चन्द्रमाको मणिर्दोन नहीं क्या सदा और अमृत जो स्वाश्रय चन्द्रमाको
अग्ने प्रभावोमे नहीं क्या मरता । ['सुधो' शब्दका प्रत्येक चन्द्रके साथ सम्बन्ध करना

चाहिये । सामर्थ्ययुक्त सजीवनी आदि ओषधियाँ, मन्त्रा-समूह, समुद्र और अनृत भी कमश श्वशील करने पति, राता, पुत्र और मन्त्राय चन्द्रमाको नहीं बचा सके, इससे 'पूर्वहन रोगको कोइ भी नहीं टाल सकता' यह मिथ्यात्व बतल है] ॥ ९९ ॥

मृषा निशानाधमः सुधा वा हरेदमी या न जराविनाशौ ।

पीन्या कथ नापरथा चकोरा विद्योर्मरीचीनजरामरा स्युः ? ॥१००॥

मृतेति । मिथ्यानाथस्य चन्द्रस्य महस्तेजः सुधा वा पीयूषमेवेति लोकवादे मृषा असत्य एव वा भवेत् । वा अथवा, यदि चन्द्रनेत्रं सुधैवेति लौकिकप्रवादः सत्य एव, मन्त्रां चन्द्रनेत्रोरुपा सुधा जराविनाशौ जरामरणे न हरेद्विनाशयेदित्यङ्गीकार्यम् । चन्द्रनेत्रं सुधा नैवेति वाङ्मोक्षार्थम्, अथ चैतदुपा सुधापि जरामरणे न नाशयतीत्यङ्गीकार्यमित्यर्थः । अपरथान्यथा यदि चन्द्रनेत्रं सुधेति प्रवादः सत्य, तदुपा सुधा जरामरणे विनाशयेत्, तर्हि चकोरादया पक्षिणो विद्योर्मरीचीन्पीत्वापि कथं किमिति न भज्जरामरा स्युर्जरामरणरहिता भवेयुः ? । चन्द्रनेत्रम् सुधात्वे, एतस्याश्च सुधाया जरामरणविनाशो सामर्थ्यसद्भावे, तस्यामे चकोरैरप्यजरामरैर्मा भ्यम्, न च ते तथा, तस्मात्तत्रैव सुधा च वा मृषा भवेत्, सुधाभूतस्यापि वा जरामरणापहारे सामर्थ्यं नास्तीत्यन्यतरवङ्गीकार्यम् । तथा-‘सुधा प्रमावेन निज्ञाधर्म्यं वा’ इति पूर्वश्लोकाशतमाधानमित्याशयः । ‘अजरामरीस्तु’-इति पाठे चिह्नं ॥१००॥

‘चन्द्रमाका नेत्रं अनृतं है’ यह (लोकप्रसिद्ध बात) असत्य है, अथवा (यदि यह सत्य है तो) अनृत दुग्धा तथा मनुष्यको दूर नहीं करता है (ऐसा मानना चाहिये), अन्यथा (यदि अनृत दुग्धा तथा मरणको दूर करनेवाला है तो) चकोर चन्द्रमाके (अनृतरूप) किरणोंको पीकर अजर-अमर क्यों नहीं होते ? (या तो ‘अनृत बरत-मरणको दूर करने-वाला है’ लोककथनको अम-य मानना पड़ेगा, अथवा ‘चन्द्रनेत्रं अनृत है’ इस लोककथनको अमर-य मानना पड़ेगा) ॥ १०० ॥

धाणीभिराभि परिपक्त्रिमामिने रेन्द्रमानन्दजडञ्चकार ।

मुहूर्त्तमाश्चरसेन भैमि हैमीय वृष्टिर्मितमितञ्च त मा ॥ १०१ ॥

धाणीभिरिति । मा भैमी आभि पूर्वोक्त्यभि परिपाकेन निर्वृत्ताभि परिगत कवित्वशक्तियथा प्रमादादिगुणयुताभिर्वागीभिः कृत्वा त नरेन्द्रमानन्दजड हर्षपर-यदा चकार । तथा-मुहूर्त्तमज्ञतापरनाम्नाश्चर्येण रसेन, अथ च-तद्रूपेण जलेन हैमी तुषारसन्नधिनी वृष्टिरिव भैमी स्निग्धममनिस्तेह्याप्राप्तस्तनम् च, अथ च-आर्द्रं चकार । हिमवृष्टिर्यथाऽन्य जडमात्रं च करोति, तथैवमप्यानन्दजड मातिस्नेह च चकारेत्यर्थः । परिपक्त्रिमामि, द्वित्वादिबृत्तेऽर्थे त्रि, क्रमेण ॥ १०१ ॥

कवित्वशक्तिके परिपाकेन रचित होने (२१-१९-१००) वचनोंमें ‘दमदानीने राजा (नल) को आनन्दजड (हर्षपरवश) कर दिया, तथा (अतिशीतल होनेसे) अद्भुत बरसे

तुषारवृष्टिके समान भद्रसुत रसने भुवर्णवत् गौरवर्णा दमयन्तीन वस रात्रा नलको जड
(भानन्दविमोर, आर्द्र) बना दिया । [दमयन्तीकृत चन्द्रवर्णनको सुनकर नल आश्चर्यचकित
हो गये] ॥ १०१ ॥

इतो मुखाद्वागियमाविरासीत्पीयूषधारामधुरेति जल्पन् ।

अचुम्बदस्या स मुखेन्दुबिम्ब सप्तावदूकश्रियमन्वुजानाम् ॥ १०२ ॥

इत इति । इत्येव जल्पन् वदन् स नलोऽम्बुजानां सप्तावदूका नितरा सप्तादिनी
श्री शोभा यस्य तारुण्य कमलतुल्यशोभमस्या मुखेन्दुबिम्बमन्वुजम्बत्, चन्द्रमल
तुल्य भैमीमुख प्रीत्यतिशयादचुम्बदित्यर्थः । इति किम् ? भैमि ? इयमुक्तप्रकाश
पीयूषधारारामधुरा वाक् इत प्रत्यक्षदृश्याद्भङ्गमुत्पादयित्वाविरासीत् नि सृतेति । इत
इत्यनेन सामीप्याभिनयकारिणा करेण भैमीमुख चित्तुके धृतमिति ध्वन्यते । मुख
स्येन्दुबिम्बात्वेन च पीयूषधारारामधुराविवर्ति सूर्यते । तथा च पीयूषधारया मधुरे
रपि इत्यायेधम् । 'सप्तावदूक—' इत्यादिना च भैम्या पद्मिनीय प्रमिदम् ।
चन्द्रबिम्बस्य कमलै सह विसवाद्दो विरोधित्वात्, एतन्मुखचन्द्रबिम्बस्य तु कमलै
सह सवाद कमलसौभाग्यभाषावदिति प्रसिद्धचन्द्रबिम्बादेतन्मुखबिम्बमधिकमिति
सूर्यते । अत्यर्थं सप्तद्वि सप्तावदूका, सप्तार्च्य वदनिर्मेभ्या वर्तते ॥ १०२ ॥

'इत मुखने भङ्गवाराते भी मधुर यह वाणी (२२५९—१००) निकली है' यह
कहने हुए नलने कमलके समान शोभनेवाले इसके मुखरूप चन्द्रबिम्बका चुम्बन कर दिया ।
[चन्द्रबिम्बने कमलकी शोभासे सवाद नहीं होगा, परन्तु दमयन्तीके मुखरूप चन्द्रबिम्ब
कमलके समान शोभासे सवाद (मैत्र—सद्वि) होगा है, अतः इसका मुखका चन्द्रने भी
विशिष्ट गुणयुक्त होना सूचित होगा है] ॥ १०२ ॥

प्रियेण साऽथ प्रियमेवमुक्ता रिदभंभूमीपतिवशमुक्ता ।

निमताशुजाल विततार तारा दिव स्फुरन्तीन कृतावतारा ॥ १०३ ॥

सुधापि । प्रियेण एव 'इतो मुखात्—' इत्यादिरूप प्रिय वचनमुक्ता भाषिना
विदग्धे 'वा' पूर्वसेन कुलेन मुक्ता जनिता । तथा—स्फुरन्ति दीप्यमानकान्ति
सौम्यासौख्यरूपी अथ नलवचनानन्तर निमताशुजाल विततार, तदेव नलवच
प्रीतिदानमिव हृदावित्यर्थः । केव ? दिव सकाक्षात् चीणपुष्पनया स्नेहद्वया वा
इत्यावतारा मूढोक्तमागता रोहिणी तारेव स्फुरन्ती विरजजाल विमनारेवेति
उपेक्षोपमा वा । वक्षः कुछमेव वक्षो वेणुस्तत्र जाता देवधार्या मुक्ता मौलिकरूपा ।
'कृतावतारा' इत्यत्र तरण तर, 'अदोरप्' सद्गन्तात्मपादिवात्स्वार्थेऽणि पश्चात्
'अव'शब्देन सह 'सह सुपा' इति समास ॥ १०३ ॥

प्रिय (नल) से इस प्रकार (२२१०२) कवि, विदग्धराज (भीम) के वक्ष (कुल,
पशु—वाँस) का भोत्री वक्ष दमयन्तीने (पुण्यवक्ष, या खेच्छते) आकाशने नीचे

आयो हुरं (रोहिणी) ताराके समान स्मितके किरण-ममूहको देना दिया । [नलके बैसा कहनेपर दमयन्तीने मुस्कुरा दिया । वासमे मोती उत्पन्न होनेका कारण 'मास्वद्वशकरी-रता (१२।१०)' की टिप्पणीमें देखें] ॥ १०३ ॥

स्ववर्णना न स्वयमर्हतीति नियुज्य मा त्वन्मुखमिन्दुरूपम् ।

स्थानेऽत्युदास्ते शशिनः प्रशस्तौ धरातुरासाहमिति स्म साऽऽह ॥ १०४ ॥

स्वेति । सा धरातुरासाह भूमीन्द्रमित्याह स्म । इति किम् ? हे प्रिय ! इन्दुरूप स्वन्मुखमिति हेनोच्चन्द्ररूपात्मस्तुतौ मा नियुज्याज्ञाप्य शशिनः प्रशस्तौ वर्गनविषयेऽत्युदास्तेऽतिमरामुदासीन भवति । एतस्थाने युक्तम् । हेतुमेवाद-इति किम् ? 'सप्तमेतद्वर्तमानं परनिम्नाऽऽमनं स्तुति' इत्यादिवचनात्स्वयमात्मनैव स्वस्य वर्गनाऽस्तुतिर्नाहंति न युवतेति । इत्यप्यन्तं मया चन्द्रो वर्णितः, इदानीं त्वया वर्गनीयः, त्वर्गीभावो वा युक्त इत्याशयेन भैमी चन्द्रस्तुतौ त सोत्प्राप्तं प्रावर्तयदिति भावः । 'तुरासाहम्' इत्यत्र तृतीयसर्गं 'धरातुरासाह-इत्येतच्छ्लोकस्था शब्दा ज्ञातव्याः, तत्रोत्तरम्-इन्दुरूप त्वन्मुख, चन्द्ररूपात्मस्तुतौ मां नियुज्य शशिनः प्रशस्तौ अत्युदास्ते । माह धरावदतुराऽनुत्तालाऽवेगा वा, पृथ्वीवद्गर्भीरेत्यर्थः । अर्थात्तमाह स्मेति ज्ञातव्यम् ॥ १०४ ॥

'अपनी प्रशंसा स्वयं करना उचित नहीं है' इस कारणसे चन्द्रस्य भारका मुख मुझे नियुक्तकर (१२।५८-६०) चन्द्रमाके वर्गन करनेसे स्वयं उदासीन हो रहा है', ऐसा वक्त (दमयन्ती) ने राजा नन्मे कहा । (अथवा- 'उदासीन हो रहा है, वह मैं पृथ्वीके समान गर्भीर हूँ' ऐसा उमने कहा) ॥ १०४ ॥

तनेरित प्राणसमं सुमुख्या गिरः परीहासरसोत्किराः स ।

भूलोकसारं रिमत्वाक् तुषारभानुं भगिष्यन् सुभगा यभाण ॥ १०५ ॥

तद्येति । स भूलोके सारं श्रेष्ठतमो नल रिमत्वाक् तुषारभानुं चन्द्रं भगिष्यन् वर्गविष्यन् सन् सुभगा सौभाग्यवती भैमी यभाण । किंभूतः ? तथा सुमुख्या भैम्या परिहासरसस्योत्किरामुद्गावयित्रीं गिरभीरित उक्तं । तथा-प्राणसमोऽतिप्रेयान् । तथा चन्द्रवर्गने ईरितं सन् परिहासरसोत्किरा गिरः सुभगा यथा तथा यभाणेत्येति वा । उत्किराम्, 'इगुपथ-' इति कः । पूर्वणं षष्ठासमासः । भगिष्यन्, हेतौ लृट् शता ॥ १०५ ॥

भूलोकश्रेष्ठ तथा (दमयन्तीके) प्राणतुल्य वे (नल) सुमुखी (दमयन्ती) के ऐसा (१२।१०४) कहनेपर ईंमते तथा आगे चन्द्रका वर्गन करते हुए सुन्दरी (दमयन्ती) से बोले ॥ १०५ ॥

तवानने जातचरीं निपीय गीति तदाकर्णनलोलुपोऽयम् ।

हातु न जातु स्पृह्यत्यवैमि विधुः मृगस्त्वद्वदनभ्रमेण ॥ १०६ ॥

तवेति । हे प्रिये ! अयं मृग तवानने जातधरीं भूतपूर्वां गीतिं स्वरमाधुरीं निधीय सादरमाकर्ष्येदानीमपि तस्या भवद्गीतेराकर्णनलोलुपोऽतितरा लुब्धोऽति सादरयाचद्भूतनभ्रमेण विधु हातु जातु कदाचिदपि न स्पृहयतीत्यहमवैमि, 'मृगा हि गानप्रिया भवन्ति' इति चन्द्र स्वन्मुखग्रान्तया त्यक्तु नेच्छतीत्यह शङ्क इत्यर्थ । जा तधरीं, 'भूतपूर्व धरत्' । लोलुप, यदन्तात्प्रचाद्यधि 'यदोऽधि च' इति यदोलुक् ॥

'तुम्हारे मुखमें भूतपूर्व (अमृतरसपवाहवत् कर्णप्रिय) गति (गाने) को अच्छी तरह पीकर अर्थात् सुनकर उस (गीति) को सुननेके लिए लोभी यह (चन्द्रमामें दृश्यमान कलहूतमक) मृग भ्रममें तुम्हारे मुखसे कभी भी चन्द्रमाको नहीं छोड़ना चाहता है, ऐसा मैं जानता हूँ । [गानप्रिय होनेसे यह मृग चन्द्रमाको हा तुम्हारा वह मुख समझकर उभे कभी नहीं छोड़ना है, जिस तुम्हारे मुखसे पहले हमने कर्णप्रिय मधुर स्वरवाणी गीतको सुन चुका है] ॥ १०६ ॥

इन्दोर्भ्रमेणोपगमाय योग्ये जिह्वा तवास्थे विधुवास्तुमन्तम् ।

गीत्या मृग कर्पति भन्त्स्यता किं पाशोयभूवे श्रृणुद्वयेन ? ॥१०७॥

इन्दोरिति । अतिमादुरयादिन्दुरेवेदमितीवन्दोर्भ्रमेण मृगस्योपगमाय योग्ये प्राप्नुमहे तवास्थे वर्तमाना जिह्वा कर्षी गीत्या वर्णस्वरमाधुर्यं कृत्वा विधुरूप वास्तु वसतिगृह तद्विद्यते यस्य स विधुवास्तुमन्त चन्द्रमध्यस्थायिनमपि भग कर्पतु । गीते मधुरतमत्वान्मृगरूप च प्रियगानावास्वसमीपमानयत्वित्यर्थ । तदाकर्पणसाधनमु-
त्थेचने—भन्त्स्यता आगमित्यतो मृगस्यात्रैव निवासाधं बन्धन करिष्यता श्रवणद्वयेन पार्श्वभूवे किम् ? तदपुथा बन्धनरज्ज्वा समाकर्ष्यस्वित्यर्थ । अन्धापि दाहरी गीत्या मृगमाहूय पाशेन धत्नाति । भवन्मृत निष्कलन्मृनाधिकगीतियुक्त च, चन्द्ररतु सकलञ्च इति भाव । चन्द्रवर्णनायमरेऽपि मध्ये मध्ये भैमीमुखवर्णनानुरागातिशय सूचनायां । अथ श्लोक उपेक्ष इति केचित् ॥ १०७ ॥

(चन्द्रमाके भ्रम (अत्यन्त समानता होनेके कारण तुम्हारे मुखको ही चन्द्रमा जानने)से (मृगको) आनेके लिए योग्य तुम्हारे मुखमें (स्थित) जीम गानमें चन्द्रमें निवास करने-
वाला मृगको खींचता है और (उस मृगको) मरिचकमें बाँधनेवाले (आकर्षणके समानभूत) दोनों नेत्र रस्सी हो गये हैं क्या ? । [मधुरगीतमें आकृष्ट होना मृगका स्वभाव होना है । दूसरी कोई भी दाहरी गानेके बशीभूत मृगको रस्सीसे बाँधकर खींचती है] ॥ १०७ ॥

गगनस्योऽपि मृगो भैमीमुखगीति कथमश्रुगोदित्याशङ्क्याह—

आप्यायनाद्धा रुचिभि सुधाशो रीत्यात्तम नननजन्मनो वा ।

यावन्निशायामय घर्मेदु स्थस्तावद्भजत्यहि न शब्दपान्थ ॥१०८॥

आप्यायनादिति । शब्दरूप पान्थो निरामयधिको निशायां यावद्भजति ताव दप परचासाकल्पेन वा अहि न गच्छति, यस्माद्विने घर्मेणातपेन दु स्य सतत ,

तस्माद्दिनेऽल्पमेव गच्छतीत्यर्थः । रात्रौ दूरागमने हेतुमाह—सुधाशोरमृतरूपाभी रचिभिराप्यायनादुज्ज्वलितवल्गुत्वाद्वा तम एव कानन वन तस्माज्जन्म यस्य गाढन्ध- कारजाताच्छ्रित्याद्वा तेजमोऽभावे तमसः समवाद्यौष्ण्याभावाच्छ्रित्यम् । अत एव रात्रौ बहु गच्छति, दिने चोप्येन भ्रान्त इव बहु न गच्छति । शब्दो हि रात्रौ स्वभावा- द्निदुरेऽपि श्रूयते, दिवा तु न तथा । पथिकोऽपि रात्रौ शब्दाद्दूर गच्छति, दिने चाल्पम् । दूरश्रवणप्रतिपादकोऽयं श्लोकः ॥ १०८ ॥

चन्द्र-किरणो मे शक्तिके विशेष उज्ज्वलित होनेसे या—अन्धकाररूपी वनमें लपक- ठण्ठकमे, नित्यगमनशील शब्दरूपी पथिक (दिनमें) घूमते सतत होनेके कारण रात्रिमें जिनका (अधिक दूर) जाना है, वनका (अधिक दूर) दिनमें नहीं जाना । [जिस प्रकार सदैव चलनेवाला पथिक दिनमें घूमने मन्तव्य होनेके कारण रात्रिमें जिनका अधिक दूर तक जाना है, वनका दिनमें नहीं जाना, वही प्रकार शब्द भी रात्रिके बराबर दिनमें नहीं जाता । शब्दका दिनको अपेक्षा रात्रिमें बहुत दूर तक सुनायी पड़ना स्वभाव होनेसे तुम्हारे मुखमें गायी गयी गीत काकाशमें चन्द्रमधस्य दृगं मो मुनकर आकृष्ट हो जाता है] ॥ १०८ ॥

दूरेऽपि तत्तावच्छ्रवणपानाह्लाद्याश्रयि स्वादुरसोपभोगे ।

अवज्ञयेच्च क्षिपति क्षपाया पति रत्नं स्यान्न्यमृतानि भासः ॥ १०९ ॥

दूरेऽपीति । हे प्रिये ! चन्द्र निश्चित क्षपाया पतिश्चन्द्रो मासश्चन्द्रिका एव स्वान्यमृतानि क्षिपति अधो मुञ्चति । किंभूत ? दूरेऽप्यतितरा वेशम्यवधानेऽपि ताप्रसिद्ध मधुतर तावच्छ्रवणपानाह्लाद्याश्रयि स्वादुरसोपभोगे मातु- र्यातिशयानुभवे विषये लब्ध्वाश्रयि प्राप्तमर्थाद् । उत्प्रेषते—अवज्ञयेच्च अनुभूत- भवहीतमाधुर्यपि क्षयात्पमातुर्यतयावमानयेत्येवम् । अथ श्लोको भिन्न एव, ननु युगम् ॥ १०९ ॥

उस कारण (नित्यगामी शब्दरूप पथिकके रात्रिमें दूर तक जाने) से (अथवा—उस प्रसिद्धतम) तुम्हारे गानेका पीने अथवा सुननेम स्वादिष्ट रसके उपभोगके विषयमें सीमानक पहुँचा हुआ चन्द्रमा निरन्कारसे ही अनृतमय अपनी किरणोंको (नीचे) फेंकता है [तुम्हारे गानेको सुनकर चन्द्रमा मातुर्व रसकी चरमसीमा तक पहुँच गया, और अपने अनृतमय किरणोंको तुम्हारे मुखमें गानेसे हीन स्वादवाली मानकर नीचे फेंकने लगा । लोकमें भी कोई व्यक्ति उत्तम पदार्थ मिलनपर उसमें हीन पदार्थको नीचे फेंक देता है] ॥

अस्मिन्न विस्मापयनेऽयमस्माश्चक्षुर्वभूवैप यदादिपुंस ।

तदत्रिनेत्रादुदितस्य तन्वि ! पुलानुरूप किल रूपमस्य ॥ ११० ॥

अस्मिन्निनि । हे तन्वि ! एष चन्द्र आदिपुंस आविष्णोर्वाम चक्षुरेभूवेति यत् । अस्मिन्नेत्रमवनविषयेऽथ नेत्रसूतश्चन्द्रोऽस्माश्च विस्मापयते आश्चर्यं न प्राप- यति, अत्रार्थेऽस्माकमाश्चर्यं न भवतीत्यर्थः । किञ्च यस्माद्धेतोरत्रिनेत्रादुदितस्योत्पन्न-

स्यास्य तत्त्वसुर्भवनं कुलानुरूपं कुलोचितं स्वरूपम् । नेत्ररूपात्कारणाज्जातस्य नेत्री
भवनमुचितमेव । तस्मादस्य पुराणपुरुषनेत्रभवने न किञ्चिदस्माकं विचित्रमित्यर्थः ।
विस्मापयते, 'नित्यं स्मयते' इत्यात्वम्, 'मास्म्योर्दुर्भवे' इति तद् । अस्मान्,
जनान्तरापेक्षया बहुत्वम् ॥ ११० ॥

हे तन्वि ! यह चन्द्रमा जो आदिपुरुष (विष्णु भगवान्) का (दर्शन) नेत्र हुआ,
इस विषयमें हमलोगोंको आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि 'अत्रि' मुनिके नेत्रसे उत्पन्न इस
(चन्द्रमा) का रूप (विष्णु भगवान्का नेत्र होना) कुत्सके योग्य ही है । ['अत्रि'के नेत्रसे
उत्पन्न होनेवाले चन्द्रमाका विष्णु भगवान्का नेत्र होना सर्वथा उचित ही है] ॥ ११० ॥

आभिर्मृगेन्द्रोदरि । कौमुदीभिः क्षीरस्य धाराभिरिव क्षणेन ।

अक्षालि नीली रुचिरम्बरस्या तमोमयीय रजनीरजक्या ॥ १११ ॥

आभिरिति । हे मृगेन्द्रोदरवत्कृष्णमुदर यस्यास्तादृशि । रजम्बेव रजकी तथा
क्षीरस्य दुरधस्य धाराभिरिव दूरयमानाभिर्धवलतराभिराभिः कौमुदीभिः कृत्वाऽम्बर
रस्या गगनस्या तमोमयीय नीली कज्जलकराक्षी रुचिः क्षणमात्रेणाद्यालि निरस्ता ।
यथा रजक्या वसनस्या काली काम्तिदुग्धधाराभिः क्षणेन चावयते । तदुक्तं कला
कोषे—सैलघृतेन, तत्त्वोपगजलेदुग्धेन कज्जलम् । नाशयेदम्बरस्थं तु मलचारेण
सोऽधमणा । इति । चन्द्रिकाभिरंगन निर्मलीकृतमिति भावः । मृगेन्द्रादरि, 'नासि-
कोदर—' इति ङीप् । ओषधिप्राप्तिवाचिस्त्वाभावात्क्षीलीव नीलीति ङीप् समर्थनीयः ।
रजकी, खुनः पिराम्भीप् ॥ १११ ॥

हे इसके समान कृत कटिवाणी (भ्रिगे दम्बनि) । रात्रि रूपिणी रजकी (कपडा
धोनेवाली—धोत्रि) ने दूधकी धाराके समान (स्वच्छन्दम्) इन किरणोंसे, अन्यकारणकी
तथा आकाशस्य (पञ्चा०—बलस्व) कालिमाको क्षणमात्रमें (अनिशोभ) धँसा दिया है ॥ १११ ॥

पयोमुचा मेचकिमानमुच्चैरुच्चाटयामास ऋतु शरत्वा ।

अपारि वामोरु । तयाऽपि किञ्चिन्न प्रोद्धितुं लाञ्छनकालिमाऽस्य ॥

पय इति । हे वामोरु ! या शरदतु पयोमुचा मेघानां वषाकाशीनमुच्चकरति-
शयितमपि मेचकिमानं कालिमानमुच्चाटयामास । तथा कालिमापनयने दृष्टसाम
र्थ्यया शरदाप्यस्य चन्द्रस्य लाञ्छनरूपं कालिमा किञ्चिद्वचमपि प्रोद्धितुं स्फोट
यितुं नापारि । शरदश्चे चन्द्रे मलिनं कलद्गोऽतितरां शोभत इति भावः ।
मेचकिमानं, घर्णवाचिस्त्वादिसमिच्च ॥ ११२ ॥

हे वामोरु ! जिस शरद् ऋतुने मेघोंको आरयधिक कालिमाको दूर कर दिया, वह
शरद् ऋतु भी इस (चन्द्रमा) के थोड़े लाञ्छनको दूर नहीं कर सका । [जो वर्षा ऋतुमें
वरान मेंवहूँ विज्ञात चन्द्रकण्डूको नष्ट कर दिया, उसका थोड़े से चन्द्रकण्डूको नष्ट नहीं
कर सकना आश्चर्य है] ॥ ११२ ॥

एकादशैकादशरुद्रमौलीनस्त यतो यान्ति कलाः किमस्य ? ।

प्रविश्य शेषास्तु भवन्ति पञ्च पञ्चेष्टुतूणीमिषवोऽर्द्धचन्द्राः ? ॥११३॥

एकेति । अस्त यतो गच्छतोऽस्य चन्द्रस्यैकादश कला एकादशाना रुद्राणां मौलीन् प्रति यान्ति किल गच्छन्तीव । शेषा पञ्च कलास्तु पुनः पञ्चेष्टो कामस्य तूणीमवपमिषुधिं प्रविश्याद् अर्द्धचन्द्राकारत्वादर्द्धचन्द्राख्या इषवो भवन्ति । विनाशसमयेऽप्ययं परापकारनिरत इति ध्वन्यते । तूणीम्, अष्टपत्तविवक्षया स्त्रीत्वे गौरादिस्वा ग्नीप्, 'अर्धचन्द्र'शब्दो रुढः ॥ ११३ ॥

अस्त होते हुए इस (चन्द्रमा) को ग्यारह कणार्धे ग्यारह शिवजीके मस्तकोंमें प्रविष्ट होती है क्या ? तथा (सोलह चन्द्र-कलाओंमें-से) शेष पाँच चन्द्र-कलाएँ पञ्चबाण (पाँच बाणवाले—कामदेव) के छोटे तरकसमें घुसकर अर्द्धचन्द्ररूप बाण होती हैं । [इस प्रकार यह चन्द्रमा सर्वदा परापकारमें ही निरत रहता है । रुद्रके ११ नाम ये हैं—'अग्न १, एकपाद २, अहिर्गन्ध ३, पिनाकी ४, अपरात्रित ५, ज्यम्बक ६, महेश्वर ७, वृषाकपि ८, शम्भु ९, हरण १० और इश्वर ११' । रुद्रके अन्य ११ नामोंके भेद अमरकोषके यत्कृत 'मणिप्रभा' नामक अनुवादके 'रुद्र (१११२०)' शब्दके परिशिष्टमें देखा जायिये] ॥११३॥

निरन्तरत्वेन विधाय तन्वि ! तारासहस्राणि यदि क्रियेत ।

सुधाशुरन्य' स कलङ्कमुक्तस्तदा त्वदास्यश्रियमाश्रयेत् ॥ ११४ ॥

निरन्तरेति । हे तन्वि ! ताराणां नक्षत्राणां सहस्राणि निरन्तरत्वेनान्योन्य-संबन्धितया विधायैकीकृत्य यदि अन्य सुधाशु क्रियेत निर्मायेत तदा तर्हि स चन्द्र स्ताराणामकलङ्कत्वात्तन्मयत्वात्कलङ्केन मुक्त सन् त्वदास्यस्य श्रियं शोभामाश्रयेत् । क्रियातिपत्तेरविवक्षितत्वाद्ब्रह्माव ॥ ११४ ॥

हे तन्वि ! यदि हजारों ताराओंको एकत्र रखकर सम्मिलित कर दें तो कलङ्करहित यह दूसरा चन्द्रमा तुम्हारे मुख की शोभाको प्राप्त करे । [ऐसा करना अशक्य होनेसे तुम्हारे मुखकी शोभाको यह वर्तमान चन्द्रमा कदापि नहीं पा सकता] ॥ ११४ ॥

यत्पद्ममादिसु तवाननीया कुरङ्गलक्ष्मा च मृगाक्षि ! लक्ष्मीम् ।

एकार्थलिप्साकृत एष शङ्के शशाङ्कपङ्केरुहयोर्विरोधः ॥ ११५ ॥

यदिति । हे मृगाक्षि ! यत्पद्म तवाननीया सुखसवन्धिनीं लक्ष्मीमादिसु प्रहीतु कामम्, कुरङ्गलक्ष्मा चन्द्रश्च तव मुखशोभा प्रहीतुकाम, तयोः शशाङ्कपङ्केरुहयोरेव विरोधस्त्वन्मुखशोभालक्षण एकोऽर्थस्तस्य लिप्साकृत आसिवाङ्मानिमित्त एवेत्यहं शङ्के । एकद्रव्याभिलाषित्वेन विरोधः सुप्रसिद्धः । चन्द्रपद्मयोरपि विरोधः प्रसिद्ध एव । चन्द्रपद्मभ्यां सकाशात्ते मुखमधिकमिति भावः । आदिसु, चन्द्रपदे लिङ्गविपरिणामः । लक्ष्मीं, 'न लोका—' इति ऋग्वेदोक्तिः ॥ ११५ ॥

हे मृगनपति ! जिस कारणसे कमल तथा चन्द्रमा तुम्हारे मुखकी शोभाको पाना

च'इते है, उस कारणसे च'द्रमा तथा कमलका विरोध एक वस्तु (तुम्हारे मुखकी शोभा) को पानेकी इच्छासे ही है, ऐसी मैं सम्भावना करता हूँ । [लोकमें भी एक वस्तुको ही पानेकी इच्छा करनेवाले दो व्यक्तियोंमें निम्नतर विरोध रहता है । तुम्हारे मुखकी शोभा च'द्रमा तथा कमल—दोनोंसे अधिक है] ॥ ११५ ॥

लब्ध न लेखप्रभुणाऽपि पातु पीत्वा मुखेन्दोरधरामृत ते ।

निपीय देवैर्विपसीकृताया घृणा विधोरस्य दधे सुधायाम् ॥ ११६ ॥

लब्धमिति । हे प्रिये ! अह सर्वैरपि देवैर्विपसीकृताया नि शेष पीत्वा भुक्त-
शेषोक्तनायाम्, अस्य विधो सुधाया घृणा जुगुप्सा दधे धारयामि । किं कृत्वा ।
लेखाना देवाना प्रभुणेन्द्रेणापि पातु न लब्ध, कृतप्रयत्नस्यापि तस्यावरणात्तेन दुःप्राप-
केनाप्यनुविद्यते ते मुखेन्दोरधररूपममृतं निपीय पीत्वा । चन्द्रसुधाया सफाशाव-
धरामृत स्वादुनरमिति भावः । अन्योऽप्यनुविद्यतेभोजने जुगुप्सा धारयति ॥ ११६ ॥

(हे प्रिये !) देवोंके स्वामी (इन्द्र) को भी तुम्हारे जो अमरामृतपानेकी नहीं मिला,
उस अमरामृतको पीकर मैं देवोंके द्वारा पीकर जूरा किये गये इस च'द्रमा के अमरनें
घृणा करता हूँ । [लोकमें भी कोई मनुष्य व्यक्ति दूसरोंका जूरा खानेमें घृणा करता है ।
च'द्रामृतकी अपेक्षा तुम्हारा अमरामृत अधिक स्वादिष्ट है] ॥ ११६ ॥

एन स विभ्रद्विधुमुत्तमाङ्गे गिरान्द्रपुत्रीपतिरोपधीशम् ।

अभाति घोर विपमविजन्म घत्ते भुजङ्गका विमुक्तशङ्क ॥ ११७ ॥

एनमिति । स गिरान्द्रपुत्रीपतिः शम्भुरेनमोपधीशः विधुमुत्तमाङ्गे शिरसि विभ्र-
दारयन् सन्नविजन्म समद्रोस्पद्य घोर दारुणमपि विपमभाति, विमुक्तशङ्को भुजङ्ग-
सर्पराज वासुकिं च घत्ते । शमोरप्युपकारस्थेन पृथ्व्य श्रेष्ठोऽयमिति भावः । ओष-
धिश्चामिनोऽस्य शिरसि धारणादिव नि शङ्क विप भक्षयति, सर्पाश्च धारयन्तीरपुमेण ।
भुजङ्गम्, जायमिप्रायेणैकवचनं वा ॥ ११७ ॥

वे (प्रसिद्धतम) पार्वतीपति (शिवजी) ओषधिपति (ओषधियोंके स्वामी होनेसे
मर्वश्रेष्ठ ओषधिरूप) इस च'द्रमाकी मस्तकपर धारणकर निर्द्वय होकर समुद्रमें उदरान्न
मयङ्कर ('इन्द्र' नामक) विषकी बोने हैं और सर्पकी धारण करते हैं । [इसीमें
शिवजीकी इन्द्रादिक तथा सर्पका विष कोई क्षति नहीं पहुँचाते । लोकमें भी विष नाशक
औषधादि धारण करनेसे लोक मर्वादिके द्वारा नहीं मरते हैं । अत एव यह च'द्रमा
शिवजीका भी उरकारी है] ॥ ११७ ॥

नास्य द्विजेन्द्रस्य बभूव पश्य दारान् गुरोर्यान्वतोऽपि पात ।

प्रवृत्तयोऽप्यात्ममयप्रकाशान् न ह्यन्ति न ह्यन्तिमदेऽमाप्तान् ॥ ११८ ॥

नेति । हे प्रिये ! द्विजेन्द्रस्य अस्य चन्द्रस्यास्य गुरोर्वृंहस्पतेर्दारान् भार्यापातवतो
गण्डतोऽपि गुरुरनल्पगामिनोऽपि पात स्वर्गाद् भ्रष्ट, अथ च—पातिपत्न्य, न बभूव

पर्य, चित्रमेतद्विलोकयेत्पर्य । अथवा युक्तमेतत्—प्रवृत्तयो धर्माधर्महेतुकमार्गमा
अपि आत्ममय आत्मस्वरूपमेव प्रकाशो येषां तान्प्रकाशान्तरनिरपेक्षान्प्रकाशारू
पां, अथ च—परमात्मैव प्रकाशो येषां तान् परमात्मस्वरूपातिरिक्तप्रकाशानभि
ज्ञानस्वप्रकाशात्मवादिनो ब्रह्मज्ञानिनोऽन्तिमदेह तेजोरूपशरीर पूर्णता वा प्राप्तान्,
अथ च—अनन्तरमाविमोचत्वात्पाचीनशरीरप्रवाहापेक्षया शेष शरीर प्राप्तान् जीवन-
मुक्तान्पुष्टान्नि यस्माच्च नष्टान्नि, शुभाशुभफलवन्धेन न स्वधनन्तीत्यर्थः । 'तेषां
तेजो विशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते' इति प्रामाणिक्यवभासेतेजोरूपस्यास्य चन्द्रस्य
पातो नाभूदिनि युक्तमेव, नात्र चित्रमिति भावः । चन्द्रोऽप्यारम्भमयप्रकाश अस्ति
सदेह सपूर्णता प्राप्तश्च ॥ ११८ ॥

गुरु (दृष्टरति, पञ्चा०—गुरु = दोषागुरु या अप्ययत्नगुरु) को खोके साथ सम्मो-
ग करते हुए भी यह चन्द्रमा (पञ्चा०—माषग) पत्ति नहीं हुआ अर्थात् स्वर्गमे नीचे भ्रष्ट
नहीं हुआ (पञ्चा०—गुरुस्तान्ममोगजन्य पातकमे युक्त नहीं हुआ यह आश्चर्य है, अथवा
इसमें कोई आश्चर्य ही है), क्योंकि स्वयं प्रकाशमान (पञ्चा०—परमात्मरूप प्रकाशको
प्राप्त आत्मवादी ब्रह्मज्ञानी) तथा तेजोरूप शरीर या पूर्णता (अथवा—इसी देहके बाद मोक्ष
जातेवाले होनेसे अन्तिम शरीर) को पाये हुए (जीवमुक्त) लोगोंका धर्माधर्मके कारणाभूत
कार्यात्मके बन्धनमें नहीं डालते हैं । [परमात्मप्रकाशवाने एव अन्तिम देहधारी जीवमुक्त
ब्राह्मण—जैसे उच्च वर्गवाले लोगोंको भी जिस प्रकार धर्माधर्ममूलक कार्यात्मका कोई
बन्धन नहीं होता, वसा प्रकार गुरुपत्नीसम्भोग करनेवाले भी स्वयं प्रकाशमान इस
चन्द्रमाको दोष नहीं लगना उचित ही है] ॥ ११८ ॥

स्वधाकृत तप्तनयै पितृभ्यः श्रद्धापवित्र तिलचित्रमम्भ ।

चन्द्र पितृस्थानतयोपतस्थे तदङ्कुरोचिरसचिता सुधैव ॥ ११६ ॥

स्वधेति । तनय पुत्रे श्रद्धया परलोकास्तिःवतुर्दृष्ट्या वितीर्गत्वात्पवित्र कृण्यति
लैश्चित्रमिधित पितृभ्यः स्वधाकृत यद्गम पितृस्थानतया 'चन्द्रो वै पितृलोक' इति
श्रुते, पितृलोकतया चन्द्रमुपतस्थे चन्द्रेण सगतमभूत् । तत्कृण्यतिलमिश्र जलमेवा
कृष्य कलङ्कस्य यद्रोचि कान्तिस्तया सचिता मिश्रिता सुधा पीयूषम् । कृण्यतिष्ठा
एव कलङ्क, तस्मिन् जलमेव पीयूषम्, नत्वन्य कलङ्को न तान्धरपीयूषमित्यर्थः ।
अद्वेति, पितृलोकप्राप्तौ हेतुगर्भम् । उपतस्थे, सगतकरणे तद् ॥ ११९ ॥

पुत्रोंने पिताके लिये श्रद्धासे पवित्र जिस तिलमिश्रित जलका समर्पण किया, वह
(तिलमिश्रित होनेसे कृष्णवर्ण युक्त जल) पिताके निवासस्थान होनेसे चन्द्रमाके पास
पहुच गया और वह (कृष्णतिलयुक्त जल) दो कलङ्ककी कान्तिसे मिश्रित अभूत है । [कृष्ण-
वर्णवाले तिल ही कलङ्क हैं तथा उनसे सयुक्त जल ही अभूत है, उनसे मिश्र न तो कोई
कलङ्क मृग और न तो कोई अभूत ही है] ॥ ११९ ॥

पश्योच्चसौधस्थितिसौख्यलक्ष्ये त्वत्कौलकुल्याम्बुनि बिम्बमिन्दो ।

चिर निमज्ज्येह सतः प्रियस्य भ्रमेण यच्चुम्बति राजहसी ॥ १२० ॥

पश्येति । हे प्रिये ! त्वमुच्चसौधे स्थित्या कृत्वा सौख्येन निरन्तराय लक्ष्ये इत्येव त्वत्कौलकुल्याया अम्बुनि तदिन्दोर्बिम्ब पश्य । तस्मिन् ? राजहसी इह कुल्याजले निमज्ज्य चिर सतोऽन्तर्वर्तमानस्य प्रियस्य राजहसस्य भ्रमेण यच्चन्द्रबिम्बं चुम्बति । सौख्यम् , स्वार्थं सुखिनो भाव इति भावे वा व्यञ्ज । 'सौख्यम्—' इति पाठे—सूक्ष्मत्वेन लक्ष्ये । अक्षतरप्रदेशस्थित प्रति छावोदेशस्थित वस्तु सूक्ष्म प्रतिभाति ॥ १२० ॥

(हे प्रियन्ने !) ऊँचे प्रासादपर बैठनेसे मुखपूर्वक (पाठा—पतल) दिखाने परते हुए तुम्हारे क्रीडार्थे रचिन महारके बरमे (प्रतिबिम्बित) चन्द्रमाके बिम्बको देखो, जिससे माता लगाकर बहुत देरतक रुके हुए प्रिय (राजहस) के भ्रमसे राजहसी चूम रही है ॥ १२० ॥

सौवर्गजगैरमृत निपीय कृतोऽहि तुच्छ शशलाञ्छनोऽयम् ।

पूर्णोऽमृताना निशितेऽत्र नद्या मग्न पुन स्यात्प्रतिमाच्छलेन ॥ १२१ ॥

सौवर्गेति । स्वर्गं भवा सौवर्गा देवास्तेषा वगैर्धृन्दैरमृत निपीयाद्धि तुच्छो रिक्त कृतोऽय शशलाञ्छनो निशिते तेषा क्रीडानद्या प्रतिमाच्छलेन प्रतिबिम्बस्याजेन मग्न संपुनरमृताना जलै , अथ च—पीयूषे पूर्ण स्यान्नयेदित्यह सभावयामीत्यर्थः । एतेन मदीजलस्यामृतत्व सूचितम् । अहि तुच्छ कृतोऽपि पुन क्रमेणामृतं पूर्णं मन् रात्रौ तव क्रीडानद्या प्रतिमाभ्याजेन मग्न स्यात् पुन पानमपादिव पलाय्य निलीन स्यादित्यह शङ्के इत्यर्थः इति वा । पूर्णोऽमृतानाम् , तृप्यर्थत्वात्करणे पठ्यते ॥ १२१ ॥

स्वर्गवातियो (देवों) के समूहोंसे अमृतको सम्यक् प्रकारसे पीकर रिक्त (खाड़ी, वा-रधु) किया गया यह चन्द्रमा रात्रिमें तुम्हारी इन क्रीडानदीमें प्रतिबिम्बके कण्ठसे मग्न होकर अमृतम पूरा होगा (वा-हो रहा है, ऐसी मैं सम्भावना करना हूँ) अथवा— यह चन्द्रमा (क्रमशः) अमृतमें पूर्ण होकर रात्रिमें तुम्हारी क्रीडानदीमें प्रतिबिम्बके छत्रमें (वन देव-समूहोंके द्वारा पुन पीये जानेके भयसे) मग्न होगा अर्थात् छिप जायगा ऐसी मैं सम्भावना करता हूँ ॥ १२१ ॥

सम समेते शशिन करेण प्रमूनपाणाग्रिह कैरविण्या ।

विनाहलीलामनयोरिवाह मधुच्छलत्यागजलाभिपेक ॥ १२२ ॥

सममिति । इह तव क्रीडानद्या कैरविण्या कुमुदिन्या प्रमूनरूपे पाणौ शशिन करेण ररिमता, अथ च—पाणिना, सम सह समेते सगते सति मधु पुष्परस पय पटल यस्य स तद्गुणाजस्यागजलस्य कन्यादानसकृत्पीदकस्याभिपेक कर्ता, अनयोऽन्तर्कुमुदिन्योर्विवाहलीलामाहेव सूचतीव । चन्द्रकरस्पर्शमात्रेण कुमुदानि विरू-

सितानि, मकरन्दपूर्णानि च जातानीति भावः । विवाहे उभयो पाणिमेलन, पाणी दानजलाभिषेकोऽपि भवति ॥ १२२ ॥

तुन्दारी १५ क्रीडानदीमें कुमुदिनीके पुष्परूपी हाथको चन्द्रमाक्षी किरा (पञ्चा०— हाथ) के साथ मिलने (संयुक्त होने) पर मधु (पुष्प मकरन्द) के छटवाले अर्थात् पुष्प-मकरन्दरूप दानजलका त्याग इन दोनों (चन्द्रमा तथा कुमुदिनी) को मानो विवाह स्नान को कह रहा है । [वधू-वरके हाथोंके संयुक्त होनेपर कन्यादानके जलका अभिषेक होना शास्त्रीय विधि है । कुमुदिनी चन्द्रकिरण-स्पर्शमें विकसित तथा मकरन्दसे पूर्ण हो गयी । ॥ १२२ ॥

विकामिनीलायतपुष्पनेत्रा मृगीयमिन्दीवरिणी वनस्था ।

विलोकते कान्तमिहोपरिष्ठान्मृग तयैपाऽऽननचन्द्रभाजम् ॥ १२३ ॥

विकासीनि । हे प्रिये ! इह तव केलिनद्या वनस्था जलनिवामिनी, अथ च— कान्तमस्था, तथा—विकासि नीलमायत विस्तृत पुष्पमेव नेत्र यस्यस्तत्तुल्यनेत्रा चैव प्रायश्चक्षुर्या इन्दीवरिणी, यस्मात्मृगी वनस्थत्वाद्विकासिनीलायतपुष्पनेत्रावाच हरिणी, तत्तस्मादिन्दीवरिणीरूपा मृगी, आमनमिव यश्चन्द्र सामर्थ्यात्त्वदामनतुल्यो यश्चन्द्रस्तद्भाज तस्य कान्त सुन्दरम्, अथ च—तुल्यजातीय स्वप्रिय, मृगमुपरि ष्ठाद्विलोकते । विकसितपुष्पमनेत्राणि ऊर्ध्वं प्रसारितानि दृश्यन्ते तर्हि प्रायेण चन्द्र-रश्मिमुपरि वर्तमान निजभर्तार मृग (मृगी) पश्यतीत्यर्थः । त्वदामनमेव यश्चन्द्रस्त तस्य चन्द्रत्वाद्नुमेव मृगमुपरिष्ठात्पश्यति । ख प्रासादोपरि वर्तते, इय चाधोदेवो वर्तते । 'न न' इति पदद्वयेद् कृत्वा चन्द्रभाज निष्प्राणेश मृगमुपरिष्ठात् पश्यतीति न, किन्तु पश्यत्येवेति वा ध्यात्वेयम् । वनस्था मृगी हि प्रसारितनीलायतनेत्रा सती स्वकान्त मृगमितस्ततो विलोकयति । 'शशम्' इत्यपवादः । मृगपर एव वा द्योत्येय ॥ १२३ ॥

(हे प्रिये ! तुन्दारी) १५ क्रीडानदीमें जब (पञ्चा०—जल) में रहनेवाली तथा विकसित नील-पुष्परूपी (पञ्चा०—पुष्पतुल्य) विशाल नेत्रोंवाली यह नीलकमलरश्मा (जिम कारागने) मृगी है, उस कारागने यह (नीलकमलरश्मास्वरिणी मृगी) ऊपरमें (आकाशमें, पञ्चा०—तुन्दारे उच्चतम सौधपर, तुन्दारे) मुखके समान (पञ्चा०—मुखरूपी) चन्द्रमार्गे रहनेवाले पति (प १०—सुन्दर, कण्ठस्थक) मृगको मानो देख रही है । [यहा विकसित नीलकमलपुष्पको विशाल तथा मोर्चवां नेत्र, नीलकमलरश्माको मृगी, क्रीडानदीके जलको जगल, आकाशको सौध और दमयन्तीके मुखको मृग होनेको कल्पना की गयी है । लोकमें भी अत्युन्नत स्थानपर स्थित व्यक्तिको नीचेवाला व्यक्ति ऊर्ध्वमुख होकर जैसे देखता है, वैसे ही नीलकमलरूपिणी मृगी तुन्दारे मुखतुल्य चन्द्रमार्गे स्थित अपने पति मृगको मानो देख रही है] ॥ १२३ ॥

तपस्यतामम्बुनि कैरवाणा नमाधिभङ्गे विबुधाङ्गनाया ।

धरैमि रात्रेरमृताधरोष्ठ मुख मयूखस्मितचारु चन्द्रम् ॥ १२४ ॥

नपस्यतामिनि । हे प्रिये ! अम्बुनि सदा निवासात्तत्र तपस्यता कैरवाणा कुमुदना समाधेदिता सकोचस्यैव ध्यानस्य मन्त्रे त्याजने विषये निमित्ते वा विबुधाङ्गनाया अम्भरोत्पत्त्या रात्रेश्चन्द्र मुत्तमेवाहमत्रैमि मन्ये । किंभूत मुखम् ? अमृतमेवाधरोऽम्बुर्न ओष्ठो यस्य, अथ च—अमृततुल्योऽधरोष्ठो यस्य, यद्वा—अमृतमधर यस्मात्पीयूषादधिकरस ओष्ठो यस्य । तथा—मयूखा किरणा एव स्मितम्, अथ च—न.प.माधिभङ्गादे । चन्द्रश्चरत्तुल्योऽयस्मित, तेन चारु । चन्द्रविशेषगे छिन्न विपरिणाम देवाङ्गनानामप्येवविध मुक्त रात्रौ जले तपस्यता दुग्धर तपश्चरतामपि सुभीता नमाधिभङ्ग करोति । तपस्यतामिनि, तपश्चरतीत्यर्थे 'वर्मणोरोमग्यतरोम्या वर्तिवरो' इति वयप्, 'तपस परस्मैपद च' इति ज्ञाता ॥ १२४ ॥

जलमें (सर्वदा निवास करनेसे) नपस्या करते हुए—से कुमुरोंके (दिनमें सङ्कोषरूपी) समाधिके मङ्ग होनेपर रात्रिरूपिणी देवाङ्गनाओं (अम्भराओं) के चन्द्रमाकी अमृतके समान (अथवा—अमृतरूप, अथवा—अमृत है तुच्छ जलमें देने अर्थात् अमृतमें श्रेष्ठतम) अधरोष्ठवाला तथा किरण-पी (पञ्चा०—किरणके समान) मुख मानना हूँ । [जिस प्रकार ध्यानमङ्ग होनेपर तपस्वियोंको अमृतपूर्ण अम्भरवाला तथा स्मितसे सुन्दर देवाङ्गनाओंका मुख चुम्बनके लिए प्राप्त होता है, वसी प्रकार जलमें सर्वदा निवास करनेसे तपस्या करते हुए—से कुमुदोंकी दिवासद्भोरूप समाधिके मङ्ग होनेपर अमृताधर तथा किरणारमक स्मित युक्त चद्ररूप मुख मानो चुम्बनादिके लिए प्राप्त हुआ है] ॥ १२४ ॥

अन्पाङ्कपङ्का विधुमण्डलीय पीयूषनीरा सरसी स्मरस्य ।

पानात्सुधानामजलेऽप्यमृत्यु चिह्न विभर्त्यत्र भव स मीनम् ॥ १२५ ॥

अक्षपेति । अक्षोऽष्ट एव पङ्क्तौ यस्या, तथा—पीयूषमेव नीर यस्या सेय विधु-मण्डली स्मरस्य सरसी विद्याल सर एव । अत एव स स्मर अग्रमवमस्या चन्द्र-सरस्या समुत्पन्न सुधानामेऽदीयामृताना पानाजले जलरहितेऽपि स्थले जलाभावेऽपि याऽमृत्यु मरणरहित मीन चिह्नम् । अथ च—सुधासरोज्जातशानुमापक छिन्न विमर्ति । मीना हि जलाद्वदिर्गता म्रियन्त एव, अथ तु न म्रियते, तस्माच्चन्द्राद्युत सरसीमवतारसदामृतपानाज्जलमावेऽपि सृष्टुरहित इति सर्वं युक्तमि'त्यर्थ ॥ १२५ ॥

अत्र (योडे स्थानमें स्थित) कन्दूरूपी पङ्कवाली तथा अमृतरूपी (पञ्चा०—अमृत मुख, स्तब्ध तथा मधुर) जम्बाकी यह चन्द्रमण्डल अर्थात् चन्द्रिका कामदेवकी मोहा नदी है, (क्योंकि हममें स्नान करते समय कामशरीरके अवश्य स्पर्श हुआ चन्द्रमण्डलके देखने मात्रमें होता है), अत एव वह कामदेव हम (कीछानदी) में उतरता तथा अमृत पीनेमें निर्विकल स्थानमें (वा—अजमाव होनेपर) भी नहीं मरनेवाले मीनरूप अपने धन

(चिह्न) को धारण करता है । [मामान्य मौन (मञ्जुलिया) बलके अभावमें मर जाने हैं, किंतु अनृतवान करनेने अवर अमर हुआ यह मा' मौन नहीं मरना है] ॥ १२१ ॥

तारास्थिभूया शशिब्रह्मनाभृच्चन्द्राशुगशुच्युरितद्युनिर्द्यौ ।

द्वायापथच्छ्रद्धाफणोन्द्रहारा स्व मूर्तामाह स्फुटमष्टमूर्ते ॥ १२६ ॥

मागेति । चौ स्वमात्मानमष्टमूर्तेर्हरेस्य मूर्तिं शरीर स्फुट व्यक्तमाह प्रवीति । यत — किंभूता ? तारा एवास्थीनि भूया मय्या । तथा—शशिनमेव जह्नुभा, पञ्च गङ्गा च, शिधर्तीनि भृत् । तथा—चन्द्राशव एव पामशो मस्मानि तैश्चुरिना कृता हाराणा एतिर्यस्या । तथा—द्वायापथो गगने दण्डाकारा दक्षिणोत्तरस्था ध्वजला रेखा द्वाय पथ्य द्वायापथच्छ्रद्धारूप फणीन्द्रो वासुकि ॥ एव मुक्ताहारो यस्य सा । हरमूर्तिरप्युक्तविशेषाविशिष्टा । घौरप्येनादशीनि मूर्यन्नरापेलया व्यक्तमेव महे वास्य मूर्ति गगन कथयतीत्येवर्थ ॥ १२६ ॥

तारारूप अस्थि (इन्द्रियों) के भूषणवाली, चन्द्ररूपिणी गङ्गाको धारण करती हुई, चन्द्र-किरणरूप धूलि (भस्म) से व्याप्त शरीर-कान्तिवाली छायापथ (जैश्री रात्रिको आकाशमें दण्डाकार दिखलायो पकनेवाली स्वच्छ रेखा) रूप और वासुकिरूप हारवाली यह 'दिग्' (आकाश) अपनेको स्पष्ट ही शिव-मूर्ति व्यक्त कर रही है ॥ १२६ ॥

एकैव तारा मुनिलोचनस्य जाता किलैतवजनकस्य तस्य ।

ताताधिका सम्पदभूयिष्य तु सप्तान्विता विंशतिरस्य यत्ता ॥ १२७ ॥

एकेति । एतस्य चन्द्रस्य जनकस्य तस्य प्रसिद्धस्याधिमुनिलोचनस्य तारा कनी-निका किलैकैव जाताभूत् किल पुराणादौ । अस्य तत्पुत्रस्य तु पुनरिय इत्यमाना सपत्न्य ताताधितपितुरत्रिनेत्रासकाशाधिका । यद्यस्मादस्य चन्द्रस्य तास्या कनी-निका, अथ च—तच्चत्राणि, सप्तभिरन्विता विंशतिरभूदिति क्षलम् । पितु सका शाधिसपत्ति-शासमायोऽयमिति भाव । 'सप्तविंशतिमिन्द्वे' इति दृष्ट सप्तविंश-तिकम्ब्या अरिद्वयादिकाश्चन्द्राय ददाविति पुराणम् ॥ १२७ ॥

इस (चन्द्रमा) के पिता वस (प्रसिद्धतम, 'अत्रि' नामक) मुनिके नेत्रकी एक तारा (चन्द्ररूप नक्षत्र, पक्षा०—कनीनिका = औंसकी पुतली) हुई, किन्तु उनके पुत्र (चन्द्रमा) की सम्पत्ति तो पिता (नेत्रमे चन्द्रमाको उत्तर करनेसे चन्द्रमाके पितृवशतोप अत्रिमुनि) से भी अधिक हुई क्योंकि इस (चन्द्रमा) की वे (ताराएँ नक्षत्र, पक्षा०—कनीनिकारें) सत्ताहम हुई । [चन्द्रमा अपने पिता 'अत्रि' मुनिने भी अधिक माग्यवान् हैं । दक्षप्रजापतिने अग्निनी आदि तारारूपिणी अग्नी सत्ताहम पुत्रियोंको चन्द्रमाके लिए दिया था, यह कथा पुराणोंमें मिलती है] ॥ १२७ ॥

भृगाक्षि । यन्मण्डलमेतदिन्द्रो स्मरस्य तत्पाण्डुरमातपत्रम् ।

पूर्णमानन्तरमस्य भङ्गः स च्छत्रमङ्ग खलु मन्मथस्य ॥ १२८ ॥

मृगाक्षीति । हे मृगाक्षि हरिणीनेत्रे ! यदेतत्पश्यस्यमिन्दोर्मण्डलं तस्मैरस्य पाण्डुरश्वेतसाम्राज्यसूचकमातपत्रमेव । श्वेतच्छत्रदर्शने सति सम्राजो वर्या भवन्ति । पूर्णचन्द्रच्छत्रमण्डलस्य चोद्दीपकावातहर्शने सर्वेऽपि कामस्य वर्या भवन्ति । तस्मादेताकामस्य श्वेतातपत्रमेवेति भावः । यत्र पूर्णिमानन्तरमस्य च्छत्रभूतस्तेन्दुमण्डलस्य भङ्गो मोटन कल्याणश्च स मन्मथस्य च्छत्रमङ्गः खलु । छत्रस्य मोटन राजद्वयं सूचयति । कृष्णपक्षे चोद्दीपकमिच्छन्द्रक्षये कामः क्षीण एव भवति, तस्मात्कृष्णपक्षे योऽस्य मङ्गः स कामस्य छत्रमङ्ग इव स एव वेति भावः, 'खलु' वाग्नेयाया निश्चये वा ॥ १२८ ॥

हे मृगन्दमि (दमयन्ति) । जो यह चन्द्रमण्डल है, वह कामदेवरूप राजाका श्वेत छत्र है और पूर्णिमाके बाद जो इस चन्द्रमण्डलका भङ्ग (भङ्ग कल्याण) होता है, वह कामदेवका छत्रमङ्ग (राज्यनाश) है । [जिस प्रकार श्वेतच्छत्रधारी राजाकी आज्ञाकी सभी मानते हैं और हम श्वेतछत्रके भङ्ग (राज्यनाश) होनेपर उसकी आशङ्का कीर्त नहीं मानता, वसी प्रकार पूर्णचन्द्र होनेपर सभी कामदेवरूप राजाका आशङ्काकी मानते (पूर्ण चन्द्रके उदय होनेपर कामोद्दीपन होनेसे कामवशीभूत रहते) हैं और पूर्णिमाके बाद कमल चन्द्रमाके क्षीण होनेपर कामोद्दीपन नहीं होनेसे कोई भी कामदेवकी आज्ञाकी नहीं मानता (कामोद्दीपन न होनेसे कामवशीभूत नहीं होता) । चन्द्रमा को देखनेसे कामवृद्धि तथा नहीं देखनेसे कामक्षीण होना लोकप्रसिद्ध है ॥ १२८ ॥

दशाननेनापि जगन्ति जित्वा योऽयं पुराऽपारि न जातु जेतुम् ।

म्लानिर्विधोर्मानिनि । मङ्गतेय तस्य त्वदेकानननिर्जितस्य ॥ १२९ ॥

दशेति । दिग्विजयोद्यतं दशाननेनापि जगन्ति जित्वापि योऽयं चन्द्र पुरा पूर्वं जातु कदाचिदपि जेतुं नापारि । हे मानिनि स्वमुखस्पर्धिन चन्द्रममहमाने मेमि ! तस्य विधेः त्रिषु प्रपञ्चदृश्या कलङ्करूपा म्लानिलङ्घना सगता ह्यना, अथ च युषतेव । यनस्त्वैकाननेन नितरा जितव्यः । यो हि दशाननेन दशमिमुर्विजितुं नाशक्ति, तस्य ह्रियास्तवैकं मुखेन विजितत्वेन हृज्जया मलिन्यमुषितमेवोपर्य । त्वमुपमेनस्मादधिकमिति भावः । प्रतीयमानोद्येष्टः । छत्रयापि श्यानिर्भवति । रावणश्चन्द्रं जेतुं प्रवृत्तस्तत्पारागिना हृष्टमानः कम्पमानतनुस्त्वमपि त्वेव परावृत्तः शत्रुत्तरकाण्डे कथा ॥ १२९ ॥

(दिग्विजयके त्रिदशानन) दशानन (दशमुखवाला=रावा) को लोकप्रदको आकर पहले जिस (चन्द्रमा) को नहीं जीत सका, हे मानिनि (तुम्हारे मुखके साथ स्वर्दा करनेसे चन्द्रमाके प्रति मान करनेवाली हे दमयन्ति) ! तुम्हारे एक ही मुखने पराजित उस चन्द्रमाने वह (प्रत्यक्ष दृश्यमान कलङ्करूप) मलिन्य उद्यम गया है । [दश मुखवाले भी नहीं पराजित होनेवाले चन्द्रमाने एक मुखवाली [अर्थात्—हस्तेन भी

पुनश्च नश, अपितु स्त्री) तुमने पराजित होनेपर मलिन होना उचित ही है । यहा मो कहगानरकी ७५५'ने ही रावाको नन्का पूर्ववर्ती होना समझना चाहिये } ॥ १२९ ॥

पौराणिक कथा—दिग्विजयोद्धत रावा जब चन्द्रमाको पराजित करने गया, तब तुषाराग्निने जन्ता नवा ठण्डकने कौनवा हुआ वह चन्द्रमाको दिना पराजित किये ही वारम लोट आया । यह कदा कालमाकीय रामावाके उत्तरका कहने है ।

इष्टो निजा तापदियन्त्यहानि जयन्त्य पूर्वदशा शशाङ्क ।

पूर्णस्त्वशास्येन तुला गतश्चेदनन्तर द्रक्ष्यामि भङ्गमस्य ॥ १३० ॥

इष्ट इति । अथ भाशाङ्क ह्यन्त्येतावन्नि अहानि शुद्धपञ्चदिनानि तापवधायी कृत्य निजा पूर्वदशा पूर्वपूर्वदिनावस्था जयन् निजाममुत्तरोत्तरदिनेषु कलावृद्धयाधि कीमवस्थाया इष्ट । इयन्ति विमानि जयस्तावत् जयध्वेव इष्ट इत्यवधारणार्थो वा 'तावत्'शब्द । अनयोव परिपाठ्या पूर्णविश्वोऽयं त्वदाख्येन सह तुला साम्यम्, अथ च—तोळकाष्ट, प्राप्त आरुढश्चेत्, तद्गन्तर निवृत्त खनेव अ प्रभुत्वेवास्य भङ्ग पराजय कलावय च द्रक्ष्यसि । उच्यते सह स्पर्धमानो हि भङ्ग प्राप्नोत्येव । तुला दिश्ये हि हीनस्य पराजय सर्वेदंरपते । अहानि अत्यन्तसयोगे द्वितीया । त्वदास्येन, '—अनुलोपमाग्याम्—' इति नियेऽपि सहयोगे दुर्गतीया । तथा च काण्डिदास 'तुला यदारोहनि इन्तवाससा' इत्यादि ॥ १३० ॥

इसने दिनों (शुद्धपञ्चके दिनों कर्षाद पूर्णिमा) तक बीजग (१-२ कलाके क्रमशः बढ़नेम उत्तरोत्तर वृद्धिके प्राप्त होता) हुआ तथा (तुमसे) देखा गया यह चन्द्रमा यद्यपि तुम्हारे मुखकी समानताको प्राप्त कर लिया कर्षाद इस समय कर्षाद्विद तुम्हारे मुखके समान हो गया, तथापि (तुम) इसके बाद (कृष्णपक्षके दिनों) में इसके भङ्ग (पराजय, पक्षा०—कृष्णाय) को देखोगा । [प्रवक्के साथ विरोधकर्ता पराजय अवश्य होता है, यह बात महाकवि 'भारवि'ने मा 'दिग्विजय'कीय' काव्यने कहा है—यथा—'अहो दुरन्ता बलविरोधिता' (१।२३)] ॥ १३० ॥

क्षत्राणि रामं परिभूय रामात्क्षत्राग्रयाभज्यन् स द्विजेन्द्र ।

तथैव पद्मानभिभूय सर्वास्त्वद्वक्त्रपद्मात्परिभूतिमेति ॥ १३१ ॥

क्षत्राणीति । द्विजेन्द्रो जमदग्न्यपत्यत्वात्सोऽतिप्रसिद्धपराक्रमो राम परशुराम सर्वाणि क्षत्राणि परिभूयापि क्षत्रादेव रामादाक्षरथे सकाशादप्या मन्यत परामव प्राप, तथा तेनेव प्रकारेणायमपि द्विजराज सर्वान्पद्मानभिभूय मकोचकरणापरामूयापि त्वद्वक्त्रपद्मा सकाशात्परिभूति परामवमेति । मकलपत्रियाचित्रय यया श्रीरामस्य तथा सर्वपद्माविक्रमं त्वमुत्पन्नस्येति भाव । 'वा पुमि पद्मम्' इत्यमर ॥ १३१ ॥

(कनकदन्त-पुत्र होनेसे) द्विजेन्द्र (ब्रह्मा) परशुरामकी जिस प्रकार क्षत्रियोंको पराजितकर क्षत्रिय रामचन्द्रबोले पराजित हुए, वही प्रकार यह द्विजेन्द्र (द्विजराज=

चन्द्रमा, सङ्घुचित्र करनेसे) कमलौकी पराजितकर तुम्हारे मुख्यरूप कमलसे पराजित हो रहा है । [१३१से सब क्षत्रियोंकी अपेक्षा रामचन्द्रजीको प्रबलतम होनेके समान सब कमलौकी अर्थात् दमय तोके मुत्तका श्रेष्ठ होना सूचित होता है] ॥ १३१ ॥

पौराणिक कथा—जनकपुरीमें सातारव्यवसरे शिवजीके पनुषको रोट-से रामचन्द्रजी पर कुछ द्रुप परशुरामजीको रामचन्द्रजीने पराजित किया था । यह बात बादगीत रामायणके अयोध्याकाण्डमें है ।

अन्त सलक्ष्मीक्रियते सुवासो रूपेण परये । हरिणेन पश्य ।

इत्येव भैमीमददर्शदस्य कदाचिदन्त स कदाचिदन्त ॥ १३२ ॥

अन्तरिति । हे परये चन्द्रदर्शनप्रवृत्ते भैमि ! हरिणेन पाण्डुरेण रूपेण वर्णेन कर्त्रा सुधाशोरन्त प्रान्तभाग पूर्वमध्रीकोऽपीदानीं सलक्ष्मीक्रियते सध्री क्रियते त्व परय । अथ च—चन्द्रस्य मध्य हरिणेन मृगेण कर्त्रा रूपेण स्वीयनीलवर्णेन कृत्वा असलक्ष्म सलक्ष्म क्रियते सलक्ष्मीक्रियते । सकलङ्क क्रियत इत्यर्थ । परय । एष स नल इत्यमुना प्रकारेणास्य चन्द्रस्यान्त पर्यन्तभाग कदाचिदक्षणाभात्त भैमीमदर्शत्वं दर्शयामास, कदाचिद्विद्यन्तर्मध्यभाग दर्शयामास । अङ्गुष्ठादिना चन्द्रश्चेतनीलप्रान्तमध्यभागप्रदर्शनपूर्वं शिष्टपदंस्तथा सह लीला चकारेति भाव इति मध्ये कथेत्कि । 'हरिण' पाण्डुर पाण्डु' इत्यमर । 'अन्त' इत्यन्तर-तमेकत्र, 'अन्त' इत्यप्ययमपरत्र मध्यवाचि । लक्ष्मी'शब्दस्य समासान्तविधेरनियतवाक्यभावे 'सलक्ष्मी'शब्दाच्छिव । पक्ष 'सलक्ष्म शब्दाच्छिव । परये, 'पात्रा-' इत्यादिना कर्तृयैव च । इदमुल्लेखपर्यव्यात् 'गतिशुद्धि-' इत्यणौ कर्तुर्णो कर्मस्वात्मैमीमिति द्वितीया ॥

'हे परये (चन्द्रमाका देवनेमें लग्न, दमदन्ति) । श्वेत वर्ण (सफेद रंग) चन्द्रमा के प्रान्त भाग ! शोमान्वितकर रहा है ('दा०—कलङ्कमक मृग चन्द्रमाके मध्यभागको कलङ्कान्वित (कलङ्क) कर रहा है) देगी, ऐसा कहकर उस नलने कभी चन्द्रमाका प्रान्तभाग का कभी मध्यभाग दमदन्तादि दिखलाया । [श्लेषयुक्त, 'अन्त, हरिणेन, सलक्ष्मीक्रियते' पदोंम चन्द्रमाका करके उम (चन्द्रमा, के प्रान्तभागस्य श्वेत वर्ण तथा मध्यभागस्य कलङ्कको दमदन्ती के निद दिखला दिखलाकर उमके साथ नल मोहा करने के] ॥ १३२ ॥

सागरान्पुनित्रितोचनोदराचद्रुयादजनि तेन कि द्विज. ? ।

एतमेव च भयश्रय द्विज पर्यवस्यति विधु किमत्रिज ? ॥ १३३ ॥

सागरादिति । अथ चन्द्र सागरात् पुनिविलोचनोदराच्चेतद्रूपाद्द्रुयात्सनाशात् घस्मादादि उत्पद्य, तेन कारणेन द्वाभ्यां जातस्याद् द्विज किम् ? एवमेव आनयंय रीपा द्वाभ्यां जातत्वादेव द्विजो भवत्यप्यय विधुरश्रेमुनेर्ज्ञा कि कथ पर्यवस्यति ? द्वाभ्यां जानये मायपि अत्रिमुनेरेव जात इति तात्पर्यवृत्त्या कथमुच्यत इत्यर्थ ।

अथ च—एवमेव यथानेन प्रकारेण द्वित्रयं, तथैवात्रिमुनिजो भवत्ययं द्वित्र पर्यव
स्यति किम् ? द्वाभ्यां जातत्वाद्यथा द्वित्र उच्यते, तथा द्विजादत्रिमुनेर्जातत्वादपि द्वित्र
उच्यते किम् ? द्विजोत्पन्नो हि द्वित्र एव भवतीत्यर्थः । अथ च—द्वाभ्यां जातत्वाद्
द्विजो भवन्नेव न त्रिभ्यो जायत इत्यत्रिज इत्येव तात्पर्यं नृत्त्या कथ्यते किम् ? यो
हि द्वाभ्यां जायते स त्रिजो न भवति, एवमेवायमत्रिज कथ्यते किमिरयं ।
अभ्योऽपि द्विजद्विजो न भवत्येव ॥ १३३ ॥

त्रिं कारणं यद् चन्द्रमा समुद्रे तथा अत्रिमुनिके नेत्रमध्यसे वन्द्य इमा द्वौ
कारणं यद् 'द्वित्र' (दोमे वरत्र) द्वे क्या ? और यदि इस प्रकार (समुद्र तथा अत्रिमुनिके
नेत्रमध्यसे वन्द्य) द्वे, तो 'अत्रि' मुनिके नेत्रमध्यसे वन्द्य होता हुआ यह चन्द्रमा 'द्वित्र'
(दोमे वरत्र) सिद्ध होगा द्वे क्या ? (दो कर्णों पर समुद्र तथा 'अत्रि' मुनिके नेत्रमध्यसे वरत्र
होनेसे जिस प्रकार यह चन्द्र 'द्वित्र' कहलाता है, उसी प्रकार 'अत्रि' मुनिके नेत्रमध्यसे
वरत्र होकर भी 'द्वित्र' कहलाता है क्या ?) अर्थात् एक अत्रिमुनिके नेत्रमध्यभागसे
वरत्र होकर दोमे वरत्र नहीं होनेके कारण यह चन्द्रमा 'द्वित्र' नहीं कहला सकता ।
अथ च—दोमे वरत्र होनेके कारण जिस प्रकार 'द्वित्र' कहलाता है, उसी प्रकार द्वित्र
(मन्त्र) 'अत्रि' मुनिके नेत्रमध्यसे वरत्र होकर 'द्वित्र' कहलाता है क्या ? अर्थात् 'हो'
द्विपुत्रको द्वित्र कहलाना उचित ही है । अथ च—दोमे वरत्र होनेके कारण 'द्वित्र' होता
हुआ अत्रिज (अत्रिज = नीलने अनुराग न कर्ण दोमे वरत्र) होनेसे 'द्वित्र' कहलाता
है क्या ? ॥ १३३ ॥

तारात्रिहारभुवि चन्द्रमयी चकार दन्मण्डलीं हिमनुव मृगनाभिनासम् ।
तेनैव तन्वि । सुकृतेन मते जिनस्य स्वर्लोक्तलोक्तिलकटमवाप धाता ॥ १३४ ॥

तारति । हे तन्वि कृशात्रि । धाना ताराणां नक्षत्राणां त्रिहारभुवि गगने चन्द्र-
मयी मण्डलीं तन्वि जिनस्य पुराणपुत्रस्य श्रीविष्णोर्मतेऽनुमतौ सत्या तदादिष्ट सन्
यच्चकार निर्ममे तेनैव सुकृतेन शोभनेन लोकोत्तरव्यापारण कृत्वा स्वर्लोकं स्वर्ग-
भुवनं ताम्रधन्विना त्र्येकानां सुराणां मध्ये तिलकत्वं श्रेष्ठमवाप । किंभूता मण्ड-
लीम् ? हिमस्य सुधारस्य भुजं स्थानभूतमतिशीतलाम् । तथा—मृगस्य नामो मध्ये
वासो यस्यास्ता, यस्या मध्य मृगोऽस्तीति यावत्, तादृशीन् । अन्येषां सुराणामे
तादृग्यापारकरणे सामर्थ्याभावाद् ब्रह्मैव श्रेष्ठोऽमृदित्यर्थः । अथ च—तारायां तु द-
ेव्या विहारस्थाने पूजास्थाने हिममुव शीतला, शुभ्रत्वाद्विमावश्रुता वा, तथा—
मृगानामे वस्तूयां वासं परिमलोऽवस्थानं वा यस्यां तां कस्तूरीमिश्रितां चन्द्रमयीं
कर्पूरमयीं मण्डलीं राशिं यच्चकार तेनैव पुण्येन जिनस्य मते शौद्धदर्शने ब्रह्मा सुर
श्रेष्ठत्वमधनं । वीड़ा हि तु द्वाद्वेवप्रासादे यस्तत्पूजायं कर्पूरकस्तूरीराशिं करोति ॥
सर्वलोकमध्ये श्रेष्ठो भवतीति स्वदर्शने प्रत्यपादयन्, ब्रह्मा चैवमकृतं तस्मा-

तदेनाकिनोऽसहायस्य स्याज्जवेत्, बहुमिरेक' पराजीयत इति युक्तमेवेत्यर्थः । य-
सिंहिकाया सुतो राहु म पुनरेकोऽन्योऽस्य प्रतिभट प्रतिमह पराभावुको राहुरेव
न खन्य इति । 'सप्रति' इति पाठे—अद्य पुनरस्यैक प्रतिभट य सिंहिकाया-
सुन स्यात् एकाकिनोऽस्य खन्मुखपद्म प्रतिद्वन्द्वी न भवति, अतुल्यत्वात्, किं
वेयाकी राहुरेवास्य प्रतिभटो युक्त इत्यर्थः । किञ्च स्वशत्रुमृताद्राहोरप्यस्यान्य परा
जय इति महदस्य कष्ट प्राप्तमित्यर्थः । अथ च—हरिद्वर्णया हरे सिंहस्य पत्न्या
सिंहिकाया प्रसूतस्य, तथा—मृग दाश वा य कञ्चन पशु जठरे निक्षिप्य भक्षयिष्या
स्थितस्य, अत एव सजातपुष्टशरीरस्य, अत एव हर्यंघ्रीभवत सिंहता प्राप्नुवतोऽस्य
खन्मुखाद्य पराजयोऽजनि स एकाकिन केवलापद्राद्राजादेव पराजय, सिंहस्य
गजाङ्गो यथा तद्देव तन्महर्षिप्रमित्यर्थः । अथ च—पद्मसख्याकादैकरय पराजय,
सिंहोऽप्येको बहुसरयै पराजीयत एवेत्यर्थः । अथ च—पद्माच्छरभादष्टपदादेव
भद्र सिंहस्य केवलमष्टापदादेव भद्र । पद्मचन्द्राभ्या मकाशाखन्मुखमधिकमिति
भावः । हर्यंघ्र केसरी हरि' इत्यमरः । 'गजाङ्गशरमा पद्मा' इत्यनेकार्थे भोजः ।
प्रथमपक्षे 'हर्यंघ्रि' शब्दाच्चिच्च, द्वितीयपक्षे 'हर्यंघ्र' शब्दादेव ॥ १३७ ॥

(ह प्रिये !) मृग या (मलान्तरसे) शत्रुको पेट (पक्षा०—मध्यभाग) में रखकर
स्थूल-शरीर बने हुए, इन्द्रपत्नी दिशा (पूर्वदिशा) से उत्पादिन अर्थात् पूर्वदिशामें
हृदयको प्राप्त तथा विष्णु भगवान्का (वाम) नेत्र होते हुए इस चन्द्रमाका तुम्हारे मुख-
कमलमें जो पराजय हुआ, वह एक (अमहाय) कमलस ही हुआ (यह चन्द्रमा भय-
पक्षीय पराजित नहीं होता था, किन्तु वह ही पराजित करता था, अत एक तुम्हारे
मुखकमलपर एक पक्षसे इसका पराजित होना आश्चर्यजनक है । अथवा—कमलकल्प
ह इन्द्र मुखपर एक पक्षमें ही हुआ, अथवा—'पद्म' सूर्ययक तुम्हारे मुख-कमलमें ही
हुआ—एक व्यक्तिका बहुत व्यक्तियोंमें पराजित होना उचित ही है) । जो राहु है, वह
इस चन्द्रमाका एक प्रतिभट (विजैय प्रतिभट) है । (पाठा०—इस समय इस चन्द्रमाका
एक प्रतिभट है, जो राहु है । एकाकी इस चन्द्रमाका प्रतिभट अममान होतेसे तुम्हारा
मुख-पद्म नहीं है, किन्तु एकमात्र राहु (इसका प्रतिभट सन्निधौ) है । अथवा—अपने
इष्टभूत राहुने भी इस चन्द्रमाका पराजय होना असाध्यजनक है । पक्षा०—हरिद्वर्णशाली
सिंहिनीने उत्तरप मृग या शत्रुको उदरमें रखकर स्थूल शरीर बने हुए अत एव सिंहस्य
(सिंह नहीं होते हुए भी सिंह) बने हुए इस चन्द्रमाका जो तुम्हारे मुखकमलस पराजय
हु १, वह एक 'पद्म' ('पद्म' जानीय) हाथीसे हुआ (अत एव) सिंहका एक दाशम
पराजय होना आश्चर्यकारक है । अथवा—एक चन्द्रमाका पराजय 'पद्म' सूर्यमाशालीने
हुआ—अत एव एक व्यक्तिका पद्मसूर्यमाशालीसे पराजय होना उचित ही है, अथवा—
एक सूर्यम सिंह बने हुए इसका पराजय 'पद्म' ('अष्टाद' नामक जन्तु-विष्णु) से
हुआ—अत एव 'अष्टाद'से सिंहका पराजय होना उचित ही है । तथा उत्तरप इस सिंह

का प्रतिमट जो एक है वह सिइनीका पुत्र अर्थात् सिद्ध है—मिह नहीं होते हुए भी मिह बननेव लेका प्रतिमट मिहको होना उचित ही है । पद्म तथा चन्द्रमा—दोनोंमा भा तुम्हारा मुख श्रेष्ठ है] ॥ १३७ ॥

यपूजा नयनद्वयोत्पलमयी वेधा व्यधात्पद्मभू-

वाक्पारीणरश्चि स चेन्मुखमय पद्म प्रिये । तावकम् ।

क शीताशुरसौ तदा ? मत्स्वमृगन्याघोत्तमाङ्गस्थल-

स्थास्तुस्वस्तटिनीतटावनिबनीवानीरयासी वक ॥ १३८ ॥

यदिनि । हे प्रिये ! वेधा नयनद्वयमेवोत्पल तन्मयी तट्पत्ता तद्वचिता यस्य पद्मस्य पूजा व्यधाद्व्यधयत् । यत् श्रीविष्णोर्नाभौ वर्तमानापद्माङ्गवतीति पद्मभू । स्वजनकस्य यस्य पद्मस्य पितृमहत्या नेत्रद्वयेनैव नीलोत्पलयुगेन महती पूजामकृत । वाक्पारीणा वाक् परासी भवा वाक्पा वर्णयितुमशक्या रश्मिरस्य सोऽय पद्मरचेता वक्र मुग्ध म एव भवन्मुखरूपो जान , अनन्तर ब्रह्मणा स्वपितृबुद्ध्या नेत्रनीलोत्पलाभ्या हृमपृष्ठावाद्भ्रमव मुखे नेत्रनीलोत्पले इत्यस्ते इत्यर्थ इति चेत्, तथा तर्हि अस्मी क्षीताशु नो नाम, अपि तु न कश्चित् । त्वन्मुखस्य पुरस्तादय, स्मरणा होऽपि नेत्यर्थ । तर्ह्यस्मी क इति चेत्तत्राह—अय वक । किंभूत ? वचमस एव मृगस्तरस्य व्याघ्रे हरस्तस्योत्तमाङ्ग शिरस्तद्वद्वये स्थले स्थास्तु स्थितिशीला स्वस्त टिनी गङ्गा तस्यास्तटाव-या तीरभूत्या या वनी महत्त्वपवा यत्कानन यत्र ये वानीरा वेतसास्तन्मध्यवामी । अत्रश्च हरजटाजूटवासीति प्रसिद्धम् । 'वाक्पारीणरश्चि' इति ब्रह्मनिशपण वा । अत्र यदवत्यस्य ब्रह्मणोऽपि सौन्दर्यं वागयोधर, तपितु पद्मस्य सौन्दर्यं मनमोऽपि गोधरो न भवतीत्यर्थ । त्वन्मुखस्य चन्द्रस्य च महद्गन्तरम्, साग्यसभावापि नास्तीति भाव । एतेन चन्द्रादिसुन्दरवृन्दं ब्रह्मणा सृष्टम्, भव दीयमुखपदम तु ब्रह्मणोऽपि स्रष्टृत्वात्सवाधिर्भमिति सूचितम् । 'मुखगुग्म' इत्यादिना चन्द्रस्यातिदे-य सूचितम्, त्वन्मुखसाम्प्रदायिकं तपश्चरण च सूचितम् । अन्योऽपि विशिष्टवस्तुमात्रे शिवस्थानयुक्तादीतीरवानीरयामी तपस्यति । नदीतीर-वानीरवासित्वं वक्तव्यम् । वाक्पारीणा, भवार्थे 'राष्ट्रावारपारादस्तौ' इत्यत्र 'अवार पाराद्विपरीतादपि विगृहीतादपि' इति वचनात् ॥ १३८ ॥

हे प्रिये ! (विष्णु भगवान्की नाभिके) कमलमे उत्पन्न ब्रह्मणे (कमलको अना पिता=उत्पदक होनेस) नेत्रद्वयरूप कमलमयी जिह्वा (कमल) की पूजा की, करनेसे भवजनीय वाग्निवाक्य वह कमल यदि तुम्हारा मुख है तो वह चन्द्रमा कैसा है ? (ब्रह्मणो ब्रह्मके भी पिता कमलरूप तुम्हारे मुखके सामने चन्द्रमा कुछ नहीं है । तब इस आकाशमें इदममन यह श्वेतवर्ण क्या है ? ऐसी उल्टा होनेपर यद् दशमत्रापदिके)

यशस्वी मृगके श्याव (शिवजी) के मस्तकमें रहनेवाली गङ्गाजीकी तीरभूमिके वन-
सम्बन्धी बेनोंमें रहनेवाला वगुणा है । [अथवा—कहनेसे अवर्णनीय कान्तिवाल, तथा
(विष्णु भगवान्की नाभिरश्च) कमलमे उदयन ब्रह्माने नेत्रद्वयरूप कमलमयी जिम (पितृ
स्थानीय) कमलकी पूजा की । जिम ब्रह्माकी कान्ति वचनातीत है, उसके पिता
कमलकी कान्तिका उससे भी उत्तम होना स्वभाव सिद्ध है और वह कमल तुम्हारा मुख ही
है, अथ तुम्हारे मुखकी कान्तिकी अपेक्षा चन्द्रमा कुछ नहीं है । हां, यदि वह है तो उत्तरूप
वह है, जो तुम्हारे मुखकी शोभा पानेके लिए गङ्गानोके तीरके वनमें निवास करता (हुआ
मानो तत्परा करना) है । लोकमें भी कोई व्यक्ति इष्ट सिद्धार्थ शिवजीकी प्रतिमाके समस्त
गङ्गाके तीरस्थ वनमें निवास करता हुआ तत्परा करना है । वगुणका जलाशयतीरस्थ बेनोंमें
रहना स्वभाव होता है] ॥ १३८ ॥

पौराणिक कथा—इक्ष्वाकुपतिके यक्षको मृगरूप धारणकर भागनेपर शिवजीने व्याधरूप
होकर उसका अनुसरण किया था ।

जात शातक्रतव्या हरिति विहरत कारुतालीयमस्या-

मद्यामत्त्रैकमत्यस्थितसकल कलानिर्मितेनिर्मलस्य ।

इन्दोरिन्द्वीशराम बलविजयिगजप्रामणीगण्डपिण्ड-

द्वन्द्वापादानदानद्रवलपलगनादङ्गमङ्गे विशङ्के ॥ १३९ ॥

जातमिति । अहमिन्दोरङ्गे बलविजयिन इन्द्रस्य गजप्रामणीर्हस्तिषु मध्ये
प्रधान प्राच्यामेव वर्तमानो यः पेशवतस्तस्य गण्डयो कपोलयो पिण्डयो शिरस्य
कुम्भस्थलयोश्च ये द्वन्द्वे गण्डद्वन्द्व पिण्डद्वन्द्व च त एवापादान निगमनस्यानयेषां
ते च ते दानद्रवलया मदङ्गल्लेशस्तेषां लभनात्मपक्षात् काकतालीयमाकस्मिक दैवा
स्मिद्धमिन्द्वीशराम नीलोत्पलपुष्प जातमङ्ग बलङ्ग विशङ्के मन्ये । किमूतस्येन्दो ?
अस्यामङ्गुलीनिर्दिष्टायां पुरोदरयायां शातक्रतवी तस्या हरिति विनि
विहरत उद्गच्छत । तथा—अस्यामक्षे विषये ऐकमत्य सर्वसंवादस्तेन तत्र वा
स्थिताभिर्वर्तमानाणि सकलाणि पञ्चदशभिरपि कलाभि कृत्वा निमित्तिर्यस्य ।
अस्यामवैकमत्येन स्थिता सकलकलानिनिमित्तस्य तादृशस्य । अत एव—निर्मलस्य
प्रत्येक कलानां भावस्यस्य दृष्ट्वाद्बलमकलकलानिर्मितरवाकारणभावद्वयाद्बलस्य,
अस्यामवैकमत्ये स्थिता या सकला कलास्तामिमां निर्मितस्तस्या वा हेतोर्ध्व
रूप । पूर्व कारणभावद्वारासकलोऽप्ययं धवल प्वामूर्त्त, पश्चात् पूर्वदिग्भ्रमगवशा
त्तत्रैव भ्रमत पेशवतस्य कपोलकुम्भस्थलगलमदङ्गल देववशात्तान् तेनाय मध्ये
कालं प्रतिमार्तात्यर्थं । तात्तत्कृते यदेव काकस्यापवेशनम्, तदैव दैवाद्याकस्यो
परि नाळकपात इति काकतालीमिव, 'समासाच्च तद्विषयात्' इति छ । निमित्ते,
पक्षे हेतो पद्ममी ॥ १३९ ॥

इम इन्द्र-मन्त्रिणी (पूर्व) दिशाने विहार करते हुए तथा सर्वसम्पन्नि स्वरूप सम्पूर्ण कलाओंमें रचे गये (अथवा— रचनेके कारण) निम्न चन्द्रमाके नील कमलके समान कान्तिवाले कन्दुको इलविजयी (इन्द्र) के इच्छिप्रधान देवावतके दोनों कपोल तथा दोनों कुम्भमें निकले हुए दानवजके लगनेमें काकजालाय व्यापके तदत्र दुभा मानग ह । [तत्त्वज्ञके नीचे बैठे हुए कौवेके ऊपर सदा लाटफले गिरने-जैसा सदा अतर्क्य जोड़ काज होनेपर काकजालाय व्यापका प्रयोग होता है । पूर्व दिशाने उदित चन्द्रमा पहले स्वमन्त्र स्वकल-वन्त सब कलाओंमें रचे जानेसे निम्न था, किन्तु वहापर पुनर्दिशाने विहार करते हुए चन्द्रमाके मध्यमें सदा पूर्वादिशाने स्थित देवावतका कृष्णवर्ण मङ्गल लग गया, नीलकमलके समान कलावा वह मङ्गल ही कन्दुरूपमें प्रतीत होता है, ऐसा न मानग ह] ॥ १३९ ॥

अश पोडशमामनन्ति रजनीमर्तुं कला वृत्तय-

न्त्येन पञ्चदशैव ता प्रतिपदाद्याराकयद्विष्णव ।

या शेषा पुनरुद्धृता तिथिमृते सा किं ह्यलङ्कृति-

स्तस्या स्थानयित कलङ्कमिह किं पश्यामि सस्यामिकम् ? ॥१४०॥

अशमिति । हे प्रिये ! लोका रजनीमर्तुं पोडशमश कलामामनन्ति साय कथ यन्ति, ताश्च पोडशाशरूपा प्रतिपदादियस्मिन्कर्मणि राका पूर्णिमामभिन्याप्य वद्विष्णव प्रतितिथि एकैककलाभिवृद्धया वर्धमाना पञ्चदशसरयाका एव कला पुन चन्द्र वृत्तयन्ति वर्तुल कुर्वन्ति, निधिसस्यामाग्यात्पूर्णमण्डल कुर्वन्तीत्यर्थ । या पुन कला पोडशी तिथिमृते उद्धृता प्रयोजनाभावाच्चन्द्राद्विह कला सा पोडशी कला शेषा पञ्चदशकलाभ्याम्वशिष्टा मती, यद्वा-पोडशी निधि बिना प्रयोजनाभा वाशशिष्टा सा निष्प्रयोजनत्वादुद्धृता चन्द्राद्विनिष्कासिता सती ह्यलङ्कृति शिवशिरोभूषण जाता किम् ? चन्द्रे प्रयोजनाभावादालङ्कृतिरिवाभूङ्किमित्यर्थ । अह तस्याधोद्धृताया पोडश्या कलाया सस्यामिकनमोर्नीलिम्ना सह वर्तमान रयानस्य पूर्वावस्थिते मन्त्रिणिल विवर तत्कालानवस्थित्या कृत्वा शून्य नील मनोभागमेवेह चन्द्रमण्डलमध्ये कलङ्क पश्यामि किम् ? मध्यवर्तिनील तस्यानयिलमेवाह कलङ्कत्वेन शक्ते इत्यर्थ । 'शेष शब्दस्याभिधेयलिङ्गत्व पूर्वमेव दर्शितम् । 'पूर्णे राका निशाकरे' इत्यमर । वृत्तयन्ति, 'तत्परोति-' इति णिच् । वद्विष्णव , 'अलङ्कृन्-' इतीप्पुच् । तिथिमृते, 'कृते नलाशाम्' इतीवत् । स्यामिका, मनोज्ञादेराकृतिगणत्वाद्भावे जुञ् ॥

(विद्वान् लोग) निशाचरि (चन्द्रमा) के सोलहवें भागको 'कला' कहने हैं अर्थात् चन्द्रमाकी सोलह कला बतलाने हैं, (शुक्लपक्षकी) प्रतिपदा तिथिमें पूर्णिमातक बढनेवाली वे पन्द्रह ही कलाएँ हों (चन्द्रमाकी) कलुलाकार बताती हैं, तिथिके बिना बाकी बची हुए जो कला चन्द्रमासे निकली गयी, वही शिवजीका अलङ्कार (शिरोभूषण) है क्या ?

और चन्द्रमाने अलग की गयी उस एक कलाके कृष्णवर्णवाले स्थानके रिक (रिक = शुद्ध स्थान) को हम चन्द्रमाने कहल देल गे हू । [चन्द्रमाकी सोलह कलाएँ हैं, और एक एक निधियोंमें एक-एक कला हो बडती है, हम प्रसार शुक्लपञ्चकी प्रतिरक्षा निधिये पूर्णिमा तक पन्द्रह कलाएँ ही चन्द्रमा मोलाकार (पूर्ण) बना देती हैं, किन्तु कलाओंको सोलह तथा निधियोंक पन्द्रह होनेसे एक चन्द्रकला बच जाती है, जो शिवजीका शिष्य शिवोभूषण बनकर रहती है और उस एक कलाका स्थान पूर्णचन्द्रमें रगानो रहल है और नीलागामे लमिनि उमो रिक स्थानका हम चन्द्रमाने मध्यमें कुण्डवर्ण कलकल्पने में लेते हैं] ॥ १४० ॥

उद्योत्सनामादयते चकोरशिथुना द्वाधीयमी लोचने
निष्पुमूलमिषोपजीवितुमित सन्तर्पणात्मीकृतात् ।

अहो रङ्गमय करोति च परिरुप्रष्टु तदेवाहत-

स्त्रद्वक्त्र नयनश्रियाऽप्यनधिक मुग्धे । रिधित्सुविधु ॥१४१॥

उद्योत्सनामिति । हे माये सुन्दरि ! त्वद्द्वक्त्र वृत्तावादिगुणं समानमपि नयन श्रियापि हृत्वा नधिक समानमेव विधुम्, अत एव स्वस्य द्वाधीयसी अतिदीर्घं लोचने निष्पुमूलमिषोपजीवितुमित सन्तर्पणात्मीकृतात्-येन स्वोया उद्योत्सनामादयते अद्ययति । तत्रोद्योयते-चन्द्रिकाभूतपापनृत्नम-द्वक्त्रमहो निरालास्त्ववशीकृतादिन चकोरघालकारसकाशांमूल स्वचन्द्रिकायात्-इन्द्रस्य अनिदीर्घनेत्रद्वयमुपजीवितुमादातुमिष । यद्वा-यत्किंचित्स्वस्य चन्द्रिकापदयो कपोलः ततो नेत्रद्वयलक्ष्मी प्रापया मूल चन्द्रिकारूपधन वर्धयितुमिष । इति च ॥ एवाप्याऽप्यनर्गस्य किंचिद्वा त वशीकृत्योत्तममिष्ट वस्तु ततो गृह्णाति । निरालसपर्कात् च आहत आहरयुक्त सञ्चरे मध्ये, अथ च-उत्तरे, रङ्ग च करोति । इति कलङ्क वि लालयतीत्यर्थः । किमर्थं मिष्याशङ्कयाह-तन्मूलभूतमनिविशाल तद्विरिय त्रयुगल परिरुप्रष्टुमिव स्थलान् कर्तुमिव, स्वमुपसाधयनिमित्तरमणीयनेत्रद्वय-रूपेदनायाय चन्द्रचकोरहरिणी चञ्चयतीत्यर्थः । चन्द्रादुद्दृष्ट-तन्मुग्धमिति भावः । 'परिरुप्रष्टु' इति पाठे एतन्नेत्र रामणीयकप्रापयुपाय प्रष्टुमिवेत्यर्थः । निष्ठ सुप्रनार्य इति सूचयितु 'निशु'पदम् । आदयते, अर्देनितारणार्थवेऽपि 'अर्दे प्रतिपेधो वक्तव्य' इति वक्ष्यतात् 'नितारण-' आदि (सूत्रेण) परस्मैपदाभावे, 'जिघरच' इति तद्ध । निशुना, 'आदिगम्योर्न' इत्यगौ कर्तुर्गौ कर्मत्वाभावः । द्वाधीयमी अनिनायने हृषसुनि 'प्रियरिधर-' इति । द्वाधादेशः । लिप्सु, विधिसुरिनि च, 'न लोका-' इति यष्टीनिषेधः ॥ १४१ ॥

हे सुन्दरि ! (आलादकल, वृत्त एव औन्दर्पादि गुणोंसे समान मो) तुम्हारे मुखको नेत्रकोमाने समान करना चाहता हुआ (अत एव अपने) बड़े-बड़े नेत्रद्वय पानेका शत्रुक तथा आपहवान् (तत्पर) वह चन्द्रमा (अपनी चन्द्रिकाको खिजाकर) भरपूर

मत्तुष्ट होकर वशीभूत हुए इस चकोर-शिशुमें मूल (अपनी चन्द्रिका खिलानेके हेतुभूत हम चकोर-शिशुके नेत्रद्वय) को मानो लेनेके लिए (अथवा—अपनी साधारण चन्द्रिका देकर उसमें श्रेष्ठ (चकोर-शिशुके) नेत्रद्वयको लेनेसे साधारण चन्द्रिकारूप मूल धनको माना बढ़ानेके लिए—लोकमें भी अज्ञाना गण लेनेवालेकी धन देकर उसमें अपने मूल धनको बढ़ाना है) इस चकोर शिशुको अपनी चन्द्रिका खिलाना है, और उसा (मृग-सम्बन्ध या नेत्रद्वय) को पानेके लिए मृगको अपने अङ्ग (मध्यमाङ्ग, पञ्चा०—कोट) में करना है । (पाठा—विशाल नेत्रद्वयको (पात्रका उपाय) पूछनेके लिए) ।
[लोकमें भी वीर व्यक्ति किमीके बन्धुकी बहुमूल्य वस्तु लेनेके लिए जिस प्रकार उस बन्धेका काँध मधुर वस्तु मिठाई आदि खिजाना है और उससे उसे वशीभूतकर उसकी बहुमूल्य वस्तुका लालसा है, उसी प्रकार यह चन्द्रमा तुम्हारे मुखके समान ही है, परन्तु नेत्रमात्र होनेसे उसे भा पाकर नेत्रक भी समान बननेके लिए चकोर शिशुको चन्द्रिका खिलानेके उपाय वडे-वडे नेत्रद्वयको पाना चाहना है तथा मृगको अपनी गोदमें रखकर उसके भी बडे-बडे नेत्रद्वयको अपनेमें सज्जन करना (पाना) चाहना है] ॥ १४१ ॥

लावण्येन तवास्यमेव बहुना तत्पात्रमात्रस्पृशा

चन्द्र प्रोच्छन्नलब्धताऽर्द्धमलिनेनारम्भि शोषेण तु ।

निर्माय द्वयमेतदप्सु विधिना पाणी खलु क्षालितौ

तल्लेशैरधुनाऽपि नीरनिलयैरम्भोजमारभ्यते ॥ १४२ ॥

लावण्येनेति । हे प्रिये ! बहुना क्वचित्पात्रे सचितेनाखिलेन लावण्येन कृत्वा तवास्पमेवारम्भि निर्मितम् । चन्द्रस्तु पुनस्तस्य लावण्यस्याधारपात्रस्पृशतीति स्पृक्षतेन लावण्यस्थापनपात्रमात्रलभ्येन, अत एव प्रोच्छन्नेन पात्रनिर्घर्षणेन कृत्वा वा लब्धनोपाग्राह्येन तेनार्धं कियत्खण्ड मलिन यस्य तेन किञ्चम्मलिनेन शोषेण भवन्मुख-निर्माणावशिष्टेनाशेन कृत्वारम्भि निर्मित, अत एव शबलमण्डलोऽप्यशोभत इत्यर्थः । शोषेण तु निर्मित इति वा । विधिना एतत्स्वमुखस्याङ्गलक्षण द्वय निर्माय घट्टाऽप्सु पाणी क्षालितौ खलु लावण्यलेपकृतजञ्जालनाविव । तस्मात्तस्य क्षालनरजोमिलित लावण्यलेपस्य लेशैरक्षरैरक्षरैर्य कर्तुमिदधुनापि नीरनिलयैर्जलस्यापिमि सद्भिरम्भोजमारभ्यते निर्मायते, कमलनिर्माणे ब्रह्मणः कोऽपि प्रयासो नेत्यर्थः । कमलाचन्द्रोऽधिक, तस्मादपि स्वमुख लावण्यसाकश्येन निर्मितत्वादधिकमिति भावः । अम्भोजम्, लायेकत्वम् ॥ १४२ ॥

(हे प्रिये !) गङ्गाने बहुत (किसी पात्रमें रख गये सम्पूर्ण) सौन्दर्यमे तुम्हारे मुखको तथा उस पत्रमें लगे हुए और पात्रको पोंछनेमे आधी मलिनतामे युक्त (पात्र लपन) शेष सौन्दर्यमे चन्द्रमाको बनाकर और इन दोनों—तुम्हारे मुख तथा चन्द्रमाको बनाकर भव रूपमेव पानीमें दोनों हाथोंकी घोसा, (हाथ धोनेसे) पानीमें गिरे हुए उसी (सौन्दर्य)

चपक पानपात्र यस्मिन्नेवमूत इवायमिति अभिधानाय वर्णनाय वर्णयितुं सुशक्तं
मुनेन शक्यं । चन्द्रो घावद्वाद् वृत्तत्वाच्च पीयूषरूपं सूर्यकान्तमग्निक इव, कलङ्कश्च
नालमग्नियदित चपकमिव हरयते परयेत्यर्थः । यथा मग्निकस्योदकाद्युद्धरणाय मग्निक-
मुने चपक स्यात्पठते, तथा ताराभि परस्पर मिलित्वा सुधापान कर्तुं परिवेष्टितस्य
मुधापूरितस्यास्यापि चन्द्रमग्निकस्य मुने सुषोद्धरणाय शशनामा नीलमग्नियपको
निक्षिप्त इत्युपप्रेक्षितुं शक्यते इत्यर्थः । 'चपकोऽग्नौ पानपात्रम्' इत्यमरः । सशोते,
श्रोतसजनस्य' इति वा 'सहस्य स सज्ञायाम्' इत्यत्र 'सहस्य स' इति योगवि-
भागाद्वा सहस्य स । कविभिः, लवर्णयोगाच्च पद्यौ, सुशक्त इति खलु ॥ १४३ ॥

हे प्रिये ! सम्यक् प्रकारको प्रीति होनेके कारण साथमें पान करनेमें (मधवा—माधवे
पान करनेमें सम्यक् प्रकारको प्रीति होनेसे) तारा—मधुरसे युक्त चन्द्रमा सूर्यकान्तमग्निके
पात्र से बनाया गया (सुधा रखनेका) कलश है और शशक उभने सुधा निकालनेके
लिए नीलमग्नि (नीलम) से बनाया गया प्याला है' ऐसा बयन करना उपप्रेक्षा करनेवाले
आह्लादि कवियोंके शिर बहुत सरल (एवं मनुजित) है । [स्वच्छरत्नं चन्द्रमा सूर्यकान्त
मग्निके बने हुए सुधापात्रके समान तथा उभके मधुरत्व कुम्भरत्नं शशकाकार कलश सुधा
निकालनेके लिए छटे प्यालेके समान प्रयोज्य होता है, कवियोंको ऐसी उपप्रेक्षा करनी
चहिये] ॥ १४४ ॥

आस्य शीतमयूषमण्डलगुणानारुण्य ते निर्मित

शङ्खे सुन्दरि । शर्मरोपरिदृढस्नेनेनैव दोषाकर ।

आदायेन्दुमृगादपोह निरिते पश्यामि मार दशौ

स्वद्वक्त्रे सति वा विधी धृतिमय दध्यादनग्न्य' कुत ? ॥ १४५ ॥

आस्यमिति । हे सुन्दरि ! विभिन्ना शीतमयूषस्य मण्डलविम्ब तस्य दृष्टवाद्वा
दृक्वादिगुणानारुण्य गृहीत्वा ते आस्य यत्रो निर्मित वेग गुणगोचर्येण द्रुमा
शवर्षा परिदृढ प्रमुञ्चद्गो दोषानामाकर उदयतिस्थान, न तु दोषा रात्रिराकारि
रात्रेपाकर इत्यर्थ इत्यह शङ्खे । तथा—इन्दुमृगात्मकाशास्तर दत्तावाशाय अति-
श्रेष्ठ नेत्रे गृह्णात्वा इह मयः मुने निहिते इत्यह जाने । कुनो ज्ञानमित्यत आह—
सुन्दरतरे स्वद्वक्त्रे आगच्छ मति अनन्वक्षन्नुभमानुमयतारतम्यविचारवतुरोऽय मृगो
विष' चन्द्रे रश्मि स्थितिम्, अथ च—समाचोनाधारपरिताप, कुत्रो वा दध्याद्वारयेत्,
अपि तु न कथयित्, नहमान्नेत्राद्वारगाद'वक्षेनेव स्व'मृगरामगोपकादशनादन्यत्र
गन्तुमशक्तेनैव स्व'मुष त्यक्त्वात्रैशय स्थित इत्यर्थः । स्व'मुष चन्द्रादधिकम्, नेत्रे
च मृगेनाभ्यामधिक इति भावः । 'सारे' इति उपप्रेक्षा ॥ १४६ ॥

हे शशक ! (मन्त्रने) चन्द्रमण्डले (आकारकभादि) गुणोका निक्षिप्तकर प्रसारे
मुद्रका बनाया, इसी कारणसे निधानाय यह चन्द्रा दोषाकर (शवर्षका खजाना, पञ्चा—

रात्रिको करनेवाला) हुआ और चन्द्रमाके मृगते (कृष्णत्व, चापत्य तथा वन्मादकत्वादि गुणोंको लेकर सारभूत अर्थात् श्रेष्ठतम) तुम्हारे नेत्रद्वयको बनाया, ज्ञायया यदि यह मृग नेत्रहीन होनेसे अन्धा नहीं हो गया होता तो (चन्द्राधिक सुन्दर) तुम्हारे मुखके विद्यमान रहनेपर इस चन्द्रमामें हो धैर्यको कैसे धारण करता ? अर्थात् चन्द्रमाको छोड़कर चन्द्रा त्रिक सुन्दर तुम्हारे मुखमें आकर रहने लगना [परन्तु उसके वैसा नहीं करनेमें हान होना है कि सारभूत मृगनेत्रको तुम्हारे मुखमें रखनेके कारण यह चन्द्रमा अन्धा हो गया है । लोकमें भी कोई अन्धा व्यक्ति उत्तम स्थानको जानेमें असमर्थ होनेमें हीन स्थानमें ही एनोवपूषक रहता है । तुम्हारा मुख चन्द्रमामें तथा नेत्र मृगनेत्रसे अधिक सुन्दर हैं] ॥१४५॥

शुचिरुचिसुहुगणमगणनममुप्रतिकलयसि कृशतनु । न गगनतटमनु ।
प्रतिनिशराशितलत्रिगलदभूतभृतरविरथहयचयनुरयिलकुलमिव ॥ १४६ ॥

शुचोति । हे कृशतनु ! त्व गगनतट नम स्पलमनु छड़ीहृत्प शुचिरुचि रवेत्-
कान्ति, तथा—वहुराकाशगगन सख्यातुमशक्यममुमहृत्पथा निर्दरय प्रत्यक्षगम्य
सुहुगण प्रतिनिश राश्री राश्री राशितलाश्चन्द्राधोभागाद्विगलता खवताभूतेन भृत
पूर्ण रविरथस्य हयचयस्य खुराणा यानि विलासि न्यामस्यानविवराणि तेषां कुल
चन्द्रमिव मातिशयेन कलयसि, अपि तु तद्विवाहितरा जानीहीर्यथ । प्रतिनिश
चन्द्राद्गलता धवलेनाभूतेन पूर्ण सूर्याश्चनुरगतां हव तारका शोभन्त इति भाव ।
गगनतटम्, कर्मप्रवचनीययोगाद् द्वितीया । प्रतिनिशम्, बीप्सायामव्ययीभाव ।
सर्वलघु ॥ १४६ ॥

॥ कृशतनु ! (तुम) आकाशतटको लक्ष्यकर स्वच्छ कान्तिशक्ते अगणिता तारा-ममूह
का प्रत्येक रात्रिमें चन्द्रमाके अन्धोमागते बहने हुए अमृतने परिपूर्ण, सूर्यरथके घोड़ोंके
-सुरोंसे बने दिग्-समूहके समान सम्यक् प्रकारसे नहीं जानतो हो क्या ? [दिनमें चलते
हुए सूर्यरथके घोड़ोंके सुरोंसे वस अमृतपूर्ण स्थानमें भिन्न हो गयी हैं, जो प्रत्येक रात्रिको
चन्द्रतटसे होते हुए अमृतस्नानमें पूरा होकर तारा-ममूह ज्ञान होती हैं] ॥ १४६ ॥

उपनतमुहुपुत्रजातमास्ते भवतु जन परिचारकस्तत्रायम् ।

तिलतिलञ्जितपर्पटाभमिन्दु नितरनिदेशमुपास्त्व पञ्चवाणम् ॥ १४७ ॥

उपनतमिति ॥ हे प्रिये ! 'रक्तो भौम, शानि कृष्ण, गुर पीत, सित कवि'

इत्यादिग्योति शास्त्रादिप्रामाण्याज्ज्ञानावर्गाकृतीन्पुद्गलि नचत्राप्येव पुत्रजातमुपनत-
मुपसपन्नमास्ते अय मल्लचणो जन. प्रारब्धकामदेवपूजायास्तव परिचारकश्चन्द्रना-
द्युपचारोपनायक, अथ च—समो गकारो भवतु । त्व तिले सजाततिलक, तिले
रत्न तिलकान्कृतो वा य. पर्पट शास्त्रिण्डुलपिष्टरचितध्रिपिटस्निलमकुलीसत्र
उपदशविशेषरत्नद्वयाभा यस्य तत्तुल्य सकलकृमध्यत्वाद्विशिष्टपर्पटसदृशमिन्दुमेव
निवेद्य कामाय वितर, एव पञ्चवाण कामदेवमुपास्त्व पूजय । अन्योऽपि देवपूजक

पुष्पादिसामग्रया देव पूजयति, कश्चित्परिचारकोऽपि तस्य भवति, एवमत्रापि ।
सर्वाणि नष्टप्राण्युदितानि, कामोद्दीपकश्चन्द्रोऽप्युदितः । सुरतान्तरायकारी निषिद्ध
संभ्याममयोऽतिष्ठान्तः, तस्मात्काममुपास्व, सुरतेऽदुररमीति भावः । 'पञ्चबाणम्'
इत्यनेन कामस्यातिपीडाकारिण्युच्यते । 'जातिर्जाति च सामान्यम्' इत्यभिधानात्
'जातः' शब्दः सामान्यवाची पुष्पमात्रे पर्यवस्यति । तिलकितेति तारकादि मनु
यन्तात् 'तत्करोति-' (य० सू० २०४) इति ण्यन्तास्त्रिष्टा ॥ १४७ ॥

(हे प्रियतमे दमयन्ती !, लाल, पीला, श्वेत, कृष्ण आदि अनेक वर्णोंवाले) तारारूप
पुष्प-समूह उपस्थित है (लाल रखा हुआ है), यह व्यक्ति तुम्हारा परिचारक (दास)
बन (देवपूजा करनेवाला) तुम्हारी पूजासामग्रियोंको लाने आदिमें मैं सहायक बनूँ)
निम्नोक्त तिलकसे युक्त पण्ड (चावलके धूलका बना हुआ मध्यमें तिलयुक्त गोलाकार मध्य
पन्था-विशेष, जिसे 'तिलकुट' कहते हैं) के समान कान्तिवाले इस चद्रमाको (कामदेवके
लिए) नैवेद्य समर्पण करो और इस प्रकार कामदेवकी पूजा करो । [पूजामें पुष्प, नैवेद्य
तथा एक सहायक की आवश्यकता होती है, अतः एव तारारूप पुष्पसमूह, चद्ररूप नैवेद्य
मैं सहायक परिचारकरूपमें उपस्थित हूँ इस प्रकार पूजाकी एवं सामग्रियोंको उपस्थित
होनेसे तुम मुझ परिचारकको आदेश दो, जिससे मैं पञ्चबाण अर्थात् कामदेवकी पूजामें
सहायक बनूँ । चूँकि कामदेव 'पञ्चबाण' है, अतः उसकी यथावसर पूजा नहीं करनेसे वह
उन बाणोंद्वारा दण्ड भी देगा, यह 'पञ्चबाण' पदसे ध्वनित होता है । उद्योतक चद्रमाका
वर्णन करनेसे रमणेच्छुक नरने रमण करनेके लिए दमयन्तीमें ऐसा कहा] ॥ १४७ ॥

इदानीं काव्यसमाप्तिं चिकीर्षुं श्रीहर्षो नायकमुखेनाश्रयमाशास्ते—

स्वर्भानुप्रतिधारपारणमिलहन्तोघयन्तोद्भूत

श्वध्रालीपतयालुदीधितिमुधासारस्तुपारवृत्तिः ।

पुण्येन्द्रासनतटिप्रदापरिणयानन्दामिपेकोत्सवे

देव प्राप्तनन्दस्त्रधारकलणश्रीरस्तु नस्तुष्टये ॥ १४८ ॥

स्वर्भानुरिति । हे प्रिये ! देव प्रकाशमानस्तुपारवृत्तिहिमकर, अथ च—
हिमकर एव देव, वर्णना पूजा च कुर्वता मोऽरमदादीनाम्, आवयोर्वा तृष्टये परमा
नन्दायास्तु । किम्भूतः ? स्वर्भानो राहो प्रतिवार पौन पुन्येन यत्पारण चन्द्रस्यैव
मिलत तेन तत्र वा मिलत् सल्लो यो दन्तौघस्तद्रूप यत्र द्विद्वरणासाधन तस्मा
दुद्भवो यस्याः सा श्वध्रालीदन्तदशनकृतविग्रपर-परा तथा तस्या सकाशाद्वा पत
यालु पतनशीला दीधितिमुधा किरणामृत तद्रूप, दीधितिमुधाया वा मार श्रेष्ठ
मातो यथा, दीधितिमुधाया आमारो धारासम्पातो दीधितिमुधारूपो वा आमारो
पश्य स । अत एव—पुष्पमेन्द्रासन-धनुषस्य तस्य कामस्य सतिप्रदाया रस्याभा
मयोर्ध्वं परिणयो विवाहो लक्षणा परस्परममेलन तद्रूपो य आनन्द सतोपस्ताम-

चन्धिनि 'ममुद्रज्येष्ठा-' इत्यादिश्रौतेऽभिषेकाख्ये उत्सवे महाभिषेकार्यं सहस्रसख्या
धारा लोहशलाकानिर्मितजलप्रवाहमार्गा यस्य स तादृशो य कलशरतस्य श्री,
प्राप्ता सहस्रच्छिद्रगलजलधारकलशस्येव श्री शोभा येन स । महोत्सवे हि सहस्र
धारेण सुवर्गकलशेन महाभिषेकं क्रियते । तथा च राहुदन्तकृन्धिद्रपरम्परा-
गलदमृन्धारश्चन्द्रो गलज्जडधारसहस्रच्छिद्रसुवर्गकलश इव शोभमान पूर्वोक्तवर्गन
योक्तविधवत्कृतपूजया च सुरतप्रवृत्तयोरावयोद्दीपकतया परमानन्दं कुर्यादिति
भाष । एतेन तःसमयोचितरतिक्रामविवाहोत्सवाभिधानेन 'चन्द्रोऽस्तु नस्तुष्टये'
इत्यनेन च विलासिमा मलेन स्वनिर्वर्त्यतृतीयपुरपाथंपयोधिपोयूपरसास्वाइनलाळ
माभित्यज्यते । 'सुधाधार-' इत्यपि पाठे-दीधितिमुधाया धारा यस्य सुधाया आधार
इति वा । 'आमम्' पदेन 'तुष्टयेऽस्तु' इत्याशिषा च ग्रन्थसमाप्तिं द्योतयति । महा
भारतादौ वर्णितस्याप्युत्तरमलचरित्रस्य नीरसवाद्यादकानुदयवर्गनेन रसमज्ञसद्भा
वाच्च काम्यस्य च सहस्रव्याह्वानफलावाद्याश्रोतारचरित्र श्रीहर्षेण न वर्णितमिष्यादि
ज्ञातव्यम् । न इति पदे 'अस्मदो द्वयोश्च' इति द्विवेशि बहुवचनम् ॥ १४८ ॥

(६ मिये !) राहुके प्रत्येक बार निगजनेने सज्जन (परस्परमें समिन्त्रि) होने हुए
दन्त-समूह मर्दान कर नीचेका दन्तपक्षिखर (छेद करनेके) यज्ञने वनत्र हुए छिद्र-
ममूरते गिरता हुआ (चन्द्रमाकी) किरणरुनी अवृत्तकरवार (अष्टभाग, या—आमार-
धारामे होनेवाली वृष्टि) बाणा, और कामदेव तथा रतिके विराड् (समिन्त्र) रूप आन-
न्दकारक अभिषेकाख्यने सहस्र-वागाओंने युक्त कर्मकी शान्माको प्राप्त होउछुति (वरमा)
यह देव हमन्गों (चन्द्ररुति वा चन्द्रपूजा करनेवाले हम सबों, या—हम दोनों) के
परमानन्दके छिर होवे । [कौ-पुरुषके विराड्के बाद महस्र छिद्रयुक्त कलमने अभिषेक
कराया जाता है, चन्द्रमा भा बार-बार मशकाओंने राहुके दोनों दन्तपक्षिखर वनके
बीचने पकटकर सहस्र छिद्रोंमे युक्त होकर अवृत्तसाव करता हुआ उक्त अभिषेक-कर्मके
समान होता हुआ काम-मित्र होनेसे कामपूजन (काम-धाम्नुति = उत्कर्म (११, ११-
१४७) मे कामदान करनेवाले हमन्गोंके परमानन्दके म्रिय हो । यहा मञ्जने तृतीय
पुखार्थ 'काम' का प्रसन्न होनेसे वनेकी आज्ञा की है । मशमारन अदि पुराणोंमे वर्णित
मलका अवशिष्ट चरित दुखद एव नीरस प्राय होनेसे महकवि श्रीहर्षने मृशारूपी सरस
नम्रचरितका वर्णन करनेके बाद ही हम मशकाओंको मनात करनेके उद्देश्यने प्रथम नादक
मञ्जके मुखने 'आशावादानक' होनेसे मञ्जकायक आज्ञा कराकर ग्रन्थको समाप्त किया
है । अत एव कुछ मन्त्रांकोका यह कथन ठीक नहीं है कि—'कविचन्द्रा-आदर्शने आगे
औ नम्रके चरितका वर्णन किया होगा'] ॥ १४८ ॥

श्रीहर्ष कविराजराजमुकुटालङ्कारहीर सुन

श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियवय मामल्लदेवी च यम् ।

द्वाविंशो ननसाहसाङ्गचरिते चम्पूकृतोऽय महा-

काव्ये तस्य कृतौ नलीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १४६ ॥

श्रीहर्षमिति । द्वाविंशते पूरण सर्गो गत समाप्तिं प्राप । किंभूतस्य श्रीहर्षस्य ? नयो य साहसाङ्गो नाम राजा तस्य चरिते विषये चम्पू गद्यपद्यमयी कथा करोतीति कृतं तस्य निमित्तवत् सोऽपि ग्रन्थो येन कृत इति सूच्यते 'नृपसाहसाङ्ग-' इति पाठे नृपञ्चासौ साहसाङ्गश्च तस्य गौडेन्द्रस्य चरिते विषये चम्पूकृत भोजराजस्य विजयमार्गस्य वेति केचित् । द्वाविंश इति पूरणे दृष्टि 'ति विंशतेर्द्विति' इति तिङोप ॥

कवीधर-समूहके कथा, नये (पाठा-राजा) 'साहसाङ्ग' नामक गौडेन्द्राधीशके चरितम् 'चम्पू' काव्यको रचना करनेवाले उस (श्रीहर्ष) के रचित्र, 'नलचरित' अर्थात् 'नैषधचरित' नामक महाकाव्यमें स्वभावतः सुंदर यह वादसर्ग सर्ग समाप्त हुआ । (शेष व्याख्या चतुर्थ सर्गके समान जाननी चाहिये) ॥ १४९ ॥

अथ कविप्रशस्तिः ।

यथा यूनुस्तद्वत्परमरमणीयाऽपि रमणी

कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते ? ।

मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधिय

किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः ॥ १ ॥

यथेति । यथा परमरमणीयापि रमणी यूनुस्तरणस्य कामिनोऽन्तःकरणहरणं कुरुते, तद्वत्तया कुमारानां बालिशानां शीरलाभमात्रेण परमपुरुषार्थप्राप्तिमभिमन्यमानानामनुभूतकामसुखानां चित्तं स्वयं नैव कुरुते ? अपि तु—न कापि । तथेय काव्यरचनारूपा परमरमणीया मदुक्तिरपि अवगमननादिवशात् सुधीभूयामृतस्वप्राप्त्य सुधियं तत्कल्पदर्शनरहस्यवेदिनोऽतिसरसस्य पण्डितस्य चेतश्चेद्यदि मदयति ध्यानं भवति, तर्ह्यस्या सुधियाश्रयावताया मदुक्तेररसानो नीरसानां सर्वयवासरपृष्ठरमसाद्वार्थानामपि खलु दुर्लभायाणामनुभूतादापुच्छपशुनामनादरभरैस्तद्वत्तावशात् समूह-किं नाम स्यात्, अपि तु न किंचिदप्यस्यास्तेरपकर्तुं शक्यते । सुधीभिराहते सति नीरसेरकृते कृते चाप्यादरे न किंचिदित्यर्थः । सुधीभिराहतस्वासरसकृलगुणातिसरसेय मदुक्तिरिति भावः । मदुक्ते सुधारूपत्वाभावात्तद्वत्तन्तरं च मरसप्रतीति सुधात्वात्सुधीभूयेति चिह्नं । सुधिय इति आत्यभिप्रायणः । एकैनापि सुधियादरे कृते महद्गौरवम्, बहुभिरप्यञ्जरेनादरेषु कृतेष्वपि न किंचित्तावधमित्यभिप्रायेण वा । 'यूनु' इति प्रतियोगिन पुरुषवचनान्तस्वाचर्चवचनम् । कवे स्वप्र-धमुदिरयेयमुक्तिः ॥

अवधिक दुन्दरी भी नादिका जैना सुबकोरे अन करणबो काहूट करती है, वेसा कुमारोंके अन्तःकरणको कीन काहूट करती है ? अर्थात् कोर वही (इस कारण) मेरी

वक्ति अर्थात् मेरा रचा हुआ यह 'नैषधचरित' नामक महाकाव्य यदि अमृत होकर विद्वानोंके चित्त को आनन्दित करती है तो इस मनुष्यको नीरस लोगोंके अधिक अनादरसे क्या (हानि) है ? [जिस प्रकार सुवर्णके समान कुम्हारोंके अत करणको भाङ्ग नहीं करनेपर भी सुवर्णका सौन्दर्य दोषयुक्त नहीं माना जाना, उसी प्रकार विद्वानोंके चित्तको आनन्दित करनेवाला मेरा यह महाकाव्य नीरस (मूर्ख या-असहृदय) लोगोंके अतिशय अनादर करनेपर भी दोषयुक्त नहीं कहा जा सकता] ॥ १ ॥

कविरयान्तरोक्षया स्वीयामुक्तिं वर्णयति—

दिशि दिशि गिरिप्राचाण स्वा धमन्तु सरस्वती
तुलयतु मिथस्तामापातस्फुरद्भवनिडम्बराम् ।

स परमपरः क्षीरोदन्वान् यदीयमुदीर्यते

मथितुरमृतं खेदच्छेदि प्रमोदनमोदनम् ॥ २ ॥

दिशीति । गिरिप्राचाणोऽग्निपापाण। दिशि दिशि स्वा निजा सरस्वती नदीमग्न
पतञ्जलप्रस्रवण धमन्तु सुखन्तु । आपात सामस्येन पतन स्फुरन्प्रकाशमानोऽपि
ह्रस्व शब्दाह्रस्वरो यस्या ता च नदी मिथस्तुलयतु मिथोऽभ्यनद्या समीकरोतु ।
अविसर्गान्तपाठे—आपातेन समस्तादूर्ध्वदेशादध पतनेन प्रकाशमान शब्दा
ह्रस्वरो यस्या तामभ्यनद्या सद्य समीकरोतु, अत्र इत्यर्थः । अथ च—आपाते प्रथ
मारम्भ एव स्फुरन्प्रपातघोषा ता जनो मिथस्तुलयतु । उभयव्याख्यानोऽपि परिणामे
तु न नदी न च तस्या शब्दाह्रस्वरश्चित्तेन इत्यर्थः । ॥ क्षीरोदन्वान् पर केवल,
अपर न विद्यते पर उत्कृष्टो यरमादुत्कृष्ट । अथ च—अन्य एव । यतो यस्य
क्षीरोदस्येद यदीयममृतमेतादृशमुदीर्यते उपपद्यते । कीदृशम् ? मथितुर्वेदादे खेद-
च्छेदि मथनजनितवलेकापहम् । तथा—प्रमोदन नितरामानन्ददायि । तथा—ओदन
मत्तमाश्वाद्यसिद्धाश्वरूपम् । अथ च—एवभूत परमुत्कृष्टममृत यदीयमुदीर्यते स
क्षीरोदम्बानपर परोऽभ्यो नास्ति, किंत्वेक एव । अथ च—प्रतिदिश सर्वदेशेषु
गिरि वात्या विषये पापाणतुल्या जहा अभ्ये कवय स्वीयांवाणीमुद्गिरन्तु । आपातेन
प्रतिभामात्रेण स्फुरन् ध्वन्यास्यकाव्यविशेषस्याह्रस्वरो यस्या, प्रथमारम्भ एव स्फुरन्
शब्दाह्रस्वरोऽनुप्रासो यत्र ता वा, वाणीमभ्योन्य जन समीकरोतु यस्य कवेस्त्वि
रयेव, अस्य च तस्येव इत्येव तुलयतु । 'आपात' इति विसर्जनीयान्तपाठे—
आपात प्रतिभासरता तुलयत्वित्यर्थः । पूर्वविध पर काव्यामृत यदीयमुत्पद्यते स
क्षीरसमुद्रतुल्य श्रीहर्षकविरपरोऽयो नास्ति, किंत्वेक एव । अथ कवय पर्वत
प्रावतुल्या, अह श्रीहर्षस्तु क्षीरसमुद्रतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षीरसागरो नीराधिनोऽपि
तीरमाश्रयान्क्षीरेण तर्पयति । लक्ष्मीकौरुभामृतादिभि परमानन्ददायिभि कृता
र्ययति, (तथा) मदीयकाव्यविचारकस्येव खेदच्छेदि प्रमोदन वचनामृतमुत्पद्यते,

नाम्यकाव्यविचारकस्येति, अन्ये प्रावतुष्या, लोगेदनुत्पत्त्याहमिति भावः ॥ २ ॥

पर्वत-पाषाण प्रत्येक दिशाभोमें अपनी (अग्नेसे निकली हुई) नदीकी वशाँ, और उसका सर्वतोभावे गिरना प्रकाशमान शब्दादम्बरवाली उस नदीकी परस्परमें (एक नदीकी दूसरी नदीके साथ) सधावना करे । (पाठा०—लोक आपात करसे नीचेकी ओर सर्वथा गिरने) से प्रकाशमान) । किन्तु वह श्रेष्ठ क्षीरसमुद्र दूसरा ही है (अथवा—वह क्षीरसमुद्र ही परमश्रेष्ठ है), जिसका अमृत मयन करनेवालों (देवों) का अमनाशुक तथा अनिष्ट आनन्ददायक (अथवा—हर्षकारक ओदनभान अर्थात् मध्य पदार्थ) कहा जाता है । (पक्षा०—पर्वतपाषाणतुल्य अन्य कविलोक अपनी बाणी (काव्य) का प्रत्येक दिशाभोमें अर्थात् सर्वत्र प्रकाशित करें, सामान्य विचारसे प्रकाशमान शब्दादम्बरवाली उस बाणी (काव्य) की परस्परमें (एक दूसरेके रचे गये काव्य) में मुक्तता (इसकी अपेक्षा वह उत्तम है और वह हीन है) ऐसा विचार) करें (अथवा—दूसरा व्यक्ति बोका विचार करनेमें प्रकाशमान) । किन्तु क्षीरसमुद्रके समान अतिशय श्रेष्ठ वह (सुप्रसिद्ध 'श्रीहर्ष' नामक महाकवि में) है, जिसकी अमृततुल्य महाकाव्य पठने वालोंके परिश्रमका नाशक तथा वरमानन्ददायक कहा जाता है । [अथ कविलोगोंकी शक्ति पर्वतीय नदीके समान केवल शब्दादम्बर करनेवाली, गाम्भीर्यहीन अविरस्थापिनो तथा नीरस लोकोके जलमात्र देनेवाली है और मेरी ('श्रीहर्ष' महाकविका) कवि छोट समुद्रके समान शब्दादम्बर रहित, गाम्भीर्ययुक्त, निरस्थापिनी तथा नीरस लोकोकी भी दूधकी बारामे सन्तुष्ट करनेवाली तथा लक्ष्मी, कीर्तुष आदि रत्ना सुभाविगरत्नोंकी देने वाली है । इस प्रकार अथ कवि पर्वतपाषाणतुल्य तथा मैं क्षीरसमुद्र हूँ, अथ मेरे इन महाकाव्यका ही पठन-पाठन-श्रवण, मनन, निश्चिन्तन तथा आवरण करना चाहिये] ॥

हृदानीं प्रसादरूपमुत्पत्तुगुणमावाइतिदुर्बोधादकाशमिति ये चक्ष्मिन्, तच्छब्दा मरुतुद्धन बलदर्पदलनार्थमुद्धतप्रवायेन विना दुर्बोधमित्यतिगाम्भीर्यमितिपादनार्थं च शुद्धिपूर्वमेव मयेदं काव्यं सत्यं तत्र दुर्बोधं स्वरचीत्वाह—

ग्रन्थग्रन्थिरिह कचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया

प्राज्ञमन्यमना हठेन पठिनी माऽस्मिन् खल खलतु ।

श्रद्धाराद्धगुणरत्नयुक्तदृढग्रन्थि समामादय-

त्वेतत्काव्यरसोमिमज्जनमुपगम्यासज्जन सज्जन ॥ ३ ॥

प्र-येति । आत्मानं प्राज्ञमन्यन्तं प्राज्ञमन्यं मनो यश्चैव त्रिषोऽस्मिन्काव्ये हठेन स्वीयप्रज्ञापत्तेन पठितमस्यास्तीति पठिनी इदं काव्यस्य पाठकं खलो मा खेडतु 'किम-ग्रामिन् अधुतमेव न्याकर्तुं शक्यते' इत्यवज्ञापूर्वां दर्पाभिप्रेक्षिता मा कार्पाक्षित्येवमपमिह काव्ये एषि/ष्विदपि तत्र तत्र स्थले मया प्रयत्नाद् शुद्धिपूर्वं ग्रन्थग्रन्थिग्रन्थमानसं वशापंशुऽऽलिङ्गा न्यासि विन्यस्ता खलमुन्ममद्वार्थं शुद्धिपूर्वमेवेदं काव्यं मया दुर्बोधं

स्वरवि, ननु प्रसन्नकाव्यकरणाशयेत्यर्थः । 'अविश्वकचिदपि' इत्यनेन तत्र तत्र प्रमथ-
ताप्यस्तीति न का-यावहानिरिति सूच्यते । सज्जनस्य ॥ ग्रन्थविवेचनोपायमाह—
अद्वेति । अद्वया गुरो दैवतैकबुद्ध्या आराधनेन पूजितेन गुरुणा पूर्वमश्लया अपि
श्लया कृता म्याश्लया सुबोधा कृता इडा स्वरूपतो दुर्बोधा ग्रन्थयो यस्मै स
गुरसप्रदायावगतार्थः, अत एव दर्पराहित्यात्मजन साधुरेतरकाव्यस्य रसामिरमृत
लहरी तस्या मज्जनभवस्थान समासादयन् प्राप्नोतु । गुरुस्वरूपया विनेकस्यापि
पद्यस्थार्थो बोद्धु न शक्यते, तस्माद् गुरुस्वरूपाया एवाध्येयमिदं काव्यमित्यर्थः ।
'यश्चेद् गुरुस्वरूपराया अधीते स सततं सुखी भवतु' इति महाकविस्वरमा आशिष
ददाति । अस्मिन्पठितो, 'कस्येग्विषयस्य-' इति कर्मणि सप्तमी । आराधेति राधेरनु
दात्तावादिङ्मात्र ॥ ३ ॥

'अपनेको विद्वान् माननेवाला (किन्तु वास्तविकमें अविद्वान्) तथा इठने (केवल
अपनी बुद्धिने गुरुपरम्परासे नहीं) हम (महाकाव्य) का पढ़नेवाला खूब (वास्तविक
भाव नहीं समझनेसे दूसरेकी छत्तको दोषयुक्त बगानेबाग अमञ्जन) कीटा ('हम
काव्यमें क्या रखा है ?' इत्यादि अपमानपूर्वक अपने दपक' प्रकट) मन करे ।' हमो
उद्देश्यमें मैंने इस ग्रन्थमें कहीं-कहीं प्रयत्नमें (जन-दुसकर, अज्ञानपूर्वक नहीं) प्रयत्न
गाठों (दुर्बुद्ध विषयों) को रख दिया है, (जिसमें स्वबुद्धिसे ही हम प्रयत्नका वास्तविक
मूल जाननेका इच्छुक असज्जन हमें नहीं समझ सके, और) यद्वाके साथ सेदिन गुरुके
द्वारा शिष्य की गयी है इह ग्रन्थ जिसके लिए एसा सज्जन हम महाकाव्यकी रस-हरीमें
योग्य लगाकर आनन्दको प्राप्त करे अर्थात् यद्वापूर्वक देवबुद्धिने गुरुकी पूजा भक्ति करनेसे
उसके द्वारा की गयी आनन्द आदिसे ग्रन्थके दुर्बुद्ध विषयको सज्जन मध्यक् प्रकारमें समझे ।
[ऐसा कहकर 'श्रीहर्ष कविकः यह महाकाव्य प्रमाद् गुणने रहित होनेके 'काव्य है ही नहीं'
ऐसा आक्षेप करनेवालोंका श्रीहर्ष महाकविने उचित समाधान कर दिया है तथा यह भी
सब कह दिया है कि गुरुपरम्परामें ही हम महाकाव्यके दुर्बुद्ध मन्त्रोंका यथापे खान हो
सकता है, अन्यथा नहीं, अत एव सज्जनोंकी यद्वापूर्वक गुरुकी सेवा करके ही हम ग्रन्थका
गमोराशय जानना चाहिये] ॥ ३ ॥

इदानीं पण्डितानन्दजननद्वारा स्वकृतेरभ्युदयमाप्तास्ते—

ताम्बूलद्वयमामनञ्ज लभते य काव्यकुञ्जेश्वराद्

य साक्षात् कुरुने समाधिषु पर ब्रह्म प्रमोदार्णवम् ।

य-काव्य मधुरर्पि घर्षितपरास्नर्केषु यम्योक्तय

श्रीश्रीहर्षकवे कृति कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम् ॥ ४ ॥

ताम्बूलेति । य काव्यकुञ्जेश्वरात्मकाशामकट-पण्डिताधिकव्यजन ताम्बूल-
द्वय विद्वद्योग्यमासन च लभते । न केवल राजपूत्र्य एव, किन्तु य समाधिषु

अष्टाङ्गयोगेषु प्यानेषु वा विषये भ्रमोदाणव परमानन्दस्वरूप पर चागाद्यगोचर ब्रह्म साक्षात्कुहते । न पर पूर्वोक्तगुणविशिष्टो ब्रह्मविदेश, किन्तु यदीय काव्य मधुर्वर्षि अतिसरसत्वादमृतवर्षि । न पर पूर्वविशेषाविशिष्टोऽतिसरसो महाकविरेव, किन्तु तर्कशास्त्रेष्वपि यत्सोपयोग्यो घषिना पराभूता परे प्रतिवादिनो यामिस्तादृश्य । तस्य विद्वत्त्वप्रचूडामणे धीहर्षकवेरिय काव्यरचनारूपा कृति कृतिना सुधियां मृदे आन म्दायाभ्युदीयात्, कृतिनामानन्द कुर्वती सत्याकल्पमतिवृद्धि प्राप्नुयादित्यासी । सर्वत्र 'यत्' शब्दमिवाहो गुण एव । अभ्युदीयादिति, 'ई गती' इत्यस्य रूपम् ॥५॥

सन्त सन्तु परप्रयोजनकृत कल्पद्रुमन्त सदा
 स्वस्मिन्नेव पथि प्रवर्तनपरा सत्कीर्तयश्चापरे ।
 अन्ये निरपृहणा श्रितश्रुतिपथा दीव्यन्तु मम्याशया
 काकन्त कलहप्रिया खलजना जायन्तु जीवन्तु वा ॥
 वासनामस्य रामस्य किंकरस्य जगत्पते ।
 नो घोषपुरय कल्पेशकल्पस्य तव किंकर ॥
 इति श्रीवेङ्कटरोपनामकभीमघरसिंहपण्डितात्मजनारायणकृते
 नैषधोपमकाव्ये द्वाविंश सर्ग समाप्त ॥

समाप्तश्चेद् नारायणीटीकया परिपूरित द्वाविंशसर्गसमन्वित
 मञ्जिनाधीटीकोपेठ नैषधमहाकाव्यम् ।



जो ('श्री हर्ष' नामक महाकवि) काव्यकुञ्ज-नरेश (कश्मीरके राजा) से (समस्त विद्वानोंमें श्रेष्ठ)सूचक दो बीडा पान तथा आसनको पाने) है, (केवल राजमात्र ही नहीं, अपितु) जो समाधिमें (अष्टाङ्गयोगों) में परमानन्दमात्र ब्रह्मका साक्षात्कार करते हैं, जिनका महाकाव्य (अमिताभ सरस होनेमें) अमृत बरसानेवाला है और तर्कविषयक किन्हीं धर्मियों प्रतिवादियोंको पराजित करवेवाला है, कम श्रीमें उपलब्ध 'श्रीहर्ष कवि' की यह रचना ('नैषधचरित' नामक महाकाव्य) विद्वानोंमें हर्षवर्षि होवे ॥ ४ ॥

द्विपद्यादिषु वर्षे दिङ्मिने मागदापके ।
 अमादा मांकरे बार परिपूर्ण 'मणिप्रभा' ॥ १ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीका में नैषधचरितका बाह्यवां रुने समाप्त हुआ ॥ २२ ॥

व्याकरण-साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, रिमचरंदावर, मिश्रपत्र श्री ५० हरमोविन्द-
 जाम्निचरित 'मणिप्रभा' नामक राष्ट्रमावानुवाद समाप्त हुआ ।



श्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका

अ	सर्गं श्लो०	अ	सर्गं श्लो०	अ	सर्गं श्लो०
अश पोदश	२२११४००	अचीकरधारु	११७३	अथ मुहुर्वहु	४१४३
अश्रययय	२०११०७	अचुम्बि या	१५१३	अथ रथचरणौ	२१११३०
अक्षणादय	४११०२	अजघमूमी	११५९	अथवा भवन	२१६१
अकर्णधारा	१२१७१	अजघमम्यास	१११७	अथ धिया	११५६
अकर्णभास	२२१४९	अजघमारोहसि	३११०६	अथ सवोद्भिदा	१७१२०६
अक्षण्डमेवा	३१९०	अजातविष्टेद	९५७	अथ स्मराज्ञा	८१५४
अकारि सेन	११४४	अजानती कापि	१५१७५	अथ स्वष्ट	२०११८५
अकारि भीहार	१६१८८	अजीयतावर्त	७१६९	अथ स्वमादाय	१११०७
अकृत पर	२१११२८	अतनुमा	७१३९	अथात्याधि	२०११२०
अक्रोध	१७१७९	अतितमा	४१४	अथाहुतेनास्त	८११
अक्षुम्य	२११४६	अतिथीना	१७११६४	अथाधिगन्तु	१४११
अत्वानि	१२१८	अतिवृत्त	१७१११७	अथान्तरेणा	११५८
अत्रिल	२१००	अतिशरभ्ययता	४१४२	अथान्यमुद्दिश्य	१२१५२
अगच्छदाश्रया	१७१२०५	अत्ययहेति	१३११०	अथापरिवृटा	१७११३२
अगम्याय	१७११५	अत्याजि छत्र	१३१२७	अथाभिलिप्त्येव	१४१४५
अग्निहोत्र	१७१३८	अत्रैव वाणी	२२१०८	अथायमुत्पाय	१६१११
अग्न्याहिता	८१७१	अथ कनक	२११०७	अथायान्त	१७११३
अग्राध्वनाम	६११०७	अथ कले	४१११३	अथारभ्य	१७११
अङ्गुलि	२११२३	अथ नगर	१६१२३	अथावद्दूत	१५१९
अङ्गेन केनापि	७१९०	अथ नलस्य	४११	अथावद्द्रीम	१२११०५
अङ्गे विदुर्भेन्द्र	१०१३०	अथ पथि	१६१२५	अथावलम्ब्य	१११२१
अङ्गेननाभे	२०१६४	अथ प्रकाश	९१२४	अथास्तनाया	१६१४७
अङ्गुलीचलन	२११४	अथ प्रियासादन	७११	अथामात्रनि	२०१६६
अङ्गुष्टमूर्ध्ना	१०१११०	अथ भीमजया	१७१२०२	अथाहूय	२०१२६
अङ्गिप्रस्थारणि	२१११३४	अथ भीममुजेन	२१७३	अथेतदुर्वी	१२१८६
अचिरादुप	२१६४	अथ भीममुवैव	९११५७	अथोद्भ्रमन्ती	९१८७
		अथ भीमसुता	२१६४	अथोपकार्या निज	१५११

अधोपकार्या मम	६१११	अनतिशिथिले	१९१२७	अन्योन्यभाषा	१०१३४
अधोपचारो	१६१५५	अनन्तर	१२१३२	अन्योन्यमन्त्र	६१५१
अधोपवदने	२०१६२	अनन्यसाक्षिका	२०१७२	अन्योन्यराग	२१११२६
अद् समित्	१२१३५	अनया तव	२११३३	अन्योन्यसङ्गम	३११२५
अदन्तदाकर्णि	११२८	अनयामर	२११३६	अन्वग्राहि मया	२०१२८
अदाहि यस्तेन	८१७३	अनर्घ्यरत्नौघ	१५१६०	अन्वुद्युति	७१११
अदरयमाना	९१४	अनलभावमिय	४१२२	अपयातमितो	२०११३८
अदेशिनामप्य	१४१३५	अनलै परि	२१८७	अपराद्ध	२०१६०
अदोऽयमालप्य	९११४	अनल्पदग्धा	१११०	अपरेऽपि	१७११५०
अदो निगद्यैव	९१३०	अनाचरत्तप्य	१५१४१	अपरयजिन	१७११८६
अदोपतामेव	१५१२	अनादिधावि	६११०२	अपश्यद्यावतो	१७११८०
अद्य सावदपि	५११३०	अनादिसर्ग	६११४	अपह्नत	१६१४२
अद्राक्षीत्तत्र	१७११८९	अनापि देश	८१२५	अपह्नवानस्य	११४९
अद्राक्षुरानिहान	१८११४	अनार्यमप्या	३१५७	अपा विहारे	१२१७
अधत्त धीज	१६१३३	अनाश्रवा य	६१८८	अपात्रमप्याप	८१३
अधर तालु	२१२४	अनुग्रह केवल	९१३३	अपात्रमालिङ्गय	१५१३४
अधरामृत	२०१५९	अनुग्रहादेश	०१४३	अपा पति	७१८२
अधारि पद्मेयु	११२०	अनुभवति	२११०९	अपापयन्	९१८०
अधारि य	१६११९	अनु ममार न	४१७९	अपास्तपाथेय	८१८७
अधावाङ्मापि	१७११९७	अनुरूपमिम	२१४२	अपास्तपाथोरहि	९११०५
अधिगत्य जग	२११	अनेकसयोजनया	१६१८२	अपि तद्गुपि	२१३१
अधिगत्येहो	२०१३६	अनेन भैमी	११४६	अपि द्रदीय	९१६५
अधित् कापि	४११११	अनेन राज्ञा	१२१५५	अपि द्विजिज्ञा	११६३
अधीत पञ्चाशुग	९१११५	अनेन वेद्या	२२१४६	अपि धयन्	४१८२
अधीतियोधा	११४	अनेन सर्वार्थि	१२१७९	अपि लोकयुग	२१२२
अधुनीत गग	२१६	अनेन मार्थ	८१६१	अपि विधि	४१८९
अधृत यद्विर	४१८	अनैपधायैव	३१७९	अपि विरह	२११३३३
अधाग्निधानात्	१११८	अन्त पुरान्त	६११३	अपि धोगिभर	२०११५४
अप्यासिने	२०१४८	अन्त पुरे	६११९	अपि स्वमस्त्रपन्	९१३३
अप्याहार	१६१५७	अन्त सन्तोष	१२१३९	अपि स्वयूष्यै	११३३९
अनङ्गचिह्न	११५५	अन्त सलक्ष्मी	२२११३२	अवलस्त्रमुखा	२११०
अनङ्गताप	८१६९	अन्यदस्मि	१८१५६	अयोधि नाय	९११४
अनङ्गलाला	१५१३५	अन्येन पत्या	३१५१	अयोधि नो	१६१७२

अग्रवीत्तमनल	५११२२	अम्वा प्रणखो	६१४८	अथिनो वयममी	५१७७
अग्रवीदध	५११२४	अम्बुधे कियदनु	१८१९७	अर्थिभ्रशवहू	१२१६७
अभचत चिरा	१९१४६	अम्बुन शवर	२०११२९	अयी सर्व	१५१८८
अभिघास्ये	२०१११२	अम्भोजगर्भ	१११८०	अर्थो विनैवार्य	१४१८४
अभिनव	१६११२६	अम्लानिरामोद	१४१८७	अर्द्धचक्रपुपा	७११८३
अभिलपति	२११२३१	अय क इत्यन्य	६११२	अर्द्धनि स्वमणि	२११४५
अभ्यर्थनीयस्म	३१९२	अय किलायात	१२१७५	अर्द्धमलित	१८१११४
अभ्यागतै	१०१२९	अय गुणौघे	१२१७८	अल विलहय	३१७४
अभ्यारामन्मर	१११८	अय दरिद्रो	१११५	अल विलम्ब	३१९१
अभ्रपुष्पमपि	५११२७	अयमथोगि	४१२९	अल मनन्	३१३०
अमलदामज	८१५१	अयमेकतमेन	२१३	अलङ्कृताद्वाज्जत	१०११०८
अमन्यतासौ	११८७	अयमेव तद्वाग	२१५	अलङ्कृतमस्र	८१८९
अमर्षात्रामनो	१७१००४	अयि प्रिये	९११०३	अल नल	११५४
अनहतितरा	१९१४	अयि समैष	४१५८	अलिम्बजा	११७१
अमित मधु	३१५६	अयि विभु	४१४८	अलीकभैमी	६११५
अमी तनस्तस्य	११७७	अयि शपे	४११०६	अल्पाङ्गपङ्का	२७११२५
अमी तमाहु	१०१७६	अये स्त्रियद्	३११३	अवच्छटा	१६१६४
अमीभिराङ्गु	१६१२७	अये समोदासित	९१८	अवच्छय	७१४१
अमी लम्बाप	१६१६८	अये मयात्मा	९११२२	अवनिपतिपथा	१६११७८
अमीपु तप्यानृत	१६१११०	अयोगजा	९११३२	अवलम्ब	२१६६
अमी ममीहै	९११३४	अयोधि तद्वैर्य	८१२३	अवग्यभग्येव	१११२०
अमुन्नि तारामे	१७१०१७	अराधि यन्मीन	१६१८६	अवादि भैमी	१५१४७
अमुय दोभ्यां	११०२	अरण्जिरेणे	१९१२०	अराप मा	१११३
अमुय वीरस्य	११०५	अरुन्धतीकाम	७१९७	अवापिताया	१११०६
अमुय भूलोक	१२१७२	अर्काय पत्ये	७१५७	अवामावामार्द्धे	९११८५
अमुय विद्या	११	अर्चनाभिरुधि	५१९	अवारितद्वार	१११४१
अमुयोर्वा	१२१८२	अर्चयन् हर	२११३२	अविन्दतामी	१०१९०
अनूनि गच्छन्ति	९१९७	अर्थना मयि	५१११२	अयैमि कमला	१८१०९
अमनि मन्ये	७२१७०	अर्याप्यते वा	३१६३	अयमि वादि	१०१८०
अमृतदीपिनि	४११०८	अथिता प्रथमतो	५१११३	अयैमि हया	८१३५
अमृतयुनि	२११०१	अर्थितान्त्वयि	५११३३	अयोचत तत	२०११७
अमेल्यङ्गोम	१०१६७	अर्थिनामहपिता	५१५९	अतोक्मर्था	१११०१
अमोघभावेन	१५१५६	अर्थिने न नृण	५१६८	अध्रान्तश्रुति	२११०२

अध्यापमिन्द्रा	६१५	अस्मिन् समाजे	१०१११	अहो तपःकल्प	२११२०
अष्टौ तदष्टासु	१०१५२	अस्मै कर	११११२६	अहो नापत्र	२०११४०
अमशय म रविय	९११४४	अस्य क्षोणिपते	१२११०६	अहो मनस्सा	९१३९
अमशय सागर	२२१४४	अस्या मुनीनामपि	७१५५	अहो मयि रहो	२०१६३
अमशय सा गुण	१०१७८	अस्या वपुर्व्यूह	७११२	अहो मह सहायना	१७११२९
असज्जानालप	१७१९७	अस्या कचानां	७१२२	अहो महेन्द्रस्य	९१२७
अममये मति	४१५७	अस्या करस्पर्शन	७१७१	अक्षि भानुभुवि	१८१२४
अममभोगकथा	२०१११८	अस्या खलु	७१८७	आ	
आत्मा यत्ताम	१०१४८	अस्या पदौ	७१९८	आ स्वभाव	५१२४
आमावसाग्या	२२१८८	अस्या पीन	२०१३५	आकर्ण्य तुल्य	१३१३
अमितमेकमुरा	४१६१	अस्या स चारु	१०११३०	आकल्पविच्छेद	१०१८५
असि भवान्या	१६११८	अस्या सपचैक	७१२०	आकस्मिक पक्ष	३१२
असिस्त्रदधद्	१६११३	अस्या मुराधीश	२२१४७	आकीटमाकैटम	६११०६
असुरहितमप्या	१९११५	अस्याधिशय्य	१११९०	आकुञ्चिताभ्यां	३११
असेत्रि यस्यक्त	९११९	अस्या भवन्त	२१११२२	आकृष्य सार	२११११४
असेत्रिपाता	१५१३६	अस्या मुज्जाम्यां	१०११२३	आरण्यलो	१०११०
असौ प्रमिन्ना	१५१२२	अस्या मुखग्री	७१५६	आरण्यतैष	१८११३४
असौ महीभृद्	१६११९	अस्या मुखस्यास्तु	७१५३	आग्यानुमति	१०११३३
असौ मुहुर्जात	१५१२१	अस्या मुखेनैव	७१५८	आग दत्त	१११९२
अस्तावलेऽस्मि	२२११३	अस्या मुखेन्दो	७१३८	आगरक्षदुर्वीन्द्र	१०१९
अस्ताद्रिचूडालय	२२१५	अस्या यदष्टा	७१६३	आगरक्षन्	१९१६६
अस्तित्व कार्य	३११३२	अस्या यदास्येन	७१२१	आनृणित	७१२९
अस्ति द्विचन्द्र	१३१४३	अस्या रिप्रकर	१२१९८	आचूडाम	१२१४०
अस्तियवाम्यभर	१८१५८	अस्यासिर्मुज्जगः	१२१९६	आश्या च	२११६९
अस्तु श्याया	५४१७५	अस्यैव मर्गाय	७१७२	आज्ञा तदीया	६१२२
अस्मदाप	२१११००	अस्यैव सेवार्थ	२२१७७	आध नेति	१८१३०
अस्मन्निर	३११२६	अस्योत्कृष्ट	१५१८५	आग्मनापि	१८१३४
अस्नात्तमप्यामित	८१९५	अस्योर्वीरमणस्य	१२१६५	आगमन्यस्य	१२१८३
अस्नात्तमहमा	८१९७४	अस्वेदगात्रा	१०१३३	आग्मविमह	१८१२
अस्माकमुक्तिभि	२१११३६	आहर्निशा वेति	१६१७८	आग्मव तातस्य	७१६५
अग्निनिग्विजयो	१२१२९	अहह सह	१४१९६	आदत्त दीप्त	२२११०
अग्निमन्त्रिस्माप	२२१११०	अहो अनौचित्यी	२०११४६	आदर्धाधि	५११११
अस्मिन् निरती	२२१७६	अहो अहोभि	१४११	आदर्शतां	३१५६

आदर्शदशरथ	२२१७३	आमने मणि	१४३१	इति मनमि	१३१५४
आदाय दण्ड	२२११२	आसीदधर्वा	१०१७५	इति मुद्रित	२०१३७
आदेहदाह	८४३	आसीदसौ	१०११०९	इति मिथो	४१७४
आद्य विधो	१०१४२	आसीदासीम	१२११८	इति व्युत्तिष्ठ	२०१२३
आद्यमङ्गल	१८१७७	आसीद्यथा	२२१८५	इति ध्रुति	१२११३
आननन्द	१७१९९	आसुग्राम	१५१९१	इति श्रुतेऽस्या	१४१४३
आननस्य	१८११३०	आस्त आय	१८११३	इति ध्रुवा	१७१२०
आनन्द हठ	२०११६०	आस्तां तदप्रस्तुत	३१०२	इति म चिकुरा	७११०८
आनन्दजाधु	१११४४	आस्तामनङ्गी	८४१	इति स विधु	२११३५
आनन्दम्मदिरा	१७१७७	आस्ते दामोदरीया	१२१९५	इति सा मोक्षया	२०११७९
आनन्दयेन्द्र	८११०८	आस्य शीत	२२११४५	इति स्तुवन्	१०१६६
आनतरानपि	१८११०६	आस्यसौम्यं	२०१३०	इति स्तुवान्	१४१३५
आप्तकाम	२११२१	आस्ये या तव	२१११४०	इति स्तुवन्	९६०
आप्यायनाद्वा	२२११०८	आह नाथ	१८१९९	इति स्मर	१६१११४
आभिरुग्नेन्द्रो	२२११११	आह स्म तद्विरा	२०११३९	इति स्तुवन्	९११२७
आभ्या कुक्ष्याभ्या	७१७८	आह स्मैषा	२०१२९	इति स्तुवन्	१११३४
आमन्य देव	२०१११७			इति स्तुवन्	६११०१
आरोप्यते	२२१८४	इदितेन	१८१७५	इति स्तुवन्	९११
आरोहणाय	१११६१	इत्येव देव	२२१७४	इति स्तुवन्	९११५५
आर्ष विचार्या	६१८७	इतरनल	१३१५३	इति स्तुवन्	९११
आलापि कन्या	२०११२२	इतश्चन्द्रिदुत	१२१२६	इति स्तुवन्	३१५३
आलिय सत्त्वा	६१६९	इति कियद्वैद्यैव	४११००	इति स्तुवन्	९११३०
आलिङ्गपालिङ्ग	२०११५५	इति तत्सुप्रयुक्त	२०१७३	इति स्तुवन्	१०१७६
आलिङ्गित	१११९८	इति त म	२१६३	इति स्तुवन्	३१६७
आलिङ्गाम्भ	५१५४	इति तस्मिन्	१७११०८	इति स्तुवन्	१४१३९
आलोकनृसोक्त	८१३०	इति तस्या	२०१२६	इति स्तुवन्	९११३६
आलोच्य भावि	१११११५	इति त्रिलोकी	८१८४	इति स्तुवन्	१११०४
आवाहिता	१७१७७	इति द्विद्वय	१६११११	इति स्तुवन्	१२१२७
आशयस्य	२११६२	इति घटसुर	८११०७	इति स्तुवन्	१२११७
आशीर्वापेय	१११२०	इति पटनि	२१११२७	इति स्तुवन्	२२११०२
आश्चर्यमस्य	११११००	इति परिणय	१६११२९	इति स्तुवन्	६११११
आश्लेषरत्न	११११७	इति प्रमीयेव	९११०१	इति स्तुवन्	६११०८
आमते शत	५११००	इति प्रिया	९११०१	इति स्तुवन्	८१५०

इथ यथेह	१३५०	इमा न मृद्वी	१०१२७	उज्जिहान	२११२५
इत्य वितीर्य	१२१२२	इमा गिरस्तस्य	९८८	उहुपरिवृट्	१९५१
इय हिया	२२११२	इय म्रियञ्चा	१६११	उहुपरिपद्	१९१२
इत्यममु	१११४३	इय न ते	९९७	उत्कण्टका	१२११०
इत्यमाकर्ण्य	१५८३	इयञ्चिरस्या	९२१	उत्कण्टयन्	१३३७
इत्यमुक्ति	१८१३२	इयत्कृन्	८८७	उत्तम स	२१३९
इत्यधीरतया	२०१५७	इयमनङ्ग	४३३	उत्तानमेवास्य	२२१८०
इत्यमी वसु	५८४	इयमियमात्रि	१०१३७	उत्तुङ्गमङ्गल	१११६
इत्यलीकृत	१८८६	इयुञ्जयेनैव	७२७	उत्सर्पिणी	१११७७
इत्यवेय मनमा	५१३२	इष्टदार	२११२	उत्सृज्य साम्राज्य	१४५७
इत्यवेय वसुना	२११४९	इष्ट न प्रनि	५१३५	उद्यति इम	४११८
इत्यमौ कल्या	२०१००	इष्टेन पूतेन	३११	उद्यतिपरि	
इत्यारुण्य	५१३७	इह किमुपमि	१९१६०	प्रस्थान्यह्ना	१९१६
इत्यालपत्यथ	३१३०९	इह न कतर	१९१४७	उद्यतिपरि	
इत्यालेपु	१५१९७	इहाविशद्येन	७१६२	प्रस्थाय	१९१२२
इत्युक्तवत्या निहि	६८८	इहृष्टा सन्ति	१०१४३	उदर ण्व	४१६०
इत्युक्तवत्या यद्	३१९७	इ		उदरं तत	२१३४
इत्युक्तिशेषे	२२१०६	इक्षिणोपदिश	१८८९	उदर परिमाति	२१३५
इत्युत्तीर्य मघरा	५११९	इक्ष्वा निगदति	१८११४६	उदम्य कुम्भी	१५११९
इत्युदीय न यदी	५१४३	इक्ष्वा नि गदितानि	५१११६	उदामितेनेन	९१३५
इत्युदीर्य न हरि	२११०४	इक्ष्वा नि मुनये	५१४०	उद्देशपर्वण्यपि	१०८२
इत्युपालभत	१८१६०	इक्ष्वा गिरमुदीर्य	५१७८	उद्घनिस्रवल्	२१५६
इत्येनभ्या	२०१३६	इक्ष्वा रक्षितो	१७१४१	उद्घातननुज्ञा	२१६७
इद यदि	३१५००	इक्ष कुशेक्षय	१११५८	उद्भिद्विरचिता	१७११२
इद यशामि	१२१८९	इक्ष्वा गिमेधय	३१६२	उद्भ्रमाभि	५१०८
इदजिगद्य	९१७७	इक्ष्वा दिश	१३१८८	उद्भर्तयन्त्या	६१२५
इदन्तुपप्राविभि	१२१९०	इक्ष्वा रस्य	१७११७	उन्मत्तमायाद्य	३१९८
इदमुदीय	४१११०	इक्ष्वा त्मिन	६१९०	उन्मीलद्गुड	२११३०
इद महत्ते	९१८३	उ		उन्मीलहील	१२१०१
इन्द गुण्डाडु	२२१३५	उच्छलत्	१८१२१	उन्मुग्गितादान	७१८५
इन्द्राध्रमेणो	२२१०७	उच्छाटनीय	३१७	उपचचार	४११२
इन्द्राप्रिदक्षिण	१३१२४	उच्छम्बे	२०१३३	उपनतमुडु	२२११७
इम परित्यज्य	१२१०४	उच्छस्तरा	२२३	उपनघ्रमया	११२

उपहरन्ति	४१९०	एकस्य विश्व	१७१५५	एतादृशीमथ	१३११४
उपहनमधि	२०१५५८	एकाक्रिभावेन	१०६१	एता धरामिव	२११११९
उपामनामेत्य	११३४	एकादशैकादश	२२१११३	एतेन ते विरह	१११४५
उपास्यमानाविव	१५१४५	एकेन पर्य	१०५३	एतेन ते स्तन	१११६३
उपास्य सान्ध्य	२२११	एकैकमुद्रत	१११५७	एतेन मग्मुव	१११९९
उभर्या प्रकृति	१७१६८	एकैकमेते	११९०	एतेनोत्कृत्त	१२११००
उरोभ्रज	११४८	एकैकमैलन	१३१४०	एन स विभ्रद्	२२१११७
उर्ध्वशी गुण	५१०२	एकैकउसे	१७११०	एनमानेन	१७१७१
उद्वाप्यता	६१३४	एकैव मारा	७११२७	एव यद्वदता	४११२२
उद्वाप्य धातु	१०११२८	एनो म	१३१४३	एवमादि स	५१९३
उल्लिग्य हमेन	६१३७	एन स्मरेणाङ्क	२२१२४	एवमुक्तवति देव	५१३७
उचाम वैदर्भ	१६१११२	एन मल	६१६०	एवमुक्तवतिमुक्त	५१९८
उवाह य	१६१२०	एन-रीनि	१२११०४	एय नैपद्य	५१७६
ऊ		एन-कच	७१७५	एय प्रताप	१३१९
ऊचिधानुधित	५११२८	एनलन	१११८५	एया गिरे	११११०
ऊचे पुन	१११३५	एनपर	१११३६	एया स्वदीक्षण	१११९
ऊरप्रकाण्ड	७१९४	एनदग्ध	१०१८५	एयामकृत्वा	१४१३८
ऊर्ध्व एत	२२१३०	एनदगुण	१११७१	एया रति	२११११८
ऊर्ध्वदिष्ट	२११९०	एनदनामि	१०१७३	एय्यन्ति यावद्	७११०४
ऊर्ध्वस्ते रदन	२१११४३	एनदन्ति	१२१२०	औ	
ऊर्ध्वपित्तयुज्ज	२२१३१	एनदद्वसो	१०११२१	औक्षि प्रियात्रै	७११८
ऊ		एतदलै	११११२७	औदास्य सविद	११११०१
ऋजु वमोन	१२१४४	एतद्रीतारि	१२१२८	क	
ऋजुदश	४१६६	एतद्रुजा	११११०५	कसीकृता	३११२२
ऋणीकृता	७१३३	एतद्यशो हरि	१२१९	क कुले	५१११९
ए		एतद्यशो भव	१११५४	क दाम	१७१७०
एक मन्तिगधयो	१७१५३	एतद्यशोभिरगि	१११०८	क स्मर	२०१४३
एर पिपासु	२२१७६	एतद्यशोभिरम	१११९७	कटाक्षकपटा	२०११८
एर प्रभाव	१३११८	एतद्वर	१०११०२	कटाक्षणाज्जम्य	१६१३८
एक सुधाशुर्न	३१११९	एतन्मदीय	१३१४६	कण्ठ किमस्या	६१५९
एककस्य	१८१८३	एतन्मुखा	१३१११	कण्ठे वसन्ती	७१००
एकद्विकरणे	१७१२०	एतस्य सावनि	१११११४	कतिपयदिवसै	४११२१
एकवृत्तिरपि	१८११०४	एता कुमार	११११०२	कथ विधात	१११३८

कथ कथञ्चिद	१४१२८	कनुं क्षशाकाभि	१०११२	किं वा तनोति	१२१४२
कथ नु तेपा	९१२६	कलकल स	४१११५	किं वित्त दत्त	१७१८०
कथाप्रसङ्गेषु	११३१	कलमे निन	०१३०	किं विधेय	५१६३
कथावशे	९१९९	कलि प्रति	१७११५१	किं घनस्य	५१५९
कथासु शिष्ये	९११४९	कल्पद्रुमान्	१३११	किञ्च प्रभाव	१३११७
कथितमपि	३११३५	कल्प्यमान	२१११०	किञ्चित्तरश्मीन	३११४
कथ्यते न	५१२८	कन्याणि	११०१	किं ते तथा	१३१३०
कन्दर्प एव	८१३३	कण्ठोष्णाल	१११३१	किं ते धृन्त	१७१५६
कन्यान्त पुर	४१११६	कञ्जिञ्जान	७१६७	किं न द्रुमा	११११२५
कपोलपत्रा	७१६०	कम्ब कनो	८१३	किं नर्मदाया	७१७३
कपोलपाली	१५१६५	कम्माद्रुमाक	३०१३०	किं नादिग	२२१९८
कमपि स्मर	२०१९३	कम्पिन्मपि मने	१७१९९	किमन्यदद्यापि	११४७
कमलकुशला	१९१८०	कामीकुनामीन्	३११३२	किमसुभिर्गपि	४१५२
कम्र तन्त्रोप	१७११९१	कान्ते मयि	५१३१	किमस्य राग्ना	११२३
कमाचिदा	८१६	कान्तमन्त्रि	८१११	किमालियुग्मा	१५११२
कयापि क्रीडन्तु	१७११२१	कान्तिमन्त्रि	१७१३	किमुतद्वन्त	४१५
कयापि क्रीडा	१५१७८	का नामन्त्रयते	२०१३४	किमु भवन्त	४१९७
कर खजा	१४१२६	काचित्तना	१५११२	कियच्चिर	८१२
करग्रहे	१६१३५	कापि कामपि	५१५३	कियताऽद्य	१७११५९
करपदानन	४१३७	कापि प्रमोदा	१४१७९	कियत्यजन्तो	१६१७९
करम्यताम्बूल	१५१७७	काभिर्न तत्रा	६१४३	कियदपि	१६१२४
करामजाम	७१७९	काम कीमम	३११२६	कियद्गु	१६१००
करिष्यसे	९१४९	कामदेवविशिवै	२११३०	कियान्यथा	२२१७१
करिष्येऽथरप	१७११४६	कामनीयक	५१६४	कीर्ति भेमी	१७११३३
करेण मीन	११३०५	कामानुज्ञामन	११११२२	कुहुमेऽमद	१८१७
करेण चान्द्रेव	३१६२	कामिनीवर्ग	१७१४०	कुक्षी दोषो	२०१४९
करे विष्टये	१४१३१	कार कार	२०११०७	कुण्डिनेन्द्र	५१११४
करोपि नेम	९११८	कारिष्यते	१३१३९	कुत कृतव	१२१३२
कर्णदाकि	२११७७	कार्त्तवीर्य	२११६५	कुत्रचित्	१८१११
कर्णादिदन्त	७११०२	काल किरात	२२१९	कुमुद	२१११३२
कर्णे कर्णे	२०१११९	काञ्चिश्चिर्माय	१५१८२	कुरु करे	४१५९
कर्णात्पलेनापि	७१३०	कारमीरजै	२२१५४	कुरुष्व काम	१७१५८
कर्णी पीडयति	२०१९७	किं योगिनीय	२२१२२	कुर्वन्ती	१८१४९

कुर्वद्विराम	१११४	क्रियेत चेत्	३१२३	गता यदुत्सङ्ग	११९८
कुलञ्च शीलं	१०१७१	क्रीणीध्व	३१८७	गर्भमेणमद	२११२६
कुसुमचाप	४१९	क्रीञ्चदुःख	२११७३	गलत्पराग	११९२
कुसुममप्यति	४१९१	क्लिञ्चोक्त्या	२०११२८	गिर श्रुता	९१५
कुसुमानि	२१०९	क्वचित्तदा	१५११२	गिरानुक्मपस्व	९११२०
कृतायुजा	२१११०९	क प्रयास्यसि	५१५५	गीर्देवता	१०१५१
कूटकाप	१४१९१	क प्राप्यते	१३१३९	गुच्छालय	७११६
कृच्छ्र गतस्यापि	१४१७८	कापि काम	१८१९	गुणानामास्थार्मी	१४१८८
कृत यदन्यत्	१६१५७	कापि नापरय	१०१७७३	गुणा हरन्तो	६११०५
कृताञ्ज देवी	१२१६०	कापि यच्चमसि	२११२१	गुणेन केनापि	१०१५४
कृतापराध	१५१४७	कापि यगिक्वट	१८१९	गुणौ पयोधे	७२१७५
कृतार्पण	१६१८७	कापि सर्व	१०११००	गुणो गिरा	१३११९
कृतार्थयमधि	१५१६८	कैतावन्नम	२०१७	गुरमत्पगतौ	१७१४३
कृतावरोहस्य	१११२३	चगनीरवया	२१७८	गुरुप्रीडावलीङ्ग	१७११०
कृति स्मरस्यैव	१०११३१	चण प्राप्य	१०१८५	गुरोरपीमा	१०११३२
कृत्वा दशौ	८१३८	चणविच्छेद	२०१८	गोत्रानुकूल्य	१४१५९
कृपा नृपाणा	१२१४३	चणादथेप	११६७	गोवर्द्धनाचल	११११०७
कृष्णमार	१८११८	चत्रजानि	२११६३	गौरभानु	१८१२२
केशारभाषा	७१३५	चत्राणि राम	२२११३१	गौरीव पत्न्या	७१८३
केनापि बोधि	१७१३७	चन्तु मन्तु	२०१५४	गौरी प्रिये	२२१९५
केयमदं	२११८८	चित्तिगर्भधरा	२१८१	ग्रन्थप्रमिथ प्रशस्ति	३
केशान्धकारा	७१२३	सिप्रमस्यतु	१८११२८	प्राधान्यजन	१७१३६
कैटभारि	२११४७	चिणेन मध्येऽपि	७१८१	प्रोवाद्भुतेषा	७१६६
को हि वंत्ता	१७१६१	चीरार्गवस्तव	१११४०	घ	
कौमारगन्धीनि	६१३८	चीरोदन्व	१२१७४	घने समस्ताप	१५१७०
कौमारमारभ्य	८१५८	स्व		घनैरमीषा	१६१९९
क्रनो कृते	९१७७	खण्ड किमु	८११०१	घातिताकं	२११७९
जनौ महावते	१७१२००	खण्डोदमृदि	२१११३८	घुसृगसुमन	१९१३८
क्रमाद्बीयसा	१७१५	खण्डितेन्द्र	५१४	घृतप्लुते	१६११०२
क्रमाधिका	१५१४९	खर्वमाख्य	२११२६	च	
क्रमेलक	६११०४	ग		चकास्ति	९११०४
क्रमोद्गता	७१९६	गच्छता पथि	५१३	चकोरनेत्रेण	७१३२
क्रिया प्राह्वेतनी	२०१११	गतचर	१९१३०	चक्रदार	१८१६४

चम्रेण विश्व	७८८	चेतोजन्म	३१३०	जवादवारी	१६१६
चम्बे दामादि	१७१८	चेतोभवस्य	२११२१	जागर्ति तच्छाय	६३३
चण्डालरते	९१५६	चेष्टा व्यनेश	१४५२	जागर्ति तत्र	२०८२
चतु समुद्रो	१०१२८	छ		जागर्ति मर्त्येषु	१०१२५
चतुर्दिगन्ती	२२६८	छदे मदैव	१६३०	जाम्रतामपि	१०३३
चतुष्पथे त	६१२७	छद्ममत्स्य	२१५३	जात शातत्रतया	२११३९
चन्द्राधिरैत	७४४	छुप्रैव तच्छम्बर	१०१२४	जातौ न वित्तेन	१०१३३
चन्द्राभमाश्र	६६२	छायामय	६३०	जात्या च वृत्तेन	१०१३३
चमृषरासनस्य	१३३	छिन्नमप्यतनु	१८१०२	जानासि ह्रीभय	२०१५५
चरश्चिर	८५९	छुत्तपत्र	१८१३३	जानेऽतिराग	७३९
चर्म चर्म	५१२९	छुत्तुमिन्दौ	२०१२०	जाम्बून	११८६
चर्येव कृतमेय	१०१२२	ज		जाह्नवीजलज	२११२२
चलत्पदस्तत्	१२३	जगज्जय	१११९	जित जित	९४८
चलत्तल्लङ्घ्य	१६६	जगति तिमिर	१९११०	जितस्तदास्येन	१५११
चलत्तल्लङ्घ्य	१६०	जगति मिथुने	१९१३४	जितस्थयास्येन	९१४५
चलीकृता	१११३४	जगत्त्रयी	१०१७२	जीवितावधि किम	५१९७
चित्रप्रकरा	२१२०	जगद्भू	७१९९	जीवितावधि वनी	५८१
चित्ते तदस्ति	२०८३	जगन्ध	१३१३३	जीवितेन	५४९
चित्रतत्तदनु	१८१२	जगन्ध सेय	२१९७	ज्ञानाधिकाऽपि	१११२०
चित्र तदा	६१८	जगन्मन	१७१९१	ज्योत्स्नापय	२२१००
चित्रमत्र	५१५७	जगन्मन	१७१९१	ज्योत्स्नामय	२२१६०
चिर युवाऽऽकृत	१६१०७	जगन्मन	१७१९१	ज्योत्स्नामादयते	२२१४१
चिराद्वनध्याय	९६१	जगन्मन	१७१९१	जगति मम्मथ	४३४
चिह्निता कति	१०३३	जगन्मन	१७१९१	त	
चिह्नमीभि	१४१२२	जगन्मन	१७१९१	त विदर्भ	२११३
चुचुम्भ भोर्वी	१६१९८	जगन्मन	१७१९१	त कथानु	५१३३
चुचुम्भाम्यमसा	२०१२५	जगन्मन	१७१९१	तच्चित्रदत्त	२०१२५
चुम्भनादिपु	१८१५७	जगन्मन	१७१९१	तच्चिन्ननान्तर	१०१०
चुम्भनाय	१८१००	जगन्मन	१७१९१	तच्छायमौन्दय	६३३
चुम्भित न	१८१५५	जगन्मन	१७१९१	तज्ज श्रामागु	१११०९
चुम्भयसेऽय	१८१८५	जगन्मन	१७१९१	तत्तत्तत्त	१९१२९
चुम्भिततम	१९३७	जगन्मन	१७१९१	तत्तन्त्रिग्रान्त	११०९
चुम्भयचुम्भ	१११५२	जगन्मन	१७१९१	तत प्रतीक्ष्य	१६८

तत् प्रत्युदगा	२०१२	तत्रैव मग्ना	८१९	तदेकलब्धे	३१८१
तत् प्रसूने	११७६	तत्रोदीर्घं	१७३२	तदेव किं	१२१३३
तत् म भग्या	१२१२	तथा क्रिमाजन्म	१६११५	तदोन्नत	१११४
तत्तन्मदप्रसूत	१२१२२	तथाऽधिर्ग्या	१२१८८	तद्रौमर	१०१०५
तत्तन्मदुर्वान्द्र	१२१३१	तथा न तापाय	८१८१	तद्व्यपति	२१११५
तत्तान विद्युता	१७१६	तथा पथि	१५१२	तद्विनिमि	१११२२
ततोऽनु द्येया	१२१२३	तथापि निर्धनानि	९११२	तद्वीपलक्ष्म	१११३०
ततोऽनु वाष्प्य	१२१२२	तथाभिधात्री	३१९९	तद्विजादनि	५११७
तत्करोमि	१८१५३	तथालिमाल	२०१११४	तद्यतो हसति	२११०१
तत्करो भारती	१७११२	तथाग्लोक्ष्य	२०१८६	तद्यातायात	१८११४८
तत्कालमानम्	८११५	तथैव नत्काल	५११२७	तद्वर्गना	११११२८
तत्कालवेद्ये	१०१९१	तयोपित भीम	१५११०	तद्विमुज्य	७११८
तत्कुचे नग	२०११४५	तद्वरै	१२११०७	तद्विस्फुरत्	१११२१
तत्कलमस्तन	१८१११५	तद्वनि नत्	१५१३७	तनुविषा	१०१६
तत्कलवद्विन	१८१११०	तद्विलमिह	९११५९	तनुवीधिति	२१६९
तत्तज्जन	१७११०४	तद्विभोगा	१०११०६	तनोत्तकीर्ति	१०१११८
तत्तद्वर्धम्	२११३१	तद्विमुदिरय	११९३	तनोपि मान	९११०८
तत्तद्विज्ञेय	१२१९४	तद्वि विधम्य	९१६६	तद्विद्यमान	८१७८
तत्तद्विगग	११११२	तद्विप्रेहि मृषो	२०१८८	तद्विप्रीक	१२११११
तत्तद्विगल	१८११३३	तद्वि न	४११२०	तद्विनाम्य	१७११४५
तत्तद्विष्ट	२०१९८	तद्विन्नरन्त	३६१९३	तद्विर्मला	१११२
तत्तद्विज्ञ	७१११२	तद्विर्मध्याप्य	१११०३	तद्विपय	३१७६
तत्तद्विद्युग	१८१९३	तद्विर्पिनामधु	९१२	तद्विन्नमात्म्य	१४१५३
तत्तद्विहण	७७१८३	तद्वि विदधे	२१७७	तद्विमुहूर्तमपि	७११३५
तत्तद्विगीय	१७११४९	तद्वि नद्विष्य	१११७५	तद्विगीमुग	६१२६
तत्तद्विगीर	१८१२७	तद्वि तत्तमात्मान	१११२५	तद्विपलत्वेन	६१९३
तत्तद्विगीर	१७१२३	तद्वि नन्दाय	२१११४८	तद्विस्वाध्याय	१७११९०
तत्तद्विगीर	१०१२५	तद्वि निमस्वान	११११६	तद्विपि जगत	२०११५९
तत्तद्विगीर	१७११२	तद्वि न्यहमिना	२०११०१	तद्विप्यताम	२२११२४
तत्तद्विगीर	११११०	तद्वि विद्वद्	२१२७	तद्विप्यले	९१४५
तत्तद्विगीर	१११८९	तद्वि विहानवधौ	२१६०	तद्विचिन्तु	९१६५
तत्तद्विगीर	१३१२०	तद्वि कनानस्य	१६११२०	तद्वि मालम्बन	१७१२१४
तत्तद्विगीर	१११५	तद्वि कदासीत्	३१८१	तद्वि मालिख्ये	९१६४

तमालोदय	२०१९९	तस्मिन्मल्लिमुच	१११५३	ताराधरे	२२१५७
तमेव लब्ध्वा	११४३	तस्मिन् विमृश्येव	६१९६	तारातति	१०११५
तमोमर्याकृत्र	८१६५	तस्मिन् विषया	६१४२	तारा रदाना	१०११०७
त पिषाय	१८१८२	तस्य चीन	२११२	ताराविहार	२२११३४
तया प्रतिष्ठा	१६१४१	तस्य तापन	५१५	ताराशङ्ख	१९१५७
तयेरित	२२११०५	तस्य होमाज्य	१७११६३	तारास्थिभूषा	२२११२६
तयो मौरादं	१७१२०३	तस्या प्रिय	१४१२७	तारण्यपुण्या	६१४०
तरङ्गिणी भूमि	७१११	तस्या दसो	३११२१	ताल प्रभु	७१३४
तरङ्गिणीरङ्ग	११११७	तस्या मनो	१४१६४	तावकोरमि	२११८५
तन्मता	४१७	तस्या हृदि	१४१२५	तावद्रतिष्ठना	१७११६२
तन्मूर	२१३७	तस्येव वा	३१२७	तामामभामन	२१११११
तर्जिताऽऽलि	२०११३	ता विलोक्य	१८११२१	निमिरविरहा	१९१३१
तर्कप्रतिष्ठया	१७१७८	ता कुण्डिनारया	६१४	निरोधलङ्घक	१६१९६
तर्का रदा	१०१८३	ता दूर्वाया	१४१४६	निष्ठ भोस्तिष्ठ	१७१९५
तल दयेयुर्न	१०१५	ता दवतामिव	११११	सीज किमर्गो	८१२६
तव प्रबो	८१२७	तादृग्दीर्घ	१७१११	तुङ्गप्रमाद	२१११०९
तव रूपमिदं	२१८५	तानमौ	२११५	तुल्यावयोर्मूर्ति	३११०७
तव वर्मनि	२६२	तानीव गत्वा	२२१४८	तुषारनि शेषित	७११३
तव सम्मनि	२१४८	ता बहिर्भूय	२०११३२	तूलेन तस्यास्तु	१४१०४
तवाधराय	९१११८	तामिर्हरयत	१५१८९	तृगार्नाव	१७१५७
तवानने	२२११०६	ताम्याममूद	२१११७	ते तत्र भैम्या	१०१३५
तवापि हाहा	१११४१	तामयेव	२०११४१	ते ता ततोऽपि	१११८१
तवास्मि मा	९११५१	तामर्माध्वपि	१८११४	तेन जाग्रद	५१३७
तवैतद्योग	९११३३	तामन्वगा	२१११०८	तेन तेन	५११०३
तवोपचाराणमि	१११३२	तामिर्ज्ञै	३१५	तेन स्वदेश	२०१४
तस्मादहरया	६१३२	तामेव सा	६१३०	तेनाद्वयन्त	१३११९४
तस्माद्विमा	१११६५	ताम्बूलदान	२०१८३	तेनारि नायस	२०११२७
तस्माद्विय	१११११२	ताम्बूलद्वय (प्रसस्ति)	४	ते निन्यिरे	१११९९
तस्मिन् गुर्ज	१११५५	ताम्मारतो	१११३२	ते निरीक्ष्य	२०१३३१
तस्मिन्प्रयन्ति	१११८७	तां मत्स्यलाभ्युन	१११९७	तेभ्य पराश्र	१०१४७
तस्मिन्प्रलो	८१५	तामिषोऽभिदधती	१८१६३	तेऽवशाय	१७१११४
तस्मिन्प्रियं	६१०३	ताम्रपर्णी	२०१२१	तेषा तथा	१०१२१
तस्मिन्नेतेन	१२११०३			तेषामिदानीं	८१९०

तेषु तद्विष	७६७	स्वमुचित	२१९९	दयोदयधे	८१९६
ते मग्नावाच	२०११३६	त्व मदीय	१८११४४	दर्शम्य	१५११९३
ते हरन्तु	२११७५	त्वया उगयुत्वि	८१४२	दत्तपुत्र	१५१२०७
तौ भियो रति	१८११३६	त्वयान्या क्रीड	२०१८०	दलोदरे	६१६३
तज्यते न	२११८६	त्वयापि किं	३१७३	दशशत	१२११०
त्याग महेन्द्रादि	१४११५	त्वया विगत	१६१८९	दशाननेनापि	२२११२९
ब्रह्मास्प न	१७१३	त्वयि न्यहन्य	२०१४४	दहति कण्ठ	४१७१
ब्रातु पनि	२०१९९	त्वयि घोर	२१२४	दहनना न	४१४६
त्रिवसमिधुन	१९१९	त्वयि स्मगधे	३१११५	दहननविनाद्	१९१४४
त्रिनेत्रमाश्रेण	८१६३	त्वयैकपन्या	९१०५	दार्ढ्यापुत्रस्य	१९१६१
त्रिमस्य तत्र	१७११८८	त्वरस्व पत्रेषु	९१८८	दानपात्र	५१९२
व्यग्रकस्य	२११३७	त्रिष चकोराय	२२१६३	दानधारि	२११६०
त्व याडधिनी	१३१३०	दृष्टताडवने	१५११४	दानधौत्र	२११५७
त्व ऋता	३११००	दृष्ट विमयं	१३११५	वारा हरि	१३१५९
त्वच ममुमायं	७१३१	दृष्टवज्रवि	२११३६	दागि उदारि	३१००
त्वचैनम	३१७०	दृष्टे चर	२१११२०	दाग कृद	१७११२८
त्वकान्तिमम्माभि	८१९१	दृष्टानचीव	३१८६	दार्ढ्यापु नार्मीर	१०१९३
त्वकुषार्ड	२०१७९	द्वदाम किं ते	८११०२	दिङ्ग मन्धुर	२११५५
त्वन श्रुता	१४१३३	द्वदामि मे	१६१९४	दिगन्तोग्म्य	१०१९२
त्वप्रायकत्	३१११०	द्वहने न	२१७१	दिगीशवृन्दास	११६
त्वदममूर्च्छा	११८०	द्वेऽपि तुभ्य	९११३१	दिगीशराधे	९१६९
त्वदधिनि	८१९४	द्वेऽपि पदेन	१७१२११	दिहपुरम्या	१७१७९
त्वदाम्यनिर्य	९१६३	द्वयो बहु	३१६	दिनमिव दिवा	१९१५५
त्वदाम्यलक्ष्मी	२०१११	द्वयद्वयुज	३१८०	दिनावमाने	२०१९७
त्वदितरा	४१३१	द्वमनाद्वमनाक	२११७	दिने दिने त्व	११९०
त्वदिर नीर	२०१२०	द्वमयन्या	२०११२	दिनेनास्या	२०१५५
त्वदगुच्छावलि	३११२७	द्वमस्वम मेय	८१७०	दिने मम	२०१३८
त्वदोचरस्त	८१७०	द्वमस्वमु पाणि	१६१४५	दिवस्पने	१६१७७
त्वद्वद्वद्वे	३११०१	द्वमस्वमुश्रित	१६१५०	दिवारजन्या	७१०५
त्वद्वपमग्यद्व	१११३०	द्वमयोत्परि	२०११००	दिवो घवस्त्रा	९१७४
त्वदाच स्तुते	२१११४६	द्वयस्व नो	८१९३	दिवाक्य	९१४१
त्वमभिधेहि	४१००	द्वयित प्रति	२१७२	दिशि दिशि (प्रशस्ति)	२०१११४
त्वमिच कोऽपि	४१९८				

दीपलोप	१८१३१	देवानिय	१३१३८	ध	
दीयता मयि	१८१४१	देवी कञ्चित्	१४१३७	धनिदानाम्बु	१४१२६
दुर्ग कामागुणे	१५१०१	देवी च ते	१४१९०	धनुर्मधुरिद्वज	११८१
दुर्लभं दिग	५१८०	देवी पवित्रिन	१११६६	धनुषी रति	२१०८
दूते नलधी	८११६	देवेन तेनेष	०२१८९	धन्यामि वैदभि	३१११६
दूयमद्रनि	१८१२९	देवैर्द्विजै	१६१६६	धयन् नलिने	१०१३३
दूयाय कथारि	६११	देव्या करे	१३१०१	धरात्सामाहि	३१९५
दूर गौरगुणे	१२१८४	देव्या धुती	१४१३०	धराधिराज	१०१६१
दूरत स्तुति	२११००	देव्याऽपि द्विष्या	१४१६६	धर्मवीज	२११९६
दूरस्थिते	००१८१	देव्याऽभ्यचारि	१११०४	धर्मराज	५१६८
दूरात् प्रेषय	१६११२४	दसमेव	००११४९	धर्माधर्मौ	१०११२
दुरारूढ	१९१६५	देव्यभर्तु	२११०८	धरेन मा	१६१३९
दूरेऽपि तत्	२२११०९	देव्यमन्य	१३१२५	धानुनियोगा	३११८
दूर्वाप्रजाप्रत्	१४१४७	देव्यम्यानुय	१५१८७	धार्य कथङ्कार	३११५
दुग्धपदप	४१८५	दोग्धा दोग्धा	१५१८१	धिवक्षापले	३१०५
दुग्धोद्धरो	१४१६३	दोर्मूलमा	११२०	धिन विधे	३१३०
दृग्ग नलस्य	१२११०९	दोष नलस्य	१०१२१६	द्रिस्तु वृष्णा	१११३०
दृशाऽपि मा	८११०	दामन्तग	१११३	धिनीनि नाम्मान्	८१९७
दृशाऽथ निद्रिश्य	१२१६९	द्रागुपादियन	२११३	धियाम्नस्ताव	९११२४
दृशोरपि	१४१०५	द्रुतविगमित	४१११८	धुना पनन्	९१८६
दृशोरमन्त्रस्य	९११०६	द्रोण स नत्र	१११६९	धुपित यदु	१८१५
दृशोर्द्वयी	९१६०	द्रोह मोहेन	१६११४७	धूमावर्ति	१४१७३
दृशोर्ययाकाम	७१९	द्रोहिण द्रुहिणो	१०१११६	धूर्वाभिदिव	१०१९०
दृशी किमप्या	५११४	द्रापन माधु	१५११३९	धृत वनमो	१५१०९
दृशी मृषा	९१२१	द्रापनैक	१०११०७	धृमलाञ्जन	०१२६
दृष्ट दृष्ट	२०१६७	द्रिक्पण्डली	१०१८७	धृताङ्गगमे	१८१३९
दृष्टो निजा	२२११३०	द्रिक्परेव	१९१६३	धृतादृतेमनस्य	८१०७
दृष्टा जन	१०११९६	द्रिपद्रिवात्य	११०२	धृतात्परोषा	३१८
दृष्टा पुर	१०११५८	द्रोप द्विपाधि	१११३३	धृतेनपा	१५१३२
देव पति	१३१३३	द्रोपस्य परस्य	१११४९	धृतेऽस्या	११११९
देव स्वय	१११२९	द्रोपस्य शालमल	१११६७	धृतेऽपि	००१३५
देवदूय	१८११३८	द्रोपान्नरेभ्य	१०१०६	ध्रुव विनीत	१६१६७
देवधर्दिन	१३१७६	द्रेप्या कांति	१२११२	ध्रुवमधीन	८१३

ध्रुवावलोकाय	१६३८	न यच्चलञ्जे	१०१२	न व्यहन्यत	५११२३
ध्वान्तस्य तेन	२२१३९	नयति भगवान्	१९१११	न ध्रुवामि	१११११९
ध्वान्तस्य वामोर्ध्व	२२१३९	नय नयनयो	१९११४	न श्वेतना	१११३१
ध्वान्ते द्रुमान्ता	२२१४०	न यावदग्नि	१५१६४	न पद्भिविध	१६११०८
ध्वान्तैशनाम्न्या	२२ ३१	नरमुगञ्ज	४१४४	न मल्लिधारी	९१४८
न		न राजिका	१६१०३	न मुखा	२१००
न काकुवाक्ये	९१९३	नल स नत्पन	९११२८	न म्पली	१८१६९
न का निशि	११३०	नल मद्रावेय	९११३३	नाकर्णिक	५१४६
न केवल	१११३१	नलमगाली	६१३	नाकेऽपि विप	१०१५९
न क्षमे क्षपला	२०११५०	नलभाममुषो	१०११०	नाकराणि	५१००१
न लल मोह	४१३६	नलभमेग	१०११८	नागेऽनु सानु	१३१११८
न त्वेन कृचा	१६१८१	नल प्रचनपेना	१३११५६	नात्र चित्रमनु	५१२
न जातरूप	१११२९	नलविमल	४१६८	नात्र नात्य	१८१६०
न जाननी	१४१०९	नलस्य नार्मार	१११४	नात्र निपाद्	२११११३
नतभ्रुव	१६१६०	नलस्य परयति	१०१०३	नानया पति	१८१९१
न तुलाविषये	२१५१	नलस्य पृष्ठा	११२३	नापरोपमनय	२११६८
न नृणाबुद्धार	१०१४९	नलस्य भाले	१५१६१	नापराधी	१३११०३
न तेन बाहपु	१६१३४	नलात्मवैषम्य	१५१५५	नाबुद्ध बाला	१४११८
न वा शिरोरत्न	८१२०	नलानमया	१०१४५	नाभूदभूमि	१०१२
न दाय विद्वेषा	१४१९३	नलान्यवीक्षा	१२११०८	नाभ्यधापि	५१११७
नन्वत्र हन्य	१११३३	लाय बाल	१६१५०	नामधेय	५११०
न पर्याप्त	१३११४३	नलाभदेग	३१४५	नामभ्रमाघम	१३११०५
न पाण्ड्यभू	१०११५	नलिन मलिन	२१०३	नायकस्य	१८१६२
न पाहि पार्श्वानि	१०१२३	नलेन ताम्बूल	१६१०८	नालोकने	२०१३०
न पीयता	१२१६	नलेन भाया	३१११३	नालभक्तारि	२११४३
नभस कलभे	११६३	नले विधातु	१४१०३	नावा स्मर	६१६९
नभमि महसा	१९११०	नलेष्टापूर्ण	१३११५८	नात्रिलोक्य	१८१५०
नभोनर्दीकूल	२०११९	न वन पथि	२१६०	नामत्यवदन	२०१३०
न भ्रातु किल	१०१६५	न वर्तसे	९१११९	नानादमीया	३१३६
नम करेभ्यो	१०११०६	नवा लता	१८५१	नामीरर्मासनि	१३१०२
न सम्मथस्व	८१०९	न वामयोग्या	१११२८	नास्ति जन्य	५१२४
नत्रप्रत्यधि	१०१५६	न विदुषिनरा	१९१०४	नास्यदि दृष्टापि	३११३
नम्रयाशुक	१८१८०	नवौ युवानौ	१६१०५	नास्यद्विनेन्द्रस्य	२२१११८

निजस्य वृत्तान्त	९१७९	निशि निरशना	१९१८	नैवाल्प	१३१२
निजाशुनिर्दग्ध	९१७६	निशि शशिन्	१९५४	नैपघात्र	१८८
निजाक्षिलक्ष्मी	१२१४२	निश्चिन्त्य	१७११	नैपधेन	१७१३८
निजादनुमज्ज्य	१६११६	निश्चङ्कमङ्कुरित	११९१	नैषधे घत	५७१
निजानुजेना	२२१४३	निश्चङ्कसङ्कोचित	७१७७	नो ददामि	२११६८
निजा मयूरा	११६५	निपघनृप	१६१२७	न्यग्रोधना	११३०
निजामृतो	१०१२९	निपिद्धमप्या	९३६	न्यधित	४१४१
निने क्षुजास्मासु	८१९२	निपेधवेधो	९१५०	न्यवारीव	२०१५३
नित्य नियत्या	६१०३	निस्पदस्य	१७१२०	न्यवीदिश	१०१६७
निपतताऽपि	४१५१	निर्भिन्न	१२१६६	न्यवेशि रस	९१७१
निपीतदृता	१५१११	नीतमेव	१८१२५	न्यस्त तत	८१८३
निपीय पीयूष	९१७२	नीतयो स्तन	१८१६६	न्यस्य तस्या	२०१४२
निपीय यस्य	३११	नीताना यम	१०१९०	न्यस्य मन्त्रिपु	१८३३
निमीलनभ्रश्च	११२७	नीलदाक्षिण्य	२०१९४	प	
निमीलनरूप	६१२२	नीलनीर	२११३३	पक महा	२२१२८
निमीलिताक्षि	११४०	नीविस्तीम्नि निर्दिष्ट	१८१०३	पङ्कसङ्कर	५८७
निरन्तरवेन	२२११४	नीविस्तीम्नि निहित	१८१४३	पचेलिम	२२११४
निरस्य दूत	९१३८	नृप कराम्या	१२१८०	पद्मेपु	१७१२३
निरीक्षित	८११२	नृप पुरस्सै	१०१९	पण्डित	१७१६४
निरीक्ष्य रम्या	१६१०४	नृपनीलमणी	२१७१	पतगाधिर	२१७
निरीय भूषेन	१५१८	नृपमानस	२१८	पतगेन	२११३
निर्दिश्य निविरति	११११८	नृपस्य तत्रा	१५१५८	पतस्येत	१२१४६
निलीयते	३१३३	नृपानुपक्रम्य	१२१४	पतस्त्रिणा तद्रुचि	१११९७
निवारिता	११११	नृपाय तस्मै	११९९	पतस्त्रिणा द्वाधिम	१५१०९
निविशते	४१११	नृपेण पाणि	३१७९	पतिवराया	९१८१
निवेद्यते	९१४७	नृपेऽमुरूपे	११३३	पर्युरागिरित	१८१०८
निवेद्यता	८१२४	नृणा करम्वित	१११४४	पर्युगिरीणा	२२१२९
निवेशित	१५१४३	नेत्राणि वैदर्भ	३१३	पर्यौ तथा	१७१५४
निशेय	१६११०	नेत्रारविन्दस्व	२२१९०	पर्यौ घृते	१४१९१
निशा दशार्क	३१४८	नेत्रे निपद्य	२०१५१	पर्यामनीयन्त	१५११४
निशि दश	१९११	नैऋतर्ण	२११२९	पर्या तस्या	१७१२९
निशि दष्टा	२०११७	नैन त्यज	६१८०	पद क्षतेनाप	६१८२
निशि दारय	२०११५	नैव न प्रिय	५१९९	पदद्वय	१५१४६

पदातिथेयौ	९११३३	पश्य द्रुता	२२१६	पुत्री विधो	२२१७१
पदे पदे भाविनि	३१११	पश्यन् स	६११८	पुत्री सुहृद्	८१०७
पदे पदे सन्ति	१११३२	पश्य मीक	१८१८४	पुत्रेष्टि	१०१९३
पदे विधातु	७११०	पश्या पुरन्ध्री	६१३९	पुन पुन का	१५१३०
पदेशतुभि	११७	पश्यावृतो	२२१४१	पुन पुनर्मिल	१०१७
पदोपहारे	८१२२	पश्योच्च	२२११२०	पुनर्वन्द्यसि	१०१११५
पद्मया नृप	६११७	पाशुला	२११६४	पुमास मुमुदे	१०११६८
पद्माङ्गमथा	७१४९	पाञ्चजन्य	२११८४	पुमानिवास्पर्शि	६१४७
पद्मान् हिमे	१०११२०	पाणये बल	५१४५	पुर सुरीणा	९१२८
पपी न कश्चित्	१६१६५	पाणिपर्वाणि	२१११९	पुर स्थलाङ्गुल	१६१५३
पथ स्मिता	१६११०६	पाणिपीडन	५१९९	पुर स्थितस्य	६१४१
पयोधिलक्ष्मी	११११७	पाणौ क्ली	११११८	पुरभिदा	४१७६
पयोनिनीना	१११०८	पाणुहंशा	३११०४	पुराकृति	७११५
पयोमुखा	२२१११४	पाथोधिमन्य	१११२०	पुरा परित्यज्य	८११३
परदार	१५१४२	पापात्तापा	१०१४४	पुरा यामि	१०११५३
परभृत	२१११४२	पार्थिव हि	५११५	पुरी निरीक्षया	१६११२९
परवति	३११३४	पार्वमागमि	१८१३६	पुरे पथि	१०१३१
परस्परस्पर्श	६१२५	पिकरुत	४१३५	पुरैव तस्मिन्	१६१२३
परम्पराकृत	१६१७७	पिकस्य	८१६४	पुरो वृठा	११९७
परस्य दारान्	१४११६	पिकावने	११८	पुत्पकाण्ड	१८१२०
परस्य न	१६१११३	पिताऽऽमन	१६११७	पुत्प धनु	७१२४
पराङ्मुखवेशा	१६१३	पितृर्नियोगेन	३१७२	पुत्पायुध	२२१६७
परित्यागलय	२१९५	पितृणां तर्पणे	१०११६६	पुत्पेपुगा	१११२६
परिसृज्य	२१५०	पिपासुरस्मी	१६१८३	पुत्पेपुश्रिकु	६११२८
परित्वज्जवा	९१११६	पीडनाय	१८१९५	पुत्पैरभ्यर्च्य	१४१८७
परीरम्भे	२०१४६	पीतावदाता	१०१९८	पृगभोग	१८१९८
परितभर्तु	१११०९	पीतो वर्ण	२१११३७	पृजाविधौ	१११११०
पर्यङ्कतापन	३१६६	पीत्वा तवा	१११७५	पूतपाणि	२११९०
पर्यभूटिन	५१६	पीयूषधारा	३१४२	पूर विधु	२२१५९
पर्वतेन परि	५१४४	पुसामलब्धे	१०१३१	पूर्णयेव	२०१३१
पन्नाशदामेति	१५१५३	पुमि स्वभर्तु	६१४३	पूर्णन्दुबिम्बा	१०१६२
पवनस्कन्ध	१०१११	पुटपाक	१०११६५	पूर्णन्दुमास्य	१०१२०
पवित्रमत्रा	११३	पुण्ये मन	८११७	पूर्वपर्वत	२०१२३

पूर्व मया	१३१४४	प्रभुत्वभूम्ना	९११०९	प्राप्तव तावत्	८१४९
पूर्वपुण्य	५११०	प्रयस्यतान्त	१०११९	प्रावृदारम्भ	२०१२४
पृथक् प्रकारे	१६११०५	प्रयातुमस्माक	११९६	प्राशमि	१०१५८
पृथुवर्तुल	२१३६	प्रलापमपि	१७१०९	प्रिय न भृत्यु	९१९७
पृथ्वीदा एष	११११२३	प्रलेहज	१६१८५	प्रिय प्रिया	११३८
पृष्टेऽपि किं	२२१८१	प्रवमते	५११३४	प्रिय प्रियामथा	२०१२१
पौरस्यशेख	८१५२	प्रवेच्यत	१०१६४	प्रिय प्रियैका	१६११८
पौरस्यपाया	१९१६२	प्रदामितुं	१२१८७	प्रियकरग्रह	४१३०
पौरस्य वृधति	१८१२८	प्रसादमासाध	१४१८	प्रियमन्त्री	४११०१
प्रकाममादित्य	११११५	प्रसारिनाप	१४१८१	प्रियम्याप्रिय	२०१५६
प्रकृतिरतु	४१२३	प्रसीद तस्मिन्	९१५३	प्रिया विकल्पो	६११७
प्रक्षीण एवा	६११००	प्रसीद यच्छ	९११४७	प्रियाशुकप्रस्थि	१६१३७
प्रतिज्ञय	१७११३७	प्रसन्नवक्ता	१४१२४	प्रियान्नपान्या	७१६
प्रतिप्रतीक	७१२	प्रसन्नता	१६१४०	प्रियामन्त्री	७११०५
प्रतिविम्बेक्षिते	२०११०६	प्रसन्नधाण	७१४८	प्रियामनोभू	८१८८
प्रतिमासमसो	२१५८	प्रसन्नमित्येव	९११३९	प्रियामुत्तरी	७१५२
प्रतिहृदपथ	२१८५	प्रसन्नमाज्ञा	६१२९	प्रियावियोग	२०१२२
प्रतापभूषे	१११२	प्रसन्न नत्	७०१७८	प्रियास्तु बालास्तु	११११८
प्रत्यक्षलक्ष्याम	१४१३०	प्राञ्जपुष्पवर्षे	१०११०१	प्रियाद्विया	१२११
प्रत्यक्षभूषा	१०११०४	प्रागचुम्ब	१८१३८	प्रियेण साध	२०११०३
प्रत्यक्षमस्या	७११९	प्रागित् प्रसु	५११४	प्रियेणारूपमपि	२०१५
प्रयाताष्टप	५१९६	प्रागेतद्वपु	१०१९३	प्रिये वृणीष्व	८११०३
प्रत्याभज्ञाय	१०११०९	प्रागष्टप	१०१४०	प्रीतिमेप्यनि	२११३४
प्रत्याधपायिव	११११०३	प्रागभवेत्तद्	७११८९	प्रेयसावादि	२०१६
प्रत्याधयावत	१११८८	प्रागभूय कर्को	१०१८	प्रेयसीकुष	७११९
प्रत्यलापात्	१०१११५	प्राचीं प्रयाते	८१६२	प्रेयसीजित	५११३१
प्रत्युद्भवजन्या	२११२	प्राणमायत	२१११३	प्रेयिता पृथ	५१०६
प्रथमककुम्भ	१५१२६	प्राणवत्	२११८०	प्रेयरूपक	५१६६
प्रथममुप	१९११४	प्रातरात्म	१८१६१	प्रीन्द्रि बान्धित	१७१३५
प्रथम पथि	२१६५	प्रातर्वर्णनया	१०१६५	प्लने महीयमि	१११७४
प्रदक्षिण	१०१५४	प्रापितेन	५१८४	प्लष्टश्रापेन	८११०५
प्रदक्षिणप्रक्रम	१४१२	प्राप्ता तवापि	२११२४	फ	
प्रयोगकारे	२२१२३	प्राप्तु प्रयच्छति	१३१३०	फलमलभ्यत	४१८१

फलमीमा	१७११४१	विमेति रथामि	२१११२	भावितेय	२०१३८
फलानि पुष्पाणि	११५७	विभ्रल्लुपरि	१७१६९	भावी वर	११११०८
फलेन मूलेन	१११३३	वृद्धिमान्	१८१४५	भापते नेत्रध	२०१५०
व		वृषजनकथा	१९१५५	मास्वदृश	१२११०
वत ददामि	४१८४	ववीनि दामर्गह	१२१५१	मास्वन्मर्या	२०१३३
वन्ध्याट्यनामा	३११२४	ववीनि मे	८१४८	भिक्षिता दत्त	७१२१
वन्ध्याय दिव्ये	३१००	वह्यचारि	१७१३२	भक्तिगार्भ	१८११३
वन्धूकवन्धू	७१३७	वह्यगोऽस्तु	२११९०	भोक्तिचित्र	१८११९
वभाग वरग	१७११०१	वह्याङ्गयस्या	७१३	भोमजा च	५१८२
वभूत न	१६१४४	वह्यार्थकर्मार्थ	१०१८१	भीमजामनु	२१११५
वभूव भैरवा	१५१६२	वाह्यग्यादि	१७१८६	भीमस्तया	१०१८९
वभौ च प्रेयसी	२०१५१	वम क्रिमस्य नल	१११७९	भीमात्मनापि	२१११०७
वल्गस्य कृष्टेव	१५१३१	वम क्रिमस्य वर	१३१३	भुजगोदान	१७१११९
वल्गुत्तरन	१७१४८	वम दान्त तव	१९१५६	भुजोऽपमर्ष	१२१६४
वल्गिस्त	२१८४	म		भुजानस्य	२०१९०
वहुकम्बुमणि	२१८८	भक्तिमात्रमनु	२१११०१	भुवनत्रय	२११८
वहुनगरता	१९१५३	भक्त्या तयैव	१४१७	भुवनमोहन	४१८३
वहुत्पक	२१८३	भट्ट प्रभु	२२१८०	भुवि भूमिवा	१२११६
वहुनि भीमस्य	१६१४३	भट्टार्जुनि	१२११९	भूप स्थलोक्त	१११९३
वहोर्दुरापस्य	१६११७	भट्टरज	५१११८	भूपेऽपि तेषु	१११८२
वह्मनम्यन	१८११०७	भजने खलु	२१३३	भूभर्तुरस्य	११११२१
वह्ममानि	१८१९४	भवत्पदाहुष्ट	८१३६	भूमृत पृथु	२११८
वालकेलिपु	२११७६	भवद्वियोगा	३१११३	भूमृदुवाङ्	२११११७
वाटानपे	१११४३	भवद्भुक्त	१४१८९	भूमृद्विर्लभि	१११९४
वाला विलोक्य	१३१०६	भवद्विष्टय	६१४२	भूमीभृत	१३१५
वालेऽधरा	११११०४	भवन् सुद्युम्न	१११८३	भूयस्ततो	१११२८
वालेन नक्ष	२२१५१	भवलघुयुता	१९१२२	भूयोऽपि बाला	८१३१
वाहुवह्नि	१८१९१	भवादृशे	१७११२७	भूयोऽपि भूपति	२०१५३
वाट प्रियाया	७१६८	भवानपि	१४१७१	भूयोऽपि भूपमप	१११११३
विभर्ति वश	९१६	भविता न	२११५	भूयोऽर्थमेन	६१११०
विभर्ति लोक	१७११६	भविता भाव	१७१७७	भूरिष्टि	२११५४
विभीतक	१७१२१३	भव्यानि हानि	७११६	भूलेकमर्तु	८११४
विभेति चिन्ता	९१३१	भव्यो न	१७११४०	भूशक्तस्य	१२१९१

नृपाभिरक्षै	१०१३८	मत्कर्जमूपणा	२०११०८	ममाशय	९१३२
नृपाभिरक्षाम्न	२२१८	मत्तप ह	५१९१	ममासनाद्	९१११४
नृदा वियोगा	९१८९	मत्प्रीतिमाधि	३१५८	ममामावपि	२०११०
नृदातापमृता	२१५३	मदनताप	४११०	ममैव पाणी	९१६८
नृदामविमर	१९११३	मदन्यदान	३१७५	ममैव वाहदिव	९१९६
भेर्माहितानि	१११९४	मदर्थमन्देश	१११३०	ममैव शोकेन	१११४०
भर्मा च दृश्य	६१८९	मदान्मदमे	१६३२	मयाप्त पृष्ट	९१३
भर्मानिरस्त	१०११७	मदप्रताप	९१९५	मयापि देय	९११६
भर्मानिरासे	६११६	मदेषुपुत्रा	१११३५	मयि न्यति	१२१०४
भर्मा निरीक्षया	१४१३२	मद्विप्रलम्ब	३१७८	मयेन भीम	१६१२९
भर्मापदस्पर्श	६१५	मद्विरोधि	२०११३४	मयैव सम्बोध्य	९११४०
भर्मासवाप	१११९५	मध्य तनूकृत्य	७१८२	मरुल्लल	११९४
भर्मासुपावी	६१६५	मध्ये बद्धाणि	२१११४५	मर्यदुप्यचर	२११६
भर्मा पत्ये	१७१२	मध्ये श्रुतीना	३१६५	मर्यालोक	२१११४
भर्माभिनोदाय	६१७४	मध्येसभ	१०१७४	मल्लिकाकुसुम	२११४०
भर्माचिज्ञाह	१०११४	मस्योपकण्ठा	७१४०	मसारमाला	१६१२१
भर्मासर्मापे	६१७२	मनमाय	२०१४७	महाजनाचार	९११३
भर्मा सम	६१२	मनसि सन्त	४११२	महानट किं	२२१३
भर्मा लज	१४१४१	मनस्तु य	३१०९	महापराक्रिण	१७१९२
भोतिभि क्षिति	२११९१	मनोमुवस्ते	९११४०	महारथ	११६१
भ्रमणरथ	२११०८	मनोमृगस्ति	२०१४१	महाबहान	१७११६
भ्रमन्ममुप्या	६१३६	मनोरथेन	११३९	मही कृतार्था	८१७४
भ्रमामि ते	९१५१	मन्त्र पुर	१०११३	महीमृतस्तस्य	११२६
भ्रुवाऽऽह्वयन्तां	१११७	मन्या नग	१११६२	महीमघोना	१५१७९
भ्रुवा दलाभ्या	१०१८६	मन्त्राकिनी	६१८३	महीमहेन्द्र त्वलु	६१७१
भ्रुवा प्रियाया	७१५५	मन्दाक्षनिष्पन्द	१४१४४	महीमहेन्द्रस्तम	११११९
भ्रुवहि	१११३३	मन्दाक्षमन्दा	३१६१	महीयम	११११३
भ्रुश्चित्रलेखा	७१९१	मन्मथाय	५१३१	महेन्द्रदृष्या	९११०२
म		मन्वेऽमुना	७१६४	महेन्द्रमुखे	१६१२५
मदा सुधायां	७१५	मम त्वदृष्टा	९११०७	महेन्द्रहेने	९११००
मर्मायनाभी	१५१५०	मम धम	९११२६	मा जानीत	१५१८६
मण्डलयाग	१७११८५	ममादरीद	९११००	मा धनानि	५१८९
मठ किमरावन	९१५२	ममानुमैव	२२१९२	माष्यन्दिता	२११०६
		ममापि किं	९१९८	मानवानाश्च	१७१०२

मानुषीमनु	५१४७	मृगस्य लोभात्	२२१६८	यत्तास्त्रिजे	१४१७
मामभीरिह	५१९०	मृगाहि यन्म	२२११२८	यत्तया सदसि	१८१२९
मामुपेव्यति	५१७०	मृत स्मरति	१७१५२	यत्त्वयाऽस्मि	१८१४२
मायानलत्व	१४१५८	मृत्युञ्जय	२२१६२	यत्पयावधि	१२९
माऽवापदुद्धिद्व	२२१९३	मृत्युहेतुषु	२११९८	यत्पायोञ्ज	१९१५८
मित्रप्रियोप	१३११६	मृषा निशा	२२११००	यत्पद्ममादिषु	२२१११५
मिधितोर	१८११४७	सृपाविपादा	११५१	यत्पूजा नयन	२२११३८
मिहिरकिरणा	१९१२८	मेचकोत्पल	२११४१	यत्प्रयुत	८८२
मीयता कय	५१८३	मेनका मनमि	५१५१	यत्प्रदेय	५१८५
मीलन शोके	६१२१	मैव वाङ्मन	२११५२	यत्प्रीतिमज्जि	२२१४४
मुक्तमाप्य	२११११	मोहाय देवा	२२११७	यत्कान्तकर	२११२८
मुक्तये य	१७१७४	मौञ्जीमृतो	१७१७७	यत्प्र पुनश्चर	१८११५
मुक्च यदस्मापि	१६१६१	मौनिन्यामेव	२०१६५	यत्प्र मत्तकल	१८११६
मन्वपाणि	७१९६	मौनेन व्रत	१७१७५	यत्प्र वीक्ष्य	१८१२६
मल्लरयस्व	४१०३	मदीयमा	१५१२४	यत्प्र वैणरव	१८११७
मुलाक्षरम्प	२०१९२	म्लानिमृश	२२१३६	यत्प्रभिलाप	१४१८०
मुत्थानि मुक्ता	१५११६	य		यत्प्रवदता	६१६८
मुत्थान्प्रमावर्त	१४१३६	य पृष्ट युधि	१२१९७	यत्प्रैकपाली	६१११
मुत्वेन तेऽत्रोप	१६१५०	य प्रेर्यमाणो	६१७९	यथाकृति	८१२८
मुखे निधाय	१६११०९	य सर्वेन्द्रिय	१७१२८	यथा तथा	९१२९
मुख्य स	८१३०	य स्पर्द्धया	१०१५०	यथामिषे	१६१८०
मुग्धा वधामि	१३१४५	य स्यादमीषु	१३१५२	यथा तथेह	९१२०
मुद्रिताभ्य	५११२	य वृष	२२१९७	यथायूनस्तद्व (प्रशस्ति) १	
मुधार्पित	१०१६३	यस्य कर्दम	२११७	यावदस्मै	१६११७
मुनिर्यथा	९११२१	यश्चण्डिमा	१३१२९	यथाऽऽमीत्	१७१२१५
मुनिद्रुम	११९६	यश्चुम्बनि	२०११४७	यथोद्दमान	११३९
मुनीना स	१११७६	यज्ञधूपधना	१७११६९	यदस्म	८१४
मुषितमनस	१९१२३	यज्वमार्या	१७१२०१	यदगार	२१८९
मुहूर्तमात्र	१११३६	यतश्च सह	१७११३१	यदन्नभूमी	१६१२२
मूर्द्धाभिषिक्त	२२१३८	यतिहस्त	१७११८४	यदतनुस्वर	४१२
मूलमध्य	२१११२	यत्कस्यामपि	१२१८१	यदतनुस्व	४१२३
मृगया न	२१९	यत्तच्छिपन्त	१७११९	यदतिमहती	१११४१
मृगस्य नेत्र	८१४०	यत्तदोय	१८११०३	यदतिविमल	२११०३

यदप्यपीता	१६११	याचमान	५१८८	यो मघोनि	५१४८
यदग्नुपूर	१११६	याचितश्चिर	५१२६	यो कुरङ्ग	१८१९६
यदवादिप	२१११	याचे नल	१३१४७		
यदस्य यात्रासु	११८	या दाहपाकौ	१४१४४	र	
यदापवार्यापि	९११२२	यानेन तन्व्या	७१०१	रञ्ज स्वरञ्ज	११११३
यदि त्रिलोकी	३१४०	यानेन देवाच्च	६१८५	रञ्जिल्ल	१७१२०६
यदि प्रसादो	५१४३	यान् वर	५१३२	रञ्चय चारु	४१११४
यदि स्वभावा	९११०	यापदष्टि	५१२०	रञ्चयति	१९१३९
यदि स्वमुद्रश्च	९१४६	यामिराननु	५११०	रञ्ज पद	१०१११९
यदिहापि हेतु	१६१७०	यामि यामिह	५११०७	रञ्जनिवमधु	१९१६
यदुद्धता श्री	१५१६७	या मनोरथ	५११०९	रञ्जयस्त्रस्या	७१७०
यद्वभार दहन	५१६३	यावरपौलस्त्य	१२१४७	रञ्जयस्व राज्ञे	६१८४
यद्वर्तु कुरते	१२१९२	यावदागम	५११	रतिपतिप्रहिता	४१४०
यद्वधुवी	११८८	यावन्तमिन्दु	२२१८३	रतिपतेर्विज	४१३७
यद्विधूय	१८१५५	या शिरोविधुति	१८१७१	रतिरतिपति	१९१२१
यन्मती	५११०६	या सर्वतो	१३१२१	रतिवियुक्त	४१७८
यन्मीलिरत्न	१११८३	यासि स्मर	१७११५५	रथाङ्गभावा	१११११
यमुपासत	१०१२०	या शोभ	१०१८८	रथादमौ	६१७
यमेन जिह्वा	१६१२१	युगशेष	१७११४८	रथैरथायु	१०११
य प्राभूत	५११३६	युद्धवा चाभि	१२१४८	रम्भादिलोभा	१०१११३
ययो विमृश्यो	१०११६	युवद्वयी	११९५	रम्भापि किं	७१९२
यश पदाद्गुष्ठ	७११०६	युवानमालोक्य	१६१५९	रम्येषु हर्म्येषु	१०१२७
यशो यदस्या	३१३९	युवान्तर	१२११४	रराज दो	१५१६५
यस्तन्निव	८१८०	युवामिमे	१६१५१	रविकान्त	२१९३
यस्ते नव	३११२१	युवा सभा	१६१८४	रविरथ	१९११७
यस्त्रिवेदी	१०१२६	युष्मान् वृणीते	१४१४०	रविर्गञ्चि	१९१७
यस्मिन्ल	६१३५	येन तन्मदन	१८१५४	रवेर्गुणा	८१६८
यस्मिन्स्मीति	१७१५१	येनामुना	१३१२८	रसस्य	१०१११५
यस्या विभो	११११६	येषु येषु	५१३२	रमालमाल	११८९
यस्येधरेण	१३१४९	ये हिरण्य	२११७७	रसे कथा	११२
याचत स्व	१०१८९	यैरन्वमायि	२२१९०	रहसहचरी	१९१२५
याचते स्म	१११४८	योग्यैर्गजनि	१०१३	राग दर्शयते	२०१३३
याचनाच्च	१८११७	योजनानि	१८११०८	राग प्रतीत्य	२११२५
				राजा द्विजाना -	८१६७

राजान्तरा	११३४	ल	वदत्यचिह्नि	२०६८	
राजा न यत्वा	३१२४	लक्ष्मीविलास	१११४७	वदनगर्भ	४१६५
राजौ डिजाना	७१४६	लक्ष्मीलता	१११४६	वद विधुन्तुद	४१७०
राजामस्य	१२११८	लक्ष्म्ये घृत	१०१११७	वनकेलौ	२०१२५
राज्ञा पधि	१०१७	लघौ लघायेव	९११७२	वनान्तपर्यन्त	११५५
राज्ञि कृत्वा	२११४४	लक्ष्म्ये ह	११११०२	वय कलादा	८१९९
रामणीयक	५१६०	लक्ष्म्या प्रथम	१८१३९	वयसी शिशुता	२१३०
रामालिशोमा	२२१७७	लक्ष्मिनामि	३०१००	वयस्यदा	१२५९
रामेषु मर्म	७०१७	लक्ष्म्यालालान्य	१११००	वयस्याभ्यर्थने	२०१११३
रिपुतरा	३१२४	लक्ष्म न लेय	३०१११६	वयोवन्तस्तोक	१६१६९
रिपुनवाध्यापि	१२१७७	लक्ष्मिनामि	१०१३३	वरण कनकस्य	२१८६
रुच्योऽस्त	२१९०	लक्ष्म्ये ह	१५१६६	वरस्य पाणि	१६११४
रुचिरचरण	१९१४७	लक्ष्म्याऽऽत्म	१११२२	वराटिकोप	३१८८
रुद्धसर्व ननु	१०११०	लक्ष्म्येन नानामि	२२११७३	वस्त्रगृहिणी	१९१३
रुद्धेषु निद्रा	२०६८	लक्ष्म्येन नानामि	२२११७३	वरेण वरुण	२०११२६
रुपा निषिद्धा	३११५	लिपि हजा	३११०३	वर्णाश्रमाचार	१११४२
रुपाणा	७११००	लिपिर्न द्वेवी	१११७७	वर्णासङ्कीर्ण	१७१८५
रूप यदाकथं	१०१११४	लिपिहे ह्यम्हा	२११००	वर्णातपाना	२२१९६
रूपमस्य	७१०२	लीनचीनाद्युक्त	२०११०८	वर्षेषु यद्भारत	६१९७
रूप प्रति	६१४५	लीनश्चरामीनि	३११०	वस्त्रभस्य	१८१४०
रूपवेष	१०१७४	लीलयापि	३११९७	वस्त्रभेन	१८१९२
रुपाभिरास्यं	३१३७	लेखा नितमिवनि	१३१६	वस्तु वाम्नु	३११९३
रेवतीश	२१८२	लोक एव	५१९१	वस्तु विश्व	१२११९४
रोमाङ्गु	१३१०१	लोकत्रयी	१७१८४	वामिनी जड	१७११३४
रोमाश्रिताङ्गी	३१२३	लोकत्रयि	३१८१	वामजन्मवैषय	८१३२
रोमाणि	१३१००	लोकाश्रयो	२२१२५	वाग्देवता	१३१८३
रोमावलीदण्ड	७१८९	लोकेन्द्रकेशव	१११२५	वाच तदीया	३१६०
रोमावलीभू	७१८६	लोकेन्द्रशेषे	१०१४	वाणीभिराभि	२२११०१
रोमावलीरज्जु	७१८४			वाणीमन्मथ	२१११४१
रोपकुङ्कुम	१८११२०	व		वानोमिलोलन	१११५९
रोपभूषित	१८११२६	वक्त्रेन्दुसन्धिधि	१११११	वान्तमाह्वयकच	१८१११९
रोहण किमपि	५११२५	वक्षस्त्वदुग्र	११११२४	वामपाद	१८११०५
		वत्सनीलाशु	१५१८१	वाराणसी	१११११६

यातां च सा	३।४४	विदुक्तरपरि	२।१०६	विरहिभिर्गुह्य	४।६३
यादमीकिरशला	१०।५७	विबुद्धीधनि	२।९४	विरहिवर्ग	४।६२
वास पर नेत्र	७।८	विदुरमानि	४।२०	विरोजिरे	१।५।२३
वासरे विरह	१८।५२	विधुविरोधि	४।१०७	विरोधिवर्णा	१०।९६
वाससो वाग्बर	२०।१३०	विप्रे कदाचिद्	३।१९	विरोध्य दुर्वास	१६।३१
विशसिनीला	२०।१२३	विधोविधि	७।५९	विलम्बसे	९।९०
विचित्रादिप्र	१।५।१८	विनिमद्विरध	२।७०	विल्लासजला	२।६९
विधिम्य माना	१०।६८	विना पतत्र	३।३७	विलामवादी	१।१०२
विचिन्त्य बाला	३।६८	विनापि भूपाम	१।५।२७	वितामवद्गम्य	१०।३२
विचिन्त्यवती	१।८६	विनिद्रपत्रालि	१।७८	विलेपितु भीम	६।६४
विजिग्य दास्या	१।५।२०	विनिहित	४।२८	विलेपनामोद	१०।९५
विज्ञसिमन्त	६।७६	विनेतृमर्ग	१।६।९	विलाकके	१।४।६७
विज्ञापनीया	३।९४	विपजिग्राच्छादि	१।५।१७	विलांकनात्	२०।४५
विज्ञेन विज्ञाप्य	३।९३	विप्रपाणिषु	२।१।१०५	विलोकनेनानु	२२।३
वितत वणिजा	२।९१	विप्रे धवयु	१।१।६८	विलोकमाना	१०।५५
वित्त वित्त	५।१०५	विभज्य मेहन	१।१।६	विलोक्यन्ती	१।२९
विदग्धवादे	१६।१०१	विभिन्ना	९।६२	विलोकितास्या	७।५१
विदग्धनाया	१६।१५	विभूपगम्यश	१।५।८०	विलोकिते	१।१।१३
विदर्भनाग्न	१।५।६३	विनूपणेभ्यो	१०।१००	विलोक्य तच्छाय	६।४४
विदर्भराज	१६।५	विनूपणे	१।५।१५	विलोक्य तावास	१।४।६८
विदर्भराजप्रभ	९।१४१	विभ्रम्य मशारु	७।७	विलोक्य यूना	१।६।२२
विदर्भराजाऽपि	१।५।५	विमुच्यन् दृष्ट	१।५।१११	विलोचनाभ्या	१।५।३८
विदर्भसुभ्रुव	१।५।४०	वियोगवाप्सा	७।६१	विलोचनेन्दी	१।५।३३
विदर्भसुभ्रुवन	१।८२	वियोगमाना	१।७९	विनेमिताङ्को	२२।४६
विद्या विदर्भेन्द्र	७।४१	वियोगभाता	१।१००	विस्मयता	२२।३४
विद्वाने रस	१२।३०	वियोगिदाहाय	१६।४	विशेष गथा	१।४४
विधाय नागूल	१२।०६	वियोगिनीमैत्र	१।८३	विशति युवा	१।९।२५
विधाय वन्धूक	१।५।२८	विस्मयता	८।५६	विशेषनार्थ	१।५।४४
विधाय मूर्ति	१।१।२४	विरहगत	४।२२	विश्व पितृ	२।१।६४
विधाय मूर्धनि	७।९३	विरहतापिनि	४।२७	विश्वधेर	१।८।११२
विधि वधू	३।५०	विरहपाण्डिम	४।१५	विश्वरथ	५।१०१
विधिरनत्र	४।८८	विरहपाण्डु	४।२६	विश्वरूपक	५।३९
विधिस्तुवार	२२।५५	विरहिणो	४।९६	विश्वरूपकृन्	२।१।१३

विषमो मल	२१०७	वैदभि दत्त	१४१६९	वाशस दासी	१२१२१
विष्टर तट	५१७	वैदर्भि दर्म	१११५१	वाशकलङ्क	४१५५
विश्वगुप्त	११८४	वैदर्भिकलि	२११०५	वाशाक निहोतु	११५२
विस्मयेयमनि	१५११४०	वैदर्भीविपुला	१५१८७	वाशिमय	४१३८
विहाय हा	९१४४	वैदर्भीविपुला	१५१९०	वास्ता न हसा	३१९
वीक्षितस्व	५१४७	वैराग्य य	१७१७२	वाश शुक्लद्वद	१११३८
वीक्ष्य तस्य वरुण	५१६१	वैरिणी शुचिना	१७१९२	वाशी चरन्ती	६१७१
वीक्ष्य तस्य विनये	५१२०	वैरिग्रिय	११११११	वाशैव साक्षा	१०१७६
वीक्ष्य प-पुधर	१८११२०	वयस्वनोऽपि	१४१७६	वाशी विधाय	९१७५
वीक्ष्य भाव	१८११०९	वैद्यहृद्यै	१४१६	वाश कपानु	१० १२४
वीक्ष्य भीम	१८१६७	व्यतरद्वय	४१११९	वाशीपकोपा	७१४७
वीक्ष्य वीक्ष्य कर	१८११७५	व्यधक धाता	७१५४	वाशीपमृद्वी	९१५८
वीक्ष्य वीक्ष्य पुन	१८११०१	व्यधक्त मौरी	१०११७२	वाशिरज	९१४८
वीक्ष्यैतसुत	१८१४	व्यधुम्नमा	१६१७६	वाश्या कला	२१११०
वृणीष्व वर्णन	१२१५	व्यर्थीकृत	३१६	वाशकलङ्कित	५१५८
वृणो दिगीक्षा	९१७०	व्यर्थीभवद्	८११९	वाशिमिचि	२०११४६
वृत्त प्रतस्थे	१४११	व्यलीकि लोकेन	१५१७१	वाश वराङ्ग्यी	१७१३९
वृत्ते कर्मणि	१७११३६	व्यापृगस्य	२११३८	वाशवश	५११०२
वृथा कथेय	९१९	व्याप्तसर्वेव	१७१६३	वाशान्तसम्भोग	३१९३
वृथा परीक्षाम	९१२५	व्रजति हुमुदे	१९१८	वाशाष्टवर्ग	९१११७
वृथार्पयन्ती	३११४	व्रजते दिवि	२१८०	वाशाशुहार	१३१४
वृद्धो वाङ्मि	१२११०७	व्रज एति	४११०५	वाशपिताहे	६१९४
वैर्य मर्यागाते	२०१८१	व्रजन्तु तेऽपि	९११५७	वाशेऽपि सूरि	१११३२
वैर्य मानेऽपि	२०१७७	रा		वाशारमृद्गार	२२१५७
वेद यद्यपि	५ ३६	रा क्रमेण	१३१८	वाशीपद	२०१५८
वेदानुचरता	१७११६०	राष्ट्रालता	१३१२५	वाश्वता निम्बुन	१८११४७
वेदैर्बोधि	१११६४	राक्षसपत्न्या	२२१२६	वाश्वन् सदार	३१२८
वेदेष्वद्वेपिभि	१७१९६	राक्षसः	१७११०३	वाशे नल	१४१९
वेलातिगम्य	३१४९	राक्षस श्रुति	२१५४	वाशवध्यय	५१३३
वेलातिगम्य	७१८	राक्षसदास्वन	१८१२३	वाशकश्चेत्	२१११४७
वेश्म परायु	१८१३३	राक्षे प्रसूने	८१६६	वाशेण पद	१३१२४
वेश्माप सा	६१५६	राक्षेऽपि	८१७५	वाशायशो	८१३४
वैदर्भदूता	१०११७	राक्षे कि हृदि	१८११४०	वाशामीकृता	११११०६

धृद्धामयी	१४३३	मुनश्च	३८८१	म जयत्यरि	२११६
धृद्धालुमङ्ग	१०१६५	मुति श्रद्धा	१४१६०	मन्त्रीयना	३८३
श्रव प्रविष्टा	३८४	श्रुति सुराणा	९१३४८	मन्त्राप्य	३३४
श्रवणपुट	६१११०	श्रुतिपाठक	१४१६३	म तरुच	१६१६३
श्रवणपूर	४११६	श्रुतिमय	१९१५२	स त नैषध	१०१२०९
श्रितपुण्य	२३२९	श्रुतिमरोध	२०१११०	ममस्तेऽथ	२०१६२
श्रिताशय कण्ठ	१५१६६	श्रुतिस्मृत्यर्थ	१५१५०	ममीमुमा	२११११
श्रियमेव	२१९	श्रुत्यर्द्धल	१६१८	म सुतोषा	१४१९५
श्रिय भजन्ता	१४१२१	श्रुत्यन्ति वाचो	१४१३४	सत्य खलु	२०१११
श्रियस्तदा	३३३१	श्लोकादिह	१३३३१	सत्येव पनि	१४१८८
श्रियास्य योग्या	१३३१	श्रुत प्राण	१०३३०	सत्येव भार्ये	३११४
श्रियो तरेन्द्रस्य	३३३६	श्रुतस्या प्रिय	९११५८	सत्यस्तुत	३१२३३
धीभरानतिथि	५१२३	श्रुत्य श्रुत्य	२१११७	सत्यस्तुमालक	१५१६२
श्रीहर्ष	अन्या २०११६१	प		सदा सदाशा	९१०६
" पञ्चा	१९१६७	पञ्चस्तव	४१९७	स दूरमादर	२०३
" काश्मी	१६११३०	म		सहसी तव	२१०९
" गौडो	७११०९	सरभैर्लम्भ	१३११०९	स धर्मराज	९१५६
" तच्चिन्ता	१११४५	ससारमिन्धा	८१२६	स नान्मात्रमा	१११०२
" तर्ज	१०१३१	स वञ्चिदूवे	१६१४९	मन्ददशो	१७१०९
" तस्य द्वा	१२११३३	सज्जलया	४१०७	मन्देरेऽप्यन्य	१६१४५
" तस्य श्री	५११३८	स कामरूप	१०११०	मन्त्र्यावरोपे	२२११५
" दयमष्ट	८११०९	स कौतुकागार	१६१४६	मन्त्र्यासराग	२०११०
" दयमेक	२१११४५	स ज्ञान	१८११३९	सत्तिधावपि	१११३७
" तार्ता	३११३६	सया यदस्मै	१६११६	सपञ्चव	१०१८४
" तुर्य	४११२३	सवि जरा	४१६९	स पादण्ड	१३११८३
" द्वावि	२२११४९	समीशनाली	६१५८	स पार्थमशक	१४११७०
" द्वैती	२१११०	समी नल	१११०५	सपीते	२०११४४
" यान पञ्च	१५१०३	समी प्रति	१६१९६	स प्रमह	१८१६८
" यात मष्ट	१५१२१२	स गृहे	२१११७२	स प्रियोर	१८१२४
" यातस्तस्य	१४११८	स ग्राम्य	२१११७२	समानन	१४१५
" यातोऽस्मि	१८११५	स गृहविषय	५१२५	समा नलधी	१०१२४
" मृत्तारा	१११३०	स गृहमय	१८११४५	स मिष्टमर्मा	९०३
" पष्ट	६११३३	स गृहममभूमीपु	३३३८	स भूभृदृष्टा	३८९
" सद	९११६०	स गृहमन्या	६१२८		
" रवाद्	१३१५५				

सम ययोरिति	१६१९०	म सिन्धुज	१६१९	मा वागवाज्ञायि	१०१४९
सम सपथी	८८६	म स्यन्दनै	१३१२३	माऽऽचि	२०११४
सम ममेते	२२११२२	सहचरोऽसि	४१७७	सा विनीत	१७०१४४
सममेणमदै	२१९२	मह नया	४१९४	सा विभ्रम	१०१३६
समापय	९१११२	महद्वितीय	१४१५५	सा शरस्य	५१३०
समासिलिप्येव	१६१९७	महृषपत्रा	३११६	सा शशाक	१८१९०
समिति पति	१२१७५	महाखिल	९१२०	माऽऽशुगोत्	२०११०४
समुन्मुखी	१२१७७	मात्राकृता	१३१७	मा स्मरेण	१८१६९
सम्पदस्तव	५१२२	मात्ता सुधाशु	१०११३५	माऽऽहृयोच्चै	२०११०३
सम्प्रति प्रति	५१२७	मागरान्मनि	२२११३३	मितत्रिष	११ २
सम्भाजयति	२०७१	माहरेव	२११७७	मितदीप्र	२१७६
सम्भापण	१११०	माथ नाथ	१८११३५	सिताशुवर्ण	१११२
सम्भुज्यमाना	७१४२	माधारणौ	१३११३	सिताम्बुजाना	११११०
सम्यगर्चति	२११३०	माधु कामुकता	१७१६७	मिनो यदा	२२१५३
सम्यगस्थ	२१११८	माधु खया	३१७७	सिन्दूरद्यति	१२१३६
स ययौ	२१६८	माध म	५१५०	मिन्धोजैत्र	१२१३८
सरमिजवना	१९१३७	माधोरपि	६१९९	मिन्मिने	१११४६
सरसि नृप	३११३३	मानन्तानाप्य	११११२९	मुकने व	१७१४७
सरमी परि	२१४०	मानन्द	१७१९७	सुगत पव	४१८०
सरोजकोशा	१६१९०	मा निर्मले	१४१४८	सुता कमाहूय	१११४२
सरोजिनी	३१७६	माऽऽपमृश	२०११११	सुदतीजन	२१७७
सरोरुह	११२४	मापीधरे	३१२९	सुधाशुरेव	१०१४१
सरोपाऽपि	२०११९	मा भङ्गिरस्या	१४११२	सुधाशुवन्ता	९११५
सर्वत लुशल	५१७४	साभिशाप	७११६	सुधाभुजो	२२१६७
सर्वत्र सवाद्य	६१५४	मा भुव	५१२६	सुधारमो	९१११३
सर्पयापि	२११९९	नामोद	१०१९७	सुधामग सु	८११००
सर्पस्व	१२१११२	सा यदृष्टता	२११११२	सुरपरिवृद्ध	१९१४३
सर्वांगीण	१४१८६	मायुज्य	१११११७	सुरापराध	९११५३
सर्वाणि	१४१७७	मारोऽय धारेव	८१८५	सुरेषु नापरय	१४१७७
सलीलमालि	६१७८	मालीकट्टे	८११८	सुरेषु पश्यति	९११२९
स व्यतीत्य	५१८	सावनेवाय	२०१९	सुरेषु माला	१४१२०
स थापसव्य	३१११४	मावर्तभाव	१११२८	सुरेषु सन्देश	९११९
ससम्भ्रमोऽथा	१११२६	मा वने य	१७११३०	सुवर्गशैला	३१२९

मुपमाविषये	२१२०	स्थितैव कण्ठे	१०१७२	स्मरात्परासो	११३६
सुहृदमग्नि	४११४	स्थिरा स्वम	१६१३६	स्मराद्वच=देवु	११८४
मूढमे घने	८१३३	स्नातक	१०११८१	स्मराशुभीभूय	६१६७
मृतविश्रमद	५१६०	स्नातुणा	१०११६७	स्मरेण निरनय	३११०९
मृनसायक	१८११२४	स्नानवारि	२५११६	स्मरेण्यने	८१७६
सुर न सौर	१११७६	स्निग्धत्वमाया	१०१९४	स्मरेषुवाधां	९१११०
सृजन्तु पाणि	१५१७	स्पर्शं तमस्या	६१७२	स्मरोपतप्तोऽपि	११२०
सृजामि किं	१२१६८	स्पर्शातिहर्षा	६१७३	स्मार उपर	३११११
सृणीषद्	२०१५८	स्पर्शेन तत्र	१११३९	स्मार धनु	७१२६
सृष्टानिविधा	७१०७	स्फारे तार्क्षि	१०१२१८	स्मितश्रिया	१२१४१
सेय न धत्ते	८१४५	स्फुट सावणि	१०१९	स्मितस्य सम्भा	९११११
सेयमालि	२०१६१	स्फुटति हार	४११०९	स्मिताजिनां	१४१७९
सेयमुद्य	५११०४	स्फुटयद्	९११२५	स्मितेऽनुदन्त	१०११०३
सेय ममेतद्	७१४५	स्फुटोत्पलाभ्या	९१८५	स्मितेन गौरी	१०११३४
नेय मृदु	७१२८	स्फुरति	१९१५	स्मयामना	६१२०
सोमाय कुप्य	८१७४	स्फुरद्वतु	१९	स्मया ममालि	१४१२९
सोऽयमिदथ	१८११	स्मरकृति	४११६	स्वकन्यामन्य	१०१९८
सांवात्रि	२०११	स्मर जिह्वा	२०१७६	स्वकान्तिकीर्ति	११४२
सांवावरां	२२११२१	स्मर नृशम	४१८६	स्वकाममम्मोह	१४१६०
स्तनद्वये	३१११८	स्मरमुख	४१३३	स्वकेलिलेश	११२३
स्तनानटे	७१८०	स्मर प्रसू	१०१९९	स्वजीवमन्यार्त	३१८५
स्तम्भस्तथा	१४१५६	स्मररिपो	४१७७	स्वज्ञ मद्य च /	१०१७३
स्तुतौ मघोन	६१९१	स्मरशरा	४१९	स्वदिविनिमये	२०१८४
स्त्रिया मया	९१२७	स्मर शार्कर	२०१९१	स्वदशोर्जनयन्ति	२१२१
स्त्रीपुमभ्यति	१५१८८	स्मरशास्त्रमयी	२०१६४	स्वधाकृतं	२२१११९
स्त्रीपुसौ	२१११३६	स्मरशास्त्रविदा	२०१३९	स्वनाय यन्नाम	९११२३
स्थाने विधो	२२१८९	स्मरसखी	४१६७	स्व नैषधा	१०११३६
स्थापत्येनं	२०११३७	स्मर स्मर	४१२	स्वमेन प्राविनाया	८११०६
स्थापितामुपरि	२०११४३	स्मरमि	४१३१	स्वप्नुमात्तनाय	१८११३७
स्थित भवति	१०११२९	स्मरमि	२०१८९	स्वप्नकाश	२११५१
स्थितस्य रात्रा	३११०६	स्मरस्य वस्तु	२२१२७	स्वप्नोत्तर	२११०४
स्थितिनालि	३११०६	स्मरस्य कीर्त्यैव	४१७९	स्वप्नपारांशु	१६१२
स्पर्शरिपिभि	१०१६५	स्मरतुताशन	४१२९	स्वप्नुतु	१९१३६

स्वयवरमहे	१७११३	स्वानुराग	२११४८	हस्तौ विस्तार	१७१२४
स्वयवर भीम	१७११५	स्वापराध	१८११२९	हारसाधिम	१८१४१
स्वयवरस्या	१७११२	स्वारसातल	५४४१	हासतिपैवा	२२१६१
स्वयवरोद्धाह	१२१२४	स्विद्यक्त्रा	२७११४४	हिसागर्वा	१७११७३
स्वययथा	१६१५३	स्विद्यत्प्रमोदा	६१६	हितगिर	४११०३
स्वयत्तदप्रे	१५५४८	स्वेद स्वदेहस्य	१४११९	हित्वा दैत्य	१२१३७
स्वरिपुतीचण	४१६४	स्वेदविन्दुकित	१८१११६	हित्वैकमस्या	८१११
स्वरुचा	२१९९	स्वेदभाजि	१८११२३	हित्वैव वरमंक	६१२४
स्वरेण व्रीणे	१५१४३	स्वेदवारि	१८१११८	हुताशकीनाश	६१७५
स्वर्गापगा	३११०	स्वेदस्य धारा	२२१९१	हनमारमिवे	२१२५
स्वर्ग सता	६१९८	स्वेदप्लव	२१११२३	हत्तस्य या मन्त्र	३११०७
स्वर्णकेतक	२१४२	स्वेन पूर्यत	२११५९	हृदय पृथ	४११०८
स्वर्णदीन्यर्ण	२०१६९	स्वेन भाव	१८११११	हृदयदत्त	८१२१
स्वर्णप्रित्तीर्णे	८१९८	स्वेप्मितोद्गमिन	१८१८७	हृदयमाश्र	८१५५
स्वर्भानुना	२०११३६	ह		हृदामिनन्ध	९११७
स्वर्भानुप्रति	२२११४८	हस्त तनौ	३१४	हृदि दमम्बु	४१३३
स्वलोमरुमा	३१२७	हमोज्यसौ	३११०	हृदि छुठन्ति	८१४७
स्ववर्णना	२२११०४	हृग कयाचिन्	६१२९	हृदि विदमंभुव	४११९
स्ववालभार	११२५	हृताश्चेद्विवि	१७१७२	हृदि विदमंभुवो	४१२५
स्वस्ति वास्तो	१७१११२	हरित्पत्तीना	८१५५	हृदयगन्धबह	२१८१
स्वस्यामरै	१४१९६	हरिद्विपद्मोदि	१६१६	हृष्टवान्स	१७११९८
स्वागमार्थे	१७१४९	हरि-मणे	१६१६६	हीणमेव	१८११३७
स्वद्वन्मर्षयितु	१८१७९	हरि परित्यज्य	९१४३	हीणा च	२०११२
स्वाचक्षुन्ध	८१८	हरेयंदकामि	११७०	हीभरात्	१८१३५
स्वात्मन	२११२७	हृयंतीभवत	२२११३७	हीसङ्कुचत्	१११२६
स्वात्मापि	८१२१	हृत्तु भैसी	११२१३४	हीसङ्कुचिज	१८१३२
स्वादूदके	१११७७	हृत्तु भैसी	२११६६	हीसङ्कुचिचि	१८११९

इति, श्लोकानुक्रमणिका सम्पूर्णा

अथ शेषकश्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका



श्लोका	पृष्ठाङ्का	श्लोका	पृष्ठाङ्का	श्लोका	पृष्ठाङ्का
एकचित्त	१४३४	धूमवत्कल	१४३४	यत्र मोक्तिक	१३९३
कुरमेन्य	१०४२	न स्वेदि (टि)	५७१	या पाशिनैदा	८३४
क्षेत्रल न	११६८	नास्मारसस्मा	४२८	राशि भानु	१३८९
क्रमेण क्रर	९९३	पीततावक	११८०	वामनादणु	१४३५
गत्वात्तरा	१११३	पुष्पाणि घाणा (टि)	३९६	ग्रिहस्य हस्ते	८१७
जलजभिदुरी	१२८९	बाहुचक्र	११८२	सन्तमद्वय	१४३४
तत्र मार	१४३४	भानुमूलु	१४३५	सीकृतान्य	११५७
तावरापर	१४३०	मण्डल निपथेन्द्र	११२०	स्मर तक्षर	१३४९
तावके हृदि	१४३४	मा त्रिविधम्	१४३५	स्यामिना च	११६३
देहिनेष	१४३४	मृत्युभीति	१४२३	हृत्पद्मसम	८३०
द्विजपति	१९९	यत्तव स्तव	१४३४	हेमनामक	१३५८

इति शेषकश्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका समप्ता